श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम्

चतुर्थो भागः

श्रीकृष्णाय नमः

श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम्

(तृतीयाध्यायः)



शुद्धाद्वैतब्रह्मवादनिर्गुणभक्तिमार्गप्रवर्तकाचार्य-
चक्रचूडामणिश्रीमद्वल्लभाचार्यचरणप्रणीतम्



दशदिगन्तविजयिश्रीमद्गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीत-
भाष्यप्रकाशसंपूर्णवेत्तृश्रीमद्गोस्वामिश्रीगोपेश्वर-
जिच्चरणप्रणीतभाष्यप्रकाशरश्मिपरिबृंहितम्



चतुर्थो भागः

प्रकाशक :
श्रीवल्लभविद्यापीठ-श्रीविट्ठलेशप्रभुचरणाश्रम ट्रस्ट
वैभव कॉओपरेटिव सोसायटी
पुना बेंगलोर रोड, कोल्हापूर,
महाराष्ट्र

प्रथम संस्करण : वि. सं. १९८३-८४
द्वितीय संस्करण : वि. सं. २०४४
श्रीवल्लभाब्द : ५०९

मुद्रक :
प्र० पु० भागवत
मौज प्रिंटिंग ब्यूरो
खटाववाडी, गिरगाव
मुंबई ४०० ००४

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यः नमः ॥

साधनमीमांसा

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ॥

(मुं. उ. ३।२।३)

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयो विधित्सया ।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योस्ति कुत्रचित् ॥

(भाग ११।२०।६)

एष उ ह्येवैनं साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते ।
एष उ ह्येवैनम् असाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते ॥

(कौ. उ. ३।८)

कामं क्रोधं भयं स्नेहं ऐक्यं सौहृदमेव वा ।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते ॥

(भाग १०।२९।१५)

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच ॥

(गीता १८।६६)

उपोद्घात

सजातीय-विजातीय-स्वगत-द्वैतवर्जित अखण्ड सच्चिदानन्दैकरस ब्रह्म, काल-कर्म-स्वभावके नियमोंमें न तो स्वरूपतः बंध सकता है और न औपाधिकतया ही. क्योंकि ये काल-कर्म-स्वभाव स्वयमेव ब्रह्मके ही लीला-परिग्रहीत अन्यतम रूप हैं.[1]

अचिन्त्य–अनन्त–शक्ति ब्रह्म, जब आनन्दांश तथा चिदंश को तिरोहित कर केवल सदंशेन अनेकविध नाम–रूप–कर्मोंमें अपने आपको प्रकट या परिणत करता है, तो हम उसे जड रूपमें पाते हैं. प्रत्येक जड वस्तुमें, किन्तु, उसका चैतन्य तथा आनन्द छिपा हुआ है.[2] इसे ब्रह्मज्ञानी अनुभव कर सकता है. इसी तरह "त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म. ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्ति ....ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति....ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि कर्माणि बिभर्ति. तदेतत् त्रयं सद् एकमयमात्मा आत्मा एकः सन् एतत् त्रयम्" (बृहद्. उ. १।६।३) श्रुतिवचनके आधारपर ब्रह्मसाक्षात्कारसे पूर्व भी इसे समझा जा सकता है. वही ब्रह्म, जब अपने केवल आनन्दांशको तिरोहित करके चिदंशेन नाना अणुपरिमाणोंमें व्युच्चरित होता है तो, जीवभावापन्न भी हो जाता है. अपनी इस ब्रह्मात्मकताको ब्रह्मज्ञानी "अहं ब्रह्मास्मि"-आकारिका अनुभूतिमें ग्रहीत कर पाता है. और इसी तरह "यथाग्नेः क्षुद्राः विस्फुलिंगाः व्युच्चरन्ति एवमेव अस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति" (बृहद्. उ. २।१।२०) वचनके आधारपर ब्रह्मज्ञानसे पूर्व भी इसे समझा जा सकता है.[3] इन दोनोंसे विलक्षण अर्थात् आनन्दांशको तिरोहित किये बिना व्युच्चरित हुवे अंशको 'व्यष्टि–अन्तर्यामी' कहा जाता है. शास्त्रोंमें अनेकानेक वचन इसके वर्णनतया उपलब्ध होते हैं, यथा "एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं बहुधा यः करोति तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्" (कठ. उ. २।२।१२) "पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्तेनामृतत्वमेति" (श्वेता. उ. १।६) "उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः परमा-

---

१. अणुभा. २।१।२८, ३।३।४४

२. अणुभा. २।३।४३

३. अणुभा. १।१।१९–२०, १।२।११, १।२।१८–२०

त्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः" (गीता १३।२२) इत्यादि.[1]

इस तरह अखण्ड सच्चिदानन्दैकरस ब्रह्मका स्वयंमें खण्डशः जड-जीव-अन्तर्यामीके रूपमें विभक्त होना केवल लीलामात्र है. यही बात "संयुक्तमेतत् क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावात् ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः" (श्वेता. उ. १।८) वचनमें कही गयी है.

महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्य इस लीलाकी उपपत्ति ब्रह्मके सर्वभवनसामर्थ्य सत्यसंकल्प एवं विरुद्धधर्माश्रयता के आधारपर प्रस्तुत करते हैं.[2] ब्रह्मेतर किसी भी काल-कर्म-स्वभाव-माया-अदृष्ट-आदि उपाधिका अवलम्बन करके नहीं. अतएव सुस्पष्ट शब्दोंमें "यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद् यद् यथा यदा, स्यादिदं भगवान् साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वरः" (भाग. १०।८५।४. त. दी. नि. १।६९) स्वीकारते हैं. अतएव "द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च वासुदेवात् परो ब्रह्मन् नचान्योऽर्थोऽस्ति तत्वतः" (भाग २।६।१४) वचनके व्याख्यानके दोनों ही प्रकार वाल्लभ वेदान्तमें अनभिमत हैं—

१) द्रव्यकर्मादि तत्त्वतः हैं ही नहीं.

अथवा

२) हैं परन्तु भिन्न तत्व हैं.

वचनका ऋजु अर्थ यही है कि ये रूपतः भिन्न लगते होनेपर भी तत्त्वतः भिन्न नहीं हैं. उपनिषद् भी सभी यही घोष कर रहे हैं "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं.... स आत्मा तत्त्वमसि" (छां. उ. ६।८।७). अतः इदंकारास्पद प्रत्यक्षविषयीभूत जगत्, त्वंकारास्पद या अहंकारास्पद जीव तथा तत्कारास्पद परोक्ष अन्तर्यामी सभी कुछ ब्रह्मात्मक-ब्रह्मांश-ब्रह्मरूप हैं. अर्थात ब्रह्मके ही लीलार्थ परिग्रहीत अनेकविधरूप हैं. मूर्त-अमूर्त, मर्त्य-अमृत, यायी-स्थायी अथवा व्यक्त-अव्यक्त आदि सभी ब्रह्मके ही विविध रूप हैं. "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तञ्चैवामूर्तञ्च मर्त्यञ्चामृतञ्च स्थितञ्च यच्च सच्च त्यच्च" (बृहद उ. २।३।१).

जैसे लौकिक प्रत्यक्षसे गम्य आधिभौतिक गंगाजलप्रवाहकी आध्यात्मिक तीर्थरूपता शास्त्रैकगम्य है, वैसे ही प्रत्यक्षगम्य आधिभौतिक स्थूल जगतकी

---

१. त. दी. नि. १।२७-३०

२. त. दी. नि. १।६५-७२

सूक्ष्म काल-कर्म-स्वभाव-प्रकृति-पुरुषविध अक्षरब्रह्मात्मकता या आध्यात्मिकता भी शास्त्रैकगम्य ही है. जैसे अमूर्त तीर्थरूपा गंगाकी मूर्तिमती आधिदैविकी अधिष्ठात्री गंगादेवी या तो उनकी अपनी दिव्येच्छा अथवा तत्कृपालभ्यभक्ति के कारण ही दर्शन देती है, वैसे ही अमूर्त आध्यात्मिक अक्षरब्रह्ममें आधि-दैविक मूर्तिमान पुरुषोत्तम श्रीकृष्णका अनुभव या साक्षात्कार भी उनकी स्वयंकी इच्छा या तत्कृपालभ्यभक्ति के कारण ही सम्भव है, अन्यथा नहीं. यह श्रीमहाप्रभुने 'सिद्धान्तमुक्तावली' नामक ग्रन्थमें सुविशदतया निरूपित किया है. अतः न केवल लौकिक नामरूप किन्तु पारलौकिक अनेक दिव्य नामरूपोंको भी धारण करनेवाला एकमात्र तत्त्व ब्रह्म ही है.[1]

इस तरह बहुदेववादसिद्ध द्वैतके पल्लव-पुष्प-फलका भी मूल तो "एकमेवा द्वितीयं....तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय" (छां. उ. ६।२।१), "स ब्रह्म स शिवः स हरिः सेन्द्रः सोग्निः परम स्वराट" (महाना. उ. ११।१३) आदि श्रुतिओंमें वर्णित एकमेवाद्वितीय तत्त्वकी ही निजानन्दको व्यक्त कर पानेकी दिव्य शुभ पारमार्थिक सामर्थ्यमें निहित है. अतएव भागवतमें कहा है—

शश्वत् स्वरूपमसहैव निपीतभेद—
मोहाय बोधधिषणाय नमः परस्मै ।
विश्वोद्भवस्थितिलयेषु निमित्त—
लीलारासाय ते नम इदं चकृमेश्वराय ॥
यो वा अहं च गिरिशश्च विभुः स्वयं च,
स्थित्युद्भवप्रलयहेतव आत्ममूलम् ।
भित्त्वा त्रिपाद् ववृध एक उरुप्ररोह
तस्मै नमो भगवते भुवनद्रुमाय ॥

(भाग. ३।९।१४-१६

अतः उत्पत्ति–स्थिति–लय–शील आधिभौतिक दृश्यका जैसे एक शास्त्रीय आध्यात्मिक पक्ष कर्म–स्वभाव–काल है, वैसे ही निगूढ आधिदैविक अन्तर्या-मीकी ब्रह्मा–विष्णु–रुद्र–रूपोंको धारण करनेकी लीला भी है. प्रत्येक देवी-देवता उसी ब्रह्ममें रही अनेकविध सामर्थ्योंके आधिदैविक मूर्तिमान रूप हैं.

१. त. दी. नि. प्र. १।११–१३.

इसीलिये भगवानने गीतामें कहा है "यो-यो यां-यां तनुं भक्तः श्रद्धया-र्चितुमिच्छति तस्य–तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहं स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते लभते च ततः कामान् मयैव विहितान हि तान्" (गीता ७।२१–२२).

अपने इस शुद्धाद्वैतवादी दृष्टिकोणको दरसानेके लिये साधनफलमीमांसा करते हुवे श्रीमहाप्रभु कहते हैं—"'स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत् सहैतावानास' (बृहद. उ. १। ४।३) तथा 'एष उ ह्येव' (कौ. उ. ३।५) श्रुतिवचनोंके आधारपर यह सिद्ध होता है कि तत्तत् कर्म करवा कर तत्तत् फल प्रदान करनेवाले भगवान् स्वयंमें स्वयंके साथ स्वयमेव क्रीडार्थ जगतके रूपमें अविर्भूत होकर क्रीडा कर रहे हैं" (अणुभा. १।१।११).

इससे सिद्ध होता है कि अनेकविध [illegible]–मोक्षरूपों, बन्ध–मोक्षके हेतुओं, बद्ध–मुक्त जीवों तथा बन्ध–मोक्षप्रद शुभाशुभ रूपोंकी विभिन्नता निजानन्दको अनेकविध आयामोंमें परखने–निरखनेवाले परमात्माके आत्मरमणका ही केवल आत्मव्यापकतामें विस्तार है. अतएव शास्त्रदृष्टया अभिनन्दनीय या निन्दनीय साधनोंके प्रकार, आराध्योंके रूप; तथा आराधकोंकी निष्ठा या सम्प्रदाय भी अन्ततः एकमेवाद्वितीय परमात्माके उच्चावच लीलारूपोंके ही प्रभेद हैं[1]

यह भेद न तो आत्यन्तिक एकत्व और न आत्यन्तिक अनेकत्व के ही क्षुद्र मनःप्रत्ययोंके अवलम्बनद्वारा समझा जा सकता है. यह तो "तद् एतत् त्रयं सद् एकम्....अयमात्मा एकः सन् एतत् त्रयम्" (बृहद. उ. १।६।३) वचनोक्त परस्पर तादात्म्यरूप अभेदके आधारपर ही समझमें आ सकता है. विहिताविहित स्तुत्यनिन्द्य इष्टानिष्ट आदिके भेद स्वतःसिद्ध नहीं हैं और न एकमेवाद्वितीय ब्रह्मके स्वभावानुपाती ही ये भेद हैं. ब्रह्मकी एकता या ब्रह्मकी अद्वितीयता ब्रह्मका असामर्थ्य नहीं है अतएव वह स्वभावतः एकमेवा-द्वितीय होनेपर भी सामर्थ्यवश अनेकरूप धारण कर सकता है. यह सामर्थ्य कायव्यूह जिसे सिद्ध हुवा हो ऐसे योगिओंमें भी योगशास्त्रके आधारपर स्वीकारी जाती है,[2] फिर ब्रह्ममें इस सामर्थ्यके रहनेके बारेमें सन्देहका कोई

१. अणुभा. २।१।२३
२. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य ४।४।१५

ग़तः सर्वभवनसमर्थ सत्यसंकल्प परमात्माकी दिव्य सामर्थ्य
ट हुवे होनेके कारण ये सारे द्वैत सामर्थ्यानुपाती हैं.
ाना एक दोष है, यदि स्वभावानुपाती हो तो, परन्तु किसी
य करनेवाले कलाकारमें हकलाकर बोल दिखानेकी
नहीं मानी जा सकती, सामर्थ्यानुपाती होनेके कारण. और
ज्ञानका मौन उसकी मूढताका प्रमाण माना जा सकता है.
भीतर रही हुयी अनेकविध ज्ञान-बल-क्रिया आदिकी
औपाधिक नहीं मानती है—"परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
ठक्रिया च" (श्वेता. उ. ६।८).
अतएव, भगवानकी द्वादश शक्तिओंमें न केवल विद्या अपितु
ल्लेख मिलता है.[१]
दमित्यतथा अनाकलनीय सामर्थ्यके कारण जैसे अखण्ड
नी सत्तामें उत्पत्तिलयशील जडखण्डोंको प्रकट कर सकता
च्चिदेकरस परमात्मा अपने चैतन्यमें विषयविषयिभावके खण्ड
ययेच्छा विषयप्राप्तिप्रयत्न तज्जन्य सुख-दुःख के द्वैत भी प्रकट
जड-जीवोंके रूपमें की जाती लीलाकी तरह देवरूपोंमें
अखण्ड आनन्दैकरस आत्मरमण भगवान न केवल अपने
अपरिमित ऐश्वर्य-वीर्य-यश-श्री-ज्ञान-वैराग्य-सन्तोष-प्रसाद-
दि गुणधर्म ही केवल, अपितु इनके विपरीत गुणधर्म भी,
सकते हैं.
हते हैं कि यदि अनीश्वर-पराधीन-दीन, असमर्थ-दुःखी,
ादिविपद्गामी-श्रीविहीन. देहादिमें अहन्ताममता रखनेवाला
था विषयासक्त जीवका रूप प्रभु धारण न करें तो—भगवान
ईश्वर हैं यह निरूपण अशक्य बन जायेगा.[२] अतः अपने
सविषय बनाने भगवान स्वयमेव ऐश्वर्यादिविहीन जीवरूप
:
अनुभावको लोकबुद्धिगम्य बनानेके लिये ही भगवान् सूत्र-

१।५५
२।५

कारने "लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्" कहा, अन्यथा "लोकस्तु लीलाकैवल्यम्" भी कहा जा सकता था. रामलीलाकी दिव्यतामें श्रीरामका कैवल्य नहीं हैं प्रत्युत श्रीरामका परमदेवत्व तथा रावणका परमासुरत्व दोनों ही क्रोडीकृत हैं.

जैसे केवलाद्वैतवादी वेदान्तिओंके अनुसार बन्ध-मोक्षादिके भेद पारमार्थिक न होकर केवल मायिक प्रतिभास या मिथ्या व्यवहारमात्र हैं—

न निरोधो नचोत्पत्तिः न बद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुः न वै मोक्षः इत्येषा परमार्थता ॥

(माण्डु. का. २।३२)

वैसे शुद्धाद्वैतवादके अनुसार ये बन्धमोक्षादिके प्रभेद केवल प्रातिभासिक या व्यावहारिक नहीं हैं. ये भेद निश्चय ही पारमार्थिक हैं. किन्तु पारमार्थिक होनेपर भी ये भेद ब्रह्मके स्वभावानुपाती न होकर सामर्थ्यानुपाती हैं. अर्थात् ये भेद ब्रह्मके स्वभावसिद्ध न होकर उसके अचिन्त्य सामर्थ्यवश लीलार्थ प्रकट हुवे हैं.

रामानुज मतके समर्थ विद्वान् श्रीवेदान्तदेशिकने ब्रह्माधिष्ठानक-मायाविवर्त-वादके प्रतिपादक केवलाद्वैतवादकी तथा ब्रह्मस्वरूपपरिणामवादी अद्वैतवादकी तुलना करते हुवे एक जगह कहा है—

जीवाः पृथ्व्यादिभूतेष्वणव
इव मिथो भेदवन्तः स्वतोऽमी
सन्मात्रं ब्रह्मभागास्तदिह
नियतयस्सुस्थिता इत्ययुक्तम् ।
ऐक्यस्याप्यक्षतत्वादनवधि
च सति ब्रह्मणि स्याद्वधं
सत्यं तच्चेत्यभिज्ञैर्बहिरगणि
मृषावादतोऽप्येष पक्षः ॥

(त. मु. क. २।११)

इत्थं ब्रह्मापि जीवः परिणमति विहृत्यर्थमित्यप्यसारं
स्वानर्थैकप्रवृत्तेः प्रसजति च तदा सर्वशास्त्रोपघातः ॥

(त. मु. क. ३।३०)

फिर भी शुद्धाद्वैतवादकी ओरसे यह समाधान दिया जा सकता है कि जैसे अवतारलीलामें जन्मादि सकल लौकिक अनुभावोंको भगवान प्रकट करते हैं, एतावता उनकी दिव्यतामें कोई अन्तर नहीं पडता, उसी तरह जगल्लीलाके भी बारेमें क्यों सोचा नहीं जा सकता? स्वयं श्रीवेदान्तदेशिक भी इतना तो स्वीकारते ही हैं—

धर्माणां स्थापनार्थं स्वयमपि भजते शासिता शासनं स्वं
स्वस्यापि प्रत्यवायानभिनयति नृणां पापभीतिं चिधित्सुः ॥

(वहीं ३।१०)

तथा

अवतारवृतान्ताः शैलूषन्यायेन निरूढाः इति.

(त. मु. क. स. ३।३०)

अतः अजन्मा शोकमोहातीत निरञ्जन होनेपर भी अवतारचरित्रमें जन्म-मोह-प्रत्यवायित्व-दुःखित्व आदिका अभिनय भगवान करते ही हैं. एतावता उनकी इस लीलामें प्रकट हुवे जन्म-शोक-मोहादिको परमात्माका स्वभावानुपाती गुणधर्म नहीं माना जा सकता. भगवान् स्वयं भी यह स्पष्टीकरण देते हैं, तथा श्रुति भी, कि "जन्मकर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन" (गीता ४।२). "अजायमानो बहुधा विजायते तस्य धीराः परिजानन्ति योनिम्" (तैत्ति. आर. ३।१३।३). अतः "क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत्कृतं ते" (भाग. ८।२२।२०) वचनसिद्ध निखिल सृष्टिकी क्रीडारूपता तथा क्रीडाकर्ता भगवानकी यह आत्मक्रीडा है यह भी सिद्ध हो जाता है. ऐसी स्थितिमें शुद्धाद्वैतवादके अनुसार यह कहा जा सकता है—

न निरोधो नचोत्पत्तिः न बद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुः न वै मोक्षः ब्रह्मदृष्ट्या स्वभावतः ॥
तन्निरोधस्तदुत्पत्तिस्तद्बद्धस्तच्च साधकः ।
तन्मुमुक्षुश्च मोक्षश्च लीलायां सर्वरूपधृक् ॥

केवलाद्वैतवादी "जीवो ब्रह्मैव नापरः" की धारणाका विचार करें तो ब्रह्म सदसत् कर्मका कर्ता भी सिद्ध होता ही है. यह बात और है कि परमार्थ—

व्यवहारके भेदके कारण परमार्थतः न तो ब्रह्म और न जीव ही किसी भी कर्मका कर्ता बन सकता है. केवलाद्वैतवादमें परमार्थतः ब्रह्म अकर्ता होनेपर भी व्यवहारमें ईश्वरात्मना तथा जीवात्मना कर्तृत्वादिभ्रान्तियुक्त बन जाता है. जबकि शुद्धाद्वैतवादमें "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः" (गीता १५।७) तथा "अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे परां जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्" (गीता ७।५) के आधारपर सच्चिदानन्द ब्रह्ममेंसे व्युच्चरित जीव ब्रह्मका चिदात्मक-ब्रह्मात्मक अंश है.[1] अतः जीवगत कर्तृत्व भी न केवल पारमार्थिक है अपितु अंशीभूत ब्रह्मगत कर्तृत्वकी ही वह आंशिक अभिव्यक्ति है. जैसे आधुनिक ज्योतिर्विज्ञानके अनुसार चन्द्र पृथ्वीकी परिक्रमा करता है और पृथ्वी सूर्यकी, अब इसी कारण चन्द्र भी तो सूर्यकी परिक्रमा तो करता है ही. परन्तु इस परिक्रमण क्रियामें चन्द्रका कर्तृत्व स्वतन्त्र न होकर पृथ्वीतन्त्र है अर्थात् चन्द्र कर्ता है और पृथ्वी कारयित्री है—पृथ्वीमें अंशीभूत कर्तृत्व है तथा चन्द्रमें अंशभूत. इसी तरह परमात्मा अंशी कारयिता है तथा जीवात्मा अंश कर्ता है.[2]

अंशिगत कर्तृत्व अलौकिक 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं सामर्थ्य' रूप निरंकुश है. जबकि अंशगत कर्तृत्व पारमार्थिक होनेपर भी निरंकुश नहीं है.[3] अतः बाह्य काल-कर्म-स्वभाव-नियमोंके अलावा मनो-बुद्धि-अहंकार-चित्त-ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय-प्राण-देहादिकी उपाधिओंके भी अधीन है.[4] वैसे तो ये पाञ्चभौतिक इन्द्रियां तथा देह, और इसी तरह मनो-बुद्धि-अहंकारादि भी चिदंशभूत जीवात्मासे रूपतः ही केवल भिन्न हैं तत्त्वतः नहीं. उसी एक सच्चिदानन्द अंशी ब्रह्मके तिरोहित-चिदानन्दांशरूप अर्थात केवल सदंश होनेके कारण अंशीसे या चिदंश जीवात्मासे भी तत्त्वतः भिन्न ये हो नही सकते हैं. यह स्वयं भगवानने भी स्वीकारा है "भूमिरापोनलोवायुः खं मनोबुद्धिरेव च अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा" (गीता ७।४).

अंशिगत अलौकिक अनौपाधिक निरंकुश कर्तृत्वकी तरह ज्ञातृत्व-भोक्तृ-

१. अणुभाष्य २।३।१७—३२ तथा२।३।४१—५३
२. अणुभाष्य २।३।३३-४२
३. अणुभाष्य १।१।२ तथा १।१।४—७.
४. गीता १८।१४-१६.

त्वादि धर्म भी जीवात्मामें अंशात्मना अभिव्यक्त होते हैं. अतएव अणुभाष्यके प्रारम्भिक अधिकरणोंमें यह ऊहापोह की गयी है कि यदि ब्रह्मगत सत्ता चैतन्य तथा प्रियत्व का जागतिक नाम-रूपोंमें अनुवर्तन या अनुभान हो सकता हो तो जागतिक कर्तृत्व-ज्ञातृत्व-भोक्तृत्वका भी मूल कहां है यह विमर्श करना चाहिये. यदि वह ब्रह्ममें स्वाभाविक न हो तो उसे आरोपित, अर्थात् अन्यगत कर्तृत्वादिका ब्रह्ममें आरोपण, स्वीकारना पडेगा. ऐसी स्थितिमें वह अन्य कौन है? यदि माया-अविद्या-प्रकृतिमें से किसी एकको स्वीकारते हैं तो वह ब्रह्मकी शक्तिरूपा है कि नहीं? यदि शक्तिरूपा मानते हैं तो शक्ति-शक्तिमानके बीच तादात्म्यनियमके कारण वे ब्रह्मसे अभिन्न ही होंगी. यदि ब्रह्मसे भिन्न मानते हैं तो ईक्षत्यधिकरण (ब्र. सू. १।१।४) से विरुद्ध विधान होगा. जीवात्मगत कर्तृत्वादिका तो ब्रह्ममें आरोप शक्य ही नहीं क्योंकि जीवात्माको पराधीन माना गया है. अतः अंशी-सच्चिदानन्द-ब्रह्मगत सच्चिदानंदात्मक कर्तृत्व-ज्ञातृत्व-भोक्तृत्व ही जगतमें भी अंशात्मना अभिव्यक्त होते हैं.[1] अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं "अस्ति-भाति-प्रियत्वादि धर्मवद् ब्रह्मगतकर्तृत्वं लोके प्रतीयते" (अणुभा. १।१।५). अतः अंशीका सर्वज्ञ तथा अंशका किञ्चिज्ज्ञ या अज्ञ होना भी अंशतया उपपन्न है.

इसी तरह अंशिगत भूमा सुख या आनन्द ही अंशमें क्षुद्र अंशात्मना प्रकट होकर लौकिक भोक्तृत्वरूप बनता है. श्रुति कहती है "एतस्यैव आनन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्राम् उपजीवन्ति" (बृहद. उ. ४।३।३२).

अतएव अंशभूत जीवात्मगत क्रियासामर्थ्य, ज्ञानसामर्थ्य तथा सुखानुभूतिकी सामर्थ्य, जब स्वसमान इतर अंशके प्रति व्यापारायित होती है, तो हम उसे "लौकिक वृत्ति या व्यापार" कहते हैं. वही सामर्थ्य जब अंशी परमात्माके प्रति व्यापारायित होती है तो हम उसे 'कर्मयोग', 'ज्ञानयोग' अथवा 'भक्तियोग' कहते हैं. जैसा कि विष्णुपुराणमें कहा गया है—

आत्मप्रयत्नसापेक्षा विशिष्टा या मनोगतिः।
तस्याः ईश्वरसंयोगः 'योग' इत्यभिधीयते॥

(वि. पु. ६।७।३१)

१. अणुभाष्य १।१।२

कर्मणा ईश्वर-मनः-संयोग कर्मयोग है, बुद्ध्या ईश्वर-मनः-संयोग ज्ञानयोग है.[1] तथा माहात्म्यज्ञानपूर्वक-सुदृढ-सर्वतोधिक-स्नेहेन ईश्वर-मनः-संयोग भक्तियोग है. ईश्वर-अविषयक कर्म-ज्ञान-भक्तिकी 'कर्मयोग' आदि संज्ञा प्रामाणिक प्रयोग नहीं है.

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः

हमारे भीतर भरी हुई इन कर्म-ज्ञान-भक्तिरूप सामर्थ्योंका परमेश्वराभिमुख होना भी, अतएव, परमात्माके मूलभूत आत्मरमण-आत्मानन्दकी ही हमारे भीतर घटित हुई आंशिक अभिव्यक्ति है. एक ही आत्मरमणशील ब्रह्म अनेकविध नाम-रूप-कर्मोंको धारणकर स्वेच्छया सृष्टा तथा सृष्टि यों द्विधा विभक्त हो गया है—"स इममेव आत्मानं द्वेधापातयत ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्" (बृहद. उ: १।४।३). अतः आत्मसृष्ट नाम-रूपोंके प्रति क्रिया-ज्ञान-भक्तिकी अभिमुखता ब्रह्मकी बहुभवनेच्छाकी हमारे भीतर घटित होती आंशिक अभिव्यक्ति है. श्रीमहाप्रभु अतएव कहते हैं. "इच्छामात्रेण मनसा प्रवाहं सृष्टवान् हरिः" (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद-९) इसी तरह सृष्टाके प्रति इन शक्तियोंकी अभिमुखता हमारे भीतर घटित होती आत्मरमणकी आंशिक अभिव्यक्ति है. यही तथ्य श्रुतिमें यों कहा गया है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः
तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥

अपने आत्मरमणके स्वभावमें कर्म-ज्ञान-भक्तिके अन्यतम प्रकारसे सहभागी बनानेके लिये परमात्मा द्वारा किया गया तत्तद् जीवात्माओंका वरण ही उन-उन जीवात्माओंके भीतर परमात्माके आत्मरमणका विवरण है.[2] जीवात्माकी अंशभूत आधिभौतिक कर्म-ज्ञान-स्नेह-रूप सामर्थ्यको आध्यात्मिक-आधिदैविक कर्मयोग-ज्ञानयोग-भक्तियोगमें उर्वरित करना है.

कुछ लोग समझते हैं कि इस तरहकी विचाररीतिमें जीवके कर्मस्वातन्त्र्यका

१. त. द. नि. २।१५-१६
२. अणुभा. ३।३।४७

प्रत्याख्यान हुआ है. परन्तु पारमार्थिक तथा आंशिक कर्तृत्व-ज्ञातृत्व-भोक्तृत्वकी तरह आंशिक स्वातंत्र्य भी उन शक्तिओंके साथ पृथग्भूततया आ ही जाता है. ईश्वराप्रदत्त सर्वथा स्वतःसिद्ध स्वतन्त्रकर्तृत्वादि तो ईश्वरकी अनीश्वरता अर्थात् अनस्तित्वमें ही पर्यवसित होंगे.

अतः सिद्ध हुआ कि धर्मीभूत चेतना ही जब परमात्मचेतनाकी अंशतः अभिव्यक्ति है, तो निरुपाधिक हों या सोपाधिक चेतनाके सभी धर्मभूत व्यापार भी अंशीरूप परमात्मव्यापारोंकी ही अंशात्मना अभिव्यक्ति सिद्ध होते हैं.

योगास्त्रयो मया प्रोक्ताः

चेतनाव्यापारको, स्थूलतया, ज्ञान-इच्छा-प्रयत्न-तज्जन्य-सुखदुःखानुभूतिमें वर्गीकृत किया जा सकता है. तदनुसार अंशरूप जीवात्माओंमें आत्माराम अंशी परमात्माकी आत्मरमणाभिव्यक्तिके भी तीन प्रमुख उपाय वर्णित हुवे हैं—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया ।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायान्योस्ति कुत्रचित् ॥
निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु ।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम् ॥
यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान् ।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोस्य सिद्धिदः ॥
तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता ।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥

(भाग. ११।२०।६-९)

इन कारिकाओंमें वर्णित त्रिविध योगोंकी विभिन्नाधिकारिकता या पृथक्ता के बारेमें कतिपय शंकाओंका समाधान आवश्यक है.

शंका : (क) *सर्वप्रथम तो यह कि ज्ञान-इच्छा-प्रयत्न अथवा कर्म-ज्ञान-भक्ति*-की त्रिपुटीमेंसे केवल कोई एक अवशिष्ट दोके बिना किसी भी मानव या साधक में रहते हों यह न तो सम्भव है और न उचित ही. क्योंकि किसी वस्तुको जाने बिना उसे पानेकी चाहना पैदा नहीं हो सकती और पानेकी चाहनाके बिना पानेके प्रयासमें कोई जुट नहीं पाता. इस तथ्यका विचार करनेपर ज्ञानेच्छाप्रयत्नमूलक कर्म-ज्ञान-भक्ति-योगोंका इतरनिरपेक्ष विभाजन भी युक्तिसंगत नहीं लगता.

शंका : (ख) दूसरी शंका यह उठती है कि कर्म-ज्ञान-भक्तिके ईश्वराभिमुखीकरणकी सामर्थ्यको यदि हम साधकमें स्वगत न मानकर परमात्मानुग्रह-लभ्य स्वीकारते हैं, तो बन्ध-मोक्षके भेद, साधन-फलके भेद तथा कर्मस्वातन्त्र्य का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता है. *सभी लोग फिर यही सोचेंगे कि व्यर्थ ही* कर्मयोग, ज्ञानयोग या भक्तियोग की साधनाके अनुष्ठानका पुरुषार्थ क्यों करना चाहिये ? परमात्माकी कृपा होगी तो ये प्राप्त होंगे ही और कृपा नहीं होगी तो अपने पुरुषार्थसे कुछ भी प्राप्त होना नहीं है. इस तरह ईश्वरप्राप्तिके सभी उपायोंमें अनास्था पैदा करता है, शास्त्रविहित कर्म–ज्ञान–भक्तिके अनुष्ठानके सामर्थ्यको वरणलभ्य माननेका सिद्धान्त.

समाधान : (क) यहां प्रथम शंकाके समाधानरूपेण यह अवगन्तव्य है कि जैसे कोई लेखक लेखनकार्य कर रहा हो तब वह यद्यपि देख–सुन भी रहा तो होता ही है. कोई अभ्यागत किन्तु सहसा घरमें आकर पूछ बैठे कि "क्यों क्या चल रहा है ?" और तब उत्तररूपेण वह यदि कहे "लेखनकार्य कर रहा हूं" तो उसका यह उत्तर त्रुटिपूर्ण नहीं माना जा सकता. केवल इसी हेतुवश कि लेखनकार्यके साथ-साथ वह देख-सुन भी तो रहा हैं ! न कोइ नाटकका दर्शक कभी ऐसे सोचता है कि "यदि मैं सांस नही ले पाता होता तो नाटक कैसे देख पाता ? अतएव जब नाटक देख रहा होऊं तब भी मुझे यह बात मनमें दोहराते रहनी चाहिये कि सांस ले रहा हूं !"

इससे सिद्ध होता है कि हम जितने तथा जो कुछ क्रियाकलाप कर रहे होते हैं उसकी सम्पूर्ण सूची हम सर्वदा मनमें दोहराते नहीं होते. किन्तु उस सूचीमें जिस क्रियाविशेषके अनुष्ठानमें हमारा मनोयोग या तत्परता अथवा मुख्यताका अभिमान हमें होता है, उसे ही हम तब अनुष्ठीयमानतया स्वीकारते हैं. *वही हमारे लिये तब उल्लेखनीय बन जाता है और सारे क्रिया*-कलाप गौण या अवान्तर बन जाते हैं,

इसी तरह परमात्माको जो जानना चाहता है वह भी चाहता तो है ही, परन्तु उसके लिये परमात्माको जानना प्रमुख बात है तथा चाहना आनुषंगिक. और जो परमात्माको चाहता है वह भी जाने बिना तो चाह नहीं सकता परन्तु

उसके लिये चाहना प्रमुख बात है तथा जानना आनुषंगिक. अतएव "प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति" कहा जाता है. एतावता सिद्ध हुवा कि कर्मयोग-ज्ञानयोग-भक्तियोगकी भी इतरनिरपेक्ष उपायता या पृथक्ता हमारी आभिमानिक तत्परताके आधारपर मान्य होती है. ज्ञानयोगी सर्वथा निष्कर्म या निःस्नेह नहीं होता है अथवा भक्तियोगी सर्वथा अज्ञानी या कर्महीन नहीं होता है अथवा कर्मयोगी भी सर्वथा अज्ञानी या भक्तिहीन नहीं होता है. कर्मयोगीके ज्ञान तथा भक्ति कर्मांग ही होनेसे 'ज्ञानयोग' या 'भक्तियोग' नहीं कहे जा सकते. इसी तरह ज्ञान-योगीके कर्म तथा भक्ति ज्ञानांग होनेसे 'कर्मयोग' या भक्तियोग' रूप नहीं माने जा सकते. निष्कर्षतया भक्तियोगीके भी कर्म तथा ज्ञान भी कर्मयोग या ज्ञानयोग रूप नहीं माने जा सकते भक्त्यंग होनेसे.[1]

गीतामें कहा गया है "लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनां" (गीता ३।३). "सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलं यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद् योगैरपि गम्यते एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति (गीता ५।४-५) इन वचनोंके आधारपर यह शंका उठाई जाती है कि कर्मयोग और ज्ञानयोग को भिन्न नहीं मानना चाहिये. फिरभी "एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोः विन्दते फलम्" ही यह खुलासा तो स्वयमेव कर देता है कि दोनोंमेंसे किसी भी एकका भलीभांति अनुष्ठान उभयफलका साधक होता है. अतः सांख्य-योगके बीच फलतः ऐक्य है—स्वरूपतः ऐक्य नहीं है. "बालाः पृथक् प्रवदन्ति न तु पण्डिताः" निन्दाका तात्पर्य भी, अतएव, फलतः अन्यतरको उत्कृष्ट माननेवाली भेददृष्टिके बारेमें है. यहां स्वरूपतः पार्थक्यकी निन्दा नहीं है. अन्यथा 'कर्मयोग' तथा 'ज्ञानयोग' पद यदि पर्यायवाची हों तो "उभयोः विन्दते फलम्"में कण्ठोक्त उभयफलका कोई अर्थ ही नहीं रह जाता है. अतः कर्मयोग ज्ञानयोग, एवं भक्तियोगके त्रिविध साधनोंके भेदका अपलाप शक्य नहीं है. क्योंकि "यत्रापि अतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलंघनात्" न्यायसे कर्मांगभूत ज्ञान तथा ज्ञानांगभूत कर्म यों दोनों ही उदाहरणोंमें दोनोंकी विद्यमानताके बावजूद, ज्ञानातिशययुक्त कर्ममें

१. अणुभा. ३।३।७

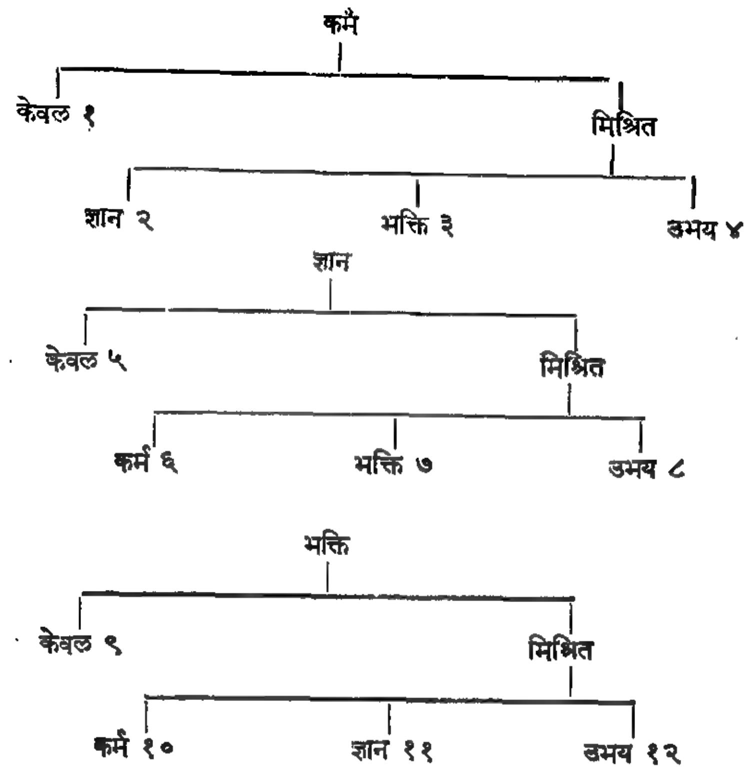
कर्म अंगी तथा ज्ञान अंग बन जाता है, इसी तरह कर्मातिशययुक्त ज्ञानमें ज्ञान अंगी तथा कर्म अंग बन जाता है. इसी तरह कर्म-ज्ञान-भक्तिके अन्य परस्परमिश्रण प्रकारोंके बारेमें समझ लेना चाहिये. अतएव भाष्यकार कहते हैं कि "काण्डद्वयस्य अन्योन्योपकारित्वाय साधारणग्रहणं 'यदेव विद्यया करोति' इत्यादिना पूर्वशेषत्वं सर्वस्य. 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' इत्यादिना सर्वस्य उत्तरशेषत्वम् कर्मब्रह्मणोः क्रियाज्ञानयोः धर्मिपरत्वेन ऐक्यात्...." (अणुभा. १।१।२). सर्वनिर्णयनिबन्धमें भी श्रीमहाप्रभुने ये स्पष्टीकरण दिये हैं—

"अतः काण्डद्वयं भिन्नमपि एकत्र पठितम्, अंशतः परस्परोपकारार्थं च, आधिभौतिकैः यज्ञैः चित्तशुद्धिः वेदान्तैः जीवस्वरूपविज्ञानम् इति. मुख्यरूपत्व सिद्ध्यर्थं तु पृथङ् निर्णयः".

"स्वरूपे तु त्रयो भेदाः क्रियाज्ञानविभेदतः विशिष्टेन स्वरूपेण क्रिया-ज्ञानवतो हरेः विशिष्टे वाचकं गीता श्रीभागवतमेव च केवले काण्डद्वितयं वेदो धर्मप्रवेशतः".

(त. दी. नि. २।२८ तथा २।८९–९०)

इन वचनोंके पर्यालोचनद्वारा यह सिद्ध होता है कि साधन-फलके स्वरूपका निरूपण करनेवाले शास्त्रवचनोंमें कहीं ज्ञान-कर्मके समुच्चयकी प्रशंसा तो कहीं कर्म-ज्ञान-भक्ति तीनोंके समुच्चयकी प्रशंसा तो अन्यत्र इन तीनोंमेंसे किसी अन्यतमकी अवशिष्ट-द्वय-निरपेक्षतया प्रशंसा अथवा अन्य-तमकी निन्दा देखकर बहक नहीं जाना चाहिये. शास्त्रप्रामाण्यवादीके लिये यह आवश्यक है कि शास्त्रके प्रत्येक वचनको समभावसे देखते हुवे सभी वचनोंकी एकवाक्यता, जिस मान्यताके कारण सम्पन्न होती हो उसे, पुरस्कृत करे. अतः कहीं केवल कर्मयोगके तो कहीं मिश्रकर्मयोगके, कहीं केवलज्ञान-योगके तो कहीं मिश्रज्ञानयोगके, इसी तरह कहीं केवलभक्तियोग के तो कहीं मिश्रभक्तियोगके निन्दास्तुतिबोधक शास्त्रवचनोंके सधैर्य पर्यालोचनसे यह विवशतया स्वीकारना पड़ता है कि कर्म-ज्ञान-भक्तिके भी केवल-मिश्रभेदके कारण अनेक भेदोपभेदोंसे समृद्ध हमारी शास्त्रविवक्षित साधनाप्रणाली है. इन्हें अधोनिर्दिष्ट तालिकाके आधारपर सरलतासे समझा सकता है—



इन अनेकविध भेदोपभेदसे समृद्ध साधनाके प्रकारोंमेंसे अपनी रुचि या अधिकार के अनुसार किसी एक प्रकारका सम्यक् आश्रयण जितनी अच्छी बात है उतनी ही खराब बात है, अपने अभीष्ट प्रकारके अलावा अन्य प्रकारको अनुपाय मानना, अथवा बलात् इन उपायोंके समुच्चयको ही केवल एकमात्र उपाय मानना।

उदाहरणतया केवल गीताका ही इस दृष्टिकोणसे पर्यालोचन करें तो प्रकार (१) का निरूपण हमें अध्या. ३ श्लो. १५-२० में उपलब्ध होता है. प्रकार (५) का निरूपण अध्या. ४ श्लोक ३३-३८, अध्या. ८ श्लो. ११-१३ तथा अध्या. १२ श्लो. ३-५ में मिलता है. इसी तरह प्रकार (९) का निरूपण

१. अणुभा. ३।३।३१

अध्या. ६ श्लो. ४७, अध्या. ९ श्लो. २९-३२ तथा अध्या. ११
प्राप्त होता है. जैसे केवलकर्म केवलज्ञान या केवलभक्तिके प्रका
मिलता है उसी तरह मिश्रित प्रकारोंका भी निरूपण उपलब्ध
यथा प्रकार (२) का निरूपण अध्या. ४ श्लो. १८–२
होता है. प्रकार (६) का निरूपण अध्या. ३ श्लो. २५–२
होता है. प्रकार (१०) का निरूपण भी हम अध्या. १२
अध्या. १८ श्लो. ५६ में पाते हैं. इसी तरह प्रकार (१२) क
हमें अध्या. ९ श्लो. ३६ तथा अध्या. १८ श्लो. ६४–६५ में

इससे सिद्ध होता है कि शास्त्रविहित किसी भी उपाय
अनुपाय मानना अथवा सभी उपायोंके समुच्चयका अकारण
परिचयका द्योतक है. शास्त्रमें किसी उपायविशेषकी या उसके
अन्यनिन्दापूर्वक स्तुति उपलब्ध होती हो तो उसका तात्पर्य "
विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भय
३।३५), "स्वे-स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः" (
वचनोक्त प्रयोजनको लक्ष्यमें रखकर ही है. किसी भी
उपायोंका अनुष्ठान करनेवाला अपनी साधनामें अनन्यनिष्ठा ख
तत्तद् अधिकारिओंके लक्ष्यमें रखकर एक प्रकारकी प्रशंसा तो
निन्दा भी शास्त्रमें प्रायः उपलब्ध होती है. यह "नहि निन्दा
किन्तु स्तुत्यं स्तौति" की निरूपणशैली है.

जैसे एक अखण्ड सच्चिदानन्द अनेकविध विषयानन्द आत्म
या भजनानन्द रूपोंमें प्रकट होता है, वैसे ही तत्तद्रूप आन
उपायरूप वरण भी अनेकविध साधनाओंके रूपमें प्रकट होता

यहां एक शंका यह होती है कि "न कर्मणा न प्रजया
अमृतत्वमानशुः" (महाना. उ. १०।५) जैसे वचनोंके आधार
ही अन्य भी दान, व्रत, तप, जप, स्वाध्याय, तीर्थयात्रा, प्रायश्चि
उत्कर्ष भी तत्तद् वचनोंमें उपलब्ध तो होते हैं फिर अन्य भी
यथाश्रुत मान्य नहीं करना चाहिये? वह यदि करते हैं तो पूर्व
त्रयो मया प्रोक्ताः ....नोपायोन्योस्ति...." वचनमें निरूपित
क्या संगति हो सकती है?

यहां यह ज्ञातव्य है कि शास्त्रमें जब भी किसी उपायका उपदेश हुवा है तो उसकी उपायता तो निश्चित है. परन्तु कौनसा उपाय किस फलको प्राप्त करनेका उपाय है अथवा किस प्रमुख उपायको सांगोपांग बनानेका आनुषंगिक उपाय है, यह पूर्वापर बचनोंकी तथा अन्य भी निर्णायक वचनोंकी एकवाक्यताके पर्यालोचन द्वारा ही निर्धारित किया जाना चाहिये. अतएव विरक्तको उद्देश्य बनाकर ज्ञानयोगका अनुष्ठान जैसे कर्तव्यत्वेन बिहित है, वैसे ही "यदहरेव विरजेत तदहरेव प्रव्रजेत" (जाबा. उ. ४) वचनमें बिरक्त अधिकारीके लिये त्याग या संन्यास की भी विधि है, अतएव "न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशु....वेदान्तविज्ञानसुनिश्चतार्थाः संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः" (महाना. उ. १०।५–६) पूर्वोत्तरवचनके अनुसार ज्ञानयोगमें 'त्याग' पद संन्यासका वाचक भी हो सकता है.

इसी तरह "निश्चयं श्रुणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम, त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्, यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्, एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमं नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते मोहात् तस्य परित्यागः तामसः परिकीर्तितः" (गीता १८।४–७), यहां कर्मयोगके सन्दर्भमें 'त्याग' पदका अर्थ संग-फल-त्याग ही बिवक्षित है.

इसी तरह "त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेः भजन्नपकोऽथ पतेत् ततो यदि यत्र कवाऽभद्रमभूदमुष्य किं को वार्थं आप्तो भजतां स्वधर्मतः" (भाग १।५।१७) बचनमें भक्तिमार्गीय सन्दर्भमें 'त्याग' पदका सर्वथा भिन्न ही अर्थ स्फुट हो रहा है. अतएव "मय्यनन्येन भावेन भक्तिं कुर्वन्ति ये दृढां मत्कृते त्यक्तकर्माणस्त्यक्तस्वजनबान्धवा मदाश्रयाः कथामृष्टा सर्वसंगविवर्जिताः संगस्तेष्वथ सम्प्रार्थ्यः संगदोषहरा हि ते" (भाग ३।२५।२२) बचनके अनुसार भी भक्तियोगमें 'त्याग' का अर्थ अहंकारानुष्ठित धर्मके बजाय ममतास्पद परमात्मस्वरूपमें अनन्यभावात्मिका निष्ठाके रूपमें लिया जा सकता है[1].

एतावता न तो त्यागको सर्वथा अनुपाय माना जा सकता है और न ही स्वतन्त्र उपाय भी. श्रीमहाप्रभु भी अतएव, भक्तिवर्धिनीमें "त्यागं कृत्वा यतेद्

१. अणुभा. ३।४।१७

यस्तु तदर्थैकमानसः लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोऽभ्यधिकां पराम्" (भ. व. ६–७) कहते ही हैं.

इससे यह सिद्ध होता है कि "योगास्त्रयो मया प्रोक्ताः....नोपायोन्योस्ति कुत्रचित" में कर्म-ज्ञान-भक्तिरूप तीन ही उपाय हैं अन्य कोई उपाय नहीं ऐसे विधानका अर्थ यही लेना चाहिये कि भगवत्प्राप्तिके हेतु इन तीनके अलावा कोई उपाय स्वतन्त्र उपाय नहीं है. अर्थात् यदि कोई उपाय इन तीनके अलावा शास्त्रमें विहित है तो, या तो वह अन्य किसी गौण फलकी प्राप्तिके लिये है अथवा इन तीनोमें से किसी एकका आनुषंगिक उपाय है. स्वतन्त्र उपाय नहीं. यह स्वातंत्र्य या निरपेक्षतया उपाय होने की बात भी सर्वथा निरपेक्ष तथ्यके रूपमें नहीं कही जा रही है. क्योंकि ये कर्म-ज्ञान-भक्ति भी वरणरूप सर्वोपायांगीभूत मुख्यतमोपायके अवान्तरव्यापाररूप उपाय ही हैं. सर्वथा स्वतन्त्र तो नहीं है. यह "यमेवैष वृणुते...." वचनसे सिद्ध ही है.

इसी तरह अन्य भी शास्त्रविहित दान-व्रत-तप-जपादि उपायोंको ब्रह्मानुभवलाभार्थ स्वतन्त्र योग-उपाय न माननेपर भी कर्म-ज्ञान-भक्तिके अन्तर्भूत आनुषंगिक उपाय तो मानना ही पडता है. अतएव "नोपायोन्योस्ति" वचन अन्य उपायोंकी स्वतन्त्र-उपायताके निषेधार्थ है तथा अन्यत्र जहां कर्म-ज्ञान-भक्तीतर उपायोंकी विधि उपलब्ध होती है वह उनकी आनुषंगिक उपायताके निरूपणार्थ है.

समाधान : (ख) दूसरी शंकाके सन्दर्भमें यह पृष्टव्य हो जाता है कि ईश्वरके वरणानुसार मार्गचयनकी धारणाके बारेमें यहां क्या अप्रमाणिक होनेका आक्षेप चिकीर्षित है या अन्य वचनोंसे संगति केवल जिज्ञासित है; अथवा इस तरहकी धारणा साधनानुष्ठानके लिये प्रेरक नहीं होगी ऐसी भीति ही केवल व्यक्त की जा रही है ?

अप्रामाणिकताके आक्षेपके सन्दर्भमें यह ज्ञातव्य है कि एकाद नहीं प्रत्युत अनेकानेक[1] उपनिषद्बचनोंका समर्थन इस कृपाके सिद्धान्तको मिलता ही है.

१. उदाहरणतया : ईशा. उ. १८, केन. उ. २।१–८ तथा कठ. उ. १।२।१२–१३, २०, २३, मुं. उ. २।१।२०, २।३।२. कौ. उ. ३।८–९. श्वेता. उ. १।१२, ३।२०. श. प. ब्रा. १४।५।३०. गीता ७।१२, १३।२३, १५।१५ १८।६१ ब्र. सू. ३।२।३८ तथा ३।२।४१

कहीं परमात्माको "सुपथकी ओर ले जानेवाला" कहकर, तो कहीं "सर्वभूतान्तरात्माओंको वशमें रखनेवाला" कहकर, तो कहीं "सर्वकामनाओंको पूर्ण करनेवाला" कहकर, तो कहीं "सर्वजीवात्माओंको सामर्थ्य प्रदान करनेवाला" कहकर, तो कहीं "अनुग्रह कर्ता" कहकर, कहीं "शुभस्मृतिका प्रदाता" कहकर, कहीं "कर्ता-कारयिता" कह कर. इस तरह अनेक रूपोंमें परमात्मा कैसे-कैसे किन-किन जीवात्माओंका किन-किन फलोंके दान हेतु वरण करता है यह अनेक शब्दोंमें वर्णित हुवा है.

जो परमात्मा कर्मके सदसत्स्वरूपका निर्धारक हो, बुद्धिप्रेरकतया सदसत्कर्मकारयिता भी हो; और अन्तमें फलप्रदाता भी बनता हो तो कर्म-ज्ञान-भक्तिकी वरणनिरपेक्षतया परमात्मप्रापकता कैसे मान्य हो सकती है? अतः उपनिषदादि-शास्त्रप्रामाण्य-वादिओंके लिये वरणका सिद्धान्त कभी अप्रमाणिक तो हो ही नहीं सकता.[1]

संगति तो जैसे इन वचनोंद्वारा निरूपित वरणकी उपायप्रमुखताके बारेमें जिज्ञास्य है वैसे ही अन्य उपायबोधक वाक्योंकी भी संगति इन उल्लिखित वचनोंके साथ जिज्ञास्य ही है. और जिज्ञासाका समाधान भी शास्त्रविहित अनेकानेक उपायोंको वरणका व्यापार स्वीकारते ही सहजतया मिल तो जाता ही है.

इस तरह प्रामाणिक संगतिके निर्धारित हो जानेपर, जिसे इस सिद्धान्तमें विश्वासके कारण विहित साधनानुष्ठानमें अप्रवृत्ति होती हो, उसका वरण परमात्माने आत्मोद्धारार्थ नहीं किया होगा, यह स्वीकार लेना चाहिये. साथ ही साथ जिसकी प्रवृत्ति होती हो उसका परमात्माने आत्मोद्धारार्थ वरण किया है, ऐसे भी स्वीकार लेना चाहिये. निरंकुश इच्छास्वातन्त्र्य, निरंकुश कर्मस्वातन्त्र्य तथा स्वतःसिद्ध सदसत्कर्मविवेकसे जो अपने-आपको सम्पन्न मानते हैं, वे भी 'जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः" की विवशतासे, सर्वथा मुक्त तो नहीं मिलते!

सर्वोपादान सर्वकर्ता सर्वरूप सर्वबुद्धिप्रेरक सर्वकारयिता सर्वफलदाता यदि परमेश्वर ह तो जीवात्माके इच्छास्वातन्त्र्य तथा कर्मस्वातन्त्र्य को भी परमात्माके

---

१. त. दी. नि. प्र. १।७६—७७ तथा गीता १०।४—५, १०—११

निरंकुश अंशीभूत स्वातन्त्र्यकी ही आंशिक अभिव्यक्ति माननी पडेगी. कोई गत्यन्तर रह ही नहीं जाता. अतएव लीलावादकी पृष्ठभूमिमें जीवात्मपरमात्मभेद, सदसद्वासना या सदसत्कर्म का भेद, मार्गभेद, साधनाभेद तथा फलभेद आदि सभी भेदोंकी व्याख्या "सभी कुछ भगवल्लीला है" के आधारपर दी जा सकती है, आत्यन्तिकद्वैतवादके प्रवर्तक श्रीमध्वाचार्य भी यह तो स्वीकारते ही हैं कि—

> अमुग्धैव तु मुग्धेव त्वदुःखा दुःखितेव च।
> श्री दर्शयेद् हरिश्चैव नैवेतो मोहदुःखिनौ॥
> मिथोपि तादृग्वचनमाकारं चैव लीलया।
> दर्शयन्तौ नृणां मोहं कुर्यास्तां शास्त्रदर्शनात्॥
>
> (भाग. ता. नि. १०।८०।५२)

अतः केवलद्वैतवादके अनुसार अवतारलीलामें दुःखमोहके अनुभवोंके कारण परमात्माकी परमानन्दरूपतामें व्याघात नहीं होता. उसी तरह शुद्धाद्वैतवादके अनुसार जगदीशकी जगद्रूपालीलाके कारण भी स्वीकारना चाहिये. दैवासुरसम्पद्विभाग, मार्गभेद तथा फलभेद के कारण द्वैतघटित शोकमोहोत्पत्तिनाशात्मक जगतमें अन्तर्निगूढ एकमेवाद्वितीय ब्रह्मात्मकताके या परमानन्दरूपताके एकत्वानुदर्शन करनेवालेको किसी भी तरहके व्याघातकी बुद्धि उदित नही होती है—"तत्र को मोह कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः" (ईशा. उ. ७). अतएव तैतरीयोपनिषदमें यह कहा गया है "आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयत्यभिसंविशन्तीति" (तैत्ति. उ. ३।६). इससे भी सिद्ध हो जाता है कि उत्पत्ति-नाशात्मक जडजगत तथा शोक-मोहात्मक जीवजगत आनन्दमें से प्रकट हुवा है, आनन्दमें ही अवस्थित है तथा अन्तमें आनन्दको प्राप्त करेगा या उसमें लीन हो जायेगा.

दार्शनिक भीरुतावश बहुधा शुभाशुभ या सदसद् के भेदका मूल परमात्माके शुभसंकल्प तथा जीवात्माके अशुभ कर्म में अथवा परमात्माके शुभस्वरूप तथा माया-अविद्याके अशुभ स्वरूप में खोजा जाता है.

यहां ज्ञातव्य यही है कि परमात्मा यदि सर्वसमर्थ, सर्वकर्मकर्ता तथा सर्वकर्मफलदाता होनेके साथ दयालु भी है तो या तो उसकी दयालुतामें अथवा

उसके सामर्थ्यमें कुछ न कुछ संकोच तो स्वीकारना ही पडेगा. यदि परमात्माको निर्गुण, निर्धर्मक, निराकार, निर्विशेष मानते हैं तो उस शुभ चैतन्यके अद्वैतको, उत्पत्ति-नाश-जन्म-मृत्यु-शोक-मोहादिरूप द्वैतविक्षेपकी अवभासिका अशुभ तथा अचेतन माया-अविद्याकी तुलनामें, अति निर्बल भी मानना पडेगा. क्योंकि वह अद्वैत पारमार्थिक होने पर भी इस व्यावहारिकतया या प्रातिभासिकतया अपारमार्थिक द्वैतका स्वरूपतः निरोध कर पानेमें समर्थ नहीं है. वह तो माया-अविद्या-जन्य अन्तःकरणकी मिथ्या "अहं ब्रह्मास्मि"-आकारिका वृत्तिका विषय बननेपर ही द्वैतविक्षेपके निरोधार्थ सक्षम बन पाता है! ऐसी स्थितिमें सिद्ध हो जाता है कि माया-अविद्या, चाहे कितनी भी अपारमार्थिक तथा अशुभ क्यों न हो, शोक–मोहादि विक्षेपोंको प्रकट करने तथा निवृत्त करनेंमें ब्रह्मकी तुलनामें कुछ अधिक बलवती है. ऐसी स्थितिमें साधन–फल–मीमांसाके लिये "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" के बजाय "अथातो माया-अविद्याजिज्ञासा" सूत्र अधिक उपयुक्त लगता है.

केवलाद्वैतवादके अनुसार पारमार्थिक निर्गुणब्रह्मके इस दौर्बल्यको लक्ष्यमें रखनेपर अपारमार्थिक सगुणब्रह्म या ईश्वर की दुर्बलता या असामर्थ्य का तो विचार ही अनावश्यक है. क्योंकि मायाख्या कामधेनुके दो बछडोंमेंसे एक जीव तथा दूसरा ईश्वर है, इनमें ईश्वर तो जीवकी भी तुलनामें असमर्थ है. इतना कि असर्वज्ञ जीव कमसे कम अपारमार्थिक "अहं ब्रह्मास्मि" रूपा मायिकवृत्तिके सहारे ही सही कथञ्चित मुक्त हो पाये इतना समर्थ तो है. वह ईश्वर तो जबकी मुक्त भी नहीं हो पाता सर्वज्ञ होनेके बावजूद; और न अपने सर्वसामर्थ्यका प्रयोग कर द्वैतविक्षेपका निरोध ही कर पाता है! उसे जीवन्मुक्तकी तरह आवरणरहित विक्षेपवान् भी स्वीकारें, तो भी, कर्मशेषकी निवृत्तिके बाद जीवन्मुक्तकी तो द्वैतविक्षेपसे मुक्ति हो भी सकती है, परन्तु सगुण ईश्वर कर्मबद्ध भी न होनेके कारण इस लाभसे भी वंचित रह जाता है!

यद्यपि उत्तरकालिक अद्वैतवादिओंने मायाकी अनिर्वचनीयताको सदसद्-वैलक्षण्यमें परिसीमित कर दिया, किन्तु पूर्वकालिक अद्वैतवादिओंके मायानिरूपणमें उसकी अनिर्वचनीयता अबुद्धिगम्यताके अर्थमें भी थी ही. यह "अनुपपत्तिः ही मायाम् उपोद्बलयति अनुपपद्यमानार्थत्वाद् हि मायायाः" (भामती १।४।२२) जैसे उद्गारोंके विमर्शद्वारा स्पष्ट ही है.

इस तरह जगत्कारणकी अबुद्धिगम्यताको निज बौद्धिकताके दर्पवश जुगुप्साभरी दृष्टिसे निहारना या शान्तदर्प होकर उसकी विस्मयजनक अद्भुत सामर्थ्यको स्वीकारना यों दो तरहके दृष्टिकोण हो सकते हैं. स्पष्ट है कि प्रथम दृष्टिकोणवश जगत् माया-अविद्याकृत विक्षेप लगेगा, जबकि द्वितीय दृष्टिकोणवश परब्रह्म-परमात्मा-भगवानकी दिव्य लीला. माया तथा लीला दोनों ही इदमित्थतया बुद्धिग्राह्य नहीं बन पाती परन्तु बौद्धिकताका दर्प रखनेपर बीभत्सरसात्मिका जुगुप्सा माया-अविद्याके बारेमें पैदा होती है और दर्प न होनेपर अद्भुतरसात्मक विस्मय भगवल्लीलाके बारेमें पैदा होता है. अतएव उपनिषद्में कहा गया है कि "तदात्मानं स्वयमकुरुत तस्मात् तत् सुकृत मुच्यत इति. यद्वै तत् सुकृतम्. रसो वै सः. रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति" (तैत्ति. उ. २।७).

अतएव श्रीमहाप्रभु शास्त्रमें कहीं-कहीं वर्णित मायाकी करणताको[1] जैसे ब्रह्मका दिव्य सर्वभवनसामर्थ्य मानते हैं,[2] वैसे ही अविद्याको भी ब्रह्मका सामर्थ्य ही मानते हैं. क्योंकि भागवतमें भगवान्की बारह शक्तिओंमें विद्या तथा अविद्या एवं माया का भी एक साथ ही निरूपण उपलब्ध है—"श्रिया पुष्ट्या गिरा कान्त्या कीर्त्या तुष्ट्येलयोर्जया विद्ययाऽविद्यया शक्त्या मायया च निषेवितम्" (भाग १०।३९।५५).[3] अतएव ब्रह्मकी अद्भुतलीलामें कब कहां कैसे और किस शक्तिका प्रयोग हुवा है यह विचारना ही ब्रह्मजिज्ञासाका अभिलषित स्वरूप है. चाहे ब्रह्मके मूलस्वरूपका श्रवण-मनन चल रहा हो या ब्रह्मके कार्यरूपोंका. ब्रह्मकी प्राप्तिके विविध साधनोंकी जिज्ञासा हो या विविध फलरूपोंकी जिज्ञासा. जिज्ञासाके बाद निष्कर्षतया "यद् वै तत् सुकृतं रसो वै सः" का निश्चय पुष्टिभक्तिमार्गीय साधनामें श्रवण-मनन-निदिध्यासनार्थ मूलमन्त्र है.

इस लीलावादकी पृष्ठभूमिपर यदि वाल्लभवेदान्तकी साधनमीमांसाका विचार नहीं किया जाता हो तो उसे भलीभांति समझना कठिन हो जाता है.

---

१. बृहद. उ. २।५।१९
२. त. दी. नि. प्र. १।२३
३. त. दी. नि. १।३१

एषउ ह्येवैनं साधु कर्म कारयति

परमात्मा आत्मना आत्मामें जगज्जीवेश्वरतया तथा साधनफलतया लीलया प्रकट हुआ है. अतएव प्राप्तव्य आनन्दके विभिन्न रूपोंके ऐच्छिक भेदकी तरह वरणके भी अनेकविध भेद समझने आवश्यक हैं. एक ही अखण्ड आनन्द लीलया विषयानन्द, आत्मानन्द, ब्रह्मानन्द, एवं भजनानन्द रूपोंको धारण करता है.[1]

विषयानन्द उस दिव्य आनन्दकी अत्यन्त क्षुद्रतममात्रामें अनुभूत होता औपाधिक प्रतिभास है—"एतस्यैव आनन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्राम् उपजीवन्ति" (बृहद्. उ. ४।३।३२). आसुरी वासनावाले जीव इस आनन्दकी प्राप्ति और उसके प्रयासकी परिधिके बाहर निकल नहीं पाते. विषयानन्द कस्तूरिकामृगकी भ्रमणाके सदृश होता है.[2]

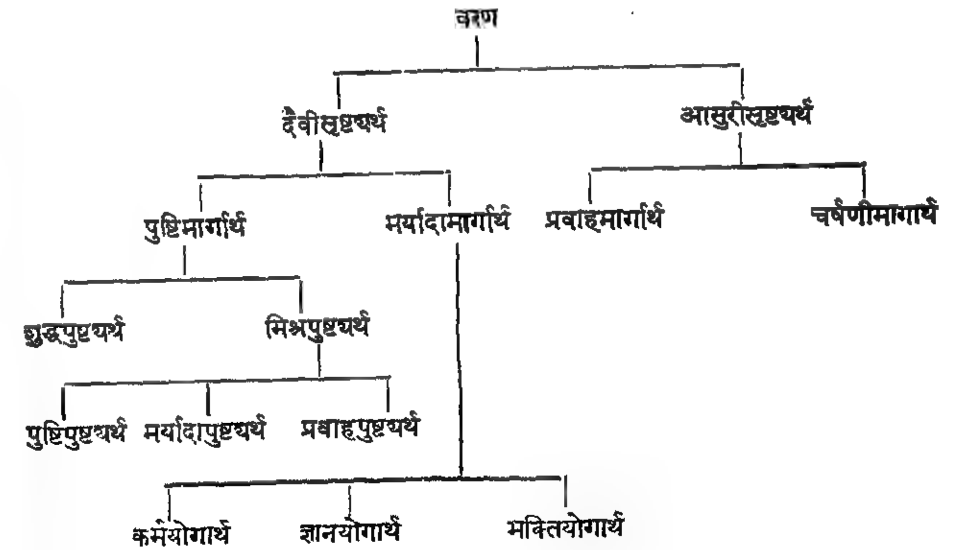
आत्मावलम्बी सांख्य-योग अथवा निष्काम कर्मकी साधनाप्रक्रियासे विषयविमुख अर्थात् आत्माभिमुख साधकको मिलता सुख आत्मसुख या आत्मानन्द शाश्वत है.[3] परन्तु ब्रह्मानन्दकी तुलनामें यह भी नहीं आ सकता. इस आत्मानन्दके अनौपाधिकरूपका भी निरूपण पूर्वोदाहृत श्रुति "एतस्यैव आनन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्राम् उपजीवन्ति" (बृहद. उ. ४।३।३२) तथा "यो वै भूमा तत् सुखं नाल्पे सुखम् अस्ति" (छां. उ. ७।२३।१)[4] श्रुतिमें भी स्वीकारा जा सकता है.

ज्ञानसमुच्चित अथवा भक्तिसमुच्चित कर्मयोग अथवा केवल ज्ञानयोग द्वारा ब्रह्मानन्दकी अनुभूति सम्भव है.[5] भजनानन्दकी, किन्तु, तुलनामें भक्तको ब्रह्मानन्द भी बहुत अभिनन्दनीय नहीं लगता.[6] अतएव भागवतमें कहा गया है—"सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत दीयमानं न गृह्णन्ति विना

१. सुबो. १०।८७।२०–२१ तथा अणुभा. ३।४।११.
२. सुबो. १०।८७।२०
३. त. द. नि. प्र. २।४–५ तथा बा. बो. ६–९
४. अणुभा. १।३।८–९.
५. त. दी. नि. प्र. २।४
६. त. दी. नि. १।५०–५१

मत्सेवनं जनाः" (भाग ३।२५।१३) तथा "नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिद् मत्पादसेवाभिरताः मदीहाः" (भाग ३।२५।३४) अस्तु.

किसी भी फलकी प्राप्तिमें मुख्य साधन तो तत्तत्फलदान-नियामक भगवत्कृत वरण ही है. भगवान जिस दैवी जीवका पुष्टिमार्गार्थ या मर्यादामार्गार्थ वरण करते हैं उसे वैसा फल मिलता है. अथवा जिस आसुरीजीवका प्रवाहमार्गार्थ वरण करते हैं तो वैसा फल मिलता है. प्रत्यक्ष पुष्टिअवतारलीला या मर्यादा-अवतारलीला की प्रणाली द्वारा भक्त्यर्थ या मुक्त्यर्थ वरण करते हैं तो वैसा फल मिलता है. अथवा तत्तद् जीवात्मगोचर निजस्वरूपप्राकट्यकी प्रणाली द्वारा यथेष्टफलदानार्थ अथवा साधनप्रणाली द्वारा कर्मयोगार्थ या ज्ञानयोगार्थ या भक्तियोगार्थ यों जिस किसी भी प्रकारका वरण भगवान करते हैं, वैसी ही रुचि-निष्ठा-फलाधिकारितासे जीव सम्पन्न बन जाता है.[1] एतदर्थ वरणके उल्लिखित विविध प्रकारोंको अधोनिर्दिष्ट तालिका द्वारा सरलतासे समझा जा सकता है.



१. गीता १०।४–५ तथा वहीं १०।१०–११, अणुभा. ३।२।३८–३९ तथा वहीं ३।३।३८–३९

यह तालिका श्रीमहाप्रभुविरचित 'पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद' नामक ग्रन्थपर आधारित है. इसे हृद्गत किये बिना वाल्लभवेदान्तकी साधन-फल-मीमांसा समझ पाना कठिन बात है. अणुभाष्यके साधनाध्यायमें अनेक अधिकरण एवं स्पष्टीकरण उल्लिखित वरणके प्रकारभेदकी धारणाकी पृष्ठभूमिपर लिखे गये हैं.

इस तरह मार्गवरणके भेदोपभेदको बुद्धिगत करनेपर जीवके पुष्टिमार्गीय या मर्यादामार्गीय वरणके प्रभेदको समझनेके लिये यह आवश्यक है कि भगवद्-नुग्रहके विभिन्न अवान्तर रूपोंको भी दृष्टिगत कर लिया जावे.

यान्ति तन्मयतां हि ते

वैसे 'वरण', 'पुष्टि', 'अनुग्रह' या 'कृपा' आदि अनेक पर्यायवाची पद अन्यान्य सन्दर्भोंमें प्रयुक्त होते रहते हैं. फिरभी समानार्थी विभिन्न पदोंकी स्वारसिक अर्थमण्डलकी विभिन्न परिधिओंको बोधसौकर्यार्थ परिभाषित या निर्धारित कर लेना अनुचित नहीं होगा. उदाहरणतया बहुधा कृपाके अर्थमें प्रयुक्त होनेपर भी, जिस जीवका भगवान प्रवाहमार्गार्थ वरण करते हैं, उसके सन्दर्भमें 'कृपा' पदकी अर्थपरिधिके बहिर्भूत भावोंका भी बोध 'वरण' पद करता है. यही बात 'क्षमा', 'दया', 'प्रसाद', 'सन्तोष' जैसे कृपासमानार्थी पदोंके बारेमें भी कही जा सकती है. अतः 'वरण' पदसे किञ्चित तटस्थवृत्तिसे भगवल्लीलाका निरूपण होता है ऐसा बोधसौकर्यार्थ परिभाषित किया जा सकता है. इसी तरह 'अनुग्रह', 'कृपा' आदि पदोंसे कृतज्ञताभावके साथ वरणका बोध हो रहा ऐसा स्वीकारनेमें किसी तरहकी कठिनता अनुभूत नहीं होगी. अतः आसुरी सृष्टिमें किसी जीवका वरण न तो मुक्त्यर्थ होता है न भक्त्यर्थ. अतएव यह न तो शास्त्रविहित साधनात्मना और न अविहित भगवत्स्वरूपासक्तिके रूपमें ही व्यापारायित हो पाता है.

असुरकुलमें जन्मको आसुरीसृष्ट्यर्थ वरण नहीं मान लेना चाहिये. वृत्रासुर प्रह्लाद तथा बलि इसके प्रमाण माने जा सकते हैं. और न अदानव कुलमें जन्म को दैवीसृष्ट्यर्थ वरणका प्रमाण माना जा सकता है. इस पार्थक्यके आधारकी सुविशद विवेचना कुछ आगे चल करेंगे. यहां हमारा विवक्षित केवल यही है कि आसुरीसृष्ट्यर्थ वरण क्योंकि शास्त्रविहित साधनात्मना व्यापारायित नहीं होता अतः वरणके उस प्रकारकी विस्तृत विवेचना साधनाध्यायमें अतीव उपयुक्त नहीं होगी.[1]

पुष्टिमार्गार्थ जीवात्माका भगवत्कर्तृक वरण जीवात्माके भीतर पुष्टिभावोंके बीजभावकी तरह रोपित हो जाता है. इसी तरह मर्यादामार्गार्थ वरण मर्यादा-मार्गीय बीजभावोंकी तरह रोपित हो जाता है. दैवी जीव दोनों ही हो सकते हैं. दोनोंमें ही सहज सम्भव है कि परमात्माके बारेमें भक्तिमार्गीय मनोवृत्ति हो. परन्तु मुक्त्यर्थ भक्ति मर्यादाभक्ति है तथा भक्त्यर्थ मुक्तिको भी 'पुष्टिभक्ति' ही समझना चाहिये. अतएव परमात्माके प्रति निरुपधि स्वरूपासक्ति तथा सालोक्यादिमुक्तिकामनोपाधिक साधनासक्ति ही पुष्टिभाव तथा मर्यादाभाव के पार्थक्यका परिचायक है. भूलना नहीं चाहिये कि मर्यादामार्गीय जीवमें भी भगवत्स्वरूपासक्ति हो सकती है तथा पुष्टिमार्गीय जीवमें साधनासक्ति भी. परन्तु दोनोंमें से किसमें क्या मुख्य है तथा क्या आनुषंगिक इसका भेद ही उक्त पार्थक्यका आधार है. अन्यतरका किसीमें सर्वथा अभाव पार्थक्यका हेतु नहीं है.

इसी तरह 'पुष्टि' पदका अर्थ भी, भागवतके 'पोषणं तदनुग्रहः' (भाग. २।१०।४) वचनके आधारपर, कृपा ही लिया जाता है. एतावता ऐसा नहीं मान लेना चाहिये कि मर्यादामार्गीय जीवपर भगवान पुष्टि या अनुग्रह करते ही नहीं हैं. अर्थात् उनका उद्धार उनके स्वयंके केवल साधनानुष्ठानसे ही होगा तथा पुष्टिमार्गीय जीव ही भगवदनुग्रहभाजन बननेके एकाधिकारी हैं, *इस अर्थमें पुष्टिमार्ग एवं मर्यादामार्ग का वर्गीकरण नहीं किया गया है.* क्योंकि शास्त्रविहित साधनोंकी भी भगवत्प्राप्त्युपायता तत्तदात्मना भगवत्कर्तृक वरणके व्यापाररूपेण ही है. यह श्रीमहाप्रभु कहते हैं—

इदमेव विनिश्चित्य कृष्णो ह्यर्जुनमब्रवीत् ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥
एवकारेण सर्वेषामनुपायत्वमाह हि ।
ज्ञानादीनां हि सर्वेषां तदधीनत्वतः सदा ॥
आपाततस्तु सर्वेषामुपायत्वं मयोदितम् ।
विष्णोः कृपाविशिष्टानां तत्फलं नान्यथाभवेत् ॥

(त. दी. नि. २।३०४-३०७)

---

१. त. द. नि. प्र. २।१७–१९

इससे यह स्फुट होता है कि मर्यादामार्गीय जीवकृत साधनानुष्ठानका साफल्य भी कृपाफल ही है. अतः अवतारकाल—अनवतारकाल पुष्टिमार्गीय—मर्यादामार्गीय अनुग्रहोंके भेदोपभेदोंके विमर्शार्थ अब हमें प्रवृत्त होना चाहिये.

पूर्वप्रदत्त वरणकी तालिकामें दैवीसृष्ट्यर्थ वरणके दो अवान्तर भेद दिखलाये थे—

(१) पुष्टिमार्गार्थ, (२) मर्यादामार्गार्थ.

इन दो अवान्तर भेदोंसे भी पूर्व भगवानके प्रकट स्वरूप तथा लीला के प्रति अपरिहार्य आकर्षण, जो भगवन्निष्ठ व्यापार है, द्वारा सम्पन्न होता भगवद्-भक्तिलाभ, भगवद्रतिलाभ अथवा भगवदीय-सालोक्यादिमुक्तिलाभ वरणके कुछ विलक्षण प्रकार हैं. यहां जीवकृत साधनोंकी लेशमात्र अपेक्षा नहीं रखी जाती है. रामायण-महाभारत-पुराणोंमें भगवानकी इस तरहकी अनुग्रहशीला लीलाके अनेक दिव्य प्रसंग उपलब्ध होते हैं. ये लीलायें मर्यादामार्गीय तथा पुष्टिमार्गीय दोनों तरहके जीवोंके साथ भगवदवतारचरित्रमें वर्णित हुई हैं. इसी तरह अनवतारकालमें भी पुष्टिमार्गीय साधनकलापों अथवा मर्यादामार्गीय साधन-कलापों के रूपमें वरण व्यापारायित होकर भगवद्भक्तिप्राप्ति अथवा सालोक्यादि-मुक्तिप्राप्ति का हेतु बनता है. इस पृथक्करणके आधारपर मर्यादामार्गीय वरण तथा पुष्टिमार्गीय वरण के दो-दो उपभेद अर्थात् कुल चार अवान्तर प्रकार कहे जा सकते हैं.

शब्दान्तरमें इसे ऐसे समझा जा सकता है कि वरणका एक प्रकार यह है कि वह अंशरूप जीवात्माके साधनानुष्ठानके रूपमें व्यापारायित होता है. दूसरा प्रकार यह है कि स्वयं अंशीरूप भगवान्में दास्य-सख्य-वात्सल्य-माधुर्यादि भावोंके उद्बोधक स्वरूपधारणकी क्रिया और वैसी लीलाओंके रूपमें व्यापारा-यित होता है. इस तरह स्वयं अंशीमें व्यापारायित होनेवाले वरणके कारण उल्लिखित लौकिक दास्यादिभाववश यदि भक्तिरहितमुक्तिलाभ होता है तो उसे मर्यादामार्गीय वरण समझना चाहिये. परन्तु इन दास्यादि लौकिक भावोंका तत्तद्भावशील जीवात्माओंके साधनबलकी अपेक्षाके बिना भगवद्भक्तिमें उदात्तीकरण भी सम्भव है. अर्थात् दास्यभावात्मिका, सख्यभावात्मिका, वात्सल्य-भावात्मिका एवं शृंगारभावात्मिका भगवद्भक्तिमें यदि रूपान्तरण हो जाता हो,

भगवान्की तत्तत् प्रकारकी मात्र लीलाओंके कारण ही, तो पुष्टिमार्गीय वरण समझना चाहिये. संक्षेपमें जैसा कि हम कह ही चुके हैं, भक्त्यर्थ मुक्तिप्रद वरण पुष्टिमार्गीय वरण है परन्तु मुक्त्यर्थ भक्तिप्रद वरण भी मर्यादामार्गीय वरण है. अतएव श्रीमहाप्रभु पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदमें यह समझाते हैं कि पुष्टिजीव भगवद्भक्त्यर्थ ही ब्रह्ममेंसे व्युच्चरित हुवे हैं अतः उनकी अन्यथा गति सम्भव नहीं है[1].

विलक्षण स्वरूपधारण या विलक्षण लीलाविष्करण रूपोंमें व्यापारायित होते वरणमें एक और प्रभेद यह दृष्टिगत होता है कि कहीं वह उपदेशदान या वरदान की प्रणालीसे वाचनिक होता है तो कहीं अवाचनिक भी. जैसे गीताके उपसंहारमें "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्ष-यिष्यामि मा शुचः" (गीता १८।६६) सर्वधर्मत्यागकी, आज्ञा नहीं, अनुज्ञा देते हुवे भगवान् स्वमुखसे स्वरूपमात्रनिष्ठाकी आज्ञा दे रहे हैं. यह उपदेशदान या वरदान वचनतः प्रकट हुवा होनेके कारण वाचनिक वरण है. इस तरहके वचनव्यापारके बिना भी—"विजयरथकुटुम्ब आत्ततोत्रे, धृतहयरश्मिनि तच्छ्रियेक्षणीये, भगवति रतिरस्तु मे मुमूर्षोः, यमिह निरीक्ष्य हताः गताः स्वरूपम्. ललितगतिविलासवल्गुहासप्रणयनिरीक्षणकल्पितोरुमानाः कृतमनुकृत्य उन्मदान्धाः प्रकृतिमगन् किल यस्य गोपवध्वः (भाग. १।९।३९–४०) "दृष्टा भवद्भिः ननु राजसूये, चैद्यस्य कृष्णं द्विषतोपि सिद्धिः यां योगिनः संस्पृहयन्ति सम्यग् योगेन कस्तद्विरहं सहेत. तथैव चान्ये नरलोकवीराः, य आहवे कृष्णमुखारविन्दं, नेत्रैः पिबन्तो नयनाभिरामं, पार्थास्त्रपूता पदमापुरस्य." (भाग ३।२।११–२०), इन श्लोकोंमें तथा "अहन्यापृतं निशि शयानमतिश्रमेण लोकं विकुण्ठमुपनेष्यति गोकुलं स्म" (भाग २।७।३१) जैसे श्लोकोंमें स्वनिष्ठ स्वरूपाकर्षणरूप अथवा लीलाकर्षणरूप अवाचनिक तथा सर्वथा साधननिरपेक्ष वरणका वर्णन भी उपलब्ध होता है. भागवतके एकादश स्कन्धमें इस तरहके अनुग्रहभाजनोंकी एक लम्बी सूची देकर भगवानने यह स्पष्टीकरण दिया है कि "तेनाधीतश्रुतिगणाः नोपासितमहत्तमा, अव्रतातप्ततपसः सत्संगान्मामुपागताः, केवलेन हि भावेन गोप्यो गावः खगाः मृगाः, येन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसा, यं न

१. पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद १२

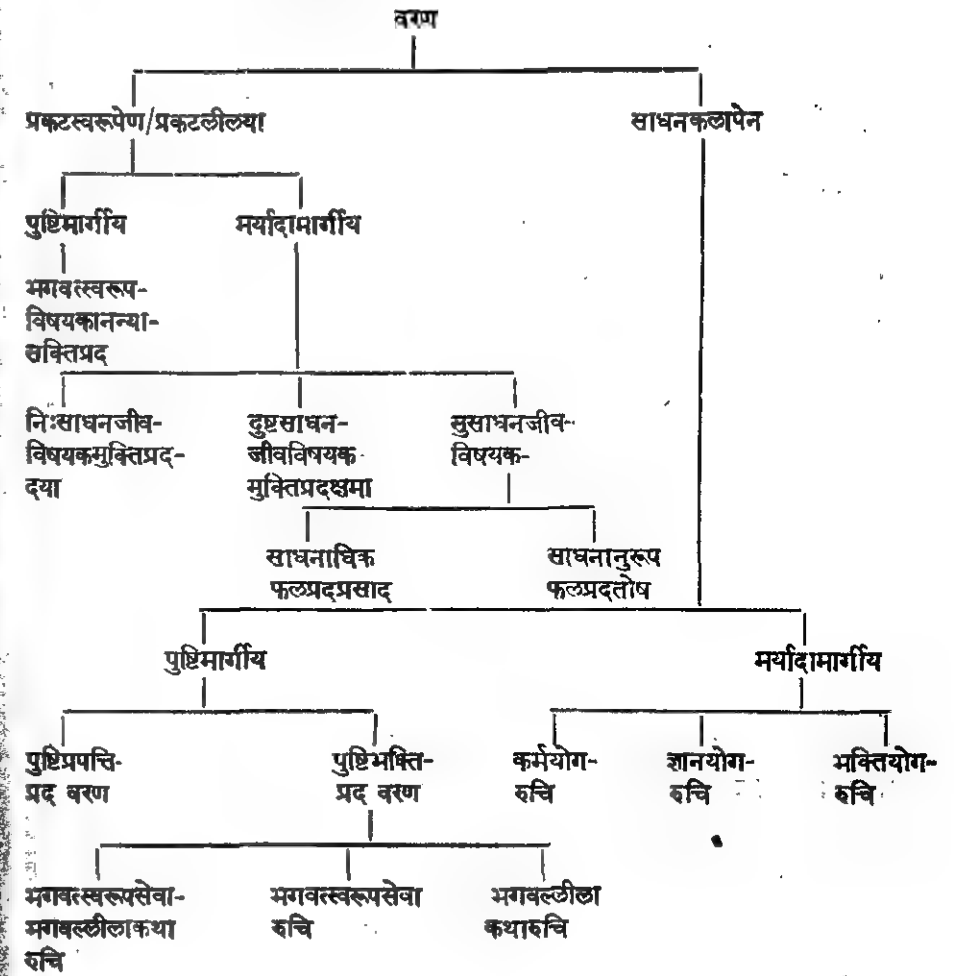
योगेन सांख्येन दानव्रततपोध्वरैः, व्याख्यास्वाध्यायसंन्यासैः प्राप्नुयाद् यत्नवानपि" (भाग ११।१२।६–७). अतः निःसाधनजीवोंके वरणके इस प्रकारका स्वरूप भी भलीभांति समझना आवश्यक है.

भूतलके ऊपर प्रकट भगवानकी स्वरूपमहिमा या लीलामहिमा के रूपमें व्यापारायित होते वरणमें भक्तिरहितमुक्ति तथा भक्तिसहितमुक्ति के तारतम्य को देखते हुवे मर्यादा तथा पुष्टि का प्रभेद भी विस्मृत नहीं कर देना चाहिये. साथ यह तथ्य भी स्पष्टतया समझ लेना अति आवश्यक है कि प्रकटरूपके प्रति काम-क्रोध-द्वेष-भय आदि सगुणभावों, अर्थात् प्राकृतभावों, के रूपमें व्यापारायित होते वरणकी दुहाई देकर, अप्राकट्यकालमें इन भावोंको अभिनन्दनीय या अनुसरणीय माना नहीं जा सकता, जैसे निःसाधनभावात्मिका अनन्यभक्ति या निःसाधनभावात्मिका अनन्यप्रपत्ति को स्वीकारा गया है. इन सगुणभावोंमें कतिपय भाव जो भक्ति या प्रपत्ति के स्थायिभावोंमें रसाभासता न लाते हों तो वे सञ्चारिभावतया प्रशंसनीय बन सकते हैं, परन्तु भक्तिके स्थायिभावके अन्तर्गत सञ्चारिभाव हों तो ही अन्यथा नहीं. यह पुष्टिमार्गीय साधनाका रहस्य है. अतएव भागवत (१०।२९।१५) में काम, क्रोध, द्वेष, भय, सांसारिक-स्नेह, सांसारिक-सम्बन्ध आदिके कारण गोपिकाओंको, कंसादि असुरोंको, शिशुपालको, इसी तरह यादव बन्धुबान्धवोंको भी योगिजनदुर्लभ प्रपंचविस्मृतिपूर्वक चित्तकी भगवदेकतानता प्राप्त हुयी थी. इस एकतानताके कारण किसीको मुक्ति तो किसीको भक्ति का जो दान मिला वह यथायथ मर्यादामार्गीय या पुष्टिमार्गीय वरणका भगवत्प्राकट्यकालिक रूप है, सार्वदिक उपाय नहीं. अतएव श्रीमहाप्रभु यह स्पष्टीकरण देते हैं कि वर्षाकालमें जल सर्वत्र (अर्थात् घरकी छतपर भी) सुलभ हो जाता है एतावता नदी-कूप-सरोवर आदिकी निरुपयोगिता स्वीकारी नहीं जा सकती. इसी तरह अवतारकालमें काम-क्रोध-द्वेष आदि लौकिक या शास्त्रनिन्दित मनोवृत्तिवालोंको भी सुलभतया भगवत्प्राप्ति सम्भव थी एतावता अनवतारकालमें ब्रह्मज्ञान या भगवद्भक्ति को निरुपयोगी नहीं माना जाता है.[1]

---

१. सुबो. १०।२९।१३–१६

इसे हम यों समझ सकते हैं—



यह तालिका श्रीमहाप्रभुविरचित पुष्टिप्रवाहमर्यादा-भक्तिवर्धिनी-सुबोधिनी–निबन्ध-अणुभाष्यके विभिन्न वाक्योंकी एकवाक्यताके आधारपर निर्मित की गयी है.[1] अतः विशेष जिज्ञासा तो यहीं समाहित हो सकती है.

---

१. सुबो १०।८७।२१–२३, त. दी. नि २।१९ अणुभा. ३।३।२९

श्रीमत्प्रभुचरणकृत न्यासादेशविवरण वृत्रासुरचतुश्लोकीव्याख्या तथा भक्तिहंस एवं भक्तिहेतुनिर्णय आदि ग्रन्थोंका भी अवलोकन यहां उपकारक हो सकता है.

संक्षेपमें अवतारकालमें लीलाद्वारा रागद्वेषादिभाववालोंको, मुक्तिलाभ वर्णित हुवा हो तो वह मर्यादामार्गीय वरणका उदाहरण है तथा ऐहिक और पारलौकिक भक्तिका लाभ पुष्टिमार्गीय वरणका उदाहरण है. इसी तरह अनवतारकालमें भी मोक्षकापनोपाधिक भगवद्भक्ति या विहित तत्तत् साधनोंमें अनुरक्ति मर्यादामार्गीय वरण है. अनौपाधिक भगवत्स्वरूपासक्तिमूलक साधनानुष्ठानरति भी पुष्टिमार्गीय वरण है.

उल्लिखित तालिकामें निःसाधनता–दुष्टसाधनता–सुसाधनता मर्यादामार्गीय प्रकारके अन्तर्गत दिखलायी गयी है. वह पुष्टिमार्गीय प्रकारमें भी सम्भव है. परन्तु दया-क्षमा-प्रसाद-सन्तोष यदि मुक्त्यर्थ कर्म-ज्ञान-भक्तिप्रद भी होते हैं तो मर्यादामार्गीय वरण है तथा भक्त्यर्थ कर्म-ज्ञान-मुक्तिप्रद भी होते हों तो पुष्टिमार्गीय वरण है.

कौन से जीवका किस तरहका वरण है यह जीवबुद्धि गम्य नहीं. आपाततः जिसका जिस मार्गमें वरण होता है तदनुसारी उसमें रुचि प्रवृत्ति तथा आग्रह होते हैं, परन्तु ये अव्यभिचारी लिंग नहीं हैं. आकाशमें घिरे बादल, जैसे, वृष्टिको सम्भावनाके द्योतक होते हैं. कुछ उसी तरह इस सन्दर्भमें भी समझ लेना चाहिये. अतः स्वयं अपने बारेमें या दूसरेके बारेमें, पुष्टिमर्यादाप्रवाहमार्गोंके भेदवश, अहंकार या हीनभाव का कोई अर्थ नहीं है. श्रीमद्भागवतमें अतएव कहा गया है "गुणदोषदृशिः दोषः गुणस्तूभयवर्जितः" (भाग ११–११–४५) यह इस लीलाको ब्रह्मदृष्टया निहारनेकी कला है. जबकि भक्तिदृष्टया तो दैवासुरभेद भगवल्लीलार्थ प्रकट गुणदोष तो है ही साथ ही साथ किन्तु यह भी अविस्मरणीय है कि "अन्यथा प्रतिभानं यदुच्चनीचादिभेदतः तद्भानं तस्य कर्ता च हरिरेव तथाविधः यत्किञ्चिद्दूषणं त्वत्र दूष्यश्चापि हरिः स्वयम्" (सुबो. २।९।३२).

इस तरह श्रीहरिकी सर्वरूपता-सर्वकर्तृता-सर्वेश्वरता-सर्वफलदातृता-सर्वफलरूपता हमें शरणमार्गके गूढ रहस्यकी ओर विचारप्रयाण करनेको प्रेरित करती है.

माम् एकं शरणं व्रज

पुष्टिमार्गीय वरणमें निःसाधनताकी महत्ता अनिवार्य शर्तके रूपमें नहीं किन्तु वरणके सुस्पष्ट उदाहरण होनेके रूपमें है. इसीलिये जिसमें शास्त्रोक्त साधनोंके निर्वाहका सामर्थ्य है उसे तीव्र ब्रह्मभावावेश या भगवद्भावावेश के बिना अकारण ही विहित कर्तव्य या साधन के त्यागकी अनुज्ञा नहीं मिल जाती.[1] फिर भी अनुष्ठीयमान साधनोंमें अनुपायताकी भावना तथा केवल भगवानके ही उपाय तथा उपेय होनेकी भावनाका उपदेश दिया जाता है. इसे ही निःसाधनभाव समझना चाहिये. विहित वरणका असामर्थ्य निःसाधनता है. विहिताचरणमें तत्पर रहनेपर भी केवल परमात्मामें ही उपायताबुद्धि तथा उपेयताबुद्धि रखना निःसाधनभाव है. दोनों ही अवस्थाओंमें शरणागति सम्भव है.

शरणागति, अतएव, भगवन्माहात्म्यके बोधके साथ निःसाधनता या निःसाधनताभावना है. अनेकविध शास्त्रवचनोंको श्रीमहाप्रभु दो वर्गोंमें विभक्त करते हैं—

(१) ब्रह्ममाहात्म्यप्रतिपादक वचन
(२) ब्रह्मतादात्म्यप्रतिपादक वचन

आत्माराम ब्रह्मकी जगदुपादानता जगत्कर्तृता जगत्पालकता जगदीश्वरता जगदन्तर्यामिता निर्लेपता जगत्संहारकता मोक्षदातृता इत्यादि अनेक गुणवर्णन ब्रह्मके माहात्म्यका प्रतिपादन करते हैं.

इसी तरह कार्य-कारणभाव, अंशांशिभाव, नियम्य-नियामकभाव आदि अनेकविध भेदोंके बावजूद जड-जीव-ईश्वर तीनोंके बीच तादात्म्यका प्रतिपादन "सर्वं खलु इदं ब्रह्म"—"ऐतदात्म्यमिदं सर्वं....तत्वमसि" जैसे वचन भक्तिभावके उद्बोधनार्थ हैं.

ब्रह्मके माहात्म्यका बोध प्रपत्तिभावका उद्बोधक होता है तथा ब्रह्मके तादात्म्यका बोध भक्तिभावका उद्बोधक होता है. अतएव श्रीमहाप्रभु कहते

---

१. त. दी. नि. प्र. २।१९६.

हैं *"यथा कथञ्चिन्माहात्म्यं तस्य सर्वत्र वर्ण्यते भजनस्यैव सिद्ध्यर्थं तत्त्वमस्यादिकं तथा"* (त. दी. नि. १।४१).

शरणागतिके बारेमें सबसे अधिक उल्लेखनीय तथ्य यह है कि वह कर्म-ज्ञान-भक्ति-योगोंका आनुषंगिक उपाय भी है तथा अनुकल्प भी. जो जीवात्मा कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोगके अनुष्ठानमें तत्पर हो सकती हैं उन्हें भगवच्छरणगति मार्गमें सम्बल बन जाती है तथा जो असामर्थ्यवश तत्पर नहीं हो पाती उनमें उस असामर्थ्यजन्य रिक्तताकी पूर्ति भी शरणागतिके कारण ही सम्भव है. ज्ञानमार्गीय साधकको वैराग्यके परिपाकमें इसी तरह भक्तिमार्गीय साधकको इतरफलनैरपेक्ष्यके परिपाकमें, विहित वर्णाश्रमाचारके त्यागकी अनुज्ञा जो दी गई है वह साधनदशासे जुड़ा उपदेश नहीं है.[1]

इसी तरह "विधि-निषेधमूलक प्रवृत्ति-निवृत्ति तथा श्रुत-श्रोतव्यमूलक ज्ञान को छोडकर सर्वात्मभावपूर्वक केवल भगवच्छरणागति ही करनी चाहिये"[2] ऐसी भगवदाज्ञा भी मिलती है. यहां निःसाधनताका उपदेश, यदि निःसाधन जीवको लक्ष्यमें रखकर देखें तो, सिद्धसाधन होनेके कारण साधनपरित्यागकी आज्ञा न होकर अनुज्ञाका रूप धारण कर लेगा. यदि सुसाधन जीवको अर्थात् साधनानुष्ठानसमर्थ एवं तत्पर जीवको साधनादशामें रखकर देखें तो निःसाधनताका नहीं किन्तु या सर्वात्मभावसमुचित निःसाधनताभावकी आज्ञाके रूपमें लेना पडेगा. यदि सिद्धदशाको लक्ष्यमें रखकर देखें तो पुनः निःसाधनताकी अनुज्ञाका रूप धारण कर लेगा, ज्ञानमार्गीय जीवात्माके सन्दर्भमें तथा भक्तिमार्गीय जीवात्माके सन्दर्भमें भी. भूलना नहीं चाहिये कि सभी प्रकार अन्ततः शरणागतिके अंगतया उपदिष्ट हुवे हैं.

ब्रह्म एकमेवाद्वितीय होनेपर भी सत्यसंकल्प तथा सर्वभवनसमर्थ होनेके कारण निखिल जड-जीव-ईश्वररूप जगदात्मना अनन्त नाम-कर्म-रूपोंको अपराधीन-तथा स्वयमेव धारण करता है. वही सृष्टा तथा सृष्टि, पालक तथा पालित और संहर्ता तथा संहार्य, जब बनता है तो उससे स्वतन्त्रतया हमारी अहन्ता-ममता या कर्तृत्व-भोक्तृताका कोई स्वाभाविक स्वरूप तो सिद्ध ही नहीं होता. ब्रह्मो-

१. भाग. ११।१८।२८
२. भाग. ११।१२।१४ तथा अणुभा. ३।३।४३

पादानक ब्रह्मात्मक ब्रह्मनियन्त्रित हमारी अहन्ता-ममता या कर्तृता-भोक्तृता का तथ्य, हमारे भीतर शरणागतिका भाव हो या न हो, हमारी ब्रह्माधीनताका द्योतक है. अतः शुद्धाद्वैतवादमें भगवच्छरणागतिका निगूढतमभाव जीवब्रह्माधीनता (केवलाद्वैतवादको अभिमत जीवब्रह्मैक्यकी तरह) "विस्मृतकण्ठस्थमणिप्राप्ति" न्यायानुसार ही अभिप्रेत है.

पुष्टिमार्ग, मर्यादामार्ग या प्रवाहमार्ग, इसी तरह कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग या भक्तिमार्गके यथारुचि अनुसरण करनेका जो स्वातन्त्र्य हमें हमारे भीतर अनुभूत होता है वह भी, जैसा कि निरूपण कर ही चुके हैं, अंशी ब्रह्मके अकुण्ठित स्वातन्त्र्यकी ही हम अंशोंमें प्रकट होती आंशिक अभिव्यक्ति है. अतएव शरणागति कर्म-ज्ञान-भक्तिरूप तीनों मार्गोंमें सहायक अंग भी मानी गयी है, क्योंकि जो शास्त्रोक्त साधनोंसे सम्पन्न हैं उन्हें भी ब्रह्ममाहात्म्य अर्थात् ब्रह्माधीनता के बोध द्वारा अपने कर्तृत्वाभिमानको वशमें लाकर निःसाधनताकी भावनाके साथ अनुष्ठीयमान कर्म-ज्ञान-भक्तिकी साधनाओंमें तत्पर होना उचिततर रीति है.

इस तरह शरणागतिके सर्वसामान्य स्वरूपका उपदेश गीतामें "ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये, मत्तएवेति तान् विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्, मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्, दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया, मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते, न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः (गीता ७।१२-१५) वचनद्वारा दिया गया है.

कर्मयोगांग शरणागतिका "जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ते ब्रह्म तद् विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्" (गीता ७।२९) में निरूपण मिलता है. इसी तरह ज्ञानयोगांग शरणागतिका "बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः" (गीता ७।१९) वचनमें प्रतिपादन हुवा है. भक्तियोगांग शरणागतिका भी वर्णन हमें "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया, तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत, तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्" (गीता १८।६१-६२) वचनमें उपलब्ध होता है.

शरणागतिका कर्मज्ञानभक्तिमेंसे किसीके भी अंगतया नहीं अर्थात् स्वतन्त्र भगवन्निष्ठ उपायतया "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज अहं त्वा सर्व

पापेभ्यः मोक्षयिष्यामि मा शुच" (गीता १८।६६) वचनमें प्रतिपादन हुवा है. इसे ही श्रीमहाप्रभुने "एवमाश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितं, कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या इति मे मतिः" (वि. धै. आ. १७) वचनमें निरूपित किया है. षोडश ग्रन्थके अन्तर्गत कृष्णाश्रय तथा विवेकधैर्याश्रय में और पञ्चश्लोकीकी अन्तिम तीन कारिकाओंमें भी इसी मुख्य शरणागति, जिसे श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरण 'पृथक्शरणमार्ग' कहते हैं,' का स्वरूप श्रीमहाप्रभुने समझाया है. श्रीवेदान्तदेशिक-विरचित न्यासविंशतिकी कारिका, जो वल्लभ-संप्रदायमें 'न्यासादेश' नाम्ना प्रसिद्ध है, के विवरणमें भी इसी पृथक्शरणमार्ग-की विवेचना है. यही पृथक्शरणमार्ग कर्मादिमार्गोका सहायक अंग तथा अनुकल्प दोनों ही है. वाल्लभसंप्रदायमें अष्टाक्षर मन्त्रोपदेश द्वारा इसी मार्गमें दीक्षित किया जाता है. इसके बाह्य-आभ्यन्तरभेदवश चतुर्विध रूप समझमें आते हैं—

(१) कृति-मति-रतिकी साधनत्वेन-फलत्वेन भगवदेकनिष्ठा
(२) भगवन्माहात्म्य–ज्ञानपूर्वक निःसाधनताकी भावना
(३) विवेक–धैर्य–आश्रय
(४) अष्टाक्षरमन्त्रका मनसा–वचसा निरन्तर अनुसन्धान

(१) पञ्चश्लोकीकी अन्तिम तीन कारिकाओं, जो अन्य भी वैष्णव सम्प्रदायोंमें मान्य हैं, को श्रीमहाप्रभुने शरणागतिके प्रमुख स्वरूपके निरूपणार्थ स्वीकारा है. इनमें षड्विधता यों दिखलायी गयी है—

> अनुकूलस्य संकल्पः प्रतिकूलस्य वर्जनम् ॥
> रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा ॥
> आत्मनैवेद्यकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः ॥ ५ ॥

कुल मिलाकर इसका तात्पर्य यही है कि कृति-मति-रतिमें साधनतया एवं फलतया केवल भगवानमें ही अनन्यनिष्ठा होनी चाहिये.

(२) यह पूर्वोक्त शरणागति तभी सम्भव है जब हमें भगवान्के माहात्म्यका वास्तविक बोध हो. हमें अपने भीतर निःसाधनताका निश्चय हो अथवा शास्त्र-

१. सर्वोत्तमस्तोत्र २५

विहित साधनोंके अनुष्ठानकी सामर्थ्य एवं तत्परता होनेके बावजूद भगवन्माहात्म्यके बोधवश कर्तृत्वाभिमान शिथिल हो गया हो, परिणामतः साधननिष्ठाके बजाय भगवन्निष्ठाका प्रबल बन जाना शरणागतिका एक उल्लेखनीय स्वरूप है. शास्त्रविहित धर्मके भलीभांति अनुष्ठानके हेतुभूत देश-काल-द्रव्य-कर्ता-मन्त्र-कर्मकी यथोक्त शुद्धि अनिवार्य है. इनमें से एक या एकाधिक अंगोंके कलिकालवश अशुद्ध हो जानेके कारण धर्मानुष्ठानमें तत्पर साधकके भीतर भी निःसाधनताका निश्चय उभर सकता है. ऐसी स्थितिमें सर्वथा टूट जानेके बजाय "कृष्णएव गतिः मम" भावका अवलम्बन किया जा सकता है. यह निरूपण श्रीमहाप्रभुने 'कृष्णाश्रय' नामक ग्रन्थमें किया है.

(३) उक्त कृष्णाश्रयके स्वरूपको उसकी इतिकर्तव्यता के साथ श्रीमहाप्रभुने 'विवेकधैर्याश्रय' नामक ग्रन्थमें समझाया है—

(क) विवेक : हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यति
(ख) धैर्य : त्रिदुःखसहनं धैर्यमामृतेः सर्वतः सदा
(ग) आश्रय : ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरणं हरिः

(क) यहां जो कुछ घटित होता है वह वैसी भगवदिच्छाके कारण ही होता है—भगवदिच्छाके बिना कोई भी घटना घट ही नहीं सकती. किसी घटनाको घटित होने देनेमें हमारे सर्वसमर्थ सर्वज्ञ स्वामी भगवानका निगूढ अभिप्राय क्या है यह सहसा समझमें नहीं आ पाता. अतः उद्विग्न होकर भगवानसे कुछ याचना करना या मनौती मनाना अविवेक है.

इसी तरह अपने अन्तर्यामी स्वामीके अधीन रहनेकी भावना करते हुवे अभिमानरहित होकर जो भी भगवदाज्ञा अन्तःकरणगोचर होती, हो उसे अनुसरना चाहिये. सावधानी केवल यही रखनी चाहिये कि अपने शारीरिक आवेगोंको अन्तःकरणगोचर भगवदाज्ञा मानकर क्षुद्र सन्तुष्टिकी भ्रमणामें उलझ नहीं जाना चाहिये.

जैसे अनापत्तिके कालमें शारीरिक आवेगोंको अन्तःकरणगोचर भगवदाज्ञा मान लेनेकी धांधली उचित नहीं है, वैसे ही आपत्तिकालमें भी अन्तःकरणमें स्फुरित होते आपत्तिके प्रत्येक प्रतीकारोपायको शारीरिक आवेगोंसे प्रेरित स्फुरणा माननेकी आत्मजुगुप्सापूर्ण हठ भी उचित नहीं है. अर्थात् धार्मिक

हठाग्रहवश जानबूझकर विपत्ति मोल लेनी भी शरणागतिका भाव नहीं है. देह एवं बुद्धि के आवेगों तथा आग्रहों के बीच धर्मांधर्मके विवेकको जाग्रत रखना शरणागतिके लिये आवश्यक मानसिकता है. यही "सब कुछ भगवदिच्छावश हो रहा है" विवेकको निभानेकी रीति या इतिकर्तव्यता है.

(ख) आधिभौतिक, आध्यात्मिक तथा आधिदैविक दुःखोंको आजीवन झेलना धैर्य है....

परन्तु किसी कष्ट या दुःख का सहज प्रतीकार सम्भव हो तब भी दुःखी रहनेका दुराग्रह धैर्य नहीं है. सुख-दुःख जो भी आ पडे उसे सहजतया स्वीकार लेना धैर्य है. अन्यतरका दुराग्रह अधैर्य है.

हमारे स्वजन या अस्वजनों द्वारा किये मानापमानसे विचलित न होना धैर्य है.

काया-वाणी-मनके प्रवृत्ति—निवृत्तिरूप व्यापारोंको हठात् सम्पन्न करनेका दुराग्रह भी अधैर्य है अतः उससे बचना चाहिये.

यदि इस तरहके धैर्यको धारण करनेकी हिम्मत न हो तो अपने असामर्थ्यकी भावना करते हुवे भगवदाश्रय करना चाहिये.

ये है इतिकर्तव्यता त्रिदुःखोंको आजीवन सहन करनेकी.

(ग) ऐहिक-पारलौकिक, अशक्य-सुशक्य सभी बातोंमें श्रीहरिको केवल आश्रय मानना चाहिये. इसका अनुसन्धान हमारे अन्तःकरण तथा वाणी में निरन्तर बनाये रखना चाहिये.

श्रीहरिके अलावा अन्य किसी भी देवका, शास्त्रतः नियत न हो फिरभी स्वरुचिवश, सकाम या निष्काम भजन करना अन्याश्रय है. स्वेच्छया अन्य देवोंके दर्शनार्थ उनके तीर्थ या मन्दिरोंमें जाना अन्याश्रय है. अन्यत्र कहीं जाते हुवे मार्गमें मिल जानेपर वहां दर्शन-वन्दनद्वारा आदर करना अन्याश्रय नहीं है. शास्त्रविहित कर्मांगभूत प्रार्थनाके अलावा किसी भी अन्य देवकी स्वेच्छया प्रार्थना करना अन्याश्रय है. काय-वाङ्-मनसा अन्याश्रयका वर्जन आवश्यक है.

बहुधा अपने इष्टदेवमें विश्वासकी कमीके कारण हमें अन्याश्रयकी मनोवृत्ति होती है या तो इष्टदेवतया चयन ही नहीं करना या फिर अन्याश्रयकी वृत्ति जागे ऐसा अविश्वास अपने इष्टदेवमें कभी करना नहीं चाहिये.

जब हम जीवनको "प्राप्तं सेवेत निर्मम" की नीतिसे जीते हैं तो अन्याश्रयकी वृत्तिपर काबू पाया जा सकता है. अर्थात् अप्राप्तमें ममता रखना और प्राप्तका असेवन यों दो अतिवादोंसे बचना चाहिये. इससे यथोक्त विवेकधैर्यादिका निर्वाह शक्य हो या न हो शरणभावनाका अनुसन्धान बनाये रखना चाहिये. ऐहिक-पारलौकिक अशक्य-सुशक्य सभी बातोंमें सर्वथा श्रीहरिको ही केवल आश्रय मानना चाहिये.

ये अनन्याश्रयको निभानेकी इतिकर्तव्यता है. इनका निरूपण 'विवेकधैर्याश्रय' नामक ग्रन्थमें श्रीमहाप्रभुने किया है.

(४) जिनसे विवेकधैर्याश्रयोक्त उपदेश निभते हों या न निभते हों उनके लिये भी शरणागतिके चतुर्थ बहिरंग धर्मका उपदेश श्रीमहाप्रभुने 'नवरत्न' नामक ग्रन्थके उपसंहारमें किया है.

हम जिन बातोंको धर्मबुद्धया अनुसरना चाहते हों कभी वे भी हमसे निभ नहीं पाती. स्वाभाविकतया ऐसी स्थितिमें चित्तमें आत्मग्लानि उद्वेग या निराशा के भाव घिर आते हैं. परन्तु निःसाधन जीवको ऐसे विषादपूर्ण भावोंके बजाय जो कुछ घटित हो रहा है उसे भगवल्लीला मानकर अष्टाक्षर मन्त्रका वाचिक तथा मानसिक अनुसन्धान बनाये रखना चाहिये.

भगवल्लीलाका बोध भगवन्माहात्म्यका बोध है. शास्त्रवचनोंका दूसरा उपदेश्य विषय ब्रह्मतादात्म्य है. तादात्म्यानुसन्धानरहित केवल भगवन्माहात्म्यका अनुसन्धान कर्मयोग या शरणागति के अनुष्ठानमें सहायक बन सकता है. माहात्म्यानुसन्धानरहित ब्रह्मतादात्म्यानुसन्धान ज्ञानयोगके अनुसरणमें सहायक बन सकता है. भक्तके लिये, किन्तु, माहात्म्यबोधपूर्वक तादात्म्यानुसंधान अथवा तादात्म्यबोधपूर्वक माहात्म्यानुसंधान अपरिहार्य है.

भक्ति=भगवन्माहात्म्यबोधपूर्वक ब्रह्मतादात्म्यबोध

तत्त्वार्थदीपनिबन्धके शास्त्रार्थप्रकरणकी इकतालीसवीं कारिकाके प्रकाशमें "माहात्म्यज्ञानस्य उपयोगम् आह....भक्तिसिद्धयर्थम्. भक्तेः अंशद्वयमिति.... द्वितीयांशम् आह 'तत्त्वमस्या'दिकं तथा कथयति" वचनके अनुसार जीव-ब्रह्मका तादात्म्य वाल्लभ वेदान्तमें भक्तिका साधक है बाधक नहीं. वाल्लभ वेदान्त आत्यन्तिक एकत्व तथा आत्यन्तिक द्वित्वको भक्तिमें बाधक मानता है, तादात्म्यको नहीं. क्योंकि तादात्म्य वस्तुतः एकत्वमें द्वित्वका अनुभाव है

तथा अनुभूतितः द्वित्वमें एकत्वकी अनुभूति या अनुदर्शन है.[1] श्रीमहाप्रभु कहते हैं "स्नेहो भक्तिः, 'रतिः देवादिविषयिणी भाव इत्यभिधीयते' रतिः स्नेहो, देवत्वं माहात्म्यम्. तद् आत्मत्वेन ज्ञाते भवति, तेन भजनार्थमेव आत्मत्वेन तन्निरूपणं माहात्म्यं च उच्यते अन्यथा वाक्यद्वयं ब्रह्मप्रकरणे व्यर्थं स्यात्" (तः दी. नि. १।४२). अतएव "न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति" वचनमें ऐसा अर्थ प्रतीत होता है कि वस्तुमात्रमें आत्मोपाधिक या आत्मीयतोपाधिक स्नेह होता है. परन्तु "वाक्यान्वयात" (ब्र. सू. १।४।१९) तथा "अहमात्मात्मनां धातः प्रेष्ठः सन् प्रेयसामपि अतो मयि रतिं कुर्याद् देहादिर्यत्कृते प्रियः" (भाग. तथा सुबो. ३।९।४२) वचनोंके आधारपर यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वयं जीवात्मामें भी स्नेह परमात्मोपाधिक है. अर्थात् परमात्माके निरुपाधिक प्रियत्वकी ही अनुसंक्रान्ति जीवात्मामें होती है तथा जीवात्माके भीतर अनुसंक्रान्त परमात्मप्रेमके कारण ही देह-गेहादि भी प्रिय लगने लगते हैं. जैसे गेहके भीतर देह रहता है तो गेह प्रिय बन जाता है, वैसे ही देहके भीतर प्रियतर जीवात्मा रहती है, अतः देह भी प्रिय लगता है. इस प्रियतर जीवात्मा के भीतर रहनेवाला परमात्मा स्वयमेव प्रियतम है सर्वान्तर्यामी[2] आनन्दमय[3] होनेके कारण.

अतः तादात्म्यके कारण ही परमात्मा और जीवात्मा के बीच आत्मात्मीयभाव ग्रहीत हो जाता है. जड-जीवात्मक जगतमें ब्रह्मकी सत्ता तथा चेतना प्रकट हुयी है. अतः आत्यन्तिक द्वित्व माना नहीं जा सकता. इसी तरह यह जड-जीवभावका रूपभेद परमात्माके आनन्दके निरोधान द्वारा सम्पन्न किया गया है अतः आत्यन्तिक एकत्व भी उपपन्न नहीं होता है.

अतएव वाल्लभ वेदान्तको अभिमत भक्तिके मौलिक स्वरूप समझनेके लिये श्रीमहाप्रभुके अधोनिर्दिष्ट दो वचन अतीव उपकारी हो सकते हैं—

(१) अतः स्नेहः पदार्थान्तरम्. स भगवन्निष्ठ एव भगवद्विषयकः ज्ञानवद् ऐश्वर्यवद् वा भगवत्सम्बन्धात् तन्नैकट्यात् अन्यत्रापि भासते. उष्णस्पर्शवत् यथा-यथा भगवन्नैकट्यं तथा-तथा स्नेहातिशयः. शारीरेप्यात्मनि तेन सह अतिनैकट्यात् परमस्नेहवत्त्वम्. एवम् अध्यासेन[1] अन्यत्र (सुबो. १।१९।१६).

(२) प्रीतिस्तु भगवद्धर्मः भगवान् सर्वेभ्यः जीवेभ्यः तं खण्डशः दत्तवान् सुखार्थम् अतः यत्रैव प्रीयते तत् सुखं भवति. ततः स्वसुखमेव स्वस्य भवति इति उक्तं भवति (सुबो. २।२।७).

१. ईशा. उ. ७.
२. अणुभा. १।२।२०
३. अणुभा. १।१।११

इन तथा ऐसे ही अन्य वचनोंके निगूढ तात्पर्यका अवगाहन करनेपर वाल्लभ वेदान्तसिद्धान्तके अनुसार बाह्याभ्यन्तरभेदवश भक्तिके छह प्रमुखपक्ष समझमें आते हैं—

(१) **निरुपाधिकरति=आत्मरति** : आत्मरमणशील एवं आत्मरतिशील परमात्माकी आत्मरति ही खण्डशः हमारे भीतर विद्यमान होनेसे तथा भगवान्की ही एक शक्ति अविद्याके वशीभूत होनेसे जीवात्मामें वह खण्डशः विद्यमान आत्मरति ही विषयाभिमुख बनकर क्षुद्र विषयासक्ति बन जाती है. क्योंकि आत्मेतर विषयोंमें हमारी आसक्ति अविद्याजन्य आत्माध्यासमूलक अथवा आत्मीयत्वाध्यासमूलक होती है, अतः वह निन्दनीय मानी गयी है. स्वयं जीवात्मा भी आत्मरतिका मूलविषय तो है नहीं. अतएव निजात्मरति भी आध्यासिक ही है. आत्मरतिका मूल विषय तथा अधिकरण तो केवल परमात्मा ही होता है. अतः केवल परमात्मरति ही आविद्यक-अध्यासदोषसे रहित हो सकती है, अतएव निरुपाधिक भी. यह जीवात्माके भीतर तब तक न तो प्रकट हुई स्वीकारी जा सकती है और न समझमें ही आ पाती है जब तक जीवात्मा-परमात्माके बीच विद्यमान तादात्म्यबोधसे हम सम्पन्न न हो पायें. स्व-परमात्म-तादात्म्यबोधसे सम्पन्न होते ही जीवात्माको अपनी अधिकरणताके साथ भासित होती आत्मरतिके मूलविषय अंशी परमात्माके प्रति चित्ताकर्षण हो जाता है. भगवानकी पुष्टिशक्तिका यह कार्य होनेसे परमात्माके प्रति निरुपाधिक आसक्तिको 'पुष्टिभक्ति' कहा जाता है. पुष्टिभक्ति साधन-साध्य नहीं होती कृपैकलभ्य होती है. जैसे अविद्याशक्तिवश जीव संसारी बन जाता है. वैसे ही विद्याशक्तिवश ज्ञानी एवं मुक्त हो जाता है. अर्थात् माहात्म्यानुसंधानरहित अत्यधिक तादात्म्यानुसन्धानवश जीवात्मा परमात्मामें लीन हो जाती है, भक्ति नहीं कर पाती. यही गति तादात्म्यानुसन्धानरहित अत्यधिक

१. त. दी. नि. १।३२

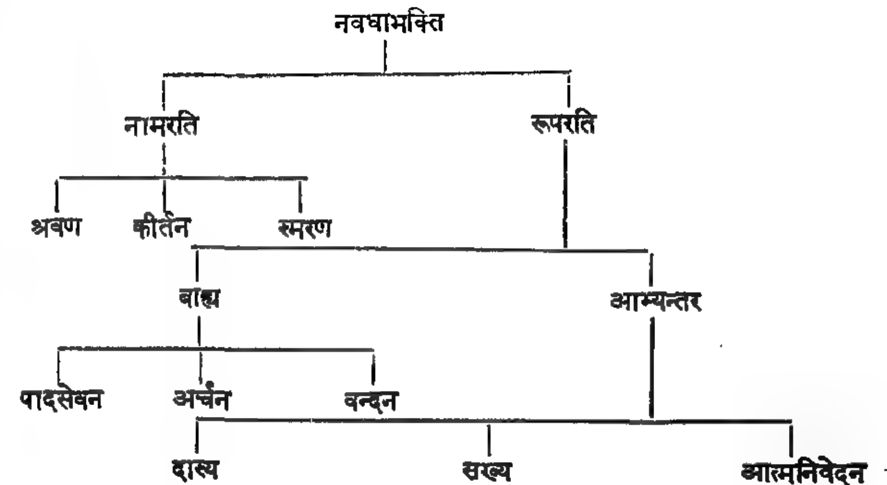
माहात्म्यानुसन्धानवालोंकी भी होती है. माहात्म्यबोधपूर्वक तादात्म्यानुसंधानशील साधकोंके भीतर ही पुष्टिभक्ति उभर पाती है. यह सन्तुलन पुष्टिशक्तिका कार्य है. विरुद्धधर्माश्रय ब्रह्मके दो विरुद्धसे प्रतीत होते धर्म माहात्म्य एवं तादात्म्य हैं. इन दोनों परस्पर विरोधी ब्रह्मधर्मोंका आनन्द भक्त ही लूट पाता है. अतः उसे "अहं ब्रह्मास्मि" के बजाय माहात्म्यबोधवश "अहं ब्रह्मणोस्मि" तथा तादात्म्यबोधवश "ब्रह्म ममैवास्ति" का आनन्द अनुभूत होता है.

(२) **शास्त्रवर्णितमाहात्म्यज्ञानपूर्वक निष्काम भगवत्स्नेह** भक्तिका केन्द्रवर्ती भाव है. जैसा कि हम देख आये तादात्म्यबोध माहात्म्यबोधपूर्वक ही अभिप्रेत होनेसे उभयविध अपरोक्ष अनुभूतिरूप भी हो सकता है तथा परोक्ष अनुभूतिरूप भी. श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि "आवृत्तिः श्रवणादीनां नवकृत्वोपदेशतः दर्शनार्थत्वतो लिंगादपि व्रीह्यवघातवत् आवृत्तौ श्रवणादीनामात्मेति स्याद् दृढा मतिः आपततो दर्शनं तदभेदेनापि बोध्यते" (अणुभा. ४।१।१). निबन्धमें भी श्रीमहाप्रभुने यह स्पष्टीकरण दिया है कि साक्षात्कार ब्रह्माधीन अर्थात् भगवदिच्छाके अधीन है. शास्त्रतः ब्रह्मके माहात्म्य एवं तादात्म्य का परोक्षबोध सम्भव है—"साक्षात्कारस्तु ब्रह्माधीनः प्रसन्नं तद् आविर्भवति इति लोकरीत्या अवगम्यते. श्रुतिश्च पुरुषार्थपर्यवसानं कथयति (त. दी. नि. १।४२). भगवद्विषयक कर्म-ज्ञान-भक्तिका अनुसरण जीवात्माके लिये शक्य पुरुषार्थका पर्यवसान है, भगवत्प्राकट्य भगवदिच्छाधीन है.

(३) **भगवद्रूपगुणनामलीलास्थलानुरक्ति** : इस तरह शास्त्रवर्णित भक्तिकी भावनाके उद्बुद्ध हो जानेपर भगवद्रूप-भगवद्गुण-भगवन्नाम-भगवल्लीला तथा लीलास्थलीके प्रति विशेष माहात्म्यबुद्धि तथा अनुरक्ति स्फुरित होने लगती है. अतः इनसे जुडे रहनेमें भक्तको अपने भीतर विद्यमान आत्मरतिके उद्बोधनका निमित्त मिल जाता है. यह "भक्तिस्त्वय्युपयुज्येत कीदृशी सद्भिरादृता?" (भाग ११।११।२६) प्रश्नका उत्तर देते हुवे भगवान्ने "ज्ञात्वा-ज्ञात्वाथ ये वै मां यावान् यश्चास्मि यादृशो भजन्त्यनन्यभावेन ते मे भक्ततमा मताः मल्लिंगमद्भक्तजनदर्शनस्पर्शनार्चनं, परिचर्या स्तुतिः प्रह्वगुणकर्मानुकीर्तनम्। मत्कथाश्रवणे ...." (भाग ११।११।३३–४८) श्लोकोंमें विस्तारसे समझाया है. जो प्रथमतः श्रद्धाविश्वास बाह्यक्रियाके रूपमें रुचिवश पनपता है वही प्रारम्भ करनेपर शनैःशनैः भक्तिमें फलित हो जाता है.

(४) **दास्य-सख्य-वात्सल्य-मधुरभावोंकी भावना** : इन भगवद्रूपगुणनामलीलादिसे जुडी बाह्य क्रियाओंका यथाविधि अनुष्ठानाग्रह बाह्याडम्बरमें विकृत न हो जाये एतदर्थ अपने भजनीयस्वरूप, भजनस्वरूप तथा भजनकर्ताके स्वरूप के बारेमें यथोचित दास्यभाव सख्यभाव वात्सल्यभाव या माधुर्यभावकी भावनाओंको हृदयमें करना भी आवश्यक है. यह मानसव्यापार "स मानसीन आत्मा जनानाम्" (चित्सु. ११।१।२) वचनोक्त परमात्माका मानस संग हमें प्रदान करता है. भगवान् कहते हैं—"विषयान् ध्यायतः चित्तं विषयेषु विषज्जते मामनुस्मरतः चित्तं मय्यैव प्रविलीयते" (भाग. ११।१४।२७).

(५) **शास्त्रविहित नवधा भक्ति** : पूर्वोक्त भावभावना करने लायक अपने आपको बनानेके लिये ही भक्तिशास्त्रमें औपनिषदिक श्रवण-मनन-निदिध्यासनस्थानीय नवधा भक्तिके अनुष्ठानका प्रकार उपदिष्ट हुवा है. इसका प्रयोजन भी मूलतः काय-वाङ्-मनसा जीवात्माको भगवत्संग प्रदान करना है. संगके कारण कायिक, वाचिक मानसिक व्यापारोंके त्रिविध आयामोंमें जीवात्मा परमात्माके साथ जुड जाती है. "श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनं अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्" (भा. ७।५।२३). इस नवधा भक्तिके स्वरूपको अधोनिर्दिष्ट तालिका द्वारा सरलतासे समझा जा सकता है.



अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं "बाह्याभ्यन्तरभेदेन रूपे भेदद्वयं मतं नाम्नि चैकं ततस्त्रेधा भक्तिमार्गो निरूपितः" (त. दी. नि. २।२५३–२५४). शास्त्रोक्त नवधा भक्तिका पुष्टिमार्गीय भक्तिसाधनाके अन्तर्गत यथायथ विनियोग हुवा ही है.[१] यह जगत्, क्योंकि, नामरूपधारणात्मिका क्रीडा है, अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं, "रूपनामविभेदेन जगत् क्रीडति यो यतः" (त. दी. नि. १।१). रूपरतिके तहद भगवत्स्वरूपसेवा तथा नामरतिके अन्तर्गत भगवल्लीलाकथाका श्रवण-कीर्तन-स्मरण किया जाता है. इनका समुच्चय भी सम्भव है. अतएव पादसेवन-अर्चन-वन्दनादि बाह्य क्रियाओंका दास्य-सख्य-आत्मनिवेदनभाव-भावनात्मिका आन्तर क्रियाओंके साथ भी अनुष्ठान किया जा सकता है. अतः सेवामें भी भगवत्स्वरूप या भगवल्लीला का यथोचित रीतिसे श्रवण-कीर्तन-स्मरण अनुमत ही है.

(६) **सत्संग :** गीतामें कहा है "ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते संगात् सञ्जायते कामः" (गीता २।६२). अतः भक्तोंके संगसे अथवा शास्त्रोंके संगसे हृदयमें भक्तिभावके अंकुरित हो पाने लायक वातावरणमें जीवात्मा पहुंच पाती है. अतः भगवदीय भक्तोंका संग भी भक्तिका एक बहिरंगतम किन्तु प्राथमिक और आवश्यक पक्ष है.

संक्षेपमें भक्ति अपने अन्तरंगतम एवं बहिरंगतम पक्षोंमें समृद्ध होकर निरुपधि परमात्मरतिके रूपमें जीवात्मामें प्रकट हो जाती है. यह एक विलक्षण प्रकार वरणका है, इसी भक्तिको मूलतः स्थायिभाव मानकर श्रीमहाप्रभुने सेवा-कथाका उपदेश दिया है.

'भज्'=सेवायाम्

(१) 'भज' इत्येष वै धातुः सेवायां परिकीर्तितः।
तस्मात् सेवा बुधैः प्रोक्ता 'भक्ति' शब्देन भूयसी ॥

क्योंकि 'भज्' धातुसे 'भक्ति' शब्द निष्पन्न हुवा है, अतः भगवत्स्वरूप-सेवारहित भक्तिको वाल्लभ वेदान्तमें बहुत प्रशस्त नहीं माना जाता है. इसी तरह पूर्वोक्त रूपवाली भक्तिसे रहित केवल क्रियात्मिका सेवा भी बहुत प्रशंसनीय नहीं

१. अणुभा. ३।४।३३

है. अतः भगवद्भक्ति भगवत्स्वरूपसेवात्मिका तथा भगवत्स्वरूपसेवा भगवद्भक्त्यात्मिका होनी आवश्यक है. ऐसा होनेपर ही वह भगवत्कृत अत्युत्कृष्ट वरणका व्यापार मानी जा सकती है. इसे शास्त्रीय परिभाषामें कहना हो तो ऐसे कहा जा सकता है कि हमारे घरमें बिराजमान भगवत्स्वरूप आलम्बनविभाव, सेवाके क्रियाकलापोंमें प्रकट होती मानसिकता सञ्चारिभाव; और भगवच्छृंगारादि तथा भगवत्कीर्तन सेवामें उद्दीपनविभाव बनते है. इसी तरह सेव्यमान प्रभुके स्वरूपमें प्रकट होते हाव-भाव अनुभाव हैं. इस तरह विभावानुभावसञ्चारिभावसे निष्पन्न स्थायिभाव भक्ति रस है. भक्ति मूलरूपतया निरुपधि स्नेह होती है, यह तो हम कह ही चुके हैं. अतः स्नेहके द्विदलात्मक होनेसे वह सेवा-कथात्मिका स्वीकारी गयी है. श्रीमहाप्रभु कहते हैं "सेवायां कथायां वा यस्यासक्तिः दृढा भवेत् यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम" (भ. व. ९).

(२) **चेतस्तत्प्रवणं सेवा :** सेवाका स्वरूप समझाते हुवे सिद्धान्तमुक्तावलीमें श्रीमहाप्रभु कहते हैं—"कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता चेतस्तत्प्रवणं सेवा" (सि. मु. १–२). पुष्टिभक्तके लिये आवश्यक है कि उसे कृष्णसेवा सदा करनी चाहिये. सेवा, मूलतः, हमारे चित्तको भगवत्प्रवण बनाना है इतना कि बाह्य रूपमें देहसे क्रियात्मिका सेवा न भी करते हों परन्तु मनमें निरन्तर वही चलती रहे. अर्थात् मन भगवत्सेवामें निरतिशय तल्लीन हो जाये. यह मानसी सेवा की नहीं जाती किन्तु होने लग जाती है और वही सेवाकी फलावस्था है.

(३) **स्वरूप-लीला-भाव-भावना :** सम्प्रदायके दुर्भाग्यवश वर्तमान कालमें अधिकांश आचार्यवंशजोंकी भगवत्सेवा स्वधर्मके बजाय या तो आजीविकाका साधन या मार्गप्रचारका साधन केवल बन गयी है. परिणामतः धर्मनिरपेक्ष कानूनोंकी क्रूर-दृष्टिके कारण प्रायः अनेक आचार्यवंशजोंके घर आज सार्वजनिक —आराधनास्थलोंके न्यासमें विकृत हो गये हैं. वाल्लभ सिद्धान्तका इससे अधिक निष्ठुर बध सम्भव नहीं. आज स्वयं आचार्यवंशजोंके लिये स्वसेव्य स्वरूपोंकी शिशु-बाल-कुमार-किशोर रूपोंकी भावना, सेवाकी ब्रजलीलामयी भावना तथा स्वयम्में दास्य-सख्य-वात्सल्य-माधुर्यभावोंकी हृदयमें भावनाओंको करते हुवे सेवा कर पाना सम्भव नहीं रह गया है. व्यावसायिक बाह्याडम्बरोंके कारण भावविहीन कर्मचारिओंके बिना भगवत्सेवाके बिगडे हुवे बखडजंतरमें

स्वयं आचार्यवंशज हार्दिक रुचिसे तत्पर नहीं हो पाते. आजीविकार्थ व्यापारतया अथवा विवशतया सार्वजनिक न्यासमंदिरोंमें नोकरीके रूपमें खुले दर्शनोंमें आरती करते-करते मन उचट जाता है. अतः स्वरूप-लीला-भाव—भावनापक्षकी भक्तिसाधनामें आज घोर उपेक्षा इसे स्मृतिशेष बना देनेकी सीमापर पहुंच गयी है.

भक्तिवर्धिनीमें श्रीमहाप्रभुका स्पष्ट विधान है "बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा....कृष्णं भेजत्" (भ. व. २) इसकी व्याख्या करते हुवे श्रीमहाप्रभुके पौत्र श्रीगोकुलनाथजी, अन्य भी सभी व्याख्याताओंकी तरह, स्पष्टीकरण देते हैं—"तु शब्देन एतदतिरिक्तप्रकारान्तरव्युदासः स्वमार्गीयभगवद्भजनं तु गृहस्थित्यभावे न सम्भवतीति पूर्वं गृहस्थितिमेव आहुः गृहे स्थित्वा इति" (भ. व. वि. २). यही बात भगवान्ने भी कही है "गृहशुश्रुषणं मह्यं दासवद् यदमायया अमानित्वमदम्भित्वं कृतस्यापरिकीर्तनम्" (भाग ११।११।३९–४०). कहां "कृतस्य अपरिकीर्तनम्" का आदर्श और कहां "सार्वजनिकप्रदर्शनाय करणम्" की आधुनिक दुर्दशा! भाष्यकार, अतएव, कहते हैं "गुप्तस्यैव अभिवृद्धिस्वभावकत्वाद आश्रमधर्मैः लोके स्वं भगवद्भावम् अनाविष्कुर्वन् भजेद्" (अणुभा. ३।४।४९). इस वचनमें आवश्यकतया विहित भावसंगोपनकी गरिमाके साथ साथ भावभावनात्मिका सेवा आज खपुष्पायित बनायी जा रही है. सिद्धान्त परन्तु इस विषयमें नितान्त स्पष्ट है.[1]

चित्तकी भगवत्प्रवणताका एक प्रकार सविकल्पक या निर्विकल्पक समाधिरूप भी होता है. इसी तरह अवतारकालमें काम-क्रोध-भय-मात्सर्यादि रूपोंमें भी हो सकता है. श्रीमहाप्रभुप्रवर्तित पुष्टिमार्गीय अनुरागात्मिका साधनामें किन्तु इन्हें प्रशस्त नहीं माना जा सकता. शास्त्रोंमें भगवानकी दया-क्षमा-प्रसाद-कृपा आदिके माहात्म्यवर्णनार्थ उन-उन कथाओंकी फल-श्रुति कितनी भी उत्तम क्यों न हो! यहां उल्लिखित त्रिविध भावनाओंको भावके रूपमें संनिरूढ करनेवाली भक्तिमयी भगवत्प्रवणता ही अभीष्ट है. अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं "कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ता गुरवः साधनं च तद्भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते" (संन्या. नि ८). अतएव "तादृशी भावना कार्या यथा भावांकुरोदयः, श्रीमदाचार्यकृपया भवेद भावो न चान्यथा, भावो भावनया सिद्ध इति वाक्यात् प्रतीयते, तद्वाक्यपरिनिष्ठानां हृदि भावांकुरो भवेद." वचन उपलब्ध होते हैं.

---

१. अणुभा. ३।४।४२–५०

इन त्रिविध भावनाओंमें सर्वप्रथम अपने सेव्य स्वरूपके बारेमें कुछ भावनायें करनी चाहिये. इस स्वरूपविषयक भावभावना तथा प्रतीकोपासना में भेद हैं. साधक जब स्वयं अपने उपास्यको प्रतीकत्वेन परमात्मासे भिन्न मानकर उसे परमात्मामें चित्तैकाग्र्यका केवल उपकरण मानता हो तो 'प्रतीकोपासना' कहलाती है. "अतद्रूपेण तत्त्वोपासनं हि 'प्रतीकम्' इति उच्यते" (अणुभा. ४।१।४) भाष्यकार यह स्पष्टीकरण भी देते हैं कि सर्वत्र ब्रह्मदृष्टिको प्रतीकोपासना नहीं माना :जा सकता है. क्योंकि वस्तुतः सभी कुछ ब्रह्मात्मक हैं ही—"ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" (छा. उ. ६।८।७). अतः भगवन्मूर्तिकी भगवत्प्रतीकतया उपासना मर्यादामार्गीय शास्त्रविहित उपासनाका एक प्रकार है. शास्त्रविहित होनेके कारण यथाधिकार मान्य होनेपर भी वह पुष्टिमार्गीय साधकके लिये मान्य नहीं है. उदाहरणतया अपने घरके कूपजलसे स्नान करते समय गंगाजलकी भावना तथा हरिद्वार-काशी आदि तीर्थोंमें किसी एक निश्चित घाटपर गंगाके दर्शन-अर्चन-स्नानका आग्रह या भाव यों दोनोंमेंसे प्रथमको गंगाजलकी प्रतीकोपासना माना जा सकता है परन्तु द्वितीय प्रकारको नहीं. अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं "यन्मूर्तौ कृतं सर्वं भगवति कृतं भवति. मूर्तेः भगवत्त्वं त्रेधा निरूपयन्ति....(१) वस्तुविचारेण सर्वस्य भगवद्रूपत्वात् विशेषस्तु अयम्. 'एनम् उद्धरिष्यामि' इति तदा मृदादेः प्रादुर्भूतः, (२) भक्तिमार्गानुसारेण आह तत्र च स्थितं, मूर्तौ स्थितं, परं यत्र हस्तः तत्र हस्तः तत्तदवयवेषु तत्तदवयवा इति. तत्र हेतुः व्यापकं साकारं ब्रह्मेति अतः सर्वे कटकाद्युपचारा भगवदवयवेष्वेव साक्षात्कृता भवन्ति, (३) उपासनामार्गानुसारेणापि मूर्तावेव भगवद्भजनं भवति इत्याह मन्त्रस्यापि विधानतः इति" (त. दी. नि. २।२२८–२२९). अतएव भगवन्मूर्तिमें वास्तविक व्यापक-साकार-ब्रह्मकी अपरोक्षानुभूति ज्ञानयोग या भक्तियोगके असामर्थ्यवश न भी होती हो परन्तु यथारुचि श्रीकृष्णके शिशु-बाल-कुमार-किशोरादि दिव्य रूपोंकी भावना करनी चाहिये.[1]

---

१. अणुभा. ३।३।९

तदनुकूल सेवाकी क्रियाओंमें भी व्रजलीलाकी भावना करनी चाहिये. अपने घरके सेवास्थलमें लीलानुरूप स्थलोंकी भावना करनी चाहिये. व्रजभक्तोंके विभिन्न भाव हमारे हृदयमें संनिरूढ न भी हुवे हों तो भी उन-उन लीला तथा भावों के उद्‌बोधक पदादिके गायनादि द्वारा भावनायें करनी चाहिये. यही बात श्रीमहाप्रभुने "सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः स्वस्यायमेव धर्मो हि" (चतुश्लोकी १) वचनमें कही है.

व्रजलीलामें भक्त-भगवानके बीच चलती दिव्य लीलाओंमें प्रतिबन्ध उपस्थित करने आये असुरोंकी भावना भी श्रीमहाप्रभुने समझाई हैं कि पूतना व्रजभक्तोंकी अविद्या थी, तृणावर्त राजसभाव, इसी तरह अहंकार, इन्द्रियाध्यास, विषयासक्ति आदि अनेक आसुरभावोंकी भावना वर्णित हुयी हैं. आज भी उसी तरह श्रीमहाप्रभुके भक्तिमार्गीय सिद्धान्तोंके अज्ञानवश विपरीताचरण, यथा, आजीविकार्थ सार्वजनिक मन्दिरमें तनुजा सेवा करने या द्रव्योपार्जनार्थ आयोजित होती व्यावसायिक झांकिओंमें उपस्थित होकर वित्तजा सेवा करने वालोंके बारेमें शिशु कृष्णको अपने विषलिप्त स्तनोंसे पयःपान करानेवाली बालघातनी राक्षसी पूतनाकी तथा तृणावर्तकी भावना की जा सकती है! इसी तरह सार्वजनिक मन्दिरप्रणाली, जो श्रीमहाप्रभुके भक्तिमार्गीय सिद्धान्तके निष्ठुर वधका षडयन्त्र है, उसके सञ्चालनका उत्तरदायित्व अपने कन्धोंपर उठानेके मोहवश अपसिद्धान्तसमर्थक व्यक्तिओंमें प्रलम्बासुरकी या बकासुरकी भावना भी की जा सकती है!! जो भी सरकारी विभाग पुष्टिमार्गीओंसे उनके आराध्य कृष्णस्वरूपको छीन कर सार्वजनिक न्यासमें बलजबरीसे ले जाता हो उसके कृत्य बारेमें कंसकृत अन्यायोंकी भी भावना की जा सकती है!!! अस्तु.

इसी तरह जिनसे भगवत्सेवा—कथा, दोनों निभती हो उन्हे व्रज तथा वृन्दावन में रात्रिदिवस भगवत्संयोग-विरहके चक्रके आवर्तनकी भावना करनी चाहिये. जिनसे भगवत्सेवा निभती न हो तो उन्हें भगवानके मथुरा पधार जानेके बाद हुवे विरह तथा उद्धवजीद्वारा वर्णित भगवच्चरित्रश्रवणकी भावना करते हुवे भगवत्कथाश्रवण करना चाहिये. यह सेवा-कथा तथा केवल कथाकी भावना श्रीमहाप्रभुने 'निरोधलक्षण' नामक ग्रन्थमें समझायी है. इन भावनाओंके स्वरूपकी जानकारी सेवामें समायोजित भगवदीयोंद्वारा विरचित पदोंसे भी मिल सकती है.

(४) **आत्मसमर्पण :** उल्लिखित भक्तिमार्गीय सेवाप्रकारके अनुष्ठानमें प्रवृत्त करनेको आत्मसमर्पणकी दीक्षा द्वारा दीक्षित करनेकी आज्ञा श्रीयमुनातटपर उदित गोकुलेन्दु भगवान् श्रीकृष्णने निजमुखारविन्दसे की थी. आत्मसमर्पणका उपदेश वैसे तो, उपनिषद[1], गीता[2] तथा भागवतादि[3] शास्त्रोंमें सर्वदा उपलब्ध था ही किन्तु साक्षाद् भगवदाज्ञावश दीक्षारूपेण उसे मार्गायित किया गया. यह श्रीमहाप्रभुने 'सिद्धान्तरहस्य' नामक ग्रन्थमें निरूपित किया है.

आत्मसमर्पणदीक्षामन्त्रमें पञ्चपर्वा अविद्याके प्रतिकाररूपेण पांच पर्व दृष्टिगत होते हैं—

(क) परमानन्दरूप अंशी परमात्मामेंसे व्युच्चरित जीवात्माको उसके स्वरूपकी स्मृति प्रथम अंश या पर्व द्वारा करायी जाती है.

(ख) परमानन्दरूप परमात्मा भगवान श्रीकृष्ण हैं; तथा जगत्में सब कुछ उनकी लीलार्थ प्रकट हुवा है; यह द्वितीय अंश या पर्व द्वारा उपदेश्य है.

(ग) अहन्ता-ममतास्पद हमारे देह-गेहादि सभी कुछ वस्तुओंके साथ हमें श्रीकृष्णके प्रति समर्पित होना चाहिये. न तो व्यर्थमें अहन्ता-ममतास्पद वस्तुओंके त्यागमें और न ही भगवत्समर्पण-विनियोगरहित भोगमें ही उलझनेकी कोई आवश्यकता भक्तिमार्गमें है. यह तृतीय पर्व है.

(घ) चतुर्थ पर्वमें हमारी अहन्ताको दास्यभावनासे सुसंस्कृत करनेका उपदेश है. यह कृष्णमाहात्म्योपदेश है.

(ङ) पञ्चम पर्वमें हमें कृष्णके प्रति प्रेमोद्‌बोधक उपदेश तथा प्रिय होनेका आश्वासन भी परोक्षवृत्तिसे दिया गया है. यह कृष्णतादात्म्योपदेश है.

(५) **अहन्ताममताविनियोग=तनुवित्तजा :** वैसे तो यह सेवाका बहिरंग रूप है परन्तु महत्व इसका लेशतः भी न्यून नहीं है. हम कह चुके हैं कि भक्तिका अधिकारी "न निर्विण्णो नातिसक्तः" (भाग ११।२०।८) माना गया है. निर्विण्णका निर्वेद यदि ज्ञानमूलक हो तो दोषरूप नहीं होता किन्तु दोषदृष्टिमूलक होनेपर निर्वेद अहंकारका ही एक विकृत अन्यतमरूप भी हो सकता है. इस अहंकारकी आहुति ब्रह्माग्निमें "अहं ब्रह्मास्मि" या "ज्योतिर्ज्वलति ब्रह्माहमस्मि योऽहमस्मि ब्रह्माहमस्मि अहमेवाहं मां जुहोमि

---

१. बृहद. उ. २।६।१५ २. गीता १८।६३ ३. भाग ९।४।६५

स्वाहा" (महाना उ. ५।१०) मन्त्र द्वारा निरूपित है. निर्विण्णके ममताके संस्कारकी तो आवश्यकता नहीं अप्रसक्त होनेसे. इसी तरह सकाम साधककी ममताका संस्कार "अग्नये इदं न मम" इत्यादि मन्त्रोंद्वारा निरूपित है. कामानुरक्तकी अहन्ता तो काम्य विषयके सामने वैसे भी झुकी ही रहती है. भक्तिमार्गीय साधकके तो अहन्ता-ममता दोनों ही अतिरेकग्रस्त न भी हों तो भी उन्हें भक्तिमार्गीय संस्कारोंसे परिशुद्ध रखना तो आवश्यक ही है. अतः तनुविनियोग भगवत्सेवामें अहंकार या अहन्ता का परिमार्जन है और वित्तविनियोग ममताका. सावधानी इसमें श्रीमहाप्रभुप्रभृति प्राचीन आचार्योंने भारपूर्वक यही दिखलायी हैं कि 'तनुवित्तजासेवा'का "तनुजा और/अथवा वित्तजा" ऐसा दुरर्थ कभी सोचना भी नहीं चाहिये. भगवत्सेवाद्वारा यदि चित्तको भगवत्प्रवण बनाना हो तो निज-तन और निज-धन का समुचित विनियोग अपरिहार्य है. अर्थात् भगवत्सेवार्थ अन्यका आर्थिक सहयोग स्वीकारना अथवा भगवत्सेवार्थ किसीको आर्थिक सहयोग देना भक्तिके विशुद्ध भावको आजीविका बनानेका षडयन्त्र है. इसी षडयन्त्रकी शिकार हो जानेके कारण पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणाली वर्तमानकालमें आसुरभावोंसे प्रदूषित हो गयी है. इसका विस्तृत विमर्श 'सिद्धान्तमुक्तावली' नामक ग्रन्थमें श्रीमहाप्रभु, उनके आत्मज श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरण तथा परवर्ती श्रीपुरुषोत्तमजी आदि अनेक व्याख्याकारोंने भी किया है. भगवत्सेवा स्वधर्मबुद्धया अनुष्ठेयतम कर्म है, परन्तु आजीविकाबुद्धया हेयतम कर्म है, कमसे कम पुष्टिमार्गमें!

(६) **यद्-यद् इष्टतमं लोके....तत् कृष्णे साधयेद्** : इस तनुवित्तजा सेवाके स्वरूपको स्पष्ट करनेके लिये श्रीमहाप्रभुने अति महत्त्वपूर्ण उपदेश यह दिया है कि तनुवित्तजा सेवाके अन्तर्गत क्लिष्ट वस्तुओंका विनियोग भगवत्सेवामें करना नहीं चाहिये. लोकमें जो वस्तु क्लेशके बिना उपार्जित न हो पाती हो अथवा सेव्य भगवत्स्वरूपकी स्वरूपभावनाके विचारवश जो सेव्यस्वरूपको क्लेशप्रद हो अथवा असन्मार्गोपार्जित पराई वस्तु जो आरम्भमें सुखकर लगती हो परन्तु अन्तमें क्लेशप्रद बन जाये, ऐसी किसी भी क्लेशकारी वस्तुका विनियोग भगवत्सेवामें करना नहीं चाहिये. अतएव पुष्टिमार्गके नामपर अत्यधिक दुष्प्रचारित कृष्णसेवाके भोग-राग-शृंगारके जटिल बाह्याडम्बर यदि अक्लेशेन उपलब्ध होते हों तभी भगवद्विनियोगार्ह हो सकते हैं अन्यथा नहीं.

इस तरहकी भक्तिमयी भगवत्सेवाके निर्वाहार्थ अन्य जो हमारे लौकिक या शास्त्रीय उत्तरदायित्व हैं उनसे हम विमुख हो नहीं सकते हैं. श्रीमहाप्रभु कहते हैं "स्वाश्रमाचारसहित—ब्रह्मानुभवसहित—माहात्म्यज्ञानपूर्वकः स्नेहः ब्रह्मभावं करोति फलरूपायां तस्यां (भक्तौ) स्वाश्रमाचारादिकरणं फलानुभवप्रतिबन्धकमिति फलत्वेन अनुभवे स्वाश्रमाचारास्त्यक्तव्या" (त.दी.नि. २।१९६), "यावद् देहोयं तावद् वर्णाश्रमधर्मा एव स्वधर्माः भगवद्धर्मादयोपि विधर्माः परधर्मा वा यदा पुनरात्मानं जीवं मन्यते, संघातव्यतिरिक्तं, तदा दास्य स्वधर्मः, अन्ये वर्णाश्रमादयोपि परधर्माः" (सुबो. ३।२८।२) यह बात वर्णाश्रमिओंको लक्ष्यमें रखकर कही गयी है. इसका यह अर्थ नहीं कि अवर्णाश्रमी व्यक्ति पुष्टिभक्तिके या भगवत्सेवाके अनधिकारी हैं. मूलमें इस समूचे प्रश्नके बारेमें श्रीमहाप्रभुका दृष्टिकोण गीतोक्त "मां हि पार्थ व्यापाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः स्त्रियो वैश्यास्तथा शुद्रास्तेपि यान्ति परां गतिं किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्याः भक्ताः राजर्षयस्तथा" (गीता ९।३२–३३) दृष्टिकोण है भगवदाश्रय भगवद्भक्ति सर्वाधिकारक धर्म है, जबकि वर्णाश्रमाचारादि धर्म कतिपयाधिकारक धर्म है.

इस तरह भक्तिमयी सेवाकी साधनाका सांगोपांग निर्वाह जिनसे होता है उनका श्रीमहाप्रभु पुष्टि-पुष्टिकक्षामें वरण मानते हैं—"एवं 'सर्वं ततः'—'सर्वं स' इति ज्ञानयोगतः यः सेवते हरिं प्रेम्णा श्रवणादिभिरुत्तमः" (त. दी. नि. १०१), "ते हि द्विधा शुद्धमिश्रभेदात् मिश्रः त्रिधा पुनः प्रवाहादि विभेदेन भगवत्कार्यसिद्धये पुष्ट्या विमिश्राः सर्वज्ञाः" (पु. प्र. म. १४–१५)

जिन्हें भक्तिके दो अंग माहात्म्यबोध या तादात्म्यबोधमें से कोई एकाद ही सिद्ध हुआ हो तो वह मध्यम कक्षा मर्यादामिश्रित पुष्टिकी मानी गयी है "शास्त्रार्थज्ञानाभावेपि प्रेम्णा भजने मध्यमः प्रेमाभावे मध्यमः...." (त. दी. नि. १।१०२)—"मर्यादया गुणज्ञास्ते" (पु. प्र. म. १६).

जिनसे भक्तिमार्गीय बाह्य क्रिया ही केवल निभ पाती हैं वे प्रवाहमिश्रित पुष्टिकी निम्न कक्षाके जीव हैं—"प्रवाहेण क्रियारता" (वहीं).

शुद्धपुष्टि साधनानुष्ठानपूर्वक भगवत्प्राकट्य या भगवत्प्राप्ति का कल्प नहीं है. शुद्धपुष्टि प्रकारके वरणमें भगवान पहले प्रकट हो जाते हैं बादमें ससाधनता या निःसाधनता का भक्त्यादिमयी चित्तकी भगवदेकतानतामें भगवल्लीलाद्वारा पर्यवसान हो जाता है.

यह तो पुष्टिमार्गीय वरणके साधनात्मना व्यापारायित होनेका प्रकार दिखलाया. तत्त्वार्थदीप निबन्धके सर्वनिर्णय प्रकरणमें तथा अणुभाष्यमें मर्यादामार्गीय वरणके साधनात्मक व्यापारोंका भी निरूपण मिलता है. मर्यादामार्गीय कर्म-ज्ञान-भक्ति (उपासना) का विस्तृत विचार उल्लिखित ग्रन्थोंमें उपलब्ध होता है.

मर्यादामार्गीयकर्मज्ञानोपासना

सर्वनिर्णय प्रकरणमें यह समझाया गया है कि ब्रह्मज्ञानसमुच्चित नित्यकर्मानुष्ठानसे भी ब्रह्मप्राप्ति सम्भव है. अणुभाष्यमें अनेकधा इसका निषेध मिलता है. इसके कारण दोनों ग्रन्थोंमें विरोधाभास प्रतीत होता है. यहां रहस्य यही है कि जिस तरहके कर्मको वहां मुक्ति-असाधक कहा गया है वह ब्रह्मानन्दात्मिका सद्योमुक्तिके सन्दर्भमें ब्रह्मज्ञानरहित केवल कर्मको लक्ष्य बनाकर किया गया विधान है. सर्वनिर्णयमें श्रीमहाप्रभु कहते हैं "भगवदानन्दरूपं फलं ब्रह्मज्ञानयुक्तस्य यथोक्तकर्म-कर्तुरेव....मर्यादायां क्रममोक्षएव फलम्. सद्योमुक्तिस्तु अतिकृपया. ब्रह्मज्ञानाभावे तु यज्ञात्मकात् (कर्मणः) भगवतः सर्वसुखं....स च स्वर्गो द्विविधः....सत्त्वाकारान्तःकरणे सर्वेहानिवृत्तौ यद् आत्मसुखं प्रकटीभवति तद् अग्निहोत्रादि-साध्यम्. सर्वदेवानाम् अधिकृतानां तुष्टौ आध्यात्मिकत्वे यागस्य जाते आत्मानन्दः प्रकटो भवति. एतदभावे तु भौतिकत्वे स्वर्गलोको भवति इत्यर्थः (त. दी. नि. २।४—५). इस शब्दावलीका भलीभांति विमर्श करनेपर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्मज्ञानरहित कर्म द्वारा भी आत्मसुख या आत्मानन्द रूप मुक्ति तो मिलती है. अतः—"कर्ममार्गस्य आवृत्तिः पुनर्जन्मफलम्" (अणुभा. ४।१।२) अणुभाष्योक्त इस पुनर्भवसाधक कर्मका ही विमर्श सर्वनिर्णयगत "एतदभावे तु भौतिकत्वे स्वर्गलोको भवति" वचनद्वारा हुवा है. अतः केवल निष्कामकर्म द्वारा आत्मानन्दोपलब्धिरूप मुक्ति मिलती है तथा ब्रह्मविद्यासहित श्रौत कर्मसे ब्रह्मानन्दोपलब्धि भी क्रममुक्तिप्रणालीसे सम्भव है यह मान्य होना चाहिये.

गीतामें ईश्वरार्पणबुद्ध्या सकल वर्णाश्रमधर्मके अनुष्ठानको यज्ञतया प्रतिपादित किया गया है. परिणामतः बहुधा 'कर्मयोग' पदका कुछका कुछ अर्थ यथारुचि भाषणबाज वक्ता प्रचारित कर देते हैं. उदाहरणतया सुबह उठकर अपने घरमें झाडु-बुहारीसे घरकी सफाई करना कर्मयोग है या नहीं? गृहस्थका अपने घरको साफ रखना एक कर्तव्य है यह तो निर्विवाद स्वीकार्य है!!

वेदोक्त नित्यकर्म, नैमित्तिककर्म, काम्यकर्म, नित्यानुमेयश्रुतिमूलकस्मृत्युक्त गर्भाधानादि संस्कार, सन्ध्योपासनादि नित्यश्राद्धादि, इसी तरह पाकयज्ञादिकर्म तथा प्रायश्चित्तादि कर्म यों ये सभी विहित कर्मके अनेक प्रकार हैं. इसी तरह व्रततीर्थयात्रादि पौराणिक कर्म भी विहित कर्मके प्रकार हैं. वर्णाश्रमाचार कृष्यादि आजीविका कर्म भी विहित कर्मके प्रकारोंमें परिगणित होते हैं. इष्टी औपासनादि कल्पसूत्रोक्त कर्म भी विहित कर्म हैं. इस तरह कर्मभेदोंकी लम्बी सूचीको बढानेके बजाय संक्षेपमें यह जान लेना आवश्यक है कि विभिन्न देहाभिमानी देशकालादिनिमित्तों तथा फलकामनाओं आदिको लक्ष्यमें रखकर अवश्यकर्तव्यतया विहित कर्म अवश्य-अनुष्ठेय तो होते हैं परन्तु सभीको 'कर्मयोग' नहीं कहा जा सकता है. ऐसी स्थितिमें वेदान्तप्रवचन तथा घरमें झाडु-बुहारी मारनेके समुच्चयको ज्ञानकर्मका समुच्चय मान लेना भी आवश्यक नहीं है! जैसे प्रयागमें गंगा-यमुना-सरस्वतीके त्रिवेणी संगमकी तरह रथ्योदक भी तो नदीमें मिलता ही है. एतावता कभी कोई 'चतुर्वेणीसंगम' उसे नहीं कहता.

श्रीमहाप्रभु कहते हैं "अग्निहोत्रं तथा दर्शपूर्णमासः पशुस्तथा चातुर्मास्यानि सोमश्च क्रमात् पञ्चविधो हरिः" (त. दी. नि. २।२) तथा "ध्यानादिभिर्यथा मूर्तेरभिव्यक्तिः परात्मनः आधानादिक्रियातोपि व्यक्तिर्यज्ञस्वरूपिणः" (त. दी. नि. २।१५) यही कर्मयोग यथायथ आत्मानन्दका अथवा ब्रह्मानन्दका प्रदायक बनता है.

इसी तरह ब्रह्मज्ञानसे अक्षरसायुज्यरूपा मुक्ति मिलती है. इसे ही 'ब्रह्मानन्द' कहा जाता है.

ब्रह्मके मुख्यतया तीन रूप हैं : (१) पुरुषोत्तम, (२) अन्तर्यामी, (३) अक्षरब्रह्म. गौणतया अन्य भी अनेक रूप, यथा, अन्तर्यामीके गुणावतार ब्रह्माविष्णु-शिव तीन रूप. अन्य भी तत्तद् दिव्य सामर्थ्योंके मूर्तिमान अनेकविध देवतायें एवं लीलावतार मत्स्यादि रूपोंका वर्णन पुराणोमें मिलता है. इसी तरह अक्षरब्रह्मके भी काल-कर्म-स्वभाव-प्रकृति-पुरुष यों पञ्चविध रूप मान्य हैं. तत्तद् शास्त्रवचनोंमें तत्तद् रूपोंकी उपासनाके द्वारा यथायथ अनेकरूप मुक्तिके

सालोक्य-सार्ष्टि-सामीप्य-सारूप्य-सायुज्यभेद गिनाये गये हैं.[1]

इन सबमें समझनेकी बात यही है कि कहीं "तमेवं विद्वान् अमृत इह भवती नान्यः पन्था अयनाय विद्यते." (तै. आ. ३।१।३) तो कहीं "तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" (श्वे. उ. ३।८) कहा गया है. कहीं "अजोपिसन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोपि सन्, प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया, यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत, अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहं, परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृतां, धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे-युगे, जन्मकर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः, त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोर्जुनः" (गीता ४।६–९). यों कहीं एक प्रकारके ब्रह्मज्ञानपर इतरप्रकारक ज्ञानके व्यावर्तनपुरस्सर भार सुनायी पडता है तो कहीं ब्रह्मके एकरूपविषयक ज्ञानपर अन्यरूपविषयक ज्ञानके व्यावर्तनपुरस्सर भार सुनायी पडता है, तो कहीं ज्ञानसे अतिरिक्त अन्य ही प्रकारके साधनसे मुक्तिकी प्राप्ति प्रतिपादित हुयी है. यथाधिकार एक ही ब्रह्मके मुक्तिप्रद अनेक मुख्यरूपों तथा क्षुद्रकामनापूरक गौण देवरूपों में भी यदि ब्रह्मबुद्धिपुरस्सर उपासना करते हैं तो मुक्तिलाभ सम्भव है यह श्रीमहाप्रभुने "तत्तद्देवोपासकानामाजन्मोपासने फलं तत्तत्सायुज्यरूपादि वेदोक्तानामनेकधा पौराणिकानां च तथा निषिद्धेतरभावतः" (त. दी. नि. २।२६५) वचनमें प्रतिपादित किया है.

जो मुख्य तीन रूप ब्रह्मके दिखलाये उनके बारेमें वाल्लभ वेदान्तका दृष्टिकोण यह है कि पुरुषोत्तम, पुष्टिभक्तिलभ्य, अन्तर्यामी मर्यादाभक्तिलभ्य है तथा अक्षरब्रह्म ज्ञानलभ्य है.[2]

इस तरह एकमेव अद्वितीय ब्रह्मके अनेक मुक्तिप्रदायक रूपोंके तथ्यको दृष्टिगत करनेपर किसी एक रूप या प्रकार के ज्ञान या उपासना के अन्यव्यावर्तनपुरस्सर प्रतिपादनकी बिभीषिका बहुत प्रबल रह नहीं जाती. सर्वत्र "नहि निन्दा निन्द्यं निन्दति किन्तु स्तुत्यं स्तौति" न्यायानुसार तत्तत् साधनाओंके बारेमें उन-उन अधिकारी साधकोंकी अनन्यनिष्ठा जगानेके लिये ही अन्य प्रकारोंकी निन्दा, व्यावर्तन या अनुपायता का वर्णन है.[3]

१. त. दी. नि. २।२६५.
२. अणुभा. ३।३।३३–३७
३. अणुभा. ३।३।३१

अतएव "सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात्" सूत्रकी व्याख्या करते हुवे अणुभाष्यकार कहते हैं "अनेकरूपनिरूपकैः सर्ववेदान्तैः प्रत्ययं ज्ञानं यस्य तत् तथा ब्रह्मणः अनन्तरूपत्वे यानि-यानि रूपाणि तैस्तैः वेदान्तैः निरूप्यन्त इति तावद्रूपम् एकमेव ब्रह्म इत्यर्थः....आदि पदात् साक्षात्परम्पराभेदेन मोक्षफलकत्वकथनमपि उपासनानाम् अविशिष्टम् इति" (अणुभा. ३।३।१).

श्रीमहाप्रभु तो केवल सांख्य अथवा योग द्वारा भी आत्मानन्दानुभवरूपा मुक्तिको मान्य रखते हैं (बा. बो. ६-९). श्रीमहाप्रभुके अनुसार "तत्तद् देवोपासकानाम् आजन्मोपासने फलं तत्तत्सायुज्यरूपादि वेदोक्तानामनेकधा पौराणिकानां च तथा निषिद्धेतरभावतः" (त. दी. नि. २।२६५) वचनमें वेदोक्त अग्निवरुणादि देव तथा दुर्गा गणपति देवोंकी भी आजन्म ब्रह्मत्वेन उपासना करनेपर सायुज्य मोक्ष मिलता है. श्रीमहाप्रभु यह भी स्पष्टीकरण वहां देते हैं कि एकदा बहुदेवोपासनामें कर्मके प्रधान हो जानेके कारण कर्ममार्गीय फल मिलता है, उपासनामार्गीय नहीं. तत्तद् देवताके यथाविधि भक्तिपूर्वक उपासक को तत्तद् देवलोकमें या देवरूपमें सालोक्य सार्ष्टि सामीप्य सारूप्य अथवा सायुज्य मुक्तिका लाभ होता है (त. दी. नि. २।२६७).

इस तरह हम समझ सकते हैं कि वाल्लभ वेदान्तमें किसी भी शास्त्रवचनद्वारा प्रतिपादित साधना या उसकी फलवत्ता का प्रत्याख्यान नहीं किया गया है. एकमेवाद्वितीय ब्रह्मके लीलाभेदप्रयुक्त वरणभेद वरणभेदप्रयुक्त अधिकारभेद तथा अधिकारभेदप्रयुक्त साधनाभेद एवं साधनाभेदप्रयुक्त फलभेदके विवेकको निभाते हुवे साधनाके "एकमेवाद्वितीयं तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय" रहस्यको समझनेका प्रयास करना चाहिये.

अन्तमें प्रस्तुत साधनमीमांसाके निष्कर्षतया श्रीमहाप्रभुकी इन कारिकाओंको उद्धृत करना चाहेंगे—

आपाततस्तु सर्वेषामुपायत्वं मयोदितम् ।
विष्णोः कृपाविशिष्टानां तत्फलं नान्यथा भवेत् ॥
यन्न योगेन सांख्येन दानव्रततपोध्वरैः ।
व्याख्यास्वाध्यायसंन्यासैः प्राप्नुयाद् यत्नवानपि ॥
तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम् ।
प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च श्रोतव्यं श्रुतमेव च ॥

मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम् ।
याहि सर्वात्मभावेन यास्यसे ह्यकुतोभयम् ॥
इत्येकादशसर्वस्वं भगवान् स्वयमुक्तवान् ।
आत्मानं हि स्वयं वेद तस्मादन्यवचो मृषा ॥
कर्मयोगादयः सर्वे कृष्णोद्गमनहेतवः ।
उदासीनतयोद्भेदान्नहि सर्वात्मना फलम् ॥
भक्तावल्यादरेणैव प्रकटो जायते हरिः ।
आत्मानंच ततो दद्यात् सुखे का परिदेवना ॥
सहनं खननं गंगातीरस्थितिवदेव हि ।
सांख्यो योगस्तथा भक्तिस्तत्र प्रेमातिसौख्यदम् ॥
पिता चरेद् यथा बाले सुखं भक्ते तथा हरिः ।
प्रेम्णैव सर्वतोत्यर्थं गोपीनां कामदो यतः ॥
अच्छिद्रसेवनाच्चैव निष्कामत्वात् स्वयोग्यतः ।
द्रष्टुं शक्यो हरिः सर्वैः नान्यथा तु कथञ्चन ॥
दयया सर्वभूतेषु सन्तुष्टया येन केनचित् ।
सर्वेन्द्रियोपशान्त्या च तुष्यत्याशुः जनार्दनः ॥
शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः
स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः ।
त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं
भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम् ॥

(त. दी. नि. २।३०७-३१८)

दशहरा, वि. सं. २०४३
पार्ला, बम्बई

गोस्वामी श्याममनोहर

'साधनमीमांसा' में उद्धृत ग्रन्थसंकेतसूची

शास्त्र

ईशा. उ. ईशावास्योपनिषद्,
कठ. उ. कठोपनिषद्,
तैत्ति. उ. तैत्तिरीयोपनिषद्,
श्वेता. उ. श्वेताश्वतरोपनिषद्,
छां. उ. छान्दोग्योपनिषद्,
महाना. उ. महानारायणोपनिषद्,
चित्सु. चित्युपनिषद्,
गीता भगवद्गीता,
वि. पु. विष्णुपुराण,
केन. उ. केनोपनिषद्
मुं. उ. मुण्डकोपनिषद्
तैत्ति. आ. तैत्तिरीयारण्यक
कौ. उ. कौषितकी ब्राह्मणोपनिषद्
बृहद्. उ. बृहदारण्यकोपनिषद्
जाबा. उ. जाबालोपनिषद्
श. प. ब्रा. शतपथब्राह्मण
भाग. भागवतपुराण
ब्र. सू. ब्रह्मसूत्र

श्रीमहाप्रभुविरचित

अणुभा. अणुभाष्य,
त. द. नि. १ तत्त्वार्थदीपनिबन्धस्थ शास्त्रार्थप्रकरण
त. द. नि. प्र. तत्त्वार्थदीपनिबन्ध, प्रकाश.
पु. प्र. म. पुष्टिप्रवाहमर्यादा,
भ. व. वि. भक्तिवर्धिनीविवृति,
सुबो. सुबोधिनी
त. द. नि. २ तत्त्वार्थदीपनिबन्धस्थ सर्व निर्णय प्रकरण
सि. मु. सिद्धान्तमुक्तावली
बा. बो. बालबोध
वि. धै. आ. विवेकधैर्याश्रय
संन्या. नि. संन्यासनिर्णय

अन्यविरचित

माण्डु. का. श्रीगौडपादकृत माण्डुक्यकारिका
भाग. त. नि. श्रीमध्वाचार्यकृत भागवततात्पर्यनिर्णय
त. मु. क. श्रीवेदान्तदेशिककृत तत्त्वमुक्ताकलाप
त. मु. क. स. ,, ,, ,, सर्वार्थसिद्धि
भामती श्रीवाचस्पतिकृत शांकरभाष्यटीका

प्रकाशकीय

प्रस्तुत अणुभाष्यका तृतीयाध्याय श्रीमूलचन्द्र तेलीवाला तथा श्रीधीरजलाल सांकलिया प्रभृति नामसेवापरायण भगवदीयों द्वारा वि. सं. १९८३–८४ में सम्पादित करके प्रकाशित किया गया था. प्रस्तुत संस्करण उसीका ऑफसेट प्रोसेस द्वारा पुनर्मुद्रित रूप है. अतः हम हृदयसे इसके आद्यसम्पादक तथा प्रकाशकों का इस पुनःप्रकाशनके अवसर कृतज्ञताके साथ स्मरण करते हैं. उस संस्करणमें चार अध्याय पृथक्-पृथक जिल्दमें प्रकाशित किये गये थे. उनकी भूमिकाओंमेंसे कुछ अनावश्यक अंश हमने हटा दिये हैं तथा उन्हें एकत्र संकलित कर दिया है. श्रीकृष्णचन्द्रजी के नामसे प्रकाशित एक अपूर्ण व्याख्या उस संस्करणमें दी गयी थी. उसे भी हम पुनः प्रकाशित कर रहे हैं. यद्यपि कोई प्रबल हेतु हमें दिखलायी नहीं देता कि यह श्रीकृष्णचन्द्रजी विरचित टीका ही हो; वैसे तद्गत विषय भी श्रीपुरुषोत्तमजीविरचित प्रकाशसे गतार्थ है ही.

विषयानुक्रमणिका हम यहां नूतनतया योजित कर रहे हैं, साथ ही साथ अतीव हर्षके साथ हम यह भी सूचित करना चाहते हैं कि प्रथमाध्यायकी भूमिकामें 'अणुभाष्य' समाख्यामें 'अणु' पदके तात्पर्यके बारेमें जो अनेक उत्प्रेक्षायें हमने की थीं उन्हें अब निरस्त समझना चाहिये. क्योंकि स्वयं महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्यके हस्ताक्षरोंमें लिखित उस पत्रके दर्शन हमें मिल गये कि जहां पुष्पिकामें निजहस्ताक्षरों द्वारा प्रस्तुत भाष्यको 'अणुभाष्य' कहा गया है. जिन महानुभावने हमें यह फोटो प्रदान किया है उनके भी हम निरतिशय कृतज्ञ हैं. सभीको श्रीहस्ताक्षरोंके दर्शनके सौभाग्यके प्रदानार्थ हम यहां वह फोटो भी प्रकाशित कर रहे हैं. अभिधानकी सार्थकता सम्बन्धी विचार आगामी खण्डोंमें करनेका प्रयास करेंगे. फिर भी संक्षेपमें यह ज्ञातव्य है कि 'अणुभाष्य' अभिधान, क्योंकि, स्वयमेव श्रीमहाप्रभुद्वारा प्रयुक्त है, अतः श्रीमध्वाचार्यविरचित पद्यात्मक अणुभाष्यके दो श्लोकार्ध जो श्रीमहाप्रभुने उद्धृत किये हैं, उनके कारण श्रीमहाप्रभुविरचित भाष्यका 'अणुभाष्य' अभिधान अनवधानतया प्रचलित हो गया है, यह स्वीकारनेका कोई भी आधार अब बच नहीं जाता है.

श्रीमहाप्रभुविरचित प्रस्तुत भाष्यके प्रथम-द्वितीयाध्यायकी कारिका तो गद्यपद्यात्मिका मिश्रशैलीकी उदाहरण हैं. परन्तु तृतीय-चतुर्थाध्यायके प्रारम्भमें उपलब्ध होती कारिकायें श्रीमहाप्रभुविरचित कारिकात्मक भाष्य है, जिसमें सम्भवतः शास्त्रार्थ अध्यायार्थ एवं पादार्थ (या अधिकरणार्थ भी) संकलित किया होगा. इसी शैलीमें भागवतार्थनिबन्ध तथा सुबोधिनी भी लिखे गये थे. प्रथमाध्यायकी भूमिकामें इन तृतीय-चतुर्थाध्यायकी कारिकाओंके बारेमें अणुभाष्य तथा गद्यात्मक भाष्यके बारेमें बृहद् या श्रीमद् भाष्य होनेकी सम्भावना व्यक्त की थी, वह भी इस निजहस्ताक्षरलिखित पुष्पिकाके उपलब्ध हो जानेसे, निरस्त होती है. अतः 'अणुभाष्य' अभिधान में 'अणु' विशेषणका पदकृत्य-सम्बन्धी विचार आगामी भूमिकामें करनेका प्रयास करेंगे. कम्पोजमेटरकी प्रेस कॉपी बनानेमें हमारे सहयोगी चिरंजीवी गो. श्रीशरदकुमारजी तथा श्रीधर्मेन्द्रकुमार झाला के भी हम हृदयसे कृतज्ञ हैं.

दशहरा २०४३ **गो. श्या. म.**

बम्बई



नि. ली. गो. श्रीदीक्षितजी महाराज
श्रीवल्लभविद्यापीठ-श्रीविट्ठलेश प्रभुचरणाश्रम न्यासके संस्थापक

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

ब्रह्मसूत्राणुभाष्ययोः प्रकाशरश्मिटीकोपेतयोः

विषयानुक्रमणिका

(तृतीयाध्यायस्य)

+ 'कृतात्ययाधिकरणम्' इत्यपि नामान्तरम्



PREFACE.

In the presence of S'rīmad G[illegible] S'rī Gokulanāthaji Mahāraja of Badā Mandir, Bombay, an arrangement was arrived at between S'eth Lālji Nāranji and ourselves in May 1925 by which the Trustees of the late S'eth Gordhandās Sundardās agreed to defray the whole cost of the publication of Aṇu Bhāshya-Bhāshya Prakāsha-Ras'mi. This volume is published in pursuance of the same. For this happy result we express our obligations to S'rīmad Goswāmi S'rī Gokulanāthaji Maharaja and the said Trustees.

In bringing out this edition we have got hearty co-operation from Goswamis and their learned s'āstris. H. H. Tilakayita S'rimad Goswami S'rī Govardhanalalji and his son S'rī Damodaralalji have been kind enough to lend us two very good Mss. of the Aṇu Bhashya. Through the kindness of S'rīmad Goswami S'rī Vraja Ratnaji a fragment of the original Ras'mi became available to us for the first time in 1917. S'rīmad Goswami S'rī Vallabhalalji S'rī Muralidharaji, S'rī Gokulanathaji, S'rī Ranchhodlalji, and S'rī Magnalalji have lent us Mss. of the Aṇu Bhashya from their collections. Last but not the least we must acknowledge our deep obligations to the late Pandit Gattulālāji's Library.

Mr. Jamnadas Kanji B. A., has helped in preparing the press-copy of the Introduction. Messrs Dhirajlal Sankalia, Govardhandas Pragji, Hiralal Mulji, and Purushottam Kanji B. A., have also helped while reading the proofs. Thanks are due to them also.

Bombay,
5-2-1926.

M. T. Telivala.

NOTES.

(1) प्रकृतिपर एवादि. p. 2. L. 1. र. It would be better to read this as प्रकृतिपरमाण्वादि. This would yield very good sense. The only difficulty in this way of reading is that we have to add मा after पर which is not found in the original. The omission of मा seems to be due to the slip of pen.

(2) शोधयति. p. 2. L. 1. र. The original reads शोधति. This also is correct. धातूनां भ्वादित्वाद्गुणकार्यस्यानित्यत्वात् शोधतिप्रयोगोपि साधुः ।

(3) वा अन्तरे. p. 14. L. 1. भा. One old Mss. reads अवान्तरे.

(4) अपेक्ष्यते. p. 14. L. 3. भा. अपेक्षते seems to be the reading. अपेक्षन्ते seems to be a change suggested by भूतानि.

(5) गौणत्वम्. p. 15. L. 8. प्र. Can it be न गौणत्वम्?. One न seems to be missing here.

(6) p. 27. L. 9. भा. 'इष्टादिकारिणां प्रतीतेः । इष्टादिकारिणः प्रतीयन्ते श्रद्धापदेन देवकर्तृकत्वेन च सोमभावसाम्यत्वाच्च'. In one of the Mss. this portion is not in the body of the text, but is added on the top of the margin. This Mss. is written in खडीमात्रा. This addition is possibly subsequent. It may be in the hand of S'rī Vitthaleswara himself. It repeats what follows in the Bhashya. देवकर्तृकत्वेन and साम्यत्वात् seem to be subsequently changed into देवकर्तृत्वेन and साम्यात् respectively.

(7) अन्नभावस्य p. 29. 8. L. 8. प्र. Can it be अन्यभावस्य?

(8) पूर्ववत्××तिला माषा इति. p. 62. L. 4. 5. भा. This also repeats what follows in the Bhashya. In the above mentioned Mss. it is not in the body of the text. Same remarks as in No. 6 apply here.

(9) कललादिभावे. p. 68. L. 2. भा. This is the reading adopted by Ras'mikāra. It is the correct one. कलिलादिभाव is unmeaning.

EDITOR'S NOTE.

The text of Anu Bhashya is based on the following manuscripts.

(a) Manuscript belonging to S'rī Damodaraji grandson of S'rī Vitthales'wara. This manuscript is a very reliable one and at the same time it is well written and well preserved.

(b) Another manuscript equally old and accurate.

Both these Manuscripts were kindly lent to us by H. H. the Tilakayita Maharaja of S'rī Nathadwar. S'āstri Nandakis'ora took them out for us.

(c) A manuscript very old and accurate, but in some places, mutilated.

(d) A manuscript old and fairly accurate.

(e) A manuscript well written old and fairly accurate. These three manuscripts C. D. E. were received from the collection of Pandit Gattoolalaji in Bombay.

(f) (g) (h) Three manuscripts about 100 years old and fairly accurate. These three were received from H. H. Goswami S'rī Gokulanathaji Maharaja of Bombay.

(j) A manuscript received from the collection of S'rī Gokuladhis'aji's temple of Bombay through the kindness of H. H. Goswami S'rī Maganlalji Maharaja. This manuscript was taken out for us by S'astri Chimanlal.

(k) A manuscript received from H. H. Goswami S'rī Ranchodlalji Maharaja of Porbander. This mss. was brought to us by S'āstri Harikrishṇa.

(l) A mss. received from the collection of H. H. Goswami S'rī Vallabhalalji Maharaja of Kamwan. This mss. is dated 1787 Samvat and though not very accurate belongs to a rather different recension.

(m) A mss. received from H. H. Goswami S'rī Muralidharaji Maharaja of Benares from the Gopala Mandira collection. This was brought to us by S'āstri Haris'ankar Aunkarji.

(n) The edition printed in Bib. Ind. Series. Calcutta.

(o) The edition of the Benares Sanskrit Series edited by Pandit Ratna Gopala Bhatta.

(p) The edition of Prof. Maganlal S'āstri M. A. published in Vaishnava Parishad Series.

(q) The edition published in the Bombay Sanskrit Series.

In additin to these, in cases of doubt, we have consulted S'rī Krishṇa-chandraji's भावप्रकाशिकावृत्ति and वेदान्ताधिकरणमाला, the former written in the hand of S'rī Purushottamaji himself.

The text of the Bhashya Prakas'a is based on the original copy written by the author in his own hand. For the portions which are added by the author subsequently to this copy in his fair draft, and which are not incorporated in this manuscript, we have based the text of those additions on three copies. At one time we thought of bracketing this last addition, but on a further consideration, we thought that as the author himself wanted to incorporate the same, it would not be fit to mark out the same.

(a) A mss. dated 1787 Samvat received from his H. H. Goswami S'rī Vallabhalalji Maharaja of Kamwan.

(b) A mss. received from H. H. Goswami S'rī Ranchhodlalji Maharaja of *Porbander*.

(c) (d) Two mss. received from Pundit Gattoolalaji's collection of Bombay.

(e) The edition in the Benares Sanskrit Series.

The text of the रश्मि is based on the original copy in our possession as stated above.

श्रीकृष्णार्पणमस्तु ।

Bombay, }
5-2-26. }

M. T. Telivala.

EDITOR'S NOTE.

After the publication of the first two Pādas of the Adhyāya III of the Aṇu Bhāshya with Bhashya-Prakās'a and Ras'mi, we have been fortunate in the further acquisition of manuscripts by the Grace of Lord Kṛishṇa. In the introduction to Pāda I we stated that the Bhāshya Prakās'a the original of which in the author's own hand is in our possession missed the final revision made by the author himself, and the additional portions found in some copies of the Prakās'a were of the authorship of S'rī Purushottamajī himself even though not found in the original manuscript. This inference was based merely on our familiarity with the style of Purushottamaji, which was apparent in those passages. Our diffidence was the more because the learned author of Ras'mi had not chosen to write his commentary on those passages. Gopes'varaji has based his Ras'mi on the original manuscript of Prakās'a which came in his possession through his father Gokulotsavaji who was adopted in the Purushottamaji's house by Mahārāṇi Vahuji at Surat. Gopes'varaji would seem to look upon the passages of Prakās'a not found in the above original with an eye of suspicion, and we find him in the Pāda III throwing doubt on those passages of Prakās'a on the ground of their not being found in the original in his possession. In his Ras'mi also he omits commenting on those passages. This decision of Gopes'varaji was rather unfortunate. As will be presently seen these passages of Prakās'a are Purushottamaji's own, and Gopes'varaji's omission to comment on them has increased our difficulties in approaching those passages for a thorough understanding.

It was rather a happy coincidence that in basing the text of the Prakās'a for our edition we did not follow Gopes'varaji's view. We always felt that those additional passages of the Prakās'a, though not found in the original, were of the authorship of Purushottamaji. Our surmise was that Purushottamaji's original must have been got copied fair, and a final revision on the same must have been made by Purushottamaji himself. Thus these additional passages were due to a final revision and as such ought to be included in the authentic text of the Prakās'a. Hence we have acted accordingly from the very beginning. Our conjecture as to the final revision has happily turned out to be true. Through the kindness of Mr. Natavaralal Iccharam Desai B. A. of the famous Gujarati Press we have been able to secure that very copy of the Prakās'a in which Purushottamaji has made additions and revisions in his own hand and which are not found in the original wholly written in his own hand. Except these additions and revisions the rest of this manuscript is written in neat handwriting by a scribe. This neatly written portion contains the whole of Purushottamaji's Prakās'a original, while the additions and revisions seem to have been made by Purushottamaji himself in his own [1] and when he finally revised his Bhashya-Prakās'a. The text of the Prakās'a of the present Pāda is based on the original so far as its text was common with the above-mentioned fair copy and for portions not found in the above-mentioned original, it is based on the

additions in Purushottamaji's hand in the fair copy. Thus the whole text of the Prakās'a is based on the most authentic basis. The same lines will be followed in the edition of the subsequent portions.

Another thing to note is this. The last Adhyāya and a half, though the authorship of the same is attributed to Vallabhacharya, is actually from the pen of Vitthales'vara, his second son. Scholars like Krishṇachandraji and Purushottamaji have mentioned this fact in their works Vritti and Prakās'a respectively III. 2-34. B. S. The Sāmpradayika Gatha also states that the last two Adhyāyas of Aṇu-Bhashya were composed by Vitthales'vara under the directions of his father. But we did not learn from the above the materials on which their suggestion was based. The statement of Purushottamaji that the second Varṇaka of the Anandamayādhikaraṇa and the Aṇu-Bhāshya from III. 2-33 was Vitthales'vara's, appeared to be perfectly correct from the style and views expressed there in. Any one familiar with the language of Vallabhacharya could without doubt say that the passage 'क्वचित् गोकुल' etc in III. 3-1 was not of the authorship of Vallabhacharya. This difficulty has been now solved beyond any doubt. In search of MSS. of the missing portions of Ras'mi, we again went on a tour to Nathadwara. Through very great kindness of H. H. Tiket S'ri Govardhanalalji Maharaja and his son Lalhava Saheb S'ri Damodaralalji we got access to the original MSS. carefully preserved there. To our great delight and satisfaction we found an almost complete Manuscript of the Aṇu-Bhāshya Adhyāya IV and three last pages of Adhyāya III Pāda IV and second interpretation of III, 4-19. 'अनुष्ठेयं' in the handwriting of Vitthales'vara himself. This unexpected discovery of the original Manuscript of the Anu-Bhāshya has been fruitful of many far-reaching results. It has put beyond the shadow of doubt the authorship of the last two Adhyāyas of the Anu-Bhashya. Purushottamaji's statement in Prakās'a III. 2-24. 'इत आरभ्य प्रभुणामिति' is based on a firm and reliable basis. He, it seems, had access to the above original of the Aṇu-Bhashya. On the leaves of this original MSS. there are fine paper-slips. On these paper-slips there are remarks pointing out the portions of the Aṇu-Bhāshya to which those pages belonged. These remarks, it appears to us, are in Purushottamaji's own handwriting. This fact has led us to prefer Prakās'a's readings of the Aṇu-Bhāshya in preference to others. This original Manuscript with all its additions and revisions taken into consideration proves beyond doubt that Vitthales'vara is the author of the last Adhyāya and a half of Anu-Bhāshya, though the 'इतिश्री' in the name of Vallabhacharya in Vitthales'vara's own hand would suggest that he himself desired to allow the public to know that Vallabhacharya was also the author of the same. The ambiguous verse 'भाष्यमुण्मारुडिः श्रीमदाचार्यचरणाम्बुजे । निवेदिता तन तुष्टा भवन्तु मयि ते सदा' is consistent both with the authorship of Vallabhacharya and Vitthales'vara. In one case we have to understand the word Acharya as referring to Badarayaṇa and in the other to Vallabhacharya. This fact explains the references to Vitthales'vara's Vidvanmaṇḍana and Bhakti-Hansa in this portion of the Aṇu-Bhāshya. References to the Adhyāyas III and IV in Subodhini and Nibandha would go to show that Vallabhacharya himself wrote complete Bhashyas on both the Mimānsās. But it seems Vitthales'vara got Vallabhacharya's Bhashya on the Brahma-Sūtras upto III-2-33. It seems this was the only portion in his possession when he composed his Vidvanmanḍana. It was at a late stage, after he adopted Gokula near Muttra as his permanent residence, and when he seems to have lost all hopes of securing a complete manuscript of his father's Brahma-Sūtra-Bhashya, that he undertook to complete the Bhashya fragment of his father on the Brahma-Sūtras. In order to distinguish this Bhashya from that of his father, he seems to have named it Aṇu-Bhāshya. In Subodhini Vallabhacharya does not refer to his commentary on Brahma-Sūtra as *Aṇu* Bhashya, but only as *Bhashya* without the word Aṇu. The absence of any pungent expressions, which we find in the Vidvanmanḍana, against opponents in the Aṇu-Bhāshya portion of Vitthales'vara would clearly show that the portion of the Aṇu-Bhāshya by Vitthales'vara is the work of his mature age.

We express our heartfelt obligations to H. H. S'rī Govardhanalalji Maharaja of Nathadwara and his son S'rī Damodaralalji for allowing us the use of the said original manuscript of the Aṇu-Bhāshya, and for giving us photographs of some of its pages. In due course photo-blocks of the same will be ready, when the Vaishṇava public will be in a position to know Vitthales'vara's handwriting.

A picture of Purushottamaji is placed in this volume. The original was obtained by us from S'rī Dwarkanathaji's Mandira at Kankroli in Mewar, through the kindness of H. H. S'rīmad Goswamini S'rī Saundaryavati Vahuji, the mother of S'rī Vraja Bhushaṇaji, the present occupant of the seat. We also thank Seth Lalji Naranji J. P. for having given his consent on behalf of the trustees for defraying the cost of getting the blocks made and printed.

One of the manuscripts utilised in basing the text of this Pāda-Bhashya has turned out to be of S'rī Kalyāṇarayaji, the father of the Great S'rī Harirayaji. This Kalyaṇarayaji is the first grandson of Vitthales'vara. We beg to draw the attention of the scholars of the Sampradāya as well as others to the Paris'ishta printed here. It is almost a complete commentary on the Guṇopasanhāra Pāda of the Aṇu-Bhashya. It was made available to us by the late Mr. Tansukhram M. Tripathi B. A., the veteran scholar of Gujarat. On a comparison of the same with the Prakās'a, we find that almost the whole of it is incorporated in the Prakas'a. It seems possible from the style of expression and method of writing that Purushottamaji owes much to this. Its style resembles that of Krishṇachandraji's Vritti. If so, the comparative method of exposition followed by him in Prakās'a owes its origin to the genius of Krishṇachandraji. This Krishṇachandraji was born on the 7th day of Dark half of S'ravaṇa 1655 Samvat. He was the guru of Purushottamaji both in name and fact. It is possible that Krishṇachandraji wrote his commentary from the very beginning, and the same is incorporated in the Prakās'a as here. We request scholars to make a search for the same. If found, it will be the oldest commentary on the Aṇu-Bhāshya. The copy of the Guṇopasanhāra-Pāda-Vivaraṇa printed in the Paris'ishta seems to be the original in Krishṇachandraji's own hand.

Bombay,
27-4-27.

M. T. Telivala.



महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्यके हस्ताक्षरोंमें लिखित अणुभाष्य प्रथमाध्यायचतुर्थपादका अन्तिम पृष्ठ

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम् ।

भाष्यप्रकाश-रश्मि-परिबृंहितम् ।

अथ तृतीयोऽध्यायः ।

प्रथमः पादः ।

तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ॥ १ ॥ (३-१-१)

सर्वोपनिषदां सिद्धो ह्यविरोधे समन्वयः ।
कथं बोधकता तासां स तृतीये विचार्यते ॥ १ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

श्रीहरिर्जयति । श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः । तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ॥ १ ॥ अथ तृतीयाध्यायं व्याचिख्यासवः सङ्गतिं वक्तुं पूर्वाध्यायार्थं स्मारयन्तः प्रकृताध्यायार्थमाहुः सर्वेत्यादि । 'तं त्वौपनिषद'मित्यादिश्रुतेर्ब्रह्मण्युपनिषद एव मुख्यं प्रमाणमिति प्रथमाध्याये सर्वोपनिषदां ब्रह्मणि सम्यगन्वय आपाततः प्रतीतार्थनिराकरणेन तदेकतानतारूपो यः प्रतिपादितः, स द्वितीयाध्याये विरुद्धस्मृतीनां निराकरणेन श्रुतिवाक्यानां चेतरेतरविरोधनिरासेन चिन्तिते अविरोधे, सिद्धः, मुख्यतया उपनिषद एव ब्रह्मबोधिकाः, नेतरदित्येवं दृढो जातः । अतः परं तृतीयाध्याये तासामुपनिषदां बोधकता निर्विचिकित्सशाब्दज्ञानेन ब्रह्मप्रमितिजनकता कथं केन प्रकारेणेत्याकाङ्क्षोदेति । ऋषिभिः स्वस्वबुद्ध्योपनिषदर्थस्य नानाप्रकारेण विचारितत्वात् । अतस्तन्निवृत्त्यर्थं स तासां बोधकताप्रकारस्तृतीयेऽध्याये निरूप्यत इत्यर्थः । तथाच द्वितीयस्य प्रथमार्थशोधकत्वाद्यथो-

रश्मिः ।

श्रीकृष्णाय नमः । श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः । तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ॥ १ ॥ 'आत्मा वा अर'इत्यत्र निदिध्यासनमत्र समाधिरूपम् । भक्तिमार्गीयत्वाद्भाष्यस्य । समाधिदृष्टान्तदृष्टान्तितमानसीसेवायाः साधनेषु मुख्यत्वात् । **सङ्गतिमिति** । वक्ष्यतेऽग्रे । उपोद्घातादिरूपा ताम् । **तन्निवृत्तीति** । आकाङ्क्षानिवृत्त्यर्थम् । **बोधकतेति** । विद्यानिष्ठैकत्वप्रकारेण बहुत्वप्रकारेण वेति कथंशब्देनोक्ते बहुत्वप्रकारेणेति फलिष्यति । 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूपमि'तिश्रुतेस्तद्विषयिणीनां बहुत्वौचित्यात् । कारिकायां 'स समन्वय' इति वक्तुं शक्यते, तथापि प्रथमेऽध्यायेऽतिव्याप्तिरत एवमुक्तम् । विद्याप्रतिपादकानां विशेषसमन्वय इति चेदस्तु । **निरूप्यत** इति । विचारोऽत्र परपक्षनिराकरणपूर्वकस्वपक्षस्थापनम्, निरूपणस्योक्तरूपत्वात् । सामान्यप्रकारकजिज्ञासायाः सर्वोपनिषत्प्रतिपाद्यत्वप्रकारकजिज्ञासायाः विशेषप्रकारकजिज्ञासायाः विद्याविषयत्वेन सर्वोपनिषत्प्रतिपाद्यत्वप्रकारकजिज्ञासाया जनकत्वेन हेतुना विचार्यत इत्यर्थः । **प्रथमेति** । प्रथ-

एकं वाक्यं प्रकरणं शाखाः सर्वाः सहैव वा ।
एकां विद्यामनेकां वा जनयन्तीति चिन्त्यते ॥ २ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

पोद्घातत्वम्, तद्वत् तृतीयस्य प्रथमविषयभूतोपनिषन्निष्ठबोधकताप्रकारशोधकतया तच्छेषत्वात् तथात्वं सङ्गतिः । द्वितीयतृतीययोस्तूपजीव्योपजीवकभाव एव सङ्गतिरिति बोधितम् ।

नन्वयं साधनाध्यायत्वेन प्रसिद्ध इति साधनविचारोऽत्रार्थत्वेन युक्तः, न तु बोधकताप्रकारविचार इति शङ्कायां स्वोक्ते गमकमाहुः **एकमित्यादि** । गुरुमुखादुपनिषद्भिः श्रुतं ब्रह्माध्यायद्वयोक्तरीत्या मत्वा निदिध्यासितव्यम् । तदुपायभूताश्चोपासनाः सर्वशाखासु कचिद्वाक्येन प्रकरणेन वा बोध्यन्त इत्येकं वाक्यं प्रकरणं तत्प्रकारबोधनेन विद्यां जनयति । तां विद्यां तादृग्वाक्यादिमत्यः सर्वाः शाखाः सहैव सम्भूयैवैकां विद्यां जनयन्ति, असम्भूय पार्थक्येनानेकां वा जनयन्तीति सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणे चिन्त्यते । पादे च यथाधिकारमेकामनेकां वा जनयन्तीति फलति । अतो यदि बोधकताप्रकारो न विचार्यः स्यात्, तदोपासनामात्रं चिन्तयेत्, न तु विद्यैकत्वानेकत्वम्, प्रयोजनाभावात् । अतस्तच्चिन्तनाद् बोधकताप्रकारविचार एवार्थ इति ज्ञायत इत्यर्थः ।

रश्मिः ।

निष्ठमभिन्ननिमित्तोपादानत्वं प्रथमार्थस्तं प्रकृतिपर एवादिगतकारणत्वनिरासेन शोधयति स प्रथमार्थशोधकस्तत्त्वात् । **उपोद्घातत्वमिति** । 'चिन्तां प्रकृतसिद्ध्यर्थामुपोद्घातं विदुर्बुधाः' । **प्रथमेति** । प्रथमविषयीभूता योपनिषत् तन्निष्ठो यो बोधकताप्रकारोऽभिन्ननिमित्तोपादानताप्रकारः तेन ज्ञानं विद्येति तं शोधयति, अभिन्ननिमित्तोपादानत्वेनैकेन विद्यानेकानन्दमयत्वादिप्रकारैर्वा ज्ञानं विद्येति विमर्शेऽनेकानन्दमयत्वादिप्रकारैरित्येवं शोधयति यो बोधकताप्रकारः समन्वयविषयविषयकविद्येति बोधकताविशेषप्रकारः स तथा, तस्य भावस्तत्ता, तयेत्यर्थः । **तथात्वमिति** । शेषशेषिभावः । समन्वयः प्रथमार्थः शेषी । विद्याविषयत्वेन समन्वय इति शेषः । सामान्यविशेषभावः सङ्गतिरिति यावत् । प्रसङ्गेऽन्तर्भूता । **उपजीव्येति** । कारणं विषयविधया निराकृतविरोधं विद्यायां न त्वनिराकृतविरोधम् । 'योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते । किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणे'ति श्रुत्युक्तदोषापत्तेः । उपजीवकं कार्यं विद्या तृतीयाध्यायार्थः । एवकारेण शेषशेषिभावसङ्गतिव्यवच्छेदः । **बोधितमिति** । कारिकया बोधितम् ।

'आत्मा वा अरे'इति श्रुतावार्थक्रमेण 'द्रष्टव्य' इति पश्चादन्वयीत्याशयेनाहुः **गुर्वित्यादि श्रुतमित्यन्तम्** । श्रोतव्य इत्यस्येदम् । **निदीति** । समाधिर्निदिध्यासनं मानसी सेवा । **तदुपायेति** । मानसीसेवारूपभक्तेरुपायभूताश्चित्तशुद्धिद्वारा । यद्यपि मानसीसाधनं तनुवित्तजे, अन्यानि श्रेयांसि च, तथापि जैमिनिमतोपन्यासात्कर्मणा चित्तशुद्धौ भक्तिरुपासनया चित्तशुद्धेर्भाष्ये साधारणत्वादुपासनाः साधनत्वेनोक्ताः । अनुगमाच्च । **वाक्येनेति** । 'आत्मेत्येवोपासीते'त्यादिना । **प्रकरणेनेति** । **यथा चिन्तयेदिति** । तृतीयचरणे सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणे चिन्तयेत् । **एवेति** । अध्यायार्थत्वेन साधनविचारव्यवच्छेदक एवकारः । फलाध्याये 'साधनैर्ब्रह्मविदाप्नोती'त्यत्रोपासनाभिरित्यर्थः साधनैरित्यस्य ।

ससाधने हि पुरुषे जन्मना कर्मणा शुचौ ।
केवले वा यथा योगे प्रथमं तद् विचार्यते ॥ ३ ॥
विचारपूर्वकं तस्य ब्रह्मभावाप्तियोग्यता ।

भाष्यप्रकाशः ।

ननु यद्युपनिषन्निष्ठबोधकताप्रकारचिन्तनमेतदध्यायार्थः, तदा संसारगतिप्रभेदसन्ध्यसृष्ट्यादिबोधकानामधिकरणानां कथं सङ्गतिरित्याकाङ्क्षायां पादानामर्थांस्त्रिभिराहुः **ससाधन इत्यादि** । 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मिति परप्राप्तिसाधनतया यज्ज्ञानमुक्तम्, तदपरोक्षमेव विवक्षितम् । 'तस्मिन् दृष्टे परावरे' 'आत्मन्येवात्मानं पश्येत्' 'सर्वं हि पश्यः पश्यती'त्यादिषु दृशेः प्रयोगात् । तच्च न शब्दश्रवणमात्रादिति मननादिविधिभिरवसीयते । यत्र पुनः शब्दश्रवणमात्रात्, तत्रापि शुद्धिरवश्यमस्तीति फलबलादेव ज्ञायते । ततः पूर्वं शुद्धिर्मृग्या । हि अतो हेतोः जन्मना कर्मणा शुचौ विचाररूपसाधनसहिते पुरुषे विद्यां जनयन्ति, वा अथवा, केवले जन्मकर्मावदातत्वाभावेऽपि वरणमात्रविषये । तत्र दृष्टान्तः **यथा योगे** । अतो 'निर्विषयं नित्यं मनः कार्यं मुमुक्षुणे'तिश्रुतेर्जन्मादिशुद्धिराहित्येऽपि केवले वरणविषये मनःशोधनपरे च पुरुषे जनयन्ति । 'यदि शैलसमं पापं विस्तीर्णं योजनान् बहून्, भिद्यते ज्ञानयोगेने'ति योगबोधकध्यानबिन्दुश्रुते'र्योगेनैव दहेदंहो नान्यत् तत्र कदाचने'ति श्रीभागवतवाक्येन तत्र साधनान्तरानपेक्षणात् । एवं वरणेऽपि, 'पापकर्षण' इति । 'अपूतः पूतो भवति मां स्मृत्वे'ति तापनीयश्रुतेः । 'कोटिजन्मार्जितं पापं कृषिः क्लेशे च वर्तते । भक्तानां णश्च निर्वाणे तेन कृष्णः प्रकीर्तित'इति ब्रह्मवैवर्तवाक्याच्च भक्तानां पापनिवृत्तेः शुद्धेश्च भगवतैव सम्भवात् । एवं त्रिविधेष्वधिकारिषु भगवदिच्छया सम्भवत्सु मुख्यमध्यमयोर्वरणयोगाभ्यामेव सिद्धिरिति तत्र विचार्यते, किन्तु **प्रथमं** प्रथमे पादे, **तत्** जघन्याधिकारिणां शुचित्वं विचार्यते । तादृशेषु दयैव व्यासचरणानामेतदुद्यमात् । तथाचोपोद्घातः सहकारिसम्पत्तिरूपस्तदर्थः । ततो द्वितीये पादे जीवावस्थादिविचारपूर्वकं तस्य जीवस्य ब्रह्मभावप्राप्तियोग्यता स्वरूपतो योग्यत्वम् । ततस्तद्विचारेण अधिकारे मुक्त्यधिकारे जीवस्य सिद्धे

रश्मिः ।

न शब्दश्रवणेति । 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्था' इति श्रुत्युक्तात् । तव्यस्य विधौ विधानादाहुः **मननेति** । ननु भक्तौ 'श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यत' इति वाक्याद्वेदान्तवाक्ये मननादिविधिनिवेशे किं बीजमित्यत आहुः **यत्रेति** । यथा परीक्षितः । 'पिबन्तं त्वन्मुखाम्भोजच्युतं हरिकथामृत'मितिवाक्यात् । फलं मोक्षः । एवकारस्तद्वाचकशब्दव्यवच्छेदकः । वेदान्तविज्ञानश्रुतौ तद्वाचकः शब्दोऽस्ति । **तत इति** । श्रुतेः फलबलाच्च । **वरणेति** । वरणं स्वीयत्वेनाङ्गीकारः, न भक्तिः । वरणजसर्वात्मभावेति वक्ष्यमाणत्वात् । वरणं सर्वत्र कारणम्, अतो न प्रदानवत्सूत्रविरोधः । 'नायमात्मे'त्यादिश्रुती अत्र द्रष्टव्ये । **वरणं पुष्टिरिति** । 'पोषणं तदनुग्रह' इति वाक्यात् । इदं भक्तिहेतुग्रन्थे स्पष्टम् । भक्तिहेतुग्रन्थे पुष्टिमर्यादयोरेवानुग्रहसाध्यत्वम्, न सर्वात्मभावस्येति चेत् । न । सर्वात्मभावदानस्याकस्मिकत्वापत्तेः । **ज्ञानेति** । **ध्यानयोगेने**त्यपि पाठः । दार्ष्टान्तिके योजयन्ति स्म **एवं वरण इति** । **पापेति** । ससम्यन्तम् । वरणे पापकर्षणत्वं जीवधर्मे वरणे, ब्रह्मधर्मः पापकर्षणं स्वाश्रिताश्रितत्वसम्बन्धेन । स्वं जीवः इत्याशयेनाहुः **अपूत इत्यादि** । **भगवतैवेति** । एवकारेण साधनान्तरव्यवच्छेदः । **त्रिविधेति** । जन्मकर्मभ्यां शुचौ विचाररूपसाधनसहिते । जन्मकर्मावदातत्वाभावेऽपि वरणमात्रविषये । **दययैवेति** । गुरुत्वात्कृपालुत्वम् । 'कृपालुरकृतद्रोह' इति वाक्यात् । एवकारस्तु कृपालुत्वधर्मविरोधिधर्मव्यवच्छेदकः । **सहेति** । शुचित्वरूपसहका-

अधिकारे ततः सिद्धे विषयावधृतिस्ततः ॥ ४ ॥
अन्तरङ्गविचारेण गुणानामुपसंहृतिः ।
बहिरङ्गविचारेण कर्मणामिति सा द्विधा ॥ ५ ॥

तस्मादधिकारिणो जन्मनिर्धारः । तदनु तस्य ब्रह्मभावयोग्यता । ततो गुणोपसंहारः । ततोऽङ्गविचार इति ।

भाष्यप्रकाशः ।

विषयावधृतिः । विषयस्य ब्रह्मस्वरूपस्य यादृशं ब्रह्मस्वरूपं तस्य अवधृतिर्निश्चयो विचार्यते । ततस्तृतीये पादे अन्तरङ्गविचारेण सूक्ष्मदेहनिष्ठतया मुक्तिपर्यन्तमनुवर्तमानत्वेन 'तं यथायथोपासते तथा भवती'ति 'यथा क्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति, तथेतः प्रेत्य भवती'ति श्रुतेरवश्यफलसाधकतया चान्तरङ्गं यत् साधनं कर्मज्ञानभक्तिमार्गीयमुपासनं तद्विचारेण, गुणानां तत्तदुपासनोपयुक्तानां भगवद्गुणानामुपसंहृतिः तत्तद्विधोपासने तत्तन्नियमनम् । एतादृशे उपासने एतादृशा गुणा एवं चिन्तनीया इति । ततस्तुरीये पादे बहिरङ्गविचारेण स्थूलदेहनिष्ठतया इतरसाधारणतया च बहिरङ्गाणि यानि साधनानि आश्रमादिरूपाणि तद्विचारेण कर्मणां पूर्वोत्तरकाण्डोक्तानां यज्ञतपःशमदमादि-श्रवणादिभगवद्धर्मप्रभृतीनामुपसंहृतिः । नित्यान्येव कार्याणि, तान्यपि 'ब्रह्मण्याधाय' 'सङ्गं त्यक्त्वा' कार्याणीत्येवं नियमनम् । इति एवंप्रकारेण सा उपसंहृतिर्द्विधा, विचार्यत इति क्रिया-पदमत्रापि सम्बध्यते । तथाच जघन्याधिकारिणां पूर्वपादोक्तरीत्या स्वरूपयोग्यतायाः सहकारियोग्य-तायाश्च पूर्वं सिद्धौ द्वितीयपादोक्तरीत्या विषयावधारणे यथाधिकारं तत्तद्गुणकतत्तत्स्वरूपोपासनायां यज्ञादिसाहित्येन क्रियमाणायां तत्तद्गुणकं ब्रह्मस्वरूपं बोधयन्ति । उत्तममध्यमयोस्तु द्वितीयपादोक्त-ब्रह्मभावाप्तियोग्यतायाः सत्त्वात् पूर्वपादोक्तयोग्यताविरहेऽपि यथाधिकारं वरणयोगयोः सहकारेणा-वधृतब्रह्मस्वरूपयोस्तदुचितगुणकस्वरूपोपासनायां तदुचितबहिरङ्गसाधनसाहित्येन तत्तन्मार्गरीत्या क्रियमाणायां यथाधिकारं बहिर्वान्तर्वा तद्गुणकं ब्रह्मस्वरूपं बोधयन्तीति प्रकारविशेषबोधनेनो-पोद्घातः स सङ्गतिरित्यर्थः ।

एवं पादानामर्थानुक्त्वा प्रकारान्तरार्थशङ्कानिरासाय निगमयन्ति तस्मादित्यादि । यस्मादेवं साधनसम्पन्नानुपनिषदां विद्याजनकता, अन्यथा सत्सम्प्रदायेऽपि परोक्षज्ञानजनकतैव, तस्माद्धेतो-रधिकारिणो जन्मनिर्धारः प्रथमार्थः, न तु वैराग्यार्थं संसारगतिप्रदर्शनमात्रम् । एवं द्वितीयेऽप्यव-स्थाप्रदर्शनं ब्रह्मभावयोग्यत्वार्थम्, न तु वैराग्यमात्रार्थम् । गुणाद्युपसंहारप्रभृति तूपासनादिद्वारा विद्यार्थं स्फुटमेवेति उपनिषदां बोधकताप्रकारविचार एव तृतीयाध्याये प्रतिपाद्यते, अतो न तेषामसङ्गतिरित्यर्थः । एवञ्च पादेषु प्रथमार्थस्य सर्वाग्रिमोपजीव्यत्वम् । द्वितीयार्थस्य तदग्रि-मोपजीव्यत्वम् । तृतीयतुरीययोस्त्वेककार्यत्वमिति विशेषः सिध्यति ।

रश्मिः ।

रिसंपत्तिरूपः प्रथमपादार्थः । **निगमयन्तीति** । तस्मात्पर्वतो वह्निमानितिवन्निगमयन्तीत्यर्थः । एवेति । 'वेदान्तविज्ञाने'त्यादिश्रुतेरेवकारः । अन्यमतं निराकुर्वन्ति स्म **न त्विति** । **ब्रह्मभावेति** । 'आश्रमादाश्रमं गच्छेन्नान्यथा मत्सरश्चरेदि'तिवाक्यात् । **वैराग्येति** । 'ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशये'दितिवाक्याद्वैराग्यार्थमवस्थाः । **स्फुटमेवेति** । एवकारोऽस्फुटव्यवच्छेदकः । एकेति । एकस्य द्वितीयपादार्थस्य । कारणस्य कार्यत्वं यथा गुणोपसंहारे तथाङ्गविचारेऽपीति । अङ्गस्य पुरुषार्थाङ्गस्य सर्वो-

तत्र प्रथमे पादे जीवस्य ब्रह्मज्ञानौपयिकं जन्म विचार्यते । तत्र पूर्वजन्मनि निष्कामयज्ञकर्तुर्ज्ञानरहितस्य मरणे ज्ञानाभावेन यज्ञाभिव्यक्त्यभावाद् भूतसं-स्कारक एव यज्ञो जात इति, निष्कामत्वाच्च तदधिकारिदेवाधीनान्येव भूतानीति,

भाष्यप्रकाशः ।

एवं सर्वं निगमयित्वा प्रथमपादं व्याख्यातुं तदर्थमनुवदन्ति तत्रेत्यादि । तेष्वर्थेषु जीवस्य ब्रह्मज्ञानौपयिकं जन्म विचार्यते । गीतायां 'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् । तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जना' इति भगवता ब्रह्मविद एवार्चिरादिमार्गेण ब्रह्मगतेरुक्तत्वात् तदनुसारेण व्युत्पाद्यत इत्यर्थः । तत्र छान्दोग्ये पञ्चाग्निविद्यायां सिद्धमिति प्रथमं तत्तात्पर्यमाहुः तत्र पूर्वेत्यादि । सा च सप्तमे प्रपाठके गौतमप्रवाहणसंवादे 'यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ती'ति प्रश्नप्रतिवचनभूतैः 'असौ वाव लोको गौतमाग्नि'रित्यादिभिरुक्ता । 'असौ वाव लोको गौतमाग्निस्तस्यादित्य एव समिद्रश्मयो धूमोऽहरर्चिश्चन्द्रमा अङ्गारा नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्ने-तस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुतेः सोमो राजा सम्भवती'ति । द्वितीये वाक्ये पर्जन्यवाय्व-भ्रविद्युदशनिह्रादनयो विस्फुलिङ्गान्ताः, सोमो राजा होम्यः, वर्षं फलम् । तृतीये पृथिवीसंवत्सरा-काशरात्रिदिगवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गान्ताः, वर्षं होम्यम्, अन्नं फलम् । चतुर्थे पुरुषवाक्प्राणजिह्वा-चक्षुःश्रोत्राणि विस्फुलिङ्गान्ताः, अन्नं होम्यम्, रेतः फलम् । पञ्चमे योषोपस्थोपमन्त्रणयोनितदन्तः-कृत्यभिनन्दाः विस्फुलिङ्गान्ताः, रेतो होम्यम्, गर्भः फलम् । तदग्रे 'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति स उल्बावृतो गर्भो दश वा नव वा मासानन्तः शयित्वा यावद्वाथ जायते, स जातो यावदायुषं जीवति, तं प्रेतं दिष्टमितोऽग्नय एव हरन्ति, यत एवेतो यतः सम्भूतो भवती'त्यन्तम् ।

अर्थस्तु, हे गौतम, असौ वाव द्युलोक एव अग्निः, यथेहाग्निहोत्राधिकरणमाहवनीयः । तस्याग्नेर्द्युलोकाख्यस्य आदित्य एव समित् । तेन हीद्धो द्युलोको दीप्यते, अतः समिन्धनात् समित् । रश्मयो धूमस्तदुत्थितत्वात् । समिद्धे अग्नौ हि धूम उत्तिष्ठति । अहरर्चिः । प्रकाश-सामान्यादादित्यकार्यत्वाच्च । चन्द्रमा अङ्गाराः । अहःप्रशमेऽभिव्यक्तेः । अर्चिषः प्रशमे ह्यङ्गारा अभिव्यज्यन्त इति । नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गाः विप्रकीर्णत्वसामान्याच्चन्द्रमसोऽवयवा इव । तस्मिन्ने-तस्मिन् यथोक्तलक्षणेऽग्नौ देवा लोकपालाः कर्मसचिवाः श्रद्धां जुह्वति । 'श्रद्धा वा आप' इति श्रुत्यन्तरात् 'आपः पुरुषवचसो भवन्ती'ति प्रश्नवाक्यादग्रे तथैव निगमनाच्च श्रद्धाशब्देनाप

रश्मिः ।

रभावादेर्विचारः । **जन्मेति** । सर्वेषु साधनेषु सन्दिग्धं जन्मेत्यर्थः । तेन ब्राह्मदेहादिविचारं त्यक्त्वाऽपां पुरुषवचस्त्वविचार उपपत्तिरुक्ता । तदिति । जन्म । **प्रथम**मिति । सन्दिग्धत्वादिति भावः । **तात्पर्य**मिति । वाच्यार्थस्तु श्रुतिवाच्यः । **तत्र पूर्वेत्यादीति** । तत्र जन्मविचारे पूर्वेत्यादेर्हेतोर्मोक्षा-भावेन जन्म विचार्यते । **सेति** । विद्या । 'अदसस्तु विप्रकृष्ट' रूपमित्याहुः द्युलोक इति । श्रुतित्वादेवकारः । आहवनीये जुहोति । एवेति । पूर्ववत् । **समिदिति** । 'ञिइन्धी दीप्तौ' सम्पूर्वः क्विबन्तः । अग्निरत्र ब्रह्म तच्चाधोक्षजः । 'नक्षत्राणामुदयो यत' इति श्रुतेः । तस्याग्नेरप्रत्य-क्षस्यादित्यं विना कः प्रत्यक्षं संपादयेत् । 'यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामक'मिति वाक्यात् । **लोकपाला** इत्यादि । लोकपाला अग्न्यादयस्तृतीयस्य षष्ठेऽध्याये सन्ति । ते कर्मप्रधानाः । 'तदुपर्यपी'ति सूत्रे उक्ताः । **जुह्वतीति** । ददति अदन्ति च । यागानामनेकविधत्वात् । **अग्र इति** । 'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ती'ति श्रुतौ । **तथैवेति** । **इति त्वित्यस्य हेत्वर्थकस्य**

ते देवास्तत्र तत्र हुत्वा तस्य शरीरं सम्पादयन्तीति 'पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ती'ति श्रुतिः ।

भाष्यप्रकाशः ।

उच्यन्ते । ता जुह्वति । तस्या आहुतेः सोमो राजा सम्भवति । श्रद्धाशब्दवाच्यानां द्युलोकाग्नौ हुतानामपां परिणामः सोमो राजा सम्भवति । एवं हुतास्ता आपो द्युलोकस्थं चन्द्रमनुप्रविश्यापूर्यमाणपक्षे पञ्चदशकलाभिः पोषणात् तमारभन्ते । एवमग्रेऽपि । वृष्ट्युपकरणमेघाभिमानिनी देवताविशेषः पर्जन्यः । तस्मिन्नग्नौ हुतः सोमो राजा वर्षरूपेण परिणमते । तच्च वर्षं पृथिव्यग्नौ हुतमन्नरूपेण परिणमते । अन्नं च पुरुषाग्नौ हुतं रेतोरूपेण परिणमते । रेतश्च योषाग्नौ हुतं गर्भरूपेण परिणमते । तदाह 'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ती'ति । वैराग्यार्थमाह 'स उल्बावृतो गर्भ' इत्यादि । 'तं प्रेतं दिष्टमितोऽग्नय एव हरन्ती'ति । तं पूर्वोक्तं प्रेतं मृतं दिष्टं निर्दिष्टमितो मरणस्थानाद् अग्नये एवाग्न्यर्थमेव हरन्ति पुत्रा ऋत्विजो वा नयन्ति । यतोऽग्नेः सकाशादेव इत आगतः श्रद्धादिक्रमेण, यतश्च पञ्चभ्यो भूतेभ्यः सम्भूत उत्पन्नो भवतीत्येवं सामान्यतो बोध्यः ।

अतः परं तात्पर्यमुच्यते । गीतायां यज्ञः सात्त्विकादिभेदेन त्रिविध उक्तः । तत्र 'अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते । यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विक' इत्येतल्लक्षणकं निष्कामयज्ञं यः पूर्वजन्मनि कृतवान्, उपनिषदर्थनिश्चयाभावेन ज्ञानरहितश्चासीत्, तस्य पूर्वजन्मनि निष्कामयज्ञकर्तुर्ज्ञानरहितस्य मरणे ज्ञानाभावेन यज्ञाभिव्यक्त्यभावाच्च मोक्षः, कामनाभावाच्च न स्वर्लोको मुख्यतया फलम् । तथा सति साङ्गाद्वैदिककर्मणः फलावश्यंभावनियमात् फले जननीये तत् किं फलमित्याकाङ्क्षायां 'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणा'मिति गीतावाक्यात् तादृशयज्ञस्य पावनमेव फलमिति भूतसंस्कारक एव यज्ञो जात इत्येको हेतुः ।

रश्मिः ।

निगमनघटकत्वादेवकारभिन्नानुपूर्वीव्यवच्छेदकः । 'अपां पुष्पं यो वेदे'ति श्रुतेश्चन्द्रविषयायाश्चन्द्रपुष्पत्वप्रकारमाहुः **श्रद्धाशब्दे**ति । **आरभन्त** इति । षोडशी तु न संभवति कर्त्री । ध्रुवत्वात् । **आपूर्ये**ति । शुक्लपक्षे । आपूर्यते चन्द्र इत्यापूर्यमाणस्य पक्षे । तदेवाहुः **वृष्टी**त्यादिना । वृष्टेरुपकरणं मेघाभिमानिनी देवता तद्विशेषः । 'पर्जन्यो भगवानिन्द्र' इत्यत्र सिध्यति नन्दवाक्ये । **स उल्बावृतो गर्भ इत्यादी**ति । 'दशमासा'नित्यत्रात्यन्तसंयोगे द्वितीया । **पूर्वोक्त**मिति । 'तत्र प्रयाता गच्छन्ती'त्यत्र प्रयातपदेनोक्तम् । **निर्दिष्ट**मिति । परलोकं प्रति कर्मणा निर्दिष्टम् । **अग्नेः सकाशा**दिति । अन्यथा जगत्कर्तृत्वमग्नेर्भज्येत । **इत्येवे**ति । श्रौतत्वादेवकारः । **सामान्यत** इति । तात्पर्यरूपविशेषार्थं विनाभिधामात्रतः श्रुत्यर्थो बोध्य इत्यन्वयः ।

भाष्यं विवरीतुमाहुः **अतः पर**मिति । **तत्र प्रथम** इत्यादिभाष्यविचारात्परम् । अभिधाया वा परम् । विवृण्वन्ति स्म **तत्रे**त्यादिना । **मुख्यतये**ति । ज्ञानराहित्येन 'विदुषः कर्मसिद्धिः स्यात्तथा नाविदुषो भवे'दिति वाक्यान्न मुख्यतया । किं मुख्यतया फलातिरिक्तं फलमिति चेत् । न । शारीरब्राह्मणे 'अथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आत्मकाम आप्तकामो भवति, न तस्मात् प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवनीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती'ति श्रुत्युक्तं ज्ञेयमिति । **भूते**त्यादिभाष्यं विवरीतुमाहुः **तथा सती**त्यादि । विवृण्वन्ति स्म **यज्ञो दान**मिति । **चैवे**ति । तेनान्येषामप्यन्तर्भाव इति भावः । यथा 'पूयेत्यग्निरणुभि'रितिवाक्यादग्निरेणूनाम् । **तादृशे**ति । पावनजनकयज्ञस्य । एवकारेण मोक्षस्वर्लोको व्यवच्छिद्यते । **एवे**ति । स्वर्लोकव्यवच्छेदक एवेति । भाष्ये इतिशब्दस्य हेतुवाचकत्वादाहुः **एको हेतु**रिति । श्रद्धादिहोमे हेतुः ।

1. एवेति रश्मिपाठः ।

भाष्यप्रकाशः ।

निष्कामत्वादिति द्वितीयः । स न्वित्यर्थं ज्ञेयः । वैयासे दर्शने देवता विग्रहवती । अतः पुरुषप्रयत्नेनाभिव्यक्ता यागाः स्वस्य करणत्वान्मध्ये देवताप्रीतिं जनयन्ति । अतो द्रव्येण प्रीता देवता व्यापारः । अदृष्टादिकं तु न व्यापारः । दृष्टस्य सम्भवे तत्कल्पनस्यान्याय्यत्वात् । याज्ञिका हि देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागं कुर्वन्तः स्वर्गादिकं साधयन्तो दृश्यन्ते । देवता च मन्त्रार्थवादादिभ्यो विग्रहादिपञ्चकवती । तत्र 'सहस्राक्षो गोत्रभिद् वज्रबाहु'रिति विग्रहः । 'अग्निरिदं हविरजुषते'ति हविःस्वीकारः । 'अद्धीदिन्द्रप्रस्थितेमा हवींषी'ति हविर्भोजनम् । 'तृप्त एवैनमिन्द्रः प्रजया पशुभिस्तर्पयती'ति तृप्तिप्रसादौ । एवं विग्रहादिपञ्चकवत्त्वात् सेवितराजादिवद् देवताप्यन्यदीयं हविर्विधानेन गृहीत्वा किञ्चिदुपकर्तुमुचिता भवति । लोके तथोपलब्धेः । 'देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु व' इति गीतायां प्रजापतिवाक्यानुवादात् 'अग्नये जुष्टं निर्वपामि' 'यस्यै देवतायै हविर्निरुप्तं स्या'दित्यादौ तादर्थ्यार्थकचतुर्थीनिर्देशात् । देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागस्य यागत्वाच्च । अतः सैव हविर्गृहीत्वा प्रीतिद्वारा व्यापारीभवितुमर्हति । सा च चेतना नित्या यथानुरूपं फलं नियमयितुं शक्ता । तत्र यागकर्तुर्निष्कामत्वे तया किं वा उपकर्तव्यमित्यपेक्षायां कर्मसचिवत्वेन यज्ञाधिकारिणां देवानामेवेन्द्रियाधिष्ठातृत्वाल्लोकपालत्वाच्च भूतानां तदधीनत्वमित्यपरो हेतुः ।

ताभ्यां हेतुभ्यां देवास्तत्र तत्र हुत्वा संस्कृतैर्भूतैस्तच्छरीरं ब्रह्मविद्याप्राप्तियोग्यं निष्कामत्वात् सम्पादयन्तीति तत्कृतमुपकारं 'पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ती'ति श्रुतिर्वदति । शेषं तु वैराग्यार्थं वदति । अन्यथा प्रथमप्रश्नचतुष्टयप्रतिवचनैरेव वैराग्यसिद्धेस्तत्तावद्भागकथनस्य निष्प्रयोजनत्वं स्यात् । अतोऽर्चिरादिमार्गेऽधिकारिविशेषबोधन एव तात्पर्यमित्यर्थः ।

रश्मिः ।

द्वितीय इति । भाष्ये द्वितीयत्वेन प्रतीतः । द्वितीयोऽपीत्यन्तो हेतुरिति । तेन शैल्या स्वरेण च । चस्त्वर्थ इति । निष्कामत्वास्त्वित्यर्थः । तेनेह पावनशरीरसंपादने निष्कामत्वस्य हेतुत्वमावृत्त्या वक्ष्यन्ति । हेतुं व्युत्पादयन्ति स्म **स त्वि**त्यादि । निष्कामस्त्वधिकार्यन्यथासिद्ध इति स हेतुर्वक्ष्यमाणप्रकारेणेत्यन्तघटको ज्ञेयः । **पुरुषे**ति । यजमानप्रयत्नस्य स्वल्पत्वात्पुरुषशब्दो यजमानादिपरः । **करणे**ति । व्यापारवदसाधारणं कारणं करणं तत्त्वात् । अपूर्वं कार्यपर्यन्तं वर्तमानं दूषयन्ति स्म **अदृष्टे**ति । **स्वर्गादी**ति । आदिनात्मसुखम् । 'यन्न दुःखेने'ति वाक्यात् । **प्रजापतीती**ति । 'सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः । अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधु'गिति पूर्ववाक्येऽनेन यज्ञेनेत्यर्थादनेनेत्यत्रानुवादकं पदं यज्ञार्थकत्वेन वाक्यमप्यनुवादकमित्यर्थः । **अग्नय** इत्यादिसंहिता । **जुष्टम्** । 'जुषी प्रीतिसेवनयोः' । प्राग्भिः प्रीत्या सेवितम् । **निर्वपामि** । 'डुवप् बीजतन्तुसन्ताने' । निर्वापं प्रक्षेपेण बीजतन्तुसन्तानं करोमि । अतिविस्तरत्वात्त्वत्र प्रक्षेपेणेत्याद्युक्तम् । 'नानन्तोऽनन्तपारस्ये'ति वाक्यात् । **निरुप्त**मिति । 'डुवप् बीजतन्तुसन्ताने' कर्मणि क्तः । इत्यादावपीति । **कर्मसचिवे**त्यादि । पूर्ववत् । **एवे**ति । तृतीयस्य षष्ठपञ्चमयोरध्याययोरस्यार्थस्य स्पष्टत्वात् । **भूताना**मिति । पञ्चानाम् । **तदधीनत्व**मिति । इन्द्रियाधिष्ठातृदेवाधीनत्वम् । **हेतु**रिति । इतिशब्दान्तः ।

तत्र तत्रेति द्युलोकादौ हुत्वा । अत्र पूर्वोक्तं हेतुद्वयम् । आवृत्त्या त्वाहुः **निष्कामत्वा**दिति । संपादने एको हेतुः । **तत्कृत**मिति । देवकृतं निष्कामयज्ञकर्तुरुपकारम् । **शेष**मिति । 'स उल्बावृतो गर्भ' इत्यादि पूर्वमुक्तम् । पूर्वोक्तं तात्पर्यार्थं स्पष्टयन्ति स्म **अन्यथे**त्यादि । **एतावदि**ति । पञ्चम्याहुत्यन्तम् । **अर्चिरि**ति । 'अग्निर्ज्योतिरह' इति गीतावाक्येन पूर्वमुक्ते पञ्चाग्निविद्यासाधितदेहवानधिकारिविशेषबोधने ।

तत्र जीवेन्द्रियाणां होमाभावेनाशुद्धिमाशङ्क्य तेषामपि होमं वक्तुमिदमधिकरणमारभते।

न च पञ्चाहुतयो धूममार्ग एव। तत्र गमनागमनयोर्बहुविशेषश्रवणात्।

भाष्यप्रकाशः।

एवं श्रुतितात्पर्यमुक्त्वा अधिकरणप्रयोजनमाहुः **तत्र जीवे**त्यादि। तादृशे यज्ञकर्तरि जीवादिशोधिकाया आत्मविद्याया आत्मन्योपासनायाश्चाभावे देहहोमेन सम्पादितमपि तच्छरीरं ज्ञानानुपयोगाद् व्यर्थमिति होमोऽत्र शोधक इति तेषां होमाभावेनाशुद्धिमाशङ्क्य, तेषामपि होमं वक्तुं जीवस्यैतो लोकान्तरगमनावसरे संस्कृतभूतसूक्ष्मेन्द्रियसाहित्यसाधनायेदमधिकरणमारभत इत्यर्थः।

ननु नेदमधिकरणप्रयोजनम्, वैराग्यार्थं संसारगतिप्रभेददर्शनस्यैव श्रुतौ मुख्यतया प्रतीयमानत्वेन, उपसंहारे 'तस्माज्जुगुप्सेते'ति संसारजुगुप्साश्रावणेन च, ज्ञाने तादृशहोमकृतशुद्ध्यपेक्षायां मानाभावात्। वाजसनेयके 'ते वा एते आहुती हुते उत्क्रामतस्ते अन्तरिक्षमाविशतस्ते तत आवर्तेते त इमामाविश्य तर्पयित्वा पुरुषमाविशतस्ततः स्त्रियमाविश्ये'त्यादिना पुनरावृत्तेरुक्तत्वात् तस्याश्च धूमादिमार्ग एव दर्शनेनात्र तदुपयोगाभावाद् धूममार्ग एव ता आहुतय इति न तदर्थमिदमधिकरणमित्याशङ्कायामाहुः **न चे**त्यादि। स्याद्वैराग्यमात्रार्थता, यदि धूममार्ग एव पञ्चाहुतयः स्युः। न त्वेवम्। कुतः। **तत्र गमनागमनयोर्बहुविशेषश्रवणात्**। प्रश्नप्रतिलोमक्रमेण वक्तुमारब्धायां विद्यायां 'यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ती'त्यस्योत्तरत्वेन पूर्वं पञ्चाग्न्यादिप्रपञ्चनम्, तदनन्तरं 'यदतोऽधि प्रजाः प्रयन्ती'त्यस्योत्तरत्वेनार्चिरादिमार्गकथनम्, 'यथा पुनरावर्तन्त' इत्यस्योत्तरत्वेन धूमादिमार्गकथनम्, देवपितृयानयोः पथोर्व्यावृत्त्युत्तरत्वेन तयोः प्रपञ्चनम्, 'यथासौ लोको न सम्पूर्यत' इत्यस्योत्तरत्वेन 'जायस्व म्रियस्वे'ति तृतीयस्थानकथनम्। तत्र

रश्मिः।

एवेति। अन्ययोगव्यवच्छेदकः। **प्रतीके**ति। अङ्गोपासनायाः[1]। सूर्यादीन्यङ्गानि।

इत आरभ्य शङ्करभाष्यीयं पूर्वपक्षमाहुः **नन्वि**त्यादि। **एवे**ति। श्रुतित्वात्। 'आपः पुरुषवचसो भवन्ती'ति श्रुतेरेवकारः। **श्रुतावि**ति। 'स उल्बावृतो गर्भ' इत्यादौ। **मुख्यतये**त्यभिधेयतया। **ज्ञान इ**ति। ज्ञाननिमित्तम्। 'ज्ञाने पुरुषं जुहोती'त्यत्र कर्मणा समवायात्। 'निमित्तात्कर्मयोग' इति सूत्रेण सप्तमी। **उत्क्रामत** इति। आधिदैविकयादाज्यहोमाहुत्योरुत्क्रमणम्। **इमामि**ति। पृथिवीम्। अन्तरिक्षस्य पूर्वमुक्तेः। **एवे**ति। ज्ञानमार्गे 'न स पुनरावर्तत' इति श्रुतेरेवकारो ज्ञानमार्गं व्यवच्छिनत्ति। **एवे**ति। पूर्ववत्। **एवे**ति। ज्ञानमार्गव्यवच्छेदकः। तत्र **गमने**त्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म **तत्र गमने**त्यादि। **प्रश्नप्रती**ति। प्रश्नानुलोमक्रमस्तु 'श्वेतकेतुर्हारुणेयः पञ्चालानाꣳ समितिमेयाय, तꣳह प्रवाहणो जैवलिरुवाच, कुमारानु त्वाशिषत् पितेति, अनु हि भगव इति, वेत्थ यदितोऽधि प्रजाः प्रयन्तीति, न भगव इति, वेत्थ यथा पुनरावर्तन्त३ इति, न भगव इति, वेत्थ पथोर्देवयानस्य पितृयाणस्य च व्यावर्तना३ इति, न भगव इति, वेत्थ यथासौ लोको न संपूर्यत३ इति, न भगव इति, वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति, नैव भगव इती'ति। **तदनन्तर**मिति। अर्चिरादिमार्गकथनमित्यनेनान्वेति। अन्यथा प्रतिलोमक्रमे 'यथासौ लोको न पूर्यत' इत्यस्येत्यापत्तेः। **अर्चिरादी**ति। प्रयन्तीत्यस्य प्रगच्छन्तीत्यर्थादर्चिरादिमार्गकथनमुत्तरम्। 'तद्य इत्थं विदु'रित्यादिश्रुत्या कथनम्। **धूमादी**ति। 'अथ य इमे ग्राम इष्टे'त्यादिश्रुत्या कथनम्। **व्यावृत्ती**ति। तेन व्यावर्तनेतिपदस्य भावल्युडन्तत्वं बोधितम्। **तयोः पथोः प्रपञ्चनं** 'अर्चिषोऽहरह्न' इत्यादिश्रुत्या प्रपञ्चनम्। तथा 'धूमाद्रात्रि'मित्यादिश्रुत्या द्वितीयप्रपञ्चनम्। **जायस्वे**ति। 'जायस्व म्रियस्वेत्येतꣳ तृतीयꣳ स्थानम्, तेनासौ लोको न संपूर्यते, तस्माज्जुगुप्सेत' इति श्रुतेः।

1. आत्मन्योपासनाया इत्यत्र प्रतीकोपासनाया इति रश्मिपाठः श्रीहस्ताक्षरेषु सन्दिग्धत्वाद्बोध्यः।

भाष्यप्रकाशः।

अर्चिरादिमार्गोक्तगमनापेक्षया धूमादिमार्गोक्ते गमन आगमने च भूयसस्तारतम्यस्य श्रवणात्। यदि हि धूममार्ग एव ताः स्युः, तदा तादृशदुःखजनको भूयान् विशेषो न श्रूयेत। तस्य पञ्चाहुतीर्विनापि वाजसनेयके पूर्वं जीवदृशाकृतयज्ञाहुतिभ्यां तर्पणकथनोक्त्या बोधितत्वात्। तथाच पञ्चाग्निक्रमेण शरीरनिष्पादनं चेन्मुमुक्षुष्वनपेक्षितं स्यात्, तदास्मिन् प्रकरणेऽर्चिरादिमार्गं न ब्रूयात्। प्रश्नक्रमेणोत्तरकथने शिष्यबोधसौकर्यात्। अथ स्वस्योत्तरदानसौकर्यार्थं व्युत्क्रमः। तथा सत्यूर्ध्वगतिप्रश्नोत्तरं प्रत्यप्यागतैव पञ्चाग्निविद्याया उपजीव्यता। सा च होमद्वारिकैव। अत एव तदव्यवहितोत्तरमर्चिरादिमार्गेणोर्ध्वगतिव्युत्पादनम्। तस्मात् केषाञ्चिज्ज्ञानाधिकारिणामप्येतदपेक्षितमित्यधिकरणस्य तादर्थ्यमपि युक्तमेवेत्यर्थः। नन्वर्चिरादिमार्गो ह्येतद्विद्याज्ञानवतामेव, न तु तथा

रश्मिः।

श्रवणादिति। एवं हि श्रूयते 'अर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्ष आपूर्यमाणपक्षाद्यान् षडुदङ्ङेति मासाꣳस्तान्मासेभ्यः संवत्सरꣳसंवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्था इती'त्युक्तार्चिरादिमार्गैर्गमनात् 'धूमाद्रात्रिं रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद्यान्षड्दक्षिणैति मासाꣳस्तानेते संवत्सरमभिप्राप्नुवन्ति, मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति, तस्मिन्यावत्सम्पातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथैतमाकाशमाकाशाद्वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाभ्रं भवत्यभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्तेऽतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरं यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति, तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वाथैतयोः पथोर्न कतरेणचन तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ती'ति धूमादिमार्गोक्ते गमन आगमने च भूयसस्तारतम्यस्य श्रवणात्। अभ्याशो ह क्षिप्रमेवेत्यर्थः। **एवमग्रे**पि। **धूममार्ग** इति। एवकारोऽर्चिरादिमार्गव्यवच्छेदकः। तदा पञ्चाग्निविद्याऽप्रवर्तक आहुतिवैयर्थ्यसंपादको दुःखजदेहे ज्ञानजनको विशेषो 'ऽशक्योपदेशोऽनुपदेश' इति सांख्यसूत्रान्नोपदेशकश्रुतिवाक्यं श्रूयेत। अयमुपदेश उपपाद्यः मार्गभेदेन। यथा 'क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसा'मिति ज्ञानमार्गे। भक्तिमार्गे क्लेशाभावात्। **तस्ये**ति। देहस्य। आहुती इमामाविश्य देहरूपां तर्पयित्वेत्यर्थाद्बोधितत्वात्। वाजसनेयकं पूर्वमुक्तम्। **तथा चे**ति। पञ्चाग्निविद्याप्रतिलोमक्रमेण पञ्चाग्निविद्यामुक्त्वा 'यदितोऽधि प्रजाः प्रयन्ती'ति प्रश्नोत्तरत्वेनार्चिरादिमार्गकथनानन्तरं तादृशदुःखजनकभूयोविशेषश्रवणे च। **पञ्चाग्नी**ति। व्युत्क्रमेण अर्चिरादिमार्गमित्यनेनान्वेति। **अस्मिन्नि**ति। पञ्चाग्निविद्याप्रकरणे। पञ्चाग्निक्रमेणेत्याद्युक्ते हेतुमाहुः **प्रश्नक्रमेणे**ति। **उत्तरे**ति। अर्चिरादिमार्गस्याधिकार्याकाङ्क्षत्वेनान्यपञ्चाग्निविद्यायाः पूर्वत्राकर्षेणोत्तरदानमसौकर्येण भवति। आकर्षस्य दुरूहत्वात्। **ऊर्ध्वे**ति। 'यदतोऽधि प्रजाः प्रयन्ती'ति श्रुत्युक्तोर्ध्वगतेः प्रश्नोत्तरम्। **उपे**ति। आविर्भावकशक्त्याधारत्वलक्षणा। पूर्वत्वमर्थात्। **होमे**ति। एवकारेणाद्वारकहेतुत्वं व्यवच्छिद्यते। **तदव्यवे**ति। पञ्चाग्निविद्याऽव्यवहितोत्तरम्। **केषाञ्चि**दिति। अनेनासंदिग्धानां ज्ञानोत्पादकानां नात्र वार्तेति सूचितम्। **अपी**ति। अपिना वैराग्यार्थम्। एवेत्ययुक्तत्वव्यवच्छेदकः। 'तस्माज्जुगुप्सेते'त्युपसंहाराद्वैराग्यार्थं संसारगतिप्रभेददर्शनादस्य पक्षस्यायुक्तत्वं प्राप्तम्। वस्तुतस्तु उपक्रमस्यासंजातविरोधित्वात्पञ्चवैदिकप्रकारेण होमजसंसारगतिप्रभेद-

'तद् य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते, तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ती'ति तज्ज्ञानवतोपि यत्रार्चिःप्राप्तिः, तत्र तथा देवहुतानां कथं सा न स्यात्। ज्ञानार्थमेव तथोत्पत्तेः। पुनरावृत्तिः परं तुल्या।

अथवा। निष्काम एव धूममार्गः। 'योगी प्राप्य निवर्तते' इति स्मरणात्। भोगार्थमेव धूमादिलोकाः। निष्पत्तिस्तु पश्चाग्नावेव। अन्ने प्रविष्टानामन्येषामपि रेतोद्वारा योनित उत्पत्तिरिति कपूयचरणवर्णनम्।

भाष्यप्रकाशः।

निष्पादितशरीराणाम्, 'तद्य इत्थं विदु'रिति विद्यावतामेव कथनात्, अतस्तावत्तवोपजीव्यत्वम्, न तु होमद्वारकमित्यत आहुः नन्व इत्यादि। तथाच साधकोपपत्तेः प्रागुक्तत्वाद् बाधकस्याभावाच कैमुतिकेनैव तदा तत्प्राप्तिरस्तु, तद्धेतोरुक्तत्वादित्यर्थः। एवञ्च 'तद्य इत्थं विदु'रिति श्रुतावपि य इत्थं एवंप्रकारेण प्राप्तदेहास्ते विदुः ब्रह्म जानन्ति। 'ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते'। अत्रापि विदुरितिपदं देहलीदीपवदन्वेतीति गीतावाक्यस्वारस्याद् बोध्यम्। नन्वर्चिरादिमार्गस्य होमोपजीवकत्वमाहुतिस्वभावविरुद्धम्, आहुतीनामावृत्तिस्वभावत्वादित्यत आहुः पुनरित्यादि। अर्चिरादिमार्गेपि पुरुषभावपर्यन्तमावृत्तिस्तुल्या। अत आहुतिस्वभावविरोधाभावादर्चिरादिमार्गस्याप्युपजीवकत्वं युक्तमित्यर्थः।

ननु 'ते वा एते आहुती' इति श्रुतौ आहुतिभ्यामेव यज्ञशरीरान्तरनिष्पत्तिश्रावणाद् धूममार्गेपि पश्चाहुत्यङ्गीकारे न किञ्चिद् बाधकमित्याकाङ्क्षायां तस्मिन् पक्षेपि ज्ञानयोग्यदेहसम्पादकत्वं होमस्य साधयन्ति अथवेत्यादि। उक्तगीतावाक्यान्निष्कामयज्ञकर्तॄणैव धूमादिमार्गः। ब्रह्म-

रश्मिः।

दर्शनस्य कर्मत्वेन शुद्धिद्वारा ज्ञानत्वेन कार्यकारणभावात्पश्चाग्निविद्यात्वप्रसिद्धेः। ज्ञानकाण्डत्वाच्च युक्तं तादर्थ्यम्। उपसंहारस्यापि ज्ञानाङ्गवैराग्यबोधकत्वं दुक्तमेव। अतस्तादर्थ्यमित्यस्य वैराग्यार्थमित्यर्थः, न तु ज्ञानार्थमित्यर्थः। एवेति। वक्ष्यमाणश्रुतेरेवकारः। एवेति। तथा निष्पादितशरीरव्यवच्छेदक एवकारः। **तावत्तैवेति**। विदुरित्युक्तशाब्दज्ञानेन। श्रुतत्वादेवकारः। **साधकेति**। ज्ञानार्थत्वसाधकोपपत्तेः। **प्रागिति**। न च धूमेत्यादिभाष्ये तत्प्रकाशे चोक्तत्वात्। यत्रार्चिःप्राप्तिस्तत्रेत्यादिभाष्यविवरणं **कैमुतिकेनेति**। एवकारः 'तद्य इत्थं विदु'रिति श्रुतेः। **तदेति**। उत्कर्षज्ञानकाले। कैमुतिक उत्कर्षनिवेशात्। **तत्प्राप्तिः**रर्चिरादिप्राप्तिः। कैमुतिकन्यायहेतोर्द्वितीयस्योक्तत्वाद्भाष्य इत्यन्वर्थः। **जानन्तीति**। 'विदो लटो वे'तिसूत्राद्विदुरित्यस्य विवरणं जानन्तीति। वृत्तिस्तु 'वेत्तेर्लटः परस्मैपदानां णलादयो वा स्यु'रिति। **विदुरितीति**। उपासनया शुद्धे चित्ते विदुः। **गीतेति**। 'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्ल' इति पूर्वोक्तवाक्यस्वारस्यादित्यर्थः। अन्यथा गीतावाक्यीयब्रह्मवित्पदस्यास्वारस्यमेतच्छ्रुतिसमानार्थकत्वाभावेन स्यात्। ततश्च गीतावाक्यास्वारस्यं स्यादिति। **होमेति**। होमस्य कार्यत्वम्। **श्रुताविति**। उक्तवाजसनेयकश्रुतौ। **यज्ञेति**। 'पुरुषमाविशतः ततः स्त्रियमाविश्ये'ति श्रुत्यंशेन यज्ञेत्यादिः। द्वित्वश्रुत्याहुः **धूममार्ग** इति। **उक्तेति**। भाष्योक्तात्महापुरुषयोगाध्याये 'धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्। तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते' इति गीतावाक्यात्। **निष्कामेति**। 'वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्। अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्य'मित्यत्र वाक्यात्। भाष्यादेवकारः। एवेति। द्वित्वान्यसंख्याव्यवच्छेदकः।

'एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्त' इति कामनायां भिन्न एव प्रकारः। पृथगुपदेशात्।

भाष्यप्रकाशः।

गतिप्रतिबन्धकप्रारब्धभोगार्थमेव धूमादिलोकाः। 'तद्य इह रमणीयचरणा' इत्यादिनोक्ता उत्तमदेहनिष्पत्तिस्तु पञ्चाग्नावेव। तथा सति निष्कामतया इष्टापूर्ताद्युपासने धूममार्गेणेहागतस्य 'न हि कल्याणकृत् कश्चि'दित्यादिना गीतायामुक्तान्न्यायात् पुनरर्चिरादिमार्गेण ब्रह्मगतिः। सापि 'एतद्धि दुर्लभतर'मिति वाक्यादुत्तमाधिकार एवेति धूममार्गे पञ्चाहुतीनामङ्गीकारेपि निष्प्रत्यूहा ज्ञानयोग्यदेहनिष्पत्तिः। नच कपूयचरणावस्थानिरूपणविरोधः। स्वीयदुष्कर्मादिना अन्ने प्रविष्टानामन्येषां दुष्कर्मिणां जीवानामपि मैथुनादुत्पत्तिबोधनार्थं प्रासङ्गिकं तद्वर्णनम्। अतो धूममार्गेपि विलम्बाधिक्येन प्रकारभेदाद् योग्यदेहनिष्पादकत्वम्, अतस्तत्रपञ्चाहुत्यङ्गीकारपक्षेपि प्रकृतसिद्धिरित्यर्थः।

ननु बृहदारण्यके यज्ञादिना लोकजेतॄणां धूममार्गकथनात् सकाम एव धूममार्गोऽस्त्वित्यत आहुः एवं त्रयीत्यादि। पृथगुपदेशादिति। बृहदारण्यके भिन्नप्रकारेण 'एवमेवानु परिवर्तन्ते' इति गीतोक्तप्रकारेण निगमनात्। तथाच प्रकारभेदात्तस्य नैतद्बाधकत्वमित्यर्थः।

रश्मिः।

भोगार्थमित्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म **ब्रह्मगतीति**। एवेति। श्रुतेरेवकारः। **धूमादीति**। 'धूममभिसंभवन्ती'त्यादिश्रुत्युक्ताः। **निष्पत्ति**रित्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म **तद्य इहेति**। रमणीयाचरणाः। **एवेति**। श्रुतेरेवकारः। **उक्तादिति**। कल्याणकृतो दुर्गत्यभावरूपान्न्यायात्। एवेति। हीनमध्यमाधिकारव्यवच्छेदकः। एवेति। अर्चिरादिमार्गव्यवच्छेदक एवकारः। अन्न इत्यादिभाष्यं विवरीतुमाहुः **नचेति**। **स्वीयेति**। आदिना शापः। नृगस्य कृकलासता। नारदशापाद्यमलार्जुनता नलकूबरमणिग्रीवयोः। **अन्ने प्रेति**। 'अन्नात्पुरुष' इतिश्रुतेः। अन्ने सतां तत उत्पत्तिः। **रेतोद्वारेति**। 'पुंसो रेतःकणाश्रय' इति वाक्यात्। **योनित** इति। 'योनेः शरीर'मिति वक्ष्यमाणसूत्रात्। **तद्वर्णनमिति**। 'अथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वे'ति कपूयाचरणानां वर्णनम्। अभ्याशो हेति क्षिप्रार्थः। **तत्रैवेति**। एवकारोर्चिरादिमार्गव्यवच्छेदकः। **बृहदारण्यक** इति। सप्तान्नब्राह्मणे श्वेतकेतुब्राह्मणे च। 'त एते सर्व एव समाः सर्वेऽनन्ताः स यो हैतानन्तवत उपास्तेऽन्तवन्तं स लोकं जयत्यथ यो हैताननन्तानुपास्तेऽनन्तं स लोकं जयती'ति यज्ञादिना लोकजेतॄणाम्। आदिनोपासना। श्वेतकेतुब्राह्मणे तु 'अथ ये यज्ञेन दानेन तपसा लोकं जयन्ति ते धूममभिसम्भवन्ति धूमाद्रात्रि'मिति। **धूमेति**। तत्र बृहदारण्यकेऽव्यवहितोत्तरं 'स एष संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकल' इत्यादिना। षोडशकलश्चन्द्रः। संवत्सरः कालात्मा प्रजापतिः। अग्रे धूममार्गकथनम्। 'तस्य रात्रय एव पञ्चदश कलाः ध्रुवैवास्य षोडशी कला स रात्रिभिरेवा च पूर्यतेऽप चक्षीयत' इत्यादिना। शुक्लपक्षसम्बन्धिनीभिरापूर्यते पञ्चदशभिः कृष्णपक्षसम्बन्धिनीभिरपक्षीयत इत्यर्थः। ब्रह्मणो मुखे विविधानां यागानां विततत्वकथनं गीतायाम्। **सकाम इति**। कामो लोकजयस्य। एवेति। निष्कामधूममार्गव्यवच्छेदकः। **बृहदारण्यक** इति। श्वेतकेतुब्राह्मणे। छान्दोग्यीयरमणीयाचरणकपूयाचरणप्रकारान्निष्कामाद्भिन्नप्रकारेण सकामप्रकारेण एवमेवोक्तधूममार्गप्रकारेण सकामेनानु यज्ञदानतपोभिर्लोकजयाद्धेतोः सकामाः परिवर्तन्त आवर्तन्ते। **गीतेति**। भाष्योक्तगीतोक्तप्रकारेण। **निगमनादिति**। अनुर्हेतौ। तस्मादेवमेव परिवर्तन्त इत्यर्थात्। 'अनुर्हीने सहार्थे

तस्माद्योग्यशरीरनिष्पत्तये स्वयमेव गच्छति भूतसहितः, श्रद्धाहोमानन्तरं सोमभावे वा सम्बन्ध इति संशयः । भिन्नपक्षे योनौ वेति ।

तत्र श्रौतेऽर्थे श्रौतन्यायेनैव निर्णयस्योचितत्वादाहुतावपां गौणत्वापत्तेः

भाष्यप्रकाशः ।

एवं श्रुत्यर्थनिर्णयेनाधिकरणस्य तादर्थ्यं साधयित्वाधिकरणप्रयोजकसंशयाकारमाहुः तस्मादित्यादि । यस्मादस्ति ज्ञानार्थं योग्यदेहापेक्षा, तस्मात्तदर्थमेवं संशय इत्यर्थः । **सम्बन्ध** इति । भूतसम्बन्धः 'अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्षे'ति परिमाणबोधकस्मृतिः 'तमुत्क्रामन्त' मित्युत्क्रमप्रकरणे भूतोत्क्रमाश्रवणं च संशयबीजं यथायथम् । तत्र द्वितीयकोटौ पक्षद्वयम् । **श्रद्धाहोमानन्तरं सोमभावे वा, भिन्नपक्षे योनौ वेति** । पञ्चाहुतिभ्यो धूमादिमार्गेण गच्छतः सोमभावेऽपां द्रवीभावमान्द्यात् तदा वा । ततो भिन्ने सकामपक्षे पञ्चाहुत्यभावात् सकामान् यष्टॄँल्लोकाल्लोकान्तरं मन एव कर्मसहितं नयति । शारीरब्राह्मणे 'काममयं पुरुष'मुपक्रम्य, 'तदेव स तत्सहकर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य, प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोत्ययम्, तस्माल्लोकात् पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे' इति श्रुते'र्मनः कर्ममयं नृणामिन्द्रियैः पञ्चभिर्युतम्, लोकाल्लोकं प्रयात्यन्य आत्मा तदनुवर्तत' इत्येकादशस्कन्धवाक्याच्च । तस्मिन् पक्षे भूमिरूपायां योनौ वेत्यर्थः ।

पूर्वपक्षमाहुः **तत्र श्रौत** इत्यादि । प्रत्यक्षाद्यगम्ये जीवाद्युत्क्रमणरूपे श्रौतेऽर्थे श्रुत्युक्तेन

रश्मिः ।

च पश्चात्सादृश्ययोरनु । आयामे च समीपे च लक्षणादावनुक्रम' इति विश्वे 'लक्षणे'ति सूत्रे 'इत्थंभूताख्यानभागवीप्सा' आदिशब्दार्थः । प्रकृते इत्थम्भूताख्यानेऽनुः । भक्तो विष्णुमनु । विष्णोर्भक्तेश्च विषयविषयिभावोऽनुद्योत्यः । भक्तः कञ्चित्प्रकारं प्राप्त इत्यर्थः । तद्वत् अन्ये परिवर्तनप्रकारं प्राप्ता इत्यर्थः । यद्वा एवमित्येव हेतुः । पूर्वप्रकारेणेति हेतुतृतीया एवमित्यत्र । **तस्मा**दित्यत्र हेतुपञ्चमीति । निष्कामसकामरूपप्रकारभेदात्तस्य बृहदारण्यकोक्तस्य सकामप्रकारस्य नैतस्य छान्दोग्योक्तनिष्कामप्रकारस्य बाधकत्वम् । **तादर्थ्यं** ज्ञानार्थत्वम् । **अधी**ति । अधिकरणे । प्रयोजकस्येत्यस्य हेतोः संशयस्याकारम् । **द्रवी**ति । चन्द्रवैलक्षण्यदर्शनान्यथानुपपत्त्या'ऽपां पुष्पं यो वेदे'ति श्रुत्या च द्रवीभावमान्द्यात् । **तदे**त्यपां द्रवीभावमान्द्यकाले वा । भाष्यविवरणं **ततो** निष्कामाद्भिन्ने । पञ्चाहुत्यभावः छान्दोग्ये बोध्यः । प्रसङ्गादाहुर्बृहदारण्यकेपि । **सकामा**निति । बृहदारण्यके श्वेतकेतुब्राह्मणे । 'अथ ये यज्ञेन दानेन तपसा लोकं जयन्ति ते धूममभिसम्भवन्ति धूमाद्रात्रिꣳ रात्रेरपक्षीयमाणपक्षमपक्षीयमाणपक्षाद्यान्षण्मासान्दक्षिणादित्य एति मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकाच्चन्द्रं ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति तांस्तत्र देवा यथा सोमꣳ राजानमाप्यायस्वापक्षीयस्वेत्येवमेनांस्तत्र भक्षयन्ति तेषां यदा तत्पर्यवैत्यथेममेवाकाशमभिनिष्पद्यन्त आकाशाद्वायुं वायोर्वृष्टिं वृष्टेः पृथिवीं ते पृथिवीं प्राप्यान्नं भवन्ति (ते पुनः पुरुषाग्नौ हूयन्ते ततो योषाग्नौ जायन्ते लोकान् प्रत्युत्थायिनः) त एवमेवानुपरिवर्तन्त' इति श्रुतौ सकामान् । पुनरावृत्त्युक्त्या **यष्टॄ**नित्यादि । नायकोत्र नोक्तोऽत आहुः **मन एवे**ति । कर्मसहितमिति मनोविशेषणम् । 'मनः कर्ममयमि'ति वक्ष्यमाणवाक्यात् । एवकारो मनःकर्तृकनयनस्य श्रौतत्वादित्याहुः **शारीरे**ति । **मन** इति । लिङ्गान्तर्गतं मनः । पञ्चभिः कर्मेन्द्रियैः । अन्यः आत्मा । **तदन्वि**ति । मनोऽनुवर्तते । **तस्मि**न्निति । सकामपक्षे । **भूमी**ति । योनाविति बोध्यम् । भूतसम्बन्धः । वाजसनेयके 'इमामाविश्य तर्पयित्वे'ति श्रावणात् । इमां भूमिम् । एवमादिप्रतिभातीत्यन्तग्रन्थोऽत्र सम्पातापातः । इत्यक्षराण्यत्रेति प्रतिभातीत्यन्तो वा सम्पातापातः । सिद्धान्तन्यायग्रहणेन प्रतिभातीति वा । 'तस्माज्जुगुप्सेते'ति न्यायाग्रहणेन प्रतिभातीति

संस्कृतभूतानामुपस्थापकत्वाभावाच्छरीरवियोगे देवानां च तावद्विलम्बे कारणाभावाच्च श्रद्धारूपा आप एव हूयन्ते । अतो न तैः परिष्वक्तो गच्छतीत्येवं प्राप्ते, उच्यते ।

तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ॥ तस्य जीवस्य यज्ञादिकर्तुरन्तरप्रतिपत्तौ, अन्तरे मध्ये, मुख्यप्रतिपत्तेर्मोक्षलक्षणाया अर्वाग् योग्यशरीरनिष्पत्त्यर्थम् । न हि वस्तुतो यज्ञानामिदं फलं भवति । अतो

भाष्यप्रकाशः ।

कर्मसाहित्यन्यायेनैव निर्णयस्य युक्तत्वात् । भूतसाहित्ये तु तैरेव शरीरनिष्पत्त्या अबाहुतेस्तत्संस्कारकत्वेन अपामाहुतौ गुणकर्मत्वापत्तेः अदृष्टस्य दृष्टसामग्रीं विना अकिञ्चित्करतया संस्कृतभूतानामुपस्थापकस्याभावात्, यदि भूताभावे लिङ्गशरीरं वियुज्येत, तदा मनसोऽप्यभावादुत्क्रमणं विरुध्येत । स तु नास्ति । शरीरवियोगे कारणस्य कर्माभावस्याभावात् । अप्सहकारीणि भूतानि यावदुपतिष्ठन्ते, देवानां तावद्विलम्बे कारणाभावाच्च शीघ्रमेवापो योग्यशरीरनिष्पत्त्यर्थं हूयन्ते । तथा च सोमभावानन्तरं वा योनौ वा भूतसम्बन्धः, न तु रंहणावसर इत्यर्थः ।

सूत्रमुपन्यस्य सिद्धान्तं व्याकुर्वन्ति **तस्ये**त्यादि । तच्छब्दस्य जीवपरामर्शित्वे हेतुः प्रश्ननिरूपणविवरणे विषयवाक्यस्थपुरुषपदविचारे व्युत्पाद्यः । अन्तरपदं च मध्यवाचकम् । 'अन्तरमवकाशावधिपरिधानान्तर्द्धिभेदतादर्थ्ये, छिद्रात्मीयविना बहिरवसरमध्येऽन्तरात्मनि चे'ति कोशात् । प्रतिपत्ताविति सप्तमी च तादर्थ्ये । 'चर्मणि द्वीपिनं हन्ती'त्यादिवत् । शरीरनिष्पत्तेः कुतो न मुख्यफलत्वमित्यत आहुः **न ही**त्यादि । 'तमेतं वेदानुवचनेने'त्यत्र 'विविदिषन्ती'ति पदस्य ज्ञानपर्यन्तत्वसमर्थनाज्ज्ञानकर्मसमुच्चयपक्षस्य वक्तव्यत्वाच्च तथा । यज्ञानां हि मुख्यं फलं भगवत्प्रादुर्भावः सहस्रसमे प्रसिद्धः । 'ततो ह जज्ञे भुवनस्य गोपाः, हिरण्मयः शकुनिर्ब्रह्मनामे'ति श्रुतेः । पृथुप्रभृतीनां यज्ञे भगवत्प्रादुर्भावस्य पुराणेष्वपि कथनाच्च न शरीरनिष्पत्तेर्मुख्यफलत्वमत-

रश्मिः ।

वा । जीवाद्युत्क्रमणेत्यारभ्य न्यायेनेत्यन्तः पुनरनुवादको ग्रन्थः । **एवे**ति । अन्येषां बाधकत्वादिविलक्षणव्यवच्छेदक एवकारः । आहुतावित्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म **भूते**ति । **तैरेवे**ति । दृष्टानुसारेण पञ्चमहाभूतभागैः । पञ्चीकरणभाष्यसत्त्वादेवकारः । **तत्स**मिति । 'देवाः श्रद्धां जुह्वती'ति श्रुतौ होमकर्मत्वसार्थक्याय । साहित्येन गुणाधानं संस्कारः । **गुणे**ति । श्रुत्युक्तत्वादप्रयोजककर्मत्वापत्तेः । संस्कृतेत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म **अदृष्टस्ये**ति । शरीरेत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म **यदी**ति । **लिङ्गे**ति । भूतसूक्ष्मशब्दादिपञ्चघटितत्वाल्लिङ्गशरीरस्य । **आप** इति । भाष्य एवकारः भूतसूक्ष्मव्यवच्छेदकः । **तैरि**ति । भूतसूक्ष्मैरित्यर्थः । **रंहणे**ति । 'रहि गतौ' । शरीरान्तरप्रतिपत्ताविति भेदार्थकत्वेऽन्तरशब्दस्य प्रतियोगिसापेक्षत्वेन पूर्वसूत्रे शरीराभावाद्भाष्यं तद्विवृण्वन्ति स्म **अन्तरे**ति । **प्रतिपत्तावि**तीति । अन्तरे प्रतिपत्तिस्तस्यामिति विग्रहे प्रतीकोयम् । योग्यशरीरनिष्पत्त्यर्थमिति भाष्यविवरणम् । **चर्मणी**त्यादि । 'निमित्तात्कर्मयोग' इति सूत्रात् । ननु लोकं रंहतीत्यत्र लोकशरीरनिष्पत्त्योः कः सम्बन्ध इति चेत् । न । उभयोर्द्रव्यत्वेन संयोगसत्त्वात् । संयुक्तसमवायो वा । लोकसंयुक्तशरीरे निष्पत्तेः समवायात् । **ज्ञानपरी**ति । सनर्थो विवक्षित इति रामानुजमते । वेदानुवचनेन विविदिषन्ति, परं न विदन्ति । वेदनं तु विषयाधीनमित्यर्थः । **एवं** समर्थनात् । **वक्तव्ये**ति । 'सर्वापेक्षा चे'ति सूत्रे । **गोपा** इति । 'असौ वा आदित्यो गोपाः स इमाः प्रजा गोपायति तमेतं प्रजानां गोप्तारं कुरुत' इति श्रुतेः । **पुराणेष्वि**ति । श्रीभागवतादिषु । **तथे**ति ।

मुख्ये विलम्बात् प्रतिपत्तिरेषा। तस्य मुख्यफलस्य वा अन्तरे या प्रतिपत्तिस्तदर्थं वा। तत्कारणभूतैः सम्परिष्वक्त एव रंहति। मरणानन्तरमेव कर्मसमाप्तेः। सम्यग् भूतानि तदैव संस्कृतानि। प्रतिदिनसंस्कारार्थं च नैकट्यमपेक्ष्यते। अतः सम्यगेव च परिष्वक्तः। पूर्वं शरीरेण व्यवधानात्। शरीरदाहे वा तद्गतानि भूतसूक्ष्माणि

भाष्यप्रकाशः।

स्तथेत्यर्थः। ननु तच्छब्दस्य जीवपरत्वे सम्परिष्वक्तपदस्यानन्वयप्रसङ्ग इति तद्वारणाय सूत्रे 'विचार्यत' इति पदमध्याहार्यम्, तदन्तरप्रतिपत्तौ विचार आरभ्यत इति, स च गुरुभूत इत्यतो व्याख्यानान्तरमाहुः **तस्य मुख्यफलस्य** वेत्यादि। तथाच यथा 'अपः प्रणयति' 'श्रद्धा वा आप' इति विधाय, पृथिवीध्यानपूर्वकमपःप्रणयनं कार्यमिति वक्तुं 'मनसा प्रणयतीयं वै मनोऽनयैवैनाः प्रणयती'त्यत्र पूर्वमनुक्तामपि पृथिवीं बुद्धिस्थामेव इयमनयेतिपदाभ्यां श्रुतिः परामृशति। नच श्रद्धैतताभ्यां परामृश्यत इति वाच्यम्। कल्पसूत्रकृता ब्राह्मणान्तरमनुसृत्य 'पृथिवीं ध्याय'न्निति पृथिवीध्यानस्य विशेषणत्वेनोक्तत्वात्, सायणभाष्ये तथा व्याख्यानात्, अतस्तत्रेवात्रापि तच्छब्देन मुख्यं फलमेव ग्राह्यमिति बुद्धिस्थस्य मुख्यफलस्य परामर्शकं तत्पदमतस्तथेत्यर्थः।

अन्ये तु तच्छब्देन 'संज्ञामूर्तिक्लृप्ति'रिति पूर्वाध्यायान्त्यपादस्थसूत्रोक्तं देहं परामृशन्ति। **अर्थस्तु** तुल्यः।

तत्कारणभूतैरिति। ज्ञानयोग्यशरीरकारणभूतैर्भूतसूक्ष्मैः। संस्कृतानां भूतानां कारणतार्थं तत्परिष्वङ्गमुपपादयन्ति **मरणे**त्यादि। **तदै**वेति। मृताग्निहोत्रकाले। **प्रतिदिनसंस्कारार्थ**मिति। साम्परायिकविधौ तथात्वार्थम्। तथा च समुपसर्गोक्तं सम्यक्त्वं भूतविशेषणं सत् परिष्वक्तविशेषणं भवतीत्यतः सम्परिष्वक्त इत्यर्थः। अस्य क्लिष्टत्वाद् व्याख्यानान्तरमाहुः **शरीरदाहे**

रश्मिः।

मुख्ये विलम्बात् प्रतिपत्तिरेषेत्यर्थः। प्रतिपत्तिर्योग्यशरीरनिष्पत्तिः। **एना** इति। प्रणयनार्थमुपादानादेनादेशः। श्रुत्यर्थः स्पष्टो नोच्यते सर्वत्र। **ब्राह्मणे**ति। ब्राह्मणं **मनसे**त्याद्युक्तं ततोऽन्यत्। 'पृथिवीं ध्याय'न्निति ब्राह्मणान्तरम्। 'पृथिवीं ध्याय'न्निति पृथिवीध्यानपूर्वकमपःप्रणयनं कार्यमिति वक्तुमित्येवं पृथिवीध्यानस्य विशेषणत्वेनोक्तत्वात्। **तत्रे**वेति। तत्रेदंशब्देनेव। **अत्रापी**ति। सूत्रेपि। **एवे**ति। दृष्टान्तसद्भावात्। **तथे**त्यर्थ इति। तस्य मुख्यफलस्येत्यादिरित्यर्थ इत्यर्थः। मुख्यं फलं मोक्ष इत्युक्तम्।

अन्ये त्विति। शङ्कराचार्यादयस्तु। **अर्थस्त्वि**ति। सूत्रार्थः, न तु पदार्थः।

तत्कारणभूतैरितीति। बहुसम्मतत्वादेवकारः। **उपे**ति। **स्मे**ति ज्ञेयम्। **मरणेत्यादी**ति। मरणप्राक्कालव्यवच्छेदक एवकारः। कर्माभोगे मरणासम्भवाच्च। **मृते**ति। मृतोऽग्नये हूयतेऽस्मिन्। 'हु दानादनयोः'। हुयागमेति त्रन्। तस्मिन्काले। **तथात्वे**ति। प्रतिदिनसंस्कारार्थम्। दिनविरामस्य मृताग्निहोत्रेऽभावात्। यागवत्। अत इत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म **तथाचे**ति। भाष्ये तत्कारणभूतैरित्यत्र तैरित्यस्य सम्बन्धात्तत्र सहार्थकतृतीयान्तभूतसूक्ष्मपदे। सूत्रे कर्मणोऽविवक्षया ष्वञ्जेरकर्मकत्वेन कर्तरिक्तप्रत्यये चाङ्गीकृत इत्यर्थः। अतो नैकट्यापेक्षणात्सम्यक्पूर्वशरीरव्यवधानरहितः। **युक्ते**रेवकारः। **च** पुनः भूतसम्यक्त्वानन्तरम्। पुनः सम्यक्त्वे हेतुमाहुः **पूर्व**मिति। **क्लिष्टे**ति। नन्वभोमान्यथासिद्धिवारकस्य सम्यग्भूतानीति

सम्यक् तमेवासक्तानि। 'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा चे'ति। जीवपक्षे ज्ञानकर्मणी। कर्मणो हि स्वरूपभूता आपः। तत्र हेतुः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्। 'वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ती'ति प्रश्नः। 'असौ वा व लोको गौतमाग्निस्तस्यादित्य एव समि'दित्यादि निरूपणम्। प्रश्ने हि पुरुषत्वं वदति, न देहमात्रम्। तज्जीवाधिष्ठितानामेव भवति। सिद्धवत्कारवचनाच्च। निरूपणेपि चन्द्रो भवतीति। तत्रापि सोमो राजा चेतनः। न ह्यन्याधिष्ठाने ह्यन्यस्य शरीरं भवेत्। तथा (वर्षा)[1] व्रेतोगर्भाश्च। अन्यथापि विनियोगसम्भवात्।

भाष्यप्रकाशः।

इत्यादि। एवं सम्परिष्वङ्गं साधयित्वा परिष्वक्तस्य होम्यत्वाय तस्य भूतासङ्गने हेतुमाहुः **त**मित्यादि। बृहदारण्यके शारीरब्राह्मणे 'अथैनमेते प्राणा अभिसमायन्ती'त्यादिना प्राणैः सहितस्य जीवस्योत्क्रमणमुक्त्वा, 'स एष ज्ञः स विज्ञानो भवति, तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा चे'त्यनेन जीवद्दशासम्बन्धिप्रमाणाप्रमाणेन्द्रियजनितं ज्ञानम्, कर्मेन्द्रियजनितं द्विविधं कर्म, मरणाव्यवहितकालीना 'यं यं वापि स्मरन् भाव'मित्याद्युक्ता पूर्वबुद्धिश्च तदीयदेहारम्भकारणत्वेन श्राव्यत इति जीवस्य होम्यत्वपक्षे ज्ञानकर्मणी आसङ्गिके। तथाच भूतपरिष्वक्त एव होम्य इत्यर्थः। अबाहुतेर्गौणत्वं वारयन्ति **कर्मण** इत्यादि। **हि** यतो हेतोर्द्रव्यरूपत्वात् कर्मणः स्वरूपभूता आपः। तथाचात्रापां होम्यद्रव्यत्वेनोक्ततया कर्मस्वरूपे प्रवेशेन केवलं संस्कार्यत्वेनाप्रवेशादत्राबाहुतेर्गौणत्वमित्यर्थः। अत्र प्रमाणं वदतीत्याहुः **तत्र** हेतुरित्यादि। अब्भोमकाले तासु जीवाधिष्ठानं व्युत्पादयन्ति प्रश्ने हीत्यादि सम्भवादित्यन्तम्। तथाच छान्दोग्ये 'प्राणो हि पिता प्राणो माते'त्यत्र प्राणविशिष्ट एव मातृपित्रादिशब्दप्रवृत्तिव्युत्पादनात् तस्य न्यायस्य पुरुषपदेऽपि तुल्यत्वात् पुरुषत्वं जीवाधिष्ठितानामेव भवति। 'पुरुषा चात्ममानवा'विति कोशेऽपि मानवपदेन शरीरविशिष्ट एव पुरुषपदशक्तिग्राहणेनात्र तस्य सिद्धवदुक्त्या च प्रश्ने सपरिकरजीवलाभात्। निरूपणे चाङ्गारतया चन्द्रमसः पूर्वं सत्तामुक्त्वा आहुत्यनन्तरं 'सोमो राजा सम्भवती'त्यब्भोमसम्भूतकलावृद्धिकृतराजत्वकथनतः प्रजारूपचेतनसाहित्यसूचनेन तेषां चन्द्रसायुज्याङ्गीकारेऽपि यदा

रश्मिः।

भाष्यस्याक्लिष्टत्वेनास्याक्लिष्टत्वात्कुतो नाक्लिष्टत्वमिति चेत्। न। अब्भोमश्रुतेः कालनिश्वासत्वेन गौणतयाप्युपपत्तेः। 'यजमानः प्रस्तर' इति श्रुतिवत्। अतः क्लिष्टत्वादित्यर्थः। **व्याख्ये**ति। कर्मणि क्तप्रत्ययबोधकम्। तथा च कर्तरिक्तप्रत्ययेपि क्लिष्टत्वं बोध्यम्। **शरीरदाह** इत्यादीनि। **तमे**वेति। एवकारोऽत्राकाशादिव्यवच्छेदकः। नात्राकाशादिधर्माः शब्दादीनि भूतसूक्ष्माणि। **होम्यत्वे**ति। अब्भोमे प्राणाधारकजीवस्य होम्यत्वपक्षे। **द्रव्ये**ति। 'करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसङ्ग्रहः' इति वाक्यात्करणे निवेशेन द्रव्यरूपत्वात्। **प्राणे**ति। प्राणविशिष्ट इति सप्तम्यन्तम्। **तज्जीवे**त्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म **तस्ये**ति। स्वार्थे कारप्रत्ययान्तसिद्धवत्कारेत्यादिहेतुभाष्यं विवरीतुं हेतुमाहुः **पुरुषौ** चेति। **अत्रे**ति। 'पुरुषवचसो भवन्ती'त्यत्र तस्य पुरुषपदस्योक्तप्रमाणसिद्धविशिष्टपुरुषस्यैवोक्त्येत्यर्थः। **निरूपण** इत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म **निरूपण** इति। 'अपां पुष्पं यो वेदे'ति चन्द्रविषयिण्या श्रुत्याहुः **अब्भोमे**ति। तसिल् भाष्यीयेतिशब्दस्थले। तथापीति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **प्रजारूपे**ति। 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्ये'ति श्रुतेरपां पुष्पं चन्द्रश्चेतनः। **सूचनेने**ति। सम्भवतीत्यस्य सम्भवानु-

१ वर्षाव्रेतोगर्भाश्चेति रश्मिपाठ आदर्शेषु क्वाप्यदर्शनाभात्र रक्षित इति। २ प्रतिपादयन्तीति पाठः।

जीवसाहित्येऽप्यपामेव मुख्यत्वम् । शरीरवत् । अयं होमस्तत्र तथा तं जनयन्तीति न दुःखहेतुः ।

भाष्यप्रकाशः ।

द्वितीयाद्याहुत्या वृष्ट्यादिरूपता, तदा अन्याधिष्ठानादन्यदीयदेहासम्भवेन, वर्षस्योपरपातेऽन्नस्य मांसादिभावे रेतसो वृथापाते गर्भस्य स्रावादौ च पुरुषभावाभावेन, तैः फलोपहितैः सर्वैरपि सपरिकरजीवस्यैव होम्यत्वेन लाभादेव उत्क्रमणे संस्कृतभूतैः सम्परिष्वक्त एव रंहतीत्यर्थः । एवमत्र श्रौतन्यायदर्शनेन सम्परिष्वङ्गस्याप्यौचित्यं साधितम् ।

ननु यद्युत्क्रमणमारभ्य जीवसाहित्यम्, तदा अपामेव कुतो होम्यत्वमुक्तमित्यत आहुः **जीवे**त्यादि । यथा वाजसनेयिनां षष्ठेऽग्नावग्नौ पुरुषस्य होम्यत्वे शरीरस्य मुख्यत्वम्, तद्वदत्र प्रथमहोमेऽपां मुख्यत्वम्, अतस्तासामेव होम्यत्वोक्तिरित्यर्थः । ननु तथापि दुःखहेतुत्वादेवं होमस्यापि वैराग्यहेतुत्वमेव वक्तव्यमित्यत आहुः **अय**मित्यादि । अयं देवैः कृतो होमः षष्ठे पर्याये ब्रह्मलोकगमनयोग्यं भास्वरवर्णं पुरुषं देवा जनयन्तीति, सात्त्विकसुखवत् परिणामसुखदत्वादनभिमानतयैव तत्र स्थितेश्च न दुःखहेतुः, अतो नास्योपाख्यानस्य वैराग्यमात्रहेतुत्वमित्यर्थः । नच जीवस्य चिद्रूपत्वात् प्राणानां च देवरूपत्वेनाशुद्ध्यभावाच्च होमार्हत्वमिति शङ्क्यम् । तैत्तिरीयोपनिषदि विरजाहोमे प्राणवृत्तीरारभ्यात्मान्तरात्मपरमात्मपर्यन्तं शोध्यत्वश्रावणात् । नच परमात्मनोऽन्तर्यामिणः किं शोधनीयमिति शङ्क्यम् । प्रेरणस्यैव शोध्यत्वात् । अन्यथा असत्कार्येऽपि प्रेरयेत् । इदं च तृतीयस्कन्धे विदुरवाक्ये 'हृदि स्थितो यच्छति भक्तिपूत' इत्यत्र सुबोधिन्यां व्याख्यातम् । अतो न शङ्कालेशः । नच तर्हि विरजाहोमादेव शुद्धिरस्तु, किं पुनराहुत्येति शङ्क्यम् । तत्र

रश्मिः ।

कूलो व्यापारो वाच्योर्थः । प्रजया रूप्यते यश्चेतनस्तत्साहित्यं सूचितार्थः । **नहीत्यादि**भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **तेषा**मिति । हुतावंशानाम् । **वृष्ट्यादी**ति । चन्द्रस्य तथा । **अन्ये**ति । अन्याधिष्ठाने सति अन्याधिष्ठानाच्चन्द्राधिष्ठानादन्यस्य जीवस्य शरीरं न हि भवेत् । तस्य विवरणं **अन्यदीये**त्यादि । जीवीयदेहासम्भवेन । तथा वर्षेत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म **वर्षस्ये**ति । **स्रावादा**विति । आदिना पातः । तथा वर्षान्नरेतोगर्भाश्च पुरुषा न भवेयुरिति भाष्यार्थः । तैः पूर्वोक्तैः फलं पुरुषत्वं तदुपहितैर्विशिष्टैः । **सपरी**ति । परिकरत्वं ज्ञानौपयिकदेहकारणत्वम् । **एवे**ति । सर्वसम्मत्यैवकारः । प्रश्नश्रुतिविरोधाद्वा । अत्र पूर्वो लाभान्तो हेतुरुत्तरोपि । तत्रोत्तरहेतौ निरूपणादिवाक्येष्वन्ते इतिशब्दं योजयित्वा इतिहेतुनेति व्याख्येयम् । तानि प्रकाशे तृतीयान्तैर्वाक्यैर्विवृतानि । एतैर्हेतुभिरन्यथाप्यपुरुषत्वेनापि विनियोगसम्भवादित्यन्यथेत्यादिभाष्यार्थः । अत इत उत्क्रमण इत्यादिरिति भाष्यप्रकाशार्थः । **एव**मिति । प्रश्ननिरूपणं श्रौतन्यायः । अपिना जीवसत्ता । **षष्ठेऽग्ना**विति । 'तस्याग्निरेवाग्नि'रित्यादिनोक्ते । **अपा**मिति । भविष्यच्छरीरयोग्यानाम् । **एवे**ति । पञ्चाग्निश्रुतेरेवकारः । पञ्चाग्निर्बृहदारण्यके श्वेतकेतुब्राह्मणेप्यस्ति । **एवे**ति । ज्ञानयोग्यदेहहेतुत्वव्यवच्छेदकः । **सात्त्विके**ति । 'यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपम'मिति वाक्यात् । **अनभी**ति । मृतस्य भयनाम्नोऽनुवर्तनात्तथा । अभिमानस्याश्रुतत्वादेवकारः । **देवे**ति । तृतीयस्कन्धे स्पष्टम् । **प्राणवृत्ती**ति । 'अपानं मे शुध्यन्तां ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयास ँ स्वाहे'त्येवमादिश्रुतिभिरारभ्य 'आत्मा मे शुध्यन्तां ज्योतिरहं० परमात्मा मे शुध्यन्तां ज्योति० स्वाहे'त्येवम् । **प्रेरणे**ति । तत्कर्तृकप्रेरणस्य । **एवे**ति । अन्यव्यवच्छेदकः । पूर्वपक्षदोषोद्धारं तच्छब्दार्थीयत्वेनाहुः **होम**

तस्मात् प्रश्ननिरूपणान्यथानुपपत्त्या सम्परिष्वक्त एव संस्कृतैर्भूतै रंहतीति सिद्धम् १

त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात् ॥ २ ॥

ननु कथं भूतसंस्कारमात्रत्वमवगम्यते, यावता प्रश्ननिरूपणाभ्यामाप एवावगम्यन्ते । नच तावन्मात्रसंस्कारकत्वम् । नियामकाभावात् । 'अस्थि चैव तेन मांसं च यजमानः संस्कुरुत' इति विरोधश्चेति शङ्कां निराकरोति तुशब्दः ।

भाष्यप्रकाशः ।

'विरजा विपाप्मे'ति पदाभ्यां रजस्तमोनिवृत्तिरेवाशासिता, न तु सत्त्वस्यापीति सत्त्वस्यापि निवृत्त्यर्थं तस्या आवश्यकत्वादिति । सिद्धमाहुः **तस्मा**दित्यादि । होमे अपां गौणत्वस्य परिहृतत्वात्, श्रौतन्यायस्योपदर्शितत्वात्, होमप्रयोजकानां पूर्वजन्मीनानां निष्कामकर्मणामेव संस्कृतसूक्ष्मभूतोपस्थापकत्वात्, अभ्रहोमस्य द्युलोकाग्न्याद्युक्तत्वेन तत्फलस्य सोमराजात्मकत्वेन च स्थूलशरीरारम्भकस्थूलभूतसंस्कारकतया, तत्प्रयोजकलिङ्गशरीरसापेक्षत्वात्तदनागमने प्रश्ननिरूपणानुपपत्त्या, तदागमनस्यैव देवविलम्बे कारणत्वात् संस्कृतैर्भूतैः सम्परिष्वक्त एव रंहति, न तु होमानन्तरं भूतसम्बन्ध इति सिद्धमित्यर्थः ॥ १ ॥

त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात् ॥ २ ॥ अत्रैव किञ्चिदाशङ्क्य परिहरतीत्याशयेन तुशब्दं व्याकुर्वन्ति **नन्वि**त्यादि । **यावते**ति । यतः । **अवगम्यन्त** इति । होम्यतया संस्कार्यत्वेन ज्ञायन्ते । **तावन्मात्रसंस्कारकत्व**मिति । देवानां सर्वभूतसंस्कारकत्वम् । मात्रं कार्त्स्न्ये । तथाचोपलक्षणतया भूतान्तरावगमाङ्गीकारे नियामकाभावात्, 'अस्थी'त्यादितात्पर्यश्रुत्यन्तरे स्थूलभूतरूपास्थ्यादिसंस्कारस्य पूर्वमेव सिद्धतया तद्विरोधाच्च, जलमात्रसंस्कार एवात्राङ्गीकार्य इत्याशङ्कामित्यर्थः ।

रश्मिः ।

इत्यादिना । **परी**ति । जीवसाहित्य इत्यादिभाष्येण परिहृतत्वात् । **उपे**ति । प्रश्ने हीत्यादिसम्भवादित्यन्तेन भाष्येण तथा । **होमप्रे**ति । सिद्धान्तायारब्धभाष्येण । एवकारार्थस्तु भाष्यव्याख्यानावसर उक्तः । न हीत्यादिभाष्येणोक्तदेवविलम्बे कारणं लिङ्गशरीरागमनं वक्तुं प्रश्ननिरूपणान्यथेत्यादिभाष्यं विवरीतुमाहुः **अभ्रहोमस्ये**ति । **तत्प्रयोजके**ति । स्थूलभूतप्रयोजकेत्यर्थः । **तदने**ति । लिङ्गशरीरानागमने । प्रश्ननिरूपणयोः पुरुषपदघटितत्वादन्यथा लिङ्गागमनकल्पनं विनानुपपत्तिस्तया । अनुपपत्तिस्तु अर्थान्तरकल्पनया समाधेयत्वेनोच्यमानप्रमाणसिद्धयोरर्थयोर्द्वयोरर्थयोः परस्परप्रतिघातः । **तदागमने**ति । लिङ्गागमनस्य । एवकारः स्थूलभूतसंस्कारकाभ्रहोमस्य चन्द्रद्वारकस्य व्यवच्छेदकः । उपस्थितत्वात् । अग्रिमभाष्यं विवृण्वन्तोऽन्यथानुपपत्तिकार्यभूताया अर्थापत्तेरन्यथानुपपत्तिसमाधानायार्थान्तरकल्पनरूपायार्थान्तरगतार्थान्तरमाहुः **संस्कृतैर्भूतै**रिति । इमान्युक्तप्रतिघातसमाधायकानि । विवृण्वन्ति स्म **सम्परी**ति । एवकारो बहुसंमत्या ॥ १ ॥

त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात् ॥ २ ॥ **नन्वित्यादी**ति । **अवगम्यत** इति । अपामवगम्यते । **यावते**त्यव्ययं हेतावित्याहुः **यत** इति । पूर्वपक्षिमतत्वान्निरूपणग्रहणम् । सिद्धान्ते निरूपणे उत्तरे केवलापामवगमनं नास्तीति । सूत्रव्याख्यानयोरज्ञानादेवकारः । **सर्वभूते**ति । अभ्रहोमद्वारा । **श्रुती**ति । 'तं विद्याकर्मणी'ति पूर्वसूत्रभाष्योक्ता श्रुतिरतोऽन्या श्रुति'रस्थि चैवे'तिश्रुत्यन्तरं तस्मिन् । **पूर्वमेवे**ति । विचारात्पूर्वमेव । प्रसिद्धेरेवकारः । चकारार्थमन्यमप्याहुः **जले**ति । एवकारो भूतसंस्कारव्यवच्छेदकः ।

अपामेव ग्रहणेन तेजोऽन्नानि गृहीतानि ज्ञातव्यानि । कुतः । त्र्यात्मकत्वात् । लोकादिनिर्माणानन्तरभावित्वात् ता आपस्त्रिवृत्कृता एव । अतस्त्रयोपि गृहीता अपां ग्रहणेन । उपलक्षणत्वेऽप्यपामेव ग्रहणे हेत्वन्तरमाह भूयस्त्वात् । शुद्धत्वात् विशेषाभावान्मध्यभावाच्च । दीक्षिततुल्यत्वेन भारूपत्वेनाग्रे वक्तव्यत्वात् । शुद्धापामेवेदं शरीरम् । बहुहेतुकत्वमेव भूयस्त्वम् । बहुधा परिणामाच्च । द्रव्यभूयस्करत्वं च । तस्मान्नियामकानां भूयस्त्वादपामेव ग्रहणम् ॥ २ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

सिद्धान्तं व्याकुर्वन्ति अपामित्यादि । हेत्वन्तरप्रयोजनमाहुः उपलक्षणत्व इति । त्रिषु तुल्य इति शेषः । भूयस्त्वादित्यस्य नियामकभूयस्त्वमर्थ इति तानि व्याकुर्वन्ति शुद्धत्वादित्यादि । 'आपः स्वभावतो मेध्या' इति स्मृत्याऽपां स्वभावतः शुद्धत्वात् प्राणाप्यायकतया सर्वपोषकत्वस्य साम्येन विशेषाभावात्, रसमयतया तेजोऽन्नयोः सङ्ग्राहकत्वेन तदुभयमध्यभावाच्च अग्रे बृहदारण्यकोक्ते षष्ठ पर्याये भास्वरवर्णपुरुषतायां दीक्षिततुल्यत्वेन अब्जनकभारूपत्वेन वक्तव्यत्वादिदं प्रस्तुतं शरीरं शुद्धापामेव शुद्धाप्प्रधानमेवेत्येकं नियामकम् । किञ्च । पयःसोमादिरूपबहुहेतुकत्वमपि भूयस्त्वम् । एवकारोऽप्यर्थे । किञ्च । वृष्ट्यन्नरेतःशोणितरूपेण बहुधा परिणामादपि भूयस्त्वम् । तथा द्रव्यभूयोवरेण द्रव्यभूयस्करत्वादपि भूयस्त्वम् । तस्माद्धेतोर्नियामकानां भूयस्त्वादपामेव ग्रहणम्, न तु भूतान्तरनिवृत्त्यर्थम् । नच श्रुत्यन्तरविरोधः । अस्थिमांसयोः स्थूलदेहनिवृत्तावेव निवृत्तत्वात् । अतोऽग्रिमदेहार्थं सर्वसंस्कार एव युक्त इत्यर्थः ॥ २ ॥

रश्मिः ।

अपामित्यादीति । एवकारेणान्नतेजसी व्यवच्छिद्येते । त्रिग्रहणे गौरवमिति भावः । तर्हि न्यूनताख्यनिग्रहस्थानापत्तिरत आहुः तेजोऽन्नानीति । उपलक्षणेनेति भावः । त्र्यात्मकत्वादिति । अपाम् । ताश्चात्रिवृत्कृतास्त्रिवृत्कृताश्च । तयोरत्र ब्रह्माण्डनिष्ठास्त्रिवृत्कृता गृह्यन्त इत्याहुः लोकादीति । आदिना पुरुषः लोकानन्तरं भवनात् । छान्दोग्ये 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्या'दित्यादिश्रुतेः । एतत्कण्डिकानन्तरं द्वितीयकण्डिका 'सदेव सोम्ये'त्यादिः । तत्र त्रिवृत्करणम् । तत्र त्रिवृत्करणं ब्रह्माण्डीयं पौरुषं चेत्यापः त्रिवृत्कृता एव । लोकत्रयात्मकब्रह्माण्डनिर्माणानन्तरं पुरुषनिर्माणानन्तरं च भवन्तीति । लोकादिनिर्माणानन्तरभावित्वादिति हेतुः । 'हन्तेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति, तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणी'ति श्रुतिः विराड्विषया । पुरुषविषया तु 'यथा खलु सोम्येमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीही'ति 'अन्नमशितं त्रेधा विधीयत' इत्यादिश्च । एवकारस्तु लोकादि द्युलोकादे । आदिना पर्जन्य-पृथिवी-पुरुष-योषा ग्राह्याः । तदनन्तरमापस्त्रिवृत्कृता इति । अत इति । लाघवादुपलक्षणात् त्रयोपि ब्रह्माण्डीयाख्योप्यर्था गृहीताः । तुल्य इति । सप्तम्यन्तम् । भाष्ये एवकारोऽन्नतेजसोर्व्यवच्छेदकः । इत्यस्येति । शब्दस्य । नियामकं प्रवर्तकम् । तानीति । भूयस्त्वमपां कार्यमलोष्टावपां कार्याणि तानीत्यर्थः । तत्र 'क्लेदनं पिण्डनं तृप्तिः प्राणनाप्यायनोदनम् । तापापनोदो भूयस्त्वमम्भसो वृत्तयस्त्विमा' इति वाक्योक्तं प्राणनं जीवनं कार्यम् । तदाहुः आप इत्यादिना । आप्याय आप्यायनं प्राणसन्तर्पणम् । तत्कार्यमाहुः प्राणाप्यायकेति । क्लेदनमपां कार्यमाहुः रसमयेति । क्लेदनमार्द्रीकरणमन्नतेजसोः । पिण्डनं च । तच्च संग्रहः चूर्णीभूतानां पिण्डतासंपादनम् । तदुभयेति । तेजोऽन्नानीति भाष्ये तदुभयमध्यभावः । छान्दोग्ये चायं मध्यभावः । तृप्तितापापनोदावपां कार्ये आहुः अग्र इति । दीक्षिततुल्यत्वेन विद्यात्वाद्दीक्षितः दीक्षामितः । दीयन्ते इन्द्रियाणि क्षीयन्ते पापानीति दीक्षा । क्षत्रियविद्यात्वेन तुल्यशब्दः । ब्राह्मणदीक्षिततुल्यः क्षत्रियदीक्षितः । पूर्वानुवाके क्षत्रियविद्यात्वम् । दीक्षितस्य क्षुधादिनिवृत्त्या सन्तर्पणम् । तद्वद्देहस्यापां कार्यम् । तापापनोदमाहुः अब्जनकेति । 'ते य एवमेतद्विदु'रित्यादिना । पुनरावृत्तिपर्यन्तार्थोक्तेर्ब्रह्मरूपस्याब्जनकभारूपत्वं तेन । ब्रह्मभूतस्य तापापनोदोऽप्सत्तारूपाब्देहेन । शुद्धापामित्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म इदं प्रस्तुतमित्यादि । शुद्धापां संस्कारकापाम् । शुद्धानां भूतानामपामिति वा । तदाहुः शुद्धाविति । एवकारो बहुसंमत्या । नियामकमिति । कार्येषूपलक्षणत्वेऽप्यपामेव ग्रहणे । बहित्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति किञ्चेति । भूयस्त्वं कार्यमपामत्र । पयःसोमादिपदेन सान्नाय्यौषधिविधे । सान्नाय्यं पयः । आदिना वेदान्तीयं भूयस्त्वम् । पयःसोमादिरूपे बहुभूयस्त्वम् । तस्य हेतुत्वमप्स्विति । स्वार्थे कः । भूयस्त्वमिति । भूयस्त्वं यद्यपि कार्यं तथापि कर्तृप्रत्ययाद्भूयस्त्वमपां धर्मः । बहुधेति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म किञ्च । वृष्टीति । नोदनं प्रेरणं कार्यमुक्तम् । तच्च प्रवाहादाविति तथा । द्रव्येतिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म तथा द्रव्येति । पृथिव्यां तथा । अयं वरः षष्ठस्कन्धे । कर्तरि प्रत्यय इति भावः । तस्मादिति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म तस्मादित्यादि । नियामकानामिति । अप्कार्याणाम् । एवकारेणान्नतेजसोर्व्यवच्छेदः क्रियते । एवेति । प्रसिद्धेः । एवेति बहुसंमत्या ॥ २ ॥

प्राणगतेश्च ॥ ३ ॥

वैदिकीं युक्तिमुक्त्वा लौकिकीमाह । प्राणस्य गतिः प्राणगतिः । 'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामती'ति प्राणाप्यायनजनकत्वादपाम् । प्राणो गच्छन् स्वाप्यायकं गृहीत्वैव गच्छति । जलौकावदन्यत्र देहसम्बन्धः । मुक्तौ न प्राणा

भाष्यप्रकाशः ।

प्राणगतेश्च ॥ ३ ॥ सूत्रप्रयोजनमाहुः वैदिकीमित्यादि । युक्तिमाहुः प्राणो गच्छन्नित्यादि । 'काममपः पिब, आपोमयः प्राणः, पिबतो न विच्छेत्स्यती'त्यत्रापां प्राणाप्यायकत्वं सिद्धम् । लोके च पथिकः स्वाप्यायकं गृहीत्वैव गच्छतीत्येषा लौकिकी युक्तिरित्यर्थः । एतेन वाङ्मनसी अपि स्वाप्यायकं गृह्णीत इत्यपि बोधितम् । तेन संस्कृतभूतसूक्ष्मोपस्थापिका दृष्टसामग्री दर्शिता । लिङ्गशरीरावियोगे कर्मसत्तारूपं कारणमपि सूचितम् । तेन देवकृतहोमे विलम्बाभावोपि साधित इति सर्वापि पूर्वपक्षयुक्तिः परिहृतेति बोध्यम् । ननु प्राणोत्क्रमणं त्वन्यत्रापि वर्तत इति, अत्रैव विशेषविचारः किमिति क्रियत इत्याकाङ्क्षायां विचारे हेतुमाहुः जलौकावदित्यादि । अन्यत्र पूर्वप्रज्ञाप्राधान्येन गमनं यत्रोच्यते, तस्यां श्रुतौ 'यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वात्मानमुपसंहरती'ति दृष्टान्तस्योक्तत्वात् तदानीमेव देहसम्बन्धः । सद्योमुक्तौ तु 'न तस्मात् प्राणा उत्क्रामन्ती'तिश्रुतेर्न

रश्मिः ।

प्राणगतेश्च ॥ ३ ॥ युक्तिमिति । अपामेव ग्रहणे युक्तिं लौकिकीं योजनाम् । 'युक्तिर्न्याये च योजने' इति विश्वात् । इत्यत्रेति । छान्दोग्ये । गृहीत्वैवेति । परीक्षित्तु राजेत्यन्यदेतत् । एतेनेति । वाङ्मनःसापेक्षगमनग्रहणेन । गृह्णीत इति । 'यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति यद्वदति तत्करोती'ति श्रुतेर्गृह्णीतः । दृष्टेति । अदृष्टभिन्नातीन्द्रियेन्द्रियदेवतारूपा होमकर्त्री । मोक्षाभावाल्लिङ्गशरीरावियोगमाहुः लिङ्गेति । तेनेति । कर्मणां प्ररोहैकस्वभावत्वेन । विलम्बेति । यतः कर्मसचिवा देवाः । अत्रैवेत्येवकारोऽन्यौपश्लेषिकाधारव्यवच्छेदकः । अन्यत्रेति । प्रकारेषु । श्रुताविति । 'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा चे'ति श्रुतौ । उक्तत्वादिति । दशमस्कन्ध उक्तत्वात् । पुराणेति । द्वितीयस्कन्धे

गच्छन्ति। क्रममुक्तावपि देहसम्बन्ध इति पौराणिकाः। देवभाव इत्यौपनिषदाः। अतो दूरे प्राणगतिरत्रैव। अतोऽपां संश्लेषो वक्तव्यः। चकारात् 'विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा चे'ति कर्मसहभावं बोधयति श्रुतिः। तस्मादद्भिः परिष्वक्तो गच्छति ॥ ३ ॥

भाष्यप्रकाशः।

प्राणा गच्छन्ति। क्रममुक्तावपि 'वैश्वानरं याति विहायसा गतः सुषुम्नया ब्रह्मपथेन शोचिषे'-त्यादिभिर्देहसम्बन्ध इति पुराणाचार्याः शुकादयः सूचयन्ति। उद्गीथब्राह्मणे तु प्राणानां देवभावस्तदुपासनयेत्यौपनिषदा आहुः। अतो दूरे प्राणगतिरत्रैवास्मिन्नेव प्रकारे। अतः सद्योमुक्तिं विहाय सर्वत्र देहसम्बन्धोऽस्तीत्यत्राप्यावश्यक इत्यपां संश्लेषो वक्तव्यः। श्रुतिश्च कर्मसहभावं बोधयतीत्यतोऽपि तथेत्येतत्प्रयोजनं विशेषविचारस्येत्यर्थः।

एतेन 'उपाधिकल्पितावच्छेदः परमात्मैव जीवः, स च सूक्ष्मदेहपरिष्वक्तो रंहति। स च कर्मोपस्थापितप्राप्यदेहविषयाया भावनाया दीर्घीभावमात्रं जलौकावदुपमीयत' इत्येकदेशिमतम्। 'स्वर्गे नरके वा यत्र फलभोगस्तत्र तादृशां भूतमात्राणां सुलभत्वमात्मनां व्यापकत्वात् करणानां चाहङ्कारिकत्वेन तथात्वात् तत्र वृत्तिलाभमात्रम्, न तु कस्यापि गमन'मिति सांख्यमतम्। 'मनसो नित्यत्वात् तदेव भोगस्थानपर्यन्तं गच्छति, इन्द्रियाणि त्वभिनवानि जायन्ते। तदात्मनस्तत्र वृत्तिलाभाद्भोग' इति काणभुजमतम्। एवमन्येषां बाह्यानां च यानि मतानि 'जीव एवोत्प्लुत्य देहाद्देहान्तरं गच्छती'ति, 'देह एवात्मा, स च नश्यतीति न कस्यापि गमन'मित्यादीनि तानि सर्वाण्येवापास्तानि ॥ ३ ॥

रश्मिः।

सूचयन्ति श्रीभागवताद्याचार्याः। दूर इति। सद्योमुक्त्यादौ तु हृदो बहिर्भगवति शरीरान्तरे च समीपा। अत इत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म अत इति। **अत्रापीति**। अत्र प्रकारे। **वक्तव्य इति**। भूतसंस्कारार्थम्। चकारादित्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म **श्रुतिरिति**। भाष्योक्ता श्रुतिः। **तथेति**। देहसम्बन्धः। किञ्च, भाष्ये तस्मादित्यस्य लौकिकयुक्तिसद्भावादित्यर्थात्तथाऽद्भिः परिष्वक्तो गच्छति। **एतेनेति**। अणोरुत्क्रमणसाधनेन। एवकारोऽन्यव्यवच्छेदकः। **रंहतीति**। अन्तःकरणावच्छिन्नो जीवो भवतीत्यन्तःकरणावच्छिन्नत्वं स्वरूपसम्बन्धविशेषो रंहति। **भावनाया इति**। 'तं विद्याकर्मणी' इति श्रुत्युक्तप्रज्ञायाः। ज्ञानरूपत्वेन जीवसाम्यात्फलसाधनयोर्वैयधिकरण्याभावाय। मात्रचोक्तावच्छेदे परमात्मनोऽविकृतत्वं व्यवच्छिद्यते। **जलौकेति**। 'जलौकासदृशो बुद्धिरूपभावनादीर्घीभाव' इति वाक्यात् लक्षणत्वेन पूर्वं ज्ञातस्य ततः पदार्थस्फुरणेन स्फुरितस्य सादृश्यस्य संस्कारेण शब्दाभिव्यक्तौ दृष्टसंवादनिश्चितप्रामाण्यस्य च वाक्यस्य च सहकारेणायं दीर्घीभावपदवाच्य इत्युपमीयते। **सुलभेति**। अदृष्टवशात्। **अहमिति** सांख्ये प्रसिद्धम्। **करणानामिति**। इन्द्रियाणामाहङ्कारिकत्वेनाहङ्कारस्य मनोभेदत्वेन **तथात्वात्** सुलभत्वात्। **तत्रेति**। देहान्तरे वृत्तिलाभस्थाने। मात्रचा गमनव्यवच्छेदः। **भोग इति**। सुखदुःखसाक्षात्कारः। **जीव इति**। देहेन्द्रियसम्बन्ध आत्मेति मुण्डाः। 'बुद्धिश्चिरं समालम्ब्य तता निर्विषयाथवा। स्वरूपविषयाहंधीर्जीव इत्यभिधीयत' इति दिगम्बराः। **समेति**। विषयीकृत्वा तता। **देह** आत्मा उक्तः। द्विसम्बध्यते। देहजन्यत्वं देहत्वम्। एवकारोऽतियुक्त्या। **तानीति**। मतानि। **एवेति**। स्वस्य परमार्थादेवकारः। **अपेति**। गौणगमनापत्त्या तथा ॥ ३ ॥

अभ्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात् ॥ ४ ॥

श्रुतिविरोधं परिहरति। परस्परविरोधे व्यवस्था वा बोध्यते। ननु 'यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति, वातं प्राण' इत्यादिना अग्न्यादिगतिः प्राणानां श्रूयते। नच 'ओषधीर्लोमानि वनस्पतीन् केशा' इत्यत्र प्रत्यक्षविरोधात् बाधितविषयेयं श्रुतिरिति वाच्यम्। आध्यात्मिकेन्द्रियमध्यपाताल्लोमकेशा अप्याध्यात्मिका एव ग्राह्याः। यैः कण्डूलावण्यप्रतीतिः। दृश्यमानानि तु गोलकस्थानानि। तस्मात् प्राणोत्क्रमणश्रुतिरग्न्यादिभावश्रुत्या बाध्यत इति चेत्। न। भाक्तत्वात्। प्रकरणव्यतिरेकेणामुक्तविषये प्रवृत्ता भाक्ता भवति।

भाष्यप्रकाशः।

अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात् ॥ ४ ॥ सूत्रप्रयोजनमाहुः श्रुतीत्यादि। पक्षद्वयमपि सिद्धान्तविवरणे व्युत्पाद्यम्। पूर्वपक्षांशं व्याकुर्वन्ति नन्वित्यादि। विषयश्रुतिस्तु बृहदारण्यक आर्तभागब्राह्मणस्था। एकदेशिभिः प्रतिपादितमस्याः श्रुतेर्भाक्तत्वं निषेधन्ति नचेत्यादि। लोमकेशयोरनप्ययवतोरप्ययकथनेन बाधितविषयत्वात् सा श्रुतिर्मरणसमय इन्द्रियाधिष्ठातृक्रियमाणोपकाराभावात् कार्यमकुर्वदिन्द्रियजातमपीतमिव भवतीति गौण्या बोधयन्ती भाक्तेत्याहुस्तन्नेत्यर्थः। निषेधे हेतुमाहुः आध्यात्मिकेत्यादि। तथाच प्रायपाठबलाल्लोमादीनामाध्यात्मिकत्वे निश्चिते दृश्यमानानां लोमादीनां गोलकान्तरवत् स्थितावपि श्रुतेर्बाधितविषयत्वाभावान्न तया रीत्या भाक्तत्वमित्यर्थः। हेतुं विवृण्वन्तो विवक्षितं भाक्तत्वं स्फुटीकुर्वन्ति प्रकरणेत्यादि। उक्तश्रुतौ मरणावस्था सिद्धवदनूद्यते। सा च मुक्तामुक्तयोस्तुल्या। तत्र मुक्तस्येन्द्रियाणां 'अत्रैव समवनीयन्त'

रश्मिः।

अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात् ॥ ४ ॥ **विषयेति**। 'यत्रास्य पुरुषस्ये'त्यादिः। विषयशब्दप्रयोगस्तु प्राणोत्क्रमणश्रुतिं विधिमुखेन विचार्य निषेधमुखेन विचारयन्तीति। **एकदेशिभिरिति**। शङ्कराचार्यादिभिः। **अनप्ययेति**। कृष्णाजिनं ब्रह्मेति संहितायाः। 'मृता वा एषा त्व'गिति तु 'न ब्रह्मविदां कश्चित्कुत्सितत्वं प्रतिभाती'ति भाष्यात्। यद्वा। प्रत्यक्षविरोधादनप्ययवतोः। **अप्ययेति**। तेन 'लोमानि औषधीरपियन्ती'तिवचनविपरिणामं कृत्वा पूर्वेणाप्येतीत्यनेनान्वयः। केशा वनस्पतीनपियन्तीति च। **बाधितेति**। बाधितो विषयोऽप्ययलक्षणो ययोस्तत्त्वात्। **अपीतमिति**। अपिगतम्। **प्रायेति**। अग्न्यादिप्रायपाठबलात्। **निश्चित इति**। उपनिषत्प्रसिद्धत्वेपि वह्न्यादीनां स्वाधिभौतिकसुखसम्बन्धाद्वागाद्याध्यात्मिकं रूपं भवतीति। **भाष्ये**। एवकारः प्रायपाठप्रामाण्यात्। **कण्डूति**। 'कण्डूः कण्ठे वृषभस्कन्धे लावण्ये केशधारण'मिति द्वादशस्कन्धे। **प्रकृते**। दृश्यमानानीत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म **दृश्येति**। लोमादीनामोषधिवनस्पतीनां विराजो लोमादीनाम्। आदिना केशाः। विराजो वनस्पतयः। तस्मादित्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म **श्रुतेर्बाधितेत्यादिना**। **न तयेति**। प्राणोत्क्रमणश्रुतिरग्न्यादिभावश्रुत्या बाध्यत इति न तया एकदेश्युक्तरीत्या भाक्तत्वमिति भाष्येण सहार्थः। गौणमुख्यन्यायेन समबलत्वाभावाद्बाध्यत इत्युक्तम्। समबलत्वे विकल्प एव। **मनुस्मृतेः**। **उक्तेति**। 'यत्रास्य पुरुषस्ये'त्यादिश्रुतौ। **सिद्धवदिति**। न त्वस्माद्धेतोर्वागमिम-

'अथ हैनं जारत्कारव आर्तभागः पप्रच्छे'त्यत्र ग्रहनिरूपणानन्तरं मृत्युं पृष्ट्वा म्रियमाणप्रश्ने, 'नामैव न जहात्यन्यज्जहाती'ति प्रतिज्ञाते, प्राणोत्क्रमणप्रश्ने, 'ने'ति प्रतिवचने, वागादीनामग्न्यादिभावानुवादः । ततो मन्त्रणाज्जीवस्य ब्रह्मभावोऽवगम्यते । सामग्र्या गतत्वात् । 'तौ ह यदूचतु'रिति कर्मप्रशंसा भिन्नप्रश्नोत्तरा ।

भाष्यप्रकाशः ।

इति श्रुतेर्ब्रह्मणि लयो वा, 'स वाचमेव प्रथमामत्यवह'दिति श्रुत्युक्तरीत्या देवभावो वा भवतीति देवभावपक्षमादाय प्रवृत्तेयं श्रुतिः प्रकरणव्यतिरेकेणामुक्तविषये त्वयोच्यत इति तत्र प्रवृत्ता अप्ययमिव बोधयन्ती भाक्ता भवतीत्येवं भाक्तत्वमित्यर्थः । एवमविरोधपक्षो विवृतः । द्वितीयं विवरीतुं विषयश्रुतेः सर्वमर्थमाहुः अथेत्यादि । मृत्युं पृष्ट्वेति । 'कास्वित् सा देवता यस्या मृत्युरन्न'मित्यनेन मृत्युविषयकं प्रश्नं कृत्वा । प्राणोत्क्रमणप्रश्ने, नेति प्रतिवचन इति । 'उदस्मात् प्राणाः क्रमन्त्याहो ने'ति प्रश्ने, तत्र च नेति प्रतिवचने । ततो 'यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्ये'त्यादिना वागादीनामग्न्यादिभावानुवादः । ततः 'क्वायं तदा पुरुषो भवती'तिप्रश्ने, 'आहर सौम्य हस्त'मित्यादिना मन्त्रणाज्जीवस्य ब्रह्मभावोऽवगम्यते । सांसारिकभोगसामग्र्या गतत्वात् । नच मन्त्रणव्याख्यानश्रुतौ कर्मप्रशंसाया उक्तत्वान्मन्त्रणस्य न जीवब्रह्मभावबोधकत्वमिति शङ्क्यम् । 'तौ होत्क्रम्य मन्त्रयाञ्चक्रतु'रित्यनेनैव समापनात् । ततः 'तौ यदूचतु'रित्यादिनोक्ता या कर्मप्रशंसा सा एतद्भिन्न-

रश्मिः ।

प्येतीति साध्यवत् । स वाचमिति । बृहदारण्यकेऽस्ति । स प्राणः । अत्यवहत् स्वस्वरूपं प्रापितवान् । तत्रेति । अमुक्तविषये प्रवृत्ताप्ययमिवाप्ययं भाक्तं बोधयन्ती भाक्तेत्यर्थः । द्वितीयमिति । परस्परेति भाष्योक्तं व्यवस्थापक्षम् । अथेत्यादीति । भाष्ये । एनमित्यादि । याज्ञवल्क्यम् । जारत्कारुगोत्रः । ऋतभागस्य पुत्रः । ग्रहेति । इन्द्रियनिरूपणानन्तरम् । 'चक्षुर्वै ग्रह' इति श्रुतेः । कास्विदित्यादि । कास्वित् तर्के । भाष्ये । म्रियमाणेति । 'यत्रायं पुरुषो म्रियत किमेनं न जहातीति, नामेती'ति श्रुतेः । शुको मुक्तो वामदेवो मुक्त इति नामव्यवहारपारम्पर्यान्नाम न जहातीत्यर्थः । प्रकृते । वागादीनामिति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म मन इति । अग्न्यादीति । नेति प्रतिवचनस्य 'नेति होवाच याज्ञवल्क्योऽत्रैव समवनीयन्ते स उच्छ्वयत्याध्मायत्याध्मातो मृतः शेत' इति रूपत्वेन तदनन्तरं 'यत्रास्य पुरुषस्ये'त्यादिश्रुतौ 'समवनीयन्त' इति पूर्वश्रुत्युक्तसमवनयनोक्ताग्न्यादिभावानुवादः । तत इति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म ततः क्वायमिति । हेतुभाष्यं विवृण्वन्ति स्म सांसारिकेति । जनसङ्घे जनसमूहे । ब्रह्मविद्येति भाष्यं विवरीतुमाहुः नचेति । तदयोग्यस्मरणेऽन्यथा । तथाच श्रुतिः 'आर्तभागेति होवाच आवामेवैतद्वेदिष्यावो नावेतत्सजन इति तौ होत्क्रम्य मन्त्रयांचक्रतु'रिति । अग्रे 'तौ ह यदूचतु'रिति भाष्ये वक्ष्यमाणा श्रुतिः । न नावित्यादेरर्थः । नौ आवयोरेतद्वस्तु सजने जनसमूहे देशे निर्णेतुं न शक्यत इतीति । मन्त्रणव्याख्यानेति । 'तौ ह यदूचतुः कर्म हैव तदूचतुरथ ह यत्प्रशशꣳसतुः कर्म हैव तत्प्रशशꣳसतुः पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेनेति ततो ह जारत्कारव आर्तभाग उपरराभेति' मन्त्रणव्याख्यानश्रुतिस्तस्याम् । न जीवेति । कर्मरूपसाधनपरत्वान्न तत्फलं जीवब्रह्मभावस्तस्य बोधकत्वमिति शङ्क्यमित्यर्थः । एवेति । अनेन फलसाधने एकीकृत्योक्तौ कर्मोक्तिरिति पक्षो व्यवच्छिद्यते । कर्म हैवेत्येवकारस्य फलव्यवच्छेदकस्य सत्त्वात् । समापनं ब्रह्मभावस्य तस्मात् । तौ हेति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म ततस्ताविति । भिन्ने प्रश्नोत्तरे । यस्याः प्रशंसाया इत्यत्र षष्ठी विषयविषयिभावसम्बन्ध इत्याशयेनाहुः एतद्भिन्नेति । उभयोरिति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म तौ

उभयोर्वचनविधानात् । ब्रह्मविद्या च गोप्या । उत्क्रमणश्रुतिस्तु 'स यत्रायꣳ शारीर आत्मे'ति ब्राह्मणे जीवस्य परलोकविहारार्थं 'निष्क्रामति चक्षुष्टो वे'त्यादिना प्राणानां विहारसाधकानां निर्गमनमाह । अतो मुक्तामुक्तविषयभेदस्य व्यवस्थापकस्य विद्यमानत्वादग्न्यादिभावश्रुतिर्नोत्क्रमणश्रुतिबाधिका । तस्मादन्यत्र सिद्धो धर्मोऽन्यत्रावस्थासाम्यात् योज्यमानो भाक्तो भवति । अतः

भाष्यप्रकाशः ।

प्रश्नोत्तरविषया । 'तौ यदूचतु'रित्युभयोर्वचनविधानात् । यदि हि मन्त्रणार्थ एव विवरणीयः स्यात्, तदा 'तौ यन्मन्त्रयाञ्चक्रतु'रित्येवमनुवदेत्, न तु 'यदूचतु'रिति । नचैवं सति सा कुतो न विवृतेति शङ्क्यम् । ब्रह्मविद्या चातिगोप्येति । अत इदमप्यन्यन्मुक्तिप्रकरणलिङ्गम् । अन्यथा एकान्तगमनमनर्थकं स्यात् । कर्मणो गोप्यत्वाभावात् । ब्रह्मरूपाया एव देवताया अनतिप्रश्न्यत्वस्याग्रे गार्गीं प्रति वक्तव्यत्वादिति । तस्मादिदं मुक्तिप्रकरणमिति सिद्धम् । उत्क्रमणश्रुतिस्त्वमुक्तविषया । अतो विषयभेदान्न बाध्यबाधकभाव इत्यर्थः । एवं द्वितीयं प्रयोजनं विवृतम् । तेन तन्मते

रश्मिः ।

यदूचतुरिति । वचनेति । ते नोचतुरित्यत्र लिङर्थे लिट् छान्दस इति बोधितम् । न तु यदिति । विशेषप्रकारकजिज्ञासायाः सामान्यवचनप्रकारकजिज्ञासाजनकत्वाभावात् । 'मत्रि गुप्तभाषणे' । 'वच परिभाषणे' इति । विशेषसामान्यभावः । यद्वा । उक्तायां 'तौ हे'त्यादिश्रुतौ मध्येऽथशब्दो देहलीदीपन्यायेनोभयत्रान्वेति । पूर्वमपि प्रश्नमूचतुः कर्मैवोचतुः । ङसः सुः । कर्मण इत्यर्थः । 'एवमुत्तरं प्रशशꣳसतुस्तत्कर्मण एवे'ति । एवकारो ब्रह्मभावव्यवच्छेदक इत्युक्तम् । तेनेति । ब्रह्मभावरूपा विद्या । मुक्तीति । ब्रह्मभावप्रकरणलिङ्गम् । एवेति कर्मव्यवच्छेदः । अग्र इति । पष्ठे ब्राह्मणे । इदमिति । 'क्वायं तदा पुरुषो भवतीत्याहर सौम्य हस्त'मित्यारभ्य 'मन्त्रयाञ्चक्रतु'रित्यन्तं ब्रह्मभावप्रकरणमित्यर्थः । उत्क्रमणेति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म उत्क्रमणेत्यादिना । अमुक्तेति । यथार्तभागब्राह्मणे 'अत्रैव समवनीयन्त' इत्युक्त्वा 'यत्रास्य पुरुषस्ये'ति श्रूयते । शारीरके तु नैवम्, अतोऽमुक्तविषया । तथा च भाष्ये 'शारीर आत्मेति ब्राह्मण' इत्युक्तया शारीरः सन् मुख्य आत्मा । गौणमुख्यन्यायात् । तदुक्तं ब्राह्मण इति । ब्रह्म जानाति ब्राह्मणम्, न तु जीवमात्रम् । तत इच्छानन्तरं ब्रह्म वक्तुं यतते । अतः 'जीवेशविभेदेन मुक्तिरेकादशे द्विधे'त्येकादशस्कन्धनिबन्धात् । स इत्यादावपरोक्ष्युच्यते छान्दोग्येऽष्टमोपदेशस्फूर्त्यै । तत्र शुद्धबुद्धमुक्तस्वभावो जीव इन्द्रियलयाधारत्वेन प्रतीयते तत्क्रमहतिकृते । स कृष्ण आश्रयः अयमिति प्रयोगात् इदमः प्रत्यक्षगे रूपात् । यत्रावतारकाले शारीरः 'अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रित'मिति वाक्यात् । स प्रसिद्धो ब्रह्मत्वेन जीवस्य नारं जीवसमूहः तदयनमिति । 'पूतनाऽसुपयःपानरक्षिताशेषबालक' इति । परलोकविहारार्थम् । 'स यदि पितृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति तेन पितृलोकेन सम्पन्नो महीयते, एवमथ यदि मातृलोककाम' इत्यादि छान्दोग्ये दहरविद्यायाम् । निष्क्रामति चक्षुष्टो वेत्यादिनेति । शारीरब्राह्मणे आत्मा व्यापक इति निष्क्रमणकर्तृत्वाभावान्न निष्क्रामतेरन्वयोऽतोऽत्र चक्षुष्ट इन्द्रः चक्षूरूपो वा निष्क्रामत्यत उक्तं 'निष्क्रामति चक्षुष्टो वेत्यादिने'ति । प्राणानां चक्षुरादीन्द्रियाणाम् । बहुवचनं 'मन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्य' इति श्रुतेः । अत इत्यादिभाष्यं संक्षिपन्ति स्म अत इत्यादि । मुक्तामुक्तविषयभेदात् । द्वितीय-

प्राणोत्क्रमणमस्ति। तस्मात् सम्परिष्वक्तो गच्छतीति सिद्धम् ॥ ४ ॥

प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः ॥ ५ ॥

किञ्चिदाशङ्क्य परिहरति। 'असौ वाव लोको गौतमाग्नि'रित्यत्र, 'देवाः श्रद्धां जुह्वती'ति श्रुतेरापो न संकीर्तिताः। अपां हि पञ्चम्यामाहुतौ पुरुषवचनम्। श्रद्धा मनोधर्मः। स कथं हूयत इति चेत्। न। मनसा सह भविष्यति। तथाप्य-रुणान्यायेन धर्ममुख्यत्वम्।

भाष्यप्रकाशः।

भाक्तत्वं साधयन्तः सिद्धमाहुः तस्मादित्यादि ॥ ४ ॥

प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः ॥५॥ सूत्रप्रयोजनमाहुः किञ्चिदित्यादि। आशङ्काभागं व्याकुर्वन्ति असावित्यादि। अत्र अपां हीत्यादिना तासामुपसंहारवाक्यगतत्वा-दुपसंहारस्य च सञ्जातविरोधत्वेन उपक्रमापेक्षया नैर्बल्यान्न निर्णायकत्वमिति बोधयति। श्रद्धा मनोधर्म इत्यादिना श्रद्धाहोमवाक्यस्यायोग्यत्वादन्यथानुपपत्त्या अप्कल्पनमाशङ्क्य, 'मनसा सह भविष्यती'त्यनेन परिहरति। 'मनसा प्रणयतीयं वै मन' इत्यत्र पुरःस्फूर्तिकतया पूर्वोक्तायाः श्रद्धाया इदमा ग्रहीतुं शक्यत्वेन तस्याश्च मनोधर्मत्वेन मनःसाहित्यस्य युक्तत्वादिति। नन्वेवं सति मनसो होम्यतया मुख्यत्वाच्छ्रद्धाया गौणत्वापत्तिरिति शङ्कां निरस्यन्ति तथापीत्यादि।

अयं न्यायः पूर्वतन्त्रे तृतीयस्य प्रथमपादेऽस्ति। तत्र ह्येवं विचारितम्। 'अरुणया पिङ्गाक्ष्यैकहायन्या सोमं क्रीणाती'ति ज्योतिष्टोमप्रकरणीयवाक्ये अरुणो गुणः क्रयसाधनं भवति, नवेति। तत्रारुणपदस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यां गुणे व्युत्पन्नत्वात् गुणस्य चामूर्ततया द्रव्यत्वराहित्येन च क्रयसाधनत्वायोगात् तत्रत्यतृतीयाश्रुतेर्विनियोजकत्वाभावेऽरुणशब्दो वाक्यात् पृथक्कृत्य प्रकरणे योजनीयः। तत्र च ग्रहचमसादयो बहवोऽर्था इत्यरुणिमा तेषु निविशते। तथा सत्यरुणयेत्यस्य अरुणगुणयुक्तं करणमित्यर्थो भवति। तत् कस्येत्याकाङ्क्षायां प्रकरणाज्ज्योतिष्टोमस्येति लभ्यते। तथाच ज्योतिष्टोमसाधनं ग्रहचमसादिकमरुणगुणयुक्तं कर्तव्यमिति तदर्थः। शेषं तु बहुव्रीहिणा

रश्मिः।

मिति। भाष्योक्तम्। तस्मादित्यादीति। अन्यत्रार्तभागब्राह्मणसिद्धोऽप्ययरूपो धर्मोऽन्यत्र शारीरब्राह्मणे मरणावस्थासाम्यात्तया योज्यमानोऽप्यय इवाप्यय इत्येवं भाक्तो भवतीत्यर्थः। अत इति। श्रुतेरबाधकत्वात्। तस्मादिति। इन्द्रियोत्क्रमणसत्त्वात्। परिष्वक्त इति। जीवः ॥ ४ ॥

प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः ॥ ५ ॥ सञ्ज्ञानेति। अप्रसिद्धेः। पार्थिवं शरीरमिति पृथ्वीमात्रप्रसिद्धेः साङ्ख्यशास्त्रे। न्याये तु वर्तते शरीरं वरुणलोक इति। अत्र तु पञ्च शास्त्राणां विषयः। अयोग्यत्वादिति। यो यस्य धर्मः स तत्र हूयत इति। श्रौतत्वादन्यथानुपपत्तिर्होमकारणत्वेन प्राप्ता तां निषेधन्ति स्म अन्यथेति। स्वाश्रयस्य मनसोऽन्यत्र सम्बन्धसत्त्वादाहुः मनसेति। परीति। स्वाश्रयद्वारा श्रद्धाया होमयोग्यत्वात्सम्बन्धान्तरं विनापीत्येवं परिहरन्ति मनोधर्मत्वेनेति। 'कामः सङ्कल्प' इति बृहदारण्यकात्। विनियोजकेति। अयमभावो विशेषणविभक्तेः साधुत्वार्थकत्वे-नाभेदार्थकत्वेन वापि बोध्यः। पृथक्कृत्येति। पूर्वपक्षे पृथक्कृत्य। विवक्षितग्रहचमसाद्यरुणिमार्थं च। ग्रहेति। ग्रह उलूखलाकारस्तस्माद्ध्रस्वतरः। चमसः पानपात्रं। दण्डविशिष्टो दीर्घचतुष्कोणः। आदिना षोडशी। प्रत्ययार्थे प्रकृत्यर्थस्य विशेषणतयान्वयमाह अरुणेति। ततो 'दध्ना जुहोती'ति-वद्गुणविधिरयमित्याह तथाचेति। तथाचाग्निहोत्रस्य 'अग्निहोत्रं जुहोती'त्यनेन प्राप्तत्वाद्भवति दधिगुण-

तर्हि कथं प्रश्नोपसंहारौ। परोक्षवादाद्भविष्यति। चमसवत्। 'श्रद्धा वा आप' इति श्रुतेः शुद्धिहेतुत्वसाम्यात्। 'चन्द्रमा मनसो जात' इति श्रुतिश्चैवंपरा भविष्यति। तस्मात् प्रथमाहुतावपामश्रवणान्न ताभिः सम्परिष्वक्तो गच्छतीति चेत्। न। ता एव आप एव श्रद्धाशब्देनोच्यन्ते। हि युक्तोऽयमर्थः। यथा

भाष्यप्रकाशः।

गोविशेषणं सत् मुखेन क्रयेऽन्वेष्यतीति पूर्वः पक्षः।

सिद्धान्तस्तु। अरुणाशब्दः स्त्रीलिङ्गतया गुणिवचनः। तथा सत्यरुणगुणः स्वयोगेन द्रव्यं व्यवच्छिन्दन् द्रव्यद्वारा मुखेन क्रये करणभावं प्राप्स्यतीति तृतीयाश्रुतेस्तद्विनियोजकत्वमपि निर्बाधम्। नच प्राधान्यहानिः। इतरव्यावर्तकत्वेन तस्यैव साधनतायां मुख्यत्वात्। एवं सति वाक्यभेदोऽपि न भविष्यति। नच यथा पिङ्गाक्ष्यादिपदे समासवृत्त्या तादृशधर्मविशिष्टगोद्रव्यबोधकत्वम्, तथारुणापदे द्रव्यबोधककृदादिप्रत्ययात्मकवृत्त्यन्तरस्याभावात् स्त्रीत्वमात्रबोधकस्य टापश्च विवक्षितगोद्रव्यपरतानन्तरभावित्वात् पूर्वं तत्परत्वाङ्गीकारे लक्षणापत्तिरिति वाच्यम्। तृतीयया बोधिते गुणस्य करणत्वे तदन्यथानुपपत्त्या द्रव्यस्य द्वारत्वं कल्प्यते। अतो घटं निश्छिद्रत्ववदर्थबलादेव तस्य द्रव्यावच्छेदकत्वसिद्धेर्लक्षणाया अत्राभावात्। तस्मात् द्रव्यावच्छेदकत्वेनारुणिम्नोऽपि करणत्वमिति। तथाच यथा तत्रारुणधर्मस्य मुख्यत्वम्, न गोः, तथात्र होमे मनसो होम्यत्वेऽपि श्रद्धाया एव मुख्यत्वम्, न मनस इत्यर्थः।

पुनरप्याशङ्कते तर्हीत्यादि। यदि श्रद्धापदेनापो न गृह्यन्ते, तदा प्रश्न उपसंहारे च या अयुक्तिः सा विरुध्येतेति तौ केन प्रकारेण सङ्गच्छेतामित्यर्थः। समाधत्ते परोक्षेत्यादि। तथाच यथा 'अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न' इत्यत्र शिरःप्रभृतिचमसादिशब्दैः परोक्षवादेन गौण्या वृत्त्योच्यते, तथात्र 'श्रद्धा वा आप' इति श्रुतेः शुद्धिहेतुत्वसाम्यादाप इति पदेन श्रद्धैवोच्यत इत्यर्थः। नन्वेवमप्पदस्य श्रद्धापरत्वे, 'श्रद्धां जुह्वति, तस्या आहुतेः सोमो राजा सम्भवती'ति श्रद्धापरिणामत्वेन सोमस्य कथनं विरुध्येतेत्याशङ्क्य तत्परिहरति चन्द्रमा इत्यादि। एवं परेति। अनुकूला। तथाच श्रद्धायां मनःसहभावात् तद्धोमेन चन्द्ररूपस्य सोमस्य तत्परिणामतायां श्रुत्यन्तरानुकूल्यान्न कश्चिद्दोष इत्यर्थः। सिद्धमाह तस्मादित्यादि।

रश्मिः।

विधिरग्निहोत्रे, तद्वद्ग्रहचमसादावरुणगुणविधिरित्यर्थः। गवीति। अरुणयेति श्रुतौ गवेति विशेष्यात्। स्त्रीलिङ्गेति। 'गुणे शुक्लादयः पुंसी'ति पुंलिङ्गं विहाय स्त्रीलिङ्गत्यादिः। द्रव्यमिति। शुक्लादिगुणयुक्ताभ्यो गोभ्योऽरुणगुणां गाम्। तद्विनीति। द्रव्यविनियोजकत्वम्। विवक्षितेत्यादि। वृत्तावजाद्यन्तस्य स्त्रीत्वे विवक्षिते टाबित्युक्तेः। लक्षणेति। अरुणगव्यभेदसम्बन्धरूपलक्षणापत्तिः। विशेष्यविशेषणयोरभेदसम्बन्धात्। द्वारत्वमिति। करणत्वस्य व्यापारनियतत्वादिति भावः। निश्छिद्रेति। षष्ठ्यन्ताद्वतिः। घटत्वमितरव्यवच्छेदकम्। निश्छिद्रत्वं सच्छिद्रघटेभ्यः। तस्येति। अरुणस्य। शुक्लादिगोभ्योऽवच्छेदकत्वसिद्धेर्गोत्वस्मरणादेवाहार्यज्ञानविषयस्त्रीत्वस्मरणाल्लक्षणां विनापि टाप्सिद्धेः। अत्रेति। अरुणापदे। तस्मादिति। द्रव्यरूपव्यापारसत्त्वात्। द्रव्येति। शुक्लादिगोद्रव्यावच्छेदकत्वेन। करणत्वमिति। क्रये करणत्वम्। श्रद्धाया एवेति। मनोव्यवच्छेदक एवकारः। चमसवदितिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म तथाचेति। अर्वागित्यादि। बृहदारण्यकेस्ति। चमसवदविशेषाधिकरणेऽर्थः स्पष्टः। श्रद्धा वा इति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म तथात्रेति। अप्पदस्येति। अप्शब्दस्य।

कर्मकाण्डे आपः श्रद्धाशब्देनोच्यन्ते, तथा प्रकृतेपि । परं नोपचारः । उपपत्तेः । उपक्रमोपसंहारयोर्बलीयस्त्वात् । नतु मध्ये श्रुतेन श्रद्धाशब्देनोपक्रमोपसंहारावन्यथाकर्तुं युक्तौ । श्रद्धासहभावः संस्कारद्वारेण संस्कृतेषु भूतेषु सिद्धः । तेन मनःस्थाने आप एव वाच्याः । 'चन्द्रमा मनसो जात' इति तु भिन्ना सृष्टिः ।

भाष्यप्रकाशः ।

सिद्धान्तमार्गं व्याचक्षते **आप एवे**त्यादि । युक्तत्वं स्फुटीकुर्वन्ति **यथे**त्यादि । **परं नोपचार** इति । वैदिके निघण्टौ श्रदिति सत्यनाम । 'श्रत् सत्यं दधाती'ति श्रद्धाशब्दस्य योगेनाप्सु प्रवृत्तिसौकर्यान्नोपचारः । तथाच 'एतद्वा अपां नामधेयं गुह्यं यदाधावा' इतिवत् 'श्रद्धा वा आप' इति श्रुतेरिदमपि योगरूढम्, योगेन वा तद्वाचकम्, अत उपचाराभावाद्युक्तत्वमित्यर्थः ।

एतेन यदन्यैस्तत्तुल्यत्वेन श्रद्धासारूप्यात् 'सिंहो देवदत्त' इतिवच्छ्रद्धापूर्वककर्मसमवायात् 'मञ्चाः क्रोशन्ती'त्यादौ पुरुषेषु मञ्चशब्दवत् 'आपो ह्यस्मै श्रद्धां संनमन्ते पुण्याय कर्मण' इत्यैतरेयश्रुत्या श्रद्धाजनकत्वात्, यथा अन्त्येष्टौ हुतस्य पुरुषस्य श्रद्धाभक्तिमतो लिङ्गदेहादिरूपो रस एव श्रद्धापदेनोच्यते, तथाप्सु श्रद्धाशब्दो गौण्या लक्षणया चोपपादितस्तन्निरस्तम् ।

अत्र विनिगमकं बोधयितुं हेतुं व्याकुर्वन्ति **उपक्रमे**त्यादि । नन्वेवं श्रद्धाशब्दस्याब्वाचकत्वे श्रद्धासहभावः परित्यक्तः स्यात्, तथा सत्यैतरेयश्रुतिविरोध इत्यत आहुः **श्रद्धासहे**त्यादि । तथाच पूर्वजन्मनि यजमाना इदानीं देवाश्च होतारो न श्रद्धाविरहिताः । 'यो वै श्रद्धामनारभ्य यज्ञेन यजते, नास्येष्टाय श्रद्दधत' इत्यादितैत्तिरीयश्रुतौ 'अश्रद्धया हुतं दत्त'मिति गीतास्मृतौ चाश्रद्धानिन्दया श्रद्धाया आवश्यकत्वबोधनात् । 'अस्कन्नहविर्भवति य एवं वेदे'ति श्रद्धापूर्वकत्वज्ञानफलबोधनाच्च नित्याग्निहोत्रहोमरूपसंस्कारद्वारेण संस्कृतेषु भूतेषु श्रद्धासहभावः प्रागेव सिद्धः । अतो नैतरेयविरोध इत्यर्थः । एवं श्रद्धापदस्याब्वाचकत्वं श्रद्धासाहित्यं च साधयित्वा पूर्वपक्षिणं प्रत्याहुः **नने**त्यादि । **नने**ति । उक्तोपपत्तित्रयेण । 'चन्द्रमा' इति श्रुतेरपि तन्मते प्रातिकूल्यं दर्शयन्ति **चन्द्रमा** इत्यादि । श्रद्धापदप्रयोगे हेतुं गृह्णन्ति **श्रद्धे**त्यादि । **विभजन्ते तत्रे**त्यादि ।

रश्मिः

आप एवेत्यादीति । एवकारः श्रद्धाव्यवच्छेदकः । **यथे**त्यादीति । **उच्यन्त** इति । 'श्रद्धा वा आप' इत्युक्तश्रुत्या । **परं नोपचार** इति । परमित्यस्य किन्त्वित्यर्थः । **प्रवृत्ती**ति । अत्र सत्यं न जलं निरुक्तोक्तम्, किन्तु 'असावात्मा नारायण' इति प्रवृत्तिसौकर्यं तस्मात् । **योगे**ति । वैदिके । वेदान्ते आहुः **योगेने**ति । मीमांसाकारिकया स्पष्टम् । **तत्तुल्यत्वेने**ति । अन्त्येष्टौ । **सिंह** इति । क्रौर्येण । **श्रद्धे**ति । वाक्यमग्रे । समवायः सम्बन्धः । **अस्मा** इति । यजमानाय । **संनमन्ते** जनयन्ति । **अन्त्येष्टौ** पञ्चमाहुतौ । **लिङ्गे**ति । लिङ्गे रसः पञ्चतन्मात्रासु । आदिना स्थूले पाञ्चभौतिक आपः । एवकारः श्रुत्या । **गौण्ये**ति । तत्तुल्यगुणयोगात् गौणी गुणेन युज्यत इति **गौणी** । शैषिकोऽण् । तया । **लक्षणये**ति । मञ्चा इत्यत्र संयोगसम्बन्धवज्जन्यजनकभावसम्बन्धो लक्षणा तया । लक्ष्यतेऽनयेति लक्षणा । शक्यसम्बन्धो लक्षणेति लक्षणालक्षणम् । **परी**ति । सहभावस्य भिन्ननिष्ठत्वात् । **ऐतरेये**ति । पूर्वोक्ता श्रुतिः । विशेष्यविशेषणयोरभेदसम्बन्धे जन्यजनकभावसम्बन्धः । **श्रद्दधत** इति । यः कोपि । **अस्कन्ने**ति । अदुष्टहविः । **नित्याग्निहोत्रे**ति । तेन नित्याग्निहोत्रिणः पञ्चाग्निविद्यायामधिकारिण इति बोध्यम् । **प्रागेवे**ति । पञ्चाग्निविद्यायाः प्रागेव । एवकारः 'प्रायशः कर्मठाः पूर्वा' इति सूचनात् । **नने**त्यादीति । **मनःस्थान** इति । श्रद्धा मनोधर्मः, स कथं हूयत इति भाष्ये । **एवे**ति । 'सर्वं सर्वमय'मिति श्रुत्या ज्ञानवादिना त्वया । **भिन्ने**ति । षोढा सृष्टिषु 'कदाचित्पुनरन्यथे'त्यत्र निविष्टा । **उक्ते**ति ।

श्रद्धाप्रयोगस्तु कामनाकृतव्यावृत्त्यर्थः । तत्र फल एव श्रद्धा, न कर्मणि । 'यो यच्छ्रद्धः स एव स' इति श्रद्धाया आश्रयस्य विषयभावजनकत्वात् कर्तुः कर्मभावाय श्रद्धाप्रयोगः । ततः संस्कृता आपो यजमानरूपा हूयमाना भवन्तीति सिद्धं भवति । तस्मात् प्रथमेऽप्यपामस्ति श्रवणम् ॥ ५ ॥

अश्रुतत्वादितिचेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः ॥ ६ ॥

स्थितमेतज्जीवः सम्परिष्वक्तो रंहतीति । तत्र विचार्यते । सर्वे जीवाः सम्परिष्वक्ता गच्छन्ति, आहोस्विज्ज्ञानोपयोगिन इति विमर्शः । तत्र पञ्चाहुतिब्राह्मणे नाधिकारिणः श्रुताः । वेदे हि श्रुतानुसारिकल्पना । अतो विशेषस्याश्रुतत्वात् सर्वेषामेव पञ्चाहुतिप्रकार इति चेत् । न । इष्टादिकारिणां प्रतीतेः । साधारणपक्षं दूषयति । कुतः । इष्टादिकारिणां प्रतीतेः । इष्टादिकारिणः प्रतीयन्ते श्रद्धा-

भाष्यप्रकाशः ।

तत्रेति । सकामे यष्टरि । फल एव श्रद्धा आदर उपादेयबुद्धिविशेष इति यावत्, न कर्मणि । तथाच श्रद्धाया अयं स्वभावो यत् स्वाश्रयं स्वविषयं करोतीति गीतावाक्यादवधार्यते । अतो निष्कामस्य कर्मण्येव श्रद्धेति तादृशकर्तुः कर्मात्मकत्वं बोधयितुं श्रद्धाप्रयोग इत्यर्थः । एवमुपपादनेन सिद्धमाहुः **तत** इत्यादि । सूत्रात् सिद्धमाहुः **तस्मा**दित्यादि ॥ ५ ॥

अश्रुतत्वादितिचेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः ॥ ६ ॥ अस्या आहुतेः फलं विचारयितुं किञ्चिदाशङ्क्य परिहरतीत्याहुः **स्थितमि**त्यादि । **स्थितमि**ति । निर्धारितम् । ननु निर्णीते संशयस्योच्छिन्नत्वात् को विचारांश इत्यत आहुः **सर्वे** इत्यादि । संशयबीजं तु विशेषाश्रवणम् । उपकारार्थं देवानां प्रवृत्तिश्च । पूर्वपक्षांशं व्याकुर्वन्ति **तत्रे**त्यादि । **नाधिकारिणः श्रुता** इति । न श्रुता इत्यन्वयः । सिद्धान्तांशं व्याकुर्वन्ति **इष्टादिकारिण** इत्यादि । श्रद्धापदेन देवकर्तृत्वेन चेति । 'यो वै श्रद्धामनारभ्य यज्ञेन यजते, नास्येष्टाय श्रद्दधत' इत्यश्रद्धालुनिन्दया 'उभयेऽस्य देवमनुष्या इष्टा यः श्रद्दधते' इति श्रद्धालुस्तुत्या च श्रद्धावत एव यज्ञः फलमुख इति पूर्वकाण्डे लभ्यते । अत्र

रश्मिः ।

सौत्राणां 'ता एवोपपत्ति'रितिशब्दानां व्याख्यानभूतेन । **प्रातिकूल्यमि**ति । चन्द्रमसोऽब्जातत्वेन मनोजातत्वबोधकश्रुतिविरोधरूपप्रातिकूल्यम् । **दर्शयन्ती**ति । स्वमतोक्त्यैव दर्शयन्ति स्म **श्रद्धे**त्यादीति । कामनया कृतो होमस्तद्व्यावृत्त्यर्थ इति भाष्यार्थः । **विभजन्त** इति । सकामनिष्कामत्वेनोभयं यष्टारं विभजन्ते **तत्रे**त्यादीति । एवकारव्यवच्छेद्यमाहुः **न कर्मणी**ति । अग्रिमभाष्यस्य पिण्डितार्थमाहुः **तथा चे**ति । **स्वाश्रयं** यजमानम् । स्वं श्रद्धा तद्विषयं कर्म तत्करोतीति 'यो यच्छ्रद्धः स एव स' इति गीतावाक्यादवधार्यत इत्यर्थः । तथा च भाष्ये **आश्रयस्य** जीवस्य । विषयः कर्म । तद्भावजनकत्वात् । **तस्मादि**त्यादीति । **प्रथम** इति । उपक्रमे ॥ ५ ॥

अश्रुतत्वादितिचेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः ॥ ६ ॥ अत्रादिना पूर्तम् । 'अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्त इत्युपासते ते धूममभिसम्भवन्ती'ति श्रुतेः । **परी**ति । भगवान् व्यासः । **विशेषे**ति । अधिकारिविशेषाश्रवणम् । अत्र संशयादिकं सौत्रम्, न त्वधिकरणत्वसमर्पकम् । विषयवाक्यपदाभावात् । **एवे**ति । अश्रद्धाव्यवच्छेदकोयम् । **फलमुख** इति । फलोपायः । 'मुखं निःसरणे

पदेन देवकर्तृत्वेन च। सोमभावसाम्याच। इष्टादिकारिणां धूममार्गेण्युत्पादने सोमभाव उक्तः। अत्रापि प्रथमाहुतिफलं सोमभाव उच्यते। अतः श्रुतिसाम्यादपि इष्टादिकारिणो रंहन्तीति सिद्धम् ॥ ६ ॥

भाक्तं वानात्मवित्त्वात् तथाहि दर्शयति ॥ ७ ॥

किञ्चित् दूषणं परिहरति। ननु यदि श्रुतिसाम्येन सोमभावादिष्टादिकारिणो रंहन्तीत्युच्यते, तदा सोमभावे तेषामनिष्टं श्रूयते, 'तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ती'ति, समानश्रुतौ च 'आप्यायस्वापक्षीयस्वेत्येवमेनाँस्तत्र भक्षयन्ती'ति चन्द्रदृष्टान्तेन ते च भक्ष्यन्ते, ततश्च देवाः स्वान्नं पर्जन्येऽग्नौ कथं जुहुयुः, अतः

भाष्यप्रकाशः।

च श्रद्धापदेनोक्तरीत्या निष्कामकर्तारो लभ्यन्ते। देवानां च प्रत्युपकारस्तेषामेवावश्यक इति होमं प्रति देवानां कर्तृत्वेन च त एव प्रतीयन्ते। सोमभावसाम्याच्चेति तृतीयं हेतुं गृहीत्वा विभजन्ते इष्टादिकारिणामित्यादि। धूममार्गे 'आकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजे'ति 'तस्या आहुतेः सोमो राजा सम्भवती'ति चोच्यते। अतः श्रुतिसाम्यात् पूर्वोक्तेष्टादिकारिण एव रंहन्ति, न सर्व इति सिद्धमित्यर्थः ॥ ६ ॥

भाक्तं वानात्मवित्त्वात् तथाहि दर्शयति ॥ ७ ॥ सूत्रमवतारयन्ति किञ्चिदित्यादि। किं तदित्याकाङ्क्षायामाशङ्कामुखेन व्युत्पादयन्ति नन्वित्यादि। तदिति। सोमात्मकं द्रव्यम्।

रश्मिः।

वक्त्रे प्रारम्भोपाययोरपी'ति विश्वात्। उक्तेति। तत्र फल एवेत्यादिभाष्योक्तरीत्या। तेषामिति। इष्टादिकारिणामेव। 'देवान्भावयताऽनेन ते देवा भावयन्त्वि'तिवाक्यादेवकारः। त एवेति। इष्टादिकारिणः। 'यो वै श्रद्धामनारभ्ये'त्याद्युक्तश्रुत्यैवकारः। तृतीयमिति। उपपत्तेश्चेत्यनुवर्तत इति। विभजन्त इति। प्रासङ्गिकत्वं सूचयन्तो व्याख्यान्तीत्यर्थः। एकसम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिस्मारकमित्याशयेनाहुः धूमेति। छान्दोग्येऽस्ति। अभिप्राप्नुवन्तीति पूर्वेणान्वयः। एवेति। सर्वव्यवच्छेदकः ॥ ६ ॥

भाक्तं वानात्मवित्त्वात् तथा हि दर्शयति ॥ ७ ॥ आशङ्केति। मुखं प्रारम्भः। 'मुखनिःसरणे वक्त्रे प्रारम्भोपाययोरपी'ति विश्वः। नन्वित्यादीति। समानेति। बृहदारण्यके छान्दोग्यसमानश्रुतौ। एनानिति। धूममार्गेण सम्भूतान् कर्मिणः। तत्रेति। सोमलोके। भक्षयन्तीति। अयमर्थः। 'ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति तांस्तत्र देवा यथा सोमꣲराजानमाप्यायस्वापक्षीयस्वेत्येवमेनांस्तत्र भक्षयन्ति'। अत्र ते कर्मिणः चन्द्रं प्राप्यान्नं जलं भवन्ति। चन्द्रस्याप्पुष्पत्वात्। अन्नस्य जलवाचकत्वात्। तान् कर्मिणः। तत्र चन्द्रलोके। देवाः कर्मठाः। यथा सोमꣲराजानमिति। च(न्द्र)मसं सोमवल्लीरसम्। 'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजे'ति वाक्यात्। अस्मानाप्यायस्व आप्यायनं कुरुष्वेति प्रार्थयन्ति। अपक्षीयस्व कर्मान्तःपातित्वात्कर्मरूपस्त्वमपक्षीयस्व। कर्मणामाप्यायनापक्षयजनकत्वात्। एवमाप्यायाप्याय पुनःपुनराप्यायनं कृत्वा भक्षयन्ति यथायं दृष्टान्तः, एवं तानन्नभूतान् जलभूतान् तत्र चन्द्रलोके भक्षयन्ति। छान्दोग्ये 'षोडशकलः पुरुष' इत्युक्तेः। तत्रा'प्याप्यायस्वापक्षीयस्वे'ति वर्तते। तत्र द्रष्टव्यम्। यद्वा। भक्षणं भाष्यीयं 'प्रथमां पिबते वह्नि'रित्यादि वक्ष्यमाणम्। चन्द्रेति। सोमवल्लीरसदृष्टान्त उक्तोऽन्यैः, अत्र तु चन्द्रदृष्टान्त उच्यते। तेन षोडशकलः पुरुषः महाचम(स)स्य मतेन तैत्तिरीयोक्ततुरीयचन्द्रांशः। तेन दृष्टान्तेन ते कर्मिणश्च भक्ष्यन्त इत्यर्थः। तत इत्यादि। स्वात्मत्वात्। स्वान्नं आत्मरूपान्नम्। कथमिति।

पश्चाहुत्यभाव इत्याशङ्क्य, परिहरति वाशब्दः। तेषां सोमभावो गौणः। भक्षणं च। प्रकृतेऽप्यङ्गारत्वाच्चन्द्रमसः कथमाहुतिफलं भवेत्। सोमभावस्य भाक्तत्वमग्रे निरूपयिष्यामः। इदानीं भक्षणस्य गौणत्वं निरूपयति। अन्नभावे हि मुख्यं भक्षणं भवति। तदन्यस्यान्नभावो[1] नोपपद्यते। ब्रह्मज्ञाने तु भवति। 'स सर्वं भवति। तद्धैतत् पश्यन् ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदे अहं मनुरभवं सूर्यश्चे'ति। प्रकृते तु तन्न। अनात्मवित्त्वात्। तथा सति मोक्ष एव भवेत्। अतो

भाष्यप्रकाशः।

परिहारं व्याकुर्वन्ति तेषामित्यादि। गौणत्वे हेतुमाहुः प्रकृतेपीत्यादि। तथाच चन्द्रमसः स गौणश्चेत्, एतेषां सुतरां गौण इत्यर्थः। ननु सोमभावस्य गौणत्वं नात्र विवक्षितम्, सूत्रे भाक्तपदस्य नपुंसकत्वादेकवचनत्वाच्चेत्यत आहुः सोमभावस्येत्यादि। अग्र इति। तथाच न सूत्रविरोध इत्यर्थः। गौणत्वमुपपादयन्ति अन्नभाव इत्यादि। अन्यस्येति। ज्ञानिव्यतिरिक्तस्य। अन्नभावानुपपत्तिं विभजन्ते ब्रह्मज्ञाने त्वित्यादि। तुरुपपत्तिशङ्कानिरासे, द्वितीयस्तुर्हेतौ। तथाच ज्ञानेन ब्रह्मभावे सर्वरूपता श्राव्यत इत्यन्नभावो ज्ञानिनो मुख्यः स्यात्। अज्ञानिनि तु तन्नोपपद्यते। तत्र हेतुः अनात्मवित्त्वादिति। यदि हि तेषामन्नभावो मुख्यः स्यात्, वामदेवादिवदात्मवित्त्वे सति मोक्ष एव स्यात्। सर्वभावस्य तल्लिङ्गत्वात्। अतोऽन्नभावस्यामुख्यत्वेऽन्नभावस्यापि देहात्मभाववद्गौणत्वात् तद्भक्षणमपि गौणम्। अन्नस्यैव भक्ष्यत्वेन तेषां भक्ष्यत्वाभावादिति। उपष्टम्भकं

रश्मिः।

आत्महानिरपुरुषार्थत्वादात्मत्वभिन्नेन केन प्रकारेणेति प्रश्नः। अत इति। आत्महानेरपुरुषार्थत्वेन सोमस्याहोम्यत्वात्। वाशब्द इति। अवधारणार्थकत्वादिति भावः। 'वाऽन्वाचये समाहारेप्यन्यान्यर्थे समुच्चये। पक्षान्तरे ग्रहे पादपूरणेऽप्यवधारणे' इति विश्वात्। गौणत्व इति। तेषां कर्मिणां सोमभावस्य गौणत्वे। प्रकृतेपीत्यादीति। प्रकृते प्रथमाहुतौ। 'चन्द्रमा अङ्गारा' इति श्रुतेः। भवेदिति। सोमो राजा भवेत्। स इति। सोमभावः। गौण इति। श्रुत्युक्तत्वान्मुख्यत्वाभावेपि गौणस्तु वक्तव्य इति भावः। एतेषामिति। कर्मिणाम्। कर्मिणां जीवानां सत्यादिरूपत्वेन सोमस्याब्रूपस्य भावो गौणः। ऐक्यासंभवात्। भक्षणं च गौणम्। न जीवानां भक्षणं संभवति भोक्तृत्वात्। कर्मणि षष्ठी। प्रकृते नह्यङ्गाराः फलं भवन्तीति सोमभावो गौणोऽङ्गाराणाम्। एतेषां हुतानां कर्मिणां जीवानां सत्यादिरूपत्वेन सोमभावोऽब्भावः सुतरां गौणः। अग्र इति। सूत्रे। भाक्तमिति। सोमभावो भाक्त एकं चेत्यनन्वयात्। एकस्य वचनं सुपस्मादित्येकवचनं तस्मात्। कपो वैकल्पिकत्वम्। ज्ञानीति। जीवस्य सत्यादिरूपस्यान्यभावोऽब्भावः मुख्यसोमभावो नोपपद्यते। अन्नेति। 'पृथिवी वा अन्नम्, आपो वा अन्नं' 'अद्यतेऽत्ति च भूतानी'त्येवंपरोऽन्नशब्दः। ब्रह्मज्ञाने तु अनुपपत्तिनिरासो भवतीति भाष्यार्थमाहुः तुरिति। उपपत्तिशङ्का उपपत्त्यन्यथाज्ञानमनुपपत्तित्वेन ज्ञानम्। अन्यस्यान्यभावेऽनुपपत्तिरुक्ता तस्या निरास इत्यर्थः। प्रकृते। अज्ञानिनि तुर्हेतुः। तत् ब्रह्मज्ञानं न भवतीति प्रकृते तु तन्नेति भाष्यार्थ इत्याशयेनाहुः द्वितीय इत्यादि। तु तदिति। हेतुः स ब्रह्मभावः। तदित्यव्ययम्। तथासतीत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स यदि हीत्यादि। एवेति। सोमभावव्यवच्छेदकः एवेति। सर्वेति। सर्वभावः 'स सर्वं भवती'त्यादिभाष्योक्तश्रुत्युक्तस्तस्य। देहात्मेति। देहः सुखीत्यादौ सुखमात्मधर्मः। परं तिरोहितम्, चित्प्रधानत्वात्। गौणत्वादिति। 'अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्। अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नाद' इत्यत्र। अन्नस्यैवेति। एवकारः कर्मिणां

[1] अन्नभाव इति प्रकाशपाठः, अन्यभाव इति रश्मिपाठ इति प्रतिभाति।

भक्षणमपि गौणम् । तथाहि । श्रुतिरेव गौणभावं शब्दस्य बोधयति । 'अथ योऽन्यां देवतामुपास्त' इत्यत्र यथा पशुशब्दः, एवमत्रापि भक्षणं सहक्रीडनं सेवकभावः । चन्द्रतुल्यापदेशाय तथा वचनम् । तथा सति तेषाममरत्वेन तथा श्रुतिः । चन्द्रस्य भक्षणं तु क्षयादनुमीयते श्रुत्या, 'प्रथमां पिबते वह्नि'रित्यादि-

भाष्यप्रकाशः ।

व्याकुर्वन्ति तथाहीत्यादि । श्रुतिरिति । 'यावत्सम्पातमुषित्वे'त्यादिश्रुतिः । पशुशब्द इति । पशुतुल्यत्वबोधको गौण इति शेषः । एवमत्रापीत्यादे । यथा 'स्त्रियं भुङ्क्ते' इत्यत्राभ्यवहारो भोग एव, न तु चर्वणादिकम्, तथात्रापि भक्षणं क्रीडनादिकमित्यर्थः । नन्वेवमुपचारस्य किं प्रयोजनम्, न हि प्रयोजनं विना उपचारोपि युक्त इत्याशङ्कायां तत्प्रयोजनमाहुः चन्द्रेत्यादि । तथाच यथा चन्द्रः क्षीयते वर्धते च, तथैतेपि पुनः पुनरावर्तमाना अमरतां चाप्नुवन्तीत्येतदर्थं तद्वचनमित्यर्थः । ननु 'आप्यायस्वे'त्युक्तश्रुत्या चन्द्रस्यापि भक्षणं चेत्, कथमेतेषां गौणमित्यत आहुः चन्द्रस्येत्यादि । श्रुतिस्तु सोमोत्पत्तिनामकपरिशिष्टस्था । तथाच चन्द्रस्य भक्षणं तु श्रुत्यनुमानाभ्यां सिद्धत्वान्न गौणमिति निश्चीयते । एतेषां तु न चन्द्रस्येव वरो येन पुनरेधेरन् । ततश्च

रश्मिः ।

व्यवच्छेदकः । तेषामिति । कर्मिणाम् । उपक्रमकमिति । 'तथा हि दर्शयती'ति सौत्रम् । यावदिति । भक्षयन्तीत्यस्याव्यवहितोत्तरेयं श्रुतिः । 'तस्मिन्यावत्संपातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्त' इति । अनेनस्तु संपतन्त्यमुं लोकमनेनेति संपातः कर्मसमूहः । स यावानिति यावत्संपातम् । अव्ययीभावः । यावत्कर्मसमूहः तस्मिन् चन्द्रमण्डले उषित्वा । 'उष दाहे' । 'करोत्यग्निर्जलेप्यग्नि'रिति मनुस्मृतेः जले दाहः । अथ कर्मक्षयानन्तरमन्येन कर्मणा एतमेव वक्ष्यमाणमध्वानं मार्गं पुनर्निवर्तन्त इति । वक्ष्यमाणं 'जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयꣳस्थान'मिति श्रुत्या । भाष्ये । शब्दस्येति । सोमभावशब्दस्य । भक्षयन्तीत्यस्य च । दर्शयतीत्यस्यार्थो बोधयतीति । मुख्यत्वे एनयोर्यावदित्यादि नोपपद्यते । पुरुषविधब्राह्मणश्रुतिमाहुः अथ य इति । 'अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवꣳस देवाना'मिति । प्रकृते । पश्विति । अभेदाज्ञानवत्त्वगुणयोगाद्गौणी तया गृह्यत इति शैषिकोऽण् । अभ्यवहार इति । 'भुज पालनाभ्यवहारयो'रिति धातुपाठात् । भोग एवेति । सुखदुःखसाक्षात्कारो भोगः । एवकारव्यवच्छेद्यमाहुः न त्विति । क्रीडनेति । आदिना सेवकत्वम् । तथाच यथा उपासकः पशुः अज्ञानवत्त्वगुणयोगात्तथा जीवस्य भक्षणमित्यत्र भोक्तुर्भक्ष्यत्वाभावेन भक्षणमिव भक्षणं भोगः सहक्रीडनं सेवकभावः, नतु चर्वणादिकमित्यर्थः । तथाच भोज्यत्वमात्रगुणयोगात् 'तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ती'त्यत्र जीवेऽन्नपदं गौणमित्यर्थः । बृहदारण्यकटीकायामप्येवम् । तत्प्रेति । उपचारप्रयोजनम् । भाष्ये । चन्द्रेत्यादौ । चन्द्रतुल्यं अपदेशो लक्ष्यम् । 'अपदेशः स्मृतो लक्ष्य'मिति विश्वात् । तस्मै प्रयोजनाय । तथा वचनं उपचारत्वेन भक्षणवचनम् । तथा सति उपचारत्वेन भक्षणवचने सति । तेषां कर्मिणाममरत्वेन गुणेन चान्द्रेण । तथाश्रुतिरुपचारश्रुतिरित्यर्थ इत्याशयेन सिण्डितार्थमाहुः तथाच यथेत्यादि । एतदर्थमिति । अमरत्वेन चन्द्रतुल्यापदेशार्थम् । तद्वचनमुपचारवचनम् । श्रुत्यनुमानाभ्यामिति । अनुमानं च श्रुतिश्च श्रुत्यनुमाने । 'अल्पाच्तरं पूर्वम्' 'अभ्यर्हितं चे'ति सूत्राभ्यां पूर्वनिपातः । श्रुत्येतिभाष्याच्छ्रुतिशब्दः । ताभ्याम् । अनुमानं तु अपक्षीयमाणचन्द्रः भक्षणवान् । क्षयात् । यन्नैवं तन्नैवम् । आपूर्यमाणचन्द्रवत् । एतेषामिति । कर्मिणाम् । चन्द्रस्येवेति । षष्ठस्कन्धे षष्ठाध्याये 'कृत्तिकादीनि नक्षत्राणीन्दोः पत्न्यस्तु भारत । दक्षशाप-

१. स्तुतिरितिपाठः ।

रूपया । देवानामभक्षणं भगवदवयवानामेव । अशनानशने नत्वविरुद्धे । आधिभौतिकानां देवानामशनमेव । तस्मात् भक्षणस्य गौणत्वात् सोमभावे न काचिच्चिन्ता ॥ ७ ॥

इति तृतीयाध्याये प्रथमपादे प्रथमं रंहत्यधिकरणम् ॥ १ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

तन्नाशे यः श्रुत्यन्तरे भोगसद्भावः प्रतिपाद्यते, स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तत इति । आनन्दमीमांसायां च 'ते ये शतं पितृणां चिरलोकलोकानामानन्दाः, स एकः कर्मदेवानामानन्दः, ये कर्मणा देवानपियन्ती'ति विरुध्येत ।

एतेनैव भिक्षूक्तमप्यपास्तम् ।

अतस्तेषां तद्गौणमेवेत्यर्थः । ननु 'न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्ती'ति श्रुत्यन्तरे देवानामशनं निवारितम्, अतः पानश्रुतिरपि गौणीत्येवादरणीया, तथा सत्येषां भक्षणमपि गौणं सेत्स्यतीति वृथायं प्रयास इत्याशङ्कायामाहुः देवानामित्यादि । देवताविग्रहाधिकरणे देवतायाः शरीरसिद्ध्या यज्ञादिहविर्भोक्तृत्वे सिद्धेऽशनं सिद्धमेवेत्यनशनश्रुतिर्भगवदवयवपरैव भवितुं युक्ता । यथा 'न ह वै देवान् पापं गच्छती'ति श्रुतिः । अन्यथा 'तस्याञ्जलिना ब्रह्महत्यामुपागृह्णा'दित्यादेर्विरोधापत्तेः । अतो देवभेदेन व्यवस्थैव श्रुत्योर्युक्ता । नच 'ऋतं पिबन्तौ' 'अनश्नन्नन्य' इतिवत् देवेषु श्रुतिद्वयाविरोधः सम्भवति । जीवत्वात् । तस्य ब्रह्मणस्तु विरुद्धधर्माश्रयत्वादशनानशने अविरुद्धे । अत आधिभौतिकानां कर्मसचिवानामशनमेवोचितमिति गौण्याभावान्न प्रयासो व्यर्थ इत्यर्थः । सिद्धमाहुः तस्मादित्यादि । यस्माच्चन्द्रस्यैव मुख्यं भक्षणम्, नैतेषाम्, अत एषां सोमभावे बाधकाभावान्न कोपि दोष इत्यर्थः ।

अनेनापि सूत्रेणैतस्य विचारस्य केवलवैराग्यार्थता वारिता । अन्यथा व्याघ्रादिकृतभक्षणस्येवास्यापि सुतरां वैराग्यजनकतया तद्गौणीत्वप्रतिपादनव्यर्थत्वप्रसङ्गादिति । तस्मादस्योभयार्थतैवेति निश्चयः ॥ ७ ॥ इति प्रथमं रंहत्यधिकरणम् ॥ १ ॥

रश्मिः ।

त्सोऽनपत्यस्तासु यक्ष्मग्रहार्दितः । पुनः प्रसाद्य तं सोमः कला लेभे क्षयेर्दिता' इति वाक्यात् । क्षयेर्दिता इत्यपि पाठः । तन्नाश इति । कर्मिनाशे । श्रुत्यन्तर इति । 'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ती'त्यस्या अग्रे सोमभावश्रुतेरन्यश्रुतौ । 'स उल्बावृतो गर्भो दश वा मासानन्तः शयित्वा यावद्वाथ जायते स जातो यावदायुषं जीवति तं प्रेतं दिष्टमितोऽग्नय एव हरन्ति यत एवेतो यतः सम्भूतो भवती'त्यस्याम् । विरुध्येतेति । नच मोक्षाभावोक्तेः कर्मिभिरेव न विरोध इति वाच्यम् । भिक्षूक्तमिति । तेन भगवद्भिक्षुमते कर्मिणां चन्द्रवद्भक्षणं मुख्यमित्युक्तम् । अपास्तमिति । कर्मिणां गौणभक्षणोक्त्यापास्तम् । तेषामिति । कर्मिणां तद्भक्षणं गौणम् । एवेति । उक्तरीत्या जागरूकत्वादेवकारः । ननु नेति । श्रुतिश्छान्दोग्ये स्पष्टार्था । पानेति । 'ऋतं पिबन्ता'विति । अयमिति । गौणत्वसाधनेन प्रत्यक्षविषयः । यज्ञादीति । आदिना प्रभुप्रसादान्नम् । 'अद्धीदिन्द्र प्रस्थितेमा हवींषी'ति श्रुतेः । अद्धि इत् इन्द्र प्रस्थिता इमा स सोडा हवींषि । एवकार इन्द्रयागस्मृतेः । इत्यादेरिति । पापगमनबोधकवाक्यस्य पाठस्य । अशनेत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म न चेति । आधीत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म अत आधीति । एवेति । 'अद्धीदिन्द्रे'तिश्रुतेरेवकारः । नेति । व्यवस्थायाः पूर्वरीत्याऽसिद्ध्या नेत्यादिः । चन्द्रस्यैवेति । एवकारः कर्मिव्यवच्छेदकः । एतेषामिति । कर्मिणाम् । एषामिति । कर्मिणाम् । उभयेति । ज्ञानवैराग्योभयार्थता । एवकारस्तु उपक्रमस्यासञ्जातविरोधत्वेन ज्ञानार्थतोपसंहारेण 'तस्माज्जुगुप्सेते'त्यनेन वैराग्यार्थतेति ॥ ७ ॥ इति प्रथमं रंहत्यधिकरणम् ॥ १ ॥

कृतात्ययेऽनुशयवान् दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च ॥ ८ ॥ (३.१.२.)

प्रथमाहुतिः सफला विचारिता। द्वितीयां विचारयितुमधिकरणारम्भः। सोमस्य पर्जन्यहोमे वृष्टित्वमिति। सोमाद्वृष्टिभावे रूपरसादीनां हीनतया प्रतीयमानत्वात् यागस्यावान्तरफलं तत्र भुङ्क्ते इति निश्चितम्।

तत्र संशयः। किं सर्वमेवावान्तरफलं तत्र भुङ्क्ते, आहोस्विदनुशयवान् वृष्टिर्भवतीति।

सद्वासनयाग्रिमजन्मनि सदाचारयुक्त एव स्यादिति। 'आचारहीनं न पुनन्ति वेदा' इति बाधोपलब्धेः। अतो विचार उचितः।

तत्रावान्तरफलस्यावशेषे अवान्तरफलत्वबाधाज्ज्ञानौपयिकशरीरभावादेव सदाचारसिद्धेः प्रयोजनाभावाच्च निरनुशय एव वृष्टिभावं प्राप्नोतीत्येवं प्राप्ते, उच्यते।

भाष्यप्रकाशः।

कृतात्ययेऽनुशयवान् दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च ॥ ८ ॥ अधिकरणप्रयोजनमाहुः प्रथमेत्यादि। ननु द्वितीयस्यां किं विचारणीयम्, येनायं संरम्भ इत्यत आहुः सोमस्येत्यादि। सोमादिति। सोमभावानन्तरम्। निश्चितमिति। 'सोमं राजानं जुह्वति, तस्या आहुतेर्वर्षं सम्भवती'ति सोमाद्वीनभावबोधिकया आहुतिफलश्रुत्यैव निश्चितम्। तत्र संशय इति। तत्र भोगे संशयः। अनुशयवानिति। अनुपश्चाच्छेते, कर्मफलभोगानन्तरं तिष्ठति यः शेषः, सोऽनुशयस्तद्वान्। नन्वेतद्विचारस्य किं प्रयोजनम्, यथाकथञ्चिदस्त्वित्यत आहुः सद्वासनयेत्यादि। तथाच सर्वस्य स्वभावाधीनतयोभयविधं कर्म संभवति, तत्र निरनुशयत्वे, पूर्वकृतदुष्कर्मभोगस्यानुक्तत्वात् तदनुवृत्त्या कपूययोनित्वमापद्येतेति तद्विचार उचित इत्यर्थः।

एवं विचारावश्यकत्वं समर्थयित्वा पूर्वपक्षमाहुः तत्रेत्यादि।

रश्मिः।

कृतात्ययेऽनुशयवान् दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च ॥ ८ ॥ सोमभावेति। श्रद्धायाः सोमभावादनन्तरमिति शेषः। सोमादिति भाष्ये भावप्रधानः। भाष्ये श्रद्धारूपस्य जीवस्य सोमं प्राप्य वृष्टिभावं इत्यप्यर्थः। रूपरसादीनामपाकजानां हीनतया वृष्टेः सोमाद्धीनत्वं प्रत्यक्षसिद्धं यागस्य मुख्यं फलम्। स्वर्गोऽवान्तरं फलम्। तत्रेति वृष्टिभावे। भुङ्क्ते। रूपरसादीनामित्यत्रादिशब्देन शब्दगन्धस्पर्शाः। प्रकृते। आहुतीति। एवकारोऽन्यस्य शब्दस्य व्यवच्छेदकः। भाष्ये। सर्वमेवेति। सामान्ये नपुंसकम्। एवकारो विशेषव्यवच्छेदकः। तत्रेति। वृष्टिभावे। प्रकृते। अन्विति। 'भवेदनुशयो द्वेषे पश्चात्तापानुबन्धयो'रिति विश्वादनुबन्धेऽनुशयशब्द इति भावः। यः प्रारब्धसञ्चितक्रियमाणेषु कर्मसु यत्किञ्चित्कर्मजन्यभोगसाधकसामग्रीशेषः। एतद्वीति। अनुशयरूपकर्मणो विचारस्य। यथेति। अनुशयवत्त्वेनाननुशयवत्त्वेन वा। अत आहुरिति। अतो द्वितीयकोटौ हेतुमाहुरित्यर्थः। स्वभावेति। गीतापञ्चमाध्याये 'न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः। न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तत' इति वाक्यात्। उभयेति। कपूयरमणीयोभयविधम्। निरनुशय एव इति। निष्क्रान्तमनुशयपदान्निरनुशयं सूत्रं तत्त्वे। तद्विचार

कृतात्यये अनुशयवान्। कृतस्य सोमभावस्यात्यये नाशे सति अनुशयवान् अवान्तरफलसाधकक्लेशसहित एव वृष्टिभावं प्राप्नोति। कुतः। दृष्टस्मृतिभ्याम्। दृष्टं तावत् भोगसाधकमूलद्रव्यनाशेपि भोगसाधकतादृशदेहवस्त्रादिसहित

भाष्यप्रकाशः।

अयमर्थः। आहुतिभिर्द्युलोके नीतानां द्युलोकाग्नौ देवकृतहोमोत्तरं सोमभावः। ततः पर्जन्याग्नौ हुतानां तेषां वृष्टिभावः। स हि न तत्कालमेव, किन्तु कृतकर्मभोगान्ते इति चन्द्रमण्डलमारूढानां धूममार्गिणामवस्थाबोधिकया 'आकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति, तस्मिन् यावत्सम्पातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतमाकाशाद्वायु'मित्यादिकया श्रुत्यावसीयते। सम्यक् पतत्युत्पतत्यस्माल्लोकात् स्वर्गलोकमिति व्युत्पत्त्या सम्पातपदेन कर्मबोधनात्। एवं सति सकामानां धूममार्गिणां सुकृतभोगोत्तरं यथा आवृत्तिः, तथैतेषां भोगोत्तरमेव वृष्टिभाव इति न्यायसाम्यात् सिध्यति। स च भोगः सकामानां मुख्यं फलम्, निष्कामानामवान्तरफलम्। उभयथापि फलत्वस्याप्रच्यवात् सर्वस्य भोगः प्राप्नोति, न त्ववान्तरफलत्वे सशेषत्वम्। यदि तस्मिन् शेषोऽङ्गीक्रियते, तदा तत्र अभुक्तेऽवान्तरफलस्यावशेषे 'यावत्सम्पात'श्रुत्यनुरोधेनावान्तरफलत्वबाधः। नचानुशयाभावे सद्वासनाशून्यतायामग्रिमजन्मनि सदाचाराभावप्रसङ्गादवशेषस्यावश्यकत्वं शङ्क्यम्। उक्तरूपेण देवकृतोद्यमेन ज्ञानौपयिकशरीरभावादेव घटे छिद्राद्यहित्यवत् सदाचारसिद्धेर्न तस्य किञ्चित्प्रयोजनम्। अत उक्तहेतुद्वयान्निरनुशय एव वृष्टिभावं प्राप्नोतीति।

सिद्धान्तं व्याकुर्वन्ति कृतेत्यादि। कृतपदेनात्र सोमभाव एवोच्यते। प्रकृतप्रश्नप्रतिवचने

रश्मिः।

इति। अनुशयविचारः। आहुतिभिरिति। आहुतिभिः करणैः अग्निभिः कर्तृभिः नीतानां जीवानाम्। 'तं प्रेतं दिष्टमितोऽग्नय एव हरन्ती'ति श्रुतेः। एवकारेणाहुतिव्यवच्छेदात्। तत्कालमेवेति। तस्मिन् होमकाले। अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। एवस्तु होमकालान्यकालव्यवच्छेदकः। कर्मेति। अग्रे एवः श्रुतित्वात्। यथेतमिति। यथा इतं आकाशाद्वायुं निवर्तन्त इत्यन्वयः। 'यथेतमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वाभ्रं भवत्यभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षती'ति पाठः। अनेन इत्यादिकयेत्यत्रादिपदार्थोऽप्युक्तः। अवान्तरेति। 'नाऽभुक्तं क्षीयते कर्मे'त्यवान्तरफलम्। कर्मणः प्रतिबन्धकत्वात्सायुज्ये। सर्वस्येति। सकामनिष्कामरूपस्य। न त्ववान्तरेति। रूपरसादीनां भोगस्य। पूर्वपक्षभाष्यं व्याकुर्वन्ति स्म यदीति। तस्मिन्निति। भोगे। शेष इति। जीवे कर्मशेषः। अवान्तरेति। उत्तरफलेऽनुवृत्त्यांशतोऽवान्तरफलत्वबाधः। ज्ञानौपयिकेत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म नचेत्यादिना। संशयद्वितीयकोटिसत्त्वे पूर्वकोटिरूपपूर्वपक्षप्रतिबन्धात् शङ्का। भाष्ये द्वितीयकोटौ सद्वासनायाः सदाचारे कारणत्वमुक्तम्। तत्र निष्कामा अनुशयवन्तः। सद्वासनायाः। अम्बरीषवदित्यनुमानं फलति। एवं सत्यनुशयाभाव इत्यादिः। अत्रशेषस्येति। प्रारब्धातिरिक्तकर्मशेषस्य। तथाच न पूर्वपक्षसमर्पिका पूर्वकोटिरिति भावः। अनावश्यकत्वं वदति पूर्वपक्षी उक्तरूपेणेत्यादि। प्रथमसूत्र एव तत्र पूर्वजन्मनीत्यादिभाष्येण उक्तं रूपं देवाधिष्ठानसम्पादकत्वं यस्योद्यमस्य तेन। एवेति। अयं सदाचारवाचकपदव्यवच्छेदकः। तस्येति। अवशेषस्य। अत इति। प्रयोजनाभावात्। उक्तेति। भाष्योक्तसदाचारसिद्धिप्रयोजनाभावरूपहेतुद्वयात्। एवेति। हेतुद्वयादेव। एवेति। कृतकर्मव्यवच्छेदकः। प्रकृतेति। पञ्चाग्निविद्यायाम्। 'वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ती'ति प्रवाहणस्य जैवलेः श्वेतकेतुं प्रति प्रश्नः। जैवलेः गौतमं प्रति प्रतिवचनम्।

एव तस्मात् स्थानादपगच्छति । अन्यथा सद्य एव देहपातः स्यात् । अतो यथा लोके सानुशयः, तथात्रापि । स्मृतिश्च 'यदत्र नः स्वर्गसुखावशेषितं स्विष्टस्य दत्तस्य कृतस्य शोभनम् । तेनाजनाभे स्मृतिमज्जन्म नः स्यात् वर्षे हरिर्यद्भजतां शं तनोति' इति देवगाथा । अतो ज्ञानोपयिकजन्म सानुशयवत एव भवति । अन्यथा पूर्वजन्मस्मृत्यभावे विषयासक्तिः प्रसज्येत ।

भाष्यप्रकाशः ।

प्रथमं तस्यैव देवकृतत्वेनोक्तत्वात् । न तु कर्म । तस्य मुख्यफलावधिकत्वेनावान्तरफलभोगतस्तद्व्ययाभावादत्ययपदविरोधापत्तेः । अनुशयश्चात्रावान्तरफलसाधिका या सामग्री तस्या लेशः । अतः सोमभावनाशे तथेत्यर्थः । हेतुं व्याकुर्वन्ति **दृष्टमित्यादि** । **अन्यथा सद्य एव देहपातः स्यादिति** । उक्तरूपस्य लेशस्यापि कर्मजन्यत्वेन कर्मनाश एव तन्नाशात् 'प्रारब्धकर्मनिर्वाणो न्यपतत् पाञ्चभौतिक' इतिवत् सद्य एव देहः पतेत् । तथा सति गमनं न सम्भवेत् । अतो यथा लोके सानुशयः, तथात्रापीत्यर्थः । नन्वेवं सत्यावश्यकत्वाल्लाघवाच्च कर्मशेष एवानुशयोऽस्तु, न तु सामग्रीशेषोपीत्यत आहुः **स्मृतिरित्यादि** । तथाचास्यां गाथायां शेषितं स्विष्टं दत्तं कृतमित्यनुक्त्वा, यत् 'स्विष्टस्य दत्तस्य कृतस्य शोभन'मिति स्विष्टादिसम्बन्धिसमीचीनमुक्तम्, तेन कर्मजन्यो भोगसाधकसामग्रीलेश एव विवक्षित इति ज्ञायते, न कर्मशेषः, अतः स एवात्रानुशय इत्यर्थः । सिद्धमाहुः **अत** इत्यादि । ननु 'कदाचित् सुकृतं कर्म कूटस्थमिव तिष्ठति । मज्जमानस्य संसारे यावद् दुःखाद्विमुच्यत' इत्यन्या स्मृतिः कर्मरूपमप्यनुशयं दर्शयतीति नैकान्तत उक्तरूपानुशयनिश्चय इत्यत आहुः **अन्यथेत्यादि** । उक्तरूपस्यानुशयस्याभावे पूर्वजन्मस्मारकस्याभावेन पूर्वजन्मस्मृत्यभावे सति विषयासक्तिः प्रसज्येत । अतः प्रकृते उक्तरूप एवानुशयो ग्राह्य इत्यर्थः ।

रश्मिः ।

तस्य प्रश्नस्य प्रतिवचने । **तस्यैवेति** । सोमभावस्यैव । एवोऽन्यव्यवच्छेदकः । **नत्विति** । कृतशब्देन नतु कर्म ग्राह्यम् । **तस्येति** । प्रारब्धातिरिक्तकर्मणः सञ्चितस्य क्रियमाणस्य वा । **येति** । कर्मरूपा । **तथेति** । वृष्टिभावं प्राप्नोतीत्यर्थः । एवकारः सूत्रप्रामाण्यात् । **एवेति** । **दृष्टमित्यादीति** । **तादृशेति** । अनुशयदर्शनवद्देहवस्त्रादिसहितः । **एवेति** । प्रत्यक्षात् । अन्यथाशब्दं व्याकुर्वन्ति स्म **उक्तरूपस्येति** । अन्यथेत्यस्य अनुशयाभाववत्त्वेनान्येन प्रकारेण देहवस्त्रादिसहित इत्यर्थं मत्वोक्तं **तन्नाशादित्यन्तम्** । तथा चान्यथेत्यत्र प्रकारे थाल् । पञ्चम्या अव्ययत्वाल्लुक् । **एवेति** । लेशलेशिनोस्तथादर्शनादेवकारः । तन्नाशात्प्रकारात् । प्रकारो देहादौ । अन्यथाशब्दं व्याख्याय सद्य एवेत्यादिभाष्यं व्याख्यान्ति स्म **प्रारब्धेति** । **सद्य एवेति** । विलम्बव्यवच्छेदकः । अतो यथेति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **अतो यथेति** । **अत्रेति** । पञ्चाग्निविद्यायाम् । **लाघवादिति** । शरीरलाघवात् शक्यतावच्छेदकलाघवाच्च । **न कर्मेति** । यद्येवं स्यात्तदा 'कृतस्य शोभन'मित्येव वदेत् । **स एवेति** । स्विष्टादिरूपभोगसाधकसामग्रीशेषः । एवकारोऽन्यभाष्यकृत्संमत्या । **भाष्ये** । स्मृतिमत् जन्म नारदस्येव । नोऽस्माकं देवानाम् । वर्षे अजनाभे भारतवर्षे । यत् यस्मात् । **अत इति** । देवाभिलपितत्वात् । **एवेति** । 'कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन्नि'ति श्रुतेरेवेति । **प्रकृते** । **विषयेति** । विषयासक्तित्वेन । तत्कृतपूर्वजन्मीनदुःखस्मृत्यभावत्वेन कार्यकारणभावात् । **एवेति** । नारदभरतादौ दृष्टविषयानासक्तिभङ्गभिये-

ननु अनुशयसहकृत एव जीवो नाद्भिः परिष्वक्तो भवेत्, अत आह यथेतम् । यथागतम् । अन्यथा प्रश्ननिरूपणयोर्बाधः स्यात् । तर्हि तावद्यान्तरफलसाधकसहितः स्यात्, अत आह अनेवं च । एवम्प्रकारयुक्तागमनं नास्ति । भोगस्य

भाष्यप्रकाशः ।

पुनः शङ्कते **नन्वित्यादि** ।

अयमर्थः । पूर्वजन्मस्मारकं यद्दृष्टं वक्तव्यं संस्कृतेन्द्रियप्रभृति, तद्देहमन्तरेण स्वकार्यासमर्थं सदेहमाक्षेप्स्यति । तथा सति तत एव सिद्धावपां परिष्वङ्गो निःप्रयोजन इति सोमभावनाशेऽपामपि साजात्यान्नाशापत्त्या प्रक्रान्तत्याग ईदृशेनुशये स्यात् । अतोऽयमयुक्त इति पूर्वपक्ष्याशयः ।

सिद्धान्तमाहुः **यथागतमित्यादि** । धूममार्गे यथेतमित्युक्तम् । अत्राप्यग्रे वृष्टिभावादिरुच्यते । अतः प्रकारान्तरीयदेहाङ्गीकारे तद्विरुध्येतेत्यतो न तथेत्यर्थः । शेषं स्फुटम् ।

तेन सिद्धमाहुः **तस्मादित्यादि** । अपां भिन्नप्रकारत्वं तु भोगमात्रसाधिकाभ्यः पूर्वाभ्य इदानीन्तनानां वैराग्यसांहित्यात् संस्काराधिक्येन तत उत्कर्षाच्च बोध्यम् ।

अत्रैवं सूत्रार्थः सिध्यति । कृतात्यये देवकृतस्य सोमभावस्य नाशे सति, अनुशयवान् तच्छेषवान् । यथेतं पूर्ववदद्भिः सम्परिष्वक्तः । अनेवं च, अपां संस्कृतत्वात् भिन्नप्रकारेण

रश्मिः ।

वकारः । **तत एवेत्यादि** । संस्कृतेन्द्रियप्रभृतिभिः । एवकारोऽपां व्यवच्छेदकः । संस्कारसिद्धौ । संस्कारार्थोऽपां परिष्वङ्गः । **साजात्यादिति** । सोमभावाचन्द्रत्वेन साजात्यात् । नचैकघटनाशेऽपरघटनाशापत्तिरिति वाच्यम् । अपेक्षाबुद्धेर्विषयसाजात्यापेक्षणात् । चन्द्रत्वेन साजात्ये वर्तत इति साजात्यान्नाशापत्तिः । घटत्वेन साजात्ये न वर्तत इति । प्रक्रान्तस्यापां पुरुषभावस्य त्यागः । **ईदृश इति** । कर्मजन्ये भोगसाधकसामग्रीलेशमात्ररूपे । **स्यादिति** । अपां सामग्र्यन्तर्गतत्वाभावात्स्यात् । **अयमिति** । उक्तानुशयः । तथाचायं भाष्यार्थः । अनुशयसहकृत एव, नतु भोगासाधकसामग्रीसहित इत्येवकारो भोगासाधकसामग्रीं व्यवच्छिनत्ति । अत आह नाद्भिर्भोगासाधकसामग्रीरूपाभिः परिष्वक्तो भवेत् । अत एतादृशपूर्वपक्षाद्भगवान्व्यास आह **यथेतमिनीति** । **प्रकृते** । **धूममार्ग इति** । 'अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्त इत्युपासत'इत्यादिना छान्दोग्योक्ते । यथा येन प्रकारेण इतं गतं चन्द्रलोके तथा एतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतं इत्यर्थः । अग्रे तमेवाध्वानमाह 'आकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वे'त्यादिना । अर्थः पूर्वमुक्तः । कर्मी आकाशं प्रतिपद्यते । **अत्रापीति** । अर्चिरादिमार्गेपि । **वृष्टीति** । अब्रूपत्वम् । आदिनान्नरेतआदि । अन्यथेत्यादिभाष्यार्थमाहुः **अतः प्रकारेति** । श्रुत्युक्तत्वादप्रकारादन्यप्रकारो निष्प्रयोजनास्यागप्रकारः तत्सम्बन्धिदेहाङ्गीकारे तत् प्रश्ननिरूपणं अब्रूपदेहविषयकं विरुध्येत बाध्येत । 'यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ती'ति प्रश्नः । 'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ती'ति निरूपणम् । अधिकमाहुः सङ्गत्यर्थम् । **इत्यत इत्यादि** । **न तथा** कर्मजन्यभोगसाधकसप्रयोजनसामग्रीमात्रलेशत्वेन लेशो नेत्यर्थः । **शेषं स्फुटमिति** । तर्हि यथेतमित्यङ्गीकृते तावत् अपां पुरुषवचस्त्वमवधि मोक्षावान्तरफलं शरीरं तत्साधिका निःप्रयोजनसप्रयोजनसामग्री कर्मजन्या तत्सहितः स्यात् । तत्तु चन्द्रमण्डले भोगस्य जातत्वान्न सम्भवति । आगमनस्य तादृशभोगजनकत्वरहितसामग्रीसहितत्वेन यथेतं तथागमनाभावादतो भगवान् व्यास आह **अनेवं चेति** । च पुनः आगमनमनेवं भिन्नो भोगरहितप्रकारस्तेन युक्तमागमनमपाम् । एवंप्रकारो भोगजन-

जातत्वात् । चकारात् वैराग्यसहितोपि । तस्मादनुशयवान् भिन्नप्रकारान्निः परि-
ष्वक्तो देवकृपासहितो सृष्टिर्भवतीति ॥ ८ ॥

चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः ॥ ९ ॥

किञ्चिदाशङ्क्य परिहरति । ननु नात्रोत्तमजन्मार्थमनुशयोऽपेक्ष्यते, चरणा-
देव भविष्यति, 'तद् य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत् ते रमणीयां योनि-
मापद्येर'न्नित्यादिना यः पूर्वजन्मनि विहिताचारं करोति, स उत्तमं जन्म प्राप्नोति,
यस्तु निषिद्धाचरणं करोति, स श्वादियोनिं प्राप्नोतीति 'साधुकारी साधुर्भवती'-
त्यादिश्रुत्या च प्रतिपाद्यते, प्रकृते तु तस्य रमणीयचरणस्य चरणादेव तस्य सम्यग्
जन्म भविष्यति, किमनुशयसहभावेनेति चेत् । न । चरणश्रुतौ या योनिरुक्ता, सा
उपलक्षणार्था, अनेन पूर्वजन्मनि समीचीनं कृतमिति ज्ञापिका, न तु तस्मिन्

भाष्यप्रकाशः ।

नीचैर्वृष्टिभावार्थं रंहति । चकारो नीचैरागमनस्य द्योतकः । तत्र हेतुः दृष्टस्मृतिभ्यामिति ॥८॥

चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः ॥९॥ किञ्चिदित्यादिना सूत्रमवतार्य
पूर्वपक्षांशं व्याकुर्वन्ति नन्वित्यादि । श्रुतौ 'अभ्याशो ह'ेति पदं क्षिप्रार्थकम् । यत्पदं तु क्रियावि-
शेषणं हेत्वर्थकं वा । तथाच यद्यप्येताभ्यां श्रुतिभ्यां यथायथमाचारतः कर्मतश्च जन्मोक्तम्, तथापि
प्रकृते पञ्चाग्निप्रकरणे तु चरणादेवोक्तम्, अतोत्र तदेव ग्राह्यमित्यर्थः । परिहाराशयमाहुः नेत्यादि । चर-
णस्य जन्मनियामकत्वोपगमेपि न तज्जन्मीनकर्मनियामकत्वम् । उक्तरूपनिषिद्धकर्मप्रत्यक्षविरोधात् ।

रश्मिः ।

कत्वं तद्युक्तागमनमपां नास्ति । भोगस्य चन्द्रमण्डले जातत्वादागमनसमये तदभावात् । उपसंहारा-
दाहुः **चकारादिति** । अपिनानेवं चेत्यस्य यथेतमित्यनेन समुच्चयः । **अपिः** समुच्चये । एवं शेषं स्फुट-
मित्यर्थः । **वैराग्येति** । भोगानन्तरं वैराग्यप्रसिद्धेः । 'तस्माज्जुगुप्सेते'त्युपसंहाराच्च । **संस्कारेति** ।
संस्कृतेन्द्रियसंस्कारेण द्विगुणसंस्कारेण ततो गमनादुत्कर्षात् । **बोध्यमिति** । **अनुशयवानिति** ।
विद्याप्रकरणेन कपूययोनिबाधाय ज्ञानौपयिकदेहसाधनाय चेदम् । देवकृपासहित इति तु देव
इत्यनुवृत्तावपि पुनर्देवाः सोमꣳ राजानं जुह्वतीति देवपदोपादानात् । **तच्छेषवानिति** । कर्मजन्य-
भोगसाधकसामग्रीलेशवान् । **भिन्नेति** । गमनप्रकारे भोगसाधकत्वं आगमनप्रकारे वैराग्यसाहित्यम् ।
भोगस्य जातत्वात् । किञ्च । गमनमुच्चैः द्युलोकस्योच्चत्वात् । तद्भिन्नप्रकारेण नीचैर्नीचैस्त्वेन । अनेन
यथेतमनेवं चेत्यनयोर्विरोधः परिहृतः । यथेतं तथागतं इत्युक्त्वानेवं आगमनमित्युक्तेर्विरोधः । रंहती-
त्यनुवर्तते पूर्वसूत्रात् । चकारार्थो भाष्ये वाच्य उक्तोऽतस्तस्य भाष्योक्तस्य द्योत्यार्थमाहुः **चकार इति** ॥८॥

चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः ॥ ९ ॥ इतिपदमिति । नच 'अव्य-
यादाप्सुप' इति विभक्तेर्लुका लुप्तत्वेन पदत्वाभावः 'न लुमताङ्गस्ये'ति सूत्रादिति शङ्क्यम् । पदशब्दस्य
शब्दे लक्षणाङ्गीकारात् । अभेदो लक्षणा । पदशब्दयोरभेदात् । शक्तं पदं वा । कचिन्नैयायिकमताङ्गी-
कारात् । यथात्रेव सोमाद्वृष्टिभावे रूपरसादीनामिति । **एताभ्यामिति** । रमणीयचरणकपूयचरणाभ्यां
'साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवती'त्येताभ्याम् । **जन्मेति** । कपूयरमणीयजन्मोक्तम् ।
चरणादेवेति । एवकारः साधुकारीतिश्रुतिव्यवच्छेदकः । अनुशयव्यवच्छेदको वा । **तदेवेति** ।
चरणम् । एवकारोऽनुशयसहभावव्यवच्छेदकः । अन्यथेत्यादि विवृण्वन्ति **स चरणस्य जन्मे-
त्यादि** । अयमन्यथाशब्दार्थः । **अपिर्गर्हायाम्** । **उक्तेति** । भाष्योक्तश्रुत्युक्तकपूयचरणरूप-

जन्मनि समीचीनकरणे नियामिका, अन्यथा ब्राह्मणानां निषिद्धकरणं न स्यात् ।
तस्मादनुशयोऽपेक्ष्यते ज्ञानोपयोगार्थमिति कार्ष्णाजिनिराचार्यो मन्यते ।

कार्ष्णाजिनिग्रहणं पञ्चाग्निविद्याया भिन्नप्रकारत्वज्ञापनार्थम् । तस्मादस्य
स्वमते भिन्नत्वान्न शङ्का, नचोत्तरम् । न हि पञ्चाग्निविद्यायां पुरुषादन्यभावः सम्भ-
वति । प्रकरणपरिगृहीता श्रुतिर्नान्यत्र न्यायसम्पादिका ॥ ९ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

अतस्तदर्थमनुशयेऽवश्यं वाच्ये जन्मबोधिकापि चरणश्रुतिः 'काकवद्देवदत्तस्य गृह'मितिवत् पूर्वजन्म-
कृतं समीचीनं कर्मोपलक्षयिष्यति । यत् ये रमणीयचरणास्ते रमणीयां योनिं आसमन्तात् पद्येरन् ।
गत्यर्थपद्यतेर्ज्ञानार्थत्वात् तत्र विशेषावधारणे कर्मजन्यां तां योनिं ज्ञापयेयुरित्यर्थात् । अतः सिद्ध-
मनुशयेनेति कार्ष्णाजिनेराशयः । नामग्रहणप्रयोजनमाहुः कार्ष्णाजिनीत्यादि । भिन्नप्रकारत्वं
तु कर्मशेषरूपानुशयशून्यत्वम् । तेन सिद्धमाहुः तस्मादित्यादि । कार्ष्णाजिनिमतीयात् कर्मशेष-
रूपानुशयात् अस्य भोगसाधकसामग्रीशेषरूपस्य फलशेषस्यानुशयस्य भिन्नत्वात् तस्य च दृष्टस्मृ-
तिभ्यां सिद्धतया चरणेन गतार्थताया आपादयितुमशक्यत्वान्नाशङ्का । तदभावादेव च नोत्तरमप्य-
पेक्षितमित्यर्थः । एतदेवोपपाद्य दर्शयन्ति न हीत्यादि । पञ्चाग्निविद्यायां हि उक्तप्रकारेण देवैर्हु-
तस्य प्रश्ननिरूपणाभ्यां पुरुषभावः प्रतिपादितः, अतः साङ्गाद्वैदिककर्मणः फलावश्यंभावनियमेन पुरु-
षादन्यभावो न सम्भवत्यतोऽस्याः कर्मान्तराद्भिन्नप्रकारत्वम् । पञ्चाग्निश्रुतिश्च प्रश्नादिबोधितप्रकरण-
परिगृहीता न कर्मान्तरस्थले न्यायसम्पादिका । अतो नात्र शङ्कोत्तरे, किन्त्वन्यत्रैव ते इत्यर्थः ॥९॥

रश्मिः ।

प्रत्यक्षविरोधात् । व्युत्क्रमेण व्याख्याने यदि वाक्यार्थज्ञानं भवेत्तदोपलक्षणज्ञानं तेन ज्ञापक-
रूपार्थान्तरमिति वक्तुमाहुः **अत** इति । **तदर्थमिति** । निषिद्धकर्मकरणनिवृत्तये । मशकार्थो धूम
इतिवत् मशकनिवृत्तये इत्यर्थात् । 'अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिष्वि'ति कोशात् । **जन्मबोधि-
कापि** । शक्यार्थो जन्मेत्यर्थः । तथापि युगपद्वृत्तिद्वयविरोधो न, उपलक्षणस्य तात्पर्यवृत्तौ पर्यवसानात् ।
शब्दमात्रस्य व्यञ्जकत्वमपीष्यत इत्याहुः **काकवदिति** । मतुबन्तम् । गृहस्य तटस्थलक्षणम् । **उपेति** ।
तात्पर्यवृत्तिं समीचीनकर्मनिष्ठां करिष्यति । उपलक्षणं समीपपदार्थलक्षणा सा तात्पर्यानुपपत्तौ स्वबीजे
पर्यवस्यति लाघवात् । शक्यसम्बन्धस्य पाश्चात्यस्य स्वीकारे गौरवात् । तथाच क युगपद्वृत्तिद्वय-
विरोधः । यत् यथा भवति तथा । यत् यस्माद्वा । **तत्रेत्यादि** । पदने ज्ञानत्वरूपविशेषावधारणे ।
तामिति । रमणीयां योनिमस्य जीवस्य ज्ञापयेयुः । भाष्यीयानेनपदस्यार्थोऽनेन जीवेनेति । स्पष्टमन्य-
द्भाष्यम् । **आपादयितुमिति** । यदि स्वमतेऽस्मात् कर्मशेषरूपानुशयः स्यात्तदाशङ्केत्यापादयितुम् ।
कर्मशेषरूपानुशय आपादकः । आपाद्याशङ्का । **अपेक्षितमिति** । स्वमते । **पञ्चाग्नीति** । **प्रकरणेति**
भाष्यविवरणम् । **प्रश्नादीति** । पञ्चाग्निविद्याप्रकरणम् । **न कर्मेति** । पञ्चाग्निविद्याऽप्राकरणिककर्मान्त-
रस्थले न । **न्यायेति** । वक्ष्यन्ति च 'यदेव विद्यये'ति हीति सूत्रभाष्ये । **नात्रेति** । भाष्ये न शङ्कोत्तरे ।
अन्यत्रैवेति । आगममते । एवकारः कार्ष्णाजिनिपदात् । कृष्णाजिनस्यापत्यं कार्ष्णाजिनिः । अत
इञ् । कृष्णाजिनं ब्रह्मेति संहिता । कृष्णाजिनं सर्पो भवतीति दृष्टम् । संहितायां औषधिविद्या सान्नाय्य-
विद्येति माधवीये । तत्र सान्नाय्यविद्या प्रसिद्धा । औषधिविद्या काष्ठपुंसा मृगपातनरूपा दृष्टा । वयसां
सृष्टिः कपोतानां दृष्टा । शब्दप्रत्यक्षं घण्टाके जातम् । ॐ सच्चिदालिङ्गनप्रसूः ततो नीचैः ॐ सच्चिदा-
लिङ्गनप्रसो इति मन्त्रद्वयम् । वेदान्ते तु सर्वात्मभावविद्या । 'वशे कुर्वन्ति मां भक्त्ये'ति वाक्यात् ॥९॥

आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् ॥ १० ॥

नन्वेवं सति चरणश्रुतिरनर्थिका, ज्ञापनायां प्रयोजनाभावात्, अतो विधायकत्वं श्रुतेः, इष्टानिष्टफलबोधकश्रुतिवत्, अतः कर्मतारतम्येन फलविधानान्निष्कामकर्मकर्तुर्ज्ञानोपयोगिदेहविधानं भविष्यतीति अनुशयसहभावो व्यर्थ इति चेत् । न । तदपेक्षत्वात् । धूमादिमार्गस्य तस्याः श्रुतेरपेक्षत्वात् । काम्येष्टादिकारिणः

भाष्यप्रकाशः ।

आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् ॥ १० ॥ साधारणानुशयपक्षे किञ्चिदाशङ्क्य परिहरतीत्याशयेन पूर्वपक्षांशं व्याकुर्वन्ति नन्वित्यादि ।

अयमर्थः । चरणश्रुतेः पूर्वजन्मीनकृत्युपलक्षकत्वं तस्या वैयर्थ्यापादकम् । न हि तस्मिन् ज्ञाते इह जन्मनि कोपि पुमर्थः सिद्ध्यति । अतस्तदभावाय चरणेनैतज्जन्मनि विधायकत्वं तस्या अङ्गीकार्यम् । यथा 'प्रतितिष्ठन्तीह वै य एता रात्रीरुपयन्ती'ति 'केवलाघो भवति केवलादी'त्यादौ प्रतिष्ठाकेवलाघत्वादिबोधनेन रात्रिसत्रं कुर्यात्, केवलादनं न कुर्यादिति कल्प्यते, तथा रमणीययोनिकामो रमणीयाचरणं कुर्यादिति । अतः कर्मतारतम्येनात्र फलस्यैव विधानान्निष्कामकर्तुर्ज्ञानोपयोगिदेहविधानं तादृशदेहोत्पत्तिश्चरणादेव भविष्यतीत्यनुशयसहभावो व्यर्थ इत्यर्थः ।

परिहारांशं व्याकुर्वन्ति धूमादीति । अपेक्षत इत्यपेक्षः । पचाद्यच् । तस्या अपेक्षस्तदपेक्षः । धूमादिमार्गस्य तथात्वादित्यर्थः । धूमादिमार्गस्य कथं चरणश्रुत्यपेक्षत्वमित्याकाङ्क्षायां तद्व्युत्पादयन्ति काम्येत्यादि । द्विविधा हीष्टादिकारिणो निष्कामाः सकामाश्च । तत्राद्यस्य फलसामग्रीदोषरूप एवानुशय इत्युक्तम् । द्वितीयस्य तु देवगाथोक्तबुद्ध्यभावात् सुकृते भुक्ते तदनन्तरमुत्पत्तौ 'सुखानन्तरं दुःख'मिति न्यायेन पापस्यैवोपस्थितत्वादसमीचीनशरीरप्राप्तिरापद्यते । सा तस्य मा

रश्मिः ।

आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् ॥ १० ॥ साधारणेति । कर्मशेषोऽनुशय इति पक्षे । वैयर्थ्येति । यदि चरणश्रुतिः पूर्वजन्मीनकृत्युपलक्षिका स्यात्तदेह जन्मनि पुमर्थासिद्ध्या व्यर्था स्यादित्येवं वैयर्थ्यापादकम् । तस्मिन्निति । साधारणानुशये । हेत्वन्तं भाष्यं विवृतम् । अतो वीत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म अतस्तदिति । विधायकत्वमिति । किञ्चिद्विधायकत्वम् । इष्टेत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म यथा प्रतीति । इत्यादाविति । प्रयोजनगौरवग्रन्थविस्तरभियादिशब्दार्थो नोच्यते । एवमन्यत्रापि । रात्रीति । 'ये प्रतितिष्ठासन्ति त एता रात्रीरुपेयु'रित्यर्थात्रिसत्रं कुर्यात् । केवलादीति । केवलश्चासावादः केवलादः सोऽस्यास्तीति केवलादीति । श्रुतौ केवलस्यादविशेषणत्वमभिप्रेत्याहुः केवलादनमिति । केवलश्चासावादी चेति पक्ष आद इत्यत्र समीचीनादे पङ्क्तिभेदापादकादे च लक्षणादशब्दस्येति स नाङ्गीकृतः । अतः कर्मेति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म अतः कर्मेति । फलस्यैवेति । रमणीययोनिरूपफलस्य । एवकारश्चरणव्यवच्छेदकः । विधानादिति । रमणीयचरणश्रुतौ स्वोक्तफलंलिङ्गं तद्रमणीययोनिकामो रमणीयाचरणं कुर्यादिति विनियोक्त्रीं श्रुतिं कल्पयित्वा विनियोजकमिति तथा । चरणादेवेति । आचारात् । एवकारोऽनुशयव्यवच्छेदकः । इत्युक्तमिति । कृतात्ययसूत्रभाष्यप्रकाशे । स च भोगः सकामानामित्यादिनोक्तम् । देवगाथेति । कृतात्ययसूत्रभाष्य उक्ता देवगाथा । बुद्धिस्तु 'हरिर्यद् भजतां शं तनोति' इत्युक्ता । भजनां शंविस्तारकर्तृत्वेन हरिविषयिणी बुद्धिः । इति न्यायेनेति । 'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ती'ति श्लोको न्यायस्तेन । पापस्यैवेति । एवकारेण सुकृतव्यव-

फलभोगानन्तरमुत्पत्तौ 'सुखानन्तरं दुःख'मिति न्यायेन पापस्यैवोपस्थितत्वादसमीचीनशरीरप्राप्तिर्मा भवत्विति रमणीयानुष्ठातृणां रमणीयशरीरप्राप्तिरेव बोध्यते, न न्यायेनासमीचीनशरीरमिति । तस्मादन्यनिषेधार्थं सार्थकत्वान्नानुशयप्रतिषेधिका ।

किञ्च । रमणीययोनिः किमाकस्मिकी, सकारणा वा । नाद्या वेदवादिनाम्,

भाष्यप्रकाशः ।

भवत्वित्येतदर्थं रमणीयानुष्ठातृणां रमणीयशरीरप्राप्तिरेव बोध्यते । ये सकामा इष्टादिकारिणस्ते समीचीनाचरणात् समीचीनं शरीरमाप्नुवन्ति, न न्यायेनासमीचीनं शरीरमिति । तस्मात् सकामानामसमीचीनशरीरनिषेधार्थं तस्या उक्तत्वान्नानुशयस्य सा प्रतिषेधिका । धूममार्गमुपक्रम्य तस्या उक्तत्वात्, 'तद्य इहे'त्यनेन तन्मार्गीयाणामेवोल्लेखाच्च धूममार्गस्यैव तदपेक्षत्वम् । 'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ती'त्यादिना पञ्चाग्निविद्यायाः समापितत्वान्न तस्यां तदपेक्षेति तथेत्यर्थः ।

ननु 'तद्य इहे'त्यत्रान्नादानां रेतःसिचामेवोल्लेखः, तथात्वं च निष्कामकारिष्वपि तुल्यम् । अतस्तेष्वपि नानुशयापेक्षेत्यत आहुः किञ्चेत्यादि । यच्च देहार्थमनुशयं नाङ्गीकरोषि, तत् किं रमणीययोनिराकस्मिकी तवाभिप्रेता, उत सकारणा । तत्राद्या कल्पना तु बाधव्यापादिका । अतो द्वितीयः पक्ष आदर्तव्यः । तत्र चरणमेव कारणत्वेन त्वया वाच्यम् । चरणं शीलम् । 'अक्रोधः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा । अनुग्रहश्च ज्ञानं च शीलमेतद्विदुर्बुधा' इति स्मृत्युक्तं वा । 'शुचौ तु चरिते शील'मिति कोशाद्वर्णाद्यविरुद्धमन्यद्वा स्वकर्म चरणपदेन ग्राह्यम् । तदा 'स्वकर्मणा पितृलोक' इति वाक्यादग्निष्वात्तादिलोकस्तत्फलम् । तथा पैतृमेधिकेन संस्कृतानां सपिण्डीकरणवाक्यानुरोधाद्वस्वादिरूपता च वक्तव्या । तथा 'प्रजामन्वि'ति वाक्यानुरोधात् पुत्रगृहे तत्पुत्ररूपेण जननमपि वक्तव्यम् । तथा 'त्रैविद्या मा'मिति वाक्यान्मर्त्यलोके पूर्ववदेव सोमपात्वेन भवनं

रश्मिः ।

च्छेदः क्रियते । प्राप्तिरेवेति । कपूयचरणव्यवच्छेदक एवकारः । न न्यायेनेति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म ये सकामा इति । तस्मादित्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म तस्मादिति । तस्या इति । चरणश्रुतेः । एवेति । अर्चिरादिमार्गव्यवच्छेदकोऽयम् । तस्यामिति । पञ्चाग्निविद्यायाम् । तदपेक्षा चरणश्रुत्यपेक्षेति । तथा नानुशयप्रतिषेधिकेत्यर्थ इत्यर्थः । अन्नादानामिति । 'यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येर'न्निति श्रुतेः । बाधत्वेति । यतो वेदवादिनां नाद्या । ईश्वरस्य कर्तृत्वात् । चरणं आचरणं शीलमिति पर्यायाः । अन्यव्यवच्छेदक एवकारोऽश्रुतत्वात् । स्वकर्मणेतिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म तदा स्वेति । अग्निष्वात्तेति । अग्निष्वात्तादयः पितृगणाः । वस्विति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म तथेति । आहिताग्नेर्दहनादिसंस्कारः पितृमेधः । पितृमेधेन संस्कृतं पैतृमेधिकं कर्म, तेन 'संस्कृत'मिति सूत्रेण ठक् । तेनेत्यनुवर्तते । सापिण्ड्यं साप्तपौरुषम् । तत्रोक्तवस्वादित्यरूपता । प्रजामित्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म तथेति । वक्तव्यमिति । तथाच स्मशानान्तक्रियाकारयितारः स्मशानान्तक्रियाकृत इति वक्तव्यम् । त्रैविद्येतिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म तथा त्रैविद्येति । पूर्ववदिति । पञ्चाग्निविद्यावत् । यद्वा । पूर्ववाक्यवत् । पुनर्भवनमिति भाष्यात् । एवकारस्तु

द्वितीये तु 'स्वकर्मणा पितृलोक' इति वस्वादित्यरूपता च वक्तव्या। 'प्रजामनुप्रजायन्ते श्मशानान्तक्रियाकृत' इति च। 'त्रैविद्या मां सोमपा' इत्यादिना इन्द्रलोकभोगानन्तरं तथैव पुनर्भवनं च वक्तव्यम्। नच सर्वेषामैक्यम्। भिन्नरूपत्वात्। तस्मात् कर्मकर्तृवैचित्र्येण श्रुतिस्मृतिभेदाः समर्थयितव्याः, न त्वेकमपरत्र निविशते। उपरोधप्रसङ्गात्। तथाच प्रकृतेऽपि अनुशयाभावे भक्षणभवनयोर्नियमो न स्यात्। ब्राह्मणादीनामप्यन्ने बलिहरणे श्वचण्डालयोर्भक्षणम्। ब्राह्मणभक्षणेऽपि मलभावे शूकरभक्षणम्। अनुशयस्य नियामकत्वे तुषादिष्वन्नभाव एव यावत् समीचीनरेतोभावः। तस्मादुपलक्षणतैव चरणश्रुतेर्युक्ता। तस्मादनुशयसहित एव वृष्टिभावं प्राप्नोतीति सिद्धम् ॥ १० ॥

सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः ॥ ११ ॥

भाष्यप्रकाशः।

वक्तव्यम्। नच सर्वेषां फलैक्यम्। तेषां फलानां देशभेदेन प्रकारभेदेन च भिन्नरूपत्वात्। तस्मात् फलभेदे कारणभेदस्यावश्यकत्वात् कर्मवैचित्र्येण भिन्नस्वभावकर्तृवैचित्र्येण च वाक्यभेदाः समर्थयितव्याः। इदं वाक्यमेतादृशकर्मपरमेतादृशकर्तृपरमिति। 'ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना। करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रह' इति प्रतिज्ञाय गीतायां तद्भेदानामुक्तत्वात्। एवं सिद्धे असङ्कीर्णत्वे तत्र तत्र तत्तत्फलभोगोत्तरमावृत्तौ तज्जन्मीनकर्मनियमार्थमनुशयोऽवश्यं वक्तव्यः। एवं यथान्यत्र, तथाच प्रकृतेऽपि तथैव प्रकृते चरणवाक्ये, अपिशब्दात् ततः पूर्वस्मिन् धूममार्गवाक्ये च नानान्नानां तद्भक्षणस्य नानायोनीनां चोक्तत्वादनुशयस्तत्रापि नियामकत्वेनावश्यमभ्युपेयः। तदभावे भक्षणभवननियमाभावापत्तेः। नच भक्षणे तस्य न नियामकत्वमिति शङ्क्यम्। ब्राह्मणादीनामित्याद्युक्तप्रकारस्य दर्शनादनुशयाभावे भक्षितादप्यन्नात् समीचीनं रेतो न स्यात्। तादृशस्य रेतसः अभावे ततः समीचीनयोनेरप्यभावः। अतो रमणीययोनिं प्रति चरणस्य हेतुत्वं वदताप्यवश्यं नियामकत्वेनानुशयोऽङ्गीकार्यः। नचान्नभावेऽपि तत्र तुषस्यापि दर्शनात् ततः समीचीनरेतोनुत्पत्तिः शङ्क्या। तस्य गोप्रभृतिभिर्भक्षणे ततो दुग्धरूपेणान्नभावस्य सिद्धेः। अद्यमानस्यैवान्नत्वादिति। एवं सिद्धे तस्यावश्यकत्वे अनुशीव्यमानस्य तस्यैव चरणं प्रत्यपि नियामकत्वम्। अतः सकाम एव धूममार्गे नानाफलानामुक्तत्वात् तत्रैव चरणापेक्षा, न तु निष्कामे पञ्चाग्निविद्यासम्पादितदेहे। तस्मादत्र योन्यादिनिरूपणद्वाराप्यनुशयोपलक्षणतैव चरणश्रुतेर्युक्तेत्यर्थः। सिद्धमाहुः तस्मादनुशयेत्यादि। तस्मादिति। सर्वत्राप्यनुशयस्यावश्यकत्वात् ॥ १० ॥

सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः ॥ ११ ॥ एवं चरणादेव फलं भविष्यत्यनुशयाङ्गीकारो व्यर्थ इत्याशङ्क्य कार्ष्णाजिनिमतोपन्यासेन तदुपष्टम्भेन च धूमादिमार्गे कर्मात्मकानुशयस्याप्यावश्यकत्वं साधितम्। अतः परं तस्य कियत्पर्यन्तमनुवृत्तिरित्याकाङ्क्षायां तद्विवेक्तुमिदं सूत्रं प्रवृत्त

रश्मिः।

सोमपात्वान्यव्यवच्छेदकः। तथैवेतिभाष्यं विवृतम्। नचेतिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म **नचे**ति। भिन्नेतिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म **तेषा**मित्यादिना। **देशे**ति। देशः स्थानं तद्भेदेन। तस्मादितिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म **तस्मा**दिति। **कर्मे**ति। संज्ञाभेदात्कर्मभेदस्तेन वैचित्र्यं पूर्वतन्त्रद्वितीयाध्याये। तेन। **कर्त्रि**ति। एकादशस्कन्धे 'तेषां प्रकृतिवैचित्र्याच्चित्रा वाचः स्रवन्ति ही'ति वाक्याद्वाक्यभेदकर्तृवैचित्र्ययोः कार्यकारणभावः। **तद्भेदाना**मिति। ज्ञानज्ञेयादिभेदानाम्। ज्ञेयं कर्म। विधिपादे कर्मनोदना कर्मविधिरेव ज्ञानविधिः परिज्ञातृविधिश्च। अष्टादशाध्याय उक्तत्वात्। **असंकीर्णत्व** इति। एतेन भाष्य उपरोधस्य साङ्कर्यमर्थ इत्युक्तम्। तथाचेति भाष्यं विवरीतुं सङ्गत्यर्थमाहुः **एवं यथान्यत्रे**ति। विवृण्वन्ति स्म **तथैव प्रकृते** इति। चकार एवकारार्थे। उक्तरीत्या सङ्गत्यर्थमेवं यथान्यत्रेति वाक्यपूरणे। **शब्दा**दिति। अनुशयवाचकशब्दात्। रमणीयचरणरूपात्। **पूर्वस्मि**न्निति। 'त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते ततो वै खलु दुर्निष्प्रपतरं यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूप एव भवती'तिपूर्वस्मिन्। खल्विति खेदे। **दुर्निष्प्रपतर**मिति। अत्राकारस्य लुप्तत्वाद्दुष्प्रापतरम्। व्रीह्यादिसंश्लेषणं दुष्प्रापतरम्। रेतःसिग्देहसम्बन्धरूपम्। अन्यैर्भुज्यन्ते काकतालीयवृत्त्या रेतःसिग्भिर्भक्षणमिति। **नाने**ति। नानेत्यादि स्पष्टम्। नानायोनीनां त्वित्थम्। यो रेतः सिञ्चति तद्रूप एव भवतीति सामान्यतो नानायोनयस्तासां सामान्यत उक्तत्वात्। अनुशयाभाव इति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **तदभाव** इति। अन्नभक्षणयोनिभवनयोर्नियमाभावापत्तेः। एवं त्वनुशयमवरुध्य तयोर्नैयमः। ब्राह्मणादीनामित्यादिभाष्यं विवरीतुमाहुः **न चे**ति। **तस्ये**ति। अनुशयस्य। **ब्राह्मणादीना**मिति। उक्तप्रकारस्तु ब्राह्मणादीनामप्यन्ने बलिहरणरूपे श्वचाण्डालयोः स्वभागादन्नभक्षणम्। ब्राह्मणकर्तृकभक्षणेऽपि मलभावेत्यादि स्पष्टम्। भयम्। तस्य दर्शनात्। **समीचीन**मिति। सामीचीन्यं कपूययोन्यनुत्पादकत्वम्। **रेतसः अभाव** इति। स्मार्तः प्रयोगः। अतो नात्र 'अतो रोरप्लुतादि'त्यस्य प्राप्तिः। **अनुशय** इति। कपूययोनिनिवर्तकः। अनुशयस्येतिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म **न चान्नभाव** इति। परम्परया समीचीनरेतोभाव इत्याहुः **तस्ये**त्यादि। **दुग्धे**ति। दुग्धस्य रेतोजनकत्वं वैद्यके प्रसिद्धम्। तेन 'यावत्समीचीनरेतोभाव' इति भाष्यमपि व्याख्यातम्। एवकारार्थमाहुः **अत** इति। एवकारो वेदान्ते योगमात्रात् योगरूढिव्यवच्छेदकः। अनुशये सिद्धमाहुरेवं **सिद्ध** इत्यादि। **तस्यैवे**ति। अनुशयस्य। एवकारो भगवदिच्छाव्यवच्छेदकः। परम्पराकारणभूताया एवंविधविषयत्वात्। **सकाम** इति। सप्तम्यन्तम्। एवकारो निष्कामव्यवच्छेदकः। **निष्काम** इति। धूममार्ग इत्येव। निष्कामो धूममार्गो मोक्षफलकः। पौर्वतन्त्रीयषष्ठाध्याये आत्मकामस्यापि प्रवेशनीयत्वात्। अन्यथा कर्मभिश्चित्तशुद्धिद्वारा मोक्षबोधकपुराणभागो व्यर्थः स्यात्। 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ती'तिश्रुतिश्च। तस्मादितिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म **तस्मा**दिति। **योन्यादी**ति। आदिना 'तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येर'न्नित्यस्या अग्रे 'ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वे'त्युक्तविशेषयोनयो ग्राह्याः। शक्यार्थनिरूपणद्वारापि। अपिना शक्यार्थपरित्यागेन लक्षणामात्रम्। शक्यार्थः सम्बन्धमात्रग्राहकः। **एवे**ति। शक्यार्थवाचकत्वव्यवच्छेदक एवेति। तथा च लाक्षणिकाया श्चरणश्रुतेर्युक्तेत्यर्थः इति काशकृत्स्नमते, स्वमतं तात्पर्यवृत्त्यङ्गीकारेणोक्तं पूर्वं व्यासमतवर्तित्वादाचार्याणाम्। **आवश्यकत्वा**दिति। भाष्ये एवकार उक्तोपपादनात् ॥ १० ॥

सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः ॥ ११ ॥ एवकारव्यवच्छेद्यमाहुः **अनुशये**ति। **व्यर्थ** इति। व्यवच्छेद्यो व्यर्थः। **तदुपे**ति। आनर्थक्यसूत्रेण तथा। **कर्मात्मके**ति। कर्मण आत्मा शेषः स्वार्थे कः। तस्यानुशयस्य। **अपी**ति। पदार्थसम्भावनायां कर्मजन्यभोगलेशसामग्रीशेषस्यावश्यकत्वम्। **कियद**िति। कियतां पुरुषाणां पर्यन्तमनुवृत्तिरिति प्रश्नः। निरनुशयपक्षशङ्कैव नास्तीत्युत्तरं फलिष्यति।

१. साधक।
ब्र० सू० २० ६

फलांश एवानुशय इति तु स्वमतम् । कर्म फलं च द्वयमेवेश्वरेच्छया नियतम् । कर्म पुनर्भगवत्स्वरूपमेव ब्रह्मवादे । सोभिव्यक्तः फलपर्यन्तं तदादिसंयोग इति स्वमतम् । अन्तसंयोगपक्षमाहैकदेशित्वज्ञापनाय ।

भाष्यप्रकाशः ।

इति बोधयितुं सूत्रमवतारयन्ति फलांश इत्यादि । पञ्चमस्कन्धोक्तदेवगाथारूपस्मृतौ फलांशरूप एवानुशय इति सोऽन्तिमं भगवत्स्मृतियुक्तं जन्मोत्पाद्य निवर्तते । तदुत्तरं यन्मोक्षसाधनमपेक्षितम्, तत्तु स्मरणपूर्वकं भजतां भगवानेव सम्पादयति । यदि कथञ्चित् पापोत्पत्तिः, तदापि 'स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः । विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चित् धुनोति सर्वं हृदि संनिविष्ट' इति, 'यत् करोषि यदश्नासी'त्यादिवाक्यात् साक्षात् परम्परया वा भगवतैव निवार्यत इति न पूर्वोक्तानुशयापेक्षेति स्वमतम् ।

किञ्च । कर्मात्मकानुशयपक्षेपि, कर्म तत्फलं चेति द्वयं 'एप उ एवे'त्यादिश्रुत्या ईश्वरेच्छयैव नियतम् । कर्म पुनर्भगवत्स्वरूपमेव ब्रह्मवादे । 'द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च । वासुदेवात् परो ब्रह्मन्न चान्योर्थोऽस्ति तत्त्वत' इति द्वितीयस्कन्धे ब्रह्मवाक्यात् । स द्विविधकर्मस्वरूपो भगवान् फलपर्यन्तमभिव्यक्तस्तिष्ठति । सम्पूर्णे फले जाते तिरोधत्ते । कर्मशेषात्मकोऽनुशयो निवर्तते । अतस्तस्य अभिव्यक्तिमारभ्य फलपर्यन्तं संयोग इति स्वस्य बादरायणाचार्यस्य मतम् । तत् 'कृतात्यय'सूत्रव्याख्याने देवगाथास्मृत्या सूचितम् । तत्रान्येषां न संमतिरिति बोधयन् आन्तं मोक्षा-

रश्मिः ।

एवेति । उपष्टम्भत्वादेवकारः । किञ्च, एवकारस्य साधनान्यव्यवच्छेदकत्वे समीचीनरेतोजनकत्वं न स्यात्साधने तुयानिरिक्तानां मल्लात्मेवायां नष्टानां जन्मसाधकानुशयस्यांशतः समीचीनरेतोऽनुत्पादकत्वात् । **भगवानेवेति** । एवकारस्तदर्थसाधनान्यव्यवच्छेदकः । **परम्परयेति** । भगवदर्पणद्वारा । **एवेति** । पूर्ववत् । स्वमते कर्म विहाय ब्राह्मे बृहदारण्यकशारीरब्राह्मणोक्ते देहेऽनुशयानुवृत्तिः, कर्मशेषरूपत्वे सुकृतदुष्कृतरूपत्वे चानुशयस्य नानुवृत्तिः । कर्म द्विविधं साधनं फलं चेति । तत्र साधनकर्म विहायेत्यत्र कर्मत्वेनोक्तं फलकर्मविषयं बोद्धुम् । कर्मेति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **किञ्चेति** । **कर्मात्मकेति** । कर्म चित्तशोधकत्वेन आत्मा स्वरूपं यस्य कर्मजन्यभोगसाधकसामग्रीलेशरूपस्य स कर्मात्मकः कर्मात्मकश्चासावनुशयश्च कर्मात्मकानुशयस्तस्य पक्षेपि । एवेति । पुष्टिमार्गातिरिक्त इच्छैव नियामिकेतीश्वरव्यवच्छेदकः । कर्म पुनरिति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म कर्म पुनरिति । **स्वरूपमेवेति** । 'प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वा'दितिसूत्रात् । स्वरूपं तु 'ज्ञानशक्तिक्रियाशक्ती सन्दिह्येते परस्थिते' इति भाष्योक्तम् । एवकारस्तु वेदशास्त्रार्थत्वात् । 'कर्मैके तत्र दर्शना' दितिजैमिनिसूत्रात् । **फलपर्यन्तमिति** । तदादिसंयोग इति वक्ष्यमाणत्वात्तस्य कर्मणः आदिसंयोगो लेशरूप इत्यभिव्यक्तस्तिष्ठति । **कर्मशेषात्मक इति** । समासः पूर्ववत् । **निवर्तत इति** । ब्राह्मदेहस्य कर्माजन्यत्वमिति चतुर्थाध्याये चतुर्थचरणे वक्ष्यन्ति । तदादीति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **अतस्तस्येति** । **संयोग इति** । कर्मणो द्रव्येण समवायो यद्यपि, तथाप्यपां पुरुषवचस्त्वेन तदन्तर्गतस्य संयोगः । **तत्रेति** । स्वानुशये । **अन्येषां** बादरिप्रभृतीनाम् । **बोधयन्निति** । बादरायणः । **मोक्षावधीति** । न तु मोक्षे कर्मशेषः कार्ष्णाजिनिमतसिद्धः, नापि कर्मजन्यभोगसाधकसामग्रीलेश इति भावः ।

सुकृतदुष्कृते एव विहितनिषिद्धकर्मणी अनुशय इति बादरिराचार्यो मन्यते । तेन मोक्षपर्यन्तमनुशयोऽनुवर्तिष्यत इति सूत्रफलम् । तुशब्देन निरनुशयपक्षशङ्कैव नास्तीत्युक्तम् । एवं द्वितीयाहुतिर्निर्धारिता ॥ ११ ॥

इति तृतीयाध्याये प्रथमपादे द्वितीयमनुशयाधिकरणम् ॥ २ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

वधि कर्मसम्बन्ध इत्याकारकमन्तसंयोगपक्षं बादरेरेकदेशित्वज्ञापनायाहेत्यर्थः । एकदेशित्वं त्वनुशयमात्राङ्गीकाराज्ज्ञेयम् ।

सूत्रं व्याकुर्वन्ति सुकृतेत्यादि । अभुक्तफले ते इत्यर्थः । शेषोर्थस्तु निगदव्याख्यात एव ।

अन्ये तु चरणसूत्रे उपलक्षणार्थेत्यस्य चरणश्रुतिर्लक्षणया कर्मबोधिकेत्यर्थमाहुः । अग्रिमे तु, तर्हि चरणानर्थक्यमितिचेन्न, कर्मण आचारापेक्षत्वादित्यर्थमाहुः । तृतीये तु, 'धर्मं चरती'त्यादिप्रयोगाच्चरणशब्देन सुकृतदुष्कृते एवोच्येते इत्यर्थमाहुः । तत्राप्यन्ततो गत्वैक एवार्थः ।

सिद्धं निगमयन्ति एवमित्यादि ।

अत्रेदं हृदयम् । निष्कामकर्माणि न स्वर्गादिजनकानि, किन्तु पावनान्येवेति तत्प्रकारबोधनाय पञ्चाग्निविद्याप्रवृत्तिं ज्ञापयितुमयं पादः । अन्यथा चन्द्रगतेः सर्वसाधारण्यादेतद्धोमवैयर्थ्यमेव स्यात् । अतो निष्कामकर्माणि द्युलोके यजमानमानीय तिरोदधति । तदनन्तरकार्यं तु तद्व्यापारभूता देवा एव कुर्वन्तीति न तत्र कर्मानुशयः, अपि तु फलानुशय एव । यः पुनः सकामकर्मात्मको मार्गः, तत्र तु कर्मानुशय एव । अत एवैकादशे 'आत्मा च कर्मानुशयं विधूये'ति भगवतोक्तम् । अतस्तन्मार्गीयानुशयं संग्रहीतुं मतान्तरोपन्यासः । अतो द्वितीया सोमाहुतिरेवमुक्तप्रकारेणानुशयवत एव वृष्टिभावं जनयति । अनुशयश्च योग्यदेहसम्पत्तिपर्यन्तमनुवर्तते इति प्रकारेण निर्धारिता, न तु मतान्तरोक्तप्रकारेणेत्यर्थः ॥ ११ ॥ इति द्वितीयमनुशयाधिकरणम् ॥ २ ॥

रश्मिः ।

अन्तेति । आन्तं मोक्षावधीत्यत्र व्याख्यातं पूर्वम् । **अनुशयेति** । व्यासस्वीकृतानुशयेऽनुशयमात्रं कर्ममात्रं तस्याङ्गीकारात् । **निगदेति** । **सूत्रेति** । शेषरहितोऽनुशय इति कार्ष्णाजिनिमताद्द्वितीयमतं सूत्रफलम् । **एवेति** । निरनुशयपक्षव्यवच्छेदकः । एवं निगदव्याख्यातः । एवकारस्तु एतद्विषयकदृढवासनायाः । **धर्ममिति** । आदिनाऽधर्मं चरतीति प्रयोगः । तस्मात् । **एवेति** । सौत्रत्वादुक्तः । **अन्तत इति** । युगपद्वृत्तिद्वयविरोधेन तात्पर्यवृत्त्यङ्गीकारेपि तादृशकर्मबोधिका । 'विशिष्टं शुद्धान्नातिरिच्यत' इत्युक्तेरेवकारः । **पावनान्येवेति** । एवकारस्तु 'तमेतं वेदानुवचनेने'ति श्रुतेः । 'यथानुष्ठीयमानेने'त्येकादशस्कन्धाच्च । विविदिषायाः भक्तेश्च चित्तशुद्धिरूपपावनं विनासम्भवात् । एवेति । अवैयर्थ्यव्यवच्छेदकः । **तद्व्यापारेति** । कर्मणो भगवत्स्वरूपत्वेनापि सव्यापारत्वम् । **देवा एवेति** । निष्कामकर्मव्यवच्छेदकः । तिरोहितत्वात् । **न तत्रेति** । देवकृताहुतौ न । **फलेति** । सामग्रीलेशरूपः । एवेति । 'दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभा' इति वाक्यात् । **कर्मेति** । बादरिकार्ष्णाजिनिमतोक्तः । एवकारो विशेषधूननदर्शनात् । **अत एवेति** । कर्मात्मकानुशयादेव । एवकारः सामग्रीलेशव्यवच्छेदकः । **अत इति** । समाधिभाषापोषकमतान्तरभाषारूपत्वात् । एतेन सामग्रीलेशो नानुष्टम्भ इति शङ्कापास्ता । भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **अतो द्वीति** । आभासोक्तं निगमनमाहुः **एवमुक्तेति** । निगमनस्य हेतुघटितत्वाद्धेतुतृतीयान्तम् । तस्मात् पर्वतो वह्निमानिति निगमनमिति । **एवेति** । उक्तोपपादनात् । **योग्येति** । ब्राह्मोपि देहः सङ्गृहीतो योग्यशब्देन । सामग्रीलेशरूपेणानुवर्तते ॥ ११ ॥ **इति द्वितीयमनुशयाधिकरणम् ॥ २ ॥**

अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् ॥ १२ ॥ (३.१.३.)

तुल्यत्वेन विचारे ऐक्ये वा पञ्चाहुतिधूममार्गयोः सोमभावं गतस्य पुनरावृत्त्युपसंहारे उपलक्षणेनापि पापाचारवतामुपसंहारदर्शनात् तेषामप्याहुतिसम्बन्धो धूममार्गश्च प्राप्नोति, तन्निराकरणार्थमधिकरणारम्भः ।

ननु अनिष्टादिकारिणामपि सोमभावः श्रूयते, इष्टादिकारिव्यतिरिक्तानां 'ये वै के चास्माल्लोकात् प्रयान्ति, चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ती'ति कौषीतकिनः समामनन्ति । अत्र च 'कपूयां योनिमापद्यन्त' इति पर्यवसानम् । तेन सर्वे चन्द्रमसं गच्छन्ति ।

अयमाशयः । 'कर्माकर्मविकर्मे'ति त्रिविधो कर्मविधायको वेदः । 'अग्निहोत्रं

भाष्यप्रकाशः ।

अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् ॥ १२ ॥ ननु उक्ताधिकरणेन फलपर्यन्तं विचारे कृते किमन्यदवशिष्टं येनाधिकरणप्रणयनमित्याकाङ्क्षायां तत्प्रणयनप्रयोजनमाहुः तुल्यत्वेनेत्यादि । सोमभावस्य पञ्चाग्निविद्यायां धूममार्गे चोक्तत्वात् पञ्चाग्निप्रकारेण शरीरं प्राप्स्यतो धूममार्गिण एकरीत्या विचारे, सोमभावतौल्यादैक्ये वाङ्गीकृते, मार्गद्वयेन सोमभावं गतयोः पुनरावृत्त्युपसंहारे कपूयचरणानामप्युक्ततया तेषामपि मार्गद्वयसम्बन्धः प्राप्नोति । स च वाक्यान्तरविरोधान्नेष्ट इत्यस्यावशिष्टत्वात् तदर्थमधिकरणारम्भ इत्यर्थः ।

एवमारम्भं समर्थयित्वा अस्य पूर्वपक्षसूत्रत्वं ज्ञापयन्तो व्याकुर्वन्ति नन्वित्यादि । ननु सर्वेषां सोमभावेऽप्याहुत्यादिसंसर्गः कथमित्याकाङ्क्षायां तदाशयमाहुः अयमित्यादि । 'कर्माकर्मविकर्मे'ति प्रकारेण कर्मत्रैविध्यं बोधयन् विधायको वेदस्त्रिविधः । अग्निहोत्रमित्यादिवाक्यत्रयं तत्रोदाहरणम् । तेष्वकर्मबोधकस्य कर्माकर्तृनिन्दया अकर्मनिषेधमुखेन तत्कर्मविधायकत्वम् । विकर्मबोधकस्य तु निषिद्धप्रागभावपरिपालनद्वारा तद्विधायकत्वम् । स चैवं त्रिविधो वेदस्त्रैवर्णि-

रश्मिः ।

अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् ॥ १२ ॥ उक्तत्वादिति । 'सोमो राजा सम्भवती'ति पञ्चाग्निविद्यायाम् । 'एष सोमो राजा तद्देवानामन्न'मिति धूममार्गे । **पुनरावृत्तीति** । धूममार्गे 'अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते' इत्यनया पुनरावृत्त्युपसंहारे इति नार्थः । कपूयाचरणानामप्युक्ततयेत्यव्यवहितमूलकप्रत्ययात् । किन्तु 'जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानम्, तेनासौ लोको न संपूर्यत, तस्माज्जुगुप्सेते'ति पुनरावृत्त्युपसंहारस्तस्मिन् । उपलक्षणेनेत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म **कपूयचरणाना**मित्यादिना । **वाक्यान्तरे**ति । वाक्यं प्रकृतं तस्मादन्यत् वाक्यं शारीरब्राह्मणे 'अन्धं तमः प्रविशन्ति ये सम्भूतिमुपासते । ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रता' इति । तस्य विरोधादित्यर्थः । **अस्ये**ति । पूर्वपक्षसिद्धान्तस्य । **कर्माकर्म्मे**ति । 'स वै दुर्ब्राह्मणः प्रोक्त' इत्युत्तरार्धेन कर्माकर्तृनिन्दया । मुखमुपायः । तत्कर्मणो कर्मकर्मणो विधायकत्वम् । **निषिद्धे**ति । निषिद्धं यद्ब्राह्मणहननं तत्प्रागभावो भूतजातहननं करिष्यतीति प्रतीतिविरोधः । तस्य परिपालनं तद्द्वारा परिपालनाभ्युपायः । 'द्वारं पुनर्निर्गमनेऽभ्युपाय' इति विश्वः । टाप् । स्त्रीत्वं लोकात् । यद्वा । 'स्त्री द्वार्द्वारं प्रतीहार' इति कोशाद्द्वार्शब्दात्टाप् । 'द्वाःस्थितायां तु योषिती'ति यदा, तदा पूर्व एव प्रकारः । **तद्विधायकत्वं** विकर्मविधायकत्वम् । षष्ठे द्वितीयस्य पादस्य पञ्चमे चिन्तितम् । एतत्पूर्वान्वयीत्याहुः **स चैव**मित्यादि । **त्रैवर्णिके**ति ।

जुहुयात्' । 'यस्य वेदश्च वेदी च विच्छिद्येते त्रिपूरुषम् ।' 'न हिंस्याद्भूतजातानि' । ब्राह्मणादीनामपि त्रिविधकरणं सम्भवति । न हि सर्वोऽप्येकान्ततो विहितं वा प्रतिषिद्धं वा करोति । ततो विहितकर्तुरपि त्रयसम्भवाज्ज्ञानाभावेन फलभोगनैयत्यात् सोमभावानन्तरमेवाकर्मविकर्मभोगो वक्तव्यः । अत एवाविशेषोपसंहारौ । तस्मात् सोमभावानन्तरमेव सर्वेषां जन्मेति प्राप्तम् ॥ १२ ॥

संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात् ॥ १३ ॥

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । विहितव्यतिरिक्तकर्मणां संयमने यमसंनिधाने सुखं दुःखं वा अनुभूय आरोहावरोहौ । अनुभवार्थमारोहः, अनुभूयावरोह इति । कुतः । तद्गतिदर्शनात् । तेषां गतिर्विसदृशी दृश्यते । वेदे हि प्रथमं विहिता द्वेधा

भाष्यप्रकाशः ।

काधिकारिकः । तेषां च न हीत्यादिनोक्तरीत्या त्रयसम्भवात् । ज्ञानाभावेन फलभोगनैयत्यात् । विहितस्य बलिष्ठत्वेन पूर्वं तद्भोगात् पूर्वं सोमभावः, ततो भुक्ते तस्मिन्नन्ययोर्भोगः । स च भूम्यादिष्वेवेति ज्ञापनायैव 'तद्य इह रमणीयचरणा य इह कपूयचरणा' इत्युभयोरविशेषेणोपसंहारावुक्तौ । तस्मात् सोमभावानन्तरमेव सर्वेषामकर्मविकर्मभोगार्थं जन्म, सोमभावश्च पूर्वोक्तरीत्या द्वाभ्यामेवेति सर्वेषामेव आहुत्यादिसम्बन्ध इति प्राप्तम् । तथाच पूर्वाधिकरणे यः सर्वेषां सोमभावाभावः प्रतिपादितः, यश्च पञ्चाग्निसाधितदेहानां फलानुशय एवेति निर्णीतम्, तदयुक्तमित्यर्थः ॥ १२ ॥

संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात् ॥ १३ ॥ पक्षमिति । इष्टादिव्यतिरिक्तकारिणां सोमभावप्राप्तिपक्षम् । अनुभवार्थमिति । पुण्यफलानुभवार्थम् । अनुभूयेति । तत्तल्लोके पुण्यफलमनुभूय । तस्मात् स्थानादवरोहः, न तु चन्द्रगतिरित्यर्थः । हेतुं व्याकुर्वन्ति तेषामित्यादि । तेषां विहितव्यतिरिक्तकर्तॄणां गतिः फलप्राप्तिर्वेदे विसदृशी सोमभावविलक्षणा

रश्मिः ।

षष्ठस्य सप्तमेऽधिकरणे चिन्तितम् । तत इत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म **तेषां चे**ति । सर्वेषां च । उक्तेति । भाष्योक्तरीत्या । सोमभावेत्यत्रानन्तरशब्दार्थमाहुः **ततो भुक्त** इति । अन्ययोरन्योर्मार्गयोर्वा भोगो वक्तव्य इति भाष्यार्थः । अत एवेति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **स चे**ति । भोगश्च । अत इति सार्वविभक्तिकस्तसिरित्याशयेनाहुः **भूम्यादिष्वि**ति । आदिना द्युलोकः । एवकारः इहेति शब्दात् । **ज्ञापनायैवे**ति । श्रुतेरिहशब्दघटितत्वादेवकारः । तामेवाहुः **तद्य इहे**त्यादिना । **उभयोरि**ति । योन्योः । मार्गयोर्वा । भाष्ये । अविशेषेणोपसंहारावविशेषोपसंहारौ इत्याशयेनाहुः **अविशेषेणे**ति । तस्मादिति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **तस्मादि**ति । एवेति । विहितस्येत्यादिनोपपादनादेवकारः । **पूर्वोक्ते**ति । पञ्चाग्निधूममार्गोक्तरीत्या । **द्वाभ्यां** पञ्चाग्निधूममार्गाभ्याम् । श्रुतत्वादेवकारः । एवेति । पूर्वपक्षोपपादनादेवेति । **आहुत्यादी**ति । आदिना सोमभावः । **फलानुशय एवे**ति । द्वितीयाधिकरणसमाप्तौ फलानुशय एवेत्यस्य प्रकाशस्य रश्मौ व्याख्यातः ॥ १२ ॥

संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात् ॥ १३ ॥ भाष्ये । **संयमने** इति । 'वासः कुटी द्वयोः शाला सभा संयमनं त्विद'मिति सद्मनं साधारणं वासः, 'वैवस्वतं सद्मनं जनाना'मिति विशेषवासोत आहुः **यमे**ति । विवस्वद्यमस्य संनिधानं भगवतो भवति । घातकशक्ति-

गतिः, सकामा निष्कामा चेति। सकामा यथाकाममनन्तविधा। निष्कामा ज्ञानरहिता द्विविधा, वैदिकगृह्यस्मार्तभेदेन । तत्र गृह्यस्मार्ते यमः । श्रौते सोमभावः। तत्र त्रेताग्निविधानेन 'निष्कामानामदम्भानां पुण्यः स्या'दित्यधिकारिविशेषणात् विशेषतः सामान्यतश्च प्रायश्चित्तविधानात्। 'यदर्वाचीनमेनो भ्रूणहत्यायास्तस्मान्मुच्यत' इति। 'तरति ब्रह्महत्या'मिति च सर्वप्रायश्चित्तविधानात्। ब्रह्मानुभवाभावे सोमगतिरेव।

भाष्यप्रकाशः।

श्यत इत्यर्थः । तत् व्युत्पादयन्ति वेदे हीत्यादि । अर्थस्तु स्पष्टः । श्रौते सोमभाव एवेत्यत्र किं नियामकमित्याकाङ्क्षायां विभजन्ते तत्रेत्यादि। 'निष्कामाना'मिति वाक्यं तु स्मार्तम्। श्रुत्योस्तु तैत्तिरीयस्वाध्यायब्राह्मणस्था प्रथमा । संहितापञ्चमाष्टकस्था द्वितीया । पुण्यः स्यादिति । पुण्यो लोको भवेत् । विशेषतः प्रायश्चित्तविधानं पूर्वस्यां 'यदर्वाचीनमेन' इति श्रुतावुक्तम् । सामान्यतस्तद्विधानं द्वितीयस्यां 'तरती'ति श्रुतौ । तथाच निष्कामानामदम्भानां पापस्योक्तप्रकारेण निवृत्तत्वात् ब्रह्मानुभवाभावे मोक्षस्याभावात् सोमभावेऽधिकारिविशेषणं पापनिवृत्तिश्च नियामिकेत्यर्थः ।

नन्वर्द्धाधानिनां गृह्यस्मार्तधर्मस्यापि सत्त्वात् तेषां यमगतिरपि वक्तव्येति कथं सोमगति-

रश्मिः ।

त्वात् । तदाहुः **यमसंनिधान** इति । **प्रकृते** । **नन्विति** । छान्दोग्ये पञ्चाग्निविद्यायामुक्तेः । **स्पष्ट** इति । **तत्र गृह्यस्मार्ते यम** इति । यमवचनसरूपा श्रुतिः प्रयतामनिष्टादिकारिणां यमवश्यतां दर्शयति । 'न सांपरायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् । अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते म' इति । 'वैवस्वतं संयमनं जनाना'मिति चेति शङ्करभाष्ये । गृह्यसूत्राणि प्रसिद्धकर्मणि पात्रासादनादावुपयुज्यन्ते । तादृशगृह्यस्मार्ते यमः । 'अथ चेत्पात्रविद्युक्तो वैष्णवो ज्ञानवान् हि सः । हव्यकव्ये नियोक्तव्य इति प्राह स्वयं यमः । तस्मात्सर्वप्रयत्नेन श्राद्धे यज्ञे च कर्मणि । अदुष्यं चैव विप्रेन्द्र योजनीये प्रयत्नतः । तथैव मन्त्रविद्युक्तो शारीरैः पङ्क्तिदूषकैः । वर्जितं च यमः प्राह पङ्क्तिपावन एव सः । निर्मत्सरः सदाचारः श्रोत्रियो ब्रह्मविद्युवा । विद्याविनयसंयुक्तो पात्रभूतो द्विजोत्तमाः । वेदान्तविज्ज्येष्ठसाम अलुब्धो वेदतत्परः । योजनीयः प्रयत्नेन दैवे पित्र्ये च कर्मणि । यद्दत्तं च हुतं तस्मै ह्यनन्तं नात्र संशय' इति यमस्मृतौ । सोमभावोऽग्रे स्वयमेव विवेच्यः । **उक्त**मिति । ननु प्रायश्चित्तं पापस्य शोधनम्, तद्वाचकं पदं पूर्वस्यां किमिति चेत् । न । अधिकारिविशेषणस्य निष्कामस्य हेतुगर्भत्वेन तदेव तद्वाचकमिति । निष्कामत्वात्तस्मादेनसो मुच्यत इति । अतो निष्कामेन भवितव्यमिति निष्कामत्वविधानम् । तव्यस्य विधौ विधानात् । **तद्विधानं प्रायश्चित्तविधानम्** । **इति श्रुताविति** । अत्राप्यदम्भविशेषणस्य हेतुगर्भत्वेन तदेव प्रायश्चित्तवाचकम् । अदम्भत्वाद्ब्रह्महत्यां तरतीति । अतोऽदम्भेन भवितव्यमित्यदम्भत्वविधानम् । न दम्भो यस्येति । 'दम्भस्तु कैतवे कल्के' इति विश्वः । अग्रे **भाष्ये** । **सर्वप्रायश्चित्तेति** । भ्रूणस्य स्त्रीगर्भस्य शुक्रत्वेन ब्रह्मणश्च नित्यत्वे तद्धिंसाभावात्तत्स्थसर्वस्य हत्येति तथा । **प्रकृते** । **उक्तप्रकारेणेति** । शक्तितात्पर्याभ्यां उक्तो यो हेतुगर्भविशेषणप्रकारस्तेन । **विशेषण**मिति । अदम्भविशेषणम् । भाष्ये । एवेति । मोक्षव्यवच्छेदकः । **अर्द्धेति** । श्रौतस्मार्ताधानिनामित्यर्थो भाति । अपिना श्रौतधर्मस्य । **यमगतिरपीति** । अपिना सोमगतिः । एवेति ।

१. संयमनम् ।

पूर्वजन्मधर्मस्य चित्तशुद्ध्याद्युपयोगः । तदानीन्तनस्य गङ्गास्नानादेः श्रौताङ्गत्वम् । अतः पापस्याभावात् पुण्यस्योपक्षीणत्वात् तस्य पञ्चाग्निप्रकार एव । ज्ञानोपयोगिजन्मनि पापसंश्लेषाभावोपायमग्रे वक्ष्यति । पितृमेधप्रथमाहुतिमन्त्रस्तु मन्त्रत्वान्नमस्वन्न गतिनियामकः ।

त्रेताग्निविद्यारहितानां पुण्यपापोपभोगो यम एव । 'वैवस्वते विविच्यन्ते यमे राजनि ते जनाः । ये चेह सत्येनेच्छन्ते य उ चानृतवादिन' इति । यमगतेः

भाष्यप्रकाशः ।

रेवेत्युच्यत इत्याशङ्कायामाहुः पूर्वेत्यादि । पूर्वजन्मधर्मस्येति । पूर्वजन्मीनस्मार्तधर्मस्य । तथाच श्रौतस्य बलिष्ठत्वेन गृह्यस्मार्तस्यैवमुपयोगात् सा नेत्यर्थः । तेन सिद्धमाहुः अत इत्यादि । ननु भवत्वेवं पूर्वनिवृत्तिः, तथाप्युत्तरपापसंसर्गस्त्वनिवार्य इति पञ्चाग्निप्रकारेऽप्यपायः संभाव्यत इति ज्ञानोत्पत्तिस्तु दुर्घटैवेत्यत आहुः ज्ञानेत्यादि । अग्र इति । 'तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशा'-वित्यत्र । ननु ब्रह्मतत्त्वज्ञस्याहिताग्नेर्दहनादिसंस्कारो ब्रह्ममेधः, तद्रहितस्याहिताग्नेर्दहनादिसंस्कारः पितृमेधः, तस्य प्रथमाहुतौ 'वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजान'मिति मन्त्रे यमसंबन्ध उक्त इति कथं वैदिकानां सोमगतिरेवेत्युच्यत इत्यत आहुः पितृमेधेत्यादि ।अयं मन्त्रस्तु 'अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न' इतिमन्त्रवत् सिद्धार्थबोधकत्वाच्चाहिताग्निमात्रस्य यमगतिनियामकः । त्रेताग्निबोधकपदाभावात् । केवलगृह्यस्मार्ताग्निवत्स्वप्याहिताग्नित्वस्य तुल्यतया तैरेव चारितार्थ्याच्च । तस्मान्निष्कामस्यार्द्धाधानिनोऽपि सोमगतिरेवेति निश्चयः ।

अतः परं गृह्यस्मार्तानां गतिं विचारयन्ति त्रेतेत्यादि । पापान्तराभावेऽपि त्रेताग्निराहित्येन विहिताननुष्ठानस्य जातत्वात् तथेत्यर्थः । तेन सिद्धमाहुः यमगतेरित्यादि । तथाच यमगतेः पञ्चाग्निविद्यायाश्च एषा गृह्यस्मार्तश्रौतभेदेन भिन्ना व्यवस्थेत्यर्थः । ननु 'वैवस्वते विविच्यन्त' इति

रश्मिः ।

यमगतिव्यवच्छेदकः । **एवमिति** । स्मार्ताधानं पूर्वजन्मीनम् । श्रौताधानमस्मिञ्जन्मनीत्येवम् । **स्येति** । यमगतिः । तेन तदानीन्तनस्येत्यादिभाष्यस्य तज्जन्मकालिकस्य । आदिना विष्णुस्मरणम् । **श्रौताङ्गत्व**मिति । श्रौतगृह्येऽवान्तरपापनाशकत्वेन तथेत्यर्थो ज्ञापितः । गङ्गास्नानान्मार्जारीहत्याविमोकः । विष्णुस्मरणेन पिपीलिकादिहत्याया विमोकः । निष्पापिश्रौताधानस्य पञ्चाग्निविद्यया ज्ञानभक्त्यङ्गत्वमिति । **अत इत्यादी**ति । एवेति । मोक्षव्यवच्छेदकः । ननु पुण्यपापक्षये मोक्ष इति कुत एवकार इति चेत् । न । अत्र संदिग्धे विषये पञ्चाग्निप्रकार एवेत्यर्थात् । **अपाय इति** । निष्पापदेहनाशः । पापसंसर्गस्य सत्त्वात् । विशेषणाभावप्रयुक्तो विशिष्टाभावः । रक्तसरोजस्थले नीलं सरोजं नास्तीतिवत् । **दुर्घटैवेति** । 'निरवद्यं निरञ्जन'मिति श्रुत्यैवकारः । कामक्रोधाभ्यां पापकरणात्तामिस्ररूपाविद्यापर्वणश्च । भक्त्युत्पत्तिश्चेत् 'नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायत' इति वाक्यादेवकारः । आध्यात्मिकशुद्धौ ज्ञानोत्पत्तिः । आधिदैविकशुद्धौ भक्तिरिति । एवेति । यमगतिव्यवच्छेदकः । **सिद्धार्थेति** । चमसेऽर्वाग्बिलत्वोर्ध्वबुध्नत्वयोः सिद्धयोर्बोधकत्वं मन्त्रे, न तु साध्ययोः । तद्वत्सङ्गमने यमे राजत्ववैवस्वतत्वयोः सिद्धयोः, न तु साध्ययोरर्थयोर्बोधकत्वात् । **केवलेति** । केवलगृह्यस्मार्ताग्निवत्सु अपि आहिताग्नित्वस्येति छेदः । **तैरित्यादि** । केवलगृह्यस्मार्ताग्निमद्भिः । एवकारः श्रौताग्निमद्व्यवच्छेदकः । तथाच केवलगृह्यस्मार्ताग्निमद्विषया यमगतिरिति भावः । **सोमगतिरेवेति** । यमगतिव्यवच्छेदक एवेति । **तथेत्यर्थ** इति । पुण्यपापोपभोगो यम एवेत्यर्थ इत्यर्थः । एवकारव्यावर्त्यवाक्याभावः । तदाहुः **वैवस्वत**

१. इदानीन्तनस्य ।

पञ्चाग्निविद्यायाञ्चैषा व्यवस्था । चित्तशुद्धिभावाभावाभ्यां वा अवश्यं काण्डद्वयव्यवस्था । एकस्यैतद्वक्तव्यम् । सकामनिष्कामभेदो वा । वेदान्तिनामपि पापार्थं यमापेक्षणात् सा गतिर्वक्तव्यैव । तस्मान्न सर्वेषां सोमगतिः ॥ १३ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

हि तैत्तिरीयाणां श्रुतिः, सा च वैदिकानपि सङ्ग्रहीष्यति, तस्या गृह्यस्मार्तैकपरत्वे नियामकाभावात्, अतो न पूर्वोक्ता व्यवस्थाऽयुक्तेत्याशङ्क्य पक्षान्तरमाहुः **चित्तेत्यादि** । यस्य चित्तशुद्धिस्तस्योत्तरकाण्डोक्तः पञ्चाग्निसंबन्धः । यस्य न सा, तस्य 'न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्, अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनःपुनर्वशमापद्यते म' इति यमवचनश्रुतेः पूर्वकाण्डोक्ता वैवस्वतगतिरित्येवं श्रौतपरत्वेनैव तदुभयव्यवस्था मन्तव्या । तत्र हेतुः **अवश्यमित्यादि** । गतिर्हि पञ्चाग्नियमभेदेन काण्डद्वयेऽप्युक्ता । यदि तत्र व्यवस्था काचिन्नोच्येत, तदा गतिद्वयं सङ्कीर्येत । अतस्तदभावार्थमवश्यं काण्डद्वयस्य व्यवस्था । तत्र एकस्य येन केनापि प्रकारेण जघन्यस्योत्तमस्य च यथायथमेतद्गतिद्वयमसङ्कीर्णं वक्तव्यम् । सङ्गफलयोस्त्याग एव यज्ञादीनां पावनत्वस्य गीतायामुक्तत्वात् । पूर्वोपपादितः सकामनिष्कामभेदो वा तदर्थं वक्तव्यः । अन्यथा एकतरश्रुतिव्याकोपस्य दुष्परिहरत्वादिति । ननु पूर्वकाण्ड एवेयं व्यवस्था भवतु, उत्तरकाण्डे तु ज्ञानस्य प्राधान्यात् तस्य च सर्वकर्मदाहकत्वान्नैतद्व्यवस्थोपयोग इत्याशङ्कायामाहुः **वेदान्तिनामित्यादि** । तथाच 'सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि' 'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृ'दिति वाक्यात् कर्म तु नियतम्, ज्ञानं तूपायसाध्यत्वान्न श्रवणमात्रात् सर्वस्योत्पद्यते । अतस्तेषामपि सा वक्तव्यैवेति 'ये चे'ति श्रुतिः पूर्वोक्त एव विषये सङ्कोच्येत्यर्थः ॥ १३ ॥

रश्मिः ।

इति । **व्यवस्थेति** । यमवैवस्वतयमयोश्च श्रौतस्मार्तभेदेन । **व्यवस्थेति** । व्यवस्था अयुक्तेति पदच्छेदः । **चित्तेति** । चित्तस्य शुद्धिस्तस्या भावाभावाभ्याम् । एवेति । गृह्यस्मार्तव्यवच्छेदकोऽयम् । सकामेति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **सङ्गेति** । एवेति । सङ्गाद्धरिणस्य जडभरतस्य, कामफलात् अजामिलस्य चित्तकालुष्येणापावनरूपेण जन्म यमदूताभ्यां क्लेशो दृष्ट इत्येवकारः । **गीतायामिति** । अष्टादशाध्याये । 'एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च । कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्' । 'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणा'मिति । **पूर्वेति** । वेदे हीत्याद्युक्तपूर्वभाष्येणोपपादितः । **तदर्थमिति** । पञ्चाग्निविद्यायाः यमगतेश्च व्यवस्थार्थम् । **एकतरेति** । पञ्चाग्नियमगतिप्रतिपादिकयोः श्रुत्योरेकतरेत्यादिः । एवेति । उत्तरकाण्डव्यवच्छेदकः । **वेदान्तिनामित्यादीति** । **पापार्थमिति** । पापनिवृत्त्यर्थम् । 'अर्थोऽभिधेये'ति कोशात् । **सेति** । यमगतिः । **एवेति** । विकर्मपाते हृदि सन्निविष्टस्य धूननकर्तृत्वेनाभावादेवकारः । **तस्मादिति** । 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुने'ति वाक्याविषयाणामपि सत्त्वात्तेषां यमगतेः सत्त्वान्न सर्वेषां सोमगतिरित्यर्थः । **पूर्वोक्त इति** । 'वेदे ही'त्याद्युक्ते । अन्त्यपक्षत्वादेवकारः । **विषय इति** । निष्कामे ॥ १३ ॥

स्मरन्ति च ॥ १४ ॥

स्मरन्ति च व्यासादयः । 'यमेन पृष्टस्तत्राहं देवदेव जगत्पते । पूर्वं त्वमशुभं भुङ्क्ष उताहो नृपते शुभमि'त्यादि । चकाराल्लोकप्रसिद्धिः ॥ १४ ॥

अपि सप्त ॥ १५ ॥

चेत्यनुवर्तते । पापोपभोगार्थं यमालयगमनमङ्गीकर्तव्यम् । यतस्तत्र नरकाः सप्त सन्ति रौरवादयः । सप्तसंख्या संख्याभेदेष्ववरकक्षा । सर्वथा निराकरणाभावाय सप्तग्रहणम् । तस्मात् यमगतिरस्ति ॥ १५ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

स्मरन्ति च ॥ १४ ॥ अपि सप्त ॥ १५ ॥ एतत्सूत्रद्वयभाष्यं प्रकटार्थम् ।

तत्रापि पूर्वसूत्रभाष्ये लोकप्रसिद्धिर्नामभ्रान्त्या यमदूतनीतानां प्रत्यागतानामनुभवस्य पौराणिकवाक्यसंवादरूपा बोध्या ।

द्वितीयसूत्रभाष्ये च यमगतिरस्तीत्यत्र [illegible]मगतेरतिरिक्तास्तीत्यर्थो बोध्यः ॥१४॥१५॥

रश्मिः ।

स्मरन्ति च ॥ १४ ॥ अपि सप्त ॥ १५ ॥ प्रकटेति । वाक्यं नृगप्रसङ्ग उत्तरार्धे । इति प्रथमसूत्रे भाष्यं प्रकटार्थम् । द्वितीयसूत्रभाष्यं **चेतीति** । अर्थः पूर्वोक्तः लोकप्रसिद्धिरूपः । **सप्तसंख्या संख्याभेदेष्विति** । संख्याभेदेषु सप्तसंख्या अवरकक्षेत्यर्थः । संख्याभेदाः श्रीभागवतादौ । तथाहि । एकविंशतिनरकास्तामिस्रादयः । सप्तान्ये क्षारकर्दमादयः । मिलिता नरका अष्टाविंशतिसंख्याकाः । मनुस्मृतौ चैकविंशतिसंख्याकाः तामिस्रादयः अन्यनिवेशेन व्युत्क्रमेण च । तथैव याज्ञवल्क्यस्मृतौ एकविंशतिनरकास्तामिस्रादयः । तत्रैको भाग उपात्तश्चेत्सप्त भवन्ति । तत्रापि नियामकाकाङ्क्षायां तामिस्रान्धतामिस्ररौरवमहारौरवकालसूत्रासिपत्रवनशाल्मलीनामकानां सप्तानामेव त्रिषु सत्त्वेन प्रसिद्धत्वात्सप्तग्रहणम् । यद्वा । भारते सप्त रौरवादयो गणिताः । तेऽत्र माध्वभाष्ये प्रसिद्धाः । वाराहे चातुर्मास्यमाहात्म्ये तृतीयाध्याये च 'रौरवः प्रथमः प्रोक्तो महारौरव एव च । कुम्भीपाकोऽसिपत्राख्यः पूयशोणितमद्गरौ । तप्तवालुक इत्येते सप्तैव नरकाः स्मृता' इति । तदेतदाहुः **सर्वथेत्यादि** । एवं प्रकटार्थम् । अजामिलप्रसङ्गे लौकिकी भाषेत्याशयेनाहुः **भ्रान्त्येति** । 'अथैनं मापनयत कृताशेषाघनिष्कृतम् । यदसौ भगवन्नाम म्रियमाणः समग्रही'दिति विष्णुदूतवाक्येन पापाभाववत्यजामिले । 'तत एनं दण्डपाणेः सकाशं कृतकिल्बिषम् । नेष्यामोऽकृतनिर्वेशं यत्र दण्डेन शुध्यती'ति यमदूतवाक्ये तेषां कृतकिल्बिषत्वेन ज्ञानं भ्रान्तिस्तया । यमदूतनीतानां यथाजामिलस्य । 'स पाशहस्तांस्त्रीन् दृष्ट्वा पुरुषान् भृशदारुणान् । वक्रतुण्डानूर्ध्वरोम्ण आत्मानं नेतुमागता'निति । 'विकर्षन्तोऽन्तर्हृदयाद्दासीपतिमजामिल'मिति भयान्नीतस्य । **प्रत्यागतानामिति** । यथाजामिलस्य । 'द्विजः पाशाद्विनिर्मुक्तो गतभीः प्रकृतिं गत' इति प्रत्यागतस्य । **अनुभवस्येति** । यथा 'ववन्दे शिरसा विष्णोः किङ्करान् दर्शनोत्सव' इत्यनुभवस्य पौराणिकानि वाक्यान्युक्तानि । तत्संवादरूपा बोध्येत्यर्थः । भाष्योक्तनृगप्रसङ्गे च 'एतस्मिन्नन्तरे याम्यैर्दूतैर्नीतो यमालयम् । यमेन पृष्टस्तत्राहं देवदेव जगत्पते । पूर्वं त्वमशुभं भुङ्क्ष उताहो नृपते शुभम् । नान्तं दानस्य धर्मस्य पश्ये लोकस्य भास्वतः । पूर्वं देवाशुभं भुञ्ज इति प्राह पतेति सः । तावदद्राक्षमात्मानं कृकलासं पतन् प्रभो' इति पौराणिकवाक्यसंवादरूपा बोध्या । बहुवचनादन्यत्रिकाणि वाक्यानि संग्राह्याणि ॥ १४ ॥ १५ ॥

---

१. यमक्षयम् ।

तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः ॥ १६ ॥

किञ्चिदाशङ्क्य परिहरति । ननु नरकेषु चित्रगुप्तादयो भिन्ना एवाधिकारिणः सन्ति, तथा सति तृतीयः पक्षः स्यात्, अत आह। तत्र नरकादिषु येऽधिकारिणः, ते यमायत्तास्तत्सेवकाः । अतो यमस्यैव तत्रापि व्यापारान्न तृतीयपक्षप्राप्तिः । चकारात् सुखदुःखभोगेपि तृतीयपक्ष एव विरोधः ।

अथवा । यमगतेर्मन्त्रलिङ्गसिद्धेः पापस्य च पौराणिकत्वे चन्द्रगतिरेवैव

भाष्यप्रकाशः ।

तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः ॥ १६ ॥ सूत्रमवतारयन्ति किञ्चिदित्यादि । आशङ्कां व्युत्पादयन्ति नन्वित्यादि । यदि विलक्षणगतिदर्शनानुरोधेन 'ये के चे'ति श्रुतिं सङ्कोच्य फलाधिकारिभ्यां यमगतिर्द्वितीयाङ्गीकृता, तदा नरकाणां चित्रगुप्तादीनां च ततोपि वैलक्षण्ये सति युक्तेस्तौल्यात् सोपि तृतीयः पक्षः स्यात्, अन्यथा तु यमस्य नरकेष्वधिकारित्वाभावान्नियामकाभावेन तद्गतेरप्राप्त्या तद्बोधकस्मृतिविरोधापत्तेरित्यर्थः । परिहारं व्याकुर्वन्ति तत्रेत्यादि । तत्रापीति। नरकादिषु। तथाचैवं नरकगतिप्राप्तिसिद्धौ तद्गतिबोधकस्मृतिविरोधाभावेनातिरेकाङ्गीकारस्य वैयर्थ्यान्न तृतीयपक्षप्राप्तिरित्यर्थः । चकारसूचितं दूषणान्तरमाहुः चकारादित्यादि । तथाच सोमयमगती श्रौते अङ्गीकृत्य अस्य तथा तृतीयत्वमङ्गीक्रियते, तदास्याश्रौतस्य तृतीयत्वादेव विरोधः। अथवा। इयं यमगतिश्च चन्द्रगत्यवान्तरगतित्वेनाङ्गीक्रियते, तदा मन्त्रलिङ्गविरोधाद्विरोध इत्यर्थः । यद्वा । तद्भोगे चित्रगुप्ताद्यधिकारवत् तेषां यमायत्ततायाः अपि स्मार्तत्वात् तस्या अनङ्गीकारे तृतीयपक्ष एव विरोध इत्यर्थः ।

ननु स्मृतिविरोधः शिथिलः, श्रुतिस्तु यथा न वक्ति, तथा न निषेधति, अतः 'अप्रतिषिद्धमनुमतं भवती'ति न्यायेनातिरेकाङ्गीकारेपि को दोष इत्याशङ्क्य पक्षान्तरमाहुः अथवेत्यादि ।

रश्मिः ।

तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः ॥ १६ ॥ चित्रगुप्तेति । आदिना पञ्चमस्कन्धसमाप्त्युक्तास्तत्पुरुषाः अग्निष्वात्तादयस्तु निवसन्ति। **युक्तेरिति।** फलाधिकारिभ्यां गतिविभेदः स्यात्, तदा सोपि तृतीयः पक्षः स्यादित्यन्यथाज्ञानरूपायाः । **अधिकारित्वेति ।** 'द्वादशैते विजानीमो धर्मं भागवतं भटा' इति वाक्यात् । एतेन **भिन्ना एवे**ति भाष्यं समर्थितम् । नहि धर्मज्ञोऽधिकारी भवतीत्येवकारः । **तद्बोधकेति ।** 'यमेन पृष्टस्तत्राह'मितिनृगवाक्यविरोधापत्तेः । **नरकेति ।** नरक आदिर्येषां कर्मिणां चित्रगुप्तादीनां तेषु यमस्य भगवतोऽधोक्षजस्य व्यापारसंभवात् । एवकारस्तु ब्रह्मव्यापाराभावाय । यमस्य द्वारत्वात् । तदपि 'कृष्णायाक्लिष्टकारिण' इतिश्रुतेः विष्णोरपि न । स्थितिदशामात्रवृत्त्योत्पत्तिसंहारयोरननुगमात्। **नरकगतीति ।** तद्गतीत्यपि पाठः । **सोमयमेति ।** भाष्यीयसुखदुःखपदार्थौ । **एवेति ।** पौराणत्वान्यव्यवच्छेदकः । बाध्यत्वेन विकल्पास्पदत्वाभावाच्छ्रौतमते सहानवस्थानां अविरोधस्तु सुखयोः कर्मवदत्राप्यश्रौतेपि श्रौतयमगतिकर्मव्यापारात्सौत्रः । **अथवेति ।** चकारस्य द्वितीयार्थ इत आरभ्य । **मन्त्रलिङ्गेति ।** पितृमेधे 'वैवस्वतं सङ्गमनं जनानां यमं राजान'मिति मन्त्रलिङ्गविरोधात् शास्त्रभेदाद्विरोधः । अविरोधस्तु वेदान्तशास्त्रत्वात्तत्रापि यमगतावपि तद्व्यापाराच्चन्द्रगतिरूपव्यापारात्सौत्रः । **तेषामिति ।** चित्रगुप्तादीनाम् । **तृतीयेति ।** तत्प्राप्तिलक्षणो विरोधः । श्रौतेन बाधात् । **तत्रापि** तादृशविषयेपि **तद्व्यापारा**द्यमव्यापारादविरोधः सौत्रः । **पूर्वेन्त**-

स्यादिति विरोधः । तेषां यमसेवकत्वे तु मन्त्रलिङ्गपोषकत्वान्मार्गद्वयसिद्धेरविरोधः । तस्मात् यमगतिरस्तीति सिद्धम् ॥ १६ ॥

इति तृतीयाध्याये प्रथमपादे तृतीयमनिष्टादिकारिणामित्यधिकरणम् ॥ ३ ॥

विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ॥ १७ ॥ (३.१.४.)

साधारणत्वाभावाय पूर्वोक्तार्थसाधकमधिकरणमारभते। ननु 'ये के चास्माल्लोकात् प्रयान्ति, चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ती'त्यस्याः श्रुतेः का गतिः, पञ्चाग्निविद्याप्रस्तावे वा यमगतिः कुतो नोक्ता, तस्मात् वेदविरोधान्न तृतीयपक्षसिद्धिरित्याशङ्कां परिहरति तुशब्दः । अत्र वेदान्ते गौणमुख्यफलभेदोर्थं विद्याकर्मणो-

भाष्यप्रकाशः ।

तथाच निषेधाभावेनानुमतावपि श्रौतत्वं त्ववचनान्न शक्यवचनम् । अतः पापतन्नियामकयोः पौराणिकत्वमेव वाच्यम्। तथा सति कौशीतकिश्रुतावसङ्कोचाच्चन्द्रगतिरेवैव त्वन्मते श्रौती स्यात्, तदा यमगतेर्मन्त्रलिङ्गसिद्धेर्विरोधः श्रौत एवापतित इत्यर्थः । **मार्गद्वयसिद्धेरिति ।** चन्द्रगतियमगत्योः सिद्धेः । तथाच तदा अस्यापि श्रौतमध्यपातादविरोध इत्यर्थः ॥ १६ ॥ **इति तृतीयमनिष्टादिकारिणामित्यधिकरणम् ॥ ३ ॥**

विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ॥१७॥ अधिकरणप्रयोजनमाहुः **साधारणेत्यादि ।** सोमगतेः सर्वजीवसाधारणत्वाभावाय यमगतिसाधकं तदारभत इत्यर्थः । कथं साधकमित्यपेक्षायां तुशब्दव्याख्यानमुखेन शङ्कामुत्थाप्य तत्परिहारेण साधकमित्याशयेन सूत्रं व्याकुर्वन्ति **नन्वित्यादि ।** तथाच यदि यमगतिरत्राभिप्रेता स्यात्, तदा कौशीतकिश्रुतौ सर्वेषां चन्द्रगतिर्नोच्येत । पञ्चाग्निविद्याप्रस्तावेपि सोच्येत । अतो गतिबोधके स्थलद्वयेप्यनुक्तत्वात् तदङ्गीकार एतदुभयविरोधान्न तस्यास्तृतीयस्या गतेः सिद्धिरिति शङ्कामित्यर्थः । परिहारं व्याकुर्वन्ति **अत्रेत्यादि ।**

रश्मिः ।

भावेनाप्राप्तेस्तृतीयपक्षस्य । द्वितीयपक्षव्यवच्छेदक एवकारः । **पापेति ।** नियामकाः चित्रगुप्तादयः । **एवेति ।** श्रौतताव्यवच्छेदकः । **कौशीतकीति ।** [illegible]धिकरणे वक्ष्यमाणायाः सर्वस्याश्चन्द्रगतेरसङ्कोचात् । **एवैवेति ।** यमगतिव्यवच्छेदक एवकारः । **मन्त्रलिङ्गेति ।** मन्त्रलिङ्गेन सिद्धिर्यस्या यमगतेः । **एवेति ।** स्मार्तव्यवच्छेदकः । **इत्यर्थ इति ।** भाष्ये । तेषामित्यादि । चित्रगुप्तादीनाम् । **मन्त्रेति ।** मन्त्रे लिङ्गं यमगतेस्तस्याः **पोषकत्वात्** राजत्वपोषकत्वात् मन्त्रगतं राजत्वम् । **चन्द्रगतीति** मार्गद्वयपोषकयोः सिद्धेः ॥ १६ ॥ इति तृतीयमनिष्टादिकारिणामित्यधिकरणम् ॥ ३ ॥

विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ॥ १७ ॥ यमगतीति । द्वितीयायाः चन्द्रमार्गीयमगतेः बाधकम् । **तुशब्देति ।** मुखमुपायः । **तत्परीति ।** पञ्चाग्नीतिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म **पञ्चाग्नीति ।** **तदङ्गीकार एतदुभयेति ।** यमगत्यङ्गीकारे । **तस्मा**दित्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म **एतदुभयेति ।** पञ्चाग्निविद्याकौषीतकीश्रुत्युभयविरोधात् । **तृतीयस्या इति ।** तृतीयत्वं चित्रगुप्तपक्षस्य सोममार्गयमगतिपक्षेतरत्वात् । **अत्रेत्यादीति ।** **एवेति ।** चित्रगुप्तपक्षव्यवच्छेदकः ।

१. प्रत्ययन्ति, प्रयन्ति । २. दानार्थं देहार्थमिति पाठौ ।

रेव हेतुत्वेन निरूपणम् । विद्यया देवयानम्, कर्मणा सोमभाव इति । तयोरेव प्रकृतत्वात् कारणत्वात् । तेन कौषीतकिब्राह्मणेपि प्रकृतत्वात् कर्मिण एव सर्वशब्देनोक्ताः । अत्रापि न यममार्ग उक्तः । तस्मात् विद्याकर्मणोर्मुख्यत्वान्मार्गद्वयमेवोक्तम् । नैतावता तृतीयबाधः ॥ १७ ॥

न तृतीयेऽतथोपलब्धेः ॥ १८ ॥

ननु द्वयोः स्तुत्यर्थं यस्तृतीयो मार्ग उक्तः, 'अथैतयोः पथोर्न कतरेणचन तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ती'त्यादिना 'जुगुप्सेते'त्यन्तेन तृतीयनिन्दया द्वयोः स्तुतिरिति स एव तृतीयोऽस्तु, किं यममार्गेणेत्यत आह । न तृतीये मार्गे तथा पुण्यपापयोरुपभोग उपलभ्यते । यतः समानब्राह्मणे

भाष्यप्रकाशः ।

सोमभाव इति । प्रथमाहुतिफलात्मकः पितृयाणात्मकधूममार्गोक्तश्च सोमभावः । तयोरेव प्रकृतत्वात् कारणत्वादिति । मुख्यफलार्थं 'तद्य इत्थं विदु'रिति विद्यायाः, गौणफलार्थं 'य इमे ग्राम' इत्यादिना कर्मणश्च कारणत्वेन प्रकृतत्वात् । तथाच प्रकृतत्वाभावात् तदनुक्तिः, न तु यमगत्यभावादित्यर्थः । एतदेव स्फुटीकुर्वन्तो द्वितीयामपि शङ्कां परिहरन्ति तेनेत्यादि । मार्गद्वयमेवोक्तमिति । इदं सौत्रस्येतिशब्दस्य व्याख्यानं ज्ञेयम् ॥ १७ ॥

न तृतीयेऽतथोपलब्धेः ॥ १८ ॥ किञ्चिदाशङ्क्य परिहरतीत्याशयेनाहुः ननु द्वयोरित्यादि । इत्यत आहेति । यतः पूर्वसूत्रोक्तेऽर्थे एवमाशङ्कोत्पद्यते, अतस्तन्निवर्तकं हेतुमाहेत्यर्थः । यद्वा । अत्र 'न तृतीये मार्गे' इत्यादिकं सूत्रसिद्धार्थकथनम् । सूत्रयोजना त्वेवम् । न, यममार्गबाधो न । कुतः । तृतीयेऽतथोपलब्धेः । 'तानीमानी'त्यादिनोक्ते मार्गे यमगतिविलक्षणपापभोगोपलम्भादिति ज्ञेया । यतः समानब्राह्मण इत्यादिना तदुपपादनम् । समानब्राह्मणं च बृहदारण्यकस्थम् । तत्र 'कीटा' इत्यादिना क्षुद्राणि भूतानि निष्कृष्यन्ते । तादृश्यां योनौ निर्वृतिस्तु महाभारते

रश्मिः ।

विद्याया इति । पञ्चाग्निविद्यायाः । प्रकृतत्वादिति । प्रकृतत्वादित्यस्य सौत्रपदस्य कारणत्वादित्यर्थः । तदनुक्तिरिति । तृतीयचित्रगुप्तपक्षानुक्तिः । स्फुटीति । तेनेत्यारभ्य उक्त इत्यन्तेन । अत्रापीति । पञ्चाग्निविद्यायाम् । एवोक्तमिति । तुरेवकारार्थ इति भावः । भाष्ये । एतावतेति । पक्षाविषयमार्गोक्त्या । तृतीयबाध इति । सोममार्गो यमगतिश्चेति पक्षद्वयम् । चित्रगुप्तपक्षस्तृतीयः । तथा चात्र मार्गत्रयं पक्षत्रयं च । तथाच तृतीयपक्षबाध इत्यर्थः ॥ १७ ॥

न तृतीयेऽतथोपलब्धेः ॥ १८ ॥ भाष्ये । उक्त इति । छान्दोग्ये मार्गद्वयोक्त्यनन्तरमुक्तः । अथैतयोरिति । पञ्चाग्न्यादिचतुष्टयानन्तरम् । तृतीयोऽस्त्विति । पक्षोऽस्तु । यममार्गेणेति । चित्रगुप्तपक्षेण । प्रकृते । यद्यपि पुण्यपापभोगस्योपलब्धेरिति कर्मणिक्तिन्नुपलभ्यते, तथापि भावेक्तिन्नन्तस्य प्रयोगे न सम्भवतीत्याशयेनाहुः यद्वेति । यममार्गेति । मार्गपक्षयोरभेदेन पक्षस्थले मार्गशब्दः । यमगतीति । उपलम्भशब्दे भावे घञोपलब्धेरित्यत्र भावेक्तिनोऽविरोध इति भावः ।

१. अतथोपलब्धेरिति श्रीपुरुषोत्तमानां संमतः पाठः, अन्ये तु तथोपलब्धेरिति पठन्ति । २. क्षेत्राणि ।

'कीटाः पतङ्गा यदि दन्दशूक'मिति योनौ निर्वृतेर्विद्यमानत्वान्न महत्पापोपभोगः । नापि कीटादिषु महासुखोपभोगः । एकवाक्यता चोभयोर्युक्ता । यद्यपि महाराजादिराजदण्डादिषु तथोपभोगः सम्भवति, तथापि रम्भादिसम्भोगे नरके च यथा,

भाष्यप्रकाशः ।

कीटोपाख्यानात् बोध्या । तथाच यममार्गे यादृशः सुखदुःखभोगः, तादृशो न छान्दोग्योक्ते तृतीयमार्गे इति न तेन तस्य गतार्थतेत्यर्थः । ननु योनिनिर्वृत्या पापभोगवैलक्षण्यसाधनमयुक्तम्, 'नरकस्थोपि वै जन्तुर्न देहं मोक्तुमिच्छति । नारक्यां निर्वृतौ सत्यां देवमायाविमोहित' इति तृतीयस्कन्धे नरकेपि निर्वृतिकथनात्, अतो न तृतीयस्य यममार्गाद्वैलक्षण्यमित्यत आहुः एकवाक्यतेत्यादि । 'तानीमानी'त्यादिनोक्तस्य उभयोर्देवयानपितृयाणयोरेकवाक्यतैव प्रकरणाद्युक्ता । पूरणप्रत्ययान्तस्य तृतीयशब्दस्य संख्यापूरणार्थं मार्गद्वयसाकाङ्क्षत्वात् । मार्गद्वयवाक्यस्य च तत्स्तुत्यर्थं तृतीयसाकाङ्क्षत्वात् । यममार्गस्य तु भिन्नप्रक्रमपठितत्वेन मार्गद्वयापेक्षाराहित्यान्न छान्दोग्योक्तमार्गद्वयैकवाक्यत्वमित्युपपादितम् । यद्ययं यमगत्यवैलक्षण्येन तदात्मकः स्यात्, अस्याप्युभयैकवाक्यता भज्येत, अतो न तदवैलक्षण्यमित्यर्थः । एतदुपष्टम्भाय युक्त्यन्तरमाहुः यद्यपीत्यादि । तथोपभोगः सम्भवतीति । 'जायस्वे'ति मार्गेपि महोपभोगः संभवति । तथाचैवमपि वैलक्षण्यानपायाद्यममार्ग एतस्माद्भिन्न इत्यर्थः । ननु तर्हि पञ्चाग्निमार्ग एव यममार्गः प्रविशतु, पञ्चाग्निमार्गेपि यममार्ग इव देहान्तरप्राप्तेर्जडभरते दर्शनात् अत एव पञ्चाग्निमार्गस्य ज्ञानोपयोगिदेहजनकत्वमप्यसङ्गतम्, तथा सति ज्ञानोदयेनाग्रे जन्मद्वयाभावापत्तेः, अथ जडशरीरमेव पञ्चम्याहुतिफलमित्युच्यते, तदा तु रेतोभावस्य वारत्रयं भवनात् पुरुषभावस्य च विच्छेदेन वारद्वयं भवनादाहुतिक्रमबाध इति सर्वसामञ्जस्याय 'जायस्वे'ति मार्गस्यै

रश्मिः ।

बोध्येति । तथाच भाष्ये महदित्यत्र महतां पापानि तेषामुपभोगः इति विग्रहान्न कर्मधारयः अतो न 'आन्महद्'िति सूत्रस्य प्राप्तिः । महेति । महच्च तत्सुखमिति न समासः । कीटादिषु तदभावेनान्वयप्रसङ्गात् । तेन महांश्चासौ सुखोपभोग इति कर्मधारयः । 'आन्महद्'ित्यात्वम् । यममार्ग इति यमगतौ । तेन तस्येति । छान्दोग्योक्तेन मार्गेण तृतीयेन । तस्य यममार्गस्य । यमेति । यमगति रूपात् । एवेति । पृथग्वाक्यताव्यवच्छेदकः । आर्थक्रमे पञ्चाग्निविद्याप्रकरणान्तर्गतार्चिरादिप्रकरणाद्युक्ता पूरणेति । व्याकरणप्रसिद्धः पूरणप्रत्ययः । तत्स्तुत्यर्थमिति । सा चासौ स्तुतिस्तत्स्तुतिस्तदर्थम् यममार्गस्येति । यमगतेः । भिन्नेति । 'वैवस्वतं संगमन'मिति मन्त्रबोधितस्य यममार्गस्य मन्त्रप्रक्र पठितत्वेन । उपपादितमिति । उपपादितप्रायम् । अयमिति । यममार्गः, यममार्गत्वेन यममार्ग न तु यमगतित्वेन वैलक्षण्येन । तदात्मकस्तृतीयमार्गात्मकः । अस्यापीति । यममार्गस्यापि अपिना यमगतेः । यथोक्त'तानीमानी'त्यस्य यमगतिविलक्षणस्य सन्नदण्डस्यैकवाक्यतायामसन्नदण्डस्यै वाक्यताभावादेकवाक्यता भज्येत । अतो भङ्गभयात् 'तानीमानी'त्यादिनोक्तस्य छान्दोग्योक्तस्य तृतीयमार्गे न यमगत्यवैलक्षण्यमित्यर्थः । एतदिति । यममार्गयमगत्योरुपष्टम्भाय । एवेति । दृष्टान्तभावादेवकारः यममार्ग इति । यमगतिः । यममार्ग इति । भिन्नप्रक्रमपठितोपि । जडभरत इति । भिन्नप्रक्रमपर्णा दार्ष्टान्तिकत्वस्य दर्शनात् । जन्मद्वयेति । भरतस्य हरिणब्राह्मणजन्मद्वयाभावापत्तेः । एवेति । ज्ञानोदयव्यवच्छेदकः । विच्छेदेनेति । मृगशरीरव्यवधानेन । आहुतीति । 'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवच भवन्ती'ति पञ्चम्याहुतिक्रमबाधः । मृगशरीरेण विच्छेदात् । मार्गस्यैवेति । चित्रगुप्तव्यवच्छेदक एवेति, न

१. महापापोपभोगः ।

तथा न सम्भवति। जडे तु पञ्चम्याहुतिर्भरत एव हीश्वरेच्छया जन्मद्वयमधिकम्। 'त्रिभि'रिति वचनात्। भरतोऽहमिति प्रतीतेश्च। ततः पूर्वमस्मरणात् बाल्यादिवदेव जन्मत्रयम्। तस्मात् 'जायस्वे'त्यादिवैलक्षण्यादतिरिक्तो यममार्गः। पञ्चाहु-

भाष्यप्रकाशः ।

तृतीयत्वं भवतु, वैलक्षण्यस्य मार्गभेदकताया अप्रयोजकत्वादित्याशङ्कायामाहुः जडे त्वित्यादि। वचनं त्वेकादशस्कन्धे नारदेनार्षभान् प्रस्तुत्योक्तम्। 'स भुक्तभोगां त्यक्त्वेमां निर्गतस्तपसा हरिम्। उपासीनस्तत्पदवीं लेभे वै जन्मभिस्त्रिभि'रिति। अत्र या वैराग्यादिसंपदुक्ता, सैव तस्य पञ्चमाहुतिफलत्वस्येश्वरेच्छायाश्च ज्ञापिका। पञ्चमस्कन्धे प्रियव्रतं प्रति ब्रह्मवाक्येषु तथा निर्धारात्। प्रारब्धपक्षेपि तस्य द्वारत्वान्न शङ्कालेशः। प्रतीतेरिति। पञ्चमस्कन्ध एव 'अहं पुरा भरतो नाम राजे'ति जडोक्तायाः प्रतीतेः। एतेन स्मृतिमज्जन्मज्ञापनात् तादृशानुशयवत्त्वमुक्तम् उक्तहेतुद्वयात सिद्धम्। जन्मत्रयस्य स्वरूपमाहुः तत इत्यादि। ततः पूर्वमिति। भरतदेहात् पूर्वम्। तथाच भरतदेहस्यैव पञ्चमाहुतिफलत्वादग्रिमयोर्जन्मनोरवस्थातुल्यत्वेन तद्भेदान्नाहुतिक्रमभङ्गः, न वा

रश्मिः ।

चित्रगुप्तस्येति। **मार्गेति**। गतेर्मार्गत्वेदकतायाः। **जडे त्वित्यादीति**। महाभागवतत्वात् ज्ञानोपयोगिदेहो ज्ञायते। जीवहोमं विहायाम्भोम उक्तस्तस्य स्वारस्यम् जडशब्देन। डलयोरभेदात्। तेन तृतीया जन्मतिथिर्जडभरतस्येति ज्ञायते। एवकारस्तु अन्यत्र चेतने जडशब्दाप्रयोगात्। **हीति**। तृतीयाजो निर्जीवदेह इति ज्योतिषे निश्चयात्। **त्रिभिरिति** भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **वचनमिति**। **वैराग्यादीति**। 'गां त्यक्त्वेमा'मिति वैराग्यम्। आदिना तत्पदवीलाभः। **ज्ञापिकेति**। जडभरतः पञ्चमाहुतिफलं वैराग्यादिसम्पदः अक्षवत्। पूर्वोक्तः जन्मद्वयवान्। ईश्वरेच्छायाः जयविजयवत् इत्येवंज्ञापिका। **ब्रह्मवाक्येष्विति**। 'भवाय नाशाय च कर्म कर्तुं शोकाय मोहाय सदाभयाय। सुखाय दुःखाय च देहयोगमव्यक्तदिष्टं जनताङ्ग धत्ते। ईशाभिसृष्टं ह्यवरुन्ध्महेऽङ्ग दुःखं सुखं वा गुणकर्मसङ्गात्। आस्थाय तत्तद्यदयुङ्क्त नाथश्चक्षुष्मतान्धा इव नीयमानाः। मुक्तोपि तावद्बिभृयात्स्वदेहमारब्धमश्नन्नभिमानशून्यः। यथानुभूतं प्रतियातनिद्रः किन्त्वन्यदेहाय गुणान्न वृङ्क्ते' इत्येतेषु तथा निर्धारः। तस्मात्। नाथ इत्युक्तेः अक्षा पञ्चमाहुतिफलं वैराग्यादिसम्पदः जडभरतवत्। अक्षा जन्मवान्, ईश्वरेच्छायाः जयविजयवत्। ईश्वरे पञ्चाग्निविद्यास्ति। अन्यथान्यत्रकार्ये पञ्चाग्निविद्या न स्यात्। **प्रारब्धेति**। जडभरतप्रसङ्ग उक्तोयं पक्षः। तस्मिन्। 'स्वप्रारब्धकर्मणा योगारम्भणतो विभ्रंशित' इति जडभरतप्रसङ्गे। **द्वारेति**। भगवदिच्छाद्वारत्वात्। **एवेति**। स्कन्धान्तरव्यवच्छेदकः। **तादृशेति**। फलशेषरूपानुशयवत्त्वम्। तादृशानुशयवत्त्वेन योग्यदेहेन कार्यकारणभावः। **उक्तेति**। त्रिभिरित्यादिभाष्योक्ताद्धेतुद्वयात्। **भरतेति**। ल्यब्लोपे पञ्चमी। भरतदेहं प्राप्य पूर्वत्वेनावच्छिन्नं पूर्वम्। **जन्मत्रयस्येति**। भरतस्य जन्मत्रयस्य। **एवेति**। अग्रिमदेहद्वयव्यवच्छेदकः। **अवस्थेति**। देहस्यावस्था देहस्यात्र जन्मेति तत्तुल्यत्वम्। पूर्वदेहेनैवात्मतया देहद्वयस्वीकारात्। 'जन्म त्वात्मतया पुंसः शरीरस्वीकृतिं प्राहु'रिति। **तद्भेदादिति**। पूर्वदेहाभेदात्। 'अहं मनुरभवं सूर्यश्चे'ति वामदेववत्। इयान् विशेषः। वामदेवस्य जीवेश्वरः। अत्र तु जीवाभावः। जीवसहितवृष्टेः पुरुषवचस्त्वे अक्षा उदाहरणम्। न च हरिणदेहः पार्थिव इति वाच्यम्। 'मृगशरीरं तीर्थोदकक्लिन्नमुत्ससर्जे'ति वाक्यात्। न हि पार्थिवदेहस्तीर्थोदक-

तिनियमाभावस्तु ज्ञानोपयोगिदेहेऽप्यंशावतरणे पुष्टिमार्गत्वान्न तत्र दोषः॥ १८॥

स्मर्यतेपि च लोके ॥ १९ ॥

साधकान्तरमाह। अपि च लोकेपि मूर्च्छादिषु यमलोकगमनसम्भाषणपुनरागमनानि स्मर्यन्ते ॥ १९ ॥

दर्शनाच्च ॥ २० ॥

यमपुरुषा दृश्यन्तेपि कैश्चिदजामिलप्रभृतिभिः। चकारात् तेषां वाक्यादिश्रवणम्। तस्मात् वैवस्वतमार्गे न किमपि बाधकमिति सिद्धम् ॥ २० ॥

इति तृतीयाध्याये प्रथमपादे चतुर्थं विद्याकर्मणोरित्यधिकरणम् ॥ ४ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

तद्देहस्य ज्ञानानुपयोगित्वमिति नात्र यममार्गप्रवेशः शक्यवचन इत्यर्थः। **तस्मादित्यादि**। **ननु** मास्त्वेवमाहुतिक्रमभङ्गः, तथापि विदुरार्जुनादौ सोमादिभावाभावात् संख्यानियमस्तु भग्न एवेत्यत आहुः पञ्चेत्यादि। तत्रेति। मर्यादामार्गे ॥ १८ ॥

स्मर्यतेपि च लोके ॥ १९ ॥ दर्शनाच्च ॥ २० ॥ एतत्सूत्रद्वयभाष्यं त्वतिरोहितार्थम्। **एवञ्च** सिद्धे यममार्गे 'जायस्वे'ति तृतीयस्यापि विवेचकसापेक्षत्वात् तत्सन्निवेशः, न तु तस्य 'जायस्वे'ति मार्ग इति सिद्धमिति भावः ॥ १९ ॥ २० ॥ **इति चतुर्थं विद्याकर्मणोरित्यधिकरणम्** ॥ ४ ॥

रश्मिः ।

क्लिन्नो भवति। जले स्थातुमप्यशक्तः, अयं तु मीनवत्स्थातुं शक्तः क्लिन्नो भवत्येवेति। न चात्मसहचर इति मृगशरीरभरतस्य तस्मिन्नाद्ये विशेषणाज्जीवसहितवृष्टिः पुरुषवचा इति वाच्यम्। एकाकीत्यर्थेन जीवप्रापकत्वाभावात्। **नेति**। 'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ती'ति क्रमभङ्गो न। क्रमस्य भरतदेहपर्यन्तत्वात्। अक्षभावं गतस्य जातदेहाभेदो देहद्वयेन योगिनामिव समवाय्यभेदो मृद्घटवदित्येवकारो भाष्ये बाल्यादिवदेवेत्यत्र। **एवमिति**। अभेदेन पूर्वदेहस्य। **सोमादीति**। दासीपुत्रो विदुरः, इन्द्रादिपुत्रा अर्जुनादयः, तत्र ज्ञानोपयोगिदेहमात्रम्, न सोमादिभावः, अस्मरणात्। **संख्येति**। पञ्चाहुतिपञ्चसंख्यानियमः **पञ्चेत्यादीति**। **अंशावतरण इति**। विदुरादयोंऽशावतारा इति भावः। **मर्यादेति**। 'पार्थांस्तु देवो भगवा'निति वाक्यात् पुष्टिमर्यादायामङ्गीकारादिति भावः ॥१८॥

स्मर्यतेपि च लोके ॥ १९ ॥ दर्शनाच्च ॥ २० ॥ अतिरोहितेति। साधकान्तरेति। वैवस्वतमार्गे तथा। **अजामिलेति**। प्रभृतिशब्देन नृगादिः। **वाक्यादीति**। आदिना तदभावस्तज्जातिश्च। येनेन्द्रियेण यद्गृह्यते, तेनैवेन्द्रियेण तद्गता जातिस्तदभावश्च गृह्यत इति। एवमतिरोहितार्थमित्यर्थः। **यममार्ग इति**। यमगतिरूपे। **विवेचकेति**। मार्गत्वविवेचकगतिसापेक्षत्वात्तस्मिन् यमगतिरूपे। **तस्येति**। यममार्गस्य यमगतित्वरूपेण ॥ १९ ॥ २० ॥ **इति चतुर्थं विद्याकर्मणोरित्यधिकरणम्** ॥ ४ ॥

तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य ॥ २१ ॥ (३.१.५)

तृतीयामाहुतिं विचारयति । तत्र 'वृष्टेरन्नं भवती'ति तृतीयाहुतिः सफला । पूर्वद्वयं शब्दैकसमधिगम्यम् । 'वृष्टेरन्न'मिति साधनफलयोः प्रत्यक्षत्वान्न वृष्टिमात्रेणान्नं भवति बीजव्यतिरेकेण । बीजस्य हि फलम् । न निमित्तमात्रेण तद्भावो वक्तुं शक्यते । तस्मादसङ्गतं वृष्टेरन्नमित्याशङ्क्याह । **तृतीयशब्दावरोधः** । तृतीयाहुतौ शब्देन शब्दसाम्येन कारणभूतस्य जलस्य अवरोधो ग्रहणम् । 'सदेव सोम्येदमग्र आसी'दित्यत्र 'तत् तेज ऐक्षत, बहु स्यां प्रजायेयेति, तदपोऽसृजत, तस्माद्यत्र क्व च शोचति स्वेदते वा पुरुषस्तेजस एव तदध्यापो जायन्त' इत्यत्र कारणरूपापां निरूपणे शोकजत्वमपामुक्तम् । अग्रे च 'तस्मात् यत्र क्व च वर्षति, तदेव भूयिष्ठमन्नं भवती'ति । अतः पञ्चाग्निविद्यायामपि देवहोमात् कारणभूतैव वृष्टिर्जातेति नात्र बीजान्तरापेक्षा । शोकपदेन 'यदश्र्वशीयत तद्रजत५हिरण्यम-

भाष्यप्रकाशः ।

तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य ॥ २१ ॥ अधिकरणप्रयोजनं वदन्तोवतारयन्ति तृतीयामित्यादि । तथाच तृतीयाहुतावेतादृशशङ्कोत्थानात्तां विचारयतीत्यर्थः । सूत्रं व्याकुर्वन्ति तृतीयाहुतावित्यादि । शब्दसाम्येनेति । अन्नफलजनकहोम्यवाचकस्य वर्षशब्दस्य जलसंग्राहकतया कारणभूते कार्यभूते च जले तुल्यत्वेन । हेतुं व्याकुर्वन्ति सदेवेत्यादि । उक्तमित्यन्तेन । आसीदित्यत्रेति । अस्मिन् सन्दर्भे । जायन्त इत्यत्रेति । अस्मिन् वाक्ये । तथाचात्र कारणभूतानामपां शोकजत्वकथनादित्यर्थः । ननु तासां शोकजत्वकथने कथं प्रकृते कारणरूपजलसिद्धिरित्यत आहुः अग्रे चेत्यादि । तथाच कारणरूपापां प्रक्रमात् पश्चादन्नकारणत्वेन तत्कथनाच्च त्सन्दष्टत्वेन शोकजानामपि कारणरूपत्वमेवाभिप्रेतमित्यर्थः । अत इति । उक्तरीत्या कारणरूपापां वर्षेणान्नात्मकफलकथनात् । अत्र च होतारो देवा अप्याधिदैविका भगवदवयवभूता एव बोध्याः । वैदिकसृष्टेरतिरिक्तत्वस्य प्रथमाध्याये एव व्यवस्थापनादिति । नन्वेवं सति शोकपदकथनस्य किं प्रयोजनमत आहुः शोकेत्यादि । इयं श्रुतिस्तु तैत्तिरीयसंहिताप्रथमाष्टकीयपञ्चमप्रपाठकार-

रश्मिः ।

तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य ॥ २१ ॥ **हेतुमिति** । संशोकजस्येति हेतोरिति सम्बन्धसामान्यविवक्षायां षष्ठीत्याशयेनोक्तं हेतुपदम् । संशोकजशब्दो भावप्रधानः संशोकजत्वस्येत्यर्थः । तथा च संशोकजत्वादिति हेतुस्तम् । **शोकजत्वेति** । संशोकजस्येति भावप्रधानमित्युक्तम् । हेतुतासम्बन्धविवक्षायां षष्ठी सम्बन्धसामान्ये इति भावः । यद्यपि दर्शनाच्चेत्यनुवर्त्य संशोकजस्य जलस्य तृतीयायामाहुतौ ह्रस्वश्छान्दसः । कार्यकारणसाधारणशब्देन कारणभूतस्य जलस्यावरोधो ग्रहणम् । 'सदेव सोम्येद'मित्यत्र दर्शनादित्यर्थे संशोकजस्येत्यत्र न कल्पना । तथाप्येकवचनेनापां शब्दान्तरेण ग्रहणाल्लाघवाच्च संशोकजपदे कल्पनेति बोध्यम् । **तत्सन्दष्टत्वेनेति** । कारणसन्दंशविषयत्वेन । **शोकजानां** कार्यरूपाणाम् । एवेति । कार्यरूपत्वव्यवच्छेदक एवकारः । **वर्षेणेति** । वृष्ट्या । **भाष्ये** । **एव वृष्टिरिति** । 'देवा वर्षं जुह्वती'ति श्रुतेरेवकारः । **बीजेति** । किन्तु जलस्यैवान्नसमवायिकारणत्वम् । **शोकेत्यादीति** । यत् अश्रु अशीयत । शोकप्रसङ्गादश्रु शोकसम्बन्धि । अशीयतेत्यत्र 'शीङ् स्वप्ने' भ. वा. भ. लङ-

भव'दिति सहायः सूचितः । यद्यपि तत्रान्नशब्देन पृथिवी, तथाप्यत्र पृथिव्या अग्निसमिद्रूपत्वादन्नमेव । तस्मात् कारणशक्तियुक्ताया वृष्टेरन्नं भवतीति न काप्यनुपपत्तिः ॥ २१ ॥

साभा व्यापत्तिरुपपत्तेः ॥ २२ ॥

किञ्चिदाशङ्क्य परिहरति । ननु कारणजलरूपवृष्टिरत्र वक्तुं न शक्यते, यतः समानधूममार्गश्रुतौ वृष्टेरन्नभावे ऐक्ये वा 'तस्मिन् यावत्सम्पातमुषित्वा अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तते, यथेतमाकाश'मित्यादिना 'तिलमाषा इति जायन्त' इत्यन्तेन । तत्र 'यथेत'मित्याकाश एव । 'आकाशाच्चन्द्रमस'मिति पूर्वमुक्तत्वादाकाशस्य

भाष्यप्रकाशः ।

न्मस्था । तथाच भौतिकानामप्यपां कारणत्वस्य श्रुत्यन्तरेणोपष्टम्भार्थं तथा कथनमित्यर्थः । अग्निसमिद्रूपत्वादिति । छान्दोग्येऽग्निरूपत्वात् बृहदारण्यके समिद्रूपत्वात् । शेषं स्फुटम् ॥ २१ ॥

साभा व्यापत्तिरुपपत्तेः ॥२२॥ सूत्रमवतारयन्ति किञ्चिदित्यादि । ऐक्य इति । पञ्चाग्निमार्गधूममार्गयोरभेदे । समाने धूममार्गे ऐक्ये वा वृष्टेरन्नभाव इत्यन्वयः । इत्यन्तेनेति । विरोधादिति शेषः । विरोधं व्युत्पादयन्ति तत्र यथेत्यादि । तत्र श्रुतौ 'यथेत'मित्यनेनोक्तं पुनर्निवर्तनमा-

रश्मिः ।

धिकरणव्यत्ययः । शपः स्थाने श्यन् अलोपश्च । अट् । यद्यपीति । अत्रापां द्रव्यजनकत्वेन सहायः सूचितः, सः 'अद्भ्यः पृथिवी'ति श्रुत्युक्तः, न विलक्षणः, अतो नात्रोपयुज्यत इति यद्यपीत्यादिग्रन्थेनोक्तम् । तत्रेति । संहितायां यत्र कुत्रचित् अन्नशब्देन पृथिवी । 'पृथिवी वा अन्न'मिति तैत्तिरीयोपनिषच्छ्रुतेः । अत्रेति । उत्तरमीमांसायाम् । प्रकृते । उपष्टम्भेति । भाष्यीयसहायपदार्थः । सहाय उपष्टम्भस्तदर्थम् । **अग्नीति** । 'पृथिवी वा गौतमाग्नि'रिति श्रुतेः । **समिदिति** । 'अयं वै लोकोऽग्निर्गौतम तस्य पृथिव्येव समि'दिति श्रुतेः । **अन्नमेवेति भाष्ये** । 'देवा अन्नं जुह्वती'ति श्रुतौ । ननु 'अद्भ्यः पृथिवी'तिश्रुतेरब्जन्यान्नं पृथिवीति चेत् । न । एवेत्यवधारणात् । तथाच श्रुतिः 'तस्माद्यत्र क्व च वर्षति तदेव भूयिष्ठमन्नं भवती'ति । न हि वर्षेण पृथिवी भवति । दृष्टविरोधात् । अतः पृथिव्या व्यवच्छेदक एवकारः । **कारणेति** । आविर्भावकशक्तियुक्तायाः । आविर्भावकशक्त्याधारस्य कारणत्वात् । घटोत्पत्त्यनन्तरमाविर्भावकशक्त्याधारत्वमिति चेदस्तु तथा व्यवहारात् प्रागभावाभावान्न घटोत्पत्तिः॥२१॥

साभा व्यापत्तिरुपपत्तेः ॥ २२ ॥ **सा आभा व्यापत्तिः उपपत्तेरिति** चतुष्पदमिदं सूत्रम् । **भाष्ये** । **समानेति** । अर्चिरादिमार्गेण समाने । उभयत्र चन्द्रगतिदर्शनात् 'आदित्याच्चन्द्रमस'मिति 'आकाशाच्चन्द्रमस'मिति क्रमेण । 'यदेव विद्यया करोति' इति श्रुत्योक्तं स्मारितम् । वेदान्ते जैमिनिमतवत् । अन्यथा वेदान्ते धूममार्गः कस्मै प्रयोजनाय स्यात् । तस्माच्छान्दोग्यीयवक्ष्यमाण'जायस्व म्रियस्वे'ति मार्गे विलक्षणयमगतिसहितचन्द्रगतिसमानधूममार्गश्रुतौ वृष्टेरन्नभावे 'मेघो भूत्वा प्रवर्षति त इह व्रीहियवा' इत्यादिश्रुत्युक्ते । तेन जीवमात्रहोमोऽत्र ज्ञेयः । 'तं प्रेतं दिष्टमितोऽग्नय एव हरन्ती'ति सावधारणश्रुतेः पञ्चाग्निविद्याविषयत्वेन धूममार्गे 'अथ य इम' इत्यथशब्देन भिन्नो- (पक्ष)माच्च न धूममार्गे, श्रद्धाहोमाभावात् । प्रवर्षतीति प्रवर्षणं तु विद्यात्वा'त्तदपोऽसृजते'ति श्रुत्या भविष्यति । जीवकृतवृष्टेर्जीवेन सहान्नभाव इत्यर्थः । जैमिनिमते त्वाहुः ऐक्ये चेति । पूर्वत्र जीवस्य नैक्यं वृष्टेरैक्यमत्र तूभयोरिति विशेषः । तथाच श्रुतिः 'अस्य सोम्य महतो वृक्षस्य यो मूलेऽभ्याहन्यात् जीवन्स्रवे'दिति । साध्यर्था । समानत्वप्रपञ्चार्थं विरोधं व्युत्पादयन्ति स्म तत्र यथेति । इतं गतं

मार्गतैव। 'वायुर्भूत्वा धूमो भवती'त्यादिषु तत्तद्भावः श्रूयते। ते च विकृताः। तदनन्तरभावित्वात् सृष्टिरपि विकृतैव। तस्मान्न कारणत्वमित्याशङ्क्य परिहरति।

सा वाय्वादिरूपापत्तिराभा व्यापत्तिरेव। वायुवदाभा आभानम्। मध्ये वायुमण्डलेनागच्छन्ती[1] आहुतिर्वायुभवनशब्देनोच्यते। आकृतेरेव पदार्थत्वात्।

भाष्यप्रकाशः।

काश एव। 'आकाशाच्चन्द्रमस'मिति पूर्वमारोहे उक्तत्वात्। नाग्रे। आरोहावरोहाध्वनोर्भेददर्शनात्। अत आकाशस्य मार्गतैव, न तु जीवस्याकाशरूपेण भवनमपि। तत्राकाशो भूत्वेत्यश्रवणात्। अग्रे तु 'वायुर्भूत्वे'त्यादिषु तत्तद्भावः श्रूयते। ते च वाय्वादयो विकृता जन्याः। तदनन्तरभावित्वात्। अतस्तथेत्यर्थः।

परिहारं व्याकुर्वन्तो भावशब्दे परे समानशब्दस्य सादेशः पाणिनीयविरुद्ध इत्यत एकदेशिकृतव्याख्यानं प्राञ्जलमपि परित्यज्य प्रकारान्तरेण व्याकुर्वन्ति सेत्यादि। ननु वाय्वादिवदाभाने वाय्वादिभवनोक्तिविरोधस्य कथं परिहार इत्यत आहुः आकृतेरेव पदार्थत्वादिति।

रश्मिः।

तदाकाश एव। शरीरिणोऽधोक्षजत्वात्। तथाच श्रुतिः 'यथेतमाकाश'मिति। यथा इतं आरोहे, तथा धूममार्गीयावरोहे इतं गतम्। कर्मी आकाशं प्रतिपद्यते। शरीरिणो ब्रह्मणोऽधोक्षजत्वात्। तेनाकाश एवेति **भाष्ये** एवकारः शरीरिब्रह्मव्यवच्छेदकः। 'यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वे'त्यादिश्रुतिः। **पूर्व**मिति। आरोहे। **मार्गते**ति। पथित्वम्। एवकारेणाकाशत्वापत्तिर्व्यवच्छिद्यते। अर्चिरादिमार्गेण 'आदित्याच्चन्द्रमस'मित्यनेन समानत्वार्थं विरोधो व्युत्पादितः। विरोधे समानत्वम्, अविरोधे ऐक्यमिति। यथा चन्द्रवन्मुखमित्यत्र चन्द्रत्वमुखत्वयोः सहानवस्थानलक्षणे विरोधे आह्लादादिमत्त्वेन साजात्यम्। घटत्वेनाविरोधे त्वैक्यमिति। तर्हि केषामापत्तिरित्यतो वायुत्वाद्यापत्तीराहुः **वायुर्भूत्वे**त्यादिना। तदेतदाहुः **प्रकाशे पञ्चाग्निमार्गे**त्यारभ्य **श्रूयत** इत्यन्तेन। **पञ्चाग्नी**ति। पञ्चाग्निमार्गधूममार्गयोर्धूममार्गेऽभेदे। स च पञ्चाग्निमार्गस्य धूममार्गे अभेदस्तदन्तर्गतत्वेन धूममार्गस्य तु धूममार्गत्वेन समाने ऐक्ये वेत्यन्वयः। ऐक्येऽभेदो नियामक इत्युक्तम्। **विरोधा**दिति। जीवहोमपक्षेऽर्चिरादिमार्गधूममार्गयोरुक्तरीत्या विरोधात्समानत्वमिति शेष इत्यर्थः। विरोधः समानत्वे नियामक इत्युक्तम्। **विरोध**मिति। समानत्वनियामकं विरोधम्। **निवर्तन**मिति। अवरोहः। नावरोह इति **नाग्र** इत्यस्यार्थः। **तत्तद्भाव** इति। वाय्वादित्वम्। उत्पत्त्यर्थकभुवः प्रयोगात्। ते चेति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **ते चे**त्यादिना। तदनन्तरेति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **तदनन्तरे**ति। आकाशमार्गानन्तरं भावित्वादुत्पन्नत्वात्। **तथेत्यर्थ** इति। वृष्टिरपिना वाय्वादयो विकृता विकृताश्च कार्यं कार्याणि चेत्यर्थः। एवकारेण कारणत्वव्यवच्छेदः। **भावशब्द** इत्यादि। इदमष्टाधिकरणीसमास्यनन्तरं वक्तव्यम्। **एकदेशी**ति। वाचस्पतिमिश्रकृतव्याख्यानम्। **प्राञ्जलं** 'वायुर्भूत्वे'त्यादिषु भवनोक्तिस्वारस्यात्। **भाष्ये। आहुति**रिति। होम्यजीवजले अनुक्त्वा, होमरूपाहुतिरुक्ता, सा तिसृषु चन्द्रमण्डले जलस्य शैथाज्जीवस्यावरोहे कर्तृत्वाज्जीवो वायुर्भूत्वा वायुभवनं कृत्वा गौण्या आहुतिं कृत्वेत्यर्थानुरोधेन। नन्वत्राथशब्देन धूममार्गस्य भिन्नोपक्रमस्थत्वेनाहुतिप्राप्तिः केनेति चेत्। न। 'अथ

१. वायुमण्डलगागच्छन्ती, वायुमण्डलमागच्छन्ती, वायुमण्डले सा गच्छन्ती, वायुमण्डले गा गच्छन्तीति पाठाः।

व्यापत्तिशब्देन च तेजोभावापन्नस्य जलभावापत्तौ कान्तिनाशान्नाश इवेति द्योतयति। कुतः। उपपत्तेः। तथैवोपपद्यते, चित्रतुरगादिषु। विकारस्य विकारान्तरापत्तावियमेव व्यवस्था। उपासनायां न तदपि। नच 'भूत्वा'श्रुतेर्बाधः।

भाष्यप्रकाशः।

'सर्वाणि रूपाणि विचित्ये'त्यादिश्रुत्या तानि तानि पदानि तस्यां तस्यामाकृतावेव व्यवहारार्थं भगवता नियमितानि। अतस्तद्वदाभानेऽप्याकृतिसद्भावान्न भवनोक्तिविरोध इत्यर्थः। नन्वयं गौण्यैव इत्यत्र किं गमकमित्याकाङ्क्षायां हेतुं व्याकुर्वन्ति तथेत्यादि। तथाच यद्येवं न स्यात्, तदा चित्रतुरगादावपि तुरगादिपदप्रयोगो मुख्यवृत्तः स्यात्, तदा तुरगादिसाध्या अर्थक्रियापि तेन स्यात्, सा च न दृश्यत इति गौण्येव तत्र निश्चीयत इत्युपपत्तिरेव तद्गमिकेत्यर्थः। एतं न्यायमन्यत्राप्यतिदिशन्ति विकारस्येत्यादि। इयमिति। तत्तुल्याकृतित्वरूपा। यथा 'विप्रो भूत्वाथ वृत्रहे'त्यादौ। उपासनायामिति। 'वाचं धेनुमुपासीते'त्याद्युपासनायाम्। तथाच तादृशस्थले किञ्चिदाकृतिसादृश्येपि चेत् तादृक्प्रयोगः, तदा भूयःसादृश्ये किं वाच्यमित्यर्थः। ननु तथापि तद्भावा...वे 'भूत्वा'श्रुतिर्बाध्येत, अतो नात्र गौणी युज्यत इत्यत आहुः नचेत्यादि।

रश्मिः।

य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्त इत्युपासते' इति श्रुतेः। इष्टमग्निहोत्रखातादिकर्मणी। दत्तं बहिरर्थिभ्यो द्रव्यदानम्। ननु गुणः को येन गौणीति चेत्। न। अन्तरिक्षस्थत्वं गुणस्तद्योगात्। 'वायुर्वा अन्तरिक्षस्याध्यक्ष' इति पूर्वकाण्डश्रुतेः। वाजसनेयके आहुत्यन्तरिक्षस्थलम्। 'ते वा एते आहुती हुते उत्क्रामतस्तेऽन्तरिक्षमाविशतस्ते तत आवर्तेते'इति श्रुतेः। **प्रकृते। आकृतावेवे**ति। व्यक्तौ एवकारो जातिव्यवच्छेदकः। आकृतिर्जातिरिति मीमांसकाः, तन्नात्रेत्याहुः **अतस्तद्व**दिति। गौण्यैवेत्येवकारेण मुख्याव्यवच्छेदः। **गौणी**ति। आहुतिः। वायुभवनमित्यत्र वायुभवनशब्दस्यान्तरिक्षस्थत्वस्वधर्मलक्षकत्वं तात्पर्यमात्रेण लक्षकत्वं लक्षणाबीजतात्पर्यानुपपत्तिप्रतीकेन। तादृशगुणयोगः आहुतौ 'माणवकं पश्यन् सिंह इति प्रयुङ्क्ते' तत्र सिंहपदलक्षिततदीयक्रौर्यगुणयोगो माणवके यथा, तेन सिंहत्वेन माणवकबोधः, तथा वायुभवनत्वेनाहुतिबोधः। घटः पृथिवीत्यत्रेव। अत्र पृथिवीत्वेन बोधः, न घटत्वेनेति। **हेतु**मिति। उपपत्तिरूपम्। **अर्थक्रिये**ति। अर्थो मुख्योऽश्वस्तस्य क्रिया चलनादिः। आभाव्यापत्तिविशिष्टेन चित्रतुरगादिना। **गौण्येवे**ति। मुख्य... व्यवच्छिद्यते एवकारेण। **तत्रे**ति। 'वायुर्भूत्वे'त्यत्र। वायुभवनं कृत्वेत्यर्थः। सर्वेषां धातूनां प्रत्ययान्तानां भवतीत्यादिषु करोतिना विवरणात्। 'करोतिशब्दा'दिति जैमिनिसूत्रात्। एवेति। हेत्वन्तराकथनादेवेति। **तद्गमिके**ति। **विप्र** इति। विप्रभवनं कृत्वा तदनन्तरं वृत्रहा। विप्रभवनं तदीयतमोगुणलक्षकम्। तादृशगुणयोगो वृत्रघ्नीति विप्रो वृत्रहेति। वृत्रहा इन्द्रः। देवेषु ब्राह्मणादिवर्णाः सन्ति। आदिना चित्रतुरगस्य विकारस्य मुख्याश्वस्य विकारान्तरस्यापत्तिस्तत्राभाव्यापत्तिरुपपत्तेः। इत्याद्यावित्यत्रेतिशब्दात्प्रकारवाचकात् षष्ठ्यालुक् इति प्रकारस्यादावित्यर्थः कर्तव्यः। **इय**मित्यस्य भाष्यीयेयं व्यवस्थेत्यर्थात्। आदिशब्दार्थोऽन्यो वा। **इदं** व्यवस्थामात्रम्। **भाष्ये**। एवकारः सौत्रत्वेनाप्रामाणिकत्वव्यवच्छेदकः। **वाच**मिति। **शब्दात्**। वृष्टिपक्षे वाचं शब्दं धेनुवपुषम्। 'उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पने'ति श्रुतेः। **अनेकरूपस्य** शब्दब्रह्मणो यत्किञ्चिद्रूपे तत् अव्ययम्। सा आभाव्यापत्तिरपि न। उपासकस्याभादर्शनात्। आदिना 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति शान्त उपासीते'ति। जगदन्तर्गतभगवत्प्रतिकृत्यादिषु। **किञ्चि**दिति। **बह्वीषु** शब्दब्रह्माकृतिषु यत्किञ्चिदाकृतिसादृश्येपि तादृग्धेनुपदप्रयोगः, तदा भूयःसादृश्ये भक्तिमार्गीये सेव्यस्वरूपे साक्षाद्भगवानयमिति प्रयोगे किं वाच्यमित्यर्थः। **तद्भावे**ति। वाय्वादिभावाभावे। **नात्रे**ति।

प्रतिनियतपदार्था हि ते । भवनावरोहाभ्यामेव तथा वचनात् । अन्यस्यान्यभावे वदन्ती श्रुतिरेव गौणत्वं वदति । कारणांशभावव्यतिरिक्तस्थले तथैव प्रतीतेः । तस्मात् तदाकृतिमात्रेण न स्वरूपान्यथाभावः ॥ २२ ॥

नातिचिरेण विशेषात् ॥ २३ ॥

उपपत्त्यन्तरमाह । तद्रूपता च नातिचिरेण । न बहुकालं तद्रूपता । कुतः । विशेषात् । अन्नभावापन्नस्यैव बहुकालश्रवणात् । 'अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतर'मिति । प्रापतरं प्रपतरं वा । वर्णलोपश्छान्दसः । अतस्तृतीयाहुतौ न चिरेणेत्यायाति ।

भाष्यप्रकाशः ।

प्रतिस्वरूपं नियतेषु वाय्वादिष्वाहिते निविष्टे जीवे ताद्रूप्यभवनावरोहाभ्यामेव 'भूत्वे'त्यस्य वचनात् । तदेव स्फुटीकुर्वन्ति अन्यस्येत्यादि । वदने हेतुमाहुः कारणेत्यादि । तथैवेति । आकृतिमात्रेणैव । सिद्धमाहुः तस्मादित्यादि । अतः कारणभूता एवापो वर्षन्तीति पूर्वोक्तं निर्बाधम् ॥ २२ ॥

नातिचिरेण विशेषात् ॥२३॥ सूत्रप्रयोजनमाहुः उपेत्यादि । अत्र सूत्रे पूर्वसूत्रात् साभे-त्यनुवर्तते । तथाच तद्रूपतायामुपपत्त्यन्तरमाहेत्यर्थः । अतिचिरेणेति । तृतीयाप्रतिरूपकम्, न तु तदर्थकम् । 'अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतर'मित्येतस्य, अतः अन्नभावात् पुरुषभवनं दुष्प्रापतरं दुर्गमतरं वेत्यर्थात् यत् सिद्धं तदाहुः अतस्तृतीयेत्यादि । नन्वेवमवरोहक्लेशस्यात्र सिद्धौ पञ्चाग्निप्रकारे

रश्मिः ।

'वायुर्भूत्वे'त्यादिश्रुतौ । प्रतीति । जीवस्य वाय्वादिप्रतिस्वरूपं स्वरूपं लक्षीकृत्येत्यर्थः । वाय्वादिष्विति । 'वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाभ्रं भवत्यभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षती'ति श्रुतिः । आदिशब्दार्थोऽप्युक्तः । भवनेत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म ताद्रूप्येति । एवेति । अनेकभवन-विरोधादेवकारः । कर्मणां त्रिक्षणावस्थायित्वेन तदुत्तरक्षणे भूत्वेत्यस्यानुपपत्तेः । तदेवेत्येवकारोऽन्य-व्यवच्छेदकः । अन्यस्येत्यादीति । एवकारो व्याख्यानव्यवच्छेदकः । कारणेति । 'तस्माद्वा एतस्मा-दात्मन आकाशः सम्भूतः आकाशाद्वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः' इत्युक्तकारणांशभावस्तद्व्यतिरिक्तस्थले । कारणांशोऽभावस्तद्व्यतिरिक्तत्वं क्वापि स्थले नास्त्यतो भावशब्दः । आकृतीति । आकृतिर्व्यक्तिरि-त्युक्तम् । एवकारेण वायुत्वादिजातिव्यवच्छेदः । तस्मादित्यादीति । स्वरूपान्यथाभावो जीवस्य वायुत्वादिना । स नेत्यर्थः ॥ २२ ॥

नातिचिरेण विशेषात् ॥ २३ ॥ तथाच साभेत्यस्य कान्वय इत्यतस्तद्रूपतेति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म तथाचेति । तद्रूपतायामिति । अनुवृत्तपदार्थोमायाम् । तद्रूपता चेति भाष्यार्थोऽप्युक्तः । तद्रूपता वाय्वादिरूपता । भाष्ये । बहुकालमिति । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । 'कालाध्वनोरत्यन्त-संयोगे द्वितीये'ति सूत्रेण । विशेषादिति । अन्नभावापन्नाज्जीवाद्वाय्वादिरूपतायां जीवे विशेषात् । तत्र हेतुः अन्नभावेत्यादि । 'मेघो भूत्वा प्रवर्षति त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा जायन्तेऽतो खलु दुर्निष्प्रपतर'मिति श्रुतौ श्रवणात् । एवकारस्तु 'यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति, तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह य'दिति श्रुतौ क्षिप्रार्थकाव्ययप्रयोगात् । प्रकृते । अतस्तृ-तीयेत्यादीनि । अतः दुष्प्रापतरत्वात् । तृतीयाहुतौ वर्षाहुतावन्नसम्भविकायां वृष्टेरन्नभवनं न चिरेण

बहुकालस्थितौ हि तद्रूपता । कारणवशाद्देवानां मनुष्यभाववत् । भिन्नपक्षे न कोपि दोषः । ऐक्यपक्षेपि ज्ञानवतो गृहस्थस्य दुर्लभत्वादेवं वचनम् । तस्मात् वृष्टेरन्नं भवतीति सिद्धम् ॥ २३ ॥

इति तृतीयाध्याये प्रथमपादे पञ्चमं तृतीयशब्दावरोधाधिकरणम् ॥ ५ ॥

अन्याधिष्ठितेऽपूर्ववदभिलापात् ॥ २४ ॥ (३.१.६)

चतुर्थी आहुतिर्विचार्यते । ननु 'संसर्गजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नर' इति कथमस्यान्नत्वम्, अपूर्वान्नत्वेपि कण्डनपाकादिषु क्लेशेन जीवस्यापगमात् कथं

भाष्यप्रकाशः ।

को विशेषो धूममार्गादित्याशङ्कायामाहुः भिन्नपक्ष इत्यादि । धूममार्गाद्भिन्नः पञ्चाग्निमार्ग इति पक्षे, न कोपि धूममार्गोक्तक्लेशसंसर्गदोषः । क्लेशस्य धूममार्ग एवोक्तत्वात् । तयोरैक्यपक्षे ज्ञान-वतो गृहस्थस्य दुर्लभत्वादज्ञानिनं लक्ष्यीकृत्यैतत् क्लेशवचनम्, न तु साधारण्येनेति न पञ्चाग्निमार्गे दोष इत्यर्थः ॥ २३ ॥ इति पञ्चमं तृतीयशब्दावरोधाधिकरणम् ॥ ५ ॥

अन्याधिष्ठितेऽपूर्ववदभिलापात्॥२४॥अधिकरणप्रयोजनमाहुः चतुर्थीत्यादि । 'अन्ना-द्रेतो भवती'ति चतुर्थ्याः सफलाया आहुतेरत्र विचारः प्रयोजनमित्यर्थः । 'पुरुषामावन्नं जुह्वती'ति श्रुतावन्नस्य होम्यत्वमुक्तम् । स्मृतौ तु पापजन्यत्वमन्नस्योच्यते इति तदुपपद्यते, न वेति, अन्नस्य च रेतोभाव उपपद्यते, न वेति, जीवस्यान्नभावे क्लेशो भवति, न वेति च सन्देहाद्विचारं बोधयितुं सूत्रमवतारयन्ति नन्वित्यादि । इति कथमस्यान्नत्वमिति । अस्माद्वाक्यादन्नभावस्य पापजन्यत्वे निश्चिते अस्य उक्ताहुतिप्रकारेण शुद्धस्य जीवस्य कथमन्नत्वम् । अपूर्वान्नत्व इति । प्रोक्षणादिनैव

रश्मिः ।

बहुकालं न । तद्रूपता तु नातिचिरेणेत्युक्तम् । भाष्ये । तद्रूपतेति । दृष्टान्तमाहुः कारणेति । 'यद्यत्र नः स्वर्गसुखावशेषितं स्विष्टस्य दत्तस्य कृतस्य शोभनम् । तेनाजनाभे स्मृतिमज्जन्म नः स्याद्वर्षे हरिर्यद्भजतां शं तनोती'ति वाक्योक्तकारणवशात् । बहुकालस्थितिः कारणे । किञ्च, कारणवशात् स्पृहावशात् । 'एतदेव हि देवा गायन्ति' 'अहो अमीषां किमकारि शोभनं प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः । यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि न' इति वाक्यात् । बहुकालस्थिति-भावे । प्रकृते । धूममार्गोक्तेति । पञ्चाग्निविद्यायां बोध्यः । एवेति । अवरोहस्यातथात्वादेवकारः । ऐक्येति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म तयोरैक्येति । गृहस्थस्येति । ननु गृहस्थस्येति कुतो लब्धमिति चेत् । न । 'तं प्रेतं दिष्टमितोऽग्नय एव हरन्ती'त्यग्निहोत्रलिङ्गात् गृहस्थलाभः । छान्दोग्यसमाप्तावपि गृहिणोप-संहाराद्गृहस्थलाभः । अज्ञानिनमिति । दुर्निष्प्रापतरत्वात्पञ्चाग्निविद्यासाधितदेहस्यापि । एतदिति । 'वायुर्भूत्वा धूमो भवती'ति वचनम् । दोष इति । क्लेशदोषः ॥ २३ ॥ इति पञ्चमं तृतीयश-ब्दावरोधाधिकरणम् ॥ ५ ॥

अन्याधिष्ठितेऽपूर्ववदभिलापात् ॥ २४ ॥ अत्रेति । अधिकरणे । स्मृताविति । भाष्योक्तायां स्मृतौ । तेन कर्मदोषाः पापानि । स्थावरतामन्नताम् । मुख्ये कार्यसंप्रत्ययात् । तदु-पपद्यत इति । ज्ञानिदेहार्थं पापजन्यान्नभक्षण'मन्नं जुह्वती'त्यत्रोपपद्यते । जीवस्येति । वृष्टिसहित-जीवस्य । कथमस्यान्नत्वमिति । ज्ञानोपयोगिदेहार्थं कथमिति प्रश्नः । अपूर्वान्नत्व इति । अदृष्टजन-कत्वेन पूर्वान्नत्वाभावः । भाष्ये । एवेति । दृष्टत्वादेवकारः । मर्यादेति । घटस्य पटत्वापत्त्या

रेतोभावः, चर्वणौदर्यपाकस्त्वावश्यक एव, नच जीवस्य जडभावः, मर्यादाभङ्गप्रसङ्गात्, तस्मात् कथमन्नस्य रेतोभाव इत्याशङ्क्य परिहरति ।

अन्याधिष्ठिते वृष्टेरन्नभावसमय एव अन्यैर्जीवैरधिष्ठितो व्रीह्यादिस्तस्मिन् न पूर्ववत् तद्भावापत्तिः । अतिथिवत् । पूर्ववैलक्षण्येन वा । कुतः । अभिलापात् । 'व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा' इति पूर्ववत् तत्तद्भावमात्रं न वदति, किन्तु जगति स्थितव्रीह्यादिभाव एवाभिलप्यते । तथा सति यथान्येषु व्रीह्यादिषु तदधिष्ठातृदेवतया नियुक्ता जीवास्तानात्मत्वेनाभिमन्यन्ते, एवमत्रापीति न

भाष्यप्रकाशः ।

आहुतिभिः संस्कारस्य जातत्वादपूर्वोन्नत्वे ।

परिहारं व्याकुर्वन्ति अन्याधिष्ठित इत्यादि । उप्ते बीजे यदा वृष्टिर्जायते, तदा जलभावापन्ना जीवास्तेन सहान्नादिबीजे प्रविशन्तीति तस्मिन् समयेऽन्यैर्जीवैरधिष्ठितो यो व्रीह्यादिस्तस्मिन्न पूर्ववत् 'वायुर्भूत्वे'त्यादिवत् तद्भावापत्तिस्तत्साम्यम्, किन्त्वतिथिवत् कार्यमात्रार्थं स्थितिः, पूर्ववैलक्षण्येन निरभिमानगृहस्थवद्वा स्थितिरित्यर्थः । तत्र हेतुः अभिलापादिति । तं व्याकुर्वन्ति व्रीहीत्यादि । अत्रापीत्यादि । हौम्येऽन्नेपीति । अन्याधिष्ठानाद्धेतोर्न कोऽपि दोषः,

रश्मिः ।

पटत्वं पट एवेति मर्यादाभङ्गप्रसङ्गात् । परिहरतीति । सूत्रकारः । प्रकृते । अन्यैर्जीवैरधिष्ठिते व्रीह्यादौ अपूर्ववत् व्रीह्यादिभावः, तस्यापत्तिः, न तु व्यापत्तिः 'व्रीहियवा' इति श्रुतेरिति सूत्रार्थस्तं विशदयन्ति स्म आचार्या इत्याशयेनाहुः उप्त इति । वृष्टेरन्नभावसमय इति भाष्यं विवृतं समय इत्यन्तेन । वृष्टेः सजीवायाः अन्नादिरूपबीजभाव उप्तबीजप्रवेशः तस्य सर्वस्मिन् प्रसिद्धे समय इति भाष्यार्थः । क्षेत्र उप्ते । जलेति । चतुर्थोपदेशे 'अस्य सोम्य महतो वृक्षस्य यो मूलेऽभ्याहन्याज्जीवन्स्रवे'दिति श्रुत्या जलभावापन्ना जीवाः तेन वर्षेण सह अन्नादि च तद्बीजमिति कर्मधारयसमस्तान्नादिबीजे प्रविशन्तीतिहेतोः तस्मिन् समय इत्यर्थः । भाष्यीयैवकारः । 'देवा वर्षं जुह्वति तस्या आहुतेरन्नं सम्भवती'ति श्रुतेः । अन्यैरित्यादिभाष्यार्थः अन्यैर्जीवैरित्यादिना क्रियते । 'न्यग्रोधफलमत आहरेतीदं भगव इति, भिन्धीति, भिन्नं भगव इति, किमत्र पश्यसीत्यण्व्य इमा धाना भगव इत्यासामङ्गैकैकं भिन्धीति, भिन्ना भगव इति, किमत्र पश्यसीति, न किञ्चन भगव इति, तँ होवाच यं वै सोम्यैतमणिमानं न निभालयस एतस्य वै सोम्य योऽणिम्न एवं महान्यग्रोधस्तिष्ठति श्रद्धत्स्व सोम्येती'त्युक्तवन्नांशहुतजीवान्यैरष्टभिर्जीवैः । यद्वा । तपोवीप्साकृतांशजीवान्यैरुक्तादिजीवैर्नवांशैः अधिष्ठितो यो व्रीह्यादिः तस्मिन् । इतः परमपूर्ववदितिभाष्यार्थः । न पूर्ववदित्यस्यार्थः 'वायुर्भूत्वे'त्यादिवदिति । तद्भावापत्तिरित्यस्यार्थः तत्साम्यमिति । अतिथिवदित्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म किन्त्विति । कार्यमात्रार्थं स्थितिर्गृहस्थितिः । पूर्वेतिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म पूर्वेति । अतिथिवैलक्षण्येन निरभिमानिगृहस्थः । गृह एवोपैति शान्तिं यस्तद्वत् । व्रीहीत्यादीति । एवेति । तत्तद्भावमात्रं व्यवच्छिनत्ति । अभिलप्यत इति । अभिलप्यत इत्यभिलापस्तस्मादिति सौत्राभिलापपदार्थः । अन्येष्विति । पञ्चाग्निविद्याऽविषयेषु । तदधीति । 'अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशा'दिति सिद्धया । तान् व्रीह्यादीन् । आत्मत्वेनेति । व्रीह्यादिरहमिति । अस्मत्पदार्थ आत्मा तत्त्वेनाभिमन्यन्त इत्यर्थः । हौम्येऽन्नेपीति । 'अहमन्नमहमन्नमहमन्न'मिति तैत्तिरीयश्रुतेः हौम्येऽन्नेप्यात्मत्वेनाभिमानो जीवस्य । अन्याधीति । अन्यैर्जीवैरधिष्ठा-

कोपि दोषः । अधिष्ठाने हि वेदना । मरणानन्तरं कृमिभावस्य दृष्टत्वात् । तस्मादन्नस्य रेतोभावो युक्तः ॥ २४ ॥

अशुद्धमितिचेन्न शब्दात् ॥ २५ ॥

किञ्चिदाशङ्क्य परिहरति । ननु अन्याधिष्ठानेङ्गीक्रियमाणे यातनाजीवानामशुद्धत्वादशुद्धमन्नं स्यात्, तथाच कथं योग्यदेह इति चेत् । न । शब्दात् । 'देवा अन्नं जुह्वति, तस्या आहुते रेतः सम्भवती'ति देवैराहुतिरूपेण होमवचनाच्छुद्धत्वम् । अन्यस्य हि संस्कारेणैव शुद्धिः । अन्यथा यावज्जीवं का गतिः स्यात् । तस्मात् संस्कारशब्दाच्छुद्धमेवान्नम् ॥ २५ ॥

इति तृतीयाध्याये प्रथमपादे षष्ठमन्याधिष्ठित इत्यधिकरणम् ॥ ६ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

पापान्नसंसर्गजन्यो वा, कण्डनादिजन्यक्लेशात्मको वा दोषो हौम्ये जीवे न । तथाच क्लेशाभावादेव कण्डनचर्वणादिदशायामपि नापगमः । अभिमानाभावादेव च नास्य जडभाव इत्यदोष इत्यर्थः । तदेतद्विशदयन्ति अधिष्ठाने हीत्यादि । हि यतो हेतोः । अधिष्ठाने अधिष्ठीयतेऽनेनेत्यधिष्ठानमभिमानस्तस्मिन् सत्येव वेदना, न तु तदभाव इति लोके दर्शनादित्यर्थः । ननु मा भवतु क्लेशोऽस्य, तथापि कण्डनादिना जीवान्तरे गतेऽस्याप्यपगमात् कथं रेतोभाव इत्याशङ्कायां तादृशक्लेशोत्तरमपि जीवसत्तायां मानमाहुः मरणेत्यादि । तस्मादिति । जीवसत्त्वस्योपपादितत्वात् ॥ २४ ॥

अशुद्धमितिचेन्न शब्दात् ॥२५॥ सूत्रप्रयोजनमाहुः किञ्चिदित्यादि । अन्यस्येति । अशुद्धस्य । शेषं स्फुटम् ॥ २५ ॥ इति षष्ठमन्याधिष्ठित इत्यधिकरणम् ॥ ६ ॥

रश्मिः ।

नात् । न कोपि दोष इति । व्याख्येयं भाष्यम् । व्याख्यान्ति स्म पापान्नेत्यादिना । वाकारद्वयं पूर्वतन्त्रात् । अस्येति । जीवस्य । अदोष इति । क्लेशजडभावरूपो दोषो नेत्यर्थः । एवकारव्यवच्छेद्यमाहुः नन्विति । अस्येति । वृष्टियुक्तजीवस्य । जीवान्तर इति । हुतजीवादन्यस्मिन् जीवे गतेऽस्यापि हुतजीवस्यापि । कथमिति । केन प्रकारेण कस्य रेतोभावः उभयाभावात् । मरणेत्यादीति । क्लिष्टं मरणं ग्राह्यम् । कृमिः देहसमवायिकः । ननु क्लेशेन जीवो देही गतः कृमिजीवापगमे क्लेशान्तराभावात्कथं क्लेशोत्तरमपि जीवसत्तेति चेत् । सत्यम् । मरणोत्तरक्षणे कृम्युत्पत्त्यङ्गीकारेण पूर्वक्लेशसत्त्वात् । तद्देहावच्छेदेन तस्य तत्कर्मफलभोगे तु मरणानन्तरमशुष्कदेहे वृष्टिजीवो जलात्मा ग्राह्यः । तथा च मृतदेहैकदेशः कृमिः स जीवस्तद्देहावच्छेदेन कर्मफलभोगेनादोषात् । अधिष्ठान इत्यस्य पुरःस्फूर्तिकार्थे देहो भासते, तदा देहोऽधिशिष्टोऽधिष्ठानम् । आग्रेहयम् । जीवसत्त्वस्येति । अन्नरूपजीवसत्त्वस्य । अन्नशुद्धिरग्रे वाच्याधिकरणरचना च ॥ २४ ॥

अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् ॥ २५ ॥ स्फुटमिति । अन्याधीति । अन्येषां हुतव्यतिरिक्तानां अधिष्ठानेङ्गीक्रियमाणे यमगतावनेकदेहसाध्यैकनरके अशुद्धत्वाच्छुद्धस्य देहान्तरेऽशुद्धत्वादशुद्धमन्नं वृष्टिजीवरूपमन्नं स्यादिति । 'प्रेतं दिष्टमितोऽग्नय एव हरन्ती'त्यत्र तदपायकल्पनात् । आहुतिरूपेणेति । 'प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यान'मितिवार्तिकेनाभेदतृतीया, प्रकृत्या चारुरितिवत् । होमेति । अन्नस्य होमवचनात् । अन्यस्येति । भाष्यप्रकाशे व्याख्यातम् । पञ्चाग्निविद्यासाधितदेहिभिन्नस्य । अशुद्धस्येति । भाष्यप्रकाशविशेषणम् । एवेति । संस्कारेतरव्यवच्छेदकः । शुद्धिरिति ।

रेतःसिग्योगोऽथ ॥ २६ ॥ (३.१.७.)

पञ्चमाहुतिं विचारयति । ननु कथं पुरुषेऽन्नहोमाद्रेतोभावः, बाल्यकौमारवार्धकेषु व्यभिचारात्, तारुण्येपि न हि सर्वमन्नं रेतो भवति, जातमपि न नियमेन योनौ सिच्यते, नापि देवापेक्षा, पुरुषप्रयत्नस्य विद्यमानत्वादित्याशङ्क्य, परिहरति । रेतःसिग्योगः । पुरुषशब्देन पौरुषधर्मवानुच्यते । पौरुषं च देशकालसंविधानेन मन्त्रवद्रेतःसेकसामर्थ्यम् । न ह्येतत् सर्वजनीनं सार्वत्रिकं वा ।

भाष्यप्रकाशः ।

रेतःसिग्योगोऽथ ॥ २६ ॥ अधिकरणप्रयोजनमाहुः पञ्चमेत्यादि । विचारयतीति । फलं पृथक्कृत्य केवलां विचारयति । कोत्र विचारांश इत्याकाङ्क्षायामाहुः नन्वित्यादि । चतुर्थ्यामन्नाहुतौ पुरुषस्य यदि पुरुषत्वेनाभित्वम्, तदा बाल्यादौ तद्धोमस्य नैष्फल्यम्, यदि तारुण्यविशिष्टत्वेनाभित्वम्, तदापि न सर्वस्य होमस्य साफल्यम्, अथ यज्जातं रेतस्तेनैव पञ्चम्याहुतिः, तदापि होमानियमः, अथ नियमः, तदापि न देवापेक्षेत्यतो विचार इत्यर्थः ।

परिहारं व्याकुर्वन्ति पुरुषेत्यादि । सूत्रे रेतःसिक्पदोक्त्या पुरुषपदव्याख्यानात् 'पुरुषो वाव गौतमाग्नि'रित्येतेन पुरुषशब्देन पौरुषधर्मवानुच्यत इत्यर्थः । तावता कथं पूर्वोक्तदोष-

रश्मिः ।

सा मर्यादायाम्, न तु ब्रह्मभावे 'सर्वं ब्रह्मात्मकं तस्य विद्ययात्ममनीषये'ति । मर्यादायां तु वर्तत एव, संस्कारवैयर्थ्येन तद्बोधकवेदानर्थक्यप्रसङ्गात् । यावज्जीवमिति । संस्कारानङ्गीकारे एकदिनेनाग्निहोत्रफलसिद्धेः 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुया'दित्यत्र मध्ये पापे तच्छोधकसंस्कारस्य यावज्जीवं पापशोधनातिरिक्ता का गतिः स्यादिति प्रश्नः । सौत्रं हेतुं विवृण्वन्ति स्म तस्मादिति । एवेति । प्रसिद्धेरेवकारः । एवमन्नशुद्धिरुक्ता । अधिकरणरचना त्वेवम् । चतुर्थ्याहुतिर्विषयः । पापजन्यत्वमन्नस्योपपद्यते न वेति संदेहे, ज्ञानोप(योग)योगिदेहानुपयोगान्नोपपद्यत इति पूर्वपक्षः । सिद्धान्तस्तु संस्कारशब्दात्संस्कारार्थं पापजन्यत्वमन्नस्योपपद्यत इति शुद्धमन्नमिति ॥ २५ ॥ इति षष्ठमन्याधिष्ठित इत्यधिकरणम् ॥ ६ ॥

रेतःसिग्योगोऽथ ॥ २६ ॥ फलमिति । 'तस्या आहुतेर्गर्भः सम्भवती'ति गर्भः फलम् । तत्पृथक्कृत्याग्रिमे विचारयितुं केवलां विचारयन्तीत्यर्थः । सूत्रान्तरे फलविचारस्तु षष्ठाहुतिग्रहणाय । तेन गर्भानुक्तौ कथं पञ्चमाहुतिविचार इति कुचोद्यं निरस्तं वेदितव्यम् । न च गर्भानुक्तौ न्यूनतानिग्रहस्थानमिति वाच्यम् । बृहदारण्यकषष्ठाग्निसंग्रहार्थमेतावदुक्तौ न निग्रहस्थानमिति । तत्र गर्भशब्दाभावात् । 'देवाः पुरुषं जुह्वति तस्या आहुतेः पुरुषो भास्वरवर्णः सम्भवती'ति श्रुतेः । पुरुषेऽन्नहोमाद्रेतस्तु कारणत्वादुभयत्रेति षष्ठ्या आहुतेरविचारेपि न निग्रहस्थानमिति । दृष्टानुसारेण व्याख्यान्ति स्म चतुर्थ्यामित्यादिना । तद्धोमस्येति । रेतोहोमस्येत्यर्थः । तारुण्य इति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म यदीति । पुरीषादिभावात् न सर्वमन्नं रेतो भवति । जातमितिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म अथेति । होमेति । धौतवाससि सेकाद्धोमानियमः । नापीतिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म अथेति । पूर्वोक्तेति । रेतस्त्वेन अन्नत्वेन कार्यकारणभाव उक्तः श्रुतौ । तत्र 'योषाग्नौ देवा रेतो जुह्वती'ति रेतोहोमनियमश्च उभयत्र 'पुरीषत्वेनान्नत्वेनापि कार्यकारणभावात्पूर्वत्र पूर्वोक्त आशङ्कोक्तो दोषः । कार्यकारणभावग्राहकान्वयव्यतिरेकव्यभिचाररूपः । द्वितीये तु धौतवाससि सेकात्तत्तदिन्द्रियदेवहोमकृतान्नियमे पूर्वदोष इति । तन्निरास इत्यर्थः ।

तदर्थं देवापेक्षा । तथा सति न कोपि व्यभिचारः । कथं पुरुषशब्दमात्रेण च ज्ञायते, तत्राह । अथ आनन्तर्यात् । शरीरार्थमेव देवैस्तत्र तत्र होमः कृतः ।

भाष्यप्रकाशः ।

निरास इत्याकाङ्क्षायां तदुपपादयन्ति पौरुषमित्यादि । तथा च पुरुषपदेनैतादृशो रेतःसिगभिप्रेयते, तादृशे योऽन्नहोमः, स प्राणाग्निहोत्रोपनिषदाद्युक्तप्रकारेणेति तत्र देवापेक्षा । न हीन्द्रियाधिष्ठातृदेवप्रसादं विना तथा भोक्तुं शक्यते । ईश्वरेच्छया भवनेपि तेषामेव द्वारत्वात् । अत एव

रश्मिः ।

पौरुषमित्यादीति । अत्र 'ऋतौ भार्यामुपेया'दिति श्रुत्या भार्या देशः ऋतुः कालः संश्रौतं विधानं तेन संविधानेन मन्त्रवत् । पुत्रमन्थब्राह्मणोक्त 'बहु वा इदꣳसुप्तस्य वा जाग्रतो वा रेतः स्कन्दति । तदभिमृशेदनु वा मन्त्रयेत यन्मेऽद्य रेतः पृथिवीमस्कान्त्सीद्यदोषधीरप्यसरद्यदपः । इदमहं तद्रेत आददे पुनर्मामैत्विन्द्रियं पुनस्तेजः पुनर्भगः पुनरग्निर्धिष्ण्या यथास्थानं कल्पन्तामित्यनामिकाङ्गुष्ठाभ्यामादायान्तरेण स्तनौ वा भ्रुवौ वा निमृज्या'दित्यत्रोक्तमन्त्रयुक्तं रेतः तस्य सेकसामर्थ्यम् । विहितत्वार्थं तृतीयान्तं कारणत्वार्थम् । मन्त्रवदिति रेतोविशेषणम् । न ह्येतदित्येतच्छब्देन पूर्वभाष्यसङ्गतिः । एतत्पौरुषमित्यर्थात् । तदर्थं होमार्थम् । देवापेक्षा इन्द्रियदेवापेक्षा । तथा सतीति । इन्द्रियदेवापेक्षया शरीरकारणत्वे सति । न कोपि । ज्ञानोपयोगिशरीरत्वेन इन्द्रियदेवत्वेन कार्यकारणभावः । अत्र 'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा चे'ति श्रुत्युक्तविद्याकर्मपूर्वप्रज्ञारूपकारणव्यभिचारो न । साधारणदेहत्वेन विद्याकर्मपूर्वप्रज्ञात्वेन कार्यकारणभावात् । तृणारणिमणिन्यायोऽत्र । भाष्यसिद्धार्थमाहुः तथा चेति । एतादृश इति । देशकालसन्निधानेन मन्त्रवद्रेतःसेकसामर्थ्यवान् रेतःसिगभिप्रेयते । सूत्रेण 'पुरुषो वावे'ति श्रुतौ पुरुषो रेतःसिगिति प्रयोगाद्रेतःसिक्त्वेन रूपेण पुरुषोपस्थितिः । घटः पृथिवीत्यत्र पृथिवीत्वेन घटोपस्थितिवत् । एतेन मन्त्रवद्रेतःसेकसामर्थ्यमित्यन्तं भाष्यसिद्धार्थ उक्तः । तत्सङ्गत्यर्थं तादृश इत्यादिग्रन्थः भाष्यीयैतत्पदार्थः इत्यन्तः । सुगमान्वयस्तूक्तः एतच्छब्दार्थः पौरुषमिति पूर्वम् । प्राणाग्नीति । 'यदन्नमग्नि बहुधाति राजन् रुद्रैः प्रजग्धं यदि वा पिशाचैः । सर्वत ईशानो अभयं नः कृणोतु शिवमीशानाय स्वाहे'ति । अग्रे 'प्राणाय (प्रदानाय) स्वाहा अपानाय स्वाहा व्यानाय स्वाहा समानाय स्वाहोदानाय स्वाहे'ति कनिष्ठिकायाङ्गुल्याङ्गुष्ठेन च प्राणे जुहोती, अनामिकयाऽपाने, मध्यमया व्याने, प्रदेशिन्या समाने, सर्वाभिरुदाने, तूष्णीमेका एक ऋषौ जुहोति । अत्र पुष्टिमार्गे शिवः प्रथमः 'मद्भक्तपूजाभ्यधिके'ति वाक्यात् । तदग्रे पञ्च प्राणाः । तदग्रे प्रकारः । तत्र अत्यग्नीत्यतिशब्दान्वयः । राजन् वरुण । 'यन्मे भुक्तमसाधूनां पापेभ्यश्च प्रतिग्रहः । तन्नो वरुणो राजा पाणिना ह्यवमर्शत्वि'ति श्रुतेः । प्रजग्धं प्रभक्षितम् । नोऽस्माकम् । कृणोतु विकरणव्यत्ययः । उं बाधित्वा श्नुः । स्वाहा देवतोद्देशेन त्यक्तमन्नम् । कनिष्ठकाया इत्यत्र ककारेऽज्विकारः कनिष्ठकया । जुहोतीति दीर्घपाठे ई । एका इत्यत्रामो डः । एक इति सप्तम्यन्तम् । सर्वनामसंज्ञाया वेदे विकल्पात्तस्मिन् । ऋषौ ब्रह्मणि । प्राणाग्निहोत्रोपनिषदादीत्यत्रादिना तैत्तिरीये 'अन्नं न निन्द्यात्तद्व्रतम् । प्राणो वा अन्नम् । शरीरमन्नादम् । प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम् । शरीरे प्राणः प्रतिष्ठित' इत्यादि । पुत्रमन्थब्राह्मणं च अग्रे स्फुटम् । तत्र देवापेक्षेति । तदर्थं देवापेक्षेति भाष्यार्थः । तत्रेत्यस्य होम इत्यर्थः । देवापेक्षायां युक्तिमाहुः न हीति । इन्द्रियं मनस्तदाद्यधिष्ठातृदेव ईशानादिस्तस्य प्रसादस्तं विना । तथेति । प्राणाग्निहोत्राद्युक्तप्रकारेण । तेषामिति । देवानाम् । एवकारस्तु श्रुत्यादौ दर्शनात् अन्यव्यवच्छेदकः । अत एवेति । तथा सतीति भाष्यसिद्धार्थः । इन्द्रियदेवापेक्षया ज्ञानोपयोगिदेहकारणत्वादेव ।

तत् कथं पञ्चमाहुतावेवान्यथा भवेत्। तस्मादानन्तर्यात् पुरुषाहुतिर्नान्नम्, रेतःसिग्योगः। योगशब्देनात्रापि अन्याधिष्ठानेन रेतःसिग्योगाभावः ॥ २६ ॥

इति तृतीयाध्याये प्रथमपादे सप्तमं रेतःसिग्योगाधिकरणम् ॥ ७ ॥

भाष्यप्रकाशः।

तस्यान्नस्य रेतोभावो योनौ नियमेन सेकश्च पुत्रमन्थब्राह्मणोक्तरीत्या भवतीति सुखेन पूर्वोक्तदोषनिरास इत्यर्थः। कथमित्यादि। भवत्वन्यत् सर्वम्, तथापि पुरुषशब्दमात्रेण सर्वस्यान्नस्य रेतस्त्वं कथं प्राप्यत इत्याकाङ्क्षायामाहेत्यर्थः। सिद्धमाहुः तस्मादित्यादि। अन्नपदोत्तरं किन्त्विवति शेषोऽध्याहार्यः। तथाच पुरुषाग्नौ आहुतिर्नान्नम्, किन्तु रेतःसिचि योऽन्नयोगः सेत्यर्थः। ननु भवत्वेवमाहुतिसिद्धिः, तथापि पूर्वाधिकरणेनान्नेऽन्याधिष्ठानस्य साधितत्वात् तज्जन्ये रेतस्यपि तत्सम्भव इत्याशङ्क्य तत्र तदभावमाहेत्याहुः योगशब्देनेत्यादि। तथाच तत्रैक

रश्मिः।

तेन ज्ञानोपयोगिदेहत्वेन इन्द्रियदेवत्वेन कार्यकारणभाव उक्तः। तत्र देवापेक्षेत्युक्तत्वात्तत्रेत्यस्य होम इत्यर्थात् ज्ञानोपयोगिदेहत्वेन इन्द्रियदेवकृतहोमत्वेन कार्यकारणभावो वा। एतेन तथासतीत्यस्यार्थो जातः। अतः परं न कोपि व्यभिचार इति भाष्यसिद्धार्थः। **तस्य** देवैर्हुतस्यान्नस्यार्थात् देवकृतहोमस्य रेतोभावः, न पुरीषभावः। पुरीषस्य ज्ञानोपयोगिदेहत्वाभावात्। **योनाविति**। धौतवाससो ज्ञानोपयोगिदेहानुपयोगात्। योनौ नियमेन सेकश्चेत्यर्थः। **पुत्रमन्थेति**। बृहदारण्यके 'एषां वै भूतानां पृथिवी रस' इत्यारम्भकं पुत्रमन्थब्राह्मणम्। तदुक्तरीतिः। 'एषां वै भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपोऽपामोषधयः ओषधीनां पुष्पाणि पुष्पाणां फलानि फलानां पुरुषः पुरुषस्य रेत' इति श्रुत्युक्ता तयान्नस्य रेतोभावः पुरुषेऽन्नाहुतिद्वारा। तथा 'स ह प्रजापतिरीक्षांचक्रे। हन्तास्मै प्रतिष्ठां कल्पयानीति। स स्त्रियꣳससृजे, ताꣳसृष्ट्वाध उपास्ते' इति श्रुत्युक्ता तया। योनौ नियमेन सेकश्च भवतीति सुखेन, रेतस्त्वेन अन्नत्वेन कार्यकारणभावः, न पुरीषत्वेन अन्नत्वेन, अश्रुतत्वात्। अतएव विहितकर्तॄणां सात्त्विकानां नियमेन योनौ सेकः, न (धौतवा)ससि। यथा 'पुत्रे कृष्णप्रिये रति'रित्याचार्याः। **पूर्वोक्तेति**। **भाष्ये**। न कोपि पूर्वोक्तो व्यभिचारः। स व्याख्यातस्तथा सतीत्यादिभाष्यविभागे पूर्वम्। **किन्तु रेतःसिचीति**। तेन रेतःसिचि योग इति विगृह्य सप्तमीति योगविभागात् 'सह सुपे'ति वा समासः। तथा च रेतःसिचि योगः रेतः सिञ्चतीति रेतःसिच् कर्तरि क्विप्। किञ्च, रेतःसिच्यन्नयोगः रेतःसिक्पुरुषेऽन्नहोमात् अन्नयोगः। किञ्च, अन्नस्य विकारोऽन्नमय इति योगः। 'द्व्यचश्छन्दसी'ति सूत्राद्विकारे मयट्। अन्नमयत्वं 'स एषोऽन्नरसमय'इत्यत्र पुरुषे प्रसिद्धम्। सेत्यर्थ इत्यर्थः। किञ्च, भाष्यप्रकाशे पूर्वोक्तः शङ्काग्रन्थोक्तो दोषे तस्य निरास इत्यर्थः। **पुरुषशब्देति**। भाष्यीयचकारादन्नशब्देन च। **इत्यर्थ** इति। अग्रे भाष्ये। अथेत्यानन्तर्य इत्याहुः **अथेति**। पुरुषशब्दमात्रेणान्नशब्देन च तदानन्तर्यात्सर्वस्यान्नस्य रेतस्त्वं ज्ञायते, ज्ञाप्यते यो यदनन्तरं जायते, स तस्य कार्यमिति। एवेति। 'आपः पुरुषवचसो भवन्ती'ति श्रुतेरेवकारः। **तत्कथमिति**। तच्छरीरपञ्चमाहुतौ। अन्यथा छान्दोग्ये गर्भत्वेन बृहदारण्यके पुरुषत्वेन च कथं भवेदिति प्रश्नः। पञ्चमाहुतौ 'देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुतेर्गर्भः सम्भवती'ति छान्दोग्ये। बृहदारण्यके तु 'तस्या आहुतेः पुरुषः सम्भवती'ति। एवकारोऽन्याहुतिव्यवच्छेदकः। **सिद्धमिति**। सूत्रार्थं वदन्तः सिद्धमाहुः **अन्नेऽन्येति**। अन्नेऽन्येषां जीवानां अधिष्ठानं स्थितिः तस्य। **तत्सम्भव** इति। अन्येषां जीवानां स्थितिसम्भवः। **तत्र** रेतसि। **तदभावं** अन्यजीवस्थित्यभावम्। **तत्रेति**। रेतसि। **योगशब्देनेत्यादीति**। रेतःसिक्शब्देन चारितार्थ्ये सूत्रे

योनेः शरीरम् ॥ २७ ॥ (३.१.८.)

हूयमानं निरूप्य फलं निरूपयति। 'तस्या आहुतेर्गर्भः सम्भवती'त्युच्यते। तत्र सन्देहः। योनावन्तःस्थितमेव फलम्, बहिर्निर्गतं वेति। तत्र गर्भशब्देनान्तःस्थित एव। शरीरपरत्वे श्रुतिबाधः स्यात्। उपसंहारोप्यग्रे कर्तव्याभावादुपपद्यते। ततश्च षण्मासानन्तरं गर्भे ज्ञानसम्भवाज्जननानन्तरं न गुरूपसत्त्यादि कर्तव्यमित्याशङ्क्य, परिहरति। योनेर्निर्गतं शरीरं गर्भशब्देनोच्यते। अग्रेऽस्थि-

---

भाष्यप्रकाशः।

एव जीवः शुद्धस्तिष्ठति, न त्वन्योपि। अन्यथा बहव एव श्वादिवदुत्पद्येरन्, नत्वेक इत्यर्थः ॥२६॥ इति सप्तमं रेतःसिग्योगाधिकरणम् ॥ ७ ॥

योनेः शरीरम् ॥२७॥ सूत्रप्रयोजनमाहुः हूयमानमित्यादि। **उपसंहार इति**। 'इति

रश्मिः।

योगशब्दस्य किं प्रयोजनमित्यत उक्तं **योगशब्देनेति**। रेतःसिचि योग इति योगशब्देन। **अत्रापीति**। रेतस्यपि। अन्याधिष्ठाने अन्येषां जीवानामधिष्ठाने रेतःसिग्योगाभावो न। अयमर्थः। रेतःसिक्शब्दो रूढः। 'रूढिर्योगमपहरती'ति प्रसिद्धिर्नैयायिकानाम्। तेन रेतःसिक्शब्दः एकजीवयुक्तरेतसि रूढः, सोऽन्याधिष्ठाने रेतसि सति पुरुषे न प्रवर्तते। अतोऽनेकजीवयुक्तोऽतः सिचि प्रवृत्त्यर्थं योग आदर्तव्यः। अवयवशक्तिरूपः। तथाच रेतःसिग्योगाभावो न अनेकजीवयुक्तरेतःसिचि। अतो यमले ज्ञानोपयोगिदेहसत्त्वान्नाहुत्यनुपपत्तिः। ननु 'रूढिर्योगमपहरती'त्युक्तमिति चेत्। न। वेदान्ते योगः, वेदे योगरूढिरिति मीमांसाकारिकायामुक्तत्वेन नात्र तत्प्रवृत्तिरिति। तथा च सूत्रार्थः। रेतःसिग्योगः अथेति द्विपदमिदं सूत्रम्। रेतःसिक्शब्दो यौगिकः, न रूढः, यमले ज्ञानोपयोगिदेहवति पुरुषाग्न्याहुत्यप्रवृत्तिप्रसङ्गात्। अतो रेतःसिचि योगः रेतःसिग्योगः। अथेत्यानन्तर्ये प्रसिद्धः। रेतःसिग्योगः पुरुषे। आनन्तर्यं रेतसि। पुरुषहुतान्नस्य रेतोभावश्रुतेः। 'पुरुषो वाव गौतमाग्नि'रित्युपक्रम्य 'देवा अन्नं जुह्वति तस्या आहुते रेतः सम्भवती'ति श्रुतिः। 'तर्काप्रतिष्ठान'सूत्रेणानुमानस्याभावात् शब्दार्थयोर्वैयधिकरण्यम्। 'केचिदत्र जन्मादिसूत्रमनुमानमिति वर्णयन्ती'ति भाष्ये केचित्पदात्। तथा च अथ पुरुषान्नानन्तर्यात् रेतसि पुरुषे रेतःसिचि योगः, न रूढिरित्यर्थः। अत्र पञ्चमाहुतिर्विषयः। तत्र गर्भः फलं पुरुषो वेति श्रुतिद्वयबीजे संशये। यद्वा। पुरुषेऽन्नहोमो रेतःसिचि वेति श्रुतिसूत्रबीजे संशये। पूर्वसंशये तु गर्भ एव कारणत्वात्पुरुषोऽपीति पूर्वपक्षे, उभये फले श्रुतत्वादिति सिद्धान्तः। पुरुषेऽन्नहोमः श्रुतत्वान्न तु रेतःसिचि सौत्रत्वादिति पूर्वपक्षे, रेतःसिगिति सिद्धान्तः ॥ २६ ॥ **इति सप्तमं रेतःसिग्योग इत्यधिकरणम् ॥ ७ ॥**

योनेः शरीरम् ॥ २७ ॥ **हूयमानमित्यादीति**। अन्नरूपं रेतोरूपं च। **एवेति**। दर्शनादित्येवकारः। **श्रुतीति**। 'गर्भः संभवती'ति श्रुतिबाधः। पूर्वपक्षसत्त्वाद्बाधशब्दः। **पूर्वपक्षिणो हि** श्रुत्योर्विरोधे विकल्पस्य मानवस्यास्फूर्तेः। अर्थवादत्वात्। **षण्मासेति**। तदनन्तरं **नवमे मासि**। 'अथ नवमे मासि स सर्वलक्षणज्ञानसंपूर्णो भवती'ति श्रुतेः। कुत उच्यत इत्यतो बृहदारण्यकसंग्रहादित्याहुः **अग्रेरिति**। योषारूपात्। एवकारो बृहदारण्यके 'तस्या आहुतेः पुरुषः सम्भवती'ति श्रुतेः गर्भपुरुषपदवाच्यशरीरेतरव्यवच्छेदकः। गर्भपुरुषरूपस्य फलरूपत्वात्। **गर्भेऽस्थितत्वस्यैव फलतावच्छे-**

तस्यैव फलरूपत्वात् । मध्यभावस्याप्रयोजकत्वात् । मातृपरिपाल्यत्वाय गर्भवचनम् । कललादिभावे पुरुषवचनत्वाभावादुपसंहारानुपपत्तिश्च । शरीरशब्देन वैराग्यादियुक्तः सूचितः । न तु स्वयं तदभिमानेन जात इति । तस्मात्

भाष्यप्रकाशः ।

तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ती'त्युपसंहारः । मध्यभावस्याप्रयोजकत्वादित्यनेन गार्भिकज्ञानित्वस्याप्यप्रयोजकत्वं संगृहीतम् । उत्पत्तिसमये वैष्णव्या मायया तस्य ज्ञानस्य तिरोधानात् । शरीरपरत्वे गर्भश्रुतिबाधं परिहरन्ति मात्रित्यादि । उपसंहारानुपपत्तिं पूर्वपक्षिमते बोधयन्ति कललेत्यादि । शरीरशब्देनेति । शीर्यत इति शरीरमिति निरुक्तेन तेनेत्यर्थः । अधिकरणार्थनिगमनेनैतत्पादार्थमपि निगमयन्ति तस्मादित्यादि ॥

अत्रैतद्बोध्यम् । रंहतिसूत्रे 'प्रश्ननिरूपणाभ्या'मित्यनेन पञ्चाग्निविद्यैव विषयत्वेनादृता । पादान्ते च 'योनेः शरीर'मिति सूत्रेण 'पुरुषवचसो भवन्ती'ति पञ्चमाहुतिफलमेव विचारितमिति स्पष्टं प्रतीयते । श्रुतौ च मध्ये यन्मार्गादिकं प्रश्नान्तरोत्तरत्वेनोक्तम्, तत्सर्वं पञ्चाग्निविद्याशेषत्वेनैव, मुख्या तु पञ्चाग्निविद्यैवेति 'य एतान् पञ्चाग्नीन् वेदे'त्युपसंहारात् तस्य फलसंबन्धाच्चावगम्यते । एतस्य पादस्य मुख्यतया ज्ञानोपयोगिदेहप्राप्तिप्रकारविचारार्थता, न तु वैराग्योत्पादन-

रश्मिः ।

दकत्वात् । **गार्भिकज्ञानित्वस्यापीति** । अपिना गर्भपुरुषयोर्मध्यभावस्य । गार्भिकज्ञानं तृतीयस्कन्धे प्रसिद्धम् । अप्रयोजकत्वं पञ्चाग्निविद्यायामपि । किञ्च, गार्भिकज्ञानित्वम् । 'ऋतुकाले प्रयोगादेकरात्रोषितं कललं भवती'त्युपक्रम्य 'जातश्चाहं मृतश्चैव जन्म जन्म पुनः पुनः । यन्मे परिजनस्यार्थे कृतं कर्म शुभाशुभम् । एकाकी तेन दह्येहं गतास्ते फलभागिनः । यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं तत्प्रपद्ये महेश्वरम् । अशुभक्षयकारकं परमुक्तिप्रदायकम् । यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं तत्प्रपद्ये नारायण'मिति गर्भोपनिषच्छ्रुत्योक्तम् । **वैष्णव्येति** । 'अथ योनिद्वारं संप्राप्तो यन्त्रेणापीड्यमानो महता दुःखेन जातमात्रस्तु वैष्णवेन वायुना संस्पृष्टः तदा न स्मरति जन्ममरणानि न कर्म शुभाशुभं विन्दती'ति गर्भोपनिषच्छ्रुतेः । **तस्येति** । गार्भिकस्य । **शरीरेति** । बृहदारण्यकोक्तपुरुषरूपफलपरत्वे । **गर्भेति** । गर्भश्रुतिविकल्पं परिहरन्ति । बाधबाधोऽत्र बाधशब्दार्थः । **कललेत्यादीति** । 'एकरात्रोषितं कललं भवति सप्तरात्रोषितं बुद्बुदं अर्धमासाभ्यन्तरे पिण्डं मासाभ्यन्तरे कठिनं मासद्वयेन शिर' इत्यादिश्रुतेः । कललं शुक्रशोणितमिश्रितम् । बुद्बुदं वर्तुलाकारम् । पिण्डं पेशीमांसपिण्डाकारम् । **तेनेति** । सौत्रेण । **भाष्ये** । **नत्विति** । देहशब्दाभावात्सूत्रे । **तदभीति** । शरीराभिमानोपचयेन । 'दिह उपचये' । पचाद्यच् । **प्रकृते** । **निगमनेनेति** । पञ्चम्यन्तघटितत्वेन तथा । तस्मात्सर्वतो वह्निमानिति निगमनवत् । **तस्मादित्यादीति** । **साधनेति** । 'अभयो हरन्ती'ति श्रुतेरग्निहोत्रादिसाधनं होमश्च साधनं तत्सहित इत्यर्थः । अधिकरणार्थोऽयम् । ब्रह्मज्ञानमिति पादार्थः । 'तत्र प्रथमे पादे ब्रह्मज्ञानौपयिकं जन्म विचार्यत' इति भाष्यात् ।

पञ्चाग्निविद्यैवेति । तल्लिङ्गादेवकारोऽन्यव्यवच्छेदकः । **एवेति** । पुरुषशरीरयोः पर्यायत्वादेवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदकः । 'यथ इत्थं विदु'रित्याद्युक्तार्चिरादिमार्गत्रयं यमगतिश्चेत्येतेषां योजनामाहुः **श्रुतौ चेति** । **प्रश्नेति** । पञ्चाग्निविद्याप्रश्नेतरप्रश्नाः 'वेत्थ यदितोऽधि प्रजाः प्रयन्ती'त्यादयश्चत्वारः । तदुत्तरत्वेन । **एवेति** । तन्मध्यपातिनां तच्छेषत्वमिति नियमादेवकारः । **एवेतीत्युक्तैवकारसार्थक्यायाहुः य एतानिति** । **फलेति** । 'य एतान्पञ्चाग्नीन्वेद न सह तैरप्याचरन् पाप्मना लिप्यते

भाष्यप्रकाशः ।

मात्रार्थतेति प्रथमसूत्रव्याख्यान एव व्युत्पादितम् । श्रुतावपि 'य इत्थं विदु'रित्यत्र 'य एतानेवं पञ्चाग्नीन् वेदे'त्यत्र च 'शुद्धः पूतः पुण्यलोको भवती'त्यनेन ब्रह्मप्राप्तिरेव फलत्वेन प्रतिपादिता । वैराग्यं तु मध्ये धूममार्गव्युत्पादने 'अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतर'मित्यादिना तृतीयस्थानव्युत्पादने च 'तस्माज्जुगुप्सेते'त्यनेनोक्तम् । तथा सति तत्तयोः पयोर्ज्ञानस्यैव फलम् । तदत्र ब्रह्मज्ञानोपकारकत्वेनोक्तम् । आहुतीनां यथाज्ञानोपयोगः, तदपि प्रागेवोक्तम् । इयं च मर्यादामार्गीया व्यवस्था । पुष्टिमार्गे तु पञ्चाहुतिनियमाभाव इत्यपि 'न तृतीय' इति सूत्रे साधितम्, अतो वैराग्यमात्रार्थत्वं पादस्य यदुच्यते परैः, तदप्रयोजकम् ।

एवमनुशयाधिकरणे फलानुशयो यन्नाङ्गीक्रियते, तदपि तथेत्यपि तत्रैव व्युत्पादितम् ।

अनिष्टादिकारिणामित्यधिकरणं तु सर्वैर्दशसूत्रमङ्गीक्रियते । तत्र सर्वेषां न चन्द्रगतिरिति सिद्धान्तस्तु समानः । न तृतीय इत्यादिसूत्रचतुष्टयं तु तृतीयस्थानेऽन्यत्र च पञ्चाहुतिनियमाभावबोधकम् । तत्र न तृतीये स्थाने आहुतिसंख्यानियम आदर्तव्यः । कुतः । तथोपलब्धेः । आहुतिसंख्यानियमं विनैव 'जायस्व म्रियस्वे'त्युक्तप्रकारेण तृतीयस्थानोपलब्धेः । किञ्च । 'पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ती'ति मनुष्यशरीरहेतुत्वेनाहुतिनियमः सङ्कीर्त्यते, न कीटपतङ्गादिशरीरहेतुत्वेन । पुरुषशब्दस्य मनुष्यजातिपरत्वात् । अपि च । पञ्चम्यामाहुतावपां पुरुषवचस्त्वमुपदिश्यते, न त्वपञ्चम्यां तन्निषिध्यते । वाक्यभेदप्रसङ्गात् । अतो येषामारोहावरोहौ संभवतः, तेषां पञ्चम्यां

रश्मिः ।

शुद्धः पूतः पुण्यलोको भवति य एवं वेदे'ति श्रुत्युक्तफलसम्बन्धात् । **एवेति** । अन्यसूत्रव्याख्यानव्यवच्छेदकः एवेति । **पुण्यलोक इति** । पुण्यः पुण्यसाध्यो लोकोऽवस्थेति व्याख्यायाम् । **ब्रह्मप्राप्तिरेवेति** । लोको ब्रह्मलोकः । 'मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययात्' । अत उक्तं **ब्रह्मप्राप्तिरिति** । एवकारस्तु 'ब्रह्मज्ञानौपयिकं जन्म विचार्यत' इति भाष्यात् । **तृतीयेति** । 'जायस्व म्रियस्वे'ति श्रुत्युक्तम् । **तथा सतीति** । वैराग्यब्रह्मज्ञानयोर्निरूपणीयत्वे सति । **तदिति** । वैराग्यम् । **तयोः** धूमतृतीयमार्गयोः । **ज्ञानस्यैवेति** । 'य एवं वेदे'ति श्रुत्युक्तज्ञानस्य । एवकारेण ब्रह्मज्ञानं न स्वसाधकवैराग्येणाफलं भवतीत्यर्चिरादिमार्गज्ञानं व्यवच्छिद्यते । **तदत्रेति** । वैराग्यमत्र पञ्चाग्निविद्यायां साधनचतुष्टयान्तर्गतत्वाद्ब्रह्मज्ञानेत्यादिः । **प्रागेवेति** । प्रथमसूत्रे एवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदकः । **परैरिति** । शङ्कररामानुजप्रभृतिभिः । तथाच भाष्यम् । 'प्रथमे तावत्पादे पञ्चाग्निमाश्रित्य संसारगतिप्रभेदः प्रदर्श्यते वैराग्यहेतोः । 'तस्माज्जुगुप्सेते'ति चान्ते श्रवणात् ।' 'उपासनारम्भाभ्यर्हितोपायश्च प्राप्यवस्तुव्यतिरिक्तवैतृष्ण्यं प्राप्यतृष्णा चेति तत्सिद्ध्यर्थं जीवस्य लोकान्तरेषु संचरतो जाग्रतः स्वपतः सुषुप्तस्य मूर्च्छतश्च दोषाः परस्य च ब्रह्मणस्तद्रहितता कल्याणगुणाकरता च प्रथमद्वितीयपादयोः प्रतिपाद्यत' इति च भाष्यान्तरम् । **तथेति** । अप्रयोजकम् । **तत्रैवेति** । एवकारेणेतरयोगो व्यवच्छिद्यते । **न चन्द्रगतिरिति** । 'ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ती'ति श्रुतेः सुकृतिविषयत्वात् पापिनां न चन्द्रगतिरिति **सिद्धान्तस्तु समान इति** । परन्तु सूत्रचतुष्टयार्थासङ्गतिरिति भावः । तामेवाहुः **न तृतीयेति** । तृतीयं स्थानमुक्तम् । **अन्यत्रेति** । अर्चिरादिमार्गे धूममार्गे च । **इत्युक्तेति** । इति छान्दोग्योक्तप्रकारेण । **वाक्यभेदेति** । वाक्यस्य द्व्यर्थताप्रसङ्गात् । 'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति,' नत्वपञ्चम्यां भवन्तीति वाक्यस्य द्व्यर्थता वाक्यभेदरूपा । **आरोहेति** । 'ते धूममभिसम्भवन्ति धूमाद्रात्रि'मित्याद्यारोहः । 'तस्मिन्यावत्सम्पातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्त' इत्यवरोहः । 'अपि

भाष्यप्रकाशः ।

देहोद्भवः । अन्येषां तु विनैव संख्यां भूतान्तरोपसृष्टाभिरद्भिर्देह आरभ्यते । अपि च । द्रोणधृष्टद्युम्नसीताद्रौपदीप्रभृतीनां चायोनिजत्वं स्मर्यते । द्रोणादीनां योषिद्विषयकाहुतिर्नास्ति । धृष्टद्युम्नादीनां तु योषित्पुरुषविषये द्वे न स्तः । तत्र यथा संख्यानादरः, तथान्यत्रापि ज्ञेयः । बलाकापि रेतःसिचं विनैव गर्भं धत्त इति लोकरूढिः । अपि च । चतुर्विधे भूतग्रामे स्वेदजोद्भिज्जयोरुत्पत्तिर्ग्राम्यधर्मं विनैव दृश्यत इत्येवं सूत्रत्रयं व्याख्याय, छान्दोग्ये 'तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्त्याण्डजं जीवजमुद्भिज्ज'मिति भूतग्रामत्रैविध्यश्रावणात्, कथं चातुर्विध्यमित्याकाङ्क्षायाम्, 'तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्ये'ति सूत्रं लिखित्वा, 'आण्डजं जीवजमुद्भिज्ज'मित्यत्र तृतीयेनोद्भिज्जशब्देनैव स्वेदजोपसंग्रहो ज्ञेयः । स्वेदजोद्भिज्जयोर्भूम्युदकोष्मप्रभवत्वेन तुल्यत्वादिति व्याकुर्वन्ति ।

तदपि तथा । पञ्चाग्निविद्यायाः पुरुषशरीरभवनं प्रकृत्यैव प्रवृत्ततया तृतीयस्थाने आहुतिशङ्काया एवानुदयेन तत्र समाधेरपेक्षैव नेति सूत्रवैयर्थ्यप्रसङ्गात् । किञ्च, आहुतिनियमस्य बहुषु व्यभिचारेण तासामाहुतीनां कैमर्थ्याकाङ्क्षायां तद्विषयविचारे धूममार्गीयाः सर्वे तु न संभवन्तीति तदाकाङ्क्षापूरणाभावादपि ग्रन्थशैथिल्यम् । संशोकजशब्देन स्वेदजग्रहणमपि न रोचिष्णु । ईदृशशब्दप्रयोगे प्रयोजनाभावादिति ।

रश्मिः ।

स्मर्यत'इति सूत्रार्थमाहुः **अपि चेत्यादिना** । **स्मर्यते** इति । यथा 'सीता सीराग्रतो जाते'ति सीताविषयिणी स्मृतिः । प्रभृतिशब्देन 'उत्सङ्गान्नारदो जज्ञे' इति नारदः । **लोकेति** । मदनसारिका । दर्शनाच्चेति सूत्रार्थमाहुः **अपि चेत्यादिना** । **चतुर्विध** इति । जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जरूपा विधा यस्य । **विनैवेति** । एवकारो दर्शनात् । क्रमशो दूषणानि । **पञ्चाग्निविद्याया** इत्यादिना । **प्रकृत्यैवेति** । प्रसिद्ध्यैवकारः । पुरुषशरीरभवनेतरस्वेदजोद्भिज्जयोगव्यवच्छेदकः । पुरि शयनेपि स्वेदजोद्भिज्जयोः पुरुषशब्दाप्रवृत्तिरप्रसिद्धेः । एवेति । ननु स्मर्यत इति सूत्रोक्तस्मृतिविरोधात्कुत एवकार इति चेत् । न । तस्याः स्मार्तविषयत्वेन श्रौतेऽप्रवृत्तेः । मायावत् । उपष्टम्भिका स्मृतिरिति चेत्, पक्षान्तरं भविष्यति । 'तत्त्वमसी'त्यत्र तत् त्वमसीत्युक्त्वा 'भिन्ना जीवाः, परो भिन्नः, तथापि ज्ञानरूपतः । प्रोच्यन्ते ब्रह्मरूपेण वेदवादेषु सर्वश' इति स्मृत्युपष्टब्धो विग्रहः तस्य त्वमिति तद्वत् । **अपेक्षैव नेति** । अपेक्षावधारणं न । प्रसङ्गसङ्गत्या सङ्गतं सर्वमिति चेत्, तत्राहुः **किञ्चेति** । **बहुष्विति** । द्रोणधृष्टद्युम्नसीताद्रौपदीप्रभृतिषु । ज्ञानोपयोगिदेहत्वेन पञ्चाग्निहोमत्वेन कार्यकारणभावस्यान्वयव्यतिरेकव्यभिचारस्तेन । पञ्चाग्निविद्याविषये यमले कुमार्यां ज्ञानोपयोगिदेहाभावेनान्वयव्यभिचारः । द्रोणादिषु पञ्चाग्निविद्याभावेपि ज्ञानोपयोगिदेहसत्त्वात् व्यतिरेकव्यभिचारः । पुष्टिमार्गिषु नन्दप्रभृतिषु च । तेनाप्रयोजकत्वात्कैमर्थ्याकाङ्क्षा 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोपि प्रवर्तत' इति । तत्राम् । **न सम्भवन्तीति** । 'अथ य इह कपूयचरणा' इत्यादिना श्वादियोन्यादिनिरूपणान्न सम्भवन्ति । उदाहरणेन 'अहं मनुरभवं सूर्यश्चे'त्यनेनैकेनाहुतिव्यभिचारशङ्कानिवृत्त्याकाङ्क्षापूरणाभावात् शैथिल्यमिति । **ईदृशेति** । अयमर्थः । संशोकजपदस्य स्वेदजे रूढेरप्रसिद्धत्वादत एव योगरूढेरभावाद्यौगिकत्वं वक्तव्यम् । योगश्च सम्यक् शोको यत्र स्वेदे सम्बन्धविशेषेणेति संशोकः स्वेदस्तज्जन्य इति । एवं चैतादृशशब्दप्रयोगे प्रयोजनाभावः । यदि च लक्षणा, तदाप्यप्रयोजनवती सेति । ईदृशशब्दप्रयोगे प्रयोजनाभावादिति । सिद्धान्ते तु अप्सु संशोकजपदस्य श्रौतो योगः । शोकाश्रुषु लक्षणाग्रहेपि 'यदश्र्वशीर्यते'ति श्रुत्याश्रुषु समवायिकारणत्वबोधनात्प्र-

भाष्यप्रकाशः ।

तथा, साभाव्यापत्तिसूत्रे, समानो भावो रूपं येषां ते सभावाः । तेषां भावः साभाव्यं सारूप्यमिति वाचस्पतिव्याख्यानमप्ययुक्तम् । भावशब्दे परे समानपदस्य सादेश इत्यत्र पाणिनीयानुशासनादर्शनात् ।

रामानुजाचार्यभास्कराचार्याभ्यां तु स्वाभाव्यापत्तिरित्येवं सूत्रपाठो भेद्यते ।

मध्वाचार्यैस्तु तद्भावापत्तिरित्येवं भेद्यते ।

तन्मतं तु न मयानूद्यते । अप्रसिद्धश्रुत्युदाहरणेन भिन्नविधत्वादिति ।

भिक्षुस्तु, कृतात्ययसूत्रादारभ्य संशोकजस्येत्यन्तं चतुर्दशसूत्रमेकमधिकरणं जीवावरोहप्रतिपादकमङ्गीकृत्य, कृतात्ययादिसूत्रचतुष्टये कर्मशेषरूपमनुशयम्, अनिष्टादिकारिणामित्यादिसूत्रचतुष्टये प्रयतां सर्वेषां चन्द्रमण्डलगमनं सूर्यमण्डलव्यदेवैर्मेषां भक्षणम्, न तृतीय इति सूत्रे च, यथोक्तारोहावरोहौ स्वर्गिनारक्यपेक्षया तृतीये क्षुद्रादिजीवे न स्तः । कुतः । तथोपलब्धेः । 'अथैतयोः पथोर्न कतरेणचन तानीमान्यसकृदावर्तीनि क्षुद्राणि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वे'त्येतत् तृतीयं स्थानम् । तेनासौ लोको न संपूर्यते । 'तस्माज्जुगुप्सेते'ति छान्दोग्यश्रुतौ आरोहावरोहाभावोपलब्धेरित्येवं व्याख्याय, अग्रिमसूत्रद्वयव्याख्यानेऽन्येषामप्यारोहाद्यभावं साधयित्वा, श्रुतौ या पञ्चाग्निक्रमेण भूतानामुत्पत्तिः, साप्युत्सर्गाभिप्रायेत्युक्तवान् । संशोकजपदं च सर्वव्याख्यातवान् ।

रश्मिः ।

योजनवती सेति । **पाणिनीयेति** । अयमाशयः । समानस्य सादेशे प्रकारद्वयं संभावितम् । 'समानस्य छन्दस्यमूर्धप्रभृत्युदर्केषु' इति सूत्रे समानस्येति योगविभागेन सादेशः । यथा सपक्षः साधर्म्यमित्यादि । अथवा । 'ज्योतिर्जनपदरात्रिनाभिनामगोत्ररूपस्थानवर्णवयोवचनबन्धुष्वि'ति सूत्रे रूपशब्दस्यार्थपरत्वमङ्गीकृत्य सादेश इति । तदसङ्गतम् । योगविभागस्य भाष्यानुक्तत्वादिति स्थितं शेखरे । अतएव सपक्षः साधर्म्यमित्यत्र सदृशवचनस्य सहशब्दस्य सादेश इति दीक्षिताः । एवं द्वितीयसूत्रेपि रूपपदस्यार्थपरत्वमप्यन्यैर्न स्वीकृतमिति । अत उक्तं **पाणिनीयानुशासनादर्शना**दिति । तत्त्वं त्वेतत् । समानो भावो येषामित्यस्वपदविग्रहं स्वीकृत्य सदृशवाचकस्य सहशब्दस्य 'वोपसर्जनस्ये'ति सूत्रेण सादेशे सत्त्वे ष्यञि च कृते साभाव्यमिति सिध्यतीति व्याख्यानान्तरमेतदिति । को विशेष इति चेदुच्यते । साभाव्यापत्तिरित्यस्य तन्मते आहुतावाकाशसाम्यापादनमित्यर्थो भवति । आपत्तिशब्देन तस्यैवार्थस्य प्रतीतेः । स चासङ्गतः । सादृश्यापादनस्याविवक्षितत्वात् । यद्यप्यापत्तेः प्रापणमप्यर्थः, तथाप्यवक्तव्यः । असमर्थत्वाद्विरुद्धमतिकृत्त्वाच्च । 'तीर्थान्तरेषु स्नानेन समुपार्जितसत्कृतिः । सुरस्रोतस्विनीमेष हन्ति संप्रति सादर'मित्यत्र गमनार्थहन्तीतिवत् । 'सुधाकरकराकारविशारदविचेष्टितः । अकार्यमित्रमेकोऽसौ तस्य किं वर्णयाम्यह'मित्यत्राकार्यमित्रमितिवच्च । अत्र कार्यं विना मित्रं मित्रमिति विवक्षितम् । अकार्येषु मित्रमिति प्रतीतिः । तस्मादस्मदुक्तमेव साधीयः । किञ्च, अस्वपदविग्रहस्वीकारेपि समस्यमानयावत्पदाघटितत्वस्य विग्रहेऽभावेन मुख्यलक्षणानाक्रान्तत्वात् यथाकथञ्चित् अस्वपदविग्रहोऽत्र वक्तव्यः । तदपेक्षयाऽसमस्तत्वेन व्याख्यानमेव ज्याय इति । अत एव न बहुव्रीहेस्तादृशनित्यत्वमिति शब्दरत्नकारः । **सूत्रपाठ** इति । भिद्यते स ताभ्यां भेद्यते । ण्यन्ताद्यक् । **तद्भावेति** । पुस्तकान्तरे तु तत्स्वाभाव्यापत्तिरिति पठ्यते । व्याख्यानं तु तद्वतौ गतिः, तत्स्थितौ स्थितिरित्येव तद्भावापत्तिरिति । **अप्रसिद्धेति** । पुस्तकान्तरे तु 'धूमो भूत्वाभ्रं भवती'ति श्रुतिरुदाहृता । **प्रयतामिति** । प्रयाणं कुर्वताम् । **अन्येषामिति** ।

योग्यदेहः साधनसहितो ब्रह्मज्ञानार्थं निरूपितः ॥ २७ ॥

इति तृतीयाध्याये प्रथमपादेऽष्टमं योनेः शरीरमित्यधिकरणम् ॥ ८ ॥

इति श्रीवेदव्यासमतवर्तिश्रीवल्लभाचार्यविरचिते श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्ये तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ ३ ॥ १ ॥

भाष्यप्रकाशः।

तत्र प्रयतां सर्वेषां चन्द्रगतिर्योक्ता, सा न युक्ता। प्रयाणस्य मरणरूपत्वेन क्षुद्रजन्तुष्वपि तुल्यतया तेषामप्यारोहाद्यापातात्। तेषामसकृदावृत्तिश्रुत्या निवारणे कौषीतकिश्रुतिस्थसर्वपदस्य सङ्कोचार्हताया आवश्यकत्वे अनिष्टादिकारिणामपि 'धैवस्ते विविच्यन्ते' इति श्रुत्या वारणादिष्टादिकारिपरतया संकोचेपि बाधकाभावात्। पञ्चाग्निक्रमेणोत्पत्तेरौत्सर्गिकत्वोक्तिरपि तथा। बहुषु व्यभिचारे औत्सर्गिकत्वस्य वक्तुमयुक्तत्वात्। संशोकजव्याख्यानमग्रिमाधिकरणस्थसाभाव्यपदव्याख्यानं च पूर्ववदेवासंगतम्। यत्पुनरवान्तरसृष्टेरपि ब्रह्मकर्तृकत्वप्रतिपादनार्थमयं पाद इत्युक्तम्। तत्त्वविरुद्धत्वादनुमन्यामहे ॥ २७ ॥ इत्यष्टमं योनेः शरीरमित्यधिकरणम् ॥ ८ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यचरणनखचन्द्रकिरणनिवारितहृदयध्वान्तेन पीताम्बरात्मजेन पुरुषोत्तमेन कृते ब्रह्मसूत्रभाष्यप्रकाशे तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ ३ ॥ १ ॥ श्रीः ॥

रश्मिः।

क्षुद्रादिजीवानाम्। **निवारण** इति। चन्द्रगतिनिवारणे। चन्द्रगतावसकृद्धावृत्त्यभावात्। **कौषीतकीति**। 'ये के चास्माल्लोकात्प्रयान्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ती'ति श्रुतिः। **वारणादिति**। चन्द्रगतिनिवारणात्। **सङ्कोच** इति। विपरीतलक्षणया संकोचे। यथा 'बहूपकृतं त्वये'त्यपकारिणि लक्षणया बहूपकृतपदसंकोचः। **औत्सर्गिकत्वेति**। 'आप्युत्सर्गाभिप्रायेणे'ति ग्रन्थेन पूर्वमुक्ता। **बहुष्विति**। 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः' 'तदात्मान९स्वयमकुरुते'त्यादिषु। शङ्करैः प्रथमाधिकरणे बीजैः सम्परिष्वक्त एव गच्छतीति साधितम्। द्वितीये सानुशया अवरोहन्ति। तृतीये पापिनां स्वर्गे गमनाभावः। चतुर्थे धूमादिभावो धूमादिभिः सम्बन्धः। पञ्चमे व्रीह्यादिभावान्निर्गमो दुष्कर इति विलम्बः पूर्वं त्वरेति। षष्ठे स्वर्गादवरोहतां व्रीह्यादौ संश्लेषमात्रमिति। सिद्धान्ते तु प्रथमे सफला प्रथमाहुतिः। द्वितीये द्वितीयाहुतिः सफला। तृतीये पुष्टिमार्गीयाणां मर्यादामार्गीयाणां च सोमभावः, न सर्वेषाम्। चतुर्थे मर्यादायामेव पञ्चमाहुतिः निरोधलक्षणग्रन्थोक्तकर्त्रनुमेया। तस्या नियमः। न पुष्टौ। 'जायस्व म्रियस्वे'ति मार्गस्य यममार्गप्रवेशश्च। पञ्चमे तृतीयाहुतिः सफला। षष्ठे संस्कारेणान्नशुद्धिः। सप्तमे रेतसः पुरुषभावः। अष्टमे बहिर्निर्गतस्यैव पुरुषत्वमिति ॥ २७ ॥ इत्यष्टमं योनेः शरीरमित्यधिकरणम् ॥ ८ ॥

इति श्रीविट्ठलेश्वरैश्वर्यनिरस्तसमस्तान्तरायेण श्रीगोविन्दरायजित्पौत्रेण सम्पूर्णवेद्या विट्ठलरायजिद्भ्रात्रीयगोकुलोत्सवजिदात्मजगोपेश्वरजिता कृते भाष्यप्रकाशरश्मौ तृतीयाध्यायस्य रश्मौ प्रथमपादः सम्पूर्णतामगमत् ॥ ३ ॥ १ ॥

इति श्रीकृष्णद्वैपायनप्रणीतब्रह्मसूत्रेषु तृतीये उपनिषदां बोधकताप्रकारनिरूपके साधनाध्याये अधिकारिजन्मनिर्धारो नाम प्रथमः पादः ॥

श्रीकृष्णाय नमः।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः।
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः।

श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम्।

भाष्यप्रकाश-रश्मि-परिबृंहितम्।

तृतीयोऽध्यायः।

द्वितीयः पादः।

सन्ध्ये सृष्टिराह हि ॥ १ ॥ (३-२-१-)

पूर्वपादे अधिकारियोग्यदेहो निरूपितः। द्वितीये जीवस्य मुक्तियोग्यता

भाष्यप्रकाशः।

सन्ध्ये सृष्टिराह हि ॥ १ ॥ अथ द्वितीयपादं व्याचिख्यासवः पादयोः सङ्गतिमाहुः पूर्वेत्यादि। अधिकारिणो ज्ञानोपदेशयोग्यदेहप्राप्तावपि यदि स्वरूपतो मुक्तियोग्यता न स्यात्, तदा तादृशदेहाप्तिर्वैयर्थ्यम्, अतस्तदर्थं द्वितीयपादे सा निरूप्यते। यदि हि सा न स्यात्, उपदेशो न स्थिरीभवेत्, अतस्तदर्थं तन्निरूपणमित्यर्थः।

माध्वास्तु माहात्म्यज्ञानपूर्वकस्नेहस्य भक्तित्वादनुक्ते माहात्म्ये तदज्ञानेऽस्य भक्तेरप्यसम्भवात् तत्सिद्ध्यै माहात्म्यप्रदर्शनायायं पाद इत्याहुः।

तत्र माहात्म्योक्तिस्तु पूर्वमपि निराबाधा।

भिक्षुस्तु, पूर्वस्मिन् पादे ब्रह्मणः सकाशादवान्तरसृष्टिरुक्ता। अत्र त्वेकस्मिन् देहेपि स्वप्नादिसृष्टिस्तत उच्यते। तावता जन्मादिसूत्रस्थं लक्षणं विचारितं भवति। ततः स्वरूपलक्षणं विचार्यते, ततः प्रपञ्चब्रह्मणोर्भेदाभेदावित्याह।

तत्रापि विचारस्य कैमर्थ्याकाङ्क्षा न पूर्यते। तस्मादुक्तमेव प्रयोजनम्। ततश्चैककार्यत्वं पादयोः सङ्गतिः। अस्या योग्यताया आन्तरत्वं च पादानन्तर्ये हेतुरिति द्रष्टव्यम्।

रश्मिः।

सन्ध्ये सृष्टिराह हि ॥ १ ॥ **तदर्थमिति**। उपदेशस्थिरीकरणार्थम्। **तन्निरूपणं** स्वरूपतो मुक्तियोग्यतानिरूपणम्। **तदज्ञान** इति। विषयत्वेन माहात्म्याज्ञाने। कारणाभावेन ज्ञानाभावात्। **अस्य** पञ्चाग्निविद्यासाधितदेहकस्य। **तत्सिद्ध्ये** माहात्म्यज्ञानसिद्ध्ये। **पूर्वमिति**। पूर्वं गतपादे। तेनास्यार्थस्यातिव्याप्तिः। स्वरूपतो मुक्तियोग्यता तु दीक्षितस्य स्वप्नेऽन्नभोजनादौ प्रायश्चित्तस्मरणात्स्वप्नेऽन्नभोजनादिदोषनिवृत्त्या तादृशदोषज्ञानार्थमधिकरणारम्भः। अग्रे दोषासंसर्गे विषयनिर्धारार्थं ब्रह्मस्वरूपविचार इति नातिव्याप्तिः। माहात्म्यज्ञानं तु श्रवणाङ्गमीमांसाफलं षोडशपादानुस्यूतम्। **स्वप्नादीति**। **आदि** सुषुप्तिः। **तत** इति। तदनन्तरं द्वितीयपादे। **तत** इति। तदनन्तरं तृतीयपादे। **तत** इति। तदनन्तरं चतुर्थपादे। **कैमर्थ्येति**। असंदिग्धस्य स्वरूपलक्षणस्य सूत्राविषयस्य महता प्रबन्धेन विचारः किमर्थ इति कैमर्थ्याकाङ्क्षा। **उक्तमिति**। स्वप्नदोषज्ञानम्। **एवेति**। प्रयोजनद्वयनिरासादेवकारः। **एककार्यत्वमिति**। अविरोधस्य द्वितीयाध्या-

निरूप्यते । तत्र प्रथमं स्वप्नं निरूपयति । स्वप्नस्य सत्यत्वे तत्कृतगुणदोषसम्बन्धो जीवस्य भवेत् । ततश्च निरूपिता शुद्धिर्व्यर्था स्यात् । अतः स्वप्नस्य मिथ्यात्वं प्रदर्शयितुमधिकरणारम्भः ।

तत्र पूर्वपक्षमाह । सन्ध्ये स्वप्ने सृष्टिराह । 'तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवत इदं च परलोकस्थानं च सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थान'मित्युपक्रम्य, 'न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजत' इत्यादिना सृष्टिराह । सन्ध्ये स्थाने सृष्टिरस्ति । यतः श्रुतिः स्वयमेवाह । युक्तश्चायमर्थः ।

भाष्यप्रकाशः ।

पूर्वाधिकरणविषयमाहुः तत्रेत्यादि । तत्रेति । योग्यतायां निरूप्यायाम् । ननु तथा सति प्रथमं स्वप्ननिरूपणस्य किं प्रयोजनम्, अत आहुः स्वप्नस्येत्यादि । जीवस्येति । प्राप्तयोग्यदेहस्यापि जीवस्य ।

शङ्करभास्कराचार्ययोर्मते तु स्वयंज्योतिष्ट्वसिद्ध्यर्थं स्वप्ननिरूपणम् ।

तत्तु मुक्तियोग्यतायामेव पर्यवस्यति ।

रामानुजाचार्यास्तु, पूर्वपादे जीवस्य कर्मगतिं प्रदर्श्य दुःखित्वं स्थापितम्, इदानीमस्य स्वप्नावस्था परीक्ष्यत इत्याहुः ।

एवं तच्चौरोपि ।

तन्मते वैराग्यार्थतामात्रमायातीति बोध्यम् ।

प्रकृते त्वधिकरणप्रयोजनोक्त्यैव स्वप्नसृष्टिः सत्या मिथ्या वेति संशयोप्युक्त इति तमनुक्त्वा पूर्वपक्षमेवाहुः तत्रेत्यादि । सन्ध्यमिति । एतल्लोकपरलोकयोः सन्धौ भवम् ।

रश्मिः ।

यार्थस्य शाब्दज्ञानजननस्वभावस्य पादयोः सङ्गतिरित्यर्थः । पूर्वोक्तशाब्दज्ञानस्य ज्ञानोपयोगिदेहसाधनं कार्यम् । तदनन्तरं किमन्यकार्यजनकत्वमिति जिज्ञासय[1] स्वरूपतो मुक्तियोग्यतारूपकार्यनिरूपणात् । एकस्य कारणस्य कार्यत्वमित्येककार्यत्वम् । पादयोस्तु प्रसङ्गः । **स्वयमिति** । 'अत्रात्मा स्वयंज्योतिर्भवती'ति श्रुतेः । 'अत्र' स्वप्ने । **तत्तु मुक्तीति** । शाब्दविषयं स्वयंज्योतिष्ट्वं मुक्तियोग्यतायाम् । **एवेति** । मुक्तेः स्वयंज्योतिष्ट्वम् । ज्योतिश्चरणाधिकरणे च ब्रह्मणः स्वयंज्योतिष्ट्वमित्येवकारः । **पर्यवेति** । मुक्तियोग्यता स्वाप्निकदोषाभावः । तत्र स्वयंज्योतिष्ट्वं स्वयंप्रकाशत्वं स्वाप्निकदोषरहितत्वेऽभिन्नात्मत्वं विषयान्तराप्रकाश्यत्वं स्वयंज्योतिष्ट्वं 'अत्रात्मे'ति श्रुतेरित्येवं पर्यवस्यतीत्यर्थः । **तच्चौर इति** । भगवाञ्छैवाचार्यः । **वैराग्येति** । जगतः कर्मगत्यधीनत्वे दुःखित्वं विषयवैतृष्ण्यरूपवैराग्यार्थतामात्रम् । स्वप्नावस्थापरीक्षणेन च वैराग्यमिति तथा । मात्रचा ज्ञानोपयोगिदेहव्यवच्छेदः । **एवेति** । जगद्दृष्टिः सत्यत्वे बीजम्, निरूपितशुद्धिवैयर्थ्यं मिथ्यात्वे बीजमित्येवकारः । **पूर्वपक्षमेवेति** । संशयव्यवच्छेदक एवकारः ।

भाष्ये । सृष्टिराहेति । अत्र सृष्टिमाहेत्यापत्त्या तन्निवृत्तये सूत्रमेव विवृण्वन्ति स्म **सन्ध्य** इत्यादि । सूत्रे 'सन्ध्य' इत्यस्य 'स्थान' इति विशेष्यं 'सृष्टि'रित्यस्याग्रे'ऽस्ती'त्यस्यानुसन्धानं विभक्तिप्रयोजकम्, तदाह **सृष्टिरस्तीति** । **आहे**त्यस्यार्थमाह पूर्वपक्षी **यत** इति । आहेत्यत्र श्रुतिः कर्त्री । एवकारः श्रुत्यन्ययोगव्यवच्छेदकः । सौत्रहीत्यस्यार्थमाहुः **युक्त इति** ।

यथा श्रुतिर्वदति, तथैव स्वप्ने दृश्यते । देवादिवाक्यानां प्रबोधेपि बाधाभावात् । नचेयमेव सृष्टिरत्र दृश्यते । 'न तत्र रथा' इत्यादिना निषेधात् । श्रुतिवादिनां

भाष्यप्रकाशः ।

स्वप्न इयमेव सृष्टिः सर्वत इति नैयायिकादयो मन्यन्ते ।

तदयुक्तम् । स्वप्ने दर्शनाद्यभिमानस्य क्वचित् पश्यामीत्याद्यनुव्यवसायस्य जागरणोत्तरं चेदं मया दृष्टमिदं भुक्तमित्यादिज्ञानस्य च बाधापत्तेः । नचेयमेव दृश्यत इत्यपि युक्तम् । स्थूलानां गजतुरगादीनां शरीरान्तर्मातुमशक्यत्वात् । नच मिद्धामनःसंयोगे स्मृत्युपनीतमारोपितं भासत इत्यपि युक्तम् । आरोपनियामकस्य तत्तद्वस्तुसादृश्यस्यात्मनि मिद्धायां चासिद्धत्वात् । अप्रामाणिकस्य तस्य कल्पने गौरवाच्च । क्षणे क्षणेऽन्यान्यदर्शनेऽन्यस्यान्यथात्वेपि नियामकाभावाच्च । नच क्षणानामेव नियामकत्वम् । साधनान्तरानपेक्षाणां तेषां तथात्वस्यासिद्धत्वात् । कल्पने चाप्रामाणिकगौरवप्रसङ्गात् । नच बहिर्निर्गत्य पश्यतीत्यपि युक्तम् । तथा सति नेत्रोन्मीलनप्रसङ्गात् । भुक्तौ चर्वणाद्यापत्तेः । बहिर्विषयकज्ञाने मनसः पारतन्त्र्यात् । जागरे तृप्त्यापत्तेः । पार्श्वस्थानामपि तद्दर्शनापत्तेश्च । मिद्धासंयोगविघटनापत्तेस्तदा जागरापत्तेश्च । तस्मात् तत्रैतत्सृष्टिदर्शनाङ्गीकारो

रश्मिः ।

प्रकृते । **यथा श्रुतिरि**ति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **स्वप्न इयमेवे**ति । इति नैयायिकादयो मन्यन्त इति शेषेणान्वयः । **इय**मिति । यथा श्रुतिर्वदति, तथैव । इदंलोकपरलोकरूपस्य प्रायपाठं त्यक्त्वा सत्यत्वेन प्रतीता । एवकारो वाक्यभेदप्रसङ्गात् । **नैयायिकादय इति** । आदिना नास्तिकादयः । **देवादी**तिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म **स्वप्ने दर्शनादी**ति । **बाधेति** । प्रबोधेपि सत्यत्वेन बाधेपि तदापत्तेर्बाधाभावादित्यर्थः । **नचेयमेवे**तिभाष्यं विवरीतुमाहुः **नचेयमेवेति** । **इयं** जाग्रत्सृष्टिः । एवकारो नैयायिकादियुक्त्या । 'तस्मिन्सन्ध्ये स्थाने तिष्ठन्नुभे स्थाने पश्यतीदं च परलोकस्थानं चे'ति श्रुतेः । तेन भाष्यीयतत्रेत्यस्य वासनया स्वप्ने । 'तस्मिन्सन्ध्ये स्थान' इत्युक्तश्रुतौ उभयोर्दर्शनं शरीरान्तः स्थित्वा जीवस्योत बहिर्निर्गत्येति विकल्प्याद्ये दोषमाह **स्थूलानामित्यादि** । स्थूलानां शरीरान्तर्मानं शङ्कते **नच मिद्धामन** इति । अत्र लेखकप्रमादः । मिद्धानाडी न्यायशास्त्रप्रसिद्धा । तत्र मनःसंयोग इति । अथवा । प्रसिद्ध्यभावात् **सिद्धा** देवयोनिः, पञ्चाग्निविद्यासाधितदेहः तस्यां मनःसंयोगे स्वप्नात्मकज्ञानस्य मानस्य स्थूलं [1]स्मृत्युपनीतं सूक्ष्मं वृत्तिवत् अन्तःकरणावच्छिन्नविषयावच्छिन्नचैतन्यैक्यप्रत्यक्षं विषयनिष्ठं स्मृत्युपनीतं यथा शाब्दं ह्युपनीतं तथा स्वप्नाभेदेन हृदयाकाश आरोपितं शुक्तौ रजतमिव भासत इत्यर्थः । **तत्तादिति** । यथा चाकचक्येन सादृश्यस्यात्मनीत्यन्यमतं मनसीति स्वमतम् । प्रभौ सर्वविषयकम्, 'यः सर्वज्ञ' इति श्रुतेः । जीवीयं त्वणुव्यवहार्यम् । **मिद्धायामिति**लेखकप्रमादोऽप्रसिद्धेः । सिद्धायाम् । **तस्येति** । तत्तद्वस्तुसादृश्यस्य । **तथात्वस्येति** । नियामकत्वस्य । नच जन्यमात्रं कालोपाधिरिति नियामकत्वमस्त्विति । कस्यापि मते मिथ्याकालस्य नियामकत्वाभावेन तव मते सत्त्वात् । **कल्पन इति** । क्षणानां जन्यमात्रं प्रति कारणानां निमित्तत्वस्य कार्यानुरोधात्कल्पने । जीवः शरीरान्तर्गतो न, किन्तु बहिर्निर्गत्य 'तस्मिन्सन्ध्य' इत्युक्तश्रुतौ द्वितीयविकल्पे दोषशङ्का । दर्शनत्वेन बहिर्निर्गतत्वेन कार्यकारणभावमाहुः **तथा सतीति** । आदिना गिलनम् । एतत्स्वप्ने न जायते । **पारेति** । स्थूलविषयपारतन्त्र्यात् । स्वप्नसृष्टिसत्यत्वेन बहिर्विषयकज्ञाने त्वाह **जागर इति** । **पार्श्वस्थानामिति** च । **तद्दर्शनेति** । औपाधिकत्वात्तथा । **मिद्धेति** । सिद्धेति पाठः । तथाच स्वप्नकृतदोषसम्बन्धे ज्ञानोपयोगित्वाभावो देहे । **जागरेति** । स्वप्नकारणदेहान्तःसंयोगनाशात्तथा । **तत्रैतदिति** । स्वप्न एतत्समीपवर्तिजगद्रूपसृष्टिदर्शनाङ्गीकारः ।

१ चाकचक्ये मनसा दृश्येत्यादिपाठः । २ नियामकत्वस्य ।

श्रुतिरेव प्रमाणम्। किं पुनरनुभवसंवादिनी। तस्मात् स्वप्ने सृष्टिरस्ति ॥ १ ॥

निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च ॥ २ ॥

काठके चतुर्थवल्ल्यां श्रूयते। 'य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते' इति निर्मातारमेके वदन्ति। यद्यपि 'सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेने'त्यत्र 'न तत्र रथा' इत्यपि ब्रह्मप्रकरणम्, तथापि नियतधर्मपक्षे जीव एव कर्तेति प्रतिभाति। तदर्थं निःसन्दिग्धं वचनमुदाहरन्ति। भगवन्निर्मितत्वात् स्वप्नस्यस्यापि सत्यत्वम्। न हि कर्तुः स्वापोऽस्ति, येन भ्रमः

भाष्यप्रकाशः।

युक्तिविरुद्धः श्रुतिविरुद्धश्चेत्याहुः नचेत्यादि। अन्यत् स्पष्टम् ॥ १ ॥

निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च ॥ २ ॥ ननु पूर्वसूत्रविषयवाक्येनैव सृष्टौ सिद्धायां पुनरेतत्सूत्रप्रणयनस्य किं प्रयोजनमित्यत आहुः **यद्यपीत्यादि**। **ब्रह्मप्रकरणमिति**। इति सिद्धमिति शेषः। **नियतधर्मपक्ष इत्यादि**। 'कतम आत्मे'ति प्रश्ने, 'योऽयं विज्ञानमयः पुरुषः प्राणेष्वि'त्युपक्रम्याग्रे 'स्वयं विहत्य स्वयं निर्माये'ति कथनात्, तस्यैवाग्रे 'न तत्र रथा' इत्यादिना विवरणात्तस्यैवायं धर्म इति पक्षे अदृष्टद्वारा जीव एव कर्तेति प्रतिभाति। **तदर्थं** तन्निवृत्तये। तथाच निःसन्दिग्धं भगवत्कृतत्वप्रतिपादनायास्य सूत्रस्य प्रणयनमित्यर्थः। एवं निर्बन्धेन प्रतिपादनस्य फलमाह **भगवदित्यादि**। तथाच पूर्वस्मिन् वाक्ये 'स्वयं निर्माये'त्यनन्तरं 'प्रस्वपिती'ति स्वापश्रावणादत्र तद्राहित्यश्रावणाद्भगवानेव कर्तेति लिङ्गबलात् प्रकरणात् 'तदेव शुक्र'मित्यादिवाक्य-

रश्मिः।

श्रुतीति। 'अत्रात्मे'ति श्रुतिविरुद्धः। स्वप्नविषयकज्ञानाधिकरणमात्मा स्वयंज्योतिरित्यर्थात्। स्वप्नमिथ्यात्वे निर्विषयकज्ञानाभावान्न ज्ञानाधिकरणत्वमात्मनः स्यात्। **अन्यदिति**। **सृष्टिरिति**। पूर्वपक्ष्युक्ता। एवमन्यत्स्पष्टम् ॥ १ ॥

निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च ॥ २ ॥ **प्राणेष्विति**। प्राणा इन्द्रियाणि। सूक्ष्मदेहे। **तस्यैवेति**। विहननस्वयंनिर्माणस्याग्रे। एवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदकः। **तस्यैवेति**। विहत्य निर्मातुः। विवरणविक्रियमाणसम्बन्धादेवकारः। **अयमिति**। 'न तत्र रथा' इत्युक्तः स्वप्नः। **जीव एवेति**। स्वयंशब्देनापि जीवपरामर्शात् पूर्वपक्षोक्तपुरुषयोगव्यवच्छेदक एवकारः। **तदर्थमितिभाष्यं** विवृण्वन्ति स्म **तदर्थमिति**। व्याख्येयम्। **भाष्ये**। **उदाहरन्तीति**। तद्विदः। **प्रकृते**। **पूर्वस्मिन्निति**। पौर्वसूत्रीयपूर्वस्मिन् ज्योतिर्ब्राह्मणे। **प्रस्वपितीति**। 'स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपिती'ति। **अत्रेति**। बृहदारण्यकज्योतिर्ब्राह्मणे। **तत्रेति**। द्वैतीयसूत्रीयोत्तरस्मिन् काठके स्वापराहित्यात् 'तदेवामृतमुच्यते'इत्यनन्तरं 'तदेव शुक्र'मित्यादिश्रुतेः। ननु राहित्यश्रावणं कुत्रेति चेत्। न। राहित्यस्य श्रावणादिति न विग्रहसमासः, किन्तु स्वापराहित्येन 'तदेव शुक्र'मित्यादिश्रावणात्। तद्राहित्यपदं तद्राहित्यश्रावणे लाक्षणिकमिति समासः। तदेव 'अवक्रं तद्ब्रह्मे'त्यापि पाठः। **एवेति**। जीवयोगव्यवच्छेदकः। **कर्तेति**। निर्माणकर्ता निर्माता। **इति** हेतोः स्वापराहित्यलिङ्गबलात्। **प्रकरणात्**। 'सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेने'त्यत्र 'न तत्र रथा' इत्यत्र ब्रह्मप्रकरणात्। **तदेव शुक्रमिति**। बृहदारण्यके जीवः, काठके 'पुरुषो ब्रह्मे'ति किं ग्राह्यं तत्र। यद्वा। पुरुषः जीवो ग्राह्यः, ब्रह्म वा। तत्र वाक्यशेषः। 'तदेव शुक्र'मित्यादिः। अत्र तद्ब्रह्मेतिपदाद्ब्रह्म ग्राह्यमित्येष वाक्यशेषः तस्मात्। **नहि**

स्यात्। 'जागर्ती'ति वचनात्। इच्छापूर्वकं च सर्वं सृजति। 'शतायुषः पुत्रपौत्रा'निति कामविषयाः पुत्रादय उक्ताः। ते च निर्मिताः परलोकसाधका इति लोकत्रयकल्पना। चकारद्वयेन कारणकार्यगताः सर्वे धर्मा उक्ताः। तस्माच्छ्रुत्युपपत्तिभ्यां स्वप्नप्रपञ्चस्य सिद्धत्वात् तत्कृतगुणदोषसम्बन्धे पूर्वोक्तदेहनिर्माणं व्यर्थमित्येवं प्राप्तम् ॥ २ ॥

भाष्यप्रकाशः।

शेषाच्चावसीयते। अतो भ्रमाभावादपि स्वप्नसृष्टेः सत्यत्वम्। किञ्च। 'ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके तांस्तान् कामान् छन्दतः प्रार्थयस्वे'ति पूर्वं कामशब्दस्य कामविषयेषु प्रयुक्तत्वात् 'कामं कामं पुरुषो निर्मिमाण' इत्यत्रापि कामपदेन तद्विषय एव लभ्यते। वीप्सया क्रियाविशेषणत्वेन चेच्छापूर्वकतेत्यतोपि भगवत्कर्तृकत्वम्। न हि जीव इच्छापूर्वकं स्वक्लेशाद्युत्पादकं स्वयं सृजेत्। अत एतेन ज्योतिर्ब्राह्मणस्थे 'उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानो जक्षदुतेवापि भयानि पश्य'न्नित्यादिवाक्य उक्तायामपि सृष्टौ ब्रह्मकर्तृकता निश्चीयते। किञ्च, 'शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्वे'ति पूर्वं कामविषयाः पुत्रादय ऐहिका उक्ताः। ते च भगवन्निर्मिताः। 'सर्वयोनिषु कौन्तेये'ति गीतास्मृतेः। अतः परलोकनिर्मातृत्वस्यापि साधका इति ब्रह्मैवात्र कर्तृ। न हि जीवेन स्वपित्रादयः कर्तुं शक्यन्ते। स्वपूर्वजत्वात्। लोकत्रयकल्पना च जीवपक्षे, ब्रह्मपक्षे तु न कापीत्यतोपि ब्रह्मकर्तृकत्वम्। चकारार्थमाह **चकारेत्यादि**। **कारणगता धर्माः** सामर्थ्यमुपादानगोचरापरोक्षज्ञानादयः। **कार्यगताः** सत्यत्वादयः। सिद्धमाह **तस्मादित्यादि**। **सिद्धत्वादिति**। उक्तप्रकारैः सत्येन सिद्धत्वात्। सूत्रयोजना तु, पूर्वसूत्रीयस्याहेतिपदस्य वचनविपरिणामेन कार्या। एके शाखिनो निर्मातारं चाहुः। पुत्रादयश्च तदाहुरिति। तेषां वक्तृत्वं तु बोधकत्वात्। 'तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ती'तिवद्बोध्यम् ॥ २ ॥

रश्मिः।

कर्तुरित्यादिभाष्यविवरणं **अतो भ्रमेति**। भगवतो भ्रमाभावः स्वापाभावात्। स्वापस्य भ्रमहेतुत्वं तामसत्वात्। 'सुखमहमस्वाप्सम्, न किञ्चिदवेदिष'मिति ज्ञानावरणोक्तेः। 'यत्रायं प्रस्वपिती'त्यादिबृहदारण्यकज्योतिर्ब्राह्मणाद्वा। स्वापाभावे भाष्ये हेतुः **'जागर्ती'ति वचनादिति**। **तद्विषय एवेति**। काम्यन्त इति कामाः अनन्तकल्याणगुणाः इति कर्मप्रत्यये कृतेपि तथार्थादेवकारः। **वीप्सयेति**। 'कामं काम'मिति द्विरुक्त्या। 'काम इच्छे'तीच्छापूर्वकता 'निर्मिमाण' इत्यत्र निर्माणे इत्यतोपि इच्छापूर्वकसृष्टिकर्तृत्वलिङ्गादपि। इच्छापूर्वकमितिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म **न हीत्यादि**। **अत इति**। जीवस्यास्रष्टृत्वात्। **शतायुष** इतिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म **किञ्चेति**। किञ्चेत्युक्तिर्भाष्यप्रकाशे कामपदघटितश्रुतेः पूर्वं विचारात्। **उक्ता इति**। काठके उक्ताः। **ते चे**तिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म **ते चेति**। **परलोकेति**। भाष्ये परलोकसाधकाः, व्यञ्जनया तु परलोकनिर्मातृत्वस्यापि ब्रह्मणि साधकाः। अतो **लोकत्रये**तिभाष्यं स्पष्टमपि व्याचक्षते **लोकत्रयेति**। **जीवपक्ष इति**। परलोकं साध्नोति भूलोकस्य इति तथा। **न कापीति**। परलोकसाधनाभावात्तथा। **चकारार्थमिति**। समुच्चयार्थकचकारार्थम्। **तदाहुरिति**। तदित्यव्ययम्। **ते**। ननु श्रुतिर्निर्मातारमाह, न ते आहुः, अत आहुः **तेषामित्यादि**। **तपांसि** पुराणानि। भगवान् व्यासो वदति पुराणव्यासद्वारेति तथा। **भाष्ये**। **इत्येवं प्राप्तमिति**। भवतीति क्रियापदम्। इत्येवं प्राप्तं पूर्वपक्षमित्युत्तरत्रा[illegible] वा ॥ २ ॥

मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ॥ ३ ॥

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । स्वप्नसृष्टिर्मायामात्रम् । तत्र हेतुः । कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् । कृत्स्नत्वेन यस्य यादृशं स्वरूपं देशकालवस्तुसापेक्षं तथाभिव्यक्तिः कार्त्स्न्येनाभिव्यक्तिस्तदभावात् ।

भाष्यप्रकाशः ।

मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ॥ ३ ॥ सिद्धान्तं व्याकुर्वन्ति तुशब्द इत्यादि । पक्षमिति । सत्यत्वपक्षम् । मायामात्रमिति ।

वैदिके निघण्टौ प्रज्ञानामसु 'माया, वयुनम्, अभिख्ये'ति पाठादर्थशून्यः प्रत्ययो माया, तदात्मकमिति भास्कराचार्याः ।

मायाशब्दो ह्याश्चर्यवाची । 'जनकस्य कुले जाता देवमायेव निर्मिते'त्यादिषु तथा दर्शनात् । 'न तत्र रथा' इत्यत्रापि सकलपुरुषानुभाव्यतया न भवन्ति । 'अथ रथान् सृजत' इत्यपि स्वप्नदृगनुभाव्यतया तत्कालमात्रावसानात् सृजत इत्याश्चर्यरूपत्वमुपपद्यते । न हीदृशी सृष्टिर्जीवेन कर्तुं शक्या । संसारदशायां जीवस्य कार्त्स्न्येन अनभिव्यक्तस्वरूपत्वात् नादृशसामर्थ्यायोगात् । अतः सा आश्चर्यात्मिकेति रामानुजाचार्याः ।

सिद्धान्ते तु सामर्थ्यविशेषो माया । अष्टमस्कन्धे 'नटवन्मूढ मायाभिर्मायेशान्नो जिगीषसी'ति । प्रथमस्कन्धे च 'अपश्यत् पुरुषं पूर्णं मायां च तदुपाश्रयाम् । यया सम्मोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकम् । परोपि मनुतेऽनर्थं तत्कृतं चाभिपद्यत'इति कथनात् । अत ईश्वरस्य या व्यामोहिका शक्तिः, सा माया प्रकृते ज्ञेया । तन्मात्रं तदेकोपादानकम् । तेन बाह्योपादानादिव्यावृत्तिः । कृत्स्नत्वेनेति । देशः कालो विषयसन्निधिरिन्द्रियव्यापारो बाधाभावश्चेति कार्त्स्न्यम्, तेन । तथा चैन्द्रजालिकेन नटेन यथा सामाजिकव्यामोहेन कौतुकार्थं मायामात्रसृष्टिः क्रियते, तथेश्वरेण जीवव्यामोहनाद्यर्थं स्वप्नसृष्टिः क्रियत इति न तस्याः सत्यत्वमित्यर्थः ।

अत्र बहूनि मतानि ।

तत्र **भास्कराचार्याः** । पूर्ववासनावासितं शुभाशुभकर्मप्रेरितं नाडीषु परिवर्तमानं मनः स्मृतिज्ञानहेतुर्भवति । स एव स्मर्यमाणोऽर्थः प्रत्ययालम्बनः । 'यान्येव जाग्रत् पश्यति, तानि सुप्त' इति श्रुतेः । इयं च जीवसृष्टिः । सुखदुःखप्रतिभासनात् । नेश्वरस्य । 'य एष स्वप्ने महीयमानश्चरति एष आत्मे'ति श्रुतेरित्याहुः ।

तेन तन्मते जीवकर्तृका स्मर्यमाणार्थविषयप्रत्ययमात्रमेव स्वप्नसृष्टिरिति सिध्यति ।

रश्मिः ।

मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ॥ ३ ॥ **अर्थेति** । अर्थो विषयः । विषयशून्यं ज्ञानम् । **तदात्मकमिति** । मात्रचोर्थः । **सामाजिकेति** । सामाजिकानां व्यामोहो येन नटेन । **मोहनादीति** । आदिनेष्टानिष्टसूचनम् । **पूर्वेति** । त्यक्तपूर्वापरानुसन्धानं यदादानं पदार्थस्य सा वासना । **स्मृतीति** । स्वाप्निकस्मृतिज्ञानयोर्हेतुः । **स एवेति** । पूर्ववासनावासितः । अन्यथाऽलौकिकं स्मर्यमाणं स्यादित्येवकारः । **प्रत्ययेति** । ज्ञानस्मृतिविषयः । **जाग्रदिति** । सप्तम्यालुक् ।

भाष्यप्रकाशः ।

भिक्षुस्तु । सन्ध्यसूत्रे, 'न तत्र रथा' इति श्रुतेः 'स्वप्ने च जीवः सुखदुःखभोक्ता स्वमायया कल्पितविश्वलोके' इति कैवल्योपनिषच्छ्रुतेश्चोदाहरणेन सृष्टिमङ्गीकृत्य, ततो निर्मातृसूत्रे स्वप्नसृष्टिमीश्वरकर्तृकामुक्त्वा, तर्हि 'स्वयं विहृत्य स्वयं निर्माये'त्यन्यनिरपेक्षताबोधकस्य स्वयंपदस्य कथं सङ्गतिरित्याशङ्कायाम्, उपाधिद्वारकोपादानाभिप्रायेण स्वयंपदप्रयोग इति 'न तत्र रथा' इत्यत्रोक्तं जीवकर्तृत्वमपि 'पच्यते तण्डुलः स्वयमेवे'तिवदुपाधिद्वारकपरिणामस्वातन्त्र्यविवक्षयोपपन्नमित्युक्त्वा, ततो 'न तत्र रथा' इत्यत्राऽदृष्टद्वारा परम्परया गौणं कर्तृत्वं जीवस्योक्तम्, अतो न विरोध इति कस्यचिन्मतं चोक्त्वा, ततो ननु स्वप्ने ज्ञानमात्रमेवास्तु, किं तत्र सृष्टिकल्पनयेत्याशङ्कायामाह, स्वप्ने जाग्रद्वदेव पुत्रादयः प्रतीयन्ते, ते चात्मचैतन्यमात्रा भवितुं नार्हन्ति, नित्यतापत्तेः, स्वरूपचैतन्यस्य निराकारत्वाच्च, कर्मकर्तृविरोधेनैकस्य भास्यभासकतानुपपत्तेश्च, जाग्रत्पदार्थानामपि तथात्वापत्त्या विज्ञानवादिबौद्धमताभ्युपगमापत्तेश्च । यदि च बुद्धेर्घटाकारः परिणाम एव ज्ञानशब्देनोच्यते, तदा स एवास्माभिः स्वप्नसृष्टिरुच्यते । नैवमिष्यत इति विशेषः । स्वाप्नाः पदार्थाः बाह्या भवितुं न युक्ताः । बाधकं विना अन्तःस्थत्वांशे स्फुटप्रत्यक्षतांशे च बाधोत्तरमप्यनुभूयमाने भ्रमत्वकल्पनानौचित्यादित्याह । मायामात्रसूत्रे, स्वाप्ना विषया ऐन्द्रजालिकवत् परमेश्वरमायाकार्यतया मायामात्राः, न त्वभावस्वरूपास्तुच्छाः । 'नाभाव उपलब्धे'रिति सूत्रेणात्यन्तासत उपलब्धिनिषेधात् । ऐन्द्रजालिकेश्वरयोर्विशेषस्त्वियान्, यदैन्द्रजालिकस्य मन्त्रादि, ईश्वरस्तु माययैव व्यामोहयतीति तथैव मनसः परिणाममात्रमर्थं कटककुण्डलादिवन्निर्मिमीते । स्वाप्नविषये बुद्धिवृत्त्यतिरिक्ताकारा बुद्धिवृत्तिरेव मोहो भ्रम इत्यतस्मिंस्तद्बुद्धिर्भ्रम इत्यादिरूपं लक्षणमपि तुल्यमित्याद्याह ।

तेन तन्मते बुद्धिग्राह्यो मनःपरिणामविशेषः स्वप्नसृष्टिरिति सिध्यति ।

माध्वास्तु । सन्ध्यं स्थानं मायामात्रम्, मनोगतान् पूर्वानुभूतवस्तुसंस्कारानुपादानीकृत्य निमित्तभूतया स्वेच्छयैवेश्वरेण निर्मितम् । 'मनोगतांस्तु संस्कारान् स्वेच्छया परमेश्वरः । प्रदर्शयति जीवाय स स्वप्न इति गीयते' । 'यदन्यथात्वजाग्रत्त्वं सा भ्रान्तिस्तत्र तत्कृता । अनभिव्यक्तरूपत्वान्नान्यसाधनजं भवे'दिति ब्रह्माण्डवाक्यात् । अत्र स्वशिरश्छेदनादीनामसत्त्वनिरासायाना-

रश्मिः ।

स्वयमिति । जीवः । **अन्येति** । ईश्वरनिरपेक्षतेत्यादिः । **उपाधीति** । अदृष्टमुपाधिः । उक्तेश्वरकर्तृकत्वविरोधं परिहरन्ति स्म **न तत्रेति** । **पच्यत** इति । ईश्वरः जडजीवान् सृजति । यदा तु सौकर्यातिशयं द्योतयितुं कर्तृव्यापारो न विवक्ष्यते, कर्मणः कर्तृत्वं विवक्ष्यते, तदा सृज्यते जीवः स्वयमेवेति तन्मते उपाधिरणुत्वं तद्द्वारकपरिणामः सृष्टिरूपस्तस्मिन् स्वातन्त्र्यं कर्तृत्वं तस्य विवक्षयोपपन्नम् । **आहेति** । **'पुत्रादयश्चे'ति** सूत्र आह **कर्मकर्त्रिति** । ज्ञानं कर्तृ तत्कथं कर्म आत्मचैतन्यमात्रं पुत्रादिरूपमिति **विरोधः** । कर्मकर्तृत्वसहानवस्थानलक्षणस्तेन । **एकस्येति** । ईश्वरस्य । **तथात्वेति** । आत्मचैतन्यत्वापत्त्या । **परिणाम एवेति** । एवकारः पदार्थयोगव्यवच्छेदकः । **स्फुटेति** । अयमंशः स्वाप्नः । जाग्रतश्च **बुद्धिवृत्तिरेवेति** । तामसी बुद्धिः, अतो गीतोक्तो मोहस्तस्या वृत्तिः । **इत्यादीति** । तदभाववति तत्प्रकारकं ज्ञानमादिशब्दार्थः । यद्वा । विशेषदर्शननाश्यत्वमादिशब्दार्थः । **इत्याद्याहेति** । ग्रन्थगौरवभियैतावतैव निर्वाहः । **मनःपरिणामेति** । मनोपि द्वारमित्येवमुक्तम् । जीवस्योपाधिद्वारकपरिणामविशेष इत्यर्थः । **माध्वाः** स्वप्नं सत्यमाहुः । तद्विषयकं ज्ञानं तु मिथ्येत्याहुः । अतो विषयपदव्याख्या क्रियते **अत्र स्वशिर** इत्यादि । **अनादीति** । अनादीति 'मनोगता'नित्यत्र विशेषणं दत्त्वानादिमनो-

अयमाशयः। श्रुतिः सृष्टिमेवाह, न तस्य सत्यत्वमपि। यथा 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत् सत्य'मिति 'आत्मानꣳ स्वयमकुरुत' 'तत् सत्यमित्याचक्षते' 'कथमसतः सज्जायेते'त्यादिश्रुतिसहस्रेभ्योऽस्य सत्यत्वं प्रतीयते, नैवं स्वप्नप्रपञ्चस्य श्रुतिराह। सत्यप्रयोजनाभावाच्च। स्वमात्रविहारस्तु महामायावित्वान्माययापि सिध्यति।

भाष्यप्रकाशः।

दिमनोगतग्रहणम्। 'यदन्यथात्व'मित्यादिना च स्वप्नविषयाणां जाग्रत्पदार्थत्वमेव बाध्यत इति तत्प्रतीतिरेव भ्रान्ता, न स्वप्नप्रतीतिरित्याहुः।

तेन तट्टीकाकारमते संस्काराणामुपादानत्वम्, भाष्यकारमते तु संस्काराणामेव विषयत्वम्। मायापदं च मनसः संस्कारस्य वा वाचकमिति सिध्यति।

तत्र सूत्राशयं स्फुटीकुर्वन्तः स्वप्नसृष्टेः सत्यत्वं प्रथमं निरस्यन्ति **अयमाशय** इत्यादि। **अस्येति**। बाह्यप्रपञ्चस्य। अत्र च सत्यत्वं जाग्रत्क्रियमाणा या तत्तत्प्रतिनियता यावदर्थक्रिया तत्कारित्वं विवक्षितम्। न तु साक्षात् परम्परया वा ब्रह्मोपादानकत्वमात्रम्। परम्परया ब्रह्मोपादानकत्वस्य मायामात्रेपि सत्त्वात्। नाप्यर्थक्रियाकारित्वमात्रम्। तस्य प्रतिबिम्बादिष्वपि दर्शनात्। 'छायाप्रत्याह्वयाभासा असन्तोऽप्यर्थकारिण' इति भगवद्वाक्याच्च। **नैवमिति**। न सत्यत्वं ब्रह्मात्मकत्वं वा। तथाच तादृशश्रुत्यभावेपि भगवत्कर्तृकत्वादाश्चर्यरूपत्वाच्च यः सत्यत्वाग्रहः, सोऽसङ्गत इत्यर्थः। ननु सत्यत्वस्याश्रावितत्वेपि 'स वै नैव रेमे' इत्यत्र सृष्टेर्विहारार्थत्वस्य श्रावितत्वाद्बलेन सत्यत्वं कल्प्यत इत्याशङ्कायामाहुः **सत्येत्यादि**। विभजन्ते **स्वमात्रेत्यादि**।

रश्मिः।

गतानां ग्रहणम्। **तत्प्रतीतिरिति**। जाग्रत्पदार्थत्वप्रतीतिः। एवकारेण स्वप्नप्रतीतियोगव्यवच्छेदः। तथाच यत्स्वप्नविषयाणां जाग्रत्त्वं जाग्रत्पदार्थत्वं अन्यथात्वं सा भ्रान्तिः। **तत्र स्वप्ने**। **तत्कृता** जाग्रत्पदार्थसादृश्यकृता। अनभिव्यक्तत्वादिति सौत्रांशार्थः। **अनभिव्यक्तेति**। अनभिव्यक्तरूपत्वात्स्वप्नस्य नान्येन जाग्रत्पदार्थसादृश्यान्येन साधनेन जन्यत इति भवेदित्यर्थः। **तट्टीकेति**। ब्रह्माण्डवाक्यातिरिक्ता टीका। ब्रह्माण्डवाक्यानि तु भाष्यमिति पूर्वं विवेचनीयम्। ब्रह्माण्डे 'संस्कारा'निति द्वितीया विषयार्थिका। एवकारो ब्रह्माण्डवाक्यप्रामाण्यात्। **मायापदमिति**। 'मनोगतांस्तु संस्कारा'नित्यत्र **वाचकम्**। मायामात्रपदं मनोमात्रं संस्कारमात्रं वेत्यर्थकम्। **भाष्ये**। देशकालवस्तुनानभिव्यक्तस्वरूपत्वपदार्थः। अन्यलभ्यत्वात्। केनापि रूपेणानभिव्यक्तम्। स्वरूपं तु स्वप्नदेशकालपरीक्षाबोधकशब्दलभ्यं पुराणे प्रसिद्धम्। तथा च हेतुतावच्छेदकगौरवापत्त्यानभिव्यक्तेरिति हेतुः। तदाहुः **तथाभिव्यक्तिरिति**। **तथेति**। कार्त्स्न्येन। तथाच कार्त्स्न्येनानभिव्यक्त्यभावत्वं हेतुतावच्छेदकम्। अत्राग्रे सहस्रशब्दाद्बहुवचनम्। संख्येयवाचकत्वात्। संख्यावाचकत्वे त्वेकत्वम्। 'विंशत्याद्याः सदैकत्व' इति कोशात्। **प्रकृते**। **सत्यत्वं** च त्रैकालिकाबाधविषयत्वम्। तत्र बाधित्वान्यलक्षणमाहुः **अत्र चेति**। **जाग्रदिति**। जाग्रति क्रियमाणा। 'सहसुपे'ति समासः। **तत्तदिति**। घटादिप्रतिनियता जलाहरणादिरूपा, भोजनप्रयोजकत्वादिरूपा च। **यावदर्थक्रिया** यावदर्थाः यावद्घटादिवर्तमानकालं अर्था घटादयः तेषां क्रियार्थक्रिया। **सत्त्वादिति**। माया ब्रह्मोपादानिकेति। **प्रतिबिम्बेति**। आदिना छायाप्रत्याह्वयादिः। **माययेति**। 'विष्णुर्नाम महायोगी महामायो महातपा' इति योगतत्त्वोपनिषच्छ्रुतेः। **स वा इति**। पुरुषविधब्राह्मणे। **सृष्टेरिति**। 'स द्वितीयमैच्छदि'त्यादिना।

नापि भिन्नः प्रपञ्चः। जीवस्यैकत्वात्। 'अविद्यया मन्यते' इति वचनाच्च तत्सुख-

---

भाष्यप्रकाशः।

तथाच नटवन्माययापि विहारसम्भवान्न तद्बलेन सत्यत्वं कल्पयितुं शक्यमित्यर्थः। ननु यत्र स्वप्नसृष्टिस्थले 'तस्य वा एतस्य पुरुषस्ये'ति जीव एवोपक्रान्तः, 'प्रस्वपिती'ति स्वापलिङ्गाच्च बोधितः, अतस्तत्कृता सा मिथ्यास्तु, तत्र विहारोपि जीवस्यैव, नेश्वरस्य, काठके तु प्रकरणलिङ्गवाक्यशेषैः परमात्मैव प्रतीयत इति तत्कृतः प्रपञ्चो भिन्नोऽस्तु, तस्य सत्यत्व आश्चर्यरूपत्वे च को दोष इत्यत आहुः **नापीत्यादि**। यो हि प्रपञ्चो भिन्न आपाद्यते, स न सर्वसाधारणः, कार्त्स्न्येनाभिव्यक्तस्वरूपो वा, येन भिन्नत्वं कल्पयितुं शक्येत, किन्तु यदेकेन दृश्यते, तदेवेतरेणापीति प्रतिनियतो द्रष्टुर्जीवस्यैकत्वात्, अतो न भिन्नः। किञ्च। स यदि भिन्नः सत्यः स्यात्, तदा तद्भोगोपि भिन्नः सत्योऽनुभूयेत, श्रुत्या वोच्येत। श्रुत्या तु जीवस्य भोगस्तत्राज्ञानिक एव बोध्यते। हिताख्या नाडीरुपक्रम्य 'अथ यत्रैनं घ्नन्तीव जिनन्तीव हस्तीव विच्छाययति गर्तमिव पतति यदेव जाग्रद्भयं पश्यति तदत्राविद्यया भयं मन्यत' इति वचनात्। एवमेव 'अथ यत्र राजेव देव इवे'त्यादिनोक्तं सुखमप्याज्ञानिकम्। 'अविद्यया मन्यत' इत्यस्य देहलीदीपवदुभयत्र सम्बन्धात्। काठके तु न भोगवचनम्।

अतः परं भेदसाधकत्वेन कर्तृभेदोऽवशिष्यते। सोऽप्ययुक्तः। स्वप्नसृष्टिवाक्येपि जीवकर्तृत्वाबोधनेन तदभावात्। तत्र हि 'आत्मज्योतिरेवायं पुरुष' इति कथनोत्तरं 'कतम आत्मे'ति प्रश्ने,

रश्मिः।

जीव **एवेति**। एवकारः 'कतम आत्मेति, योयं विज्ञानमयः प्राणेष्वि'त्युपक्रमे विज्ञानमयपदात्। **जीवस्यैवेति**। एवकार उपक्रमादीश्वरयोगव्यवच्छेदकः। **काठके त्विति**। तुना ज्योतिर्ब्राह्मणं व्यावर्त्यते। प्रकरणं ब्रह्मणः। 'हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातन'मित्युपक्रमात्। 'सुप्तेषु जागर्ती'ति लिङ्गम्। शब्दस्य सामर्थ्यम्। स्वप्नो जीवावस्था, जागर्तीति ब्रह्मलिङ्गम्। 'तदेव शुक्रं तद्ब्रह्मे'ति वाक्यशेषः। उपक्रमः यथा 'मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम' इति जीवलिङ्गं च सन्देहबीजम्। तेन स्वप्नकर्ता जीवः परमात्मा वेति संशय उक्तवाक्यशेषः प्रवर्तते। तैः। परमात्मैवेत्येवकारः 'यस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे' इति श्रुतेः। **जीवस्येति**भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **यो हीति**। काठकोक्तो हि। **भिन्नः** ज्योतिर्ब्राह्मणोक्ताद्भिन्नः। **आपाद्यत इति**। यदि प्रपञ्चो भिन्नो न स्यात्, प्रकरणलिङ्गवाक्यशेषाः परमात्मनो न स्युरिति। अतः काठके ज्योतिर्ब्राह्मणे प्रपञ्चो भिन्न इत्यापद्यते। **स इति**। स्वाप्निकः प्रपञ्चः। **न भिन्न इति**। ज्योतिर्ब्राह्मणोक्तात्काठकोक्तः प्रपञ्चो न भिन्नः। **अविद्ययेति** भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **किञ्चेति**। **तत्राज्ञानिक एवेति**। **तत्र** स्वप्ने। **आज्ञानिक** आविद्यकः। **एवेति**। बाधात्। **हिताख्येति**। ज्योतिर्ब्राह्मणे। अर्थस्तु उक्तसुषुप्तावस्थाकामभगवतोरविद्यायाः स्वाप्निकायाः सम्बन्धो न स्वाभाविक इति दर्शयितुम्। 'ता वा अस्यैता हिता नाम नाड्यः' इत्यादिना नाडीनिरूपणम्। **अस्येति**। अकामभगवतो भेदे षष्ठी। अतोऽविद्यानाडीभिन्नाः स्वाप्निक्यः। ता उपक्रम्य 'अथ यत्रैन'मित्यादिग्रन्थः। पूर्वं 'न कञ्चन स्वप्नं पश्यती'त्युक्तम्, तत्र प्रतियोगि स्वप्नं निरूपयन्ति स्म। यत्र स्वप्ने एनं स्वप्नद्रष्टं घ्नन्तीव तस्करादयो ये केचन जिनन्तीव वशीकुर्वन्तीव दासरूपेण। कदाचिद्धस्तीव विच्छाययति विच्छादयति, विद्रावयति। तथा गर्तं जीर्णकूपादिकं प्रति पततीव, न वस्तुतः। किं तत इत्यत आह यदिति। यदेव जाग्रत् जाग्रतः सम्बन्धि भयं पश्यति। षष्ठ्या लुक्। अन्ये तु जाग्रत् जागरित इति सप्तम्यालुक् सूचयन्ति। तदत्र स्वप्ने इति। अग्रे स्पष्टम्। **कर्तृभेद इति**।

दुःखभोगार्थमपि सत्यत्वमङ्गीकर्तव्यम् । स्थानद्वयप्रतिज्ञा च विरुध्येत । 'जीवतो मृतांश्च पश्यती'ति लोकद्वयदर्शनम् । अतो लोकद्वयप्रतिच्छायरूपत्वान्मायया क्रीडायामन्यानुरोधाभावेनातिसुखत्वात् भगवत्कृतमात्रवाचकत्वाच्च श्रुतेरतिरि-

भाष्यप्रकाशः ।

'योऽयं विज्ञानमयः पुरुषः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योति'रिति प्रतिवचनं दत्वा, तादृशत्वं जीवस्याप्यस्तीति तन्निराकरणार्थं 'स समानः सन्नुभौ लोकौ सञ्चरती'त्यादिना जीवतुल्यतया क्रीडितुरन्यस्य कथनेन तस्मिन्नेव तत्कर्तृत्वस्य 'सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेने'ति सूत्रे व्यवस्थापितत्वात् । जीवस्य स्वदुःखभयादिजनकसृष्टिकरणायोगाच्च । कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपतया सत्यसङ्कल्पत्वाद्यभावाच्च । अतस्तत्र भगवानेव कर्ता । जीवस्त्वविद्यया दुःखादिकमिव कर्तृत्वमपि मन्यते । अतो न तत्सुखदुःखभोगार्थमपि स्वप्नप्रपञ्चस्य सत्यत्वमङ्गीकर्तव्यम् । किञ्च । यदि स्वाप्नप्रपञ्चस्य सत्यत्वं स्यात्, तदा 'तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवत इदं च परलोकस्थानं चे'ति श्रुत्युक्ता स्थानद्वयप्रतिज्ञा च विरुध्येत ।

ननु तत्रैव 'सन्ध्यं च तृतीयं स्थानं तस्मिन् सन्ध्ये स्थाने तिष्ठन्नुभे स्थाने पश्यतीदं च परलोकस्थानं चे'ति तृतीयमप्युक्तम् ।

सत्यमुक्तम्, परं तूभयविलक्षणतया, तत्र च लोकद्वयदर्शनं जीवतां मृतानां च दर्शनेन । न हि ते तत्र सन्तीति प्रागेवोक्तम् । अतस्तृतीयत्वेपि लोकद्वयप्रतिच्छायरूपत्वान्न तेन प्रतिज्ञाविरोधः । सत्यत्वे स स्यादेव । न च किमीदृशसृष्ट्या क्रीडयेति शङ्क्यम् । मायया क्रीडायामन्यानुरोधाभावेनातिसुखत्वात् । अतो भगवत्कृतमात्रवाचकत्वात् काठकश्रुतेस्तद्बलेनातिरिक्तसत्यसृष्टिकल्पनायां प्रमाणाभावान्नातिरिक्तः स्वाप्नः प्रपञ्च इत्यर्थः ।

ननु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तत्वस्य जीवविशेषणत्वे 'न तत्र रथा' इति श्रुतेश्चाश्चर्यपरत्वे सति जीवदर्शनस्य भ्रान्तित्वात् किं वा स्वप्नस्य भवदभिमतमायामात्रत्वगमकम्, येन तत्कृतगुणदोष-

रश्मिः ।

ब्रह्मजीवरूपस्वप्नकर्तृभेदः । प्राणेष्विति । सामीप्यसप्तमीति केचित् । सूक्ष्मदेह इति व्याख्यातम् । तादृशत्वं विज्ञानमयत्वम् । स समान इति । स ईश्वरः समानो जीवसमानः । अन्यस्येति । ईश्वरस्य । तस्मिन्नेवेति । ब्रह्मण्येव, नतु जीवे । बलवदनिष्टाननुबन्धीष्टतासाधनज्ञानप्रवर्तकं तत्कृष्णसम्बन्धीत्याहुः जीवस्य स्वेति । तत्रेति । स्वप्ने । भगवानेव, नतु जीव इति जीवयोगव्यवच्छेदक एवकारः । मन्यत इति । अहं कर्तेत्यभिमन्यते । 'परात्तु तच्छ्रुते'रिति सूत्रात् । स्थानद्वयेतिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म किञ्चेति । जीवत इत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म ननु तत्रैवेति । बृहदारण्यक एव । काठकव्यवच्छेदक एवकारः । इदंलोकपरलोकस्थाने उभे स्थाने । नहि ते तत्रेति । सन्ध्ये स्थाने मृताः सन्ति । मुक्तानामैक्येऽमुक्तानां सकर्मत्वेपि पृथग्दर्शनानर्हत्वेन परलोके सत्वात् । प्रागेवेति । 'सन्ध्यं तृतीय^१स्वप्नस्थानमिति, तस्मिन्सन्ध्ये स्थाने तिष्ठन्नुभे स्थाने पश्यतीदं परलोकस्थानं चे'त्यस्याः प्रागेवोक्तम् । उभयविलक्षणतयेत्युक्तं विशदयन्तो लोकेतिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म अतस्तृतीयत्व इति । 'जीवतो मृतांश्च पश्यती'ति लोकद्वयप्रतिच्छायरूपत्वात् लोकद्वयसूक्ष्मरूपत्वात् । न तेनेति । न तृतीयेन द्वयप्रतिज्ञाविरोध इत्यर्थः । स इति । प्रतिज्ञाविरोधः । माययेतिभाष्यं विवरीतुं शङ्कते नचेति । अन्येति । विषयानुरोधाभावेन मिथ्यात्वादिति भावः । भगवत्कृतेतिभाष्यं विवृण्वन्ति स

कल्पनायां प्रमाणाभावाज्ज्योतिःशास्त्रनियमाभावाच्च मायामात्रमेव स्वप्न इति न तत्कृतगुणदोषसम्बन्धः । दीक्षितस्याभ्रभोजनादिप्रायश्चित्तं तु भगवत्क्रीडायामपि प्रतिच्छायत्वात् क्रियते । तदानीं कर्तृत्वस्यारोपात् । अन्यथा कर्तृत्वस्याशास्त्रत्वाच्च धर्माधर्मजनकत्वम् । देवताज्ञादिस्तु जीवब्रह्मणोर्विद्यमानत्वाद्युक्ता ।

भाष्यप्रकाशः ।

सम्बन्धो नाङ्गीक्रियते इत्याशङ्कायामाहुः ज्योतिरित्यादि । मेषादिराशिगे सूर्ये एतावद्दिनम्, एतावती रात्रिः, अस्मिन् देशे चेत्यादिनियमस्य तत्राभावात् तथेति न तत्कृतगुणदोषसम्बन्ध इत्यर्थः ।

ननु यदि स्वप्नप्रपञ्चो मिथ्या, तदा दीक्षितेन स्वप्नेऽभ्रभोजनादौ कृते यद्दीक्षितस्य प्रायश्चित्तविधानं तद्विरुध्येत, मिथ्याभूते भोजनादौ तदयोगादित्यत आहुः दीक्षितस्येत्यादि । यद्यपि तत्र भोजनम्, तथापि स्वाप्निक्यां भगवत्क्रीडायां भोजनसदृशत्वात् तदानीं जीवेपि कर्तृत्वस्याविद्ययारोपात् प्रायश्चित्तं क्रियते । यथा व्रीह्यभावेपि नीवारेण कार्यसिद्धिः, तद्वदत्रारोपितकर्तृत्वमादायाप्यपराधसिद्धेः । शास्त्रेण यज्ञकर्मण्येव कर्तृत्वे नियमिते निषिद्धेष्वाभिमानिककर्तृत्वस्यापि दोषत्वादिति । अतो न तेन तस्य सत्यत्वसिद्धिरित्यर्थः । एतदुपष्टम्भाय युक्त्यन्तरमाहुः अन्यथेत्यादि । तथाच यदि सा सत्या स्यात्, तदा तेनान्यदापि धर्माधर्मौ स्याताम् । तथा सति 'स्वप्नेऽप्यगम्यागमनं च धन्य'मित्यादिकं न सङ्गच्छेतेति सा मिथ्यैवेत्यर्थः ।

ननु यदि स्वप्नः सर्वोपि मिथ्या स्यात्, तदा तत्र देवतादर्शनाज्ञादिकं न स्यात्, भवद्वानुभवादिविसंवादि स्यादित्यत आहुः देवतेत्यादि । जीवा इन्द्रादयो योगोत्थसामर्थ्याः, ब्रह्म स्वत एवातिसमर्थम् । अतः समाधाविव स्वप्नेऽप्यन्तर्हृदि प्रविश्य विद्यमानत्वाद्दर्शनाज्ञादिकं ददाति, तदानीं बुद्धिर्जागर्तीति स्वप्नद्रष्टा जीवोप्यनुभवति । तेन तस्य तदानीं रथादिवत् करणाभावेन स्वप्नत्वाभावात्तत्सत्यता युक्ता । किञ्च । तत्र यज्ज्ञानं जायते, तच्च लौकिकम्, तत्तदि-

रश्मिः ।

अतो भगवदिति । तद्बलेनेति । भगवत्कृतमात्रवाचकशब्दबलेन । सूर्य इति । सप्तम्यन्तम् । एतावत् त्रिंशद्घटिकापलचतुःपञ्चाशद्दिनम्, एतावती एकोनत्रिंशद्घटिकापलषट् [रात्रिः] । आदिना वृषेर्के द्वात्रिंशद्घटिकापलचतुर्विंशदिनम् । एकोनत्रिंशद्घटिकापलषड्विंशरात्रिर्यथा । देश इति । [१]ब्रह्मावर्तादौ । तत्रेति । स्वप्ने । तथेति । मायामात्रत्वम् । अभ्रेति । आदिना रेतःस्रावः । आरोपादिति । आत्मस्य कर्तृत्वस्य । यज्ञकर्मण्येवेति । एवकारेण स्वप्नयोगव्यवच्छेद(कः) क्रियते । निषिद्धेष्विति । स्वप्नाचार्याज्ञाविश्वासादिषु । तेनेति । आरोपितकर्तृत्वेन । तस्य स्वप्नस्य । सेति । स्वप्नसृष्टिः । अन्यथेति । दीक्षान्यकाले । भोजनकर्तृत्वेऽस्य न विद्यते शास्त्रं यस्मिन् तादृशत्वात् । धर्माधर्मजनकत्वं गुणदोषजनकत्वम् । देवतेति । आदिना बाहुना मेलनम् । अनुभवादीति । आदिनाप्तवाक्यम् । स्वत एवेति । उपाधिव्यवच्छेदकैवकारः । बुद्धिरिति । स्वप्नग्राहिका । तस्येति । दर्शनाज्ञादिकस्य । रथादिवदिति । आदिनाऽविद्या । करणाभावे हेतुरनुभवतीत्यनुभव उक्तः । अत उक्तं करणाभावेन । तत्सत्यता दर्शनाज्ञादेः सत्यता । अलौकिकेतिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म किञ्चेति ।

१. ब्रह्मावर्त ।

अलौकिकज्ञाने हि प्रतिच्छायत्वात् संवादः । क्वचिद्भगवदावेशो ईषत्संवादोपि । तस्मात् स्वतश्चासत्यतायां प्रमाणाभावान्मायामात्रं स्वप्नप्रपञ्च इति सिद्धम् ॥ ३ ॥

सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ॥ ४ ॥

ननु तर्हि जीवसाक्षिकमेकदेशेन किमिति सृजति, तत्राह । **सूचकः** शुभफलसूचको भवति स्वप्नः । चकारात् क्वचिदाज्ञाविशेषदानम् । कलिकालादेः प्रत्यक्षे बाधकत्वात् । युक्तश्चायमर्थः । प्रातःसूचकफलस्यैव दृष्टत्वात्, न तु स्वप्नपदार्थस्य । सूचकत्वे प्रमाणमाह । 'यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति । समृद्धिं तत्र जानीयात् तस्मिन् स्वप्ननिदर्शन' इत्यादिश्रुतेः । किञ्च । **आचक्षते च तद्विदः** । स्वप्नाध्यायविदस्तथैवाचक्षते । 'आरोहणं गोवृषकुञ्जराणा'मित्यादिना । तस्मात् सूचनार्थं जीवप्रदर्शनमिति ॥ ४ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

न्द्रियाजन्यत्वात् । किन्त्वात्मज्योतिषैव जायमानत्वादलौकिकम् । तस्मिंश्च ज्ञाने प्रतिच्छायरूपं सर्वं भासत इत्युपपादितम् । अतः प्रतिबिम्बवदस्यासत्त्वं चेदङ्गीक्रियते, तदा तद्वदेवास्याप्यर्थक्रियाकारित्वरूपः संवाद उपपन्नः । किञ्च । यथा प्रतर्दनाख्यायिकायामिन्द्रे भगवदावेशे सति तेन स्वोपासनाद्युक्तम्, तथात्रापि क्वचिद्भगवदावेशे सति ज्ञाने क्रियायां चोत्कर्षरूप ईषत्संवादो भवति । स च भगवदावेशस्यैव धर्मः, न तु स्वप्नस्येति तावतापि न स्वप्नस्य सत्यत्वसिद्धिरित्यर्थः । सिद्धमाहुः तस्मादित्यादि ।

ननु भवत्वेवं स्वप्नस्यासत्यत्वम्, तथापि तस्य जीवकर्तृकत्वं न प्रतिक्षेप्तुं शक्यम्, कैवल्योपनिषदि 'स्वप्ने च जीवः सुखदुःखभोक्ता स्वमायया कल्पितविश्वलोक' इति जीवमायाकल्पितत्वकथनात्, श्रीभागवते च 'यथा शयानः पुरुषो मनसैवात्ममायया। सृष्ट्वा लोकं परं स्वाप्नमनुविश्यावभासत' इति स्वाप्नस्रष्टृत्वकथनाच्चेति चेत् । न । श्रुतेर्ब्रह्मप्रकरणस्थत्वेन 'स्वमायये'त्यत्र 'स्वमपीतो भवती'तिवत् स्वपदेन ब्रह्मण एव परामर्शणीयत्वात् । जीवकर्तृत्वे स्वप्रतिकूलसृष्टिकरणविरोधरूपस्य बाधकस्य प्रागेवोक्तत्वात् । जीवपरामर्शपक्षेपि कल्पितपदेनाज्ञानिकमेव कर्तृत्वमायाति, न तु ब्रह्म यथा नटवज्ज्ञानपूर्वकं करोति तथा । आज्ञानिकं तु तत् ब्रह्मकृतौ स्वकृतत्वाभिमान एव पर्यवस्यतीति तेन तदसिद्धेः । श्रीभागवतवाक्यं तु न स्वप्नसृष्टिकर्तारं निर्णेतुं प्रवृत्तम्, किन्तु तद्दृष्टान्तेन ब्रह्मणः स्रष्टृत्वमनुप्रविष्टत्वं च बोधयितुम् । दृष्टान्तस्तु परप्रसिद्ध्यापि भवतीति तमादाय जीवस्य स्वाप्नपदार्थस्रष्टृत्वं वदति, तत्राभिमानिककर्तृत्वाङ्गीकृतावपि बोधनसिद्धेर्न दृष्टान्तस्य बाध इति तेनापि तदसिद्धेः । तस्मात् पूर्वोक्तमनवद्यम् ॥ ३ ॥

सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ॥ ४ ॥ सूत्रमवतारयन्ति नन्वित्यादि । यदि स्वक्रीडार्थं सृजति, तर्हि तत्तज्जीवसाक्षिकं पदार्थैकदेशेन द्रव्यशून्यधर्ममात्रेण कुतः सृजतीत्यर्थः । व्याकुर्वन्ति सूचक इत्यादि । आज्ञाविशेषदानमिति । तथाच तेनापि तस्योत्कर्षसूचक इत्यर्थः । अयमिति । सूचकत्वादिरूपः । तत्र हेतुः । प्रातरित्यादि । पदार्थस्येति । असत्यत्वादिति शेषः । इत्यादिश्रुतेरिति । आदिपदेन 'पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति स एनं हन्ती'त्याद्यशुभसूचकश्रुतेः संग्रहः । शेषं स्फुटम् । एतेन 'मन एव मनुष्याणां पूर्वरूपाणि शंसती'त्यादि, 'परिणमति फलोक्तिः स्वप्नचिन्ता स्ववीर्यै'रित्यादि च सर्वं सूचितं ज्ञेयम् । तेन ये स्वाप्नमतितुच्छमभ्युपगच्छन्ति, तन्निरस्तं वेदितव्यम् । तादृशस्य खपुष्पादितुल्यत्वे तदभानप्रसङ्गेन सूचकताया वक्तुमशक्यत्वादिति ॥ ४ ॥

रश्मिः ।

उपपादितमिति । अतो लोकेतिभाष्यव्याख्याने उपपादितम् । क्वचिदितिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म किञ्च । यथेति । स्वोपासनादीति । 'मामेवोपास्वे'ति । आदिना 'मामेवात्मानं जानीही'ति । अत्रापीति । स्वप्नेपि । ईषदिति । यशोदायाः । यथा वा गोपीनाम् । 'ता हि स्वप्ने सदा भगवन्तं पश्यन्ती'ति । ज्ञाने 'यत्पत्यपत्यसुहृदा'मित्यत्र । क्रियायां 'कृष्णोऽहं पश्यत गति'मित्यादौ । एवेति । स्वप्नव्यवच्छेदकः । तस्मादित्यादीति । स्वातन्त्र्यं व्यावहारिकत्वम्, न त्रैकालिकबाधविषयत्वम् । नापि शुक्तिरजतवद्विशेषदर्शननिवर्त्यत्वम् । ब्रह्मण एवेति । जीवयोगव्यवच्छेदकैवकारः । प्रागेवेति । अस्मिन्नेव सूत्रे । प्रातीतिकार्थाङ्गीकारत्वे त्वाहुः जीवेति । 'मृष तितिक्षाया'मिति मूर्धन्यान्तोऽपि धातुः । एवेति । स्वकृतत्वव्यवच्छेदक एवेति । तेन तदिति । स्वमायापदेन । स्वप्नस्य जीव(कर्तृ)कर्तृकत्वासिद्धेः । बोधयितुमिति । यथेतिशब्दादिति भावः । दृष्टान्तस्येति । भावप्रधानः । तेनापीति । श्रीभागवतवाक्येनापि स्वप्नस्य जीवकर्तृकत्वासिद्धेः ॥ ३ ॥

सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ॥४॥ तत्तदिति । 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्चे'ति श्रुतेः तत्तज्जीवसाक्षिकम् । पदार्थौ तयोरेकदेशेन शब्देन ज्योतिषा द्रव्यशून्यधर्मः ज्योतिर्मात्रं तेन । तस्येति । पदार्थशून्यज्योतिषः । भाष्ये । क्वचिदित्युक्तेर्हेतुमाहुः कलीति । आदिना पापम् । आज्ञादिविशेषदानं प्रत्यक्षे । 'कलिनाऽधर्मबन्धुने'ति वाक्यम् । 'नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायत' इति वाक्यं च । प्रकृते । सूचकत्वादीति । आदिना कलिकालादेर्बाधकत्वम् । अशुभेति । मरणसूचकश्रुतेः । शेषमिति । तद्विद इति । बृहस्पत्यादयः । 'बृहस्पतिप्रणीतं च स्वप्नाध्यायं पठेदपी'ति ज्योतिषे दुःस्वप्नशान्तौ वाक्यात् । एवकारेण प्रकारान्तरव्यवच्छेदः । आरोहणमित्यादि । आदिना 'स्वप्नेष्वगम्यागमनं च धन्य'मिति । 'खरयानतैलाभ्यञ्जनान्यधन्यानी'ति च । जीवप्रदर्शनमिति । जीवाय प्रदर्शनम् । 'सह सुपे'ति समासः । एवं शेषं स्फुटम् । मन एवेति । उक्तश्रीभागवत 'मनोमात्रमिदं ज्ञात्वे'त्यादिवाक्यैर्मनोमयः प्रपञ्चः स्वाप्नः । प्रपञ्चरूपं मन एव । मनोमयत्वेतरयोगव्यवच्छेदकैवकारः । अत्र पक्षेऽन्ययोगाभावात् । पूर्वरूपाणि स्वप्नैः सुकृतित्वदुःकृतित्वादिरूपैः । शंसति । अयं पूर्वजन्मनि सुकृती, अयं पूर्वजन्मनि दुःकृतीत्येवम् । किञ्च, कर्मविपाके वैद्यके मनोमयदेहैः पूर्वरूपशंसनं प्रसिद्धम् । आदिना………… । किञ्च । देवताज्ञादिः स्वाप्निकः शब्दसृष्टिः, अतो न मिथ्या । वैदिक्याः सृष्टेः 'शब्द इति चे'दितिसूत्रे शाब्दीत्वात् । परिणमतीत्यादि । फलोक्तिः फलानामुक्तिः । 'येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य सभाजयन्ते मम पौरुषाणी'त्यादिवाक्योक्ता । 'कीदृशी सा स्वप्नचिन्ता । स्वप्नेषु चिन्तनं यया ।' सा स्ववीर्यैः कीर्तनभक्तिजसामर्थ्यैः प्रेमलक्षणभक्त्यादिभिः परिणमति । तात्त्विकान्यथाभावं स्वप्ने देवताज्ञादिरूपं करोति । सूचितमिति । स्वप्ने मिथ्यायुक्ताभ्यां पदार्थाभ्यां सूचितम् । य इति । नास्तिकभेदाः । अतितुच्छमिति । चन्द्रादिद्वैताभासम् ॥ ४ ॥

पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ ॥ ५ ॥

किञ्चिदाशङ्क्य परिहरति । ननु जीवाय भगवान् सृष्टिं करोति, प्रदर्शयति च स्वस्य सर्वलीलाम्, अंशश्चायम्, कथमस्य दुःखित्वमित्याशङ्क्य, परिहरति तुशब्दः । अस्य जीवस्यैश्वर्यादि तिरोहितम् । तत्र हेतुः **पराभिध्यानात्** । परस्य भगवतोऽभितो ध्यानं स्वस्यैतस्य च सर्वतो भोगेच्छा, तस्मात् । ईश्वरेच्छया जीवस्य भगवद्धर्मतिरोभावः । ऐश्वर्यतिरोभावाद्दीनत्वं पराधीनत्वम्, वीर्यतिरोभावात् सर्वदुःखसहनम्, यशस्तिरोभावात् सर्वहीनत्वम्, श्रीतिरोभावाज्जन्मादिसर्वापद्विषयत्वम्, ज्ञानतिरोभावाद्देहादिष्वहंबुद्धिः सर्वविपरीतज्ञानं चापस्मारसहितस्येव, वैराग्यतिरोभावाद्विषयासक्तिः । बन्धश्चतुर्णां कार्यः, विपर्ययो द्वयोः, तिरोभावादेवैवम्, नान्यथा । युक्तोऽयमर्थः । एकस्यैकांशप्राकट्येपि तथाभावात् ।

भाष्यप्रकाशः ।

पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ ॥५॥ सूत्रमवतारयन्ति किञ्चिदित्यादि । तुशब्दार्थकथनमुखेन तद्विभजन्ते नन्वित्यादि । परिहारं व्याकुर्वन्ति अस्य जीवस्येत्यादि । चतुर्णामिति । ऐश्वर्यादिचतुष्टयतिरोभावानाम् । विपर्ययो द्वयोरिति । अन्यथाज्ञानं ज्ञानवैराग्यतिरोभावयोः कार्यमित्यर्थः । तत इत्यादिकं व्याकुर्वन्ति तिरोभावादेवैवम्, नान्यथेति । ऐश्वर्यादितिरोभावादेव बन्धविपर्ययौ, न तु स्वत इत्यर्थः । युक्तत्वं विवृण्वन्ति एकस्येत्यादि । 'युक्तं भगैः स्वै'रित्यादिवाक्यात् पूर्णा ऐश्वर्यादयो भगवत्येव । तन्मध्ये एकस्यैश्वर्यादेरेकांशप्राकट्येपि 'यत्पादपङ्कजे'त्यादिवाक्यैस्तथानिश्चयेन बन्धाभावात् । तदभावादेव बन्धविपर्ययाविति युक्तमित्यर्थः । नन्वानन्दांशतिरोभावादेवैतद्द्वयं कुतो न स्वीक्रियत इत्यत आहुः

रश्मिः ।

पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ ॥ ५ ॥ **तुशब्दार्थेति** । आशङ्कापरिहारस्तुशब्दार्थः । तत्कथनोपायेनेत्यर्थः । **नन्वित्यादि** । **जीवायेति** । भक्ताय साधारणाय च । लीलाशब्देन स्वप्नदर्शने यथा तथेत्युक्तम् । **स्वस्यैतस्येति** । यथा गोकुलाष्टके तथा । शृङ्गाररसमण्डने च । अमुक्तत्वदशायाम् । स्वस्योत्कर्षेण जीवस्य निकृष्टत्वेन च सर्वतो भोगेच्छा । **भगवद्धर्मेति** । उच्चनीचभावाय । समत्वे लीला न स्युः । **दीनत्वमित्यादि** । अन्यानुरञ्जनाभावात् । **पराधीनत्वं** परोक्तकरणात् । **सर्वदुःखेति** । अनुभवसिद्धम् । **सर्वहीनत्वमिति** । 'यथा वृक्षस्य संपुष्पितस्य दूराद्गन्धो वात्येवं पुण्यस्य कर्मणो दूराद्गन्धो वाति, यथासिधारां कर्तेव हि तामवक्रामेयद्युवे युवे ह वा विह्वयिष्यामि कर्तं पतिष्यामीत्येवममृतादात्मानं जुगुप्सेत्' । अत्र कर्मगन्धो यशः । स्वधर्माभावात्सर्वहीनत्वम् । **जन्मादीति** । लक्ष्म्यभावं श्र्यभावो ज्ञापयति । लक्ष्म्यभावात्सत्कर्माभावेन जन्मादि । आदिना स्वार्थात्प्रच्यवः । **अहंबुद्धिरविद्यारूपा** । **एवेति** । स्वतो योगव्यवच्छेदकः । **बन्धेति** । दीनत्वादिर्बन्धोऽहंबुद्ध्यादिः स्वरूपविपर्ययः तौ । **युक्तत्वमिति** । सौत्रहिशब्दार्थम् । **भगवत्येवेति** । एवकारेण जीवयोगव्यवच्छेदः । **यत्पादेति** । आदिना 'वञ्चितोहं महाराज हरिणा बन्धुरूपिणा । येन मेऽपहृतं तेजो देवविस्मापनं मह'दिति प्रथमस्कन्धोक्तम् । **तथेति** । अस्यार्थो निश्चयेन बन्धः तस्याभावात् । **तदभावादिति** । बन्धाभावाभावाद्बन्धरूपात् । **एवेति** । इतरयोगव्यवच्छेदकः । नच बन्धाद्बन्धविपर्ययौ न स्यातामिति चेत् । न । बन्धविपर्ययौ न बन्ध इति प्रयोगात्

आनन्दांशस्तु पूर्वमेव तिरोहितः, येन जीवभावः । अत एव काममयः । अकामरूपत्वाद्यानन्दस्य । निद्रा च सुतरां तिरोभावकर्त्री भगवच्छक्तिः । अतोऽस्मिन् प्रस्तावे जीवस्य धर्मतिरोभाव उक्तः । अन्यथा भगवत ऐश्वर्यादिलीला निर्विषया स्यात् । तस्मान्न जीवस्वरूपपर्यालोचनया किञ्चिदाशङ्कनीयम् ॥ ५ ॥

देहयोगाद्वा सोपि ॥ ६ ॥

ईश्वरेच्छयैश्वर्यादितिरोभावं स्वमते निरूप्य, मतान्तरेणापि नियतधर्मवादेन निरूपयति । **देहयोगाद्वा** । देहसम्बन्धादेवास्य सर्वतिरोभावः । **विपर्ययो वा** । अपिशब्दादन्यत् । अस्मिन् पक्षे देहवियोग एव पुनरैश्वर्यादिप्राप्तिः । पूर्वस्मिन्

भाष्यप्रकाशः ।

आनन्देत्यादि । पूर्वमिति । व्युच्चरणकाले । द्विविधा हि जीवाः, सदा मुक्ताः, बन्धयोग्याश्च । तत्राद्याः सेवायोग्या इति तेषु स्वरूपानन्दमात्रस्यैव तिरोभावः, न धर्मरूपस्य तस्य, नाप्यैश्वर्यादेः । द्वितीयेषु यथायोग्यं सर्वेषां तिरोभाव इति निर्णयादिति । अत्र गमकमाहुः अत एवेत्यादि । नन्वत्रैतन्निरूपणस्य कः प्रसङ्ग इत्यत आहुः निद्रा चेत्यादि । तस्य प्रयोजनमाहुः अन्यथेत्यादि । सिद्धमाहुः तस्मादित्यादि । किञ्चिदिति । दुःखित्वानुपपत्त्यादिकम् ॥ ५ ॥

देहयोगाद्वा सोपि ॥ ६ ॥ सूत्रप्रयोजनमाहुः ईश्वरेच्छेत्यादि । व्याकुर्वन्ति देहेत्यादि । वाशब्दोऽवधारणे, अनादरे वा । सूक्ष्मदेहसम्बन्धादेवास्य सः आनन्दैश्वर्यादीनां तिरोभावो विपरीतज्ञानं वा । अपिशब्दादन्यद्बन्धदुःखादि । एतस्य पक्षस्य जघन्यत्वज्ञापनाय पक्षद्वयतारतम्यं

रश्मिः ।

कर्मतावच्छेदकभेदात् । **व्युच्चरणेति** । 'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा' इति श्रुतौ व्युच्चरणमुक्तम् । तत्र व्युच्चरणोत्तरं वियोगज आनन्दतिरोभावः । इदमुत्तरार्धे अष्टपञ्चाशत्तमाध्याये सत्यावाक्यं तदादिभिस्तन्मध्य इत्यादिरित्यन्वयः । तथाहि । द्वितीयस्कन्धनवमाध्यायवाक्यो'क्तेतरत्र चाप्युवै'रत्राप्यैश्वर्यादेरंशप्राकट्यम् । तत्र सत्यायां दीनत्वपराधीनत्वाभावेनैश्वर्यस्यैकांशप्राकट्यम् । सर्वदुःखासहनेन वीर्यैकांशप्राकट्यमर्जुने । वाक्यं तूक्तम् । वियोगत्वेनानन्दतिरोभावत्वेन कार्यकारणभावात् । ननु नानन्दतिरोभावः, 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ती'तिश्रुतेः, अत आहुः **द्विविधेति** । **बन्धयोग्या** इति । सकर्मकाः । **स्वरूपेति** । एवकारो मात्रायोगव्यवच्छेदकः । **निर्णयादिति** । 'यत्पादपङ्कजे'त्यादौ निर्णयात् । **अत एवेत्यादीति** । **काममय** इति । 'काममयोऽयं पुरुष' इति श्रुतेः । **अकामेति** । 'सुषुप्तिस्त्वकामरूपो भगवा'निति 'सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेने'ति सूत्रभाष्यम् । 'सुषुप्तावानन्दभु'गिति नृसिंहतापनीये । मात्रारूपस्यापि तथानुभवात् । तथा चाकामरूपत्वं सुषुप्त्यानन्दस्य । तन्मात्रायाश्च । **अत्रैनदिति** । स्वप्ने षड्गुणतिरोभावनिरूपणस्य । **निद्रा चेत्यादीति** । **षड्गुणैश्वर्यतिरोभावकर्त्री** । अतोस्मिन् स्वाप्निके प्रस्तावे जीवस्य षड्गुणैश्वर्यतिरोभाव उक्तः । **अन्यथेत्यादीति** । स्वेतरस्मिन् जीवे एकस्यैश्वर्यादेरेकांशप्राकट्याभावे स्वप्ने तिरोभावाभावे । **निर्विषयेति** । अन्यविषयाभावात्तथा । **दुःखित्वेति** । आदिना ऐश्वर्यादितिरोधानानुपपत्तिः । क्रीडार्थत्वात् ॥ ५ ॥

देहयोगाद्वा सोपि ॥६॥ **ईश्वरेच्छेत्यादीति** । नियतधर्मव्यवच्छेदकैवकारः । **नियतधर्मेति** । स च समवायातिरिक्तविषयतासम्बन्धेनेच्छाधर्मोऽनियत इति नियतेन देहधर्मेण । **सूक्ष्मदेहसम्बन्धादेवेति** । एवकारोऽनियतधर्मेच्छायोगव्यवच्छेदकः । अपिशब्दादितिभाष्यं विवृण्वन्ति स **अपि-**

कल्पे विद्यमानेपीति विशेषः । न त्वीश्वरेच्छया विकल्पः ।

कश्चित् परशब्देन देहादिमाह । तदा अभिध्यानयोगयोराकस्मिकता स्यात् । 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशान' इति विरोधश्च ।

कश्चित्तु तस्याभिध्यानात् 'तृतीयं देहभेद' इति श्रुत्यनुरोधेन जीवकर्तृका-

भाष्यप्रकाशः ।

स्फुटीकुर्वन्ति अस्मिन्नित्यादि । नत्वित्यादि । क्वचिदीश्वरेच्छया क्वचिद्देहयोगेनेति विकल्पो नात्राभिप्रेत इत्यर्थः ।

उक्तव्याख्यानदार्ढ्यार्थं व्याख्यानान्तरं दूषयितुमनुवदन्ति कश्चित् परशब्देन देहादि-माहेति । देहारम्भकं कर्माहेत्यर्थः । इदं च न प्रसिद्धपक्षभाष्यस्थम् । मध्वरामानुजशैवभिक्षुभिः पराभिध्यानपदे ब्रह्मकर्तृकाभिध्यानस्यैव व्याख्यानात् । अत इदानीमुत्सन्नस्यैव कस्यचिन्मतस्यो-ल्लेखः । दूषयन्ति तदेत्यादि । आकस्मिकतेति । निर्हेतुकता । तथाच देहारम्भकेन कर्मणा बन्धे विपरीतज्ञाने चाभ्युपगम्यमानेऽभिध्यानयोगयोर्निर्हेतुकतया तत्पदप्रयोगवैयर्थ्यं स्यात् । बन्धादेः कर्माद्यधीनत्वे ईश्वरस्य सर्वनियन्तृत्वभङ्गेन 'सर्वस्ये'त्यादिश्रुतिश्च विरुध्येतेत्यत उपेक्ष्यमित्यर्थः ।

शङ्करभास्कराचार्ययोर्मतमाहुः कश्चित्त्वित्यादि । ऐकमत्यादेकवचनेनोल्लेखः । श्रुतिस्तु श्वेताश्वतरस्था । 'ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः, तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकाम' इति । अर्थस्तु, देवं ज्ञात्वा देवज्ञानेन सर्वेषां पाशानां बन्धकानां पुण्यपापादीनामपहानिर्दाहः, क्षीणैर्दग्धैः क्लेशैरविद्यास्मितादिभिर्जन्ममृत्युप्रहाणिः पुनः पुनर्जन्ममरणप्रवाहनिवृत्तिः, तस्याभिध्यानात् परमेश्वरविषयकाच्चिन्तनात् देहभेदे देहनिवृत्तौ, 'देहभेदै'रितिपाठे नानादेहैः, तृतीयं विश्वैश्वर्यम्, ऐहिकाच्चान्द्रादिलोकसम्बन्धिनश्चैश्वर्यादतिरिक्तं ब्रह्मलोकसम्बन्ध्यैश्वर्यं भवेदिति शेषः । ततः केवलो ब्रह्मभूत आप्तकामो भवतीति । 'तृतीयदेहभेदे' इति पाठे तु ऐहिकात् पारलौकिकाच्च तृतीयो ज्ञानिदेहस्तस्य निवृत्तौ सत्यां विश्वैश्वर्यं प्राप्य ब्रह्म-

रश्मिः ।

शब्दादिति । बन्धदुःखादीति । आदिना षड्गुणतिरोभावः । अस्मिन्नित्यादीति । एवकारो विद्यमानदेहयोगव्यवच्छेदकः । विद्यमाने इति । भगवान् व्यासः भगवान्नारद इति प्रयोगात् । कर्माहेति । देहस्यादिः कर्म देहादिस्तम् । आदिशब्दो 'न नपुंसक'मिति पुंस्त्वम् । ब्रह्मकर्तृकेति । 'परस्य ब्रह्मणोऽभितो ध्यानं सर्वतो रमणेच्छे'त्यत्र परस्येति कर्तरि षष्ठीति भावः । तत्तद्भाष्यादेवकारः । रामानुजभाष्यं यथा (पराभिध्यानात्परमपुरुषसंकल्पादिति) । उत्सन्नस्यैवेति । उत्सन्नप्रच्छन्नशाखामूलत्वस्य स्मृतिषु प्रसिद्धेः । एवकारः प्रच्छन्नयोगव्यवच्छेदकः । जैमिनिबादरिकाशकृत्स्नौडुलोम्यादिमतानां भाष्येऽप्रच्छन्नत्वात् । एकदेशिमतं च 'अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वादि'तिसूत्रोक्तम् । अत आहुः कस्यचिन्मतस्येति । कर्मपदोक्त्या जैमिनिमतमिति भवत्येवावधृतिः । निर्हेतुकतयेति । बन्धविपरीतज्ञाने उत्पाद्य क्षीणशक्ति कर्म नाभिध्यानयोगयोर्हेतुतामर्हत्यतो निर्हेतुकतया । प्रयोगेति । सूत्रद्वये प्रयोगद्वयस्य वैयर्थ्यं स्यादित्यर्थः । सर्वस्येतिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म बन्धादेरिति । आदिना विपर्ययः । देहयोगश्च । कर्मादीत्यादिना इच्छा विद्या पूर्वप्रज्ञा चेति । 'ईश्वरेच्छयैवैश्वर्यादितिरोभाव'मित्याद्युक्तभाष्यात् । 'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा चे'ति श्रुतेश्च । उल्लेख इति । शङ्करभास्कराचार्ययोरुल्लेखः कश्चिदितिशब्देन । अविद्यास्मितेति । 'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशा' इति योगसूत्रम् । तृतीयत्वं समर्थयन्ति स्म ऐहिकादिति । चान्द्रादीति । आदिनादित्यविद्युल्लोकौ । छान्दोग्य

भिध्यानं मत्वा, अतिरोहितमिति कल्पयति । विपर्ययशब्देन च मोक्षम् । बहु-ध्याहारेण च सूत्रद्वयं योजयति । तत् ब्रह्मवादापरिज्ञानादसङ्गतेश्च साधनोपदेशस्य भ्रान्तोक्तमित्युपेक्ष्यम् । निद्राया विवेकज्ञानाभावावसरत्वात् यथा व्याख्यात एवार्थः ॥ ६ ॥

इति तृतीयाध्याये द्वितीयपादे प्रथमं सन्ध्याधिकरणम् ॥ १ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

भूतो भवतीत्यर्थो ज्ञेयः । एतस्यां श्रुतौ पराभिध्यानपदेन परमेश्वरविषयकं ध्यानमुच्यत इति शब्दसाम्यकृतेनैतदनुरोधेनेश्वरविषयकं जीवकर्तृकाभिध्यानं सौत्रत्वेन विचार्य, पूर्वं तिरोहितमैश्वर्यं तस्माद्धेतोरतिरोहितं भवतीति कल्पयति । तत ईश्वरादेवास्य बन्धविपर्ययौ, ईश्वरापरिज्ञानाद्बन्धः, ईश्वरपरिज्ञानान्मोक्ष इति ।

तद्दूषयन्ति तदित्यादि । तथाच यदि ब्रह्मवादं जानीयात्, देहयोगमत्र सिद्धान्तीयत्वेन नोरीकुर्यात्, वाशब्दं च जीवेश्वरान्यत्वाशङ्काव्यावृत्त्यर्थं न व्याकुर्यात् । ब्रह्मवादेऽन्येषां हेतूना'मिदमनेनैवमेवं करिष्यामी'तीश्वरेच्छायाः शरीर एव व्यापारतया निवेशात्, अवान्तरेऽस्मिन्नवस्थाप्रकरणे ईश्वराभिध्यानरूपसाधनोपदेशस्यासङ्गतेश्च तथेत्यर्थः । स्वोक्तव्याख्यानस्योचितत्वाय पूर्वोक्तां युक्तिं स्मारयन्ति निद्राया इत्यादि । इदं हि निद्राप्रकरणम् । निद्रा च तदैवावसरं प्राप्नोति, यदा विवेकज्ञानं न भवति । अतो ज्ञानतिरोभावस्यैवात्र वक्तव्यत्वात् तस्य चोक्तरीत्यैव बोधाद्यथोक्त एवार्थ इत्यर्थः ॥ ६ ॥ इति प्रथमं सन्ध्याधिकरणम् ॥ १ ॥

रश्मिः ।

'आदित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोमानवः स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्था इती'ति श्रुतेः । पञ्चम्यन्तं पदम् । शब्दसाम्येति । ब्रह्मजीवसाधारणपरशब्दकृतेनैतस्य जीवस्यानुरोधेनेत्यर्थः । परशब्दोत्रावृत्त्योभयवाचक इतीश्वरविषयकं जीवकर्तृकाभिध्यानम् । ईश्वरस्याभिध्यानं जीवस्येति । 'कर्तृकर्मणोः कृती'त्युभयत्र षष्ठी । ईश्वरस्येति कर्मणि विषयार्थके षष्ठी । जीवस्येति कर्तरि । तथाचेश्वरविषयकं जीवकर्तृकाभिध्यानं भवति । विचार्येति । विद्यमानमपि तत्तिरोहित'मविद्याव्यवधानात् तत्पुनस्तिरोहितं सत्परमेश्वरमभिध्याय, ततो यतमानस्य जन्तोर्विधूतध्वान्तस्य तिमिरतिरस्कृतस्येव दृक्शक्तिरौषधवीर्यादीश्वरप्रसादात्संसिद्धस्य कस्यचिदेवाविर्भवतीति न स्वभावत एव सर्वेषां जन्तूना'मितिभाष्येण विचार्य । तत् जीवैश्वर्यम् । अतिरोहितमितिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म पूर्वमिति । भाष्ये । बहुध्याहारेणेति । ज्ञानैश्वर्यशक्त्यध्याहारः । अंशांशिभावाध्याहारः । ब्रह्मजीवकर्मकर्तृत्वाध्याहारः पूर्वसूत्रे । देहेतिसूत्रे ऐश्वर्यतिरोभावः । देहयोगाद्वेति सूत्रद्वयं योजयन्ति स्म प्रकृते । ऊरीकुर्यादिति । इच्छावादत्याजकत्वादिति भावः । जीवेश्वरेति । जीवस्येश्वरान्यत्वं तस्याशङ्का तस्या व्यावृत्त्यर्थम् । किन्तूक्तरीत्या विकल्पार्थं व्याकुर्यात् । इदमित्यादि । इदमैश्वर्यं अनेन देहयोगहेतुना एवं तिरोहितत्वप्रकारेण एवमतिरोहितत्वप्रकारेण करिष्यामीति 'स ईक्षांचक्र' इति ब्रह्मवादे पूर्वसूत्रोक्तेच्छायाः शरीरे निविष्टत्वात् । परन्तु व्यापारतया । इच्छया तत्तद्धेतूपस्थापनात् । तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्वं व्यापारः । अवान्तर इति । साधनप्रकरणावान्तरे स्वप्नाद्यवस्थाप्रकरणे । तथेति । भ्रान्तोक्तमित्यर्थः । पूर्वोक्तामिति । पूर्वसूत्रोक्ताम् । निद्रेति । स्वप्नप्रकरणम् । तदैवेति । कालान्तरयोगव्यवच्छेदकः । विवेकेति । देहगेहादेर्विवेकेन ज्ञानम् । आत्मानात्मविवेकज्ञानं न भवतीति वा । अज्ञानं भवतीति यावत् । तमःकार्यत्वान्निद्रायाः । यथा व्याख्यात इतिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म अतो ज्ञानेति । अतो निद्रावसरस्यावश्यकत्वात् । ज्ञानतिरोभावोऽज्ञानं तस्यैवात्राधिकरणे योग्यदेहेपि शुभाशुभसूचनाय स्वप्नप्रदर्शनस्य वक्तव्यत्वात्तस्य स्वप्नदर्शनस्य चोक्तरीत्या भाष्योक्तरीत्या योग्यदेहानन्तरं सङ्गत्या बोधात् । एवकारोऽन्योक्तव्याख्यायोगव्यवच्छेदकः । एवार्थ इत्यत्रैवकारोऽन्योक्तार्थव्यवच्छेदकः ॥ ६ ॥ इति प्रथमं सन्ध्याधिकरणम् ॥ १ ॥

तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च ॥ ७ ॥ (३-२-२)

प्रसङ्गाज्जीवस्याज्ञानं निरूप्य सुषुप्तौ केवलमज्ञानं निरूपयितुं स्थानस्वप्नाभावौ निरूपयति। एवं श्रूयते। नाडीरनुक्रम्य 'तासु तदा भवति, यदा सुप्तः स्वप्नं न कश्चन पश्यति। अथास्मिन् प्राण एवैकधा भवती'ति। तथा 'प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तर'मिति।

तत्र संशयः। स्वप्नवत् प्रपञ्चसृष्टिं मायिकीमपि भगवान् करोति, न वेति संशयः।

तत्र 'य एष सुप्तेषु जागर्ती'त्यत्र जीवस्वापमात्रे भगवत्सृष्टेरुक्तत्वात्, 'स्वप्नं न कश्चन पश्यती'त्यत्रापि दर्शनमात्रनिषेधात्, 'न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तर'मिति च जागरणस्वप्नप्रपञ्चयोरविशेषेणादर्शनकथनात्, सुषुप्तावपि प्रपञ्चनिर्माणमस्ती-

भाष्यप्रकाशः।

तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च ॥ ७ ॥ सूत्रमवतारयन्ति प्रसङ्गादित्यादि। अज्ञानमिति। विपरीतज्ञानजनकमज्ञानम्। स्थानपदेनाज्ञानस्थानं बोध्यम्। अस्य सूत्रस्याधिकरणस्याय विषयवाक्याद्याहुः एवमित्यादि। अत्र प्रथमं वाक्यं कौशीतकिब्राह्मणे बालाक्यजातशत्रुसंवादस्थम्। द्वितीयं बृहदारण्यकीयज्योतिर्ब्राह्मणस्थम्।

तत्र संशय इति। सुषुप्तौ सृष्टिकरणस्य संशयः। काठकवाक्ये सृष्टिनिर्माणश्रावणं विषयश्रुतौ दर्शनाभावमात्रश्रावणं च सन्देहबीजम्। तदेतत् पूर्वपक्ष एव सूचयन्तस्तमाहुः तत्रेत्यादि। मुक्त्यवस्थायामपि बाह्यप्रपञ्चसत्तापादनं पूर्वपक्षयुक्तिफलम्। सत्ताया द्रष्टृदर्शनव्याप्तिदर्शनात् तदभावे प्रपञ्चसत्ताभाव इत्याशङ्क्य परिहरति स्वाप्ययेत्यादि। तथाच सत्तादर्शनयोर्व्याप्त्यभावात् तदभावमात्रेण सत्ताभावो न वक्तुं शक्य इत्यर्थः।

रश्मिः।

तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च ॥ ७ ॥ प्रसङ्गं बोधयितुमज्ञानस्वरूपमाहुः। विपरीतं विपर्ययः पराभिध्यानसूत्रोक्तः भगवद्धर्मविपरीतधर्मरूपः भाष्ये दुःखित्वमित्यनेनोपलक्षणयोक्तः। बन्धो दुःखित्वं विपर्ययः भगवद्धर्मविपरीतधर्म इति। तथा च पूर्वाधिकरणोक्तविपर्ययोक्तेः प्रसङ्ग इत्यर्थः। अन्योपि प्रसङ्गो भाष्ये स्वप्नवदित्यादिना वक्तव्यः। एवं चायं भाष्यार्थः। विपर्ययो जीवनिष्ठः तज्ज्ञानं विपर्ययाधीनं ज्ञातविपर्ययजनकं अज्ञानं तमः। 'सुषुप्तावानन्दभु'गिति ह्यानन्दधर्मस्तमः। 'आनन्दाच्च तम' इति सुबोधिन्याः। अज्ञानस्थानमिति। आनन्दः। 'सुषुप्तिस्त्वकामरूपो भगवा'निति भाष्यात्। 'अकामरूपत्वादानन्दस्ये'त्युक्तभाष्याच्च। बृहदिति। सूत्रान्तराच्छः। वृद्धत्वाभावात्। द्वितीयमिति। प्राज्ञेनात्मनेत्यादि। तत्रेत्यस्य सुषुप्तावित्यर्थः। सुषुप्तावपि प्रपञ्चनिर्माणमस्तीति पूर्वपक्षभाष्यात्। दर्शनाभावेति। 'न कंचन पश्यती'त्यत्र नञो दर्शनानुकूलव्यापारेऽन्वयादिति भावः। मात्रचा सृष्टिनिर्माणव्यवच्छेदः क्रियते। बाह्येति। मुक्तौ प्रपञ्चव्यतिरेकः स्यात्, यदि सर्वावस्थायां प्रपञ्चव्यतिरेकः स्यात्। अतो मुक्तावपि प्रपञ्चव्यतिरेकाभाव इति बाह्यप्रपञ्चसत्तापादनम्। सत्ताया इति। सत्ताया द्रष्टृदर्शने व्याप्तिः। मुक्तिः प्रपञ्चसत्तावती। द्रष्टृदर्शनात्। स्वप्नवदित्यत्र। तदभाव इति। व्याप्त्यभावे। परिहरतीति। पूर्वत्र हेतुं वदन्निति शेषः। व्याप्त्यभावादिति। मायादर्शने साध्याभाववति हेतुसत्त्वात्साधारण्येन व्याप्त्यभावात्। स्वाप्ययशब्देन गृहीतसुषुप्तौ स्वप्नसन्निधानाय-त्किञ्चित्सत्यमायादर्शनसत्त्वात्। सत्ताभाव इति। मुक्त्यवस्थायां प्रपञ्चसत्ताभावः।

त्यवगन्तव्यम्। ततश्च कस्यामप्यवस्थायां प्रपञ्चव्यतिरेकाभावान्मुक्तावपि स्यात्। स्वाप्ययसम्पत्त्योरज्ञानमात्रविशेषात्। 'सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामह' इति। तस्मात् बाह्यसत्सम्पद्योर्विद्यमानयोरपि यथा ज्ञानाभावादग्रहणम्, एवं प्रपञ्चस्यापीत्येवं प्राप्ते, उच्यते।

तदभावो नाडीषु। तस्य स्वप्नस्याभावो नाडीषु। तथा आत्मनि च। कुतः। तच्छ्रुतेः। प्रपञ्चाभावश्रुतेः। कामनया हि प्रपञ्चः। सुषुप्तावस्थाया अकामरूपत्वश्रुतेः। 'तद्वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकाम रूप'मिति। नाडीषु आत्मनि चेति ग्रहणात् सुषुप्तिर्द्विविधेति सूचयति। तथाहि। 'हिता नाम नाड्यः' पुरीतत्यन्ता हृदयदेशात् बाह्याः, आभ्यन्तरः परमात्मा, हृदयदेशस्तु

भाष्यप्रकाशः।

सिद्धान्तं व्याचक्षते तस्येत्यादि। स्वप्नस्येति। मायिकसृष्टेः। सा प्रपञ्चाभावश्रुतिः केत्याकाङ्क्षायां तां व्युत्पादनेन स्फुटीकुर्वन्ति कामनयेत्यादि। हि यतो हेतोः 'कामं काम'मिति स्वप्नसृष्टिबोधकवाक्ये कामविषयाणां निर्माणश्रावणात् पुरुषकामनया स प्रपञ्चो बोधितः। बृहदारण्यके तु 'तद्वा अस्यैत'दित्यनेन सुषुप्तावकामं रूपं जीवस्य श्राव्यते। अतः स्वप्नसृष्टिहेत्वभावबोधिका या सुषुप्तावस्थायां अकामरूपत्वश्रुतिः, सैव तच्छ्रुतिस्तस्याः। तथाच यथा ज्योतिश्चरणाधिकरणे प्राकरणिको व्युत्पादनसापेक्षो हेतुः साधकः, तथात्रापीत्यर्थः। एवं व्याख्याने बीजं तु तदभावपदस्य लाक्षणिकतानिवृत्तिर्बोध्या। एवं स्वप्नाभावनिरूपणं व्याकृत्य स्थाननिरूपणं व्याकुर्वन्तो मतान्तरादत्र विशेषमाहुः नाडीष्वित्यादि। हृदयदेशात् बाह्या इति। हृदयदेशात् बाह्यदेशं

रश्मिः।

भाष्ये। तस्मादिति। श्रुत्यापादकवाक्ययोः सत्त्वात्। बाह्येति। बाह्यप्रपञ्चः। विद्यमानयोः प्रपञ्चसत्तावतोः। अग्रहणमिति। तथाचानयोः साध्यव्यापकताग्रहाद्धेतोः व्याप्यताग्रहः। तथाच मायादर्शने उक्तरीत्या साधारण्यमिति भावः। एवं प्रपञ्चस्यापि विद्यमानस्याग्रहणं ज्ञानाभावादित्यर्थः। आपादनाभावे भाष्यार्थः स्पष्टः। यद्यपि बाह्यप्रपञ्चसत्ता यस्माद्द्रष्टृदर्शनादिति द्रष्टृदर्शनापादनमर्थः। सत्ताया इत्यनुमानं तु मुक्तिः द्रष्टृदर्शनवती, सत्तायाः, स्वप्नवत्। व्याप्त्यभावादित्यपि पूर्ववन्न स्वाप्ययसम्पत्त्योः साध्याभाववति हेतुसत्त्वात्साधारण्येन व्याप्त्यभावात्। प्रकृते। तदभावमात्रेणेति। प्रपञ्चदर्शनाभावमात्रेण। सत्ताभावो हेत्वभावः। भाष्ये। अग्रहणमिति। प्रपञ्चदर्शनस्यानुव्यवसायेऽग्रहणम्। तथाच हेतुमति साध्यसत्त्वान्न साधारण्यमित्यनुमानपक्षेपि भाष्यार्थः सुष्ठु। प्रकृते। मायिकेति। इयं ज्ञानात्मिका ग्राह्या। 'स्वप्नः सुप्तस्य विज्ञान' इति कोशात्स्वप्नस्य ज्ञानत्वात्। जीवस्येति। ननु 'सुषुप्तिस्त्वकामरूपो भगवा'निति 'सुषुप्त्युत्क्रान्ति'सूत्रभाष्यविरोध इति चेत्। न। 'अकामरूपत्वादानन्दस्ये'त्युभयरूपत्वात्। प्राकरणिक इति। ज्योतिर्भेद प्राकरणिकः हेतुश्चरणाभिधानादिति। एवं व्याख्यान इति। ब्रह्मजीवसाधारण्येन व्युत्पादनसापेक्षतच्छ्रुतिरूपहेतुव्याख्याने। अयमर्थः। अन्यत्र तदभावपदेन स्वप्नदर्शनाभावो व्याख्यातः। 'तद्वा अस्यैत'दिति श्रुतिर्बोक्तेति। लाक्षणिकतेति। स्वप्नदर्शने लाक्षणिकता। दर्शनमनुव्यवसाय इत्यपि गौरवग्रस्तः पक्षः। हृदयदेशादिति भाष्ये ल्यब्लोपे पञ्चमीत्याहुः हृदयेति।

जीवस्य। इन्द्रियाणां च स एव देशः। तत्र निद्रया भगवच्छक्त्या बहिर्दृष्ट्याच्छादने भगवल्लीलायां तां पश्यति । तत्राप्याच्छादने गाढसुप्तो ज्ञानरहितः क्रियाशक्त्या अन्तर्भगवन्तं वा प्रविशति। बहिर्नाडीषु वा समायाति। अत एव बृहदारण्यकषष्ठे 'यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयत' इति वारद्वयमाह। 'ता वा अस्यैता हिता

भाष्यप्रकाशः ।

प्राप्य स्थिताः । आभ्यन्तर इति । हृदयदेशादाभ्यन्तरः । तामिति । स्वामिकीं भगवल्लीलाम् । द्वैविध्ये प्रमाणमाहुः अत एवेत्यादि । तदेव स्फुटीकुर्वन्ति ता वा इत्यादि । तथा च बृहदारण्यके 'यत्र सुप्त' इत्याद्युक्त्वा, किं तत् स्वापस्थानमित्याकाङ्क्षायां 'ता वा अस्यैता हिता नाम नाड्य' इति पूर्वमुक्त्वा, पुनरपि तथैवोक्त्वा, 'तद्वा अस्यैत'दित्यादिना आत्मरूपं स्थानान्तरमुक्तम्। तस्मात् सुषुप्तेर्द्वैविध्यम् । उभयत्रापि कामनाभावाच्च न सृष्टिः, अत एव च न मुक्तावपीत्यर्थः ।

यत्तु, 'तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्यासु तदा नाडीषु सृप्तो भवती'ति, 'ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेत' इति, 'तासु तदा भवती'ति च, 'य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेत' इति, 'सता सोम्य तदा सम्पन्न' इत्यादीनि दहरदप्तबालाकीयबालाकीयानि विषयवाक्यान्युपन्यस्य, किमेतेषां नाडीपुरीतत्परमात्मनां परस्परनिरपेक्षाणां सुषुप्तिस्थानत्वम्, उत परस्परसापेक्षतयैकस्येति संशये, परस्परनैरपेक्ष्यमयुक्तम् । तथा सति व्रीहियववद्विकल्पापत्त्या पक्षे बाधापत्तेः । नच नाडीषु सृप्तो भवति, पुरीतति शेते, य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेत इत्येकविभक्तिनिर्देशेनैकार्थत्वात् विकल्पस्योचितत्वं शङ्क्यम् । प्रासादे शेते, पर्यङ्के शेते, इत्यादौ नानार्थत्वसमुच्चययोरप्येकविभक्तिदर्शनेन हेतोः साधारणत्वात् । 'तासु तदा भवति, यदा सुप्तः स्वप्नं

रश्मिः ।

भाष्ये । इन्द्रियाणां चेति । 'मन इन्द्रियनायक'स्तत्रेति तथा । यद्वा । हृदयब्राह्मणे 'एष प्रजापतिर्यद्धृदयम्, एतद्ब्रह्मैतत्सर्वं तदेतत्त्र्यक्षरꣳ हृदय'मित्युक्त्वा 'एतत्सर्व'मिति सर्वपदार्थमाह । 'हृ इत्येकमक्षरमभिहरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद, द इत्येकमक्षरं ददत्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद, यमित्येकमक्षरमेति स्वर्गलोकं य एवं वेदे'ति । अर्थस्तु, अस्मै ब्रह्मणे स्वाश्च जीवेन्द्रियाणि अन्ये विषयाः । मर्यादामार्गीयसर्वात्मभाव उक्तः, अम्बरीषस्येव । निरोधलक्षणग्रन्थोक्तः । 'इन्द्रियाणि जुहोती'ति सामश्रुतेः । अत एवैवकारः । **भगवच्छक्त्येति** । त्रिष्वनन्तरूपभगवच्छक्त्या । अनन्तस्यानन्तानन्दरूपत्वेनानन्दस्य तमःशक्तित्वात् । 'आनन्दाच्च तम' इति सुबोधिन्या द्वितीयनवमाध्याये स्पष्टम् । **बहिरिति** । सतिसप्तम्यन्तम् । **तत्रापीति** । स्वप्नेपि स्वप्नसृष्ट्याच्छादने सति । **गाढत्वं** सम्यक्त्वम् । 'प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्त' इत्युक्तश्रुतेः । **ज्ञानरहित इति** । 'न बाह्यं किञ्चन वेद न चान्तर'मिति श्रुतेः । **क्रियाशक्त्येति** । 'सम्परिष्वक्त' इतिश्रुतेः । **भगवन्तमिति** । अकामरूपं भगवन्तम् । **प्रकृते । स्थानान्तरमिति** । नाडीस्थानम् । अन्यस्थानं स्थानान्तरम् । **उभयत्रेति** । सुषुप्त्योः । सुषुप्तिस्त्वित्यादिभाष्यार्थः स्फुटः ।

यत्त्वित्यादि । तदेतत्समीपतरवर्ति यत्र यस्मिन्काले सम्यक् अस्तः । **ताभिरिति** । नाडीभिः । **तास्विति** । नाडीषु । **दहरेति** । जलीयाः परमाणव इत्यत्रेव छः । **पक्ष इति** । नाड्यः तदभाववत्यः तच्छ्रुतेः । आत्मवत् । 'आत्मा तदभाववान् तच्छ्रुतेः नाडीव'दित्यत्र हृदये स्वप्नदर्शनाभावरूपसाध्ये पक्षे नाडीषु बाधः । पक्षे साध्याभावस्य बाधत्वात् । **नानार्थत्वेति** ।

भाष्यप्रकाशः ।

न कञ्चन पश्यति, अथास्मिन् प्राण एवैकधा भवती'ति कौशीतकिश्रुतौ प्राणाख्यस्य परमात्मनो नाडीसमुच्चयावधारणात् । यत्र पुनः केवलनाडीनामेव सुषुप्तिस्थानत्वेन श्रावणम्, तत्रापि ब्रह्मणः प्रतिषेधाभावान्नाडीद्वारेण ब्रह्मण एव स्थानत्वस्य युक्तत्वात् । नच द्वारत्वे 'नाडीषु सृप्तो भवती'ति सप्तमीविरोधः । सञ्चारस्थानत्वेन तदविरोधात् । गङ्गया सागरं गच्छतो गङ्गायां स्थितिवत् तदुपपत्तेः । तस्मान्नाडीब्रह्मणोः समुच्चयः । एवं पुरीतद्ब्रह्मणोरपि । पुरीततोपि ब्रह्मप्रक्रियायां सङ्कीर्तनात् । 'योऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेत' इति प्रकृत्य, 'पुरीतति शेत' इति कथनात् । हृदयाकाशस्य ब्रह्मत्वं तु दहराधिकरणे सिद्धम् । पुरीतत्तु हृदयवेष्टनम् । एवञ्च तद्वेष्टितो हृदयाकाशः प्राकारपरिक्षिप्तपुरवत् भवतीति हृदयाकाशे शयने पुरीततोपि समुच्चयो जात एवेति । एवञ्च श्रुतिषु स्थानत्रयकथनेपि नाडीपुरीततोर्द्वारमात्रत्वम् । ब्रह्मैव तु सुषुप्तिस्थानमित्युक्तम् ।

तत्र पुरीतत्समुच्चयं त्वनुमन्यामहे । एकवाक्यगतत्वात् । नाडीनां समुच्चयं तु न मृष्यामः । बृहदारण्यके ज्योतिर्ब्राह्मणे 'यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते, न कञ्चन स्वप्नं पश्यति, ता वा अस्यैता हिता नाम नाड्य इति, अथ यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते, न कञ्चन स्वप्नं पश्यति, तद्वा अस्यैतदात्मकाममाप्तकाममकामꣳ रूपं तद्यथा प्रियया स्त्रिये'ति नाडीपरमात्मभेदेन अथशब्दात् प्रकृतच्छेदेन च श्रुतस्य 'यत्र सुप्त'वाक्याभ्यासस्य विरोधात् । अभ्यासप्रकृतच्छेदाभ्यां सिद्धे सुषुप्तिस्थानभेदे विकल्पस्यापि प्राप्ततया दुष्टत्वाभावात् । 'ताभिः प्रत्यवसृप्ये'त्युक्ते नाडीषु सर्पण इवार्थादपि तत्प्राप्तेश्च । एवं सति कौशीतकीये 'अथास्मिन् प्राण एवे'ति वाक्येपि विकल्पार्थक एवाथशब्दो ग्राह्यः । आनन्तर्यार्थकत्वेपि पूर्वापरकालभेदस्य प्राप्तत्वेन पूर्वकालिकस्य नाडीषु सुष्वापस्याबाधात् । अपरकालिकस्य प्राण एकीभावस्यापि भगवदिच्छाकृतप्रत्यवसर्पणतः

रश्मिः ।

समुच्चयस्तु प्रासादे शेते, ततः प्रत्यवसृत्य पर्यङ्के शेत इति । एकविभक्तिः सप्तमी । हेतोः तच्छ्रुतिरूपस्य साध्याभाववत्यात्मनि सत्त्वेन साधारणत्वात् । **नाडीति** । तास्वितिपदोक्तनाडीसमुच्चयावधारणात् । **अथेत्यस्यानन्तर्यार्थत्वात्** । **यत्रेति** । 'आसु तदा नाडीषु सृप्तो भवती'त्यादौ । प्रकरणाभावादेवकार आत्मव्यवच्छेदकः । **ब्रह्मण एवेति** । एकवाक्यतासम्भवादेवकारः साक्षान्नाडीव्यवच्छेदकः । **सप्तमीति** । किन्तु नाडीभिः सृप्तो भवतीति तृतीयापत्तिरित्यर्थः । **सञ्चारेति** । समस्तो जीवो नाडीषु सञ्चरतीति तथा । **तदविरोधात्** सप्तम्यविरोधात् । **गच्छत इति** । काष्ठादेः । समुद्रे गच्छतः काष्ठादेः गङ्गायां समुद्रधारायां काष्ठादिर्गच्छतीति प्रयोगात् । **तदुपेति** । सप्तम्युपपत्तेः । **नाडीब्रह्मणोरिति** । नाड्यात्मनोः । **कथनादिति** । दहरस्य परमात्मत्वनिर्णयात् । अन्तर्हृदय आकाशो दहरः । हृदयेऽन्तराकाश इत्यन्वयः । **हृदयवेष्टनमिति**। भास्करभाष्येप्येवम् । **हृदयाकाश इति**। ब्रह्मपुरम्। तदाहुः **प्राकारेति** । प्राकारो हर्म्यं परिक्षिप्तः यत्र पुरे तद्वत् । **जात एवेति** । उक्तदृष्टान्तादेवकारः । **ब्रह्मैवेति** । नाडीपुरीततोर्व्यवच्छेदकैवकारः । **सुषुप्तिस्थानभेद इति** । नाड्यकामजीवरूपसुषुप्तिस्थानभेद इत्यर्थः । **दुष्टत्वेति** । अयमग्रे विचारयिष्यते । **ताभिरिति** । नाडीभिः सह जीवः । प्रत्यवसृप्येत्युक्ते नाडीषु सर्पणम् । पुत्रेण सह तृणं स्पृष्ट्वा गतः पितेत्यत्र पुत्रे तृणस्पर्शवत् । **अर्थादाक्षेपादपि तत्प्राप्तेर्विकल्पप्राप्तेः** । विकल्पस्तु नाडीपुरीततोः । **विकल्पार्थक एवेति** । कोशादेवकारः । नन्वष्टदोषदुष्टविकल्पार्थं विकल्पार्थत्वं न युक्तमत आहुः **आनन्तर्येति** । **पूर्वेति** । अनन्तरस्य काल-

भाष्यप्रकाशः।

सुखेन सिद्धेश्च। नच नाडीस्वापवाक्ये ब्रह्मणोऽप्रतिषेधात् प्राप्तिरिति वाच्यम्। आभ्यासिकभेदादेवार्थात् तत्प्रतिषेधसिद्धेः। अन्यथा तद्वैयर्थ्यप्रसङ्गस्य दुर्निवारत्वादिति। एवञ्च सुष्वापोत्तरकालीनस्मरणेपि कदाचित् सुखस्य स्वापविशेषणतया भानं कदाचिच्च नेत्यपि युज्यते। नच नाडीषु स्वापे प्रपञ्चदर्शनप्रसङ्गः। सुषुप्तौ कामाभावश्रावणेन मनसो लयावगमात् करणाभावेन मायिकप्रपञ्चानुत्पत्त्या बाह्यस्य च विप्रकृष्टतया करणलयेन च तदप्रसङ्गात्। अतो न दर्शनाभावार्थमपि सत्सम्पत्त्यपेक्षा। किञ्च। सूत्रकारस्यापि सुषुप्तिद्वैविध्यमेवाभिप्रेतम्। अन्यथा 'तदभाव आत्मनि तच्छ्रुते'रित्येव सूत्रयेत्। तावतैव द्वैतदर्शनाभावपाप्मसंसर्गाभावयोः सिद्ध्या नाडीचकारयोर्निर्देशस्य वैयर्थ्यात्। तेनैतत् सिद्धम्। नाडीपरिवर्तने स्वप्नदर्शनम्। तासां प्रान्तभागे पुरीतन्निकटे सुषुप्तिः। पुरीतदन्तर्हृदये आकाशे सत्सम्पत्तिरिति।

ननु भवत्वेवम्, तथापि विकल्पस्य कथमदुष्टत्वमितिचेत्। उच्यते। विकल्पे हि प्राप्तप्रामाण्यपरित्यागः, अप्राप्ताप्रामाण्यस्वीकारः, परित्यक्तप्रामाण्यस्वीकारः, स्वीकृताप्रामाण्यपरित्यागश्चेति

रश्मिः।

विशेषणत्वादिति भावः। **आभ्यासिकेति**। 'यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयत' इति वारद्वयमाह, अतो 'यत्र सुप्त' इति वाक्याभ्यासिकभेदात्। अभ्यासस्य भेदकत्वं पूर्वतन्त्रेस्ति। एवकारेण प्रकृतच्छेदयोगव्यवच्छेदः क्रियते। **तत्प्रतीति**। ब्रह्मणः 'योन्तर्हृदयाकाशस्तस्मिञ्छेत' इति श्रुत्युक्तस्य प्रतिषेधसिद्धेः। ननु नञाद्यभावात्कुतस्तत्प्रतिषेधसिद्धिः, अत उक्तं **अर्थादिति**। आक्षेपात्। ननु किमर्थं नञाद्यर्थप्रतिषेधाक्षेप इत्यतो युक्तिमाहुः **अन्यथेति**। **तद्वैयर्थ्यप्रसङ्गस्या**भ्यासिकभेदवैयर्थ्यप्रसङ्गस्य। तथाचाभ्यासिकभेदवैयर्थ्यप्रसङ्गनिवारणार्थमित्यर्थः। **सुष्वापेति**। 'सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिष'मिति स्मरणे। **कदाचिच्चेति**। सुखसहचरितदुःखाभावकालो यदि। **च्चिद्यर्थकम्**। **मनस** इति। कामरूपवृत्तिमतो मनसः। **करणाभावेनेति**। 'यथा शयानः पुरुषो मनसैवात्ममायया। सृष्ट्वा लोकं परं स्वाप्नमनुविश्यावभासत' इत्युक्तश्रीभागवतवाक्यात्। **तदप्रसङ्गात्** प्रपञ्चदर्शनाप्रसङ्गात्। **अपीति**। पूर्वं सुषुप्तौ प्रपञ्चसत्तार्थं सत्सम्पत्तिः स्वाप्ययसम्पत्तिसूत्रोपन्यासेनोक्ता। तथाच सत्सम्पत्तिश्रुत्युपन्यासो विषयश्रुत्युपन्यासे समाप्तपुनरात्तत्वदोषग्रस्त इति भावः। **एवेति**। नाडीषुपदस्य चशब्दस्य चोपादानादेवकारः। **द्वैतदर्शनेति**। तथाच भाष्यं 'नाडीषु सुप्तो भवती'त्युक्त्वा 'तन्न कश्चन पाप्मा स्पृशती'ति। ब्रह्मसम्पत्तिश्च पाप्मसंस्पर्शाभावे हेतुः समधिगतः। 'सर्वे पाप्मानो निवर्तन्ते अपहतपाप्मा ह्येष ब्रह्मलोक' इत्यादिश्रुतिभ्यः। ब्रह्मसम्पत्त्या द्वैतदर्शनाभावोपि। पाप्मसंसर्गाभावोपि विवृतः। स्वप्नदर्शनसुषुप्तिद्वयविवेकमाहुः **तेनैतदिति**। **प्रान्तभाग** इति। 'ताभिः प्रत्यवसृत्य पुरीतति शेत' इति श्रुतेः। **पुरीतन्निकट** इति। तेन 'पुरीतति शेत' इत्यत्र सामीप्ये सप्तम्युक्ता। **सति सम्पत्तिरिति**। 'आत्मनि चे'त्युक्ता सुषुप्तिरपीयम्। **कथमिति**। शाङ्करप्रश्नः। श्रुतीनां विरोधे विकल्प इति मन्यङ्गीकारात्समादधतिस्म **विकल्पे हीति**। 'नाडीषु सुप्तो भवतीति,' 'पुरीतति शेते,' 'य एषोन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेत' इति। 'एतदेकवाक्यतापन्ने नाडीपरिवर्तन' इत्याद्युक्ते वाक्ये। विकल्पे हि अष्टौ दोषाः। 'तस्मादात्मैव सुषुप्तिस्थान'मिति शङ्करभाष्ये समुच्चयोऽङ्गीकृतः, तत्र नैकोपीति तान् गणयन्तिस्मानुवादरूपात्। **प्राप्तेति**। 'इषेत्वेति शाखां छिनत्ती'त्यनेन खशयनस्य प्राप्तत्वात्। शाखा खशयेति व्याख्यानात्। **अप्राप्तेति**। वैदिकत्वेनाप्राप्तमप्रामाण्यं तस्य स्वीकारः। **परित्यक्तेति**। अर्थबोधार्थं तथा। गौणं प्रामाण्यम्। **स्वीकृतेति**। तदर्थमेव

1. सदित्यत्र रश्मौ सतीति पाठः। 2. मीमांसक।

नाम नाड्यः', 'तद्वा अस्यैतदाप्तकाम'मिति भेदेन। सुषुप्तिस्तूभयत्र। ज्ञानशक्तेः सर्वथा तिरोधानात्। तस्मात् सुषुप्तौ न प्रपञ्चसृष्टिः॥ ७॥

इति तृतीयाध्याये द्वितीयपादे द्वितीयं तदभावो नाडीष्वित्यधिकरणम्॥ २॥

अतः प्रबोधोऽस्मात्॥ ८॥ (३-२-३)

प्रबोधे सन्देहः। 'प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैवे'ति जीवसमानधर्मब्रह्म-

भाष्यप्रकाशः।

ब्रह्मवाक्यकोटौ दोषचतुष्टयम्। एवं नाडीवाक्यकोटौ दोषचतुष्टये व्रीहियववाक्यवद्योजितेऽष्टौ दोषा इति हि भवतां मतम्। तत्र प्रामाण्याप्रामाण्ययोः स्वरूपं विचारणीयम्। किं सदर्थबोधकत्वं प्रामाण्यम्, असदर्थबोधकत्वमप्रामाण्यम्, उत बोधकत्वं प्रामाण्यम्, अबोधकत्वमप्रामाण्यम्, अथवा अनुष्ठापकत्वं प्रामाण्यम्, अननुष्ठापकत्वमप्रामाण्यमिति। तत्र नाद्येन। वाक्यद्वयेनापि सदर्थबोधस्य जायमानतया तत्त्यागस्याभावेनासदर्थबोधकत्वस्य काप्यनङ्गीकारेण तत्कृतदोषाणामत्राभावात्। अत एव न द्वितीयेन। नापि तृतीयेन। वाक्यद्वयस्यापि सिद्धार्थपरतया अनुष्ठापकत्वस्याभावेन त्याज्यत्वस्य तत्रायोगात्। अननुष्ठापकत्वस्य सर्वसम्मतत्वेन विकल्पानङ्गीकर्तृमतेपि तुल्यतया तत्र पर्यनुयोगानवकाशात्। तस्मात् पूर्वोक्तमनवद्यम्॥ ७॥ **इति द्वितीयं तदभावो नाडीष्वित्यधिकरणम्॥ २॥**

अतः प्रबोधोऽस्मात्॥ ८॥ अधिकरणप्रयोजनमाहुः **प्रबोधे सन्देह इति। तथाच** तन्निरासायेदमधिकरणमित्यर्थः। विषयवाक्यमाहुः **प्रतियोनीत्यादि**।

इदं बृहदारण्यकीयज्योतिर्ब्राह्मणस्थम्। 'स वा एष एतस्मिन् सम्प्रसादे रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैवे'ति। अर्थस्तु, स प्रकृतो जीवात्मा

रश्मिः।

वेदान्ताधिकरणमालायां तु 'यदा जीवो नाडीषु शेते, तदा पुरीतद्ब्रह्मवाक्ययोः प्राप्तं प्रामाण्यं परित्यक्तं स्यात्। अप्राप्तं प्रामाण्यं चाङ्गीक्रियेत। यदा पुनः पुरीतद्ब्रह्मणोः शेते, तदा पुरीतद्ब्रह्मवाक्ययोः पूर्वत्यक्तं प्रामाण्यं स्वीक्रियेत। पूर्वस्वीकृतं चाप्रामाण्यं परित्यज्येतेति प्राप्तपरित्यागोऽप्राप्तस्वीकारस्त्यक्तस्वीकारः स्वीकृतत्यागश्चेति दोषचतुष्टयं पुरीतद्ब्रह्मवाक्यकोटौ। तथा नाडीवाक्यकोट्यामपि दोषचतुष्टये योजिते सत्यष्टौ दोषाः सम्पद्यन्त' इति। **एवमिति**। ब्रह्मवाक्योक्तप्रकारेण। **व्रीहीति**। एकपुरोडाशार्थत्वं व्रीहियवयोर्दृष्टम्, तद्वाक्ये तु 'व्रीहिभिर्यजेत यवैर्यजेते'ति च। तद्वत्सुषुप्त्यर्थत्वं ब्रह्मवाक्यनाडीवाक्ययोरिति ब्रह्मवाक्य इव नाडीवाक्ये दोषचतुष्टये योजिते भवतां शाङ्कराणां मतम्। अत्र वितण्डामाहुः **सदर्थेति**। प्रमाकरणं सदर्थबोधकं तत्त्वं प्रामाण्यमित्यर्थः। **बोधकत्वमिति**। अनधिगतार्थगन्तृत्वम्। **वाक्यद्वयेनेति**। विकल्पसङ्ग्राहकेण 'तासां प्रान्तभागे'त्याद्युक्तेन समुच्चायकसङ्ग्राहकेण। 'तस्मादात्मैव सुषुप्तिस्थान'मिति शङ्करभाष्यवाक्येन च। **कापीति**। प्रमाणलक्षणत्वेनोक्तव्याख्यातृत्वेन च कापि। **अत्रेति**। प्रामाणिकविकल्पे। अतएव काप्यनङ्गीकारादेव। **सिद्धार्थेति**। ननु साध्यार्थाग्निष्टोमवत्साध्यार्थपरतया। **तत्रेति**। अनुष्ठापकत्वाभावे। **तत्रेति**। विकल्पे। 'यत्रोभयोः समो दोषः परिहारश्च तत्समः। नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारण' इत्युक्तेः॥ ७॥ **इति द्वितीयं तदभावो नाडीष्वित्यधिकरणम्॥ २॥**

अतः प्रबोधोऽस्मात्॥ ८॥ प्रतियोनीत्यादीति। जीवसमानधर्मं ब्रह्म तस्य प्रकरणे।

प्रकरणे निरूपितम् । ततो नाडीभ्यः पुनर्हृदयदेशं गत्वा, भगवतो वा समागत्य, जागर्तीति, आहोस्विद्यत्र स्थितः, तत एव जागर्तीति ।

तत्र श्रुत्यनुरोधात् हृदयदेशमागत्य जागर्तीत्येवं प्राप्ते, उच्यते ।

अतो नाडीभ्य एव प्रबोधः । गर्तपतितस्य प्रबोधे हि ततो गमनम् । प्रतियो-

भाष्यप्रकाशः ।

वै निश्चयेन एषः स्वयंज्योतिः । एतस्मिन् सम्प्रसादे सम्यक्प्रसीदत्यस्मिन्निति सम्प्रसादः सुषुप्तिस्थानं तस्मिन् सम्प्रसादे रत्वा क्रीडित्वा सता सम्परिष्वज्य, चरित्वा 'चर गतिभक्षणयोः' तदानन्दं भुक्त्वा, दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च । चकारात् तदुभयफलभूते सुखदुःखे स्वाप्ने नाडीष्वनुभूय, प्रतिन्यायम्, आयो गमनं नितरामायो न्यायः पूर्वस्मात् गमनात् प्रातिकूल्येन गमनं प्रतिन्यायः, तद्यथा स्यात् तथा, प्रतियोनि, यतः सम्प्रसादे समागतस्तत्स्थानं योनिस्तल्लक्ष्यीकृत्य आद्रवत्यागच्छति बुद्धान्ताय जागरणायेति ।

अन्ये तु, रमणं स्वरूपानन्दानुभवः । 'आनन्दभु'गिति श्रुतेः । चरणं सुषुप्तावीश्वरसम्पत्तिः । 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवती'ति श्रुतेः । पुण्यदर्शनं त्वानन्दानुभवः । तस्य तत्फलत्वात् । सुखमहमस्वाप्समित्यनुभवात् । पापदर्शनं त्वज्ञानानुभवः । तस्य तत्फलत्वात् । न किञ्चिदवेदिषमित्यनुभवादिनेति श्रुतेरित्याहुः । तदग्रे विचारणीयम् ।

संशयाकारमाहुः तत इत्यादि । भगवतो वा समागत्येति । भगवतः सकाशात् हृदयदेशं समागत्य ।

पूर्वपक्षमाहुः तत्रेत्यादि । श्रुतौ 'चरित्वा प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्ताये'ति गमनार्थकल्यानूपन्नक्त्वाप्रत्ययेन प्रतियोन्याद्रवणात् पूर्वकाले गमनं श्राव्यते । अतस्तदनुरोधात् स्वस्थानं हृदयदेशमागत्यैव जागर्तीत्येवं प्राप्त इत्यर्थः ।

सिद्धान्तं व्याकुर्वन्ति अत इत्यादि । श्रुतौ हि प्रतिन्यायमाद्रवणमुक्तम् । तच्चागमनक्रियारूपम् । तादृशी च क्रिया न जागरणं विनोपपद्यते । अतः प्रतिकूलागमनरूपाज्जागरण-

रश्मिः ।

सुषुप्त्युत्क्रान्त्यधिकरणे स्फुटम् । न्यायशब्दं व्युत्पादयन्तिस्म आय इत्यादि । योनिर्बीजम् । गमनादिति । हृदयान्नाड्यात्मनो गमनात् । प्रातिकूल्येन नाड्यात्मभ्यां हृदये गमनम् । भगवत इति । 'आत्मनि चे'ति सूत्रांशेन भगवान् स्थानत्वेनोक्तस्तस्मात् । भाष्ये । यत्र स्थित इति । नाडीषु भगवति च । एवकारः प्रतिन्यायव्यवच्छेदकः । प्रकृते । तत्रेतिभाष्यशब्दार्थमाहुः श्रुताविति । प्रतियोनीति । यतः सम्प्रसादे समागतस्तत्स्थानं योनिस्तल्लक्षीकृत्याद्रवत्यागच्छति तस्मात्प्रतियोन्याद्रवणात् पूर्वकाले चरित्वेति गमनं विषयश्रुतौ श्राव्यते । अत इति । उक्तार्थवाचकपदघटितत्वात् । तदनुरोधाद्विषयश्रुत्यनुरोधात् । स्वस्थानं जीवस्थानम् । आगत्यैवेति । भाष्य एवकारो नास्ति, परं पूर्वपक्षिप्रौढ्योक्तः । पुरीतन्नाडीब्रह्मयोगव्यवच्छेदकः । प्रतिन्यायमिति । 'प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवती'त्यनेनोक्तम् । आगमनेति । आद्रवतीत्यस्यागच्छतीत्यर्थात् । न जागरणमिति । 'बुद्धान्ताये'त्युक्तजागरणं फलरूपप्रवर्तकं विना नोपपद्यते । 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोपि प्रवर्तते' इति वाक्यात् । अतः प्रतीति । फलस्य विवक्षणात् । प्रतिकूलागमनं हृदयागमनं तेन रूप्यते व्यवह्रियते यद्बुद्धान्तरूपं जागरणं इन्द्रियैर्विषयग्रहणं तस्मात्फललिङ्गात् । अत इत्यावर्तते । अतो नाम नाडीभ्य एव प्रबोध इत्यर्थः । एवकारो हृदययोगव्यवच्छेदकः । एवकारस्य

न्याद्रवणं तु भगवत इति । किञ्च । प्रबोधोऽस्मात् । अस्मादात्मनः सकाशादेव प्रबोधः । प्रिययेव सम्परिष्वक्तस्य बोधाभावे कथमागमनम् । अत एव सम्परिष्वक्तो निबिडनिद्रः । तस्मात् यत्रैव तिष्ठति, तत एव प्रबोध इति सिद्धम् ॥ ८ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

लिङ्गान्नाडीभ्य एव प्रबोधः । युक्तं चैतत् । गर्तपतितस्य प्रबोध एव ततो गमनं लोके यतो दृश्यते । न च 'चरित्वे'त्यस्य विरोधः । 'चर गतिभक्षणयो'रिति भक्षणार्थस्यैव तत्र ग्राह्यत्वात् । 'आनन्दभु'गिति श्रुत्या भोगस्य तत्रोक्तत्वादिति । नच तत्र प्रबुद्धोऽन्यत्र कुतो न गच्छतीति शङ्कनीयम् । श्रुत्यन्तर इन्द्रियाणां यथास्थानं विप्रतिष्ठावदत्र जीवस्य प्रतियोन्याद्रवणं भगवत एव । तस्यैव प्रेरकत्वात् । किञ्च । प्रतियोन्याद्रवणवत् प्रबोधोपि भगवद्धेतुकः । न हि स कर्मणेति वक्तुं शक्यम् । 'अनन्वागतं पुण्येनानन्वागतं पापेने'ति श्रुतेः । किञ्च । तत्र प्राज्ञेन सम्परिष्वक्तः प्रियया स्त्रियेव । न हि तादृशस्य बोधाभावे ततो निर्गत्यागमनं सम्भवति । अत एव सम्परिष्वक्तो निबिडनिद्रः । यदा हि भगवता परिष्वङ्गस्त्यज्यते, तदायं प्रबुध्यते । प्रतियोन्याद्रवति च । एवं सति तदभिप्रायाण्येव 'सत आगत्य न विदुः सत आगच्छामह' इत्यादीनि वाक्यानि । न तु स्थानान्तराभावाभिप्रायाणि । स्थानान्तरसद्भाव उपपत्तेरुक्तत्वात् । अतो यत्रैव स्वपिति, तत एव प्रबुध्यते, न तु हृदयदेशमागत्येति सिद्धम् ॥ ८ ॥

रश्मिः ।

स एवेतिसूत्रादनुकर्षात् । ननु प्रतिकूलागमनं जागरणे हेतुरुक्तः, स हृदयागमनरूपमिति सौत्रो नाडीभ्यः प्रबोधेपीत्येवकारानुकर्षो व्यर्थ इति शङ्कामपनुदन्तो गर्तेतिभाष्यं विवृण्वन्तिस्म युक्तं चेति । दृष्टान्तपूर्वकं विवृण्वन्तिस्म गर्तेति । विवशाशयस्येति विशेषणमत्र । लोके यतो दृश्यतेऽतो नाडीगर्तपतितस्य प्रबोध एव बुद्धान्तायैव ततो नाडीगर्तेभ्य एव गमनमित्यर्थः । विरोध इति । समस्तस्य गमनासम्भवादिति भावः । एवेति । गत्यर्थयोगव्यवच्छेदकः । प्रतियोन्याद्रवणमितिभाष्यं विवरीतुमाहुः नच तत्रेति । नाडीषु । अन्यत्रेति । हृदयादन्यत्र । श्रुत्यन्तर इति । सशाङ्कब्राह्मणे व्रतमीमांसायां 'वदिष्याम्यहमिति वाग्दध्रे द्रक्ष्याम्यहमिति चक्षु'रित्यादौ । यथास्थानं स्वगोलकान्यनतिक्रम्य विशेषेण प्रतिष्ठा तद्वत् अत्र सुषुप्तौ प्रतियोनिर्हृदयम् । एवेति । रत्वेति श्रुतेः । किञ्च प्रबोध इति भाष्यं विवृण्वन्तिस्म किञ्चेत्यादिना । कर्मणेति । प्रारब्धभोजकेन । अनन्विति । पुण्यपापकर्मनिषेधोऽत्र । अत आत्मनः सकाशादेव बोधः, 'आत्मनि चे'ति पूर्वसूत्रे दर्शनात् । एवकारोत्र कर्मयोगव्यवच्छेदकः । प्रिययेतिभाष्यं विवृण्वन्तिस्म किञ्च तत्रेति । अत एवेतिभाष्यं विवृण्वन्तिस्म अत एवेति । प्रतियोनीति । हृदयम् । आङ्पूर्वको द्रु गतौ धातुः । तदभीति । भगवत्परिष्वङ्गत्यागाभिप्रायाणि । इत्यादीनीति । आदिना 'अहं सर्वस्य प्रभवः' 'मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यह'मिति । 'सत आगच्छामह' इति ज्ञानेऽर्जुनस्य तं प्रति न वदेद्भगवान् । एवकारव्यवच्छेद्यमाहुः नत्विति । स्थानान्तरं भगवत्परिष्वङ्गः । उपपत्तेरिति । श्रुतार्थानुपपत्तेः पूर्वाधिकरण उक्तप्रायत्वात् । स्थानान्तराभावे श्रुतानि नाडीपुरीतद्ब्रह्महृदयान्यनुपपन्नानि भवेयुरिति । अत्रेदं बोध्यम् । 'न विदु'रित्यज्ञानं भगवत्परित्यागहेतुकम् । न तु भगवत्परिष्वङ्गाभावहेतुकमिति । तस्मादितिभाष्यं विवृण्वन्तिस्म अत इत्यादि । यत्रैवेति । नाड्यादिषु विकल्पपक्षाश्रयणात् । समुच्चयपक्षानाश्रयात् । एवकारः सुषुप्त्यधिकरणान्तरयोगव्यवच्छेदकः । एवकारव्यवच्छेद्यमाहुः नत्विति ॥ ८ ॥

१. हृदयादि ।

स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ॥ ९ ॥

किञ्चिदाशङ्क्य परिहरति । ननु प्रिययेव प्राज्ञेनात्मना परिष्वक्तस्य ब्रह्मलोकं गतस्य प्रबोधेन ज्ञाने मुक्त एव भवेत्, न तु पुनरागच्छेत्, अतो भगवदिच्छया देहनिर्वाहाय तत्स्थाने नियुक्तोऽन्य एव जीवः समायातु, अन्यतः प्रबोधे तु स एव, व्यवहारस्तु तावता सेत्स्यति, मुक्त्यर्थं प्रयत्नस्तु न कर्तव्य इत्याशङ्क्य, परिहरति तुशब्दः ।

अस्मादपि प्रबोधे स एव । कुतः । कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः । चत्वारो हेतवः । लौकिकवैदिकयोर्ज्ञानकर्मभेदात् । तत्र लौकिके कर्मणि सामिकृतकर्मणः शेषसमापनात् । न हि कश्चिदपि सुप्तप्रबुद्धः सामिकृतं न समापयतीति क्वचित् सिद्धम् । तथानुस्मृतिः । न हि पूर्वदृष्टं न स्मरतीति क्वचित् सिद्धम् । शब्दाश्च 'पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेन' 'क्वैष तदाभूत्, कुत एतदागा'दिति, तथा 'सति सम्पद्ये'त्यादयश्च । विधयश्च 'श्वोभूते ब्रह्माणं वृणीते' 'श्वोभूते शेषं समाप्नुयात्' 'एक एव यजेत' 'द्वादशरात्रीर्दीक्षितः स्या'दित्यादि, 'यः कामयेत वीरो म आजायेते'त्यादयः । भगवतैव मर्यादारक्षार्थं तथा करणात् । पूर्वपक्षयुक्तयो दुर्बलाः । तस्मात् स एव प्रतिबुध्यते ॥ ९ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ॥ ९ ॥ सूत्रमवतारयन्ति किञ्चिदित्यादि । एतेनाधिकरणान्तरत्वं निवारितम् । तुशब्दव्याख्यानमुखेन शङ्कां व्याकुर्वन्ति नन्वित्यादि । अत्र समायात्वित्यन्तमेक आक्षेपः । अन्यत इत्यादिस्त्वन्यः । तथाच लाघवात् द्वितीयः पक्ष एवादर्तव्य इति युक्तम् । किञ्च, अन्यस्मिन् जीवे तत्रागते पितृपुत्रभर्तृभार्यादिव्यवहारविघातापत्तौ स भगवता योगिप्रवेशन्यायेन सेत्स्यतीति कल्प्यम् । किञ्च । मुक्त्यर्थं यत्नस्तु न कर्तव्यः । निद्रयैव तत्सिद्धेः । तेन साधनशास्त्रवैकल्यम् । अन्यतः प्रबोधे तु न कश्चिदपि दोष इति स एवादर्तव्य इत्याशङ्क्येत्यर्थः ।

परिहारं व्याकुर्वन्ति अस्मादित्यादि, सिद्धमित्यन्तेन लौकिकं हेतुद्वयमुक्तम् । वैदिकं हेतुद्वयं व्याकुर्वन्ति शब्दाश्चेत्यादि । तथाच सौषुप्तिकसत्सम्पत्त्या मुक्तौ पुण्यपापात्मकफलाभावादुक्तवाक्यं विरुध्येत । 'क्वैष' इत्यत्र 'ण्येष' इत्यनेन सुप्तं आगतं चैकमेव परामृशति । तदपि विरुध्येत । 'सति सम्पद्ये'त्यत्रापि सर्वासां प्रजानामज्ञानं वदति । यदि ता मुक्ताः स्युः, तदा अज्ञानोक्तिरपि विरुध्येत । अत एते शब्दाः सुप्तप्रबुद्धस्यैकस्यैव ज्ञापकाः । एवं विधयोपि । ननु भवत्वेवमेकः, तथापि भगवत एव प्रबोधे मुक्त्यापत्तिः कथं परिहर्तव्येत्यत आहुः भगवतेत्यादि ।

अयमर्थः । 'नायमात्मे'ति श्रुत्या भगवज्ज्ञानं प्रति वरणमेव साधनम् । तच्च मर्यादायां साधनद्वारैवेति मर्यादारक्षार्थं भगवता बोधसमये मुक्त्यजनकस्याज्ञानकरणात् न मुक्तिरिति शेषः । 'सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामह' इत्यादिश्रुत्या तथा निश्चयात् । अतः पूर्वपक्षयुक्तीनां दुर्बलत्वात् भगवतः सकाशात् प्रबोधेपि स एव प्रबुध्यत इत्यर्थः ॥ ९ ॥

रश्मिः ।

स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ॥ ९ ॥ निवारितमिति । शङ्काव्यावर्तकत्वेन पूर्वपक्षाव्यावर्तकत्वात् । तुशब्देति । मुखमुपायः । समायात्वित्यन्तमिति । अत्र भाष्य एवकारः 'न स पुनरावर्तत' इति श्रुतेः । अन्यत इति । नाडीतः । स इत्यादि । स व्यवहारः भगवता व्यापकेन सर्वपित्रादिरूपिणा योगिप्रवेशन्यायेन राजादिव्यवहारन्यायेन । मुक्त्यर्थमिति-भाष्यं विवृण्वन्तिस्म मुक्त्यर्थमिति । निद्रयैवेति । सुषुप्तेस्तृतीयावस्थात्वेनैवकारः । तत्सिद्धेः 'स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं ही'त्याविष्कृतेन सायुज्ये मुक्तिसिद्धेः । तेनेति । अस्य साधनस्य सकलसाधारण्येन । तत्रागतजीवस्यान्यत्वेन च । स एवेति । द्वितीय एव । निर्दुष्टत्वादेवकारः । परिहारमिति । ॐमिति परिहारम् । अङ्गीकारेण परिहारस्य दृष्टत्वात् । अस्मादित्यादीति । नाडीतोस्मादात्मनोपि प्रबोधे स एव समायाति । लौकिके होलाकाद्युत्सवाख्ये कर्मणि । न स्मरतीति । अनु न स्मरतीत्यर्थः । शास्त्रक्रमेण पूर्वं कर्मोदाहृतम्, पश्चाज्ज्ञानम् । क्वैष तदेति । दृप्तबालाकिब्राह्मणस्थम् । तदेति । सुप्तकाले । 'सति सम्पद्ये'त्यादिश्रुतिः स्पष्टा । आदिशब्दार्थो व्याख्यातः । पुराणस्यापि वेदत्वात् । एक एवेति । द्वितीयादिजीवपत्न्यृत्विग्योगव्यवच्छेदकः । मे इति । मत्तः । वैदिकज्ञानकर्मणोः सिद्धार्थमाहुः तथाचेति । मुक्ताविति । अद्वैतरूपायाम् । पुण्यपापाभ्यां कर्मभ्यां आत्मा स्वरूपं यस्य मुक्तिरूपफलस्य तदभावात् । 'पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैती'ति श्रुतेः । उक्तवाक्यं पुण्यपापरूपसाधनसत्ताया मुक्तौ बाधकं वाक्यम् । तदन्यजीवपक्षे विरुध्येतेत्यर्थः । आगतमिति । हृदयान्नाडीष्वागतं जीवम् । एकमेवेति । एष इत्येकवचनादेवकारो द्वितीयादिजीवयोगव्यवच्छेदकः । तदपि एकत्वमपि । ता इति । प्रजाः । एत इति । 'पुण्येन' 'पापेन' 'एषः' 'न विदु'रित्यादिशब्दाः । एकस्यैवेति । द्वितीयादिजीवयोगव्यवच्छेदकैवकारः । एवमिति । वृणीतेत्येकवचनात् । समाप्नुयादित्येकवचनात् । 'एक एवे'ति सावधारणात् । 'द्वादशरात्री'रित्यत्यन्तसंयोगे द्वितीया । 'दीक्षित' इत्येकवचनाच्च । एवमग्रेपि । एवं विधयोपि सुप्तप्रबुद्धस्यैकस्यैव ज्ञापका बोध्याः । एक इति । नान्यः । भगवत एवेति । पञ्चम्यन्तं पदम् । एवकारो नाडीयोगव्यवच्छेदकः । मर्यादापदेन मर्यादामार्गं गृहीत्वा वरणशब्देन स्वकीयेन स्वीकारं गृहीत्वा व्याचक्रुः अयमिति । भगवज्ज्ञानमिति । स्मार्तः प्रयोगः । गीतायां तथादर्शनात् । श्रौतवरणपदार्थः । लभ्यः प्राप्तव्यः । सा च वरणव्यापारज्ञानमन्तरा न भवतीति । एवेति । ज्ञानयोगव्यवच्छेदकः । ज्ञाने सति वरणेन व्यापारेण लभ्य इत्यस्य सुवचत्वात् । एवेति । भक्तिहेतुनिर्णयग्रन्थोक्तपुष्टिमार्गीयकेवलानुग्रहयोगव्यवच्छेदकः । अत्र साधनं मुक्त्यजनकस्याज्ञानम् । तेन सुषुप्तिमर्यादारक्षार्थम् । भगवतेति । अत्र भाष्ये एवकारः स इच्छायोगव्यवच्छेदकः । भगवति सतीच्छाऽप्रयोजिकेति ज्ञापकः । नाडीयोगव्यवच्छेदको वा । इत्यादीति । आदिना 'इमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विदन्तीति' 'न विदु'रिति निश्चयादिति । न विदुरितिशब्दाभ्यां तथा । पूर्वपक्षेतिभाष्यं विवृण्वन्तिस्म अत इत्यादि । 'व्यवहारस्त्वि'त्यादिभाष्योक्तानाम् । प्रबोधेपीति । नाडीप्रबोधसमुच्चायकोपिः । स एवेति । नान्यः ॥ ९ ॥

१. सुप्तप्रतिबुद्ध इति पाठः ।

मुग्धेऽर्धसम्पत्तिः परिशेषात् ॥ १० ॥

किञ्चिदाशङ्क्य परिहरति । ननु यत्र कर्मानुस्मृतयो न सन्ति, तत्रान्यो भविष्यति, कचिन्मूर्च्छादिविशेषे सर्वस्मृतिनाशेन मुग्धभावदर्शनात्, तत्र यथा लौकिकवैदिकव्यवहाराः, तथान्यत्रापि भविष्यन्ति, अनुसरणादयश्च बुद्धिवृत्तयः, गङ्गाप्रवाहजलस्य गङ्गावत्, य एव चिदंशस्तत्रायाति, स एव तथा भवतु, किं स एवेति निर्बन्धेनेत्याशङ्क्य परिहरति ।

भाष्यप्रकाशः ।

मुग्धेऽर्धसम्पत्तिः परिशेषात् ॥ १० ॥ सूत्रमवतारयन्ति किञ्चिदित्यादि । एतदेव विभजन्ते नन्वित्यादि । यत्रैते हेतवः सन्ति, तत्र स एव भवतु । यत्र पुनरैक्यसाधका एते हेतवो न सन्ति, यथा मूर्च्छाविशेषनिवृत्त्यनन्तरमतिमुग्धे अमरुनामके राजनि । तद्देहे शङ्कराचार्यजीवप्रवेशस्य लोके प्रसिद्धेः । अतस्तादृशे मुग्धे यथा लौकिकवैदिकव्यवहाराः, तथा सौषुप्तिकेऽप्यन्यजीवे भविष्यन्ति । किञ्च । अनुस्मृत्यादयो बुद्धेर्वृत्तयः, ता जाग्रत्यपि नाना भवन्ति । अतो गङ्गाप्रवाहे पतितस्य जलान्तरस्यापि यथा गङ्गावत् व्यवहारः, तथा य एव चिदंशस्तस्मिन् बुद्धिवृत्तिप्रवाह आयाति, स एव पूर्वकर्मसमापनकर्ता भवतु । एवं शब्दा विषयश्च बुद्ध्यैक्यमादायैव नेतव्या इति लौकिकवैदिकव्यवहारसिद्धौ किं स एव समायातीति निर्बन्धेनेत्याशङ्क्य परिहरतीत्यर्थः ।

परिहारं व्याकुर्वन्ति मुग्ध इत्यादि । मूर्च्छाद्यनन्तरं जीवतो मुग्धभावे अर्धसम्पत्तिः तत्तदितरानिश्चायिका साधारण्येव बुद्धिर्विचारकस्य भवति, न सर्वा, नान्यतरनिश्चायिकेत्यर्थः ।

रश्मिः ।

मुग्धेऽर्धसम्पत्तिः परिशेषात् ॥ १० ॥ एते हेतव इति । 'अनुसरणादयश्च बुद्धिवृत्तय' इति भाष्यात् । अन्यजीव इति । 'ननु म्रियेयेवे'ति भाष्योक्ते । न सन्तीति । 'तत्रान्यो भविष्यती'तिभाष्यमत्र ज्ञेयम् । दृष्टान्तमुखेन कचिन्मूर्च्छादीतिभाष्यार्थमाहुः यथा मूर्च्छेति । मूर्च्छाविशेषो मरणमूर्च्छाभिन्नः । अतिमुग्धे इति । एकदेशविकृतिन्यायेन भाष्ये मुग्धशब्द इत्याशयः । भाष्ये मूर्च्छादीत्यत्रादिशब्देनाघातः । राजनीति । सर्वस्मृतिनाशेन मुग्धभावदर्शनादिति भाष्यं योजनीयम् । सर्वस्मृतिनाशो 'मेनेऽसन्तमिवात्मान'मिति वाक्योक्त इव । अत्र हेतुः तद्देह इत्यादिः । तत्र यथेतिभाष्यं विवृण्वन्तिस्म अतस्तादृश इति । तथान्यत्रापीति भाष्यविवरणं तथा सौषुप्तिकेत्यादि । अन्वित्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म किञ्चेति । 'अनुसरणादय' इत्युक्ते शाङ्करोक्तोपाधिबुद्धिस्मरणमाकस्मिकं स्यात्तदर्थं लाघवाय सौत्रानुस्मृतिशब्दपुरःसरं व्याकुर्वन्तिस्म अनुस्मृत्यादय इति । 'बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यपरोपि दृष्ट' इति श्रुतेर्जीवोपाधिबुद्धेर्वृत्तयः । आदिना पूर्वदृष्टस्मरणानुव्यवसायस्मृतस्मरणे । य एवेति । अन्ययोगव्यवच्छेदकः । बुद्ध्यैक्यमिति । बुद्ध्यैक्यमेवादाय । जीवैक्ययोगव्यवच्छेदकैवकारः । स एवेति । अन्ययोगव्यवच्छेदक एवेति । नान्यः समायातीति । गङ्गेत्यादिभाष्यस्य गङ्गाप्रवहणजले प्रवहणक्रिययैक्यप्राप्ते जले । कर्मादीनां सम्बन्धसामान्यविवक्षायां षष्ठी । गङ्गाम्बुवपुस्तद्वदित्यप्यर्थः । मूर्च्छादीति । आदिनाघात इत्युक्तम् । तत्तदिति । तत्तत् च यत् इतरत् तत्तदितरत् । कर्मधारयः । तस्यानिश्चायिका । साधारण्येव, नतु तत्तद्विषयिकाऽसाधारणीत्येवकारार्थः । सापि विचारकस्य, अविचारकस्य तु राजामरुवत्सर्वापि । नान्यतरेति । तयोस्तयोः संशयविषययोरन्यतरस्य निश्चायिका । ततश्च तयोः संशायिकेति सर्वेत्यु-

मुग्धे मुग्धभावे अर्धसम्पत्तिरेव, न सर्वा । नहि मुग्धस्य यज्ञादावधिकारोऽस्ति । पूर्वप्रवृत्तानि तु जीवनाधिकारात् क्रियन्ते । लौकिकव्यवहारोपि नापूर्वः सिध्यति । पूर्वोक्तहेतुसद्भावे तु न कोपि दोषः । अतो मुग्धे अर्धसम्पत्तिः पूर्वैव, नोत्तरा । कुत एतत् । परिशेषात् । स एव वा, न वेति निश्चयप्रमाणानामभा-

भाष्यप्रकाशः ।

कथमर्धेत्याकाङ्क्षायामेतदेव व्युत्पादयन्ति न हीत्यादि । मुग्धस्येति । मूर्च्छोपरतावपि निवृत्तपूर्वसंस्कारस्य ।

अयमर्थः । शास्त्रार्थवत्त्वाधिकरणे कर्तृत्वं जीवगतमेव, न तूपाधिगतमिति स्थितम् । अतः शब्दा विषयश्च जीवमेव विषयीकुर्वन्ति । तत्र 'अर्थी समर्थो विद्वा'नित्यादिनोक्तो यो यज्ञादावधिकारः, स मुग्धस्य तस्यापि नास्ति, अर्थित्वाद्यभावात्, अतोऽपूर्वाणि न क्रियन्ते । पूर्वप्रवृत्तानि त्वग्निहोत्रादीनि जीवनाधिकारात् क्रियन्ते । एवं लौकिकव्यवहारोपि पूर्व एव निर्वहति, नापूर्वः कोपि सिध्यति । असिद्धे च तस्मिंस्तत्र स वा, अन्यो वेति निर्णेतुं न शक्यते । लोके अमरुशरीरे अन्यस्यैव, ब्रह्मवैवर्तब्रह्मखण्ड उपबर्हणगन्धर्वशरीरे तस्यैव प्रवेशस्मरणात् । वसिष्ठोपदिष्टविस्मृतमन्त्रपूजादेस्तत्पत्न्या बोधनेनातिमुग्धताया अपि स्मारणाच्च । अतो यत्र मुग्धभावानन्तरं कर्मानुस्मृत्यादिहेतूनां सद्भावः, तदा तु स एव तत्र [illegible] इति न कोपि शब्दादिविरोधदोषः । यत्र पुनरनुस्मृत्याद्यभावः, तत्र, अत उक्तदोषात् हेतूनां पूर्वैव संपत्तिः, नोत्तरेत्यर्धैव विचारकस्य बुद्धिरित्यर्थः । अत्र पृच्छति कुत इत्यादि । एतत् अर्धमपि कुत इत्यर्थः । तत्रार्धसत्तायां हेतुं विवृण्वन्ति स एव वा न वेत्यादि । प्रसक्तप्रतिषेधे यः प्रसक्तस्तदप्रतियोगी स परिशेषः ।

रश्मिः ।

च्यते । शास्त्रार्थेति । गताध्यायेऽस्ति । एवेति । उपाधिव्यवच्छेदकः । तदेवाहुः नत्विति । जीवमेवेति । न तूपाधिम् । उक्त इति । कचिच्छास्त्रे उक्तः । तस्यापीति । विचारकस्यापि । पूर्वेतिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म पूर्वप्रवृत्तानीति । जीवनेति । 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोती'ति श्रुत्या । लौकिकेतिभाष्यं विवृण्वन्ति एवं लौकिकेति । पूर्व एवेति । अपूर्वयोगव्यवच्छेदकः । सिध्यतीति । पूर्वकर्मवदपूर्वकर्मणि विध्यभावान्न सिध्यति । तस्यैवेति । गन्धर्वस्य । एवकारेण नान्यस्य । वसिष्ठेति । गन्धर्वस्य । पूर्वोक्तेतिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म अतो यत्रेति । स एवेति । हेतुसत्त्वे साध्यसत्त्वनियमादेवकारः । न कोपीति । साधारण्यादिहेत्वाभासरूपोपि । शब्दादिसहानवस्थानलक्षणविरोधरूपो दोषः । अत इतिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म यत्र पुनरिति । गन्धर्वे । उक्तेति । शब्दादिविरोधदोषात् । पूर्वैवेति । कर्मरूपा । एवकारः उत्तरानुस्मृत्यादियोगव्यवच्छेदकः । तेनार्धा कर्मसम्पत्तिः । नोत्तरेति । अनुस्मृतिशब्दविधिरूपा । नेत्येवमेवकारव्यवच्छेद्योत्तरा सम्पत्तिरुक्ता । तेनार्धसम्पत्तिरंशसंपत्तिः । अर्धसम्पत्तित्वेनार्धसम्पत्तिस्वीकारः । अर्धमपीति । अपिनांशरूपं गौणार्धम् । अर्धसत्तायामिति । गौणमुख्यार्धसत्तायाम् । हेतुं विशेषम् । स वान्यो वेत्युक्ते संशय एवकारघटितत्वे प्रसभिन्नेत्याशयेन विवृण्वन्ति स्म [1]प्रस्तुते ति । प्रस्तुतं पूर्वसूत्र एक्यं हेतुचतुष्टयकं तस्य प्रतिषेधः नवेति द्वितीयकोट्युक्तः । तस्मिन् सति यः प्रसक्तोऽभावः तत्प्रतियोगिहेतुचतुष्टयकमैक्यम् । तदप्रतियोगी

1. प्रसक्तेत्यत्र प्रस्तुतेति रश्मिपाठः ।

वाद्‌र्थात् सन्देहोऽवशिष्यते । तस्मात् सन्देहान्मुग्धे अर्धप्रतिपत्तिः ।

भाष्यप्रकाशः ।

प्रकृते च स एवायं न वेति सन्देहे एकतरनिश्चयजनकप्रमाणानामभावात् सन्देह एवार्थाभिषेधाप्रतियोगित्वेनावशिष्यते । अतः स एव परिशेष इत्यर्थः । सिद्धमाहुः तस्मादित्यादि । उक्तविधात् परिशेषरूपात्सन्देहान्मुग्धेऽर्धप्रतिपत्तिरर्धं ज्ञानं विचारकस्य, तस्मादेव पूर्वो संपत्तिः, न तु निश्चयात् । अतो मुग्धदृष्टान्तेन न सौषुप्तिकसिद्धान्तभङ्ग इत्यर्थः । किञ्च, अत्र प्रतिपत्त्यादिपदमनुक्त्वा यत् संपत्तिपदमुक्तम्, तेन मुग्धे मूर्च्छितेऽर्धसंपत्तिः । यथा नाडीषु सतो नैकट्यात् दुःखाभावमात्ररूपार्धसंपत्तिः, तथेति बोध्यते । तेन कालीयदमनस्थले मूर्च्छितस्यार्धसंपत्त्या इन्द्रियाणां प्राणानां च पुनरागमनं यदुक्तम्, तदपि न विरुध्यत इति बोधितम् । अनुस्मृत्या च स एव जीव इत्यपि । अविचारस्तु जीवावस्थाभावत्वादेवेति च । एवमत्र प्रासङ्गिकपरिहारेण सुषुप्तेः प्रबुद्धः स एव, न त्वन्य इति निर्णीतम् ।

अन्ये तु । अस्मिन् सूत्रे मुसलाद्यभिघातजन्यां मूर्च्छां विचारयन्तो, 'जाग्रत्स्वप्नः सुषुप्त'मिति तिस्रोऽवस्था बृहदारण्यके जीवस्योक्ताः, ताः पूर्वं विचारिताः, उत्क्रान्तिश्चतुर्थी, साग्रे विचारयिष्यते, इयं तु न जाग्रत्स्वप्नयोरन्तर्भवति, ज्ञानाभावात्, नापि सुषुप्तौ, निमित्तभेदादाकारभेदाच्च, नापि मरणे, प्राणोष्मणोरुपलम्भात्, अतः परिशेषादियं पञ्चमीत्याहुः ।

रश्मिः ।

स एव वा नवेति सन्देहः स परिशेष इत्यर्थः । **सन्देह इति** । प्रत्यभिज्ञाविषयविषयके सन्देहे द्वितीयकोटिसहिते । कोट्योरेकतरनिश्चये प्रमाणानां शब्दयोगिप्रत्यक्षानुमानानामभावात् । **सन्देह एवेति** । एकतरयोगव्यवच्छेदकैवकारः । **स एवेति** । सन्देहः । एवकारः पूर्ववत् । **अर्धं ज्ञानमिति** । सन्देहार्धं स एवेति ज्ञानम् । **तस्मादेव** अर्धज्ञानात् । **एवेति** । कर्मयोगव्यवच्छेदकः । गौणत्वात् । किञ्च, ननु स एवेत्येकविषयकान्निश्चयात् । पूर्वोत्तरीयभावाभावात् । **अत इति** । आभ्यां सन्देहात् परिशेषरूपात् निश्चयाभावाच्चेत्यर्थः । **मुग्धेति** । सुषुप्तिः स एवेत्यैक्यवती कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः सैवेयं दीपमालिकेतिवत् । अस्य सौषुप्तिकसिद्धान्तस्य । मुग्धदृष्टान्तेन सुषुप्तिः न स एवेत्यैक्यवती । परिशेषात् । मुग्धवदिति सत्प्रतिपक्षाद्भङ्गो नेत्यर्थः । **किञ्च, अत्रेति** । सूत्रे । **तेनेति** । सत्स्मारकेण सम्पत्तिशब्देन । 'सता सौम्य तदा संपन्नो भवती'त्यत्र सत्सम्पत्तिरित्यत्र च सम्बन्धावधारणादेकसम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिस्मारकमिति सत्स्मारकत्वम् । हेतुचतुष्टये कर्मरूपार्धसम्पत्तिः स एवेत्यर्धसम्पत्तिः सन्देहे । मोक्षेऽर्धसम्पत्तिं दृष्टान्तेनाहुः **यथेति** । **दुःखेति** । 'दुःखाभावः सुखं चैव पुरुषार्थद्वयं मत'मिति मोक्षेऽर्धसम्पत्तिर्दुःखाभावरूपा । असौत्री नात्र दार्ष्टान्तिके सन्देग्धव्या । **मूर्च्छितस्येति** । नन्दादिषु यस्यकस्यचिन्मुग्धस्य त्रिविधार्धसम्पत्तिः । **यदुक्तमिति** । श्रीभागवते यदुक्तम् । ननु नन्दादीनां गर्गोपदिष्टानां कुतो न 'नारायणसमो गुणै'रित्यस्य विचारो मोहजनक इत्याशङ्क्याहुः **अविचार इति** । विचारस्य न जीवावस्थात्वम् । प्रकरणं तु जीवावस्थानामिति भावः । एवकारो मोहयोगव्यवच्छेदकः । **अत्रेति** । सूत्रद्वये । प्रासङ्गिक आशङ्काविषयस्तस्य परिहारेण । **स एवेति** । उक्तद्वितीयकोटिकः । **नत्वन्य इति** । प्रथमकोटिको नेत्यर्थः । **निमित्तेति** । मूर्च्छाया मुशलाद्यभिघातो निमित्तम् । सुषुप्तौ तु तमः । 'न किञ्चिदवेदिष'मिति तमःकार्याज्ञानकथनात् । **इति** भेदात् । **उपेति** । मूर्च्छायां

न तत्र प्राणायनविघातकृता मूर्च्छा विचार्यते । तस्याः प्राणधर्मत्वात् बाल्यं शरीरधर्मः । व्यर्थश्च विचारः । जीवावस्था एव हि विचार्यन्ते । केवल- वादस्तु न ब्रह्मवादः । तस्मादेक एव जीवः स्वप्नादिदोषसम्बन्धरहितस्ताद्

भाष्यप्रकाशः ।

तत् दूषयन्ति न तत्रेत्यादि । तत्रावस्थासु इन्द्रियादिस्थानभूतगोलकाभिघातकृता तु न विचार्यते, तस्याः प्राणानां स्वस्थानपरित्यागेन जायमानतया प्राणधर्मत्वात्, अतो यथा शरीरधर्मो न विचार्यः, तथेयमपि । किञ्च, अयं व्यर्थो विचारः । यथा भवन्मते नाड्यः पु सुषुप्तिस्थानमिति विज्ञानेन न किञ्चित्प्रयोजनम्, तथैतज्ज्ञानेनापि न किञ्चित् प्रयोजनम् ।

यत् पुनर्भामत्याम्, एतस्या अवस्थान्तरत्वे तत्प्रविलयाय यत्नान्तरमास्थेयमित्येतद्वि योजनमुक्तम् । तदपि तदा युज्येत, यदि सूत्राणि संसारव्यवहाराय प्रवृत्तानि स्युः । आराज्ञ योगस्तु शरीरारोग्यस्याप्यस्तीति वयसः स्थापनमपि सूत्रे विचारयेत् । अतो न किञ्चिदेतत्

नच जीवस्य केवलं साक्षित्वात् सर्वा अप्यवस्थास्तदुपाधीनामेवेति प्राणावस्थारूपाया अपि विचारे को दोष इति वाच्यम् । यतः केवलसाक्षिवादो न ब्रह्मवादः । 'सुषुप्त्युत्क्रान्त्यं ने'त्यत्र सम्यङ्निवारितत्वात् । अतोऽस्या जीवावस्थात्वाभावाद्व्यर्थैवैतद्विचार इत्यस्य सुषुप्त्यधिकरणशेषत्वमेव युक्तमित्यर्थः ।

भास्कराचार्यैस्तु केवलसाक्षिवादेऽन्यद्दूषणमुक्तम् । येषामीश्वर एव साक्षात् संस दर्शनम्, तेषां न पूर्वपक्षोऽवकल्पते, न सिद्धान्त इति । तथाच 'स एव त्वि'ति सूत्रवैयर्थ्य इति तेषामाशयः ।

सिद्धमाहुः तस्मादित्यादि । यस्मादस्मिन्नधिकरणे यः सुषुप्तो भवति, स एव प्रबुध्यत सिद्धम्, पूर्वाधिकरणे च स्वप्नादेर्मिथ्यात्वम्, पूर्वपादे च योग्यशरीरावाप्तिप्रकारः सिद्धः, तस एवेत्यादिना यदुक्तम्, तत् सिद्धमित्यर्थः ।

भिक्षुस्तु । एतां मूर्च्छां सुषुप्तिविशेषत्वेनाङ्गीकृत्य, मुग्धे अस्पष्टज्ञाने पुरुषे अर्धसंपत्ति

रश्मिः ।

तथा । **न तत्रेत्यादीति** । नत्वत्रेत्यपि कचिद्भाष्यपुस्तके पाठः । **तस्या इति** भाष्यं विवृण्वन्ति **तस्या इत्यादि** । मूर्च्छायाः प्राणपरित्यागेनेत्याद्यग्रे स्पष्टम् । यथेतिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म **अतो य** व्यर्थ इतिभाष्यं विवृण्वन्तिस्म **किञ्चेति** । इत्येतदिति । इत्येतज्ज्ञानं विचारप्रयोजनम् । आ दिति । संसारव्यवहाराय प्रवृत्तानीत्यङ्गीकार **आराज्ज्ञानोपयोगः** दूरज्ञानोपयोगः । **शरीरे**ति वयसः स्थापनस्य । अतो न किञ्चिदेतत् । किन्तु जीवावस्था एव विचार्यन्त इति । एवकारेण प्र धर्मयोगव्यवच्छेदः क्रियते । **केवलेति** भाष्यं विवरीतुमा॒ ॑. चेति । एवेति । साक्षियोगव्यवच्छेदक विवृण्वन्तिस्म **यतः केवलेति** । **सुषुप्त्यधीति** । तव मते तथा । **एवेति** । अवस्थात्रयप्रसिद्ध तुरीयाकाङ्क्षायां चतुर्थीति, नतु पञ्चमीत्येवकारः । **ईश्वर एवेति** । अवधारणविषय ईश्वरः । **साक्षादि** भिन्नजीवः, न संसारी । **न पूर्वपक्ष इति** । स एवान्यो वा प्रतिबुध्यत इत्यनियमरूपः पूर्वपक्षो तथा स एवेति नियमरूपसिद्धान्तो न । पूर्वपक्षस्यान्यो वेति भेदघटितत्वात् । सिद्धान्ते एवेत्यत्र भेदघटितान्ययोगव्यवच्छेदकैवकारघटितत्वादवकल्पत इत्यर्थः । **तथाचेति** । स एवेतिसू विषये भास्करभाष्ये च । **तेषामिति** । भास्कराचार्याणाम् । एक एवेति । भाष्येण । **भिक्षुरिति** भगवान् भिक्षुः । **अर्धसंपत्तिरूपेति** । सुखसहमस्वाप्समित्यर्धसम्पत्तिरूपा इयमेव अस्पष्टज्ञानम्

युक्तो भगवज्ज्ञानरहितो ज्ञानाधिकारीति सिद्धम् ॥ १० ॥

इति तृतीयाध्याये द्वितीयपादे तृतीयमतः प्रबोध इत्यधिकरणम् ॥ ३ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

सुषुप्तिर्भवति, यथा संप्रज्ञातासंप्रज्ञातभेदेन योगो द्विविधो भवति, तथा सुषुप्तिरपीति । इमां च ब्रह्मण्यर्धसंपत्तिरूपां सुषुप्तिमधिकृत्य, 'आनन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञः' 'जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादिप्रपञ्चं यत् प्रकाशते' इत्यादिश्रुतयः प्रवृत्ता इत्याह ।

तन्न । श्रुतीनां या प्रवृत्तिः, सा नाडीषु सुषुप्तिमादायाप्युपपद्यमाना न मोहावस्थामपेक्षत इति न श्रुतिभ्यस्तत्रान्तर्भावः शक्यवचनः । सुखदुःखमोहानुस्मृतीनां रोमहर्षवेपथुवैकृत्यादीनां च दर्शनेन सुषुप्तेः सकाशाद्भेदस्य स्वयमेवाङ्गीकारात् तस्याः सुषुप्तावन्तर्भावेपि हेत्वभावः । नचायोगिनां जीवद्दशायां बृहदारण्यकेऽवस्थात्रयस्यैवोक्तत्वाज्जाग्रत्स्वप्नयोर्वैलक्षण्ये परिशेषात् सुषुप्तावन्तर्भाव इति युक्तम् । परिशेषस्य मरणार्धसंपत्तावपि तौल्यात् । नच पुनरुत्थानाच्च मरणेऽन्तर्भाव इति वाच्यम् । नामभ्रान्त्या यमदूतनीतानामपि पुनरुत्थानात् । षष्ठस्कन्धे चित्रकेतुसुतस्य पुराणान्तरेषु सावित्रीपत्युः सत्यवतश्च पुनरुत्थानकथनाच्च ।

अतो मरणं सर्वप्राणदेहसंबन्धोपरतिः, मूर्च्छा तु सूक्ष्मप्राणदेहसंबन्धावस्थितिरिति रामानुजाचार्योक्तमेवात्र युक्तम् । परमेतद्विचारस्यात्र प्रयोजनं तैरपि नोक्तम् ।

माध्वास्तु भिक्षुवदेवाङ्गीकुर्वन्ति ॥ १० ॥ इति तृतीयमतः प्रबोध इत्यधिकरणम् ॥ ३ ॥

रश्मिः ।

सम्प्रज्ञातेति । सबीजनिर्बीजसमाधिः । 'परो हि योगो मनसः समाधि'रिति वाक्यात् । तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पे संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः । **तत्रेति** । समापत्त्योर्मध्ये । स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्केति तयोर्लक्षणे । **इमामिति** । सम्प्रज्ञातसमाधिवदस्पष्टज्ञानरूपाम् । **आनन्दभुगिति** । सुखमहमस्वाप्समित्यर्थे सुखत्वेनानन्दभुक् मनोबुद्धिचेतस्सु सुषुप्तिश्चेतोमुखः चेतउपाया चेतःकरणा । प्राज्ञस्तु सुषुप्तिसाक्षी । **यदिति** । यदव्ययं प्रकाशते । अत्र यदव्ययं प्राज्ञः । **इत्यादीति** । आदिना 'यत्र न कंचन कामं कामयते न स्वप्नं पश्यती'ति । वितण्डां वारयन्ति स्म **न मोहेति** । मूर्च्छावस्थां नापेक्षते । **तत्रान्तरिति** । अवस्थात्रये मूर्च्छान्तर्भावः । **रोमेति** । आदिना स्वेदः । **स्वयमिति** । भगवता भिक्षुणैव । नान्येन युक्तिं सहपक्षकेण । **तस्या** मूर्च्छायाः । **एवेति** । अन्यावस्थाव्यवच्छेदकः । **मूर्च्छा** सुषुप्त्यन्तर्भूता । अवस्थात्रयबोधकबृहदारण्यकात् । जाग्रत्स्वप्नवैलक्षण्यपरिशेषवत् इत्यनुमानमाहुः **नचायोगिनामिति** । अयं हेतुः हेतुतावच्छेदकलाघवे उक्तो हेतुः । **परिशेषादिति** । शङ्कराचार्यजाग्रत्स्वप्नवदिति स्फुटम् । अतः सन्देहात् सुषुप्तौ स्वप्नवजाग्रतोप्यन्तर्भावः । अयं दृष्टान्तः । **सुषुप्तावित्यादिसाध्यम्** । स्मरणादिति सौत्रात्स्मरणात्प्रमाणात् संशयार्धसम्पत्तावपि । **तौल्यादिति** । एककोटिकस्य । एवं कृते मूर्च्छाया मरणेन्तर्भावः वैद्यके प्रसिद्धः । 'मूर्च्छायां चतस्रो गुटिकाः संजीविन्या देया' इति । जीवनसंभावनाकर्त्री संजीवनीति । तत्र **शङ्कते न चेति** । **यमेति** । नृगाजामिलप्रभृतीनाम् । **पुनरुत्थानेति** । मृतस्य । **एवात्रेति** । मूर्च्छाविषयेऽन्ययोगव्यवच्छेदः क्रियते । रामानुजाचार्यवचनात् । तद्युक्तम् । **एवेति** । अन्यप्रकारयोगव्यवच्छेदकः ॥ १० ॥ **इति तृतीयमतः प्रबोध इत्यधिकरणम् ॥ ३ ॥**

न स्थानतोपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि ॥ ११ ॥ (३. २. ४.)

इदानीं विषयनिर्धारार्थं ब्रह्मस्वरूपं विचार्यते । तत्र प्रथममन्योन्यविरुद्धवाक्यानां निर्णयः क्रियते । तदर्थमेतावत् सिद्धम् । समन्वयाविरोधाभ्यामेकमेव ब्रह्म प्रतिपाद्यत इति । तत्र यथा कार्यविरोधः परिहृतः, एवं ब्रह्मधर्मविरोधोपि परिहरणीयः । अन्यथा अबोधकता स्यात् । तत्र स्वगतधर्माणामविरुद्धानामग्रिमपादे विचारः । जडजीवधर्मत्वेन प्रतीतानामत्र विचारः क्रियते ।

भाष्यप्रकाशः ।

न स्थानतोपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि ॥११॥ प्रस्तूयमानस्य ग्रन्थस्य सङ्गतिं वदन्तः प्रयोजनमाहुः इदानीमित्यादि । ज्ञानाधिकारिविचारोत्तरं ज्ञानविषयनिर्धारो युक्त इति तदर्थमवसरसङ्गत्या ब्रह्मणो विवक्षितज्ञानविषयस्य स्वरूपं पादशेषेणाग्रिमपादेन च विचार्यत इत्यर्थः । एतेन विचारेणोपनिषदां ब्रह्मबोधकताप्रकारो ज्ञातो भविष्यतीति तदर्थोऽयं विचार इति बोधितम् । नन्वस्मिन्नधिकरणे वाक्यविचारो दृश्यते, न तु स्वरूपस्येत्याशङ्क्य एतदधिकरणप्रयोजनमाहुः तत्र प्रथममित्यादि । प्रथममिति । स्वरूपविचारात् पूर्वम् । ननु ब्रह्मस्वरूपनिर्णयः प्रथमाध्याये कृतः, विरुद्धवाक्यनिर्णयश्च द्वितीयाध्याय इति किं पुनस्तन्निर्धारणादिनेत्यत आहुः तदर्थमित्यादि । तदर्थमिति । स्वरूपनिर्धारार्थम् । तथाच कार्यमन्यस्य न भवति, किन्तु सर्वं ब्रह्मण एव कार्यमिति तत्र निर्धारात् सर्वत्र वेदान्तेष्वेकमेव ब्रह्म प्रतिपाद्यत इत्येतावत् सिद्धम् । द्वितीयोक्तो विरोधपरिहारोपि तद्विषयनिर्धारार्थत्वेनैव फलितः, न तु ब्रह्मस्वरूपनिर्धारार्थत्वेन, ब्रह्मधर्मविरोधस्यापरिहृतत्वात् । अतस्तत्र यथा कार्ये अन्यजन्यत्वकृतो विरोधः कारणैक्यनिर्धारार्थं परिहृतः, एवं कारणभूतब्रह्मस्वरूपनिर्धारार्थं ब्रह्मधर्मविरोधोपि परिहरणीयः । अन्यथा सधर्मकं निर्धर्मकं वा, जीववत् सदोषं वा, यावद्दोषरहितं वेत्यादिसन्देहानपायादबोधकता वाक्यानां स्यात् । अतस्तन्निवृत्त्यर्थमिदं निर्धारणमित्यर्थः ।

एवं विचारावश्यकत्वं प्रतिपाद्य तत्रावान्तरविषयं विभजन्ते तत्र स्वगतेत्यादि । अविरुद्धानामिति । परस्परविरुद्धत्वेपि भगवदीयत्वेन प्रतीततया स्वरूपाविरुद्धानाम् ।

रश्मिः ।

न स्थानतोपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि ॥ ११ ॥ **अवसरेति** । समन्वयेऽविरोधेन स्थिरीकृते विषयनिर्धारः प्रसङ्गसङ्गत्या युक्तः, परन्तु अनधिकारिहृदये न स्फुरतीति प्रतिबन्धकीभूताधिकारिचिन्तानिवृत्तौ सत्यामवश्यवक्तव्यत्वमवसर उक्तः । आवृत्तौ गौरवमित्यवसरसङ्गत्या । **विवक्षितेति** । परम्परासम्बद्धधर्मिसाक्षात्सम्बद्धधर्मिविषयकज्ञानविषयस्य । **ब्रह्मण एवेति** । एवकारेण सांख्यादिस्मृत्युपष्टब्धप्रधानादिव्यवच्छेदः । **तत्रेति** । प्रथमद्वितीयाध्याययोः । **तत्र यथेति** भाष्यं विवरीतुमाहुः **द्वितीयोक्त इति** । **तद्विषयेति** । वाक्यविषयनिर्धारार्थत्वेन । **एवेति** । ब्रह्मस्वरूपनिर्धारार्थत्वव्यवच्छेदकः । **ब्रह्मधर्मेति** । द्वितीयाध्याये तथा । विवृण्वन्ति स्म **अतस्तत्रेति** । तत्र द्वितीयाध्याये ब्रह्मणि ब्रह्मत्वेन सहावस्थानलक्षणो हि कार्यस्य विरोधः ब्रह्मरूपकारणैक्यनिर्धारार्थं प्रधानादिकारणवादनिरासेन परिहृतः । एवमितिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म **एवं कारणेति** । **ब्रह्मधर्मेति** । रूपमरूपं चेति ब्रह्मधर्मयोर्विरोधः सहानवस्थानलक्षणः । अन्यथेति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **अन्यथेति** । **इत्यादीति** । आदिना रूपमरूपं चेति सन्देहः तेषामनपायात् । तत्तद्धर्मप्रकारकबोधकता तत्प्रतियोगिता-

तत्र क्वचिज्जडजीवधर्मा भगवति बोध्यन्ते, क्वचिन्निषिध्यन्ते । यथा 'सर्वकर्मा सर्वकामः' ।

नचैते जीवधर्मा एव न भवन्तीति वाच्यम् । उच्चावचकर्मणां कामानां च जीवगतत्वप्रतीतेः । 'नेतरोऽनुपपत्ते'रिति सर्वत्र वैलक्षण्यस्योक्तत्वात् । कार्यविशेषधर्माणां कारणे वक्तुमशक्यत्वात् । नच कारणधर्मा एव सर्वे कार्ये अंशे वा प्रतीयन्त इति वाच्यम् । 'अस्थूलमनण्वि'त्यादिवाक्यैः प्रापञ्चिकसर्वधर्मवैलक्षण्यस्योक्तत्वात् ।

अत्र केचिदविरोधमेवमाहुः । सर्वत्र कारणत्वात् भगवानस्ति । ततश्च अस्थूले अस्थूलः, अनणावनणुः, उच्चावचकर्तर्युच्चावचकर्ता, उच्चावचकामे उच्चावचकामः, पृथिव्यां सर्वगन्धः, जलावगन्धः । एवं रसादिषु । एवं स्थानतः परस्योभयलिङ्गमुपपद्यते ।

भाष्यप्रकाशः ।

एवं विषयं विभज्य प्रस्तुताधिकरणविषयादिकमाहुः तत्र क्वचिदित्यादि, **निषिध्यन्त** इति । अस्थूलादिवाक्येषु निषिध्यन्ते । तथाच निरुद्धवाक्यद्वयदर्शनात् संशयः । किमुभयलिङ्गं ब्रह्म, अन्यतरलिङ्गं वेति ।

पूर्वपक्षमाहुः **नचेत्यादि** । प्रकरणावरुद्धत्वाभेति न वाच्यमित्यर्थः । तत्र हेतुः **उच्चावचे**त्यादि । **प्रतीतेरिति** । प्रत्यक्षादेव प्रतीयमानत्वात् । नच श्रुत्यपेक्षया लौकिकप्रमाणस्य निर्बलत्वात् तस्य भ्रान्तत्वमिति वाच्यम् । 'नेतरोऽनुपपत्ते'रित्यादिसूत्रेषु सर्वत्र जीववैलक्षण्यस्योक्तत्वात् सर्वकामत्वादीनां ब्रह्मधर्मत्वे जीवसालक्षण्यापत्त्या शास्त्रस्यापि विरोधात् । कार्यकारणव्यवहारभङ्गापत्त्या कार्यविशेषधर्माणां कारणे वक्तुमशक्यत्वात् । शेषं स्फुटम् । तथाच धर्मविधेरुपासनार्थतयोपचारादपि नेतुं शक्यत्वान्निषेधस्य तु प्रयोजनान्तरशून्यतया स्वरूपबोधनमात्रफलकत्वेनान्यथा नेतुमशक्यत्वान्निर्विशेषलिङ्गमेव प्रतिपत्तव्यमिति प्राप्तम् ।

तत्र सूत्रं व्याकुर्वन्ति **अत्रे**त्यादि ।

रश्मिः ।

काभावो वाक्यानां स्यादित्यर्थः । **प्रकरणेति** । ब्रह्मप्रकरणावरुद्धत्वात् । **एवेति** । अनुमानयोगव्यवच्छेदकः । **न चे**तिभाष्यं विवरीतुमाहुः **नच श्रुतीति** । **तस्येति** । अंशांशिनोरभेदे सति वैलक्षण्यस्य अप्रत्येतुः । विवृण्वन्ति स्म **नेतरेति** । आनन्दमयाधिकरणे व्याकृतानि । **सर्वत्रेति** । जीवे जडे च । **शास्त्रस्येति** । 'नेतरोऽनुपपत्ते'रित्यादेः । **कार्ये**तिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म **कार्येति** । **कार्यविशेषेति** । सर्वकर्मसर्वकामादीनाम् । पूर्णत्वेन तत्राभावात्, नतु कार्यत्वादीनाम् । 'अजायमानो बहुधा विजायते' इति प्राकट्यरूपामुत्पत्तिमादायांशतस्तेषां सत्त्वात् । **स्फुटमिति** । **एवेति** । नैयायिकप्रवादादेवकारः । **अंश इति** । 'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे जीवाः सर्व आत्मान' इति पृथगुपदेशात् । **प्रापञ्चिकेति** । नञः पर्युदासार्थत्वात्तथा । एवं शेषं स्फुटमित्यर्थः । पर्युदासः सदृग्ग्राही । अस्य पूर्वपक्षत्वं स्फुटयन्ति स्म **तथाच धर्मेति** । **धर्मविधेरिति** । 'सर्वकर्मा सर्वकाम' इति भाष्योक्तोभयकोडीकारेण यो धर्मविधिः 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेते'ति धर्मैकदेशधर्मविधेः । 'धर्मं चरे'ति विधेर्वा । सर्वकर्मत्वेन सर्वकामत्वेन ब्रह्मोपासनार्थतया सामान्यविशेषभावसम्बन्धरूपोपचाराच्छक्यसम्बन्धात् । शक्यसम्बन्धो लक्षणा । **एवेति** । आरोपापवादसङ्गतिसत्त्वादेवकारः । **तत्रेति** ।

अथवा । कारण एव रूपमरूपं चावच्छेदभेदेन अचिन्त्यसामर्थ्याद्वा । अन्यथा असतः सज्जननप्रसङ्ग इति अपिना संगृहीत इति ।

एतदुभयमपि न । कुतः । सर्वत्र हि । सर्वत्रैतादृशं रूपं भगवत उपदिश्यते । हि युक्तोऽयमर्थः । भगवत्स्वरूपप्रतिपादकानि हि एतानि वाक्यानि,

---

भाष्यप्रकाशः ।

केचित् ब्रह्मवादैकदेशिन ऋषयो वक्ष्यमाणरीत्योभयलिङ्गाविरोधं व्युत्पादयन्ति । 'यतो वा इमानि' 'सदेव सौम्ये'त्यादिभिर्भगवत उपादानत्वस्य सिद्धत्वात् सर्वत्रोपादेये कार्ये भगवानस्तीत्यविवादम् । ततश्च यथा पार्थिवकारणभूता पृथिवी घटपटस्तम्भादिषु कार्येषु निमित्तवशात् तत्तद्रूपतां धत्ते, तथा भगवानप्यस्थूलादिषु द्रव्येषु, रसादिषु च गुणेषु, तत्तद्रूपतां धत्ते इत्येवं स्थानधर्मरूपं तत्तल्लिङ्गं परस्मिन् भासत इति परस्योभयलिङ्गमुपपद्यत इत्येकं मतम् ।

अथवेत्यादिनोक्तं द्वितीयं मतम् । **अवच्छेदभेदेनेति** । अवच्छिद्यत इत्यवच्छेदः प्रदेशस्तेन । तत्र युक्तिस्त्वचिन्त्यसामर्थ्यम् । भाष्ये वाशब्दो वाक्यालङ्कारे । पूर्वोक्तरीत्यान्यथाङ्गीकारे तु स्थानस्य कार्यत्वात् स स धर्मस्तत्र तत्र स्थाने कुत आगत इति विमर्शे कारणस्य तद्धर्मवत्ताभावेन कार्ये तस्यासतः सत्ता स्यात् । तस्मात् तद्विहायैवं तत्तदवच्छेदभेदेनाचिन्त्यसामर्थ्यादुभयलिङ्गत्वमुपपादनीयमिति । तदिदमपिना संगृहीतम् ।

एवं **स्थानतोपी**तिपदद्वयेन तदुभयमनुवदन्निषेधति **ने**त्यनेन । तत्र हेतुः **सर्वत्रेति** । तं व्याकुर्वन्ति **सर्वत्रे**त्यादि । ननु तत्तद्वाक्येषु तत्तलिङ्गताया एव श्रवणात् सर्वत्रैतादृशरूपोपदेशस्य चाश्रवणात् कथं युक्तत्वमित्याकाङ्क्षायां तद्व्याकुर्वन्ति **भगवदि**त्यादि । **एतानीति** । **सर्वकर्म**त्वास्थूलत्वादिबोधकानि ।

तथाहि । सर्वकर्मत्यादिवाक्यं तावत्, 'अथ खलु क्रतुमयः पुरुष' इति क्रतूपदेशं प्रकृत्य शाण्डिल्यविद्यायाम्, 'एष म आत्मान्तर्हृदय एतद्ब्रह्मैतमितः प्रेत्य संभवितास्मी'त्युपसंहारे

रश्मिः ।

एवं पूर्वपक्षे सिद्धान्तसूत्रं व्याकुर्वन्ति **अस्तीति** । कार्यरूपतया तदाधेयतया च । तेन 'तद्रूपं तत्र च स्थितं साकारव्यापकत्वाच्चे'त्युक्तेषु द्वयं द्रव्ये, साकारव्यापकं तु गुणे द्रव्योपीत्याशयेनाहुः **अस्थूलादिष्विति** । अस्थूलादिषु स्थानेषु रसादिषु च स्थानेषु । **अथवेत्यादिनेति** । पूर्वत्र कारणरूपस्य ब्रह्मणः कार्यस्थानत उभयलिङ्गमुक्तम् । अधुना कारणस्थानत उभयलिङ्गमाहुः **अथवेति** । एवकारेण कार्यरूपव्यवच्छेदः । रूपं मूर्तं अरूपममूर्तम् । मूर्तामूर्तब्राह्मणेन । अन्यथेति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **अन्यथेति** । अस्मात्प्रकारादन्यप्रकारस्य । **अन्यथे**त्यस्मात्षष्ठ्या लुक् । **तद्विहायेति** । पूर्वपक्षं विहाय । **अत्रेति** । पृथिवीदेशेन रूपं वायुदेशेनारूपमिति देशभेदरूपावच्छेदभेदेन । **पदद्वयेनेति** । नन्वेकमपि न पदं 'अव्ययादाप्सुप' इति 'सुब्लुकि लुकालुसत्वे नलुमताङ्गस्ये'त्यस्य प्राप्त्या कथं 'सुप्तिङन्त'मित्यनेन पदत्वमिति चेत् । न । शब्दलक्षकत्वाद्भ्रान्तेर्जीवधर्मत्वात् । **तदुभयमिति** । पक्षद्वयम् । एतेनैतदुभयमिति भाष्यं विवृतम् । **तत्तल्लिङ्गताया** इति । 'सर्वकर्मा सर्वकाम' इत्यादिषु सर्वकर्मत्वादिना तत्तज्जीवादिषु तत्तच्छब्दस्य सामर्थ्यं शक्त्यादि तस्य समूहस्यैव श्रावणात् । एवकारः शक्याद्यर्थव्यवच्छेदकः । अर्थपदशक्त्यादिज्ञानानन्तरं गुरूपदेशादिसहकारणसाध्यत्वात् । तत्तल्लिङ्गसमूहस्तत्तल्लिङ्गता तस्या इत्यर्थः । शब्दरूपमङ्गीकृत्य यत्किञ्चिच्छाब्दं वाङ्गीकृत्याह **सर्वत्रेति** । **युक्तत्वमिति** । भगवदुपदेशरू-

न त्वनुवादकानि। वैयर्थ्यापत्तेः।

अचिन्त्यत्वे ज्ञानानुदयः। 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति' 'भक्त्या माम-

भाष्यप्रकाशः।

तत्क्रतुविषयं ब्रह्मैव बोधयति। क्रतुश्चात्र नोपासना। शब्दान्तरात्। अन्यथा तद्वैयर्थ्यप्रसङ्गात्। किन्तु मननम्। एवमन्यान्यपि वाक्यानि 'अणोरणीया'नित्यादीनि जीवव्यतिरिक्तमात्मानं विषयीकुर्वन्तीत्यस्थूलादिवाक्यवत् प्रमाणान्तरानवगतभगवत्स्वरूपप्रतिपादकानि, न त्वनुवादकानि। यदि हि तेषां स्थानगतधर्मानुवादकत्वं स्यात्, तदा तैर्ब्रह्मज्ञानाभावात् तेषां वैयर्थ्यमेव स्यात्। न ह्यौपाधिकानां धर्माणां तद्वत्तया ब्रह्मणो वा ज्ञानं मुक्त्यर्थमिति वक्तुं शक्यम्। तथा सति दर्शनान्तरीयज्ञानादपि सा स्यात्। ततश्च शास्त्रवैयर्थ्यापत्तिः। नापि यथाकथञ्चिच्छाखाचन्द्र-न्यायेन ब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थम्। तथा सति परस्परविरुद्धान् धर्मान्न बोधयेयुः। प्रतिपत्तिजननप्रति-बन्धकत्वात्। किञ्च। अस्मिन् वाक्येऽनुवादकत्वं संभवत्यपि न। 'ज्यायानाकाशा'दित्युक्तेः। न हि लोके आकाशाज्ज्यायः किञ्चिदस्ति स्थानम्, येन तद्वशाद्ब्रह्मणि तदनूद्येत। दिक्कालात्मनां तत्समत्वात्। एवं सांख्यादिदृष्ट्या प्रकृत्यादिग्रहणेपि ततो नान्यस्य ज्यायस्त्वम्। ज्यायस्त्वं चात्र परिमाणादेव विवक्षितं ज्ञायते। अग्रे 'अणीयान् व्रीहे'रिति श्रावणात्। अतस्तत्प्रतिपादकत्वमेवात्र मन्तव्यम्। तथा सर्वकर्मत्वादिप्रतिपादकत्वमपि, निरङ्कुशानां तेषामन्यत्राभावादिति। तस्मान्नात्र स्थानप्रयुक्तानुवादकत्वम्।

एवं द्वितीयेपि मते, सामर्थ्यस्याचिन्त्यतया तस्याज्ञानात् तद्वतो ब्रह्मणोप्यज्ञानापत्तिः।

रश्मिः।

पार्थस्य युक्तत्वम्। **तद्ब्रेति**। **ब्रह्मैवेति**। अन्तर्हृदय इति लिङ्गादेवकारः। **तद्वैयर्थ्येति**। शब्दा-न्तरवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। **विषयीति**। विरुद्धसर्वधर्माश्रयत्वेन विषयीकुर्वन्ति। अनधिगतार्थगन्तृत्वप्रमाणा-दन्यत् प्रमाणं प्रमाणान्तरं तदनवगतं यद्ब्रह्मस्वरूपं विरुद्धधर्माश्रयं तस्य प्रतिपादकानि। हेतुभाष्यं विवृण्वन्ति स्म **यदि हीत्यादि**। **ब्रह्मेति**। किन्तु स्थानगतधर्मज्ञानात्। तेषां ब्रह्मज्ञानांशे वैयर्थ्यम्। **एवेति**। अवैयर्थ्ययोगव्यवच्छेदकः। **नहीति**। उपाधिः अस्थूलादिः स्थानं अस्थूलादेः। पृथिवीस्थानं सर्वगन्धस्य। जलादिस्थानमगन्धस्य। तादृशधर्माणामौपाधिकानाम्। तादृशधर्मवत्तया तादृशास्थूलाद्यौ-पाधिकस्थूलादिमत्तया पृथिव्याद्यौपाधिकसर्वगन्धादिमत्तया वा ब्रह्मणो वा ज्ञानम्। **दर्शनेति**। मायावच्छिन्नं चैतन्यमीश्वरः इति ज्ञानात्। सांख्यदर्शनेऽसङ्गोपाधिकासङ्गपुरुषज्ञानात्। **शास्त्रेति**। अविरोधाध्यायसहकृतोक्तोपपादकवेदान्तशास्त्रवैयर्थ्यापत्तिः। **यथाकथमिति**। औपाधिकेनापि प्रकारेण। अस्यां स्थूलायां शाखायां चन्द्र इति न्यायेन। शाखाद्रष्टारं चन्द्राद्रष्टारं प्रत्युक्तिः सूक्ष्मप्रतिपत्त्यर्था। **प्रतिपत्तीति**। नच विरुद्धधर्माश्रयत्वेन प्रतिपत्तिः। अन्यैरनङ्गीकारात्। **तद्वशादिति**। स्थानवशात्। **तदनूद्येतेति**। तदित्यव्ययम्। स्थानगतधर्मः। ननु नास्ति चेत्कथमाकाशाज्ज्यायस्त्वेन स्थानं प्रतिपत्तव्यमिति चेत्, तत्राहुः **दिक्कालेति**। प्रसिद्धं नैयायिकमते। दिशं प्रस्तुत्य सा चैका विभ्वी नित्या चेति, तथा कालं प्रस्तुत्य स चैको विभुर्नित्यश्चेति। तथात्मानं प्रस्तुत्य स चैको विभुर्नित्यश्चेति। शब्दगुणकमाकाशमित्याकाशात् ज्यायस्त्वम्। नैयायिकमते। सिद्धान्ते तु अचिन्त्यश-क्तिमत्त्वादाकाशाज्ज्यायःशब्दप्रवृत्तिः। **तत इति**। प्रकृत्यादेः। **एवेति**। ब्रह्मत्वादियोगव्यवच्छेदकः। **अणीयानिति**। अत्राणुपरिमाणम्। अतिशये ईयसुन्। **तत्प्रतीति**। ब्रह्मप्रतिपादकत्वम्। एवकारेणानुवादकत्वयोगव्यवच्छेदः। **अपीति**। ब्रह्मणि मन्तव्यमित्यन्वयः। **तेषामिति**। सर्वकर्मत्व-सर्वकामत्वादीनाम्। **नात्रेति**। अत्र श्रुतिषु स्थानमस्थूलादि प्रयोजकं तत्प्रयुक्तं तद्गतधर्मानुवादकत्वं न

भिजानाति यावान् यश्चास्मि यादृशः, ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदन-न्तर'मिति ज्ञानानन्तरमेव सायुज्यप्राप्तेः। नच 'यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः, अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानता'मिति वाच्यम्। शास्त्रानारम्भप्रसङ्गात्। अयं च विरोधः परिहरणीयः। सर्वे हि विरोधा अत्र चिन्त्यन्ते। नापि तत्तदुपादानभूतप्रदेशविशेषेणाविरोधः। अनुवा-दकत्वेन वैयर्थ्यापत्तेः। न च भगवति भेदोऽस्ति। प्रत्यारम्भ'मेकमेवा-

भाष्यप्रकाशः।

ततश्च 'तमेवे'त्यादिश्रुत्युक्तसाधनाभावान्मोक्षस्याप्यप्राप्त्यापत्तिः। भक्त्याभिज्ञानादेरपि बाधापत्तिः स्यात्। नच 'यस्यामत'मित्यादावमतस्य मतत्वश्रावणादचिन्त्यत्वेनामतत्वेपि सुखेन ज्ञानोदयसंभव इति वाच्यम्। तथा सति विचारशून्यानामपि ज्ञानसंभवेन विचारशास्त्रस्य वेदान्तरूपशास्त्रस्य चानारम्भप्रसङ्गात्। किञ्च। एतद्वाक्योक्तममतायां मतत्वं तदा बुद्धिगोचरीभवेत्, यदास्य बोधन-प्रकारोवगम्येत, स एव तु नावगम्यते। वदतो व्याघातात्। अतोयमपि विरोधः परिहरणीयः। यतः सर्वे विरोधा अत्र चिन्त्यन्ते। अतो यावदस्य बोधनप्रकारो न व्युत्पादितः, तावत्पर्यन्तम-बोधकत्वाज्ञानेन ज्ञानं वक्तुं शक्यम्। किञ्च। नापि तत्तदुपादानभूतप्रदेशविशेषेणाविरोधो युज्यते। तादृशत्वस्य पृथिव्यादौ दर्शनात् वाक्यस्य लोकसिद्धानुवादकत्वेन वैयर्थ्यापत्तेः। नच पृथिव्यादीनां सांशत्वादंशभेदेन तथात्वम्, भगवतस्तु निरंशत्वात् प्रदेशभेदेनोपगम्यत इत्यनु-वादकत्वाभावान्न वैयर्थ्यमिति वाच्यम्। यदि भगवति स्वगतभेदो भवेत्, तरौ पत्रपुष्पादीनामिव, तदैवमुपगन्तुं शक्येत। स तु नास्ति। प्रत्यारम्भं यत्र यत्र ब्रह्म निरूपणमारभ्यते, तत्र तत्र 'एकमेवाद्वितीय'मिति वचनात्। यदि सर्वत्रैकरूपता न स्यात्, तदा प्रत्यारम्भं तथा कथन-

रश्मिः।

किन्तु ब्रह्मप्रतिपादकत्वम्। **अचिन्त्यत्व इति** भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **एवं द्वितीय इति**। **तमेवेति**-भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **ततश्चेति**। **बाधेति**। ज्ञानाभावेऽभिज्ञानबाधः। **अभित** इत्यस्य ज्ञानधर्मत्वात्।

भाष्ये ज्ञानानन्तरमिति 'विदित्वे'ति क्त्वान्तार्थः। क्रमादेवकारः। अन्यथा 'अतिमृत्युमेति विदित्वे'त्यपि वदेत्। नचेतिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म **नचेति**। **शास्त्रेति**भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **तथा सतीति**। **विचारेति**। मतपदोक्तं मननं विचारस्तच्छून्यानाम्। **अयं चेति** भाष्यं विवरीतुमाहुः **किञ्च एतदिति**। **वाक्योक्तेति**। ममेदं मतमिति ममतायां श्रुतिनिष्ठायाम्। **अवगम्येतेति**। अधोक्षजत्वातिरिक्तप्रकारः सर्वेषामाचार्याणां नूतनमार्गप्रवर्तकत्वात्तन्मध्ये कस्यचिन्मार्गत्वेन ज्ञायेत सर्वैः। **वदत इति**। मतममतमितिवदतो व्याघातः 'मम माता वन्ध्ये'ति वाक्यवत्। विवृण्वन्ति स्म **अतोयम-पीति**। **यतो हीति**भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **यत इति**। **अत्रेति** पूर्वपादे। उत्तरत्र च पादे। **अस्येति** विरोधस्य। बोधनप्रकारो विरुद्धसर्वधर्माधारत्वलक्षणः। विरोध्यस्य ज्ञानावरोधकत्वात्। **नापीति**भाष्यं विवृण्वन्तिस्म **किञ्चेति**। **तत्तदुपादानेति**। ययोर्भूतगन्धोपादानपृथिवीभूतप्रदेशरूपविशेषेण पाषा-णभूतप्रदेशेन चाविरोधो गन्धतदभावयोः। **वैयर्थ्येति**। लोकेऽनधिगतार्थगन्तृत्वाभावेनाप्रामाण्यात्तथा। **न चेति**भाष्यं विवरीतुमाहुः **न चेति**। विवृण्वन्ति स्म **भगवत इति**। **इत्यन्विति**। **इति** उक्त-प्रकारेण लोकेंशभेदात्तदनुवादमादाय प्रमाणलक्षणोपपत्तेरनुवादकत्वाभावादित्यर्थः। **स्वगतेति**। गीताष्टादशाध्यायोक्तसात्त्विकज्ञाननष्टस्वगतभेदो भवेत्। प्रत्यारम्भमिति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **प्रत्या-**

१. अमततायामित्यत्र ममतायामिति पाठो रश्मौ। २. सर्वे हीत्यत्र यतो हीति रश्मौ पाठः स्यात्।

द्वितीय'मिति वचनात् । अल्पकल्पनायामपि श्रुतिविरोधः सिद्धः । श्रुत्यविरोधार्थमेव हि प्रवृत्तेः । तस्मान्न मतान्तरानुसारेण जडजीवधर्माणां सत्त्वासत्त्वे परिहर्तुं शक्ये ॥ ११ ॥

न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् ॥ १२ ॥

प्रकारान्तरेण समाधानमाशङ्क्य परिहरति । न भवदुक्तो विरोधः सम्भवति । भेदात् । कारणकार्येषु सर्वत्र भेदाङ्गीकारात् । प्रपञ्चविलक्षणं ब्रह्म भिन्नम् । प्रपञ्चधर्मवत् ब्रह्म भिन्नम् । तथा अज्ञातं ज्ञातं च । एकस्य भेदस्याङ्गीकारे सर्वमुपपद्यत इति चेत् । न । प्रत्येकमतद्वचनात् । अभेदवचनात् । 'इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मध्वि'ति ब्राह्मणे 'अयमेव स योऽय'मिति सर्वत्राभेदवचनात्, कार्यकारणरूपप्रकाराणां भेदनिषेधात् । तस्मान्न भेदाङ्गीकारेण श्रुतयो योजयितुं शक्याः ॥ १२ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

मनर्थकमेव स्यात् । अतोल्पकल्पनायामपि श्रुतिविरोधः सिद्धः । नच सोल्पत्वान्न दुष्ट इति युक्तम् । श्रुत्यविरोधार्थमेव भगवतो व्यासस्य प्रवृत्तेः । तस्मान्न मतान्तरोक्तरीत्या जडजीवधर्माणां सत्त्वासत्त्वरूपस्योभयलिङ्गविरोधस्य परिहारसिद्धिरित्यर्थः ।

विद्वन्मण्डने तु प्रकरणसिद्धार्थविचारेणैतस्य सिद्धान्तसूत्रत्वमेव सेत्स्यतीत्याशयेन वक्ष्यमाणरीत्यैतदधिकं व्याख्यातम् । सोपाधिकं ब्रह्म सविशेषश्रुतिविषयः, निरुपाधिकं तन्निर्विशेषश्रुतेरित्यपि मतमर्थान्निरस्तम् । विशेषाणामौपाधिकत्वे ब्रह्मणस्तत्स्वभावत्वाभावेन तन्निरूपकश्रुतीनामब्रह्मनिरूपकत्वापत्तेरिति ॥ ११ ॥

न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् ॥ १२ ॥ सूत्रमवतारयन्ति प्रकारान्तरेणेत्यादि । अत्र सूत्रे उभयलिङ्गमिति पूर्वसूत्रादनुवर्तते, तदाहुः न भवदुक्त इत्यादि । उभयलिङ्गपदेन भवता उक्तो विरोधो न सम्भवतीत्यर्थः । भेदादिति विवृण्वन्ति कारणेत्यादि । सर्वत्रेति । लोके वेदे च । सिद्धान्तांशं व्याकुर्वन्ति इयमित्यादि । सर्वत्राभेदवचनादिति । सर्ववाक्येष्वभेदवचनात् । अभेदवचनस्यैव व्याख्यानं कार्यकारणेत्यादि । मधुब्राह्मणस्थाः कार्यादयस्त्वेवं बोध्याः । तथाहि । 'इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मध्वस्यै पृथिव्यै सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं शारीरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव

रश्मिः ।

रम्भमिति । एवेति । अप्यर्थक एवकारः । अल्पेति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म अत इति । अंशभेदात् । अल्पोंशभेदस्तस्य ब्रह्मणि कल्पनायामपि श्रुतिविरोधः सिद्ध इति नापि तत्तदुपादानभूतप्रदेशविशेषेणाविरोधो युज्यते । श्रुत्यविरोधार्थमिति भाष्यं विवरीतुमाहुः न च स इति । 'एकदेशविकृतमनन्यव'दिति न्यायेनादुष्टः । अन्यथा 'जराया जरसन्यतरस्या'मिति सूत्रेण निर्जरशब्दस्य जरसादेशाभावे निर्जरसाविति न स्यात् । विवृण्वन्तिस्म श्रुत्यविरोधेति । एवेति । अत्र 'केचिदविरोधमेवमाहु'रित्यादिभाष्यादेवकारः । प्रवृत्तेरिति । शब्दार्थे कृते प्रवृत्तिज्ञानम् । मतान्तरेति । 'स्थानतः परस्योभयलिङ्ग'मितिरीत्या ॥ ११ ॥

न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् ॥ १२ ॥ इत्यर्थ इति । सौत्रप्रथमनकारेणार्थः कर्तव्यः ।

भाष्यप्रकाशः ।

स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्व'मित्येकं वाक्यम् । एवमग्रेपि, अबग्न्याकाशवाय्वादित्यचन्द्रदिग्विद्युत्स्तनयित्नुधर्मसत्यमानुषात्मवाक्यानि । एवं चतुर्दश ।

तत्रायमर्थः । इयं प्रसिद्धा पृथिवी सर्वेषां भूतानां ब्रह्मादितृणस्तम्बान्तानां मधु मध्विव । उपकारकं कार्यम्, भूतादृष्टजन्यत्वात् । तथा, अस्यै पृथिव्यै अस्याः पृथिव्याः सर्वाणि भूतानि पूर्वोक्तानि मधु मध्विव उपकारकाणि, कारणत्वात् । किञ्च । यश्चायमस्यां पृथिव्यां तेजोमयश्चिन्मात्रप्रकाशमयः अमृतमयः अमरणधर्मा पुरुषः, सोपि 'तदभिध्यानादेव तु'ति न्यायेन पृथिवीरूपतया तदुपकारकत्वात् तस्यै मध्विति चकारेण समुच्चीयते । यश्चायमध्यात्मम्, 'अधिशरीरं शारीरः शरीराभिमानी' त्यन्ये । वस्तुतस्तु 'यः पृथिव्यां तिष्ठ'न्नित्यादिनोक्तोऽन्तर्यामी तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः सोपि तेनाभिमानेन प्रकारेण भूतोपकारकत्वाद्भूतानां मध्वित्यपि चकारान्तरेण समुच्चीयते । अयमेव सः । अयं तेजोमयादिरूपः पुरुष एव सः । मैत्रेयीब्राह्मणान्ते पूर्वग्रन्थ उक्तो योऽयमात्मा उक्तविधपुरुषरूप इदममृतमानन्दः । इदं ब्रह्माक्षरम् । इदं सर्वं पूर्वोक्तकार्यकारणरूपप्रकारात्मकमिति । एवमग्रिमेष्वपि वाक्येषु बोध्यम् ।

सिद्धमाहुः तस्मादित्यादि । एतेषां कार्यादीनां भगवदात्मकत्वनिगमनेन प्रतिवा-

रश्मिः ।

एवेति । अन्यवादानां द्वितीयाध्यायपादयोर्निराकरणादेवकारः । कार्यकारणरूपभेदात् । छान्दसी षष्ठीस्थाने चतुर्थीत्याहुः अस्याः पृथिव्या इति । पूर्वोक्तानीति । ब्रह्मादितृणस्तम्बान्तानि । कारणत्वादिति । ब्रह्मणः कारणत्वं तृतीयस्कन्धे । तृणस्तम्बान्तानां सत्तारूपाणां कारणत्वमवयवत्वात् । तदभिध्यानादिति । अयं न्यायः द्वितीयाध्यायतृतीयपादे गतः । पृथिवीति । तस्य तस्य कार्यस्योत्पादनार्थं तदभिध्यानं ततस्तदात्मकत्वं तत्तत्कार्यकारणात्मकत्वं तेन तत्कारणवाचकत्वमिति 'तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्स' इति सूत्रांशार्थात् पृथिवीरूपतया तदुपकारकत्वात् तस्य 'तस्माद्वा एतस्मा'दिति श्रुतिप्रसिद्धस्यौषध्यादेः उपकारकत्वात् कारणत्वात् । तस्यै तस्याः पृथिव्या मधु कार्यम् । चकारेण 'यश्चाय'मिति चकारेण । अधुना 'इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मध्वस्यै पृथिव्यै सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मꣳशरीरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोयमेव स योयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳसर्व'मिति पूर्वकण्डिकां पुरुषान्तां व्याकृत्य भाष्य'मयमेव स' इत्यंशविवरणेन विवरिष्यन्त आहुः यश्चायमिति । अधिशरीरमित्यव्ययीभावः । आत्मनीत्यध्यात्ममिति । भूतोपेति । शरीररूपभूतस्योपकारकत्वात्कारणत्वात् । भूतानां मधु कारणम् । भाष्यं विवृण्वन्तिस्म अयमेवेति । उक्त इति । विज्ञाता । 'विज्ञातामरे केन विजानीया' दिति श्रुतेः । 'इदममृत'मित्यादित्रयं व्याकुर्वन्तिस्म इदममृतमिति । पूर्वोक्तेति । एतेन कार्यकारणेति भाष्यं व्याकृतम् । कार्यादिरूपमग्रे वक्तव्यम् । एवमिति । कार्यकारणरूपप्रकाराणां भेदनिषेध इति बोध्यम् । एतेषामिति । कार्यकारणरूपप्रकाराणाम् । भगवदात्मेति । इदं निगमनं मधुब्राह्मणसमाप्तौ 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्यनुशासन'मिति श्रुतौ तच्छब्दान्निगमनेन । यद्यपि यदेतादृशं ब्रह्म तदेवैतत्समस्तं जगदिति व्याख्यानम्, तथाप्यारम्भेऽथवैतैर्हेतुभिः साधित'मिदं सर्वं यदयमात्मे'त्यस्यैव पूर्वप्रतिज्ञातस्य निगमनार्थमिदमिति ग्रन्थान्निगमनं बोध्यम् । प्रतिवाक्यमिति । चतुर्दशवाक्येषु ।

अपिचैवमेके ॥ १३ ॥

भेदाङ्गीकारे बाधकमाह। अपिच एवमेवाभेदमेव भेदनिषेधेनैके शाखिनो वदन्ति। 'मनसैवेदमाप्तव्यम्, नेह नानास्ति किञ्चन, मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यती'ति भेददर्शननिन्दावचनात्। तस्मान्न भेदाङ्गीकारः कर्तुं शक्यः। इवशब्दो 'बहु स्या'मिति व्यावृत्त्यर्थः। तस्मादुपनिषत्सु सर्वप्रकारोऽविरोधः सिद्धः ॥ १३ ॥

इति तृतीयाध्याये द्वितीयपादे चतुर्थमुभयलिङ्गमधिकरणम् ॥ ४ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

क्यमभेदस्य बोधनात् । तथाच तत्तद्वाक्येषु तत्तद्धर्मश्रावणेपि ब्रह्मण ऐक्यात् सर्वत्र सर्वं कार्यं सर्वं कारणं सर्वाणि रूपाणि सर्वे प्रकाराः सन्तीति विरोधतादवस्थ्यान्न भेदाङ्गीकारेण श्रुतयो योजयितुं शक्या इत्यर्थः ॥ १२ ॥

अपिचैवमेके ॥ १३ ॥ ननु पूर्वसूत्रेणैव भेदे श्रुतिबलेन वारिते, अस्य सूत्रस्य किं प्रयोजनमित्याशङ्कायां तत्प्रयोजनमाहुः भेदेत्यादि । तथाच भेदाङ्गीकारे बाधकप्रदर्शनेन कदाचित् स्मार्ततया नित्यानुमेयवेदमूलत्वं शङ्क्येतेति तन्निवारणार्थमिदं सूत्रमित्यर्थः। तत् व्याकुर्वन्ति अपिचेत्यादिना । श्रुतिस्तु बृहदारण्यके शारीरब्राह्मणेस्ति । अत्र पूर्वं 'प्राणस्य प्राण'मित्यादिना प्राणाद्याधिदैविकं ये विदुः, ते ब्रह्म विदुरित्युक्त्वा, तस्य वेद्यस्यैव प्राप्यत्वं वदँस्तस्य स्वरूपमाह 'नेह नानास्ति किञ्चने'ति । अर्थस्तु, इह मनसावाप्तव्ये ब्रह्मणि न नानास्ति । यत्किञ्चन नियम्यत्वेना-

रश्मिः ।

अभेदबोधनं तेजोमयादिरूपस्य 'तदभिध्यानादेवे'तिन्यायेन पृथिव्यादिस्थस्य शारीरेण तेजोमयादिरूपेण 'अयमेव स योय'मिति वाक्येन तस्मात् । तत्तद्धर्मेति । पृथिव्यादिधर्माणां शारीरधर्माणां च तेजोमयादीनां तत्तत्पृथिव्यादिशरीरधर्माणां श्रावणेपि 'अयमेव स योय'मिति वाक्येनोभयनिष्ठब्रह्मण ऐक्यात् । सर्वत्रेति। चतुर्दशवाक्येषु सर्वं कार्यं 'इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मध्वि'त्यत्र मधुशब्दार्थः सर्वेषां भूतानां कार्यमपि तत्सर्वमिति कार्यविशेषणं सर्वमिति । सर्वं कारणमिति । 'अस्यै पृथिव्यै सर्वाणि भूतानि मध्वि'त्यत्र मधुशब्दार्थः । अत्र सर्वमिति विशेषणं स्पष्टम् । सर्वाणि रूपाणीति । 'यश्चाय'मिति प्रथमचकारसमुच्चितानि 'तदभिध्यानादेव त्वि'ति न्यायेन पृथिव्यादिनिष्ठतेजोमयादिपुरुषाणां पृथिव्यादिरूपतया, तेजोमयादिपृथिवीरूपाणि सर्वाणि चतुर्दशवाक्योक्तानि । सर्वे प्रकारा इति । 'यश्चायमध्यात्म'मिति द्वितीयचकारसमुच्चिताः शरीराभिमानाः प्रकाराः । सर्वं इति पूर्ववत् । विरोधेति । 'यस्यामत'मितिश्रुत्युक्तज्ञाताज्ञातविरोधस्य ज्ञाताज्ञातयोर्ब्रह्मण ऐक्यादेकत्र सत्त्वेन तादवस्थ्यात् न भाष्योक्तरीत्यभेदाङ्गीकारेण । श्रुतयः 'यस्यामतं तस्य मत'मिति 'सर्वकर्मा सर्वकामः' 'अणोरणीयान्महतो महीयानि'त्यादयः ॥ १२ ॥

अपिचैवमेके ॥ १३ ॥ स्मार्ततयेति । स्मार्तं कर्म सर्वमपि स्नानसन्ध्यादिभेदाधीनम् । किञ्च, जीवब्रह्मभेदस्मृतयश्च 'यदधीना यस्य सत्ता तत्तदित्येव भण्यते । विद्यमाने विभेदेपि मिथो नित्यं स्वरूपत' इति, 'ब्राह्मणो मुखमित्येवं मुखाज्जातत्वहेतुतः । यथाऽवदच्छ्रुतिस्तद्वज्जीवो ब्रह्मेति वा भवे'दिति । 'भिन्ना जीवाः परो भिन्नस्तथापि ज्ञानरूपतः । प्रोच्यन्ते ब्रह्मरूपेण वेदवादेषु सर्वशः' इति । नित्येति । अपौरुषेयोऽनुमेयवेदस्तन्मूलत्वम् । स्मृतिः वेदमूला, स्मृतित्वात्, याज्ञवल्क्यस्मृतिवत् । पक्षैकदेशस्य दृष्टान्तत्वम् । वेद्यस्यैवेति । विदुरितिक्रियाकर्मणः एवकारेणाधिभौतिकप्राणादि-

अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ॥ १४ ॥ (३-२-५.)

एकदेशिमतेन समाधानमाह। कथमत्र सन्देहः, विरोधो वा जडजीवब्र-

भाष्यप्रकाशः ।

वयवत्वेन वा अतिरिक्ततया वेदनविषयं भवति, तत् ब्रह्मैव, न तु तदतिरिक्तम् । विलक्षणप्रतीतिविषयस्य कथमपृथक्त्वमित्याशङ्कावारणाय अर्थान्तरकल्पनेनास्य भेदपरत्ववारणाय च भेदाङ्गीकारे बाधकमाह मृत्योः स इत्यादि । इवशब्दं विनापि भेददर्शननिन्दासिद्धेस्तद्वैयर्थ्यं स्यादिति तत्प्रयोजनमाहुः इवेत्यादि । तथाच घटपटवत् घटान्तरवत् तरुकुसुमवच्च तत्त्वतो नानेव नाना पश्यति तस्य दोषः, न त्वैच्छिकं विलक्षणप्रतीत्युत्पादकं यः पश्यति, तस्य दोषः । तादृशस्य श्रौतत्वेन वास्तवत्वादिति बोधनं प्रयोजनमित्यर्थः । सिद्धमाहुः तस्मादित्यादि । यस्मादुपनिषत्सु सर्वत्रोभयलिङ्गमुच्यते, भेदश्च सर्वप्रकारेण निषिध्यते, तस्मात् तथेति श्रुतीनामबोधकत्वमेव प्रसक्तमित्यर्थः । एवमत्राधिकरणे आक्षेपसङ्गत्या विरोधः साधितः ॥ १३ ॥ इति चतुर्थमुभयलिङ्गाधिकरणम् ॥ ४ ॥

अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ॥ १४ ॥ सङ्गतिं वदन्तोधिकरणमवतारयन्ति एकदेशीत्यादि । अयं ह्येकदेशी ब्रह्मण एकदेशेन जगत्समवायित्वं तदतिरिक्तस्य जगद्वैलक्षण्यं स्वरूपतः सधर्मकत्वं स्वेच्छया व्यवहार्यत्वं ज्ञानात्मकं ब्रह्मण आकारं च मन्वानो ज्ञानाकारस्य ब्रह्मणः प्रपञ्चे प्रतिबिम्बेन लौकिकधर्मवत्त्वभानं मनुते । तन्मतेन विरोधसमाधानमाहेत्यर्थः । अस्याग्रे किञ्चिदंशेनादरणीयत्वादादावेतन्मतेन कथनम् । तत्रैकदेशी स्वमतं व्युत्पादयितुं पूर्वाधिकरणसन्देहं सिद्धान्तं चाक्षिपन्ननुयुङ्क्ते कथमित्यादि । अत्रोभयलिङ्गवाक्यश्रवणे किमापाततः

रश्मिः ।

व्यवच्छेदः । मनसा मानसीसेवानिविष्टेन । ब्रह्मैवेति । 'एकमेवाद्वितीय'मिति श्रुतेर्ब्रह्म, न तु तदतिरिक्तमित्येनकारार्थः । सात्त्विकज्ञानविषयत्वेन तत्स्मृत्युपष्टम्भात् । विलक्षणेति । प्रतीतिशब्देन शब्दात्प्राबल्यम् । अर्थान्तरेति । अर्थः भेदपक्षे नानेव यत्किञ्चिद्भेदद्रष्टुः निन्दाश्रावणात्, किं पुनरभेदद्रष्टुरित्येकः । द्वितीयस्तु 'य इह नानेव पश्यति' भेदमिव पश्यति किं पुनर्भेदमिति । तदुभयादन्योर्थोऽर्थान्तरम् । यथा 'य इह स्वप्ने' नानेव भातं ब्रह्म पश्यति 'अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थित'मिति ब्रह्मप्रकरणीयगीतावाक्याद्ब्रह्म तादृक् 'स मृत्योर्मृत्युमाप्नोति' । तथाच स्वप्नाध्याये आत्मदर्शनस्य मृत्युजनकत्वमुक्तम् । एवमर्थान्तरकल्पनेनेत्यर्थः । भेदाङ्गीकार इति । 'बहु स्या'मितीच्छातः पूर्वं नानेव भाते भेदाङ्गीकारे । तत्प्रयोजनमिति । ब्रह्मस्वरूपे इवार्थसाधनं गीतानुरोधेन फलम् । तस्यस्त इत्यादि । इच्छातोपि पूर्वम् । नानेव वर्तमानं नाना तत्र भेदं पश्यति । विलक्षणेति । नाना, भेदमिति यावत् । तादृशस्येति । ऐच्छिकभेदस्य । अतएव भेदाभेदवादः । तादृशस्य नानेव भानस्येति वार्थः । श्रौतत्वं तु मुखपद्माद्विनिःसृतत्वेन वेदत्वाद्गीतायाः । तथेति । जीवपरत्वेन प्रतीतानां विरोधादपि तथा । एवेति । उभयलिङ्गवस्त्वस्य वक्ष्यमाणत्वेनानिष्पत्तेस्तथा । आक्षेपेति । अबोधकत्वमाक्षेप्यमिति विरोधाग्रे तन्निराकरणयोराक्षेपसङ्गत्येत्यर्थः ॥ १३ ॥ इति चतुर्थमुभयलिङ्गाधिकरणम् ॥ ४ ॥

अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ॥ १४ ॥ सङ्गतिमिति । आक्षेपसङ्गतिं समाधानपदेन वदन्तः । आक्षेप्यविरोधसमाधानात् । मुख्यसिद्धान्तं त्यक्त्वैकदेशिमतकथने बीजमाहुः अस्याग्र इति । एकदेशिमतस्य । अनुयुङ्क्त इति । अत्रैकदेशी जैमिन्यादीनां सौत्राणामन्यतमो नोदयति

१. विरोधे । २. अविरोध आक्षेप्यः ।

र्माणां विधिनिषेधयोः। जडजीवयोर्हि जडजीवधर्मा भवन्ति। अन्यत्र तूपदिश्यमाना उपासनार्था भवन्ति। ननूक्तो भेदाभावः। सत्यम्। तथापि कार्यकारणांशांशिभावकृतस्य भगवद्विहारार्थं जातस्य भेदस्य निषेद्धुमशक्यत्वात्। तस्मात् ब्रह्मणि जडजीवधर्माणां निषेधो युक्तः। उपचारात्तु सर्वकर्मादयः।

विपरीतं किं न स्यात्, अत आह। अरूपवदेव। रूप्यते निरूप्यते व्यवह्रियत इति रूपं सर्वव्यवहारविषयत्वम्, तद्युक्तं रूपवत् विश्वम्। ब्रह्म तु

भाष्यप्रकाशः।

सन्देहः, उत ब्रह्मणि जडजीवधर्माणां विधिनिषेधयोर्विरोधनिर्धारात्। विरोधश्च किमुभयलिङ्गश्रवणात्, उतोभयलिङ्गवतोर्भेदनिश्चयादिति। तत्र सन्देहे द्वितीयं हेतुं निरस्यति जडजीवयोरित्यादि। तथाच द्वितीयस्य हेतोरभावात् ततः सन्देहो न युक्त इत्यर्थः। सन्देहे द्वितीयं हेतुं निरस्य स्वमतं साधयितुं विरोधद्वितीयहेतुमुज्जीवयति नन्वित्यादि। तथापीति। उक्तत्वेपि। तथाच तादृशस्यापि निषेधे 'बहु स्या'मित्यादेः 'स वै नैव रेम' इत्यादेश्च पीडया सृष्टिदशायां भेदाभावस्यैवाशक्यवचनत्वात् द्वितीय एव हेतुरवश्यमभ्युपेय इति तादृग्वाक्यश्रवणादापातत एव सन्देहः, उभयलिङ्गवतोर्भेदनिश्चयादेव च विरोध इत्यर्थः। तेन सिद्धं स्वसिद्धान्तमाह तस्मादित्यादि।

एवमेकदेशिसिद्धान्तेन समाधानं सङ्क्षेपतो निरूप्य, तदेव विशेषतो वक्तुं सूत्रमवतारयन्ति विपरीतमित्यादि। ब्रह्मण उपादानकारणत्वं पूर्वं सिद्धम्। अतः कारणधर्मा एव सर्वकर्मादयः कार्ये प्रतीयन्ते, सुवर्णरूपादय इव कटकादिषु, अतस्ते युक्त्या श्रुत्या च तत्र सिद्धा इत्यनेकप्रमाणसिद्धत्वात् विधिपक्षोपि युक्त इति स एव कुतो न स्यात्, विरोधपक्ष एव वा कुतो न स्यादित्याश-

रश्मिः।

स्येत्यर्थः। अत्रेत्यस्य व्याख्यानमुभयेति। जीवब्रह्मलिङ्गवाक्यश्रवणे। आपाततो निर्धारं विना। जीवधर्मा ब्रह्मधर्मा वेति सन्देहः। एवं पूर्वाधिकरणसन्देहमुक्त्वा विरोधमाहुः सिद्धान्तरूपम्। विरोधश्चेति। उभयलिङ्गवतोर्ब्रह्मजीवयोः। 'न भेदा'दिति सूत्रे भेदस्य निश्चयादाशङ्कांशे। तथाच भाष्यार्थ एवम्। विरोधो वा जडजीवधर्मसम्बन्धिनोः सर्वकर्मादिवाक्यास्थूलादिवाक्यगतविधिनिषेधयोः श्रवणादिति। निरस्यतीति। एकदेशी। तत इति। हेत्वभावात्सन्देहो न युक्तः। एतेन पूर्वाधिकरणसन्देह आक्षिप्त इत्याक्षेपसङ्गतिरुक्ता। उज्जीवयतीति। शङ्कामुखेन प्रतिपादयति। उक्तत्वेपीति। 'प्रत्येकमतद्वचना'दिति हेतुनोक्तत्वेपि। तादृशस्येति। क्रीडोपयोगिभेदस्येत्यर्थः। तेनैकदेशी जैमिनिः शिष्य इत्युक्तम्। पूर्वतन्त्रे भेदस्य द्वितीयाध्यायार्थत्वात्। तादृशस्येति। एवेति। भेदव्यवच्छेदकः। द्वितीय एवेति। उभयलिङ्गवतोर्भेदरूपः। एवकारः प्रथमहेतुव्यवच्छेदकः। आपातत एवेति। एवकारो ब्रह्मणि जडजीवधर्माणां विरोधनिर्धाररूपद्वितीयहेतुव्यवच्छेदकः। एवेति। उभयलिङ्गश्रवणरूपहेतुव्यवच्छेदकः। विरोध इति। सिद्धान्तः। तस्मादित्यादीति। भाष्ये। निषेध इति। अस्थूलादिश्रुतिषु निषेधः। उपचारादंशांशिभावसम्बन्धरूपात्तु सर्वकर्मसर्वकामादयो ब्रह्मणि जीवधर्मा इत्यर्थः। प्रकृते। तदेवेति। अन्ययोगव्यवच्छेदक एवकारः। पूर्वमिति। द्वितीयाध्याये समन्वयाधिकरणोक्तं उपादानकारणत्वं मतान्तरनिरासेन सिद्धम्। एवेति। कार्यधर्मयोगव्यवच्छेदक एवकारः। तत्रेति। ब्रह्मणि सिद्धाः। अतो नोपचार इति भावः। विरोधेति। पूर्वाधिकरणसि-

तद्विलक्षणम्। कार्यकारणांशांशिनोर्वै[illegible]स्य युक्तत्वात्। नन्ववैलक्षण्यमपि युक्तम्, कारणत्वात्, अत आह। तत्प्रधानत्वात्। तस्य ब्रह्मणः प्रधानत्वान्मुख्यत्वात्। यत्र हि यत् प्रतिपाद्यते, तत्र तस्य मुख्यत्वम्। ब्रह्मप्रतिपादने ब्रह्मधर्माणामेव मुख्यत्वम्, नान्यधर्माणाम्। यथा प्रशासनस्य मुख्यत्वम्, तथा 'सर्वकर्मे'ति लौकिककर्मानुवादेन भगवत्सम्बन्धे स्पष्टमेवामुख्यत्वम्। विशि-

भाष्यप्रकाशः।

ङ्कायामेकदेशिमतेन समाधिं वक्तुं ब्रह्मणः प्रपञ्चवैलक्षण्यं तत्समवायित्वादिकं चाहेत्यर्थः। तेन सर्वकर्मत्वादयो धर्माः पाणिपादादयश्च ब्रह्मणि सन्ति न वेति सन्देहः। उभयविधवाक्यश्रवणं सन्देहबीजम्। सन्तीति पूर्वः पक्षः। न सन्तीति तन्मते समाधानमिति बोधितम्। समाधानव्युत्पादनाय सूत्रं व्याकुर्वन्ति रूप्यत इत्यादि। हेतुं व्युत्पादयन्ति यथेत्यादि। तथेति। वैधर्म्ये दृष्टान्तः। भगवत्सम्बन्ध इति। विधीयमान इति शेषः। तथाच तत्र 'एतद्वै तदक्षर'मिति ब्रह्मैवोपक्रम्य प्रशासनस्योक्तत्वात् तस्य मुख्यत्वम्, अत्र तु 'मनोमयः प्राणशरीर' इति शरीरविशिष्टमुपक्रम्य पठितत्वात् तथेत्यर्थः। नन्वत्र न केवलोनुवादः, किन्तु लौकिकधर्मतुल्य-

रश्मिः।

द्धान्तपक्षः। एवकार एकदेशिमतयोगव्यवच्छेदकः। उभयेति। सर्वकर्मास्थूलादिरूपविधिनिषेध(द्वि)विधवाक्यश्रवणम्। समाधीति। पूर्वपक्षस्तु सर्वकर्मत्वादयो धर्मा ब्रह्मणि सन्तीति सिद्धान्तेन सेत्स्यति। भाष्ये। युक्तमिति। घटकपालद्वययोर्मृत्त्वेनावैलक्षण्यमपि युक्तम्। तस्येति। घट इत्युक्ते घटस्य मुख्यत्वं यथा। ब्रह्मणोऽधोक्षजत्वाद्ब्रह्मेत्यनुक्त्वा धर्मपर्यन्तानुधावनम्। ब्रह्मधर्मा अस्थूलादयस्तेषाम्। अन्यधर्मा जीवधर्मत्वेन प्रतीताः सर्वकर्मादयस्तेषाम्। एवकारव्यवच्छेद्यमाहुः नान्येति। एवकारेण न ब्रह्म व्यवच्छेद्यमधोक्षजत्वात्। प्रकृते। व्युत्पादयन्तीति। दृष्टान्तेन स्पष्टयन्ति। यथेत्यादीति। प्रशासनस्येत्यादि। मधुब्राह्मणान्त उक्तस्य। 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्ममयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्यनुशासन'मिति श्रुतिः। यद्वा। प्रशासनं 'अथ ह वाचक्नव्युवाचे'त्यारम्भकेऽक्षरब्राह्मणोक्तं प्रशासनं तस्येत्यर्थः। 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिवी विधृते तिष्ठत' इति श्रुतिः। भाष्ये। लौकिकेति। जीवधर्मत्वेन प्रतीतकर्मणामनुवादेन सिद्धकथनेन। स्पष्टमेवेति। एवकार आरोपापवादसङ्गतेरपि। अमुख्यत्वमौपचारिकत्वम्। जीवधर्मत्वेन प्रतीतधर्मविरोधपरिहारोत्र निरूप्यत इति सर्वत्वविशिष्टकर्मणामजीवधर्मत्वेन निरूपणविरोधमाशङ्क्य समादधुः विशिष्टेति। सर्वत्वविशिष्टकर्मबोधनेपि। प्रसिद्धसिद्धकथकत्वात्। प्रसिद्धातिरिक्तकर्मकल्पनायाम्। प्रमाणेति। 'सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्या' इति दृष्टान्तसहितशब्दप्रमाणवद्विलक्षणप्रमाणाभावात्। ननु सर्वकर्मणां सर्वकामानां प्रारब्धसञ्चितादिरूपत्वात्पशुपुत्रादिविषयत्वाच्च कथमविरोध ईश्वरपरत्वेनेत्यत आरोपेणेत्याह यथाकथञ्चिदिति। उपासनायां बोध्यम्। एतेन पादार्थो जीवस्य मुक्तियोग्यता सापि स्मारिता। एवकारो 'वाचं धेनुमुपासीते'त्यादौ तथा दर्शनात्। एवेति। ननु सर्वकर्मत्वादीन् छान्दसाननूद्य। निषेधार्थं सर्वकर्मत्वादिवैशिष्ट्यबोधनमुचितम्। प्रक्षालनपङ्कन्यायेन प्रतिपादनवैयर्थ्यापातात्। तथेति। वैधर्म्ये इति। दृष्टान्ते मुख्यत्वपदम्, दार्ष्टान्तिकेऽमुख्यत्वपदमिति साधर्म्ये दृष्टान्तवैषम्यमाशङ्क्योक्तम्। उक्तार्थसिद्धमाहुः तथाचेति। 'अथ ह वाचक्नव्युवाचे'त्यारम्भकेऽ-

१. समाधि। २. नानुवाद इति मूले पाठः।

ष्टबोधनेपि सर्वशब्दस्य प्रसिद्धानुवादकत्वादतिरिक्तकल्पनायां गौरवात् प्रमाणाभावाच्च यथाकथञ्चित्तद्धर्मवत्त्वेन ज्ञानस्यैवोपयोगाल्लोकधर्मानेवानूद्य विशिष्टबोधनमुचितम् । अरूपमिति वक्तव्ये अरूपवदिति वचनम्, भिन्नधर्माणामेवैवं निर्णयः, न तु प्रशासनवद्भगवद्धर्माणाम् । तस्मात् कार्यवत् तद्धर्माणामपि कार्यत्वात् भगवत्त्वम्, न भगवद्धर्मत्वमिति सिद्धम् ॥ १४ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

धर्मवत्ता ब्रह्मणो बोध्यत इत्यत्रयुत्यानुवादान्नैतेषामप्यमुख्यत्वम्, अत आहुः विशिष्टेत्यादि । मास्तु सर्वकर्मादिशब्दानामनुवादकत्वम्, तथापि के सर्वे इत्याकाङ्क्षायां ये लोकप्रसिद्धास्तानेव सर्वपदेनानूद्य, 'कुन्त्या हि सदृशौ पादौ दृष्ट्वा कर्णस्य धीमत' इतिवत् सर्वेषामिव कर्माणि यस्येति तत्तुल्यानामतिरिक्तानां विधानं समासेऽङ्गीकार्यम्, तथा सति गौरवात्, सर्वकर्मादिश्रुतेर्वादकवलितत्वात् तदतिरिक्तस्यैतद्धर्मविधायकप्रमाणस्याभावाच्चातिरिक्तकल्पनामकृत्वा यथाकथञ्चित् तद्धर्मवत्त्वेन ज्ञानस्यैवोपासनायामुपयोगाल्लोकधर्मानेवानूद्योपचारेण शरीरधर्मविशिष्टबोधनं युक्तमित्यर्थः । ननु यदि सर्वकर्माद्यभावेन सर्वव्यवहारातीततया जगद्वैलक्षण्यं सूत्रकृतोभिप्रेतं स्यात्, तदा अरूपमित्येव वदेत्, नत्वरूपवदिति, वदति त्वेवम्, अतोतिरिक्तधर्मकल्पनैव युक्तेत्यत आहुः अरूपमित्यादि । एवं निर्णय इति । औपचारिकत्वनिर्णयः । तथाच लोकवैलक्षण्येन लौकिकव्यवहारातीतत्वमेवाभिप्रेतम्, न तु यावद्व्यवहारातीतत्वम्, अस्थूलादिवाक्य एव प्रशासनश्रावणेन तथा निश्चयादिति बोधनाय तथा कथनम्, अतो नानेनातिरिक्तधर्मकल्पनसिद्धिरि-

रश्मिः ।

क्षरब्राह्मणे श्रुतिरियम् । मुख्यत्वमिति । ब्रह्मरूपत्वान्निन्दितस्यापि मुख्यत्वं प्रकाशाश्रयन्यायेन । अत्र त्विति । छान्दोग्यीयपञ्चमप्रपाठके तु । पठितत्वादिति । 'सर्वकर्मा सर्वकाम' इत्यादेः पठितत्वात् । तथेति । अमुख्यत्वमौपचारिकत्वम् । अनुवाद इति । जीवधर्माणां सिद्धानां कथनम् । अवयुत्येति । लौकिकधर्मान् तुल्यत्वेन रूपेणालौकिकधर्मेषु मिश्रीकृत्य । एतेषामिति । सर्वकर्मत्वादीनाम् । अमुख्यत्वमिति । औपचारिकत्वम् । ननु शक्यस्य तौल्यसम्बन्धरूपा लक्षणा कुतो नेति चेत् । न । तथा सति लौकिकधर्मपदप्रयोगः स्यात्, अलौकिकधर्मेषु, तीरे गङ्गापदप्रयोगवत् । अतो नौपचारिकत्वमिति । अनुवादकत्वमिति । जीवे सिद्धानां कथकत्वमीश्वरे । मास्त्विति । पूर्वोक्तावयुत्यानुवादकत्वमस्तु । यथाकथञ्चिदिति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म यथाकथञ्चिदिति । उपचारेणेति । तेषामुपचारेणालौकिकान् हित्वा लौकिकानेवारोप्यापवादार्थं तैर्धर्मैः शरीरविशिष्टबोधनमित्यर्थः । अतिरिक्तेति । आरोप्यातिरिक्तनित्यधर्मकल्पना । एवकार आरोप्यधर्मयोगं व्यवच्छिनत्ति । अरूपमित्यादीति । रूपं सर्वव्यवहारविषयत्वम्, अरूपं सर्वलौकिकव्यवहारातीतत्वम् । इति वक्तव्ये रूपवद्विश्ववैलक्षण्यायारूपवदितिवचनम्, भिन्नधर्माणां विश्वगतानामेव, नतु भगवद्गतानामिति वक्ष्यन्ति । एवं आरोप्यत्वेन निर्णयः । एवकारव्यवच्छेद्यमाहुः नन्विति । तद्धर्माणामिति । कार्यधर्माणाम् । नेति । नञा भेदोक्तेर्नेति । भेद एव विलक्षणशब्देनोच्यते, ब्रह्म तु तद्विलक्षणमिति भाष्ये । तदेतदाहुः तथाचेति । पूर्वोक्तविश्ववैलक्षण्येन । एवेति । अरूपवदित्यत्र नञा भेदप्रत्यायनाद्विलक्षणं न भेदातिरिक्तमिति भेदातिरिक्तविलक्षणयोगव्यवच्छेदकैवकारः । अन्यमप्येवकारव्यावर्त्यमाहुः नन्विति । एको वाच्यः, एकस्तात्पर्यविषयः । अत्र हेतुमाहुः अस्थूलादीति । तथेति । लौकिकव्यवहारातीतत्वम्, नतु सर्वव्यवहारातीतत्वमिति निश्चयात् । तथेति । मतुबन्तारूपवत्पदकथनम् । अनेनेति । अरू-

१. धर्मवत्त्वेन । २. वैशिष्ट्यबोधनम् ।

प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात् ॥ १५ ॥

ननु सर्वव्यवहारातीते शास्त्रवैफल्यम्, 'मनसैवैतदाप्तव्य'मिति विरोधश्च न परिहृतः, 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' 'यतो वाचो निवर्तन्त' इति चेत्यत आह । प्रकाशवत् । यथा सौरः प्रकाशो व्यवहार्योऽव्यवहार्यश्च, न हि स्वतः सम्पादयितुं शक्यते, स्थापयितुं वा, आगते तु सूर्ये मेघाद्यभावे च सान्निध्यमात्रेण व्यवहारः कर्तुं शक्यते, तथा लौकिकवाङ्मनोभिर्न शक्यते व्यवहर्तुम्, ईश्वरसन्निधाने तु शक्यत इति द्वयमाह श्रुतिः । कुत एतदवगम्यते । तत्राह । अवैयर्थ्यात् । अन्यथा शास्त्रं व्यर्थं स्यात् । चकाराद्धर्माणां तथात्वविरोधः परिहृतः । 'आसीनो दूरं व्रजति' 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणो-

भाष्यप्रकाशः ।

त्यर्थः । तेन सिद्धमाह तस्मादित्यादि । कार्यवदिति । प्रपञ्चवत् । न भगवद्धर्मत्वमिति । न नित्यभगवद्धर्मत्वम् ॥ १४ ॥

प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात् ॥ १५ ॥ सूत्रमवता[illegible]ति नन्वित्यादि । सर्वकर्मत्वादीनामौपचारिकत्वात् प्रशासितृत्वादीनां चालौकिकत्वेन सम्यग्बुद्धावनारोहात् सर्वव्यवहारातीते ब्रह्मण्यङ्गीकारे कृते ज्ञेयत्वेनापि व्यवहारस्यासम्भवाज्ज्ञानार्थस्य विचारशास्त्रस्य वैफल्यम् । 'मनसैवैतदाप्तव्य'मिति विरोध इति । सर्वव्यवहारातीतस्य मनोविषयत्वाभावेन, तथा एतस्याः श्रुतेः 'अप्राप्य मनसा सहे'त्यनेन च सह विरोधो न परिहृत इत्यर्थः । अस्मिन् सूत्रे प्रकाशवदिति न मतुप्, किन्तु तृतीयान्ताद्वतिः । पूर्वसूत्रादेकदेशभूतमपि तत्पदमनुवर्तते । तत् ब्रह्म प्रकाशेन तुल्यम् । तत्र कथं तुल्यमित्याकाङ्क्षायां सूत्रं व्याकुर्वन्ति यथेत्यादि । व्यवहार्यत्वाव्यवहार्यत्वे व्युत्पादयति नहीत्यादि । स्थापयितुमिति । आयातो यथा नापयाति तथा निरोद्धुम् । सन्निधाने तु शक्यत इति । उपासनादिसाधनेनेश्वरसन्निधाने प्रतिबन्धकाभावाच्छक्यते । द्वयमिति । मनसा वाचा चावाप्यमनाप्यं चेति द्वयम् । शास्त्रमिति । मनसैवैतत्, तापनीयरूपम्, ज्ञानफलबोधकं 'तमेवे'त्यादिरूपं चेत्यादिकं उभयबोधकं शास्त्रम् । प्रकाशतुल्यत्वसङ्ग्राहकचकारसूचितं धर्माणां लौकिकत्वादिविरोधपरिहारं व्याकुर्वन्ति आसीन इत्यादि । अलौकिका इति । लोकविरुद्धाः ।

रश्मिः ।

पवत्पदेन । अतिरिक्ताः धर्मा वैदिकाः तेषां कल्पनस्य सिद्धिरारोपार्थम् । नित्येति । साक्षात् । साक्षाद्धर्मा नित्यभगवद्धर्माः ॥ १४ ॥

प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात् ॥ १५ ॥ बुद्धाविति । यथा बालस्य शृङ्ग्यग्नितोयादिभ्यो वारितस्य बुद्धौ वारणादेरनादरस्तद्वत् । मनसेति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म मनसैवेति । इति चेति भाष्यीयचकारार्थमाहुः एतस्या इति । सन्निधाने तु शक्यत इति । ईश्वरसन्निधानं हृदि 'प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेणे'तिवाक्यात् । फलप्रकरणे प्रसिद्धम् । व्रजभक्तेषु ईश्वरसन्निधानं भगवद्वाक्यपूर्वपक्षीकरणसमये । प्रतिबन्धकेति । अलौकिके तु लौकिकत्वरूपप्रतिबन्धकाभावात् । तापनीयेति । 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः । दिवीव चक्षुराततम्' । एवंरूपं शास्त्रम् । अत्र मनश्चक्षुषोः करणत्वविरोधः । तमेवेति । 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेती'ति । किञ्चादिना 'यतो वाच' इत्यपि । अत आहुः उभयेति । मनश्चक्षूरूपकरणबोधकम् । मनसा वाचा चावाप्यमनाप्यं चेति बोधकम् । धर्माणा-

त्यकर्णं' इत्यादावलौकिका भगवद्धर्मा उच्यन्ते । अकारणककार्यवचनात् तद्धर्माणां चाकार्यत्वं बोधयति । तस्मादव्यवहार्येपि न शास्त्रवैफल्यम् ॥ १५ ॥

आह च तन्मात्रम् ॥ १६ ॥

किञ्चिदाशङ्क्य परिहरति । नन्वलौकिकानीन्द्रियाणि विरोधाभावाय कथं न कल्प्यन्ते, अन्यथा अकारणककार्यत्वम्, तस्य च नित्यत्वमलौकिकत्वम्, ततश्च 'पश्यत्यचक्षु'रिति विरोध इत्याशङ्क्य परिहरति । आह च श्रुतिः स्वयमेव तन्मात्रं प्रज्ञानघनमात्रम् । 'स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवं वा अरे अयमात्मानन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एवे'ति स्वरूपातिरिक्तानामिन्द्रियाणामभावात् । नच क्रियाभावोपि । वेदविरोधेन तथा कल्पयितुमशक्यत्वात् । वेदनिःश्वासायनभूतसमुत्थानादेरुक्तत्वाच्च । अतो नेन्द्रियाणां परिक-

भाष्यप्रकाशः ।

अकार्यत्वमिति । नित्यत्वम् । तस्मादिति । अलौकिकधर्मसत्त्वाच्छास्त्रस्य च सन्निधानार्थत्वात् ॥ १५ ॥

आह च तन्मात्रम् ॥१६॥ सूत्रमवतारयन्ति किञ्चिदित्यादि । एतस्यैव विभागो नन्वित्यादि । विरोध इति । लोकविरोधः । सूत्रं व्याकुर्वन्ति आहेत्यादि । तथाच कृत्स्नस्य प्रज्ञानघनत्वोक्त्या शास्त्रतः प्रतीयमानस्य सर्वस्य केवलज्ञानात्मकताया एव सिद्धेः स्वरूपातिरिक्तानामिन्द्रियाणामभावादतिरिक्तेन्द्रियकल्पना न युक्ता । नचेन्द्रियाभाववत् क्रियाया अभावोपि शङ्क्यः । दूरव्रजनादिबोधकवेदवाक्यविरोधेन तथा कल्पयितुमशक्यत्वात् । नच तत्प्रकरणान्तरत्वाच्छरीरविशिष्टबोधनपरमिति शङ्क्यम् । अत्रापि वेदनिःश्वासायनभूतसमुत्थानादेः श्रावणेन श्वासोच्छ्वासजगत्स्थापनभूतसमुत्थानतदनुविनाशनक्रियाणामुक्तत्वादित्यर्थः । उक्तत्वाच्चेति । चकारः 'प्राण-

रश्मिः ।

मिति । सर्वकर्मत्वादीनाम् । आदिनाऽलौकिकत्वम् । भाष्ये । अकारणेति । दूरं व्रजनस्य आसनमुपवेशनं न कारणम् । 'गतिरिति पादयो'रिति श्रुतेः । अपाणेर्ग्रहीतृत्वमकारणककार्यम् । पाण्यभावस्याकारणत्वात् । तथाऽपादो जवन इत्यादि । तद्धर्माणां चेति । अकारणककार्यधर्माणां अकार्यत्वमलौकिकत्वात् ॥ १५ ॥

आह च तन्मात्रम् ॥ १६ ॥ एतस्यैवेति । अव्याख्यानार्थव्यवच्छेदक एवकारः । विभाग इति । व्याख्यानम् । पूर्वं व्याख्यानात् । एवेति । अश्रुतत्वादन्यव्यवच्छेदकः । क्रियाया इति । 'ज्ञानशक्तिक्रियाशक्ती सन्दिह्येते परस्थिते' इति भाष्योक्तायाः । नचेत्यारभ्य हेत्वन्तं भाष्यं विवृतम् । वेदेत्यादिभाष्यं विवरीतुमाहुः नचेत्यादिना । प्रकरणं जीवपरत्वेन प्रतीतधर्माणाम् । तदन्यत्प्रकरणं शुद्धब्रह्मप्रकरणं प्रकरणान्तरं तत्त्वात् । शरीरेति । आकाशरूपशरीरविशिष्टेत्यर्थः । परब्रह्मणोऽधोक्षजत्वात् । विवृण्वन्ति स्म अत्रापीति । अत्रापि गार्गिब्राह्मणद्वयेपीत्यर्थः । जीवपरत्वधर्माणां द्वाभ्यामेव प्रतीतेः । एकत्र 'विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्य' इति पठनम्, एकत्र 'प्रज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्य' इति पठनमिति । वेदनिःश्वासायनं च भूतसमुत्थानं च तदादेः । श्रावणेनेति । 'स यथार्द्रैन्धाग्ने'रित्यारभ्य 'निराशितानी'त्यन्तश्रुतौ श्रावणेन । 'प्रज्ञानघन एवे'त्युक्त्वाग्रे पठ्यते 'एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु

१. धर्माणां च कार्यत्वमिति पाठः । २. अलौकिकधर्मबोधनार्थत्वादिति पाठः मूले ।

ल्पना, किन्तु सर्वाकारस्वरूपं वस्त्वेव तादृशमिति मन्तव्यम् । कृत्स्नवचनात् । चकारात् 'सर्वेन्द्रियविवर्जित'मिति स्मृतिरपि । तस्मान्नेन्द्रियकल्पनया अविरोधः ॥ १६ ॥

दर्शयति चाथोपि स्मर्यते ॥ १७ ॥

पुनः प्रकारान्तरेण विरोधमाशङ्क्य परिहरति । ननु ब्रह्म जगत्कारणमिति सिद्धम्, तच्च समवायि निमित्तं चेति च, कारणधर्मा एव हि कार्ये भवन्ति, असम्भावनायां त्वन्यथा कल्पनम्, कामाद्यो धर्माश्च श्रुतौ विहिताः, ते ब्रह्मण एव भवितुं युक्ताः, निषेधिकापि श्रुतिः, न हि वेदवादिनामणुमात्रमप्यन्यथा कल्पनमुचितमित्याशङ्क्य परिहरति ।

भाष्यप्रकाशः ।

मेव प्राणो भवती'त्यादेः समुच्चायकः । विषयवाक्यसिद्धमर्थं निगमयन्ति अत इत्यादि । अकृत्स्नत्वबुद्ध्युत्पादकप्रकारसत्त्व एव तन्निवारकस्य कृत्स्नपदस्य सार्थक्यसिद्धेस्तद्वचनात् तथेत्यर्थः । सिद्धमाहुः तस्मादित्यादि । क्रियाणां केवलज्ञानात्मकेन स्वरूपेणैव सिद्धत्वान्न तदनुरोधेनापि तथेत्यर्थः ॥ १६ ॥

दर्शयति चाथोपि स्मर्यते ॥१७॥ पुनरित्यादिना सूत्रमवतार्य तद्विभजन्ति नन्वित्यादि । असम्भावनायां त्वन्यथा कल्पनमिति । कार्यासाधारणधर्माणां कार्यत्ववत् कारणे असम्भावनायां तु विवर्तवादस्य वा असतः सत्ताया वा आश्रयणेन श्रुतिविरुद्धं कल्पनम् । इत्याशङ्क्येति । एवं प्रकारेण विरोधमाशङ्क्य ।

रश्मिः ।

विनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्तीत्यरे ब्रवीमीति होवाच याज्ञवल्क्य' इत्यनया श्रावणेन । पूर्वश्रुतौ श्वासोच्छ्वासः वेदशब्दजन्यजगतः स्थापनम् । 'कार्यवत्तद्धर्माणा'मित्युक्तभाष्ये कार्यप्रसङ्गे तद्धर्माणामुक्तेर्जगत्स्थापनमुक्तम् । द्वितीयायां भूतसमुत्थानादिकं स्पष्टम् । छान्दोग्यीयाष्टमोपदेशानुसारेण सर्वभूतसमुत्थानम्, नतु ताम्बूलपूगीफलादिजन्यमदशक्तिवदित्याहुः उक्तत्वादिति । तथाच निलीनप्राणादेराविर्भावः, नतु तत्रासत्याया मदशक्तेरित्यर्थः । 'नासतो विद्यते भाव' इति वाक्यात् । विषयेति । विषयवाक्यं 'स यथा सैन्धवे'त्युक्तम् । तत्सिद्धमर्थम् । अत इति शब्देन पञ्चम्यन्तेन घटितं भाष्यमिति निगमयन्तीत्युक्तम् । तस्मात्पर्वतो वह्निमानितिवत् । सर्वाकारत्वसमर्थनायाहुः अकृत्स्नत्वेति । तादृशप्रकारः प्रज्ञानस्य गुणत्वप्रकारः । तद्वचनादिति । कृत्स्नपदवचनात् । तथा प्रज्ञानघनत्वेन गुणगुणिसर्वाकारस्वरूपं वस्त्वेव, न तु मिश्रम् । तादृशमित्यर्थः । क्रियाणामिति । 'प्राण[illegible]दौ प्राणेन्द्रियानुकूलक्रियाणाम् । स्वरूपेण स्वसत्तारूपेण । एवकारोऽसतः सत्ताव्यवच्छेदकः । तदन्विति । अलौकिकेन्द्रियकल्पनानुरोधेनापि तथा अविरोध इत्यर्थः ॥ १६ ॥

दर्शयति चाथोपि स्मर्यते ॥१७॥ नन्वित्यादीति । विरोधमिति । कामाकामबोधकश्रुतिविरोधम् । कार्येति । कार्यासाधारणधर्माः अनित्ये जननदास्यसाधनकर्तृत्वानपहतपाप्मत्वानि तेषाम् । कार्यस्येति । षष्ठ्यन्ताद्वतिः । श्रुतीति । 'यतो वा इमानी'ति श्रुतिविरुद्धम् । भाष्ये । कामाद्य इति । शारीरकब्राह्मणे 'काममय एवायं पुरुषः यथाक्रतुर्भवति, तत्कर्म कुरुत' इति श्रुतौ तत्कर्मा । 'तदभिसम्पद्यत' इति श्रुतौ तत्कर्मसम्पन्नः । एवं विहिताः । अत्र भवतीति लेडन्तं पदमिति । एवेति । न तु जीवस्येत्यर्थः । युक्ता इति । नैयायिका अपि कारणधर्माः कार्यधर्मानारभन्त इत्याहुः निषेधिकेति । 'अथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आत्मकाम आप्तकामो भवती'ति । ज्योतिर्ब्राह्मणेपि 'अथ सुप्तो यत्र न कंचन कामं कामयते न

दर्शयति श्रुतिरेव जडजीवधर्माणां भगवत्यभाव इति। 'द्वे वा व ब्रह्मणो रूपे' इत्युपक्रम्य, द्वेधा पञ्चभूतान्युक्त्वा, 'अथात आदेशो नेति नेती'त्याह। इतिशब्दः प्रकारवाची। ब्रह्म पञ्चमहाभूतानि भवति, न त्वेवंप्रकारकम्। तत् साधयति। न। न भवत्येव ब्रह्म तादृशम्। हि युक्तोऽयमर्थः। 'एतस्माज्जात'मिति। न हि कार्यकारणयोरेकः प्रकारो भवति। अतो 'नेती'ति प्रकारनिषेधोपसंहारः, न तु समवायित्वमात्रत्वम्, किन्तु 'अन्यत् परमस्ति' इति

भाष्यप्रकाशः।

परिहारं वदन्तो दर्शयतिपदसूचितं विषयवाक्यमुपन्यस्य व्याकुर्वन्ति द्वे इत्यादि।

इदं बृहदारण्यके मूर्तामूर्तब्राह्मणे। तत्र 'द्वे वा व ब्रह्मणो रूपे' इत्युपक्रम्य अधिदैवता-ध्यात्मभेदेन द्वेधा पञ्चभूतान्युक्त्वा, 'अथात आदेशो नेति नेती'तिनिषेधमाह। तत्र किं द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं गमयत इति द्वयोः स्थापनमात्रं क्रियते, किं वा वीप्सया पूर्वोक्तं सर्वं निषेधति, उत रूपद्वयमेव निषेधति, अथवा पूर्वप्रतिषेधो भूतराशिं निषेधति, द्वितीयो वासनाराशिमित्यादि-शङ्कायां श्रुतिः स्वयमेव विवृणोति। 'न ह्यस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्ती'ति। अत्र व्याख्येये वाक्ये अथशब्दः प्रक्रमभेदकः। अत इति हेतौ पञ्चमी, ल्यब्लोपे वा। उक्तं रूपद्वयं हेतूकृत्य आदेशः ताभ्यां कार्याभ्यां रूपाभ्यां ज्ञाप्यस्य ब्रह्मण उपदेशो 'नेति नेती'ति। पूर्वं इतिशब्दः प्रकारवाची। तथाच समवायित्वात् ब्रह्म पञ्चभूतानि भवति, न तु इति एवं प्रकारकं पञ्चभूतप्रकारकम्। एषः प्रथमनेत्यर्थः। तदेतद्व्याख्यानेन साधयति। 'न ह्यस्मा'दित्यनेन। न, न भवत्येव ब्रह्म तादृशम्। हि युक्तोयमर्थः। युक्तत्वे हेतुः 'एतस्मा'दिति। यत एतस्माज्जातं तत्। न हि कार्यकारणयोरेकः प्रकारो भवति। अतो व्याख्यानात् प्रथमेन नेतीत्यनेन प्रकारनिषेधोपसंहारः। द्वितीयं नेतीति व्याख्याति 'अन्यत्परमस्ती'ति। भिन्नप्रकारकत्वेपि न तु समवायित्वमात्रत्वम्,

रश्मिः।

कंचन स्वप्नं पश्यति तद्वा अस्यैतत् आत्मकाममाप्तकाममकामं रूप'मिति। **श्रुतिरेवेति**। स्मृति-व्यवच्छेदकः। 'जडजीवधर्माणां भगवत्यभाव' इति श्रुतिर्मूर्तामूर्तब्राह्मणस्थैव दर्शयतीत्यन्वयः। **प्रकृते**। **दर्शयतीति**। प्रज्ञानघनविचारात् सदसद्विलक्षणत्वं तस्य मूर्तामूर्तब्राह्मणे दर्शयति इत्येवं सूचितम्। विषयवाक्यशब्दस्तु सूचितशब्दसमभिव्याहारान्नाधिकरणावयवत्वं वक्ति। अधिकरणावयवे विषयवाक्ये सूत्रपदघटितत्वस्य प्रायो दर्शनात्। **इत्यादीति**। आदिना प्रकारैतावत्तयोर्निषेधो वा। **प्रक्रमेति**। मूर्तामूर्तप्रक्रमभेदकः। **इतिशब्द** इति भाष्यं विवृण्वन्ति **पूर्वं इति**। **ब्रह्मेति**भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **तथाचेति**। एवमिति। एवं पूर्वपरामर्शे पूर्वपरामृष्टपञ्चमहाभूतत्वं तत्प्रकारकं पञ्चमहाभूतत्वप्रकारकं नत्वित्यर्थः। भावप्रधानः पञ्चभूतशब्दः। एष प्रथमनेतीत्यस्यार्थः। **तत्साधयतीति** भाष्यविवरणं **तदेतदित्यादिश्रुतिः**। तामाहुः **न ह्यस्मादित्यनेनेति**। व्याख्यानेनेत्यनेनान्वेति। **एतस्मादि-तीति**। अस्मादिति श्रौतपदार्थः। श्रुतेः प्रत्यक्षमिति इदमः प्रयोगः। आचार्यास्तु तत्काले समीपतरं पश्यन्तीत्येतच्छब्दं प्रयुयुजुः। अत एव कचित्पुस्तके **न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्वमिति** पठ्यते। न हीति-भाष्यविवरणं **नहीति**। अत इति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **अत इति**। **नेतीत्यनेनेति**। व्याख्यान-श्रुतिगतेन नेतीत्यनेन। **नेतीति**। व्याख्येयनेतीतिशब्दौ व्याख्यातश्रुतिर्व्याख्याति। तदेतद्भाष्यवि-

रूपं निरूप्य, नाम निरूपयति। 'सत्यस्य सत्य'मिति। तेन प्रपञ्चातिरिक्तब्रह्मणो

भाष्यप्रकाशः।

किन्त्वन्यत् परमस्तीति। तथाच द्वितीयेन नेतीत्यनेन एतावत्तानिषेधोपसंहारः। तथाचात्र न सर्वनिषेधः, नापि रूपद्वयनिषेधः, नापि भूतवासनाराश्योर्निषेधः, न वा तत्स्थापनमात्रम्, निषेध-पक्षेषु व्युत्पादनपूर्वकप्रतिपादनवैयर्थ्यापातात्, स्थापनमात्रपक्षे निषेधस्य प्रक्रमान्तरस्य च वैयर्थ्य-प्रसङ्गात्, अतः प्रकारैतावत्तयोरेव निषेध इत्यर्थः।

एतदेव निगमयितुमाहुः इतीत्यादि। इत्येवं अरूपत्ववारणाय रूपं निरूप्यानामत्ववार-णाय नाम निरूपयति 'सत्यस्य सत्य'मिति। तत्र व्याख्येयवाक्य इव व्याख्यानवाक्येपि एवं शङ्का स्यात्। हि निश्चयेन। न एतस्मात् किन्त्वाविधकमिति हेतोर्नेति इति, इदं ब्रह्म न भवती-त्युच्यते, किन्त्वन्यत् परं ब्रह्मास्तीति। यद्वा। हि यस्माद्धेतोर्नेति नेतीति वीप्सया मूर्तामूर्ते तद्वा-सनात्मिकामविद्यां तत्कार्यादि च सर्वं निषिध्य सर्वनिषेधावधित्वेन तत्साक्षित्वेन च ब्रह्मैव निर्दिष्टं इति, कृत्वा, नेति नेतीत्येतस्मात् परं उत्कृष्टं ब्रह्मणो निर्देशनं अन्यन्नास्तीति। अथवा। न ह्येतस्माद्ब्रह्मणो व्यतिरिक्तमस्तीति नेतीत्युच्यते, न पुनः स्वयमेव नास्तीत्यर्थः। तच्च दर्श-यति, अन्यत् परमनिषिद्धं ब्रह्मास्तीति त्रिधापि अक्षरयोजना सम्भाव्यते। अतः को वा व्याख्यान-वाक्यार्थ इति, तत्सन्देहं निराकर्तुं नाम निर्वक्ति। 'प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्य'मिति। प्राण-न्तीति प्राणाः पूर्वोक्ता अपरब्रह्मरूपाः तत्कार्यत्वात्। सत्यम्। नाविद्यकाः ब्रह्मविवर्तभूताः। तत्र

रश्मिः।

वरणेनैव विवृण्वन्तोऽन्वयमाहुः **भिन्नेति**। **एतावत्तेति**। पञ्चमहाभूतमात्रतानिषेधोपसंहारः। तथाच इति नाम पञ्चमहाभूतप्रकारेण ब्रह्म नेति द्वितीयनेतीत्यस्यार्थः, किन्त्वन्यत्तत्समवायि परमस्ति तत इति भावः। **नचेति**। नञ्द्वयेन मूर्तामूर्तस्थापनमात्रम्। **व्युत्पादनेति**। निषेधस्य व्युत्पादनेत्यादिः। व्युत्पादनं व्युत्पत्तिः। सा च नश्यतीति नञ्। नच भावे वा डञ् डौ। प्रतिपादनं 'किं द्वौ नञा'-वित्यादिनोक्तपक्षाणाम्। मूर्तामूर्ते नेति न, किन्तु इति उक्तप्रकारेण। **नैयायिकानां प्रसिद्धमिति**। निषेधवीप्सया निषेधादरात्सर्वं निषिद्धम्। नो चेदुपसंहारे न भवेत्। किंवा रूपद्वयनिषेधद्वयमिति यथासंख्यमन्वयः। व्याकरणात्। पूर्वप्रतिषेधो भूतराशिं आध्यात्मिकं निषेधति। द्वितीयो वासनाराशिं अधिदैवतम्। **स्वयमेवेति**। एवकारः स्मृत्यादियोगव्यवच्छेदकः। **एवेति**। प्रतिपादनादन्ययो-गव्यवच्छेदकैवकारः। **इत्येवमिति**। इतिर्हेतावित्यनुक्त्वेत्येवमिति यदुक्तम्, तेन निगमनमेवं प्रकारेणेत्येवं तृतीयान्तोक्तहेतुघटितमिति बोध्यम्। **तत्रेति**। रूपनिरूपणे। एतस्मादित्यस्मादित्यत्र भाष्यानुरोधात्। **आविद्यकमिति**। मूर्तामूर्तरूपं इति हेतोः नेति। इमौ शब्दौ व्याकुर्वन्ति स्म **इतीति**। **इत्येवंप्रकारं** इदं मूर्तामूर्तरूपं ब्रह्म न भवत्याविषयकत्वात् इत्युच्यते। प्रथमं द्वयोः स्थापनमात्रं क्रियत इत्युक्त्वा द्वितीय आहुः **यद्वेति**। तत्कार्यादीत्यादिनाकार्यकार्यग्रहणम्। **सर्वनिषेधेति**। यथा नेदं रजतमिति निषेधे निषेधावधित्वेन शुक्तिस्तद्वत्। **ब्रह्मैवेति**। एवकारेण मूर्तामूर्तयोगव्यवच्छेदः क्रियते। नेतीत्येतस्मादत्यन्तेन ह्यस्मादिति नेतीत्यन्तं व्याख्यानं व्याकृतम्। **परमित्यारभ्यान्य-त्परमस्तीति** व्याकृतम्। नहीति नञोऽत्रास्तिनान्वयः कृतः। उत रूपद्वयमिति तृतीयपक्ष आहुः **अथवेति**। **अत इति**। व्याख्यानवाक्यस्यार्थः। **पूर्वोक्ता इति**। 'प्राणन्नेव प्राणो भवती'ति श्रुत्युपन्यासेन पूर्वसूत्रचकारोक्ताः। यद्वा 'अथामूर्तम्। प्राणश्च यश्चायमन्तरात्मन्नाकाशः। एतदमृतमेतद्य-देतत्त्य'मिति मूर्तामूर्तब्राह्मणस्थाः प्राणाः। **तत्कार्यत्वादिति**। ब्रह्मकार्यत्वात्। **सत्यमिति**। प्राणाः

विद्यमानत्वात् प्रपञ्चधर्मवचनं तस्मिन्नौपचारिकमेव युक्तम् । श्रुत्यैव तथा प्रतिपादनात् । चकारः पूर्वयुक्त्यनुसन्धानार्थः । **अथो इति प्रक्रमभेदोपि ।** 'अथात आदेश' इति भिन्नप्रक्रमेणाह । श्रुतेरन्यार्थतानिराकरणायाह । अपि स्मर्यते । 'अनादि मत्परं ब्रह्म न सत् तन्नासदुच्यत' इति । सदसतोः क्षेत्रत्वात् । ज्ञेयनिरूपणे निषेधः । प्रपञ्चधर्मा भगवति उच्यन्ते वेदादौ, न तु तद्धर्मा भवन्तीति ज्ञापयति । तस्माच्छ्रुतिस्मृतिभ्यामेव तथा निर्णयः ॥ १७ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

हेतुः । तेषां प्राणानां एष परमात्मैव सत्यं स्वरूपभूत इति । यद्वा । सद्रूपत्वात् त्यरूपत्वाच्च सत्यं प्राणास्तेषामेष स्वरूपभूत इति । तथाच व्याख्यानवाक्यमपि न निषेधस्य प्रपञ्चे पर्यवसानं गमयति, न वा ब्रह्मणः सर्वविशेषशून्यत्वे, किन्तु ब्रह्मणः प्रपञ्चप्रकारकत्वे प्रपञ्चसमवायिमात्रत्वे चेत्येतदर्थं रूपनामवत्त्वार्थं च नामनिर्वचनम् । तदेतदुक्तं इन्नीत्यादिना । तेन यत् सिद्धं तदाहुः **तेनेत्यादि** । नामव्याख्यानपूर्वकं ब्रह्मणोतिरिक्तत्वस्थापनेन ब्रह्मणस्तथात्वात् तथेत्यर्थः । **प्रक्रमभेदोपीति** । प्रकारभेदब्रह्मातिरेकयोरुपोद्बलक इत्यर्थः । स्मृतौ ब्रह्मणः सदसत्त्वं निषिध्यते इति कथं तेन विवक्षितव्यतिरिक्तार्थवारणमित्यतो व्याकुर्वन्ति **सदसतोरित्यादि** ॥ १७ ॥

रश्मिः ।

सत्यमित्यन्वयः । सत्यं नाम नाविद्यकाः, किन्तु ब्रह्मविवर्तभूताः ब्रह्मणो विशेषेण वर्तनभूताः । ब्रह्मवैवर्तपुराणमपि भवति । **परमात्मैवेति** । तदन्याभावादेवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदकः । अन्यत्परमस्तीत्यत्रान्यत्त्यमिति पुस्तकान्तरपाठात्स्मृतमर्थमाहुः **यद्वेति** । **प्रपञ्च इति** । मूर्तामूर्तरूपे । किंवा वीप्सयेत्युक्तद्वितीयपक्षे आहुः **न वा ब्रह्मण इति** । **प्रपञ्चेति** । पञ्चमहाभूतप्रकारकत्वे । **प्रपञ्चेति** । ब्रह्मणोऽभिन्ननिमित्तोपादानत्वादिति भावः । **इन्नीति** । इति रूपमित्यादिना । **अतिरिक्तत्वेति** । पञ्चमहाभूतातिरिक्तत्वस्थापनेन । **तथेति** । प्रपञ्चधर्मस्य पञ्चमहाभूतत्वस्य वचनं तस्मिन् ब्रह्मणि औपचारिकत्वं लाक्षणिकत्वं स्वसमवायिकारणत्वं सम्बन्धः । एवकार आरोपापवादसङ्गतिसत्त्वात् । **श्रुत्यैवेति** अस्थूलादिश्रुत्यैव । **तथेति** । औपचारिकत्वम् । स्वभावतो निषेधायोगात् । **प्रकारेति** । प्रक्रमो मूर्तामूर्तयोः । तस्य भेदं सौत्रोथोशब्द आहेति । निषेधो हि विधिरूपप्रकारस्य भेदेन निषेधरूपप्रकारेण भवति । अतः पूर्वस्मात्प्रकारभेदः । अभावरूपनिषेधे ब्रह्मणोऽतिरेकोऽभावः । नहि खपुष्पे ब्रह्मास्ति । प्रतीत्यभावेन तस्यैवाभावात् । खपुष्पं तु ब्रह्मास्ति । 'यदस्ति यन्नास्ति स एव विष्णु'रिति विष्णुपुराणात् । **तयोः** सतोः । **उपोद्**इति । नहि घटो नास्तीत्यादिस्थले प्रक्रमभेदेनाभावनिरूपणमस्ति सत्यपि प्रक्रमभेदे । अथो इति शब्दप्रमाणेन तु सतोरुपोद्बलनात्पृथङ्निरूपणमस्ति । 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' 'अथातो धर्मजिज्ञासे'ति ब्रह्मधर्मयोः ब्रह्मकर्मणोर्वैक्यात् । 'कर्मैके तत्र दर्शना'दिति जैमिनिसूत्रे धर्मस्थले कर्मोक्तेः । **भाष्ये । अथो** इति विषयवाक्यघटकाथशब्दपर्याय इत्याहुः **अथात** इति । यतोतः सूत्रेपि भिन्नप्रक्रम इति भावः । **मत्परमिति** । अहं परो यस्येति मत्परम् । **कथं तेनेत्यादि** । सदसन्निषेधेन कथं विवक्षितोर्थः अस्थूलादिरूपः तद्व्यतिरिक्तो जडजीवधर्मा औपचारिका ब्रह्मणीति तद्व्यतिरिक्तोर्थः वैदिकधर्मवद्ब्रह्म तस्य वारणमित्यर्थः । **सदसतोरित्यादीति** । **निरूपण इति** । गीतायाम् । निषेधः ज्ञापयतीत्यन्वयः । किं ज्ञापयतीत्यत आहुः **प्रपञ्चेति** । **उच्यन्त इति** । उपचारेणोच्यन्ते, न तु

अत एव चोपमा सूर्यकादिवत् ॥ १८ ॥

प्रपञ्चधर्मा भगवत्युपचारादुच्यन्त इत्यत्र निदर्शनान्तरमाह । अतएव इममेव निर्णयमाश्रित्य, 'समः प्लुषिणा समो नागेन समो मशकेन सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः समोऽनेन सर्वेणे'ति निरुपमस्य भगवतो यदुपमानं तत् तद्धर्मसम्बन्धात् । न चात्र स्वतन्त्रतादृशधर्मवत्त्वं ब्रह्मणो वक्तुं युक्तम् । नन्विदमपि विरुद्धमित्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह । सूर्यकादिवत् । सूर्येण सहितं जलं सूर्यकम् । 'यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वान् अपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन्', 'एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रव'दिति । यथेतरसंश्लिष्टस्योपमानत्वम्, एवं 'समः प्लुषिणे'त्यपि ।

भाष्यप्रकाशः ।

अत एव चोपमा सूर्यकादिवत् ॥१८॥ सूत्रमवतारयन्ति प्रपञ्चेत्यादि । व्याकुर्वन्ति **अत एवेत्यादि** । **निरुपमस्येति** । 'न तत्सम' इति श्रुत्या तथा प्रतिपादितस्य । **तद्धर्मसम्बन्धादित्यादि** । यदि प्रपञ्चधर्मवत्त्वं ब्रह्मणः स्यात्, तदा 'प्लुषिर्नाग' इत्यादि प्रथमान्तमेव निर्दिशेत्, समपदं च न निर्दिशेत्, अतस्तथा निर्देशाभावात् प्रपञ्चधर्मसम्बन्धादेव तद्धर्मवत्त्वम्, न स्वतस्तथात्वमित्यर्थः । दृष्टान्तोक्तिप्रयोजनमाहुः नन्वित्यादि । इदं निदर्शनमपि समत्वासमत्वयोरुभयोरपि श्रावितत्वेन विरुद्धम्, अथवा तद्धर्मसम्बन्धेन तद्धर्मवत्त्वे ब्रह्मणोऽङ्गीक्रियमाणे दुष्टसम्बन्धे दुष्टत्वमपि स्यात्, अतोपि विरुद्धम्, अतो निर्णायकत्वाभावमाशङ्क्य श्रौतं दृष्टान्तमाहेत्यर्थः । **सिद्धमाहुः यथेत्यादि** । यथा किरणद्वारा जलादिसंश्लिष्टस्य सूर्यादेर्ब्रह्मोपमानत्वम्, 'यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोनुगच्छन्, उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोयमात्मे'त्यादिवाक्येषूच्यते, एवं 'समः प्लुषिणे'तिवाक्येपि प्लुष्यादिसंश्लिष्टस्य तदुपमेयत्वमप्युच्यत

रश्मिः ।

प्रपञ्चधर्मा भगवति भवन्तीति । **एव तथेति** । प्रसिद्धप्रमाणान्तरव्यवच्छेदकैवकारः । अस्थूलत्वादिप्रकारेणेति तथेत्यस्यार्थः ॥ १७ ॥

अत एव चोपमा सूर्यकादिवत् ॥ १८ ॥ **प्रपञ्चेत्यादि** । **निदर्शनेति** । 'दर्शयति चे'ति निदर्शनमुक्तम्, अन्यन्निदर्शनं 'समः प्लुषिणे'त्यादि, तदाह । निदर्शनं दृष्टान्तः यथा ब्रह्मास्थूलत्वादिश्रुतौ तथात्रारूपवत् यथा सम इत्यादिश्रुतौ तथात्रारूपवत् । प्लुष्यादिविश्वविलक्षणम् । **अतएवेत्यादीति** । अतः ल्यब्लोपे पञ्चमी । इमं निर्णयमाश्रित्यैवेत्यन्वयः । **उपमानमिति** । एतेन भाष्येण सूत्रे उपमाशब्द उपमीयतेऽनेनेत्युपमा । करणे घञन्त इत्युक्तम् । उपमेयधर्मलुप्तम् । उपमानं प्लुष्यादि । समपदं वाचकं श्रुतावस्ति । उपमेयं लुप्तम्, धर्मो लुप्तः । 'हंसीव कृष्ण ते कीर्तिः स्वर्गङ्गामवगाहत' इत्यत्र चतुष्टयमस्ति । **तद्धर्मेति** । प्रपञ्चधर्माणां उपचारेण सम्बन्धात् । **स्वतन्त्रेति** । यथा पञ्चमहाभूतत्वं पञ्चमहाभूते स्वातन्त्र्येण घट इत्युक्ते घटवत्त्ववदुच्यते । **युक्तमिति** । **ब्रह्मत्वेन** ब्रह्मस्वतन्त्रधर्मेण तिरस्कारात् । ब्रह्म पञ्चमहाभूतानीत्येवं सदा पञ्चमहाभूतपदसान्निध्यभावात् । अतो न युक्तमित्यर्थः । **दृष्टान्तेति** । सौत्रदृष्टान्तेत्यादिः । **इदमिति** । समत्वनिदर्शनम् । असमत्वं 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यत' इति श्रुत्युक्तम् । **निर्णायकेति** । निदर्शनान्तरस्य तथा । **सिद्धमाहुरिति** । श्रौतदृष्टान्तसिद्धं निदर्शनान्तरेऽविरोधमाहुरित्यर्थः । **विवस्वानिति** । सूर्यः । **भाष्ये** । दृष्टान्तप्रसङ्गात् दार्ष्टान्तिकेन समं दृष्टान्तवाक्यमप्याहुः **उपाधिनेति** । जलाद्युपाधिना । भेदेन रूप्यते व्यवह्रियत इति भेदरूपः । **क्षेत्रेषु** योन्यादिषु । **इत्यादीति** । आदिना सौत्रादिशब्दार्थैकधाबहुधेति भाष्यीयवाक्यम् ।

चकारस्तु विरोधाभावो वक्तव्यः, अधिकरणं च संपूर्णमेकदेशिन इति सूचयति। तस्माज्जडजीवधर्माणां भगवत्युपचारः, निषेधस्तु मुख्य इति ॥ १८ ॥

इति तृतीयाध्याये द्वितीयपादे पञ्चममरूपवदेव हीत्यधिकरणम् ॥ ५ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

इति विरोधाभावादुपमारूपं निदर्शनमपि निर्णायकमित्यर्थः। सिद्धमाहुः तस्मादिति। ब्रह्मणः प्रपञ्चविलक्षणत्वेन कार्यासाधारणधर्माणां कारणे ब्रह्मण्यभावेन ब्रह्मणस्तत्स्वरूपधर्माणां च लौकिकमनोवागगोचरत्वेन 'कृत्स्नः प्रज्ञानघन' इति श्रुत्या आकारस्य ज्ञानात्मकत्वेन तत्तत्क्रियादीनां धर्माणां च नैसर्गिकत्वेन तेषां च भगवत्प्राकट्ये एव दर्शनादिव्यवहारविषयत्वेन लौकिकवाङ्मनोभिः प्रतीयमानानां स्थानधर्मत्वात् तथेत्येकदेशिमतेन सिद्धमित्यर्थः। तेन ब्रह्मणः स्थानतो जडजीवधर्मवत्त्वम्, स्वतस्तु तद्रहितत्वमित्येकदेशिमतेन सिद्धम्। एतेनास्याधिकरणस्य प्रासङ्गिकत्वं वक्ष्यमाणोपोद्घातत्वं चेति सूचितम्।

विद्वन्मण्डने तु मायावादिमतेन अरूपवत्सूत्रप्रकृतैतावत्सूत्रद्वयाभ्यां निर्विशेषस्यैव मुख्यतया निरूपणं दृश्यते इत्याशङ्कायां 'न स्थानतोपी'त्यादिसूत्रत्रयम्, 'अरूपव'दित्यादिसूत्रचतुष्टयं चोपादेयांशमादायैवं व्याख्यातम्। तथाहि। तत्र जडजीवधर्मा ब्रह्मणि सन्ति न वेति विचारयैंस्तन्निरूपकनिषेधकश्रुतीनामन्योन्यविरोधपरिहारं च विचारयन्नुभयोरपि श्रुतिवाक्यत्वेनान्यतरबाधमप्यशक्यं जानन्नौपाधिकं ब्रह्म सविशेषश्रुतिविषयः, निरुपाधिस्वरूपं तन्निर्विशेषश्रुतेरिति मतम्, 'न स्थानतोपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र ही'ति सूत्रेणौपाधिकत्वे तत्स्वभावत्वं ब्रह्मणो न सम्भवतीति तच्छ्रुतीनामब्रह्मनिरूपकत्वापत्तिरिति निरस्य, पुनरुपहितानुपहितयोर्भेदाङ्गीकारेणोभयरूपत्वं ब्रह्मणि भविष्यतीति तन्मतोपपत्तिमाशङ्क्य, 'न भेदादितिचेन्न प्रत्येकमतद्वचना'दिति सूत्रेण 'अपि चैवमेक' इत्यग्रिमेण चाभेदबोधकश्रुतिविरोधनिरूपणेन निरस्य, पुनराकाराणां प्रपञ्चमध्यपातित्वात् प्रपञ्चस्य जन्यत्वात् तेषामपि तथात्वात् तेषु ब्रह्माभेदबोधनमौपचारिकम्, अतः साकारवादिन्यो न ब्रह्मनिरूपिका इति प्राप्त आह 'अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वा'दिति। स्यादेतदेवम्, यद्याकाराणां प्रापञ्चिकत्वं भवेत्, न त्वेवम्। न हि प्रपञ्चस्थितत्वेनैव प्रापञ्चिकत्वं वक्तुं शक्यम्। त्वदभिमतस्यापि तथात्वापत्तेः। अतो निराकारवादिनीष्विव साकारवादिनीष्वपि श्रुतिष्वरूपवदेव तत् प्रतिपाद्यते। रूप्यते निरूप्यते व्यवह्रियते इति रूपं सर्वव्यवहारविषयत्वम्, तद्युक्तं रूपवद्भिन्नम्, ब्रह्म तु तद्विलक्षणमित्यर्थः। यथा चैतत् तथा मृत्स्नाभक्षणादिप्रसङ्गनिरूपणेन निरूपितम्।

रश्मिः ।

तद्युपेति। सूर्याद्युपमेयत्वम्। विरोधाभावादिति। असमस्यैव प्लुष्यादिसमत्वमिति तथा। क्षुधिणेत्युपमोपमानं सूर्यादि तद्रूपं निदर्शनम्। शोधमिति। अवक्तव्यः उक्तप्रायत्वात्। सूचयन्तीति। समुच्चयार्थकत्वात्सूचयति। जडेति। सर्वकर्मसर्वकामत्वादीनां लौकिकानाम्। निषेधोऽस्थूलादिश्रुत्या। इति विरोधपरिहारः। एवं शेषं स्फुटमित्यर्थः। स्थानत इति। तत्सूत्रे स्पष्टम्। प्रासङ्गिकत्वमिति। अविरोधप्रतिपादकेनाधिकरणेन स्मृतस्यैकदेशिमतस्याविरोधप्रतिपादकस्योपेक्षानर्हत्वादिति भावः। वक्ष्यमाणेति। मुख्यसिद्धान्तबोधकवक्ष्यमाणाधिकरणस्य किमपेक्षया मुख्यत्वमिति निरूपकसापेक्षस्य प्रकृतस्य सिद्ध्यर्थैकदेशिमतस्य मुख्यत्वनिरूपकस्य चिन्तात्र कृतेत्युपोद्घातत्वम्।

१. मूलपुस्तके ब्रह्मण इत्यारभ्य इत्यर्थं इत्यन्तं सिद्धार्थकथनं नास्ति, किन्तु शेषं स्फुटमित्येव वर्तते, रश्मिकारैश्च तदेव विवृतमिति।

अम्बुवद्ग्रहणात्तु न तथात्वम् ॥ १९ ॥ (३-२-६.)

मुख्यसिद्धान्तं वक्तुमेकदेशिनं दूषयति। तुशब्दस्तथा सिद्धान्तं व्यावर्तयति। तथात्वं समवाय्यतिरिक्तस्य तद्धर्मयोगात्। जडजीवधर्मयोगात् सर्वकाम-

भाष्यप्रकाशः ।

अथवा। रूप्यते व्यवह्रियते अनेनेति करचरणाद्युच्यते। तथाच यथा लोके करादिकं भिन्नम्, तद्वानभिमानी भिन्नः, तथा ब्रह्म न श्रुतौ करादिभिन्नं तदभिमानित्वेन निरूप्यते, किन्तु करादेरपि ब्रह्मत्वाद्भेदाभावाद्रूपरूपमेव निरूप्यते, न तु रूपवदित्यर्थः। ननु कुत एव तदवगम्यते करादीनामपि ब्रह्मत्वमेव, न तद्भिन्नत्वमित्यत आह तद्विनिगमकम्, 'तत्प्रधानत्वा'दिति। सर्वेषां वेदान्तानां ब्रह्मैव प्राधान्येन प्रतिपाद्यं यतः। अयमर्थः। करादीनामब्रह्मत्वे तन्निरूपकाणां वेदान्तानामब्रह्मपरतया ब्रह्मपरत्वनियमव्याहतिः, अतः करादिनिरूपकाः साक्षाद्ब्रह्मप्रतिपादका एवेति। 'सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्', 'आमनन्ति चैनमस्मि'न्नित्याद्यधिकरणरूपोपपत्तिर्हिशब्देनोच्यते। 'स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवं वा अरे अयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एवे'ति, 'सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे'ति, 'आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादि'रिति, 'आनन्दमयोऽभ्यासा'दित्यादिश्रुतिस्मृतिन्यायैकवाक्यतया सच्चिदानन्दरूपत्वं करादीनामवधारणीयम्। अत एवाग्रे सूत्रकारोप्याह 'आह च तन्मात्र'मिति। एता एव श्रुतयोऽत्रानुसन्धेयाः। त्वदभिमतव्याख्याने तु 'अरूप'मित्येतावतैव चारितार्थ्यं स्यात्। रूपवत्त्वस्योभयवादिसम्मतत्वेनाविवादास्पदत्वात् तन्निषेधानुपपत्तिः। रूपरूपवत्त्वस्य सिद्धान्त्यभिमतत्वात्। एवं सति तथा कथनादस्मदुक्त एवार्थः सूत्रकाराभिमत इति ज्ञायते इति ॥१८॥ इति पञ्चममरूपवदेव हीत्यधिकरणम् ॥५॥

अम्बुवद्ग्रहणात्तु न तथात्वम् ॥ १९ ॥ सूत्रमवतारयन्ति मुख्येत्यादि। एतेनास्मिन्नप्यधिकरणे सर्वकर्मादयो ब्रह्मणि सन्ति, नवेत्येवं सन्देहः। उभयवाक्यश्रवणमेव सन्देहबीजम्। पूर्वपक्षस्त्वौपचारिका इति पूर्वस्माद्विशेष इति बोधितम्। ननूक्तस्य मुख्यत्वाभावे किं गमकमित्यतो गमकं वदन्त एव सूत्रं व्याकुर्वन्ति तुशब्द इत्यादि। व्यावर्तनीयं सिद्धान्तमाहुः तथात्वमित्यादि। तथात्वं नाम एकदेशिनाङ्गीक्रियमाणं त्रिवृत्कृतजलसमवायिव्यतिरिक्तस्य ज्योतिषः सूर्यादेस्तद्धर्मयोगाज्जलधर्मयोगात् कम्पादिकमिव जडादिसमवायिव्यतिरिक्तस्य ब्रह्मणो जडजीवधर्मयोगात् सर्वकामादय इत्येतं सिद्धान्तं नशब्दो[1] व्यावर्तयति। तथाच तुशब्द एव तस्य

रश्मिः ।

'चिन्ता प्रकृतसिद्ध्यर्थामुपोद्घातं विदुर्बुधा' इत्युपोद्घातलक्षणम् ॥ १८ ॥ इति पञ्चममरूपवदेव हीत्यधिकरणम् ॥ ५ ॥

अम्बुवद्ग्रहणात्तु न तथात्वम् ॥ १९ ॥ एवेति। पूर्वाधिकरणेऽवधारितम्। द्वितीयैवकारार्थोऽप्येवम्। उक्तस्येति। निषेधस्तु मुख्य इत्युक्तस्य निषेधस्य। वदन्त एवेति। सूत्राणां सर्वतोमुखत्वादन्यार्थवदनयोगव्यवच्छेदकैवकारः। त्रिवृदित्यादि। 'अभ्रेराप' इति श्रुतेर्जलसमवायित्रिवृत्कृततेजो घृतादि। तद्व्यतिरिक्तस्य। जडादीति। आदिना जङ्गमः। तत्समवायिकपालतन्तुयोनिगोमयफलपुष्परूपं तद्व्यतिरिक्तस्य ब्रह्मणोऽस्थूलादिरूपस्य उपचारेण जडजीवधर्मा अभिनादस्तत्त्वसर्वकर्मसर्वकामादयस्तेषां योगात्। व्यावर्तयतीति। तथाच तथात्वं नत्विति सूत्रे योजना। तुशब्द इति। नशब्दकर्तृकव्यावर्तयतिव्याख्यानकस्तुशब्द इत्यर्थः। एवकारो हेतुयोगव्यवच्छेदकः। तस्येति।

१. नकारः।

त्वादयो न भवन्ति । कुतः । अम्बुवदग्रहणात् । सर्वपरस्य हि प्रतिबिम्बेऽधिकरणधर्मवत्त्वम् । तत्र रूपरहितं तत्र विद्यमानं च न प्रतिबिम्बत इति वक्तव्यम् । तथापि स्वमतविरोधादम्बुवदग्रहणमिति । स्वच्छमम्बु प्रतिबिम्बं गृह्णाति । न हि

भाष्यप्रकाशः ।

मुख्यत्वाभावगमक इत्यर्थः । हेतुं व्याकुर्वन्ति सर्वेत्यादि । सर्वस्मात् परस्य ब्रह्मणः प्रतिबिम्बे सति अधिकरणधर्मवत्त्वमेकदेशिना सिद्धान्तितम् । तत्र, तन्मते निराकर्तव्ये, रूपरहितं तत्र विद्यमानं च न प्रतिबिम्बत इति दूषणं वक्तव्यम् । ब्रह्मणो जगद्वैलक्षण्यं वदता एकदेशिना ब्रह्मणि नीरूपत्वस्य व्यापकत्वस्य च तत्राङ्गीकारात् । तथाप्येवमुक्तौ सिद्धान्तिनमपि पर्यनुयुञ्जीत । सिद्धान्तेपि विरुद्धधर्माश्रयत्वाङ्गीकारेण तयोरिवाकाशनैर्मल्यवत् स्वरूपात्मकरूपस्य दूरत्वस्य चाङ्गीकारादाकाशस्येव प्रतिबिम्बः सम्भवति, अतः स्वमतविरोधात् प्रतिबिम्बाधिकरणस्वभावमादाय तन्मतदूषकं हेतुमाह **अम्बुवदग्रहणमिति** । तत् व्युत्पादयन्ति स्वच्छमित्यादि । अम्बु स्वच्छं तस्मादंशेन संश्लिष्टस्य सूर्यादेः प्रतिबिम्बं गृह्णाति । न हि तथा धर्मा ग्रहीतुं शक्नुवन्ति । हि यतो हेतोर्धर्मा मनोमयादिशब्दैकदेशोक्तानि पृथिव्या घटादय इव ब्रह्मण उपादेयानि मनःप्रभृतीनि कार्याणि अस्वच्छानि । मनो हि शुद्धाशुद्धभेदेन द्विविधम् । तत्र शुद्धं कामविवर्जितमिति । तत्र प्रतिबिम्बिते ब्रह्मणि सर्वकामा एव न भासेरन् । अशुद्धस्य तु कामवत्त्वेपि अस्वच्छत्वादेव प्रतिबिम्बाग्राहकत्वम् । प्राणस्त्वापोमयोपि वायुरूपत्वात् प्रतिबिम्बग्रहणायोग्यः । तथा भारूपं तेजः आकाशश्च । तस्माज्जलादिवत् अंशेन संश्लिष्टस्य ब्रह्मणः प्रतिबिम्बं ग्रहीतुं न शक्नुवन्ति । किञ्च । धर्मत्वात् । समवेतं हि कार्यं कारणस्यावस्थाविशेषरूपत्वात् तद्धर्मभूतं तस्मात् । न हि समवेते कार्ये समवायिनः प्रतिबिम्बः क्वापि दृष्टचरः, नाप्यस्वच्छे कस्यापि । अतः समवायिव्यतिरिक्तस्य समवायिनश्च ब्रह्मणो ग्रहीतुमशक्यत्वबोधनायाम्बुवदग्रहणादित्युक्तमित्यर्थः । ननु

रश्मिः ।

अस्थूलादिवाक्योक्तनिषेधस्य । जडजीवधर्मयोगादित्युक्तम् । सच 'पृथिव्यां तिष्ठन्' 'आत्मनि तिष्ठ'न्नित्यादिश्रुतिसानुकूल इति तमाहुः **सर्वस्मादिति** । **सतीति** । पृथिव्यामात्मनि च सति । **अधीति** । आत्मपृथिवीधर्मवत्त्वम् । **तत्र रूपे**तिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म **तत्र, तन्मत इति** । **तत्रेति** । अधिकरणे । एवमग्रेपि । तथापीतिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म **तथापीति** । **पर्यनुयुञ्जीतेति** । भगवान् व्यासोनेन सूत्रेणैकदेशिमतवत्स्वमतसिद्धान्तिनमपि पर्यनुयुञ्जीत दूषयेत् । **तयोरिति** । ब्रह्मनिरूपणव्यापकत्वयोः । **अत इति** । उक्तरूपात्स्वमतविरोधात् । **प्रतिबिम्बेति** । दर्पणादेः स्वभावम्, स्वच्छत्वादि । **हेतुमाहेति** । भगवान् व्यासः । अम्बुवदग्रहणं हेतुमाहेतीत्यप्यन्वयः । **नहीत्यादिभाष्यम्** । **हि यत इति** विवरणम् । **मनोमयेत्यादि** । छान्दोग्ये पञ्चमप्रपाठके । 'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः' इत्यत्र मनोमयादिशब्दैकदेशा मनःप्राणभासत्यादिरूपाः तदुक्तानि मनःप्रभृतीनीत्यन्वयः । तानि पृथिव्या घटादय इव ब्रह्मण उपादेयानि कार्यत्वेनोपादातुं योग्यानि । 'तन्मनोऽकुरुते'ति । बृहदारण्यके 'एतस्माज्जायते प्राण' इति । एवमन्या ज्ञेयाः । **तथेत्यस्यार्थो** जलादिवत् । **धर्मे**तिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म **किञ्चेति** । धर्मत्वादिति व्याख्येयम् । **समवायिन** इति । कपालादेः । **समवायीति** । कपालादेः व्यतिरिक्तस्याकाशादिसमवायिनश्च । **अशक्येति** । ब्रह्माधारपृथिव्यादिभिरशक्यत्वबोधनाय । **अम्बुवदिति** । व्यतिरेके दृष्टान्तः । अम्बु यथा स्वच्छत्वात्प्रतिबिम्बं

तथा धर्मा ग्रहीतुं शक्नुवन्ति । धर्मत्वाच्च । सर्वाधारत्वेन तथोच्यमाने वैयर्थ्य-

---

भाष्यप्रकाशः ।

मास्तु धर्माणामुपाधिभूतानां प्रतिबिम्बग्राहकत्वम्, तथापि द्युभ्वाद्यधिकरणविषयवाक्ये ब्रह्मणः सर्वाधारतायाः सिद्धत्वात् ब्रह्मण्येव मनःप्रभृतीनां तद्धर्माणां च प्रतिबिम्बोस्तु, तथा सति तेषां धर्माणामौपचारिकत्वमेव सेत्स्यतीत्यत आहुः सर्वेत्यादि । यद्यपि रूपरहितस्य ब्रह्मणो न प्रतिबिम्बग्राहकत्वम्, आकाशादितुल्यत्वात्, तथापि भारूपत्वमादाय ग्रहिलतया तथोच्यमाने तेषां धर्माणामुपाधिधर्मत्वेनैव प्रत्ययः । लोके हि स्थिर आधारे प्रतिबिम्बचञ्चलतायां तद्धर्मे चलने बिम्बीयत्वेनैव भानस्य दृष्टत्वात् । अतस्तद्धर्मत्वेन उपासनाया असिद्धेस्तदनुवादवैयर्थ्यमिति पूर्वं अरूपवत्सूत्रव्याख्याने सर्वशब्दस्य प्रसिद्धानुवादकत्वकथनेनावोचामेति नात्र प्रत्यवस्थानावकाश इत्यर्थः । न च यद्ययोग्यतैवोभयोः, तदा श्रुतौ कुतो जलचन्द्रादिदृष्टान्त उच्यत इति शङ्क्यम् । एकस्यैवोपाधिभेदेन नानात्वबोधनाय तत्कथनात् । 'उपाधिना क्रियते भेदरूप' इति,

रश्मिः ।

गृह्णाति, तथा पृथिव्यादयोरस्वच्छत्वान्न प्रतिबिम्बं गृह्णन्तीति । **उपाधीति** । 'पृथिवी शरीर'मित्यादिश्रुतिभिः पृथिव्यादीनाम् । **ब्रह्मण्येवेति** । एवकार उपाधियोगव्यवच्छेदकः । **मनःप्रभृतीनामिति** । मनःप्राणभासत्यादिप्रभृतीनाम् । **तद्धर्माणामिति** । मनोधर्माः 'कामः सङ्कल्प' इत्यादिश्रुत्युक्ताः । प्राणधर्मो धाणावष्टम्भः । एवमन्येपि । धाणो देहः । **तेषामिति** । प्रतिबिम्बितानाम् । **औपचारिकत्वमिति** । अन्यधर्माणामन्यत्र भाने उपचारो गौणत्वम् । तत्सम्बन्धित्वम् । शुक्तौ रजतत्ववत् । वेदान्ताद्यविचारसहकृतशब्दजन्यज्ञानविषयत्वं च पित्तकामलादिदोषसहकृतचक्षुर्जन्यज्ञानविषयत्ववत् । इत्येवकारः । **ब्रह्मण इति** । ब्रह्म प्रतिबिम्बं गृह्णातीति ब्रह्मणः प्रतिबिम्बग्राहकत्वं न । आकाशस्य यथा नीरूपत्वात्तत्र विद्यमानत्वान्न प्रतिबिम्ब इति आकाशादितुल्यत्वं तस्मात् । आदिना वायुः । **ग्रहिलतया** आग्रहवादेन । **भारूपेति** । 'भारूप' इति श्रुतेः । **तथेति** । प्रतिबिम्बग्राहकत्वेन । तथा शब्दात्तृतीयाया लुक् । **ब्रह्मण्युच्यमाने** । मनआदिधर्माणां उपाधिपृथिव्यादिधर्मत्वेन । अधोक्षजत्वादेवकारः । **स्थिर इति** । दर्पणादौ । **प्रतिबिम्बेति** । चलजलादिप्रतिबिम्बचलतायाम् । **तद्धर्मे** इति । प्रतिबिम्बधर्मे । **एवेति** । दृष्टत्वात् । **तद्धर्मत्वेनेति** । उपाधिपृथिव्यादिधर्मत्वेन हेतुना ब्रह्मोपासनयाः । **तदन्विति** । 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्ज[illegible] शान्त उपासीते'त्युक्त्वा 'स क्रतुं कुर्वीत मनोमयः प्राणशरीरो भारूप' इत्याद्युक्तम् । स पुरुषः । क्रतुमविचलप्रत्ययं कुर्वीत । क्रतुविषयं दर्शयन्ति स्म । मनोमय इत्यादीत्यर्थान्मनोमयात्वाद्यनुवादवैयर्थ्यम् । अन्यधर्मत्वेनानुवादः । **अयोग्यतैवेति** । प्रसिद्धेरेवकारः । **उभयोरिति** । ब्रह्मतदुपाध्योः । ब्रह्मणो नीरूपत्वाद्बिम्बायोग्यता । पृथिव्याद्युपाधीनामस्वच्छत्वात्प्रतिबिम्बग्राहकत्वायोग्यता । **जलचन्द्रादीति** । स्वच्छसरूपदृष्टान्तः । आदिना सूर्यकम् । भवेदेतदेवमन्यमते मायाविद्ययोर्ब्रह्मप्रतिबिम्बाङ्गीकारात् । ब्रह्ममाययोश्च नीरूपास्वच्छत्वाभ्याम् । अस्मन्मते तु विश्वमप्रतिबिम्बितमिति 'एकोहं बहु स्या'मिति श्रुत्युक्ते विश्वस्मिन्दृष्टान्त इत्याशयेन हेतुमाहुः **एकस्यैवेति** । 'एकोहं बहु स्या'मिति श्रुतेरेवकारः । **तत्कथनात्** जलचन्द्रदृष्टान्तकथनात् । ननु यथा विश्वमप्रतिबिम्बितम्, तथाऽनित्यत्वाप्रतिबिम्बितमपि इत्येकस्यैवेत्यादिनिश्चयः कुत इत्यत आहुः **उपाधिनेति** । 'एकधा बहुधे'ति इतिशब्दात्षष्ठ्यालुक् । इति दार्ष्टान्तिकस्य यो जल-

मिति पूर्वमवोचाम। नच भ्रमात् कल्पनं वेदेनोच्यते। अप्रतारकत्वात्। सर्व-

भाष्यप्रकाशः।

'एकधा बहुधा चैव दृश्यत' इति दृष्टान्तप्रयोजनोक्त्यैव तथा निश्चयादिति। नन्वत्र पूर्वं ब्रह्मणः सर्वत्वेनोपासनायाः 'शान्त उपासीते'त्यन्तेन विधानात् 'स क्रतुं कुर्वीते'त्यस्यापि व्यवहितेनोपासीतेत्यनेनैव सम्बन्धान्मनोमयत्वादिधर्मविशिष्टत्वेन ब्रह्मण एवोपासनं विधीयत इति, तत्र यथा सर्वत्वमारोपितम्, एवमत्र मनोमयत्वादिकमप्यारोपितमेवेत्यम्बुवद्ग्रहणाभावेपि सर्वकामत्वादिधर्माणां कल्पितत्वादौपचारिकत्वमेवेत्यत आहुः नचेत्यादि। नात्र मनोमयत्वादिकमारोपितम्। उपासनाया एवात्राभावात्। अथेत्यनेन प्रक्रमभेदे बोधिते प्रकृतच्छेदेन व्यवहितसम्बन्धस्य वक्तुमशक्यत्वात्। किन्तु पूर्वोपासनया शुद्धान्तःकरणस्य सर्ववेदान्तप्रसिद्धब्रह्मण उपदेशोयम्। स शान्तोऽन्यत्र रागरहितः, क्रतुं वक्ष्यमाणप्रकारकं निश्चयमध्यवसायात्मकमविचलप्रत्ययं तथा मननं वा स्वस्य वक्ष्यमाणभगवत्स्वरूपलाभार्थं कुर्वीतेति। एतेन शब्दान्तरेणापि तथा निश्चयात्। उपसंहारे च पूर्वोक्तधर्मविशिष्टस्यात्मनो ब्रह्मत्वं 'एतत् ब्रह्मे'त्यनेन निगमयित्वा 'एतमितः प्रेत्याभिसम्भवितास्मी'ति, 'यस्य स्यादद्धा न विचिकित्सास्ती'त्यत्रेतिशब्देन पूर्वोक्तं सर्वं परामृश्य, 'यस्य स्यादद्धे'त्यनेन सर्वस्य सत्यत्वनिगमनादपि तथा निश्चयात्। आरोपितत्वे

रश्मिः।

चन्द्रवदिति दृष्टान्तस्तस्य प्रयोजनं फलं देवभेदः तस्योक्त्यैव। एवकारो दृष्टान्तप्रयोजनोक्त्यन्यवाक्ययोगव्यवच्छेदकः। 'उपाधिना क्रियते भेदरूपो देव' इति दृष्टान्तेन। इतिशब्दात्तृतीयाया लुक्। **तथेति**। एकस्यैवोपाधिभेदेन नानात्वबोधनाय दृष्टान्तकथननिश्चयादित्यर्थः। तेनान्वयोयम्। **ब्रह्मण एवेति**। एवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदकः। **तत्रेति**। विराजि। **अत्रेति**। पृथिव्यादिस्थिते। **औपचारिकत्वमिति**। गौणत्वम्। एवकारो मुख्यत्वयोगव्यच्छेदकः। भाष्यं विवरीतुमाहुः **नात्रेति**। एवेति। षष्ठ्या लुक्। अवधारणस्य। **अथेति**। 'अथ खलु क्रतुमयः पुरुष' इत्यत्र। **प्रकृतमुपासनम्**। तस्य छेदेन। उपासनाया व्यवहितसम्बन्धस्य। **पूर्वोपेति**। 'सर्वं खल्वि'त्युक्तया। शुद्धान्तःकरणस्योपासकस्य। उपासनायान्तःकरणशुद्धिः प्रसिद्धा। **अयमिति**। वक्ष्यमाणः। तमाहुः **स शान्त इति**। स क्रत्वधिकारी पुरुषः। **अन्यत्र** भगवद्व्यतिरिक्ते। क्रतोर्मननार्थकत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात्। **वक्ष्यमाणेति**। 'एतमितः प्रेत्याभिसम्भवितास्मी'ति श्रुत्या वक्ष्यमाणभेदम्। मनसः चलनिश्चयं वारयन्तिस्म **अध्यवेति**। मानस्याः सेवायाः अविचलप्रत्ययम्। **वक्ष्यमाणेति**। 'एतमित' इति श्रुत्युक्तभगवत्स्वरूपलाभार्थम्। **शब्दान्तरेणेति**। ब्रह्मशब्दादन्येन क्रतुरूपशब्दान्तरेण। नन्वविचलप्रत्ययात्मकं साधनम्, ब्रह्मरूपं फलं कुत इतिचेत्। न। अस्य क्रतोर्निरोधलक्षणग्रन्थोक्तार्थविषयत्वेन ब्रह्मत्वात्। भूमाधिकरणे लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणे च 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमे'त्यकेविषयत्वात्। **तथेति**। सर्वकर्मत्वादिधर्माणामनौपचारिकत्वनिश्चयात्। 'एतद्ब्रह्मे'त्यत्र 'एष म आत्मान्तर्हृदय'मत एतद्ब्रह्मेत्यतःशब्दमध्याहृत्यार्थ इत्याहुः **निगमयित्वेति**। निगमनस्य हेतुघटितत्वात्। **एतमिति**। एतच्छब्दार्थम्। **अद्धेति**। साक्षात्। विचिकित्सा संशयः। **सर्वस्येति**। विश्वरूपेण प्रत्यक्षकथनात्सर्वस्य सत्यत्वनिगमनात्। ननु निगमनं हेत्वभावात्कथमितिचेत्। न। साक्षादित्यत्र पञ्चम्या लुगङ्गीकारात्। **तथेति**। सर्वकर्मत्वादिधर्माणामनौपचारिकत्वनिश्चयात्। नहि सत्या धर्मा औपचारिका भवन्ति। भाष्यं विवृण्वन्तिस्म **आरोपितत्व इति**। भ्रमादतद्वति तत्प्रकारकज्ञानरूपात्

ज्ञत्वाच। विप्लववादिन एवैवं वचनम्, न वैदिकस्य। 'पृथिव्यां तिष्ठ'न्नित्यादिविरोधश्च। तस्मात् ब्रह्मधर्मा एव सर्वकामादयः, न तूपाधिसम्बन्धादौपचारिका इति॥ १९॥

वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम्॥ २०॥

सिद्धान्तेन विरोधपरिहारमाह। विरोधो हि परिहरणीयो लोकवेदाभ्यां तद्-

भाष्यप्रकाशः।

च भ्रमात् कल्पनम्। तत्तु नात्र वेदेनोच्यते। अप्रतारकत्वात् सर्वज्ञत्वाच। यदि स्वयं सत्यत्वं निगमयन् स्वयं सम्यक् ज्ञात्वा परस्मा आरोप्यान्यथा ब्रूयात्, प्रतारक एव स्यात्। अज्ञात्वारोपितं चेत् ब्रूयात्, सर्वज्ञत्वादेव हीयेत। अतो नात्र तथा वक्तुं शक्यमित्यर्थः। एतेन मध्वादिविद्यास्विवात्र कल्पनोपदेश इत्यपि निरस्तम्। तत्रैवमवचनात्। सांख्यवादिनं प्रति तद्भीतिबोधने तत्र तथा कथनाच। तत् तत्रैवोपपादितम्। अतो वेदान्तार्थविप्लववादिन एवैवं वचनम्, न वैदिकस्येति युक्तम्। किञ्च। यदि ग्रहिलतया भ्रमात् कल्पनमत्राङ्गीक्रियेत, तदान्तर्यामिब्राह्मणमपि विरुध्येतेति दोषान्तरमाहुः पृथिव्यामित्यादि। पृथिव्यादिप्रपञ्चस्याविद्याकल्पितत्वाच्छुक्तिरजतकल्पे तस्मिन्निरविद्यस्येश्वरस्य स्थित्ययोगात् तद्बोधकश्रुतिविरोधश्चेत्यर्थः। सिद्धमाहुः तस्मादित्यादि। तस्मादिति। अम्बुनीव मनःप्रभृतिषु ब्रह्मप्रतिबिम्बस्यासम्भवात्। तथाच धर्माणामौपचारिकत्वनिर्णयमाश्रित्य यत् पुष्यादिसाम्यं ब्रह्मण उक्तम्, तदसङ्गतमित्यर्थः॥ १९॥

वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम्॥ २०॥ सूत्रमवतारयन्ति सिद्धान्तेनेत्यादि। विरोधपरिहारकस्यैकदेशिमतस्यानुपपन्नत्वे दर्शिते विरोधस्यैव स्थैर्यात् कथं तत्परिहार इत्याकाङ्क्षायां तथेत्यर्थः। परिहारं व्युत्पादयन्तः सूत्रं व्याकुर्वन्ति **विरोधो हीत्यादि**। तथाच तन्मते प्रतिबिम्बस्य वक्तुमशक्यतया लोकाननुसरणम्, भ्रमात् कल्पनस्याशक्यवचनतया वेदाननुसरणम्, अतस्तद्विहाय हेत्वन्तरेण परिहरतीत्यर्थः। अनुसारं व्युत्पादयन्ति **महानित्यादि**,

रश्मिः।

सर्वकामत्वादिधर्माणां कल्पनम्। **वेदेनेति**। छान्दोग्येन। **स्वयमिति**। 'यस्य स्यादद्धा न विचिकित्सास्ती'ति वेदः। **एवेति**। अन्ययोगव्यवच्छेदकः। **एवेति**। असर्वज्ञत्वव्यवच्छेदक एवेति। **नात्रेति**। वेदे धर्माणां तथाकल्पितत्वं न वक्तुं शक्यम्। **मध्वादीति**। 'असौ वा आदित्यो देवमधु तस्य द्यौरेवे'त्यादिना सूर्यस्य देवमधुत्वं प्रतिपादितम्, रश्मीनां वेदत्वं च। आदिशब्देन सर्वा एव देवोपासनविद्या गृहीताः। **निरस्तमिति**। अप्रतारकत्वात्सर्वज्ञत्वाच। ननु तद्वदित्युक्ते न प्रतारकत्वम्, नाप्यज्ञत्वमितिचेत्, तत्र हेतुमाहुः **तत्रैवमिति**। 'स क्रतुं कुर्वीते'त्यध्यवसायावचनात्। **तत्र तथेति**। मध्वादिविद्यासु तथाकल्पितत्वकथनात्। **तत्रैवेति**। प्रथमाध्यायचतुर्थपादे 'कल्पनोपदेशाच मध्वादिवदविरोध' इति सूत्रभाष्य एव। एवकारो 'मध्वादिष्वसंभवादनधिकारं जैमिनि'रितिसूत्रभाष्ययोगव्यवच्छेदकः। **विप्लवेति**भाष्यं विवृण्वन्तिस्म **अतो वेदान्तेति**। **एवेति**। अन्ययोगव्यवच्छेदकः। **एवं वचनमिति**। धर्माणां कल्पनवचनम्। **तस्मादित्यादीति**। एवकारो जडजीवधर्मयोगव्यवच्छेदकः। **नतूपाधीति**। जडजीवसम्बन्धात्कल्पिताः॥ १९॥

वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम्॥ २०॥ **दर्शित इति**। पूर्वसूत्रेण दर्शिते। **एवेति**। अविरोधयोगव्यवच्छेदकः। **तत्परिहारो** विरोधपरिहारः। **तथेति**।

नुसारेण। महानवकाशोऽल्पोऽवकाशः, 'यथावकाशं दश चमसा'निति लौकिकवैदिकव्यवहारो वस्तुधर्मविरुद्धो दृश्यते। व्यापकत्वं वृद्धिह्रासौ च आकाशस्यैव। तत्र यथा करके प्रविष्ट आकाशस्तथा व्यपदिश्यते, तथा सत्युभयसामञ्जस्यं भवति, अन्यथा एकतरबाधो भवति, एवं तत्तदनुप्रवेशात् ब्रह्माप्येवम्। नचौपाधिकत्वम् । जपाकुसुमलौहित्यवदन्यधर्मत्वाभावात् । अन्यानुविधायित्वेपि

भाष्यप्रकाशः।

ब्रह्माप्येवमित्यन्तम् । 'यथावकाशं दश चमसा'नित्यासादनविषये श्रुतिः। एवं चयनेपि 'एतैरग्निं चिन्वीते'ति 'चितिः स्रु'गित्यादिमन्त्रैश्चयनं विधाय, प्रकारप्रदर्शनावसरे चतुर्षु दिक्षु तत्तद्धोतृमन्त्रैश्चयनं दर्शयित्वा, 'यथावकाशं ग्रहान् यथावकाशं प्रतिग्रहा'निति 'वाचस्पते विधे नाम'न्नित्यादिमन्त्रोपधेयानां ग्रहसंज्ञकानां 'देवस्य त्वे'त्यादिमन्त्रोपधेयानां प्रतिग्रहसंज्ञकानामिष्टकानां तद्विमध्ये योऽवकाशस्तदविरोधेनोपधानमाह। अवकाशश्चाकाश एव । तत्र यथापदेन स्वल्पत्वमहत्त्वादिकं सूच्यते। लोकव्यवहारस्तु स्फुट एव। **वस्तुधर्मविरुद्ध** इति। आकाशीयनैसर्गिकधर्मभूतविभुत्वव्यधिकरणः । **उभयसामञ्जस्यमिति**। विभुत्वाल्पत्वयोरैकाधिकरण्येन प्रामाणिकादरणीयत्वम्। तथाच यथा आकाशस्योपाध्यन्तर्भावाद्वृद्ध्यादिभाक्त्वम्, एवं ब्रह्मणोऽप्युपाध्यन्तर्भावात् तदभिव्यङ्ग्यसर्वकामादिधर्मवत्त्वमिति सूत्रार्थः। अत्र बीजं तु विषयश्रुतावाकाशात्मेत्युक्तिः। अत आकाशदृष्टान्तस्य प्रकृतश्रुत्यनुसारित्वे तत्तदुपाधिप्रविष्टं ब्रह्मापि तत्तद्धर्मवद्वक्तव्यम्, न त्वेकदेश्युक्तरीत्येत्यर्थः। नन्वेवमपि तेषां धर्माणामौपाधिकत्वेनौपचारिकत्वमेवायातीति को विशेषः सिद्धान्त इत्यत आहुः **नचौपाधिकत्वमित्यादि**। यदि हि ते श्रुतौ

रश्मिः।

विरोधपरिहारमाह। **हेत्वन्तरेणे**ति। अग्रहणादितिहेतोरन्यो हेतुरन्तर्भावादिति तेनेत्यर्थः। **आसादने**ति पात्रासादनविषये। चयनयागे। **एवे**ति। 'अवकाशं कुर्वि'तिप्रयोगादेवकारः। **सूच्यत** इति। सादृश्यं वाच्यम्। **लोके**ति। महानवकाशोऽल्पोवकाश इति भाष्योक्तः। **आकाशीये**ति। तादृशविभुत्वं सकलमूर्तिबहिःसंयोगित्वं तदधिकरणमाकाशो महान् लोकदृष्टिगम्यः। तादृशविभुत्वव्यधिकरणस्त्वन्तराकाशः शास्त्रदृष्टिगम्यः। न च 'विशिष्टं शुद्धान्नातिरिच्यत' इति वाच्यम्। प्रायश्चित्तानापत्तेः । दृष्टविरोधाच्च। **तथाचे**ति । सूत्रतद्भाष्यपर्यालोचने चेत्यर्थः। **यथाकाशस्ये**ति शब्दद्वयं 'यथा करके प्रविष्ट आकाश' इतिभाष्यात्। भाष्येपि कुत इति चेत्, वृद्धिह्रासभाक्त्वपदान्वयानुरोधेनाक्षेपादिति गृहाण। वृद्धिह्रासभाक्त्वं चाकाशस्यैवेति सावधारणं भाष्यम्। **नतु ब्रह्मण** इति ब्रह्मयोगव्यवच्छेदकः। अन्तर्भावादित्यपि सापेक्षमुपाधिमाक्षिपति। तदाहुः **उपाध्यन्तर्भावादिति**। **एवमि**तिसौत्रं शब्दं वृद्धिह्रासभाक्त्वमित्यस्याग्रे प्रयोज्य, ब्रह्मेतिप्रथमसूत्रादनुवर्त्य षष्ठ्यन्तं कृत्वा संस्कृतभेदेपि शब्दं धृत्वोपाध्यन्तर्भावादितिपदमावर्त्याहुः **एवं ब्रह्मणोप्युपाध्यन्तर्भावादिति**। 'उभयसामञ्जस्या'दित्यत्र विभुत्वसामञ्जस्यं स्पष्टमित्यल्पत्वसामञ्जस्यमाहुः **तदभिव्यङ्ग्ये**ति। उपाधिरूपपुरुषाभिव्यङ्ग्याः सर्वकामादिधर्मास्तद्धस्वरूपं सामञ्जस्यमिति हेतोः व्यापकत्वं वृद्धिह्रासौ चेतीतिशेषः। अनेन सूत्रार्थ इति पदं योजनीयम्। **विषयेति**। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मे'त्यादिछान्दोग्यीयायां श्रुतौ। 'आकाशस्यात्मे'ति षष्ठीतत्पुरुषा'दाकाशवत्सर्वगतश्च नित्य' इतिस्मृतिस्मरणादाहुः **अत आकाशे**त्यादि। **प्रकृते**ति। विषयश्रुत्यनुसारित्वे। **एकदेशीति**। 'जडजीवधर्माणां भगवत्युपचारः, निषेधस्तु मुख्य इती'ति भाष्येणोक्तैकदेशिरीत्या। **एवमपीति**। उपाधिनिवेशेन विरोधपरिहारेपि। **नचौ-**

स्वधर्मा एव ते । कारणत्वादिवत्। नचागन्तुकत्वात् तद्धर्मा एव न भवन्तीति वाच्यम् । अन्यधर्मत्वे प्रमाणाभावात्। तद्गतत्वप्रतीतेश्च। दृष्टत्वाच्चाविरोधः। अविरोधप्रकारोऽयम् । यथोभयसामञ्जस्यं भवति, प्रकारोपि तस्यैव तथा

भाष्यप्रकाशः।

जपाकुसुमलौहित्यवदन्यधर्मत्वेन प्रत्यायिताः स्युः, तदा तेषामौपाधिकत्वं स्यात् । प्रत्यायितास्त्वात्मविशेषणेष्वात्मधर्मत्वेन, अतो न तथात्वमित्यर्थः। ननु यद्यप्येते आत्मविशेषणत्वेनोक्ताः, तथापि मनोमयत्वादिकं पूर्वमुक्त्वा पश्चादुक्ताः, तेन ब्रह्मणो मनआद्यनुविधायित्वमेव स्फुटीकृतम्, तथा सति तेषां तद्धर्मत्वमेव, न ब्रह्मधर्मत्वम्, अन्यानुविधायित्वस्यैव स्फुटीभावादित्यत आहुः **अन्येत्यादि**। तदभिध्यानसूत्रे आकाशादिलिङ्गतया तत्तदनुविधायित्वस्य सिद्धत्वादत्र मनआद्यन्यानुविधायित्वेपि सर्वकामादयो ब्रह्मधर्मा एव। यथा तत्रत्यं कारणत्वम्। आदिपदेन 'विश्लिष्टशक्तिर्बहुधेव भाती'ति स्मृत्युक्तं शक्तिविश्लेषादिकमपि संगृहीतं ज्ञेयम्। तेन स्वल्पकार्यकरणेपि नौपाधिकत्वमित्यर्थः। नन्वेवमन्यानुविधायित्वे तेषामागन्तुकत्वं तु सिद्धम्, तथा सति नैसर्गिकत्वाभावादन्यधर्मा एव भवन्ति, न तु भगवद्धर्मा इत्यत आहुः **नचागन्तुकेत्यादि**। 'कामः सङ्कल्प' इति श्रुतौ 'अशुद्धं कामसङ्कल्प'मिति श्रुतौ च कामसङ्कल्पयोः केवलयोरेव मनोधर्मत्वं श्रूयते, न तु सर्वत्वसत्यत्वविशिष्टयोस्तयोः, अतोऽन्यधर्मत्वे श्रुत्यभावः। लिङ्गवाक्यप्रकरणाभावस्तु स्फुटः। स्थानं त्वन्यानुविधानेनैव व्याख्यातम्, अतः **प्रमाणाभावात्** तथेत्यर्थः। समाख्या तु बहुव्रीहिणा ब्रह्मधर्मत्वमेव स्फुटीकरोतीत्याहुः **तद्गतेत्यादि**। ननु यद्यप्येवम्, तथापि युक्तिभिरनुचिन्तनस्य मननत्वात् तच्छेषत्वेनैतत्पाठेप्युपासनाशेषत्वमेव, न तु स्वतन्त्रब्रह्मधर्मत्वमेषाम्, यथा अस्थूलत्वादीनाम्, अतस्तदपेक्षया निर्बलत्वात् कथमविरोध इत्यत आहुः **दृष्टत्वाच्चाविरोध** इति। 'सोऽकामयत बहु स्या'मित्यत्र सर्वविषयककामस्य ब्रह्मधर्मत्वेन दृष्टत्वादेतेषां स्वाभाविकब्रह्मधर्मत्वेन नैर्बल्याभावादविरोध इत्यर्थः। नन्वेवं सति धर्मविधिनिषेधयोरेकविषयत्वाद्विरोध एवायातीति कथमविरोध इत्यत आहुः **अविरोधेत्यादि**। **अयमस्मदुक्तरीतिकः**।

रश्मिः।

पाधिकत्वमित्यादीति। **जपेति**। विलक्षणलौहित्यबोधनाय जपाकुसुमोपादानम्। वैलक्षण्यं त्वन्यधर्मत्वम्। 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविश'दिति श्रुतेः सर्वकामत्वादीनामन्यस्योपाधेर्धर्मत्वाभावात्। **अन्येति**। उपाध्यनुविधायित्वेपि धर्माणां ते धर्माः स्वस्य ब्रह्मण एव, नतूपाधेः, श्रुतावुपाधिसमस्योक्त्या तथावसायात्। **समस्तं धर्मैरिति**। ननु समस्त्वेपि विभुत्वविरुद्धा अन्य धर्मा इति चेत्, तत्राहुः **एवेति**। 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूप'मिति श्रुत्या निर्धारणादित्यर्थः। एवेत्यस्मात्पञ्चम्या लुक्। ननु स **दोषस्तदवस्थ** इति चेत्, तत्र दृष्टान्तमाहुः **कारणत्वेत्यादि**। नहि कारणत्वमुपाधिगतमुपाधेयेस्ति। 'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वा'दित्यधिकरणविरोधात्। आदिना सत्यत्वादयः। तद्वदिति न स दोषस्तदवस्थ इति भावः। ननु कारणत्वादयो नागन्तुका इति दृष्टान्तवैषम्यमिति प्रतिवादिनं पर्यनुयुञ्जतेस्म **नचागन्तुकेति**। जानाति इच्छति यतत इति प्रवादात् सर्वकामादीनां ज्ञानाधीनत्वेनागन्तुकत्वात्ते तद्धर्माः ब्रह्मधर्मा एव न। एवकारो 'नहि जन्या भगवद्धर्मा भवन्ती'ति तद्योगव्यवच्छेदकः। **श्रुत्यादीति**। आदिना

१. न चौपाधिकत्वमित्यादि प्रमाणाभावादिति, श्रुत्यादिरूपतात्पर्यलिङ्गाभावात्। तद्गतत्वेत्यादिना तेषां वास्तवत्वानङ्गीकारे प्रत्यक्षविरोधोपीति बोधितम्। तस्यैवेति, विचार्यं वस्तुन एव। सिद्धमाहुः तस्मादित्यादि। एवं ब्रह्मापीति। तत्तदुपाध्यन्तर्भूतं तथा तथा भवति, तथा च पूर्वमर्भकौकःसूत्रे व्योमवच्चेत्यनेन यदुक्तम्, तदेवात्र स्मारितम्। अत्र ब्रह्मधर्मविचारप्रसङ्गेन जीवधर्मोपि विचारित इत्याशयेनाहुः वृद्धिह्रासपदेनेति मूलपाठः रश्मौ व्याख्यातः।

वक्तव्यः । तस्मात् यथा आकाशस्य वृद्धिह्रासभाक्त्वं करकादिष्वन्तर्भावात् तथैवोभयसामञ्जस्यात्, एवं ब्रह्मापि । वृद्धिह्रासपदेन शरीरे आकाशजीवयोरेकमुदाहरणं बोधयति ॥ २० ॥

दर्शनाच्च ॥ २१ ॥

हेत्वन्तरमाह । भगवति सर्वे विरुद्धधर्मा दृश्यन्ते । 'न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम ।' व्याघातात् । तादृशमेव तद्वस्त्विति त्वध्यवसायः प्रामाणिकः । चकारादुलूखल-

भाष्यप्रकाशः ।

यथोभयसामञ्जस्ये श्रुतिद्वयस्य मुख्यार्थप्रतिपादकता भवति । एकदेशिना दृष्टान्तेनैवाविरोधसाधनात् । प्रकारोऽपि दृष्टान्तस्यैव श्रुत्यनुसारेण वक्तव्यः, अन्यथैकदेशी न मन्येत, अतस्तथेत्यर्थः । उक्तं निगमयन्ति तस्मादित्यादि । तथाच यदा भगवान् सत्त्वादिष्ववतरति, किञ्चित्कार्यार्थं जीवे आविशति वा, तथात्र ये कर्मादयः आश्चर्यजनकाः प्रतीयन्ते, यथा परशुरामादिषु निःक्षत्रीकरणादयः, यथा चन्द्रे प्रतर्दनाख्यायिकोक्ता दैत्यवधादयः, यथा च गुर्वादौ भगवद्गतिव्यञ्जनादयः, ते सर्वे आधाराभिव्यक्त्या भगवद्धर्मा एव, न त्वाधारधर्माः । एतदेव ज्ञापयितुमाहुः वृद्धिह्रासपदेनेत्यादि । तथाच जीवन्मुक्तदशायामानन्दाविर्भावेन व्यापकत्वेप्यणुत्वस्य यदबाधः, तत्राप्येषा युक्तिः । शरीरान्तःस्थितौ तेनाभिव्यज्यमानमपि जीवधर्मभूतमेवाणुत्वम्, आनन्दाविर्भावेन चाभिव्यज्यमानं व्यापकत्वम्, ब्रह्म तु ततोप्यधिकम्, अन्यथा व्युच्चरणादिश्रुतिविरोधापत्तेः । एतावान् परं विशेषः । आकाशे विभुत्ववज्जीवेणुत्वं सहजम्, अन्यथा 'क्षुद्रा' इति विशेषणबाधापत्तेरिति । तथाच पूर्वमर्भकौकःसूत्रे 'व्योमवच्चे'त्यनेन यदुक्तम्, तदेवात्र स्मारितम् ॥ २० ॥

दर्शनाच्च ॥ २१ ॥ सूत्रमवतारयन्ति हेत्वन्तरमाहेति । एवमुपाधिसम्बन्धेनाभिव्यज्यमानत्वे तेषां नैमित्तिकत्वेनागन्तुकत्वमेव घृतद्रवत्वादिवत्, नतु स्वाभाविकत्वम् । तथा सति सृष्टेः पूर्वं निर्धर्मकमेव स्यात्, ततश्च 'सोऽकामयते'त्यादिरपि पीड्येतेति तदभावाय हेत्वन्तरमाहेत्यर्थः । अत्र सूत्रे 'उभयसामञ्जस्यादेव'मिति पदद्वयं पूर्वसूत्रादनुवर्तते । चो बुद्धिस्थसमुच्चायकः । तथाच

रश्मिः ।

स्मृतिः । श्रुतिस्तु 'नेति नेति' 'अस्थूलमनण्वि' त्यादिश्च । स्मृतिश्च 'मायामयं वेद स वेद वेद'मिति । एतद्रूपाणां प्रमाणानां तात्पर्यं सर्वकामादिधर्मनिषेधविषये लिङ्गं हेतुस्तदभावात् । तर्हि किंविषये तात्पर्यं लिङ्गमितिचेत्, उच्यते । श्रुतेस्तात्पर्यविषयस्य 'नेति नेती'त्यस्य व्याख्याने पूर्वमुक्तम् । स्मृतेस्तात्पर्यविषयं वैराग्यमिति । पूर्वमिति । प्रथमाध्यायद्वितीयपादे । विचारित इति । आकाशदृष्टान्तेन विचारितः । क्षुद्रा इतीति । 'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ती'ति श्रुतौ तथा ॥ २० ॥

दर्शनाच्च ॥ २१ ॥ एवेति । स्वाभाविकत्वयोगव्यवच्छेदकैवकारः । घृतेति । आदिना जतुसुवर्णद्रवत्वम् । तथा सतीति । धर्माणां नैमित्तिकत्वे सति । एवेति । सधर्मकाभिन्नत्वयोगव्यवच्छेदकैवकारः । पीड्येतेति । सृष्टेः पूर्वमिच्छारूपधर्मबोधकं वाक्यं इच्छाया अपि ज्ञाननिमित्तत्वेनागन्तुकत्वसम्भवात्पीड्येत, नित्येच्छाबोधकत्वाभावात्पीडा । इच्छादीनां 'अविनाशी वारे अयमात्मानुच्छित्तिधर्मे'ति श्रुतेर्नित्यत्वात् । सिद्धवचनभाष्यादाहुः अत्र सूत्र इति । अनुवर्तेत इति । किञ्च, ब्रह्मप्रतीतेर्न विरोध इति भाष्यात्तत्रत्यात् । प्रथमसूत्राद्ब्रह्मेत्यनुवर्तते । एवमिति । सौत्रपदार्थोयम् । न विरोधशब्दाभ्यां पादार्थोप्युक्तः । तत्रत्यभाष्यादेवाहुः च इति । बुद्धिस्थानां श्रुतिस्मृतिप्रत्यक्षाणां समुच्चायक

बन्धनादिषु प्रत्यक्षमेवोभयसाधकं दृष्टमिति । 'अथो अमुष्यैव ममार्भकस्ये'ति च । तस्माच्छ्रुतिस्मृतिप्रत्यक्षैः सर्वविरुद्धधर्माश्रयत्वेन ब्रह्मप्रतीतेर्न विरोधः ॥ २१ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

केवलब्रह्मबोधकश्रुतिषु तत्तद्धर्मदर्शनात् प्रत्यक्षेणापि भानात् स्मृतावपि सिद्धत्वात् ब्रह्म एवम्, यथा प्रतीयते तादृशम् । तत्र हेतुरुभयसामञ्जस्यमेव । तदेतत् हृदिकृत्य सूत्रोक्तं दर्शनं विवृण्वन्ति भगवतीत्यादि । तथाच वैश्वानरविद्यायां प्रादेशमात्रत्वाभिविमानत्वं द्युमूर्धत्वादिकं पुरुषत्वं पुरुषविधत्वं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितत्वम् । तैत्तिरीये 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूपं विश्वं पुराणं तमसः परस्ता'दित्येकस्याव्यक्तस्यानन्तरूपत्वम् । एवं श्रुत्यन्तरेऽपि 'आसीनो दूरं व्रजती'त्यादीनि दृश्यन्ते । एवं मिथिलागमने श्रुतदेवजनकयोर्गृह एककालावच्छेदेन प्रवेशादिकं स्मृतिसिद्धं दृश्यते । अवतारदशायां गोवर्धनोद्धरणादिकमवस्थासाधनविरुद्धं कार्यं च दृश्यते । तत्र प्रत्यक्षश्रुतिसिद्धे सर्वजनीनदर्शनसिद्धे तादृक्स्मृतिसिद्धे च ब्रह्मणो विरुद्धधर्माश्रयत्वेऽनुपपत्तेर्वक्तुमशक्यत्वाद्वस्तुस्वभावमेवादाय दर्शनस्येच्छानुग्रहा[illegible]त्वं चादाय तादृशनिश्चयस्य प्रामाणिकत्वमवगन्तव्यमित्यर्थः । उभयसाधकमिति । स्वल्पत्वमहत्त्वयोः साधकम् । तत्र बहूनां दाम्नां सन्धानेपि न स्वरूपवेष्टकत्वम्, स्वरूपस्य च न प्रथमपरिमाणादाधिक्यम्, अन्यथा विस्मयानापत्तेः । मृत्साभक्षणव्यादानस्थले च स्पष्टमेव तथात्वम् । 'एवं विदिततत्त्वाया' इति तत्र कथनात् । मायामोहस्य तदुत्तरं कथनाच्चेति । तेन सिद्धमाहुः तस्मादित्यादि । वैश्वानरेऽर्थ-

रश्मिः ।

इत्यर्थः । च दर्शनादिति सूत्रयोजनामाहुः तथा चेति । तत्तद्धर्मेति । सत्यत्वज्ञानत्वादिधर्मदर्शनात् । स्मृतावपीति । 'अथो अमुष्यैव ममार्भकस्य यः कश्चनौत्पत्तिक आत्मयोग' इतिस्मृतौ । तेन चकारात्सप्तम्या लुक् । एवं चकारार्थेषु मध्ये श्रुतिषु दर्शनादिति सूत्रं व्याख्यातं पञ्चम्यन्तेन । प्रत्यक्षेणेति । उलूखलबन्धनादिषु प्रत्यक्षेण । बुद्धिस्थद्वितीयचकारार्थेन समं सूत्रार्थः । बुद्धिस्थतृतीयचकारार्थेन समं सूत्रार्थमाहुः स्मृतावपीति । भानेन सिद्धत्वात् भानात् । एवं सूत्रार्थमुक्त्वानुवृत्तपदानामर्थमाहुः ब्रह्म एवमिति । एवंशब्दार्थः यथेत्यादिः । न विरोधः । उभयेति । पञ्चम्यन्तमितिविशेषणं बोध्यम् । एवेति । अयं दर्शनादितिहेतुयोगव्यवच्छेदकः । तस्याननुवृत्तपदेन्वयो न सकलसूत्रेऽहेतुत्वात् । नापि पूर्वहेतुसमुच्चयेन हेतुत्वम् । अन्यचकारार्थोक्तेः । वैश्वानरेति । इयं प्रथमाध्याये 'वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषा'दित्यत्र समर्थिता । प्रवेशादिकमिति । आदिशब्देन स्थित्यादिकम् । दशमस्कन्धे स्पष्टम् । अवस्थेति । सप्तवार्षिकी । साधनं गोवर्धनोद्धरणम् । तदुभयविरुद्धं कार्यं गोष्ठरक्षणम् । एतावता दृश्यन्त इति भाष्यार्थ उक्तः । नहीत्यादिभाष्यार्थमाहुः तत्र प्रत्यक्षेति । प्रत्यक्षा श्रुतिः प्रत्यक्षश्रुतिः । तत्सिद्धे विषये सति सार्वजनीनप्रत्यक्षसिद्धे विषये सति । तादृगित्यादावप्येवम् । अनुपपत्तेर्विरुद्धधर्मरूपानुपपन्नपदार्थनिष्ठाया वक्तुमशक्यत्वाद्दृष्टे दर्शनविषये सति हि निश्चयेन नानुपपन्नं विरुद्धधर्मादि नाम । व्याघातात् । चक्षुरादौ प्रामाण्यहिंसनात् । स स्वभाव इव दृश्यते इति तादृशं ब्रह्मरूपनिश्चयरूपवस्तुस्वभावम् । एवेत्यन्ययोगव्यवच्छेदकः । तादृशेति । 'इति त्वध्यवसायः प्रामाणिक' इति भाष्यार्थः । भाष्ये । चकारादिति । बुद्धिस्थसमुच्चायकात् । भाष्यप्रकाशोक्तार्थकात् । आदिशब्देन मृत्साभक्षणविश्वरूपदर्शने । प्रत्यक्षमेवेति । सूत्रोक्तत्वात्प्रत्यक्षम् । एवकारेण श्रुतिस्मृतिरूपान्ययोगव्यवच्छेदकेनोभयसाधकम् । प्रकृते । स्पष्टमेवेति । अस्पष्टत्वयोगव्यवच्छेदक एवेति । विरुद्धधर्माश्रयत्वं तथात्वमित्यस्यार्थः । विरुद्धधर्माश्रयत्वं तत्त्वमिति वाक्येनाहुः एवं विदितेति । तत्र प्रमाणमाहुरित्यप्याभासः । कथनादिति । 'वैष्णवीं व्यतनोन्माया'मित्येवम् । प्रत्यक्षमेवेति भाष्येण

प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः ॥ २२ ॥

परमार्थतो विरोधं परिहृत्य युक्त्यापि प्रतिषेधति । ननु सर्वविशेषधर्माणामस्थूलादिवाक्यैर्निषेधात् कथमविरोधः प्रत्येतव्य इति चेत् । तत्राह । प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति । प्रकृते यदेतावत् परिदृश्यमाना यावन्तः पदार्था लौकिकाः,

भाष्यप्रकाशः ।

क्रमस्य बलीयस्त्वमुपगम्य विरोधस्य परिहर्तुं शक्यत्वेपि काठके तथा वक्तुमशक्यत्वात् । उलूखलबन्धने स्वल्पस्य यत्तावत्तु दामस्वमानं तस्य स्वरूपधर्मत्वे, मतान्तरेण शरीरधर्मत्वे वा तदाधारस्य विरुद्धधर्माश्रयतायाः प्रत्यक्षसिद्धतया स्मृतिसिद्धतया चापह्नोतुमशक्यत्वेन अभिन्ननिमित्तोपादानत्वोपगमेन च विरुद्धधर्माश्रयत्वस्य प्रामाणिकत्वाच्छ्रुत्यादिभिस्तथात्वेन ब्रह्मप्रतीतेर्न विरोध इति प्रकृतानां सर्वकामत्वादीनामप्यौपचारिकत्वकल्पनं नैमित्तिकत्वेनानित्यत्वोद्भावनं चाप्रयोजकमित्यर्थः । एवमेताभ्यां सूत्राभ्यां 'अत एव चोपमे'तिसूत्रोक्तं सर्वं प्रत्युक्तं ज्ञेयम् ॥२१॥

प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः ॥ २२ ॥ सूत्रमवतारयन्ति **परमार्थत** इत्यादि । **परमार्थत** इति । वस्तुविचारात् । एवं सर्वैः प्रकारैः परिहृतेपि विरोधे पुनर्युक्त्या परिहारस्य किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायां वस्तुनस्तादृक्स्वभावत्वमनन्वानं प्रति युक्तिरवश्यं वक्तव्येत्यतः सूत्रांशमवतारयन्ति **नन्वि**त्यादि । तथाच पूर्वसूत्रोक्तदर्शनस्य अवतीर्णे स्वेच्छया

रश्मिः ।

सौत्रदर्शनस्य मुख्यत्वं श्रुतिस्मृत्योर्व्यवच्छेदेनोक्तं तयोरन्वयमत्र भाष्य उक्तं तत्स्पष्टयन्तिस्म **वैश्वानर** इति । प्रादेशमात्रेभिविमाने औपाधिकेऽभिविमानत्वासंभवादार्थक्रमेणाभिविमाने इति वक्तव्ये अर्थक्रमस्य बलीयस्त्वमुपगम्येत्यर्थः । **काठक** इति । 'आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा, आश्चर्योस्य ज्ञाता कुशलोऽनुशिष्ट' इत्यत्राश्चर्ये वक्तव्ये औपाधिकोप्यभिविमान इत्यर्थक्रमेण तथा नामविरोधपरिहारस्य वक्तुमशक्यत्वात् । **तस्येति** । अमानस्य । **मतान्तरेणेति** । पुराणमतेन मायारूपशरीरधर्मत्वे वा । स्मृतेर्मुख्ये दर्शने उपष्टम्भकतयान्वयमाहुः **स्मृतिसिद्धेति** । प्रत्यक्षमुपष्टम्भमिति सप्रमाणम्, न तु शुक्तिरजतप्रत्यक्षवदप्रमाणमित्युक्तम् । **अभिन्नेति** । समन्वयाधिकरणेयमुपगमः । अत्र श्रुतेरन्वयमाहुः **श्रुत्यादिभिरिति** । श्रुतिस्मृतिप्रत्यक्षैः । **तथात्वेन** विरुद्धधर्माधारत्वेन । **ब्रह्मप्रतीतेरिति** । ब्रह्मदर्शनात् । अत्र **श्रुत्यादिभिरि**त्यन्तेन श्रुतिस्मृतिप्रत्यक्षैरितिचकारार्थभाष्यार्थ उक्तः । **तथात्वेने**त्यनेनानुवृत्तोभयसामञ्जस्यं पञ्चम्यन्तं तस्यार्थः सर्वविरुद्धधर्माश्रयत्वेनेति शक्यतावच्छेदक उक्तः । **ब्रह्मप्रतीते**रित्यनेनावृत्तब्रह्मपदार्थः सौत्रदर्शनादितिपदार्थ उक्तः । **न विरोध** इत्यनेनावृत्तैवंशब्दार्थ उक्तः । **नैमित्तिकत्वेनेति** । जानातीच्छति यतत इति प्रवादात् निमित्तं ज्ञानं तत्सम्बन्धिविशेषत्वे च । **अत एव चोपमेति** । 'तस्माज्जडजीवधर्माणां भगवत्युपचारः, निषेधस्तु मुख्य' इति भाष्येण संगृहीतम् । **प्रत्युक्तमिति** । सर्वकामत्वादीनामौपचारिकत्वकल्पनस्यानित्यत्वोद्भावनस्य चाप्रयोजकत्वोक्त्या प्रत्युक्तमित्यर्थः ॥ २१ ॥

प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः ॥ २२ ॥ निश्चिते इति । स्वाभाविकानां निषेधायोगात् । **कथमिति** । कथमविरोधः प्रत्येतव्य इत्यर्थः । **भाष्ये । प्रतीतस्यै-**

1. तथा च सर्वविशेषनिषेधेन तादृक्स्वभावाभावे निश्चिते कथं तथेत्यर्थः इति मूले पाठः ।

तेषामेव धर्मान् निषेधति । प्रतीतस्यैव हि निषेधात् । अतो जगद्वैलक्षण्यमेवास्थूलादिवाक्यैः प्रतिपाद्यते, न तु वेदोक्ता ब्रह्मधर्मा निषेद्धुं शक्यन्ते । कुत एतदवगम्यते । तत्राह । ततो ब्रवीति च भूयः । यत्रैव वाक्ये पूर्वं निषेधति, तस्मिन्नेव वाक्ये पुनस्तमेव विधत्ते । 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह, आनन्दं ब्रह्मणो विद्वा'निति । तथा अस्थूलवाक्येपि 'एतस्यैव प्रशासने' 'एतद्विदित्वा' 'आकाश ओतश्च प्रोतश्चे'ति । चकारादेकवाक्योपाख्यानभेदौ संगृ-

भाष्यप्रकाशः ।

व्यवहार्ये प्रपञ्चसलक्षण एव प्रतीयमानैकविशेषविरुद्धविशेषान्तरविषयत्वाच्च तेन प्रपञ्चविलक्षणे सर्वविशेषशून्ये ज्ञानाकारे तद्विरुद्धविशेषवत्त्वासिद्धिरिति तत्र धर्मविधिनिषेधयोरविरोधः कथं प्रत्येतव्य इत्याकाङ्क्षायामविरोधप्रत्ययप्रकारमाहेत्यर्थः । व्याकुर्वन्ति **प्रकृते यदि**त्यादि **शक्यन्त** इत्यन्तम् । **प्रकृते इति** । गार्ग्युपक्रान्ते प्रपञ्चे, गार्गीप्रश्ने वा । तथाच जगद्वैलक्षण्यबोधनेन तत्प्रकारका धर्मा निषिध्यन्ते, न तु तत्सदृशाः स्वरूपधर्मा अपि । अतो न ते औपचारिका इत्ययं तत्तदभावयोरविरोधप्रत्ययप्रकारः । तेन निषेधमात्रदर्शनात् सर्वकामत्वादीनामौपचारिकत्वकल्पनं यत् दर्शयतिसूत्रे कृतम्, तदनया युक्त्या परिहृतमित्यर्थः । अत्र प्रमाणाकाङ्क्षायां सूत्रशेषमवतारयन्ति **कुत** इत्यादि । उदाहरणमाहुः **यत** इत्यादि । अत्र ज्ञानकारणाप्राप्तिकथनमुखेन पूर्वार्धे ज्ञानं निषिध्य, उत्तरार्धे तद्विधत्ते । अस्थूलवाक्येपि 'अवागमनः अमुख'मिति प्रशासनकारणनिषेधमुखेन प्रशासनं निषिध्य, 'एतस्यैवे'त्यादिना तद्विधत्ते । एवं सर्वधर्मनिषेधमुखेन वेद्यत्वं निषिध्य, 'एतद्विदित्वे'त्यादिना तद्विधत्ते । तथा 'न तदश्नोति कश्चने'ति व्याप्तिं निषिध्य, 'आकाश ओतश्च प्रोतश्चे'त्यनेन तां विधत्ते । 'न तदश्नोती'त्यस्य भोजनार्थकत्वपक्षे त्वत्र भगवत्कर्तृकं च भोगं निषेधति, 'सोऽश्नुते सर्वान् कामा'नित्यादौ तद्विधत्ते इति बोधयितुमाहुः **चकारादि**त्यादि । तथाच यथा श्वेताश्वतरे 'अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ते'ति कर्तृत्वं निषेधति, तथा मुण्डके 'कर्तारमीश'मिति विधत्ते । एवमन्यत्रापि बोध्यम् । तथाच **कर्मणि साध्ये**

रश्मिः ।

चेति । अप्रतीतयोगव्यवच्छेदक एवकारः । **जगद्वैलक्षण्यमेवेति** । नन्वस्थूलादिवाक्ये वैलक्षण्यं न नञर्थः, पदस्यानुक्तेरितिचेत् । न । पर्युदासार्थकनञर्थेन सुखेन वैलक्षण्योपलब्धेः । तद्भिन्नस्तत्सदृशो विलक्षणो भवतीति । चन्द्रवन्मुखमित्यत्र चन्द्रभिन्नं चन्द्रसदृशं मुखं भवति । तद्विलक्षणमित्येवकारः । **यत्रैवेति** । आरोपापवादस्यासङ्गतत्वबोधनायैवकारत्रयम् । अन्यथैवकारत्रयं व्यर्थं स्यात् । तथाच यद्यारोपापवादो भाष्ये विवक्षितः स्यात्, एवकारत्रयघटितं भाष्यं न स्यादिति । तेनैतादृशस्थले नारोपापवादः । यत्र कचिद्धर्मा विहिताः, अन्यत्र निषिद्धाः, तत्रैवारोपापवादसन्देहः कर्तव्य इति भाष्येण द्योत्यते । **उदाहरणमिति** । उक्तार्थस्य उत् अधिकमाहरणं यस्मिन् तद्वाक्यमाहुः । एकत्वमविवक्षितम् । **ज्ञानेति** । ज्ञानं शाब्दं तत्कारणं वाचस्ताभिरप्राप्तिकथनमुखेनेत्यर्थः । **अवागिति** । अवाक् अमन इति छेदः । **प्रशासनेति** । प्रशासनकारणानि वाङ्मनोमुखानि । तन्निषेधमुखेन । **एतस्येति** । 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिवी विधृते तिष्ठत' इति श्रुत्या । **सर्वधर्मेति** । अस्थूलश्रुत्यैव सर्वधर्मनिषेधमुखेन । **एतद्विदित्वेत्यादी**ति । 'अथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मण' इत्यादिना । **अन्यत्रापी**ति । मूर्तामूर्तब्राह्मणे 'अथात आदेशो ने'ति मूर्तामूर्ते निषिध्य तद्विधत्ते 'नह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्तीति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्य'मिति श्रुत्या । चकारादित्यादिभाष्यस्य चकारादनुक्तसमुच्चयार्थकात् एकं ब्रह्मवाक्येन षोडशिग्रहणाग्रहणरूपेण यदुपाख्यानं तयोः परस्परं भेदौ तौ संगृहीतावित्यर्थं मन्वाना आहुः **तथा चेति** । **कर्मणीति** । अतिरात्राख्ये व्यक्तिभे-

हीतौ । सर्वत्र लौकिकं प्रतिषेधति, अलौकिकं विधत्ते इति युक्त्या निर्णयः । तस्मात् युक्त्याप्यविरोधः ॥ २२ ॥

इति तृतीयाध्याये द्वितीयपादे षष्ठमम्बुवद्ग्रहणादित्यधिकरणम् ॥ ६ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

व्यक्तिभेदेन षोडशिग्रहणाग्रहणवन्नित्य एकस्मिन् ब्रह्मणि ज्ञेयत्वाज्ञेयत्वप्रशासितृत्वाप्रशासितृत्वादीनां विकल्पस्याशक्यवचनतया वाक्यस्याबोधकतायां तन्निवृत्त्यर्थं लौकिकं निषेधति, अलौकिकं तं धर्मं विधत्ते इति व्यवस्था मन्तव्या । स्थूलत्वादीनां लौकिकानामेव निषेधदर्शनात् । ईदृशप्रशासितृत्वादीनामलौकिकानामेव विधानदर्शनात् । अतो ये वस्तुस्वभावतो विरुद्धधर्माश्रयत्वं न मन्वते, तान् प्रत्येवं लौकिकालौकिकविभागरूपया युक्त्या निर्णयः । तेन श्रुत्या बोध्यमाना ये सर्वकामत्वादयः, तेप्यलौकिका एव । मन्दधियामविचारकाणां परं नामतौल्येन भ्रमः । नचानाप्तकामत्वापत्तिः । अभिध्यारूपत्वेन, स्वयमेव तत्पूर्तिकरणेन चादोषात् । एतेन जीवतुल्यतापत्तिरपि परिहृता बोध्या । तस्माच्छ्रुत्यक्षराण्यननुसन्दधानानां बोधार्थं युक्त्याप्यविरोध आचार्येणोक्त इत्यर्थः । एतेनैव यावद्धर्मशून्यत्वं ब्रह्मणो वदन्तोपि प्रत्युक्ता वेदितव्याः ।

अन्ये त्वस्मिन् सूत्रे 'द्वे वा व ब्रह्मण' इति वाक्यं विषयत्वेनाहुः । तदर्थं विद्वन्मण्डने एतद्वाक्यार्थोपि विचारितः । तथाहि । 'नेति नेती'त्यत्र इतिशब्दः प्रकारवाची । तथाच पूर्वं मूर्तामूर्तब्रह्मणो विभूतिरूपं 'य एवं वेदे'त्यन्तेन निरूप्य यस्यैतद्रूपद्वयं पूर्वमेव षष्ठ्यन्तेन पदेन निरूपितभेदस्य तस्मिन्निरूप्यमाणेष्वपि सर्वतःपाणिपादान्तत्वादिष्वेवं लौकिकत्वेन वेदनं मा भूदिति भिन्नप्रक्रमेणैतत्प्रकारकं वेदनं ब्रह्मणो निषेधति 'अथात' इत्यादिना । अयमर्थः । ब्रह्मण्यपि मूर्तामूर्तरूपे सर्वतःपाणिपादान्तेत्यादिश्रुत्युक्ते वेदितव्ये । परन्त्वित्यनेन प्रकारेण न वेदितव्ये ब्रह्मण एते रूपे इति, किन्तु ब्रह्मैवेति वेदितव्ये इत्यर्थः । अत्र विनिगमकमाह सूत्रकारः 'ततो ब्रवीति च भूय' इति । शेषं स्फुटम् ।

यत्तु प्रकृतशब्देन 'द्वे वा व ब्रह्मण' इत्यादिनोक्तं मूर्तामूर्तलक्षणं रूपद्वयं परामृश्यत इति मतम्, तत्र प्रकृतत्वं प्रतिषेधतीत्येतावतैव चारितार्थ्ये सत्येतावत्पदं व्यर्थम् । नच प्रकृतस्य ब्रह्मणः प्रकृते वा ब्रह्मणि एतावत्त्वं प्रतिषेधतीति व्याख्यानान्न दोष इति वाच्यम् । तथा सति 'ततो ब्रवीति च भूय' इत्यस्य वैयर्थ्यापातात् । प्रकृतपदेनैव ब्रह्मप्रमितौ तदभावशङ्कानुदयेन तत्सत्तायां मानाकाङ्क्षार्थं तत्कथनप्रयोजनाभावात् । तस्मादस्मदुक्त एवार्थ इति ॥ २२ ॥ इति षष्ठमम्बुवद्ग्रहणादित्यधिकरणम् ॥ ६ ॥

रश्मिः ।

देनैकैकेन । अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति, नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णातीति षोडशिग्रहणाग्रहणयोर्विकल्पस्येव । षष्ठ्यान्ताद्वतिः । **अशक्येति** । व्यक्तिभेदाभावादितिभावः । **अबोधकेति** । दृष्टान्ताभावात्तथा । एवेति । प्रक्षालनपङ्कन्यायेनैवकारः । विद्वन्मण्डनेयं विषयः स्पष्टः । **सर्वत्रेति**भाष्यं विवृण्वन्ति स **लौकिकं निषेधती** । एवेति । नित्यानां निषेधायोगात् । एवेति । 'लौकिकं नैव मनुत' इत्याचार्यवचसः । नित्यानित्यसंयोगापत्तेश्च । **अलौकिका** एवेति । एवकारार्थ उक्तः । **नामे**ति । स्थूलसर्वकामादिनाम्नां तौल्येनालौकिकनामवति लौकिकनामवत्त्वेन ज्ञानमितिभ्रमः । तस्मादितिभाष्यं विवृण्वन्तिस्म **तस्मा**दिति । **अनन्वि**ति । युक्तीर्विनानुसन्दधानानाम् । **युक्त्यापी**ति । अपिशब्देन परमार्थतः । **आचार्येण** व्यासेन ॥ २२ ॥ **इति षष्ठमम्बुवद्ग्रहणादित्यधिकरणम्** ॥ ६ ॥

तदव्यक्तमाह हि ॥ २३ ॥ (३-२-७.)

शब्दबलविचारेण विरोधं परिहृत्यार्थबलविचारेणाविरोधप्रतिपादनायाधिकरणमारभते । सर्वाणि विरुद्धवाक्यान्युदाहृत्य चिन्त्यन्ते । 'न चक्षुषा गृह्यते' 'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्,' 'नापि वाचा' 'सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति' 'अप्राप्य मनसा सह' 'मनसैवैतदाप्तव्यम्,' 'अस्पर्शमगन्धमरसम्' 'सर्वरूपः सर्वगन्धः सर्वरसः', 'अपाणिपाद' इत्यादि 'विश्वतश्चक्षु'रित्यादि, 'निर्गुणश्च' 'यः सर्वज्ञः सर्वशक्ति'रित्यादिविरुद्धवाक्यानि । न हि वस्तु द्विरूपं सम्भवति । वाक्यद्वयमपि प्रमाणम् । तथा सति प्रमाणान्तरानुरोधेनैकस्य स्वार्थे प्रामाण्यम्, अन्यस्योपचरितार्थत्वमिति युक्तम् । तत्र प्रत्यक्षानुरोधेन निर्णयो विचार्यते ।

तत्र पूर्वपक्षमाह । तदव्यक्तम् । तत् ब्रह्म अव्यक्तमेव भवितुमर्हति ।

भाष्यप्रकाशः ।

तदव्यक्तमाह हि ॥ २३ ॥ अधिकरणप्रयोजनमाहुः शब्दबलेत्यादि । तथाच यद्यपि स्वविचारे तस्यानावश्यकत्वम्, तथाप्यन्यैः ऋषिभिरर्थबलेन विचारस्याङ्गीकृतत्वात् तेनाविचारे तेषां निर्विशेषपक्षपातात् सविशेषश्रुतिः पीड्येत, विचारिते त्वर्थसामर्थ्ये वस्तुस्वभावादेवोभयसम्भवान्न श्रुतिपीडेत्यतस्तन्निवारणार्थं तदारभत इत्यर्थः । ननु विरुद्धवाक्येषु चिन्तितेषु किमवशिष्टं येनार्थबलाद्विरोधोत्थानमित्यत आहुः सर्वाणीत्यादि । सर्वाणीति । प्रमाणाग्राह्यत्वग्राह्यत्वयोर्धर्मराहित्यतद्वत्त्वयोराकारराहित्यतद्वत्त्वयोर्गुणराहित्यतद्वत्त्वयोर्बोधकानि । 'सर्वरूप' इत्यनेन 'यथामहारजनं वास' इत्यादिश्रुतिस्तद्विरुद्धा 'अरूपमव्यय'मिति श्रुतिश्च स्मार्यत इति बोध्यम् । सन्देहमाहुः न हीत्यादि । तथाच लौकिकालौकिकभेदेन व्यवस्थायां कृतायां मास्तु शब्दे संशयः, तथाप्यर्थे संशयो दुर्वार इत्यर्थः । सन्देहबीजमाहुः वाक्येत्यादि । तत्र[1] पूर्वपक्षमुत्थापयितुमापाततो निर्णयप्रकारं वदन्ति तथा सतीत्यादि, विचार्यत इत्यन्तम् ।

पूर्वपक्षमाहुः तत्रेत्यादि । यद्यपि पूर्वं सर्वप्रमाणापेक्षया शब्दस्यैव प्राबल्यं निर्णीतम्, तथापि शब्दस्यार्थसापेक्षत्वादर्थबलेनैव विचारो मुख्य इति श्रुत्यर्थनिश्चायनायार्थबले विचार्ये

रश्मिः ।

तदव्यक्तमाह हि ॥ २३ ॥ **तस्येति** । अर्थबलविचारस्यास्मिन्भगवद्व्यासमते शब्दबलसिद्धेनावश्यकत्वम् । **अन्यै**रिति । अत्रैव बादरिप्रभृतिभिः । यथेति । आमाहारेण जनं जननम् । वर्णलोपः । वासः शरीरे इत्यनव्ययम् । **संशय इति** । चक्षुरग्राह्यो ग्राह्यो वेत्यादिः । **सन्देहबीजमिति** । प्रमाणं विकल्पोत्थापकं बीजमित्यर्थः । 'श्रुत्योर्विरोधे विकल्प' इति मनुस्मरणात् । **आपातत इति** । अविचार आपातस्तस्मात् । एकदेशिनिर्णयप्रकारम् । **पूर्वमिति** । प्रथमाध्यायद्वितीयचरणे वैश्वानराधिकरणे । **शब्दस्यैवेति** । एवकारस्तु 'केवलं शब्दबलविचारका आचार्या' इति 'साक्षादप्यविरोधं जैमिनि' रितिसूत्रभाष्यात् । **शब्दस्यार्थेति** । घटं दृष्ट्वा घटशब्द इति तथा । यद्यप्यर्थस्य शब्दसापेक्षत्वं 'शब्द इति चे'दितिसूत्रात्, तथापि पूर्वपक्षग्रन्थत्वाद्युक्तम् । एवेति । 'अर्थबलविचारको बादरि'रिति तथा । 'केवलार्थवि-

1. तत्रापाततो निर्णयप्रकारं वदन्तः पूर्वपक्षमुत्थापयन्तीति पाठः मूले ।
ब्र० सू० १० १८

कुतः । आह हि । श्रुतिप्रत्यक्षाभ्याम् । 'नेति नेत्यात्मा अग्राह्यो न हि गृह्यत' इति । 'न हि गृह्यत' इत्यनुभवसाक्षिकं प्रमाणं श्रुतिराह । न हि केनचिदपि चक्षुषा मनसा वा ब्रह्म दृष्टमस्ति । सर्वरूपत्वे तु सर्वैरेव द्रष्टुं शक्येत । तस्मात् सर्वधर्मवत्त्वेन प्रतिपादकान्युपचरितार्थान्येव । अनुभवविरोधादित्येवं प्राप्तम् ॥ २३ ॥

अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥ २४ ॥

अपीति पूर्वपक्षगर्हायाम् । सर्वथा मूर्खः पूर्वपक्षवादी । यतः संराधने सम्यक् सेवायां भगवत्तोषे जाते दृश्यते । 'श्रद्धाभक्तिज्ञानयोगादवैहि' 'यमे-

भाष्यप्रकाशः ।

पूर्वपक्षमाहेत्यर्थः । हेतुं व्याकुर्वन्ति आह हीति । हि श्रुतिप्रत्यक्षाभ्यां हेतुभ्यां श्रुतिराह । अतस्तदव्यक्तमिति योजना । श्रुतिप्रत्यक्षाभ्यामिति यदुक्तम्, तत्र का श्रुतिः, किं प्रत्यक्षमित्याकाङ्क्षायां तदेव विभजन्ते नेतीत्यादि । अस्यां श्रुतौ कथं प्रत्यक्षप्राप्तिरित्यत आहुः नहीत्यादि । तदेव विवृण्वन्ति न हि केनचिदित्यादि ॥ २३ ॥

अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥२४॥ सूत्रं व्याकुर्वन्ति अपीत्यादि । अत्र दर्शनसूत्रोक्तो दृशिर्व्यवहितोऽप्यर्थबलात् परामृश्यते । तथाच केवलस्य प्रत्यक्षादेः प्रमाणस्य लौकिकत्वेन नैर्बल्येपि साधनबलसिद्धस्य तस्यालौकिकत्वेन प्रबलत्वात् केवलानुभवविरोधोऽप्रयोजक इति साधनसिद्धेन प्रत्यक्षेण निर्णय इत्यर्थः । हेतुं व्याकर्तुं श्रुतिस्मृती उपन्यस्यन्ति श्रद्धेत्यादि । इयं

रश्मिः ।

चारको बादरि'रिति उक्तसूत्रभाष्यात् । नहि केनचिदित्यादीति । सर्वैरेवेति । योग्यत्वादेवकारः । उपचरितेति । उपचारो व्याख्यातः । एवकारः सर्वेषां दर्शनाभावात् ॥ २३ ॥

अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥ २४ ॥ केवलस्येति । श्रुतिरहितस्य । पूर्वं 'श्रुतिप्रत्यक्षाभ्या'मित्युक्तत्वात् । प्रत्यक्षादेरित्यत्रादिशब्देनानुमानादि । भाष्ये प्रत्यक्षस्योपलक्षकत्वात् । तथा च 'सर्वैरेव द्रष्टुं शक्येते'तिभाष्याद्वह्निरूपत्वे धूमरूपेणानुमातुं शक्येत । गवयरूपत्वे उपमातुं शक्येत । घटादिरूपत्वे शब्दितुं शक्येतेति बोध्यम् । केवलानुभवेति । केवलस्य धर्मशून्यस्य नीरूपत्वादनुभवो विरुध्यते, तद्विषयको न भवतीत्यर्थः । नीरूपत्वसमानाधिकरणो न भवति । तथाच 'मूर्खो देहाद्यहंबुद्धि'रिति वाक्यात् अग्राह्यत्वेन प्रकारेण प्रत्यक्षशून्यो देहाद्यहंवादी । अग्राह्यत्वस्योपचरितत्वात् । 'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष'दित्युक्तप्रकारेण प्रत्यक्षशून्यो देहाद्यहंबुद्धिः । ताम्बूलमदशक्तिवदप्यदर्शनम् । व्यापकत्वेनाप्यदर्शनम् । किञ्च । आत्मोपनिषदुक्तरीत्यात्मत्वेन देहप्रत्यक्षशून्यः आत्मत्वेनान्तरात्मप्रत्यक्षशून्यः । इति भाष्ये सर्वथाशब्दः । एवं देहाद्यध्यासे 'अहं स्थूल' इत्यादौ ह्यस्मच्छब्दः प्रत्यगात्मवाचको व्याख्यातः । अहङ्कारेऽस्मच्छब्दप्रयोगं कृत्वा भाष्यं यत इत्यादि । देहगेहादिष्वहंममेत्यभिमानवता भगवान्न दृश्यते । अभिमानस्य तामसत्वेनाज्ञानकार्यत्वादज्ञानस्य च दर्शनावरकत्वात् । यतो यथाकथञ्चिदप्यमूर्खत्वमवलम्ब्य सम्यक्संराधने । करणल्युडन्तं पदम् । सम्यक्संसिद्धिर्येन पुष्टिसेवनेन मोक्षावान्तरकालनिर्गमाय तत्संराधनं तस्मिन्संराधने तदाहुः, सम्यक्सेवायामिति । ननु सिद्धिजनकोऽन्योपि पदार्थोऽस्तीत्यत आहुः भगवत्तोष इति । 'यद्वृत्त्या तुष्यते हरि'रिति वाक्यान्नान्यपदार्थो भगवत्तोषजनक इति सिद्ध्युपस्थापिका सेवैवात्र व्यासाशयीयेति भावः । नन्वधोक्षजत्वात्सेवयाप्यदर्शनमस्त्विति चेत्, तत्राहुः दृश्यत इति । स्वेच्छया दृश्यो भवति । अथवा

वैष वृणुते तेन लभ्यः' 'भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन । ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तपे'ति । द्विविधमपि रूपं दृश्यते । 'ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः' 'अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूप'मिति संराधकस्य स्वानुभवः, ध्रुवादीनामनुमापकत्वं च । तस्मात् प्रत्यक्षानुमानाभ्यां

भाष्यप्रकाशः ।

कैवल्योपनिषत्स्था । परमेष्ठिना आश्वलायनं प्रत्येतेन साधनेन जानीहीत्यत्रोपदिष्टम् । ज्ञानविषयं च ब्रह्म सर्वदेवतादिमयं शिवाकारं निराकारं चोपदिष्टम् । द्वितीया काठके मुण्डके च । तत्राद्ये, 'आसीनो दूरं व्रजती'त्याद्युक्त्वोक्ता । तत्राप्यासीनत्वादिना साकारताया 'अशरीर'मित्यनेनानाकारतायाश्च लाभः । द्वितीयेपि द्वितीयमुण्डके विरुद्धधर्माश्रयं परमात्मानं प्रस्तुत्योक्ता । अत्र 'तनुं स्वा'मिति कथनात् साकारलाभ इति तत्राप्येवम् । गीतावाक्यं तु विश्वरूपं दर्शयित्वा ततः स्वरूपं चतुर्भुजाकारं प्रदर्श्योक्तं भगवता । द्विविधमिति । साकारं निराकारं च । तथाच श्रुतिस्मृत्युक्तसंराधकप्रत्यक्षानुरोधेनार्थबले विचारितेपि निराकारं साकारं चेति सिध्यति, न तु केवलमव्यक्तमग्राह्यमेवेति त्वदुक्तमसङ्गतमित्यर्थः । एवं प्रत्यक्षानुमानशब्दयोः श्रुतिस्मृतिपरत्वमभिप्रेत्य व्याख्यातम् । एवं व्याख्याने शब्दबलमेवायातीत्यपरितोषेणातः परं साक्षात्कारानुमितिपरत्वं प्रत्यक्षानुमानपरत्वं चादाय व्याकुर्वन्ति ततस्त्वित्यादि । लौकिकप्रत्यक्षं शुद्धमनःसंयोगजम्, अलौकिकं दिव्यदृष्टिजम्, विपरीतं वा । तथाचैतयोः श्रुतिस्मृत्योः प्रत्यक्षमात्रबोधकत्वादत्र साधनसिद्धप्रत्यक्षादर्थस्वभावेऽवधारिते, 'तं यथा यथोपासते' इति श्रुत्या अव्यक्तनिष्कलोपासकस्य तथैव प्रत्यक्षं वाङ्मनसेनाप्राप्यं च, वृतस्य तु तत्तद्धर्मवत्त्वेन प्रत्यक्षं वाङ्मनसगम्यं चेति, तादृशतादृशसम्यक्प्रत्यक्षविषयादर्थस्वभावादेवाविरोधनिर्णय इत्यर्थः । प्रत्यक्षस्य प्रामाणिकत्व-

रश्मिः ।

अनिदमित्थतया दृश्यते । ननु ज्ञानकर्मणी विहाय शूद्रधर्मे कुत आशयः, किञ्च, कीर्तनभक्तः सुबोधिन्यां मुख्यत्वेनोक्तायाः संराधनत्वं कुतो नेति चेत् । न । तोषकामस्यान्यत्रानधिकारात् । एतेन सेवायां प्रकारभेदोपि प्रत्युक्तः । तोषकामस्य स्वधर्माणां परधर्मत्वाभावात् । 'शमो दमस्तपः शौचं सन्तोषः क्षान्तिरार्जवम् । मद्भक्तिश्च दया सत्यं ब्रह्मप्रकृतयस्त्विमा' इत्येकादशस्कन्धात् । किञ्च । भक्तिमार्गप्रवेशानन्तरं ब्राह्मणधर्मा अपि परधर्माः, भक्तिः स्वधर्म इति । कीर्तनभक्तेर्मुख्यत्वेऽप्यशास्त्रार्थत्वात् । 'सेवायां वा कथायां वे'ति विकल्पोक्तेश्च व्यवस्था । शास्त्रार्थत्वं तु क्रिया पूर्वकाण्डार्थ इति । 'ज्ञानं क्रिये'ति पञ्चरात्रशास्त्रात् ज्ञानकाण्डं ज्ञानक्रियार्थकम् । सांख्ययोगसूत्रं 'तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोग' इति । 'ज्ञानेन भक्त्ये'त्यथर्वशिरआदिना पशुपतिमते भक्तिरिति षड्शास्त्राणि भक्तिप्रतिपादकानि । 'ब्रह्म तर्हि अग्नि'रित्युत्तरार्धसुबोधिनी । 'अग्नये जुष्टं निर्वपामी'ति संहिता । 'जुष प्रीतिसेवनयोः' । प्रणिधानं प्रथमः । आद्य इति । काठके । द्वितीय इति । मुण्डके । संराधकस्येति । अर्जुनस्य । श्रुतिस्मृतीति । प्रत्यक्षशब्देन श्रुतिबोधस्तु ब्रह्मण आर्षात् । ऋषिर्मन्त्रद्रष्टेति । 'अपश्यत्पुरोडाशं कूर्मभूतं सर्पन्त'मिति श्रुत्या प्रत्यक्षमूलत्वाल्लाक्षणिकः । अनुमीयन्त उत्सन्नप्रच्छन्नशाखा येनेत्यनुमानं स्मृतिः । अतः परमिति । लाक्षणिकत्वापत्तेः परम् । प्रत्यक्षेति । चक्षुर्व्याप्तिज्ञानपरत्वम् । एवेति । उपचरितत्वयोगव्यवच्छेदकैवकारः । अविरोधेति । सर्वधर्मप्रतिपादकानां 'अग्राह्यो न हि गृह्यते' इत्यादीनां चाविरोधनिर्णय इत्यर्थः । प्रत्यक्षस्येति । दर्शनसूत्रीयानूदितप्रत्यक्षस्य । पुष्टभक्तानां दर्शनसूत्रे प्रत्यक्षं तदप्रामाणिकमपि भवेत्प्रमेयबलस्याधिक्यात् । मर्यादायां तु संराधनसाधनजन्यायां प्रत्यक्षरूपं दर्शनं

श्रुतिस्मृतिभ्यां वा ब्रह्म साकारमनन्तगुणपरिपूर्णं चेति नाव्यक्तमेवेति निश्चयः । अतो लौकिकालौकिकप्रत्यक्षविषयत्वादुभयवाक्यार्थरूपमपि ब्रह्म ॥ २४ ॥

इति तृतीयाध्याये द्वितीयपादे सप्तमं तदव्यक्तमाह हीत्यधिकरणम् ॥ ७ ॥

प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात् ॥ २५ ॥ (३. २. ८.)

पुनः प्रकारान्तरेण पूर्वोक्तमेव स्थिरीकर्तुमधिकरणान्तरमारभते ।

तत्र सूत्रद्वयेन पूर्वपक्षद्वयमाह ।

ननु प्रत्यक्षानुरोधेनोभयविधवाक्यसमाधानं नोपपद्यते, वस्तुशक्त्यैव निर्णय उचितः, न तु श्रुतिप्रत्यक्षाभ्याम्, यथा प्रकाशजलसुवर्णादीनामनेकविधत्वं नाङ्गीक्रियते, सूर्यचन्द्रमणिप्रकाशादिषूष्णशीतानुभवरूपस्पर्शाः प्रतीयन्ते, न हि तेजसि तावन्तः स्पर्शा अङ्गीक्रियन्ते, जले च हिमतप्तकुण्डादिषु, तथा सुवर्णे वर्णभेदाः, न हि सर्वे स्वाभाविकाः, तेजस्त्वादिस्वभावहानिप्रसङ्गात्, तथा ब्रह्मणोऽप्यवैशेष्यमङ्गीकर्तव्यम्, निर्विशेषं हि ब्रह्मेति सर्वप्रसिद्धिः । चकारादेवं साधकाः 'अग्राह्यो न हि गृह्यत' इत्येवमादयः ।

भाष्यप्रकाशः ।

साधनं दर्शनसूत्रादत्राधिकम् । तेन प्रकाशवत्सूत्रोक्तमेव दृढीकृतं ज्ञेयम् ॥ २४ ॥ **इति सप्तमं तदव्यक्तमाह हीत्यधिकरणम् ॥ ७ ॥**

प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात् ॥२५॥ अधिकरणप्रयोजनमाहुः पुनरित्यादि । ब्रह्मणः श्रुत्येकसमधिगम्यत्वाच्छ्रुत्यवगतस्वरूपस्यैव बलेनोभयरूपत्वं दृढीकर्तुमधिकरणान्तरमुपोद्घातसङ्गत्यारभते । अत्र ब्रह्मस्वभावः संराधकप्रत्यक्षेणावधारयितुं शक्यः, न वेति संशयः । साधनस्य ज्ञानार्थत्वम्, अगृह्यश्रुत्या ब्रह्मणो दुर्ज्ञेयत्वं च सन्देहबीजम् । पूर्वपक्षौ तु तत्र द्वाविति तावाहुः तत्रेत्यादि । पूर्वपक्षद्वयमिति । भक्तप्रत्यक्षेण न निर्णय इत्येकः । श्रुत्यापि नेत्यपरः । स च द्वितीयसूत्रे फलितकथनेन स्फुटो भवतीति तथेत्यर्थः । कुतो वस्तुशक्त्यैवेत्यतो दृष्टान्तं व्याकुर्वन्ति यथेत्यादि । एतस्यैव विवरणं सूर्यचन्द्रेत्यादि । एवं साधका इति ।

रश्मिः ।

प्रामाणिकमेव प्रमेयबलाभावादिति तथा । भाष्ये । ध्रुवादीनामिति । 'स्वरूपं द्विविधं चैव सगुणं निर्गुणं तथे'ति गोपालतापिनीयादुभयाविरोधपश्यकानाम् । द्वितीयस्कन्धनवमाध्यायोक्तब्रह्मादिशब्देन । गोपालतापिनीयोक्तब्रह्मणश्च तादृशोभयधर्मवत्त्वानुमापकत्वम् । ब्रह्म तादृशोभयधर्मवत् । ध्रुवादीनां चक्षुर्विषयत्वात् । घटादिवत् । चक्षुर्विषयत्वाद्रूपघटत्वोभयधर्मवत्त्वम् । **अव्यक्तमेवेति** । व्यक्तयोगव्यवच्छेदक एवकारः । **उभयेति** । सर्वधर्मप्रतिपादकवाक्यानां धर्मनिषेधकवाक्यानां चार्थरूपम् ॥ २४ ॥ **इति सप्तमं तदव्यक्तमाह हीत्यधिकरणम् ॥ ७ ॥**

प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात् ॥ २५ ॥ पूर्वोक्तमित्यादिभाष्यविवरणं **उभयरूपत्वं दृढीकर्तुमिति** । अत्र भाष्य एवकारोऽग्रिमसूत्रीयोभयव्यपदेशयोगव्यवच्छेदकः । **उपोद्घातेति** । प्रकृतं 'न स्थानतोपि परस्योभयलिङ्ग'मिति सूत्रादारभ्य यदुभयरूपत्वं तत्सिद्ध्यर्था चिन्ता पूर्वपक्षद्वयचिन्ता । सङ्गत्या । **तावितिति** । पूर्वपक्षौ । **वस्तुशक्त्यैवेति** । वस्तुशक्त्या निर्दोषत्वरूपया । एवकारस्तु भक्तप्रत्यक्षं चक्षुस्तस्य सदोषत्वाद्योगस्य व्यवच्छेदकः । **भाष्ये । अङ्गीति** । अस्माभिरङ्गीक्रियन्ते । **जले चेति** । विचार्यमाणे । **हिमकुण्डः** प्रसिद्धः । **तप्तकुण्डः**

१ केवलं तद्बलेनेति मूले पाठः ।

ननूक्तं तस्य तथा साक्षात्कारात् तादृशश्रुतेश्च नैकविधत्वमङ्गीकर्तुं शक्यत इति । नैष दोषः । प्रकाशश्च कर्मणि । तपःप्रणिधानादिकर्मणि भगवतः प्रकाशः । तत्र यथा तेषां कामः, तथा प्रकटीभवति । चकारादप्रकाशान्यथाप्रकाशौ । तत्र हेतुः । अभ्यासादावृत्तेः । यद्येकवारं प्रकटः स्यात्, तदा तद्रूपत्वमङ्गीक्रियेतापि । प्रतिभक्तं प्रतिकर्म चाविर्भावः । अतः प्रकाशोपि कृत्रिम एव । दीपप्रकाशवत् । अन्यथा सर्वदा स्यात् । तस्मान्न भक्तप्रत्यक्षेण निर्णयः ॥ २५ ॥

अतोऽनन्तेन तथा हि लिङ्गम् ॥ २६ ॥

फलितमाह । अतः अभ्यासात् । अनन्तेन अनन्तरूपेण आविर्भावः । न ह्येकं वस्तु प्रतिक्षणमन्यादृशं भवति निमित्तभेदव्यतिरेकेण । क्वचित् भक्तकामश्च निमित्तत्वेन प्रतीयते । न हि निमित्तभेदेन जायमानं वस्तु भवति । किन्तु तथा सति लिङ्गं विग्रह एव भवति । युक्तश्चायमर्थः । 'यद्यद्धिया त उरुगाय

भाष्यप्रकाशः ।

निर्विशेषत्वसाधकाः । पूर्वस्मादयं भिन्न एकदेशीति ज्ञापयन्तः सूत्रशेषमवतारयन्ति **ननूक्तमित्यादि** । अनेन सूत्रेण प्रकाशवत्सूत्रोक्तमप्याक्षिप्तं ज्ञेयम् ॥ २५ ॥

अतोऽनन्तेन तथा हि लिङ्गम् ॥ २६ ॥ न हि निमित्तभेदेन जायमानं वस्तु भवतीति । अत्रावस्तुत्वे हेतुर्जायमानत्वमेव । तत्रापि हेतुः 'यद्यद्धिये'त्यत्र 'प्रयणस' इतिपदोक्तं **करणम्** । तथाच तेषां धर्माणां शरीरविशिष्टमुपक्रम्य पठितत्वाच्छरीरधर्मत्वं वा, तदभिव्यङ्ग्या-

रश्मिः ।

बदरीनाथे । आदिनानुभयस्पर्शवत्कुण्डः तेजस्तोतिबध्यस्पर्शवत्तेजः भास्वरशुक्लरूपवच्च । आदिना ज्ञानस्पर्शवज्जलं अभास्वरशुक्लरूपवच्च । **तस्य तथेति** । तस्याग्राह्यस्य तथाऽस्वाभाविकधर्मैः । **तादृशेति** । 'तद्धैनान्भूत्वावती'ति श्रुतेः । **तप इति** । आदिना भक्तिः । **प्रणिधानं** प्रयत्नः । **कर्मणीति** । कृत इति शेषः । **तेषामिति** । तपआदिकर्तृणाम् । **अप्रकाशेति** । अकर्मणि अप्रकाशः । नृसिंहत्वादिनान्यथाप्रकाशः । **कृत्रिम** इति । जन्यत्वात् । स्वोक्तयुक्त्या एवेति । **भक्तप्रेति** । अस्वाभाविकधर्मविषयेण ॥ २५ ॥

अतोऽनन्तेन तथा हि लिङ्गम् ॥ २६ ॥ भाष्ये । फलितमिति । 'अग्राह्य' इति श्रुत्या तपः-प्रणिधानानि, कर्म तत्रत्य'कर्मणैव तु संसिद्धिमास्थिता जनकादय' इति श्रुत्या च फलितम् । प्रापणकरणम् । वक्ष्यन्ति च 'उभयव्यपदेशा'दिति सूत्रभाष्यप्रकाशे । एवेति । नतु निमित्तभेदः । एवकारो निमित्तभेदयोगव्यवच्छेदक इति । **करणमिति** । प्रणयस इत्यस्य कुरुष इत्यर्थात् । **तेषामिति** । सकर्मत्वादीनाम् । 'प्राणशरीर' इति शरीरविशिष्टमुपक्रम्य । **तदभीति** । शरीराभिव्यङ्ग्येत्यर्थः । **अपागादिति** । 'अपागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्य'मिति श्रुतावपागादग्नेरग्नित्वमितिवत्कार्यत्वमेव । एवकारेण वस्तुत्वयोगो व्यवच्छिद्यते । **भाष्ये** । अग्राह्यश्रुतिप्रतिपादितस्यानन्तरूपेणाविर्भावः, तत्र सर्वकर्मत्वादयः 'अपागा'दिति श्रुतेरवस्तुभूता इत्युक्तम् । एवं पदद्वयं व्याख्याय, पदत्रयं व्याकुर्वन्ति स्म **किन्त्वित्यादिना** । **सौत्रतथेत्यस्य** तथा सतीत्यर्थः । **लिङ्गमित्यस्यार्थो विग्रह इति** । देह इत्यर्थः । 'अतएव चोपमे'तिसूत्रादेवकारो मण्डूकप्लुत्यानुवर्तत इत्येवेति । **हीत्यस्यार्थमाहुः युक्तश्चेति** । तेन पञ्चपदमिदं सूत्रमित्युक्तम् ।

विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाये'ति । अतः श्रुत्या प्रत्यक्षेण वा न तथा निर्णयः कर्तुं शक्यः । तस्मात् सर्वागोचरमेव ब्रह्मेत्येवं प्राप्तम् ॥ २६ ॥

उभयव्यपदेशात् त्वहिकुण्डलवत् ॥ २७ ॥

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । नैवं केवलयुक्त्या लोकदृष्टान्तेन निर्णयः शक्यते कर्तुम् । अन्यथेदं शास्त्रं व्यर्थमेव स्यात् । अत्र हि वेदादेव ब्रह्मस्वरूपज्ञानम् । तत् कथं स्वरूपशक्त्या निर्णयः । ब्रह्म तूभयरूपम् । उभयव्यपदेशात् । उभयरूपेण निर्गुणत्वेनानन्तगुणत्वेन सर्वविरुद्धधर्मेण रूपेण व्यपदेशात् । तर्हि कथमेकं वस्त्वनेकधा भासते । तत्राह । अहिकुण्डलवत् । यथा सर्पः ऋजुरनेकाकारः

भाष्यप्रकाशः ।

गन्तुकधर्मत्वं वा । तथा सति 'अपागादग्नेरग्नित्व'मितिवत् कार्यत्वमेव, न त्वनागन्तुकानारोपितस्वरूप वस्तुत्वम् । अत्र 'यथद्धिये'ति स्मृत्युपन्यासेन प्रकाशवत्सूत्रोक्तोऽवैयर्थ्यादिति हेतुरपि सदनुग्रहार्थत्वेनान्यथासिद्ध इति ज्ञाप्यते । तस्मादिति । उक्तविधप्रत्यक्षबोधकश्रुतिभिर्भक्तप्रत्यक्षेण चानिर्णयात् ॥ २६ ॥

उभयव्यपदेशात् त्वहिकुण्डलवत् ॥ २७ ॥ सूत्रं व्याकुर्वन्ति तुशब्द इत्यादि, अन्यथेति । युक्त्या लोकदृष्टान्तेन च निर्णये इदं विचारशास्त्रं व्यर्थमेव स्यात् । अत्र हि दर्शनान्तरादयमेव विशेषो यद्वेदादेव ब्रह्मस्वरूपज्ञानं प्रमितिरूपम्, न लौकिकैः प्रमाणैस्तथ्यार्थैर्वा । उपचारनिवृत्त्या श्रौततात्पर्यज्ञापनार्थमेवास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तेः । तच्च जन्माद्यधिकरण एव 'शास्त्रयोनित्वा'दित्यनेन निर्णीतम् । अतो वेदमन्तरेण स्वरूपस्य तच्छक्तेश्चानवगमात् केन प्रकारेण स्वरूपशक्त्या निर्णय इत्यर्थः । एवं तुशब्दं व्याख्याय शेषं व्याकुर्वन्ति ब्रह्मेत्यादि । न केवलं स्वरूपशक्त्या निर्णीयते, किन्तु श्रुत्युपष्टम्भयेत्यतो हेतुं विवृण्वन्ति उभयेत्यादि । उभयोर्विरुद्धधर्मयोर्व्यपदेश उभयव्यपदेशस्तस्मात् । यत्रैवास्थूलादिवाक्ये निर्गुणत्वेन व्यपदिश्यते, तत्रैव 'आकाश ओतश्च प्रोतश्चे'ति कथनात् कार्यगुणजनकानन्तगुणवत्तापि बोध्यते । तथा, यत्र शारीरब्राह्मणे 'स एष नेति नेत्यात्मा, अगृह्यो न हि गृह्यत' इत्युच्यते, तत्रापि 'स वा अयमात्मा सर्वस्य वशी सर्वस्येशान' इत्यादिकं पूर्वमुच्यते । 'स वा एष महानज आत्मा अन्नादो वसुदान' इति चानन्तरम् । एवं श्वेताश्वतरेपि 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्चे'त्युक्त्वा, 'एको वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोती'त्यादि । तथा तत्रैव 'ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामय'मित्येतदग्रे, 'सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशय' इति । एवं तैत्तिरीयेपि 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूप'मिति, तथा 'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुख' इत्यादि चोक्तम् । 'कृत्स्नः प्रज्ञानघन एवे'त्यस्यार्थस्तु प्रागेवोक्तः । तथा 'अथात आदेश' इत्यस्यापि । एतेष्वेवंविधेष्वन्येष्वपि उभयरूपेण व्यपदेशात् । तथाचास्थूलादिवाक्यस्य धर्मनिषेधमुखेनेव 'विश्वतश्चक्षु'रित्यादेर्धर्मविधिमुखेनापि ब्रह्मस्वरूपस्यैव निरूप्यतया धर्मविधिद्वारा तन्निषेधद्वारा च निरूपकाणां मध्ये एकस्योपजीव्यत्वमन्तरङ्गत्वम्, अन्यस्योपजीवकत्वं बहिरङ्गत्वमिति निर्णेतुमशक्यत्वेनोभयवाक्ययोस्तुल्यबलत्वादुभयरूपमेव ब्रह्मेत्यर्थः । दृष्टान्तमवतारयन्ति तर्हीत्यादि । यद्युभयलिङ्गं ब्रह्म, तदा संराधनसिद्धानां सर्वेषां तथैव प्रकाशेत, न तु कञ्चित् प्रति कथञ्चित्, अन्यं प्रत्यन्यथा, अत एकं वस्तु कथमनेकधा भासते, तत्र हेतुर्वक्तव्यः,

रश्मिः ।

न तथेति । न 'अपि संराधन' सूत्रोक्त'मुभयवाक्यार्थरूप'मिति निर्णय इत्यर्थः । प्रकृते । उक्तविधेति । 'अपि संराधन'सूत्रोक्तविधप्रत्यक्षबोधिकाभिः श्रद्धाभक्तिज्ञानेत्यादिभिः । भाष्ये । सर्वागोचरमेवेति । सर्वैः प्रकारैः सत्यत्वादिभिरपि अगोचरमित्यर्थः । पूर्वपक्षयुक्त्यैवकारोऽवधारणे । अगोचरपदं नपुंसकमपि । न चाधोक्षजत्वापत्त्या नेदं पूर्वपक्षे युक्तमिति वाच्यम् । भाष्यमते इदमित्थतयाऽगोचरत्वम् । इदमेव श्रीभागवतमतेपि । अन्यथाधोक्षजत्वेन रूपेणाप्यधोक्षजं स्यादिति ॥ २६ ॥

उभयव्यपदेशात् त्वहिकुण्डलवत् ॥ २७ ॥ युक्त्यालोकेति । आलोकेति[1] । प्रकाशदृष्टान्तेन । विचारेति । मीमांसाशास्त्रम् । व्यर्थमेवेति । नहि लौकिकानां दृष्टान्तैरलौकिकं ब्रह्म प्रत्येष्यति । अधोक्षजत्वादित्येवकारः । अत्र हीतिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म अत्र हीति । अयमेवेति । सिद्धान्तावधारितः । वेदादेवेति । वेदवेदान्ताभ्याम् । वेदशब्दस्य वेदान्तेपि शक्तिः 'स्मृतेश्चे'तिसूत्रभाष्येस्ति । एवेत्यन्ययोगव्यवच्छेदकः । अन्यशास्त्राणां प्रत्यक्षादेर्दुर्बलत्वम्, किंपुनर्वेदे ब्रह्मण आर्षम् । वेदान्तेपि 'वेदान्तकृद्वेदविदेव चाह'मिति स्मृतेर्वेदमूलकत्वम् । तथ्यार्थैरिति । लौकिकयुक्तिभिः । तन्मूलैरन्यैः सांख्यादिचतुःशास्त्रैश्च । उपचारेति । तादृशफलेन प्रवर्तकेनास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तेरित्यन्वयः । किमर्थमिति चेत्, तत्राहुः श्रौतेति । श्रौते शक्तिलक्षणे । तात्पर्यं तु स्वानुपपत्तिद्वारा लक्षणाबीजम् । यद्येवं स्यात्तदा वेदे शक्तिलक्षणाभ्यामर्थावबोधे 'पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्ण' इत्यादिषु लक्षणया निर्वाहे तात्पर्योच्छेदापत्तेः श्रौतानां पदानां स्वारसिकार्थत्यागापत्तेः । अतस्तत्र विरुद्धधर्माश्रयत्वे तात्पर्यवृत्तेर्ज्ञापनार्थमित्यर्थः । श्रौतपदस्वारसिकार्थो व्यर्थः सन् किञ्चिज्ज्ञापयति तात्पर्यवृत्तिरस्तीति । श्रुतित्वादेवकारः । श्रुतिज्ञापितं सर्वथादरणीयमिति । तच्चेति । विरुद्धधर्माश्रयत्वम् । निर्णीतमिति । शास्त्रं योनिः शास्त्रयोनिः शास्त्रोक्ताभिन्ननिमित्तोपादानत्वादित्येवमर्थान्निर्णीतम् । नन्वज्ञानमन्यथाज्ञानं च निवार्येत इत्यज्ञानादिनिवृत्त्यर्थमस्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिः, नतु तात्पर्यवृत्तिज्ञापनार्थमिति चेत् । न । तात्पर्यवृत्तिविषयस्य विरुद्धधर्माधारत्वस्य तेन प्रकारेणाज्ञानेऽज्ञानरूपत्वादन्यथाज्ञानरूपत्वाच्चाज्ञानान्यथाज्ञानयोरन्तर्भावात् । तत्कथमिति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म अत इति । तच्छक्तेरिति । वेदपदशक्तेः । इत्यर्थ इति । निर्णयशब्दान्तभाष्यार्थः । स्वरूपेति । प्रमेयबलेन । उभयव्यपदेशश्रुत्युपष्टम्भेन । हेतुमिति । स्वरूपं न यथाश्रुतिप्रतिपाद्यं सेङ्गतेः मूर्तामूर्तब्राह्मणवत् । स्वरूपं यथाश्रुतिप्रतिपाद्यं उभयव्यपदेशात् अहिकुण्डलवदित्यत्र सत्प्रतिपक्षत्वसाधके हेतुम् । यत्रैवेत्येवकारो विरुद्धधर्माधारत्वेन प्रतिपादनसूचक इत्युक्तम् । यत्रान्यत्र धर्मनिरूपणमन्यत्र निषेधस्तत्रारोपापवादसङ्गतिसन्देहोपीत्युक्तम्[1] । कार्येति । 'आकाशशरीरं ब्रह्मे'तिश्रुतेः 'आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिते'ति तथा । बोध्यत इति । व्यञ्जनया बोध्यते । पूर्वमिति । स्पष्टम् । अनन्तरमिति । 'स एष नेति नेत्यात्मे' त्यस्या अनन्तरम् । प्रागेवेति । 'आह च तन्मात्र'मितिसूत्रभाष्यप्रकाशे 'दर्शयति'चेतिसूत्रभाष्यप्रकाशे च । एवकारश्च पक्षायोगव्यवच्छेदकः । एवंविधेष्विति । 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीते'त्यादिषु । धर्मविधिमुखेनेति । धर्मविधानं तत्कथनं तेनोपादेयेन । एवेति । 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य' इति श्रुतेरेवकारः । एवेति । अवधारणं यथा भवति तथा । एकरूपत्वयोगव्यवच्छेदको वा । तथैवेति । सर्वरूपवत्त्वेन, नत्वेकेन तत्तत्संराधकं

१. रश्मिकारा आलोकेति पदच्छेदं स्वीकुर्वन्ति ।

१. आरोपापवादरूपायाः ।

कुण्डलश्च भवति, तथा ब्रह्मस्वरूपं सर्वप्रकारं भक्तेच्छया तथा स्फुरति। कल्पनाशास्त्रे हीदं बाधकम्। अनेककल्पनागौरवं चेति। न तु केवलं श्रुत्येकसमधिगम्ये। न च शास्त्रवैफल्यम्। एवं साधनार्थत्वात्। अत्रैव हि सूरिव्यामोहादन्यशास्त्रोत्पत्तिः। अतः सर्वविरुद्धधर्माणामाश्रयो भगवान्। न हि प्रमाणश्रुतदृष्टे अनुपपत्तिरस्ति, यदर्थं युक्त्यपेक्षा। लोकेपि शरीरान्तःकरणादीनि परस्परविरुद्ध-

भाष्यप्रकाशः।

नो चेद्दर्शनस्याप्रामाण्यं वक्तव्यम्, ततश्च सर्वमेव शिथिलमिति शङ्कायां दृष्टान्तेन समाधिमाहेत्यर्थः। दृष्टान्तं व्याकुर्वन्ति यथेत्यादि। भवतीति। तथा सामर्थ्यस्य विद्यमानत्वात् स्वरूपतस्तथास्ति। इदमिति। एकस्यानेकधा भानम्। यद्यपि सर्पः कालभेदेन स्वेच्छया तथा तथा भवति, ब्रह्म त्वेकस्मिन्नेव काले संराधकभक्तेच्छयेति वैषम्यम्, तथापि संराधकस्य तादृशेच्छोत्पत्तौ तादृशतादृशफलदित्सैव प्रयोजिकेति न वैषम्यलेश इति बोध्यम्। नन्वेवं चेत् सिद्धमेवास्ति, तदा शास्त्रेणैवं साधनस्यापि किं प्रयोजनमित्यतः पूर्वोक्तमेव स्मारयन्ति अत्रैवेत्यादि। तथाच विरुद्धशास्त्रसम्भेदजन्यदोषवारणमेव प्रयोजनमित्यर्थः। प्रमाणश्रुतदृष्ट इति। पूर्वोक्तप्रमाणैः श्रुते, साधनसिद्धप्रमाणैर्दृष्टे। विरुद्धशास्त्रसम्भेदेन व्यामुग्धस्य समाधानाय व्यासपादैरत्र युक्तेरुक्तत्वादत्रापि युक्त्यन्तरमाहुः लोकेपीत्यादि। सूत्रोक्ते दृष्टान्ते ऋजुकुण्डलभावो नैककालावच्छेदेनेत्यत एतत्कथनम्। तथाच यथा शरीरादीनां विषयभेदेन तथात्वम्, एवं ब्रह्मणोपि भक्तभेदेन

रश्मिः।

प्रति प्रकटेन रूपवत्त्वेन। दर्शनस्येति। वेदशास्त्रस्य। ततः सर्वमेवेति। उक्तदर्शनात्सर्वं सर्वरूपवत्त्वसाधकमुभयव्यपदेशैकदेशरूपमङ्गम्। तादृशतादृशेति। एवकारो ज्ञानयोगव्यवच्छेदकः। जानातीच्छति यतत इति। इदं विद्वन्मण्डन उक्तम्। नन्वेति भाष्यं विवृण्वन्ति नन्वेवं चेदिति। फलदित्सैव प्रयोजिका चेत्। सिद्धमेवेत्येवं साधनार्थत्वादिति भाष्यार्थः। अत्रैवेति। तदा। शास्त्रेणैवमिति। शास्त्रेण फलदित्साविषयेण। एवं ब्रह्मण एकस्यानेकविधभानं विद्वन्मण्डनोक्तरीत्येच्छयैव सिद्धम्। एवेति। विद्वन्मण्डनोक्तात्रत्ययुक्त्यैवकारः। तथाच वेदशास्त्रवैफल्यमिति भावः। फलदित्सया मोचनाख्यामरूपयोर्नामवैफल्यमुक्तम्। साधनस्यापीति। ब्रह्मस्वरूपे सर्वप्रकारे भक्तेच्छासाधनस्यापि। अपिना वेदशास्त्रम्। पूर्वोक्तमिति। जिज्ञासाधिकरण उक्तम्। एवं साधनार्थत्वादित्यन्तं पूर्वोक्तम्। एवकारोऽन्यस्यास्य योगव्यवच्छेदकः। एवं फलदित्साविषयत्वेन वेदशास्त्रस्य मोक्षसाधनार्थत्वादित्यादीति। अत्र फलदित्साविषये वेदशास्त्र एव अन्यशास्त्रयोगव्यवच्छेदकः। 'मुह्यन्ति यत्सूरय'इति वाक्यात्सूरिव्यामोहस्तस्मात्। अन्येति। उत्तरमीमांसाशास्त्रोत्पत्तिः। अत इति। 'उभयव्यपदेशा'दित्यादिमीमांसाशास्त्रात्। अन्यत्र पञ्चरात्रशास्त्रोत्पत्तिः। सांख्ययोगपशुपतिशास्त्रोत्पत्तिः। अस्य भाष्यस्य प्रघट्टकार्थमाहुः तथाचेति। विरुद्धेत्यादि। जिज्ञासाधिकरणे व्याख्यातानीमानि पदानि। विरुद्धं शास्त्रं सांख्यादि। अनुपबृंहकत्वात्। तत्र 'असङ्गोयं पुरुष इती'ति सूत्रान्निर्धर्मकोक्तेर्विरुद्धत्वम्। एतन्मिश्रणजन्यो दोष आरोपापवादेन व्याख्यानं तस्य विरुद्धधर्माश्रयत्वे मीमांसया वारणं एवेति। अस्थूलादिश्रुतेस्तत्रैव आकाशौतप्रोतश्रुतेर्विरुद्धधर्माधारत्वबोधिकायाः। पूर्वोक्तेति। अत्रैव पूर्वोक्तप्रमाणैः। अस्थूलादिवाक्याकाशौतप्रोतवाक्यैः। साधनेति। साधनं भक्तिस्तया सिद्धं प्रमाणं भक्तप्रत्यक्षं तेन बहुवचनात्प्रत्यक्षप्रेरकभगवता भक्तशब्दैश्च। अत्रेति। उत्तरमीमांसायाम्। अत्रापीति। विरुद्धधर्माश्रयत्वेपि। दृष्टान्तान्तरे प्रयोजनमाहुः सूत्रोक्त इति। एतदिति। दृष्टान्तान्तरकथनम्। विषयभेदेनेति। यथा गोशरीरं पुत्रे दयां करोति, सिंहं मारयतीति पुत्रसिंहरूपविषयभेदः। तेन। मनोत्रैवं

याभारकत्वादीनि विषयभेदेनैकस्मिन्नपि क्षणे प्रतीयन्ते। तस्मात् सकलविरुद्धधर्मा भगवत्येव वर्तन्त इति न कापि श्रुतिरुपचरितार्थेति सिद्धम् ॥ २७ ॥

इति तृतीयाध्याये द्वितीयपादेऽष्टमं प्रकाशादिवच्चेत्यधिकरणम् ॥ ८ ॥

प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् ॥ २८ ॥ (३. २. ९.)

धर्मस्वरूपविचारेण पूर्वोक्तपक्षद्वयं स्थापयितुमधिकरणारम्भः।

ननु धर्मा नाम के, ब्रह्मणो भिन्नास्तत्कार्यरूपाः, आहोस्वित् ब्रह्मैवेति संशयः।

तत्र लोके कार्यस्यैव पटरूपादेस्तद्धर्मत्वात् समवेतत्वात् तन्नित्यतायां प्रमा-

भाष्यप्रकाशः।

तथात्वम्। एतेन 'तत्तद्वपुः प्रणयस' इत्यत्र प्रणयनं तच्चक्षुर्मनोविषये प्रापणमेव, न तु करणमिति बोधितम्। एतच्च 'श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्' 'सर्वोपेता च तद्दर्शनात्' 'लोकवत्तु लीलाकैवल्य'मित्यादिषु यदुक्तम्, तस्यैवेह निगमनमिति न कोपि शङ्कालेशः। सिद्धमाहुः तस्मादित्यादि। एवञ्च शब्दबलविचारेण विरुद्धसर्वधर्माश्रयो ब्रह्मेति निर्णयः। श्रुत्युक्तयुक्त्या विचारे तु लौकिकधर्मशून्यमलौकिकसर्वधर्मयुक्तमिति निर्णयः। अर्थबलविचारे तु विरुद्धसर्वरूपमिति निर्णय इति बोधनार्थमत्र त्रेधा विचारितम् ॥ २७ ॥ इत्यष्टमं प्रकाशादिवच्चेत्यधिकरणम् ॥ ८ ॥

प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् ॥ २८ ॥ अधिकरणप्रयोजनमाहुः धर्मेत्यादि। पूर्वोक्तपक्षद्वयमिति। पूर्वाधिकरणे निर्गुणमनन्तगुणपूर्णं च ब्रह्म सिद्धम्। तत्र ये गुणा धर्मास्तेषां स्वरूपविचारेण पूर्वोक्तपक्षद्वयम्। शब्दबलविचारसिद्धः 'प्रपञ्चविलक्षणविरुद्धसर्वधर्माधारं ब्रह्मे'त्येकः। अर्थबलविचारसिद्धः 'सर्वरूपं ब्रह्म तत्तत्फलदित्सया तत्तत्कार्यार्थं वा तं तं प्रति तथाविर्भवती'त्यपर इत्येतत्पक्षद्वयं स्थापयितुं तथेत्यर्थः। विषयसंशयावाहुः नन्वित्यादि। धर्मवत्त्वश्रवणमद्वितीयश्रुतिश्च सन्देहबीजम्। पूर्वपक्षमाहुः तत्रेत्यादि। ब्रह्मधर्माणां स्वरूपे विचारणीये लौकिकमेव प्रमाणमनुसर्तव्यम्। श्रुतौ तन्नित्यत्वस्यानुक्तत्वात्। तत्राप्यनुमानमेवाप्रत्यक्षत्वादादर्तव्यम्।

रश्मिः।

स्पष्टम्। 'यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति यद्वदति तत्करोती'ति श्रुतेः। तथात्वमिति। एकस्मिन्क्षणे प्रतीतिविषयत्वम्। प्रतीतिकर्तृत्वं वा। प्रणयनमिति। यत्तच्चक्षुर्मनोविषये स्थूलदेहे सृष्टे सूक्ष्मप्रापणं गोविन्दावेश इत्यर्थः। एवेति। 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविश'दिति श्रुतेरेवकारः। पुनरुक्तिं वारयन्ति स्म एतच्चेति। यदुक्तमिति। द्वितीयाध्याये यदुक्तम्। तस्यैवेहेति। एवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदकः। इहास्मिन्सूत्रे निगमनं उभयव्यपदेशादिति हेतुघटितत्वात्। तस्मात्तथेति निगमनवत्। तस्मादित्यादीति। उपचरितार्थेति। गौणार्था ॥ २७ ॥ इत्यष्टमं प्रकाशादिवच्चेत्यधिकरणम् ॥ ८ ॥

प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् ॥ २८ ॥ सर्वकल्पनेति। पूर्वपक्षिमतम्। एवकारो विरुद्धधर्मरूपान्ययोगव्यवच्छेदकः। विरुद्धेति। सिद्धान्तिमतम्। एवकारः सर्वकल्पनाराहित्यरूपान्ययोगव्यवच्छेदकः। नन्वित्यादीति। ब्रह्मैवेत्येवकारो भिन्नरूपान्ययोगव्यवच्छेदकः। लौकिकमेवेति। एवकारेण श्रुतिप्रमाणयोगव्यवच्छेदः। अविनाशीतिश्रुतेरन्योर्थ इति। कार्यस्यैवेति।

१. सर्वकल्पनारहितमेव ब्रह्म पश्चाद्धर्मयुक्तं भवतीत्येकः। विरुद्धधर्माधारमेव ब्रह्मैकं तत्तत्फलदित्सया तत्तत्कार्यार्थं वा तं तं प्रति तथा तथाविर्भवतीत्यपर इत्येतत्पक्षद्वयम्—इति मूले पाठः।

णाभावात् स्वाभाविकत्वमात्रेण नित्यत्वकल्पनायां गौरवापत्तेः 'एकमेवाद्वितीय'मिति श्रुतिविरोधाच्च धर्माः प्रपञ्चवत् कार्याः, तथा सति ब्रह्म सर्वकल्पनारहितमेव सेत्स्यतीत्येवं प्राप्ते, इदमुच्यते। प्रकाशाश्रयवद्वा । वाशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । यथा प्रकाशाश्रयाः सूर्यादयः प्रकाशेन न भिन्नाः । पृथक्स्थित्यभावात् । समवेतत्वाच्च । मूलाविच्छेदरूपेण तदाधारतया स्थितत्वाच्च । नापि सूर्य एव ।

भाष्यप्रकाशः ।

लोके च कार्यस्यैव पटरूपादेस्तद्धर्मत्वात् तत्समवेतत्वाच्च धर्मत्वलिङ्गके दृष्टान्ताभावेन, नित्यवस्तुसमवेतत्वलिङ्गके चानुमाने आकाशत्वस्य दृष्टान्तस्य सत्त्वेपि शब्दादिदृष्टान्तेन हेतोः साधारणतया तन्नित्यतायां प्रमाणाभावात् । स्वाभाविकत्वं हेतूकृत्याकाशत्वं दृष्टान्तीकृत्य तन्मात्रेण साधने यद्यपि तत् सिध्यति, तथापि तत्कल्पनायां नित्यवस्त्वन्तरसिद्ध्या गौरवापत्तेरद्वितीयश्रुतिविरोधाच्च गौरवस्याप्रामाणिकत्वात् तथेति । 'तदव्यक्तमाह ही'त्यनेनोक्त एव पक्ष आदरणीय इत्यर्थः । समाधिं व्याकुर्वते इदमित्यादि । प्रकाशाश्रयवदिति । प्रकाशस्याश्रयाः प्रकाशाश्रयास्तैस्तुल्यम् । प्रथमार्थे वतिः । सूत्रं व्याकुर्वन्ति वाशब्द इत्यादि । पूर्वाधिकरणेऽहिकुण्डलदृष्टान्तेनैकस्य ब्रह्मणः सधर्मकत्वनिर्धर्मकत्वसिद्ध्या धर्माणामपि ब्रह्मरूपत्वमेव सिद्धम्, अत्र तु धर्मधर्मिणोर्भेदाभेदः साध्यते । अन्यथैतत्सूत्रवैयर्थ्यमेव स्यात् । भिन्नाभिन्नत्वं कार्यकारणभावेन पटतद्रूपयोर्धर्मधर्मिभावेन जातिव्यक्त्योर्दृष्टम् । तत्र वाशब्दः प्रथमं पक्षं व्यावर्तयति । ब्रह्मतद्धर्मौ कार्यकारणभावेनैकरूपौ न भवतः, किन्तु यथा प्रकाशाश्रयाः सूर्यादयः प्रकाशेन सह न भिन्नाः, न विनाभूताः, नित्यसहचारिण इति यावत् । तत्र हेतुः । पृथक्स्थित्यभावात् । एवं प्रकाशोपि न सूर्यादिविनाभूत इत्यर्थबलाज्ज्ञातव्यम् । तदेतत् 'समवेतत्वाच्चे'ति चकारेण समुच्चिन्वन्ति । तत्र हेतुः । समवेतत्वादिति । अयुतसिद्धत्वात् । तज्जन्यधर्मेष्वप्यस्तीति तथात्ववारणाय हेत्वन्तरमाहुः मूलाविच्छेदेति । सर्वेपि भगवद्धर्मा भगवदविनाभूता भगवदविभक्ता इत्यर्थः । अत्र यद्यपि पृथक्स्थित्यभावादित्यनेनैव तथात्वसिद्धावपि यद्धेतुद्वयमुक्तम्, तेन प्रपञ्चस्याक्षरस्य च भिन्नाभिन्नत्वं निबन्धोक्तं स्मारितम् । एवमभेदे मानमुक्त्वा भेदे मानमाहुः नापीत्यादि । प्रकाश इति शेषः । चकार आधाराधेयभावस्य 'परास्य शक्ति'रित्यादिषष्ठीनिर्देशस्य च

रश्मिः ।

एवकारः कारणान्ययोगव्यवच्छेदकः । तद्धर्मत्वादिति । तन्तुमृदादिधर्मत्वात् । तावत्तन्तुकपालादिसमवेतत्वात् । यद्वा । धर्मा नित्याः धर्मत्वादित्यनुमाने दृष्टान्ताभावेन । धर्मा नित्याः नित्यवस्तुसमवेतत्वात् आकाशत्ववदित्यत्र । शब्दादीति । एकदेशिमतेन शब्दादि द्रष्टव्यम् । पक्षभिन्ननिश्चितसाध्यवत्त्वं दृष्टान्तत्वम् । तेन शब्दादिषु पक्षभिन्नेषु निश्चितसाध्यवत्सु । नित्यवस्तुसमवेतत्वरूपहेत्वभावः साध्यव्यापकत्वसाधकः । तेनादिशब्दार्थवशे साध्याभाववति नित्यवस्तुसमवेतत्वरूपहेत्वभावात्साधारण्यं साध्याभाववद्वृत्तित्वरूपम् । ननु नाकाशदृष्टान्तः निश्चितसाध्यवत्त्वाभावादिति चेन्न । न शब्दादिदृष्टान्ते हेतोः साधारणता, किन्तु शब्दशब्दस्मारिताकाशहेतोः साधारणता प्रसङ्गः पुरुष इति तथेत्यर्थात् । स्वाभाविकत्वेति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म स्वाभाविकत्वमिति । धर्मा नित्याः स्वाभाविकत्वात् आकाशत्ववत् । नित्यवस्त्विति । जातिसिद्ध्या । एतादृशत्वम् । भेदे इति सतिसप्तम्यन्तम् । भेदसामानाधिकरण्य एतादृशत्वं भिन्ननिष्ठम् । तथेत्यग्रेतनभाष्योक्तम् । अत्रैवकारः विरुद्धधर्माधारत्वकल्प-

भिन्नप्रतीतेर्विद्यमानत्वाच्च । तादृशमेव तद्वस्तूत्पत्तिसिद्धमिति मन्तव्यम् । कल्पनायामपि यथा सूर्यप्रकाशयोः कल्पना, एवं ब्रह्मधर्मयोरपि । न ह्यन्यथा वेदप्रवृत्तिर्निषेधशेषता सत्यज्ञानानन्तानन्दपदानां सामानाधिकरण्यं वा सम्भवति । लक्षणायां तु सुतरामेव धर्मापेक्षा । अतो विशिष्टपदार्थ एव तादृशो वेद-

भाष्यप्रकाशः ।

समुच्चायकः । तेन सिद्धमाहुः तादृशमित्यादि । प्रकाशरूपं वस्तु मूलाद्भिन्नमप्यभिन्नमेवोत्पत्तिसिद्धमिति मन्तव्यम् । युक्तिभिरनुचिन्तनीयम् । यथा अमित्रो न मित्रम्, न मित्राभावः, किन्तु मित्रविरुद्धसम्पत् । यथा चाविद्या न विद्या, न विद्याभावः, किन्तु विद्याविरुद्धं भावरूपमज्ञानम्, एवं प्रकाशतदाश्रययोरभेदोपि न भेदः, न भेदाभावः, किन्तु भेदविरुद्धसम्पदेव भावरूप इति विभावनीयम् । सा च सम्पत्, भावरूपत्वे सति स्वाश्रयाविनाभूतत्वं तद्विहायावर्तमानत्वमिति यावत् । न ह्येतादृशत्वमन्योन्याभावरूपे भेदेस्तीति । तथाच कल्पनायामपि यथा सूर्यप्रकाशयोस्तादात्म्यरूपस्य भेदविरुद्धसम्पदोऽभेदस्य कल्पना, एवं ब्रह्मतद्धर्मयोरपि परबोधनाय कार्येत्यर्थः । नन्वत्र का वा उपपत्तिर्येन धर्माणां सदा सत्तामङ्गीकृत्य तादृशोऽभेदः कल्प्यत इत्यत आहुः न हीत्यादि । यदि हि स्वाभाविकधर्मसत्तामनुपगम्य सर्वविशेषशून्यमेव ब्रह्माङ्गीक्रियते, तदा केवलचिन्मात्रत्वेन प्रतिपिपादयिषितस्य ब्रह्मणः सकाशात् 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेद' इत्यादिना श्राविता चेतनधर्मरूपा वेदप्रवृत्तिर्न सम्भवेत् । 'अथात आदेश' इत्यत्र पराभिमता निषेधशेषतापि न सम्भवेत् । तस्या अपि विशेषत्वात् । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'ति स्वरूपलक्षणश्रुतौ 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे'तिश्रुतौ चोक्तं सत्यादिपदानामेकवस्तुवाचकत्वमपि

रश्मिः ।

नायोगव्यवच्छेदकः । अभिन्नमेवेति । एवेत्यत्र तृतीयालुक् । अवधारणेनेत्यर्थः । नन्वभिन्नमेव भिन्नमिति कुतो न कल्प्यत इत्यत आहुः नहीति । अभेदे सिद्धं ब्रह्म विरुद्धधर्माश्रयमितिग्रहणात्पृथिवीवदित्यनुमानेन एतादृशत्वे खण्डब्रह्मवादापत्त्याऽखण्डब्रह्मवादो हीयेत । एतां पृथिवीमिव तं पश्यन्ति भक्ता जनाः । एषैवान्यस्तु पश्यति इति विगृह्यकार्य तादृशं तत्त्वम् । 'त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्चे'तिसूत्रम् । पूर्वविग्रहास्तु सूत्रस्य सर्वतोमुखत्वाद्यथाकथञ्चिन्नेयाः । अनालोचनेऽविचारे इत्यर्थमादाय । नच वृत्तिविरोधः । त्यदादिषु स्त्रोरित्यत्र 'पुमान् स्त्रिये'त्यस्य वृत्त्यनङ्गीकारात् । तथा मनोरमायां तादृशादयस्तु रूढिशब्दत्वादसतार्थावयवार्थेन व्युत्पाद्यन्ते । अतएवाज्ञानार्थो दृशेरिति सङ्गच्छत इति । न हि स्वमते केवलरूढिरस्ति । महाभाष्योक्तयोगेन रूढिशब्दत्वादिति मनोरमाविरोधः । नन्वस्तु विरोध इति चेत् । न । 'लोके शब्दार्थसम्बन्धो रूपं तेषां च यादृशम्, न विचारस्तत्र कार्य' इति निषेधात् । तर्हि रूढौ यः कोपि योगो न भवेदिति चेत् । न । 'लोकसिद्धं प्रस्तुत्य वैदिको बोध्यते यथा,' वैदिकबोधार्थं रूढौ यथाकथञ्चित् योगोप्यस्तु । आचार्योक्तत्वात् । मा भूत् महाभाष्योक्तयोग इति रूढ्यभावात् । नच भाष्याणां भेदे एतादृशत्वमस्तीति वाच्यम् । उभयव्यपदेशाधिकरणे चतुःसूत्रे आनन्दादिरूपोपि श्रुतिबलादानन्दगुणकोपीति सर्वत्र माहात्म्यमेवोच्यते भक्त्यर्थमित्यर्थात् । कल्पनायामिति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म तथाचेति । वस्तुनस्तादृशत्वे विरुद्धधर्माश्रयत्वे उत्पत्तिसिद्धे सति । तादृश इति । तादात्म्यरूपः । एवेति । विरुद्धधर्माश्रयत्वरूपान्ययोगव्यवच्छेदकः । निषेधेति । मूर्तामूर्तस्य विवर्तत्वेन तथा । तस्या इति । निषेधशेषतायाः । विशेषत्वं विवर्तत्वं तस्मात् । सत्येत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म सत्यमित्यादिना । एकेति । भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तत्वे सत्येकार्थबोधकत्वं सामानाधिकरण्यम् । भाष्ये तस्यार्थः ।

भाष्यप्रकाशः ।

न सम्भवेत् । तेषां सत्यत्वादिविशिष्टवाचकत्वात्, सत्यत्वादीनां च धर्मत्वात् । नच सत्यादिपदानां लक्षकत्वमेव । असत्यजडसान्तदुःखव्यावृत्तमेकरूपमेव ब्रह्म लक्ष्यत इति न तेषां सामानाधिकरण्यभङ्ग इति वाच्यम् । लक्षणायां तु सुतरां धर्मापेक्षा । निर्धर्मकस्य क्वापि लक्ष्यत्वादर्शनात् । लक्षणायाः शक्यसम्बन्धरूपत्वेन ब्रह्मणि सत्यादिपदशक्यसम्बन्धलक्ष्यत्वयोर्धर्मयोरापाताच्च । किञ्च । लक्ष्यत्वे यत्किञ्चिच्छब्दवाच्यत्वमप्यर्थादेवायातम् । लक्ष्यत्वस्य वाच्यत्वव्याप्यत्वात् ।

यत्तु लक्ष्यत्वे सधर्मकत्वस्योपाधित्वान्न व्याप्तिरिति कश्चित् ।

तन्न । लक्ष्यत्वेनैव धर्मेण ब्रह्मणः सधर्मकत्वे सिद्धे सधर्मकत्वस्य साधनव्यापकतयोपाधितानिवृत्तौ व्याप्तेः सुस्थिरत्वात् । नच वाङ्निवृत्तिश्रुत्या अवाच्यत्वे ब्रह्मणः सिद्धे सधर्मकत्वस्य नोपाधितानिवृत्तिरिति वाच्यम् । तस्याः सामस्त्येन वदनासामर्थ्यपरत्वात् । अप्राप्येति प्रशब्देन तथावसायात् । अनाप्येत्युक्त्यापि तन्निवृत्तिसिद्धेः लक्षणया वाचः प्राप्त्यापि निवृत्त्यसिद्धेश्च ।

रश्मिः ।

विशिष्टेति । द्वितीयस्कन्धसुबोधिन्याम् । विशिष्टवाचकत्वम् । प्रस्थानरत्नाकरे तु व्यक्तिमात्रवाचकत्वमुक्तम् । भावार्थपादभाष्येण जातिमात्रवाचकत्वमुक्तप्रायम् । आकृतौ शक्तेः पूर्वमीमांसायामिति । शास्त्रद्वयभेदेन पक्षद्वयम् । व्यक्तिमात्रवाचकत्वपक्षस्तु सूक्ष्मग्रन्थाभिप्रायेण । 'नाहं वेदैर्न तपसा' 'भक्त्या त्वनन्यया' 'आचार्यवान्पुरुषो वेदे'ति 'महतामन्तःकरणं प्रमाण'मिति च । लक्षणायामिति भाष्यं विवरीतुमाहुः नन्वेति । एवेति । सविशेषत्वापत्त्या एवकारो वाच्यत्वयोगव्यवच्छेदकः । कुत इत्यत आहुः असत्येति । सत्यत्वमसत्यत्वाभावरूपमधिकरणात्मकं सदसत्त्वव्यावृत्तम् । एवं ज्ञानत्वमज्ञानत्वाभावरूपमधिकरणात्मकं सत् जडव्यावृत्तम् । एवमनन्तत्वं अनन्तत्वाभावाभावरूपमधिकरणात्मकं सत् सान्तव्यावृत्तम् । एवं आनन्दत्वमानन्दत्वाभावाभावरूपमधिकरणात्मकं सत् दुःखव्यावृत्तम् । प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्, अनुकूलवेदनीयं सुखम् । आनन्दः सुखम् । एवेति । अस्थूलादिश्रुतेरेवकारः । लक्ष्यत इति । सत्यत्वादीनां सत्यत्वाद्यभावाभावे लक्षणा । स्वाभावप्रतियोगित्वसम्बन्धः । तेन सम्बन्धेन सम्बद्धं क्रियते ज्ञानविषयीक्रियते । भाष्यं विवृण्वन्ति स्म लक्षणायामिति । लक्ष्यस्येति । लक्ष्यार्थत्वादर्शनात् । सत्यादीति । सधर्मकत्वापत्त्या सत्यादिपदशक्यः सत्यत्वादिविशिष्टः सत्यादिः तस्य सम्बन्धः स्वरूपात्मकः । लक्ष्यत्वं च उक्तसम्बन्धरूपलक्षणायोग्यं लक्ष्यं तस्य भावो लक्ष्यत्वम् । लक्षयितुं योग्यं लक्ष्यत्वम् । तयोरित्यर्थः । यत्किञ्चिदिति । लक्ष्यादिशब्दवाच्यत्वम् । एवेति । अवधारणेनागतम् । लक्ष्यत्वस्येति । यथा तीरं वाच्यं लक्ष्यत्वात्, एवं ब्रह्म सत्यादिशब्दवाच्यं लक्ष्यत्वात्, गङ्गातीरवत् । वाच्यत्वेति । वाच्यत्वन्यूनदेशवृत्तित्वात् । लक्ष्यत्व इति । हेतौ । उपाधित्वादिति । यत्र वाच्यत्वम्, तत्र सधर्मकत्वमिति साध्यव्यापकता । ब्रह्मणोपि यत्किञ्चिच्छब्दवाच्यत्वं लक्ष्यत्वेन सधर्मकत्वम् । यत्र लक्ष्यत्वम्, तत्र सधर्मकत्वमिति नास्ति । ब्रह्मणि लक्ष्यत्वातिरिक्तधर्माभाववति सधर्मकत्वाभावात् । साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापक उपाधिस्तत्त्वात् । न व्याप्तिरिति । यत्र यत्र लक्ष्यत्वम्, तत्र तत्र वाच्यत्वमिति व्याप्तिः सा न । एवेति । लक्ष्यत्वेतरधर्मयोगव्यवच्छेदकः । साधनेति । यत्र लक्ष्यत्वं तत्र सधर्मकत्वाभावाभावात्तथा । नोपाधितेति । वाच्यत्वाभाववति ब्रह्मणि लक्ष्यत्वेन सधर्मकत्वस्य सत्त्वात्साध्यव्यापकत्वाभावात्तथेत्यर्थः । यद्वा । श्रुतिबलेन लक्ष्यत्वेपि लक्ष्यस्यावाच्यत्वे सधर्मकत्वस्य लक्ष्यत्वरूपहेतुमति विरहान्नोपाधितानिवृत्तिः । तस्या इति । 'यतो वाच' इति श्रुतेः । ईक्षत्यधिकरणभाष्येण तथा । अप्राप्येति । श्रौतेन । तन्निवृत्तीति । वाङ्निवृत्तिसिद्धेः । वाच इति । ब्रह्म लक्ष्यमिति

सिद्ध इति मन्तव्यम् । तत्र हेतुः । तेजस्त्वात् । तेजःशब्दवाच्यत्वात् । यद्दृ-

भाष्यप्रकाशः ।

सर्वथा अप्राप्तौ 'यतो वाच' इति यच्छब्दस्यापि ब्रह्माप्राप्त्या तदज्ञाने कुतो निवर्तन्ते वाच इति ज्ञानानुदयेन वाक्यस्याबोधकताप्रसक्तेरनिरुक्तश्रुतिविरोधप्रसक्तेश्च । किञ्च । सत्यादिपदानां ब्रह्मणि शक्त्यभावे ब्रह्मातिरिक्तानां चासत्यजडादिरूपत्वात् तेष्वपि तच्छक्त्यभावे तेषां पदानामनर्थकत्वेन शक्यसम्बन्धरूपा लक्षणा नितरां सिध्येदिति स्वरूपलक्षणमप्यबोधकमेव स्यात् । ततश्च विचारशास्त्रस्य मोक्षस्य च तिलाञ्जलिरेव दीयेत । अथ व्यावहारिकं सत्यज्ञानादिकं तेषां शक्यमिति तत्सम्बन्धस्य ब्रह्मणि भवनान्न कोपि दोष इति विभाव्यते । तदा तु तस्यैव धर्मत्वान्न ब्रह्मणो यावद्धर्मरहितत्वसिद्धिरिति लक्षणायां सुतरां धर्मापेक्षा । अतो धर्माणामावश्यकत्वादस्य शास्त्रस्य वेदानुरोधित्वात् वेदवाक्यानां च ब्रह्मबोधकतया सर्वेषां तुल्यबलत्वेन धर्मविशिष्ट एव पदार्थो (निर्धर्मको) विरुद्धधर्माश्रयो वेदसिद्ध इति मन्तव्यमित्यर्थः ।

धर्मधर्मिणोरभेदबोधकं रूपं वक्तुं हेतुं व्याकुर्वन्ति तेजःशब्दवाच्यत्वादिति । 'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिः', 'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते,' 'भारूपः, तस्य भासा सर्वमिदं विभाति,' 'यदादित्यगतं तेज' इत्यादौ ब्रह्मतद्धर्मयोस्तेजोवाचकशब्दवाच्यत्वात् । तथाच प्रकाशकत्वसमानत्वात् सूर्यतत्प्रकाशयोर्यथा भेदविरुद्धसम्पदभेदः, तथा ब्रह्मतद्धर्मयोरपि प्रकाशकत्वात्तथेत्यर्थः । ननु पूर्वसूत्रेण ब्रह्मण उभयरूपत्वे विरुद्धधर्माश्रयत्वे तं तं प्रति तथा प्रदर्शने च सिद्धे धर्माणां

रश्मिः ।

वाचःप्राप्त्यापि वाङ्निवृत्त्यसिद्धेश्च । वाक्यस्येति । अवधिघटितयत इतिवाक्यस्य 'मम माता वन्ध्ये'ति वाक्यवदनर्थकपदघटितत्वादबोधकताप्रसक्तेः । अनिरुक्तेति । 'एष ह्येवानन्दयाती'त्युक्त्वाग्रे पठ्यते 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयने अभयं प्रतिष्ठां विन्दते, अथ सोऽभयं गतो भवती'ति । न निरुक्ते अनिरुक्ते । अत्र निरुक्तत्वे प्राप्तेऽनिरुक्त इति प्रतिषेधसम्भवात्तथा । यद्यप्यभावज्ञानेन प्रतियोगिज्ञानं सर्वत्र कारणम् । 'अग्निचयनस्य न दिवी'ति श्रुत्या दिवि निषेधात्, तथापि विरुद्धधर्माश्रयप्रकरणादियमेवमुक्ता । अथेति । भिन्नप्रक्रमेऽनिरुक्ते प्रतिष्ठारूपभक्तिं विन्दते लभते । अथ स उपासको भिन्नमोक्षविषयं गतो भवतीत्यर्थात् । कस्माद्भिन्नमोक्षविषय इति चेत्, साधनविषयाद्भिन्नविषयोऽधोक्षजः । पुष्टिमार्गीयम् । साधनविषयफलयोर्भेदादिति । तत्त्वायामीत्यत्राप्ययं बोध्यः संध्यायाम् । अनर्थकत्वेनेति । तथा शक्यार्थाभावेन शक्यसम्बन्धेत्यादिः । अपीति । अपिना कार्यलक्षणम् । उभयलक्षणयोरबोधकत्वादेवकारो बोधकत्वरूपान्ययोगव्यवच्छेदकः । विचारेति । उत्तरमीमांसाशास्त्रस्य । तिलाञ्जलिरेवेति । विचारशास्त्रस्य मोक्षस्य च पदजन्यपदार्थोपस्थितिसाध्यत्वादेवकारः । व्यावहारिकमिति । ध्वंसप्रतियोगि । शक्यमिति । शक्यार्थवस्तु । लक्षणायामित्यादिभाष्यार्थानुवादपूर्वकमत इत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म तदा त्विति । एवमनूद्य अत इत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म अत इत्यादि । एव पदार्थ इति । धर्मविशिष्टः पदार्थ एवेत्यन्वयः । पदार्थैकदेशेनान्वयानुपपत्तेः । अयमुभयव्यपदेशसूत्रान्निर्धारणेनेत्यर्थक उक्तः । तादृशपदार्थमाहुः निर्धर्मक इति । तथाच श्रुतिः 'स्वरूपं द्विविधं चैव सगुणं निर्गुणं तथे'ति गोपालतापिनीयश्रुतेः । अत्र स्वरूपत्वावच्छेदकं सगुणत्वं निर्गुणत्वं चोक्तम् । तेजोवाचकेति । 'ज्योतिषां ज्योति'रिति, 'दिवो ज्योति'रिति, 'तस्य भासे'ति च प्रत्येकं षष्ठ्यवधिघटिताभ्यां तेजोवाचकशब्दाभ्यां वाच्यत्वात् । तथाच सूत्रे तेजःपदं तेजस्त्वेन शब्दार्थसाधारणमुक्तं तत्तेजोवाचकमतस्तेजःशब्दवाच्यत्वादयमर्थो भवति । उभयसमावेशात् । तं त-

१. अन्तिमाक्षरो लोपितम् ।

रव्याप्त्यर्थमेव हेतुरुक्तः। आतपादेर्धर्मत्वेन धर्मित्वेन च प्रतीतेः। अपूर्ववदेव दृष्टत्वाच्छ्रुतत्वाच्च न धर्मेष्वपि युक्त्यपेक्षा। तस्मात् सिद्धं यथाश्रुतमेव ब्रह्मेति ॥ २८ ॥

भाष्यप्रकाशः।

ब्रह्मणा सह भिन्नाभिन्नत्वमात्रं साधनीयम्, तत्तु प्रकृतदृष्टान्तमात्रेणैव सिध्यतीति हेतूक्तेः किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायां तत्प्रयोजनमाहुः **बहुदूरे**त्यादि। अवतारदशायां सृष्टिदशायां च ब्रह्मणो व्यापकत्वतिरोभावे धर्माणां स्वभावतो बहुदूरव्याप्त्यर्थमेव तद्व्यापकस्तेजःस्वरूपो हेतुरुक्त इत्यर्थः। तेजसि तथात्वस्य दृष्टत्वादिति। तथाचोक्तं विष्णुपुराणे प्रथमांशसमाप्तौ 'एकदेशस्थितस्याग्नेर्ज्योत्स्ना विस्तारिणी यथा। परस्य ब्रह्मणः शक्तिस्तथेदमखिलं जगत्। तत्राप्यासन्नदूरत्वबहुत्वस्वल्पतामयः। ज्योत्स्नाभेदोऽस्ति तच्छक्तिस्तद्वन्मैत्रेय वर्तते' इति। एवमभेदबोधकं रूपं व्याख्याय प्रकाशाश्रयपदाभ्यां बोधितं भेदबोधकं रूपं व्याकुर्वन्ति **आतपादे**रित्यादि। आतपश्च तदादिश्च तयोः समाहार आतपादिः, तस्यातपादेः। तथाचात्रादिपदेन सूर्यादिः। तथाच आतपस्य प्रकाशस्य धर्मत्वेन सूर्यादेर्धर्मित्वेन च प्रतीतेर्यथा भेदः, तथा ब्रह्मतद्धर्मयोरपि। 'सत्यं ज्ञान'मिति स्वरूपलक्षणात् सच्चिदानन्दरूपेणाभेदः, धर्मेषु तत्तद्धर्मत्वेन रूपेण भेदः, ब्रह्मणि तदाश्रयत्वरूपेण भेद इति तयोस्तावविरुद्धावित्यर्थः। ननु प्रकाशतदाश्रययोस्तथात्वं प्रत्यक्षगम्यम्, ब्रह्मतद्धर्मयोस्तु न तथेति तत्र कथं तथात्वसम्प्रत्यय इत्यत आहुः **अपूर्ववदि**त्यादि। एतेन 'दर्शनाच्चे'त्यत्र व्याख्यातं भक्तप्रत्यक्षम्, विष्णुपुराणस्था स्मृतिः, 'प्राणस्य प्राणं' 'नेह नानास्ती'त्यादयः श्रुतयश्च स्मारिताः। तथाचात्रापि प्रमाणद्वयप्रमितत्वान्न युक्त्यपेक्षेति युक्तिकथनमन्यप्रतिपत्त्यर्थमित्यर्थः। एवञ्च ब्रह्मधर्मा ब्रह्मणो भिन्नाभिन्नाः, प्रकाशकधर्मत्वात्, सूर्यादिप्रकाशवदित्यनुमानमपि प्रयोक्तुं शक्यम्। सिद्धं निगमयन्ति **तस्मा**दित्यादि। एवञ्च ब्रह्मणः सच्चिदानन्दरूपेण सर्वेषां ब्रह्माभेदः। ब्रह्मणस्तु कार्यलक्षणेन सर्वस्माद्भेदः। जगतः कार्यत्वाच्चिदानन्दतिरोभावात् तयोः स्वल्पत्वाच्च भेदः। जीवे चानन्दतिरोभावादल्पत्वादंशत्वादिभ्यश्च भेदः। अक्षरे च गणितानन्दत्वादिभ्यो भेदः। जीवस्य तथात्वं तु जीवप्रकरणे द्वितीयाध्याये सिद्धम्। अक्षरस्य चादृश्यत्वाधिकरणे इति बोध्यम् ॥ २८ ॥

रश्मिः।

मिति। भक्तं भक्तम्। **स्वरूपस्य इति।** जीवपरत्वेन प्रतीतधर्माणां ब्रह्मपरत्वमत्र प्रतिपाद्यत इति। एवेति। 'अणोरणीयान्महतो महीया'निति श्रुतेरेवकारः। **तच्छक्तिरि**ति। ब्रह्मशक्तिः। **ब्रह्मतद्धर्मयोरि**ति। स्वज्ञानद्वारेति बोध्यम्। **ता**विति। भेदाभेदौ। भाष्योक्तं धर्मित्वमधस्तनांशस्य। **एतेने**ति। न पूर्वं पूर्वेष्युक्तं सगुणत्वं निर्गुणत्वं वा तत् अपूर्वं विरुद्धधर्माधिकरणत्वं तदस्यास्तीति तद्वत् भवति। कुतः। दृष्टत्वाद्भक्तैः श्रुतत्वाद्वेदान्तिभिः। पूर्वाधिकरणे विरुद्धधर्माधारत्वमुक्तम्, तेन स्मृतौ धर्मधर्म्यभेदाभेदौ, तेन पूर्वाधिकरणेनास्य प्रसङ्गसङ्गतिः प्रदर्शिता। अतो भेदेप्यभेदेन। **स्मारिता इति।** धर्मविषयेपि स्मारिताः। **प्रमाणे**ति। श्रुतिप्रत्यक्षरूपं प्रमाणद्वयं तत्प्रमितत्वात्। **ने**ति। धर्मिवद्धर्मेष्वपि नेति न धर्मेष्वित्यादिभाष्यार्थः। **निगमयन्ती**ति। हेतुघटितत्वान्निगमनम्। तस्मात्तथेति निगमनवत्। **तस्मादित्यादी**ति। **यथाश्रुतमेवे**ति। पूर्वोपपादनादेवकारः निर्धारणेनेत्यर्थकः। यथाश्रुतं निर्धारणेन ब्रह्मेत्यर्थः ॥ २८ ॥

पूर्ववद्वा ॥ २९ ॥

एकदेशिमतेनापि सर्वसमाधानमाह। अथवा। 'अरूपवदेव ही'त्यादिपञ्चसूत्र्या यः सिद्धान्तः कथितः, तादृशं वा ब्रह्म प्रतिपत्तव्यम्।

अयमाशयः। वेदस्थापनार्थं हि प्रवृत्तिः। तत्र यथा अक्षरमात्रस्यापि बाधो न भवति, तथा वक्तव्यम्। यदर्थमुभयरूपता अङ्गीकृता, तत्र धर्माणां

भाष्यप्रकाशः।

पूर्ववद्वा ॥२९॥ सूत्रमवतारयन्ति व्याकुर्वन्ति च **एके**त्यादि। **अथवे**त्यादि च। वाशब्दः पक्षान्तरे। पूर्ववत्। 'अरूपवदेव ही'ति पञ्चसूत्र्या यः सिद्धान्तः कथितः, प्रपञ्चविलक्षणं तत्समवायित्वेपि न तत्प्रकारकम्, नापि समवायिमात्रम्, किन्तु ततोप्यतिरिक्तं कृत्स्नं चिन्मात्रस्वरूपं यदा आविर्भवति, तदा व्यवहार्यं भवति। तत्र जडजीवधर्मा औपचारिका इत्येवंरूपः। तादृशं कारणरूपं ब्रह्म प्रतिपत्तव्यमित्यर्थः। एतन्मताभ्युपगमे बीजं व्युत्पादयन्ति **अय**मित्यादि। तथाच यत् पूर्वोपगमे बीजम्, तदेवात्रापीत्यर्थः। बीजमुक्त्वा पञ्चसूत्रीसिद्धस्य प्रकृते यथा विवक्षितत्वम्, तथोपपादयन्ति **तत्र धर्माणा**मित्यादि। तस्मिन् पक्ष एकदेशिप्रतिपन्नमौपचारिकत्वं दूषयित्वा नित्यब्राह्मत्वेन स्थापितानां धर्माणां स्वरूपस्य वृत्तिमत्त्वस्य निर्वाहार्थं सविशेषनिर्विशेषभेदेन ब्रह्मवैलक्षण्यमङ्गीकर्तव्यम्। ततो वैलक्षण्येन भेदे सत्यद्वितीयत्वश्रुतिर्बाध्येत। तथाच तदभावायोत्पत्त्या विचारः कर्तव्यः। यो यथा यथा परिणमते, स तत्तद्वानपि पूर्वमव्यक्तः घटपटदध्यादिरूपेण परिणममाणमृत्तन्तुदुग्धादिवदिति। एवमुत्पत्त्या विचारे कारणभूतं निर्धर्मकमेव ब्रह्म सेत्स्यतीति पूर्वं तादृशमेव प्रतिपत्तव्यम्। ततश्च ब्रह्माहिकुण्डलवदुभयरूपम्, तद्धर्माः प्रकाशाश्रयवद्भिन्नाभिन्ना इत्युपपत्त्या विचारोपि कारणस्वरूपानुरोधेनैव कर्तव्यः। तत्र कथं कर्तव्य इत्याकाङ्क्षायां कारणविचारे श्रुतावेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानस्य प्रतिज्ञातत्वाद्धर्माणामपि ब्रह्मरूपत्वं वक्तव्यम्। तदेव तदुपपद्यते, न तु धर्माणां नित्यभिन्नत्व आविद्यकत्वे वा। आद्ये भिन्नत्वेन, द्वितीये मिथ्यात्वेन च तत्प्रतिबन्धात्। नचाविद्यकत्वेप्यसत्यख्यातिसत्त्वेन सत्यरूपब्रह्मज्ञाने

रश्मिः।

पूर्ववद्वा ॥ २९ ॥ तदेवेति। अन्ययोगव्यवच्छेदक एवकारः। **दूषयित्वे**ति। 'तत्र धर्माणा'मित्यादिना दूषयित्वा। **सविशेषे**ति। ब्रह्मस्वरूपस्य निर्विशेषे लक्ष्यत्वादिवृत्तिमत्त्वस्येति विवेकः। विपरीतं वा। **तथा सती**ति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म तत इति। **बाध्येते**ति। भिन्नस्य द्वितीयत्वात्तथा। तथा चेति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **तथा चे**ति। उत्पत्त्या विचारं घटयन्ति स्म **यो यथे**ति। **परी**ति। हैमधातुपाठे तु परस्मैपदी। **तत्तद्वान्** तत्तत्परिणामवान्। **दिव**ति। घनृतं शुक्त्यादिवत्। आदिना गोमयादि। परिणामो वृश्चिकः। निर्धर्मकमेवेति निर्गुणब्रह्मवादिसम्मतत्वादेवकारः। एवेति पूर्ववत्। उपपत्त्येतिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म **ततश्चे**ति। एवेति। वृत्तिमत्त्वानुरोधव्यवच्छेदक एवकारः। विपरीतं तु न। भाष्यानुक्तत्वात्। तत्रेति भाष्यं विवरीतुं न चेत्यादिशङ्कोत्थापनार्थं पीठिकां कुर्वन्ति स्म **तत्र कथ**मित्यादिना। **श्रुता**विति। 'उत तमादेशमप्राक्ष्य'मित्यादिछान्दोग्यश्रुतौ। **तदेवे**ति। ब्रह्मरूपत्ववचनकाले। एवकारो धर्माणां नित्यभिन्नत्वाविद्यकत्वकालौ व्यवच्छिनत्ति। नान्यथेत्यंशं स्फोरयन्ति स्म **न तु धर्माणा**मिति। **आविद्यकत्व इति।** रजतवदसत्त्वात्। **तत्प्रती**ति। एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिबन्धात्। भाष्यं विवरीतुमाशङ्कामाहुः **न चे**ति।

स्वरूपनिर्वाहार्थमवश्यं ब्रह्मवैलक्षण्यमङ्गीकर्तव्यम्। तथा सति 'एकमेवाद्वितीय'मिति बाधः प्रसज्येत। तथाचोत्पत्त्या विचारे निर्धर्मकमेव पूर्वं ब्रह्मेति प्रतिपत्तव्यम्। उपपत्त्यापि विचारः पूर्वानुरोधेनैव कर्तव्यः। तत्र धर्माणामपि ब्रह्मत्वे एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानमुपपद्यते, नान्यथा। ततश्च प्रथमं ब्रह्म स्वधर्मरूपेण भवति। तदनु क्रियादिरूपेण प्रपञ्चरूपेण च। तावतैव सर्ववेदार्थसिद्धेः। नच लौकिकी युक्तिस्तत्रापेक्ष्यते, येन तादृशस्य कथं सर्वभाव इति पर्यनुयोगो भवेत्। धर्मकल्पनायामपि 'नैषा तर्केण मतिरापनेये'ति

भाष्यप्रकाशः।

एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं भवत्येवेति शङ्क्यम्। मृत्पिण्डादिदृष्टान्तोपरोधेन जायमानस्य तस्याप्रयोजकत्वात्। अतो धर्माणां ब्रह्मत्व एवैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानोपपत्तिः, नान्यथा। तस्मात् ततश्चेत्याद्युक्तप्रकारेण धर्माणां ब्रह्मकार्यत्वात् ब्रह्मरूपत्वमङ्गीकर्तव्यम्। तावतैव सर्ववेदार्थाविरोधसिद्धेः। नच पूर्वमव्यक्तस्य पश्चात् व्यक्तत्वं लोके हेत्वन्तरसमवधानादेव दृष्टमितीतरासद्भावे निर्धर्मकस्य कथं धर्मरूपेण भवनमिति शङ्क्यम्। ब्रह्मणो वेदैकसमधिगम्यतया तत्र लौकिकयुक्त्यपेक्षाया अभावेन तादृशशङ्काया एव तत्र कर्तुमयुक्तत्वात्। तथाच पञ्चसूत्रीसिद्धस्यानेन प्रकारेण विवक्षितत्वमित्यर्थः। नन्वेवं सति लौकिकयुक्त्यनपेक्षत्वाच्छ्रौतत्वाच्चेदमेव मतमादर्तव्यम्, किं पूर्वेणेत्यत आहुः धर्मेत्यादि। धर्मकल्पनायामिति। विरुद्धधर्माश्रयत्वरूपधर्मकल्पनायाम्। तथाच द्वयोस्तौल्यात् तस्याप्यादरणमित्यर्थः। ननु द्वयोस्तौल्येप्ययं पक्षश्चेत् व्यासचरणैः पश्चाद्विचार्योक्तः, तदा न पूर्वत्र व्यासाशय इति शङ्कायां द्वयोः कथनस्य तात्पर्यमाहुः उत्पत्त्येत्यादि। उत्पत्त्या एतत्प्र-

रश्मिः।

असत्येति। सत्यत्वाभावाभावरूपेणासत्यव्यावृत्तत्वेन। भवत्येवेति। एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानायोगव्यवच्छेदक एवेति। नीलं सरोजं भवत्येवेत्यत्रेव। मृत्पिण्डेति। आदिपदमृत्पिण्डलोहनिकृन्तनदृष्टान्तोपरोधेन। तस्येति। एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानस्य। अप्रयोजकत्वादिति। ब्रह्मज्ञानरूपविशेषदर्शने सर्वस्य प्रविलाप्यत्वात्सर्वविज्ञानानुत्पत्त्या तथा। विवृण्वन्ति स्म अत इति। मृत्पिण्डादिदृष्टान्तोपरोधेन जायमानस्य तस्याप्रयोजकत्वात्। ब्रह्मत्व एवेति। एवकारस्तु नित्यभिन्नाविषकत्वयोर्व्यवच्छेदकः। नान्यथेति व्याख्यातप्रायं पीठिकाग्रन्थे। ततश्चेति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म तस्मात्ततश्चेति। तावतेति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म तावतेति। लघुना। एवकारः सर्ववेदार्थाविरोधाय गुरुप्रकारव्यवच्छेदकः। एतावता येन तादृशस्येत्यादिभाष्यार्थ उक्तः। न च लौकिकी युक्तिस्तत्रापेक्ष्यत इति भाष्यार्थमाहुः ब्रह्मण इत्यादि। न चेत्यादि भवेदित्यन्तभाष्यस्य प्रघट्टकार्थमाहुः नचेत्यारभ्येत्यर्थ इत्यन्तेन। हेत्वन्तरेति। यथा वायोर्हेतुराकाशः हेत्वन्तरं व्यजनादि, तस्य समवधानात्। दृष्टत्वादेवकारः प्रणयति। तृतीयाया लुक्। अनेनेति। नच पूर्वमित्यादिनोक्तेन प्रकारेण। इदमेवेति। निर्गुणवादिसम्मतत्वादेवकारः। पूर्वेणेति। पूर्वाधिकरणोक्तेन विरुद्धधर्माश्रयत्वेन। द्वयोरिति पक्षयोः। अयमर्थः। 'श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोपि बहवो यं न विद्युः। आश्चर्यो वक्ता कुशलोस्य लब्धा आश्चर्यो ज्ञाता कुशलेनुशिष्टः। न नरेणावरप्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः। अनन्यप्रोक्ते गतिरन्यत्र नास्त्यणीयान्ह्यतर्क्यमणु प्रमाणात्। नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ। यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि। त्वादृङ्नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा। जानाम्यहं शेवधिरित्यनित्यं नह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्। ततो मया नाचिकेतश्चितोऽग्निरनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्य'मित्यत्र सिद्धान्तपक्षैकदेशिपक्षयोरर्थे

समानम्। उत्पत्त्या चोपपत्त्या च विचारद्वयम्। उपपत्त्या पूर्वनयनं स्वसिद्धान्तः।

भाष्यप्रकाशः।

ग्रन्थाख्योक्तप्रकारिकया उत्पत्त्या, पूर्वग्रन्थव्याख्योक्तप्रकारिकया उपपत्त्या च अस्मिन्नधिकरणे विचारद्वयम्। तयोर्मध्य उपपत्त्या पूर्वनयनम्। मैत्रेयीब्राह्मणे 'स यथा सैन्धवघन' इत्यादिना चिन्मात्रत्वेन प्रतिपादितस्यैवात्मनः 'अविनाशी वा अरे अयमात्मा अनुच्छित्तिधर्मे'त्यनेन स्वरूपाविनाशधर्मानुच्छित्त्योः कथनेन स्वरूपधर्मयोर्नित्यत्वबोधनात्। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'ति स्वरूपलक्षणस्ये सत्यपदेपि 'सत्यस्य सत्य'मिति नामधेयतन्निर्वचनयोरनुरोधेन मूलसद्रूपत्वमूलत्यरूपत्वयोरपि बोधनात्। नृसिंहोत्तरतापनीये तुरीयनिरूपणे तुरीयस्य प्रपञ्चोपशमत्वमुक्त्वा, 'ईश्वरग्रासः स्वराट् स्वयमीश्वर' इति ईश्वरत्वश्रावणात्। तैत्तिरीये 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूपं विश्वं पुराणं तमसः परस्ता'दिति प्रपञ्चात् परस्य कारणस्य ऐकत्व्यादिपञ्चधर्मवत्त्वश्रावणात्, द्वितीयस्कन्धे भगवता 'पश्चादह'मिति, तृतीयस्कन्धे मैत्रेयेण 'यथेदानीं तथाचाग्रे पश्चादप्येतदीदृश'मिति, विष्णुपुराणे प्रथमेंशे 'तदेतदक्षयं नित्यं जगन्मुनिवराखिलम्। आविर्भावतिरोभावजन्मनाशविकल्पव'दिति

रश्मिः।

तौल्यात्। यथा विरुद्धधर्मकल्पनायां 'नैषा तर्केणे'ति श्रुतिः, तथास्मन्मतेपीति तौल्यात्। एकदेशिमतेऽरूपवत उत्पत्तिर्नैयायिकयुक्तिविरुद्धेति 'नैषा तर्केण'ति श्रुतेर्विरुद्धधर्माश्रयत्व इव प्रवृत्तेः तस्यैकदेशिमतस्याप्यादरणम्। श्रुत्यर्थस्तु। बहुभिरन्याचार्यग्रन्थैरपि। आश्चर्य इति। आश्चर्ये सति वक्तेति वचनप्रयोजक आश्चर्य एव वक्ता आश्चर्यरसो वा ब्रह्मरूपः तत्र प्रविष्टः। अर्शआद्यजन्तो वा। अनुशिष्टः दत्तात्रेयवद्गुर्वनुशिष्टः। अवरः जगद्रूपः न सुविज्ञेयः, किन्तु भगवान् सुविज्ञेयः। जगत्तु तज्जलान्त्वेन। अनन्येति। अपृथग्दर्शिनेनाचार्येण प्रोक्ते आत्मगतिरन्यत्र परब्रह्मणि नास्ति। यतोऽणीयान् 'अणुः पन्था विततः पुराणः' इति द्वितीयाध्याये चिन्तितम्। नहि अतर्क्यम्। 'अलौकिको हि वेदार्थो न युक्त्या प्रतिपद्यते। तपसा वेदयुक्त्या तु प्रसादात्परमात्मनः' इति श्रुतेर्नहि अतर्क्यम्। अणु ब्रह्म प्रमाणं प्रमाणप्रेरकत्वेन मुख्यत्वात्। अन्येनेति। आगमाभिज्ञेनाचार्येण गतिम्। त्वादिति। त्वत्सदृशः। शं कल्याणम्। सोः शेः। इतिहेतोः। अध्रुवैः साधनैरिति। अयमिति। विरुद्धधर्माश्रयपक्षः। पश्चात् एकदेशिमतात्पश्चात्। पूर्वत्रेति। एकदेशिमते। उत्पत्त्येति। विरुद्धधर्मोत्पत्त्या। पूर्वसूत्रे प्रकाशाश्रयवत्सूत्रे। व्याख्योक्तेति। कल्पनायामपीत्यादिव्याख्योक्तप्रकारिकया। उपपत्त्येतिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म तयोरिति। पूर्वनयनमिति। पूर्वस्य पक्षस्य नयनम्। एवेति। अन्ययोगव्यवच्छेदकः। कथनेनेति। अनुच्छित्तिर्धर्मो यस्येति विग्रहे पुनरुक्तिरतो न उच्छित्तिर्नाशो येषां तेऽनुच्छित्तयः अनुच्छित्तयो धर्मा यस्येति विग्रहात्तथा। स्वरूपेति। स्वरूपं च धर्मश्च तयोः। एतदादयो हेतवः। स्वसिद्धान्त इति भाष्यविवरणस्य व्यासचरणानां सिद्धान्त इति ग्रन्थस्य। सत्यपदेपीति। अपिना मूर्तामूर्तब्राह्मणीय'प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्य' मित्युक्तसत्यपदे। 'सत्यस्य सत्य' मिति ब्रह्मस्तुतौ। नामधेयं स्वरूपलक्षणस्यम्, निर्वचनं ब्रह्मस्तुतिरूपम्। यद्यपि नामधेयं त्रैकालिकाबाधविषयम्, तथापि विरुद्धधर्मावारत्वायाहुः मूलेति। मूलसद्रूपपदत्वे मूलत्यरूपपदत्वं तयोः। सन्मूर्तं त्यममूर्तं मूर्तामूर्तब्राह्मणे स्फुटं। ईश्वरत्वेति। श्रुत्यर्थस्तु प्रपञ्चस्योपशमो यत्रेति निर्धर्मकम्। पूर्वोक्तं प्राज्ञं ईश्वरं ग्रसतीतीश्वरग्रासः कर्मण्यण्। ओतत्वेनेश्वरग्रासत्वमनुज्ञातृत्वेन स्वराट्त्वमनुज्ञात्वेन स्वयमीश्वरत्वमिति सधर्मकम्। अनन्तरूपमिति। व्यक्तम्। श्रुतीरुक्त्वोपबृंहणमाहुः द्वितीयस्कन्ध इति। भगवदिति। आदिनैकरूपत्वाक्षयत्वाविर्भावतिरोभा-

१. आदर्शेषु एतत्त्वादिपञ्चधर्मेति पाठः, काशीपुस्तके प्रपञ्चधर्मेति पाठः, मूलपुस्तके इदं नास्ति, अतोपेक्षितपाठो रक्षितः। मूलेऽभावाद्रश्मौ न विवृत इति।

एकदेशिनस्तद्विपरीतम् । उभयमपि सूत्रकारस्य संमतमिति ॥ २९ ॥

प्रतिषेधाच्च ॥ ३० ॥

एकदेशिमते उपपत्त्यन्तरमाह । 'एकमेवे'त्युक्त्वा पुनः 'अद्वितीय'मिति

भाष्यप्रकाशः ।

पराशरेण च भगवद्रूपत्वादिनैव तदुपबृंहणाच्च विरुद्धधर्माधारत्वलौकिकयुक्त्यगम्यत्वविदिताविदितपरत्वानिरुक्तत्वरूपाणां श्रुत्युक्तयुक्तीनां अनन्तगुणपूर्णत्वपक्षेपि तुल्यत्वात् युक्त्या कारणरूपस्यैवमविरोधानुकूल्यप्रापणं व्यासचरणानां सिद्धान्तः । द्वितीयस्कन्धे 'नास्य कर्माणि जन्मादौ परस्यानुविधीयते' इति मुख्याधिकारिणामर्थे जन्मकर्मनिषेधकथनेन सदैकरूपत्वबोधनात् । एकदेशिनस्तु पूर्वोक्तरीत्या कालभेदेनाविरोधप्रापणमिति व्यासोक्तपक्षाद्विपरीतम् । तस्य पक्षस्य द्वितीयस्कन्ध एव 'इत्थं भावेन कथितो भगवान् भगवत्तमः । नेत्थं भावेन हि परं द्रष्टुमर्हन्ति सूरय' इति मध्यमाधिकारिपरतयोक्तत्वेन इतो न्यूनत्वात् । एतावान् परं विशेषः, यत्पुराणे मायाद्वारकं कर्तृत्वादि, श्रौते मते तु तथेत्येकदेशिमतं तत उत्तमम् । तथापि 'अनुच्छित्तिधर्मे'त्यादिश्रुतीनां 'पश्चादह'मित्याद्युपबृंहणानां चाञ्जस्याभावेन न तथोपपन्नम् । एवमपि सत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञायाः कर्तृत्वादिश्रुतीनां च नासामञ्जस्यमित्यल्पदोषदुष्टत्वेन सूत्रकारादृतम् । अत उभयमपि सूत्रकारस्य संमतमित्यर्थः ॥ २९ ॥

प्रतिषेधाच्च ॥ ३० ॥ सूत्रमवतारयन्ति एकदेशीत्यादि । भगवन्माहात्म्यबोधकत्वेपि किञ्चिद्दोषादनादरो मा भूदित्यत एकदेशिमते उपपत्त्यन्तरमाहेत्यर्थः । व्याकुर्वन्ति एकमेवे-

रश्मिः ।

वजन्मनाशविकल्पवत्त्वानि । अत्र उपपत्त्यापि विचारः पूर्वानुरोधेनैव कर्तव्य इति भाष्यानुरोधात्पूर्वानयनमाहुः **विरुद्धधर्मे**त्यादि । विरुद्धधर्माधारत्वं उभयव्यपदेशसूत्रस्थात् 'सकलविरुद्धधर्मा भगवत्येव वर्तन्त' इति भाष्यात् । लौकिकयुक्त्यगम्यत्वं 'तादृशमेव तद्वस्तूत्पत्तिसिद्ध'मिति भाष्यात् 'न धर्मेष्वपि युक्त्यपेक्षे'ति भाष्याच्च । **विदिते**त्यादि । विदितं वर्तमानं अविदितं भूतं भविष्यच्च तयोः परत्वम् । 'अन्यदेव तद्विदितादथोऽविदितादधी'ति श्रुतेः । अनिरुक्तत्वं तैत्तिरीये । अभिधेयानामित्युक्ते एकदेशिमतवादकवलितता स्यादत आहुः **श्रुत्युक्तयुक्तीना**मिति । विरुद्धधर्माधारत्वं नित्यं न भवेन्नित्यानित्यसंयोगभिया श्रुत्यभिधेयं न भवेत् । लौकिकयुक्त्यगम्यत्वं नित्यं न भवेत्, श्रुत्यभिधेयं न भवेत् । 'आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः' । 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीते'ति श्रुत्यभिधेयं नित्यानित्यसंयोगभिया न भवेत् । विदिताविदितपरत्वं नित्यं न भवेत् । नित्यानित्यसंयोगभिया श्रुतिरभिधेयं न वदेत् । अनिरुक्तत्वं नित्यं न भवेत् । नित्यानित्यसंयोगभिया श्रुत्यभिधेयं न भवेदित्येवं युक्तीनाम् । **नास्येति** । अस्य परस्य आदौ कर्माणि जन्म नानुविधीयन्ते इति । **मुख्याधिकारिणामिति** । एकदेशिन इति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **एकदेशिन** इति । **पूर्वोक्तेति** । अत्रैव पूर्वोक्तरीत्या सृष्टिकालस्य भेदेन । सिद्धान्ते तु सृष्टिकालात्पूर्वकालेपि धर्माः । **मायाद्वारकमिति** । 'बुभूषुरुपाददे' इति वाक्यात् । **तत** इति । पुराणमतात् । **आञ्जस्येति** । सिद्धान्तरीत्या नयनाभावेन । स्वार्थे ष्यञ् । **न तथेति** । सिद्धान्तत्वेन नोपपन्नम् । **अल्पदोषेति** । अपसिद्धान्तत्वदोषदुष्टत्वेन । सूत्रकारादृतं अत इति पदच्छेदः ॥ २९ ॥

प्रतिषेधाच्च ॥ ३० ॥ किञ्चिदिति । अपसिद्धान्तत्वदोषात् । **प्रतीति** । धर्मप्रतिषेधयुक्ता

द्वितीयं प्रतिषेधति । स एवकारेणैव सिद्धो व्यर्थः सन् धर्मनिषेधमपि सूचयति । 'ऐक्षते'ति वचनात् तदुत्पत्तिः । चकारादेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानोपक्रमः परिगृहीतः । तस्मान्न ब्रह्मणि कश्चिद्विरोध इति सिद्धम् ॥ ३० ॥

इति तृतीयाध्याये द्वितीयपादे नवमं प्रकाशाश्रयवद्वेत्यधिकरणम् ॥ ९ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

त्यादि । स इति । द्वितीयनिषेधः । नन्वनुच्छित्तिधर्मेत्यादिना तन्नित्यत्वे कुतो निषेध इत्यत आहुः ऐक्षतेत्यादि । तथाचोक्तश्रुत्यनुरोधेन धर्मनित्यताबोधकश्रुतिरनुच्छित्तिर्धर्मो यस्येतिसमासेनाविनाशिपदव्याख्यानपरतया नेयेत्यर्थः । स्फुटमन्यत् ।

नचैकदेशिमतस्य युक्त्यन्तरेणोपष्टम्भात् पूर्वमततुल्यत्वमस्य सूत्रकाराभिप्रेतमिति शङ्क्यम् । प्रतिषेधश्रुतेर्द्वित्वसंख्यापूरकनिषेधपरतायाः प्रागुपपादितत्वेन, 'सूर्य एकाकी चरती'तिश्रुतौ सपरिकरे एव सूर्ये एकाकित्ववत् 'गेहे देवदत्त एवास्ति, न द्वितीय' इति लौकिकप्रयोगे करचरणादियुक्तदेवदत्ताद्वितीयत्ववत्तत्रापि निषेधगतेः शक्यवचनत्वेन, अनुच्छित्तिधर्मपदस्याविनाशिपदव्याख्यानताया अपि मानान्तरविरहादगतिकगतित्वेन च तस्य शैथिल्यात् । अत एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानुरोध एवैतत्संग्रहे बीजम् । एतस्योपष्टम्भकं च नैतस्मादन्यदिति बोधनायैवैतद्युक्तिकथनमिति बोध्यम् । तस्मान्न कोपि शङ्कालेशः ।

(ननु मतद्वयस्यापि सूत्रकारसम्मतत्वे स्वसिद्धान्त इति भाष्यस्थस्य स्वशब्दस्य सूत्रकारपरत्वेन व्याख्यानमनुचितम् । एकदेशिपदे च व्यासैकदेशित्वव्याख्यानमपि तथा । व्यासैस्तथामानुल्लेखादिति चेत् ।

मैवम् । एकदेशिपदेत्र व्यासस्यैवैकदेशी ग्राह्यः । अन्यथाम्बुवत्सूत्रेण 'अत एवे'तिसूत्रसिद्धदृष्टान्तं न दूषयेत् । वृद्धिह्रासादिसूत्रद्वये युक्त्यन्तरं च न वदेत् । एकदेशिनामानुल्लेखस्तु जैमिन्यादिवदप्रसिद्धत्वात् । 'जीवमुख्यप्राणलिङ्गा'दित्यादिपूर्वपक्षिनामवत् । अस्मिन् सूत्रे जघन्यानामर्थेऽस्य सन्नाक्षरत्वाद्वा । अथवा । जीवप्रसङ्गे 'अवस्थितेरिति काशकृत्स्न' इति काशकृत्स्नेन जीवस्य ब्रह्मावस्थाविशेषत्वेनाङ्गीकारात् तस्य न्यायस्यापि तुल्यत्वात् स एवैकदेशी ग्राह्यः । अत एव द्वितीयस्कन्धपञ्चमाध्याये सृष्टिप्रकरणे 'सत्त्वं रजस्तम' इत्यस्य सुबोधिन्यां 'काशकृत्स्नमतमत्र सिद्धं भविष्यती'त्याचार्यैरपि तथाङ्गीकारः कृत उत्पत्त्या विमर्शविचारे इति नात्र शङ्कालेशः । एवमेकदेशिनि निश्चिते स्वशब्दो व्यासपर एव युक्त इत्यत्राप्यदोषः । नचास्य पश्चात् कथनेनास्यैव मुख्यत्वमिति शङ्क्यम् । द्वितीयस्कन्धे 'इत्थंभावेन कथितो भगवान् भगवत्तमः । नेत्थं भावेन हि परं द्रष्टुमर्हन्ति सूरय' इत्यादिभिरेतदमुख्यतायाः शुकवाक्ये व्यासचरणैरेवोक्तत्वात् । एतस्य

रश्मिः ।

श्रुतिरद्वितीयमितिश्रुतिस्तस्याः । **द्वित्वेति** । द्वितीयमित्यत्र पूरणार्थकप्रत्यय इति भावः । **प्रागिति** । **सपरीति** । चरणादिः परिकरः । श्रौतत्वादेवकारः । एवेति । अन्ययोगव्यवच्छेदकः । **निषेधगतेरिति** । अद्वितीयश्रुत्युक्तायाः । **तस्येति** । एकदेशिमतस्य । एवेति । अन्ययोगव्यवच्छेदकः । **एतत्संग्रहे** एकदेशिमतसंग्रहे । **एतस्मादिति** । प्रतिषेधसूत्रादित्यर्थः । एवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदकः । (ए)**तद्युक्तीति** । एकदेशिमतयुक्तिकथनमनेन सूत्रेणेत्यर्थः । **शङ्केति** । एकदेशिमतोपपत्त्यनावश्यकत्वशङ्का तस्या लेशः ।

१. अधिकरणमित्यर्थः ।

भाष्यप्रकाशः।

सम्मतत्वं तु जघन्याधिकारिणामर्थे एतस्यैव सुबोधत्वेनोपयोगात्। अत एवेदं मतं पूर्वमुक्तम्। यथा द्वितीयस्कन्धे राजार्थम्। किञ्च, भाववृत्तसूक्ते 'नासदासी'दित्यादिभिः सृष्टिं पूर्वमुक्त्वा, समाप्तौ 'इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न योऽस्या अध्यक्षः परमे व्योमन् सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेदे'ति सृष्ट्याधानानाधानात्मकं पक्षद्वयमुक्त्वा तस्य ज्ञानाज्ञाने आह। तेन विसृष्टिं कदाचिदाधत्ते, कदाचित् स्वतःसिद्धामेव प्रकटयति। अथवा सामान्यां करोति। लीलासृष्टिं तु स्वतःसिद्धामेवाविष्करोतीति ज्ञानाज्ञाने उभये अपि युक्ते। एतज्ज्ञापनाय सन्देहवचनम्। अन्यथा वेदस्य ब्रह्मणश्च सन्देहाभावादेवं न वदेत्। अतो लीलासृष्टिमनुसन्धाय व्यासः स्वमतं वक्ति। एकदेशिनस्तु तन्न जानन्तीति ब्रह्मणो निर्विशेषादुत्पत्तिं वदन्ति। तस्मादुपपत्तिपक्ष एव व्यासाशयगोचरः, इतर इतरस्येति दिक्।)

शङ्कराचार्यास्तु। 'न स्थानतोपी'त्यारभ्यैकादशसूत्रमेकमधिकरणं कल्पयन्ति। 'प्रकृतैतावत्त्वे'त्यारभ्य नवसूत्रमपरम्।

तत्र प्रथमे, सुषुप्त्यादिषूपाध्युपशमाज्जीवो यत् सम्पद्यते तत् ब्रह्म। 'सर्वकर्मे'त्यादिभिः सविशेषत्वश्रावणादस्थूलमित्यादिभिर्निर्विशेषत्वश्रावणाच्च किमुभयलिङ्गं ब्रह्म प्रतिपत्तव्यम्, उतान्यतरलिङ्गम्। यद्यन्यतरलिङ्गम्, तदापि किं सविशेषम्, उत निर्विशेषमिति सन्देहे, उभयलिङ्गश्रुत्यनुग्रहादुभयलिङ्गं ब्रह्मेति प्राप्ते, अभिधीयते। न स्थानत इत्यादि। परस्य ब्रह्मण उभयचिह्नत्वं स्वत उपाधितश्च न। कुतः। सर्वत्र हि। ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनपरेषु 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्यय'मित्यादिषु निर्विशेषस्यैवोपदेशादिति। 'न भेदा'दिति द्वितीये च प्रतिविद्यं ब्रह्मण आकारभेदश्रावणान्निर्विशेषाङ्गीकारे च तस्य शास्त्रस्य निर्विषयत्वापत्तेरौपाधिक आकार आदर्तव्य इत्याशङ्क्य, मधुविद्यायां प्रत्युपाधिभेदं ब्रह्मणोऽभेदश्रावणाच्च भिन्नाकारयोगो ब्रह्मणः शास्त्रीय इति। 'अपि चैवमेक' इति तृतीये च, 'मनसैवेदमाप्तव्यम्' 'नेह नानास्ति किञ्चने'ति भेददर्शननिन्दापूर्वकमभेदमेके, तथान्ये भोक्तृभोग्यादिप्रपञ्चस्य 'त्रिविधं ब्रह्ममेत'दिति ब्रह्मैकस्वभावत्वमामनन्तीति व्याख्याय, ननूभयलिङ्गासु श्रुतिषु सतीषु कथमनाकारमेव ब्रह्मावधार्यते, न पुनः साकारमिति शङ्कायाम्, चतुर्थस्यारूपवत्सूत्रस्य प्रवृत्तिमुक्त्वा, अरूपवदेव ब्रह्मावधारयितव्यम्, न रूपादिमत्। कुतः। तत्प्रधानत्वात्। 'अस्थूलमनणु,' 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्,' 'आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तत् ब्रह्म,' 'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः,' 'तदेतत् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभू'रित्यादीनां निर्विशेषब्रह्मप्रधानत्वात्, आकारलिङ्गानां चोपासनाप्रधान-

रश्मिः।

सुषुप्त्यादिष्विति[1]। आदिना सम्पत्तिसमाधी। **एवेति**। सविशेषव्यवच्छेदक एवकारः। **आकारेति**। 'चतुष्पाद्ब्रह्म' 'षोडशकलं ब्रह्म', वामनीत्वभामनीत्वलक्षणं ब्रह्म, त्रैलोक्यशरीरं वैश्वानरशब्दोदितं ब्रह्म, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मे'ति, चतुर्दशभुवनात्मकं ब्रह्मेत्येवमाकारभेदश्रावणात्। **मधुविद्यायामिति**। 'यश्चायमस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं शारीरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मे'त्यादिरूपायाम्। **अभेदेति**। पृथिव्यादीनामुपाधित्वाच्चेति भावः। **भोक्तृभोग्यादीति**। आदिना प्रेरिता। 'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वे'ति श्रुतेः। **अनाकारमेवेति**। साकारयोगव्यवच्छेदक एवकारः। **ते यदिति**। ते नामरूपे यस्यान्तरा मध्ये व्यवधायके वर्तेते तद्ब्रह्मेत्यर्थः।

१. प्रकाशमूलपुस्तके सुषुप्तादिषु, रश्मौ च सुषुप्त्यादिषु। २. स्वाप्यय।

भाष्यप्रकाशः।

त्वेन ततो निर्बलत्वादिति व्याख्यातवन्तः। ततो, ननु तर्हि आकारवद्विषयाणां का गतिरित्याशङ्कायां पञ्चमं 'प्रकाशवच्चावैयर्थ्या'दिति सूत्रमवतार्य, यथा सौर्यश्चान्द्रो वा प्रकाशो वियद् व्याप्यावतिष्ठमानोऽङ्गुल्याद्युपाधिसंसर्गादृजुवक्रादिभावं प्रतिपद्यमानेषु संसर्गिषु तदाकारतामिव प्रतिपद्यते, तथा ब्रह्मापि पृथिव्याद्युपाधिसम्बन्धात् तदाकारतामिव प्रतिपद्यते, तदालम्बनो ब्रह्मण आकारविशेषोपदेश उपासनार्थो न विरुध्यते, एवमाकारवद्ब्रह्मविषयाणामवैयर्थ्यात्। नच नोपाधियोगादप्युभयलिङ्गमिति प्रतिज्ञाहानिः। उपाधिनिमित्तस्य वस्तुधर्मत्वानुपपत्तेः। उपाधीनामाविद्यकत्वाच्चेति व्याख्याय, 'आह च तन्मात्र'मिति सूत्रं च यथावद्व्याख्याय, 'दर्शयति' सूत्रे च 'अथात आदेशो नेति नेति', 'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितात्,' 'यतो वाचो निवर्तन्ते,' 'अवचनेनैवोवाचे'ति श्रुतीः,' 'ज्ञेयं यत् तत् प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते। अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यत' इति गीतावाक्यम्, 'माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद। सर्वभूतगुणैर्युक्तं नैवं मां द्रष्टुमर्हसी'ति स्मृती उपन्यस्य परप्रतिषेधेनैव निर्विशेषं ब्रह्म प्रतिपाद्यत इत्युक्त्वा, 'अत एवे' 'त्यम्बुव'दिति सूत्रद्वयं च यथावद्व्याख्याय, 'वृद्धिह्रास'सूत्रे जलसूर्यकादिदृष्टान्तं साधितुं जलगतं सूर्यप्रतिबिम्बं जलवृद्धौ वर्धते, तद्ह्रासे ह्रसति, तच्चलने चलति, तद्भेदे भिद्यत इत्येवं जलधर्मानुविधायि भवति, न तु सूर्यस्य तथात्वमस्ति, एवं परमार्थतोऽविकृतमेकरूपमपि सद्ब्रह्म देहाद्युपाध्यन्तर्भावाद्वृद्धिह्रासादीनुपाधिधर्मान् भजत इत्येवमुक्त्वा, 'दर्शनाच्चे'ति सूत्रे, 'पुरश्चक्रे द्विपदः,' 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्ये'ति श्रुतिभ्यामुपाधिप्रवेशं ब्रह्मणो दर्शयित्वा, युक्त एवातः सूर्यकादिदृष्टान्त इत्युक्त्वा, तस्मान्निर्विकल्पैकलिङ्गमेव ब्रह्म, नोभयलिङ्गम्, न विपरीतलिङ्गं चेति सिद्धान्तमाहुः।

तत्र प्रथमसूत्रव्याख्यानमयुक्तम्। 'सर्वत्र ही'ति हेतुबोधके पदे निर्विशेषस्यैवोपदेशादित्यस्यार्थस्यासौत्रत्वेन तृतीयाध्याये वा शास्त्रे वा ईदृशस्य शब्दस्यार्थस्य च काप्यनुक्ततया अनुवृत्तेरपि कर्तुमशक्यत्वेनाभ्युपगमैकशरणत्वात्। 'अशब्दमस्पर्श'मिति विषयवाक्योत्तरार्धेऽपि, 'अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य त'मित्यनेन 'महतः पर'मित्यादिना पूर्वोक्तस्य ध्रुवस्य पुरुषस्य परामर्शेन प्राप्तायाः सविशेषताया अनादरणेन तद्विरुद्धत्वात्। निर्विशेषमेव ब्रह्मेति सिद्धान्तस्यात्रैव सिद्धव-

रश्मिः।

निर्बलत्वादिति। उपासनायाः कल्पिताकारपरत्वादिति भावः। **संसर्गिषु प्रकाशेषु**। **इति प्रतिज्ञेति**। 'न स्थानत उभयलिङ्ग'मितिसूत्रभाष्ये इति प्रतिज्ञा। **यथावदिति**। निराकारपरत्वेपि सिद्धान्तानुसारित्वाद्यथावत्। तेषां सिद्धान्ते यथावदिति वा। **परप्रतीति**। चिन्मात्रात्परप्रतिषेधेन। नेतिनेतीत्यादिना। 'मत् परं ब्रह्मे'त्यत्र मत् मत्तः ब्रह्म परमित्यर्थयोगव्यवच्छेदक एवकारः। **यथावदिति**। व्याख्यातम्। **वृद्धिह्रासादीनिति**। आदिनोक्तचलनादयः। एवकारव्यावर्त्यमाहुः **नोभयेति**। **विपरीतेति**। साकारलिङ्गमेव, न तु निराकारमित्येवम्। **निर्विशेषस्यैवेति**। परस्योभयलिङ्गमिति प्रतियोगिनिर्वचनेन सर्वत्र प्रतियोगिस्फूर्तेर्नेतिनेतीत्यादौ नञा निषेध इति तथा। **ईदृशस्येति**। निर्विशेषमात्रस्य। **अनुक्ततयेति**। किन्तु 'अस्थूलमनण्वि'त्यादिवाक्यैः प्रापञ्चिकसर्वधर्मवैलक्षण्यस्य सर्वत्र कारणत्वाद्भगवानस्तीत्यर्थस्य चोक्ततया। **निचाय्य तमिति**। तं पुरुषं निचाय्य ज्ञानकाण्डत्वाज्ज्ञात्वा। अत्र परामर्शमाहुः **महतः परमिति**। काठके 'महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गति'रित्यनेन पूर्वोक्तस्य। ध्रुवपदसामानाधिकरण्यायाहुः **ध्रुवस्येति**। 'सा काष्ठा सा परा गति'रित्यस्यार्थः। **तद्वीति**। उत्तरार्धविरुद्धत्वात्। **अत्रैवेति**। अस्मिन्सूत्र एव

भाष्यप्रकाशः ।

ग्रिमस्यारूपवत्सूत्रस्य वैयर्थ्यप्रसक्तेः । तत्र साध्यमानस्यात्र सिद्धवन्निर्देशाङ्गीकार इत्यस्याप्ययुक्तत्वाच्च । तथा, अरूपवत्सूत्रे 'तत्प्रधानत्वा'दित्यस्य निर्विशेषप्रधानत्वादिति व्याख्यानमप्ययुक्तम् । तदुपन्यस्तानां विषयवाक्यानामुपक्रमादिविचारे तथात्वस्यालाभात् । तथाहि । प्रथमं तत्रास्थूलवाक्यम् । तच्च 'कस्मिन् वा आकाश ओतश्चे'ति गार्गीप्रश्नात् प्रवृत्तम्, स्थूलत्वादीन् लौकिकान् धर्मान्निषेधत् प्रशासितृत्वाम्बरान्तधारकत्वद्रष्टृत्वादीनाकाशोपादानत्वान्तानलौकिकान् दर्शयति । अशब्दवाक्यं तु प्राग्व्याख्यातम् । आकाशवाक्यं च नामरूपनिर्वाहकत्वम् । 'दिव्यो ह्यमूर्त' इति वाक्यं चेयत्तावच्छिन्नं परिमाणं निषेधत् पुरुषं बाह्याभ्यन्तरसाहित्यं बाह्याभ्यन्तररूपत्वं वा दर्शयदक्षरात् परत्वमग्रे श्रावयति । 'तदेतद् ब्रह्मे'ति मधुविद्योपसंहारस्थमपि मधुविद्यायामुपक्रमे, 'अयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्व'मित्येवं चतुर्दशपर्यायैरभ्यस्तं सर्वत्वं मध्य उक्तं सर्वभूताधिपतित्वादिकं 'रूपं रूप'मिति मन्त्रव्याख्यानोक्तं 'अयं हरयोऽयं वै दश च सहस्राणि च बहूनि चानन्तानि चे'त्यनन्तरूपतां श्रावयतीति निर्विशेषब्रह्मप्रधानताया वक्तुमयुक्तत्वात् । नच 'तदेतद् ब्रह्मे'ति भिन्नं वाक्यं पूर्वेभ्य इति वाच्यम् । तच्छब्दात् पूर्वपरामर्शाद्विभागे साकाङ्क्षतया तदभावात् । नचेदं तच्छब्देन पूर्वोक्तरूपत्वं परामृशदप्यपूर्वमित्यनेन तन्निषेधतीति न दोष इति वाच्यम् । एवं तर्ह्यनपरमित्यनेनानन्तरत्वादीनग्रिमानपि निषेधच्छून्यवादमेव प्रसञ्जयेत् । अतोऽत्र पूर्वत्वादीनां धर्माणामेव निषेध इत्येवाङ्गीकार्यम् । तथा सति 'न शुष्केण न चार्द्रेण

रश्मिः ।

निर्धारणेनेत्येवकारार्थः । इत्यस्यापीति । इति हेतोः सूत्रस्यापि । अशब्दवाक्यमिति । काठकेऽस्ति । प्राक् । अत्रैव पूर्वम् । नामरूपेति । दर्शयदित्यनेनान्वेति । पुरुषत्वमिति । दर्शयदित्यनेनान्वेति । 'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः' इत्यत्र बाह्याभ्यन्तराभ्यां समानः सह वेति विग्रहे आहुः बाह्याभ्यन्तरेति । सः बाह्याभ्यन्तरः इति पदद्वयमित्याहुः बाह्याभ्यन्तरेति । श्रावयतीति । 'अक्षरात्परतः परः' इति श्रुत्या श्रावयति । सर्वभूतेति । आदिना राजत्वसमर्पितत्वे । 'स वा अयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिः सर्वेषां भूतानाꣳ राजा तद्यथा रथनाभौ रथनेमौ चाराः सर्वे समर्पिता एवमेवास्मिन्नात्मनि सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि सर्व एत आत्मानः समर्पिता' इति श्रुतिः । रूपं रूपमिति । 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय । इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दशेत्ययं वै हरय'इत्यादि । युक्ता इति । रथयुक्तवाजिवत् अस्य इन्द्रस्य परमात्मनः रथस्थानीये आकाशे शरीरे युक्ताः गोविन्दं स्वविषयान्प्रति हरन्तीति हरयः इन्द्रियाणि, शता शतानि, नित्यलीलास्थभक्तेन्द्रियाभिप्रायेण दश प्राणाः, प्राणानामिन्द्रियपदवाच्यत्वात् । मन्त्रः समाप्तः । नित्यलीलास्थगोपीजनवल्लभ उक्तः । लीलायां भेदवारणाय मन्त्रव्याख्यानं प्रकाशे । अयं वा इति । अयं परमात्मा । अत्र श्रुतिश्छान्दोग्ये 'आत्मत आविर्भावतिरोभावा'विति सर्वात्मभावप्रकरणश्रुतेः । पूर्वेभ्य इति । चतुर्दशपर्यायेभ्यः । तदभावादिति । 'अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकाङ्क्षं चेद्विभागे स्या'दिति जैमिनिसूत्रेणैकवाक्यत्वे भिन्नवाक्यत्वाभावात् । पूर्वोक्तेति । 'अयमेव स योयमात्मे'ति पूर्वोक्तरूपत्वम् । अपूर्वमिति । 'तदेतद्ब्रह्म' इत्यस्या अग्रे 'अपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्यनुशासन'मित्यस्यामपूर्वमित्यनेनेत्यर्थः । न दोष इति । सधर्मकत्वदोषो न । शून्यवादमेवेति । अन्ययोगव्यवच्छेदक एवकारः । द्वितीयस्कन्धनवमाध्यायेपि कारणत्वाङ्गीकारात् साकारत्वाङ्गीकाराच्च । एवेति । पूर्वोक्तरूपत्वानन्तरत्वादियोगव्यवच्छेदकः ।

भाष्यप्रकाशः ।

जहार नमुचेः शिर' इत्यत्र यथोभयात्मकस्य फेनस्याशुष्कत्वमनार्द्रत्वम्, एवमत्राप्येकैकतन्निषेधेन सर्वात्मकमेव बोध्यत इत्येव युक्तम् । अत एव गजेन्द्रस्तुतौ 'स वै न देवासुरमर्त्यतिर्यङ् न स्त्री न षण्ढो न पुमान्न जन्तुः । नायं गुणः कर्म न सन्न चासन्निषेधशेषो जयतादशेष' इत्यशेषत्वमुक्तम् । तथा शुकैरपि 'एवं गजेन्द्रमुपवर्णितनिर्विशेषं ब्रह्मादयो विविधलिङ्गभिदाभिमानाः । नैते यदोपससृपुर्निखिलात्मकत्वात् तत्राखिलामरमयो हरिराविरासी'दिति निर्विशेषस्य निखिलात्मकत्वं बोधितम् । तथात्राप्यन्ते 'सर्वानुभू'रिति श्राव्यते । सर्वसत्त्वे एव सर्वानुभवितृत्वसम्भवादिति । नचेदं प्रलये न सम्भवतीति वाच्यम् । को नाम प्रलयः । ध्वंसो वा, प्रतिसञ्चरो वा । नाद्यः । असत्कार्यवादप्रसङ्गात् । द्वितीयश्चेत्, अस्मदाद्यगोचरत्वेपि सर्वं ब्रह्मगोचरोऽस्त्येवेति नासम्भवः । वस्तुतस्त्वखण्डब्रह्मवादे अस्मदाद्यगोचरत्वमेव प्रलयः, क्रमेण वा युगपद्वा तद्गोचरत्वमेव सृष्टिरितीच्छया समर्थनान्न कश्चिद्दोषः । एवमेवास्थूलादिवाक्योक्तनिषेधस्थलेपि बोध्यम् । अत उपासनाप्रधानानामाकारलिङ्गानामपि श्रुतीनां तत्तदाकारमात्रलिङ्गत्वेन प्रतीकत्वादेव निर्बलत्वं शङ्क्यताम्, न त्वाकारलिङ्गत्वादित्यपि बोध्यम् । यदपि प्रकाशवत्सूत्रे उपाधियोगादपि नोभयलिङ्गमिति प्रतिज्ञोपपत्त्यर्थमुपाधिनिमित्तस्य न वस्तुधर्मत्वमुपाधीनां चाविद्यकत्वमित्युक्तम् । तदपि तथा । नैमित्तिके घृतद्रवत्वादौ व्यभिचारेण उपाध्याविद्यकतायाश्च 'न विलक्षणत्वा'धिकरणे दूषितत्वेन चाप्रयोजकत्वात् । एवं दर्शयतिसूत्रे निर्विशेषब्रह्मप्रतिपादकत्वेन यानि

रश्मिः ।

उभयेति । शुष्कार्द्रोभयरूपस्यापां फेनस्य । एवेति । एकैकपूर्वत्वादियोगव्यवच्छेदक एवेति । इत्येवेति । न शुष्केणेत्यादिदृष्टान्तोक्तेरेवेति । अत एवेति । एकैकनिषेधेन सर्वात्मकत्वबोधकत्वादेव । अशेष इति । न विद्यते शेषः एकैकधर्मो यस्य, किन्तु सर्वे धर्माः । एवेति । 'न यत्र माये'ति वाक्यादेवकारः । प्रतिसञ्चर इति । प्रतिकूलः सर्वगोचरत्वप्रतिकूलः सर्वागोचरः । अस्त्येवेति । अयोगव्यवच्छेदकैवकारः । नीलं सरोजं भवत्येवेत्यत्रेव । 'पूर्ववद्वे'ति सूत्रोक्तपश्चा'दहं' 'यथेदानीं तथा चाग्रे पश्चादप्येतदीदृशम् । तदेतदक्षय'मिति वाक्यसञ्चारेण प्रलयलक्षणमाहुः वस्तुत इति । एवेति । उक्तवाक्येभ्यः । 'तस्माद्वा एतस्मादि'ति क्रमेण वा, 'तदात्मानꣳ स्वयमकुरुते'ति युगपद्वा । तद्गोचरत्वमस्मदादिगोचरत्वम् । 'लोकद्वारा व्यवहार्यो भविष्यामीती'च्छाकारादेवकारः । इतीच्छयेति । अस्मागोचरत्वमेव प्रलयोस्तु, तद्गोचरत्वमेव सृष्टिरस्त्वितीच्छया । कश्चिदिति । सर्वानुभवितृत्वं दोषः, प्रलयो न संभवतीति दोषः । एवमेवेति । पूर्वोक्तप्रकारेण एकैकनिषेधेन सर्वात्मकत्वबोधत्वरूपेण । एवकारोऽन्तरङ्गबहिरङ्गन्यायेन । कल्पितः स्वल्पापेक्षः । अकल्पितोऽत्र भिन्नप्रकारो बहुपेक्षो बहिरङ्गः । अस्थूलेति । स्थूलभिन्नस्थूलसदृशमित्यत्र भेदप्रतियोगिन्यपि बोध्यमित्यर्थः । अत इति । अस्या उपपत्तेः । श्रुतीनामिति । 'चतुष्पाद्ब्रह्म' 'षोडशकलं ब्रह्मे'त्याद्युक्तानाम् । प्रतीकत्वादेवेति । प्रतीकत्वात् एकैकरूपस्य सर्वात्मकावयवत्वात् । एवेति । अवधारणेन निर्बलत्वं शंक्यताम् । अभीष्टे लोट् । नतूपासनाप्रधानत्वादिति भावः । तेषां नित्यत्वान्नत्वाकारलिङ्गत्वादित्यपि बोध्यमित्यर्थः । उपाधिनिमित्तस्येति । मायाया निमित्तस्याकस्मिकस्य । उपाधिर्निमित्तं यस्य सविशेषस्येति वा तथेत्यप्रयोजकस्य । नैमित्तिक इति । ननु सांसिद्धिके जलद्रवत्वादौ वस्तुधर्मत्वाभावस्य व्यभिचारेण । द्वितीयं हेत्वन्तरमाहुः उपाधीत्यादिना । दूषितत्वेनेति । द्वितीयाध्यायचतुर्थे 'न ह्यत्र किञ्चनानुभूयते नाविद्यानुभवात्मनि स्वप्रकाशे सर्वसाक्षिण्यविक्रियेऽद्वय' इति । अग्रे च 'अत एतस्य सतः आद्यन्ताव-

भाष्यप्रकाशः ।

वाक्यान्युक्तानि, तेष्वपि 'अथात आदेश' इति वाक्यं तु न निर्विशेषप्रतिपादकमिति दर्शयतिसूत्रभाष्यव्याख्यान एव दर्शितम् । विदिताविदितवाक्यं तु तदुभयभिन्नत्वमेव वदति, न तु विशेषान्निषेधति । अथान्यत्वादिकथनमुखेन निषेधति, तदा लौकिकानेव निषेधति । तावतैव चारितार्थ्यम्, न तु स्वरूपात्मकानपि । 'तदेतद् ब्रह्मे'त्यादिश्रुतिविरोधप्रसङ्गात् । 'यतो वाच' इति वागाद्यप्राप्यत्वमेव वदतीत्यनिरुक्तश्रुतिसमानार्थम्, न तु विशेषनिषेधकमित्यपि प्रागेव व्युत्पादितम् । 'अवचनेनैवोवाचे'त्यपि 'यतो वाच' इत्येतस्य समानार्थकम् । लौकिकसर्वधर्मराहित्यादेवोपशान्तत्वसिद्धेरिति । 'न सत्तन्नासदुच्यत' इति गीतावाक्यमपि व्याकृताव्याकृतयोरेव निषेधकमिति लौकिकनिषेधपरमेव । 'सर्वतःपाणिपादान्त'मित्यग्रिमवाक्येन तथा निश्चयात् । सर्वतःपाणिपादत्वादेः क्वापि लौकिके अदर्शनादिति । 'माया ह्येषे'ति वाक्यमपि सर्वभूतगुणयुक्तदर्शननिषेधाभिप्रायकमिति तत्रैव स्फुटतीति न सार्वात्म्यबाधकम्, अतस्तत्सूत्रव्याख्यानमपि तथा । एवं

रश्मिः ।

स्याविचारे यत्किमपि कार्यमविद्या च तत्सत्त्वेनैवानुभूयते, नतु प्रतिनियतेन तेन तेन रूपेणातो विजातीयद्वैतस्याप्यभावाच्छुद्धाद्वयसिद्धिरित्यर्थ इति' सन्दर्भे दूषितत्वेन, प्रयोजकहेतुत्वाभावात् । व्याख्यान एवेति नान्यत्रेत्येवकारः । **तदुभयेति** । विदिताविदितोभयभिन्नत्वमन्यदेवेत्यत्र भिन्नार्थकान्यशब्दप्रयोगात् । भिन्नवाचकपदसत्त्वाविशेषनिषेधवाचकपदाभावादेवकारः । **विशेषानिति** । द्वितीयान्तम् । **अथेति** पदार्थभिन्नप्रक्रमे । **अन्यत्वादीति** । आदिना विदितत्वाविदितत्वे । मुखमुपायः । **निषेधतीति** । विदितादन्यत् अविदितादन्यदित्युक्ते विदिताविदितप्रतियोगिकभेदवत्प्रतीतेः विदितत्वाविदितत्वरूपसामान्यधर्मनिषेध इति निषेधतीत्यर्थः । **एवेति** । प्रक्षालनपङ्कन्यायात् । **श्रुतिविरोधेति** । तत्स्थसर्वानुभूपदविरोधप्रसङ्गादित्यर्थः । **वागादीति** । आदिना मनः । एवकारोऽन्यस्य सविशेषत्वस्य योगव्यवच्छेदकः । नतु निर्विशेषत्वं वदतीत्यर्थः । किञ्च । **अनिरुक्तेति** । निरुक्तत्वे प्राप्तेऽनिरुक्तत्वं विरुद्धधर्माधारत्वार्थम् । तद्वद्वाक्प्राप्यत्वे प्राप्ते वाङ्निवृत्तिर्विरुद्धधर्माधारत्वार्थमित्यनिरुक्तश्रुतिसमानार्थमित्यर्थः । **प्रागेवेति** । **अवचनेति** । वचनेनोवाचेति प्राप्ते अवचनेनोवाचेति विरुद्धधर्माश्रयत्वाय । अवचनेन वचनविरुद्धवचनेन । परस्परं विरुद्धवचनेनेति यावत् । **विरोधो नञर्थ** इति । अत एवकारः । विरुद्धधर्माणामन्याभिर्निश्चयात् । **एवेति** । नत्वलौकिकसर्वधर्मराहित्यमुपशान्तत्वसिद्धिरपेक्षत इत्यर्थः । उपशान्तत्वं त्वेवम् । बाष्कलिना च राज्ञः पृष्टः सन् 'अवचनेनैव ब्रह्म प्रोवाचे'ति श्रूयते 'स होवाचाधीहि भगवो ब्रह्मेति । स तूष्णीम्बभूव, तं ह द्वितीये तृतीये वा वचन उवाच क्रमः खल त्वं न विजानासि उपशान्तोऽयमात्मे'ति । स ह बाष्कलिर्ह प्रसिद्धः । हे भगवन् पृष्टः सः पृष्टः । तं तूष्णीभूतं पृष्टे प्रति द्वितीय इति । प्रश्ने वचने, पृष्ट उवाच, क्रमः क्रमेण । सुपांसुः । हे खल, त्वं तु ब्रह्म न विजानासि, उपशान्तः लौकिकसर्वधर्मरहितः । यथा शान्तो वह्निर्भस्मात्मा । **व्याकृतेति** । लक्षणया सदसदर्थयोः । **एवेति** । समाकर्षाधिकरणादेवकारोयम् । तत्र शब्दाः स्वार्थात्प्रच्याव्यन्त इति । **लौकिकेति** । लौकिकसर्वधर्मनिषेधपरम् । श्रुत्येकवाक्यतासम्भवादेवकारः । **इत्यग्रिमेति** । अलौकिकसर्वधर्माणां सर्वतः पाणिपादान्तत्वादीनां बोधकेन । **तथेति** । लौकिकनिषेधपरत्वेन निश्चयात् । **सर्वत** इति । आदिना सर्वतोक्षिशिरोमुखत्वम् । **तत्रैवेति** । वाक्य एव, नत्वन्यत्र, 'नैवं मां द्रष्टुमर्हसी'त्यंशेन स्फुटतीत्यर्थः । **न सार्वात्म्येति** । परिच्छेदेन सर्वात्मत्वधर्मबाधकम् । एतादृशधर्मोपादानं जीवपरत्वेन प्रतीतानां ब्रह्मपरत्वप्रतिपादनाय । **अत** इति । सार्वा-

भाष्यप्रकाशः ।

वृद्धिह्राससूत्रे जलवृद्धिह्रासाभ्यां प्रतिबिम्बवृद्धिह्रासकथनमपि तथा । भूयसि स्वल्पेपि च जले सूर्यादिप्रतिबिम्बस्य तुल्यताया एव ग्रहणात् । अतोत्राकाशदृष्टान्तेन धर्माणामौपाधिकत्वसमर्थनमेव युक्तम्, न तु जलसूर्यदृष्टान्तसमर्थनमित्यवधेयम् ।

यत्तु भामत्यामेतत्तात्पर्यमुक्तम् । उपाधिजनितस्य रूपस्य पारमार्थिकत्वे ब्रह्मणः परिणामिभावः । स च प्राक्प्रतिषिद्ध इत्यपारमार्थिको ब्रह्मण्यध्यस्त इति । निर्विशेषप्रतिपादनार्थत्वाच्छ्रुतीनाम् । सविशेषतायामपि मधुविद्यायां 'यश्चायमस्यां पृथिव्या'मित्यादिभिर्ब्रह्मैकत्वप्रतिपादनपरत्वात् । एकत्वनानात्वयोश्चैकस्मिन्नसम्भवात् । एकत्वाङ्गत्वेनैव नानात्वप्रतिपादनपर्यवसानात् । नानात्वस्य प्रमाणान्तरसिद्धत्वेनानुवाद्यत्वादेकत्वस्य चानधिगतेर्विधेयत्वोपपत्तेः । भेददर्शननिन्दया च साक्षाद्भूयसीभिः श्रुतिभिरभेदप्रतिपादनात् । आकारवद्ब्रह्मविषयाणां च कासाञ्चिच्छ्रुतीनामुपासनापरत्वम्, तथासति बाधकेऽन्यपराद्वचनात् प्रतीयमानमपि गृह्यते । यथा देवतानां विग्रहवत्त्वम् । सन्ति चात्र साक्षाद्द्वैतापवादेनाद्वैतप्रतिपादनपराः शतशः श्रुतयः । कासाञ्चि

रश्मिः ।

त्म्यात् । परस्याक्षरात्परस्य प्रतिषेधेनैव निर्विशेषं ब्रह्म प्रतिपाद्यत इतिव्याख्यानमपि तथा नाम शिथिलम् । **एवेति** । प्रत्यक्षादेवकारः । **अतोत्रेति** । भूयसि स्वल्पेपि च जले सूर्यादिप्रतिबिम्बस्य तुल्यतायाः । **आकाशेति** । घटाकाशः स्वल्पः, गृहाकाशो महान् इत्येवमाकाशदृष्टान्तेन घटीयाकाशगृहाकाशत्वादिधर्मवत्, ब्रह्मधर्माणां सर्वकर्तृत्वसर्वकामत्वादीनां मायिकधर्मत्वमौपाधिकत्वं तत्समर्थनमित्यर्थः । स्वयं परमार्थतोऽविकृतमेकरूपमिति । **एवेति** । एतद्व्यवच्छेद्यमाहुः **न त्विति** । **अम्बुवत्सूत्रेण** दृष्टान्तस्यायुक्तत्वमुक्त्वा वृद्धिह्राससूत्रेण च जलसूर्यदृष्टान्तसमर्थनम् । **एतत्तात्पर्यमिति** । जलसूर्यदृष्टान्ततात्पर्यम् । **प्रागिति** । अरूपवत्सूत्रे । **अपारमार्थिक** इति । मायिकः । **सविशेषेति** । सविशेषपरतायाम् । विरुद्धधर्माधारप्रतिपादनपरत्वमस्त्वित्याशङ्क्याह **एकत्वेति** । मूर्तामूर्तब्राह्मणे निषेधशेषत्वेन प्रतियोगिमूर्तामूर्तनिरूपणेप्यारोपापवादादाहुः **एकत्वाङ्गेति** । **एवेति** । प्रतियोगिनोऽभावशेषत्वम्, न त्वभावस्य प्रतियोगिशेषत्वमित्येवकारः । किञ्च । **नानात्वस्येति** । **प्रमाणान्तरेति** । प्रत्यक्षेण सिद्धत्वेन । सिद्धस्य कथनमनुवाद इत्यनुवाद्यत्वात् । **अनधिगतेरिति** । लोके बोध्यम् । तथाच लोकेऽनधिगतार्थगन्तृत्वरूपप्रमाणस्यैकत्वात्मकांशे सत्त्वादनूद्यांशस्यार्थवादत्वान्निर्विशेषप्रतिपादने पर्यवसानमिति भावः । **भेदेति** । 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यती'ति भेददर्शननिन्दया । **श्रुतिभिरिति** । 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभू'दित्यादिभिः । **आकारवदिति** । 'चतुष्पाद्ब्रह्मे'त्यादीनाम् । **तथेति** । उपासनापरत्वं च असति बाधके उपदेशादिपरत्वरूपे अन्यपराद्वचनादुपदेशादिपरा 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इत्येकादशपदात्, यद्वा पञ्चपदात् वाक्यात् । जीवात्मैक्यपरमपीदम् । तथाच नेदमुपासनापरम् । उपदेशपरत्वस्य ऐक्यपरत्वस्य च बाधकस्य सत्त्वात् । यत्र 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' 'आत्मेत्येवोपासीते'त्यादौ तु बाधकाभावः, अन्यपरवचनाभावात् । किञ्चोभयत्र प्रतीयमानः शक्यार्थोपि गृह्यते । सामान्ये नपुंसकम् । **प्रतीयमानमिति** । देवताविग्रहश्रुतिः पूर्वतन्त्रेऽस्ति । तत्र प्रतीयमानं विग्रहवत्त्वम् । **शतश इति** । यथा 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यती'ति 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्ये'दित्यादि । श्रुतयः सतं व्याख्यानद्वारा श्रुतीर्ददातीति शतशः सन्ति । **कासाञ्चिदिति** । 'आत्मेत्येवोपासीत' 'आत्मानं लोकमुपासीत' 'तज्जलानिति शान्त उपासीत'इत्यादीनां कर्मकर्तृरूपेण द्वैताभिधायिनीनाम् ।

भाष्यप्रकाशः।

द्वैताभिधायिनीनां तत्प्रलयपरत्वम्। तस्मान्निर्विशेषमेकरूपं चैतन्यैकरसं सत् ब्रह्म परमार्थतः। विशेषाश्च सर्वगन्धत्ववामनीत्वादय उपाधिवशादस्ता इति सिद्धमिति।

तदप्यसङ्गतमेव। ब्रह्मणः परिणामिभावस्य श्रुतिषु सूत्रेषु च प्रतिषेधादर्शनात्। 'बहु स्यां प्रजायेये'ति, 'स आत्मानं स्वयमकुरुते'त्यादिश्रुतिषु, 'आत्मकृतेः परिणामा'दित्यादिषु सूत्रेषु च तद्विपरीतस्य विधानस्यैव दर्शनाच्च। नच वाचारम्भणवाक्यं विकारस्य वाङ्मात्रताकथनमुखेन तदभावमेव बोधयत् प्रतिषेधतीति शक्यवचनम्। तत्र तत्कथनमुखेन कारणाभिन्नत्वबोधनस्यैव भगवता सूत्रकारेणादृततया स्वयमन्यथादर्तुमयुक्तत्वात्। तदनादृत्यादरे तु 'वाचारम्भणं विकारो मृत्तिकैव सत्य'मित्येतावतैव चारितार्थ्येन, इतिशब्दनामधेयपदयोर्वैयर्थ्यस्य दुर्वारत्वमित्यादिकं तदनन्यत्वसूत्रभाष्यविभाग एव विवृतमिति न पुनः प्रपञ्च्यते। अतो निर्विशेषप्रतिपादनार्थत्वं यच्छ्रुतीनामङ्गीकृतम्, तदप्यभिमानमात्रमेवेति प्रागेवोपपादितम्। एकत्वनानात्वयोरेकत्रासम्भवस्तु 'इदं सर्वं यदयमात्मा' 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूपं विश्वं पुराणं तमसः परस्ता'दित्यादिश्रुतिभिरेवोदस्त इति तस्य निर्विशेषतासाधनादरः श्रुतिप्रद्वेषादेव। एकत्वाङ्गत्वेन नानात्वप्रतिपादनं त्विष्टमेव, परन्तु तन्न नानात्वस्यापोद्यत्वाय, अपि त्वभेदस्य भेदविरुद्धसम्पत्त्वबोधनायेत्यप्युक्तपूर्वम्[1]। नानात्वस्य प्रमाणान्तरसिद्धत्वं तु लौकिकस्यैव, न तु ब्रह्मधर्मभूतस्यैकत्वाविरोधिनः। तादृशस्य

रश्मिः।

अन्येति। चक्षुरवेद्यत्वात्। तथाच नार्थवादत्वमिति भावः। **तस्येति**। नानात्वस्य। 'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मण' इति श्रुत्या तस्य भेदस्य प्रलयपरत्वम्। 'प्रज्ञां कुर्वीते'त्यस्य दृशिमात्रं ब्रह्म कुर्यात्प्रपञ्चप्रविलायनेनेत्यर्थात्। **उपाधीत्यादि**। अन्यत्राप्रसिद्धानामध्यस्तत्वं प्रमात्। **इत्यादिष्विति**। सूत्राणि तु समन्वयादित्यादीनि द्रष्टव्यानि। **तद्विपरीतस्य** प्रतिषेधविपरीतस्य। **एवेति**। प्रतिषेधयोगव्यवच्छेदक एवेति। **तदभावमेवेति**। परिणामिभावस्य प्रतिषेधम्। एवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदकः। **प्रतीषेधतीति**। ब्रह्मणः परिणामिभावं प्रतिषेधति। **एवेति**। स्वसिद्धान्तभाष्यादेवकारः। **तदिति**। भाष्यम्। **तदनन्येति**। विभागो व्याख्यानम्। एवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदकः। **एवेति**। ननु श्रुत्यन्तरदूषणेन प्राप्तम्। **प्रागेवेति**। तदनन्यत्वाधिकरणे। एवकारोऽधिकरणान्तरयोगव्यवच्छेदकः। **एवोदस्त इति**। निर्धारणेनोदस्तः। एकात्मत्वविधानेन तमःपरत्वेन चोदस्तः। **श्रुतिप्रेति**। श्रुतीनामक्षरमात्रान्यथाऽप्रतिपादकत्वेन विरुद्धधर्माश्रयत्वे लोकविरोधात्प्रद्वेषः, आलोचनयुक्त्यभावात्, दुरूहे जिज्ञासोदयात्। अनुभवादेवकारः। **इष्टमेवेति**। नानात्वं विना सात्त्विकज्ञानेनैकत्वज्ञानानुदयादिष्टम्। **एवेति**। एकत्वस्याष्टादशाध्यायगीतयोपबृंहणादेवकारः। विरुद्धधर्माधारप्रकरणादाहुः **परन्त्विति**। **तन्नेति**। एकत्वं न। अभेदस्य एकत्वस्य भेदो नानात्वं तद्विरुद्धत्वसम्पत्त्वबोधनाय। **पूर्वमिति**। प्रकाशाश्रयवत्सूत्रे। **प्रमाणान्तरेति**। प्रत्यक्षसिद्धत्वम्। एवकारव्यवच्छेद्यमाहुः **नत्विति**। **तादृशस्येति**। नानात्वस्य। तादृशशब्दो रूढः। अवयवार्थो नास्ति। कुत्र रूढ इति चेत्। तत्पूर्वोक्तमेकत्वाविरोधित्वं दृश्यते यत्र तत्र। योग इति चेत्, वैदिकेस्तु, तल्लोके रूढ्यर्थं गृह्यते। योगस्तु तमिवेमं पश्यन्ति जना इति। बहुव्रीहिप्रसङ्ग इति चेत्,

१. मुद्रितभामत्यामध्यस्ता इति पाठ उपलभ्यते, श्रीहस्ताक्षरपुस्तके तथैव कैश्चित् शोधितः, तथापि भाष्यप्रकाशकाराणां त्वयमेव पाठः संमत इति 'विशेषाणामस्तते' तिफक्किकया प्रतिभाति, अतो यथोपलब्ध एव पाठोऽत्रादृत इति। स्वारस्यस्य तस्मिन्नेव रक्षणादिति।

भाष्यप्रकाशः।

स्वरूपान्तःपातितया श्रुत्येकगम्यत्वेनान्यावेद्यत्वात्। अतस्तस्यानुवाद्यताङ्गीकारोपि स्वमनस्तोषणायैवालम्, न तु व्याख्येयसमर्थनाय। भेददर्शननिन्दा तु घटपटादिवत् तात्त्विकभेददर्शनपरा, न त्वैच्छिकतत्परा। अन्यथा 'इव'शब्दवैयर्थ्यप्रसङ्गादित्यपि 'अपिचैवमेक' इति सूत्रव्याख्यान एव दर्शितमिति न तयापि विशेषप्रतिषेधसिद्धिः। साक्षाद्द्वैतापवादेनाद्वैतप्रतिपादनपरत्वमपि श्रुतीनामस्मद्रीत्या, न तु युष्मद्रीत्येत्युपासनापराभ्योपि देवताविग्रहवद्ब्रह्मण आकारादिग्रहणेपि न किञ्चिद्बाधकम्। अतो विशेषाणां नास्तता, अपि तु निर्विशेषमात्राभ्युपगन्तृणामेवास्ततेति बोध्यम्।

यत्पुनः, प्रकृतैतावत्त्वसूत्रमारभ्य नवसूत्रमधिकरणम्। तत्र त्वारम्भ एव 'द्वे वा व ब्रह्मणो रूपे' इति मूर्तामूर्तब्राह्मणं विषयवाक्यत्वेनोपन्यस्य, तच्च व्याख्याय, 'नेति नेती'ति निषेधस्य किं रूपद्वयं ब्रह्म च विषयः, उत रूपद्वयमेव वा, ब्रह्मैव वेति सन्देहे, नञ्द्वयाद्रूपद्वयं ब्रह्म च, अथवा ब्रह्मणः प्रमाणान्तरागोचरत्वाद्ब्रह्मैव वा विषय इति पूर्वपक्षे, रूपद्वयमेव निषिध्यते, न ब्रह्म, रूपब्रह्मणोर्निषेधे शून्यवादप्रसङ्गात्। 'ब्रह्म ते ब्रवाणी'त्युपक्रमस्य 'असन्नेव स भवती'ति निन्दायाः 'अस्तीत्येवोपलब्धव्य' इत्यवधारणस्य च विरोधेन तन्निषेधस्यानुपपन्नत्वात् सर्ववेदान्तकोपप्रसङ्गाच्च। तस्माद्रूपद्वयं प्रतिषेधति, ब्रह्म तु परिशिनष्टीति। तदेतदाह। प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधतीति। प्रकृतं यदेतावता परिच्छिन्नं मूर्तामूर्तलक्षणं ब्रह्मणो रूपं तदेष शब्दः प्रतिषेधति। तद्धि प्रकृतम्। प्रपञ्चितं च पूर्वस्मिन् ग्रन्थे अधिदैवतमध्यात्मं च। तज्जनितं च वासनालक्षणम-

रश्मिः।

तत् दृश्यत इति पदद्वयं तादृश इति प्रयोगे यत्रेति तु स्पष्टार्थम्। **स्वरूपान्तरिति**। 'अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थित'मिति गीतायाः। **तोषणायैवेति**। 'नमःस्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगाच्चे'ति सूत्रेणालंयोगे चतुर्थी। **व्याख्येयेति**। नानात्वा[illegible]दनेकत्वसमर्थनाय। अतो विरुद्धधर्माधारत्वमर्थवादत्वाभावात्सुस्थिरमिति भावः। ननूक्ताया भेददर्शननिन्दायास्तादृशेष्ववतारात्स्वरूपान्तःपातित्वं कथमिति चेत्, तत्राहुः **भेददर्शनेति**। **घटपटेति**। घटपटयोः कुड्यकुसूलयोरिव। **षष्ठ्यन्तावृत्तिः**। **इवशब्देति**। 'य इह नानेव पश्यती'त्यत्रेवशब्दः। **एवेति**। नत्वन्यत्रेत्यर्थः। **दर्शितमिति**। इत्यनेन प्रकारेण। **तया** भेदनिन्दया। **विशेषेति**। स्वरूपान्तःपातिनानात्वरूपविशेषप्रतिषेधसिद्धिः। **अस्मद्रीत्येति**। विरुद्धधर्मप्रतिपादनरीत्या। **युष्मद्रीत्येति**। आरोपापवादसङ्गत्या। **आकारेति**। आदिनोपासना। शक्यार्थत्वेनाकाराणामुपासनानां च ग्रहणम्। **विशेषाणामिति**। सर्वकर्मसर्वकामत्वादीनाम्। **एवेति**। एकदेशिमतादरणेनास्तता। तादृशमनोभावेन वागस्तात्। **एवेति**। ब्रह्मयोगव्यवच्छेदकः। **ब्रह्मैवेति**। रूपद्वयव्यवच्छेदकैवकारः। **सर्ववेदान्तेति**। वेदान्तेषु प्रवृत्त्यभावात्कोपः। शून्यवादे फलाभावात्। **परीति**। परिशेषं करोति। **शब्द इति**। नञ्शब्दः। **पूर्वस्मिन्निति**। मूर्तामूर्तप्रतिपादनोत्तरग्रन्थे। **चेति**। प्रकृतमित्यन्वयः। 'इत्यधिदैवतम्'। 'अथाध्यात्म'मिति श्रुतिभ्याम्। **तज्जनितमिति**। अमूर्तजनितम्। मूर्तस्य तु एष तपति स रसः। वासनात्यक्तपूर्वापरानुसन्धानं पदार्थादानम्। **अमूर्तेति**। अमूर्तस्य वासनारूपरसभूतो यः पुरुषस्तस्य प्रतिपादको यः शब्दः तेनोदितमुक्तम्। उपादेये वासनाशब्दो लाक्षणिकः। तस्यैतस्यामूर्तस्य। 'एतस्यामृतस्यैतस्य स्थितस्यैतस्यैव सत्यस्यैव रसो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषरूपस्त्यस्य ह्येष रस इत्यधिदैवत'मिति श्रुतिः। त्यस्य सत्यपदैकदेशस्य त्याक्षरार्थस्येत्यर्थः। य एतस्मिन्मण्डले पुरुषः कारणात्मको[1] हिरण्यगर्भो

१. तत्त्वात्मकः।

भाष्यप्रकाशः।

परं रूपममूर्तरसभूतपुरुषशब्दोदितं लिङ्गात्मव्यपाश्रयं माहारजनाद्युपमाभिर्दर्शितम् । तदेतत् सप्रपञ्चं ब्रह्मणो रूपं सन्निहितावलम्बनेनेतिकरणेन प्रतिषेधकनञ्[1] प्रत्युपनीयत इति गम्यते । ब्रह्म तु रूपविशेषणत्वेन षष्ठ्या निर्दिष्टं पूर्वस्मिन् ग्रन्थे, न तु स्वप्रधानत्वेन । प्रपञ्चिते च रूपद्वये रूपवतः स्वरूपजिज्ञासायामिदमुपक्रान्तं 'अथात आदेशो नेति नेती'ति । तत्र कल्पितरूपप्रत्याख्यानेन ब्रह्मणः स्वरूपावेदनमिदमिति निर्णीयते । नच स्वरूपद्वयं स्वयमेवोक्त्वा स्वयमेव निषेधे 'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्ये'ति न्यायेनाकथनमेव युक्तं स्यादिति शङ्क्यम् । एतस्य रूपद्वयस्य लोकप्रसिद्धस्य ब्रह्मणि कल्पितत्वेन प्रतिषेध्यत्वाय शुद्धब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनाय च तत्परामर्शेन कथनस्य युक्तत्वात् । द्वौ चैतौ निषेधौ यथासंख्यं मूर्तामूर्ते प्रतिषेधतः । यद्वा । पूर्वप्रतिषेधो भूतराशिं निषेधति, उत्तरस्तु वासनाराशिम् । अथवा, 'नेति नेती'ति वीप्सा । तत्र 'इती'ति यावत्किञ्चिदुत्प्रेक्ष्यते, तत्सर्वं 'ने'त्यनेन निषिध्यते । परिगणितनिषेधे हि क्रियमाणे यदि नैतद्ब्रह्म, किमन्यत् ब्रह्म भवेदिति जिज्ञासा स्यात् । वीप्सायां तु सत्यां समस्तविषयजातस्य प्रतिषेधात् अविषयः प्रत्यगात्मा

रश्मिः।

विराडात्मा एतच्चाधिदैविककारणात्मकस्य ब्रह्मणो रूपम् । निश्चयपूर्वकं पुनराह त्यस्य ह्येष इति । त्यमित्युक्तस्य हि निश्चयेन एष रसः रसशब्दप्रतिपाद्यः सारः वासनेत्यावृत्तिः । एवमुक्तमाधिदैविकं विभागमुपसंहरति स्म अधिदैवतमिति । लिङ्गात्मेति । 'तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपम् । यथा माहारजनं वासो यथा पाण्ड्वाविकं यथेन्द्रगोपो यथाग्न्यर्चिर्यथा पुण्डरीकं यथा सकृद्विद्युतꣳ सकृद्विद्युतेव ह वा अस्य श्रीर्भवति य एवं वेदे'ति श्रुतिः । अत्र तस्याधिदैविकस्य ह एतस्याध्यात्मिकस्य लिङ्गपुरुषस्य आत्मनीत्यध्यात्मं तत्सम्बन्धिन इत्यर्थात् । मनसो वासनामयं रूपम् । यथा लोके महारजनं हरिद्रा तया रक्तं माहारजनं वासः वस्त्रम् । 'तेन रक्तं रागादि'ति सूत्रेणाण् । एवं स्त्र्यादिविषयसंयोगे सति । तादृशं रञ्जनाकारमुत्पद्यते । तथा चाविरिदमाविकम् । ऊर्णादि यत्पाण्डुरम् । तथान्यद्वासनारूपं लिङ्गस्य जायते । तथा चेन्द्रगोपः वर्षाकालीनकीटविशेषः कौसुम्भवदत्यन्तरक्तो भवत्येवमेवास्य वासनारूपम् । यथाचाग्न्यर्चिर्भास्वरं भवति, तथा क्वचित्कस्यचिद्वासनारूपम् । यथाच पुण्डरीकं शुभ्राम्भोजं तद्वदपि क्वचित्कस्यचिद्वासनारूपं भवति । यथाच सकृद्विद्युतं विद्योतनं सर्वतः प्रकाशकं भवति । यथा ज्ञानप्रकाशविवृद्ध्यपेक्षया कस्यचिद्धिरण्यगर्भादेर्वासनारूपमुपजायते । सत्त्वादितारतम्यादित्यर्थः । चरमोक्तहिरण्यगर्भवासनारूपोपासनफलमाह सकृदिति । एवं यथोक्तमत्यन्तं हिरण्यगर्भवासनारूपं यो वेद अस्योपासकस्य सकृद्विद्युतेव विद्योतनमिव श्रीः शोभा ख्यातिर्भवति । ह वै भवत्येवेत्यर्थः । तदेतदुक्तं लिङ्गात्मेत्यारभ्य दर्शितमित्यन्तेन । 'अथात आदेशो नेति नेती'त्यस्या अर्थमाह तदेतदिति । सन्निहितं मूर्तामूर्ते आध्यात्मिकमाधिदैविकं च तेषामवलम्बनं ग्राह्यं प्रतिपाद्यं यस्येतिकरणस्य तेन । प्रतिषेधकेति । प्रतिषेधकं नञ् प्रतिषेधकनञ् तं प्रति प्रतियोगितासम्बन्धेनोपनीयते प्राप्यते । 'द्वे वा व ब्रह्मणो रूपे' इत्यत्राह ब्रह्म त्विति । ब्रह्मसम्बन्धिनी रूपे इति रूपविशेषणत्वेन । ग्रन्थे श्रुतौ । रूपवत इति । ब्रह्मणः । स्वयमेवेति, नतु 'तदेषाभ्युक्ते'तिवदन्यमुखेन । एवमग्रेपि । प्रक्षालनेति । 'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वर'मितिन्यायेन । एवेति । कथनयोगव्यवच्छेदकः । परीति । परिगणितानां वस्तूनां मूर्तामूर्ताधिदैवताध्यात्मिकानां निषेधे । एतदिति । वासनामूलम् । अविषयः स्वयंप्रकाशः । 'प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधती'ति व्याकृत्य 'ततो ब्रवीति च

[1] मूले रश्मौ च प्रतिषेधकनञिति पाठः, मुद्रितपुस्तके प्रतिषेधकनयमिति ।

भाष्यप्रकाशः।

ब्रह्मेति जिज्ञासा निवर्तते । तस्मात् ब्रह्मणि कल्पितं प्रपञ्चं प्रतिषेधति, ब्रह्म तु परिशिनष्टीति निर्णयः । किञ्च । ततः प्रतिषेधात् 'भूयो ब्रवीति' 'अन्यत् परमस्ती'ति । अभावावसाने हि निषेधे किमन्यत् परमस्तीति ब्रूयात् । अतोपि ब्रह्मैव परिशिनष्टीति निर्णयः । तत्रैषा श्रुत्यक्षरयोजना । नेति नेतीति ब्रह्मादिश्य तमेवादेशं पुनर्निर्वक्ति । नेति नेतीत्यस्य कोर्थः । न ह्येतस्माद्ब्रह्मणो व्यतिरिक्तमस्तीत्यतो नेतीत्युच्यते, न पुनः स्वयमेव नास्तीत्यर्थः । तच्च दर्शयति 'अन्यत् परमस्ती'ति । यदा पुनः श्रुत्यक्षराण्येवं योज्यन्ते, न ह्येतस्मादिति नेति । न हि प्रपञ्चनिषेधरूपादादेशनादन्यत् परं ब्रह्मण आदेशनं नास्तीति, तदा 'ततो ब्रवीति च भूय' इत्येतन्नामधेयविषयं योजनीयम् । 'अथ नामधेयं सत्यस्य सत्य'मिति, 'प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्य'मिति हि ब्रवीतीति । तच्च ब्रह्मावसाने निषेध उपपद्यते । अभावावसाने तु किं 'सत्यस्य सत्य'मित्युच्येत । तस्माद्ब्रह्मावसानोऽयं निषेध इति सूत्रं व्याचक्रुः । तत् ब्रह्मास्ति चेत्, कुतो न गृह्यते इति शङ्कायां तदव्यक्तसूत्रम्, तस्य च, 'न चक्षुषा गृह्यते,' 'स एष नेति नेत्यात्मा,' 'अगृह्यः', 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्ये,' 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम्,' 'अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽय'मिति विषयवाक्यानि धृत्वा, सर्वसाक्षित्वादनिन्द्रियग्राह्यमिति व्याख्याय, 'अपि संराधन'सूत्रे भक्तिध्यानप्रणिधानाद्यनुष्ठानरूपसंराधनेन 'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्,' 'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्व' इत्यादिश्रुत्यनुरोधेन अव्यक्तस्यापि ब्रह्मणो दर्शनमङ्गीकृत्य, ननु संराध्यसंराधकभावाभ्युपगमात् परेतरात्मनोरन्यत्वं स्यादिति शङ्कायां तन्निषेधाय 'प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासा'दिति सूत्रमवतार्य, यथा प्रकाशाकाशसूर्यादयोऽङ्गुलिकरकोदकादिषु कर्मसूपाधिभूतेषु सविशेषा इवावभासन्ते, न च स्वाभाविकीमविशेषात्मतां जहति, एवमुपाधिनिमित्त एवायमात्मभेदः, स्वतस्त्वैकात्म्यमेव । तथाहि वेदान्तेष्वभ्यासेनासकृज्जीवप्राज्ञयोरभेदः प्रतिपाद्यत इति व्याख्याय, 'अतोऽनन्तेन तथाहि लिङ्ग'मिति सूत्रं च अभेदस्य स्वाभाविकत्वात् भेदस्य चाविद्याकृतत्वाद्विद्यया अविद्यां विधूय जीवः परेणानन्तेन प्राज्ञेनैक्यं गच्छति । तथाहि लिङ्गम् । 'स यो ह वैतत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति, ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती'त्यादीनि व्याख्याय, स्वमतशुद्धये तस्मिन्नेव संराध्यसंराधकभावे मतान्तरोपन्यासायाहिकुण्डलादिसूत्रद्वयमित्येवं तदवतार्य, 'ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः,' 'परात् परं पुरुषमुपैति

रश्मिः।

भूय' इति व्याकरोति स्म किञ्चेति । 'अन्यत्परमस्ती'ति श्रुतिस्तत्रत्या । अभावावसाने वासनावसानेप्यभावो वासनायामवसानं यस्य निषेधस्य तस्मिन्सति । ब्रूयादिति । किमः प्रश्ने प्रयोगात्प्रश्नं ब्रूयात् । अतोपीति । वीप्सया प्रतिषेधात् । तमेवेति । एतन्निर्वचनस्याग्रे दर्शनादेवकारः । श्रुतिस्तु 'नेति नेति नह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्तीति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्य'मिति । 'नह्येतस्मादिति' 'नेत्यन्यत्परमस्ती'ति द्वितीयपाठः । दर्शयतीति । श्रुतिः । नामधेयविषयं यथा तथाहुः अथेत्यादि । तत इत्यस्यार्थः आनन्तर्येऽथशब्दः । तदनन्तरम् । हीति चकारार्थः । ब्रवीति भूयो ब्रवीति । तच्चेति । सत्यत्वम् । वीप्सापक्षे ब्रह्मावसानं तस्मिन् । ब्रह्मण्यवसानं यस्य निषेधस्य तस्मिन्सत्युपपद्यते । सर्वेति । सर्वेषां साक्षित्वात् । इत्यादीति । 'ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमान' इति । परेति । परं च इतरात्मा चेति तयोः । प्रकाशेति । आदि[illegible] चन्द्रः । अङ्गुलीति । आदिना आदर्शः । यथासंख्यमधिकरणानि । कर्मस्विति । कर्मणीति सौत्रपदार्थः । अस्य विवरणमुपाधिष्विति रूपा । सविशेषा इति । विशेषा अङ्गुल्यादयः तैः सह समाना वा सविशेषाः । एवेति । 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोती'ति श्रुतेरेवेति । ऐकात्म्यमेवेति । 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभू'दिति श्रुतेरेवकारः । अभ्यासा-

भाष्यप्रकाशः।

दिव्यम्', 'यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयती'त्यादौ ध्यातृध्येयत्वद्रष्टृद्रष्टव्यत्वाभ्यां गन्तृगन्तव्यत्वेन नियन्तृनियन्तव्यत्वेन च भेदो व्यपदिश्यते। 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि', 'एष त आत्मा सर्वान्तर एव त आत्मान्तर्याम्यमृत' इत्यभेदश्च। एवमुभयव्यपदेशे सति यद्यभेद एकान्त एव गृह्यते, तदा भेदव्यपदेशो निरालम्बन एव स्यात्। अतो यथा अहिरित्यभेदः, कुण्डलाभोगप्रांशुत्वादीनीति भेदः, एवमिहापि उभयव्यपदेशदर्शनादङ्गीकर्तव्यः। अथवा। यथा सौर्यः प्रकाशस्तदाश्रयश्च सूर्यो नात्यन्तभिन्नौ, उभयोस्तेजस्त्वाविशेषात्, अथ च भेदव्यपदेशभाजौ भवतः, एवमिहापीति व्याख्याय, ततः, पूर्ववद्वेत्यादिसूत्रद्वयं सिद्धान्तीयत्वेनाभिप्रेत्य, यथा वा, 'प्रकाशादिवच्चावैशेष्य'मिति सूत्रे पूर्वमुपन्यस्तं तथैवैतद्भवितुमर्हति। तथा सत्यविद्याकृतत्वाद्बन्धस्य विद्यया मोक्ष उपपद्यते। यदि पुनः परमार्थत एव बद्धः कश्चिदात्माऽहिकुण्डलन्यायेन परमात्मनः संस्थानभूतः प्रकाशाश्रयन्यायेन वा एकदेशभूतोऽङ्गीक्रियते, तदा बन्धस्य पारमार्थिकत्वेन तिरस्कर्तुमशक्यत्वान्मोक्षशास्त्रवैयर्थ्यं स्यात्। श्रुतिश्च भेदाभेदौ न तुल्यवद्व्यपदिशति, किन्त्वभेदं प्रतिपाद्यत्वेन निर्दिशति। भेदं तु पूर्वप्रसिद्धमेवानुवदत्यर्थान्तरविवक्षया। किञ्च। 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टे'त्यादिना चेतनान्तरं निषेधति, 'अथात आदेशो ने'ति, 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपर'मित्यादिना च प्रपञ्चम्। अतोऽन्यनिराकरणाद्ब्रह्ममात्रपरिशेषणाच्च 'प्रकाशादिवच्चावैशेष्य'मितिसूत्रोक्त एव सिद्धान्त इत्याहुः।

तदसङ्गतम्। तद्रीतिके प्रथमसूत्रव्याख्याने मूर्तामूर्तप्रतिषेधस्य 'प्रकृतं प्रतिषेधती'त्येतावतैव सिद्धेरेतावत्त्वमित्यस्य, एतावत्त्वपदादरे च प्रकृतपदस्य वैयर्थ्यप्रसक्तेर्दुर्निवारत्वात्। एतावत्त्वमिति त्वप्रत्ययस्य भावेऽनुशिष्टत्वेन एतावता परिच्छिन्नस्य मूर्तामूर्तलक्षणरूपद्वयस्य तेन पदेनालाभात्। त्वस्य षष्ठ्यन्तादनुशिष्टत्वेन तृतीयान्तादभवनेनापि तथात्वाच्च। अथ तत्र विग्रहवाक्यम्, किन्त्वर्थमात्रकथनमित्युच्यते, तदापि रूपद्वयात्मकस्य सर्वस्य प्रपञ्चस्य परिच्छिन्नान्तर्निवे-

रश्मिः।

दिति सौत्रं पदं व्याकरोति स्म तथाहीति। अविद्यां विधूयेत्यावरणभङ्गः। तदवतार्येति। सूत्रद्वयमवतार्य। एवेति। आलम्बनयोगव्यवच्छेदकः। अतो यथेति। रज्जुरहिरित्यभेदः। अहेः कुण्डलमाभोगो रज्जुः। प्रगतः अंशुः प्रांशुः तत्त्वम्। उभयेति। भेदाभेदव्यपदेशदर्शनात्। प्रकाशाश्रयसूत्रव्याख्यानमाहुः अथवेति। भेदव्यपेति। सूर्यस्य प्रकाश इति प्रयोगादिति भावः। अभिप्रेत्येति। इत्याहुरित्यनेनान्वेति। कथं सिद्धान्तत्वेनाभिप्रेतत्वमित्यतः पूर्वसूत्रीयभाष्यं प्रक्षिपन्ति स्म यथा वेति। इतीति। इति पूर्वं तस्मिन्सूत्र उपन्यस्तमितियोजना। एतदिति ब्रह्म। बन्धस्य भेदस्य। मोक्षोऽभेद उपपद्यते। संस्थानेति। ध्यातृध्येयादिभावात्तथा। एकदेशेति। भेदव्यपदेशभाक्त्वपक्षे ब्रह्मण एकदेशभूतः। भेदं त्विति। ध्यातृध्येयभावाद्भेदं तु पूर्वं अविद्यावस्थायां प्रसिद्धम्। एवेति। सार्वत्रिकत्वादेवेति। अन्विति। सिद्धस्य कथनमनुवादः। अर्थोऽभेदः अन्योर्थः भेदः अर्थान्तरं तस्य विवक्षया। प्रतिषेधसूत्रार्थमाहुः किञ्चेति। एवेति। अपिसंराधनसूत्रोक्तस्य सिद्धान्तत्वयोगव्यवच्छेदकैवकारः। ननु प्रकृतं मूर्तामूर्तं एतावत्त्वं यत्पदं इत्येवमेतावत्त्वपदादरे तस्य तद्वाच्यत्वे लक्षणायाः क्वचित् सिद्धत्वेनादोषाद्दूषणान्तरमाहुः प्रकृतपदस्येति। मूर्तामूर्तेनेति। भावप्रत्ययरहितस्य। तेनेति। भावप्रत्ययसहितेन। तृतीयान्तादिति। एतावता मूर्तामूर्तेन भावः प्रकृतजन्यबोधे प्रकारः एतावत्त्वम्। प्रकृतेन मूर्तामूर्तेन विशेषणेन जन्यो नेति नेतीत्युक्तब्रह्मविशेष्यकबोधः तत्र प्रकारः। तथात्वादिति। तेन पदेनालाभात्। अथेति। भिन्नप्रक्रमे। तत्र एतावत्ताभावः। तदित्यव्ययात्। एतावतोर्भाव

भाष्यप्रकाशः।

शादेतावतेत्यत्राभिप्रेतस्य परिच्छेदकस्यालाभेनासङ्गतिः। नच लौकिकप्रमाणमेव तथेति वाच्यम्। जन्मादिसूत्रव्याख्याने 'मनसाप्यचिन्त्यरचनारूपस्ये'ति स्वोक्तस्य प्रपञ्चविशेषणस्य विरोधेन तथा वक्तुमशक्यत्वाच्च। किञ्च, अत्र मूर्तामूर्तं रूपद्वयं यत्प्रकृतत्वेन विवक्षितं तत्प्राधान्यमालम्ब्य। तत् तस्य किं स्वेन रूपेण ब्राह्मरूपत्वेन वा। नाद्यः। ब्रह्मणो रूपे इति विशेषणवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। द्वितीये तु ब्रह्मण एव प्राधान्यम्। ब्रह्मपरिचायनार्थमेव रूपद्वयस्य कथनात्। ब्रह्मण एवात्रोपदेश्यत्वाच्च। नच सम्बन्धषष्ठ्यन्तपदेन बोधनाद्ब्रह्मणोऽप्राधान्यमिति युक्तम्। 'राहोः शिर' इतिवदभेदेपि षष्ठीभवनेन सम्बन्धषष्ठ्या प्राधान्याबाधात्। 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वा'नित्यत्र स्वयमप्यभेदे षष्ठ्याः स्वीकृतत्वात्। कार्ये कारणानन्यत्वस्य भगवता सूत्रकारेणोक्ततया 'द्वे वा व ब्रह्मणो रूपे' इत्यत्र ब्रह्माभिन्ने रूपे इत्यर्थस्य वक्तुमुचितत्वाच्च। अतो ब्रह्मणः प्राधान्यस्याविघातात् 'ब्रह्म ते ब्रवाणी'ति वाक्योपन्यासेन स्वयमेवोपक्रान्तत्वाङ्गीकारादग्रे उपदेश्यत्वाच्च ब्रह्मणः प्रकृतत्वसिद्धौ तस्मिन्नेतावत्त्वं परिच्छिन्नत्वं प्रतिषेधतीत्येव व्याख्यातव्यम्। एतावच्छब्दस्य परिच्छिन्नवाचकतायाः प्रसिद्धत्वात्। तथाच मूर्तामूर्तमात्रत्वं ब्रह्मणि नास्तीत्यर्थः सिध्यति, न तु प्रकृतं यदेतावता परिच्छिन्नमिति सिध्यति। एवञ्च, 'नेति नेती'ति श्रुतिव्याख्याने नञ्द्वयेन यथासंख्यं मूर्तामूर्तनिषेधे वासनाशेषात् तद्विहाय भूतराशिवासनाराश्योर्निषेधाङ्गीकारे परिगणितनिषेधेन, यदि नेदं ब्रह्म, किमन्यद्ब्रह्मेति शङ्कापत्तेस्तदपि विहाय वीप्सया यावद्विषयजातनिषेधो यदङ्गीकृतः, सोपि तथा। भूतराशिनिषेधे कैमुतिकादेव वासनाराशिनिषेधसम्भवेन तदर्थं निषेधापेक्षाभावात्। त्यक्ते यथासंख्ये वासनानिषेधावतारकप्रमाणाभावात्, वासनाया अनुक्तत्वेन तन्निषेधस्याप्ययुक्तत्वाच्च। अत एव न यावन्निषेधोपि युक्तः।

यदपि 'न ह्येतस्मा'दिति 'नेत्यन्यत् परमस्ती'त्यस्य योजनाद्वयम्। तत्र प्रथमयोजनायां निषेधवीप्सया ब्रह्मव्यतिरिक्ताभाव उच्यते, न पुनर्ब्रह्माभावः, तदेव दर्शयति 'अन्यत्परमस्ती'ति व्याख्यातम्।

रश्मिः।

एतावत्त्वमिति षष्ठ्यन्तविगृहीतस्यार्थमात्रकथनम्। अभीति। अभेदसंसर्गेणाभिप्रेतस्य मूर्तामूर्तरूपस्य परिच्छेदकस्यालाभेन एकस्य परिच्छेदकपरिच्छिन्नभावायोगात् परिच्छिन्नपरिच्छेदकभावासंगतिरित्यर्थः। लौकिकेति। यादृशपरिच्छेदकेन मूर्तामूर्तेन यादृशं मूर्तामूर्तं परिच्छिन्नमिति लौकिकप्रमाणं चक्षुरादि तदैव नतु अलौकिकं प्रमाणं तथा संगतिप्रयोजकम्। भाष्ये प्रकृते ब्रह्मणि यदेतावत्त्वं लौकिकधर्मवत्त्वं तत्समर्थयितुमाहुः किञ्च, अत्रेति। प्राधान्येति। मूर्तामूर्तयोः प्राधान्यमालम्ब्य तत्तस्य प्राधान्यं तस्य मूर्तामूर्तस्य। स्वेन मूर्तामूर्तरूपेण। ब्राह्म(ण) इति। मूर्तामूर्तब्राह्मणमिति ब्रह्मसम्बन्धिविशेषणरूपत्वेन। विशेषणस्य ब्रह्मणो वैयर्थ्यप्रसङ्गात्। ब्रह्मण एवेति। ननु मूर्तामूर्तयोरिति मूर्तामूर्तान्ययोगव्यवच्छेदक एवेति। एवेति। प्रसिद्धेरेवकारः। ब्रह्मण एवेति। 'द्वे वा व ब्रह्मणो रूपे' इत्युपक्रमात्। 'तेषामेष सत्य'मित्युपसंहाराच्चैवकारः। स्वयमिति। श्रुत्या। तदनन्यत्वसूत्रकारेण। ब्रह्म ते ब्रवाणीत्यादि। तथाच तद्भाष्यं प्रकृतसूत्रस्थम्। 'ब्रह्म ते ब्रवाणी'त्याद्युपक्रमविरोधात्। 'असन्नेव स भवति असद्ब्रह्मेति वेद चे'दित्यादिनिन्दाविरोधादिति। अग्र इति। उपसंहारे 'तेषामेष सत्य'मित्यनया। प्रतीति। प्रतिषेधत्येवेति व्याख्येयम्। अयोगव्यवच्छेदक एवकारः। एतावत्तेति। परिच्छिन्नत्वेन धर्मेण परिच्छिन्नं ब्रह्मेत्यर्थः। त्यक्त इति। वासनानिषेधापेक्षाभावात्त्यक्ते द्वितीयपक्षोक्ते यथासंख्ये। यद्वा। पूर्वप्रतिषेधो भूतराशिं निषेधत्युत्तरस्तु वासनाराशिमिति। अत एवेति। भूतराशिनिषेधेन कैमुति-

भाष्यप्रकाशः।

तदपि तथा। ब्रह्मव्यतिरिक्तनिषेधोत्तरं ब्रह्मसत्ताप्रदर्शनस्य अन्यदस्तीत्येतावतैव सिद्धत्वा परपदवैयर्थ्यापत्तेः। अतो व्यतिरिक्तनिषेधेनाव्यतिरिक्तत्वं सर्वस्य स्वीकृत्य तावन्मात्रत्ववारणाय परं ब्रह्मान्यदस्तीत्यङ्गीकार्यमित्येव युक्तम्। द्वितीययोजनायामपि परपदवैयर्थ्यं पूर्ववदेव। तदर्थं परपदमुत्कृष्टार्थकतया व्याख्येयम्। तत्र चाभावावसान एव निषेधः सिध्यतीति ब्रह्मसत्तासाधनाय, 'ततो ब्रवीति च भूय' इति सूत्रांशं नामधेयविषयत्वेन योजयित्वा, नामधेयेन तत्सत्तां साधयित्वा, निषेधस्य ब्रह्मावसानत्वमुपपादितम्। तदपि तथा। नामधेयाङ्गीकारे तद्वत्तासिद्ध्या यावद्विशेषशून्यत्वप्रतिज्ञाहानिप्रसङ्गात्। नामधेयकथनमात्रेणैव तत्सत्तासिद्धेस्तन्निर्वचनश्रुतिवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। तदादरे च 'चक्षुषश्चक्षु'रित्यादिवन्नियामकत्वतन्मूलरूपत्वयोः सिद्ध्या प्रतिज्ञाहानितादवस्थ्याच्च। एवं तदव्यक्तादिसूत्रद्वयेपि यदि ब्रह्मणो दृश्यत्वादृश्यत्वयोर्द्वयोरपि स्थापनम्, तदा तु विरुद्धधर्माश्रयत्वापत्तिः। यदि च साधनाभ्यासपाकवशात् दृश्यत्वम्, तदभावे अदृश्यत्वमिति व्यवस्था, तदापि दृश्यत्वस्य प्रामाणिकत्वे 'यतो वाच' इत्यादिश्रुतिविरोधतादवस्थ्यम्। अप्रामाणिकत्वे च 'कश्चिद्धीर' इत्यादिश्रुतेस्तदुक्तसाधनानां च वैयर्थ्यम्। अपिसंराधनसूत्रस्य च, न हि तेन कश्चिन्निर्णयः सिध्यति, अपि तु ब्रह्मणो दृश्यत्वबोधनेन, जीवब्रह्मणोः संराधकसंराध्यभावाद्भेदबोधनेन च संशयस्यैवोत्पत्तिरिति। यदपि प्रकाशादिवत्सूत्रे जीवब्रह्मणोरभेदं युक्त्या व्याख्याय तत्र प्रमाणापेक्षायां वेदान्तेषु जीवप्राज्ञयोरभेदप्रतिपादनाभ्यासो हेतुत्वेन व्याख्यातः। सोपि शिथिलः। सौत्रस्याभ्यासपदोक्तस्य हेतोरवैशेष्ये कर्मणि प्रकाशे च साधारण्येनोक्ततया

रश्मिः।

कन्यायादेव। यावन्निषेध इति। तृतीयवीप्सापक्षोक्तः। तथेति। अयुक्तम्। सर्वस्येति। मूर्तामूर्तप्रपञ्चस्य। तावदिति। प्रपञ्चमात्रत्ववारणाय। इत्येवेति। 'मायावादमसच्छास्त्र'मिति पाद्मात्। पूर्ववदेवेति। अन्ययोगव्यवच्छेदकः। तदर्थमिति। परपदवैयर्थ्यपरिहारार्थम्। तत्र चेति। द्वितीययोजनायाम्। अभावावसान इति प्रथमान्तम्। नेति न इत्येवमभावे पर्यवसानम्। निषेधोऽभावपर्यवसानः। एवकारस्तु यदा पुनः श्रुत्यक्षराण्येवं योज्यन्ते। नह्येतस्मादिति नेति। नहि प्रपञ्चनिषेधरूपादेशनादन्यत्परं ब्रह्मण आदेशनं नास्तीति तदीयग्रन्थात्। तत्सत्तामिति। ब्रह्मसत्ताम्। तथेति। अयुक्तम्। नामधेयेति। मात्रचा 'ततो ब्रवीति च भूय' इति नामधेयवाचकेतरस्याः 'सत्यस्य सत्य'मित्यस्य व्यवच्छेदः। एवेति। मात्रजर्थानुवादः। तत्सत्ता ब्रह्मसत्ता तस्याः सिद्धेः। तन्निर्वचनेति। 'सत्यस्य सत्य'मिति श्रुतिवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। तदादर इति। निर्वचनादरे। नियामकेति। सत्यमूलत्वं तन्मूलत्वम्। प्रतिज्ञेति। अरूपवत्सूत्रोक्ता। इत्यादीति। 'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्' इति श्रुतेः। तदुक्तेति। धीरवृत्तचक्षुष्ट्वादीनाम्। संशयस्यैवेति। परेतरात्मनोरन्यत्वसंशयस्य। एवकारो व्याख्यानात्। अभेदेति। ज्योतिर्ब्राह्मणे यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरमेवमेवायꣳशारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तर'मिति। 'अत्र पिताऽपिता भवती'त्यादि। 'यद्वैतन्न पश्यति पश्यन्वैतद्द्रष्टव्यं न पश्यती'ति अभेदप्रतिपादनाभ्यासः। वक्ष्यमाणवृत्तौ तु 'तत्त्वमसी'त्याद्यभेदश्रुत्यभ्यासादित्यर्थ उक्तः। अवैशेष्य इत्यादि। वैशेष्ये अभेदे कर्मणि आत्माभिध्यानज्ञानादौ कर्मण्युपाधौ। उक्ततयेति। तथाच वृत्तिः। यथा सौरः प्रकाश आकाशो वाङ्गुल्याद्युपाधौ कर्मणि भिन्न इव वक्र इव भाति, वस्तुतस्त्वेकरूपः, तद्वत्प्रकाशे आत्माभिध्यानज्ञानादौ। कर्मण्युपाधौ। भिन्न इव वक्र इव भाति, वस्तुतस्त्ववैशेष्य-

भाष्यप्रकाशः।

जीवप्राज्ञाभेदाभ्यास एव नियमने प्रमाणानुपलम्भात्। वेदान्तेषु तयोरभेदस्येव भेदस्याप्यभ्यासदर्शनाच्च। यदप्युभयव्यपदेशादिसूत्रद्वयमेकदेशिमतीयत्वेन व्याख्याय, 'पूर्ववद्वे'ति सूत्रव्याख्याने तद्दूषणमुक्तम्। जीवात्मनः परमात्मसंस्थानभूतत्वे एकदेशभूतत्वे वाङ्गीक्रियमाणे बन्धस्य पारमार्थिकत्वेनातिरस्कार्यत्वापत्त्या मोक्षशास्त्रवैयर्थ्यमिति। तदपि तथा। 'बहु स्यां प्रजायेये'तीच्छाभ्यां भेदस्यागन्तुकत्वावगमाद्बन्धस्य पारमार्थिकत्वेपि तथात्वात् पल्यूलनेन वस्त्रमालिन्यस्येव शास्त्रीयसाधनैर्बन्धनाशसम्भवेन शास्त्रवैयर्थ्याभावात्। एवं प्रतिषेधसूत्रे 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टे'ति चेतनान्तरनिषेधो य उक्तः, सोपि द्रष्टुर्ब्रह्माभिन्नत्वं वदति, न तु ब्रह्मणो द्रष्टृभिन्नत्वम्, अतो न तद्व्यवसायसाफल्याय। 'नेति नेती'ति वाक्यं 'तदेतद्ब्रह्मापूर्व'मिति वाक्यं च यथायथं प्रपञ्चस्य ब्रह्माभिन्नत्वं ब्रह्मणः सर्वाकारत्वं च वदतीति प्रागेवोपपादितम्। अतोऽन्यनिषेधो यो वर्तते, स सर्वं ब्रह्मणोऽन्तर्निवेश्येतरं निषेधति, न तु सर्वं मिथ्याकृत्येति सुधीभिरवधेयम्।

भास्कराचार्यास्तु। विंशतिसूत्रमेकमेवाधिकरणमङ्गीकृत्य, सगुणासु शाण्डिल्यविद्यादिषु सगुणोपासितस्य प्रतिप्रकरणं चोदनासामर्थ्येन निर्णीतत्वात् तत्र नायं विचारः, किन्तु निर्गुणब्रह्मचोदनायां साकारं निराकारं च ब्रह्मोपास्यम्, उतैकतरमिति जिज्ञासायाम्, यथास्थितवस्तूपासनस्य युक्तत्वात् कारणात्मना प्रपञ्चात्मना चावस्थितमुपास्यमिति प्राप्तेऽभिधीयते। नोभयलिङ्गमुपास्यम्। कुतः। अस्थूलादिवाक्यैः समस्तप्रपञ्चाकारस्य निवर्तितत्वात्। सतश्च कारणस्य कूटस्थनित्यस्यैकस्याद्वितीयत्वात्। पाश्चात्यस्य कार्यरूपस्य कादाचित्कत्वात्। ननु कारणस्य विकारात्मकत्वा-

रश्मिः।

रूपत्वमेवात्मनः। कुतः। अभ्यासात्। 'तत्त्वमसी'त्याद्यभेदश्रुत्यभ्यासादित्यर्थ इति। अवैशेष्ये दार्ष्टान्तिके यः स दृष्टान्तयोरपीति। एवेति। नतु कर्मप्रकाशयोरित्येवकारार्थः। तयोरिति। जीवप्राज्ञयोः। भेदस्यापीति। अपिसंराधनसूत्रेऽस्मद्गाष्योक्तरीत्याभ्यासदर्शनात्। परमात्मेति। अहिकुण्डलन्यायेन परमात्मनः संस्थानभूत इत्युक्तप्रकारेण। प्रकाशाश्रयन्यायेन एकदेशभूतत्वे। पारमार्थिकत्वेनेति। संस्थानभूतस्यैकदेशभूतस्य परमार्थस्य धर्मः पारमार्थिको बन्ध इति। तथेति। शिथिलम्। तथात्वादिति। तिरस्कार्यत्वात्। पल्यूलनेनेति। वस्त्रमालिन्यनाशसाधनेन। बन्धनाशेति। बन्धतिरोभावसम्भवेन। अतो ब्रह्मणोऽन्यो भिन्नो न द्रष्टास्तीति योजनामाहुः सोपीति। 'अधिकं तु भेदनिर्देशा'दिति सूत्रादाहुः नत्विति। तद्व्यवेति। ब्रह्माद्वितीयत्वरूपफलेन सर्वमिथ्यात्वव्यवसायस्य साफल्यं मिथ्या तस्मा इत्यर्थः। प्रागेवेति। 'दर्शयति चे'ति सूत्रे ब्रह्माभिन्नत्वं स्पष्टम्। 'तदेतद्ब्रह्मे'त्यपि तत्र स्पष्टम्। अन्तरिति। 'स्वसृष्टमिदमापीये'ति वाक्यात्। इतरमिति। प्रपञ्चम्। सुधीभिरिति। शोभना ब्रह्मगोपनाभावेन मोक्षार्था धीर्येषां तैः।

विंशतीति। 'न स्थानतोपी'तिसूत्रमारभ्य 'प्रतिषेधाच्चे'त्यन्तम्। एवेति। न तु द्वयमिति द्वययोगव्यवच्छेदक एवेति। शाण्डिल्येति। छान्दोग्यपञ्चमप्रपाठकेऽस्ति 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मे'त्यादिशाण्डिल्यविद्या। 'इति ह स्माह शाण्डिल्यः शाण्डिल्य'इति श्रुतेः। आदिना कोशविज्ञानम्। 'अन्तरिक्षोदरः कोश'इत्यादिश्रुतेः। तदग्रे कोशविद्या। तदग्रे यज्ञसम्पादनं 'पुरुषो वाव यज्ञ' इत्यादिना। चोदनेति। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीते'त्यत्रोपासीतेत्युपासनाचोदना। कोशविज्ञाने चोदना। 'सामवेदं प्रपद्य' इति लेडाश्रयणात्। 'य एवं वेदे'ति यज्ञसम्पादने चोदनालेडाश्रयणात्। नोभ-

भाष्यप्रकाशः ।

द्विकारपरित्यागे कारणस्वरूपस्यापि त्यक्तत्वात् कारणत्वेनोपासनमपि हीयेतेति चेत्, नेत्युच्यते । न पृथिव्यादिस्थानतोपि परस्योभयलिङ्गता । ब्रह्मणः स्वतोऽभिन्नत्वात् । स्थानकृतस्य रूपस्य चाग-न्तुकत्वात् । ब्रह्मात्मको हि नामरूपप्रपञ्चः, न प्रपञ्चात्मकं ब्रह्म । यथा समुद्रात्मकः फेनतरङ्गा-दिः, न तदात्मकः समुद्र इति । कथं पुनर्गम्यते, सर्वत्र, वेदान्तेषु, 'अशब्दमस्पर्शम्,' 'स एष नेति नेत्यात्मा,' 'अस्थूल'मित्यादिषु भूतभौतिकनिराकरणात् । नचैतैः प्रपञ्चस्य मायामात्रत्वप्राप्तिः । कारणे कार्यरूपं अनेकविधं नास्तीत्येतावदवधारणेनैव वाक्योपपत्तेः प्रपञ्चाभावस्य प्रतिपत्तुमश-क्यत्वादित्येवं प्रथमसूत्रं व्याख्याय, 'न भेदा'दितिसूत्रे प्रथमं नकारमपठन्तः, 'सर्वाणि भूतानि सर्व एवात्मानः समर्पिता' इति श्रुतेर्नेमिस्थानीयेन बाह्यप्रपञ्चेन वेष्टितानामरस्थानीयानां विज्ञानात्मनामन्तरतमे रथचक्रनाभिस्थानीये परमात्मनि समर्पणाद्भेदोऽवगम्यते, अतो भोग्यभो-क्त्राकारवदुपास्यमिति सूत्रांशेनाशङ्क्य, 'न प्रत्येकमतद्वचना'दित्यनेन मधुविद्यायां प्रत्युपाधि भेदव-चनाभावाद्यत्र सर्वेषां चेतनाचेतनानामेकीभावः, स एव परमात्मा ध्येयत्वेनोपदिश्यत इति व्याख्याय, तन्मात्रसूत्रे चैतन्यमात्रं ब्रह्मेति व्याख्याय, 'ब्रह्मायाति प्रपञ्चोऽयं रूपं हित्वा तु वैकृतम् । जहाति कठिनावस्थां जलधौ लवणं यथा । चेतनेऽचेतनं क्षिप्तमभेदाच्चेतनीभवेत् । उषायां वस्तु विन्यस्तं तत्सर्वं लवणीभवेत्' इत्येतावदधिकमुक्त्वान्यानि सूत्राणि शङ्कराचार्यवत् व्याचक्रुः । ततः प्रकृतैतावत्त्वसूत्रे च प्रकृतस्य पुरुषस्य यदेतावत्त्वं मूर्तामूर्तोपाधिपरिच्छिन्नत्वं तत्प्रतिषेधति, ततो निर्विकल्पकं परिशिष्टं ब्रह्म भूयः पुनर्ब्रवीति, अन्यत् परमस्तीति व्याख्याय, शङ्कराचार्योक्तामधिकरणान्तरकल्पनां सर्वोपनिषद्वदस्यामप्युपनिषदि ब्रह्मण उपक्रमोपसंहारयोरव-

रश्मिः ।

येति । कार्यकारणोभयलिङ्गम् । सूत्रं व्याचक्षते स्म **न पृथिव्यादी**ति । अत्र भेदाभेदावेतन्मते ताव-नुसंधेयौ । **स्वत** इति । कारणात्मना । अभेदस्तु कटकं सुवर्णमितिवत् । **रूपस्ये**ति । कार्यरूपस्य । कटकं सुवर्णं सुवर्णं कटकं नेति प्रतीत्याहुः **ब्रह्मात्मक** इति । **तदात्मक** इति । फेनतरङ्गबुद्बुदा-त्मकः । **सर्वत्रे**ति सौत्रांशव्याख्या **सर्वत्रे**त्यादि । **भूतभौतिके**ति । भूतौ शब्दस्पर्शौ वाय्वाकाश-तन्मात्रारूपौ । भौतिकं स्थूलं वाय्वाकाशरूपम् । तयोर्निराकरणात् । **एतैरि**ति । भूतभौतिकनिराकरणैः । **अनेके**ति । न एकविधं अनेकविधं शब्दतत्स्थूलाकाशविधं स्पर्शतत्स्थूलवायुविधं नास्ति, किन्तु शब्द-स्पर्शरूपं भूतसूक्ष्मरूपं कार्यरूपमिति । एवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदकः । 'अशब्दमस्पर्श'मित्यादिवाक्योप-पत्तेः । **सर्वाणी**ति । मधुब्राह्मणस्था । **एवात्मान** इत्यत्र एते आत्मान इत्यपि पाठः । नेमी रथचक्रवल-यम् । अरा वलयेऽर्पिताः स्थूलशलाकाः । **रथचक्रे**ति । नाभी रथचक्रपिण्डिका । **भोग्ये**ति । भोग्यः प्रपञ्चो नेमिः । भोक्तारो जीवा अराः । उपास्यं परमात्मा नाभिः । **इत्यनेने**ति । **सूत्रांशेन** । **प्रत्युपा-धी**ति । क्रियाविशेषणानां नपुंसकत्वमेकवचनान्तत्वं च । उपाधिपृथिव्यादि लक्षीकृत्येति प्रत्युपाधि । **स एवे**ति । अत्रेति बोध्यम् । अन्ययोगव्यवच्छेदक एवकारः । **आयाती**त्यादि । आसमन्तादाप्नोति । **कठिने**ति । पृथिव्यवस्थाम् । 'यत्कठिनं सा पृथिवी'ति श्रुतेः । **उषायामि**ति । रात्रौ कश्चित् । **अधिकरणान्तरे**ति । मूर्तामूर्तब्राह्मणं विषयः । सन्देहः ब्रह्म वा मूर्तामूर्ते वा प्रतिपाद्ये इति । मूर्तामूर्ते सत्यमित्युपसंहाराद्ब्रह्मणोऽप्रत्यक्षत्वाच्च प्रतिपाद्ये इति पूर्वपक्षः । ब्रह्मप्रतिपाद्यमुपक्रमस्यासञ्जातविरोधित्वात् ब्रह्मणोऽप्रत्यक्षत्वेपि शून्यवादप्रसङ्गादिति सिद्धान्तः । तदिदं नाधिकरणान्तरम् । तत्र तृतीयान्तं

भाष्यप्रकाशः ।

स्थानात् सन्देहानुत्पत्त्या निरस्य, शेषं शङ्कराचार्यवदेव व्याख्यातवन्तः ।

तथाच तन्मते कारणस्यावस्थाविशेष एव कार्यम् । तन्तुनाभदृष्टान्तात् । अतो निमित्तव-शादेव नानाकारः । स यद्यसन्नेवोत्पद्यते, तदा असतः सत्तानिषेधकश्रुतिविरोधः । अतः सन्नेव निमित्तवशाद्व्यज्यते । कारणं च ब्रह्म यथाकाशोऽविक्रियमाण एव वायुजनकः, एवमविक्रिय-माणमेव प्रपञ्चजनकम् । तच्च कृत्स्नप्रसक्त्यादिदोषवारणार्थं श्रुतिबलादेव भगवता सूत्रकारेणाङ्गी-कृतम् । स्वयमपि तथैव व्याख्यातम् । निमित्तं चात्रेच्छैव । परिणतिश्च शक्तेरेव । शक्तिशक्तिम-तोर्नात्यन्तं भेदो गुणगुणिनोरिवेतरेतराविनाभावादिति तदनन्यत्वाधिकरणे व्युत्पादितम् ।

तत्रेदमवधेयम् । यदि श्रुतिबलादेवमवधारितम्, तदा ब्रह्मणि युक्तीनां लौकिकीनामकि-ञ्चित्करत्वादचिन्त्यसामर्थ्यं त्वङ्गीकृतमेव । तथा सति तेनैव विरुद्धधर्माश्रयत्वाद्दोषपरिहारसिद्धौ कुतः कारणरूपस्य केवलनिर्विकल्पकत्वाग्रहः । नचाशब्दादिवाक्येभ्य इति युक्तम् । तेषां यथा भूतभौतिकनिराकरणेऽप्युभयलिङ्गताप्रतिपादकत्वं तथोपपादितत्वात् । नापि 'कश्चिद्धीर' इति वाक्यात् । 'तं यथा यथोपासत' इति श्रुत्या तादृगुपासकेन तथादर्शनेपि तेन लिङ्गान्तरबाधस्या-शक्यवचनत्वात् । सूत्रस्थेन केवलेन सर्वत्रेतिपदेन भूतभौतिकनिराकरणात्मकस्य हेतोरलाभात् । मधुविद्यायामपि यत्रैकीभावस्तादृशरूपस्य ध्येयत्वोपदेशेपि 'तदेतद्ब्रह्मापूर्व'मित्युपसंहारवाक्येपि

रश्मिः ।

हेतुमाहुः **सर्वे**त्यादिना **सन्देहानुत्पत्त्ये**त्यन्तेन । यद्यप्यत्र गार्गिब्राह्मणेऽस्थूलादिवाक्यं पञ्चमप्रपाठ-कीयशाण्डिल्यविद्यादिषु 'सर्वकर्मा सर्वकाम' इति वाक्यम्, तथाप्यन्यसंग्रहाय सर्वत्वेनोपनिषद्गृहीता । **अस्यामि**ति । मूर्तामूर्तब्राह्मणीयायामुपनिषदि । **ब्रह्मण** इति । 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे' इत्युपक्रमः । 'तेषामेष सत्य'मित्युपसंहारः । रूपे वा रूपवद्वेति सन्देहानुत्पत्त्या इति हेतुः । **निरस्ये**ति । विंशति-सूत्रात्मकाधिकरणमिति नवसूत्र्यामधिकरणत्वं निरस्य । **एवे**ति । भास्करभाष्याभ्याससूचनेनान्ययोग-व्यवच्छेदक एवकारः । **एवे**ति । दृष्टान्तसद्भावात् । **निमित्ते**ति । क्रीडेच्छा निमित्तं तद्वशात् । तन्तुनाभवत् । **एवे**ति । 'सदेव सोम्येदमग्र आसी'दित्यत्र सदितरव्यवच्छेदात् 'स ईक्षांचक्र' इत्यत्र निमित्तप्रदर्शनादन्ययोगव्यवच्छेदकैवकारः । **असत** इति । श्रुतिस्तु 'असन्नेव स भवति असद्ब्रह्मेति वेद चे'दिति । **एवे**ति । चिन्तामणिदृष्टान्तसत्त्वादेवकारः । **तच्चे**ति । अविकृतत्वम् । आदिना 'निरवय-वत्वशब्दकोपो वा' । **सूत्रे**ति । 'कृत्स्नप्रसक्तिनिरवयवत्वशब्दकोपो वे'ति सूत्रकारेण । **स्वयमि**ति । भास्कराचार्यैः । **इच्छैवे**ति । श्रुतेरेवकारः । **शक्तेरेवे**ति । निर्गुणत्वाच्छक्तिमतो योगस्य व्यवच्छेद-कैवकारः । **तदि**ति । श्रुतिविचारकाले । **एवे**ति । अवधारणेनैवकारार्थेन हेतुना । **अशब्दादी**ति । अत्रैव पूर्वमुक्तेभ्यः । **तेषामि**ति । इदमपि व्याख्यातम् । **उपे**ति । दर्शयति चेति सूत्रोपन्यास एव पूर्वम् । भास्करभाष्योक्तेतरामप्याहुराशङ्काम् । **नापी**ति । **तादृगुपासकेने**ति । तादृगिति रूढशब्दः । महाभाष्ये तु सोयं स इव दृश्यमानस्तमिवात्मानं पश्यतीति कर्मकर्तरि व्युत्पत्तिर्दर्शिता । सोयं तादृगुपासकः स इव आत्मदर्शीव अन्यैर्दृश्यमानस्तमिवात्मदर्शिनमिव स्वात्मानं पश्यतीत्यर्थः । **तादृगुपासकेन** । **लिङ्गान्तरे**ति । निर्विकल्पकलिङ्गादन्यल्लिङ्गं सविकल्पकत्वलिङ्गं तस्य बाधस्य । **अलाभादि**ति । सूत्रस्य सारवद्विश्वतोमुखत्वादिति भावः । विकल्प इति चेदोम् । भगवत्क्रीडार्थत्वात्सर्वमतानाम् । **अपी**ति । अनेन यत्रैकीभावः, तत्रापि ध्येयत्वेन सर्वरूपत्वपदार्थसम्भावना । **उपे**ति । **शङ्कराचार्य-**

१. उभयव्यपदेशाधिकरणे ।

भाष्यप्रकाशः।

सर्वरूपत्वबोधनस्योपपादितत्वाच्च। एवं तन्मात्रसूत्रविषयवाक्येपि कृत्स्नपदादेवाकारलाभो व्युत्पादित इति न तेनापि केवलनिराकारत्वसिद्धिरिति शाङ्करमतनिराकरणादेवैतदपि निराकृतं बोध्यम्।

विज्ञानभिक्षुस्तु। 'न स्थानतोपी'त्यादिचतुःसूत्र्या नित्यज्ञानेच्छादिमती ब्रह्मणो यान्तरङ्गशक्तिस्तद्धारकं ब्रह्मणो लक्षणमुच्यते, 'प्रकाशवच्चावैयर्थ्या'दित्याद्येकादशसूत्र्या जीवसाधारणं ब्रह्मस्वरूपमुच्यते, शेषैः सूत्रैस्त्वापादसमाप्ति ब्रह्मप्रपञ्चयोर्भेदाभेदौ परीक्ष्येते इति प्रतिज्ञाय, परस्य परमात्मन उभयलिङ्गं ज्ञानाज्ञानरूपधर्मद्वयं यथोक्तजाग्रदाद्यवस्थासम्बन्ध इति यावत्, स स्थानतः अभिव्यक्तिस्थानभूतादुपाधेरपि न, किन्त्वविलुप्तोपाधित्वात् सदा सर्वसाक्षित्वसदैश्वर्यसदानन्दत्वाद्येकरूपत्वमेव, कुतः, सर्वत्र हि, हि यस्मात् सर्वत्रैव वस्तुनि अधिष्ठातृतया परस्तिष्ठति। 'यः सर्वस्मिंस्तिष्ठन् सर्वमन्तरो यमयती'ति श्रुतेः। तच्च सर्वाधिष्ठानं साक्षित्वाद्यनित्यत्वे सति न सम्भवति, स्वाज्ञानकालीने कार्ये अधिष्ठानासम्भवादित्यर्थः। तथाचौपाधिकानेकरूपत्वाभावोपि परमात्मनो जीवव्यावृत्तं लक्षणम्, जीवे चाल्पं साक्षित्वादिकम्, तदप्यनित्यमिति व्याख्याय, द्वितीयसूत्रे च 'न भेदा'दिति पाठमङ्गीकृत्य, परस्य ब्रह्मण उभयलिङ्गत्वाभावो न घटते, माण्डूक्ये विश्वतैजसप्राज्ञतुरीयाभिधचतुष्पादकथने जाग्रदाद्यवस्थाभिर्ज्ञानाज्ञानरूपलिङ्गभेदश्रावणादिति चेत्, न, प्रत्येकमतद्वचनात्, 'नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञ'मित्यादिना वाक्यशेषेण प्रत्येकं तत्तदवस्थावदन्यत्ववचनात्। अत्र 'नान्तःप्रज्ञ'मित्यनेन स्वप्नावस्थायाः प्रतिषेधः। 'न बहिःप्रज्ञ'मित्यनेन जाग्रदवस्थायाः। 'नोभयतःप्रज्ञ'मिति मोहावस्थायाश्चोक्तः। 'न प्रज्ञानघन'मित्यनेनेच्छाकृत्यानन्दसम्भेदाज्जीवस्वरूपतो व्यावृत्तिरुक्ता। 'न प्रज्ञ'मित्यनेन चैतन्याश्रयत्वनिषेधः। 'नाप्रज्ञ'मित्यनेन सुषुप्तिमरणाद्यवस्थाः प्रतिषिद्धाः। अतो नावस्थाभिर्ब्रह्मण उभयलिङ्गत्वमित्यर्थं व्याख्याय, अग्रिमसूत्रे चैतमेवार्थमुपष्टभ्य, नन्ववस्थावत्त्वतद्राहित्ययोस्तुल्येपि श्रावणे कथं तद्राहित्यवाक्यानामेव बलवत्त्वमवधारितमित्यत आह

रश्मिः।

मतदूषकग्रन्थे उपपादितत्वात्। कृत्स्नपदादिति। तथाच भाष्यं 'स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवे'ति। एवेति। सदृशत्वादेवकारः। अन्तरङ्गेति। सदा सर्वसाक्षित्वादिरूपा वक्ष्यमाणा। तद्धारकं अन्तरङ्गशक्तिजनकसत्यादित्वम्। अत्राविभागाद्वैतमनुसन्धेयम्। 'यथा मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ती'ति छान्दोग्यीयद्वितीयोपदेशरूपम्। जीवेति। जाग्रदादीति। सुषुप्तावज्ञानम्। 'न किञ्चिदवेदिष'मिति प्रतीतेः। उपाधेरिति। अणुत्वोपाधेर्जीवस्येवेश्वरस्य महत्त्वोपाधेरपि न। सदेति। आदिना चित्त्वम्। एवेति। उभयलिङ्गयोगव्यवच्छेदकैवकारः। ज्ञानाज्ञानेति। विश्वतैजसौ ज्ञाने प्राज्ञोऽज्ञाने। वाक्येति। एकरूपत्वमुभयलिङ्गत्वं वेति सन्देहोऽयं वाक्यशेषः। अविभागाद्वैतभङ्गाशङ्कायां अविभागाद्वैतस्थापकः। प्रत्येकं अन्तःप्रज्ञादि लक्षीकृत्य जाग्रदाद्यवस्थातद्वतोन्तःप्रज्ञादेरन्यत्वस्य भेदस्य वचनात्। मधुवदन्तःप्रज्ञाद्येकरूपमित्यर्थः। इच्छेति। प्रज्ञानमिच्छा करणव्युत्पत्त्याऽनयैव व्युत्पत्त्या प्रज्ञानं कृतिः भावव्युत्पत्त्यानन्दः प्रज्ञानानां घनं सम्भेदो मिश्रणमिति यावत्। प्रज्ञानघनम्। जीवेति। विज्ञानघनात्। इत्यनेनेति। जानातीति ज्ञः प्रकर्षेण ज्ञः प्रज्ञ इति व्युत्पादितेन। चैतन्येति। ज्ञानस्य कृत्यनधीनत्वादाश्रये लक्षणा। सुषुप्तीति। सुषुप्तावज्ञानेऽप्रज्ञत्वम्। आदिना मूर्च्छा। उभयेति। किन्त्वेकरूपत्वम्। एवेति। नत्ववस्थावत्त्ववाक्यानाम्।

भाष्यप्रकाशः।

'अरूपवदेव ही'ति। हि यस्मात् अरूपवदेव ब्रह्म। मूर्तामूर्तब्राह्मणाज्जाग्रदाद्यवस्थाहेतुभूतस्थूलसूक्ष्मशरीरद्वयरहितमेव ब्रह्म प्रतिपत्तव्यम्, कुतः, तत्प्रधानत्वात्, 'ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामय'मिति, 'यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्, तदेव ब्रह्म त्वं विद्धी'त्यादिश्रुतीनां तत्परत्वात्, अवस्थाधारैर्मनआदिकरणैः शून्यस्यैव ब्रह्मणः सम्यग्ज्ञानविषयत्वावधारणादित्यर्थः। अपिच, 'अथात आदेशो नेति नेति, न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत् परमस्ती'ति मूर्तामूर्तरूपाभावादेशस्यैव पारमार्थिकत्वं वदति, तदेवमुभयलिङ्गत्वनिषेधेनैकमात्ररूपत्वमुपाधिसाधारण्येन लक्षणमुक्तमित्याह।

तदसङ्गतम्। सर्वत्रेति पदेन सर्वाधिष्ठानश्रुतय एवाभिप्रेयन्त इत्यत्र गमकस्यानुपलम्भात्। अथ जीवस्य पूर्वं निरूपितत्वात् तद्वद्ब्रह्मण्यप्युभयलिङ्गत्वशङ्कायां तन्निरासायास्य सूत्रस्य प्रवृत्तत्वादर्थादेव तस्य हेतोः प्राप्तिरिष्यते, तदाप्येतादृशैकलिङ्गत्वस्य ब्रह्मलक्षणत्वमात्रं युक्तम्। श्रुतिसिद्धत्वात्। न तु लक्षणस्योपाधिसाधारण्यमपि युक्तम्। परमेश्वरस्य कारणसत्त्वोपाधिकत्वे प्रमाणानुपलम्भात्। पूर्वं स्वयमपि 'न स्थानतोऽपी'त्यागामिसूत्रस्यैव प्रमाणत्वेनोपन्यस्तत्वात्। सर्वकारणस्याद्वितीयस्य परस्य 'सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्', 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः,' 'यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिङ्गाः,' 'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः, अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः, एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि चे'त्यादिषु श्रुतिषु, 'तन्मायाफलरूपेण केवलं निर्विकल्पितम्। वाङ्मनोगोचरातीतं द्विधा समभवद्बृहत्। तयोरेकतरो ह्यर्थः प्रकृतिः सोभयात्मिका। ज्ञानं त्वन्यतमो भावः पुरुषः सोऽभिधीयत' इत्यादिषु पुराणेषु च निरुपाधिकत्वेनैव सिद्धेश्च। कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वर इत्यादीनि तु ब्रह्मविष्ण्वादिपराणि। तत्रत्येश्वरपदस्य परमेश्वरपरत्वे नियामकस्य तेष्वदर्शनात्। नच निरुपाधिकस्य निर्धर्मकत्वम्। तस्य शाङ्करमतनिरास एव निरस्तत्वात्। न चारूपवत्सूत्रविरोधः। रूपवद्वैलक्षण्यस्यैव तत्र बोधनेन रूपराहित्यस्य तत्राबोधनीयत्वात्। 'आनन्दरूपममृतं यद्विभाति,' 'सच्चिदानन्दरूपाये'त्यादिभिस्तत्र तद्रूपताया एव निर्धाराच्च। नच 'ततो यदुत्तरतरं तदरूप'मिति श्रुतिविरोधः। तदग्र एव 'सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः। सर्वव्यापी स भगवांस्तस्मात् सर्वगतः शिव' इत्यस्य मन्त्रस्य दर्शनात्। नापि 'यन्मनसा न मनुत' इत्यस्याः। तत्राप्युपास्यरूपस्यैव ब्रह्म-

रश्मिः।

एवेति। 'नेति नेती'ति श्रुत्यैवकारः। तन इति। मूर्तामूर्तरूपद्वयात्। शून्यस्यैवेति। अशून्ययोगव्यवच्छेदकः। एवेति। मूर्तामूर्तरूपयोगव्यवच्छेदकैवकारः। एवेति। सर्ववाक्ययोगव्यवच्छेदकैवकारः। पूर्वमिति। प्रथमपादे। पूर्वाध्याये वा। अर्थादेवेति। सङ्कुचितहेत्वाक्षेपादेव। एवकारः सर्वत्र शब्दशक्तियोगव्यवच्छेदकः। उपाधीति। एकरूपत्वोपाधिसाधारण्यमित्यर्थः। प्रमाणानुपलम्भं दर्शयन्ति स्म पूर्वं स्वयमिति। ईक्षत्यधिकरणे स्वयं विज्ञानेन्द्रभिक्षुणा। एवेति। पूर्वं स्वयमपि प्रमाणोपन्यासयोगव्यवच्छेदकैवकारः। एवेति। न तु उपाधिकत्वेन। तत्रत्येति। कार्योपाधिरित्यादिवाक्यस्थेश्वरपदस्य। तेष्विति। वाक्येषु। निरस्तत्वादिति। यथाकथञ्चिदपि निर्धर्मकत्वासिद्धेः। एवेति। अन्ययोगव्यवच्छेदकः। एवेति। यदित्युक्त्या एवकारः। तत्रेत्यादि। ब्रह्मणि। तद्रूपतायाः आनन्दाकारतायाः सच्चिदानन्दाकारतायाः। एवकारस्तु श्रुतित्वात्। नचानन्देन रूप्यते व्यवह्रियते इत्यरूपमिति शङ्क्यम्। व्यवहार्यत्वधर्मसिद्धेः। उपास्येति। अनुपास्ययोगव्यवच्छेदकैवकारः। नेदं परिदृश्यमानं इदं मनो न। यदिदं वैदिकोपासका उपासते तद्ब्रह्म विद्धीति। यदिदमुपासते नेदं

भाष्यप्रकाशः ।

त्वेन निरूपणादुपास्यतयैव रूपादिसिद्धेरिदङ्कारान्तरप्रयोगबलेनास्माभिः प्रागेवोपपादितत्वादिति ।

यत्पुनः, 'प्रकाशवच्चे'त्यादिसूत्रचतुष्टये प्रकाशतुल्यं ब्रह्म, चिन्मात्रमेव, न तु चिद्धर्मकमपि । सर्वज्ञ इति व्यवहारस्तु 'राहोः शिर' इतिवद्विकल्पमात्रः । यदि ह्यात्मनि ज्ञानाख्यं धर्मान्तरं कल्प्येत, तदा तद्व्यर्थं स्यादित्युक्तम् । तदपि मन्दम् । सर्वज्ञ इति व्यवहारस्येश्वरे ज्ञानधर्मकत्वस्य च 'यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तप'इति श्रुतिसिद्धत्वेन तद्विरोधस्य दुर्वारत्वात् । नच सा सोपाधिपरेति युक्तम् । परस्मिन्नुपाधिवैशिष्ट्याभावस्य साधितत्वादिति । यदपि वृद्धिह्राससूत्रे व्याख्यातम् । यद्यप्यम्बुवद्ग्रहणं नात्रास्ति, तथापि वृद्धिह्रासभाक्त्वम्, अन्तर्भावात् । प्रतिबिम्बरूपेणान्तःप्रवेशादेव सम्भवति । अतो दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्जलबुद्ध्योरुभयोः सामञ्जस्यात् वृद्धिह्रासनियामकत्वरूपात् सादृश्यात् एवं प्रतिबिम्बितत्वं प्रतिपत्तव्यमित्यर्थ इति । तदपि तथा । सूत्रे वृद्धिह्रासभाक्त्वं प्रत्यन्तर्भावस्य सिद्धवद्धेतुत्वेन कथनात् वृद्धिह्रासभाक्त्वेनान्तर्भावस्वरूपसाधनस्य सूत्रविरुद्धत्वात् । अम्बुवदग्रहणादित्यस्य प्रतिपक्षहेतोराभासीकरणं विना वृद्धिह्रासभाक्त्वस्य साध्यसमत्वेन तस्यान्तर्भावस्वरूपसाधने सामर्थ्याभावाच्च । यदपि रूपरहितस्य बुद्ध्यादेः प्रतिबिम्बाधारत्वसमर्थनायाकाशे पर्वतनीलिमादिप्रतिबिम्बस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वान्मठाकाशादौ शब्दप्रति-

रश्मिः ।

ब्रह्मेति योजनां निरस्यन्ति स्म उपास्येति । यद्युपास्यस्य ब्रह्मत्वनिषेधः, तदा शून्यवादापत्तिः । 'यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् । तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि' इत्यत्राधोक्षजस्य मनोबोधकस्याहार्यज्ञानविषयस्य 'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्' 'अपिसंराधन' इति श्रुतिसूत्रयोरविषयत्वादुपास्यस्य तु कल्पितरूपस्य तपोविषयत्वादुपास्यतयैव रूपादिसिद्धेरित्यर्थः । एवकारः 'चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः । उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पने'ति रामतापिनीयात् । रूपादीति । आदिना रूपस्थानां देवतानां च पुंरूपाङ्गरूपाङ्गादिकल्पना ग्राह्या । 'नेदं यदिदमुपासत' इत्यत्रेदङ्कारान्तरं बोध्यम् । प्रागेवेति । यदुक्तं प्रकाशवच्चावैयर्थ्यादित्येकादशसूत्रेत्यादि तदप्रपञ्चितमिति प्रपञ्चयन्ति स्म यत्पुनरिति । एवकारव्यावर्त्यमाह नन्विति । सर्वज्ञ इति । ज्ञ इति ज्ञानाश्रयः जानातीति ज्ञ इतिव्युत्पत्तेः । विकल्पेति । विकल्प एव । राहोः शिरः राज्ञः पुरुषः इति प्रयोगाभ्यां विकल्पमात्रः । तदिति । धर्मान्तरं व्यर्थं धर्मिणैव प्रकाशात् । 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' । साधितत्वादिति । पूर्वं अम्बुवदग्रहणसूत्रमग्रे वक्तव्यमत आहुः यदपीति । नात्रेति । बुद्धावुपाधौ नास्ति । ब्रह्मणो बिम्बस्य नीरूपत्वात्प्रतिबिम्बाश्रयाया बुद्धेरस्वच्छत्वात् । वृद्धीति । एकरूपस्य ब्रह्मणो वृद्धिह्रासभाक्त्वम् । एवेति । बुद्धेर्ज्ञानात्मिकायाः शुद्धत्वात्सतो प्रजाभिरेकरूपस्य नीरूपत्वाभावादेवकारः । उभयेत्यादिसूत्रांशार्थमाह अतो दृष्टान्तेति । जलबुद्ध्योरिति । अम्बुवत्सूत्रोक्तं जलं दृष्टान्तः । अन्तर्भावपदोपात्तप्रतिबिम्बाक्षिप्तबुद्धिर्दार्ष्टान्तिकरूपा । सामञ्जस्यादित्यस्य व्याख्या वृद्धिह्रासेति । उभयोः सादृश्यात् । सूत्रेति । सूत्रोक्तकार्यकारणांशे विरुद्धत्वात् । किञ्च । अम्बुवदित्यादि । ब्रह्म जडजीवधर्मयोगात्सर्वकामत्वादिधर्माभाववत्, अम्बुवदग्रहणात्, देवदत्तवत् इत्यस्य प्रतिपक्षत्वं यादृशानुमाने तदुच्यते । ब्रह्म जडजीवयोगात्सर्वकामत्वादिधर्मवत् । 'यथा मधु मधुकृत' इत्यादिश्रुतिविषयत्वात् । कृष्णावतारवदिति । तथाच प्रतिपक्षस्य हेतोरित्यर्थः । तस्येत्यादि । ब्रह्म प्रतिबिम्बरूपेणान्तःप्रवेशं वृद्धिह्रासभाक्त्वात् इत्यत्र तस्य वृद्धिह्रासभाक्त्वस्य हेतोः । अन्तर्भावेति । अन्तर्भावस्य स्वरूपं प्रतिबिम्ब-

भाष्यप्रकाशः ।

बिम्बस्य स्मृतिसिद्धत्वाच्चेत्युक्तम् । तदपि तथा । आकाशनीलिमप्रतीतेराकाशस्वभावादेवोपपत्तौ पश्चाद्बाधाभावेन धियां प्रमात्वस्यौत्सर्गिकत्वेन च तस्याः प्रमात्वसिद्धौ नीलिम्नि पर्वतप्रतिबिम्बत्वबुद्धेरभिमानमात्रत्वात् । प्रतिध्वनौ शब्दप्रतिबिम्बत्वस्य स्मृतावनुक्तत्वेन तस्यापि तथात्वात् । नच 'छायाप्रत्याह्वयाभासा असन्तोप्यर्थकारिण' इत्येकादशस्कन्धवाक्ये प्रतिध्वनेरसत्त्वस्योक्तत्वात् सादृश्यस्य चोपलभ्यमानत्वात् तस्य प्रतिबिम्बरूपत्वं कल्प्यत इति वाच्यम् । नटकल्पितपारावतादिरुतवन्मायिकशब्दान्तरत्वस्याप्युक्तहेतुभ्यां शक्यवचनत्वेन तत्स्वरूपानिश्चयात् । इदं यथा तथा 'न प्रतिस्फुरणं रूपरहितस्य कदाचने'ति सर्वनिर्णयकारिकाया आवरणभङ्गे सम्यक् व्युत्पादितमिति न पुनः प्रपञ्च्यते । अतोऽम्बुवदग्रहणस्याभासीकरणं चतुर्वक्त्रस्याप्यशक्यमिति सूत्रव्याख्यानमसमञ्जसमेव । एवमग्रेप्यस्ति । तथापि तद्दूषणस्यानावश्यकत्वादुपरम्यते ।

रामानुजाचार्यास्तु । 'न स्थानतोपी'त्यारभ्य 'अतोऽनन्तेने'त्यन्तं षोडशसूत्रमेकमधिकरणमङ्गीकुर्वन्ति । 'उभयव्यपदेशा'दित्यारभ्य चतुःसूत्रमपरम् ।

तत्र प्रथमेऽधिकरणे पूर्वग्रन्थे जीवस्य वैराग्योत्पादनाय दोषान् दर्शयितुं जीवस्यावस्थाविशेषा निरूपिताः, इदानीं ब्रह्मप्राप्तीच्छाजननाय प्राप्यस्य ब्रह्मणो निर्दोषत्वं कल्याणगुणत्वं च प्रतिपादयितुमारभत इति प्रतिज्ञाय, देहसम्बन्धाज्जीवानां दोषसम्बन्धोऽतो देहसम्बन्धोऽपुरुषार्थः, स चाकर्मवश्यस्यापि परमात्मनोऽन्तर्यामितया सर्वचिदचिद्वस्तुषु विद्यमानत्वादस्त्येवेति प्राप्ते, आह, 'न स्थानतोपि परस्ये'ति । पृथिव्यादिस्थानतोपि परस्य ब्रह्मणो नापुरुषार्थसम्बन्धः । कुतः । उभयलिङ्गं सर्वत्र हीति । यतः सर्वत्र श्रुतिस्मृतिषु परं ब्रह्म उभयलिङ्गं निरस्तसमस्तदोषत्वकल्याणगुणाकरत्वलक्षणोपेतमभिधीयते । 'अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्प' इत्यादि, 'समस्तकल्याणगुणात्मकोऽसौ स्वशक्तिलेशोद्धृतभूतसर्गः । तेजोबलैश्वर्यमहावबोधः सुवीर्यशक्त्यादिगुणैकराशिः । परः पराणां सकला न यत्र क्लेशादयः सन्ति परावरेशे,' 'समस्तहेय-

रश्मिः ।

रूपेणान्तःप्रवेशः तस्य साधन इत्यर्थः । मठेति....। एवेति । प्रतिबिम्बयोगव्यवच्छेदकः । ननु शब्दगुणके आकाशे नीलिमप्रतीतिर्भ्रमो न स्वभावादित्यत आहुः पश्चादिति । यदि भ्रमात्मिका स्यात्तर्हि बाध्येत तदभावेन । तस्या इति । नीलिमप्रतीतेः । तस्यापीति । प्रतिबिम्बत्वस्यापि । तथात्वादस्मार्तत्वात् । सादृश्यस्येति । प्रतिबिम्बत्वप्रयोजकस्य । तस्येति । प्रत्याह्वयस्य ध्वनिपर्यायस्य । उक्तेति । प्रत्यक्षसिद्धश्रुतिसिद्धत्वाभ्याम् । तत्स्वरूपेति । प्रतिबिम्बस्वरूपानिश्चयात् । एवेति । सामञ्जस्ययोगव्यवच्छेदकैवकारः । पूर्वग्रन्थ इति । 'सन्ध्य'सूत्रमारभ्य 'मुग्धेऽर्धसम्पत्ति'सूत्रान्ते । दोषानिति । स्वप्नादिदोषान् । इच्छाया ज्ञानजन्यत्वाच्छाब्दज्ञानविषयत्वमाहुः प्राप्यस्येत्यादि । अस्त्येवेति । अयोगव्यवच्छेदकैवकारः । नीलं सरोजं भवत्येवेतिवत् । स्वशक्तीति । स्वशक्तिर्माया जीवश्च तयोर्लेशेन उद्धृतः भूतानामन्तर्यामिब्राह्मणोक्तानां पृथिव्यादीनां सर्गः कारणजन्मात्मा येन । अत्र विशिष्टाद्वैतमनुसन्धेयम् । 'अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः' । 'मायां तु प्रकृतिं विन्द्यान्मायिनं तु महेश्वर'मिति श्वेताश्वतरश्रुतिः । अस्मात् अस्माद्वा 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदु'रित्यनयोक्तात्पुरुषात् । विश्वमेतत् विश्वसमूहः । अन्यो जीवः । सुवीर्येति । आदिना । सकला इति क्लेशादय इत्यस्य विशेषणम् । एतमिति । उभयलिङ्गं निरस्तसमस्तदोषत्वकल्याणगुणाकरत्वलक्षणं पूर्वोक्तं समीपतरवर्तिनमर्थम् । ऊहापोहौ तर्कानुस्यूतत्वरूपौ

भाष्यप्रकाशः।

रहितं विष्ण्वाख्यं परमं पद'मित्यादि चेति सूत्रं व्याख्यायैतमेवार्थमग्रिमसूत्रेणोहापोहपूर्वकं स्थापयन्ति।

द्वितीये तु मूर्तामूर्तब्राह्मणे मूर्तामूर्तप्रपञ्चस्य ब्रह्मणि रूपत्वमुपदिश्यते। 'अथात आदेश' इत्यादिना मूर्तामूर्तरूपतया ब्रह्मणो या इयत्ता, सा प्रतिषिध्यते। 'न ह्येतस्मा'दित्यनेन ब्रह्मणोऽन्यदुत्कृष्टं नास्तीत्युक्त्वा, तदुपपादनाय 'अथ नामधेय'मित्यादिना नामनिर्वचनान्तेन प्राणशब्दनिर्दिष्टेभ्यश्चेतनेभ्योऽप्येष सत्यम्, कदाचिदपि ज्ञानादिसङ्कोचाभावादित्युक्तम्। तथा 'प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेश' इत्यादिश्रुतिष्वप्ययमर्थ उक्तः। तस्याचिद्वस्तुनो ब्रह्मरूपत्वप्रकार इदानीं चिन्त्यते, ब्रह्मणो निर्दोषत्वसिद्ध्यर्थम्। किमस्याचिद्वस्तुनो ब्रह्मरूपत्वमहिकुण्डलन्यायेन, उत प्रभाप्रभावतोरिवैकजातियोगेन, उत जीवस्येव विशेषणविशेष्यतयांशांशिभावेनेति। इह स्थाप्यमानं विशेषणविशेष्यभावमङ्गीकृत्य, 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्,' 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य' इत्यत्र सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टाद्ब्रह्मणः स्थूलचिदचिद्विशिष्टस्य ब्रह्मण उत्पत्तिरनन्यत्वेनोक्ता, किं युक्तम्, अहिकुण्डलवदिति, कुतः, उभयव्यपदेशात्। 'ब्रह्मैवेदं सर्वमात्मैवेदं सर्व'मिति तादात्म्यस्य 'हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणी'ति भेदस्य व्यपदेशाच्चाहिकुण्डलभावर्जुभाववत् तस्यैव ब्रह्मणः संस्थानविशेषा एवाचिद्वस्तूनि। अग्रिमसूत्रे वाशब्दः पक्षव्यावृत्त्यर्थः। ब्रह्मस्वरूपस्यैवाचिद्रूपेणावस्थाने भेदश्रुतयो ब्रह्मणोऽपरिणामित्ववादिन्यश्च बाधिता भवेयुः, अतो यथा प्रभातदाश्रययोर्भिन्नयोरपि तेजस्त्वेन तादात्म्यम्, एवमचित्प्रपञ्चस्यापि ब्रह्म-

रश्मिः।

तत्पूर्वकम्। अग्रे स्फुटिष्यति। उपेति। ऊहापोहरूपाय। माध्यन्दिनपाठभेदादाहुः **अथ नामेति**। प्राणशब्दनिर्दिष्टेभ्य इत्यनेनान्वयः। **चेतनेभ्यो** जीवेभ्यः 'मायया सन्निरुद्ध' इति श्रुतेः। विशिष्टाद्वैतात्। न तु प्राणा नापीन्द्रियाणि। 'प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्य'मिति श्रुत्यर्थ उक्तः। **प्रधानेति**। 'प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसारबन्धस्थितिमोक्षहेतुः। स तन्मयो ह्यमृत ईशसंस्थोऽजः सर्वगो भुवनस्यास्य गोप्ता। य ईशे अस्य जगतो नित्यमेव नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय। यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै। तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये' इति। **अयमर्थ** इति। विशिष्टमद्वैतम्। प्रधानं प्रकृतिः। क्षेत्रज्ञा जीवाः तेषां पतिः मूर्तामूर्तोत्कृष्टः। गुणत्रयेशः प्रधानेशः। यथायथं संसारेण बन्धस्य हेतुः। क्षेत्रज्ञः स्थितिहेतुः। प्रधानं विशिष्टाद्वैतात्। मोक्षहेतुः प्रधानक्षेत्रज्ञपतिरीश्वरः। स प्रसिद्ध ईश्वरस्तन्मयः प्रधानक्षेत्रज्ञमयः। ईशप्रलयोऽजो जीवः। एवेति। अवधारणेन। विदधाति उत्पादयति। दधाति पुष्णाति च। एवमयमर्थ उक्तः। षोडशसूत्र्यामुक्त्वा चतुःसूत्र्यामाहुः **तस्याचिदिति**। प्रधानवस्तुनः। **निर्दोषत्वेति**। विशिष्टत्वेपि अद्वैतत्वे दोषप्राप्तेर्निर्दोषत्वसिद्ध्यर्थम्। **अहीति**। अहेः कुण्डलं अहिकुण्डलिका अहिः कुण्डलिकेति प्रतीतिद्वयात्। **एकजातीति**। तेजस्त्वजातियोगेनेत्यर्थः। **विशेषणेति**। ब्रह्मणोंशो जीव इति जीवस्यांशि ब्रह्मेति च प्रत्ययात्। **प्रकृतिश्चेति**। प्रथमाध्यायसमाप्तौ। तदनन्यत्वसूत्रं पूर्वाध्याये। **भेदस्येति**। कर्ता गुणेशः करणं जीव इति भेदस्तस्य। अहेः कुण्डलभावः ऋजुभावश्च तद्वत्। **तस्यैवेति**। चिदचिद्विशिष्टस्यैव। उक्तश्रुतिभ्य एवकारः। **एवेति**। उक्तश्रुतिभ्य एवैवकारः। **अग्रिमेति**। प्रकाशाश्रयवद्वेति सूत्रे। **पक्षेति**। यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वेत्यत्र। **एवेति**। स्वशक्तिलेशयोगव्यवच्छेदकैवकारः। **भेदश्रुतय** इति। 'प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेश' इत्यादय उक्ताः। प्रधानक्षेत्रज्ञानां पतिरिति भेदे षष्ठी। **अपरीति**।

भाष्यप्रकाशः।

रूपत्वमिति। 'पूर्ववद्वे'त्यग्रिमसूत्रे वाशब्दः पक्षद्वयव्यावृत्त्यर्थः। एकस्यैव द्रव्यस्यावस्थाविशेषयोगेपि ब्रह्मस्वरूपस्यैवाचिद्द्रव्यस्वरूपत्वादुक्तदोषादनिर्मोक्षप्रसङ्गः। अथ प्रभातदाश्रययोरिवाचिद्ब्रह्मणोर्ब्रह्मत्वजातियोगमात्रं विवक्षितम्, तदा अश्वत्ववद्ब्रह्मापीश्वरे चिदचिद्वस्तुनोश्चानुवर्तमानं सामान्यमिति सकलश्रुतिस्मृतिव्यवहारविरोधः। अतः पूर्ववद्वा, 'अंशो नानाव्यपदेशात्' 'प्रकाशादिवत्तु नैवं पर' इति जीववत् पृथक्स्थित्यनर्हविशेषणत्वेनाचिद्वस्तुनो ब्रह्मांशत्वम्, विशिष्टवस्त्वेकदेशत्वेनाचिद्व्यवहारो मुख्यः, विशेषणविशेष्ययोः स्वरूपभेदेन भेदव्यवहारोपि मुख्य इति ब्रह्मणो निर्दोषत्वं रक्षितम्। तदेवं प्रकाशजातिगुणशरीराणां मणिव्यक्तिगुण्यात्मनोऽपृथक्सिद्धविशेषणतया यथांशत्वम्, तथेह जीवस्याचिद्वस्तुनश्च ब्रह्म प्रत्यंशत्वम्। किञ्च। 'स एष महानज आत्मा अजरः' 'नास्य जरयैतज्जीर्यत' इत्यादिभिर्ब्रह्मणोऽचिद्धर्मप्रतिषेधादपि विशेषणविशेष्यत्वेनैवांशांशिभाव इत्यर्थः। अतः सूक्ष्मचिदचिद्वस्तुविशिष्टं कारणभूतं ब्रह्म, स्थूलचिदचिद्विशिष्टं वस्तु कार्यभूतं ब्रह्मेति कारणात् कार्यस्यानन्यत्वं कारणभूतब्रह्मविज्ञानेन कार्यस्य ज्ञाततेत्यादि सर्वमुपपन्नम्। ब्रह्मणो निर्दोषत्वेन कल्याणगुणाकरत्वेन चोभयलिङ्गत्वमपि सिद्धमित्याहुः।

तत्र प्रथमे द्वितीये च यदधिकरणारम्भप्रयोजनमुक्तं तत्र वयमुदासीनाः। ब्रह्मप्राप्तीच्छाजननाय ब्रह्मणो निर्दोषत्वसाधनाय चेदानीं ब्रह्मणो निर्दोषकल्याणगुणाकरत्वे निरूपणीये जिज्ञासासूत्रमारभ्य निरूपितस्य ब्रह्मस्वरूपनिरूपकग्रन्थस्य निष्प्रयोजनकत्वापत्तेः। तेनैव तथात्वसिद्धावेतदधिकरणद्वयवैयर्थ्यप्रसङ्गाच्च। तेनासिद्धाविदानीमपि तद्विषयवाक्यैरेव निर्णयस्य कर्तव्यतया तत्सिद्धेः सुतरां दौर्घट्यादिति।

यत् पुनर्द्वितीये कारणभूतस्य ब्रह्मणश्चिदचिद्विशिष्टत्वमुक्तम्। तच्चिन्त्यम्। आदिसृष्टिप्राक्काले वैशिष्ट्यस्य वक्तुमशक्यत्वात्। तत्र सत्तत्सत्याक्षरादिपदैः कारणस्य निर्देशात्, तेषां च 'ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः' 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'एतद्वै तदक्षरं गार्गी'त्यादि-

रश्मिः।

सकला न यत्र क्लेशादयः सन्ती'ति 'समस्तहेयरहितं विष्ण्वाख्यं परमं पद'मित्याद्याः। **एवमिति**। ब्रह्माचित्प्रपञ्चानां भिन्नानामपि विशिष्टत्वेन तादात्म्यमचित्प्रपञ्चस्यापि ब्रह्मस्वरूपत्वमित्यर्थः। **पक्षद्वयेति**। ब्रह्मणः संस्थानविशेषा एवाचिद्वस्तूनि, ब्रह्मस्वरूपस्यैवाचिद्रूपेणावस्थानमिति पक्षद्वयव्यावृत्त्यर्थः। **उक्तेति**। 'भेदश्रुतयो ब्रह्मणोऽपरिणामी'त्यादिग्रन्थोक्तात् दोषात्। अपहतपाप्मत्वादिप्रकारकज्ञानाविषयत्वेपि तज्ज्ञानादनिर्मोक्षप्रसङ्गः। मोक्षनिष्क्रान्ताभावप्रसङ्गः। मोक्षनिष्क्रान्तशब्दो भावप्रधानः। **अश्वत्ववदिति**। 'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववदि'त्यस्य वासनयोपमानम्। **ब्रह्मापीति**। मनोवागविषयवस्तु महेश्वरत्वं वा सामान्यमित्यनेनान्वयः। **तादृशं तद्ब्रह्मस्त्विति**। विशिष्टाद्वैतम्। अतो भेदप्रतिपादिकाः सकलश्रुतिस्मृतयस्तासां व्यवहारास्तेषां विरोध इत्यर्थः। **पूर्ववद्वेति** सौत्रं पदं व्याख्यान्ति स्म **अंशो नानेति**। **पृथगिति**। चिदचिद्विशिष्ट ईश्वर इत्यत्रेदं बोध्यम्। निर्दोषत्वं मायाया भेदेन मायाकृतदोषान्निष्क्रान्तत्वम्। **प्रकाशेत्यादि**। प्रकाशो मणिनिष्ठः। जातिर्व्यक्तिनिष्ठा। गुणो गुणिनिष्ठः। शरीरमात्मनिष्ठम्। **अपृथगिति**। मणिः प्रकाशवान्, व्यक्तिर्जातिमती, गुणोस्त्यस्मिन्गुणी, शरीरमचिद्वस्तु, शरीरवानात्मा इत्येवमपृथक्सिद्धे वस्तुनि विशेषणतयेत्यर्थः। **तेनैवेति**। पूर्वग्रन्थेन। एवकारोऽधिकरणद्वयारम्भप्रयोजनयोगव्यवच्छेदकः। **तेनेति**। पूर्वग्रन्थेन। **एवेति**। अर्थैक्ये प्रतिपादकैक्यस्य युक्तत्वादेवकारः। **तत्सिद्धेरिति**। असिद्धसिद्धेरित्यर्थः। **तत्रेति**।

१. ब्रह्मत्वमपीति मूलप्रकाशे टिप्पणम्। २. अभेदव्यवहारः। ३. वस्तुविशिष्टम्। ४. पृथक्स्थित्यनर्हविशेषणत्वेन। २३ ब्र० सू० १०

भाष्यप्रकाशः ।

स्मृतिश्रुतिभिः केवलब्रह्मवाचकत्वावगमात् । सुबालोपनिषद्यपि पृथिव्यादीनां स्वस्वकारणे लयोक्त्यनन्तरं 'तमःपरे देवे एकीभवती'ति शब्दान्तरेण तमसो मूलकारणभूतपराभेदस्यैव बोधनात् । 'लीङ् श्लेषणे' 'श्लिष आलिङ्गन' इति धात्वर्थविचारे लयस्याविभागरूपत्वेन सिद्ध्या तद्विलक्षणस्यैकीभावस्य भेदाभावरूपेणैव सिद्धेर्वैपरीत्यस्य वक्तुमशक्यत्वात् । कारणप्रायपाठेन कारणतयैव परस्यापि देवस्य सिद्धेरिति । इदं यथा तथा समन्वयसूत्रे प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधसूत्रे तदनन्यत्वादिसूत्रे च व्युत्पादितमिति न पुनः प्रपञ्च्यते ।

एतन्मतचौरः शैवोऽप्येतेनैव दत्तोत्तरः, प्रहस्तेऽपास्तश्च ।

माध्वास्तु । 'न स्थानतोऽपी'त्यादिविंशतिसूत्र्यां त्रिसूत्र आद्ये अधिकरणे स्थानादिभेदकृताया भेदप्रतीतेः स्वरूपाभेदाबाधकत्वादेक एव सर्वत्र परमेश्वर इति, 'अरूपवदेवे'ति द्वितीये चतुःसूत्रे अरूपवत्त्वमप्राकृतरूपवत्त्वायेति, 'अत एव चे'त्येकसूत्रे तृतीये जीवस्य ब्रह्मभिन्नत्वाय प्रतिबिम्बत्वमुच्यत इति, 'अम्बुव'दित्येकसूत्रे चतुर्थे भक्तिं विना जीवस्य न स्वरूपसुखाभिव्यक्तिरिति, 'वृद्धिह्रासे'तिद्विसूत्रे पञ्चमे भक्तिः सर्वत्र नैकविधेति तत्फलदानेपि तारतम्यमिति, 'प्रकृतैतावत्त्वे'त्येकसूत्रे षष्ठे भगवान् पालकोपीति, 'तदव्यक्त'मिति चतुःसूत्रे 'प्रकाशवच्चावैशेष्य'मिति भेदनेन पञ्चसूत्रतां कृत्वा, तत्र सप्तमे परमात्मा सदा अव्यक्तस्वभावः, स च भक्तिसाध्यात् प्रसादाद्व्यक्तो भवतीति, 'उभयव्यपदेशा'दिति चतुःसूत्रेऽष्टमे आनन्दादिरूपोपि श्रुतिबलादानन्दादिगुणकोपीति सर्वत्र माहात्म्यमेवोच्यते भक्त्यर्थमित्याहुः ।

तत्रापि वयमुदासीनाः । आद्ये हेतोरध्याहार्यत्वात् । द्वितीयार्थस्य प्रागपि सिद्धत्वेन निष्प्रयोजनकत्वात् । तृतीयेपि जीवस्य मुख्यप्रतिबिम्बतायां मिथ्यात्वापत्तेर्भिन्नत्वस्य प्रागेव साधितत्वाच्च सूत्रवैयर्थ्यमित्यादिदोषाणां भानादिति ॥३०॥ इति नवमं प्रकाशाश्रयवद्वेत्यधिकरणम् ॥ ९ ॥

रश्मिः ।

कारणभूतप्रतिपादिकासु । **शब्दान्तरेणे**ति । लयशब्दादन्येन 'एकीभवती'ति शब्देन । **एवे**ति । लययोगव्यवच्छेदक एवेति । **अविभागे**ति । द्वयोर्धर्मत्वेनार्धनारीश्वरवदविभागरूपत्वेन । **एव सिद्धे**रिति । सैन्धवखिल्य उदके प्रास्ते तथादर्शनादेवकारः । दृष्टान्तेन सिद्धेरित्यर्थः । **वैपरीत्यस्ये**ति । अविभाग एकीभावः भेदाभावो लय इति वैपरीत्यं तस्य । **कारणप्राये**ति । कारणभूतप्रतिपादिकासु प्रायपाठो बोध्यः । **कारणतयैवे**ति । कार्यांशतयेत्यस्य योगस्तस्य व्यवच्छेदकः ।

शैव इति । भगवान् शैवः । **एतेनैवे**ति । रामानुजाचार्यमतदूषकग्रन्थेन । **प्रकारभेदाभावाद्वे**ति ।

अप्राकृतेति । तथाच रूपशब्दः प्राकृतरूपे लाक्षणिक इति भावः । **भक्तिं विने**ति । भक्ति विनाम्बुवदग्रहणात् जीवस्य न तथात्वं स्वरूपसुखाभिव्यक्तिमत्त्वं स्वरूपसुखाभिव्यक्तिरिति यावत् । इत्यर्थकात्तथा । **भक्तिः सर्वत्रे**ति । अत्र तु व्याख्यासुधायामर्थः कृतः । 'भक्तेर्वृद्धिह्रासभाक्त्वं ब्रह्मादीनां भक्तत्वेन्तर्भावात् । एवं भक्तितारतम्येऽङ्गीकृत एवेश्वरस्योभयान्प्रति सामञ्जस्यसंभवादिति ।' **पालकोपी**ति । अत्र पूर्वपक्षप्रदर्शनपरं भाष्यम् । 'सृष्टिसंहारकर्तृत्वमेवास्य, न पालकत्वम् । स्वतःसिद्धेरिति । तदयुक्तम् । सृष्टिसंहारकर्तृत्वाभ्युपगमस्य व्यर्थत्वात् । स्वतःसिद्धेरित्यत्रास्येत्यप्रतीतेश्च । स्थितेरित्यध्याहारेपि स्वभाववादाश्रयणस्य सृष्टिसंहारसाम्येन तत्कर्तृत्वाभ्युपगमानुपपत्ते'रिति ग्रन्थात् । **भेदनेने**ति । 'प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च तत्कर्मण्यभ्यासा'दिति सूत्रभेदनेनेत्यर्थः । **सप्तम** इति । अधिकरणे । तदव्यक्तसूत्रार्थमाहुः **परमात्मे**ति । अभक्तानामिति बोध्यम् । प्रकाशश्चेति सूत्रार्थमाहुः **स चे**ति । प्रकाशपदार्थो व्यक्त इति । **श्रुती**ति । 'आनन्दं ब्रह्म' 'एष ह्येवानन्दयाती'ति श्रुतिबलात् । **सर्वत्रे**ति । उभयव्यपदेशे । देवत्वं माहात्म्यम् । एवकारोऽभेदयोगव्यवच्छेदकः । **हेतो**रिति । भेदवाऽऽ[1]दोनुसन्धेयः । प्रतिपिपादयिषितोभयलिङ्गे हेतुतयो[illegible]निषेधो हेतुः । भेदे प्रतिपिपादयिषिते उभयलिङ्गनिषेधो न हेतुरतोत्र परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र स्थानतोपि नेत्यतोऽभेदः प्रसिद्धः प्रतिपत्तव्यः । अप्राकृतरूपवत्त्वं प्रसिद्धं प्रतिपत्तव्यम् । एक एव सर्वत्रेश्वर इति एवं हेतोरभेदरूपस्याप्राकृतरूपवत्त्वस्य चाध्याहार्यत्वात् । **द्वितीयार्थस्ये**ति । अत्राधिकरणे प्रथमसूत्रेण रूपराहित्यमुपपाद्य 'प्रकाशवच्चावैयर्थ्य'मिति सूत्रेण रूपवत्त्वविषयाणां श्रुतीनां वैयर्थ्यमाशङ्क्य विलक्षणरूपत्वाङ्गीकारेण परिहृतमित्येवं व्याख्यासुधोक्तस्येत्यर्थः । **प्रागपी**ति । 'न स्थानतोपी'त्यधिकरणेपि । हेत्वन्तरमाहुः **भिन्नत्वस्ये**ति । **प्रागेवे**ति । भेदघटितसूत्रेषु । **इत्यादी**ति । आदिना प्रसिद्धार्थानां सूत्राविषयवाक्यप्रतिपाद्यत्वं दोषः ॥ ३० ॥ **इति नवमं प्रकाशाश्रयवद्वेत्यधिकरणम्** ॥ ९ ॥

परमतः सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः ॥ ३१ ॥ **सङ्गती**ति । प्रसङ्गसङ्गतिरिति वक्ष्यन्ति । **धर्मी**ति । 'ब्रह्मैवेदमग्र आसीत्' 'आत्मैवेदमग्र आसी'दिति पुरुषविधब्राह्मणे । प्रयोगाभिप्रायेण । स्पष्टं द्वितीयस्कन्धनवमाध्याये ब्रह्माणं प्रति स्वरूपदर्शने । 'द्वन्द्वं न्यञ्चि पात्राणि प्रयुनक्ती'ति गृह्यसूत्रम् । **सहे**ति । 'स्वरूपं द्विविधं चैव सगुणं निर्गुणं तथे'ति श्रीगोपालतापिनीयात् । न तु ब्रह्म प्रसिद्धम्, 'वासुदेव आत्मे'ति द्वितीयसुबोधिन्युक्तदिशा सहानवस्थानम् । **ज्ञेया**दिति । 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मित्याद्यनुसन्धेयम् । **तत** इति । फलरूपात् । **अक्षरा**दिति । परतोऽक्षरादित्यन्वयः । **अयमेको** व्यपदेशः द्वितीयकोटौ बीजम् । प्रथमकोटौ बीजमाहुः **सेत्वादिव्यपदेश** इति । सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशः । एतेऽत्र यथाक्रमं बीजे बोध्ये । अग्रे स्पष्टे । **एवे**ति । संशयग्रन्थयोगव्यवच्छेदक एवकारः । **तमेवे**ति । पूर्वपक्षम् । **एवे**ति । पूर्ववत् । **फले**ति । फलमक्षरात्परं ततोऽन्यत्फलान्तरं परमत **इति** सूत्रभागोक्तम् । तत्सत्त्वे वैदिका हेतवो वक्तव्याः, अन्यथा 'अक्षरात्परतः पर'इत्याद्युक्तश्रुतिभ्यां फलान्तरबोधेऽवक्तव्यत्वं सूत्रस्य स्यात् । वैदिका एवेत्येवकारस्तु वैदिकहेतुसत्त्वेऽन्योक्तौ प्रतारकत्वं स्यादिति

[1] अज्ञातं कः ।

परमतः सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः ॥ ३१ ॥ (३-२-१०)

धर्मिधर्मविरोधः परिहृतः । धर्म्यन्तरविरोधपरिहारार्थमधिकरणमारभते । तत्र पूर्वपक्षमाह । परमतः । अतोपि ब्रह्मणः परमन्यदुत्कृष्टं फलमस्ति । तत्र वैदिकहेतवः । सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः । यद्यपि समन्वय एवैते दोषाः

भाष्यप्रकाशः ।

परमतः सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः ॥३१॥ सङ्गतिकथनपूर्वकमधिकरणप्रयोजनमाहुः धर्मीत्यादि । ब्रह्म सर्वधर्मशून्यम्, न तु धर्मीति, धर्माश्चेतरेतरविरुद्धाः न ह्येकत्र सम्भवन्तीति, धर्माश्च कार्याः, न ब्रह्मेत्यादिरूपो यो विरोधः, सोधिकरणचतुष्टयेन परिहृतः । अतः परं धर्म्यन्तरस्यापि सहावस्थानमाशङ्क्य तत्परिहारार्थमारभते । तथाच प्रसङ्गः सङ्गतिरुक्तविरोधपरिहारश्च प्रयोजनमित्यर्थः । तत्र यथा ज्ञेयाद्ब्रह्मणः फलरूपमुत्कृष्टम्, एवं ततोप्यन्यदुत्कृष्टमस्ति नवेति सन्देहः । तद्बीजं तु 'अक्षरात् परतः परः' 'पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गति'रिति व्यपदेशः सेत्वादिव्यपदेशश्च । तयोः पूर्वपक्षादेव बुध्यमानत्वात् तमेव वदतीत्याशयेनाहुः तत्रेत्यादि । तत्र वैदिकहेतव इति । फलान्तरसत्त्वे वैदिका एव हेतवः । तथाच

परिहृताः, तथापि स्वरूपविरोधपरिहारप्रस्तावात् पुनरुच्यन्ते। सर्ववाक्यप्रतिपाद्यमेकमेवेत्यपि न सिद्धम्। एतैर्हेतुभिः परिच्छेदेन धर्मिभेदे सिद्धे न पूर्वाधिकरणसिद्धान्तविरोधः। ननु समन्वयेन ब्रह्मत्वमुत्तरपादेनैक्यं पूर्वाधिकरणेनाविरोध इति व्यर्थमिदमधिकरणमिति चेत्। न। अर्थबलविचारोयम्। समन्वये चोत्तरपादे च शब्दबलविचारः। धर्मिविचाराच्च पूर्वेण गतार्थत्वम्।

फलतः साधनतश्च प्रमेयाच्च प्रमाणतः।
विचारेणाबृहत् तच्चेत् कोऽन्यः साधयितुं क्षमः॥ १॥

अतो हेतून् बाधकानाह। एकदेशबाधकत्वात्। तत्र फलतो बाधहेतुमाह। सेतुव्यपदेशात्। 'अथ य आत्मा स सेतुर्विधृति'रिति। 'दहर उत्तरेभ्य' इत्यत्र ब्रह्मत्वमस्य सिद्धम्। 'अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्ती'त्युपक्रम्य, 'सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवती'त्युक्त्वा, कामानुपपाद्य, अज्ञानव्यवधानं ज्ञानप्रशंसार्थमुक्त्वा, ज्ञानानन्तरं संसारसम्बन्धाभावाय सेतुत्वं वदति। पापाद्यतितरणार्थम्। यश्च तरति, तद्गताश्च दोषा गच्छन्तीति च। अतः संसारफलयोर्मध्ये विद्यमानत्वात् तीर्णस्यैव फलश्रवणात् फलरूपं वस्तु किञ्चिदन्यदस्तीति ज्ञायते। निधित्वेन

भाष्यप्रकाशः।

शब्दबलेन अद्वितीयत्वादिवदर्थबलेन फलान्तरस्यापि सिद्ध्या प्राप्ते विरोधे वेदान्तवाक्यार्थनिर्धाराय प्रवृत्तस्यैतद्विचारणमावश्यकमिति बोधितम्। ननु सेत्वादिवाक्यानां पूर्वं विचारितत्वात् पुनः कथनस्य किं प्रयोजनमित्यत आहुः यद्यपीत्यादि। सर्वेषां वेदान्तानां ब्रह्मपरत्वविचारे यद्यप्येते सेत्वादिपदोक्ता अवान्तरवर्तित्वादयः परिहृताः, तथापि परस्वरूपविरोधित्वेन बाधका इत्येवं न परिहृता इति तथा परिहर्तुं पुनरुच्यन्ते। किञ्च। तेषु तेषु वाक्येषु तत्तद्रूपाणां प्रतिपादनात् सर्ववाक्यप्रतिपाद्यमेकमेवेत्यपि न सिद्धम्, अतस्तत्साधनायापि पुनरुच्यन्त इत्यर्थः। ननु पूर्वाधिकरणे ब्रह्मणः परत्वमद्वितीयत्वं च सिद्धम्, अत्र चैतैर्हेतुभिस्तदाक्षिप्यत इत्याक्षेप एवात्र सङ्गतिरस्तु, न प्रसङ्ग इत्यत आहुः एतैरित्यादि। सेत्वादिभिर्हेतुभिः परिच्छेदेन ब्रह्मणोऽवान्तरत्वनिश्चयेन धर्म्यन्तरे सिद्धे तस्मिन्नेव परत्वमद्वितीयत्वं च पर्यवसास्यतीति न पूर्वाधिकरणसिद्धान्तानां विरोधः, अतो नाक्षेपः सङ्गतिः, किन्तु प्रसङ्ग एव सङ्गतिरित्यर्थः। पुनः प्रकारान्तरेण वैयर्थ्यमाशङ्क्य परिहरन्ति नन्वित्यादि। अविरोध इति। प्रतिषेधबोधकस्याद्वितीयपदस्यासङ्कुचितवृत्तिकत्वात् तेन धर्म्यन्तरस्यापि निवृत्तेः स्वरूपस्याप्यविरोध इत्यर्थः। धर्मिविचारादित्यादि। पूर्वाधिकरणे धर्माणां ब्रह्मणः सकाशाद्भेदो निवारितः, इह तु धर्म्यन्तरं निवार्यत इति धर्मिविचारात् तथेत्यर्थः।

अतः परं सूत्रं व्याकरिष्यन्तो हेतुचतुष्टयकथनप्रयोजनं गृह्णन्ति फलत इत्यादि। फलत इत्यादौ ल्यब्लोपे पञ्चमी। फलमनुसन्धायेत्यर्थः। एवमग्रेपि। अबृहत्तदिति। न परं ब्रह्म, पूर्वाधिकरणेषु विचारितम्। कोऽन्य इत्यादि। फलादिव्यतिरिक्तः कोऽन्यो हेतुस्तस्य परब्रह्मत्वं साधयितुं समर्थ इत्यर्थः। साधयितुमिति स्वार्थेणिच्। 'रामो राज्यमचीकर'दितिवत्। विभजन्ते अत इत्यादि। यत एवं विचारेऽन्यो हेतुर्न साधनसमर्थः, अतः परत्वबाधकान् हेतून् क्रमेणाहेत्यर्थः। क्रमे हेतुमाहुः एकेत्यादि। परब्रह्मत्वे साधनीये परत्वमेकदेशस्तद्बाधकत्वादित्यर्थः। 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मिति फलत्वात् परत्वमुक्तम्, अतस्तद्बाधकं हेतुं पूर्वं वदतीत्याशयेनाहुः तत्रेत्यादि। एकदेशबाधकत्वे मानमाहुः दहरेत्यादि। अस्येति। सेतोरित्यर्थः। फलतो बाधकं हेतुं व्युत्पादयन्ति अथेत्यादि। तद्गताश्च दोषा गच्छन्तीति। 'एतं सेतुं तीर्त्वा अन्धः सन्ननन्धो भवती'ति तत्र श्रावणादित्यर्थः। ननु पूर्वं 'तद्यथापि हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि सञ्चरन्तोपि न विन्देयु'रित्यादिना तस्मिन् फलत्वमपि दृष्टान्ते बोधितमिति कथं फलतो बाधकत्वमित्यत आहुः निधि-

रश्मिः।

अन्यहेतूक्तियोगव्यवच्छेदकः। नत्वन्ये हेतव इति। शब्देति। 'एकमेवाद्वितीय'मित्यादिशब्दबलेन। अर्थेति। सेतून्मानाद्यर्थबलेन। अर्थास्तु वक्ष्यमाणानां सेत्वादिबोधिकानां श्रुतीनाम्। **विरोध इति।** अद्वितीयादिश्रुतिविरोधे। **प्रवृत्तस्येति।** भगवतो व्यासस्य। **एतदिति।** परतःपरस्य सम्बन्धि। अन्यथा वैदिकहेतूक्तिपुरःसरं परात्परविचारणमयुक्तं स्यात्। ब्रह्मेतरात्मधर्माणां तयोरभेदेन ब्रह्मपरत्वात्पादार्थसङ्गतिः। **पूर्वमिति।** दहराधिकरणे सेतुवाक्यम्। तत्रैवोन्मानवाक्यं 'यावान् वा अयमाकाश'इत्यादि। तत्रैवाधाराधेयसम्बन्धवाक्यं प्रमेयनिरूपणप्रस्तावे 'उभे अस्मि'न्नित्यादि। अन्तस्तद्धर्माधिकरणे भेदवाक्यं 'य एषोन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुष' इत्यादि। **अवान्तरेति।** अवान्तरवर्तित्वं परिच्छेदनिरूपणात्। आदिना परिच्छेदः आधाराधेयभावः सम्बन्धः भेदश्च। **परीति।** उक्ताधिकरणेषु परिहृताः। तथापीतिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म **तथापीति।** सर्वेतिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म **किञ्चेत्यादि।** **तेष्विति।** अधिकरणविषयवाक्येषु। 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूप'मिति श्रुत्यैवकारः। **एतैरिति।** सेत्वादिभिः। **तदाक्षिप्यत इति।** परत्वमद्वितीयत्वं च पूर्वोक्तं कथमित्याक्षेप आक्रोश इत्यर्थः। एवकारव्यवच्छेद्यमाहुः **न प्रसङ्ग इति।** **धर्म्यन्तर इति।** अतः परस्मिन्। **तस्मिन्नेवेति।** एवकारेण परब्रह्मान्यरूपान्ययोगो व्यवच्छिद्यते। **विरोध इति।** 'अक्षरात्परतः पर'इति श्रुतावक्षरात्परतोपि परत्वकथनाच्च विरोध इत्यर्थः। **प्रसङ्ग एवेति।** आक्षेपसङ्गतिव्यवच्छेदक एवकारः। **वैयर्थ्यमिति।** अधिकरणवैयर्थ्यम्। **नन्वित्यादीति।** समन्वयेन पूर्वाध्यायार्थेन धर्म्यन्तरस्य ब्रह्मत्वं तत्प्रतिपादकस्य 'अक्षरात्परतः पर' इत्यस्य परतोऽक्षरादित्यन्वयात्। उत्तरपादे 'सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषा'दित्यारम्भके वेदैक्येन विद्यैक्यम्। **प्रतिषेधेति।** द्वितीयप्रतिषेधबोधकस्य। स्वरूपस्येत्येकस्य। एतेनावान्तरवर्तित्वादीनां परस्वरूपविरोधित्वेन बाधकत्वं परिहृतम्। **भाष्ये।** **इदमिति।** ब्रह्मत्वविद्यैक्यप्रतिपादकम्। **अर्थबलेति।** धर्म्यन्तररूपार्थबलेन 'अक्षरात्परतः पर' इति यथावद्योज्येत्यर्थबलविचारः। **बादरिमतम्।** व्यासमतमाहुः **समन्वय इति।** व्यासमतत्वेन तस्य शब्दबलविचारकत्वात्। **प्रकृते।** **एवं विचार इति।** परब्रह्मतः परविचारे। **परत्वेति।** परब्रह्मणः परत्वबाधकान् अक्षरात्परतः परस्य साधकान्। सूत्रकार आह **व्युत्पादयन्तीति।** छान्दोग्यीयदशमप्रपाठकस्थाभ्यां श्रुतिभ्याम्। **पूर्वमिति।** छान्दोग्ये दशमप्रपाठक एव। 'अथ य आत्मा स सेतुर्विधृति'रित्यस्मात्पूर्वम्। **इत्यादिनेति।** 'एवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढा' इत्यादिपदार्थः। **तस्मिन् फलत्वमिति।** परब्रह्मणि फलत्वं दुर्विज्ञेयत्वेन निधित्वेन वा बोधितमित्यर्थः, नतु सेतावित्यर्थः। वाक्यस्य 'अथ य आत्मे'त्यस्मात्पूर्वत्वात्। अथेत्यस्यानन्तर्यार्थत्वे सेतावित्यर्थः। **ब्रह्म सेतुरिति।** **फलत इति।** फलमनुसन्धाय सेतुरूपहेतोः परत्वस्य बाधकत्वम्। फलतोऽत्र सेतुत्वं ब्रह्मत्वम्। यद्यपि 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मित्यत्र परपदम्, अत्र फलमिति तौल्यम्, तथापि 'अक्षरात्परतः पर'

फलवचनमवान्तरफलपरं भविष्यति। 'एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्ये'त्यप्यत्रोदाहरणम्। तथा उन्मानव्यपदेशात्। तत्रैव 'यावान् वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश' इति साधनयुक्तिप्रश्ने, उन्मानेन परिच्छेदं निरूपयति। दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकत्वेन ज्ञानं साधनम्। तत्र बहिराकाशज्ञानमपि साधनं भवति।

भाष्यप्रकाशः।

त्वेनेत्यादि। निधेरर्थरूपत्वेन परतः पुरुषार्थत्वात् तद्दृष्टान्तेनात्र फलकथनात् तथेत्यर्थः। अत्रोदाहरणमिति। ल्यबन्तप्रयोगादवान्तरत्वे उदाहरणमित्यर्थः। अत्र मध्ये विद्यमानत्वादित्यनेनाव्यापकत्वबोधनाद्देशपरिच्छेदो ज्ञापितः। साधनतो बाधकं व्युत्पादयन्ति तथा उन्मानेत्यादि। तत्रैवेति। दहरविद्यायामेव। तत्र हि दहरपुण्डरीकान्तर्यो दहर आकाशस्तदन्तःस्थितस्य ज्ञानार्थकयत्नरूपमन्वेषणं साधनं तस्य युक्तिर्योजनं विषयावगमानुकूलत्वं तदर्थके प्रश्ने, 'तं चेद्ब्रूयु'रित्यादिना कृते, तदुत्तरं वदन् 'यावान् वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश' इति यावत्तावत्पदाभ्यामाकाशसमानताव्यपदेशेन दहराकाशस्य परिच्छेदं निरूपयति। ततश्च दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकत्वेनाकाशद्वयज्ञानं दहराकाशस्वरूपज्ञानसाधनम्। तत्र च दृष्टान्तभूतबहिराकाशज्ञानमपि साधनं भवति। तथाच बहिराकाशः कालतः परिच्छिन्न इति दार्ष्टान्तिकभूतो दहराकाशोपि तथा भवति। नच यावत्तावत्पदाभ्यां परिमाणसाम्यमेवायाति, नान्यत्साम्यमिति वाच्यम्। 'प्रजापतिर्यज्ञानसृजते'त्यत्र 'तानुदमिमीत, यावदग्निहोत्रमासीत्तावानग्निष्टोम' इति फलतः साम्यवदत्रापि साम्या-

रश्मिः।

इति श्रुतेर्बाधकत्वं बोध्यम्। **परत** इति। सुषुप्त्यवस्थातः। **अवान्तरे**ति। ब्रह्मप्राप्तेरवान्तरफलपरम्। **तद्दृष्टान्तेने**ति। निधिघटितवाक्योक्तदुर्ज्ञेयत्वदृष्टान्तेनात्र धर्म्यन्तरे। तथा अवान्तरफलपरं भविष्यति। **ल्यबन्ते**ति। 'क्त्वो ल्यबि'ति क्त्वो व्याकरणे समानकर्तृकाद्धातोर्विधानाद्भृगूपनिषदि कामरूप्यनुसंचरन्नितिश्रुत्युक्तसंचरणफलात्फलेऽवान्तरत्वे इत्यर्थः। **इत्यनेने**ति। भाष्येण। तथाचातः धर्म्यन्तरं परब्रह्मणः परं सेतुव्यपदेशात्, यन्नैवं तन्नैवम्, 'जन्माद्यस्य यत' इत्यत्र परवत्। **साधनत** इति। साधनमनुसन्धायोन्मानरूपहेतुं धर्मिपरत्वबाधकं व्युत्पादयन्ति स्मेत्यर्थः। एवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदकः। **अन्वेषण**मिति। 'किं तत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वा विजिज्ञासितव्य'मिति प्रश्नेनेष्टत्वात्साधनम्। पाठान्तरे 'तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वा विजिज्ञासितव्य'मिति विधानात्साधनम्। तत्किंविशिष्टं आसमन्ताच्छब्देर्थे शङ्काराहित्यपूर्वकं यज्ज्ञानं तदर्थकस्तत्प्रयोजनको यत्नस्तद्रूपमन्वेषणं तद्विशिष्टम्। भाष्ये 'किं तत्रे'त्याद्युक्तपाठे युक्तेः प्रश्नेऽन्वयेपि पाठान्तरे किंप्रयोगाभावेन प्रश्नेऽन्वयाभावेनाहुः **तस्य युक्ति**रिति। योजनं पूर्वोक्ताकाशान्तःस्थिते बोध्यम्। शाब्दज्ञानविषयोऽर्थः तस्यावगमो ज्ञानम्। तदनुकूलं तज्जनकं तत्वं तदनुकूलत्वं साधन इति। **तदर्थके**ति। तत् विषयावगमानुकूलत्वमर्थः प्रयोजनं यस्य प्रश्नस्य तादृशप्रश्ने। **इत्यादिने**ति। 'तं चेद्ब्रूयुर्यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोस्मिन्नन्तराकाशः किं तदत्र वर्तते यदन्वेष्टव्यं यद्वा विजिज्ञासितव्य'मित्यादिशब्दार्थः। **तदुत्तरं** प्रश्नोत्तरम्। भाष्यीयोन्मानशब्दार्थमाहुः **आकाशसमानते**ति। दृष्टान्तेत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म **ततश्च दृष्टान्ते**ति। तत्र **बहि**रित्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म **तत्र चे**ति। **कालत** इति। ईश्वरे कालकृतं परत्वं वियति कालकृतमपरत्वं तद्रूपः परिच्छेदस्तद्विषयः। **तथे**ति। कालतः परिच्छिन्नः। नान्यदित्येवकारार्थः। कालतः परिच्छिन्नत्वं नेत्यर्थः। **उदमिमीते**ति। उन्मानमकुरुत। **फलत** इति। फले साम्यवत्।

चतुष्पाच्च ब्रह्म भूतादिपादाश्च ज्ञातव्याः। तथा सम्बन्धव्यपदेशात्। तत्रैव प्रमेयनिरूपणप्रस्तावे 'उभावस्मि'न्नित्यादिना आधाराधेयसम्बन्धो निरूपितः। अत्र च वस्तुपरिच्छेदो निरूपितः। 'प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्त' इति च। तथा भेदव्यपदेशात्। 'य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते' 'य एषोऽन्तरऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इत्यत्र स्थानद्वयस्थितयोः पुरुषयोः परस्परं धर्मातिदेशमाह। अक्षिस्थितनिरूपकमतिदेशः प्रमाणमिति। धर्म्यभेदे तु स एवायमिति वदेत्।

भाष्यप्रकाशः।

न्तरलाभस्य बोधनायोन्मानपदस्य सूत्रे उक्तत्वादिति। तथाच दृष्टान्ते कालपरिच्छेदात् तत्समानत्वज्ञानरूपसाधनतः परत्वनिवारणमित्यर्थः। उदाहरणान्तरमाहुः चतुष्पादित्यादि। अत्रापि भूतादीनां पादानामनित्यत्वात् तज्ज्ञानरूपसाधनतः कालपरिच्छेदात्तथा। तृतीयं हेतुं व्युत्पादयन्ति तथा सम्बन्धेत्यादि। तत्रैवेति। दहरवाक्ये। तथाचात्राधारत्वेनैव प्रमेयत्वम्, न तु सर्वोत्कृष्टत्वेनेति प्रमेयतो वस्तुपरिच्छेदाच्च परत्वसिद्धिरित्यर्थः। वस्तुपरिच्छेदे उदाहरणान्तरमाहुः प्राज्ञेनेत्यादि। चतुर्थहेतूदाहरणमाहुः य एष इत्यादि। अतिदेशः प्रमाणमिति। 'तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं यदमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ यन्नाम तन्नामे'ति श्रावणात् तथेत्यर्थः। गेष्णाविति,

रश्मिः।

फलमुभयोः समानमित्यर्थः। **तत्समाने**ति। तत्समानत्वज्ञानरूपसाधनमनुसन्धाय परब्रह्मणि परत्वनिवारणमित्यर्थः। पूर्वपक्षसूत्रत्वान्नाकाशान्तरन्वेषणम्। **उदाहरणे**ति। उन्मानव्यपदेशे तथा। **भूतादीना**मिति। 'भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैव'मिति सूत्रे 'ज्योतिश्चरणा'धिकरणे स्पष्टम्। **तज्ज्ञाने**ति। तज्ज्ञानरूपसाधनमनुसन्धाय, ज्योतिषि कालकृतं परत्वं पादेषु कालकृतमपरत्वं तद्रूपः परिच्छेदस्तस्मात्। तथा नामोन्मानेन ज्येष्ठे कालकृतं परत्वं कनिष्ठे कालकृतमपरत्वमितिवच्चतुष्पाद्ब्रह्म कालेन परत्वविशिष्टम्। भूतादिपादाश्च कालेनापरत्वविशिष्टा इत्यर्थः। **अत्राधारे**ति। श्रुतौ 'उभे द्यावापृथिवी अस्मिन्नाकाशेन्तरे समाहिते' इत्युक्तयात्र आकाशस्याधारत्वेन, नतु आधेयत्वेन प्रमेयत्वम्। द्यावापृथिव्योस्त्वाधेयत्वेन। उभयत्रैवकारव्यावर्त्यमाहुः **नत्वि**ति। **वस्त्वि**ति। आकाशद्यावापृथ्वीनामाधाराधेयभावसम्बन्धात्कालकृतापरत्वरूपपरिच्छेदान्न परब्रह्मणि परत्वसिद्धिः। **वस्त्वि**ति। वस्तूनामाकाशादीनां कालकृतापरत्वरूपपरिच्छेदे इत्यर्थः। अनेन 'अत्र च वस्तुपरिच्छेद' इति भाष्यमपि व्याख्यातम्। **प्राज्ञेनेत्यादी**ति। इयं ज्योतिर्ब्राह्मणेऽस्ति। सुषुप्तौ जीव आधेयः, प्राज्ञ आधार इत्याधाराधेयसम्बन्धो निरूपितः। **भाष्ये। धर्मातिदेश**मिति। किमत्र कार्यमिति चेच्छृणु। उभयत्र पूर्वपक्षनिराकरणेन ब्रह्मत्वज्ञानमिति। धर्मस्वरूपमाहुः **अक्षी**ति। स्थितिर्धर्मः। अक्षिस्थितः हिरण्मयनिरूपितः तत्सम्बन्धी इत्येवं हिरण्मयदर्शनमक्षिस्थितिनिरूपकम्। **प्रकृते। तस्यैतस्ये**ति। छान्दोग्ये प्रथमप्रपाठके। **तस्य** प्रसिद्धस्य, **एतस्या**क्षिस्थितस्य, **अमुष्य** हिरण्मयस्य। **तथे**ति। 'अन्यत्र प्रतीतायाः कृत्स्नाया धर्मसन्ततेः, अन्यत्र कार्यतः प्राप्तवतिदेशः स कथ्यत' इत्यतिदेशलक्षणादन्यत्र आदित्ये हिरण्मयपुरुषे, अन्यत्र अक्षिस्थपुरुषे, कार्यतः ब्रह्मत्वतः। अतिदेशोयं शब्दः प्रमाणमित्यर्थः। **पर्वणी** इति। 'एषा त्रय्येव विद्या तपती'ति महानारायणश्रुतेः। **व्यूही**। 'तस्यर्क् साम च गेष्णौ' इत्यादिश्रुतेः। **केचि**दिति। विरलाः। अष्टरसात्मकोद्गीथविद्यायां अधिकारिपर्वतोतिरिक्तनटगायनपर्वौचित्यात्। 'नटवरवपु'रिति

अतो देशकालवस्तुस्वरूपपरिच्छेदाच्चतुर्विधपरिच्छेदरहितमन्यत् किञ्चिदस्तीति प्रतिपत्तव्यमित्येवं प्राप्तम् ॥ ३१ ॥

सामान्यात्तु ॥ ३२ ॥

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । समानस्य भावः सामान्यम् । सेत्वाकाशादिशब्दास्तद्धर्मातिदेशार्थमुच्यन्ते, न तु तद्गतं दोषमपि कल्पयन्ति । संसारसागरोत्तरणोपायत्वात् सेतुत्वम् । निर्लेपायाकाशत्वम् । कामाभिदोहाय चतुष्पात्त्वम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

पर्वणी इत्यर्थः केचिदाहुः । 'गेष्णौ तु नटगायना'विति कोशात् ताविति वयं प्रतीमः ॥ ३१ ॥

सामान्यात्तु ॥३२॥ सिद्धान्तसूत्रं व्याकुर्वन्ति **तुशब्द** इत्यादि । **पक्षमिति** । एतैर्हेतुभिः परत्वनिराकरणपक्षम् । **न तु तद्गतं दोषमपि कल्पयन्तीति** । पूर्वाधिकरणे दोषनिरासस्य श्रुत्यैव कृतत्वाद्दोषं न कल्पयन्ति । सामान्यादिति सौत्रो हेतुः प्रयोजनगर्भ इत्याशयेन व्याकुर्वन्ति **संसारेत्यादि** । षोडशकलश्रुतिरत्र पूर्वं नोदाहृता, तथाप्यन्यैरुदाहृतेति तत्तात्पर्यमप्युक्तम् । **एवमन्यत्रापि बोधार्थम्** । अतिदेशकपदाभावे सेत्वादिशब्दैः कथं सामान्यावगमः, कथं च तद्गुणा-

रश्मिः ।

श्रीमद्भागवते । 'जगौ कलं वामदृशां मनोहर'मिति च । **भाष्ये । देशकालेत्यादि** । सेतुर्देशकृतः । उन्मानं कालकृतम् । वस्तु सम्बन्धकृतम् । स्वरूपं भेदकृतम् । **अतो** देशादिपरिच्छेदात् ॥ ३१ ॥

सामान्यात्तु ॥ ३२ ॥ परत्वेत्यादि । इत्येवं प्राप्तमित्युक्तम् । **भाष्ये । सामान्यमिति । तस्मादिति** विस्तरः । सेत्वादिसामान्याच्चतुर्विधपरिच्छेदरहितेपीत्यर्थः, तदुपपादयन्ति **स्म तद्धर्मेति** । तेषां सेत्वादीनां धर्माः सेतुत्वादयो वक्ष्यमाणाः तेषामतिदेशः कार्यतः प्रापणम् । कार्यं चतुर्विधपरिच्छेदरहितस्यान्यत्वप्रतिपत्तिव्यावर्तनम् । तादृशप्रापणार्थमुच्यन्ते, नतु परिच्छेदेन दोषं प्रदर्श्य धर्म्यन्तरार्थमुच्यन्ते । **प्रकृते । पूर्वाधीति** । 'प्रकाशाश्रयवद्वे'त्यधिकरणे दोषो धर्मकृतद्वैतं तस्य निरासस्तस्य श्रुत्या स्वरूपलक्षणश्रुत्या ज्ञानस्य स्वयंप्रकाशत्वात् । 'स्वयंप्रकाशाय नमस्करोमी'ति गजेन्द्रस्तुतौ । प्रकाशाश्रयशब्दादेवकारः । **दोषमिति** । देशकालवस्तुस्वरूपपरिच्छेदरूपं न कल्पयन्ति, किन्तु धर्माभेदं कल्पयन्तीत्यर्थः । **प्रयोजनेति** । संसारसागरोत्तरणादिकं प्रयोजनं तद्गर्भे मध्ये यस्य स तथोक्तः । सेत्वादिपदैः सेत्वादिप्रतीतेः संसारसागरतरणादिप्रयोजनमपदार्थः स्यादित्येवमुक्तम् । **पूर्वमिति** । पूर्वपक्षसूत्रे । **अन्यैरिति** । शङ्कराचार्यप्रभृतिभिः । तथाच भाष्यं 'उन्मानव्यपदेशश्च भवति । तदेतद्ब्रह्म चतुष्पादष्टाशफं षोडशकल'मिति । यद्यपि चतुष्पाद्ब्रह्मेति भाष्यश्रुत्योदाहृता, तथापि स्पष्टं नेत्येवमुक्तम् । षोडशी कला षोडशकला सा अस्यास्तीति षोडशकलं ब्रह्म । षोडशी चन्द्रकला ध्रुवा तुरीयामृतरूपेत्यमृतत्वाय । एवं हेतुद्वयमुक्त्वा सम्बन्धव्यपदेशहेतोः सामान्यमाहुः **भाष्ये अतुलभत्वायेति** । नहि सम्बद्धो दुर्लभो भवति । भेदव्यपदेशहेतोः सामान्यमाहुः **दिव्यत्वायेति** । आदित्यपुरुषेऽक्षिस्थितदिव्यधर्मत्वाय । **प्रकृते । एवमन्यत्रापीति** । अग्निहोत्रशब्दस्तद्धर्मातिदेशार्थं नतु तद्गतं दोषं द्वित्वापादकं देशादिपरिच्छेदरूपं वापि कल्पयतीत्येवं अन्यत्र कुण्डपायिनामयनेपि । **अतिदेशकेति** । यथा पूर्वतन्त्रे प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्येतिशिष्टवाक्ये प्रकृतिवत्पदं तथेहाभावेपि । **सामान्येति** । परब्रह्मधर्म्यन्तरयोः साम्यावगतिः । तद्गुणानां सेत्वादिगुणानां संसारसागरोत्तरणोपायत्वादीनाम् । एवकारो द्वित्वापादकगुणियोगव्यवच्छेदकः । **तद्गुणानामिति** । अग्निहोत्रगुणानां

अमृतत्वाय षोडशकलत्वम् । अदुर्लभत्वाय सम्बन्धः । दिव्यत्वाय धर्मातिदेशः । कुण्डपायिनामयने मासाग्निहोत्रवद्गुणार्थमेव वचनम्, न दोषार्थमिति न ततोऽन्यशङ्कोत्पादनीया । तस्मान्न पूर्वोक्ता दोषाः ॥ ३२ ॥

बुद्ध्यर्थः पादवत् ॥ ३३ ॥

अन्यसमानधर्मवत्त्वं कुत्रोपयुज्यत इत्यत आह । बुद्ध्यर्थः । तथा व्यपदेशो बुद्ध्यर्थः । बुद्धिरेव प्रयोजनं यस्य । तथोपासनार्थमयुक्तमित्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह । यथा भूतादीनां पादत्वज्ञानमुपासनार्थम्, तथा तत्तद्गुणवत्त्वेन ज्ञानार्थं स्वधर्मप्रशंसार्थमेवमुच्यते ॥ ३३ ॥

स्थानविशेषात् प्रकाशादिवत् ॥ ३४ ॥

ननु स एवायमित्यतिदेशेपि तथा बुद्धिः सम्पद्यतैवेति व्यर्थो धर्मातिदेश इत्याशङ्क्य, तथोक्तेपि समानधर्मत्वज्ञानाभावे हेतुमाह । स्थानविशेषादिति । धर्म्यैक्येपि स्थानविशेषप्राप्त्या न समानधर्मवत्त्वं दृश्यते अन्यत्रेत्यत्रापि न तथा-

भाष्यप्रकाशः ।

नामेव ग्रहणमित्याकाङ्क्षायामाहुः **कुण्डपायीत्यादि** । तथाच पूर्वतन्त्रे यथा अग्निहोत्रनाम्ना तद्गुणानामतिदेशः, तथात्रापीत्यर्थः । **ततोऽन्यशङ्केति** । नाममात्रात् तद्दोषशङ्का ॥ ३२ ॥

बुद्ध्यर्थः पादवत् ॥ ३३ ॥ सूत्रमवतारयन्ति **अन्येत्यादि** । **अयुक्तमिति** । उत्तमस्य हीनसामान्यकथनमयुक्तम् । **स्वधर्मप्रशंसार्थमिति** । सेत्वादीनां तारकत्वादेर्धर्मस्य प्रशंसार्थम् । उपासनाधर्मस्य फलतः प्रशंसार्थं वा ॥ ३३ ॥

स्थानविशेषात् प्रकाशादिवत् ॥३४॥ सूत्रमवतारयन्ति **नन्वित्यादि** । **तथोक्तेपीति** । स एवायमित्युक्तेपि । व्याकुर्वन्ति **धर्म्यैक्येपीत्यादि** । **अन्यत्रेति** । स्फटिकादौ । वक्ष्यमाण-

रश्मिः ।

मासादीनाम् । **तथात्रापीति** । 'पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गति'रितिसंशयोत्तरकोटिबीजश्रुतेः 'एकमेवाद्वितीय'मितिश्रुतेश्चातिदेशिकायाः सत्त्वेनात्राप्यतिदेश इत्यर्थः । तेन भाष्ये । **गुणार्थं** मासादिगुणार्थम् । एवकारव्यावर्त्यमाहुः **न दोषार्थमिति** । द्वैतदेशादिपरिच्छेददोषार्थम् । **नामेति** । सेत्वादिनामाग्निहोत्रनाम च । **तद्दोषेति** । द्वैतदोषः देशादिपरिच्छेददोषाश्च तेषां शङ्का । अपिच ततः सत्यज्ञानानन्तानन्दतोऽन्यस्य धर्म्यन्तरस्य शङ्केत्यपि भाष्यार्थः । **भाष्ये । तस्मादित्यादि** । सामान्यात् न पूर्वोक्ताः सेत्वादिव्यपदेशजन्याः द्वैतं परात्परत्वं धर्म्यन्तरत्वं तद्रूपा दोषा न ॥ ३२ ॥

बुद्ध्यर्थः पादवत् ॥ ३३ ॥ **अन्येत्यादीति** । सेत्वादिसमाना धर्माः संसारसागरतरणोपायत्वादयस्तद्वत्त्वम् । **हीनेति** । सेत्वादिसामान्यकथनम् । जडत्वाद्धीनत्वम् । **उपासनेति** । उपासनाया धर्मस्य संसारसागरतरणोपायत्वादेराश्रयतो हीनत्वेपि फलतश्चित्तशुद्धिद्वारा ज्ञानभक्तिरूपफलतः ॥ ३३ ॥

स्थानविशेषात् प्रकाशादिवत् ॥ ३४ ॥ **नन्वित्यादीति** । **इत्यतिदेश इति** । धर्मसन्ततेः कार्यतः प्राप्तावतिदेश इत्यर्थः । **तथा बुद्धिरिति** । संसारसागरोत्तरणोपायत्वादिप्रकारिका बुद्धिः । एवकारोऽयोगव्यवच्छेदकः । **समानेति** । सेत्वादिसमानधर्मत्वज्ञानाभावे । **धर्म्यैक्येत्यादीति** । 'स एवाय'मिति धर्म्यैक्ये । **स्फटिकादाविति** । आदिनादर्शद्वयं परस्परं बिम्बप्रतिबिम्ब-

त्वमायास्यतीत्यतिदेशो धर्माणामपि कृत इत्यर्थः । अस्मिन्नर्थे दृष्टान्तमाह प्रकाशादिवदिति । 'यदादित्यगतं तेज' इति वाक्यादादित्यचन्द्राग्निगततेजसामैक्येपि न समानप्रकाशत्वं यथा, तथात्रापीति ज्ञानसम्भवादित्यर्थः । आदिपदादेकस्यैव कालस्य यथोपाधिविशेषसम्बन्धादुत्तरायणत्वादुत्तमधर्मवत्त्वं तद्विपरीतधर्मत्वं तथेत्यपि संगृह्यते ॥ ३४ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

दृष्टान्ते च । शेषं स्फुटम् । इत आरभ्य प्रभूणामिति प्रतिभाति ॥ ३४ ॥

रश्मिः ।

भावापन्नम् । शेषमिति । न समानेति । परस्परमन्यसमानप्रकाशत्वम् । अत्रापीति । दार्ष्टान्तिकेपि । आदिपदादिति । ननु समासघटक आदिशब्दे कुतः पदत्वमिति चेत् । न । ईश्वरवाक्ये न नियमः । यः 'न लुमताङ्गस्ये'त्यनेन पदत्वाभावो बाहुलकात् । एकस्यैवेति । एवकारो द्वित्वसंख्यायोगव्यवच्छेदकः । उपाधीति । मकरसंक्रमणस्य कर्कसंक्रमणस्य च सम्बन्धात् । उत्तमेति । ब्रह्मप्रापकत्वधर्मवत्त्वम् । 'तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः' इति गीतायाः । तथेतीति । धर्मातिदेशः, न तु धर्मैक्यमिति । एवं शेषं स्फुटम् । इत आरभ्येति ।

प्रभ्वाज्ञात्रयभाविनीं गतिमिहोन्नाय्याशु तत्त्वानुगः सार्धाध्याययुगं चकार रहितं स्वाचार्यवर्यः स्वयम् । शेषं सूचितमित्यतोऽन्यदपि निर्मातुं प्रवृत्तस्ततस्तन्न्यूनप्रतिपूरको विजयते श्रीविट्ठलो दीक्षितः ॥१॥
श्रौतं स्मार्तं प्रमेयं यद्भिन्नमित्येव संस्थितम् । तदेकीकरणे शक्तो यः श्रीविट्ठलदीक्षितः ॥ २ ॥
तद्भाष्यं प्रथितुं स्वज्ञो वावदीति जनः कथम् । तथापि वच्मि तत्तत्त्वं तच्चरणैकनिविष्टधीः ॥ ३ ॥

तथापि पार्थक्येन यथावद्वक्ष्यते । अत्रेदं ज्ञेयम् । श्रीमदाचार्याः स्वानुमतमार्गप्रचारार्थं भगवतावतारिताः । प्रथमस्कन्धसुबोधिन्यारम्भे 'अर्थं तस्य विवेचितुं नहि विभुर्वैश्वानराद्वाक्पतेरन्यस्तत्र विधाय मानुषतनुं मां व्यासवच्छ्रीपतिः । दत्त्वाज्ञां च कृपावलोकनपटुर्यस्मादतोऽहं मुदा गूढार्थं प्रकटीकरोमि बहुधा व्यासस्य विष्णोः प्रियम्' इति स्वानुभावघटितप्रतिज्ञावाक्यात् । 'आचार्यचैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ती'त्येकादशस्कन्धवाक्याच्च । नचाचार्येषु मूढबुद्ध्या मानुष्यं शङ्कनीयम् । 'यस्यावतारा ज्ञायन्ते शरीरेष्वशरीरिणः । तैस्तैरतुल्यातिशयैर्वीर्यैर्देहिष्वसङ्गतै'रिति दशमस्कन्धवाक्यादनुपमभाष्यं स्वमतसुबोधिन्यन्तसमये वक्तव्येत्येतावत्कृतमिति सर्वोत्कृष्टत्वावधारणात् । इत्थंच स्वमार्गोपयोगि यत्किञ्चित्तत्सर्वमेव वक्तव्यम् । कालश्च स्वल्पः । स्वलीलाया निर्विषयत्वपरिजिहीर्षया स्वतदीयसामीप्यार्थं भगवतोपेक्षितत्वेन वारत्रयमाज्ञापनात् । इदं चान्तःकरणप्रबोध आचार्यैरुक्तम् । 'आज्ञा पूर्वं तु या जाता गङ्गासागरसङ्गमे । यापि पश्चान्मधुवने न कृतं तद्द्वयं मया । देहदेशपरित्यागस्तृतीयो लोकगोचर'इति । 'नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना । श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन्येषां गतिरहं परे'ति नवमस्कन्धवाक्याच्च । अतस्तत्र यः कठिनांशस्तद्विवेचनपरा जाताः । इत्थं चानवगाह्याभिप्रायाणां सूत्राणां भाष्यमुक्त्वा सुगमानां स्थापितवन्तः । तदेतत्पूरयितुं श्रीविट्ठलदीक्षिताः 'स्थानविशेषात्प्रकाशादिव'दिति सूत्रादारभ्य भाष्यमारभन्त इत्याहुः इत आरभ्येत्यादि । श्रीप्रभूणां गोस्वामिनाम् । प्रतिभातीति । समाप्तौ श्रीवल्लभदीक्षितविरचित इति शब्दात् । भगवदाज्ञायाश्चान्तःकरणरूढत्वात्प्रतिमां ग्रन्थकरण उत्तरोत्तरस्फूर्तिरूपां करोतीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

1. सूत्राष्टकरहितम् ।

उपपत्तेश्च ॥ ३५ ॥

किञ्च । सत्यज्ञानाद्युक्तधर्मविशिष्टब्रह्मणोऽन्य उत्तमोऽस्तीति वदता तत्रैव उत्कृष्टधर्मवत्त्वं वाच्यम् । तच्चाशक्यम् । प्रमाणाभावात् । साम्येपि तथा विशेषाभावोऽद्वैतश्रुतिविरोधश्च । तस्मादितः परस्यानुपपन्नत्वादुक्तरूपमेव परमकाष्ठापन्नं वस्त्वित्युपपद्यत इत्यर्थः ॥ ३५ ॥

तथान्यप्रतिषेधात् ॥ ३६ ॥

यथा सेत्वादयः श्रुत्योक्ताः, तथैव 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यत' इति श्रुत्यैव ततोऽधिकस्य प्रतिषेधात् त्वयाप्यस्मदुक्त एव मार्गोऽनुसर्तव्य इत्यर्थः । अवतारकाले पूर्वं स्वशक्त्याविर्भावमकृत्वा पश्चात् तदाविर्भावे कृते लोकानां पूर्वावस्थातो भगवत्येवाधिक्यमिव प्रतीतं भवतीत्यभिप्रायेणान्यपदोपादानम् ॥३६॥

अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः ॥ ३७ ॥

प्रकरणमुपसंहरन् फलितमर्थमाह । अनेन सेत्वादिव्यपदेशानां मुख्यार्थकत्वनिराकरणेन व्यापकत्वं ब्रह्मणः सिद्धमित्यर्थ इति केचित् । तन्न । 'जन्माद्यस्य यत' इत्या-

भाष्यप्रकाशः ।

उपपत्तेश्च ॥ ३५ ॥ अन्यो नेत उत्कृष्ट इत्यत्रोपपत्त्यन्तरं सूत्राभ्यामाहेत्याहुः किञ्चेत्यादि । विशेषाभाव इति, अन्यस्योत्कर्षाभावः ॥ ३५ ॥

तथान्यप्रतिषेधात् ॥ ३६ ॥ अस्मदुक्तमार्ग इति । एतस्यैव परत्वमितिप्रकारः । पूर्वसूत्रेणास्य गतार्थत्वमाशङ्क्य तन्निवृत्त्यर्थमाहुः अवतारेत्यादि । आधिक्यमिव प्रतीतं भवतीति । तत्रान्यहेतुकत्वशङ्का स्यादिति तन्निवृत्त्यभिप्रायेण तथेत्यर्थः ॥ ३६ ॥

रश्मिः ।

उपपत्तेश्च ॥ ३५ ॥ भाष्ये । तथेति । उपपादनीयत्वेन । 'अक्षरात्परतः पर' इत्यत्र परतोऽक्षरादित्यन्वयसम्भवात् 'सा काष्ठा सा परा गति'रिति श्रुतेश्च । प्रकृते । अन्यथेति । ब्रह्मान्यप्रकारेण । भाष्ये । अनुपपन्नत्वादिति । सूत्रार्थः । चकारार्थमाहुः उक्तरूपमिति । 'परमत' इतिसूत्रे संशयद्वितीयकोट्युक्तं रूपं यस्येति तथोक्तम् । संशयबीजश्रुत्योरेकवाक्यतयैवकारः ॥ ३५ ॥

तथान्यप्रतिषेधात् ॥ ३६ ॥ भाष्ये । तथैवेति । श्रुतित्वेन, नतु स्मृतित्वेन । बाध्यबाधकभावायोभौ शब्दौ । इति श्रुत्यैवेति । उक्तश्रुतित्वेन प्रकारेण श्रुतिस्तया, नतु स्मृत्या । प्रकृते । अस्मदुक्तमार्ग इति । अस्मदुक्त एव मार्ग इति पाठः अस्मत्पुस्तकानाम् । शङ्खः पाण्डुर एवेतिवत् विशेषणसंगतैवकारः । आज्ञात्र । अत आहुः एतस्यैवेति । विशेषणस्यास्मदुक्त इत्यस्य, नतु विशेष्यस्य । परत्वं इति हेतोः व्यावर्तकोऽस्मदुक्तः प्रकार इत्यर्थः । अस्येति । सूत्रस्य स्पष्टश्रुत्योपपन्नत्वाद्गतार्थत्वम् । अवतारेत्यादीति । स्वशक्त्येति । अवतारिनिरपेक्षावतारशक्त्या । आविर्भावं तावतीं मायां दूरीकृत्य प्राकट्यम् । तदाविर्भाव इति । कोटिकन्दर्पलावण्यादिरूपस्वशक्त्याविर्भावे भगवत्येवावतारिणि, नत्वन्यस्मिन्नधिकरणे । तत्रान्येति । तत्र उक्तभगवद्रूपाधिकरणे 'परमत' इति सूत्रोक्तान्यहेतुकत्वशङ्का स्यात् । तन्निवृत्तीति । परब्रह्मणः परमिति शङ्कानिवृत्त्यभिप्रायेण, तथा भगवत्यन्यहेतुकोऽवतार इति प्रतीतेरन्यपदोपादानमित्यर्थः ॥ ३६ ॥

दिना सर्वदेशगतकार्यकर्तृत्वमुक्तमिति तेनैव व्यापकत्वस्य सिद्धत्वात् । नचाविरोधसाधनप्रकरणत्वात् पूर्वसिद्धं सर्वगतत्वमनेनोक्तग्रन्थेन कृत्वा, सेत्वादिवाक्यैः सममविरुद्धमित्यर्थ इति वाच्यम् । अग्रिमपदवैयर्थ्यापत्तेरिति चेत् । अत्रैवं ज्ञेयम् । नोक्तकर्तृत्वेन व्यापकत्वमेकान्ततो ब्रह्मणि रोद्धुं शक्नोति । योगसिद्धदूरश्रवणादिवत् परिच्छिन्नेनाप्यनेकदेशगतकार्यकरणसामर्थ्यविशेषस्य वक्तुं शक्यत्वात् । अन्यथा पूर्वसिद्धव्यापकत्वविरोधेन सेत्वादिव्यपदेशैः परिच्छिन्नत्वेन ब्रह्मणोऽन्यस्य परत्वं न शङ्केत । विरोधपरिहाराय तु 'सामान्यात् त्वविरोध' इति वदेत् ।

तस्मादेवं सूत्रार्थो ज्ञेयः । अनेन ब्रह्मणोऽन्यस्य परत्वनिरासेनायामशब्दादिभ्यो व्यापकत्ववाचकश्रुतिवाक्यादिभ्यः साक्षात् सर्वगतत्वप्रतिपादकेभ्य एव सर्वगतत्वं सिध्यति, न तु गौतमीयानामिव कर्तृत्वाद्यनुपपत्त्येत्यर्थः । ते च शब्दाः 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः' 'ज्यायान् दिवो ज्यायान् आकाशात्' 'वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्व'मित्यादयः । आदिपदात् 'सर्वतः पाणिपादान्तं सर्वतोक्षिशिरोमुखम् । सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य

भाष्यप्रकाशः ।

अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः ॥ ३७ ॥ सूत्रप्रयोजनमाहुः प्रकरणमित्यादि । प्रकरणमिति । अविरोधप्रकरणम् । उक्तोपष्टम्भायैकदेशिव्याख्यानं दूषयितुमुपक्षिपन्ति अनेनेत्यादि । केचिदिति । शाङ्कराः । दूषयन्ति तन्नेत्यादि । अर्थान्तरमुद्भाव्य दूषयन्ति नचेत्यादि । कथमग्रिमपदवैयर्थ्यमित्यत उपपादयन्ति अत्रैवमित्यादि । शक्नोतीति । सूत्रकारः शक्नोति । कुतो न शक्नोतीत्याकाङ्क्षायामशक्तौ गमकमाहुः अन्यथेत्यादि । यदुक्तमविरोधसाधनेत्यादिना, तत्राप्युत्तरमाहुः विरोधेत्यादि ।

एवं मतान्तरमपाकृत्य सूत्रं व्याकुर्वन्ति तस्मादित्यादि । आयामशब्दादिभ्य इति । आयामो दैर्घ्यं व्याप्तिरिति यावत् । शब्द्यतेऽनेनेति शब्दः । आयामस्य शब्दो यत्र ते आयामशब्दाः । ते आदयो येषां तद्गुणसंविज्ञानः । तेभ्यः । व्यापकत्ववाचकश्रुतिवाक्यादिभ्य

रश्मिः ।

अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः ॥ ३७ ॥ शाङ्करा इति । 'आयामशब्दादिभ्य' इत्यस्यार्थः समान इति नोक्तः । तन्नेत्यादीति । तेनैवेति । एवकारोऽस्य सूत्रस्य योगव्यवच्छेदकः । पूर्वेति । अत्रैव पूर्वसिद्धम् । अविरुद्धमिति । सर्वगतत्वं सूत्रोक्तं अनेन सेत्वादिवाक्यैः सममविरुद्धम् । अत्रैवमित्यादीति । दूरेति । आदिना चाक्षुषग्रहणे । अन्यथेत्यादीति । परिच्छिन्नेप्युक्तसामर्थ्याय व्यापकत्वाङ्गीकारे । परत्वमिति । व्यापकत्वप्रयुक्तं परत्वम् । 'परमत' इतिसूत्रेण सूत्रकारो न शङ्केतेत्यर्थः । विरोधेत्यादीति । सामान्यात्त्विति । सेत्वादिघटितसूत्रोत्तरसूत्रे तदविरोधाय सामान्यात्त्वित्यत्र सूत्रे सामान्यात्त्वविरोध इति सूत्रं वदेदित्यर्थः । आयामस्येति । आयामप्रतिपादकः शब्दो यत्र 'आकाशवत्सर्वगत' इत्यादिवाक्येषु ते श्रुतिवाक्यादयः । येषामिति । नित्यज्यायस्स्तब्धानाम् । तद्गुणेति । तेषां आयामशब्दादिपदवर्तिशब्दानां सम्यक् भवतिना क्रियापदेनान्वयित्वेन ज्ञानं येन समासेन स तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । भाष्ये । एवेति । असाक्षात्सर्वगतत्वप्रतिपादकरूपान्यव्यवच्छेदकः । कर्तृत्वादीति । आदिना अपरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्त्वम् । भाष्यत्वात्स्वपदानि वर्णयन्ति स्म आदिपदादिति । 'व्यापकत्ववाचकश्रुतिवाक्यादिभ्य' इत्यत्रादि-

तिष्ठती'त्यादिस्मृतयः संगृह्यन्ते । अनेन ब्रह्मणि श्रुतिरेव मुख्यं प्रमाणम्, अनुमानं तु विलम्बोपस्थितिकत्वेन साध्यसिद्धिपराहतमपीच्छाविशेषेण जननीयं चेदभ्युच्चयमात्रं पर्यवसास्यतीति भावः ॥ ३७ ॥

इति तृतीयाध्याये द्वितीयपादे दशमं परमतः सेतून्मानेत्यधिकरणम् ॥ १० ॥

फलमत उपपत्तेः ॥ ३८ ॥ (३-२-११.)

एवं सर्वोत्तमत्वनिरूपणेनोत्तमाधिकारिणां भजनीयत्वप्रयोजकं रूपमुक्त्वा तदितराधिकारिणां तदाह । ते हि फलप्रेप्सव एव भजिष्यन्ति । तच्च फलदातृत्व एव सम्भवतीति तदाह । अत ईश्वरादेव फलं भवति यत्किञ्चिदैहिकं पारलौकिकं वा । कुतः । उपपत्तेः । 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशान' इति श्रुतिर्वस्तुमात्रेशितृत्वमसङ्कुचितमाह । न ह्यन्यस्य वस्त्वन्यो दातुं समर्थः । अतो भगवानेव तथेत्यर्थः ।

केचित्त्वत्रैव कर्मणस्तत्कार्यापूर्वस्य च फलदातृत्वमाशङ्क्य, तत्रानुपपत्तिमत्रोपपत्तित्वेन व्याकुर्वन्ति ।

भाष्यप्रकाशः ।

इति । व्यापकत्ववाचकयुक्तानि यानि श्रुतिवाक्यादीनि तेभ्य इत्यर्थः । फलितार्थबोधकत्वं स्फुटीकुर्वन्ति अनेन ब्रह्मणीत्यादि । अभ्युच्चयमात्रमिति । अनुमानस्य समुच्चयमात्रम् ॥ ३७ ॥ इति दशमं परमतः सेतून्मानेत्यधिकरणम् ॥ १० ॥

फलमत उपपत्तेः ॥ ३८ ॥ अन्ते एतदधिकरणप्रणयनेन अस्मिन् पादे अविरोधादिनिरूपणप्रयोजनं सूचयन्ननुप्रसङ्गेनाधिकरणमारभत इत्याशयेनाहुः एवमित्यादि । तदाहेति, भजनीयत्वमाह । नन्वत्र फलदातृत्वमेवोच्यत इति कथमेवमधिकारिविभागज्ञानमित्यत आहुः ते

रश्मिः ।

पदात् । सौत्रादिशब्दार्थ उक्तः । प्रकृते । अनेन ब्रह्मणीत्यादीति । श्रुतिरेवेति । एवकारेण स्मृतिव्यवच्छेदः क्रियते । अनुमानं स्मृतिः । अपिसंराधनसूत्रभाष्येऽनुमानं स्मृतिरित्युक्तम् । विलम्बेति । स्वमूलश्रुतिकल्पनद्वारा । साध्येति । श्रुतिसाध्यसिद्धिपराहतमपि श्रुत्या बाधात् । इच्छाविशेषो बाधकालीनेच्छा तेन । जननीयं स्मार्तज्ञानम् । अनुमानस्येति । स्मृतेः ॥ ३७ ॥ इति दशमं परमतः सेतून्मानेत्यधिकरणम् ॥ १० ॥

फलमत उपपत्तेः ॥ ३८ ॥ अविरोधादीति । विरुद्धानां धर्माणामविरोधं वस्तुस्वभावात् । आदि धर्म्यन्तरविरोधः । सूचयन्निति । धर्माद्यविरोधो वाच्यः । प्रयोजनं उत्तमेतराधिकारिणोरधिकारः । स तात्पर्यार्थः सूचितार्थः । अधिकरणसङ्गतिमाहुः अनुप्रसङ्गेनेति । अविरोधावनुस्मृतस्योत्तमेतरप्रवृत्तिरूपस्यार्थस्योपेक्षानर्हत्वात्प्रसङ्ग[1]... गादनुप्रसङ्गसङ्गतिः । एवमित्यादीति । सर्वोत्तमत्वं वेदोक्तत्वमात्रेण निःसन्दिग्धत्वं दार्ढ्यं चार्थे तादृशार्थत्वरूपं ब्रह्म सर्वविरुद्धधर्माश्रयं धर्म्यन्तररहितं च । तस्य उक्तसर्वोत्तमत्वनिरूपणेन । उत्तमेति । वेदमात्रेण निःसन्दिग्धानां मीमांसानिरपेक्षाणां भजनीयत्वं प्रयोजनं यस्य रूपस्य तत् । तदितरेति । 'सन्देहवारकं शास्त्रं बुद्धिदोषात्तदुद्भवः । विरुद्धशास्त्रसम्भेदादङ्गैश्चाशक्यनिश्चयः । तस्मात्सूत्रानुसारेण कर्तव्यः सर्वनिर्णयः । अन्यथा भ्रश्यते स्वार्थान्मध्यमश्च तथाविध'इत्युक्तकारिकाभ्यामुक्तादिममध्यमानाम् । भजनीयत्वमाहेति । भजनी-

१. अत्र प्रवृत्तिः ।

तत्त्वग्रे जैमिनिमतोपन्यासस्वमतोपन्यासाभ्यां व्यास एव व्यक्तीकरिष्यतीत्यधुनैवाप्राप्तनिराकरणमग्रिमसूत्रद्वयवैयर्थ्यं स्यादिति चिन्त्यम् ॥ ३८ ॥

श्रुतत्वाच्च ॥ ३९ ॥

पूर्वसूत्रेण श्रुतमीशितृत्वं फलदाने उपपत्तित्वेन निरूपितम्। इह तु साक्षाच्छ्रुतिमेव फलदातृत्ववाचिकां प्रमाणयति। सा च 'स वा एष महानज आत्माऽन्नादो वसुदान' इत्यादिरूपा। चकारात् 'सुखं दुःखं भवो भाव' इत्युपक्रम्य, 'भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधा' इत्यादिरूपा स्मृतिः संगृह्यते ॥३९॥

धर्मं जैमिनिरत एव ॥ ४० ॥

अत्र कर्मवादी प्रत्यवतिष्ठते। ननु कर्मण एव फलमिति पक्षेप्युपपत्तिश्रवणे तुल्ये। तथाहि। ईश्वरवादिनापि कर्मनिरपेक्षेण तेन फलमिति न वक्तुं शक्यम्। विधिवैयर्थ्यप्रवृत्त्यनुपपत्तिप्रसङ्गाभ्याम्। तत्सापेक्षत्वे तदेवास्तु, कृतं तत्सापेक्षेण तेन। नचाचेतनं चेतनाधिष्ठितमेव कार्यक्षममिति केवलेन तेन न फलं सम्भवतीति वाच्यम्। कर्मस्वरूपं स्वर्गादिकं च न लोकसिद्धम्, किन्तु श्रुतिसिद्धम्। तत्र च स्वर्गादिफलसाधकत्वेनैवोत्पत्तिवाक्येष्वर्थवादेषु च 'अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' 'अग्निहोत्रं जुहोति प्रजाकाम' इत्यादि। 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' 'परमेष्ठिनो वा एष यज्ञोऽग्र आसीत्, तेन स परमां काष्ठामगच्छ'दित्यादिषु कर्म श्रूयते। स च तत्साध्यत्वेनैव। एवं सति लोकेऽन्यथा दर्शनेपि धर्मिग्राहकप्रमाणेन तथैव सिद्धत्वान्नात्र काचन शङ्का। ईश्वरवादिनो नित्यज्ञानादिमत्त्व इव। आमुष्मिकफलत्वेन तत्प्रतिबन्धकापगमे भवतीत्यावयोस्तुल्यम्। तस्याशुतरविनाशित्वेपि श्रुतिसिद्धकारणतानिर्वाहाय तद्व्यापारोऽपूर्वं कल्प्यते। अविषमादीश्वरात् विषमफलोत्पत्त्यनुत्पत्तिर्वैषम्यनैर्घृण्ये च स्याताम्। अतः कर्मण एव फलमिति जैमिनिर्मनुते ॥ ४० ॥

भाष्यप्रकाशः।

हीत्यादि। व्याकुर्वन्ति अत इत्यादि। एतेन प्रकृते ऐहिकामुष्मिकं फलं कर्मसचिवेभ्यस्तत्तद्देवेभ्यो वा, भगवतो वेति संशयः। तत्र तत्र तेषां तेषामुद्देश्यत्वेन श्रावणं 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशान' इत्यादिश्रुतिश्च सन्देहबीजम्। तेभ्य एवेति युक्तम्, प्रतिनियतत्वादिति पूर्वपक्षश्च बोधितः। एकदेशिमतमनूद्य दूषयन्ति केचित्त्वित्यादि। तत्त्वित्यादि च ॥ ३८ ॥

श्रुतत्वाच्च ॥ ३९ ॥ भाष्यमत्र निगदव्याख्यातम्।

माध्वास्तु 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म', 'रातिर्दातुः परायण'मित्युदाहरन्ति ॥ ३९ ॥

धर्मं जैमिनिरत एव ॥४०॥ सूत्रं व्याकुर्वन्ति अत्रेत्यादि। तुल्ये इति। तथाच अत एव, उपपत्तिश्रवणाभ्यामेव हेतुभ्यां धर्मं फलकारणं जैमिनिराचार्यो मन्यत इति सूत्रयोजना। तदेतत्तौल्यं व्युत्पादयन्ति तथा हीत्यादि। प्रवृत्तीति। विध्यर्थज्ञानोत्तरप्रवृत्तेरनुपपत्तिप्रसङ्गो दूषणान्तरमित्यर्थः। इत्यादीति, कामनावतः कर्माधिकारश्रावणात् स्वर्गकामादिपदैः कर्मफलं श्रूयत इत्यर्थः। स चेति। फलरूपः स्वर्गादिः। अन्यथा दर्शनेपीति। राजादिभ्यः फलप्राप्तिदर्शनेऽपि। अत्रेति। वेदबोधिते कर्मणि तत्फले च। नित्यज्ञानादिमत्त्व इवेति। धर्मिग्राहकेत्यादिकमत्रापि सम्बध्यते। ननु यदि कर्मणैव फलम्, तदा तदव्यवहितोत्तरं कुतो न जायत इत्यत आह आमुष्मिकेत्यादि। तदिति। स्वर्गादिरूपं फलम्। दूषणान्तरमाशङ्क्य परिहरति तस्याश्वित्यादि। तर्हि तौल्यात्मैकतरस्य फलहेतुत्वनिश्चयः, उभयोः समुच्चयो वेत्याकाङ्क्षायां स्वमतोपष्टम्भायाह अविषमादित्यादि ॥ ४० ॥

रश्मिः।

यत्वप्रयोजनमित्युक्ते रूपस्य विरुद्धधर्माश्रयस्य हीनमध्यमाधिकारिणां मीमांसया प्रयोजनं भजनीयत्वमाहेत्यर्थः। अत्रेति। सूत्रे। ते हीत्यादीति। एवेति। 'सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते। शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजन' इति एवकारः। उत्तमाधिकारिणस्त्वफलप्रेप्सवः। 'अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी'ति वाक्यात्। फलदातृत्व एवेति। देवादीनां जीवानां भगवत ईश्वरस्य वा फलदातृत्वे भजनस्यानुग्रहकारणकत्वेन भक्तिहेतुनिर्णयग्रन्थे उक्तत्वात्। अत इत्यादीति। ईश्वरादेवेति। नतु जीवदेवेभ्यः। भगवानेवेति। अन्यदीयं नास्ति स्वीयमिति भगवान्। पूर्ववदेवकारो व्याकर्तव्यः। तत्र तत्रेति। कर्मणि। तेषामिति। जीवदेवानाम्। 'सर्वस्य वशी'ति श्रुतिर्बृहदारण्यके। तेभ्य एवेति। जीवदेवेभ्यः, नत्वीश्वरात्। प्रतीति। प्रतिकर्मनियतत्वाज्जीवदेवानाम्। तेन 'धर्मं जैमिनि'रिति सूत्रेण पूर्वपक्षो यः सोऽनीश्वरजैमिनिमतेनेत्युक्तम्। केचित्त्वित्यादीति। शाङ्कराः ॥ ३८ ॥

श्रुतत्वाच्च ॥ ३९ ॥ निगदेति। इह त्विति। सूत्रे तु। श्रुतिमेवेति। 'अस्या देवतायाः सायुज्यं सलोकतामाप्नोती'ति श्रुतिमेव, नतु स्मृतिम्। चकारेणेयं भाष्ये वक्ष्यते। प्रमाणयति व्यासः। मत्त इति फलदातुः। एवं निगदव्याख्यातम् ॥ ३९ ॥

धर्मं जैमिनिरत एव ॥ ४० ॥ सूत्रार्थमाहुः तथा चेति। अत एवेति सौत्रशब्दौ व्याकुर्वन्ति स्म उपपत्तिश्रवणाभ्यामुक्तसूत्रोक्तहेतुभ्याम्। विध्यर्थेति। विध्यर्थ आज्ञा तस्य ज्ञानं तदुत्तरं प्रवृत्तिः तस्या अनुपपत्तिस्तस्याः प्रसङ्गः। भाष्ये। तदिति। कर्म। तेनेति। ईश्वरेण। एवेति। दर्शनादेवकारः। तेनेति। कर्मणा। एवेति। नतु तन्निरपेक्षेण कर्म श्रूयत इत्यग्रेऽन्वयः। उत्पत्तीति। प्रथमज्ञप्तिरुत्पत्तिः। साध्यसाधनत्वेन प्रथमज्ञप्तिः। तद्बोधकवाक्येषु। अर्थवादेष्विति। जैमिनिमतत्वादर्थवादपदम्। 'अन्यथा हीतिवाक्ये चतुरक्षरे द्वे पुण्यस्य पापस्य निदानभूते। उच्चारणादेव नृणां मुनीन्द्रा नारायणश्चेत्यर्थवादः' इत्यस्य विरोधः स्यात्। फलसम्बन्धाभावादर्थवादत्वमित्याशयेनाहुः अग्निहोत्रमिति। प्रकृते। इत्यादीति। कर्मफलमिति। तेनोत्पत्तिवाक्यत्वमर्थवादत्वं चेति भावः। एष यज्ञ इति। अग्निष्टोम इत्यर्थः। 'परमेष्ठिनो वा एष यज्ञोऽग्र आसीद्यदग्निष्टोम' इतिश्रुतेः। राजेति। राजादिभ्यश्चेतनेभ्यः फलं ग्रामधनादि। भाष्ये। तथैवेति। चेतननिरपेक्षसाधनत्वस्यैव। 'कर्मैके तत्र दर्शना'दिति जैमिनिसूत्रादेवकारः। प्रतिबन्धकेति। शरीराद्यपगमे। परीति। जैमिनिः परिहरति। तस्याश्वित्यादीति। श्रुतिसिद्धेति। व्यापारवदसाधारणं कारणमित्यर्थः। तस्य भावः कारणता। आहेति। जैमिनिराह। अविषमादीत्यादि। अवीति। सप्तमस्कन्धे 'समः प्रियः सुहृ'दिति वाक्यात्। कर्मण एवेति। जडात्, नतु चेतनादीश्वरात् ॥ ४० ॥

पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात् ॥ ४१ ॥

तुशब्दः पूर्वपक्षव्युदासार्थः। बादरायणस्त्वाचार्य इतः पूर्वोक्तमीश्वरमेव फलदत्वेन मनुते। कुतः। हेतुव्यपदेशात्। हेतुत्वेन श्रुतौ व्यपदेशादित्यर्थः। 'एष उ एव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते, एष उ एवासाधु कर्म-कारयति यमधो निनीषत' इति श्रुतौ न केवलं कर्मकारयितृत्वमुच्यते, अपि तु फलदित्सया तया तथात्वम्। अतः फलदत्वमीश्वरस्यैव व्यपदिष्टं भवतीति नानुपपत्तिः काचित्। नन्वीश्वरस्य स्वतः फलदाने समर्थस्य फलदित्सायां सत्यां कर्मकारणे को हेतुः, कार्यवैचित्र्यं च कथमित्यादिचोद्यं 'कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्य' इत्यत्र निरस्तम्। विद्वन्मण्डने श्रीविट्ठलेन च। अतः सकामैरपि स एव भजनीयः, नान्य इति सिद्धम् ॥ ४१ ॥

इति तृतीयाध्याये द्वितीयपादे एकादशं फलमत इत्यधिकरणम् ॥ ११ ॥

इति श्रीवेदव्यासमतवर्तिश्रीवल्लभाचार्यविरचिते श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्ये तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ ३ ॥ २ ॥

भाष्यप्रकाशः।

पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात् ॥४१॥ दूषणमाशङ्क्य तत्परिहारः प्रागेवोक्त इति स्मारयन्ति नन्वित्यादि ॥ ४१ ॥ इत्येकादशं फलमत इत्यधिकरणम् ॥ ११ ॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणनखचन्द्रनिरस्तहृदयध्वान्तस्य पुरुषोत्तमस्य कृतौ भाष्यप्रकाशे तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ ३ ॥ २ ॥

रश्मिः।

पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात् ॥ ४१ ॥ भाष्ये। पूर्वपक्षेति। प्रकाशोक्तरीत्या व्याख्यानम्। अनीश्वरजैमिनिमते पूर्वपक्षेत्यर्थः। ईश्वरमेवेति। नतु कर्म। उन्निनीषत इति। अन्यत्रोन्निनीषतीति परस्मैपदी। ईश्वरस्यैवेति। नतु कर्मणः। काचिदिति। प्रथमशास्त्रेऽपि व्यासस्य गुरुत्वात्पूर्वपक्षीकरणेऽपि न काचिदनुपपत्तिः। प्रागेवेति। कृतप्रयत्नापेक्षसूत्रे। विद्वन्मण्डने चेति योगित्वम्। 'अनागतमतीतं च'ेति वाक्यात्। भाष्ये। अतः सकामैरिति। आदिमम-ध्यमाधिकारिभिरपि। अपिनोत्तमाधिकारी। स विरुद्धधर्माश्रयः। मीमांसितत्वादेवकारः ॥ ४१ ॥ इत्येकादशं फलमत इत्यधिकरणम् ॥ ११ ॥

इति श्रीविट्ठलेश्वरैश्वर्यनिरस्तसमस्तान्तरायेण श्रीगोविन्दरायजित्पौत्रेण संपूर्णवेत्रा विट्ठलरायजिद्भ्रात्रीयगोकुलोत्सवात्मजगोपेश्वरजिता कृते भाष्यप्रकाशस्य तृतीयाध्यायस्य रश्मौ तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ ३ ॥ २ ॥

इति श्रीमत्कृष्णद्वैपायनप्रणीतब्रह्मसूत्रेषु तृतीये उपनिषदां बोधकताप्रकारनिरूपके साधनाध्याये विषयावधृतिर्नाम द्वितीयः पादः।

श्रीकृष्णाय नमः।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः।

श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम्।

भाष्यप्रकाश-रश्मि-परिबृंहितम्।

तृतीयोऽध्यायः।

तृतीयः पादः।

सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् ॥ १ ॥ (३-३-१.)

पूर्वपादे जडजीवधर्मनिराकरणेन शुद्धसच्चिदानन्दविग्रहरूपत्वं ब्रह्मणो निरूपितम्, इह तु ब्रह्मगता एव धर्मा विचार्यन्ते। ते चेत् एकस्मिन् वाक्य एव सर्वे

भाष्यप्रकाशः।

सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् ॥ १ ॥ अथ तृतीयपादं व्याचिख्यासवः सङ्गतिबोधनाय पूर्वपादार्थमनुवदन्तः प्रस्तूयमानस्यार्थमाहुः पूर्वपादेत्यादि। उपनिषद एव ब्रह्मणि मुख्यं प्रमाणमिति तासां यथा बोधकता, स प्रकारः साधनाध्याये विचार्यः, अन्यथा ब्रह्मबोधाभावे तद्विषयकमुपासनादिसाधनं न कर्तुं शक्येत, अपराधं वा दध्यादिति, तदर्थं पूर्वस्मिन् पादे जडजीवधर्मनिराकरणेन तत्र प्रत्याय्यमानानां धर्माणां ब्राह्मत्वस्य ब्रह्मणो विरुद्धधर्माश्रयत्वस्य च व्यवस्थापनात् प्रपञ्चविलक्षणशुद्धसच्चिदानन्दविग्रहरूपत्वं ब्रह्मणो निरूपितम्, तेनैतादृशतया ता ब्रह्म बोधयन्तीति सिद्धम्। इह तु तादृशब्रह्मगता एव धर्मा उपासनादेरन्तरङ्गसाधनत्वात् तच्छेषतया उपसंहारार्थं विचार्यन्ते। तथाच पूर्वस्यास्य च पादस्योपजीव्योपजीवकभावः सङ्गतिरित्यर्थः। नन्वतीते पादे उभयलिङ्गाद्यधिकरणैर्विरुद्धसर्वधर्माधारब्रह्मस्वरूपबोधनेनोपनिषदां बोधनप्रकारावधारणे धर्मासङ्गावशङ्कानिवृत्तौ पुनः साधनशेषतयापि तद्विचारस्य किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायामाहुः ते चेदित्यादि। ते चेत्तथा भवेयुः, तदा तत्तदुपासने तेषामितरेतरविरुद्धानामपि 'आसीनो दूरं व्रजती'त्यादिवत् ब्रह्मधर्मत्वेनोपादेयतया विरोधाभावात्, अथ चेद्भावनादौर्घट्यं विभाव्यते, तदापि 'स्थितं व्रजन्तमासीनं शयानं वा गुहाशय'मितिवत् कालभेदेन पर्यायभेदेन च भावने

रश्मिः।

सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् ॥ १ ॥ इह त्विति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म इह त्विति। एवेति। जडजीवगतधर्मयोगव्यवच्छेदक एवकारः। अन्तरङ्गेति। धर्ममात्रापेक्षत्वेन स्वल्पापेक्षत्वात्। पूर्वस्यास्येति। जडजीवधर्मनिराकरणं विना सकलधर्मोपसंहारो न भवेदित्युपजीव्यो द्वितीयपादार्थः। उपजीवकस्तृतीयपादार्थः उपसंहारः इति। तथेति। एकवाक्ये पठिता भवेयुः। भावनेति। स्मरणं दौर्घट्यम्। पठिता इत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म पठि-

पठिता भवेयुः, तदा न विचारणीया भवेयुः, विरोधाभावात्। पठिताश्च तत्तदुपासनप्रकरणेषु, क्वचित् त एव, क्वचित् भिन्नाः। यथा वाजसनेयिनः पञ्चाग्निविद्यां प्रस्तुत्य षष्ठमन्यमग्निं पठन्ति। 'तस्याग्निरेवाग्नि'रिति। छन्दोगास्तु पञ्चसंख्ययैवोपसंहरन्ति।

भाष्यप्रकाशः ।

विरोधाभावान्न विचारणीया भवेयुः । पठितास्तु न सर्वे एकत्र, किन्तु तत्तत्प्रकरणे क्वचित्त एव, क्वचित्तद्भिन्नाः। यथा पञ्चाग्निविद्यायामभ्यन्तरांशे त एव, षष्ठस्त्वधिक इति भेदः । प्राणविद्यायामन्ये प्राणास्त एव, रेतस्तद्भिन्नमिति । एवं सत्यब्रह्मविद्यायां व्याहृतिशरीरांशे तौल्यं स्थानभेदेनाहरित्यहमित्युपनिषदोर्भेद इति । तथाच तावुपासनाद्युपास्यविशेषणत्वादिना ब्रह्मपदस्यानुक्तत्वात् तेषां तद्धर्माणां च ब्रह्मत्वे ब्रह्मधर्मत्वे च सन्देहाद्विचारणीयाः । पादान्ते ब्रह्मण एव सकलफलदातृत्वस्य विचारितत्वात् । पूर्वोत्तरकाण्डयोस्तु तेषु तेषु वाक्येषु तत्तत्कर्मणा तत्तद्देवप्रीत्या तेन तेन तैस्तैः फलस्य श्रावणात् कथं ब्रह्मणः फलदातृत्वमित्याकाङ्क्षायां तेन तेन साधनेन तुष्टं ब्रह्मैव तैस्तै रूपैः फलं ददातीति वक्तुं विचार्यन्त इत्यर्थः । यद्यपि प्राणादिविद्या न परविद्याः, तथापि प्राणादीनां ब्रह्मत्वेनोपासनस्य वाक्यान्तरेषूक्तत्वात् तेषु च ब्रह्मशब्दस्य 'ॐमित्येतदक्षरमुद्गीथ'मित्यत्रोद्गीथ-

रश्मिः ।

तास्त्विति । **पञ्चाग्नी**ति । **भेद** इति । विद्याभेदः । **तथे**त्यारभ्य **पञ्चमं पठन्ती**त्यन्तं भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **प्राणविद्याया**मित्यादि, **द्रष्टव्य** इत्यन्तम् । 'प्राणविद्या वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं चे'त्यारभ्य छान्दोग्ये । **त एवे**ति । छान्दोग्योक्ता एव । **रेतस्तद्भिन्न**मिति । प्राणभिन्नं 'रेतो होच्चक्रामे'ति पठितम् । **सत्यब्रह्मे**ति । छान्दोग्ये 'अथ होवाच सत्ययज्ञं पौलुषिं प्राचीनयोग्य कं त्वमात्मानमुपास्स इत्यादित्यमेव भगवो राजन्निति होवाच, एष वै विश्वरूप आत्मा वैश्वानर' इति । स इत्युद्दालक आरुणिः उद्दालको गोत्रतः अरुणस्यापत्यमारुणिः । सत्यं यज्ञो यस्य तं सत्ययज्ञं भस्त्यभावान्न सत्यमभिव्यक्तम्, किन्तूपासनासत्त्वात्तद्विषय आदित्यस्तत्रोपासनार्थं विश्वरूप आत्मा इति ब्रह्मधर्मौ । वैश्वानर इति च । अथवा । बृहदारण्यके सत्यब्राह्मणेस्ति सत्यब्रह्मविद्या । 'तद्वैतदेतदेव तदास'इत्यारम्भिका सत्यब्रह्मविद्या तस्याम् । तत्स्तावकेऽग्रिमब्राह्मणे 'आप एवेदमग्र आसु'रित्यारम्भके व्याहृतिशरीरांशेऽवान्तरोपनिषदोस्तौल्यमुपनिषत्त्वेन । प्रथमोपनिषदि 'य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषस्तस्य भूरिति शिर एकꣳशिरः एकमेतदक्षरम्, भुव इति बाहू द्वौ बाहू द्वे एते अक्षरे, स्वरिति प्रतिष्ठा द्वे प्रतिष्ठे द्वे एते अक्षरे' इति शरीरांशः । द्वितीये 'अथ योयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तस्य भूरित्यादिशरीरांशस्तुल्य' इति तौल्यम् । **स्थाने**ति । देशसामान्यं स्थानं तस्य भेदोऽवान्तरोपनिषद्रूपस्थानयोः परस्परं तेन । **अहरित्या**दि । 'तस्योपनिषदहरिति हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवं वेदे'ति प्रथमेऽहरिति । अहमिति द्वितीये 'तस्योपनिषदहमिति हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवं वेदे'ति । एवमुपनिषदोर्विद्याभेदः । तथा प्राणेत्यादिभाष्ये किञ्चिदाहुः **यद्यपी**ति । **न परे**ति । अक्षरविषयत्वाभावादिति भावः । 'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते' इति मुण्डकात् । 'तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमितिहासपुराणं न्यायो मीमांसा धर्मशास्त्राणीत्यथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते' इति श्रुतेरपरविद्याया बोधकतोक्तरीत्या ब्रह्मगतधर्मा ज्ञानभक्तिषूपासनाया युक्तत्वात्तद्विषययोरुपसंहार्याः । एवं चापराविद्याबोधिता ज्ञानभक्त्युपासना इति तासां बोधकताप्रकारः । **वाक्यान्तरे**ति । 'प्राणो ब्रह्मेति व्यजाना'दित्यादिवाक्यान्तरेषु । **उद्गीथे**ति । उद्गीथं 'ॐमित्येतद-

'अथ य एतानेवं पञ्चाग्नीन् वेदे'ति । तथा प्राणसंवादे मुख्यप्राणादन्यांश्चतुरः प्राणान् वाक्चक्षुःश्रोत्रमनांसि पठन्ति । वाजसनेयिनस्तु तमपि पञ्चमं पठन्ति ।

अपरं च । अथर्वोपनिषत्सु क्वचित् गोकुलवृन्दाकाननसञ्चरन्नोपरूपमनल्पकल्पद्रुमप्रसूनविरचितविचित्रस्थलीककालिन्दीसलिलकल्लोलसङ्गिमृदुतरपवनचलदलकविराजमानगण्डमण्डलद्युतिमण्डितकुण्डलप्रभानुभावितवामांसमिलन्मूर्धन्य-

भाष्यप्रकाशः ।

शब्दवत् तद्विशेषणत्वेन कार्यरूपप्राणादिव्यावर्तनार्थतायाः 'तं यथा यथोपासते तथैव भवति तद्धैतान् भूत्वावती'ति श्रुत्याध्यवसितत्वात् प्राणादीनामपि ब्रह्माङ्गत्वेन तद्धर्मा अपि ब्रह्मधर्मा एव, परं न मुख्या इति ब्रह्मधर्मत्वज्ञापनायैतदुदाहृतम् । तथाच यद्यपि ब्रह्मणि सर्वत्र सर्वे धर्माः सन्ति, तथापि तस्य तस्य संराधकस्य तत्तत्फलार्थं तांस्तानेव धर्मान् ब्रह्म प्रदर्शयति, न सर्वेषां सर्वान्, अतस्तत्तदुपासनायां ते त एव ध्यातव्याः, तत्तद्विधायकवाक्यानुरोधात् । तत्र चेदुक्तरीत्या सन्देहः, तदोपासना न कर्तुं शक्येतेति तदर्थं विचार्यन्त इति भावः । अत्र षष्ठोऽग्निर्बृहदारण्यके पञ्चमप्रपाठके पठितः । पञ्चाग्नयस्तु छान्दोग्ये सप्तमे प्रपाठके । प्राणसंवादोपि छान्दोग्ये तत्रैव । बृहदारण्यके तु पञ्चमे प्रपाठके द्रष्टव्यः । अत्र पादे अपरविद्योक्ता एव धर्मा विचार्यन्ते, न परविद्योक्ता अपीति शङ्कां निवारयन्त एव प्रस्तूयमानाधिकरणस्य विषयान्तरमप्याहुः अपरं चेत्यादि । अयमर्थः । गोपालपूर्वतापिन्यां 'सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णायाक्लिष्टकर्मणे । नमो वेदान्तवेद्याय गुरवे बुद्धिसाक्षिणे' इत्यादिना भगवतः कृष्णस्य परब्रह्मत्वमुक्त्वा, 'तदुहोवाच हैरण्यो गोपवेषमभ्राभं तरुणं कल्पद्रुमाश्रितम्, तदिह श्लोका भवन्ति । सत्पुण्डरीकनयन'मित्यारभ्य, 'चिन्तयँश्चेतसा कृष्णं मुक्तो भवति संसृते'रित्यन्तैः स्वरूपं ध्यानफलं चोक्तम् । 'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः । तयोरैक्यं

रश्मिः ।

क्षरमुपासीते'त्यन्वयादुद्गीथशब्दवत् । **कार्यादी**ति । व्यावर्तकविशेषणं यतः । **प्राणादीना**मिति । प्राणवाक्चक्षुःश्रोत्रमनसाम् । **ब्रह्माङ्गत्वेने**ति । ब्रह्म आकाशः श्रोत्रस्यापि । वाङ्मनसोरादेशः चक्षुषः सूर्यः आनन्दवल्ल्यां अन्यत्र च । यद्वा । प्राणविद्यास्थं ब्रह्म । तत्रास्पष्टत्वेपि 'प्रजापतिं पितरमेत्योचु'रिति प्रजापतिः । तदङ्गत्वेन । **तद्धर्मा** अङ्गधर्माः । करपाणित्वादीनां देहधर्मत्वदर्शनादेवकारः । मुख्यास्तु देहत्वादिवद्ब्रह्मत्वादयोऽतो न मुख्या इत्येवं ब्रह्मधर्मत्वज्ञापनाय प्राणसंवादरूपं भाष्य उदाहरणविषयम् । **तथाचे**ति । अपरविद्याया ऋग्वेदादिरूपायाः शब्दरूपत्वेनार्थस्य भाव . उक्तरीत्या प्राणाद्यर्थपरत्वे विचारिते ऋग्वेदाद्युपनिषदां बोधकताप्रकारे विचारिते चेत्यर्थः । **तत्र चेदि**त्यादि । उपासनायां चेत् उक्तरीत्या **पठिताश्चे**त्यारभ्य **पञ्चमं पठन्ती**त्यन्तभाष्येणोक्तरीत्या । अन्वयार्थं **तदोपासने**त्यादिग्रन्थः । तदर्थं ब्रह्मगता एव धर्मा विचार्यन्त इति पूर्वेणान्वय आवृत्त्येत्यर्थः । **एवे**ति । व्यवच्छेद्यं तु न परेत्याद्युक्तम् । अत्र भाष्ये । **तमपी**ति । प्राणमपि । प्रकृते । **निवारयन्त एवे**ति । अवधारणेन निवारयन्तः । एवेत्यत्र तृतीयालुक् । **प्रस्तूये**ति । ननु सर्ववेदान्तशब्दात्प्रस्तूयमानाधिकरणविषयत्वमथर्वोपनिषद्येव कुत इति चेच्छृणु । उपलक्षणत्वात् । **अपरं चेत्यादी**ति । अपरमाथर्वणं चकारेणर्ग्वेदाद्युपनिषदः । **क्वचिदि**ति । गोपालतापिनीये । **वृन्दाकाननं** वृन्दावनम् । **अनल्पे**त्यादिविशेषणम् । अनल्पानि कल्पद्रुमस्य प्रसूनानि तैर्विरचिता विचित्रा स्थली यस्यां कालिन्द्याम् । तस्याः सलिलं तस्य कल्लोलानां सङ्गोऽस्यास्तीति सङ्गि उक्तविशेषणैः सिद्धं मृदुतरः पवनः तेन चलै-र्दलैर्विराजमानं गण्डमण्डलं तस्य द्युत्या मण्डितयोः कुण्डलयोः प्रभयानुभावितं अनु पश्चात्स्फुटितो

१. चलैर्दलैरिति रश्मिपाठ आदर्शेषु कुत्राप्यदर्शनादादृत इति ।

महामणिकमुरलिकामुखावलीमिलदतितरलकरकमलयुगलाङ्गुलीवशंवदविविधस्वरमूर्छनामोहितव्रजवरनितम्बिनीकदम्बकटाक्षकुवलयार्चितम्, क्वचित् कोदण्डमण्डितभुजदण्डखण्डितप्रचण्डदशमुण्डमतिविचित्रचरित्राभिरामं रामस्वरूपम्, क्वचिदतिकरालवदनवित्रासितकमलाकमलासनवृषभासनादिकं नृकेसरिरूपम्,

भाष्यप्रकाशः ।

परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते' इति चोक्तम् । श्रीभागवते च 'कृष्णस्तु भगवान् स्वय'मित्युक्तम् । दशमस्कन्धसुबोधिन्यां च परब्रह्मत्वं व्युत्पादितम् । तथा रामतापनीये 'रमन्ते योगिनो यस्मिन्नित्यानन्दे चिदात्मनि । इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयत' इति श्रावणात् । श्रीमदाचार्यैरपि पञ्चमस्कन्धनिबन्धप्रकाशे 'कदाचिद्रामः पुरुषोत्तमावतार एवेति पद्मपुराणादवसीयते' इति कथनात् । अग्निकुमाराणां च 'व्रजे वो मनोरथः सम्पत्स्यत' इति श्रीरामेण वरदानाच्च । नवमस्कन्धे श्रीरामचरित्रे 'स यैः स्पृष्टोऽभिदृष्टो वा संविष्टोऽनुगतोऽपि वा । कोशलास्ते ययुः स्थानं यत्र गच्छन्ति योगिन' इत्यविशेषेण सर्वेषां मुक्तिदानाच्च श्रीरामस्य पुरुषोत्तमरूपत्वम् । नृसिंहस्वरूपे तु नृसिंहविद्यावत्युत्कर्षविश्रान्त्या नृसिंहस्य परत्वमवसीयते । तद्विधाया रहस्यत्वश्रावणाच्च । उरुक्रमरूपे तु विष्णुसूक्तश्रीभागवतादिषु अनन्तवीर्यत्वकथनात्, पातिकया क्रियया सत्यलोकस्थापकत्वरूपाद्भुतकर्मकथनाच्च परत्वं निरूप्यते । आदिपदेन नारायणानुवाकसद्विद्यात्मविद्याश्वेताश्वतराद्युक्तनारायणस-

रश्मिः ।

वामांसः तेन मिलन्ती मूर्धन्या उत्तमा महामणयो यस्यां मुरलिकायां तस्या मुखानां छिद्राणामावल्यः पङ्क्तयस्ताभिर्मिलन्ती अत्यन्तं तरलं कररूपस्य कमलस्य युगलं तस्याङ्गुल्यः तासां वशंवदा । अत्र मूर्छनानिष्ठो व्यापारः । ता विविधाः सप्तानां स्वराणां मूर्छना एकविंशतिः ताभिर्मोहितो व्रजस्य वरो नितम्बिनीनां भक्तानां कदम्बो यासु ताः मोहितव्रजवरनितम्बिनीकदम्बास्तासां कटाक्षाणि तानि कुवलयानि तैरर्चितमिति । श्रुतयः प्रसिद्धाः । क्वचिदिति । रामतापिनीये । कोदण्डो धनुः । क्वचिदिति । नृसिंहतापिनीये भागवतोपबृंहणे । इत्यादीति । रूपमित्यर्थः । मन्त्रे च तद्रूपम् । स च 'चरणं पवित्रं विततं पुराणमि'ति महानारायणे । तत्रेति । यजुरुपनिषदि बृहदारण्यके, सामोपनिषदि छान्दोग्य इत्यर्थः । तत्रेति । ऋग्वेदोपनिषदि मण्डूके । रूपान्तरमिति । मण्डूके तु 'अद्वैतः सर्वभूतानां देवस्तुर्यो विभुः स्मृतः' इत्यत्र देवे तुरीयत्वं विधीयते । तुर्य इति फले परोक्षवादात् । देवः क्रीडावान् । दशविधक्रीडाः । स तुर्यः तुरीय इत्यर्थः । उपबृंहितेयं तु कृष्णं वदिष्यतीति तद्रूपान्तरम् । आरम्भे तु 'ओमित्येतदक्षर'मित्युक्तं तच्छब्दार्थयोरौत्पत्तिकसम्बन्धाद्ब्रह्मत उपासनायां तद्रूपं तु नात्र । ब्रह्मविद्योपनिषद्यस्ति 'ऋग्वेदो गार्हपत्यः पृथिवी ब्रह्म एव च । अकारस्य शरीरं तु व्याख्यातं ब्रह्मवादिभिः ॥ यजुर्वेदोऽन्तरिक्षं च दक्षिणाग्निस्तथैव च । विष्णुश्च भगवान् देव उकारः परिकीर्तितः ॥ सामवेदस्तथा द्यौश्चाहवनीयस्तथैव च । ईश्वरः परमो देवो मकारः परिकीर्तितः' इति । गार्हपत्याद्यग्नयः सोमपर्यन्ताः । तेषां रूपं [[1] सप्तहस्तश्चतुःशृङ्गः सप्तजिह्वो द्विशीर्षकः । त्रिपात्प्रसन्नवदनः सुखासीनः शुचिस्मितः ॥ स्वाहां तु दक्षिणे पार्श्वे देवीं वामे स्वधां तथा । बिभ्रद्दक्षिणहस्तैस्तु शक्तिमन्नं स्रुचं स्रुवम् ॥ तोमरं व्यजनं वामैर्घृतपात्रं च धारयन् । आत्माभिमुखमासीन एवंरूपो हुताशनः] इति श्लोकोक्तम् । 'चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्तहस्तासो अस्य ।

१. मूले समग्रः श्लोको न लिखितः चिह्नान्तर्गतः [ ] ।

क्वचिदुरुक्रमादिरूपं च निरूप्यते । तथाच द्रव्यदेवताभेदात् यागभेदवद्धर्माणामावापोद्वापाभ्यां दृष्टादृष्टफलभेदाच्च वेद्यभेदे प्राप्ते ब्रह्मानेकत्वापत्तौ श्रुतिविरोधात् विनिगमकाभावात् सर्वेषामुपासनाविषयाणामब्रह्मत्वमापतितम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

दात्मरूपं शिवरूपमन्यच्च तत्र तत्रोक्तं रूपान्तरं संगृह्यते । चकारेण तत्र तत्रोक्तविभूतिरूपसंग्रहः । तथाच श्रुतौ ब्रह्मणो नानारूपनिरूपणात् तेषु किं समानत्वम्, उत कस्यचिच्छीघ्रं फलदातृत्वेन सुगमोपायैः फलदत्वेन परमदयालुतया जीवापराधनिवारकत्वेनाधिक्यमिति सन्देहानपयात्तदर्थं विचार आवश्यक इत्यर्थः । एवमत्र विषय उक्तः । तथाच पूर्वत्र ब्रह्मप्राधान्येन विचारः, अत्र ब्रह्मरूपप्राधान्येनेति विशेषः ।

संशयं व्युत्पादयन्ति तथाचेत्यादि । तथा तेन धर्मभेदप्रकारेण द्रव्यदेवताभेदाद्यागभेदवत् । यथा पूर्वतन्त्रे आमिक्षाधिकरणे, 'तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिन'मित्यत्रामिक्षावाजिनात्मकघनविरलद्रव्यद्वयरूपक एको यागः, उत यागद्वयमिति सन्देहे, द्रव्यदेवताविशिष्टयागान्तरविधौ गौरवं व्यापारान्तरकल्पनापत्तिश्चेति न यागद्वयं युक्तम्, किन्त्वामिक्षायाग एव वाजिनं गुणो विधीयते । 'वाजिभ्य' इत्यनेन च वाज आमिक्षारूपमन्नं येषामिति योगेन पूर्वोक्ता विश्वेदेवा एवोपलक्ष्यन्त इति पूर्वः पक्षः । तत्रोत्पत्तिशिष्टामिक्षाद्रव्यावरुद्धे यागे उत्पन्नशिष्टं वाजिनं गुणत्वेन प्रवेशं न लभते, निर्बलत्वात् । ततश्च तत् द्रव्यं स्वसम्बन्धिनं यागं पूर्वस्माद्भिनत्ति । वाजिपदं चाश्वे रूढत्वाच्च योगेन विश्वान् देवान् उपलक्षयिष्यति । योगस्य रूढितो नैर्बल्यात् । तथा सति विधिव्यापारान्तरयोः कल्पनस्य प्रामाणिकत्वात् तत्कृतं गौरवं न दोषायेति द्रव्यदेवताभेदात् तत्र यथा यागभेदः, तद्वदत्रोपासनायां गोपालरामनृसिंहादिरूपभेदेन परस्परं तेषां भेदात् धर्माणामावापोद्वापाभ्यां दृष्टादृष्टफलभेदाच्च प्रापञ्चिकानां मुरलीकोदण्डधरत्वादीनामावापेन तद्वि-

रश्मिः ।

त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यानाविवेशे'ति श्रुत्युक्तं च । स्वाध्यायसूत्र उपयोक्ष्यते । भाष्यीयचकारार्थमाहुः चकारेणेति । तत्रेति । तैत्तिरीये । तत्रेति । दुर्गागणपतिसूर्योपनिषत्सु । विभूतीति । अन्नमयादिविभूतयः दुर्गादिविभूतयश्च । तासां रूपाणि पक्ष्यादिरूपाणि । तथेति । व्याख्येयम् । तेनामिक्षात्वेन वाजत्वेन विश्वेदेवत्वेन लक्षितविश्वेदेवत्वेनेत्यादि व्याख्यानम् । व्यापारेति । यागान्तरकल्पनापत्तिः । द्रव्यदेवता आमिक्षावाजिविश्वेदेवाः तेषां भेदात् । वाजिभ्य इतीति । अश्वे रूढेन पदेन । पूर्वोक्ता इति । आमिक्षायागोक्ताः । एवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदकः गौरवात् । उपलक्ष्यन्त इति । वाजिपदमश्वे रूढम्, तेनोपलक्षणेन विश्वेदेवा बोधविषयाः क्रियन्त इत्यर्थः । यद्वा । विरलद्रव्यवाजान्नसम्बन्धिषु वर्तते । वाजान्नसम्बन्धिषु विश्वेदेवेषु वाजान्नसम्बन्धिविशेषेषु विश्वेदेवेषु लाक्षणिकम् । द्रव्यदेवताभेदाद्यागभेदवदिति । व्याख्येयम् । सामान्यवाच्यस्य विशेषवाच्यस्य च सामान्यविशेषभावसम्बन्धो लक्षणा । उत्पत्तीत्यादि । वैश्वदेव्यामिक्षेति प्रथमङ्गप्तिशिष्टा । उत्पन्नेति । तप्ते पयसि दध्यानयनेनोत्पन्ने शिष्टम् । योगेनेति । वाजो येषामस्ति । 'अत इनिठनौ' इतियोगेन । उपलक्षयिष्यतीति । यथा घटपदं कम्बुग्रीवादिमति रूढं न मासाकरमुपलक्षयति योगेन । विधीति । द्रव्यदेवताविशिष्टयागान्तरविधिः । व्यापारान्तरेति । यागान्तरेत्यर्थः । दार्ष्टान्तिके योजयन्ति स्म अत्रोपासनायामिति । [1]भेदे इति । सति इत्यर्थः । धर्माणामावापोद्वापाभ्यां दृष्टादृष्टफलभेदाच्चेति । व्याख्येयम् । साकारेति । निष्कलं षोडशीकलारूपम् ।

१. भेदे इति पूर्वपाठः रश्मौ ।

ननूपासनाविषयाणामौपाधिकत्वात् तेषां चाविद्याकल्पितत्वात् तद्विशिष्टानां तथात्वं युक्तमेव, नचैवं तन्निरूपकाणां वेदान्तानामब्रह्मपरत्वप्रसङ्गः, शुद्धस्य ब्रह्मणो दुर्ज्ञेयत्वेनोपाधिविशिष्टोपासनया चित्तशुद्धौ सत्यां स्वत एव तज्ज्ञानं भविष्यतीत्येतत्तात्पर्यकत्वादिति चेत् । मैवम् । समन्वयविरोधापत्तेः । तासां ब्रह्मविद्यात्वहानेश्च । श्रुतेः प्रतारकत्वापत्तेश्च ।

भाष्यप्रकाशः ।

लक्षणानां सदेकरसत्वास्थूलत्वादीनामुद्वापेन चेत्येवं ताभ्यां तत्तद्रूपगततत्तद्धर्मावापोद्वाभ्यां च साकारदर्शननिष्कलदर्शनादिरूपयोर्दृष्टफलयोस्तत्तत्पदप्राप्तिब्रह्मभावरूपयोरदृष्टफलयोर्भेदाच्च ज्ञानवेद्यात् सर्वफलदातृत्वेन प्रतिपादितात् परब्रह्मणोपि सकाशाच्च तत्तद्वाक्यवेद्यानां भेदे प्राप्ते, तत्तद्वाक्येषु ब्रह्मत्वेनैवोपासनस्य विहितत्वात् ब्रह्मानेकत्वापत्तौ 'एकमेवाद्वितीय'मिति श्रुतिविरोधादुपास्यरूपेषु किं ब्रह्म, किं नेति विनिगमकाभावात् सर्वेषामुपासनाविषयाणामब्रह्मत्वमापतितम् । अतः किं सर्वेषामब्रह्मत्वम्, उत यागवद्ब्रह्मभेदः, उत सर्वत्रैकमेव ब्रह्म प्रतिपाद्यमिति संशय इत्यर्थः ।

पूर्वपक्षमाहुः नन्वित्यादि । ननूपासना नाम चिन्ताभावनाद्यपरपर्याया शास्त्रप्राप्ता सविषयकज्ञानरूपा मनोवृत्तिः, ब्रह्म तु निर्विषयज्ञानैकरसम्, न तादृशनानाविधधर्मवत्तया वृत्तिविषयीभवितुमर्हतीत्युपासनाविषयाणां धर्माणामौपाधिकत्वादौपाधिकानां चाविद्याकल्पितत्वात् तद्धर्मविशिष्टानां तेषां तेषां रूपाणामब्रह्मत्वं युक्तमेवेत्यर्थः । नचेत्यारभ्य चेदित्यन्तं स्पष्टम् । एवमत्रैकः पूर्वपक्षः । तमन्यो दूषयन्नाह मैवमित्यादि । न वेदान्तानामुक्तविधतात्पर्यकत्वेन ब्रह्मपरत्वं शक्यवचनम् । समन्वयविरोधापत्तेः । 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ती'त्यादयः श्रुतयो हि 'अणोरणीयान्महतो महीया'नित्यादिभिर्विरुद्धधर्माश्रयमेवाशरीरमप्राकृततनुं सर्वोत्तारं मृत्यूपसेचनकं ब्रह्म बोधयन्ति । तथा 'अदृश्यमग्राह्य'मित्यादि प्रकृत्य, 'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते चे'त्यादिभिः कारणत्वसर्वज्ञत्वादिकं तत्र वदन्ति । अक्षरं 'अस्थूलमनण्वि'त्यादिना प्रपञ्चविलक्षणं प्रकृत्य, प्रशासितृत्वादिधर्मकं वदन्तीति विरुद्धधर्माश्रय एव ब्रह्मणि श्रुतीनां समन्वयात् त्वदुक्तरीत्याङ्गीकारे तद्विरोधापत्तेः । उपासनाविषयाणामब्रह्मत्वे तद्बोधकानां ब्रह्मानिरूपकतया ब्रह्मविद्यात्वहानेः । चकारेण 'परं ब्रह्म परं धामे'त्यादिस्मृतीनामपि विरोधात् । अन्यथा सतो ब्रह्मणोऽन्यथा

रश्मिः ।

'निष्कलं निरवयव'मिति विरुद्धधर्माधिकरणं वा । ब्रह्मभावः 'कृष्णोह'मिति । 'ब्रह्माहमस्मी'ति । वेद्यभेद इति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म ज्ञानवेद्यादिति । एकरूपादेकरसाच्च । ब्रह्मानेकत्वेति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म तत्तद्वाक्येष्वित्यादि । विहितत्वादिति । 'आत्मेत्येवोपासीते'ति पुरुषविधब्राह्मणश्रुत्या विहितत्वात् । चिन्तेति । आदिना मनोव्यापारः । शास्त्रेति । 'आत्मेत्येवोपासीते'त्याद्युपासना शास्त्रप्राप्ता । 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीते'ति भावना । 'तस्मात्केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशये'दिति मनोव्यापारः । विषयो विराट् । ज्ञानमात्मत्वादिप्रकारकम् । निर्विषयेति । निर्विषयज्ञानं च तदेकरसम् । विषयस्याविद्यकत्वात् । तद्धर्मेति । औपाधिकधर्मविशिष्टानाम् । एवेति । अनौपाधिकत्वखण्डनयुक्त्यैवकारः । स्पष्टमिति । स्वत एवेति । चित्तशुद्धिश्चित्तलयात्मिका तद्भेदेऽहंकारे लीने (तद्भेदरूपायां बुद्धौ लीनायां) आद्यकार्यलयाज्जगल्लये स्वत एव, नतु साधनतः 'अहं ब्रह्मास्मी'त्यैक्यज्ञानं भविष्यति । एवं स्पष्टम् । उक्तेति । अव्यवहितपूर्वोक्तविधतात्पर्यकत्वेन । एवेति । उभयव्यपदेशाधिकरणादेवेति । तद्विरोधेति । समन्वयविरोधापत्तेः । तासामितिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म उपासनेति । श्रुतेरितिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म अन्यथेति । अन्यथेति ।

अपरञ्च । 'योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते । किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा' इत्यन्यथाज्ञानं निन्दन्ती श्रुतिः कथं फलसाधकत्वेन तत्तदुपासनं वदेत् । स्पष्टार्थानां श्रुतिवाक्यानां निर्णयमकृत्वा सन्दिग्धार्थानां ज्योतिराकाशादिशब्दानां तद्वाचकत्वं न निर्णीयात् भगवान् व्यासः । एवञ्च सत्युक्तरीत्या यागवत्तेषां परस्परं भेदश्चावश्यक इत्युभयतःपाशा रज्जुरिति प्राप्ते, अभिधीयते ।

सर्ववेदान्तप्रत्ययम् । अनेकरूपनिरूपकैः सर्वैः वेदान्तैः प्रत्ययो ज्ञानं यस्य तत्तथा । ब्रह्मणोऽनन्तरूपत्वेपि यानि यानि रूपाणि विविधैर्जीवैरुपासितुं

भाष्यप्रकाशः ।

कथनेन तत्तच्छ्रुतेः प्रतारकत्वापत्तेश्च । अथाप्तोक्तविषभोजनकथनवदिदं क्रममुक्तिहेतुत्वेन वदतीति न प्रतारकत्वमिति विभाव्यते, तदप्ययुक्तमित्याह अपरञ्चेत्यादि । यदि तथा स्यात्, तदा 'योऽन्यथा सन्त'मित्यादिनाऽन्यथा ज्ञानं निन्दन्ती श्रुतिश्चित्तशुद्धिद्वारा क्रममुक्तिहेतुत्वेन तदुपासनं न वदेत् । आत्मापहारेण महापापापादकतया चित्ताशुद्धिजनकत्वात् । किञ्च । इदं व्यासस्यापि न सम्मतमित्याह स्पष्टार्थानामित्यादि । यदि हि तेषामब्रह्मत्वं व्यासोऽभिप्रेयात्, तदा कृष्णरामादिपदानि देवतावाचकानि ब्रह्मवाचकानि वेति सन्दिह्य, तन्निर्णयमपि किञ्चित् कुर्यात् । अतः श्रुतिविरोधो व्यासाशयविरोधश्च न वैयासदर्शनानुसारिणो युक्त इत्यर्थः । एवं तन्मतं दूषयित्वा स्वमतमाह एवञ्च सतीत्यादि । उक्तहेतुभिः सर्वासां श्रुतीनां ब्रह्मनिरूपकत्वेपि सति उक्तरीत्या यागवद्धर्मभेदकृतधर्मिभेदेनामिक्षावाजिनयागवत् तेषां तत्तद्विद्यावेद्यानां परस्परभेद आवश्यक इति । अतो हेतोरुभयतःपाशा रज्जुः । एतदङ्गीकारे भेदापत्त्या 'अयमेव स योऽय'मित्याद्यभेदश्रुतिविरोधात्, एतदनङ्गीकारे चैकदेशिमतवद्रूपाणामविद्याकल्पितत्वापत्त्या चोभयथापि दोष इति प्राप्त इत्यर्थः । अत्र सूत्रप्रतीकमुपन्यस्य समादधते अभिधीयत इत्यादि । सूत्रे व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिः । प्रत्ययो विश्वासोत्पादकं ज्ञानम् । यद्यपि भाष्ये ज्ञानमेवोक्तम्, तथापि लोके प्रत्ययपदस्य विश्वासे प्रसिद्धत्वादत्र शब्दमहिम्ना तथा व्याख्यानेप्यदोषः । प्रतिज्ञा च ब्रह्मतदुपासनोभयविषयिणी बोध्या । नन्विदं प्रतिज्ञावाक्यमुपासनापरतयैव व्याख्यातुमुचितम्, अतीतपादे ब्रह्मज्ञानप्रकारस्योक्तत्वात्, तेन निर्णीते वस्तुतत्त्वे यथा ज्ञातस्वरूपस्य गुरुप्रभृतेरुपासनं क्रियते, तद्ब्रह्मोपासनस्य कर्तव्यत्वेन विचार्यत्वात्, न तु ब्रह्मपरतयापि, तज्ज्ञानप्रकारस्य प्रागेवोक्तत्वात्,

रश्मिः ।

विरुद्धधर्माश्रयत्वेन सतः । अन्यथेति । उक्तशुद्धत्वमात्रेण । आप्तोक्तेति । वाग्भटादिकंकायनाद्याप्तोक्तौषधाङ्गविषभोजनकथनवत् । इदं विषभोजनं रोगनिवर्तकम्, नतु मारकम् । क्रमेति । शाखारुन्धतीन्यायेन सोपाधिकद्वारा दुर्ज्ञेये बुद्धिसिद्धिरित्येवं क्रममुक्तिहेतुत्वेन वदतीत्यर्थः । न वदेदिति । उपासनाया औपाधिकविषयत्वेनान्यथाप्रतिपादनरूपत्वात् न वदेदित्यर्थः । चित्ताशुद्धीति । उपाधिरूपबुद्ध्यशुद्धिजनकत्वात् । स्पष्टार्थानामित्यादिभाष्यं विवरीतुमाहुः किञ्चेत्यादि । स्फुटं स्पष्टयन्ति स्म एतदङ्गीकार इति । इदमिति । सूत्रम् । उपासनेति । एवेति । ज्ञानयोगव्यवच्छेदकः । ब्रह्मेति । विरुद्धधर्माधारत्वस्य । प्रागेवेति । अतीतपादे । अयमेवेति[1] । प्रत्ययः । ज्ञानो-

१. अयमेवेति पूर्वपाठः ।

शक्यानि, तानि तानि रूपाणि तैस्तैर्वेदान्तैर्निरूप्यन्त इति तावद्रूपात्मकमेकमेव ब्रह्मेत्यर्थः । तत्र हेतुः चोदनाद्यविशेषादिति। चोद्यते कर्तव्यत्वेन बोध्यतेऽनेनेति चोदना विधिवाक्यमिति यावत्। तस्याविशेषादित्यर्थः। यथैकस्मिन्नग्निष्टोमे शाखाभेदेपि चोदना तथैव भवति, 'अग्निष्टोमेन यजेते'ति, तथेहापि सर्वेषु वेदान्तेषु ब्रह्मत्वेनैवोपासना विधीयत इति तथा। आदिपदात् साक्षात्परम्पराभेदेन मोक्ष-

भाष्यप्रकाशः ।

'यदेकमव्यक्तमनन्तरूप'मित्यनन्तरूपश्रुतौ वृत्तिसङ्कोचने मानाभावादसङ्कुचितवृत्तितया गणनापरिच्छेदरहितानां रूपाणां निरूपयितुमशक्यत्वाच्चेत्याशङ्कायामाहुः ब्रह्मण इत्यादि । तथाच विरुद्धधर्माश्रयतया सामान्यतो ब्रह्मज्ञानस्योक्तत्वेपि 'फलमत उपपत्ते'रित्यत्र ब्रह्मणः फलदातृत्वस्य निर्णीतत्वात्तत्र कथं फलं ददातीत्याकाङ्क्षायां तैस्तैः रूपैस्तेन तेन साधनेन तत्तत्फलं ददातीति बोधयितुं तत्तत्फलसाधकोपासनार्थं तत्तद्रूपनिरूपणमिति प्रयोजनस्यानुक्तत्वेन तन्निरूपणस्यावश्यकत्वात् सर्वेषां निरूपणाशक्यत्वेपि कियतां निरूपणेऽनुपपत्त्यभावाच्चायमपि प्रतिज्ञार्थ इति भावः ।

नन्वेवं हेतुबोधकपदासङ्गतिः, ब्रह्मणो नित्यत्वेन तज्ज्ञानस्य चाविधेयत्वेन पुरुषव्यापारविषयत्वस्य तत्र वक्तुमशक्यत्वादित्याशङ्कायां हेतुमुपन्यस्य व्याकुर्वन्ति चोद्यत इत्यादि । तथाच यद्यपि ब्रह्मत्वेन ब्रह्मणो न चोदनाविषयत्वम्, तथाप्युपासनाविषयत्वादस्त्येव तद्द्वारा विषयत्वमित्यदोषः । एतदेव बोधयितुं विभजन्ते यथेत्यादि । इहापीत्यस्यैव व्याख्यानं सर्वेषु वेदान्तेष्विति । तथेति । चोदनाया अविशेषः । ननु शाखान्तराधिकरणे केवलानां रूपादीनां व्यभिचारित्वं हृदिकृत्य, 'एकं वा संयोगरूपचोदनाख्याऽविशेषा'दिति सूत्रे संयोगादिरूपहेतुचतुष्टयेनाभेदः साधित इति प्रकृते एकेन हेतुना कथमभेदसिद्धिरित्याकाङ्क्षायामाहुः आदीत्यादि । अत्र भाष्ये रूपसङ्ग्रहानुक्तिस्तु साध्यनिर्देशेनैव रूपस्यार्थादेव सिद्धिमभिप्रेत्य, सूत्रे चोदनायाः प्रथममुक्तिस्तु चोदनाविषयस्योपासनस्यापि सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वज्ञापनेन तद्विषयस्य ब्रह्मणस्तद्द्वारा तथात्वज्ञापनार्था । तेनान्येषां त्रयाणामपि सङ्ग्रहः । अथवा । चोदना च आदी च तत्समाहारश्चोदनादि, तस्य अविशेषः समानत्वं चोदनाद्यविशेषस्तस्मादित्यर्थो बोध्यः । तथाचैवं संयोगरूपचोदनात्मकहेतुत्रयस्यापि चोदनादिपदेऽभिप्रेतत्वात् सुखेनाभेदसिद्धिरित्यर्थः । आख्याया व्यभिचारित्वं त्वग्रे प्रदर्शनीयम् ।

एवञ्चात्र सूत्रे, ब्रह्म तदुपासनं च सर्ववेदान्तप्रत्ययम्, तत्तदुपासनावाक्येषु तत्तन्नानाधर्मवत्तया प्रतिपादनेपि न भिद्यते। चोदनाद्यविशेषात्। यत्र यत्र चोदनाद्यविशेषः, तदनेकवाक्येष्वनेकविधतया प्रतिपादनेऽप्यभिन्नम् । नानाशाखोक्तज्योतिष्टोमादिवदित्यनुमानं सिध्यति । तेन ब्रह्मणस्त-

रश्मिः ।

पासनयोर्विलक्षणप्रतीत्यर्थं विश्वासस्य निवेशितत्वादेवकारः । शाखान्तरेति । पूर्वतन्त्र इदं द्वितीयस्य चतुर्थपादे द्वितीयाधिकरणम् । रूपादीनामिति । 'नामरूपधर्मविशेषपुनरुक्तिनिन्दाशक्तिसमाप्तिवचनप्रायश्चित्तान्यार्थदर्शनाच्छाखान्तरेषु कर्मभेदः स्या'दिति द्वितीय'मेकवे'तिसूत्रम् । तत्र रूपचोदनाख्यानां अभेदे सत्त्वेन भेदसाधने व्यभिचारित्वम्। कर्म भिन्नं रूपादिसत्त्वात्। अत्र साध्याभाववत्यभिन्ने हेतोः सत्त्वाद्व्यभिचारित्वं तद्धृदिकृत्येत्यर्थः । संयोगादीति । संयोगोऽर्थसंयोगः तस्याविशेषाच्छाखान्तरे । तदेव प्रयोजनमुद्दिश्य तदेव विधीयमानं 'ज्योतिष्टोमेन यजेते'त्येवं प्रत्यभिजानीमः । तदेवेदमिति । रूपमस्य तदेव द्रव्यदेवतम् । पुरुषप्रयत्नश्च तादृश एव चोद्यते इति चोदना ।

फलकस्यकथनमप्युपासनानामविशिष्टमिति प्रयोजनसंयोगः संगृह्यते ॥ १ ॥

भेदान्नेतिचेदेकस्यामपि ॥ २ ॥

नन्वु द्रव्यदेवताभेदात् यागभेदवदुपास्यानां धर्मभेदेन मिथोभेदाद्युक्तहेत्वसिद्धिं भेदान्नेति चेदित्यनेनाशङ्क्य, तत्परिहारमाह सूत्रकारः एकस्यामपीति सूत्रावयवेन । यथैकस्यामपि गृहीतषोडशिकायामतिरात्रव्यक्तावगृहीतषोडशिकायाः सकाशात् गुणाधिक्येपि नातिरात्रभिन्नयागत्वम्, अतिरात्रलक्षणकमेवाधिकृत्य तद्ग्रहणाग्रहणयोर्विधानात्, एवमिहापि ब्रह्मैवाधिकृत्य तत्तद्धर्मवैशिष्ट्यावैशिष्ट्ययोरुक्तत्वान्न ब्रह्मोपासनाभिन्नत्वमुपासनासु । तथाच ब्रह्मधर्मस्वे-

भाष्यप्रकाशः ।

स्साक्षात्कारस्य च साक्षात्पुरुषव्यापारविषयत्वाभावेपि साक्षात्कारसाधनभूतप्रमाणसम्पादनद्वारा तादृशधृतिसम्पादनद्वारा च चोदनासम्बन्धो वर्तत एवेति तथा पुरुषव्यापारस्यापि सम्भवात् भक्तपक्षकत्वेपि न हेतोः स्वरूपासिद्धत्वमिति ज्ञेयम् । नन्वेवं सति प्रतिज्ञापि केवलविज्ञानपरतयैव व्याख्यातुमुचितेति शङ्क्यम् । पक्षवाचकविज्ञानपदाध्याहारापेक्षया पूर्वपादान्तिमसूत्रे जैमिनिमतोपन्यासे धर्मपदेन चोदनालक्षणतयात्र विज्ञानपरामर्शवत् 'पूर्वं तु बादरायण' इति पूर्वपदोक्तब्रह्मणः सन्निहिततया तत्परामर्शस्यापि युक्तत्वात्, विद्याविचारस्य वेदाधीनत्वाच्च तत्परतया व्याख्यानेऽप्यदोषात् ॥ १ ॥

भेदान्नेति चेदेकस्यामपि ॥ २ ॥ अस्मिन् सूत्रे केचिदैकस्यामपीति पठन्ति । अर्थस्तु तत्रापि तुल्यः । सूत्रप्रयोजनं वदन्तो व्याकुर्वन्ति नन्वित्यादि । मिथोभेदाद्युक्तहेत्वसिद्धिमिति। परस्परं रूपभेदाद्धेत्वेकदेशाभावेन पूर्वसूत्रोक्तस्य हेतोः स्वरूपासिद्धिम्। इहापीति। उपासनावाक्येष्वपि। नेत्यादि । न ब्रह्मणो भिन्नत्वम्, अतस्तदुपासनास्वपि न भिन्नत्वमित्यर्थः । एवं सूत्रे

रश्मिः ।

आख्या नाम । वेद्यं चाविशिष्टम् । वर्तत एवेति । चोदनावर्तनायोगव्यवच्छेदक एवकारः । तथेति । उक्तप्रकारेण । ब्रह्मपक्षकत्व इति । यथा कर्म भिन्नं रूपादिसत्त्वादित्यत्र भक्तपक्षकत्वेपि । न हेतोरिति । नामरूपधर्मविशेषादिषु चोदनादेर्हेतोः भक्तपक्षे सत्त्वान्न पक्षे हेत्वभावरूपस्वरूपासिद्धत्वमिति ज्ञेयम् । प्रतिज्ञा वाक्ये वेदान्तेऽग्निष्टोमविधिराचार्यस्याविशेषघटितसूत्रादभिमतेत्याचार्याणां यज्ञनारायणसोमयाजिनां पुत्रा गङ्गाधरसोमयाजिनः, तेषां पुत्रा गणपतिसोमयाजिनः, तेषां वल्लभभट्टजितः, तेषां लक्ष्मणभट्टजितः, तेषां रामकृष्णभट्टजितः, तेषां भ्रातरः श्रीवल्लभाचार्याः, तेषां सोमयागसंस्था पारम्परिकीति तथा विशेषेणोपासना युक्तेत्युक्तप्राया मङ्गलार्था ॥ १ ॥

भेदान्नेति चेदेकस्यामपि ॥ २ ॥ तुल्य इति । एकार्थे उभयप्रयोगात्तुल्यः । सर्ववेदान्तप्रत्ययं ब्रह्म, तदुपासनावाक्येषु तत्तन्नानाधर्मवत्तया प्रतिपादनेप्यभिन्नम्, चोदनाद्यविशेषात्, नानाशाखोक्तज्योतिष्टोमादिवदित्यत्र चोदनाद्यविशेषरूपहेतोः पक्षे ब्रह्मण्यभावात्तथा । 'परस्परं रूपभेदा'दिति 'मिथोभेदा'दितिभाष्यार्थः । भाष्ये । तद्ग्रहणेति । षोडशिग्रहणाग्रहणयोः 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति, नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाती'त्यनेन विधानात् लेड्विवक्षया । प्रकृते । तयोरिति । परस्परं

१. परामर्शस्य लघुत्वेन ज्यायस्त्वादिति पूर्वपाठः । २. शाबरभाष्यम् ।

नाभेदस्य विवक्षितत्वात् त्वदुक्तहेत्वसिद्धिः । एवं सति यत्रैकस्मिन्नुपास्ये रूपेऽन्यस्माद्रूपादधिका गुणा उच्यन्ते, तत्र तेषामुपसंहार उचित इति भावः ।

भाष्यप्रकाशः ।

व्याख्याय सिद्धमाहुः तथाचेत्यादि । षोडशिग्रहणादिवत्तयोर्ब्रह्मधर्मत्वेन वेद्याभेदस्य विवक्षितत्वात् त्वदुक्तस्य भेदरूपस्य हेतोरेव प्रत्युत स्वरूपासिद्धिः । ब्रह्म तदुपासनं च न सर्ववेदान्तप्रत्ययं रूपभेदादित्येवं प्रतिसाधने, धर्मभेदेन रूपभेदः साधनीयः, तत्र रूपभेदो धर्मभेदादामिक्षादियागवदित्यत्र, न भेदोऽतिरात्रवदिति दृष्टान्तेन हेतोः साधारण्यात् व्याप्यत्वासिद्धिरिति तेन रूपभेदासिद्धौ प्रतिपक्षहेतोरेवासिद्धिः । अत एव गोपालोपासनायां 'चतुर्भुजं शङ्खचक्रशार्ङ्गपद्मगदान्वित'मिति चतुर्भुजध्यानमुक्त्वा, 'ध्यायेन्मनसि मां नित्यं वेणुशृङ्गधरं तु वे'ति द्विभुजध्यानमप्युक्तम्, अतो न धर्मभेदाद्रूपभेद इति तवैव दोषात् राद्धान्तहेतुर्निर्दुष्ट इत्यर्थः । नन्विदं पूर्वपादान्त एव साधनीयम्, ब्रह्मणः फलदातृत्वस्य तत्रैवोक्तत्वात्, पादान्तरे तत्साधनस्य किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायां वक्ष्यमाणोपसंहारसूत्रविचारेण तदाहुः एवं सतीत्यादि । एवं सतीति । उक्तरीत्या वेद्यैक्ये विध्यैक्ये च सति । तत्र तेषामिति । न्यूनगुणकेऽधिकगुणानाम् । तथाच गुणोपसंहारः प्रयोजनमेतस्येति तदर्थमत्र विचार इत्यर्थः । ननु उपसंहारो नाम उप समीपे संहरणम्, तत्र तत्रोक्तानां धर्माणां हेतुबलादावाप इति यावत्, तदत्र तत्तद्वाक्येऽनुक्तानां गुणानां तेन तेन हेतुना तद्वाक्योक्ते विषये समनुसन्धाय विशिष्टबुद्धौ विषयीकरणम् । एतच्चाग्रे 'न वा विशेषा'दिति सूत्रानन्तरं 'दर्शयति' सूत्राभासे वक्ष्यते । अत एतदर्थत्वमेतदधिकरणस्य न युज्यते । अत्र हि सर्वेषामुपासनाविषयाणां ब्रह्माभेदाद्ब्रह्मत्वेन रूपैक्यस्य, यथाकथञ्चिन्मोक्षफलकत्वाच्च प्रयोजनैक्यस्य, सर्वत्रोपासीतेत्यादिचोदनैक्यस्य, ब्रह्मत्वेनोपासनाद्ब्रह्मोपासनेत्याख्यैक्यस्य च सिद्धत्वात्

रश्मिः ।

भिन्नरूपयोः । **विवक्षितत्वादिति** । प्रकाशाश्रयसूत्रात्तथा । **त्वदुक्तस्येति** । शङ्कितुक्तस्य । **हेतोरेवेति** । रूपभेदरूपस्य हेतोः । एवकारश्चोदनाद्यविशेषादित्यस्य योगस्य व्यवच्छेदकः । **स्वरूपेति** । ब्रह्मणि पक्षे रूपभेदरूपहेतोरभावात्तथा । **रूपेति** । ब्रह्मणि रूपभेदो धर्मभेदात् । **आमिक्षादीति** । आमिक्षात्वं वाजिनत्वं च धर्मौ । ब्रह्मणि न रूपभेदो धर्मभेदादतिरात्रवत् । अत्र षोडशिग्रहणाग्रहणे धर्मौ । न्यूनत्वं समत्वं वा धर्मौ । धर्मभेदेन रूपभेदः सौत्रो हेतुः । तत्साधकमनुमानं भाष्यीयम् । अत्र हेतोर्धर्मभेदरूपस्य । सौत्रहेतोर्धर्मभेदेन रूपभेदस्य साधारण्यं साध्यवदन्यवृत्तित्वं तस्मात् । ब्रह्मणि साध्यं रूपभेदस्तद्वान् आमिक्षादियागस्तदन्योऽतिरात्रयागस्तद्वृत्तित्वं धर्मभेदरूपहेतोरिति । **व्याप्यत्वेति** । रूपभेदरूपहेतौ गुरुतया हेतुतानवच्छेदकरूपत्वाद्रूपस्य । हेतौ हेतुतावच्छेदकाभावो व्याप्यत्वासिद्धिः । यथा वह्निमान् नीलधूमादित्यत्र । तव शङ्कितू रूपभेदादिति हेतौ व्याप्यत्वासिद्धिर्दोषस्तस्मात् । राद्धान्तस्य प्रतिज्ञायाः प्रतिज्ञासूत्रस्य हेतुरित्यर्थः । **प्रागेवेति** । समन्वयाधिकरणादौ । **एतत्साधनस्य** विध्यैक्यसाधनस्य । **तदाहुरिति** । विध्यैक्यसाधनप्रयोजनमाहुः **तेन तेनेति** । यथा 'ॐयो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् । यश्चाखण्डैकरसात्मा भूर्भुवःस्वस्तस्मै वै नमो नमः' इत्युक्त्वाग्रे 'ॐयो वै श्री० न्ये मत्स्यकूर्माद्यवतारा भू०' इत्युपसंहारहेतुना वाक्येन । वाक्यो-

१. ननु ब्रह्मैक्यस्य प्रागेव सिद्धत्वाद्वेद्यैक्ये च विध्यैक्यस्याप्यर्थादेव सिद्धत्वात् पुनरेतत्साधनस्य किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायां वक्ष्यमाणोपसंहारसूत्रविचारेण तदाहुः एवं सतीत्यादीति पूर्वः पाठः । २. सामान्यतः प्राप्तस्य विषयविशेषे नियमनमिति यावदिति पूर्वः पाठः ।

अत्रायं विशेषो ज्ञेयः । उपासनाविषयेष्वखिलेष्वविशिष्टं ब्रह्मत्वं ज्ञात्वा तेष्वेकतरं रूपं य उपास्ते, तस्य तत्र सर्वे गुणा उपसंहर्तुमुचिताः । यस्त्वनन्तेषु विभूतिरूपेषु ओमित्यक्षरादिषु 'ओमित्येतदक्षरं ब्रह्मे'ति ज्ञात्वोपास्ते, तस्य ज्ञात्वान्तरीया अप्येतदक्षरोपासनप्रकरणोक्ता एवोपसंहर्तव्याः, नान्ये । तद्रूपमधिकृत्यैव तेषां गुणानां कथनात् । अन्यथातिप्रसङ्गात् । इयं तूपासनामार्गीया व्यवस्थोक्ता, भक्तिमार्गीया त्वेतद्विलक्षणा, साग्रे वाच्येति ॥ २ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

सर्वासामुपासनानामैक्ये प्राप्ते सर्वत्र सर्वधर्मोपसंहारप्राप्तेस्तत्र तत्र तत्तद्रूपतत्तत्फलकथनाच्च भेदे प्राप्ते सर्वानुपसंहारस्यापि प्राप्तेश्च तत्प्राप्त्यप्राप्तिविरोधादित्याकाङ्क्षायाम्, तथा यत्र ब्रह्मत्वेनोपासनं विधीयते, तत्रैवं वेद्यैक्यात्तद्वाक्यवेद्यस्य गुणोपसंहारनिर्णयो भवति, यत्र पुनर्ब्रह्मत्वेनोपासनं न विधीयते, यथा प्राणविद्यादौ, तत्र ब्रह्मत्वेनोपासनाया अभावेन वेद्यैक्याभावात् कथं निर्णय इत्याकाङ्क्षायां च सर्वत्रास्य न्यायस्य तौल्यादनेनैव निर्णयो विरोधाभावश्चेत्याशयेनाहुः अत्रेत्यादि । अत्र गुणोपसंहारे वक्ष्यमाणरूपो विशेषः प्रयोजकभेदबलाज्ज्ञेयः । उपासनाविषयेष्वखिलेष्ववताररूपेषु तुल्यं ब्रह्मत्वं वेदान्तवाक्यैरवधार्य, तेष्वेकतरं रूपं यो ब्रह्मत्वप्राधान्येनोपास्ते, तस्य तस्मिन् रूपे सर्वे गुणा उपसंहर्तुमुचिताः । उपसंहारप्रयोजकस्य विरुद्धसर्वधर्माश्रयब्रह्मस्वरूपप्राधान्यस्य तत्र तेनानुसंहितत्वाद्युक्ताः । एतदेवैतत्पादोपान्त्ये समाहारादिसूत्रद्वये स्फुटीभविष्यति । यस्त्वनन्तेषु विभूतिरूपेषु वर्णात्मकोङ्कारादिषु तद्रूपप्राधान्यं ब्रह्मत्वस्य गौणत्वं चानुसन्धाय उपास्ते, तस्यान्तरीयकास्तदीया एवोपसंहर्तव्याः, नान्ये । तत्र हेतुः तद्रूपमित्यादि । अन्यथातिप्रसङ्गादिति । प्रकरणानादरे तद्विरोधप्रसङ्गात् । तथाच तत्तद्रूपानुसन्धानकृतया व्यवस्थया विषयभेदेनोपसंहारानुपसंहारप्राप्त्यप्राप्तिविरोधाभावादस्याधिकरणस्योपसंहारार्थत्वं सुखेन युज्यते । किञ्च, अन्यत्रापि तत्तद्विभूतिरूपवेद्यैक्यादन्येषां च हेतूनां तत्र सत्त्वादनेनैव न्यायेन निर्णय इत्यर्थः । अत्रोपासनामात्रनिर्णयो न क्रियते, अपि तु यद्ब्रह्मप्राप्तिसाधनत्वेन विवक्षितं तस्य सर्वस्येत्याशयेनाहुः भक्तीत्यादि । अग्र इति । 'न वा प्रकरणभेदात् परोवरीयस्त्वादिव'दित्यस्य द्वितीयव्याख्याने । नवधोपासनातिरिक्ताया भक्तेरप्रसिद्धत्वादप्रस्तुतत्वाच्च तद्व्यवस्थासरणमाकस्मिकमिति वाच्यम् । गोपालतापनीये 'भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधिनैराश्येनामुष्मिन् मनःकल्पनमेव, तदेव च

रश्मिः ।

क्याभेदलिङ्गेन वा । **अभावेनेति** । किन्तु प्राणधारकत्वेन । प्राणसंवादेऽस्ति । **अस्य न्यायस्येति** । व्यापकब्रह्मत्वेन वेद्यैक्याद्विध्यैकत्वन्यायस्य तौल्यम् । व्यापकविभूतित्वेन रूपेण वेद्यैक्याद्विध्यैकत्वनिर्णय इति तस्मात् । **प्रयोजकेति** । विरुद्धधर्माश्रयत्वस्य तद्रूपाधिकारस्य च प्रयोजकस्य भेदात् । भेदबलमपि अधिकारस्यानिवार्यत्वात् । **ज्ञेय** इति परे स्तोःश्चुना श्चुरित्यस्य प्राप्तिः स्मार्ता । उपासनेत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म **उपासनेति** । **तेनेति** । उपासकेन । यस्त्वित्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म **यस्त्विति** । **तदीया एवेति** । एवकारो विरुद्धधर्मरूपान्ययोगव्यवच्छेदकः । **अन्य इति** । अधिकारधर्मविरुद्धाः । **प्रकरणेति** । अधिकारप्राप्तप्रकरणानादरे । अधिकारः प्रारम्भः । प्रकरणं देशकालौ । भाष्येऽधिकृत्येत्यत्राधिकारः स्वप्राप्तप्रकरणवाचकः । लक्षणयेति भावः । **अनेनैवेति** । व्यापकधर्मेण वेद्यैक्याद्विध्यैकत्वनिर्णयरूपेणैव । एवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदकः । यदिति । साक्षात्परम्परया । **सर्वस्येति** । उप समीपे स्थित्वा यथायोग्यकरणमुपासनालक्षणमेकादशसुबोधिन्याम्, तस्या नवधाभक्तेः सर्वात्मभावस्य च । रामानुजमतेनाशङ्क्य परिहरन्ति स्म न चोपेति । अग्रेति । [illegible]

नन्वग्निष्टोममेवोद्दिश्य यावन्तो धर्मास्तैत्तिरीयके पठ्यन्ते, न तावन्तो वाजसनेयके, तथाच स्वबुद्धकरीत्या वाजसनेयिनां तद्धर्मोपसंहारोपि न्याय्यो भवेत्, नत्वेवं सः, शिष्टाचाराविरोधात्, तथा पञ्चाग्निविद्यामेवाधिकृत्योक्तोपि षष्ठोऽग्निर्न छन्दोगैः शक्यत उपसंहर्तुम्, तथैवाथर्वणिकैर्नैकस्मिन् रूपे रूपान्तरधर्मो

भाष्यप्रकाशः ।

नैष्कर्म्य'मिति लक्षणभेदेन, समाप्तौ च 'कृष्ण एव परो देवस्तं ध्यायेत् तं रसेत् तं भजे'दिति ध्यानरूपोपासनातो भिन्नतया विधानेन चोपासनातिरिक्ताया भक्तेः प्रसिद्धत्वात् प्रस्तुतत्वाच्च तदभावात् । एकस्मिन्नेव प्रकरणे सृष्टिकर्तृत्वादिना माहात्म्यस्यात्मत्वेन प्रियत्वस्य च बोधनेन श्रुत्यन्तरेपि श्रुतीनां माहात्म्यज्ञानपूर्वकसुदृढस्नेहरूपभक्तावेव तात्पर्यावसायाच्च । ननु विहिताविहितभेदेन भक्तिमार्गद्वैविध्यादत्र कस्य व्यवस्था वाच्येति चेत् । श्रीभागवते श्रीनन्दादीनां फलकथनेनाविहितभक्तेरपि प्रामाणिकत्वसिद्धौ मन्दमध्यमयोरर्थे तद्व्यवस्थाबोधनस्याप्यावश्यकत्वादुभयोरपीति बुध्यस्व । ननु सूत्रकारेणेदं कुत्रोक्तं येनैवमुच्यत इति चेत् । उच्यते । अग्रिमसूत्रेऽधिकारस्यानुपसंहारहेतुताकथनेनात्र यथाधिकारनिर्णयसूचनात् सूचितमिति जानीहि । तस्मादत्र शङ्कालेशः । एवञ्चास्मिन्नधिकरणे इदं सिद्धम् । 'यो देवानां नामधा एक एव', 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ती'त्यादिश्रुतिभिः, 'येऽप्यन्यदेवताभक्ता' इत्यादिस्मृतिभिश्च भगवतः सर्वरूपत्वात् तेन तेन रूपेण भगवत एव तत्तत्फलदातृत्वं काण्डद्वये पुराणेषु चेति । तेनादित्याद्यङ्गोपासनास्वपि ब्रह्मोपासनात्वमेवेति च सिद्धम् ॥ २ ॥ १ ॥

अतः परं ताः कथं कर्तव्या इत्याकाङ्क्षायामग्रिमसूत्रेषु तत्प्रकार उच्यत इत्याशयेन सूत्रमवतारयन्ति नन्वित्यादि । तथेति । वैधर्म्ये दृष्टान्तः । अयमर्थः । यथा कर्मणां वैलक्षण्येपि 'संयोगरूपचोदनाख्याविशेषा'दिति शाखान्तराधिकरणोक्तन्यायादैक्यम्, एवमुपासनानामपि तेनैव न्यायेनावान्तरैक्यमपि सिद्धम् । तथात्रास्यैव हेतोर्गुणोपसंहारप्रयोजकत्वयानेनैव हेतुना ज्योतिष्टोमादियागेषु शाखान्तरोक्तगुणोपसंहारोपि न्याय्यो भवेत् । तत्करणे शिष्टाचारविरोधस्तत्क्रिया शाखान्तरोक्तानादरे उपासनायामपि तद्वापत्त्या पञ्चाग्न्यादिविद्यासु षष्ठाग्न्याद्युपसंहारापत्तिरथर्वणादुकरूपेषु रूपान्तरधर्मानुपसंहारापत्तिश्चेति शिष्टाचारविरोधतौल्ये प्राप्ते, तत्समाधानाय गुणानुप-

रश्मिः ।

'उपास्तिं मन्यन्ते मधुमथनभक्ति'मिति कारिकायास्तथा । 'भक्तिरहस्यभजन'मितिपाठे लक्ष्यलक्षणैकीभावः । 'उपाधी'त्यत्र फलनैराश्येनेति पठन्ति । लक्षणेति । उक्तोपासनलक्षणभेदेनेत्यर्थः । तदभावात् आकस्मिकत्वाभावात् । एकस्मिन्निति । श्वेतकेतुप्रपाठके महाप्रकरणे एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानरूपे । सृष्टीत्यादि । 'सदेव सौम्ये'त्यारभ्य 'तत्तेजोऽसृजते'त्यादि । आदिना त्रिवृत्करणम् । आत्मत्वेनेति । 'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो'इत्यनया तथा । श्रुत्यन्तर इति । 'यतो वा इमानि भूतानी'त्यत्र 'अयमात्मा ब्रह्मे'त्यत्र च । 'भगवान्ब्रह्म कार्त्स्न्येने'ति वाक्यादेवकारः । विहितेति । 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्य' इति श्रवणभक्तिर्विहिता । तिसृभिः प्रेम्णि जातेऽन्यासां स्वयंभवनादविहितत्वम् । 'तं रसेत्तं भजे'दिति द्वये विहितम् । रस शब्दे । कीर्तनम् । भजेदिति 'भज सेवायाम्' । दास्यम् । 'यं मां स्मृत्वे'ति स्मरणम् । श्रवणमुक्तम् । किं पुन'र्मत्या आनाति चाव्यय'मिति नवधा भक्तिर्विहिता । अविहिताया ज्ञानाकरणत्वात् । फलेति । एकादशस्कन्धे कथनेन । मन्देति । उत्तमस्य तु गुरूपदेशेनेति । तथाच सर्ववेदान्तप्रत्ययं नैकमिति प्राप्तम् ॥ २ ॥

इति प्राप्ते, उत्तरं पठति ।

स्वाध्यायस्य तथात्वेन समाचारेऽधिकाराच्च सववच्च तन्नियमः ॥ ३ ॥

स्वाध्यायो वेदः । स एकमेव कर्म शाखाभेदेन भिन्नभिन्नप्रकारकं बोधयतीति तत्प्रयुक्तः सम्यग्भूतेऽग्निष्टोमादिलक्षण आचारे तत्तदङ्गाचारनियमोऽन्यूनानधिककरणलक्षण इत्यर्थः । तावद्भिरेवाङ्गैर्योगसम्पत्तेरधिककरणस्याप्रयोजकत्वात् तावतामेवाङ्गानां करणम् । ननूक्तं तद्धर्माणामप्युपसंहारस्त्वबुद्धकरीत्या

भाष्यप्रकाशः ।

संहारहेतुकथनेनोपसंहारप्रकारं वदन्नुत्तरं पठतीति बोध्यः ।

स्वाध्यायस्य तथात्वेन समाचारेऽधिकाराच्च सववच्च तन्नियमः ॥ ३ ॥ अत्र शाखान्तराधिकरणोक्तहेतोः पूर्वसूत्रे परामर्शात् पूर्वतन्त्रविचार्ये पूर्वकाण्डे च स्वाध्यायशब्दस्य वेदवाचकत्वेन प्रसिद्धेरस्मिन् सूत्रे 'तथात्वेने'त्यनेन तदुक्तस्य प्रसिद्धस्य प्रकारस्य, 'तन्नियम' इति तच्छब्देन तत्प्रसिद्धाङ्गाचारस्य च ग्रहणमित्याशयेन व्याकुर्वन्ति स्वाध्यायो वेद इत्यादि । तावन्मात्रनिरूपणस्य यागे तावदङ्गकरणनियमने बीजं स्फुटीकुर्वन्ति तावद्भिरित्यादि । तथाच निरूपणप्रकारभेदस्य बाधकस्य सत्त्वान्नोपसंहार इत्यर्थः । द्वितीयं हेतुं व्याकर्तुमवतारयन्ति नन्वित्यादि ।

रश्मिः ।

स्वाध्यायस्य तथात्वेन समाचारेऽधिकाराच्च सववच्च तन्नियमः ॥ ३ ॥ तद्व्यवस्थेति । उपसंहारव्यवस्थास्मरणम् । उपेति । उपसंहारबाधकं तु 'यस्त्वनन्तोष्वि'त्यादि पूर्वसूत्रभाष्येणाधिकारप्राप्तं प्रकरणमुक्तम् । एवं च स्वाध्यायपूर्वसूत्रं स्वाध्यायसूत्रमिति मध्यमपदलोपी समासो व्याख्यातव्यः । एवमिति पूर्वोक्तप्रकारेण चोदनाद्यविशेषादिति हेतुशोधनात् । शाखान्तरेति । इदमधिकरणं पूर्वतन्त्रे द्वितीयचतुर्थपादद्वितीयाधिकरणेऽस्ति । संयोगादिरूपहेतुचतुष्टयात्मकेन । सिद्ध इत्यन्तेन तथाचेतिभाष्यं व्याख्यातम् । अग्रे शाखान्तरीयेत्यादि वाजसनेयिनामित्यादिभाष्यव्याख्यानम् । अत्र मध्ये स्वबुद्धकरीत्येतिभाष्यं तद्व्याख्यानं 'विरुद्धधर्माश्रयत्वस्योपसंहारनियामकत्व'मिति त्वदुक्तरीत्येति । नत्वेवं स इति भाष्यं द्वेधा व्याकुर्वन्ति स स वेदित्यादिना । आद्रियत इति क्रियाध्याहारः । शिष्टाचारेति । भाष्योक्तादिशब्दार्थोपलक्षकोयम् । क आदिशब्दार्थ इति चेत् । नवीनव्याख्यात्रादिस्वीकृतत्वम् । अतीति । अधिकारप्राप्तप्रकरणविरोधः । तत्स्मारकमिति । उपसंहारस्मारकम् । तथा 'पञ्चाग्निविद्यामेवाधिकृत्योक्तोपि षष्ठोऽग्निर्न छन्दोगैः शक्यत उपसंहर्तु'मिति भाष्योक्तोपसंहारस्तत्स्मारकमित्यर्थः । भाष्ये । उक्त इति । बृहदारण्यक उक्तः । स्वाध्यायो वेद इत्यादीति । भाष्ये सूत्रान्तसूत्रव्याख्यानमितीत्यन्तभाष्येण । तथाच स्वाध्यायस्य तथात्वेन एककर्मणः शाखाभेदेन भिन्नभिन्नप्रकारकत्वबोधकत्वेन । हिहेतौ तदर्थस्तृतीयोक्तः । तत्प्रयुक्तस्तन्नियम इत्यन्वयः । केत्यत उक्तं सम्यग्भूत इत्यादि । अग्निष्टोमादीति । 'परमेष्ठिनो वा एष यज्ञोऽग्र आसीद्यदग्निष्टोम' इति श्रुतेरादिरग्निष्टोमः । अग्निष्टोमात्यग्निष्टोमोक्थ्याति-

१. ननूपसंहारस्याग्रे वाच्यत्वादिदानीं तत्प्रसङ्गस्याभावात्कुतस्तद्व्यवस्थास्मरणमित्याकाङ्क्षायां स्वाध्यायसूत्रं उपसंहारबाधकवचनात् तत्स्मरणमितिबोधनाय सूत्रमवतारयन्ति नन्वित्यादि । एवं हेतुशोधनाच्छाखान्तराधिकरणोक्तहेतुना कर्मैक्यादिविषये वैचैक्ये च सिद्धे शाखान्तरीयकर्मणोपि विद्यातौल्याद्विद्यास्विव शाखान्तरीयकर्मस्वप्यनुक्तगुणोपसंहारः प्राप्नोति, स चेदाद्रियते, तदा शिष्टाचारविरोधोतिप्रसङ्गश्च, यदि नाद्रियते, तदा विद्यैक्यादिसाधनव्यर्थत्वमिति शङ्कायां सूत्रं नत्वेवमित्यादि तत्स्मारकमित्यर्थः इति पूर्वं उत्थानिकापाठः । २. अंशम् ।

सम्भवतीत्यत आह अधिकारादिति। सर्वेषां शाखिनां स्वस्वशाखोक्तकर्मण्येवाधिकारः, न परशाखोक्तेपि। अतोपि तथा नियमः। चकारात् स्वशाखोक्तात् कर्मणोऽतिरिक्ततत्करणे न्यूनकरणे च 'यद्स्य कर्मण' इत्यादिप्रायश्चित्तश्रवणमपि तन्नियमे हेतुः समुच्चीयते। अत एव क्वचित् परशाखोक्तमपि व्यवस्थितवि-

भाष्यप्रकाशः।

तथाच शाखान्तरीयप्रकारविशेषकथनस्योत्पन्नशिष्टप्रायत्वेन नैर्बल्यात् स्वल्पकर्मभिर्वाजसनेयिभिस्तैत्तिरीयाद्युक्तकरणे 'अधिकं तत्रानुप्रविष्ट'मिति न्यायेन बाधाभावाच्चास्याप्रयोजकत्वमाशङ्क्य हेत्वन्तरमाहेत्यर्थः। व्याकुर्वन्ति सर्वेषामित्यादि। अधिकारोपष्टम्भाय सम्मत्यन्तरमाहुः अत एवेत्यादि। यत उक्तहेत्वोरस्ति कर्मनियामकत्वम्, अत एव हेतोः क्वचित् यथा 'कुच्छुटोऽसीत्यश्मानमादत्ते कुटरुरसीति वे'त्यश्मादानमन्त्रे, यथा वा उदितानुदितकालाभ्यां विकल्पिते होमे, 'उदिते जुहोत्यनुदिते जुहोती'ति तैत्तिरीयवाक्यद्वयोक्ते व्यवस्थितविषयत्वेन तत्तत्कल्पसूत्र

रश्मिः।

रात्रषोडश्याप्तोर्यामवाजपेयाख्याः सप्त सोमसंस्थाः। 'सोमश्चन्द्रशेखरः' ज्ञानेन भक्ता भगवन्मनस्काः, 'साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वह'मिति साधुहृदये सप्तस्वरूपाणि प्रसिद्धानि समष्टीनि। वेदव्याख्याने नवार्थ्या स्फुटीकृतानि स्वाध्यायपदसामर्थ्यलभ्यानि। आचारो मीमांसकानां सम्यगाचारोऽस्माकम्। 'सोमेन यजेते'ति विधेः सप्तसंस्थाबोधकार्थवादमूलत्वात्। अर्थवादस्य 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात्'। यथा 'वायव्यं श्वेतमालभेते'ति विधिः, 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावती'त्यर्थवादः। तन्नियम इत्यस्यार्थस्तत्तदङ्गेति। ननु सोमान्तर्गतषोडश्यादीनां स्वरूपनिर्माणभेदादिना नैवं सप्तस्वरूपपरत्वं सम्भवतीति चेत्, द्रव्ययागे प्रवर्तकत्वं सप्तसंस्थानाम्। तदतिरिक्तमानसीसेवादौ तथाकाराभावात्। आधिदैवाकाराणामनुष्ठान आधिभौतिकषोडश्यादिसम्बन्धआध्यात्मिकसोमयागादिः। यथातिरात्रे मनःस्थानीयत्वेन वर्णनीये भावनायां षोडशिग्रहणाग्रहणे। 'सर्वेन्द्रियगुणाभासं'भावना षोडशिग्रहणे, षोडश्यग्रहणे तु 'सर्वेन्द्रियविवर्जित'मित्युक्तभावना। अनुष्ठाने न कोपि विकारः। यथाचारमेवाग्निष्टोमादयः। यद्यप्यत्रिवृत्कृता अग्निष्टोमादयः सन्ति, तथापि प्रेष्ठाभ्यर्हणायोग्यत्वेन 'यमादिभिर्योगपथैरान्वीक्षिक्या च विद्यया। मदर्चोपासनाभिर्वा नान्यैर्योग्यं स्मरेन्मनः' इति भावनानिषेधाद्भगवदर्चोपासनायोग्याः। तावदित्यादि। तावतामङ्गानां करणे नियमनं नियामकत्वम्। तत्र बीजं यागसम्पत्त्यादि। नन्वित्यादीति। तद्धर्माणामधिकधर्मविशिष्टस्य धर्माणां तैत्तिरीयकाग्निष्टोमधर्माणां षष्ठाग्निहोत्रधर्माणाम्। त्वयुक्तेति। विरुद्धधर्माधारत्वस्योपसंहारनियामकत्वमित्युक्तरीत्या। प्रघट्टकार्थमाहुः तथाचेति। एवंप्रकारेति। उपसंहारप्रकारविशेषकथनस्य उत्पन्नशिष्टवाजिनयागप्रायत्वेनोत्पत्तिशिष्टादतिरात्रयागसकाशान्नैर्बल्यात्। बाधेति। अधिकरणे तथा। अस्येति। यागसम्पत्त्यादेरव्यवहितपूर्वोक्तस्य। हेत्वन्तरेति। अधिकाराच्चेति चकारात्तथा। तथाच 'स्वाध्यायस्य हि समाचारे तथात्वेने'त्येको हेतुः, 'अधिकाराच्चे'त्यपरो नियमे हेतुः। सर्वेषामित्यादीति। तथा नियम इति। तत्तदङ्गाचारनियमः। यद्स्य कर्मण इति। आदिना.........। तन्नियम इति। तत्तदङ्गाचारनियमे हेतुः। कुच्छुटोसीति अस्यन्तमन्त्रः। त्वं अश्मा, कुत् कुत्सितः, कौ वा छुटः छुट छेदे तु. प. से. छुटति पचाद्यच्। वेदभाष्येऽर्थः स्पष्टः। 'कुरुः श्रीकण्ठजाङ्गले ओदने नृपभेदे चे'ति विश्वकोशे कुरुः प्रसिद्धः। यथाह श्रीगोवर्धननाथजितं प्रति कश्चित् 'कृष्णोय'मिति। व्यवस्थितेति। यथा अवद्दस्फोटायनसेत्यत्र गवाक्षोर्थविशेषे, न तु गो अक्षः गोक्ष इति।

कल्पविषयत्वेन कल्पसूत्रे उच्यते। विकल्पे तूभयस्याशास्त्रार्थत्वम्, उपसंहारे तूभयस्यापि शास्त्रार्थत्वम्। अतोपि नात्रोपसंहारशङ्का। अत्र दृष्टान्तमाह सववदिति। यथा सवा होमाः सप्तसूर्यादयः शतौदनपर्यन्ता वेदान्तरोदितत्रेताग्न्यनभिसम्बन्धादथर्वणोदितैकाग्निसम्बन्धाच्चाथर्वणिकानामेव कार्यत्वेन नियम्यन्ते, तथा तत्तच्छाखायास्तथात्वात्तत्तदुक्त एव कर्मणि तत्तच्छाखिनामधिकाराच्च स्वस्वशाखोक्तादन्यूनानतिरिक्तकर्मकरणनियम इत्यर्थः। प्रकृतेपि यद्रूपोपासनाप्रकरणे यावन्तो धर्मा उक्ताः, तस्मिन् रूपे तावद्धर्मवत्त्वेनैवोपासना कार्या, तद्बोधकप्रमाणानुरोधात्, न तु रूपान्तरोपासनप्रकरणोक्तासाधारण-

भाष्यप्रकाशः।

उच्यते, यदि प्रकारभेदोक्तेरधिकारस्य च नियामकत्वं न स्यात्, तदा तत्र तत्र व्यवस्थाप्येत, यदि तत्र न व्यवस्थाप्येत, तदा विकल्पो वा उपसंहारो वा प्राप्नुयात्। तत्राद्ये ऐच्छिकत्वेनाष्टदोषदुष्टत्वादुभयस्याशास्त्रार्थत्वम्, उपसंहारे तूभयस्यापि शास्त्रार्थत्वम्, तथापि विरुद्धत्वात् कर्तुं न शक्यमिति व्यवस्था आवश्यकी। अतो व्यवस्थावशादपि न कर्मण्युपसंहारशङ्केति न पूर्वोक्तस्याप्रयोजकत्वमित्यर्थः। ननु यदा शाखाभेदो न सिद्धः, तदा त्वधिकारस्य नियामकत्वाभावादुपसंहारः स्यादित्यत आहुः अत्रेत्यादि। ईदृशेपि स्थले दृष्टान्तमुखेन नियामकमाहेत्यर्थः। व्याकुर्वन्ति यथेत्यादि। यथा सवाः सम्बन्धिभेदान्नियम्यन्ते, तथा विभागाभावदशायामपि तत्तद्वेदे विद्यमानायास्तच्छाखाया एव नियामकत्वात् तथेत्यर्थः। एवमत्रोपसंहारहेतुः शोधितः। निरूपणप्रकारभेदादिबाधकरहित एव वेद्याभेद उपसंहारप्रयोजक इति। एवं कर्मण्युपसंहारबाधकान्युक्त्वा तेषामुपसंहारबाधकानामुपासनायामपि तुल्यत्वात् सववच्चेति चकारेण तासामप्यत्र सङ्ग्रहादे-

रश्मिः।

तथोदिते होतुरनुदितहोमे दोषः, अनुदिते होतुरुदितहोमे दोष इति उदितहोतुरुदितहोमोऽनुदितहोतुरनुदितहोम इति व्यवस्थितविषयत्वं तेन। विकल्प इति भाष्यं विवरीतुमाहुः यदीति। प्रकारेति। प्रकारभेदः गुणभेदस्याप्रयोजकत्वरूपः। विद्यैकत्वं वेद्यैकत्वाधीनं तद्वेद्यैकत्वं गुणानां गोपरूपत्वरामत्वनृकेसरित्वानां भेदस्याप्रयोजकत्वाङ्गीकाराद्ब्रह्मत्वेनाङ्गीकृतम्। यथा घटत्वपटत्वकुड्यत्वकुसूलत्वानां गुणानां भेदस्याप्रयोजकत्वाङ्गीकारेण द्रव्यत्वेन रूपेण घटादीनां वेद्यानामभेदस्तथात्र अस्याः प्रकारभेदोक्तेरित्यर्थः। तत्र तत्रेति। तत्तत्कल्पसूत्रे तत् होमाश्मादानद्वयम्। उपसंहार इति। 'कुच्छुटोसी'ति मन्त्रयितरि 'कुरुरसी'ति मन्त्रयितृत्वोपसंहारः 'कुरुरसी'ति मन्त्रयितरि 'कुच्छुटोसी'ति मन्त्रयितृत्वोपसंहारः। उदिते होमकर्तर्यनुदिते होमकर्तृत्वोपसंहारः। अनुदिते होमकर्तर्युदिते होमकर्तृत्वोपसंहारः। भाष्यं व्याकुर्वन्ति स्म तत्राद्य इति। अष्टदोषेति। पूर्वमीमांसायां स्पष्टः। कर्मणीति। अग्निष्टोमे। पूर्वोक्तस्येति। व्यवस्थितविषयत्वेन प्रकारभेदोक्तेरधिकारस्य च। यदेति। व्यासावतारपूर्वकाले। सम्बन्धीति। आथर्वणिकसम्बन्धिभेदात्। अस्यां फक्किकायां अथर्वणेति पदच्छेदः उदितेत्येकदेशान्वयि। न्यायेऽन्वयः प्रसिद्धः। तथेतिभाष्यविवरणं तथा विभागेति। विद्यमानाया इति। 'नासतो विद्यते भाव' इति वाक्यात्। नियामकत्वादिति। तथात्वादितिभाष्यार्थः। तथेत्यर्थ इति। तत्तदुक्त इत्यादिरित्यर्थः। उपसंहारेति। उपसंहारस्य हेतुः वेद्याभेदः। शोधनप्रकारमाहुः निरूपणेति। गुणनिरूपणं गुणरूपप्रकारभेद आदिनाविकारः एवं-

धर्मवत्त्वेनापि । तथा सति मत्स्योपासकस्य चापशरादिकमपि भावनीयं स्यात्, पुरुषरूपोपासकस्य च लक्षयोजनायामश्रृङ्गादिकम् ।

नन्वथर्वणोपनिषत्सु श्रीरामोपासनायां 'यो वै ये मत्स्यकूर्माद्यवतारा भूर्भुवःसुवस्तस्मै वै नमो नम' इति वाक्येन तदितरावताररूपत्वमुच्यते, तेन तद्धर्मवत्त्वमप्याक्षिप्यते ।

सत्यमाक्षिप्यते तद्धर्मवत्त्वम् । तत्रायमभिसन्धिः । परमकाष्ठापन्नं ब्रह्मस्वरूपमिदमिति ज्ञात्वा ह्युपासना कार्या । तेनैतस्यैवान्येऽवताराः, तत्तद्रूपेण तानि तानि कर्माण्ययमेव कृतवानिति ज्ञेयं परम्, न तु तस्मिन्नेव रूपेऽन्यावतारधर्मवत्त्वमपीति ।

भाष्यप्रकाशः ।

ताँस्तत्रापि सङ्क्रमयन्ति प्रकृतेपीत्यादि । तथा सतीति । तद्बोधकप्रमाणमननुरुध्य रूपान्तरासाधारणधर्मोपसंहारेऽङ्गीकृते सति । तथाचैवं तद्भावने निरूपणप्रकारभेदाधिकारभेदसम्बन्धिभेदरूपस्यानुपसंहारनियामकत्रयस्यापि बाधापत्त्या अपराध आपद्येत, अतस्तथा न भावनीयमित्यर्थः । एतदेवैतत्पादान्ते 'न वा तत्सहभावाश्रुते'रिति सूत्रद्वये सेत्स्यति । अत्र वादी साम्बन्धिकनियमस्याप्रयोजकत्वं शङ्कते नन्वित्यादि । तथाचोक्तमन्त्रवर्णाच्छ्रीरामस्यावतारान्तररूपत्वे प्राप्ते तदुपासकस्य तथा भावनाधिकारस्यापि प्राप्तौ मन्त्रलिङ्गविरोधात् यो यत्सम्बन्धी, तेन तत्सम्बन्ध्येव ग्राह्यमिति साम्बन्धिकोऽनुपसंहारनियमोऽत्राप्रयोजक इत्यर्थः । अत्र तदुक्तमुपगम्य सूक्ष्मेक्षिकया समादधते सत्यमित्यादि । तत्रायमभिसन्धिरिति । आक्षेपेऽयमाशयः । कार्येति । अवताररूपोपासकेन कार्या । इति ज्ञेयं परमिति । मन्त्रेऽवताराणामेव तत्त्वविधानदर्शनात् तथा भावनीयम् । अन्यावतारधर्मवत्त्वमिति । लक्षयोजनायामत्स्यकिणचक्रवत्त्वादि कुतो न

रश्मिः ।

बाधकै रहित एव, न तु सहितः, वेद्यानां गोपरूपरामनृकेसरिरूपाणां अभेद उपसंहारस्य प्रयोजकः । बाधकैः सहितोऽप्रयोजको यथातथा 'उपसंहारोऽर्थाभेदा'दितिसूत्रे वक्ष्यते । तत्र वेद्याभेदो रामोपासनायामेकत्रोक्तत्वेन । स च निरूपणबाधकसहितः । निरूपणमधिकारानुरोधि तत्रास्ति । भिन्नाधिकारानुरोधिनिरूपणं भिन्नाधिकारे बाधकं भवति । गुणा बाधकाः मत्स्योपासकस्य चापशरादिकाः, पुरुषोपासकस्य लक्षयोजनायामश्रृङ्गादिकाः । अधिकारो भिन्नो बाधकः । एवं बाधकसहितो वेद्याभेद उपसंहारस्याप्रयोजकः । अतो न मत्स्योपासकस्य चापशरादिका गुणा उपसंहार्याः । न पुरुषोपासकस्य लक्षयोजनायामश्रृङ्गादिका गुणा उपसंहार्याः इति । एतेषामिति । निरूपणप्रकारभेदाधिकाराणाम् । प्रकृतेपीत्यादीति । असाधारणधर्माः चापशरादयः लक्षयोजनायामश्रृङ्गादयश्च । नियामकेति । उपसंहारनियामकत्रयं निरूपणप्रकारभेदाधिकारभेदरूपं तस्य । साम्बन्धिकशब्दार्थोऽग्रे वाच्यः । उक्तमन्त्रेति । 'यो वै ये मत्स्ये'त्याद्युक्तमन्त्रलिङ्गं शब्दसामर्थ्यं यच्छब्दार्थे रामेण मत्स्यकूर्माद्यवताराणामभेदान्वयात् पुरुषमत्स्याद्यवतारत्वावच्छिन्ने । उक्तमन्त्रान्वयलिङ्गं वा तस्य विरोधात् । यो यदिति । यो निरूपणादिः यत्सम्बन्धी यद्विधिसम्बन्धी तेन निरूपणादिना हेतुना तत्सम्बन्धी तद्विधिसम्बन्धी, नत्वन्यसम्बन्धी, अधिकारिणा ग्राह्यम् । अनुपेति । उपसंहाराभावस्य नियमः । अत्रेति । एकत्रानेकोपासनास्थले । सत्यमित्यर्धाङ्गीकारे । इत्यत आहुः उपगम्येति । सूक्ष्मेक्षिकयेति । अङ्गीकृते प्रतिवचनं सूक्ष्मेक्षिका । अभावन इति । अधिकार्यभावने । कार्येति । 'आत्मेत्येवोपासीते'ति

१. एवं कर्मणि प्रकृतेपीत्यादीत्यत्र एतेषामुपासनायामपि तुल्यत्वात्तत्रापि संगमयन्तीति पूर्वपाठः । २. अभावने इति पूर्वपाठः ।

तथाच तस्मिंस्तस्मिन्नवतारे तत्तद्धर्मवानिति श्रुत्या बोध्यते, न तु सर्वत्रेति । तत्र बाधकमुक्तमेव । प्राणाद्युपासनास्वेतावान् विशेषः, यथा कर्मण्यतिरेके प्रायश्चित्तश्रवणं बाधकम्, श्रीरामस्वरूपाद्युपासनासु च तेनावतारेणाकृतकर्मणस्तत्र भावनेऽपराधो बाधकः, 'योऽन्यथा सन्तमात्मान'मित्यादिवाक्यं च । न तथा प्राणाद्युपासनासु अधिकगुणस्येतरत्रोपसंहारे किञ्चिद्बाधकं दृश्यत इति स कर्तुं शक्यते इति ।

भाष्यप्रकाशः ।

भावनीयमित्याकाङ्क्षायां तत्र हेतुमाहुः तथाचेत्यादि । यथा तत्तच्छाखायां ज्योतिष्टोमादिस्तत्तद्धर्मवान् बोध्यते, तथा तत्तत्तापनीयेषु तत्तदवतारे तत्तद्धर्मवानिति श्रुत्या बोध्यते, न तु सर्वत्र तद्वान्, अतस्तथा भावने शास्त्रातिक्रम इति तथा न भावनीयमित्यर्थः । नन्वाक्षेपे कथमतिक्रम इत्यत आहुः तत्र बाधकमुक्तमेवेति । आक्षेपे निरूपणप्रकारभेदादित्रयरूपं बाधकमुक्तमेव । तथाच तस्य यदि बाधकता नाङ्गीक्रियते, तदा शाखाकृतोऽग्निष्टोमाद्यङ्गनियमः सर्वेष्वप्याथर्वणिककार्यतानियमश्च भज्येत, अतस्तद्भावायात्रापि तथा न भावनीयमित्यर्थः । ननु पूर्वसूत्रोक्तहेतुना सर्वैक्यसिद्धौ सर्वत्र सर्वगुणोपसंहारः प्राप्तः, तत्र समाचारसूत्रे निरूपणप्रकारभेदाधिकारभेदप्रायश्चित्तादिश्रवणसम्बन्धिभेदानामनुपसंहारनियामकत्वमादृतम्, तेन तत्तच्छाखिभिस्तत्तदधिकारिभिस्तत्तत्सम्बन्धिनियताः स्वाधिकारानुसारेण स्वशाखोक्ता गुणा उपसंहर्तव्याः, नेतर इति सिद्धम् । तथा सति प्राणाद्युपासनायां शाखान्तरोक्तगुणोपसंहारो न स्यादित्यत आहुः प्राणादीत्यादि । नच निरूपणप्रकारभेदरूपमुपसंहारबाधकमस्त्येवेति कथं बाधकाभाव इति वाच्यम् । कर्मणि न्यूनाधिक्ये प्रायश्चित्तवदुपासनायां तथाभावने प्रायश्चित्ताश्रवणान्निरूपणप्रकारभेदस्य प्रायश्चित्ताद्युन्नायकत्व एव बाधकत्वम्, नान्यथेति निश्चयात् । एवं प्रकारभेदेपि 'अधिकं तत्रानुप्रविष्ट'मिति न्यायेन दोषाभावात् तत्रत्यानां पदार्थानामबाधेनाधिकसंख्यायां न्यूनसंख्याया निवेशतस्तस्या अव्यवधादधिकप्राणादिनिवेशेन पुरःस्फूर्त्या भेदप्रतीतावपि प्राणाद्युपासनातोऽभिन्नतया तस्या बाधकत्वाभावात् । 'योऽन्यथा सन्तमात्मान'मितिवद्दोषबोधकवाक्याभावाच्च । अतः सुष्ठूक्तं तत्रोपसंहारे न किञ्चिद्बाधकं दृश्यत इति । एवं प्राणादिविद्यासूपसंहारबाधकाभावेन तस्मिन् साधितेपि

रश्मिः ।

श्रुतेस्तथा । मन्त्र इति । मन्त्रे वैदिके । स्वविषयत्वादवताराणामेव, न तु ह्यधोक्षजस्य, तत्त्वविधानदर्शनात् । तथेति । अयमवतार्येव कृतवानिति विभावनीयमित्यर्थः । अवतार्यवतारयोरभेदमर्शनेनायमिति प्रत्यक्षगे रूपे यत्तदुक्तम् । किणेति । कूर्मचिह्नम् । आदिना करालवदनत्वादि । तत्तदिति । नृकेसरिरामगोपालतापिनीयेषु । अत्रापीति । एकत्रानेकोपासनास्थले । निरूपणेति । गुणनिरूपणम् । निरूपणं च प्रकारभेदश्चाधिकारभेदश्च प्रायश्चित्तश्रवणं च सम्बन्धिभेदश्च द्वन्द्वः तेषाम् । अनुपसंहारेति । उपसंहाराभावस्य नियामकत्वम् । प्राणादीति । इयं प्राणसंवादेऽस्ति । पूर्वसूत्रोक्तायाम् । शाखान्तरेति । वाजसनेयिशाखोक्तपञ्चमप्राणरूपगुणोपसंहारः । प्राणादीत्यादीति । अधिकगुणस्य पञ्चमप्राणरूपस्य । इतरत्र वाजसनेयीतरत्र शाखायाम् । स इति । अधिकगुणोपसंहारः । नच नीति । निरूपणं च प्रकारभेदरूपश्च तयोः समाहारः । 'स नपुंसक'मिति पाणिनीयेन नपुंसकत्वम् । अस्त्येवेति । बाधकायोगव्यवच्छेदकैवकारः । एवमिति । पूर्वसूत्रे वाजसनेय्युक्तपञ्चमप्राणरूपगुणनिरूपणेन प्रकारस्य गुणरूपस्य भेदेपि । तत्रत्यानां बृहदारण्यकोक्तानां वाक्चक्षुःश्रोत्र-

१. भेदेन प्रतीतावपीति पाठः ।

ननु पुरुषादिरूपस्य विग्रहस्यैव शुद्धब्रह्मत्वादयमेवावतारान्तरेष्वपि लीलाकर्तेति ज्ञानमनुपपन्नमिति चेत्। मैवम्। धर्मिग्राहकमानेनैकस्यैव शुद्धस्यैवानन्तरूपत्वेन सिद्धत्वात्। वस्तुन एव तथात्वान्न काचिच्छङ्का। यथैकस्यैवान्योन्याभावस्यानन्तभावप्रतियोगिकतद्रूपत्वं तावत्प्रतियोगिकात्यन्ताभावरूपत्वं चाभा-

भाष्यप्रकाशः।

परविद्यासु रूपान्तरे पूर्वोक्तरीतिकरूपान्तरगुणोपसंहारानुपपत्तिं शङ्कते नन्वित्यादि, इति ज्ञानमनुपपन्नमिति। रूपान्तरविग्रहस्यापि शुद्धब्रह्मत्वादयमेव तथेत्यंशेऽनुपपन्नमित्यर्थः। तत्र समादधते मैवमित्यादि। धर्मिग्राहकं मानं हि 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूप'मिति वक्ष्यमाणश्रुतिरूपं तेन। वस्तुन एव तथात्वात्। ब्रह्मण एकत्वादत्र प्रकरणिनः श्रीरामचन्द्रस्यैव भगवत्त्वेन श्रावणात् तस्य विरुद्धधर्माश्रयत्वेन सर्वाकारत्वात् तस्यैव रूपान्तरेण तत्करणसम्भवेन न कापि शङ्केत्यर्थः। एतस्य बुद्ध्यारोहार्थं दृष्टान्तेनोपपादयन्ति यथेत्यादि। नियतपदार्थवादिमते भावभिन्नो निषेधमुखप्रतीतिगोचरो य एकोऽभावभेदरूपोऽन्योन्याभावपदार्थस्तस्यैव तादृशतादृश-

रश्मिः।

मनसां पदार्थानामबाधेनाधिकसंख्या पञ्चसंख्या तस्यां न्यूनसंख्या चतुःसंख्यायाः। अबाधेनेति। शते पञ्चाशदितिप्रतीत्या तथा। पुरःस्फूर्त्या शाखाभेदस्फूर्त्या विद्याभेदस्फूर्त्या। तस्येति। एवं प्रकारभेदस्येत्यर्थः। इतिवदिति। इत्यदोषबोधकवाक्यवत्। शाखान्तरोक्तगुणोपसंहारेण प्राणविद्यास्वरूपस्य प्राग्भिर्दर्शनात्। व्यतिरेके दृष्टान्तः। अत्रेति। अवयव्यनवयविपक्षयोरित्यर्थः। उद्भाव्येति। अनवयविपक्षमाश्रित्योद्भाव्य। नन्वित्यादीति। विग्रहस्यैवेति। एवकारः शुद्धब्रह्मरूपावयवियोगं व्यवच्छिनत्ति। अयं विग्रहः। एवकारः पूर्ववद्व्याख्येयः। शुद्धब्रह्मत्वादेवकारो वा। अनुपेति। देवदत्तोपि विष्णुमित्रे क्रीडाकर्ता स्यात्। अतोऽनुपपन्नम्। तथाचेत्यादि। अवयव्यनङ्गीकारेण शङ्कायाम्। आकाराणां परस्परं सन्निवेशविरोधेन। वाक्यमेवेति। आकाररूपेण प्रवेशाङ्गीकारेऽन्याकाररूपेणाप्रवेष्टृत्वेन सन्तमन्यथाकाररूपेण प्रवेष्टृत्वप्रतिपदनं निषिद्धं तस्य निषिद्धस्यार्थस्य बाधकम्। एवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदकः। समादधत इति। अवयविपक्षमाश्रित्य तथा। मैवमित्यादीति। एकस्यैवेति। अवयविन एव। एवकारोऽवयवमात्रयोगव्यवच्छेदकः। शुद्धस्यैवेति। अक्षरमात्रस्य। तेनेति। सिद्धेनानन्तरूपत्वेन। तथात्वादित्यस्य व्याख्यानं तस्यैवेत्यादि। तस्यैवेति। अवयविन एव। तत्करणेति। अवतारान्तरेष्वपि कर्तृत्वेन। कापीति। अवयवावयविनोरपि जन्मप्रकरणे द्विभुजे चतुर्भुजप्रवेशेपि शङ्का। एतस्येति। दार्ष्टान्तिकस्य। दृष्टान्तेनेति। तथाचोपक्रमस्य संजातविरोधित्वेन छान्दोग्यीयनवमोपदेशार्थे दार्ष्टान्तिके प्रसिद्धपञ्चमं 'न्यग्रोधफलमत आहरेती'त्याद्युक्तं 'यं वै सौम्यैतमणिमानं न निभालयसे, एतस्य वै सौम्यैषोऽणिमा, एवं महान्यग्रोधस्तिष्ठती'त्यनञ्प्रयोगादभावदृष्टान्तेनेत्यर्थः। यद्यप्यणिमत्वेनाभावो विशेषितो न भावयितुं शक्य इत्यभावपदार्थः, तथाप्यन्यापेक्षयायमेव दृष्टान्तो युक्त इत्याशयवन्त आहुः नियतेति। सप्तपदार्थवादिनैयायिकमते। निषेधेति। घटः पटो नेत्येवम्। तस्यैवेति। अत्र विशेषणविभक्तेः साधुत्वार्थत्वापेक्षया प्रतीयमानाभेदार्थकत्वस्य ज्यायस्त्वेन विशेषणैक्यादन्योन्याभावपदार्थविशेष्यान्वय्येवकारः कृतः। एकस्यैवेत्यर्थः। अभेदात्। तदुक्तं मुक्तावल्यां 'अन्योन्याभावस्यैकविधत्वात्तद्विभागाभावा'दिति। तादृशेति। वक्ष्यमाणेत्यर्थः। इत्याद्युक्तेति। इत्यादिभाष्योक्तेत्यर्थः। तद्यथा। भाष्ये। घटः पटो नेत्यत्र पटो घटो न, कुड्यं कुसूलं न, कुसूलं कुड्यं नेत्येवमनेन भावप्रतियोगिकान्योन्याभावरूपत्वम्। तावदिति। अयं भावः।

वप्रतियोगिकान्योन्याभावात्यन्ताभावरूपत्वं चाभावाभावरूपत्वेऽप्यभावरूपत्वमेव चाङ्गीक्रियते, तथेहाप्यस्तु। अभावत्वस्याप्रयोजकत्वात्। धर्मिग्राहकमानस्यैव तथात्वात्। तत्र तैत्तिरीयोपनिषत्सु 'अतः परं नान्यदणीयस९ हि परात् परं यन्महतो महान्तम्। यदेकमव्यक्तमनन्तरूपं विश्वं पुराणं तमसः परस्ता'दित्यादिश्रुतिरूपं प्रसिद्धमेव।

अपरञ्च। सर्वासामुपासनानां हि ब्रह्मविज्ञानसाधनत्वेन श्रुतौ निरूपणं क्रियते। यत्प्रकारिकोपासना विज्ञानहेतुः, स प्रकारश्च निरूप्यते। एवं सत्येकस्यां

भाष्यप्रकाशः।

प्रतीतिबलेन अनन्तभावप्रतियोगिकेत्याद्युक्तप्रकारकतावद्रूपत्वं स्वीक्रियते, न तु निरूपकभेदमादाय स्वरूपनानात्वम्, तद्वदत्र ब्रह्मण औपनिषदत्वेन तद्वाक्यस्यैव नियामकत्वात् स्वरूपैक्येऽप्यनन्तरूपतया तत्तल्लीलाकर्तृत्वज्ञानं स्वरूपैक्यं चोपपद्यत इत्यर्थः। ननु यद्येवं तत्तल्लीलाकर्तृत्वेन ज्ञाने

रश्मिः।

अभावत्वेनैक्यादत्यन्ताभावस्य। तदुक्तं संसर्गाभावत्वमन्योन्याभावभिन्नाभावत्वमिति यत्किञ्चिद्देवत्वम्। तावत्प्रतियोगिकात्यन्ताभावेन रूप्यते व्यवह्रियत इति तावत्प्रतियोगिकात्यन्ताभावरूपत्वम्। अत्रापि भावः। नित्यसंसर्गाभावत्वमत्यन्ताभावत्वमिति ध्वंसादिकालावच्छेदेनात्यन्ताभावो वर्तत इति नव्यमतम्। ध्वंसप्रागभावाधिकरणेनात्यन्ताभाव इति प्राचां मतम्। श्यामे घटे रक्तं नास्ति, रक्ते घटे श्यामं नास्तीति प्रागभावं ध्वंसं चावगाहते, नतु तदत्यन्ताभावम्। अभावप्रतीति। घटः पटाभावो नेत्यादि। अभावाभावेति। अन्योन्याभावाभावाभाव इत्येवं द्वितीयाभावस्य प्रतियोगिस्वरूपत्वात्। अत एवाभावप्रतियोगिकान्योन्याभावत्वं नित्यत्वात्तद्भेदत्वाच्चाप्रतीयमानात्यन्ताभावरूपत्वं च। तथा चाभावप्रतियोगिकावन्योन्याभावात्यन्ताभावौ ताभ्यां रूप्यते व्यवह्रियत इत्यभावप्रतियोगिकान्योन्याभावात्यन्ताभावरूपत्वम्। अभावेति। अन्योन्याभावाभावाभाव इत्यत्रान्योन्याभावत्वं शक्यतावच्छेदकमुक्तप्रायम्, अभावत्वं शक्यतावच्छेदकमभिप्रेत्याहुः। अन्योन्याभावाभावाभावरूपत्वेऽभावरूपत्वमभावत्वं शक्यतावच्छेदकमित्यर्थः। निरूपकेति। प्रतियोगिभेदमादाय। तथेहाप्यस्त्विति कण्ठं विवृण्वन्ति स्म तद्वदित्यादि। तद्वाक्यस्येति। 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूप'मित्यस्य महानारायणवाक्यस्य। उपपद्यत इति। इत्यस्त्वित्यर्थः। भाष्ये। ननु दृष्टान्तेनाभावत्वमपि स्यात्, तत्राहुः अभावत्वस्येति। अणिमत्वेनाभावस्य विशेषितत्वात्तथा। 'न केनापि भावयितुं शक्यमतोऽभावं वदन्त्येन'मिति व्युत्पत्तिः स्मार्ता। प्रागेवेति। गतपादे उभयलिङ्गाधिकरणे। अपरं चेत्यादीति। सर्वेषामिति। गोपरूपरामस्वरूपनृकेसरिरूपोरुक्रमादिरूपसर्वोपासनानां चित्तशुद्धिद्वारा भक्त्या शुद्धचित्ते। आविर्भूते उपासाविषयातिरिक्ते पुरुषोत्तमे ब्रह्मविशेषज्ञातं तत्साधनत्वेन श्रुतौ 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः, तस्येदमेव शिरः, अयं दक्षिणः पक्षः, अयमुत्तरः पक्षः, अयमात्मा, इदं पुच्छं प्रतिष्ठे'त्युक्त्वा 'अन्नं ब्रह्मेति व्यजाना'दित्यादिश्रुतौ निरूपणं क्रियते। यत्प्रकारिकेति। गोपरूपत्वादिप्रकारिकोपासना आदिपदार्थान्नरसमयत्वादिप्रकारिकोपासना गोपरूपाद्यन्नादिब्रह्मविज्ञानहेतुः। विशिष्टं ज्ञानं भक्तिफलरूपं ज्ञानम्। स प्रकार इति। 'एको वशी सर्वगः कृष्ण' इत्याद्युक्तैकत्वादिः प्रकारः। तथा रामरूपे 'सो विमुक्त उपास्यो य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा सोऽविमुक्ते प्रतिष्ठित' इत्युक्तानन्तत्वाव्यक्तत्वात्मत्वानि प्रकाराः। नृकेसरिरूपे 'ससागरां ससप्तद्वीपां वसुन्धरां तत्त्वतः

शाखायां कतिपयगुणनिरूपणम्, तदितरस्यां शाखायां तदतिरिक्तानामपि गुणानामित्यत्र को हेतुरिति पृच्छामः । उपसंहारेण प्राप्तिमनिरूपणे हेतुं चेत् ब्रवीषि, तत्र वदामः । एवं सति न्यूनगुणनिरूपिका श्रुतिः स्वोक्तानपि गुणान्न वदेत् । तथाहि । उपासनानां ब्रह्मविज्ञानफलकत्वस्य निर्णीतत्वात् तस्य चैकजातीयत्वात्

भाष्यप्रकाशः ।

स्वरूपैक्यं चोपपन्नम्, तर्हि रूपान्तरेणापि रूपान्तरलीलाकर्ता रूपान्तरेपि रूपान्तरधर्मवानिति भावने को दोषः, सर्वत्रोभयलिङ्गत्वाविरोधस्य प्रागेव निर्णीतत्वादित्याशङ्कायां तथाभावने श्रुतितात्पर्यविरोधरूपं दोषं स्फुटीकर्तुं प्रतिवादिनमनुयुङ्क्ते अपरं चेत्यादि । तत्रोत्तरमुद्भाव्य दूषयन्ति उपसंहारेत्यादि, तत्र वदाम इति । तादृश उत्तरे तवानिष्टापत्तिमुद्घाटयामः । 'न वदे'दित्यनेन गृहीतं विभजन्ते तथाहीत्यादि । तस्य चेत्यादि । तस्यैव ब्रह्मज्ञानस्य त्वन्मते

रश्मिः ।

प्रथमं पादं जानीया'दित्याद्युक्तचतुष्पात्त्वम् । 'तस्मादिदं साङ्गं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छती'त्युक्तसाङ्गत्वं च प्रकारः । विष्णुसूक्ते 'विष्णोर्नु क'मित्याद्युक्तविष्णुत्वादिः प्रकारः । मन्त्रे च 'चरणं पवित्रं विततं पुराण'मिति मन्त्रोक्तचरणविततत्वपुराणत्वपावकत्वदुष्कृततारकत्वानि प्रकाराः । नारायणानुवाके महानारायणे 'सहस्रशीर्षं देव'मिति सद्विद्याप्रकाशस्तित्वात् । 'आत्मविद्या ह्येषा विश्वात्मानं परायण'मित्यत्र विश्वात्मत्वोक्तेः सहस्रशीर्षत्वादिः विश्वात्मत्वादिः प्रकारः । श्वेताश्वतरस्थादयोन्या उपनिषदः । तासु पूर्वा वासुदेवोपनिषत् । तत्र 'यच्च किंचिज्जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेपि वा । अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थित' इत्युक्तजगद्व्यापकत्वं प्रकारः । नारायणास्तित्वात्सत् । सजगत्तदात्मरूपं वा । कालाग्निरुद्रोपनिषदि शिवरूपम् । 'तिर्यक् तिस्रो रेखाः प्रकुर्वीते'त्युक्त्वा 'यास्य प्रथमा रेखा गार्हपत्यश्चाकारो रजोभूर्लोकश्चात्मा क्रियाशक्तिर्ऋग्वेदः प्रातःसवनं महेश्वरो यास्य द्वितीया रेखा सा दक्षिणाग्निरुकारः सत्त्वमन्तरिक्षमन्तरात्मा च शक्तिर्यजुर्वेदो माध्यंदिनं सवनं सदाशिवो यास्य तृतीया रेखा साहवनीयो मकारस्तमो द्यौः परमात्मा ज्ञानशक्तिः सामवेदस्तृतीयं सवनं शिवो देवते'त्युक्तमहेश्वरत्वसदाशिवत्वशिवत्वरेखात्रयदेवतात्वानि प्रकाराः । तथा यजुरुपनिषदि षडग्नित्वं प्रकारः । छान्दोग्ये पञ्चाग्नित्वम् । 'य एतान्पञ्चाग्नीन्वेदे'ति श्रुतेः । मण्डूके 'अद्वैतः सर्वभूताना'मित्युक्ताद्वैतत्वदेवत्वतुर्यत्वविभुत्वस्मृतत्वानि प्रकाराः । ॐमित्येतदक्षरोपासनायामृग्वेदादिशरीरत्वान्युक्तानि प्रकाराः । चतुःशृङ्गत्वादिकं प्रकारः । तैत्तिरीयविभूत्युपासनेऽन्नमयत्वादिः प्रकारः । दुर्गासूर्यगणपत्युपनिषदुक्तविभूत्युपासनायां दुर्गात्वादिः प्रकारः । देव्या अथर्वशीर्षे देवैः पृष्टा 'साब्रवीदहं ब्रह्मस्वरूपिणी, ततः प्रकृतिपुरुषात्मकं जगच्छून्यं चाशून्यं च, अहमानन्दानानन्दौ, एवमुक्तसर्वत्वं प्रकारः । सूर्योपनिषदि 'षट्स्वरारूढं बीजेन षडङ्गं रक्ताम्बुजेन संस्थितं सप्ताश्वरथिनं हिरण्यवर्णं चतुर्भुजम् । पद्मद्वयाभयवरदहस्तं कालचक्रप्रणेतारं श्रीसूर्यनारायणं य एवं वेद स वै ब्राह्मण'इत्युक्तषट्स्वरारूढत्वानि प्रकाराः । गणपत्यथर्वशीर्षे 'नमस्ते गणपतये । त्वमेव प्रत्यक्षं तत्त्वमसि । त्वमेव केवलं कर्तासि । त्वमेव केवलं धर्तासी'त्युक्ततत्त्वत्वादिः प्रकारः । एवं स प्रकारश्च निरूप्यत इत्यर्थः । एकस्यामिति । छन्दोगशाखायां पञ्चाग्निविद्यायां तथा । तदितरस्यां वाजिशाखायाम् । गुणान्तरमिति । षष्ठाग्निगुणानाम् । उद्घाटेति । उद्घाटनं कुर्मः वदनेन । गृहीतमिति । अर्थम् । तथाहीत्यादीति । निर्णीतत्वादिति । 'अपरं चे'त्यादिभाष्येण निर्णीतत्वात् । तस्यैवेति । भाष्ये च एवकारार्थ इति भावः ।

घटवत् क्लृप्ताशेषसाधनसाध्यत्वादशेषतन्निरूपिकैव श्रुतिर्निरूपयेत् । अन्यथा तूपासनाया नामोक्त्वोपासीतेत्येतावदेव वदेत् । गुणानाक्षेपलभ्यत्वान्न[1] वदेत् । उपसंहार्यानपि वा वदेत् । निरूपयन्ति च गुणान्नोपसंहार्यान् । न च स्वस्वशाखामात्राध्येतॄणामुपासनासिद्ध्यर्थं सर्वशाखासूपासनप्रकारोक्तिरिति वाच्यम् । परशाखाऽज्ञानेन तदुक्तगुणोपसंहारस्याप्यसम्भवेनोपासनाया एवासम्भवापातात् । तस्मात् स्वस्वशाखोक्तप्रकारिकोपासनायामेव सर्वेषामधिकारात्तयैव ब्रह्मविज्ञानं भवति । तैत्तिरीयाणां वाजसनेयिप्रभृतीनां चाग्निष्टोमस्वरूपस्या स्वर्ग इव । प्रकृते ब्रह्मैक्यात्तत्तद्विज्ञानं ब्रह्मविज्ञानमेव । न हि रूपरसग-

भाष्यप्रकाशः ।

सर्वगुणोपसंहारेणैकजातीयत्वात् घटवत्क्लृप्ताशेषसाधनसाध्यत्वात् यथा हि घटः कारणसमुदायेनैव जन्यते, न त्वेकेन, तद्वत् तव मते उपासनाया अप्यशेषगुणानुसन्धानरूपसाधनसाध्यत्वादशेषगुणनिरूपिकैव श्रुतिस्तामुपासनां निरूपयेत्, अन्यथा तूक्तरीत्या वदेत्, गुणाँस्तु न वदेदेव । उपसंहार्यानपि वा वदेत् । तैर्विना उपासनाया असिद्धेः । निरूपयति च कतिपयानेव, न त्वशेषान् । तथाचोपासनाश्रुतौ कतिपयगुणकथनमन्यथानुपपद्यमानं सत् रूपान्तरे रूपान्तरीयगुणोपसंहारो दोषायेति कल्पयति, अतः श्रुतितात्पर्यविरोध एव दोष इत्यर्थः । तत्कथनस्य तात्पर्यान्तरमाशङ्क्य निषेधन्ति नचेत्यादि । तथाचोपासनाया नाममात्रोक्तौ प्रकाराज्ञानात् तत्तच्छाखिनामुपासनाया असिद्धेस्तदुपकाराय तथोक्तिरिति तु न वक्तुं शक्यमित्यर्थः । तत्र हेतुः परेत्यादि । तथाचैवं तात्पर्यकल्पनेपि तावन्मात्रकथनानर्थक्यस्य त्वन्मते तादवस्थ्यमपरिहार्यमेवेत्यर्थः । तर्हि किं तथा कथनस्य तात्पर्यमित्याकाङ्क्षायां मन्दाधिकारिणां तावतैव फलसिद्ध्यर्थं तथा वदतीत्याशयं हृदिकृत्य तेन विवक्षितं साधयन्ति तस्मादित्यादि । तस्मादिति । त्वदुक्तस्य तथाकथनाशयस्यानुपपन्नत्वात् । ब्रह्मविज्ञानं भवतीति । तावद्धर्मविशिष्टब्रह्मसाक्षात्कारो भवति । तत्र दृष्टान्तः तैत्तिरीयेत्यादि । तथाच ब्रह्मणि सर्वत्र सर्वधर्मसत्त्वेपि कतिपयगुणोक्तिबलेन तत्र तत्रोक्तैरेव गुणैरुपासनायाश्चारितार्थ्यनिश्चयान्न रूपान्तरे रूपान्तरधर्मोपसंहारो युक्त इत्यर्थः । ननु तादृशस्य स्वल्पधर्मवत्ताज्ञानस्य कथं ब्रह्मज्ञानत्वमित्यत आहुः प्रकृते इत्यादि । तथाच 'अविज्ञातं विजानता'मिति श्रुतेर्ज्ञानकृतपरिच्छेदो ब्रह्मणि नास्तीति यस्य भूयो धर्मवत्त्वेन ज्ञानम्, तस्यापि न

रश्मिः ।

उपासनरूपस्य ब्रह्मज्ञानस्य । उक्तरीत्येति । उपसंहारेणेत्यादिभाष्योक्तरीत्योद्देशेनोपासना वदेदित्यर्थः । उपसमितिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म उप[illegible]नात् । तदुक्तेति । स्वशाखोक्तगुणोपसंहारस्य । एवं तात्पर्येति । तत्तदुपकाराय तथोक्तिरित्येवं तात्पर्यकल्पने । उपसंहारेण सिद्धौ तावन्मात्रकथनानर्थक्यस्येत्यर्थः । मन्देत्यादि । मीमांसाया मन्दमध्यमार्थत्वस्यारम्भे उक्तत्वादिति भावः । तत्र मध्यमस्य बुद्धिदोषात्सन्देहसम्भवेप्येतावता ग्रन्थेन बुद्धिदोषनिवृत्तिसम्भवान्नोक्तिः । त्वदुक्तस्येति । तत उपकाराय तथोक्तिरित्येवमुक्तस्य । मन्देऽभावादनुपपन्नत्वात् । भवतीति । मनसा भवति । 'यद्वद्विये'ति वाक्यात् । शुद्धे चित्ते च भवति, 'स मानसीन आत्मा जनाना'मिति श्रुतेः । ज्ञानकृतेति । यथा घटादिकृत आकाशपरिच्छेदः, तथा तत्तदुपसंहृतधर्मवत्त्वेन सकलधर्मवत्त्वेन प्रसिद्धस्य ब्रह्मणः परिच्छेदः तन्मात्रज्ञानविषयत्वं न । 'उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पने'ति रामतापिनीयश्रुतेः कल्पितत्वात्तेषाम् । इमानि रूपाणि परिणतघटादिरूपव्यतिरिक्तानि । द्वाविति । स्वरूप-

1. आक्षेपलभ्यानिति पाठः ।

न्धादिमत्यां भुवि पुरुषभेदेनैकस्यैव वैकैकप्रकारकं यद्ब्रह्मज्ञानं न तद्ब्रह्मज्ञानम् । एतेनानन्तधर्मवत्त्वं ब्रह्मणि ज्ञापितम् । तदुक्तम् । 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया चे'ति । अत्र 'स्वाभाविकी'ति विशेषणादविद्याकल्पितत्वं शक्तीनां निरस्तम् ।

केचित्त्वाथर्वणिकानां विद्यां प्रति शिरोव्रतापेक्षणादन्येषां तदनपेक्षणात्

भाष्यप्रकाशः ।

पूर्णं ज्ञानम्, अतोऽस्मिञ्ज्ञाने द्वावपि तुल्यावित्यर्थः । तेन सिद्धमाहुः एतेनेत्यादि । एतेनेति । स्वल्पगुणज्ञानतोपि फलार्थं तत्र तत्र तत्तद्गुणकथनेन । अनन्तगुणवत्त्वे श्रुतिमपि प्रमाणयन्ति तदुक्तमित्यादि । तथाच ब्रह्मणोऽनन्तधर्मवत्त्वेपि तत्तद्रूपोपासनया तत्तत्फलदानार्थं तत्र तत्र तांस्तानेव धर्मान् प्रकटयतीति बोधनार्थं तथाकथनं युक्तमेवेत्यर्थः । ननु यदि स्वस्वशाखोक्तप्रकारिकायामेवोपासनायामधिकारः, न परशाखोक्तप्रकारिकायामिति चेत्, तदा तैत्तिरीयाणां गोपालाद्युपासने, आथर्वणिकानामानन्दमयाद्युपासने चाधिकाराभावात् ततः फलं न स्यात्, न चेष्टापत्तिः, अन्यशाखीयानामपि नृसिंहगोपालाद्युपासने भगवदनुभावप्रसादादेर्दर्शनादिति चेत् । मैवम् । अत्र मन्दानामर्थे स्वशाखोक्तकरणाधिकारस्य कथनात् । तत उत्तमानामधिकगुणोपसंहारे स्वस्वरुचिगोचररूपोपासने च बाधकाभावस्य ब्रह्मणः सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वेनैव सिद्धत्वात् तैः स्वस्वशाखोक्तादधिकमपि कर्तव्यमिति बोधितम् । किञ्च । सर्वस्य स्वस्वशाखोक्तोपासनकरणे हि बीजं तत्तच्छाखायां तत्तदुपनिषन्निबन्धनम् । तच्च याडशयागात्मकस्वरूपं यच्छिरो भवितुं युक्तम्, तत्र तादृशब्रह्मस्वरूपबोधनार्थं तन्निबन्धनमिति निबन्धे 'कर्मवत् ब्रह्मभेदाभे'त्यस्य प्रकाशे श्रीमदाचार्यैर्निरूपितम् । एवं सति यः स्वशाखाविहितकर्मप्राधान्येन स्वकामितफलसिद्धये उपास्ते, तस्य स्वशाखोक्तमेव कर्तव्यम् । कर्मणां कामाधिकारकत्वात् । यस्तूत्तरतन्त्रोक्तरीत्या नित्यकर्मणां सहकारित्वमवधार्य ब्रह्मप्राधान्येन तत्तद्रूपप्राधान्येन वोपास्ते, स तु तत्तदनुरूपं परशाखोक्तमुपसंहरताम् । इयमुपासनामार्गीया व्यवस्था । भक्तिमार्गे तु स्नेहस्यैव प्राधान्येन विहितत्वादेर्गौणत्वाच्च नाशङ्का, नचोत्तरम् । एवञ्च मन्दाधिकारिणां स्वस्वशाखोक्तब्रह्मज्ञानसिद्धावपि तावज्ज्ञानस्याल्पत्वेन फले विलम्बः । अधिकज्ञानेनाधिकाधिकगुणोपसंहारेण विलम्बनिवृत्तिरिति सिध्यति ।

ननु स्वाध्यायसूत्रस्य तथार्थवत्त्वे हि कर्मादिसरणेन तादृशोपसंहारानुपसंहारचिन्ता, तदेव दुर्घटम्, अन्यैस्तथा तदर्थानङ्गीकारादित्याकाङ्क्षायां स्वोक्तं सूत्रव्याख्यानं दृढीकर्तुं शङ्करभास्कररामानुजाचार्याद्युक्तमेतत्सूत्रव्याख्यानमप्यसमञ्जसमिति बोधनाय तदनुवदन्ति केचित्त्वित्यादि । यद्यपीदं तेषां सूत्रविवरणं शाखान्तराधिकरणस्यस्य 'विद्यायां धर्मशास्त्र'मिति

रश्मिः ।

धर्मवानधिकधर्मवांश्च । तद्ब्रह्मस्येति । स्वल्पाधिकधर्मवत्त्वकृतोपासनाभेदेन धर्मव्यवस्थास्मरणम्[1] । भाष्ये । स्वाभाविकीति । स्वभावस्य परिणामहेतुत्वरूपत्वात्स्वभावस्य श्रौतत्वात्परिणामवादसम्भवेऽविद्याकल्पितत्वं न युक्तमिति तथा । प्रकृते । तथेति । भाष्योक्तार्थवत्त्वे । तदर्थेति । सूत्रार्थानङ्गीकारात् । आदिना शैवाचार्यः । तदिति । तदीयं व्याख्यानम् । शाखेति । पूर्वतन्त्रे द्वितीयस्य चतुर्थचरणे द्वितीयाधिकरणम् । तस्यायमिति । अध्ययनस्यायं भूमौ भोजनाचरणादिः । सूत्रेति । अनुशयोऽनुबन्धः । 'स्यादनुशयो द्वेषे पश्चात्तापानुबन्धयो'रिति विश्वः । केचित्त्वित्या-

१, तद्व्यवस्थास्मरणं युक्तमिति पाठः ।

विद्याभेद इति प्राप्ते, उच्यते, स्वाध्यायस्यैष धर्मः, न विद्यायाः, कथमिदमवगम्यते, यतस्तथात्वेन स्वाध्यायधर्मत्वेन समाचारे वेदव्रतोपदेशनपरे ग्रन्थे आथर्वणिका इदमपि वेदव्रतत्वेन समामनन्ति, 'नैतदचीर्णव्रतोऽधीते' इति चाधिकृतविषयादेतच्छब्दादध्ययनशब्दाच्च स्वोपनिषदध्ययनधर्म एवैष इति निर्धार्यते, तस्मादनवद्यं विद्यैकत्वमिति सूत्रार्थं वदन्ति ।

स चिन्त्यते । न ह्यस्य विद्याधर्मत्वं विद्याभेदकम् । उक्तन्यायेनान्यत्रापि तदुपसंहारस्य वक्तुं शक्यत्वात् । नचानुपसंहारार्थमेवातद्धर्मत्वं बोध्यत इति

भाष्यप्रकाशः ।

सूत्रस्य यच्छाबरभाष्यं तच्छायामनुसरति, तत्र हि कारीरीवाक्यान्यधीयानास्तैत्तिरीया भूमौ भोजनमाचरन्ति, नेतरे, तथैकेऽग्निमधीयाना उपाध्यायस्योदकुम्भमाहरन्ति, नेतरे, तथैकेऽश्वमेधमधीयाना अश्वस्य घासमाहरन्ति, नेतरे इति धर्मभेदात् कर्मभेद आशङ्किते, 'विद्यायां धर्मशास्त्र'मिति सूत्रेण विद्या वेदनमध्ययनमिति यावत्, तस्यायं धर्मः, न तु कर्मणः । तेनान्यधर्मस्यान्यभेदकत्वाभावाच्च कर्मभेदकत्वमिति स्थितम्, तेन प्रामाणिकम् । तथापि सोऽर्थः सूत्रकाराशयविरुद्ध इति तं स्फुटीकुर्वन्ति स चिन्त्यत इत्यादि । चिन्त्यत इति । युक्तोऽयुक्तो वेति विचार्यते । हि यतो हेतोः । अस्य शिरोव्रतस्य विद्याधर्मत्वं निवार्य यदध्ययनधर्मत्वं व्यवस्थाप्यते, तद्विद्याभेदकत्वाभावाय । तदस्य विद्याधर्मत्वं तु न विद्याभेदकम्, चोदनाद्यविशेषेण सिद्धे सर्वासां ब्रह्मविद्यानामैक्ये, प्राणाद्युपासनासु रेतःप्रभृतेरिव ब्रह्मविद्यास्वेतस्याधिकस्यानुप्रवेशेपि दोषो न भवतीत्युक्तन्यायेनान्यत्रापि तदुपसंहारस्य वक्तुं शक्यत्वात् । सिद्धे च तस्य तथात्वे विद्याभेदकत्वस्याभावात् । नचानुपसंहारार्थमेवास्य विद्याधर्मत्वाभावो

रश्मिः ।

दीति । अयमर्थः । विद्यां प्रति मुण्डकादारम्भान्मुण्डकोक्तब्रह्मविद्यां प्रति शिरस्यङ्गारपात्रधारणरूपं व्रतं कर्तव्यत्वेनोपदिश्यते । यथा गोदानं वेदाध्ययनाङ्गम् । इतरोपनिषदध्ययनकाले तु शिरोव्रतं नापेक्षते । तदाहुः शिरोव्रतेति । वेदव्रतापेक्षणात् । एष धर्म इति । शिरोव्रतलक्षणः । समामनन्तीति । 'तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवत् यैस्तु चीर्ण'मित्येवम् । नैतदिति । ब्रह्म । ब्रह्मविद्यामित्यर्थः । अचीर्णव्रतः अननुष्ठितशिरोव्रतः । अधीति । अधिकृतश्चीर्णव्रतः । अधीत इत्यध्ययनशब्दः अध्ययनं कुरुत इत्यर्थात् । तस्मात् । स्वोपेति । चीर्णव्रतकर्तृकमध्ययनमित्यर्थात् । नीलो घट इत्यत्रेव अन्यैरङ्गीकारादेवकारः । तस्मादिति । शिरोव्रतस्य भेदकस्य स्वाध्यायधर्मत्वेन विद्याधर्मत्वाभावात् । नह्यस्येतिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म नह्यस्येत्यादि । उक्तन्यायेनेत्यादिभाष्यं विवरीतुमाहुः चोदनादीत्यादि । सिद्ध इति । सर्ववेदान्तप्रत्ययसूत्रे सिद्धे । प्राणादीति । 'यो ह वै ज्येष्ठं चे'ति ब्राह्मणोक्ता प्राणाद्युपासना । आदिना वाक्चक्षुःश्रोत्रमनांसि । रेत इति । 'यो ह वै प्रजापतिं वेद, प्रजायते प्रजया पशुभी रेतो वै प्रजापतिः प्रजायते प्रजया पशुभिर्य एवं वेदे'ति वाक्चक्षुःश्रोत्रमनोन्तानि निरूप्योच्यत इति रेतःप्रवेशः । प्रभृतिशब्देन पूर्वसूत्रभाष्योक्तं वाजसनेयिनां पञ्चमं प्राणम् । एतस्येति । शिरोव्रतस्य । भाष्यं विवृण्वन्ति स्म उक्तेति । वाजसनेयिपञ्चमप्राणप्रवेशन्यायेन । अन्यत्रापि आथर्वणिकेभ्योऽन्यत्र याजुषादिष्वपि । तस्य शिरोव्रतस्योपसंहारस्य । तस्य तथात्व इति । शिरोव्रतस्योपसंहार्यत्वे । अभावादिति । विलक्षणविशेषणस्य भेदकत्वात्तथा । न चेति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म नचेति । एवेति ।

वाच्यम् । उपक्रमोपसंहाराभ्यां विद्यैकत्वनिर्णयस्यैव दृश्यमानत्वादुपेक्ष्य इव भाति । ननु तदुक्तिर्यथा तथास्तु, अतद्धर्मत्वबोधनस्यानुपसंहारार्थकत्वे कानुपपत्तिरिति चेत् । उच्यते । सूत्रस्य तदुक्तार्थत्वे हि तत्तात्पर्यकल्पना । स एव च न साधीयान् । तथाहि । 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य' इत्यादिषु स्वाध्यायशब्दस्य वेदवाचकत्वं प्रसिद्धम् । समाचारशब्दस्य विहितक्रियावाचकत्वं च । तत्रोभयोरपि मुख्योऽर्थो बाध्यते । तस्मिन् सम्भवति तद्बाधस्त्वयुक्तः । किञ्च, एवं 'मन्वग्निष्टोममेवोद्दिश्ये'त्यादिनोक्ताशङ्काया अनिवृत्तिरिति ।

भाष्यप्रकाशः ।

बोध्यत इति वाच्यम्, भवन्मतेऽधिकरणोपक्रमोपसंहाराभ्यां विद्यैकत्वनिर्णयस्यैव सूत्रकारानुशयगोचरतया दृश्यमानत्वादेतद्विचारस्याकस्मिकत्वापातात्, अतोऽस्य भेदकत्वमापाद्य ततोऽन्यधर्मत्वसाधनेन तदसाधकत्वकथनमनर्थकमिति तद्व्याख्यातः सूत्रार्थ उपेक्ष्य इव प्रतिभातीत्यर्थः । उक्तार्थस्य शाबरभाष्यानुसारित्वेन प्रामाणिकतया तस्योपेक्ष्यत्वमसहमानश्चोदयति नन्वित्यादि । अतद्धर्मत्वोक्तिः कथमप्यस्तु, तथापि तस्य तथात्वे कानुपपत्तिरित्यर्थः । तत्रोपेक्ष्यत्वबीजभूतामनुपपत्तिमुद्घाटयन्ति सूत्रस्येत्यादि । सूत्रस्य तदुक्तार्थत्वे हि शिरोव्रतोपदेशतात्पर्यकल्पना, सूत्रार्थ एव तदुक्तो न युक्तः । तदुपपादयन्ति तथाहीत्यादि । तस्मिन्निति । मुख्यार्थे । ननु सत्यमस्ति मुख्यार्थबाधः, तथापि फलमुखो न दोषायेत्यतो दूषणान्तरमाहुः किञ्चेत्यादि । तथाच तैर्हि विद्यैकत्वसाधनायेदं सूत्रमेवं व्याख्यातम् । तथा सति शिरोव्रतस्य प्रकृतोपनिषद्विशेषसंयोगेनासङ्कीर्णतया पूर्वसूत्रोक्तहेतोर्दृढत्वे सम्पन्ने, 'तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेते'त्येतच्छब्दो यथास्यान्यत्रोपसंहारबाधकः, तथा यत्रैतच्छब्दो नास्ति, यथा 'प्रागतिथिभ्योऽश्नीया'दित्यादौ,

रश्मिः ।

विद्याभेदविचारस्येत्यर्थः । ननु नाकस्मिकत्वापातः ब्रह्मविद्यानामैक्याय भेदावतरणस्याक्षेप्यसूत्रार्थत्वेन सूत्रकारानुशयगोचरताया इत्याशङ्क्य समाधानमाहुः अत इति । अस्येति । शिरोव्रतस्य । विशेषणविधया भेदकत्वमापाद्य ततोऽन्यस्य स्वाध्यायस्य धर्मत्वसाधनेन तदसाधकत्वं विद्याभेदासाधकत्वकथनं निरर्थकम् । तथाचाक्षेप्यसूत्रार्थत्वेन सूत्रकारानुशयगोचरता तदा स्याद्यदि विशेषणस्य वैलक्षण्येन भेदकत्वं स्यात्, नत्वेवमित्याक्षेप्यसूत्रार्थत्वेन सूत्रकारानुशयगोचरताया अभावात्तन्निषेधनिबन्धनस्तद्व्याख्यातः सूत्रार्थः उपेक्ष्य इव प्रतिभातीत्यर्थः । अतद्धर्मत्वेति । न तस्या विद्याया धर्मत्वोक्तिः । अतद्धर्मत्वोक्तिः शिरोव्रतस्य ज्ञेया । तदुक्तिरिति भाष्यस्यार्थः यथातथाप्रतिपादितोऽस्तु । तस्यार्थः कथमप्यस्त्विति । तस्य तथात्वे अतद्धर्मत्वबोधनस्यानुपसंहारार्थकत्वे । शिरोव्रतेति । शिरोव्रतस्याक्षेप्यसूत्रार्थत्वेन सूत्रकारानुशयगोचरतोपदेशे व्यासतात्पर्यकल्पना भवति । तत्प्रतीतीच्छयोच्चरितत्वं तात्पर्यम् । वक्तुरिति वा । स एवेति भाष्यविवरणं सूत्रार्थ एवेति । तथा चातः सूत्रस्य न तदुक्तार्थत्वमिति भावः । फलमुख इति । प्राचीनव्याख्याफलं तदुपायकः । प्रकृतेति । स्वाध्यायपदेन प्रकृता या उपनिषत् । वेदत्वात् । तद्विशेष आथर्वणत्वं तत्संयोगेनेत्यर्थः । सम्यग्योगः संयोगः स्वरूपसम्बन्धस्तेनेत्यर्थः । वेदत्रय्या आथर्वणसङ्कीर्णतया । पूर्वेति । चोदनाद्यविशेषादिति हेतोः । दृढत्व इति । एकत्र चोदनाद्यविशेषे आथर्वणे विशेषे वेदान्तप्रत्यये हेतुत्वेपि सर्ववेदान्तप्रत्ययहेतुत्वमदृढमित्याथर्वणासङ्कीर्णतया हेतुत्वे दृढत्वे तस्मिन्सम्पन्ने । एतच्छब्द इति । सदाचारादिविरोध उपसंहारे बाधक उक्तः, तथैतच्छब्दोपि ब्रह्मविद्याविशेषणं इतरब्रह्मविद्याभेदकः उपसंहारबाधकः । उपसंहारे तेषां शिरोव्र-

नन्वाथर्वणोपनिषत्सु पठ्यते, 'स होवाचाब्जयोनिर्योऽवताराणां मध्ये श्रेष्ठोऽवतारः को भविता, येन लोकास्तुष्टा देवास्तुष्टा भवन्ति, यं स्मृत्वा मुक्ता अस्मात् संसाराद्भवन्ति, कथं चास्यावतारस्य ब्रह्मता भवति, स होवाच तं[1] हि नारायणो देव' इत्युपक्रम्य, मथुरास्वरूपं निरूप्य, निगद्यते 'यत्रासौ संस्थितः कृष्णः स्त्रीभिः शक्त्या समाहित' इति, तेनास्यावतारस्याशेषावताराणां मध्ये श्रैष्ठ्यं निरूप्यते, श्रीभागवतेपि च 'एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वय'मिति गीयते । पूर्वोक्तरीत्या तु सर्वतुल्यता प्रतीयत इति नैकतरनिर्धारः सम्भवति । किञ्च । ब्रह्मणो निरवयवत्वेनैकस्यांशित्वम्, अन्येषां तदंशत्वमित्यपि वक्तुमशक्यमिति प्राप्ते,

भाष्यप्रकाशः ।

तादृशां धर्माणां त्वन्यत्रोपसंहारस्य प्राप्तावसरत्वाच्छाखान्तरीये कर्मणि विद्यायां च शाखान्तरीयतद्धर्मस्य रूपान्तरे रूपान्तरधर्मस्य च प्राप्तिरित्यस्या आशङ्काया अनिवृत्तिः, तस्मान्मतान्तरीयव्याख्यानमुपेक्ष्यमेवेत्यस्य सूत्रस्योक्तरीत्योपसंहारनियमबोधनेन विद्यैकत्वबाधकनिरासार्थतयैव व्याख्यानमुचितमित्यर्थः ।

एवं मतान्तरं परिहृत्य पूर्वं रूपान्तरे रूपान्तरगुणानुपसंहारे रूपभेदस्य नियामकताया उक्तत्वात् तं रूपभेदं स्फुटीकर्तुं चिन्तान्तरमारभन्ते नन्वाथर्वणेत्यादि । इयं श्रुतिरुपरतापनीस्था । तत्र हि दुर्वासाः स्वस्य भगवज्ज्ञानं वक्तुं ब्रह्मनारायणसंवादमुपचिक्षेप । तत्र नाभिकमलाजातोऽब्जयोनिर्ब्रह्मा एवं प्रश्नमुक्तवान् । अत्र यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात् 'स को भविते'ति तच्छब्दोऽध्याह्रियते । तत्र श्रैष्ठ्याभिज्ञापकं वाक्यं 'येने'त्यादि, 'ब्रह्मता भवती'त्यन्तम् । तथाच लोकानां देवानां तोषजनकः स्मरणेन मुक्तिदाता यः स एव श्रेष्ठः । तस्य ब्रह्मता च केन प्रकारेणेति प्रश्नद्वयं सिध्यति । 'तं होवाचे'त्यादिना नारायणेनोत्तरमुच्यते । तत्र मथुरास्वरूपनिरूपणं भूम्यामवतारज्ञापनार्थम् । 'कथं च ब्रह्मते'त्यस्योत्तरं 'यत्रासौ संस्थित'इत्यादिभिः शक्तिसहितचतुर्व्यूहरूपेणेति सिध्यति । तेनैवमस्य श्रीकृष्णावतारस्य पूर्वोक्तं श्रैष्ठ्यं निरूप्यत इति सिध्यति । श्रीभागवते तु पुरुषांशावतारमध्ये 'रामकृष्णाविति भुवो भगवानहरद्भर'मिति भूभारहारकयो रामकृष्णयोः पुरुषांशावतारत्वमुक्त्वा, 'एते चांशकलाः पुंस' इत्यनेन सर्वसाम्यं चोक्त्वा, 'कृष्णस्तु भगवान् स्वय'मिति केवलस्य कृष्णस्य परब्रह्मत्वमुच्यते । 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूप'मिति श्रुत्युक्तप्रकारिकया पूर्वोक्तरीत्या तु तथा प्रतीयत इत्येकः सन्देहः । किञ्चेत्या-

रश्मिः ।

तित्वे एतच्छब्दयाच्येतरविद्याबाधापत्त्यास्येति शिरोव्रतस्यान्यत्राथर्वणिकादन्यत्र याजुषादौ उपसंहारस्य बाधकः । संनियोगशिष्टन्यायं प्रापयित्वेत्यर्थः । एतच्छब्द इति । संनियोगशिष्टन्यायप्रापकः । उक्तरीत्येति । भाष्योक्तरीत्या । मतान्तरमिति । शङ्करभास्कररामानुजाचार्याद्युक्तं मतान्तरम् । उक्तत्वादिति । 'भेदान्नेति चेन्ने'ति सूत्रे भाष्ये चोक्तत्वात् । भाष्ये । उक्तशङ्काया[2] इति । सदाचारादिविरोधेनोपसंहाराभावे कर्मभेदशङ्कायाः । प्रकृते । शेषमिति । नैकतरेति । उक्तब्रह्मतासर्वतुल्यतयोरेकतरनिर्धारः ।

1. इयमित्यारभ्य प्राप्तमित्यन्त इत्यत्र श्रीहस्ताक्षरेषु पाठोयम्—ब्रह्मतेति, मूलरूपता । तापनीयश्रुत्युपबृंहणाय निःसंदिग्धं श्रीभागवतवाक्यमुदाहृतम् । पूर्वोक्तरीत्येति । 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूप'मिति श्रुत्युक्तप्रकारेण । तेषां निरवयवत्वात्—इति । 2. प्रकाशे आशङ्का, रश्मौ शङ्केति भाष्यपाठः ।

अभिधीयते । 'सत्त्वं यस्य प्रिया मूर्तिः' 'विशुद्धसत्त्वं तव धाम शान्त'मित्यादिवाक्यैरप्राकृतो भगवत्स्थानभूतः सत्त्वनामा भगवद्धर्मरूप एव कश्चनास्ति । यादृशेन रूपेण भगवान् कार्यं कर्तुमिच्छति, तादृग्रूपं तं प्रकटीकृत्य तस्मिन्

भाष्यप्रकाशः ।

दिनोक्तस्तु द्वितीयः । एवं प्राप्तम् । तथाच तापनीयानन्तरूपश्रुत्योरितरेतरविरोधान्निरवयवत्वबोधकनिष्कलश्रुतिविरोधाच्च श्रैष्ठ्यादिनिर्धारासम्भवे धर्माणां मायिकत्वस्यैव शरणीकरणीयत्वात् स्वरूपपराणां अवतारान्तरे अवतारान्तरधर्मोपसंहारानुपसंहारचिन्ताया अनुपयोगात् पूर्वोक्ताशङ्काया अनिवृत्तावप्यदोष इति मतान्तरीयव्याख्यानं साध्वेवेति पूर्वपक्षाशयः ।

तत्र समादधते अभिधीयत इत्यादि । अत्र 'सत्त्वं यस्ये'त्यादिवाक्यद्वये यथायथं 'प्रिये'ति 'विशुद्धे'ति विशेषणाभ्यां विवक्षितस्य सत्त्वस्य प्राकृतात् सत्त्वात् व्यावृत्तिः क्रियते, 'मां भजन्ति गुणाः सर्वे निर्गुणं निरपेक्षक'मिति, 'विलज्जमानया यस्य स्थातुमीक्षापथेऽमुये'ति वाक्याभ्यां तस्या गुणानामप्रियत्वस्याविशुद्धत्वस्य बोधनात् । नच प्राकृतगुणातिरिक्तसत्त्वस्याप्रसिद्धत्वं शङ्क्यम् । 'सत्त्वं रजस्तम इति निर्गुणस्य गुणास्त्रय' इति द्वितीयस्कन्धे प्राकृतव्यतिरिक्तानां गुणानां सिद्धत्वात् । 'यथा कार्पासे न हि सूत्रम्, तदेव पुनः पौर्वापर्यमापद्यमानं सूत्रतामापद्यते, तथा भगवान्निर्गुणस्ते पुनर्गुणा' इति तत्र विवरणात् । स च द्रव्यरूपः । अन्यथा तस्य मूर्तित्वधामत्वयोरनुपपत्तेः ।

रामानुजास्तु । शुद्धसत्त्वं नाम रजस्तमोमिश्रप्राकृतसत्त्वविलक्षणसत्त्वगुणाश्रयो द्रव्यविशेष इत्यङ्गीकृत्य, 'स्वसत्तामासकं द्रव्यं त्रिगुणात्तद्विलक्षण'मिति वाक्यं च तस्मिन् प्रमाणत्वेनाहुः । तस्यातिरिक्तत्वमेव, न त्वेतद्रूपत्वम् ।

एवमेतस्योपाधित्वं साधयित्वा तेनांशान् साधयन्ति यादृशेनेत्यादि । स स इति । अव-

रश्मिः ।

एवं शेषं निगदव्याख्यातम् । संशयस्य पूर्वपक्षोक्त्या बोधात्पूर्वपक्षमाहुः तथाचेत्यादिना । इतरेतरेति । तापिनीये महता अनन्तरूपश्रुतौ सर्वतुल्यतेति तथा । अवतारे कोटिद्वयमुक्त्वावतारिण्यनन्तरूपश्रुतिकोट्या द्वितीयकोटिमाहुः निरवयवत्वेति । श्रैष्ठ्यादीति । श्रैष्ठ्यं महता आदिना सर्वतुल्यता तयोरेकतरस्य निर्धारासम्भवे । तथाचावतारस्य महता वा सर्वतुल्यता वेति सन्देहः, अवतारिणोऽनन्तरूपता वा निष्कलता निष्क्रियता वेति सन्देहः । इति पूर्वपक्षे सन्देहबोधः । स्वरूपेति । अवतारिपराणाम् । पूर्वोक्तेति । 'नन्वग्निष्टोममेवोद्दिश्ये'त्यादिना 'भेदान्नेतिचे'दिति सूत्रोक्तशङ्काया अवतारिपरायाः अवतारविषयेऽनिवृत्तावपि । अप्रियत्वस्येति । 'मां भजन्ति गुणा' इत्यत्र प्रियत्वार्थं भजनात् । 'विलज्जमानये'त्यत्र अविशुद्धत्वात्कापठ्यात् विलज्जेति तथा । ते पुनर्गुणा इति । निषेधयोग्याः प्रतियोगिन इत्यर्थः । गुणप्राप्तिर्गुणनिषेधश्च पूर्वापरव्यवस्था । तत्रेति । द्वितीयसुबोधिन्याम् । स चेति । सत्त्वगुणः । अन्यथेति । नैयायिकगुणत्वे । मूर्तित्वं परिच्छिन्नपरिमाणवत्त्वम्, तस्यानुपपत्तिः, गुणे गुणानङ्गीकारात् । धामत्वमयोगोलकवत् । स्वसत्तेति । आत्मसत्ता जातिः, सत्त्वं न गुणः, तां भासयति तत्स्वसत्ताभासकम् । गुणकर्मान्यद्रव्यम् । विलक्षणं शुद्धत्वेन । ननु गुणविलक्षणत्वं गुणसलक्षणत्वप्राप्तौ भवति, गुणसलक्षणाभावत्वात् गुणविलक्षणत्वस्य, अतो न जातिः सत्त्वमिति चेत् । न । चतुर्थगुणकल्पने गौरवात् सतो भावः सत्त्वं सत्ता चेत्येकार्थात् । तस्मिन्निति । शुद्ध-

स्वयमाविर्भूयायःपिण्डे वह्निवत्तत्कार्याणि करोति, यस्मिन् यस्मिन्नवतारे, स सोंऽश इत्युच्यते । तत्र हि विग्रहस्तत्राविर्भूतं ब्रह्मस्वरूपं च प्रतीयते । विग्रहस्य सत्त्वात्मकत्वेन धर्मरूपत्वात् तत्राविर्भूतस्यैव ब्रह्मत्वात् समुदितस्यावतारत्वेन गणनात् तत्रैकस्यैवांशस्य तद्रूपत्वं यत् तदेवांशत्वम् । यत्राधिष्ठानमनपेक्ष्य स्वयमेव शुद्धं साकारं ब्रह्माविर्भवति भक्तार्थम्, स स्वयं पूर्णो भगवान् उच्यते । एतदेव च श्रैष्ठ्यम् । अत एव सर्वतः पाणिपादान्तत्वं स्वस्मिन् स्फुटं ज्ञापयितुं

तारः । नन्वयःपिण्ड आविर्भूतस्य वह्नेर्वह्नित्वमेवोच्यते, न त्वंशत्वम्, अतः कथमेवमित्याशङ्कायामाहुः तत्र हीत्यादि । एकस्यैवांशस्य तद्रूपत्वमिति । आविष्टस्यांशस्य ब्रह्मरूपत्वम् । तथाच विरुद्धधर्माश्रये ब्रह्मण्याकारानाकारत्वयोरुभयोः सत्त्वाद्यत्रानाकारेण तेजोरूपेण प्रविशति, सोंऽशावतारः । इदमेव निबन्धे प्रथमस्कन्धतृतीयाध्यायार्थविचारेपि 'सत्त्वात्मके शरीरे अलौकिकतेजसः सर्वदा संक्रमोऽवतारः, कार्यकाले संक्रम आवेश' इति तद्भेदकथनमुखेन बोधितम् । अतः परं श्रैष्ठ्यबोधनाय मूलस्वरूपं[1] विवृण्वन्ति यत्राधिष्ठानेत्यादि । अधिष्ठानं सत्त्वाद्यात्मकं शरीरमनपेक्ष्य स्वयमेव शुद्धं साकारं ब्रह्म आविर्भवतीत्यादिप्रकारेण पूर्णो भगवानुच्यते । एतदेव पूर्णभगवत्त्वमेव श्रैष्ठ्यम् । तापनीयवाक्येषु रामादीनां त्रयाणां प्रणवमात्रात्रयप्रतिपाद्यत्वमुक्त्वा, तेन सत्त्वरजस्तमोधिष्ठानत्वं प्रतिपाद्य, अग्रे अहंग्रहोपासनायां 'ॐतत्सत् सोऽहं परं ब्रह्म कृष्णात्मको नित्यानन्दैकस्वरूप' इत्यादिना निरधिष्ठानस्य केवलनित्यानन्दैकस्वरूपस्य कृष्णात्मकस्यैव श्रावणादेतदेव श्रैष्ठ्यमित्यर्थः । यद्यप्येतादृशत्वं रामनृसिंहतापिन्योस्तत्तत्स्वरूपे उच्यते, कल्पभेदेन च तथा सिध्यति, तथाप्युरुक्रमावतारे देवमात्रकार्यार्थतायाः स्फुटत्वात् तेनावतारेण बलेरेव मुक्तेः स्फुटत्वाच्च स्वल्पं मोक्षदातृत्वम्, श्रीनृसिंहस्वरूपे तु 'यदिदं किञ्च जगत् सर्वं प्राण एजति निःसृत'मिति कम्पनाधिकरणविषयवाक्योक्तन्यायेन मुक्तिदातृत्वं नृसिंहराजमन्त्रे स्फुटति, न तु सौम्यरूपतया सुगमोपायेन वा । श्रीरामस्वरूपे तु बहूनां स्वल्पसाधनेनैव मोक्षदातृत्वेपि सौम्यरूपत्वेपि भूयान् मर्यादानुरोधः । पुष्टिकार्यं तु स्वल्पम् । श्रीकृष्णावतारे तु 'गोप्यः कामात् भयात् कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः । सम्बन्धाद्वृष्णयः स्नेहात् यूयं भक्त्या वयं विभो' इत्यादिवाक्याद्बहुभिः प्रकारैर्मोक्षदत्वम् । तेन मर्यादाननुरोधश्चेत्याद्यनुसंधाय

रश्मिः ।

सत्त्वस्य द्रव्यत्वे । आहुरित्यस्वरसस्तु ह्याश्चर्यरसाभावेपि बुद्ध्यारोहाज्ज्ञेयः । सिद्धमाहुः तस्येति । शुद्धसत्त्वस्य । प्राकृतगुणातिरिक्तत्वमेव, न तु प्राकृतगुणरूपत्वम् । एतस्येति । द्रव्यस्य । तेनेति । द्रव्यत्वेन । उच्यत इति । लोकदृष्ट्योच्यते । कथमेवमिति । केन प्रकारेण दृष्टान्तत्वम् । आहुरिति । शास्त्रदृष्ट्या समाधानमाहुरित्यर्थः । तत्र हीत्यादीति । तत्र शास्त्रदृष्ट्या सूर्याग्नौ दृष्टान्ते । दार्ष्टान्तिके भगवति । सर्वदेति । यथा वराहादौ । आवेश इति । यथा बलभद्रे । 'हलधर ईषदग्रस'दिति व्यासबोधनात् । यत्राधिष्ठानेत्यादीति । स्वयमेवेत्यादि । मायाजवनिकां दूरीकृत्य साकारमानन्दमयवैश्वानराधिकरणयोरुक्तम् । श्रीमद्भागवते मतेऽधोक्षजत्वेपि साकारत्वं साकारकार्यानुरोधात् । कारणगुणाः

१. अधिष्ठानमित्यारभ्य अत एवेत्यन्तमित्यत्र श्रीहस्ताक्षरेषु एवमाविर्भूतत्वे साकारब्रह्मत्वे गमकमाहुः अत एवेत्यादि ।

तोकादिभावेनाविर्बभूव । तेन यादृग्यादृग्लीलाविशिष्टं यद्यद्बाल्यपौगण्डाद्यवस्थाविशिष्टं तत्तद्रूपं नित्यमेवेति वयं जानीमः । नन्वेवं सच्चिदानन्दविग्रहोक्तिः सर्वत्र विरुद्धा भवेदिति वाच्यम् । सत्त्वस्यापि भगवद्धर्मत्वेन सच्चिदानन्दरूपत्वादविरोधात् । मत्स्याद्यधिष्ठातृरूपाणि तु विभूतिरूपाणि । एतच्च यथा तथा भक्तिहंसे प्रपञ्चितम् । तत्त्वं च 'प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वा'दितिन्यायेन भगवद्धर्माणामपि सच्चिदानन्दरूपत्वाद्धीनाधिकारिणामप्युपासकानां फलप्रेप्सूनां तत्तत्फलदानार्थमैश्वर्यादिरूपेण तत्र तत्र स्थितत्वमेव ।

भाष्यप्रकाशः ।

विशेषान्तरमाहुः अत एवेत्यादि । एवमाविर्भूतशुद्धसाकारब्रह्मत्वादेव एवंरूपत्वं स्वस्मिन् स्फुटं ज्ञापयितुं वत्साहरणे रासे एकमौहूर्तिकनानास्त्रीविवाहे नारदपरीक्षायां यथायथं तोकप्रौढराजभावेन बहुधा प्रकटो जातः । यदि हि तथा न स्यात्, अवतारान्तर इवात्राप्येवं न ज्ञापयेत्, नाप्येवं प्रकटो भवेत्, अतस्तथा प्राकट्यमेव मूलरूपत्वमहामाहात्म्यादिगमकमित्यर्थः । तेन सिद्धमाहुः तेन यादृगित्यादि । तेनेति । तोकादिभावेपि जृम्भास्यादानदामोदरलीलासु सर्वात्मकत्वव्यापकत्वविरुद्धधर्माश्रयत्वप्रदर्शनेन । तथाचैवं निरवयवत्वेऽप्युपाधौ प्रवेशतो वह्न्ययोगोलकघटाकाशादिवदंशांशिभावाविरोधाच्च प्रमाणयोर्विरोधः, न वा कृष्णावतारश्रैष्ठ्यविरोध इत्यर्थः । पुनः किञ्चिदाशङ्क्य परिहरन्ति नन्वेवमित्यादि । एवमिति । सत्त्वस्याधिष्ठानत्वे । सर्वत्रेति । कल्पान्तरीयेष्ववतारेषु । एवं मूलरूपव्यवस्थामुक्त्वा विभूतिरूपव्यवस्थामाहुः मत्स्येत्यादि । भक्तिहंसे प्रपञ्चितमिति । तद्यथा तथा भक्तिहंसविवरणे तदाशयो मया स्फुटीकृत इति तस्मादवगन्तव्यम् । विभूतिरूपस्वरूपमाहुः तत्त्वमित्यादि । तत्र तत्रेति । उद्गीथादिरूपेषु ।

रश्मिः ।

कार्यगुणानारभन्त इति । एवं रूपत्वमिति । आश्चर्यवत् सार्वविभक्तिकतसिलन्तसर्वतः पाणिपादान्तरूपत्वम् । व्यवस्थितावयवत्वबोधकतोकादिभावेनेति भाष्यविवरणम् । वत्साहरणे इत्यादि । प्रक्षिप्तत्वेपि 'ततः कृष्णो मुदं कर्तुं तन्मातॄणां च कस्य च । उभयायितमात्मानं चक्रे विश्वकृदीश्वरः ॥ यावद्वत्सपवत्सकाल्पकवपुर्यावत्कराङ्घ्र्यादिकं यावद्यष्टिविषाणवेणुदलशिग्यावद्विभूषाम्बरम् । यावच्छीलगुणाभिधाकृतिवयो यावद्विहारादिकं सर्वं विष्णुमयं गिरोऽङ्गवदजः सर्वस्वरूपो बभा'विति विषयस्य स्पष्टत्वात्तदर्थ उक्तः, कृष्णक्रीडात्वाच्च । यावत्तावत्परिमाणे वत्साहरणे । रासे 'कृत्वा तावन्तमात्मान'मिति । एकेत्यादिरुत्तरार्धे । बहुधेति । तावतीं मायां दूरीकृत्य । तथेति । बहुधा । अत्राप्येवमिति । कृष्णावतारेप्येवमुक्तप्रकारेण स्वस्मिन्सर्वतः पाणिपादान्तत्वं न ज्ञापयेदित्यर्थः । प्रमाणयोरिति । 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूप'मित्यस्य 'निष्कलं निष्क्रियं शान्त'मित्यस्य च विरोधः । तेन यादृगित्यादीति । तेनेत्यस्यार्थ उक्तः । आविरिति । 'अचलत्वं चापेक्ष्ये'ति सूत्राद्भक्तमनोरथेनाविर्बभूव । तेनेति । भक्तार्थं लीलाविर्भावनेन । नित्यमेवेति । नित्यानित्यसंयोगापत्तेरेवकारः । वयमिति । 'मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः । सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने' इति वाक्यात् । भाष्ये । सच्चिदानन्दरूपत्वादिति । 'प्रकाशाश्रयवद्वे'ति सूत्रेण तथा । प्रकृते । तत्त्वमित्यादीति । तत्त्वं विभूतित्वम् । उद्गीथादीति । छान्दोग्ये सन्ति । आदिना 'पृथिवी रसः आपो रसः ओषधयो रसः पुरुषो रसः वाग्रसः ऋग्रसः साम रसः उद्गीथो रसः । उद्गीथस्यादय उद्गीथादयः पृथिवीरसादयः । तेषु

नन्वेकस्यैव शुद्धस्यैवानन्तरूपत्वं भवतैवोक्तम्, अतो मत्स्यादिरूपेष्वपि नाधिष्ठानत्वेन सत्त्वं वक्तुं शक्यम्, किञ्च, एवं निराकारस्वभावत्वं ब्रह्मणः सिध्यतीति सत्त्वाव्यवहितप्राकट्योक्तिरप्यनुपपन्नेति चेत् । मैवम् । सत्त्वाधिष्ठानत्वस्य प्रमाणसिद्धत्वेनानपनोद्यत्वात् । तत्रोक्तं 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूप'मित्यादि । प्राकट्यं हि भक्तिनिमित्तिकम् । सा तु बहुविधेति तदनुरूपं प्राकट्यमपि तथा ।

भाष्यप्रकाशः ।

एवं रूपत्रयविभागस्याप्रयोजकत्वं मन्वानश्चोदयति नन्वित्यादि । एवमिति । सत्त्वस्याधिष्ठानत्वेनाकारसमर्पकत्वे । तथाच न्यायसिद्धत्वाद्विभूतिरूपे तथास्तु । मूलावताररूपे तु न तथा । वदतो व्याघातादित्यर्थः । तत्र समादधते मैवमित्यादि । तत्रेति । स्वतोऽनन्तरूपत्वे प्रमाणं च । आदिपदेन 'क्षयन्तमस्य रजसः पराक' इत्यादीनां सङ्ग्रहः । तथाच 'यदेक'मित्यादिश्रुतिषु 'तमसः परस्ता'दित्यादिब्रह्मविशेषणाद्ब्रह्मसम्बन्धिरूपादौ प्रकृतिसंसर्गराहित्यसिद्ध्या 'आनन्दरूपममृतं यद्विभाति' 'आनन्दामृतरूपं प्रणवं षोडशान्ते' इत्यादिभिः सच्चिदानन्दरूपताया ब्रह्मणः स्वतोऽनन्तरूपतायाश्च प्रमाणसिद्धत्वात् प्रकारत्रयमपि प्रमाणसिद्धमिति न व्याघात इत्यर्थः । ननु भवतु त्रयाणां प्रामाणिकत्वम्, तथापि कुत्र कथं प्रकटीभवतीति न ज्ञातुं शक्यते इति विशेषानवधारणात् वृथैवायं विचार इत्याशङ्कायां तदवधारणहेतुबोधनेन तां निवारयन्ति प्राकट्यं हीत्यादि । प्राकट्यमपि तथेति । 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति भगवद्वाक्यात्तथा । तथाचैवं भक्तिभेदा-

रश्मिः ।

रूपेषु । अष्टमस्य समष्टित्वात् । रसः सारः । गन्ध(पुष्प)चन्द्रपुष्पसोमवल्लीषु पुरुषत्वाग्निवायुविष्णुरूपः । गन्धः पृथिव्याः स्पष्टः । 'अपां पुष्पं वदे' त्यारणश्रुतेश्चन्द्रः । ओषधिरसः द्वौ स्पष्टौ । 'पुष्पमूर्ध्वमेव गृह्णन्ती'ति श्रुतेश्च । सोमवल्ली यज्ञाङ्गम् । पुरुषस्य पुरुषत्वमाकाशः । 'आकाशो ह वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिते'ति श्रुतेः । वाचोभिः ऋग्रूपः । ऋचामभिप्रतिपादकत्वात् । 'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविश'दिति श्रुतेः । ऋचो वायुः सामरूपः । 'वायुः शब्दतामापद्यत' इति प्राचां प्रवादात् । साम्नो विष्णुरुद्गीथः । पूजाप्रतिपादकत्वात्साम्नः विष्णोश्चाधोक्षजसेवायाः स्वगुणद्वारा ज्ञापकत्वात् कार्यैक्यम् । एवं रूपत्रयेति । अवतारिणं विनावतारपूर्णविभूतिरूपत्रयविभागस्य । नन्वित्यादीति । एकस्यैवेति । द्वितीययोगव्यवच्छेदकः । शुद्धस्यैवेति । शुद्धसत्त्वयोगव्यवच्छेदकः । भवतैवेति । अस्मिन्नेव सूत्रे भवता सिद्धान्तिनैव । क्षयन्तमिति । अत्र विध्यैक्यार्थं वेद्यैक्योपदेशः । अस्य जगतः रजसः ब्रह्मकार्यस्य स्वल्पभेददर्शनं क्षयन्तं यो वेद सोऽमृतो भवति । केति चेन्न । पराके स्वल्पे भेदद्रष्टुर्भयजनके सति । आदिना 'महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ती'ति काठके । 'यस्त्वेवमेतं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्त' इति विध्यैक्यमुक्तमत्र । 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवती'ति तैत्तिरीयकभेददर्शननिन्दायै परामर्शो दृश्यतेऽत्र । 'तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्ये'ति श्रुतेरन्यत्राप्यभेदममन्वानस्य भयं संसाराभिनिवेशलक्षणं भवतीति । ब्रह्मसम्बन्धीत्यादि । आदिना मूलरूपम् । आनन्दरूपमिति । कृष्णावतारः । प्रणवम् । गायत्र्यर्थकारिकाभिर्विवृतम् । षोडशान्त इति । लिङ्गशरीरान्तः, आदिनानन्दमयस्य । 'को ह्येवान्या'दित्यादिश्रुतिः । स्वत इति । मूलरूपात् अनन्तावतारादयः, चकाराद्विभूतिरूपाणि अन्नमयादीनि । प्रमाणेति । प्रमाणपदेन 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूप'मिति श्रुतिरपि । कुत्र कथमिति । त्रिषु पूर्णावतारविभूतिषु कुत्र सत्त्वाद्युपाधौ कथं केन प्रकारेण । प्रकारविशेषानवधारणात् । तदवेति । प्रकारावधारणहेतुभूतभक्तिबोधनेन तां शङ्काम् । प्राकट्यं हीत्यादीति ।

सर्गादिकार्येष्वधिकृतानां भक्तानामितरासक्तिरप्यस्तीत्युपाध्यन्तरितस्नेहवत्त्वा-त्तानन्तरूपत्वेन मत्स्यादिरूपोपि तदर्थं तद्व्यवहित एव प्रकटीभवति । ये तु भगवत्स्वरूपमात्रासक्ताः, तदर्थं स्वयमेवातद्व्यवधानेन प्रादुर्भवति । एतेनैव निराकारत्वशङ्कापि निरस्ता । एतेन सोपधिस्नेहवदर्थमेव मत्स्यादिरूपप्राकट्यस्य प्रमाणसिद्धत्वान्निरुपधितद्वदर्थमेव श्रीव्रजनाथप्राकट्यस्यापि तथात्वात् सोपाधि-स्नेहवत्स्वपि पुरुषार्थदानस्यानुषङ्गिकत्वात् 'पुरुषविध' इति श्रुतेश्चैतदेव रूपं 'रसो वै

भाष्यप्रकाशः ।

रूपभेदोपि सुखेनावधारयितुं शक्य इत्यर्थः । तर्हि भक्तिभेदस्य कथमवधारणमित्यत आहुः सर्गेत्यादि प्रादुर्भवतीत्यन्तेन ।

एवं प्राकट्यप्रकारव्यवस्थापनेन निराकारत्वशङ्काया अपि निवृत्तिमाहुः एतेनैवेत्यादि । भगवति प्रपञ्चवैलक्षण्यस्य पूर्वपादान्त एव प्रतिपादिततया लौकिकाकारराहित्यमेव तत्र निरा-करता, न तु यावदाकारराहित्यम् । उपाधिव्यवधानं तु शुद्धदर्शनयोग्यताभावेन हेतुभेदात्, अतः प्राकट्यप्रकारव्यवस्थापनेनैव यावदाकारशून्यत्वशङ्काप्यपास्तेत्यर्थः । एवं रूपविभागं रूपाणां स्वरूपं च विशदीकृत्य भगवति श्रीकृष्णरूपे यच्छ्रैष्ठ्यम्, अन्यत्र यत् तद्राहित्यम्, तदुभयं व्यक्तीकुर्वन्ति एतेन सोपधीत्यादि । एतेनेत्यस्याध्यवसीयत इत्यनेन सम्बन्धः । तथात्वादिति । गोपालतापनीयबृहद्वामनीयसन्दर्भे 'ता नाविद'न्नित्यादिप्रमाणसिद्धत्वात् । सोपाधिस्नेहवत्सु मथुराद्वार(का)वतीप्रभृतिस्थेष्वपि तत्तत्पुरुषार्थदानस्य तत्तद्व्यूहेन कृततया आनुष-ङ्गिकत्वात् । आनन्दमयनिरूपणे 'स वा एष पुरुषविध एवे'ति पुरुषविधश्रुतेश्च । एतदेवानन्दमयं

रश्मिः ।

'भक्त्या जानाति चाव्यय'मिति श्रुत्यां भक्तेः करणत्वं ज्ञाने ज्ञानं प्राकट्ये सति भवतीति भक्तः भक्त्या भगवतः प्राकट्यं कुर्वन् ज्ञानविषयं करोतीत्यर्थः । परेषां ज्ञानाश्रयो भक्तः । एवं प्राकट्यं भक्तिनिमि-त्तकम् । बहुविधेति । भक्तिजन्या 'श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिः प्रसाध्यते' इति तत्तत्कारणजन्या बहुविधेति तदनुरूपं भक्त्यनुरूपं स्वस्वकारणजभक्तियोग्यम् । सर्गादीति । भक्तानामिति । ब्रह्मा-दीनाम् । इतरेति । सर्गादिकारणासक्तिः । इति हेतौ । हेत्वन्तरं उपाधीति । सत्त्वान्तरेत्यर्थः । एवेति । 'सत्त्वमस्य प्रिया मूर्ति'रिति वाक्यादेवकारः । आधिभौतिकभक्त्या सत्त्वोपाधौ प्राकट्यप्रका-रमुक्त्वाध्यात्मिकभक्त्या निरावरण आकाशे प्राकट्यप्रकारमाहुः ये त्विति । आसक्तिराध्यात्मिकी भक्तिः । स्वयमेवेति । 'कृष्णो वै परमं दैवत'मिति श्रुतेरेवकारः । अतद्व्यवधानेन किन्तु आकाशव्यवधानेन । तत्रेति । अधोक्षजे । हेतुभेदादिति । भक्तिरूपहेतोः सोपाधिनिरुपाधिरूपभेदात् । यावदिति । सोपाधिके औपाधिकत्वेपि निरुपाधिके उपाध्यभावात्तथा । अन्यत्रेति । मत्स्यादिषु । गोपालेति । 'तदुहोवाच ब्राह्मणोसावनारतं मेध्यातः स्तुतः परार्धान्ते सोऽबुध्यत गोपवेषो मे पुरुषस्तदाविर्बभूवे'ति । बृहदिति । 'चिरं स्तुत्या ततस्तुष्टः परोक्षं प्राह तान् गिरे'ति । ता नाविदन्निति । अत्र वाक्ये 'मय्यनुषङ्गबद्धधिय' इत्यनेनात्मना भक्तवश्यत्वेनाविर्भूते मय्यनुषङ्गबद्धधिय इत्यर्थान्निरुपधितद्वदर्थत्वम् । सोपाधीति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म सोपाधीत्यादिना । त्रयस्त्रिंशाध्याये 'पुत्रं त्वौपाधिकस्नेहवति वसुदेवे मथुरास्थे तस्य कंसेनाधर्षितत्वस्य पुरुषार्थस्य दानं तस्य तेन प्रद्युम्नव्यूहेन कृतता यथा तया । सम्बधो-

१. तद्व्यवधानेनेति पाठः । २. निरुपधितत्तदर्थमिति पाठः ।

स' इत्यादिश्रुतिप्रतिपाद्यं निरुपधिस्नेहवतां विषयः । इदमेव च श्रैष्ठ्यम् । मत्स्या-दिरूपं तु सोपाधितद्वतामेव तथा । तादृक्तद्वतमर्थ एव प्राकट्यादित्यध्यवसीयते । एवं सति गुणभेदस्याप्रयोजकत्वात् सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वं ब्रह्मणो निष्प्रत्यूहम् ॥३॥

भाष्यप्रकाशः ।

रूपं 'रसो वै स'इत्याद्यानन्दश्लोकविवरणश्रुत्या प्रतिपाद्यं निरुपधिस्नेहवतां व्रजस्थानां विषयः । इदमेव अधिष्ठानाव्यवहितकेवलानन्दमयतया मुख्याधिकारिप्रमाविषयत्वमेव तस्मिन्नवतारे श्रैष्ठ्यम्, परमं निष्कृष्टम् । मत्स्यादिरूपं तु सोपधिस्नेहवतामेव विषयः । सोपधिस्नेहवतां कार्यायैव प्राकट्यात् । अतो न तेषु पूर्वोक्तरूपं श्रैष्ठ्यमित्येतत् सर्वं तत्तद्रूपभेदतत्तत्प्राकट्यहेतुभेदबोधकप्रमाण-गणेनावधार्यते । अतो न कोपि शङ्कालेशः । तथाच यदि यावद्विशेषशून्यं ब्रह्म स्यात्, तदा तथा स्यादपि । तत्तु प्रागेव निरस्तम् । तथा सति विरुद्धधर्माधारस्यैवैवं स्वरूपनिर्धारसिद्धौ धर्माणाममायि-कत्वेन वास्तवत्वात् तदुपसंहारादिचिन्ताया अप्यावश्यकत्वादुक्ताशङ्का निवर्तनीयैवेत्यतो मतान्तरी-यमेतत्सूत्रव्याख्यानमुपेक्ष्यमेवेत्यर्थः । सिद्धमाहुः एवं सतीत्यादि । पूर्वोक्तरीत्या तत्तद्धेतुकस्य गुणानुपसंहारस्य रूपभेदस्य चाबाधकत्वेऽनेकरूपतायामपि स्वरूपैक्ये निर्बाधे सति तत्तद्रूप-गुणभेदस्य वेद्यभेदाप्रयोजकत्वात् ब्रह्मणः सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वं निष्प्रत्यूहम् । मायावादिमते तु धर्माणामौपाधिकत्वादुपाधीनां च भिन्नत्वादुपास्यरूपाणां चाब्रह्मरूपत्वान्न विध्यैक्यं स्वारस्येन प्रयोजयति, अत्र तु ब्रह्मणः सर्वरूपत्वात् स्वारस्येन, अतोपि तथेत्यर्थः ॥ ३ ॥

रश्मिः ।

पधिकस्नेहवत्सु द्वारवतीस्थेषु ज्ञातिबन्धुषु तत्रापि सुधर्मा देवसभा तत्स्थेषु तस्य मर्त्यधर्मायोगस्य पुरुषार्थस्य दानं तस्य तेन प्रद्युम्नव्यूहेन कृततया । प्रभृतिशब्देन सुदाम्नवन्तीस्थे मैत्र्योपाधिकं स्नेहवति तस्य धैर्यस्य पुरुषार्थस्य दानं तस्य तेन प्रद्युम्नव्यूहेन कृततया । पुरुषविध इति भाष्यं विवृण्वन्तिस्म आनन्दमयेति । तैत्तिरीये । रस इति । रस आस्वादने । इदमेवेति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म इदमे-वेति । मत्स्यादीति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म मत्स्यादीति । एवेति । स्वयंत्वाभावान्मुख्यभक्त्यविषयत्वमि-त्येवकारः । सोपधीति । श्राद्धदेवमनुरासुरहिरण्यगर्भप्रभृतीनां मनुत्वार्पणस्वार्थयज्ञोपादानज्ञानोपा-धिकस्नेहवताम् । मत्स्यकच्छपस्नेहोऽष्टमस्कन्धे, वराहस्नेहस्तृतीयस्कन्धे । एवकारव्यवच्छेद्या निरुपधिस्ने-हवन्तः । तथेति भाष्यार्थमाहुः सोपाधिस्नेहवतां कार्यायेति । एवकारार्थः पूर्ववत् । एतदिति । कृष्णावतारविभूतिरूपं द्विविधभक्तिरूपं च । प्राकट्यहेतुर्भक्तिः । भेदबोधकत्वं संज्ञाशब्दार्थबोधकत्वेन । संज्ञाया भेदकत्वं पूर्वतन्त्रसिद्धम् । भक्तिभेदो विशेषणात् । सन्दर्भसिद्धनिरुपधिसोपधिविशेषणे । उपासनाभेदः संज्ञाभेदात् । कोपीति । दुरूहत्वेन साङ्कर्यरूपः । तदा तथेति । यावद्विशेष्यशून्यत्वकाले तथा निराकारत्वं स्यात् । प्रागेवेति । गतपादे 'अरूपव'त्सूत्रे । उक्तेति । 'किञ्चैवं निराकारे'त्यादिभाष्योक्ता शङ्का निवर्तनीया । अत इति शङ्काया निवर्तनीयत्वात् । पूर्वोक्तरीत्येति । 'नन्वभिष्टेममेवोद्दिश्ये'त्यादि-नोक्तरीत्या । तत्रापि 'मैवम्, धर्मिग्राहकमानेने'त्याद्युक्तरीत्या । तत्तद्धेतुकस्येति । शिष्टाचारप्रकरण-हेतुकस्य । रूपभेदस्य वेद्यभेदस्य । अनेकेति । यथा घटानां नीलपीतरक्तशुक्लानां सतां नीलो घटो घटो नेत्यप्रत्ययादनेकनीलादिरूपतायामपि घटत्वेन घटस्वरूपैक्यस्य निराबाधो यथा तथा सति । तत्तदिति । तत्तद्रूपेति । यथा घटे नीलादितत्तद्रूपगुणभेदस्य घटाभेदाप्रयोजकत्वं तत्तद्रूपेत्यादिः । स्वारस्येनेति । उपासनाभावेन तदैक्यरूपविध्यैक्ये स्वारस्येन तथा । तथेति । सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वं

१ सुधार्थं ।

दर्शयति च ॥ ४ ॥

वेद्यैकत्वेन विद्यानामेकत्वं श्रुतिर्दर्शयति 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ती'त्यादिना। उपासनाप्रकारभेदेनोपास्यभेददर्शने दोषं च दर्शयति । 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नु-

भाष्यप्रकाशः ।

दर्शयति च ॥ ४ ॥ अस्मिन्नधिकरणे सर्वफलदातुः परब्रह्मणो वेद्यस्य तद्विषयकतया सर्वासां विद्यानामैक्यमवान्तरविद्यानामवान्तरैक्यं च प्रतिपादितमिति निगमयितुं सूत्रं विवृण्वन्ति वेद्यैकत्वेनेत्यादि । इत्यादिनेति । आदिपदेन मुण्डके ब्रह्मविद्यां प्रक्रम्य, तस्यामेव परापरविभागमुक्त्वा, ऋग्वेदादिरूपा अपरा, 'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यत' इति तयोर्लक्षणकथनेन सर्वासां ब्रह्मविद्यात्वं यद्बोधितं तस्य सङ्ग्रहः । तथान्यैरुपन्यस्तानां 'एतमेव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसत एतमग्नावध्वर्यव एतं महाव्रते छन्दोगा' इत्यादीनां च सङ्ग्रहः । तथाच श्रुतिरपि प्रत्यक्षा वेद्यैकत्वेन विद्यैकत्वं दर्शयति, उपास्यभेददर्शने च दोषम्, अतोपि निष्प्रत्यूहं ब्रह्मणस्तद्विद्यानां च सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वमित्यर्थः । अत्र आद्या श्रुतिः काठकेऽस्ति । 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मा'दिति प्रश्नमुपक्रम्य, तदुत्तरत्वेनोक्ता । तत्र च सर्ववेदबीजभूतो य ओङ्कारः, तस्य तथात्वमुक्तम् । स च 'स्वधाम्नो ब्रह्मणः साक्षाद्वाचक' इति प्रश्नोत्तरसिद्धिः । तथाचोङ्कारस्य सर्ववेदबीजत्वात् तदर्थस्यैव सर्वत्र प्रसृतत्वात् सर्वस्यापि वेदस्य तद्वाचकत्वमिति वेद्यैक्येन विद्यैक्यं सिद्धम् । द्वितीया तैत्तिरीयाणां ब्रह्मवित्प्रपाठकेऽस्ति । तत्र हि 'अदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयने' इति विशेषणचतुष्टयविशिष्टं ब्रह्म 'एतस्मि'न्निति पदेन परामृश्यते । तथाच यच्छास्त्रीयसाधनमन्तरेणादृश्यम्, यस्य चात्मान्यो नास्ति, किन्तु तदेव सर्वासामात्मभूतमित्यनात्म्यम् । यत् पुनरेतदग्रे 'तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्ये'त्यनेन यः पूर्वोक्तरूपं ब्रह्म युक्तिभिर्नानुचिन्तयति, तस्यापि

रश्मिः ।

ब्रह्मणो निष्प्रत्यूहमित्यर्थः । न च 'अनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्य'मिति काठके श्रावणाद्व स्वारस्यं नेति वाच्यम् । 'नास्ति श्रुतिषु तद्वार्ते'ति मायानिषेधात् । 'स ईक्षां चक्र' इतीक्षामात्रश्रावणात् । न च 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वर'मिति 'मायया सन्निरुद्धः' 'विष्णुर्नाम महायोगी महामायो महातपाः' इत्यादिश्रुतिभिर्मायोक्तेति शङ्क्यम् । 'प्रणवत्वेन प्रकृतित्वं वदन्ति ब्रह्मवादिन' इति गोपालतापिनीयात् प्रकृतिः 'प्रकर्षेण नवीनभावजनक' इत्यादिगायत्र्यर्थविवरणकारिकोक्तलक्षणा इन्द्रियभावजनिका तया विशिष्टं मायिनं महेश्वरम् । महामायो महेन्द्रियावी विष्णुः । मायया संनिरुद्धो जीव इत्यर्थान्तराभावात् । गोविन्द इत्यर्थः ॥ ३ ॥

दर्शयति च ॥ ४ ॥ पूर्वं चोदनाद्यविशेषहेतुं शोधयित्वा द्वितीयेन तृतीये शिष्टाचारप्रकरणे 'योऽन्यथा सन्त'मिति श्रुतीनामुपसंहारबाधकत्वमाशक्य समाहितम् । अर्थाभेदस्योपसंहारसाधकत्वं वक्ष्यते । एवंच साधकस्य विद्यमानत्वाद्वेद्यैकत्वेनेत्यादिर्भाष्ये । बाधकानि तु गुणभेदस्याप्रयोजनकत्वान्न सन्ति । आदिपदार्थमाहुः आदिपदेनेति । परापरेति । 'द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म य इह ब्रह्मविदो वदन्ति । परा चैवापरा चे'ति श्रुत्या परापरविभागमुक्त्वा । सङ्ग्रह इति । श्रुत्यर्थस्तु एतं सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वेन विहितम् । बह्वृचशाखिनः उक्थे शस्त्रविशेषे । विचारयन्ति । एवमग्रेपि । छन्दोगा सामशाखा । आदिना वैश्वानरविद्या । वाजसनेयके प्रादेशमात्रसम्पादितस्य वैश्वानरस्य छान्दोग्ये सिद्धवदुपादानम् । 'यस्त्वेवमेतं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्त' इति । प्रत्यक्षा वेद्येति ।

दरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवती'ति । 'उ'दित्यव्ययमप्यर्थकम् । तथाच, अरमल्पमप्यन्तरं कुरुत इत्यर्थः ॥ ४ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

तद्भयमुक्तम् । तादृशत्वं च मूलरूप एवेति, तदवतारेषु यो भेदं कुरुते, तस्य भयं भवतीति सिध्यति । तेन सर्वासां विद्यानां सर्वेषामुपास्यानां चैक्यं सिद्धम् ।

अत्रैतद्बोध्यम् । अन्ये हि शाखान्तराधिकरणोक्तहेतुभिः तत्तदुपासनानामैक्यं साधयित्वा, तस्यैक्यस्य तेषु तेषु गुणोपसंहारप्रयोजकत्वं वदन्ति । तदप्रयोजकम् । यास्पासनासु न कश्चिद्विशेषः, तास्वैक्यसाधनमनर्थकम् । यथा ज्यैष्ठ्यश्रैष्ठ्यगुणकप्राणोपासनायाम् । यत्र च विशेषगुण उपसंहर्तव्यः, यथा पञ्चाग्निविद्यादिषु, तत्राधिकगुणोपसंहारप्रयोजकत्वात् सार्थकम् । गुणोपसंहारश्चेत् समाचारसूत्रोक्तहेतुभिरेव सिध्यति, तदा पूर्वसूत्रे तत्साधनमनर्थकम् । उक्तरीत्या सर्वासामैक्ये प्राप्ते सर्वत्र सर्वगुणोपसंहारप्राप्तेर्दुर्वारत्वात् । अतो ये ज्ञानमार्गीया ब्रह्मत्वप्राधान्येनोपासकाः, तेषामेव तथोपसंहार इति पूर्वसूत्रतात्पर्यबोधनार्थमिदं सूत्रम् । ये पुनः सर्वत्र ब्रह्मत्वमनुसन्दधाना अपि तत्तद्रूपप्रधानाः, तत्तत्फलाकाङ्क्षिणो वा, तेषां तु समाचारसूत्रोक्तैस्पसंहारनियमहेतुभिरवान्तरैक्यमवधार्य, तत्तदुपयोगिन एव गुणा उपसंहर्तव्या भवन्ति । एवं सति यदैक्यमन्यैः पूर्वसूत्रे विचार्यते, तदस्माकं समाचारसूत्रे सिध्यतीति भिन्नभिन्नाधिकारसूचनार्थमेतत्सूत्रचतुष्टयमिति ज्ञेयम् ।

शङ्कराचार्यास्तु । परस्य ब्रह्मणः पूर्वापरादिभेदरहितत्वात् सैन्धवघनवदेकरसत्वाद्विज्ञानानां न तद्विषयत्वम्, अतो ब्रह्मविज्ञानस्य प्रतिवेदान्तं भेदः शङ्कितुं न शक्यते, नापि ब्रह्मविज्ञानस्य चोदनाद्यविषयत्वादभेदः सिद्धान्तयितुम् । अविधिप्रधानैर्वस्तुपर्यवसायिभिर्हि वाक्यैर्ब्रह्मविज्ञानं जन्यत इति 'तत्तु समन्वया'दित्यत्र प्रतिपादितत्वात् । तत्कथमिमां भेदाभेदचिन्तामाचार्य आरभत इत्याशङ्क्य, सगुणब्रह्मविषया प्राणादिविषया वेद्यविज्ञानभेदाभेदचिन्तेत्यदोषः । सगुणे हि ब्रह्मणि कर्मवदुपासनानां भेदाभेदसम्भवात्, कर्मवदेव चोपासनानां दृष्टादृष्टफलार्थचोदनाया अपि सम्भवात्, सम्यग्ज्ञानोत्पत्तिद्वारेण केषाञ्चिदुपासनानां क्रममुक्तिफलत्वस्यापि सम्भवाच्च । तस्मात्तेष्वेवैषा चिन्तेत्याहुः ।

रश्मिः ।

'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामी'ति श्रुत्योपनिषन्मात्रवेद्यं विरुद्धधर्माश्रयत्वेन 'यदेक'मितिश्रुत्युक्तमेकत्वानेकत्वं भवति, एकत्वावच्छिन्नाभिन्नमनन्तरूपत्वावच्छिन्नमिति बोधः कार्यकारणवस्त्वैक्यमर्षणे सम्भवति। 'तमसः परस्ता'दितिविशेषणबलात्तु कारणकोटिरांश्चर्यरस इति सिद्धं तद्द्रढयितुमाहुः शङ्कराचार्या इति । पादारम्भे आहुरित्यन्वयः । प्रतिवेदान्तमिति । आथर्वणिकवेदान्तं लक्षीकृत्य । चोदनादीति । ज्ञानस्य कृत्यविषयत्वादिति भावः । न शक्यत इति सम्बन्धः । 'एकमेवाद्वितीय'मित्यादौ विधिः कल्प्यते । 'प्रज्ञां कुर्वीते'ति विधिर्वा । तत्कथमिति । अभेदसिद्धान्तात्केन प्रकारेण हेतुना । प्राणादीति । आदिना चतुर्वाङ्गादिप्राणविषया । कर्मवदिति । पूर्वतन्त्रे द्वितीयाध्याये 'संज्ञाभेदाद्यागभेदः दर्शपूर्णमासाख्यकर्म न भिद्यत' इत्युक्तं तद्वत् । कर्मवदिति । 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेते'त्यत्र दृष्टं स्वर्गः अदृष्टमात्मसुखं तत्फलार्थं चोदनाया उक्तायाः सम्भवात् तादृशकर्मवत् । तथाच ज्योतिष्टोमादिकर्मवत् । षष्ठ्यन्ताद्वतिः । आत्मेत्येवोपासीते'ति । अत्र चित्तशुद्धिरदृष्टं फलम् । बृहदारण्यके प्राणसंवादे प्राणादिविषया उपासनाः सन्ति । प्राणानां देहधारणं दृष्टं फलम् । तेष्वेवेति ।

भाष्यप्रकाशः ।

तदिदं प्रथमसूत्रपूर्वपक्षभाष्ये एव समन्वयविरोधापत्तेरित्यादिना निराकृतम् ।

यत्पुनर्भामत्यां तद्भाष्यतात्पर्यमुक्तम्, सावयवस्य ह्यवयवानां भेदात्तत्तदवयवविशिष्टब्रह्मगोचराणि विज्ञानानि भिद्येरन्नित्यवयवा ब्रह्मणो निराकृताः 'पूर्वापरादी'त्यनेन । नच नानास्वभावं ब्रह्म यतः स्वभावभेदाद्विज्ञानानि भिद्येरन्नित्यत उक्त'मेकरस'मितीति ।

तदप्युभयलिङ्गाद्यधिकरणविचारे 'अनुच्छित्तिधर्मा' 'य इह नानेव पश्यती'त्यादिश्रुतीनां विचारेण विरुद्धधर्माधारत्वसाधनादेव निरस्तं ज्ञेयम् ।

भास्कराचार्यास्तु । यदि विज्ञेयं ब्रह्म सर्वत्रैकम्, तदा तद्विषयकं ज्ञानमुत्पद्यते, कथं भिद्येत, नच बहूनि ब्रह्माणि सन्ति, येन तज्ज्ञानानि भिद्येरन्, अतः प्रतिवेदान्तं विज्ञानभेद इत्याशङ्कानुपपन्ना, नापि 'चोदनाद्यविशेषा'दिति समर्थनं कर्तव्यम्, अचोदनालक्षणत्वाज्ज्ञानस्येत्याशङ्क्य, विज्ञानमिहोपासनमभिप्रेतम्, प्रथमं तावत् वाक्याद्ब्रह्मस्वरूपविषयकं ज्ञानमुत्पद्यते, तच्च प्रमेयरूपावच्छेदकम्, घटादिविषयकप्रत्यक्षादिज्ञानवत्, उपासनं तु निर्णीते वस्तुतत्त्वे पश्चात् क्रियते, यथा गुरुमुपास्ते, राजानमुपास्त इति ज्ञातस्वरूपस्य गुर्वादेरुपासनं भवति, तच्च विधिगम्यम्, यथा च तस्यावश्यकत्वम्, तथा चतुर्थस्याद्ये वक्ष्यते, तस्मादुपपन्नेयं चिन्तेत्याहुः ।

इदं च सिद्धान्तेपि सम्मतम् ।

माध्वा रामानुजास्तत्रोरश्चैतच्चिन्तायामुपपत्तिमविचारयन्तोऽवसरसङ्गत्या विद्याभेदाभेदावेव विचारयन्ति ।

रश्मिः ।

सगुणप्राणादिषु । समन्वयेति । सगुणे भिन्ने प्राणादौ च निर्गुणसमन्वयविरोधापत्तेः । निराकृतमिति । तेनाणुभाष्योक्तमेव साधीय इति भावः । 'नैषा तर्केण मतिरापनेये'ति काठकात् । 'अनन्यप्रोक्ते गतिरन्यत्र नास्त्यणीयान्ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् । नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठे'ति श्रुतिः । सावयवस्येति । एकस्य सगुणस्य । पूर्वापरेति । भाष्येण । एकरसमिति । एकरसत्वादित्यत्रत्यमेकरसमिति भाष्यीयं बोध्यम् । अनुच्छित्तीति । निराकृतावयवरूपसगुणधर्माः न विद्यते उच्छित्तिर्येषां तादृशाः अनुच्छित्तयो धर्मा यस्येत्यनुच्छित्तिधर्मा आत्मा । आत्माविनाशित्वस्य 'अविनाशी वारेऽयमात्मे'त्यविनाशिपदेन प्राप्तेः । नाना पश्यति अवयवभेदं पश्यति । विरुद्धेति । सावयवत्वनिरवयवत्वरूपविरुद्धेत्यर्थः । 'निष्कल'मिति निरवयवत्वम् । 'आत्मैवेदमग्र आसी'दिति सावयवत्वम् । भास्कराचार्या इति । आरम्भ इत्येव । प्रतिवेदान्तमिति पूर्ववत् । कर्तव्यमिति । 'न भेदा'दिति द्वितीयसूत्रेण कर्तव्यम् । अचोदनेति । चोदनालक्षणोऽर्थो हि धर्मः । कृत्यविषयत्वात् ज्ञानस्य तथा । तच्चेति । ज्ञानं ज्ञाताज्ञातप्रमेययोर्ज्ञातप्रमेयमवच्छिनत्तीति तथा । घटादीति । घटविषयकं ज्ञानं भिन्नं पटविषयकं भिन्नं पटविषयकाद्भिद्यते घटविषयकत्वात् इति प्रत्यक्षानुमाने । अयं घटविषयकज्ञानभिन्नपदवाच्यः इदं घटविषयकज्ञानभिन्नम् । शाब्दोयमिति । तच्चेति । वस्तुतत्त्वं स्वरूपरूपम् । विधीति । 'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मण' इति निर्णीतवस्तुतत्त्वब्रह्मोपासनविधिः । 'स समित्पाणिर्गुरुमेवाभिगच्छेच्छ्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठ'मिति गुरूपासनविधिः । 'प्रियव्रतकृतं कर्म को नु कुर्याद्विनेश्वर'मिति राजोपासनम् । तस्येति । विधेः । चतुर्थस्य फलाध्यायस्याद्ये पादे । चतुर्थपादे आद्याधिकरणे वा । तस्मादिति । अभिन्नज्ञानस्य विषयभेदाद्भिन्नत्वाङ्गीकारात् । इयमिति । भेदाभेदसिद्धान्तविषयिणी । एकमभिन्नं ज्ञानं प्रमेयरूपावच्छेदकमिति भिन्नम् । सम्मतमिति । भेदांश इवार्थ

भाष्यप्रकाशः ।

तत्रापि माध्वमते, उपासना नाम ब्रह्मजिज्ञासा समस्तसच्छास्त्राभ्यासरूपा, श्रवणमनने इति यावत्, सा च भक्तिसाध्यत्वाज्ज्ञानसाधनत्वाद्भक्त्यनन्तरं ज्ञानात् पूर्वं विचार्यते, ध्यानाङ्गत्वात् । सैव प्रथमाधिकरणे विचार्यते, समस्तसच्छास्त्रश्रवणमननाभ्यां दूरोत्सारिताज्ञानसंशयविपर्ययस्य ध्यानाधिकारित्वादिति । तत्र वेदोदितं ब्रह्म विषयः । तत्किमेकैकेन सर्वशाखोक्तं ज्ञातव्यम्, स्वशाखोक्तं वेति सन्देहः । सर्वशाखोक्तं ज्ञातव्यमिति सिद्धान्तः । तेन वेद्याभेदाद्विद्याया अभेदसिद्धिः ।

तत्र सर्वशाखानामिदानीमप्रसिद्धत्वात् सर्वपदे सङ्कोचस्त्वावश्यकः । 'अविज्ञातं विजानता'मिति श्रुत्या ब्रह्मणो ज्ञानापरिच्छेद्यत्वं च श्राव्यते । अतो यथाधिकारं यत् सम्यक् ज्ञानम्, तदेव युक्तम् । अन्यथा अशक्योपदेशापत्तिरित्यवधेयम् ।

रामानुजास्त्वत्र वैश्वानरविद्यां विषयत्वेनोदाहरन्ति । •

शैवस्तु दहरविद्याम् । सा प्रतिशाखं भिन्ना [illegible]भिन्ना वेति संशयः । शाखान्तराधिकरणन्यायेन पूर्वोत्तरौ पक्षावित्याह ।

भिक्षुस्तु । ब्रह्मणि निरूपितेऽर्थतस्तद्विद्यापि निरूपितैव, ज्ञानस्य विषयमात्राधीनविशेषत्वात्, तत् किमर्थं विद्यायाः पृथग्विचार इत्याशङ्क्य, गुणोपसंहारानुपसंहारादिभिरेकस्मिन्नपि ब्रह्मणि प्रकारतो विद्यायां संशयसम्भवाद्विचार इत्युक्त्वा, तत्रादौ ब्रह्मविद्याङ्गभूतानां गुणादीनां विचारार्थम्, तथा वेदविहितत्वं विना वक्ष्यमाणसर्वपापक्षयहेतुत्ववैधकर्माङ्गत्वादीनामनुपपत्तेश्च साक्षात्कारसाधारण्येन सकलब्रह्मविद्यासु विध्यादिकमस्तीति सर्ववेदान्तप्रत्ययसूत्रे विचार्यते, तथाच 'सर्वगृहमश्ना' इतिवदत्र व्याप्यकर्मणि द्वितीया, अतः सर्ववेदान्तस्थं प्रत्ययं विद्यां व्याप्य, चोदनादि, वक्ष्यमाणविधिफलादिकं प्रत्येतव्यम्, अथवा, सर्वे वेदान्तप्रत्ययाः विषयत्वेनास्य

रश्मिः ।

कृत्वा संमतम् । 'अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थित'मिति गीतावाक्यात् । उपपत्तिमिति । भेदसिद्धान्तेऽभेदोपपत्तिम् । इतरे तु विशिष्टाद्वैते शरीरशरीरिणोरभेदोपपत्तिम् । अन्तर्यामिब्राह्मणोक्तः शरीरशरीरिभावः । उपासनेत्यादि । नामेत्यव्ययम् । भक्त्यनन्तरमिति । 'यथा भक्त्येश्वरे मन' इति वाक्यात् । मनोव्यापारविशेष उपासना । ज्ञानादिति । 'तं यथा यथोपासते' इत्यादिश्रुत्या । ध्यानेति । श्रवणमननकालयोर्जायमानम् । दूरेति । दूरोत्सारिता अज्ञानं संशयो विपर्ययो भ्रमश्च येन तस्य । संदेह इति । पूर्वपक्षस्तु स्वशाखोक्तं ज्ञातव्यमिति । दूषणमाहुः तत्रेत्यादि । सम्यगिति । उक्तश्रुत्युक्तत्वे सति विरुद्धधर्माधारत्वं सम्यक्त्वम् । पूर्वोत्तरपक्षाविति । विद्याभेदः पूर्वपक्षः, विद्याऽभेदः सिद्धान्तः । शाखान्तराधिकरणे यथा कर्मभेदः पूर्वपक्षः, कर्मैक्यं सिद्धान्तः । न्यायस्तु पूर्वतन्त्रे द्वितीयाध्याये चतुर्थपादेस्तीत्युक्तम् । पृथगिति । अविभागाद्वैते विषयपृथग्विचारेपि विद्याया अद्वैतरूपत्वात् । गुणेति । आदिना अविभागाद्वैतेपि शास्त्रदृष्ट्या विभागदर्शनं गृह्यते । उपपादनं तत्काले विभागाङ्गीकारश्च तैः । गुणादीनामिति । आदिना जातिधर्मौ । तथेति । गुणत्वादिप्रकारैर्विद्याया वेदविहितत्वम् । सर्वपापेति । आदिना शिष्टदृष्टत्वम् । सर्वेति । 'सर्वगृहमश्नास्तिष्ठन्ती'त्यत्र सर्वगृहं कर्म चतुर्विधकर्मसु व्याप्यं सम्भवति । अत्रेति । सूत्रे । विद्यां साक्षात्काररूपाम् । व्याप्य (व्याप्य)कर्मभूतां इति हेतोस्तां व्याप्य चोदनादि । अस्यार्थमाह भगवान् भिक्ष्वाचार्यः । वक्ष्यमाणेत्यादि । चोदना विधिः । आदिना फलादिकम् । आदिना अपूर्वम् । साक्षात्कारमात्रप्रत्ययवाचकत्वापत्त्या

उपसंहारोऽर्थाभेदाद्विधिशेषवत् समाने च ॥ ५ ॥

ननु पूर्वसूत्रोक्तरीत्या गुणोपसंहारो न क्वचिदपि प्राप्तावसर इति सिद्धम् । दृश्यते चोपसंहारः । श्रीरामोपनिषत्सु 'यो वै ये मत्स्यकूर्माद्यवतारा' इत्यादिनोक्तावताररूपत्वस्य श्रीरामे, 'नमस्ते रघुवर्याय रावणान्तकराय चे'त्यादिषु 'ते'

भाष्यप्रकाशः ।

सन्तीति सर्ववेदान्तप्रत्ययम्, तथाच चोदनादिकं सर्ववेदान्तप्रत्ययविषयकमिति प्रतिज्ञा, यत्र यत्र विधिफलादिकं न श्रूयते, तत्रापि कल्पनीयमिति यावत्, कुत एतत्, अविशेषात्, चोदनादिमत्या वेदान्तान्तरोक्तविद्यायाः सकाशादवैलक्षण्यात्, सम्भवत्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदानौचित्यादित्येवं व्याख्याय, सूत्रान्तराण्यप्येतस्मिन्नेवार्थे योजयित्वा, सर्वस्मिन् वेदान्ते चोदनादिसाधनार्थमिदमधिकरणमित्याह ।

तत्र साक्षात्कारसाधारण्येन विध्यङ्गीकारस्तु न युक्तः । 'नायमात्मा प्रवचनेन' 'श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्य' इत्यादिषु दर्शनात्मकस्य लाभस्य जीवकृतसाधनासाध्यताया वरणैकसाध्यतायाश्च श्रावणेन तच्छाब्दज्ञानस्यापि दुर्लभत्वश्रावणेन च तत्साक्षात्कारस्य विधिविषयताया वक्तुमशक्यत्वात्, दर्शनस्य प्रमाणवस्तुपरतन्त्रत्वाच्च । नच द्रष्टव्यश्रुतिविरोधः । दर्शनानुकूलव्यापारे दृशिधातोर्लक्षणया तत्र विधेश्चारितार्थ्येनाविरोधात् । सूत्रव्याख्यानमप्यत एवायुक्तम् । साक्षात्कारवाक्येषूक्तरीत्या विध्ययोगेन प्रतिज्ञाया बाधात् । विद्यासु वैलक्षण्यस्यापि तत्तदंशेन स्फुटतया हेतोरप्यभावाच्चेति दिक् ॥ ४ ॥

उपसंहारोऽर्थाभेदाद्विधिशेषवत् समाने च ॥ ५ ॥ एवमुपासनानां द्विविधमैक्यमधिकारभेदेनोपसंहारं च संक्षेपेणोक्त्वा तत् प्रपञ्चयितुमुपसंहारप्रयोजनं च वक्तुं सूत्रमवतारयन्ति नन्वित्यादि । ननु वेद्यैक्येन प्राप्ते सर्वत्र सर्वगुणानामुपसंहारे समाचारसूत्रोक्तैर्निरूपणप्रकारभेदाधिकारभेदासाधारणसम्बन्धिभेदैस्तन्निवारणं कर्मोपासनासाधारण्येन कृतम्, परन्त्वेतावान्

रश्मिः ।

पक्षान्तरमाह अथवेति । अस्येति । विधेः । अधिकारवत्प्रतिज्ञा । उत्तरत्रानुवृत्तिमाह यत्र यत्रेति । वेदान्तान्तरेति । वेदान्तान्तरमाथर्वणं तदुक्तविद्यायाः । द्रष्टव्येति । विधौ तव्याङ्गीकारात् । तव्यतो वा । साक्षात्कारानुकूलव्यापारे विधिविषयत्वमित्याहुः दर्शनानुकूलेति । तत्र विधेरिति । दर्शनानुकूलव्यापारानुकूलव्यापार इत्यर्थात् । लक्षणाशब्दस्तु दर्शनार्थकधातुप्रयोगे फले धात्वर्थत्वान्मिश्रमतेन 'फलव्यापारयोर्धातोराश्रये तु तिङः स्मृत' इति भूषणे लाक्षणिकार्थात् । सूत्रेति । 'सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषा'दिति त्रिपदमिदं सूत्रमङ्गीकृत्य व्याख्यानम् । अत एवेति । साक्षात्कारे विध्यभावादेव । उक्तेति । अव्यवहितपूर्वोक्तरीत्या । तत्तदंशेनेति । विद्यायां प्रकारतः संशयस्योक्तत्वात्तत्प्रकारांशेन । हेतोरिति । अविशेषरूपस्य ॥ ४ ॥

उपसंहारोऽर्थाभेदाद्विधिशेषवत् समाने च ॥ ५ ॥ नन्वित्यादीति । त इतीति । तुभ्यमित्यर्थः । **वेद्यैक्येनेति ।** उपसंहारसाधकेन अर्थाभेदरूपेणेति नोक्तं वक्ष्यमाणत्वात् । **निरूपणे-**त्यादि । निरूपणेन प्रकारः प्रकरणं देशकालौ प्रकरणं तस्य भेदस्त्वधिकारः शिरोव्रतकृतः तस्य भेदः असाधारणसम्बन्धी शिष्टः तस्य भेदः । शिष्टाचारो 'योऽन्यथासन्तमात्मान'मिति श्रुत्युक्तो भेदः तैः । **कर्मोपेति ।** कर्म च उपासना च कर्मोपासना तत्साधारण्येन । **निरूपणेति ।** 'नामरूपधर्मविशेष-

इति युष्मच्छब्दविषये श्रीव्रजनाथे रघुवर्यत्वादेरित्याशङ्क्य, तत्प्रयोजकं रूपमाह उपसंहार इत्यादिना । उक्तस्थलादिषु यः उपसंहारः, स त्वर्थस्य पदार्थस्य भगवल्लक्षणस्योभयत्राप्यभेदादित्यर्थः । नन्वेवं सति मत्स्ये शरचापादिकं पुरुषे च

भाष्यप्रकाशः ।

विशेषो यत् कर्मणि निरूपणप्रकारभेदो निवारकः, उपासनायां तु रूपप्रकारभेदः, तथा तत्र दैह्योऽधिकारः, इह त्वान्तरः, तत्र सम्बन्धी बाह्यः, इह तु ध्येयत्वेनेष्ट आन्तरः, तथापि तेषां गुणान्तरोपसंहारबाधकता त्वविशिष्टेति तद्रीत्या यस्य कस्यचन बाधकस्य यत्र क्वापि सम्भवाद्गुणोपसंहारो न क्वचिदपि प्राप्तावकाश इति सिद्धम्, तद्विरुद्धश्च श्रीरामतापनीयेऽवतारान्तरत्वस्य दशमस्कन्धीयाक्रूरस्तुतौ च रघुवर्यत्वादेरुपसंहारो दृश्यते, अतो न पूर्वसूत्रोक्तं साधीय इत्याशङ्क्य, तन्निवृत्त्यर्थमस्मिन् सूत्रे वेद्यैक्यनिरूपणप्रयोजनं सूचयन्नुपसंहारप्रयोजकं रूपमाहेत्यर्थः । सूत्रं व्याकुर्वन्ति उक्तस्थल इत्यादि । तत्तत्तापनीये 'इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते', 'तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयत' इति श्रावणादक्रूरस्यापि भगवति परब्रह्मत्वज्ञानस्य तत्स्तुत्यारम्भे उक्तत्वात् तत्र योऽवतारान्तरत्वोपसंहारः, स भगवल्लक्षणस्य वस्तुन उभयत्राप्यभेदमनुसन्धाय । अन्यथा तत्र 'परं ब्रह्मे'ति न वदेत् । प्रयोजनाभावात् । तथाच येन ब्रह्माभेदस्तत्रानुसंहितः, तेनोपसंहारः कार्य इत्येतदर्थमित्यर्थः । अत्र पूर्वसूत्रोक्तनियमभङ्गं शङ्कते नन्वित्यादि । एवं सतीति । ब्रह्मत्वेऽनुसंहिते सति । तथाचैवं मत्स्यादिषु विरुद्धधर्मभावने प्राप्ते स्वाध्यायसूत्रोक्तनियमस्य भग्नत्वादग्निहोत्रादिष्वपि सर्वशाखोक्तधर्मकरणापत्तिः स्यादित्यर्थः । एतत् समाधातुं सूत्रांशं व्याकुर्वन्ति यथेत्यादि । विधिशेषाणामित्यत्र बहुव्रीहिः । आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् । समान इति । तुल्ये । चोऽप्यर्थे । एवञ्च अर्थाभेदात् समानेऽप्युपसंहारो

रश्मिः ।

पुनरुक्तिनिन्दाशक्तिसमाप्तिवचनप्रायश्चित्तान्यार्थदर्शनाच्छाखान्तरेषु कर्मभेदः स्या'दित्यत्र नामादयः कर्मभेदकाः श्रुताः । तत्र कर्मणि निरूपणप्रकारभेदः धर्मविशेषशब्दोक्तः । 'कारीरीवाक्यान्यधीयानास्तैत्तिरीया भूमौ भोजनमाचरन्ति । अपरे शाखिनो नाचरन्ति । तथाग्निमधीयानाः केचिदुपाध्यायस्योदकुम्भमाहरन्ति अपरे ने'त्येवम् । दैह्य इति । [illegible]कि: अभेदे सर्वशाखाप्रत्ययमुपसंहर्तुमशक्तेर्न शक्नुवन्तीति दैह्यः । आन्तर इति । सद्बीरूपः । 'यथद्धिये'तिवाक्यात् । बाह्य इति । रूपम् । एकस्यां शाखायामग्नीषोमीयमेकादशकपालमामनन्ति । एकस्यां द्वादशकपालम्, एवं भिन्नं[1] रूपं कथमिव न कर्मभिन्नं भविष्यति । ध्येयत्वेनेति । 'योऽन्यथा सन्तमात्मान'मिति श्रुतेः । तद्रीत्येति । सूत्रोक्तरीत्या । यस्यकस्यचनेति । पूर्वपक्षत्वान्नामरूपसूत्रोक्तसमाहारद्वन्द्वार्थो न स्वीकृत इति भावः । गुणोपेति । तेन पूर्वसूत्रोक्तरीत्येत्यस्य न 'दर्शयति चे'ति सूत्रोक्तरीत्येत्यर्थः । किन्तूक्त एवार्थ इत्युक्तप्रायम् । दृश्यत इति भाष्यं विवृण्वन्तिस्म तद्विरुद्ध इति । उपसंहारेति । 'तत्प्रयोजकं रूपमाहे'ति भाष्यार्थ उक्तः । तत्तापिनीय इति । रामतापिनीये गोपालतापिनीये च । येनेति । अधिकारिणा । विधेः शेषाणामिति षष्ठीतत्पुरुषाशङ्कानिवृत्त्यर्थमाहुः विधीति । विधिराज्ञाप्रतिपादकः सद्धर्मत्वाच्छेषो येषामग्निहोत्रादीनाम्, 'यज्ञो वै विष्णु'रिति श्रुतेर्धर्मिणामिति बहुव्रीहिरित्यर्थः । आम्नायस्येति । वेदस्य विधिसहितस्य व्यतिरिक्तस्य । क्रिया यागादिः । चोप्यर्थ इति । तत्पुस्तके समाने चेति पाठे

[1] चो नास्ति ।

शृङ्गादिकं भावनीयं स्यादिति चेत्, तत्राह **विधिशेषवदिति** । यथा विधिशेषाणामग्निहोत्रादीनामग्निहोत्रत्वादिलक्षणे धर्मे समानेपि सति स्वस्वशाखोक्तप्रकारकस्यैव करणम्, नान्यशाखोक्तधर्मोपसंहारः, एवमिहापि तत्तदवतारोपासकस्य तत्तदसाधारणधर्मवत्त्वेनैवोपासनम्, नान्यावतारधर्मवत्त्वेनापीत्यर्थः ।

यद्वा । मत्वर्थीयो वत्प्रत्ययोऽत्र । तथाच विधिशेषोऽर्थवादः, तद्वत्[1]सत्समानं च भवति यत्, तत्र चोपसंहार इत्यर्थः ।

अत्रैवं ज्ञेयम् । एकस्यां श्रुतौ यस्य कर्मणो यत् फलमुच्यते, तदितरस्यां तस्यां तस्यैव कर्मणस्तदितरत् फलमुच्यते । एवं सति द्वितीयश्रुत्युक्तफलकामनयापि तदेव कर्म कर्तव्यं भवतीति तत्फलसाधकत्वस्योपसंहारः । यथा

भाष्यप्रकाशः ।

विधिशेषवदिति सूत्रयोजना । तथाचात्र 'श्रीरामादिष्ववतारान्तरत्वं तेन तेन रूपेण तत्तत्कर्मकर्तृत्वमित्येवमुपसंहृतम्, न तु अस्मिन् रूपे तद्रूपत्वमनेन रूपेण तत्तत्कर्मकर्तृत्वं वा, तदप्यधिकारभेदात्, ब्रह्मत्वानुसन्धानस्यैव मुख्यत्वेन तत्र ज्ञानमार्गीयाधिकारात् । भक्तिमार्गीयाधिकारे तु मत्स्यादिरूपस्यैव प्राधान्येन सम्बन्धिप्राधान्याभोपसंहारः । अतः पूर्वसूत्रोक्तनियमस्याभङ्गाभ त्वदुक्तरीत्या तद्भावनप्राप्तिः, न वाग्निहोत्रादिषु शाखान्तरीयधर्मप्राप्तिरित्यर्थः ।

अस्मिन् पक्षे गुणोपसंहारप्रयोजनं न स्फुटं भवतीत्यतस्तदर्थं 'तस्मात् भारत सर्वात्मे'त्यस्य सुबोधिनीमनुसृत्य व्याख्यानान्तरमाहुः **यद्वे**त्यादि । **मत्वर्थीयो वत्प्रत्ययोऽत्रे**ति । वत्सदृशः प्रत्ययो वत्प्रत्ययः । सोऽत्र मत्वर्थीय इत्यर्थः । अस्मिन् पक्षे **विधिशेष** इत्यत्र षष्ठीतत्पुरुषः । **समानपदमेकार्थकम्** । **चः समुच्चये** । एतमर्थं **तथाचे**त्यादिना गृहीत्वा विभजन्ते **अत्रैवमि**त्यादि । **तत्फलसाधकत्वस्ये**ति । श्रुत्यन्तरोक्तफलान्तरसाधकत्वस्य । उदाहरणमाहुः **यथा**

रश्मिः ।

भविष्यति । समानेपि सतीति पाठः । अग्निहोत्रादीनामग्निहोत्रत्वादिलक्षणे धर्मे समानेपीत्यर्थः । **अत इ**त्यादि । नामरूपसूत्रोक्तनामरूपधर्मविशेषपुनरुक्तिनिन्दाऽशक्त्यादीनां समाहारद्वन्द्वार्थस्योपसंहारप्रतिबन्धकस्यात्र सत्त्वात्पूर्वसूत्रेत्यादिः । यत्किञ्चिन्नामत्वादेः प्रतिबन्धकत्वस्यानङ्गीकारात् । **त्वदुक्तरीत्ये**ति । मत्स्यादिषु विरुद्धधर्मभावने प्राप्त इत्युक्तरीत्या । विरुद्धधर्मभावनस्याव्यवहितपूर्वोक्त 'तथाचे'त्यादिप्रकाशेनोक्तत्वात् । **तद्भावनप्राप्तिर्वि**रुद्धधर्माधारत्वभावनप्राप्तिः । **गुणोपे**ति । गुणोपसंहारः प्रयुज्यतेऽनेन । 'करणाधिकरणयोश्चे'ति ल्युट् । **न स्फुटमि**ति । कर्मरूपे भगवति शाख्यधिकारैर्भिन्नभिन्नाग्निहोत्रेऽग्निहोत्रत्वस्य जातिरूपस्य सत्त्वादभेदेत्र नियामकेऽनिष्ट उपसंहारः प्राप्नोति, एवं दार्ष्टान्तिके रघुवर्यस्य मत्स्यादेश्चावतारत्वेनाभेदेऽनिष्ट उपसंहारः स्यादतो न स्फुटमतोऽभेदादुपसंहार इत्यन्वयमकृत्वाऽभेदात् समानत्वेऽर्थवादवत्त्वे च नियामके च सत्युपसंहार इत्येवं स्फुटगुणोपसंहारप्रयोजकार्थम् । **सुबोधिनीमि**ति । (अतो धर्मचतुष्टययुक्तत्वेन गुणोपसंहारन्यायेन तादृशः श्रोतव्यः) । **वत्सदृश** इति । मतुपो मस्य वकारे कृते वतिसदृशो मतुर्भवति सौत्रः । मध्यमपदलोपी समासः । निरवकाशं बाहुलकं वा क्वचिदन्यदेवेति । **षष्ठीति** । विधेरर्थवादः शेष इति । 'विधिना त्वेकवाक्यत्वा'दिति जैमिनिसूत्रादिति भावः । **समुच्चय** इति । यथा 'यद्वैश्वदेवेने'-

1. तद्वत्समानमिति पाठः ।

'यद्वैश्वदेवेन यजते, प्रजा एव तद्यजमानः सृजते' इत्येका श्रुतिरस्य यागस्य प्रजाफलकत्वमाह । 'यद्वैश्वदेवेन यजते, अग्निमेव तत्संवत्सरमाप्नोति, तस्माद्वैश्वदेवेन यजमानः संवत्सरीणाꣳस्वस्तिमाशास्त इत्याशासीते'ति द्वितीया श्रुतिराह । तत्रोक्तरीतिरिति ।

भाष्यप्रकाशः ।

यदित्यादि । एते श्रुती तु तैत्तिरीयब्राह्मणप्रथमकाण्डस्थे चातुर्मास्यप्रथमपर्वभूतवैश्वदेवयागस्य फलद्वयबोधिके । तत्र प्रथमा स्फुटार्था । द्वितीयस्यां तु वैश्वदेवाख्यपर्वणः संवत्सराभिमान्यग्निप्राप्तिहेतुत्वात् तद्यागकाले तदीयसूक्तवाकमध्ये 'संवत्सरीणा'मितिमन्त्रसूक्तवाकाशीष्षु होता आशासीतेत्यर्थः । **तत्रोक्तरीतिरि**ति । एकस्य कर्मणो वाक्यद्वयेन फलद्वयश्रावणात् फलद्वयसाधकत्वस्योपसंहारः । तथाच यथा तत्र, तथा यस्यामुपासनायां फलद्वयं श्रुतम्, यथा गोपालतापनीये 'यं मां स्मृत्वा निष्कामः सकामो भवति, अगाधा गाधा भवती'त्यादि, 'यो ध्यायति सोऽमृतो भवती'ति च, तत्र 'तं यथा यथोपासते तदेव भवति तद्धैतान् भूत्वावती'ति वाजसनेयिश्रुतेस्तत्तत्फलदत्वस्योपसंहारः, तेन 'फलं वा कर्मसन्निधा'विति पूर्वतन्त्रीयाधिकरण-

रश्मिः ।

त्यादिदृष्टान्तसमुच्चये । **तथाचेत्यादिने**ति । **भाष्यार्थस्तु तद्वदि**ति । सूत्रे सप्तम्यालुक् । **तत्रेति** । तत्र अर्थवादवति चकारात्समाने । **श्रुत्यन्तरे**ति । बृहदारण्यकस्य 'तस्या आहुतेः पुरुषो भास्वरवर्णः सम्भवती'ति श्रुत्यन्तरोक्तं फलान्तरं छान्दोग्योक्तफलादन्यत् । तस्य साधकत्वं तस्य । **उदे**ति । पूर्वोक्तदृष्टान्तोप्ययम् । तदा छान्दोग्यीयपञ्चाग्निविद्यास्थायामेकस्यां 'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ती'ति फलं बृहदारण्यके तदितरस्यां 'तस्या आहुतेः पुरुषो भास्वरवर्णः सम्भवती'त्यस्यां तस्यां षष्ठाग्निसमाप्तिस्थत्वे तत्सदृश्याम् । **द्वितीये**ति । बृहदारण्यकश्रुत्युक्तभास्वरवर्णफलकामनया । **तदेवे**ति । छान्दोग्यीयदेवैर्होमकर्म कर्तव्यमित्येवमेकस्यां श्रुतावित्यादिभाष्यार्थः कर्तव्यः । **चातुर्मास्ये**ति । अस्य चत्वारि पर्वाणि, वैश्वदेव-साकमेध-वरुणप्रघास-शुनासीरसंज्ञानि । **स्फुटार्थे**ति । तत्र तत्तस्माद्यागात् । स्वीयं किञ्चिदाहुः **तथाचे**ति । 'उपसंहारोऽर्थाभेदा'दित्यत्र हेतोरुत्तरान्वयित्वेपि । **यथा तत्र** । यथा तत्रोत्तरान्वये तथा तेन प्रकारेण हेतोः पूर्वान्वयेपि यस्यामुपासनायामित्यादिः । **स्मृत्वेति** । उपासनेयम् । **वेदनमुपासनमि**ति । अत्र उपासनान्तरं वा ब्रह्मविषयकं फलविषयकं वेतिसंदेहे उपासनाप्रकरणान्तराभावात्फलविषयकं प्रतीयमानत्वादिति प्राप्ते, 'फलं वा कर्मसंनिधा'विति न्यायेन निष्कामसकामत्वे फले । तयोरनित्यत्वान्नोपासनाविषयत्वम् । नित्यानित्यसंयोगप्रसङ्गात् । असन्निधेरुपासनान्तरम् । तस्मादुपासनान्तरम् । ब्रह्मविषयकं वेति उपासनभेदे प्राप्ते । निरूपणप्रकारभेदादिबाधकचतुष्टयनिवर्तकसूत्रम् । **उपसंहार** इति । अर्थयोर्ब्रह्मनिरूपणाभेदबाधकचतुष्टयनिवृत्त्योरभेदाद्भावस्याधिकरणात्मकत्वात् उपसंहारस्तत्तत्फलदत्वस्योपासनाविषये ब्रह्मणि । एवं 'अगाधा भवती'त्यत्र आदिना गाधा भवतीतिसंगृह्य फलद्वयं ज्ञेयम् । 'यं मां स्मृत्वे'त्यन्वेति तेन पूर्ववत् । तथा 'यो ध्यायती'त्यत्र ध्यानं फलममृतं च फलद्वयम् । एतदर्थं 'यो ध्यायति रसति भजति सोऽमृतो भवति सोऽमृतो भवती'त्यत्र वाक्यद्वयत्वेन तावती श्रुतिरुपात्ता । अत्रैतद्विषयकं शाब्दवेदनमुपासनम् । अन्यत्पूर्ववत् । **तत्रे**त्यादि । वाक्यत्रये उपासनाविषये च । **तत्तत्फले**ति । 'यं मा'मित्यर्थाभेदान्निष्कामसकामत्वफलदातारं अगाधागाधाफलदातृत्वभाजं उपसंहारेणार्थयेत् । एवं विपरीतम् । तथा 'यो ध्यायती'त्यत्र यत्तदोर्नित्यसम्बन्धादेकविभक्तिकत्वाच्चाभेदे आध्यात्मिकादित्रितयवेत्तरि ध्यातरि । **अमृतत्वोप**-

यत्तु विधिशेषाणामग्निहोत्रादिधर्माणां तदेवैकमग्निहोत्रादिकर्म सर्वत्रेत्यर्थाभेदादुपसंहार इति । तन्न साधु । अग्निहोत्रादेस्तत्तच्छाखिनां स्वस्वशाखोक्तप्रकारकस्यैव करणादतिरेके प्रायश्चित्तश्रवणान्नान्यशाखोक्तधर्मोपसंहारः शक्य-

भाष्यप्रकाशः ।

सिद्धप्रयोगभेदबाधनार्थमेतत्कथनमिति मम प्रतिभाति । एवञ्चास्मिन् पक्षे "उपसंहारोऽर्थाभेदा'दिति भिन्नं वाक्यम् । तत्र च पूर्वोक्ताशङ्कानिरासाय अर्थयोरभेदोऽर्थाभेद इति विग्रहः । तथाच अर्थो ब्रह्मरूपं वस्तु, निरूपणप्रकारभेदादिरूपबाधकचतुष्टयनिवृत्तिश्च तयोरभेदमनुसन्धायेत्यर्थः । तेन वस्त्वभेदेऽप्युक्तप्रकारातिरिक्तप्रकारेण भावने पूर्वोक्तबाधकचतुष्टयापत्तेरुक्तरीत्या भावने च तन्निवृत्तेः सुखेनोक्तशङ्कानिरास इत्यर्थः । नन्वत्र परोक्तव्याख्यानं कुतो नाद्रियत इत्याकाङ्क्षायां यत्त्वित्यादिना तदनूद्य दूषयन्ति तन्न साध्वित्यादि । तथाच शिष्टाचारविरोधादिभ्यस्तन्नाद्रियत इत्यर्थः । नन्वयं दोषस्तवापि तुल्यः, प्राणादिविद्यासु पञ्चमस्य रेतसः

रश्मिः ।

संहारः सत्तानुकूलव्यापारवत्त्वस्य भवतेरर्थस्योपसंहारः । ध्यानविषयेऽमृतत्वसम्पादकत्वोपसंहारः । विपरीतं च । तेनेत्यादि । तेनेति । शाबरभाष्योक्तरीत्योदाहरणत्रयेणाभेदबाधकचतुष्टयनिवृत्त्या अभेदेनोपसंहारहेतुभूतेन सिद्धेन । 'फलं चे'त्येकसूत्रमधिकरणं द्वितीयस्य तृतीयचरणेऽस्ति । अर्थस्तु, अनारभ्य श्रूयते । 'आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपेद्रुक्कामः । अग्नीषोमीयमेकादशकपालं निर्वपेद्ब्रह्मवर्चसकामः । ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत्प्रजाकाम' इति । अत्र संदेहः, किं प्राकृतेष्वाग्नेयादिषु फलं विधीयते, उत प्राकृतेऽन्यत्, कर्मान्तराण्येतानि । किं प्राप्तम्, प्राकृतेषु फलविधिरिति । कुतः । विहिताग्नेयादयः प्रत्यभिज्ञायन्ते । तस्मात्तेषामनुवादः फलसम्बन्धार्थ इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः । फलं वा कर्मसन्निधौ । फलं च भेदककर्मसन्निधौ श्रूयमाणं कथं अनुवादे सति न शक्यते फलं विधातुम् । विधायकस्याभावात् । नह्यविधीयमानोऽभ्युपायोऽनु(वादको)भवतीति गम्यते । अपिच । रुक्कामेन विधीयमाने कामस्यानित्यत्वादाग्नेयादीनां च नित्यत्वात्सम्बन्धो नावकल्पते । एवं सर्वत्र, कस्मान्न कर्मान्तराणीति । तथाचैवं पूर्वतन्त्रीयाधिकरणसिद्धः प्रयोगस्य भेदः । तद्बाधनार्थं एतस्य सूत्रस्य कथनम् । प्रतिभातीति । सन्देहसूचकार्थेनाभेदे दोषचतुष्टयवारकोऽर्थ इति निरूपणभेदादिदोषत्रयेऽपि 'योऽन्यथासन्तमात्मान'मित्युक्तो दोषश्चतुर्थो ज्ञेयः । रसौ नामरूपादिसमाहारो भेदसाधकः, चतुष्टयमात्रं नेत्युक्तम् । पूर्वतन्त्र एकसूत्र उक्ताधिकरणेऽसन्निधिर्भेदक उक्तः । एवं चेत्यादि । विषयवाक्यस्य दोषचतुष्टयवारकस्य त्रित्वे च । पूर्वोक्तेति । पूर्वतन्त्रीयप्रयोगभेदरीत्या प्रयोगभेदशङ्कानिरासाय । अनुसन्धेति । निवृत्तिरभावोऽभावोऽधिकरणात्मेति परोक्तमभेदमाश्रयेण ब्रह्मरूपवस्तुनानुसन्धायेति । ल्यब्लोपे पञ्चमीमाश्रित्य सूत्रीयोक्तवाक्यार्थः । पक्षान्तरप्रयोजनमाहुः तेनेति । पक्षान्तरेण । श्रीरामोपनिषत्सु 'यो वै ये मत्स्यकूर्माद्यवतारा' इत्याद्युदाहरणे वस्त्वभेदेऽर्थाभेदे हेतावपि । उक्तप्रकारः सकलसूत्रभाष्योक्तप्रकारस्तदतिरिक्तप्रकारेणोपसंहारं कृत्वा भावने । पूर्वोक्तस्य अत्रैव प्रकाशोक्तस्य बाधकचतुष्टयस्यापत्तेः । चतुष्टयत्वमुक्तप्रकारेण । उक्तरीत्येति । तथाचात्र श्रीरामादिष्वित्यादिप्रकाशोक्तरीत्या भावने दोषचतुष्टयनिवृत्तेः । सुखेन उक्तायाः पूर्वतन्त्रीयप्रयोगभेदरीत्या प्रयोगभेदशङ्कायाः निरास इत्यर्थ इति प्रयोजनम् । दोषचतुष्टयनिवृत्तिप्रकारस्तु श्रीरामादिषु मत्स्यावतारत्वं मत्स्यरूपेण तत्कर्म, वैवस्वतमनो रक्षणं द्वादशस्कन्धोक्तं तत्कर्तृत्वम्, अष्टमस्कन्धे सत्यव्रतस्य तत्त्वोपदेशेन रक्षाकरणं वेदाहरणं च इत्येवमुपसंहारे न निरूपणप्रकारभेदः, नाप्यधिकारभेदः । एका-

१. प्रकारस्य ।

बन्धनः । प्राणाद्युपासनास्वधिकगुणस्येतरत्रोपसंहारे न किञ्चिद्बाधकं दृश्यते इति तत्र स कर्तुं शक्यत इति चकारेण तदादयः संगृह्यन्ते । वस्तुतस्तु पूर्वसमुच्चयार्थश्चकारः । शाखान्तरोक्तधर्मोपसंहारप्रयोजनाभावस्य 'स्वाध्यायस्य तथात्वेने'त्यत्र निरूपितत्वात् । उपसंहारबीजमनेन सूत्रेणोक्तम् ॥ ५ ॥

अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात् ॥ ६ ॥

ननूपासनासूक्तन्यायेन गुणोपसंहारो ह्युपास्यानां ब्रह्मत्वेनैक्ये सति भवति । मिथोविरुद्धानां गुणानां शान्तत्वक्रूरत्वतपोभोगादीनामुपसंहारे क्रियमाणे स्वरूपाणामन्यथात्वमब्रह्मत्वं स्यादित्यर्थः । तत्र हेतुः । शब्दादिति । एकत्वैकरसत्वादिधर्मनिरूपकश्रुतेरित्यर्थः । समाधत्ते नाविशेषादिति । एकरसत्वं यथा

भाष्यप्रकाशः ।

षष्ठस्याभेद ,भिन्नशाखीयत्वेनोपसंहारनिवृत्त्यापत्तेरित्यत आहुः प्राणादीत्यादि । तदादय इति । प्राणविद्यादयः । तथाच तत्र तदुपसंहारेऽधिकानुप्रवेशेन संख्याया अबाधे निरूपणप्रकारभेदस्याबाधकत्वात् कर्मबन्धुनातिरेके प्रायश्चित्तस्य तत्राश्रवणात् सम्बन्ध्यभेदाच्च न किञ्चिद्बाधकमिति ता विद्या अनुक्तसमुच्चायकेन चेन संगृह्यन्त इति नास्मन्मते स दोषः । वस्तुतस्त्वस्याः शङ्कायाः समाचारसूत्रविचारादेवानुदयात् पूर्वोक्तस्यार्थाभेदस्यैव समुच्चयार्थश्चकार इत्यर्थः । ननु ब्रह्माभेदस्यातीतपादे सिद्धत्वेऽप्यत्रारम्भे पुनस्तत्साधनप्रयोजनभूतस्योपसंहारस्यार्थादेव सिद्धेः प्राणादिविद्यासंग्रहस्यापि सिद्धेरेतत्सूत्रं व्यर्थमिति शङ्कायामाहुः शाखेत्यादि । उपसंहारबीजमिति । उपसंहारहेतोर्बाधकाभाववैशिष्ट्यरूपं तत्तत्फलार्थत्वरूपं च बीजम् । तथाच न वैयर्थ्यमित्यर्थः ॥ ५ ॥

अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात् ॥ ६ ॥ ज्ञानमार्गीयोपासनायां सर्वगुणोपसंहारे बाधकमाशङ्क्य परिहरतीत्याशयेनाहुः नन्वित्यादि । तथाच विरुद्धगुणोपसंहारे एकरसता-

रश्मिः ।

धिकारित्वात् । असाधारणसम्बन्धिभेदोऽपि नास्ति । शिष्टादृतत्वात् । चतुर्थः श्रुतिविरोधरूपः । सोऽपि नास्ति । आश्चर्ये रसेऽन्यथारूपत्वस्य श्रुत्यमीमांसितरूपत्वादिति । एवं कूर्मावतारेऽपि बोध्यम् । प्रकृतमनुसरन्ति स्म नन्वत्रेति । प्राणविद्येति । आदिना वाक्चक्षुःश्रोत्रमनसां विद्याः । अग्निहोत्रादेरित्यादिभाष्यसिद्धार्थमाहुः तथाचेत्यादिना । तत्रेति । छान्दोग्यीयपञ्चाग्नौ बृहदारण्यकोक्तषष्ठाग्निरूपाधिकानुप्रवेशेन संख्याया अबाधः, न तु तद्धानिरिति न्यायांशेन तस्मिन् सति । अबाधकत्वादिति । अभेदाबाधकत्वात् । संख्याबाधस्योत्तेजकस्य सत्त्वादिति भावः । सम्बन्धीति शिष्टः । स इति । विद्याभेदरूपो दोषः । वस्तुतस्त्वित्यादिभाष्यार्थो वस्तुतस्त्वित्यादिः । अस्या इति । नन्वयं दोषस्तवापीत्यादिग्रन्थेनोक्तायाः । समाचारेति । समाचारसूत्रस्य विचारो येन भाष्येण तस्मात् । पूर्वोक्तस्येति । अतीतपादोक्तस्य ब्रह्माभेदस्य हेतुपञ्चमीलुप्तस्य । ब्रह्माभेदस्येति । केनेति चेत् । न । 'कार्येण सधर्मैश्चे'ति तत्रैव स्फुटम् । अतीतेति । 'न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचना'दित्यादिसूत्रेषु । शाखेत्यादीति । उत्तरत्राप्ययं हेतुरिति भावः । उपेति । अधिकाररूपस्य । भाष्य उपसंहारशब्दो लाक्षणिक इति भावः । यद्वा । उपसंहारः स्वाध्यायसूत्र उक्तः । तत्र हेतुरर्थादभेदरूपः । 'संसारमहीरुहस्य बीजाये'त्यत्र बीजपदं हेतुरिति व्याख्यानम् । सूत्रार्थस्तु एवं चेत्यादिना योजनेत्यन्तेनोक्तः ॥ ५ ॥

अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात् ॥ ६ ॥ भाष्ये । उक्तेति । उक्तसूत्रेणो-

श्रुतिबलान्निर्णीयते, तथा विरुद्धधर्मवत्त्वमपि तत एव तथेत्यर्थः । तेन वस्त्वेव तत्ताद्दृग्मन्तव्यमिति भावः ॥ ६ ॥

न वा प्रकरणभेदात् परोवरीयस्त्वादिवत् ॥ ७ ॥

पूर्वसूत्रोक्ताशङ्कानिराकरणं वा विकल्पेन पूर्वोक्तात् प्रकारान्तरेण कर्तव्यमित्याह न वेति । तमेवाह प्रकरणभेदादिति । अत्रायं भावः । श्रुतिप्रामाण्यात् यावत्तदुक्तधर्मवद्ब्रह्मेति मन्तव्यम् । एवं सति यादृशोऽधिकारिणो यादृग्वेद्यं रूपम्, तादृशस्य तस्य तादृक् तन्निरूपयति प्रकरणभेदेन । तथाच ज्ञानप्रकरणे ज्ञानाधिकारिणो यादृग्रूपं ज्ञेयम्, तादृक् तस्मै निरूपयति 'अदृश्यमग्राह्य'मित्यादिरूपा श्रुतिः । भक्तिप्रकरणे तु भक्तेर्बहुविधत्वात् यादृग्यादृग्भक्तानां यादृग्यादृक्तदनुभवविषयः, तादृक्तादृक् तन्निरूपयति अथर्वणोपनिषदिति । अत्र दृष्टान्तमाह परोवरीयस्त्वादिवदिति । 'अस्मिन् मे लोकेऽर्धुकᳪस्या'दिति कामयत आराग्रावान्तरदीक्षा पूर्वमुक्ता । तदग्रे 'परोवरीयसीमवान्तरदीक्षामु-

भाष्यप्रकाशः ।

निवृत्त्या अपेते ब्रह्मत्वेऽर्थाभेदरूपहेतोस्ततो निवृत्तत्वादुपसंहार एव न स्यादिति भावः । समाधिं व्याचक्षते एकेत्यादि । सिद्धमाहुः तेनेत्यादि । तथाच शब्दबलकृतनिर्णयस्योभयत्रापि तुल्यत्वात् सिद्धे ब्रह्मत्वेनाभेदे 'एकोऽहं बहु स्या'मिति श्रुत्या ब्रह्मैव स्वेच्छया 'विज्ञानमेकमुरुधेव विभाती'ति न्यायेन जीवप्रज्ञापराधात् तथा भातीति ब्रह्मत्वप्राधान्येनोपासनायां नोपसंहारबाध इत्यर्थः ॥ ६ ॥

न वा प्रकरणभेदात् परोवरीयस्त्वादिवत् ॥ ७ ॥ पूर्वसूत्रे 'अन्यथात्वं शब्दा'दित्यंशेन यदाशङ्कितम्, तस्यैवास्मिन् सूत्रे प्रकारान्तरेण परिहारमाहेत्याशयेन व्याकुर्वन्ति पूर्वसूत्रेत्यादि । विकल्पेनेत्यस्यैव विवरणं पूर्वोक्तादित्यादि । तथाच अन्यथात्वं प्रकरणभेदाद्वा नेति सूत्रयोजना । हेतुं विवृण्वन्ति अत्रायमित्यादि । उपनिषदितीत्यन्तम् । तथाच ब्रह्मणि सर्वत्र सर्वगुणसत्त्वेपि न सर्वत्र सर्वं प्रकटयतीति प्रकरणभेदेन तत्तद्रूपतदीयतत्तद्गुणकथनादवगम्यते, तथा सति तत्तदधिकारिणा तत्तद्गुणा एव तत्र भावनीया इति स्वरूपाणामन्यथात्वाभावात् तस्मिंस्तस्मिन्नुपास्ये रूपे तदेकत्वतदेकरसत्वयोरनपायान्न ब्रह्मत्वम् । अत एव 'अपि संराधन'सूत्रे 'ज्ञानप्रसादेने'ति श्रुत्या ज्ञानाधिकारिणो निष्कलदर्शनम्, भक्त्यधिकारिणोऽर्जुनस्य 'अनेकबाहूदरे'ति स्मृत्या तद्दर्शनमुक्तमिति सङ्गच्छते । तस्मान्नात्र शङ्केत्यर्थः । अत्र दृष्टान्तमाहेति । एवं श्रुत्याशये विनिगमकं दृष्टान्तमाहेत्यर्थः । विषयवाक्योदाहरणेन दृष्टान्तं

रश्मिः ।

पसंहारबीजबोधकेन । मन्तव्यमिति । मननयोग्यमित्यर्थः ॥ ६ ॥

न वा प्रकरणभेदात् परोवरीयस्त्वादिवत् ॥ ७ ॥ इत्यन्तमिति । भाष्ये । बहुविधत्वादिति । ननु सगुणमार्गे 'भक्तिमार्गो बहुविध' इति वाक्यमिति चेत् । न । 'श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यत' इति वाक्याद्यदा भक्तिसाधनत्वम्, तदा सगुणभक्तिमार्गस्याप्यदुष्टत्वमिति ज्ञापनार्थत्वात् । नेति । क्रीडार्थं न प्रकटयतीत्यर्थः । अपीति । अतीतपादेस्ति

पेयात्, ᳪ: कामयेतामुष्मिन् मे लोकेऽर्धुकᳪ स्यादिति चतुरोऽग्रेऽथ त्रीनथ द्वावथैकमेषा वै परोवरीयस्यवान्तरदीक्षे'ति पठितम् । अस्य दीक्षाप्रकरणे पठितत्वात् दीक्षां विनोक्तरीत्या व्रते तु न परोवरीयस्त्वम्, एवं भक्तिप्रकरणीयानामथर्वणोपनिषदाद्युक्तरूपाणां न भक्तिरहितोपास्यत्वम् । ज्ञानसाधनत्वेन विष्णुस्मरणादावपि क्रियमाणे भक्तित्वं नेति ।

भाष्यप्रकाशः ।

विवृण्वन्ति अस्मिन्नित्यादि । इदं वाक्यं तैत्तिरीयसंहितापष्ठकाण्डद्वितीयाध्यायस्थम् । अर्थस्तु, अहीनाख्ये सोमयागे अहीनसत्रे च उपसद्दिनसंख्यां पूर्वं विधाय तेषु दिनेष्ववान्तरदीक्षाङ्गव्रतपानस्तनसंख्यां विधत्ते, तत्रावान्तरदीक्षा द्विविधा, योऽस्मिन् लोके समृद्धिशीलं फलं कामयते, तस्याराग्रावान्तरदीक्षा, सोमक्रयदिने सायमेकस्तनम्, अपरेद्युः प्रातर्द्वौ स्तनौ, सायं त्रीन् स्तनान्, परेद्युः प्रातश्चतुरः स्तनान्, एवं ... न आराग्रावान्तरदीक्षा सिध्यति । सा पूर्वमुक्ता । आरं बलीवर्दप्रतोदनलोहम्, तद्वदग्रं मुखं यस्याः सा आराग्रा । तदग्रे परोवरीयसीवाक्येऽन्या । तत्र विपरीतं व्रतम्, सोमक्रयणदिने चतुरः स्तनान् दुह्युः, अपरेद्युः प्रातस्त्रीन्, सायं द्वौ, परेद्युः प्रातरेकमित्येवं दिनत्रय इति । तेन सिद्धमाहुः अस्येत्यादि । तथाच तत्तद्भक्तिमतां तथा तथोपासनापरिपाके तत्र ब्रह्मत्वस्यानुभवान्नाब्रह्मत्वशङ्कोदयः । अभक्तशङ्कामात्रेण तु न तत्र तद्बाध इति तेषां ब्रह्मत्वं निर्विघ्नमित्यर्थः । ननु ज्ञानार्थमपि विष्णुस्मरणादेः क्रियमाणत्वात् कथं न तेषां रूपाणां भक्तिरहितोपास्यत्वमित्यत आहुः ज्ञानेत्यादि । इदं भक्तिहंसे प्रपञ्चितम्, अतो नात्र व्युत्पाद्यते ।

रश्मिः ।

सूत्रम् । विषयेति । परोवरीयस्त्वं विशेषेण सिनोति बध्नातीति विषयस्तत्प्रतिपादकवाक्यस्योदाहरणेन । तैत्तिरीयेति । क्वचिदध्यायशब्दः यथा महीधर्यां शाखाभेदेन । उपसद्दिनेति ।..........। अवान्तरेति । अवान्तरा दीक्षा तस्या अङ्गव्रते पाने स्तनानां संख्यां एकत्वद्वित्वत्रित्वचतुष्ट्वरूपां संख्याम् । समृद्धीति । अर्धुकपदार्थः । सोमेति । 'अरुणया पिङ्गाक्ष्या एकहायन्या सोमं क्रीणाति' तद्दिने । यस्या इति । दीक्षायाः । तेन दीक्षारूपदृष्टमिति ज्ञायते । अस्येत्यादीति । अस्य परोवरीयसः । परोवरीयो व्रतम्, दीक्षान्तःपातित्वात् । उक्तरीत्येति । स्तनपानोक्तरीत्या । व्रते तु नेति । यतः परोवरीयसी दीक्षेति भावः । भक्तीति । भक्तिप्रकरणं 'किं भजन'मिति प्रश्ने, 'भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रफलभोगनैराश्येनामुष्मिन्मनःकल्पनमेतदेव च नैष्कर्म्य'मिति श्रुतेः । भक्तिप्रकरणीयानां गोपालकृष्णगोविन्दानाम् । आदिना यजुराद्युक्तरूपाणाम् । अथर्वणशब्दः स्वार्थेणप्रत्ययान्तः । ह्रस्वश्छान्दसः । न भक्तीति । उपासनाशेषरूपा भक्तिः । श्रीभागवते 'यद्यनीशो धारयितु'मित्यादिनैकादशस्कन्ध एकादशेध्याये । एवमुपासनायाः विभूतिविषयकत्वं यत्तद्वारयन्ति, परिपक्वोपासनायाः मनःकल्पनरूपभक्तित्वोक्त्या । तथाचेति । भक्त्या मनोव्यापारविशेषोपासनापरिपाके मनःकल्पनरूपत्वाद्भक्तित्वमिति तत्र भक्तिविषये ब्रह्मत्वस्य पुरुषोत्तमत्वस्यानुभवाद्विषये न अब्रह्मत्वशङ्कोदयः ब्रह्मभिन्नविभूतित्वशङ्कोदयः । विषये ब्रह्मत्ववत् उपासकेपि भक्तत्वं प्राप्तमित्याशयेनाहुः अभक्तेति । तत्र तदिति । उपासनाविषयेऽब्रह्मत्वबोधः । उपासनाङ्गभक्तावुक्त्वा ज्ञानाङ्गभक्तावाहुः नन्विति । 'यथा यथात्मा परिमृज्यतेऽसौ मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः । तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं चक्षुर्यथैवाञ्जनसंप्रयुक्त'मितिवाक्याज्ज्ञानार्थमित्यादिः । तेषामिति । ज्ञानविषयाणां रूपाणाम् । ज्ञानेत्यादीति । भक्तित्वं नेति । किन्तूपासनाशे-

अथवा । पूर्वसूत्रेण सर्वरूपेषु मिथः सर्वधर्माणामुपसंहारः प्राप्तः । स चैकान्तिकभक्तानुभवविरुद्ध इत्यत्र व्यवस्थितविकल्पमाह न वेत्यादिना । सर्वेष्ववतारेषु भगवदवतारत्वेन साधारणी भक्तिर्यस्य, स सर्वत्रोपसंहारं करोतु नाम । यस्त्वेकान्ती, तस्य स्नेहोत्कर्षेणान्तःकरणमेकस्मिन्नेव रूपे पर्यवसितमिति रूपान्तरमन्तःकरणारूढं न भवत्येवेति नोपसंहारसम्भावनापीति । तदेतदुच्यते न वेत्यनेन । तत्र हेतुः । प्रकरणभेदादिति । श्रुत्यादिषु तत्तदधिकारिणमुद्दिश्य तत्तत्प्रकरणमुक्तम् । तेनात्र प्रकरणपदेन अधिकार उच्यते । एवं सत्युपासकादिभ्य उक्तरीत्योत्कृष्टाधिकारादित्यर्थः सम्पद्यते । परोवरीयस्त्वादिवदिति । परस्मात्परश्च, वराच्च वरीयानिति परोवरीयानुद्गीथः । तथाचाक्ष्यादित्यादिगतहिरण्यश्मश्रुत्वादिगुणविशिष्टोपासनाया अप्युद्गीथोपासनत्वेन साम्येपि सर्वोत्कृष्ट-

भाष्यप्रकाशः ।

अथ पूर्वसूत्रेणैवोक्ताशङ्कानिवृत्तावस्य न तथावश्यकत्वमित्यरुच्या प्रकारान्तरेण सूत्रं व्याचक्षते अथवेत्यादि । पूर्वसूत्रेणेति । उपसंहारसूत्रेण । इत्यत्र व्यवस्थितविकल्पमाहेति । इति हेतोरस्मिन् सूत्रे तथाहेत्यर्थः । व्यवस्थास्वरूपं स्फुटीकुर्वन्ति सर्वेष्वित्यादि । तदेतदिति । व्यवस्थितं विकल्पनम् । तत्र हेतुरिति । व्यवस्थायां हेतुः । नन्वस्तु व्यवस्थायामधिकारभेदस्य हेतुत्वम्, तथाप्यनुपसंहार उत्कृष्टाधिकारो हेतुरिति कथं गम्यते इत्याकाङ्क्षायां दृष्टान्तेन गम्यते इति बोधनाय दृष्टान्तमुपन्यस्य व्याकुर्वन्ति परस्मादित्यादि । छान्दोग्ये प्रथमप्रपाठके प्रवाहणेनोद्गीथकुशलतमेनोद्गीथविद्यासमाप्तावुक्तम् । 'आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्, स एष परोवरीयानुद्गीथः, स एषोऽनन्त' इति तद्विद्यायामेवाक्ष्यादित्यादिप्रतीकोपा-

रश्मिः ।

यभक्तित्वम् । पूर्वसूत्रेणेति । उपसंहारसूत्रेण । उक्ताशङ्का अर्थाभेदे रघुवर्ये शृङ्गारादिभावनाशङ्का तस्याः विरुद्धधर्माश्रयत्वमन्तरापि 'विधिशेषव'दितिदृष्टान्तबलेन निवृत्तौ । न तथेति । न मुख्यत्वेन प्रकारेण । दृष्टान्तबलेन शङ्कानिवृत्तावपि प्रकरणभेदस्य सत्त्वादिति भावः । नचाग्निहोत्रप्रकरणत्वेन भेदाभाव इति शङ्क्यम् । अस्तु, परन्तु तथावश्यकत्वं नेति । किञ्च, सौत्रादिशब्दार्थो नेत्यरुच्यापि । उपसंहारेति । अन्यथात्वसूत्रेणेति नोक्तम् । तत्र विरुद्धधर्माश्रयत्वेन शङ्कानिवर्तनात् । ननु तत्र प्रकरणप्राप्तिर्यथाकथञ्चिदिति । तेनोपसंहारसूत्रेऽर्थाभेदेप्युक्ताशङ्का दृष्टान्तबलेन निवृत्ता । अन्यथात्वसूत्रे साशङ्का विरुद्धधर्माश्रयत्वेन निवृत्ता । अत्र प्रकरणभेदेन निवृत्ता । पक्षान्तरे दृष्टान्तबलेन निवृत्तिपक्षे यथाकथञ्चित्प्रकरणभेदेन[1] निवृत्तिमाश्रित्याधिकारभेदेन शङ्का निवर्त्यत इति । पूर्वसूत्रे 'अन्यथात्वं शब्दा'दित्यंशेनेत्यादिप्रकाशस्त्वविरुद्धः । भाष्ये । ननु प्रकरणस्य उपसंहारसूत्रे 'स्वस्वशाखोक्तप्रकारकस्यैवे'त्यत्र सन्निवेशेन पुनरुक्तिरित्याशङ्क्याहुः श्रुत्यादिष्विति । उच्यत इति । हेतुतासम्बन्धरूपलक्षणयोच्यते । उद्गीथेति । इदं विशेषणमुद्गीथविद्यावक्तृत्वेन । 'शिलकः शालावत्यश्चैकितायनो दाल्भ्यः प्रवाहणो जैवलिः' । अत्रेतरे श्रोतार इति । तथाचेति भाष्यं विवृण्वन्ति स तद्विद्यायामिति । 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीतोमिति ह्युद्गायती'त्यादिनोक्तोद्गीथविद्यायाम् । अक्ष्यादित्यादीति । आदित्यश्च अक्षि च अक्ष्या-

१. भेदेन ।

त्वेनैवोद्गीथो भासत इति न हिरण्यश्मश्रुत्वादिगुणोपसंहारः परोवरीयस्त्वगुणविशिष्टोद्गीथोपासनायाम्, एवं प्रकृतेपीति ॥ ७ ॥

संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि ॥ ८ ॥

एकान्त्यनेकान्तिनोरपि श्रीरामोपासकत्वादिसंज्ञा त्वविशिष्टेत्येकान्तिनोऽप्युपसंहारो युक्त इत्याशङ्कोत्तरं तु 'न वा प्रकरणभेदा'दित्यनेनैवोक्तम् । संज्ञा

भाष्यप्रकाशः ।

सनाप्युक्ता, अतस्तत्र हिरण्यश्मश्रुत्वादिगुणसत्त्वेपि सामगतिपरंपराविश्रान्तिस्थानभूतपरोवरीयस्त्वगुणविशिष्टोपासकस्य ते गुणा नैतस्मादुत्कृष्टत्वेन भान्तीति न तदुपसंहारः, तथा तत्तदेकान्तिन उपास्ये रूपे गुणान्तरसत्त्वेपि तेषामुत्कृष्टत्वेन मानाभावान्नोपसंहार इत्यर्थः ॥ ७ ॥

संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि ॥ ८ ॥ पूर्वसूत्रेऽधिकारभेदेनोपसंहारानुपसंहारौ व्यवस्थापितौ, तां व्यवस्थामेव दृढयितुं किञ्चिदाशङ्क्य परिहरतीत्याशयेन पठित्वा व्याकुर्वन्ति एकान्तीत्यादि । उक्तमिति[2] । रूपप्राधान्यवानेकान्ती, भक्तत्वप्राधान्यवाननेकान्ती, तयोरुत्कर्ष-

रश्मिः ।

दित्यौ अक्ष्यादित्यौ आदी यस्य 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत' इति श्रुत्युक्तस्याक्षिपुरुषस्य सोऽक्ष्यादित्यादिः सप्रतीकः तस्योपासनाः । प्युक्ता इत्यत्र 'वष्टिभागुरिरल्लोप'मित्यल्लोपः । अतस्तत्रेति । उक्तत्वात् तत्र आदित्यरूपप्रतीके । आदिना हिरण्यकेशत्वसर्वसुवर्णत्वोदितिनामत्वानि । सामगतीति । 'त्रयो होद्गीथे कुशला बभूवुः शिलकः शालावत्यश्चैकितायनो दाल्भ्यः प्रवाहणो जैवलिरिति, ते होचुरुद्गीथे वै कुशलाः स्मो, हन्तोद्गीथे कथां वदाम इति । तथेति ह समुपविविशुः । स ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच, भगवन्तावग्रे वदेताम्, ब्राह्मणयोर्वदतोर्वाचं श्रोष्यामीति, स ह शिलकः शालावत्यश्चैकितायनं दाल्भ्यं उवाच, हन्त त्वा पृच्छानीति, पृच्छेति होवाच, का साम्नो गतिरिति, स्वर इति होवाच, स्वरस्य का गतिरिति, प्राण इति होवाच, प्राणस्य का गतिरिति, अन्नमिति होवाच, अन्नस्य का गतिरिति, आप इति होवाच, अपां का गतिरिति, असौ लोक इति होवाच, अमुष्य लोकस्य का गतिरिति, न स्वर्गं लोकमतिनयेदिति होवाच, स्वर्गं वयं लोकꣳ सामाभिसꣳस्थापयाम' इति सामगतिपरम्परा तस्या विश्रान्तिस्थानभूतः । 'अस्य लोकस्य का गतिरिति, आकाश इति होवाच, सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्त' इत्यादिनोक्ताकाशः । अग्रे गतिवचनाभावात् । स एव परोवरीयस्त्वविशिष्टः । 'स एष परोवरीयानुद्गीथ' इति श्रुतेः । तस्योपासकस्य । श्रुतौ शिलकः नामतः शालावत्यः शलावतोऽपत्यं छान्दसो ण्यः गर्गादिभ्यो यञ् । चैकितायनः चिकितायनस्यापत्यं छान्दसः प्रत्ययोण् क्वचिदुत्सर्गोपि विशेषस्य बाधक इतीञं बाधित्वाण्वा । दाल्भ्यो नामतः गोत्रतो वा । प्रवाहणो नामतः । जिवलस्यापत्यं जैवलिः अत इञ् । वदतां वदेतामित्यर्थः । द्विवचनस्थाने एकवचनं छान्दसम् । गतिः कारणम् । प्राणो बलम् । असौ लोकः स्वर्लोकः । न स्वर्गं लोकमतिनयेदिति । स्वर्लोकमतीत्याश्रयान्तरं न प्रापयेत् । स्वर्गमित्यादि । अतो वयमपि स्वर्लोकं प्रति साम अभिसंस्थापयामः । स्वर्गलोकप्रतिष्ठितं साम जानीम इति । त इति । हिरण्यश्मश्रुत्वादयः । एतस्मात् परोवरीयस्त्वगुणात् । तदुपेति । तेषां अनधिकारोपाधिकानुत्कृष्टत्वेन भातानां धर्माणामुपसंहारः ॥ ७ ॥

संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि ॥ ८ ॥ भाष्ये । श्रीरामोपासकत्वादिसंज्ञेति ।

१. अत्रोद्गीथ इति पाठः । २. उक्तमिति, अधिकारस्यानुपसंहारनियामकतासमर्थनादुक्तमिति श्रीहस्ताक्षरेषु पूर्वपाठः ।

तु लौकिकी, अधिकारस्त्वान्तरः। स एव बलीयानिति। संज्ञैकत्वस्य हेतोरन्वयव्यभिचारमाह अस्ति तु तदपीति। प्रमितभेदेष्वप्युपासनेषु परोवरीयस्त्वादिषु संज्ञैकत्वमुद्गीथोपासनेत्यस्तीत्यर्थः ॥ ८ ॥

भाष्यप्रकाशः।

ज्ञैकत्वेनोपसंहारप्रयोजनकहेतुचतुष्टयसिद्धौ रूपप्राधान्यकृताधिकारमात्रस्याप्रयोजकत्वात्तथेत्याशङ्कोत्तरं त्वतिप्रसङ्गवारकतयावश्यकत्वेन अधिकारस्योपसंहारनियामकतासमर्थनादुक्तम् । संज्ञैकत्वस्येत्यादि । अधिकारस्यान्तरत्वेपि प्रमाणेष्वगणनात् संज्ञातो बलीयस्त्वमित्याशङ्क्य तस्य तथात्वमाहेत्यर्थः । प्रमितभेदेष्वित्यादि । छान्दोग्ये 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीते'त्युद्गीथावयवं प्रणवं प्रस्तुत्य, तस्य रसतमत्वादिगुणोपव्याख्यानपूर्वकं 'देवासुराः संयतिर' इत्यादिना, 'अथ ह य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिर' इत्युद्गीथावयवप्रणवविषयमुपासनमुच्यते । तथा आदित्याक्षिपुरुषप्रतीककम्, तथा आकाशमुपक्रम्य परोवरीयस्त्वगुणकम् । वाजसनेयके तु 'हन्तासुरान् यज्ञ उद्गीथेनात्ययामे'ति कृत्स्नमुद्गीथं प्रस्तुत्य, 'अथ हेममासन्यं प्राणमूचुस्त्वं न उद्गाये'त्यादिना कृत्स्नोद्गीथविषयमासन्योपासनमुच्यत इति प्रकरणभेदविषयभेदाभ्यां प्रमितभेदेष्वपि तेषु सा संज्ञास्ति, उपसंहारहेतुर्विद्यावेद्ययोरभेदस्तु नास्तीति न संज्ञामात्रेणोपसंहारः

रश्मिः।

देवदत्तेतिसंज्ञा इत्यादिप्रयोगे योगे रूढौ च संज्ञाशब्ददर्शनात्समुदायशक्तिरवयवशक्तिर्वा संज्ञेति तथा । धर्माणां जात्यतिरिक्तानां स्वरूपत्वमतः संज्ञात्वमपीति । शब्देन्तर्भावेपि संज्ञाशब्द इति प्रयोगात् । **प्रकृते संज्ञात इति** । प्रमाणभूतशब्दरूपातः । **तस्येत्यादि** । अधिकारस्य बलीयस्त्वं सद्धेतुत्वेनाहुः । भाष्यार्थस्तु संज्ञास्त्वविशिष्टेत्युक्तभाष्यसिद्धस्य संज्ञैकत्वस्य हेतोः उपसंहारकर्तौ व्यवस्थाभाववान् संज्ञैकत्वादस्योक्तरामोपासके साध्याभाववद्वृत्तित्वलक्षणं व्यभिचारमाहेति । **भाष्ये** । **प्रमितेत्यादि** । प्रमिताः प्रकारा येषामुपासनानां तेषु । यत्परोवरीयस्त्वं गुणः परोवरीयस्त्वादिगुणेषु । आदिनाक्ष्यादित्यप्रतीके गता हिरण्यश्मश्रुत्वादयो गुणाः । सौत्रत्वात्परोवरीयस्त्वस्यादित्वम् । तत्र साध्याभाववति हेतुः सञ्ज्ञैकत्वं किं साध्याभाववदित्यत आहुः **उद्गीथेति** । उद्गीथोपासने उद्गीथोपासकत्वरूपे साध्याभाववतीत्यर्थः । **अत्यस्ति** अत्यन्तमस्त्यन्यापेक्षया । **अप्यस्तीति** वा पाठः । **तत्** सूत्रीयं सिद्धं संज्ञैकत्वं हेत्वाभासरूपं तु अस्त्यपि । **अपि**रुद्गीथोपासनरूपपदार्थसम्भावने । **प्रकृते** । तदेतदाहुः **छान्दोग्ये** ॐमित्यादि । **उद्गीथावयवमिति** । उद्गीथोऽष्टमो रसतमः तस्यातिशयरसस्य रसा अवयवा इति । प्रणवपदं अष्टरूपाभिप्रायेण । अन्यथाष्टमपदं निरर्थकं स्यात् । पञ्चाध्याय्या'मष्टकृष्णा भवन्ती'ति सुबोधिन्यामिति प्रतिभाति । सर्वभावेपि सारसर्वभाव इत्यपि । **तस्येत्यादि** । **तस्य** प्रणवस्य । 'तस्योपव्याख्यानमेषां भूतानां पृथिवी रस' इत्यादिश्रुतेः रसतमत्वादिगुणैरुपव्याख्यानं तत्पूर्वकम् । **अत्ययामेति** । अतिपूर्वः अय गतौ पदव्यत्ययः । **प्रमितेति** । प्रमिता भेदाः प्रकारा येषामुपासनानां तेषु । **तेष्विति** उपासनेषु । परोवरीयस्त्वादिगुणेषु च । ते च ते च ते तेष्विति विग्रहात् । तत्रापि उद्गीथोपासन उक्तरूपे साध्याभाववति एकत्वमेकवचनलभ्यं संज्ञैकत्वस्येत्यत्रेत्याशयेनाहुः **सा संज्ञेति** । एकत्वं विवक्षितम् । प्रकृत्यर्थः प्रत्ययार्थे सामानाधिकरण्यसम्बन्धेनान्वेति । 'एकं रूपं रसात्पृथ'गित्यत्रेव । संज्ञाशब्दाधिकर-

१. मर्यादा ।

भाष्यप्रकाशः।

प्रयोक्तुं शक्यते, अतो न पूर्वोक्तव्यवस्थाभङ्ग इत्यर्थः । एवमन्यथात्वसूत्रेण परोवरीयःसूत्रप्रथमवर्णकेन च वेद्यैक्यबाधकं परिहृतम्, तद्द्वितीयवर्णकेन संज्ञासूत्रेण च समाचारसूत्रोक्ता अधिकारस्योपसंहारनियमहेतुता प्रपञ्चितेति चतुःसूत्र्यां परापरविद्यासाधारण्येन तौ निर्णीतौ । एवमत्र स्वाध्यायसूत्रमारभ्य षड्भिः सूत्रैरुपसंहारप्रकारो विचारितः । तेनात्र गुणोपसंहारो विषयः । स च सर्वैः सर्वेषूपास्येषु पुरुषेषु सर्वेषां गुणानां कर्तव्यः, उत तैस्तैस्तेषु तेषु तेषां तेषामिति संशयः । तत्राद्यः पूर्वः पक्षः । मार्गभेदेन यथाधिकारं कर्तव्य इति सिद्धान्तः फलति । एवञ्चात्र सामान्यतः स्वभावरूपा गुणास्तत्तत्कार्यकर्तृत्वादयश्च यथाधिकारमुपसंहार्यत्वेनानुपसंहार्यत्वेन विचारिताः ।

अन्ये तु, एतत्त्रिसूत्र्यां छान्दोग्यवाजसनेयकोक्तयोरुद्गीथविद्ययोरभेदो भेदो वेति संशयमापाद्य, पूर्वसूत्रे अभेदं पूर्वपक्षीकृत्य, सूत्रद्वयेन प्रक्रमभेदकृतरूपभेदात् संज्ञाया लौकिकत्वाद् व्यभिचारित्वाच्च विद्याभेदं सिद्धान्तयन्ति ।

तत्तु तादृशसिद्धान्तस्य प्रथमसूत्रोक्तचोदनाद्यविशेषरूपहेत्वेकदेशभूतरूपाभावे पूर्वोक्तहेत्वभावादेव सिद्धत्वान्नात्यावश्यकमिति प्रतिभाति ॥ ८ ॥ २ ॥

रश्मिः।

णवृत्तिरेकत्वम् । संज्ञैकत्वमिति यावत् । तथाच सा संज्ञैकत्वरूपा संज्ञास्तीत्यर्थः । **हेतुत्वेनान्वये** व्यभिचारमित्यर्थेन्वयशब्दो नातिप्रयोजनोऽतो यत्रयत्र संज्ञैकत्वम्, तत्रतत्र व्यवस्थाभाववत्त्वमित्यन्वयस्य व्यभिचारः । **उपसंहारेति** । उपासनेषु नास्ति । 'उपसंहारोर्थाभेदा'दिति सूत्रोक्तः । अत उद्गीथोपासन उक्तरूपेपि नास्तीति भावः । **इतिर्हेतौ** । स न पूर्वोक्तव्यवस्थाभङ्ग इत्यनेनान्वयी । **संज्ञामात्रेण** संज्ञैकत्वेतराकरणके सति संज्ञैकत्वकरणेन । पूर्वोक्तव्यवस्थाभङ्ग उक्तस्तं निवारयन्ति स्म **न संज्ञामात्रेणेति** । संज्ञामात्रेण उपसंहार उपसंहारानुपसंहारव्यवस्था न प्रयोक्तुं शक्यते, संज्ञया उपसंहारहेतुना विद्यावेद्ययोरभेदेन तु उक्तव्यवस्था प्रयोक्तुं शक्यतेऽतः हेतुद्वयाभावात् । संज्ञामात्रेण न पूर्वोक्तव्यवस्थाभङ्ग इत्यर्थः । पूर्वोक्ता व्यवस्था एकान्तिनोऽनुपसंहारो विरुद्धधर्माणामनेकान्तिन उपसंहार इति पूर्वोक्ता व्यवस्था तस्या भङ्ग इत्यर्थः । निष्कृष्टार्थमाहुः **एवमन्यथात्वेति** । **वेद्यैक्येति** । वेद्यैकत्वे बाधकमन्नसत्त्वापादनं प्रकरणभेदश्च । **परापरेति** । परविद्याऽक्षराधिगमः तत्साधारण्येन तौ उपसंहारानुपसंहारौ वेद्यैक्यबाधकपरिहारेण निर्णीतौ । **वस्त्वेव तादृगनन्तरूप्यमिति** भाष्येण 'इदं भक्तिहंसे प्रपञ्चितमतो नात्र व्युत्पाद्यत' इति प्रकाशेन च निर्णीतौ । अपरविद्या 'ऋग्वेदो यजुर्वेद' इत्याद्युक्तर्ग्वेदादिः तत्साधारण्येन तावुपसंहारानुपसंहारौ अधिकारस्यानुपसंहारहेतुताप्रपञ्चनेन निर्णीतौ । समाचारसूत्रे स्वाध्यायपदस्य वेदवाचकत्वेनापरविद्यात्र । **आपाद्येति** । अभेदापादनं यदि संज्ञैकत्वं न स्यात्, तदा विद्यैकत्वं न स्यादिति संज्ञात इति सूत्रे भेदापादनं यदि विद्यैकत्वं स्यात्, प्रक्रमभेदो न स्यादिति अन्यपर्यालोचनेनापाद्य । प्रक्रमस्तु अन्यथा प्रक्रमन्ते वाजसनेयिनः । अन्यथा छन्दोगाः । 'त्वं न उद्गाये'ति वाजसनेयिनः । उद्गीथस्य कर्तृत्वेन प्राणमामनन्ति । छान्दोगा'स्तमुद्गीथत्वेन तमुद्गीथमुपासांचक्रिर'इति । **संज्ञाया इति** । **संज्ञातश्चेदिति** सूत्रोक्तायाः । **व्यभिचारित्वादिति** । वाजसनेयिछान्दोगोक्तः विद्यैकत्ववान्, संज्ञैकत्वात्, रामतापिनीयोक्तार्थवदित्यत्र संज्ञैकत्वस्य हेतोः प्रकरणभिन्न उपासने साध्याभाववति उद्गीथविद्येत्युभयत्राप्येका संज्ञेति हेतुसत्त्वेन व्यभिचारित्वात् ॥ ८ ॥

१. मर्यादा ।

व्यासेश्च समञ्जसम् ॥ ९ ॥

अथेदं विचार्यते । उपास्येषु रूपेषु बाल्यपौगण्डादिकमप्युच्यते । तथा सति विग्रहे न्यूनाधिकभाव आपततीनि तत्रोक्तं सच्चिदानन्दत्वमनुपपन्नं स्यात् । तेषां सदैकरूपत्वात् । प्राकृतत्वे च सर्वमसमञ्जसं स्यादिति प्राप्ते, आह व्यासेरिति । 'सर्वतः पाणिपादान्त'मित्यादिश्रुतेः साकारमेव व्यापकमिति । चकारात् 'सर्वरस' इति श्रुत्या रसात्मकत्वेन भक्तानां यादृग्रूपेण लीलारसानुभवः,

भाष्यप्रकाशः ।

व्यासेश्च समञ्जसम् ॥ ९ ॥ अतः परं पुनर्ब्रह्मगतानेवान्यान् धर्मान् अवस्थारूपान् विचारयतीत्याशयेन सूत्रमवतारयन्ति **अथेत्यादि** । **तथा सतीति** । अवस्थावत्त्वे सति । **तत्रोक्तमिति** । तेषु रूपेषु श्रुत्योक्तम् । **तेषामिति** । ब्राह्मणां सच्चिदानन्दानाम् । **सर्वमिति** । उपास्यरूपेषु साधितं ब्रह्मत्वं तेषां ब्रह्मत्वेनोपासने श्रुतिविरोधपरिहारादिकं च । इति प्राप्ते, **आहेति** । एवमवतारेष्ववस्थाविशेषदर्शनेन पूर्वसाधितस्य वैयर्थ्ये तत्परिहारमाहेत्यर्थः । व्याकुर्वन्ति **सर्वत** इत्यादि । **क्रमेणेति** । कालोपाधिक्रमेण । तथाचासामञ्जस्यं तदा स्यात्, यदि विग्रहस्य प्राकृतत्वं तस्मिन् विग्रहे न्यूनाधिकपरिमाणवत्त्वं च कालोपाधिजन्यं स्यात्, तत्तु नास्ति, किन्त्वावरणापसारण आकाशस्येव व्यापकत्वसच्चिदानन्दविग्रहस्यावरणभूताया योगमायायाः

रश्मिः ।

व्यासेश्च समञ्जसम् ॥ ९ ॥ **ब्रह्मगतानिति** । 'श्रीकृष्णो ह वै परमं दैवत'मिति श्रुतेः । 'कृष्णस्तु भगवान् स्वय'मिति स्मृतेश्च । **अथेत्यादीति** । अवतारस्यावतार्यैक्येऽप्यवतारत्वेन भिन्नप्रक्रम आनन्तर्यं वाथशब्दार्थः । **भाष्ये** । **उच्यत इति** । श्रीभागवते कृष्णस्य 'कौमारं जहतुर्व्रजे' 'ततश्च पौगण्डवयःश्रितौ व्रजे' इत्यादिभिः । गोपालतापिनीये 'ते होचुरुपासनमेतस्य परमात्मनो गोविन्दस्याखिलधारिणो ब्रूही'ति मुनिपृष्टो ब्राह्मणः 'एतस्यैव यजनेन चन्द्रध्वज' इत्याद्याह । यजनमवतारस्य तन्मूर्तेर्वा । बाल्यपौगण्डाद्यवस्थावतो मूर्तेरयुक्तत्वमित्याशयः । अवतारभजनं नन्दादेर्वीयकस्य च । कृष्णमूर्तेर्भजनं मरुताम् । 'चतुर्थी मरुतो यजन्ती'ति श्रुतेः । **श्रुत्योक्तमिति** । श्रुतिस्तु 'सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णायाक्लिष्टकारिण' इति । रामरूपे वाल्मीकिरामायणे बाल्यपौगण्डादयोऽवस्थाः । श्रुतिस्तु 'यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान्यः सच्चिदानन्दैकरसात्मा भूर्भुवःस्वस्तस्मै नमो नम' इति । तद्भजनं वृषध्वजस्य । तथाच श्रुतिः 'श्रीरामस्य मनुं काश्यां जजाप वृषभध्वजः । मन्वन्तरसहस्रैस्तु जपहोमार्चनादिभि'रिति । वामनरूपे वामनपुराणे बाल्यपौगण्डादयः । श्रुतिस्तु 'चरणं पवित्रं विततं पुराण'मिति । तद्भजनं बलेः श्रीभागवते प्रसिद्धम् । श्रीनृसिंहरूपे नृसिंहोपपुराणे नृसिंहतापिनीये 'ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं नृकेसरिविग्रह'मिति बाल्यपौगण्डाद्यवस्थाः । श्रुतिस्तु 'यो वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च ब्रह्मा तस्मै वै नमो नमः । ॐ योऽन्यश्च विष्णुस्तस्मै योऽन्यश्च महेश्वरस्तस्मै' इति । अणुविषयेऽन्या । 'सच्चिदानन्दपूर्णात्मानं परमात्मानं परमं ब्रह्म सम्भाव्याहमित्यात्मानमादाय मनसा ब्रह्मणैकीकुर्या'दिति । तद्भजनं पञ्चमस्कन्धेऽष्टादशे प्रह्लादः करोति । एवं श्रुत्योक्तमित्यर्थः । **ब्राह्मणामिति** । जीवीयव्यावृत्त्यर्थं विशेषणम् । **साधितमिति** । 'उपसंहारोऽर्थाभेदा'दित्यत्रार्थभेदरूपहेतुना साधितम् । **श्रुतीति** । 'योऽन्यथा सन्तमात्मान'मिति श्रुतिविरोधः, आदिनान्यथात्वसूत्रोक्तमब्रह्मत्वम् । **पूर्वेति** । पूर्वं उपसंहारसूत्रे साधितस्य ब्रह्मत्वस्य । **तदिति** । वैयर्थ्यपरिहारमाह **कालोपाधीति** । कालचेष्टा भगवत्क्रीडा स उपाधिर्यस्मिन् क्रमे स क्रमस्तु योगमायापसारणहेतुः । **कालोपाधीति** । यथा कालेन पच्यते सर्वं तथा

१. स्मृतेः ।

तादृग्रूपं क्रमेण योगमायापसारणेन प्रकटीकरोतीति बाल्यादिभावोपपत्तेः सर्वमुपपन्नमित्यर्थः । तेन यावदुक्तधर्मवद्ब्रह्मेति सिद्धम् ॥ ९ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

क्रमादपसारणेन भक्तानां तल्लीलारसानुभावनार्थमिच्छया कृपया तादृशपरिमाणकं तद्रूपं प्रकटीकरोतीति यथा व्यापकस्याकाशस्य वृद्धिह्रासभाक्त्वमुपपन्नम्, तथा ब्रह्मणो रूपेष्वपि सर्वं बाल्यादिभानमुपपन्नमित्यर्थः । इदमत्र भगवता व्यासेन समञ्जसपदकथनाद्वृद्धिह्राससूत्रोक्तमुभयसामञ्जस्यं स्मारयता, चकारेण 'लोकवत्तु लीलाकैवल्य'मिति च स्मारयता बोधितं ज्ञेयम् । भगवतो योगमायावरणं च गीतायां 'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः । मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्यय'मिति स्वयमेवोक्तमिति नात्र शङ्कालेशः । **सिद्धमाहुः तेनेत्यादि** । एवं व्याप्त्यादिना सामञ्जस्यसाधनेन यावदुक्तधर्मयुक्तं तत्सदृशं वा शुद्धं केवलं ब्रह्मैवेति सिद्धम् । तथाचोपास्यरूपेषु प्रतीयमानानां नित्यानामेव बाल्यपौगण्डादिधर्माणां परिमाणानां तत्तल्लीलानां चावरणतद्भङ्गजन्यप्रतीतिविषयत्वेनाविरोधमवधार्य भक्तिमार्गीयेण तेऽप्युपसंहार्या इत्यर्थः । तथाच बाल्यादिभावो विषयः । उपपद्यते, न वेति संशयः । पूर्वपक्षसिद्धान्तौ स्फुटौ ।

रामानुजानां मते इदं पूर्वस्यैव शेषः ।

शाङ्करे भास्करे च मते तु 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथ'मित्यत्र श्रूयमाणे सामानाधिकरण्येऽध्यासापवादपर्यायविशेषणपक्षाणां मध्ये को वा युक्त इति संशये, अध्यासपक्ष एकस्मिन् शब्दे लक्षणापत्त्या, द्वितीये च एकस्य निवृत्तेरदृष्टायाः कल्पनापत्त्या, तृतीयस्य चाप्रसिद्ध्या असंगतत्वं त्रयाणाम् । अतो विशेषणपक्षो युक्त इति सिद्धान्तितम् ।

तदकाण्डताण्डवं प्रतिभाति । तन्मते प्राणादीनां यथायथमब्रह्मत्वेन ब्रह्मकार्यत्वेन च तत्र ब्रह्मदृष्टिवत् प्राणादिदृष्टेरप्यध्यस्तत्वेन ओङ्कारे उद्गीथदृष्टेरपि तथात्वे विशेषाभावादिति ॥ ९ ॥

रश्मिः ।

यादृग्यादृग्रूपं कालेन स्यादित्येवं कालोपाधिजन्यम् । **उपपन्नमिति** । करकादिप्रवेशादनुपपन्नम् । **ब्रह्मण इति** । व्यापकस्य रूपेषु प्रवेशादित्यर्थः । **तत्सदृशमिति** । यावदुक्तधर्मयुक्ताकाशसदृशं वेत्यर्थः । **इदं पूर्वस्येति** । इदं सूत्रं पूर्वस्य सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणस्य । **सामानाधीति** । अक्षरोद्गीथशब्दयोः । **लक्षणेति** । प्रतिमादिषु विष्ण्वादिबुद्ध्यध्यासः, एवमिहाप्यक्षरे उद्गीथबुद्धिरध्यस्यते, उद्गीथे वाक्षरबुद्धिरिति । तत्राध्यासे तावत् या बुद्धिरितरत्राध्यस्यते तच्छब्दस्य लक्षणावृत्तित्वं प्रसज्येतेत्येवं लक्षणापत्त्या । **द्वितीय इति** । अपवादपक्षेऽपवादो नाम यत्र कस्मिंश्चिद्वस्तुनि पूर्वनिविष्टायां मिथ्याबुद्धौ निश्चितायां पश्चादुपजायमाना यथार्था बुद्धिः पूर्वनिविष्टाया मिथ्याबुद्धेर्निवर्तिका भवति । यथा दिग्भ्रान्तिबुद्धिर्दिग्याथार्थ्यबुद्ध्या निवर्तते, एवमिहाक्षरबुद्ध्योद्गीथबुद्धिर्निवर्तते, उद्गीथबुद्ध्या वाक्षरबुद्धिरिति । अत्र फलाभावः । मिथ्याज्ञाननिवृत्तिः फलमिति चेत् । न । पुरुषार्थोपयोगानवगमात् । न कदाचिदप्योङ्काराद्दोङ्कारबुद्धिर्निवर्तेत, उद्गीथाच्चोद्गीथबुद्धिरित्येवमेकस्या बुद्धेर्निवृत्तेरदृष्टायाः अदृष्टप्राप्ताया बुद्धेः कल्पनापत्त्येत्यर्थः । **तृतीयस्येति** । पर्यायपक्षस्य अक्षरोद्गीथशब्दयोरेकत्वमनतिरिक्तार्थवृत्तित्वम् । यथा द्विजोत्तमो ब्राह्मणो भूदेव इति । तदा शब्दयोरुच्चारणं न स्यात् । एकेनैव विवक्षितार्थसमर्पणात् । नच हौत्रविषये चाध्वर्यवविषयेऽक्षरे ओङ्कारशब्दवाच्ये उद्गीथप्रसिद्धिरस्ति येनानतिरिक्तार्थं न स्यादित्येवमप्रसिद्ध्या । **विशेषणेति** । व्यासेरिति सूत्रोक्तहेतोः । सर्ववेदसाधारण्यात् ।

ननु ब्रह्मधर्मत्वेन ते सर्वे नित्या वाच्याः, ते च तत्तद्भक्तविशिष्टाः, तत्र चैकस्यैव भक्तस्य पौर्वापर्येणानेकलीलासम्बन्धित्वं श्रूयते, तथा च पूर्वलीलाया नित्यत्वेन तत्सम्बन्धिभक्तस्यापि तथात्वं वाच्यम्, एवं सति तस्यैवाग्रिमलीलासम्बन्धोऽशक्यवचनः, तथा वचने तु पूर्वलीलाया नित्यत्वं भज्येत, नित्यत्वे त्वग्रिमलीलासम्बन्धिनो भिन्नत्वं स्यात्, तच्चानुभवतदावेदकमानविरुद्धमित्यत उत्तरं पठति ।

सर्वाभेदादन्यत्रेमे ॥ १० ॥

लीलामध्यपातिनां सर्वेषां पदार्थानां ब्रह्मणा सहाभेदात् ब्रह्मणश्चैकत्वात्

भाष्यप्रकाशः ।

अग्रिमग्रन्थमवतारयन्ति नन्वित्यादि । 'अनुच्छित्तिधर्मे'तिश्रुत्या ब्रह्मधर्माणामनुच्छेदश्रावणाद्ब्रह्मधर्मत्वेन ते सर्वे बाल्यादयो नित्या ध्वंसाप्रतियोगिनो वाच्याः, ते च लीलानां तत्तद्भक्तानुभावनार्थत्वात्तत्क्रीडोपयोगिभक्तविशिष्टाः, तत्र कृष्णोपनिषद्येकस्यैव भक्तस्य पौर्वापर्येणानेकलीलासम्बन्धित्वं 'यो नन्दः परमानन्दो यशोदा मुक्तिगेहिनी'त्यादिना श्रीनन्दादिवृन्दापर्यन्तानां स्वरूपकथनानन्तरं 'सोऽवतीर्णो महीतले, वने वृन्दावने क्रीडन् गोपगोपीसुरैः सहे'ति तैः सह क्रीडाकथनाच्छ्रूयते, लीलासम्बन्धित्वे चोक्तरीत्या भक्तस्यापि नित्यत्वं वाच्यम्, एवं पूर्वलीलातत्सम्बन्धिभक्तयोर्नित्यत्वेन पूर्वलीलावैशिष्ट्यस्यापि नित्यत्वे सति तस्यैवाग्रिमलीलासम्बन्धोऽशक्यवचनः । तस्यैवाग्रिमलीलासम्बन्धवचने त्वेकस्य युगपद्विरुद्धलीलाद्वयानुभवस्याशक्यवचनतयाग्रिमानुरोधे पूर्वलीलानित्यत्वं भज्येत, पूर्वनित्यत्वे चैकस्य युगपदनेकलीलासम्बन्धस्याशक्यवचनतया अग्रिमलीलासम्बन्धिनो भक्तस्य पूर्वलीलानुभवकर्तुः सकाशाद्भिन्नत्वं स्यात्, तच्च भिन्नत्वं लीलास्थानुभवविरुद्धम्, लीलानुभवितृभक्तैक्यावेदकप्रमाणभूता या कृष्णोपनिषत्स्थश्रुतिस्तद्विरुद्धं चेति लीलानित्यत्वे भक्तभेदप्रसङ्गादुक्तश्रुतिविरोधः, भक्ताभेदे च लीलानित्यत्वभङ्गादनुच्छित्तिधर्मश्रुतिविरोध इत्युभयतःपाशा रज्जुरित्याशङ्कायामुपसंहारदौर्बल्ये प्राप्ते तन्निवृत्त्यर्थमुत्तरं सूत्रं पठतीत्यर्थः ।

सर्वाभेदादन्यत्रेमे ॥ १० ॥ व्याकुर्वन्ति लीलेत्यादि । ब्रह्मणा सहाभेदादिति । 'तस्मान्न भिन्ना एतास्तु आभिर्भिन्नो न वै प्रभुः । भूमावुत्तारितं सर्वं वैकुण्ठं स्वर्गवासिन'मिति

रश्मिः ।

सर्ववेद्व्याप्यक्षरमिह मा प्रसञ्जीत्यत उद्गीथशब्देनाक्षरं विशेष्यते । अकाण्डेति । काण्डं रहः तद्भिन्नं ताण्डवं व्यापारविशेषः । विशेषेति । अध्यस्तत्वपक्षे विशेषणपक्षे च तथा ॥ ९ ॥

अनुच्छित्तीति । न उच्छित्तिर्येषां धर्माणां तेऽनुच्छित्तयः अनुच्छित्तयो धर्मा यस्येति विग्रहात् तथा । तथा चेति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म लीलासम्बन्धित्व इति । एवं सतीति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म एवं पूर्वेति । तथा वचन इति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म तस्यैवेत्यादि । विरुद्धेति । अधिकारियोग्यायोग्यत्वाभ्यां विरुद्धा लीलास्तासां द्वयं तस्यानुभवस्तस्येत्यर्थः । नित्यत्व इति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म पूर्वेत्यादि । तच्चेत्यादिभाष्यं विवण्वन्ति स्म तच्चेत्यादि । लीलास्थेति । भक्त्युपमर्ददशायामक्षरे लीनतयाऽभेदमनुभवितॄणां लीलास्थानामनुभवविरुद्धम् । कृष्णोपेति । सा पूर्वोक्ता । उक्तेति । साप्येषा ।

सर्वाभेदादन्यत्रेमे ॥ १० ॥ तस्मादिति । एता भक्ताः । तत्र श्रीराधाजित्स्वरूपम् ।

१. धर्मित्वेन ।

पूर्वलीलातोऽन्यत्रोत्तरलीलायामपीमे पूर्वलीलासम्बन्धिन एव त इत्यर्थः ।

अत्रेदमाकूतम् । 'रसो वै स' इति श्रुत्या 'सर्वरस' इति श्रुत्या च सर्वरसात्म-

भाष्यप्रकाशः ।

कृष्णोपनिषच्छ्रुतौ सर्वासां ब्रह्माभेदश्रावणेन तन्न्यायेनान्येषामपि पदार्थानां तथात्वात् । नन्वस्तु भक्तानां ब्रह्माभेदः, तथापि पूर्वोक्ताशङ्कायाः कथं निवृत्तिरित्याकाङ्क्षायामभेदस्वरूपं व्याकुर्वन्ति अत्रेदमित्यादि । प्रकाशाश्रयाधिकरणे स्वरूपधर्माणां ब्रह्माभेदस्तादात्म्यरूपो भेदविरुद्धसम्पन्निर्णीतः, तत्र परिच्छिन्नकार्यकर्तृत्वस्य भेदनिर्णायकत्वेन सच्चिदानन्दरूपत्वस्य चाभेदनिर्णायकत्वेन भेदात्यन्ताभावरूपस्याभेदस्याभावात् । तस्यां च सम्पदि स्वाश्रयाविनाभूतत्वं प्रविष्टमिति ब्रह्माविनाभूता ब्रह्मात्मकाः सच्चिदानन्दरूपाः स्वरूपधर्मा इति सिद्धम् । 'असद्वा इदमग्र आसीत्, ततो वै सदजायत, तदात्मान१ स्वयमकुरुत, तस्मात् तत् सुकृतमुच्यत इति, यद्वैतत् सुकृतम्, रसो वै स' इति श्रुतौ च 'सोऽकामयते'त्यादिना पूर्वानुवाके उक्ता या सृष्टिस्ता 'असद्वे'त्यादिना असाधुत्वेन प्रदर्श्य, 'ततो वै सदजायते'त्यनेन विवक्षितस्य प्रकटितस्य साधुत्वमुक्त्वा, तत्र हेत्वाकाङ्क्षायां 'तदात्मान'मित्यादिना ततो विशेषमाह । तत्र हि 'प्रजायेये'ति द्वितीयाकारानुषङ्गीचभावः, अत्र तु स्वयमेव परिणत इत्ययं परिणामः सुकृतरूप इति । ननु तत्रापि 'बहु स्या'मिति पूर्वाकारात् स्वस्यैव परिणामे कथमस्यैव सुकृतत्वम्, न तस्येत्याकाङ्क्षायामेतस्य सुकृतत्वहेतुमाह 'यद्वै तत् सुकृतम्, रसो वै स' इति । वैशब्द उक्तशङ्कानिवृत्त्यर्थः । एवकारार्थो वा । तथा च यदेतत्सुकृतं स वै निश्चयेन रसः सर्वसारभूत आनन्दः । तदेवाग्रे परिचाययति 'रस१

रश्मिः ।

श्रीयमुनाजित् तुरीयं तत्त्वम् । श्रुतिरूपाः आत्मत्वेन प्रतिपादकत्वेन च । ऋषिरूपाः सायुज्यमुक्त्येति चतुर्यूथविभागः । अक्षरविषय आहुः भूमाविति । वैकुण्ठं सच्चिदानन्दात्मकम् । भक्तानामिति । पूर्वोक्तयूथचतुष्टयवदक्षरस्यापि क्रीडायां भक्तत्वमिति । अक्षरानन्दो लक्ष्मीः । भक्तत्वेन सर्वोपादानम् । भक्तिमार्ग इति । ब्रह्माभेदः कार्यकारणवस्त्वैक्यमर्यादेन । पूर्वोक्तेति । आभासोक्ताशङ्कायाः । प्रकाशेति । गतपादे इदमधिकरणम् । भेदविरुद्धेति । तेनाभेद इत्यत्र विरोधे नञर्थ उक्तः । भल्योर्भजन्तोऽभेदशब्दः । भेदविरुद्धेत्यत्र भेदो विरुध्यते यया कर्म्या । कर्मणि क्तः । नश्यत इति नश् कर्मणि क्तोऽन्वयार्थः । तेन योगरूढः शब्दः । भेदविरुद्धा संपत् तादात्म्यमर्थः । स्वाश्रयेति । तादात्म्यरूपं रूढ्या प्रविष्टम् । ब्रह्मात्मका इति । अभेदो ब्रह्मणा भेदविरुद्धसम्पद्रूप इति ब्रह्मात्मकाः । असाधुत्वेनेति । असच्छब्दं समाकर्षाधिकरणोक्तरीत्या स्वार्थाप्रत्याख्यासाधुजन्यां तामसाधुत्वेन प्रदर्श्य । तत इति । असाधुसृष्टेः । तत्रेति । असाधुसृष्टौ । द्वितीयेति । 'बहु स्या'मितीच्छाकाराद्द्वितीयाकारात् । उक्तेति प्रशब्दार्थः । तत्रापीति । असाधुसृष्टौ । भाष्यस्थां श्रुतिं व्याकुर्वन्ति स्म वैशब्द इति । 'रस शब्दे', 'रस आस्वादने' तयोरास्वादनार्थस्याग्रिमग्रन्थानुरोधाद्ग्रहणम् । तदाहुः सर्वसारेति । 'सर्वरस' इति द्वयमुक्तम् । द्वयं समुदितं दशरसरूपम् । रसो जलं 'ऊर्जे त्वे'त्युक्तम् । 'पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः' । रसः शुक्रम्, तदात्मकत्वेनेत्यर्थः । तदुक्तं 'रसो गन्धरसे स्वादे तिक्तादौ रसरागयोः । शृङ्गारादौ द्रवे वीर्ये देहधात्वम्बुपारदे' इति । रसः सारः । यथा छान्दोग्ये 'एषां भूतानां पृथिवी रसः । पृथिव्या आपो रसोऽपामोषधयो रस ओषधीनां पुरुषो

१. लीलायाः समीपे । २. सर्वेषाम् ।

कत्वं ब्रह्मणो निर्णीतम् । तथाच यस्य रसस्य ये विभावानुभावादिरूपाः, तैः स रसः सम्पद्यते । आतानवितानात्मकतन्तुभिः पट इव । अतस्तत्तादात्म्यं रसस्येति सर्वाभेदो निष्प्रत्यूह इति ।

ननु विरुद्धदिक्कयोरेकजातीयभाववतोर्भक्तयतिशयेन युगपदेकजातीयलीलासहितभगवत्प्रादुर्भावे भगवतो व्यापकत्वेनैवं प्रादुर्भावस्योपपन्नत्वेपि लीलापदार्थानामव्यापकत्वाद्युगपदाविर्भावोऽनुपपन्नः । भक्तयोः समानत्वाद्भक्तिमार्ग-

भाष्यप्रकाशः ।

देवाय'मित्यारभ्यानुवाकसमाप्तिपर्यन्तम् । तथाच पूर्वसृष्टौ सच्चितोरेव प्राधान्यम्, नानन्दस्य, इह त्वानन्द एव तद्रूप इति तस्याः सकाशादस्मिन्यं विशेष इत्यर्थः सिद्धः । एवं 'सर्वरस' इति श्रुतौ च सर्वरसात्मकत्वेन । तेनैताभ्यां ब्रह्मणो रसात्मकत्वं निर्णीतम् । तेन यत् सिद्धं तदाहुः तथाचेत्यादि । विभावानुभावरूपा इति । आलम्बनविभावरूपा भक्ताः, उद्दीपनविभावरूपा ऋत्वादयः, अनुभावाः कटाक्षवेणुवादनादयः, तेषां सर्वेषामेवं तादात्म्यरूपे अभेदे निर्विघ्ने लीलास्थानां भक्तानां ब्रह्मात्मकत्वेन नित्यत्वात् पूर्वोत्तरलीलासम्बन्धित्वं निर्विघ्नम्, लीलानां च ब्रह्मधर्मत्वान्नित्यत्वम्, एवं सर्वेषां नित्यत्वे युगपत्सर्वलीलानुभव आपतति, स च 'अङ्गसङ्गं करिष्यामी'त्यादिश्रौतप्रयोगान्यथानुपपत्त्यवगतभगवदिच्छामहिम्ना तत्सामर्थ्यमहिम्ना च निवारणीयः, न तु भक्तानुभवादेरनित्यत्वं स्वयं कल्पनीयम्, ब्रह्मणो मनोवागगोचरत्वस्यानिरुक्तादिश्रुतिसिद्धत्वात् । इदमत्र बोधसौकर्यार्थमुक्तम् । उत्पत्तिपक्षस्याप्येकदेशत्वेनादरणात् । वस्तुतस्तु यथा लीला सम्पद्यते, तत्प्रकारकं सर्वं ब्रह्मैव । तथैव लीलापि । 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूपं विश्वं पुराणं तमसः परस्ता'दिति श्रुतेः । 'यथा सुवर्णं सुकृतं पुरस्तात् पश्चाच्च सर्वस्य हिरण्मयस्य । तदेव मध्ये व्यवहार्यमाणं नानापदेशैरहमस्य तद्व'दित्येकादशे भगवद्वाक्याच्च उपपत्तिपक्षस्यैव मुख्यत्वात् । तच्च प्रागेवोपपादितमिति न किञ्चिदनुपपन्नमित्यर्थः । अत्रैव किञ्चिदाशङ्क्य परिहरन्ति नन्वित्यादि । सामञ्जस्यादित्यन्तम् । प्रादुर्भाव इति । विचार्यमाण इति शेषः ।

रश्मिः ।

रसः पुरुषस्य वाग्रसो वाच ऋग्रसः ऋचः सामरसः साम्न उद्गीथो रसः स एष रसाना५ रसतमः परमः परार्ध्योऽष्टमोयदुद्गीथ' इति । तेनेत्यादि । सर्वरसत्वेन यत् उपष्टब्धं दशरसरूपं सिद्धम् । यत्तु 'सर्वरसः स्मृतो वाद्यभाण्डभेदेऽवधूलक' इति विश्वः । तत्तु लौकिकरूढिमात्रात् । सिद्धान्ते योगयोगरूढिमात्रसत्त्वात् । 'महानामग्नि'रिति वाक्योपष्टब्धो दशविधरसस्तदात्मात्मा । सर्वेषु रसेषु । वस्तुतस्तु दशविधरसातिरिक्तं न जगत्, किं तरामन्ये रसा इत्याशयेन व्याकुर्वन्ति स्म ये त्रिभावेत्यादिना । अत्र स्वगतपरगतरसः पुष्टिमार्गे भक्तिसंवलितो भगवान्फलमिति अधोक्षजस्यालम्बनत्वेपि भक्ता आलम्बनविभावरूपत्वेनोक्ताः । तस्याविषयत्वात् । उद्दीपनेति । कारणरूपाः । ऋत्वादयः समानाः । आदिना चेष्टा देशश्च । अनुभावाः कार्यरूपाः । कटाक्षेति । आदिना युगलगीतोक्ता हारहासादयः । अङ्गसङ्गमिति । भविष्यत्प्रयोगोत्र । भाष्ये । निःप्रत्यूह इति । 'आविर्भावतिरोभावौ शक्ती वै मुरवैरिण' इति वाक्यं ब्रह्मस्वरूपनिविष्ट इवार्थाभेदेपि द्रष्टव्यम् । 'अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थित'मिति गीतावाक्यात् । विरुद्धदिक्कयोरिति । प्राचीप्रतीचीदक्षिणोत्तरा विरुद्धा दिक् सहानवस्थानात् ।

१. विभावानुभावरूपा इति प्रकाशपाठः ।

विरोधापाताद्विनिगमकाभावाच्चैकत्र मायया प्रदर्शयतीति च न वक्तुं युक्तमिति शङ्काप्येताभ्यां सूत्राभ्यां निरस्तेति ज्ञेयम् । ब्रह्मणो व्यापकत्वाल्लीलायाश्च तेन सहाभेदात्तथात्वादेकस्मै भक्ताय यथा ब्रह्मणा सह लीलापदार्था आविर्भवन्ति, तथैव तदैवान्यत्रापि भक्तसमानदेश आविर्भवन्तीति सर्वसामञ्जस्यात् ॥ १० ॥

ननु व्यापकत्ववत् पूर्णानन्दैश्वर्यवीर्यादयोपि धर्मास्तेषु प्रतीता भवेयुः, नचैवमस्ति, दुःखसम्भावनायां प्रभुमेव प्रार्थयन्ति यतः, एवं सति व्यापकत्वमपि न वक्तुं शक्यम्, तुल्यत्वात्, अत उत्तरं पठति ।

भाष्यप्रकाशः ।

इति शङ्केति । लीलासम्बन्धिपदार्थाव्यापकत्वकृता शङ्का । तथात्वादिति । व्यापकत्वात् । तथाच तेपि व्यापका एव । परिच्छिन्नत्वप्रतीतिस्तु तेन तेन प्रकारेण ततस्ततो मायापसारणाद्विरुद्धधर्माश्रयत्वस्य साधितत्वाच्चेति न किमप्यनुपपन्नमित्यर्थः । तेन स्वरूपप्रधानस्य भक्तिमार्गीयस्य तत्तल्लीलासम्बन्धिनां भक्तादयो गुणाः सर्वेऽप्युपसंहरणीया इति बोधितम् ।

अन्ये त्वत्र छान्दोग्यवाजसनेयिकौषीतकिनां ज्यैष्ठ्यश्रैष्ठ्यादिगुणका प्राणविद्यैका, भिन्ना वेति संशये, भिन्नेत्याशङ्क्य, छान्दोग्यवाजसनेयिनोर्गुणाधिक्येपि रूपाभेदाद्विद्यैक्ये कौषीतकिनामपि वशिष्ठत्वादिगुणोपसंहारं सिद्धान्तयन्ति ।

तदसन्मते समाचारसूत्रे निरूपणप्रकारभेदस्य प्रायश्चित्ताद्यनुमापकत्वे उपसंहारानुगुण्यस्थापनादुपसंहारसूत्रेऽर्थाभेदकथनाच्च सिध्यतीत्युपेक्षितं बोध्यम् ॥ १० ॥

रश्मिः ।

विरुद्धा दिक् ययोर्भक्तयोः । भक्तिमार्गेति । भगवति मायाङ्गीकारो न भक्तिमार्गे । 'प्रवर्तते यत्र रजस्तमस्तयोः सत्त्वं च मिश्रं न च कालविक्रम' इति द्वितीयस्कन्धनवमाध्यायवाक्यात्, मायाङ्गीकारे भक्तिमार्गविरोधापातात् उभयोरन्यतरस्य मायया प्रदर्शने विनिगमकस्य प्रमाणस्याभावाच्चैकत्र माययेत्यादि । ब्रह्मणो व्यापकत्वादिति । सूत्राभ्यामित्युक्तम् । तत्र प्रथमसूत्रीयो निरासप्रकारः । अभेदादिति द्वितीयसूत्रीयो निरासप्रकारः । प्रकृते '[१]न तेनेति । देशत्वेन कालत्वेन । उपलक्षणमेतत् । ततस्तत इति । आश्रयात् । भाष्ये । आविरिति । देशे इति योजनीयम् । आधुनिकभक्ते तु देशेन सहाविर्भवन्तीति ज्ञेयम् । 'अक्षरात्मकत्वे हृदयस्य जात' इति 'लीला च हृदये सदे'तिवाक्याभ्याम् । सर्वेति । सर्वशब्दान्नित्यलीलावादसुवर्णसूत्रोक्ता अष्टाविंशतिदोषास्तत्परिहाराश्च मत्कृतभक्तिमार्तण्डफलप्रकरणे योजिता अत्र ज्ञेयाः । 'अनागत'मिति वाक्यात् । प्रकृते । ज्यैष्ठ्येति । 'यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवति प्राणो वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्चे'त्येवं ज्यैष्ठ्यश्रैष्ठ्यादिगुणका प्राणविद्या । गुणेति । वशिष्ठत्वादिगुणाधिक्ये । वशिष्ठत्वादीति । वाजसनेयकानां 'यो ह वै वशिष्ठं वेद वशिष्ठः स्वानां भवति'इति श्रुतिरत्र । आदिना 'यो ह वै प्रतिष्ठां वेद प्रतितिष्ठति स मे प्रतितिष्ठति दुर्गे चक्षुर्वै प्रतिष्ठा । यो ह वै सम्पदं वेद स५स्मै पद्यते यं कामं कामयते श्रोत्रं वै सम्प'दिति । एवं वशिष्ठत्वादिगुणोपसंहारम् ॥ १० ॥

नन्वित्यादीति । तेषु भक्तेषु । प्रार्थयन्तीति । यथा श्रीगोवर्धनप्रसङ्गे आसारपीडिताः प्रार्थयन्ति स्म ।

१. नेति नास्ति ।

आनन्दादयः प्रधानस्य ॥ ११ ॥

पूर्णानन्दैश्वर्यादयः प्रधानस्य धर्मिणो ब्रह्मण एव धर्माः । लीलापदार्थास्तु ब्रह्मधर्मत्वेन व्यापका उच्यन्ते । व्यापकस्य धर्मिणोऽनागन्तुकधर्मस्य व्यापकत्वनियमात् । न हि धर्मेषु पूर्णानन्दत्वादयः सम्भवन्ति । धर्मित्वापत्त्या धर्मत्वव्याहतेः । अत एवात्र प्रधानपदमुपात्तम्, गुणभावेन लीलापदार्थानामाविर्भाव इति ज्ञापयितुम् ॥ ११ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

आनन्दादयः प्रधानस्य ॥ ११ ॥ अग्रिमसूत्रमवतारयन्ति नन्वित्यादि । व्याकुर्वन्ति पूर्णेत्यादि । व्यापकत्वनियमादिति । अयं नियम आकाशपरिमाण आत्मचेतनायां च स्फुटः । नच पूर्णानन्दैश्वर्याद्यभावे तेषु ब्रह्मत्वस्यौपचारिकत्वापत्तिरिति शङ्क्यम् । तत्र तदनाविर्भावेनैवोपपत्तेः । नच तत्र को हेतुरिति शङ्क्यम् , लीलेच्छाया एव तथात्वात् । नच तर्हि विशेषतो निर्वाच्यमिति वाच्यम् । विदिताविदितान्यत्वानिरुक्तत्वादिश्रुतिभिरेव तन्निवारणात् । ननु तथापि संशयो न निवर्तते इति चेत्, न निवर्ततां नाम, तथापि 'भिद्यते हृदयग्रन्थि'रिति श्रुतेर्भगवद्दर्शनानन्तरमेव तन्निवृत्तेरिति यथाश्रुतमिति मन्तव्यमिति दिक् । स्वव्याख्यातसार्थस्य व्यासाशयगोचरत्वायाहुः अत एवेत्यादि । एतेन तेषु स्वरूपानन्दांशभूतजैवानन्दसत्त्वेपि भगवद्दानेन तद्धर्मांशभूतानां भजनानन्दैश्वर्यादीनां तेषु प्राकट्येपि न गुणभावनिवृत्तिरित्यपि ज्ञापितम् । अयमेवार्थः पुष्टिप्रवाहमर्यादायां 'स्वरूपेणावतारेणे'त्यादिकारिकासूक्त इति बोध्यम् । तेन भगवदसाधारणनिरङ्कुशजगत्कर्तृत्वादयः सर्वेशित्वादयश्च भक्तेषु नोपसंहर्तव्या इति बोधितम् । एवं त्रिसूत्र्या भक्तिप्रकरणीया भगवद्धर्मा विचारिताः ॥ ११ ॥

रश्मिः ।

आनन्दादयः प्रधानस्य ॥ ११ ॥ पूर्णेत्यादीति । धर्मिण इति । प्रधानादिशब्दाः परवाचकाः । प्रस्थ.नरत्नाकरे व्युत्पादितम् । अतो न योगरूढ्या त्रिगुणवाचकत्वम् । आकाशेति । आकाशो व्यापकः । अनागन्तुको धर्मः परममहत्परिमाणम् । एवं आत्मा व्यापकः । चेतनानागन्तुको धर्मः । 'सोऽश्नुत' इति श्रुतौ भक्तप्राधान्यमुक्तं तत्समाधानायाहुः एतेनेति । तेष्विति । भक्तेषु । स्वरूपेति । 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ती'ति श्रुतेः । जैवानन्दे सर्वात्मभावोपि निविष्ट इति तमनुसन्धायाहुः भगवद्दानेनेति । तद्धर्मेति । स्वानन्दधर्मांशभूतानाम् । सर्वात्मभावव्यापारकेण भगवद्दानेन प्रकटानां भजनानन्दैश्वर्यवीर्यादीनां तेषु प्राकट्येपि 'युक्तं भगैः स्वैरितरत्र चाध्रुवै'रिति वाक्यात्प्राकट्यम् । अपिशब्दात् 'सोऽश्नुत' इत्युक्तस्वातन्त्र्ये स्वाभाविकगौणभावनिवृत्तिर्नेत्यर्थः । प्रयुक्तीति । भक्तिमार्गस्य स्वप्राप्त्यर्थं कृतत्वात्तदैश्वर्यपरिहाराय प्रकटितेषु बाल्यपौगण्डादिषु नवधाभक्तिसुपयोगिषु तिरोहितेषु च विश्वरूपप्रदर्शनाध्यायोक्तधर्मेषु । पूर्वसूत्रे सच्चिदानन्दत्वं समर्थितम् । द्वितीयसूत्रे लीलापदार्थानां व्यापकत्वसमर्थनेन 'नैश्चिन्त्यं वाचि पूर्वव'दिति सुबोधिनीकारिकाया माहात्म्यज्ञानप्राकट्यात्तृतीयसूत्रे लीलानां गौणभावेनाविर्भाव इति भक्तिप्रकरणीया इत्यर्थः । प्रकरणं तामसम् । तथापि प्रमाणप्रकरणे टिप्पण्यां 'रक्षां चक्रुः सशकृते'त्यस्य सुबोधिन्याः ॥ ११ ॥

प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे ॥ १२ ॥

ननूपासकस्य प्रियत्वादिप्रकारकज्ञानक्रममादाय प्रियत्वादिधर्माणां शिरस्त्वादिरूपत्वमानन्दमयाधिकरणे निरूपितमिति लीलास्थानामपि प्रियत्वादिज्ञानस्य सत्त्वादत्रापि स्वरूपोपासकस्य प्रियशिरस्त्वादिधर्माणामुपसंहारः कार्य इत्याशङ्क्य परिहरति प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरिति । चित्तशुद्धितारतम्यहेतुकं प्रियत्वादिज्ञानं लीलास्थानां चित्तशुद्ध्यपेक्षाऽभावाच्च सम्भवतीति न तेषामत्रोपसंहारः कार्य इत्यर्थः ।

भाष्यप्रकाशः ।

प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे ॥ १२ ॥ आनन्दमयविद्यायामानन्दादयो धर्मा ब्रह्मासाधारणा इति सिद्धम्, तत्प्रसङ्गेन तद्विशेषणानि विचारयतीत्याशयेन सूत्रमवतारयन्ति ननूपासकस्येत्यादि । उक्तत्रिसूत्र्यां साकारत्वव्यापकत्वादयो भक्तसाधारणाः, पूर्णानन्दैश्वर्यादयस्तु भगवदसाधारणा इति भगवद्धर्मरूपेषु भक्तेषु न त इति स्थितम् । तथा सत्यानन्दादय इव प्रियशिरस्त्वादयोपि तत्र पठितत्वात् तदसाधारणा इति प्रियादीनां शिरस्त्वादिरूपत्वमानन्दमयाधिकरणे अन्नमयादिषूपासनाकथनेनोपासकस्य ज्ञानक्रममादाय निरूपितम् । तेन लीलास्थानां भगवति प्रियत्वादिज्ञानस्य सत्त्वात्, भक्तिमार्गीयोपासने तेषां[1] पुरुषविधत्वभानेऽप्यसाधारणत्वात् प्रियत्वादिषु शिरस्त्वादिके अधिके श्रौतत्वाद्भाविते दोषाभावात् तेषामुपसंहारः कार्य इत्याशङ्क्य परिहरतीत्यर्थः । सूत्रं तात्पर्यकथनमुखेन व्याकुर्वन्ति चित्तशुद्धीत्यादि । अत्र प्रधानस्येतिपदं पूर्वसूत्रादनुवर्तते । तथा च चित्तशुद्धितारतम्येन भासमाने प्रधानस्य भेदे, हि यस्माद्धेतोः, उपचयापचयौ प्रमोदमोदरूपावानन्दोपचयापचयावुपासकस्य भासेते, लीलास्थानां तु ब्रह्मतादात्म्यस्य पूर्वाधिकरण उक्तत्वात् तादृशां चित्ते तारतम्यभानस्य कुत्राप्यनुक्तत्वात्तदभावेन भगवति तदवयवेषु च यत् प्रियत्वादिज्ञानम्, तन्निरुपधिस्नेहहेतुकम् । न चित्तशुद्धितारतम्यहेतुकम् । अत उपासकज्ञानक्रममादाय श्रुतौ निरूपितानां प्रियशिरस्त्वादीनामप्राप्तिः, प्राप्तिरेव न सम्भवतीति भक्तिमार्गे तदनुसारिणा स्वरूपोपासकेन तेषामुपसंहारो न कार्य इत्यर्थः ।

रश्मिः ।

प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे ॥ १२ ॥ भक्तेति । भक्तेष्वपीति भक्तसाधारणाः । भगवदिति । भक्तेष्वदानदशायामसत्त्वादसाधारणाः । सांकर्याभावायोक्तम् । तदसाधारणा भगवदसाधारणाः । प्रियत्वादीति । भाष्ये प्रियत्वादिप्रकारकज्ञानस्येत्यत्र ज्ञाने प्रियत्वादेः प्रकारस्य प्रियद्वारकत्वेन साक्षाज्ज्ञानं प्रियत्वादेरुक्तम् । आशङ्काग्रन्थत्वाद्वा । भक्तिमार्गीयेति । एकादशसुबोधिन्या'मुप समीपे स्थित्वा यथायोग्यकरणस्योपासनालक्षणत्वम्', अत्र तु मनोव्यापारविशेष उपासना । चित्तेति । उपासनानां चित्तशुद्धिहेतुत्वं पूर्वमुक्तम् । तारतम्यं संशयभ्रमप्रमाजनकत्वेन । प्रधानस्य स्वावयवैस्तामसचित्तेन भेदे भासमान इत्यर्थः । पूर्वेति । आनन्दमयाधिकरणे । तारतम्याभावेपि नित्यक्रीडास्थानां सात्त्विकतामसज्ञानं फलप्रकरणस्थानामिवाहुः भगवति तदवयवेषु चेति । भगवत्त्वेन ज्ञानं सात्त्विकम्, एकत्वेन ज्ञानात् । अवयवित्वेनावयवज्ञानं तामसम् । अस्यावयवा इति भेदवत्त्वेन ज्ञानात् । प्रियत्वादिज्ञानमिति । सिद्धान्त-

१. तेषामिति मूले पाठः ।

अथवा । नन्वानन्दमयोपासनामथर्वणोपनिषदुक्तपञ्चरात्राद्यागमोक्तप्रकारेण कुर्वतः पुरुषरूपे पक्षाद्युपसंहारस्यायुक्तत्वादानन्दमयाधिकरणे तद्रूपस्यैवोक्तत्वात् पुरुषरूपः कथमानन्दमयः । तथात्वे वा कथं नोक्तोपसंहारः । अपरं च । मोदप्रमोदयोरुपचितानुपचितानन्दरूपयोर्युगपत्सत्त्वेन देशभेदेनापि भिन्नत्वान्नित्यानन्दैकरसे ब्रह्मणि तादृशरूपकथनमनुपपन्नमित्याशङ्क्य परिहरति प्रियशिरस्त्वादीनि । यद्यथर्वणोपास्यात् प्रियशिरस्त्वादिविशिष्टस्य भेदः स्यात्, तदा तदप्राप्तिः स्यात्, नच तथेति प्रियशिरस्त्वादिकमुपासनामार्गीयस्याथर्वणिकादेरुपसंहार्यमेवेत्यर्थः । चित्तशुद्धितारतम्यहेतुकं प्रियत्वादिज्ञानमिति पक्षे

भाष्यप्रकाशः ।

अस्मिन् पक्षे उपासनामार्गीयस्य तदुपसंहारपक्षोऽर्थादेवायाति, तथाप्यानन्दमयवाक्येऽथर्वणोपनिषदि च सदानन्दत्वस्योक्तत्वादुभयप्राधान्येनोपासकस्य निर्णयो न सिध्यतीत्यतः सूत्रं प्रकारान्तरेण व्याख्यातुमवतारयन्ति अथवेत्यादि । उक्तविधस्योपासकस्य पुरुषरूपविरुद्धपक्षाद्युपसंहारस्यायुक्तत्वादानन्दमयवाक्ये च पुरुषस्य विधामात्रमेव गृहीतम् । तच्च स्त्रीत्वव्यवच्छेदार्थत्वेनापि युज्यते इति पक्षिरूपस्यैवोक्तत्वात् पुरुषरूपः कथं सः । अतः सोपासना एतदुपनिषदुक्तरूपेण न युक्ता । अथ ब्रह्मत्वस्याविशिष्टत्वादेतदुपनिषदुक्तस्याप्यानन्दमयत्वेऽत्रापि पक्षिरूपस्य सत्त्वात् कथं न पक्षाद्युपसंहार इत्येका शङ्का । अपरं चेत्यादिनोक्ता मिथ्यावादिकृता द्वितीया । देशभेदेनेति । दक्षिणोत्तरभेदेन । तादृशरूपकथनमिति । भेदयुक्तरूपकथनमानन्दमयवाक्येऽनुपपन्नमित्यर्थः । सूत्रं व्याकुर्वन्ति यदीत्यादि । तथाचास्य सूत्रस्य तर्कगर्भत्वेनापि व्याख्यातुं शक्यत्वात्, वाक्यद्वयेऽप्युक्तस्य ब्रह्मण ऐक्येन विरुद्धधर्माश्रयत्वेन च पूर्वाशङ्कोक्तस्योभयरूपत्वस्य पक्षिरूपत्वस्य वा अदुष्टत्वादुपासकस्यात्र तदुपसंहारो न दुष्ट इति भावः । ननु

रश्मिः ।

रीत्यात्रैव पूर्वमुपपादितम् । उपासकेति । ज्ञानक्रममत्र प्रियत्वादिमात्रविषयकज्ञानक्रमम् । विभूतित्वादन्येषाम् । प्राप्तिरेवेति । प्राप्तिर्नैव संभवतीत्यन्वयः । भाष्ये एवकारार्थस्य प्रतियोगित्वाभावात् । निर्णय इति । नच निषेधमुखेन निर्णय इति शक्यम् । पक्षिरूपेणोपासनामार्गीयो निर्णयो नेत्याशयात् । उक्तविधस्येति । नन्वित्यादिभाष्योक्तविधस्य । आनन्दमयाधिकरण इत्यादिभाष्यविवरणं आनन्दमयवाक्ये इति । सामान्यप्रकारकजिज्ञासाया विशेषप्रकारकजिज्ञासाजनकत्वाद्व्याख्यानम् । 'आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविध' इति वाक्ये 'को ह्येवान्यात्कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्या'दिति विषयवाक्ये । विधा तु 'अन्वयं पुरुषविध' इति श्रुतौ । अयं प्रकाशः पक्षिरूपस्यैवेति भाष्यीयैवकारव्यवच्छेद्यार्थः । पक्षिरूपस्यैवेति तद्रूपस्यैवेतिभाष्यव्याख्यानम् । एतदिति । तैत्तिरीयोपनिषदुक्तानन्दमयरूपेण । अविशिष्टेति । अथर्वणोपनिषदि मुण्डके 'आनन्दरूपममृतं यद्विभाति' । पञ्चरात्रागमे 'आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः' । आदिना मन्त्रशास्त्रागमः तत्रत्यानन्दः । अत्र स्तुत्या मयडर्थत्वं बोध्यम् । एवं तैत्तिरीयानन्दमयादवशिष्टत्वात् । अत्रोक्त इति । आथर्वणपञ्चरात्रोक्तः । अत्रापीति । आथर्वणपञ्चरात्राद्युक्तेषु पुरुषविधानन्दमयेषु पक्षिरूपस्य निषेधाभावेन सत्त्वात् । तर्केति । अन्यथाज्ञानं तर्कः । वाक्येति । आथर्वणे पञ्चरात्राद्युक्ते च । उक्तस्येति ।

१. यद्यपि । अथर्वणोक्तोपास्यात् । २. उपासनामार्गीयस्यापीतिपाठः ।

परोक्षवादपक्षेपि तत्र भेदाभावान्मोदप्रमोदयोर्न त्वदुक्तरूपत्वमित्यर्थः । ब्रह्मधर्मा एव भिन्ना इत्युपासनार्थं तानादाय शिरःपाण्यादि निरूप्यत इति तत्रैव निरूपितमस्माभिः । यद्यप्यानन्दमयाधिकरण एवास्यार्थस्योक्तत्वान्नेयं शङ्का सम्भवति,

भाष्यप्रकाशः ।

मोदप्रमोदयोरुक्तरूपत्वे भेदस्तु सिद्ध एवेति कथं तदभाव इत्यत आहुः चित्तेत्यादि । अपिः समुच्चये । तथाच मान्त्रवर्णिकसूत्रव्याख्याते मोदप्रमोदयोः परिनिष्ठितापरिनिष्ठितानन्दपक्षे । तयोस्तादृशत्वज्ञानस्य चित्तशुद्धितारतम्यहेतुकत्वेन स्वरूपाभेदकतया ब्रह्मणि भेदाभावात्तथा । 'वस्तुतस्तु परोक्षवादोऽय'मिति प्रतिज्ञाय, 'तत्र निरुपधिप्रीतिरेव मुख्ये'त्यादिना व्युत्पादिते परोक्षवादपक्षे च रसात्मके स्वरूपे तदात्मका एव भावा भक्तानां हृदि तथा स्फुरन्तीति तादृशप्रतीतेस्तत्राज्ञानहेतुकत्वेन रसरूपे ब्रह्मणि भेदाभावान्मोदप्रमोदयोर्नोपचयापचयरूपत्वमिति । अयं अर्थः सूत्रतात्पर्यम् । तथाच भेदाभावाद्यथा सङ्कर्षणस्वरूपोपवर्णने 'किरीटसाहस्रमणिप्रवेकप्रद्योतितोद्दामफणासहस्र'मितिवदुचित उपासनामार्गीयस्य तदुपसंहारः, भक्तिमार्गीयस्य तु परोक्षवादोक्तरीत्या प्रियत्वादेरेवोपसंहार इति भावः । ननु मा भूतामानन्दोपचयापचयौ स्वरूपनिष्ठौ, तथापि प्रियादीनां शिरस्त्वादिभावनं तु विरुद्धमेवेति कथं तदुपसंहार्यमित्यत आहुः ब्रह्मेत्यादि । तत्रैव निरूपितमिति । तस्मिन्नेव वर्णके 'पुरश्चक्रे द्विपद' इति श्रुतिविचारे 'भक्तानामलौकिकदेहसिद्ध्यर्थमन्नमयादिरूपस्तत्र तत्र प्रविशति, जीवे त्वानन्दमय' इति निरूपितम् । तथाच जीवे पक्षिरूपेण प्रविशतोऽवयवा भिन्ना एव, ते जीवस्य यथाधिकारं प्रियादिरूपेण भासन्त इत्युपासनायां च

रश्मिः ।

तैत्तिरीयोक्तस्यान्वयपुरुषविधस्य पक्षिरूपस्य ब्रह्मणः पूर्वतन्त्रद्वितीयाध्यायोक्तदर्शपूर्णमासाभेदवदैक्येन । पूर्वेति । भाष्ये पूर्वाशङ्कोक्तस्य । तदभाव इति । भेदाभावो ब्रह्मण उभयत्र । परिनिष्ठितेति । ब्रह्म विपश्चित् । 'मान्त्रवर्णिकसूत्रव्याख्यात' इत्युक्तत्वात् । 'मोदः पक्षः प्रमोदः पक्षः' । अत्र विपश्चित्त्वं विविधभोगचतुरत्वम् । इत्थं च पुरुष आनन्दमय इति मोदप्रमोदाभ्यां भोगः । पक्षी आनन्दमयः । इति पक्षाभ्यां भोग इति उभयपक्षे । तयोरित्यादि । मोदप्रमोदयोः तादृशत्वं तौ पक्षाविवेमौ मोदप्रमोदौ पश्यन्ति जनाः इति व्युत्पत्त्या सिद्धं महाभाष्ये । रूढोयं शब्द इति मनोरमायाम् । तस्य ज्ञानं तस्य 'मनसैवानुद्रष्टव्य'मिति श्रुतेश्चित्तस्य शुद्धिः सात्त्विकत्वादिः तत्तारतम्यं तद्धेतुकत्वेन ब्रह्मणि सात्त्विकचित्तेन गृहीते भेदाभावात् । तदुक्तं गीतायामष्टादशाध्याये 'सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते । अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विक'मिति । अधुना परोक्षवादे तत्रानन्दमये भेदाभावात् इति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म वस्तुतस्त्विति । विपश्चित्सूर्यः सूर्यविपश्चित्त्वकारणं विपश्चित्त्वस्याधोक्षजेऽनिश्चयाद्वस्तुतः पक्षः । 'परोक्षवादो वेदोयं परोक्षं च मम प्रिय'मिति वाक्यात् । व्युत्पादित इति । आनन्दमयाधिकरणे व्युत्पादिते । परोक्षवादपक्षे चेत्यत्र चकाराध्याहारः, अपेः पूर्वं व्याख्यानात् । रसात्मक इति । दशरसात्मके । उपबृंहणसिद्धत्वात् । तथेति । अभिन्नत्वेन । तदर्थ इति । परोक्षवादे च तत्र भेदाभावादिति भाष्यार्थः । सूत्रस्य तात्पर्यं तत्प्रतीतीच्छयोच्चरितत्वम् । तेनेति शेषः । अयमर्थ इति पाठः तदर्थ इत्यत्र मूलपुस्तके । सङ्कर्षणेति । तृतीयाष्टमाध्यायेस्ति । स्वरूपं 'यं वासुदेवाभिधमामनन्ती'त्युक्तम् । तदुपेति । पक्षिरूपत्वोपसंहारः । ब्रह्मेत्यादीति । एवकारोऽवयवयोगव्यवच्छेदकः । तानिति । भिन्नान् शिरस्त्वादिधर्मान् । तस्मिन्नेवेति । आनन्दमया-

तथापि गुणोपसंहारप्रसङ्गे मिथ्यावादिन आपाततः शङ्का सम्भवतीत्याचार्येणोक्त्वा निरस्ता ॥ १२ ॥

ननूपास्यरूपस्याविरुद्धा एव गुणा उपसंहर्तव्याः, न तु विरुद्धाः, तथाच पुरुषरूपे पक्षादि विरुद्धमिति न तदुपसंहार्यमित्याशङ्क्याह।

इतरे त्वर्थसामान्यात् ॥ १३ ॥

इतरे पुरुषरूपे विरुद्धत्वेन ये भासमाना धर्मास्तेऽप्युपसंहर्तव्याः, तत्र विरोधव्यवच्छेदज्ञापनाय तुशब्दः। तत्र हेतुरर्थसामान्यादिति। अर्थः पदार्थ आनन्दमयत्वलक्षणस्तस्य समानत्वादेकत्वादित्यर्थः ॥ १३ ॥

भाष्यप्रकाशः।

उपसंहार्याः। भक्तिमार्गीयस्य तु तेषु भेदभानात् तेन तत्र नोपसंहार्या इति पूर्वोक्ताधिकारनियता वर्णकद्वयसिद्धा व्यवस्थेत्यर्थः। ननु यद्यानन्दमयाधिकरणे अयमर्थः सूत्रकारेण सूचितः स्यात्, पुनरत्र किमिति वदेदित्याशङ्कायामाहुः यद्यपीत्यादि। इयमिति। मोदप्रमोदविषयिणी। तथाचैतदर्थं पुनः कथनम्। अतो न दोष इत्यर्थः ॥ १२ ॥

इतरे त्वर्थसामान्यात् ॥ १३ ॥ नन्वेवं पक्षद्वयस्वीकारे को हेतुरित्याकाङ्क्षायां इतरादिसूत्रत्रयप्रणयनमेव हेतुरिति सूचयन्तः पूर्वमुपसंहारपक्षे हेतुं वदतीत्याशयेनावतारयन्ति ननूपास्येत्यादि। व्याकुर्वन्ति इतर इत्यादि। ननूपसंहारसूत्रे एवायं हेतुः सिद्ध इति पुनः कथनस्य किं प्रयोजनमत आहुः तत्रेत्यादि। तत्रेति। परस्वरूपे। तत्रेति। उपसंहारे। तथाच ब्रह्मत्वप्राधान्येनोपासने सम्बन्धि ब्रह्मैव। सदानन्दप्राधान्येनोपासनेपि 'तयोरैक्यं परं ब्रह्मे'ति वाक्यादुक्तेर्गौणत्वाच्च सम्बन्धि ब्रह्मैव, पुरुषत्वादिकं तु न प्रधानम्, अतस्तत्रोपसंहारनियामकमित्येतत्स्मारणाय तदुक्तिरित्यर्थः ॥ १३ ॥

रश्मिः।

धिकरणे तस्मिन्नेव वर्णक इत्यर्थः। अवयवेति। अवयवाश्च तेऽभिन्नाः। एवकारः शिरस्त्वादिधर्मव्यवच्छेदकः। यथाधीति। सात्त्विकादिचित्तकत्वाद्यनतिक्रम्य। अव्ययीभावः। त इति। भिन्नाः शिरस्त्वादिधर्माः। भेदभानादिति। 'अन्तरा भूतग्रामव'दिति सूत्रे वक्ष्यमाणभेदभानात्। 'भक्त्या जानाति चाप्यय'मिति श्रुत्येवार्थो भेदः। 'अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थित'मिति ब्रह्मस्वरूपपरगीतायाः। तेनेति। तेन भक्तेन। तत्र पुरुषोत्तमे। पूर्वोक्तेति। 'नवे'ति सूत्रवर्णकोक्ताधिकारनियता। न दोष इति। पुनरुक्तिदोषो न ॥ १२ ॥

इतरे त्वर्थसामान्यात् ॥ १३ ॥ पक्षद्वयेति। पुरुषरूपे पक्षिरूपोपसंहारानुपसंहारपक्षद्वयस्वीकारे। 'स वयाऽस्सृजते'ति तृतीयाष्टके पुरुषविधान्वयस्य पक्षिसृष्ट्युक्तेरेकरूपस्य हयग्रीवावतारवदविरुद्धत्वात्। अर्थाभेदस्य भेदप्रतिबध्यत्वादस्य हेतोर्भेदरूपप्रतिबन्धकप्रतिबन्धकत्वेनोत्तेजकत्वाद्धेत्वन्तरमित्याहुः। तथाचेति। अस्ति पुरुषान्वयपक्ष्येकत्वम्, परन्तु तत्र पुरुषो ब्रह्मा तृतीयाष्टके 'प्रजापतिरकामयते'त्युपक्रम्य 'स वयाऽस्सृजते'त्युक्तेः। तथाच ब्रह्मसे ब्रह्मा स्वं आत्मा यस्य पक्षिणस्तस्मिन् पक्षिणि लीलानां गौणभावेन धर्मिणः प्राधान्येनोपासने सम्बन्धी अन्वयी ब्रह्मा प्रजापतिरेव, नतु अन्यः। पुरुषत्वादिकं लीलारूपमप्रधान'मानन्दादयः प्रधानस्ये'ति सूत्रभाष्यादतः ब्रह्मप्रजापत्योरभेदात्। 'ब्रह्मन्पुंसि चे'ति सूत्रात्। तत् अव्ययम्। सः अर्थाभेदो न उपसं-

अथानन्दमयाधिकरण उक्तप्रकारेण ये प्रियत्वादिधर्माः, तेषामेवोपसंहारः कार्यः, न तु पुरुषरूपे पक्षादीनामपीत्यग्रिमं पठति।

आध्यानाय प्रयोजनाभावात् ॥ १४ ॥

आनन्दस्वरूपस्य यावन्तो धर्मा भक्तिमार्गीयाः परोक्षवादेन उच्यन्ते प्रियत्वप्राधान्यादयः, तेषां सर्वेषां ध्यानमासमन्तात् ध्यानम्, तदर्थं ये धर्मा उपयुक्ताः, त एवोपसंहर्तव्याः, नान्ये। तत्र हेतुः। प्रयोजनाभावादिति। ध्यानपदार्थस्य तावद्भिरेव सिद्धेरधिकोपसंहारे तथात्वादित्यर्थः ॥ १४ ॥

भाष्यप्रकाशः।

आध्यानाय प्रयोजनाभावात् ॥ १४ ॥ तर्हि भक्तिमार्गेपि परस्यैवोपास्यत्वात् तत्र कुतो नोपसंहार इत्याकाङ्क्षायामनुपसंहारपक्षे हेतुं वदतीत्याशयेनावतारयन्ति अथेत्यादि। उक्तप्रकारेणेति। परोक्षवादोक्तरीतिकरसात्मकतया। एतस्य पदस्य उपसंहारः कार्य इत्यनेनान्वयः। सूत्रं व्याकुर्वन्ति आनन्देत्यादि। ध्यानपदार्थस्येति। भक्तिमार्गीयस्य तस्य। शेषस्तु निगदव्याख्यातः ॥ १४ ॥

रश्मिः।

हारनियामकः। अर्थाभेदस्य हेतोर्नामरूपसूत्रोक्तप्रकरणाधिकारकृतभेदप्रतिबध्यत्वादस्य हेतोर्भेदरूपप्रतिबन्धकस्य प्रतिबन्धकत्वेनोत्तेजकत्वात्। तदुक्तिरिति। अर्थाभेदभिन्नस्यार्थसामान्यरूपस्य हेतोरुक्तिः। यथा घटपटकुड्यकुसूलानि अर्थसामान्यहेतुशून्यानि तत्र द्रव्यत्वेनाभेदात् परस्परमुपसंहारः प्राप्तः नामरूपादिभेदेन प्रतिबद्धो न भवति। यत्र तु नीलो घटो द्रव्यमित्यत्राप्यर्थाभेदोभेदप्रतिबध्योऽर्थसामान्यरूपोत्तेजकहेतुमति। परस्परमुपसंहारः नामरूपादिभेदकेन न प्रतिबद्धो भवति। तथा रामोपनिषदि राममत्स्यकच्छपा अर्थसामान्यरूपहेतुशून्यास्तत्र नामरूपादिभेदेन प्रतिबद्ध उपसंहारो न भवति। यत्र तु वासुदेवसङ्कर्षणपक्षिपुरुषहयग्रीवेष्वर्थसामान्यहेतुमत्सु अर्थाभेदः भेदप्रतिबध्यः उत्तेजकविशिष्ट इति सिद्धम्। भाष्ये। आनन्देति। पूर्वतन्त्रे आकृतौ शक्तेः ॥ १३ ॥

आध्यानाय प्रयोजनाभावात् ॥१४॥ तर्हीति। अन्यथात्वसूत्रे उपासनाप्रसङ्गे विरुद्धधर्माश्रयत्वस्योक्तत्वादुपासनाकाले। अथेत्यादीति। भिन्नप्रक्रमेऽथशब्दः पुरुषोत्तमविचारात्। तेन बाध्यबाधकभावोत्तेजकमपीयदवधि। कार्य इति। वेदत्वात्कार्यः। इत्यग्रिममिति। इति हेतोरनुपसंहारार्थमग्रिमं सूत्रं पठतीत्यर्थः। एतस्येति। नच वक्ष्यमाणभाष्यविरोधः। उपसंहारेपीदं करणमिति करणान्तरनिषेधपरत्वात्। आनन्देत्यादीति। 'आनन्दादयः प्रधानस्ये'ति सूत्रमनुवर्तते। आनन्दादय इत्यस्य विभक्तिविपरिणामेनान्वयः। आनन्दादीनामिति। प्रधानस्येत्यस्यार्थः आनन्दस्वरूपस्येति। रसरूपत्वस्य मोदप्रमोदाभ्यां सिद्धेः किमिति प्रश्नः। प्रियविषयकेत्यादीति। सर्वेषामित्यन्तेन भाष्येणानन्दादीनामित्यस्यार्थः। उपसंहर्तव्या इति। उपसंहारसूत्रादुपसंहारोप्यनुवर्तते इति भावः। यथासम्भवमन्वयः। भक्तिमार्गीयस्येति। ज्ञानमार्गे सर्वतः पाणिपादादीनां ध्याने प्रकृतोपयोगाभावेन विशेषणम्। अङ्गोपासनाप्रक्रमाद्ध्यानमुक्तम्। एकैकाङ्गेषु मनोनिवेशनस्य ध्यानत्वात्। द्वितीयस्कन्धेऽवताराणामप्यङ्गत्वोक्तेः। यथा हास्यं राम इति ॥ १४ ॥

अन्येषामनुपसंहारे हेत्वन्तरमप्याह ।

आत्मशब्दाच्च ॥ १५ ॥

'प्रियमेवे'त्यादिना परोक्षवादेनोक्तानां प्रियप्राधान्यादीनामेव भावना कार्या, न तु यथाश्रुतानां शिरःपक्षादीनाम् । तेषामविवक्षितत्वात् । तत्र हेतुरात्मशब्दादिति । 'आनन्द आत्मे'त्यनेन पूर्वोक्तानां प्रियप्राधान्यादीनां रसात्मकानामात्मा स्वरूपमानन्द इत्युक्तम् । अग्रे 'रसो वै स' इति वक्ष्यमाणत्वात् तस्य च स्थायिभा-

भाष्यप्रकाशः ।

आत्मशब्दाच्च ॥ १५ ॥ सूत्रमवतारयन्ति अन्येषामित्यादि । ननु प्रयोजनाभावेपि ब्रह्मस्वरूपपरताया अविशिष्टत्वात् पक्षाद्युपसंहारे को दोष इत्याकाङ्क्षायां हेत्वन्तरमप्याहेत्यर्थः । व्याकुर्वन्ति प्रियमेवेत्यादि । तत्र हेतुरिति । अविवक्षितत्वे हेतुः इत्युक्तमिति । तस्मादिति शेषः । तथाच यथाश्मये इदमा परिदृश्यमानबोधनाल्लौकिकदृष्टौ पक्षादीनामविवक्षितत्वम्, तथात्र आनन्दपदसमभिव्याहृतेनात्मपदेन प्रियादिस्वरूपस्यानन्दत्वेन बोधनाद्भक्तिदृष्टौ पक्षादीनामविवक्षितत्वमेव दोष इत्यर्थः । न च समाचारसूत्रे अधिकारभेदस्यानुपसंहारनियामकत्वेन सिद्धत्वात् तेनैव तत्सिद्धावेतयोः सूत्रयोः किं प्रयोजनमिति शङ्क्यम् । समाचारसूत्रोक्तानां निरूपणप्रकाराधिकारसम्बन्धिनामानन्दमयविद्यायामैक्यात् तद्भेदकृतानुपसंहारस्य भक्तिमार्गीयोपासने वक्तुमशक्यत्वात् तदर्थमेतयोर्हेत्वोः सूत्रकृता निर्देशात् । नन्वाकारपूरकावयवप्रायपाठे प्रविष्ट आत्मशब्द आकारे तात्पर्यरहित इत्यत्र किं मानमित्यत आहुः अग्र इत्यादि । आनन्दमयविवरणे 'आत्मानं स्वयमकुरुते'त्यादिना आत्मन एव प्राकट्ये 'रसो वै स' इति रसरूपताया वक्ष्यमाणत्वात् रसस्य च निरुपधिप्रियात्मरूपस्थायिभावात्मकत्वात् तस्यैव परस्यात्मनो विवरणाय प्रपाठकप्रवृत्त्या

रश्मिः ।

आत्मशब्दाच्च ॥ १५ ॥ अप्याहेति । नामभेदादिः प्रतिबन्धकोपिपदार्थः । अधोक्षजत्वं च प्रतिबन्धकम् । उपासनाऽविषयत्वं च प्रतिबन्धकम् । **प्रियमेवेत्यादी**ति । 'तस्य प्रियमेव शिर' इत्यत्र प्रियमेवेत्यादिः । आनन्दादय इत्यनुवर्तते । **भावने**ति । 'तस्माच्छ्रीकृष्णमार्गस्थो विमुक्तः सर्वलोकतः । आत्मानन्दसमुद्रस्थं कृष्णमेव विचिन्तये'दिति । 'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मण' इति च । **लौकिके**ति । लौकिकपुरुषे वैराजत्वेन देवदत्तशिर एव शिरः द्यौरूपं दक्षिणोत्तरपक्षावन्तरिक्षरूपौ इदं चरणं पुच्छं परिदृश्यमानौ पादौ पृथिवीरूपाविति । दृष्टावित्यर्थः । **भक्तिदृष्टा**विति । प्रियमोदप्रमोदात्मब्रह्मसु प्रीतिः धर्मौ भक्तिः मोदप्रमोदौ आनन्दविशेषौ भक्तेराधारौ (आनन्द) आनन्द आत्मा चाधारः ब्रह्म उद्दीपनं व्यभिचारि वा । ब्रह्मानन्दो भक्तेराधारः । एवं भक्तौ दृष्टौ । **दोष** इति । पक्षाद्युपसंहारे दोषः । अनेन **रसात्मकाना**मिति प्रियप्राधान्यादीनां विशेषणं भाष्ये व्याख्यातम् । **आत्मा स्वरूप**मिति भाष्यमपि । आत्मा व्यापकः । स्वस्य रसस्य रूपमानन्द इत्यर्थकम् । **आनन्दे**ति । तैत्तिरीये तथा । **रसरूपता** दशरसरूपता । **तस्य चे**ति भाष्यार्थमाहुः **रसस्य चे**ति । **निरुपधी**ति । फलदत्वाद्युपाधिशून्यः प्रिय आत्मा तेन विषयेण रूप्यते व्यवह्रियते या रतिस्तद्रूपस्थायिभावात्मकत्वात् । **तस्यैवे**ति । रसस्यैव । शेषं पूरयन्त एवाभासोक्ताशङ्कां वारयन्ति स्म **उपक्रमे**ति । उपक्रमोऽत्रात्मनो रसस्य च । आदिनानन्दमयत्वं तत् । तात्पर्ये । स्वेषां आकारपूरकावयवप्रायपाठे प्रविष्टत्वेप्यनाकारे तात्पर्ये लिङ्गं कारणं त्रिविधात्मप्रसिद्ध्या कारणम् । आत्मोप-

वात्मकत्वात्तस्यैवानन्दमयत्वाच्च । प्रियविषयकलीलामध्यपातिभक्तज्ञानप्रकाराणामपि रसात्मकत्वेनानन्दरूपत्वात् तेषामुपासना तूत्तमाधिकाराभावाच्छिरःपक्षादिरूपेण कार्येति भाववती श्रुतिस्तथा न्यरूपयत् । एतेन यत्परम्परासम्बन्धेऽप्युपास्यत्वं तदस्य महत्त्वं कियदवधि वाच्यमिति ज्ञाप्यते । एवं सत्युपासनामार्गीयोपास्यं विभूतिरूपम्, न तु मूलरूपम् । 'यन्न योगेने'ति वाक्यादिति ज्ञेयम् ॥ १५ ॥

इति तृतीयाध्याये तृतीयपादे प्रथमं सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणम् ॥ १ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

तस्यैवानन्दमयत्वाच्चोपक्रमादिकं तात्पर्यलिङ्गमेव मानमित्यर्थः । नन्वेवं सति श्रुतौ पक्षादिरूपत्वं किमित्युक्तम्, अत आहुः प्रियविषयकेत्यादि । तथाच न सर्वथा तत्र निस्तात्पर्यः, अपि तु मुख्याधिकारिणः प्रति तथेत्यर्थः । ननूभयोः परस्वरूपपरत्वे तुल्ये कथमधिकारवैलक्षण्यावगतिरित्यत आहुः एतेनेत्यादि । आत्मपदस्यानन्दस्वरूप एव तात्पर्येण यत्परम्परासम्बन्धेपि पक्षादिविशिष्टानन्दमयस्योपास्यत्वम्, तस्य सम्बन्धिनो महत्त्वं कियदवधि वाच्यमिति तदग्रिमया 'यतो वाच' इति श्रुत्यापि ज्ञाप्यते । एवं तस्योत्कर्षे सति उपासनामार्गीयोपास्यं विभूतिरूपम्, न तु मूलरूपम् । 'यन्न योगेन सांख्येन दानव्रततपोऽध्वरैः । व्याख्यास्वाध्यायसंन्यासैः प्राप्नुयाद्यत्नवानपी'त्येकादशस्कन्धे भगवता केवलेन भावेन स्वप्राप्तिं प्रकम्येतरनिषेधकथनादग्रे च रसभाववतामेव प्रशंसाया उक्तत्वात् । तथाचैवंविधवाक्यैरेव वैलक्षण्यावगतिरित्यर्थः । एवं चतुःसूत्र्या प्रियशिरस्त्वादिधर्माणामुपसंहारानुपसंहारावधिकारभेदेन विचारितौ । एवमत्र बोधसौकर्यार्थमवान्तराधिकरणव्यवस्था कृता । वस्तुतस्तु पञ्चदशसूत्रेणानेनाधिकरणेन विध्यैक्यवेद्यैक्ययोरुपसंहारहेतुप्रयोजनयोः परविद्यासु तद्बाधकपरिहारतद्व्यवस्थयोरानन्दादीनामसाधारण्येनानुप-

रश्मिः ।

निषदुक्तरीत्याऽन्नमयो बाह्यात्मा, प्राणमयमनोमयावन्तरात्मा, विज्ञानमयानन्दमयौ परमात्मेति । तत्र स्वावयवरूपाकारेणापि विशिष्टः । ननु लिङ्गं कथं मानमिति चेत् । न । आत्मरसानन्दमयानां मानाधिदैविकत्वेन मानत्वात् । **पक्षादिरूपत्व**मिति । धर्मिणोक्षजत्वात् सोर्थो न कृतः । प्रियविषयकलीलामध्यपातिभक्तानां विज्ञानमयपदवाच्यानां विशब्देनोक्तानां विविधज्ञानरूपज्ञानप्रकाराणामपि मोदप्रमोदरूपपक्षात्मकरसात्मकत्वेनानन्दरूपत्वात् । उत्तमाधिकारः श्रीभागवतप्रथमस्कन्धे त्रयोदशाध्यायैरुक्तः । **तथे**ति । पक्षादिरूपत्वेन । तृतीयाया लुक् । **तत्रे**ति । पक्षादिरूपत्वे । निस्तात्पर्यो ग्रन्थः । **तथेती**ति । निस्तात्पर्यो ग्रन्थ इत्यर्थः । **उभयो**रिति । पुष्टिमार्गे विज्ञानमयानन्दमययोर्भक्तभगवतोः । **परस्वरूपपरत्वे** पुष्टिमार्गीयफलपरत्वे । यद्वा । स्वरूपपक्षादिविशिष्टयोः स्वरूपपरत्व आत्मपरत्वे इत्यर्थः । **यत्परम्परे**ति । यदित्यव्ययं यस्येत्यर्थः । **सम्बन्धिन** इति । अध्याससम्बन्धिनोऽभेदसम्बन्धिनो वा । एवंसतीतिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म **एवं तस्ये**ति । **तस्ये**ति । आनन्दमयस्य । **उपासनामार्गीये**ति । एतेन भक्तिमार्गीयं विज्ञानमयभक्तरूपोपास्यमपि ज्ञेयम् । तस्याध्यात्मिकादित्रितयविदाश्रयत्वात् । **यन्ने**ति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **यन्ने**ति । **इतरे**ति । सत्सङ्गेतरस्याः स्वाध्यायो वेदस्तदुक्तोपासनाया निषेधकथनात् । **रसभावे**ति । अधिकारिणाम् । **एवंविधे**ति । उपास्यभजनीयप्रतिपादकैः । तथा चोपासना पक्षिविषया । भजनं रसरूपभगवद्विषयकम् । **विध्यैक्ये**ति । चतुःसूत्र्या प्रतिपादितयोः । **उपसंहारे**ति । 'उपसंहारोऽर्थाभेदा'दित्यत्र । उपसंहारस्य हेतुः अर्थाभेदरूपः

१. तस्य ।

भाष्यप्रकाशः ।

संहारस्य प्रियशिरस्त्वादीनां व्यवस्थयोपसंहारस्य च निर्णयात्, सर्वप्रपञ्चातीतः सर्वमुपसंहृत्यैवमेकः कारणरूपश्च भवति, प्राणाख्यां च कलां सृजत इति बोधितम् ।

शङ्कराचार्यास्तु, अन्यथात्वादित्रिसूत्रेऽधिकरण उद्गीथविद्याम्, व्याप्तेश्चेत्येकसूत्रेऽधिकरणे च तदीयशेषम्, सर्वाभेदेत्येकसूत्रे च प्राणविद्याम्, आनन्दादय इति सूत्रे च ब्रह्मधर्माणामेवोपसंहारानुपसंहारौ विचार्य, आध्यानादिद्विसूत्रे 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था' इत्यादिके, 'सा काष्ठा सा परा गति'रित्यन्ते काठकवाक्येऽर्थादीनां ततस्ततः परत्वप्रतिपादने प्रयोजनाभावात्, 'सा काष्ठा सा परा गति'रित्यनेन पुरुषविषयकादरप्रदर्शनाच्च तस्यैव परत्वं प्रतिपाद्यत इति सिद्धान्तमाहुः ।

भास्कराचार्या अप्येवमेव वदन्ति ।

तत्र परविद्याविचारं विहाय प्रथमत एवोद्गीथप्राणविद्याविचारे बीजं न पश्यामः । युक्तं तु परविद्यासु विचार्यमाणास्वानुषङ्गिकी तद्विचारस्यापि सिद्धिरिति । अतीतपादान्ते ब्रह्मण एव धर्माणां विचारात् । समन्वयेपि पूर्वमानन्दवाक्यान्येव विचार्य पश्चात् प्रतीकवाक्यविचारादिति । एवमाध्यानाधिकरणविषयवाक्येपि अर्थादीनामिन्द्रियादिभ्यः परत्वप्रतिपादनं न निष्प्रयोजनम् । तत्तद्बलिष्ठताप्रतिपादनस्यैव प्रयोजनत्वात् । अन्यथा विषयत्यागेन्द्रियनिग्रहयोरनास्थायां 'इन्द्रियै-

रश्मिः ।

समानं च । अन्यथात्वादित्रिसूत्र्योपसंहारस्य प्रयोजनं तादृक् तादृग्गुणविशिष्टत्वेनोपासनम् । एवमुपसंहारहेतुप्रयोजनयोरित्यर्थः । 'व्याप्तेश्चे'ति द्वाभ्यां सूत्राभ्यां परविद्यास्वक्षराधिगमयित्रीषु उपासनाबाधकं पौगण्डादिकम्, तस्य परिहारः 'सर्वतः पाणिपादान्त'मितिश्रुतेः 'साकारमेव व्यापक'मिति । तस्य । किंच द्वितीयसूत्रे तद्व्यवस्था तयोर्नित्यत्वभङ्गानुमततदावेदकमानविरोधयोर्व्यवस्था, सर्वाभेदाव्यवस्था । एवं तद्बाधकपरिहारतव्यवस्थयोरित्यर्थः । आनन्दादय इति सूत्रार्थ **आनन्दादीनामिति** । **प्रियेति** सूत्रार्थमाहुः **प्रियशिरस्त्वेति** । व्यवस्थयोपसंहारस्य चतुःसूत्र्या च निर्णयादित्यर्थः । अधिकरणसमाप्तावानन्दमयस्योक्तेः भक्तिविषयस्य जगत्कर्तृत्वमाहुः **सर्वप्रपञ्चेति** । 'असद्वा इदमग्र आसी'दित्यत्रेदमर्थो जगत्तस्यासत्त्वेनोक्तेः । 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । आनन्देन जातानि जीवन्ति । आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ती'ति श्रुतेः । **प्राणाख्यामिति** । 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि चे'ति श्रुतेः । **भाष्य** आनन्दमयादीनां निरूपणात् उपासनाप्रकरणाच्चानन्दमयादिशिरःपुरस्कारेण निरूपणं प्रियशिरस्त्वादिसूत्रात्कृतम्, न त्वात्मपुरस्कारेण । उपासनायामात्मनोऽदृश्यत्वात् । तत्र प्रथमाधिकरणे प्रियकला तदादिसृज्यत्वेन प्राणकला प्राणमयशिरः । यद्यपि भाष्ये आनन्दमयादीनां निरूपणम्, न शिरोमात्रस्य निरूपणम्, तथापि प्रियशिरस्त्वादिसूत्रे शिरोमात्रग्रहणसूचितशिरआदिध्यानम् । एकैकाङ्गध्यानस्य 'आध्यानाये'ति सूत्रे सिद्धत्वात् । तेनान्नमयादिपञ्चापि ज्ञेयाः । अत्र पादार्थसंगमनाय आनन्दमयस्य प्राणधर्मो विचारितः, प्राणमय इति तैत्तिरीये उपसंहृत्यानन्दमयोपासना । वेदे 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवते'त्युक्तेः । 'त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासी'ति तैत्तिरीये । अतो वेदोक्तधर्मवत्त्वेनोपासना कार्या । कलापदान्मदुक्ता प्राणकला स्मृतानन्दमयप्रसङ्गेन प्राणमयः तत्प्रसङ्गेन प्राणकलेति । **तदीयेति** । 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीते'त्यत्राक्षरोद्गीथशब्दयोः सामानाधिकरण्ये श्रूयमाणे शेषं विशेषणपक्षम् । **पुरुषेति** । 'पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठे'त्यादिना पुरुषविषयकेत्यादिः । ननु परस्य शाब्दापरोक्षविषयस्य विद्याविचार इत्यत आहुः **अतीतेति** । तथाच धर्मद्वारिकैव परविद्येति भावः । **समन्वय इति** । प्रथमाध्याये पञ्चमाधिकरण आनन्दवाक्यानि । **पश्चादिति** ।

आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् ॥ १६ ॥ (३-३-२.)

तैत्तिरीयकेऽन्नमयादिनिरूपणे पुरुषविधत्वं तेषां निरूप्य, 'तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्ये'ति सर्वत्र निगद्यते । तत्रानन्दमयपर्यन्तं शारीरात्मत्वकथनाद्भवति संशयः । शरीराभिमानी जीव एव कश्चित्, उत ब्रह्मैव ।

तत्र शारीरपदाज्जीव एव भवितुमर्हति । तथा सत्यानन्दमयस्यापि ब्रह्मत्वं नोपपद्यते । उच्यते च भार्गव्यां विद्यायां 'अन्नं ब्रह्मेति व्यजाना'दित्यारभ्या-

भाष्यप्रकाशः ।

विषयाकृष्टै'रिति स्मृत्युक्तप्रणाश्या तैः प्रबलानर्थप्रसङ्गात् । ज्ञाते तु तत्तन्नियामकतया तेषां तत्तत्परत्वे तत्त्यागनिग्रहादिभिः पुरुषनिष्ठपरत्वप्रतिपत्तिसौकर्यमिति तस्यैव मुख्यप्रयोजनत्वादिति ।

रामानुजाचार्यास्तु, आध्यानादिसूत्रद्वयमग्रिमं च सूत्रद्वयमानन्दाद्यधिकरणस्यैव शेषत्वेनाहुः । तत्र प्रियशिरस्त्वादीनां ध्यानार्थत्वमेव, न तु सर्वदा आनन्दमयप्रतीतावनुवर्तन्त इत्याध्यानसूत्र आहुः । अग्रिमे तु 'अन्योऽन्तर आत्मानन्दमय' इत्यानन्दमयस्य आत्मशब्देन निर्देशादात्मनश्च शिरःपक्षपुच्छाद्यसम्भवात् प्रियशिरस्त्वादयस्त्वस्य सुखप्रतिपत्त्यर्थं निरूपणमात्रमित्याहुः । इह तु विभूतिरूपे तथा वर्तन्त इति मुख्याधिकाररहितानां आनन्दमये ध्येयाः, मुख्याधिकारिणां तु विभूतौ ध्येयाः, न तु पुरुषोत्तम इति विशेषः । आत्मगृहीत्यादिसूत्रद्वये तु 'अन्योऽन्तर आत्मानन्दमय' इत्यत्रात्मपदेन परमात्मैव गृह्यते । इतरवत् । 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्, स ऐक्षत लोकान्नु सृजा' इत्यैतरेयवत् । कुतः । उत्तरात् । 'सोऽकामयत बहु स्या'मिति वाक्यात् । अवधारणं च 'तस्माद्वा एतस्मा'दिति पूर्ववाक्यस्थमाहुः । तदस्माकमपि संमतम् ॥ १५ ॥

इति प्रथमं सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणम् ॥ १ ॥

आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् ॥ १६ ॥ पूर्वाधिकरणे भक्तिमार्गीयाणां प्रियशिरस्त्वाद्यनुपसंहारे 'आनन्द आत्मे'त्यात्मशब्दप्रयोगो हेतुत्वेनोक्त इति तत्प्रसङ्गेनानन्दमयप्रकरणस्थमात्मशब्दयुक्तवाक्यान्तरं विचारयतीत्याशयेनैतदधिकरणविषयादिकमाहुः **तैत्तिरीयक इत्यादि** । **भवति संशय इति** । अस्मिन् वाक्ये भवति संशयः । पूर्वपक्षमाहुः **तत्रेत्यादि** । इदं हि वाक्यं प्राणमयमारभ्यानन्दमयपर्यन्तं पठ्यते, तत्र तस्य प्राणमयादेः, एष एव शारीरः शरीराभिमानी आत्मा इत्युक्ते, क एष इति शङ्कायां 'यः पूर्वस्ये'त्युच्यते । तत्रापि पूर्वपूर्वविचारे सर्वेभ्यः पूर्वोऽन्नमयोऽस्तीति तस्य यः शारीर आत्मा स सर्वस्येति सिध्यति, तदभिमानी च जीव एव लोके दृश्यते । तथा सति स एवानन्दमयस्याप्यभिमानित्वेनायातीति तस्यापि ब्रह्मत्वं

रश्मिः ।

'अन्तस्तद्धर्मो'द्यधिकरणेषु प्रतीकस्य सूर्यादेः 'अथ योन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते'इत्यादीनि वाक्यानि तेषां विचारात् । **तत्तन्नियामकेति** । तेषां तेषामिन्द्रियादीनां नियामकतया तेषामर्थादीनां तत्तत्परत्वे तत्तन्नियामकपरत्वे, तत्त्यागः प्रतिकूलस्य विसर्जनं अन्यविषयेभ्यो निग्रहः । आदिनानुकूलस्य सङ्कल्पः । पुरुषेति । पुरुषे निष्ठा भक्तिर्यस्य तत्परत्वस्य प्रतिपत्तिर्ज्ञानं तस्याः सौकर्यमिति । **तस्यैव** प्रतिपत्तिसौकर्यस्यैव । अस्येति । उपासकस्य । अत्रेति । द्वितीयसूत्रस्थम् । 'तस्माद्वा' इत्यत्र वै अवधारणे ॥ १५ ॥ इति प्रथमं सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणम् ॥ १ ॥

आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् ॥१६॥ प्रसङ्गरूपामधिकरणसङ्गतिमाहुः **पूर्वेति** । **उच्यते**

नन्दमयपर्यन्तं 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजाना'दित्यन्तया श्रुत्या ब्रह्मत्वमित्युभयतःपाशा रज्जुरिति प्राप्ते, आह ।

इतरवज्जीववदात्मगृहीतिरात्मग्रहणम् । 'तस्यैष एव शारीर आत्मे'ति यत्तदुत्तरात् । 'यः पूर्वस्ये'ति सर्वत्रोक्तत्वात् सर्वेभ्य उत्तर आनन्दमयस्तस्माद्धेतोरित्यर्थः । अन्नमयादिषु सर्वेष्वानन्दमयस्यैवोक्तत्वात्तच्छरीराभिमानित्वात् तथा । एतद्यथा तथानन्दमयाधिकरणे प्रपञ्चितमस्माभिः ।

अथवा । 'अन्योऽन्तर आत्मे'त्यन्नमयादन्यत्र सर्वत्रोक्तत्वात् पूर्वपूर्वनिरूपितो यः, स इतर इत्युच्यते । तथा च, 'यः पूर्वस्ये'ति श्रुत्येतरवत् पूर्वनिरूपितवत् प्रकृतस्याप्यात्मग्रहणं कथनं यत्तदुत्तरादिति पूर्ववत् ॥ १६ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

नोपपद्यते । नचाब्रह्मत्वमेवास्त्विति वाच्यम् । उच्यते च भार्गव्यां विद्यायामन्नाद्यानन्दान्तानां ब्रह्मत्वम् । अत उभयथापि श्रुतेर्विरोधादत्र निर्णयो दुर्घट एवेति पूर्वः पक्ष इत्यर्थः ।

सिद्धान्तं व्याकुर्वन्ति इतरवदित्यादि । जीववदिति । शारीरपदसमभिव्याहाराज्जीववत् । तथाच 'यः पूर्वस्ये'ति सर्वत्र कथनात् सर्वेभ्यः पूर्वो योऽन्नमयस्तस्य पूर्वमाकाशादिसृष्टिजनकस्य परस्यैव ब्रह्मण उक्तत्वात्तत्स्वरूपबोधनार्थमेवानन्दमयस्योक्तत्वाच्छारीरपदसमभिव्याहारमात्रेण जीवशङ्का न कार्या, किन्तूपक्रमादिकं विचार्य ब्रह्मैव तत्रात्मत्वेन बोध्यमित्येतदर्थमुत्तरादित्युक्तमित्यर्थः । नचाभिमानित्वे जीवत्वं स्यादिति शङ्क्यम् । सर्वात्मकत्वात् । अन्यस्यान्यस्मिन्नभिमानस्यैवाध्यासरूपत्वेन जीवत्वापादकत्वात् । पुरुषविधब्राह्मणे उपक्रान्तस्यात्मनो 'ब्रह्म वा इदमग्र आसी'दिति ब्रह्मत्वं निगमयित्वा, 'तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मी'ति श्रावणेन तथावसायादिति । तदेतत् सारयन्ति एतदित्यादि ।

ननु तस्मिन्नेव प्रकरणे 'शारीर आत्मे'तिवत् 'अन्योऽन्तर आत्मे'त्यप्यात्मग्रहणमस्तीति कमात्मशब्दमत्र सूत्रकारोऽनुसन्धत्त इति न विनिगमनेत्यतो व्याख्यान्तरमाहुः अथवेत्यादि । य इति । प्राणमयादिविज्ञानमयान्तः । तेन यत् सिद्धं तदाहुः तथाचेत्यादि । 'यः पूर्वस्ये'ति 'असन्नेवे'त्यनुवाकस्थया श्रुत्या पूर्वनिरूपितानां प्राणमयादीनामिव यत् प्रकृतस्यानन्दमयस्यापि पूर्वसम्बन्ध्यात्मकथनम्, तत् उत्तरात् पूर्वव्युत्पादितरीत्या 'अन्योऽन्तर आत्मे'त्यनुक्त्या च आनन्दमयादित्यर्थः । एवमप्यन्तरात्मानन्दमय एव परिसमाप्यत इति निर्व्याज आत्मा स एवेति 'शारीर आत्मे'त्यत्रापि स एव परामृश्यत इति वाक्यविनिगमनाभावेपि आनन्दमय एव सर्वत्र शारीर आत्मेत्यस्यार्थस्य न व्याहतिरित्यर्थः ॥ १६ ॥

रश्मिः ।

चेति भाष्यं विवरीतुमाहुः नचेति । उभयतःपाशा रज्ज्वर्थमाहुः उभयथापीति । जीवत्वे च ब्रह्मत्वे च । ब्रह्मत्वबोधकश्रुतिविरोधः । 'शारीर आत्मे'ति श्रुतिविरोधः । तस्मात् । भाष्ये । यत्तदिति । इति यत् तत् उत्तरादित्यर्थः । तथेति । आनन्दमयस्य ब्रह्मत्वात् । प्रकृते । एतत्सिद्ध्यर्थमाहुः तथाचेत्यादि । एतदित्यादिभाष्यमवतारयितुमाहुः नचाभीति । कमिति । शारीरशब्दत्वेनान्तरशब्दत्वेन वा प्रकारेणेति प्रश्नः । श्रुत्येति । 'असन्नेव स भवति असद्ब्रह्मेति वेद चेत् । अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुरिति । तस्यैष एव शारीर आत्मा । यः पूर्वस्ये'ति श्रुत्या । 'असन्नेवे' त्यस्या उपन्यासस्तु द्वितीयस्कन्धनवमाध्यायोक्त'तप तपे'ति वचनाज्ज्ञयाऽसत्त्वे प्राप्ते आनन्दमयस्य तन्निरासाय । वाक्येति । वाक्ययो'रन्योन्तर आत्मे'त्यस्य 'शारीर आत्मे'त्यस्य च विनिगमनाभावेपीत्यर्थः ॥ १६ ॥

अन्वयादिति चेत् स्यादवधारणात् ॥ १७ ॥

ननु सर्वत्र 'अन्योऽन्तर आत्मे'ति श्रुत्या प्रत्येकमन्नमयादीनां भेदनिरूपणाच्छारीरपदाच्च भिन्नो भिन्नो जीव एवात्मा शरीराभिमानी सर्वत्रोच्यते, आनन्दमयेपि तथोक्तिर्या, सा त्वानन्दमयस्य ब्रह्मत्वेन व्यापकत्वेन सर्वत्रान्वयात् सर्वेषु शरीरेषु सम्बन्धादित्याशङ्क्य, तन्निरासायोक्तेऽर्थे उपपत्तिमाह स्यादित्यादिना । स्यात् । आनन्दमय एवोक्तसर्वशरीराभिमानी भवतीत्यर्थः । तत्र हेतुरवधारणादिति । 'एष एवे'त्येवकारेणेतरनिषेधपूर्वकमानन्दमयस्यैवात्मत्वनिर्धारणादित्यर्थः ॥ १७ ॥

इति तृतीयाध्याये तृतीयपादे द्वितीयमात्मगृहीत्यधिकरणम् ॥ २ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

अन्वयादिति चेत् स्यादवधारणात् ॥ १७ ॥ अत्र भाष्यमतिरोहितार्थम् । तथाचान्नमयादीनां चतुर्णामाध्यात्मिकानां विभूतिरूपत्वात् तच्छरीरमप्राकृतसत्त्वात्मकम् । तत्र य आनन्दमयांशः प्रविष्टः, स तदभिमानी । तेन तदाधिभौतिकेष्वसदादिशरीरस्थेषु पञ्चकोशेष्वपि स एवाभिमानी । तेन 'आध्यात्मिकस्तु यः प्रोक्तः सोऽसावेवाधिदैविक' इति न्यायेनैकस्यैव कार्यद्वयकर्तृत्वाज्जीवोपि तदभिन्नत्वेन सिध्यति । एवमभेदे उपसंहृते सति 'सर्वं सहेत पत्नं सर्वेषां कृष्णभावना'दित्युक्ता सेवाङ्गभूता शिक्षा सुखेन सिध्यति । तेन विचारदशायां 'सर्वभूतस्थितमेकमेव चिन्तये'दिति बोधितम् । श्रद्धाख्यकला च बोधिता ।

अन्ये तु, ऐतरेयवाक्ये परमात्मैवोच्यते, न तु हिरण्यगर्भ इत्याहुः । तदपि युक्तम् ॥ १७ ॥
इति द्वितीयमात्मगृहीत्यधिकरणम् ॥ २ ॥

रश्मिः ।

अन्वयादिति चेत् स्यादवधारणात् ॥ १७ ॥ अतिर इति । श्रुत्येत्यन्त एको हेतुः । स्यादिति । आनन्दमय एवोक्तसर्वशरीराभिमानी भवतीति स्यादित्यर्थ इत्यर्थः । आनन्दमयस्यैवेति । एवकारेणान्नमये 'अयमात्मे'त्यनेनानन्दमयस्य आत्मत्वम् । 'तस्माद्वा एतस्मा' दित्यस्यात्मानन्दमय इति । आत्मन आनन्दमयत्वस्यानन्दमयाधिकरणेन सिद्धेः । प्रकरणाच्च सत्यज्ञानात्मकत्वम् । तिरोहिते सत्यज्ञाने तु स्त एव । एवमतिरोहितार्थमित्यर्थः । एतेनेति । अन्वयपदात् व्यापकत्वेन । एकमेवेति । अवधारणव्याख्यानश्रुतावेकत्वस्य विवक्षितत्वादिति भावः । चिन्तयेदिति । 'आध्यानाये'ति सूत्रवासनायाः । उपासनाया वा । श्रद्धेति । श्रद्धाकला विज्ञानमयशिरः । छान्दोग्ये षष्ठे प्रपाठके तु 'द्यौः कला'इत्यादिषु द्रष्टव्या । दिवि जलदर्शनात् । 'श्रद्धा वा आप' इति श्रुतेः । 'समुद्रः कला' इति वा । सामुद्रं जलं सूर्यनिपीतं मिष्टं जातमिति । बोधितेति । इतरवत्पदेन व्यञ्जनया बोधिता । आनन्दमये प्राणधर्मस्येव तद्विधायिका आपोत्रानन्दमयधर्मत्वेन स्मृता अत्रिवृत्कृताः । तद्धर्मत्वेनानन्दमयोपासना । अन्नमय इत्यत्र 'आपो वा अन्न'मिति श्रुतेः । ऐतरेयेति । 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किञ्चन मिषत्स ऐक्षत लोकान्नुसृजते'ति वाक्ये । युक्तमिति । आत्मनः परमात्मत्वाद्युक्तम् । 'विशिष्टं शुद्धान्नातिरिच्यत' इति नैयायिकोद्घोषात् । सूत्राणां सारवद्विश्वतोमुखत्वाच्च ॥ १७ ॥ इति द्वितीयमात्मगृहीत्यधिकरणम् ॥ २ ॥

कार्याख्यानादपूर्वम् ॥ १८ ॥ (३-३-३.)

तैत्तिरीयके पठ्यते । 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत' इत्युपक्रम्य महाभूतसृष्टिमुक्त्वा, आम्नायते 'पृथिव्या ओषधयः, ओषधीभ्योऽन्नम्, अन्नात् पुरुषः,स वा एष पुरुषोऽन्नरसमय'इति । एतदग्रेऽन्नस्योत्पत्तिस्थितिलयहेतुत्वमुक्त्वा, 'येऽन्नं ब्रह्मोपासत'इत्युच्यते । भृगुवरुणसंवादे च 'अन्नं ब्रह्मेति व्यजाना'दित्युच्यते। तत्र 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमय' इत्यनेन पूर्वोक्त एव पुरुष उच्यते, उत तद्भिन्न इति भवति संशयः । किमत्र युक्तम् । पूर्वोक्त एवेति । यतः पूर्वोक्तस्यैव 'स वा एष' इत्यनेन प्रत्यभिज्ञानं प्रतीयते । तत्र ब्रह्मत्वेनोपासना कार्येत्यभिप्रायेण ब्रह्मत्वेन स्तूयत इति प्राप्ते, आह कार्याख्यानादपूर्वमिति । पूर्वस्यान्नकार्यस्य पुरुषस्याख्यानात्, 'स वा एष' इत्यनेनाग्रिमश्रुतिभिर्ब्रह्मत्वेन प्रतिपिपादयिषितमन्नरूपमेवोच्यते, न तु पूर्वमित्यर्थः । 'स वा एष' इति प्रत्यभिज्ञानमिति यदुक्तम्, तन्न । 'अन्नात् पुरुष'इत्यन्तेनाधिभौतिकतन्निरूपणात् । 'स वा एष'इत्यनेनाध्यात्मिकतन्निरूपणादुभयोश्च भेदात् । अत एव संशयाभावायाह । वै निश्चयेन एष वक्ष्यमाणः पुरुषः स आध्यात्मिकत्वेन प्रसिद्धोऽन्नरसमय इति । अन्यथा ब्रह्मात्मकतपोलक्षणसाधनेनाधिकारे सम्पन्ने 'अन्नं ब्रह्मेति व्यजाना'दिति न वदेत् । नचातदपि

भाष्यप्रकाशः ।

कार्याख्यानादपूर्वम् ॥ १८ ॥ अन्नमयादीनां कोशातिरिक्तत्वं बोधयितुमनुप्रसङ्गेन वदतीत्याशयेनाहुः तैत्तिरीयके इत्यादि । एतदग्र इति ।'अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्त' इत्यग्रिमानुवाके। संशयमाहुः तत्र स वेत्यादि । तथाच 'अन्नात् पुरुष' इति हेतुहेतुमद्भावश्रावणात् पूर्वोक्त एव अन्नजन्य एव, उत अन्नस्य ब्रह्मत्वेनोपास्यतायास्तपसा ब्रह्मत्वेन ज्ञानस्य चाग्रे वक्ष्यमाणतया तादृशान्नरसमयत्वात् पूर्वोक्तपुरुषतो भिन्नो विभूतिरूप इति संशय इत्यर्थः । पूर्वोक्त एवेत्यादि-पूर्वपक्षस्तु स्फुटः । सिद्धान्तं वक्तुं सूत्रं व्याकुर्वन्ति पूर्वस्येत्यादि । एतेन कार्यस्य आख्यानात् कथनात् । ल्यब्लोपे पञ्चमी । कार्यस्याकथनं कृत्वा अपूर्वं अग्रे उच्यमानं अतिरिक्तम्, न तु तदिति सूत्रयोजनात्र स्फुटीकृता ।

अत्रायमाशयः । अन्नमयश्लोके यदि कार्यभूतस्यान्नस्य ब्रह्मत्वेनोपासनाय ब्रह्मधर्माः स्तुत्यर्थमुच्येरन्, तदा 'अन्नाद्वा' इत्यादिना पूर्वं तानुक्त्वा अग्रे 'सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति येऽन्नं ब्रह्मोपासते' इति सफलमुपासनमात्रं वदेत् । ब्रह्मत्वेनोपासनस्य तावतैव सिद्धेः । न तु तदग्रे पुनरपि 'अन्नं[२] हि भूतानां ज्येष्ठ'मित्यादिना भूतजनकत्वतद्वर्धकत्वाभ्यां धर्माभ्यां 'अतति

रश्मिः ।

कार्याख्यानादपूर्वम् ॥१८॥ कोशातीति । विभूतित्वम् । हेतुहेतुमदिति । अन्नं हेतुः, पुरुषो हेतुमान् । कार्यकारणभावश्रावणात् । प्रत्यभिज्ञानमिति । तत्ताइदन्ताप्रकारकं ज्ञानम् । अतिरिक्तमिति । अपूर्वत्वेन प्रसिद्धातिरिक्तम् । तस्य परमतत्वेन लौकिकभाषात्वेन सूत्रे विवक्षणात् । आत्मप्रकाशरूपम् । 'धर्मो यस्यां मदात्मक' इति वाक्यात्, न तु पूर्वपुरुषरूपं प्रसिद्धं वा पूर्वमित्यर्थः । पूर्वपक्षोक्तमनुवदन्ति स्म अन्नमयश्लोक इति । निरस्यन्ति स्म पूर्वस्येति भाष्याशयात् । तदेति । तानिति । ब्रह्मधर्मान् ।

१. न च तदपि, नचा तदपि इति पाठौ । २. उपासकरूप इति भावत् ।

न्नतथात्वेन स्तूयत इति वाच्यम् । श्रुतेः प्रतारकत्वापत्तेः । आनन्दमयान्तमेवमेव निरूपणाच्च । अत एवास्याप्यात्माग्रे निरूपितो 'यः पूर्वस्ये'ति । स त्वाधिदैविक आनन्दमयः ।

भाष्यप्रकाशः ।

भूतानि सततं व्याप्नोती'त्यन्नमिति भूतव्याप्तिबोधकं निर्वचनं सूचयेत् । नापि 'अद्यतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यत' इति निरुच्यात् । प्रयोजनाभावात् । एवं सत्यपि यदेवं पुनर्निर्वक्ति, तेन पूर्वोक्तात् कार्यरूपादन्नादेतं व्यवच्छिनत्ति । अग्रिमप्रपाठके ब्रह्मात्मकेन तपोरूपेण साधनेन तस्मिन् ब्रह्मत्वेन ज्ञानं भृगोर्वक्ति, न तु साधनं विना । तेनास्यान्नस्य पूर्वस्माद्वैलक्षण्यमवश्यं वक्तव्यम् । मैत्रायणीये 'विश्वभृद्वै नामैषा तनूर्भगवतो विष्णो'रिति भगवत्तनुत्वश्रावणात् । बृहदारण्यकोपनिषदि चान्नमुपक्रम्य 'स वा एष पुरुषः पञ्चधा पञ्चात्मा येन सर्वमिदं प्रोतं पृथिवी चान्तरिक्षं चे'त्यादिना व्यापकत्वश्रावणाच्च । एवमन्नयोर्वैलक्षण्ये सिद्धे 'अन्नात् पुरुष' इत्यत्र य उच्यते, स भौतिक एव, पूर्वं तस्यैव सिद्धत्वात् । यः पुनस्तदग्रे 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमय' इत्यनेनोच्यते, स आध्यात्मिक एव । अन्नसारभूतत्वात् । अत एव मध्ये निश्चयार्थकस्य 'वै' इत्यस्य कथनम् । नच प्रत्यभिज्ञाबोधकयोः 'स एष' इत्यनयोर्विरोधः शङ्क्यः । 'स' इत्यस्य 'स राजा तोयनीव्या भुवः' 'कला च सा कान्तिमती कलावत' इत्यादाविव प्रसिद्धार्थकतया 'एष' इत्यस्य वक्ष्यमाणार्थकतया चोपपत्तेः प्रत्यभिज्ञाया निश्चेतुमशक्यत्वात् । नच तौल्यं शङ्क्यम् । तदेतत्पदाभ्यां प्रसिद्धवक्ष्यमाणपरामर्शे पूर्वोक्तनिरुक्तिलिङ्गाभ्यासानां सामञ्जस्यस्यान्यथा तदनुपपत्तेश्च प्रमाणत्वेन तन्निरासात् । प्रत्यभिज्ञापक्षे तज्जनकस्यान्नस्य कार्यतया अब्रह्मणो ब्रह्मत्वेन ज्ञानं तपसा वदन्त्याः श्रुतेः प्रतारकत्वापत्तिरिति दोषसम्भवात् । प्रशंसामात्रार्थतायास्तत्र वक्तुमशक्यत्वात् । आनन्दमयज्ञानपर्यन्तं तपोरूपसाधननिरूपणाच्चात्रैव तथा वक्तुमशक्यत्वात् । किञ्च । यदि भौतिक एवान्नमयः स्यात्, तदा

रश्मिः ।

निरुच्यादिति । निर्वचनं कुर्यात् । भाष्यीयहेत्वाशयपूर्वकं 'स वा एष' इत्यादिसाध्यभाष्याशयमाहुः विश्वभृदिति । 'पृथिवी वा अन्न'मिति श्रुतेः । पञ्चात्मेति । पञ्चमहाभूतात्मा । अन्नसारेति । 'पुरि शेत' इति पुरुषः कीटादिः सोऽन्नसारः, नत्वन्नम्, तथा दर्शनाभावात् । एवं भाष्योक्तहेत्वाशयमुक्त्वा साध्याशयमाहुः नचेति । देहलीदीपन्यायेनोभयहेत्वन्वयि । पूर्वोक्तहेतुग्रन्थेन न शङ्क्य इत्यर्थः । स्वीयभाष्याशयमाहुः स इत्यस्येति । स प्रसिद्धः राजा दशरथः । तोयं नीवी मर्यादा यस्या भुवः । कान्तिमती सा प्रसिद्धा । कलावतश्चन्द्रस्य । वक्ष्यमाणेति । भाष्ये वक्ष्यमाणोऽर्थोऽन्नरसमयरूपः । अशक्येति । त्यदादीनां पूर्वपरामर्शकत्वमात्रत्वाभावात् । तौल्यमिति । सुन्दोपसुन्दन्यायेनोभयत्र निश्चयाशक्त्या प्रसिद्धार्थस्यापि निश्चेतुमशक्त्या तथा । निरुक्तीति । 'अद्यतेऽत्ति च भूतानी'त्यन्ननिरुक्तिः । तपोरूपसाधनसाध्यत्वं ब्रह्मत्वेन ज्ञाने लिङ्गम् । अन्नाभ्यासः पूर्वोक्तः । प्रमाणत्वेनेति । अनुपलब्धेः प्रमाणत्वं प्राचां मते । तन्निरासस्तौल्यनिरासः तस्मात् । नचान्तरिति भाष्याशयमाहुः प्रत्यभिज्ञापक्ष इति । तज्जनकस्येति । विषयविधया प्रत्यभिज्ञाजनकस्य । वदन्त्या इति । 'स तपस्तप्त्वा अन्नं ब्रह्मेति व्यजाना'दिति श्रुतेः । कार्यतयाऽब्रह्मत्वेपि प्रशंसान्नस्येत्यत आनन्दमयप्रशंसेत्यादिभाष्याशयमाहुः प्रशंसेति । तत्रेति । श्रुतौ अर्थवादत्वापत्त्या तथा । तदेवाहुः आनन्देति । अत्रैव तथेति । अन्नमये तत्प्रवाहपठिते प्रशंसामात्रार्थतायाः । तदेत-

अथवा । वाजसनेयिशाखायां 'आत्मेत्येवोपासीते'त्युपक्रम्य 'तदेतत्प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात् प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मे'ति । एतदग्रेऽन्यस्य प्रियत्वं

भाष्यप्रकाशः ।

आनन्दमयस्य एतदात्मरूपत्वं न वदेत् । वदति तत् । अतः कार्यरूपाद्वैलक्षण्यमस्यावगन्तव्यम् । नचैवमपि आधिदैविकाद्भेदस्तु वर्तत एवेति किमनेन प्रयासेनेति शङ्क्यम् । 'आध्यात्मिकस्तु यः प्रोक्तः सोऽसावेवाधिदैविक'इति द्वितीयस्कन्धे आध्यात्मिकाधिदैविकयोः स्वरूपभेदनिवारणेन तदभावात् । अभिलापभेदस्य तु पाचकपाठकवत् कार्यभेदप्रयुक्तत्वेन स्वरूपाभेदकत्वात् । तस्मादाध्यात्मिकाधिदैविकयोरन्नमयानन्दमययोः कार्यभेदेन विभूतिविभूतिमद्भावादेव भेदः, न तु स्वरूपतः । धर्मधर्मिणोस्तादात्म्यरूपस्याभेदस्य पूर्वं साधितत्वात् । अयमेव न्यायः प्राणमयादिष्वपि द्रष्टव्यः । तेनानन्दमयविद्यायां पञ्चाप्यन्नमयादयः कोशातिरिक्ताः, तेषु चत्वारो विभूतित्वेनोपास्याः, आनन्दमयः पुरुषोत्तमस्तु तादृशविभूतिमत्त्वेनोपास्य इत्येतदर्थमिदमिति बोधितम् । तेन विशेषतो वैष्णवानां समीपे आसीनत्वं द्रष्टव्यमिति ज्ञापितम् ।

एतस्य विचारस्य पूर्वशेषत्वादर्थस्य प्रागपि व्युत्पादितत्वाच्च नात्यन्तमावश्यकतेत्यरुच्या प्रकारान्तरेणैतत् व्याकुर्वन्ति अथवेत्यादि । विषयादिकमाहुः वाजसनेयीत्यादि । वाजसने-

रश्मिः ।

स्मात्सष्ठ्यालुक् । वैलक्षण्यार्थं पुनराहुः किञ्चेति । एतदात्मरूपत्वमिति । एतस्यान्नमयस्यात्मा इदंपदवाच्यस्तेन रूप्यते आत्मित्वेन व्यवह्रियत इत्येतदात्मरूपत्वम् । वदति तदिति । 'तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्ये'ति श्रुतिर्वदति तत्, एतस्य अन्नमयस्य आत्मा इदंपदवाच्योऽन्नमयनिरूपण आत्मत्वेनोक्तः, तेन रूप्यते आत्मित्वेन व्यवह्रियते इत्येतदात्मरूपत्वम् । न च पूर्वभाष्यानन्दमयाधिकरणयोर्विरोधः । 'आनन्द आत्मे'ति श्रुत्युक्तात्माभेदेन 'तस्यैष' इत्यत्रात्मनो नेतुं युक्तत्वान्न विरोध इति । ननु 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन' इति श्रुत्युक्त आत्मा, 'तस्यैष' इति श्रुतौ 'आनन्द आत्मे'ति श्रुतौ तु प्रतीकगतो यः कश्चिदिति चेत् । न । अप्रसिद्धेः । तथाचान्नमये मूलात्मान्यात्मा न प्रसिद्धः । प्राणमये आकाशस्यात्मनाध्यासाख्यसम्बन्धः । 'आकाशशरीरं ब्रह्मे'ति श्रुतेः । आकाशाभिन्नो ब्रह्मात्मेत्यर्थः । आत्मोपनिषदा नात्मपदे लक्षणा । मनोमये आदेशस्यात्मना प्रतिपाद्यतासम्बन्धः । आदेशप्रतिपाद्याभिन्न आत्मेत्यर्थः । सर्वस्यात्मत्वेनादेशस्याप्यात्मत्वान्न लक्षणादेशपदे । विज्ञानमये योगस्यात्मना साध्यसाधनभावसम्बन्धः । 'भक्त्या प्रसन्ने तु हरौ तं योगेनैव योजये'दिति निबन्धात् । भूमत्वेन साधनत्वात्तेन रूपेणाभेदः आत्मना । स्वस्वरूपसाधनाभिन्न आत्मेत्यर्थः । लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणे सर्वात्मभावस्य भूमत्वं योगस्तदन्तर्गत इति सुष्ठु अभेदान्वयः । अस्येति । आध्यात्मिकस्य । अत एवेत्यादिभाष्याशयं विवरीतुमाहुः नचैवमित्यादि । भाष्यार्थस्तु अत एवेति । आध्यात्मिकत्वादेव । अस्यापीति । अन्तानन्दमयस्यापि । अग्रे अत्रैवाग्रे । स त्विति । 'यः पूर्वस्ये'ति निरूपितः । अत्राशङ्कते स्म नचैवमित्यादिना । वर्तेत इति । आध्यात्मिकस्य ज्ञेयः । अनेनेति । आधिदैविकशून्येनोपासनाविचारप्रयासेन । तदभावादिति । वैश्वर्योपादकस्य किमनेन प्रयासेनेति प्रश्नस्याभावात् । कार्यभेदेति । प्राणमयमनोमययोराध्यात्मिकयोः कार्यं शरीरधारणं सङ्कल्पादि च । आधिदैविकानन्दमयकार्यं प्रेरणम्, वेदान्तप्रसिद्धम् । तादृशभेदप्रयुक्तत्वेन । स्वरूपेति । पाचनकाले पाठनकाले एकस्य स्वरूपाभेदकत्ववदिति बोध्यम् । पूर्वमिति । प्रकाशाश्रयाधिकरणे । अयमिति । कार्याख्यानसूत्रन्यायः ।

निराकृत्य 'ईश्वरो हि तथा स्यादात्मानमेव प्रियमुपासीते'ति पठ्यते । अत्रात्मौपाधिकत्वात् सर्वत्र प्रियत्वस्यात्मपदेन जीवात्मन एव प्रियत्वेनोपासना विधीयते, उतेश्वरपदात् परमात्मन इति भवति संशयः । किमत्र युक्तम् । जीवात्मन एवेति । कुतः । यथा पुत्रादेरात्मौपाधिकप्रियत्वोक्त्या जीवात्मन एव प्रियत्वमुच्यतेऽन्यत्र श्रुतौ, तथेहापि 'प्रेयः पुत्रा'दित्यादिकथनाज्जीवात्मैव भवितुमर्हतीति प्राप्ते, आह कार्याख्यानादपूर्वमिति । इतः पूर्वमाम्नायते 'प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति वदन् वाग् रूपं पश्यँश्चक्षुः शृण्वञ्छ्रोत्रं मन्वानो मनस्तान्यस्यैतानि कर्मनामान्येवे'ति । तथाच प्राणनवदनादिकार्यैः कृत्वा प्राणवागादित्वेनैकस्यैवात्मन आख्यानात् कथनादपूर्वम्, पूर्वं तु पुत्रवित्ताद्यभिमानदशायां 'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवती'त्यादिना यत्प्रियत्वेनोच्यते, तस्माद्भिन्नमात्मशब्दवा-

---

भाष्यप्रकाशः ।

यिशाखायामिति । तस्यां बृहदारण्यके पुरुषविधब्राह्मणे । संशयं तद्बीजं चोक्त्वा पूर्वपक्षमाहुः जीवेत्यादि । अन्यत्रेति । मैत्रेयीब्राह्मणे । यद्यपि मैत्रेयीब्राह्मणेपि ब्रह्मैव प्रतिपाद्यत इति वाक्यान्वयाधिकरणे निर्णीतम्, तथाप्यापाततो निरुपधिप्रियत्वं जीवे भासते इति पूर्वपक्षे तदादृतम् । सिद्धान्तं वक्तुं सूत्रे कार्यैराख्यानं कार्याख्यानमिति तृतीयासमास इत्यभिप्रेत्य कर्मनामकथनादित्यर्थः सिध्यतीति तत् व्याकुर्वन्ति इत इत्यादि । अपूर्वमिति । पुत्राद्यभिमानदशायामभिमानित्वेन प्रतीयमानात् प्रतीचो भिन्नम् । तदेतद्विवृण्वन्ति पूर्वं त्वित्यादि । यदिति । जीवात्मरूपं वस्तु । आत्मशब्दवाच्यमत्रेति । 'आत्मानं प्रियमुपासीते'तिवाक्ये

रश्मिः ।

'यः पूर्वस्ये'ति सर्वत्र श्रावणात् । प्राणमयस्यादिः प्राणमयादिः अन्नमयः प्राणमय आदिर्ययोः मनोमयविज्ञानमययोः तौ प्राणमयादी, प्राणमयादिश्च प्राणमयादी च प्राणमयादयस्तेषु । सिद्धमाहुः तेनेत्यादि । पूर्वोक्तवेदनमुपासनं यद्यपि, तथाप्यात्मत्वात्सर्वेषां विशेषतः 'मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारदे'तिवाक्याद्वैष्णवाना'मेतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्ये'त्यत्रैतच्छब्दात्समीपतरवर्त्यानन्दमयः 'आसीनः संभवा'दिति सूत्रादासीनः इत्येवं विशेषमुपासनायामनुसन्धायाहुः तेनेति । भार्गवी वारुणी विद्यम् । पूर्वेति । विषयवाक्यमुपनिषत् भाष्यादसन्दिग्धं मन्येतेति । विद्याद्युपाधिना । अतः पूर्वस्य जन्माद्यधिकरणस्य शेषत्वम् । पूर्वाधिकरणस्य वा । तेनाधिकरणान्तरत्वभञ्जकत्वमिति भावः । प्रागपीति । आनन्दमयाधिकरणेपीत्यर्थः । उपासनाप्रकरणे विचारस्यास्मारणान्नात्यन्तमिति । तद्बीजमिति । हेतुतृतीयान्तहेतुपञ्चम्यन्तपदाभ्यां संशयबीजम् । इत इत्यादीति । विषयवाक्यात्पूर्वं पुरुषविधब्राह्मणे । अस्येति । अकृत्स्नस्य । प्राणनादिक्रियाविशिष्टस्य । 'मेने सन्तमिवात्मान'मितिवाक्योक्तस्य । कर्मकृतानि नामानि कर्मनामानि । अभिधाविषयकर्मणो नामानि वा । 'कर्मणा जायते जन्तु'रितिवाक्योक्तस्य । एवकारेण रूपनामव्यवच्छेदः क्रियते । तथा च पुरःस्फूर्तिकस्य कार्याख्यानात्साध्यत्वेनाख्यानात् यागस्य स्वर्गपर्यन्तं स्थित्यर्थमपूर्वमित्यस्यार्थस्य विचारेपि वेदान्तीयकर्मविचारः । अन्तरात्मपरत्वे तूपलक्षणेन षोडशापि ज्ञेयाः । तथाचेति । पुराणे परमतलौकिकीभाषाभ्यां हेतुभ्यां पूर्वोत्तरसंदर्भसिद्धार्थे च अपूर्वमित्यन्तः सूत्रार्थ इत्यर्थः । आत्मन इति । कर्मविशिष्टात्मरूपस्य, नित्यस्याफलमनुवर्तमानस्य । वेदान्तीयकर्मानन्तरं तदीयापूर्वं वक्ष्यमाणभाष्योक्तमाहुः पुत्रादीति । अहं पुत्रीति पुत्राभिमानः ।

च्यमत्रेत्यर्थः । लोके हि प्राणवायुवागिन्द्रियादीनामेव तत्तच्छब्दवाच्यता, न तु जीवस्य, अत एवाग्रे श्रुतिराह 'ईश्वरो हि तथा स्या'दिति । अत एव 'प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मे'त्याह । अन्तरो जीवात्मा, ततोऽप्यतिशयेनान्तरमन्तरतरं पुरुषोत्तमस्वरूपमेव भवितुमर्हतीति । एतेन विग्रहस्यैवात्मरूपत्वं सिध्यति । तेनाविकृतत्वपरमानन्दत्वादयोपि धर्मा उपसंहर्तव्याः ॥ १८ ॥

ननु विग्रहे चक्षुःश्रोत्रादीनां वैलक्षण्यप्रतीतेरात्मनश्चैकरसत्वादुक्तकर्मनामवत्त्वं ब्रह्मण्यनुपपन्नमित्याशङ्क्योत्तरं पठति ।

भाष्यप्रकाशः ।

आत्मशब्दवाच्यम् । ननु प्राणनादिकार्ये जीवस्यापि प्रयोजकत्वात् कार्याख्यानमात्रेण प्रत्यगात्मातिरिक्त आत्मात्रोच्यत इति कथं निश्चेयमित्यत आहुः लोके हीत्यादि । अत एवेति । जीवभिन्नत्वादेव । अत एव प्रेय इत्यादि । ईश्वरत्वादेव प्रेयोऽन्यस्मादित्यादिकं श्रुतिराह । तदेव व्युत्पादयन्ति अन्तर इत्यादि । तथाचेश्वरत्वान्तरतरत्वाभ्यां लिङ्गाभ्यामुपष्टब्धेन तेन तथेत्यर्थः । ननु भवत्वेवम्, तथापीदानीं तद्विचारस्य किं प्रयोजनमत आहुः एतेनेत्यादि । एतेनेति । प्राणनादिकार्यमुक्त्वा 'ईश्वरो हि तथा स्या'दिति तत्तत्सर्वरूपताख्यानेन । एवमेतत्साधनस्यापि प्रयोजनमाहुः तेनेत्यादि । उपसंहर्तव्या इति । अवतीर्णे स्वरूपेऽनुसन्धेयाः । तथाचैतदर्थमिदमत्र विचारितमित्यर्थः । तेन पूर्वोक्ते अनावश्यकतामात्रं न वर्णकान्तरकथने बीजम्, किन्त्वेतदपीति बोधितम् ।

अन्ये तु इदमेकसूत्रमधिकरणमङ्गीकृत्य अत्र प्राणविद्याशेषं विचारयन्ति । भोजनारम्भसमाप्त्योराचमनीयास्वप्सु प्राणवासोदृष्टिः कर्तव्येति ।

तत्र नास्माकमादरः । तासाममुख्यविद्यात्वेन तद्विचारस्य प्रासङ्गिकत्वात् । विद्यान्तरं मध्ये विचार्य दूरस्थितस्य पुनरत्र स्मृतौ बीजानुपलम्भाच्चेति ॥ १८ ॥

रश्मिः ।

प्रतीचो जीवात् । भिन्नमात्मशब्दवाच्यम् । न हि जीवो वदन् वाग्भवति अनुक्तेः, किन्तु छान्दोग्यीयाष्टमोपदेशविषयः । आत्मशब्देति । अपूर्वं प्रकाशाश्रयात्मशब्दवाच्यम् । 'धर्मो यस्यां मदात्मक' इति वाक्यात् । अभिधातात्पर्याभ्याम् । प्रयोजकेति । 'जीव प्राणधारण' इति धातुपाठात्प्राणनादिप्राणकार्ये परम्परया जीवस्य कारणत्वात् । तेन तथेति । आत्मपदेन अन्तरो जीवात्मेत्यादिः । प्राणनादीति । अन्तर्यामिब्राह्मणोक्तस्यात्मनो विग्रहत्वकथनेनेत्यप्येतेनेत्यस्यार्थो बोध्यः । एतदिति । नित्यविग्रहवत्त्वसाधनस्य । एतदपीति । विग्रहस्यैवात्मरूपत्वम् । प्राणविद्येति । प्राणवासो दृष्टिरूपम् । भोजनस्यारम्भसमाप्त्योः । प्राणवास इति । 'आपोमयः प्राण' इति श्रुतेरप्सु प्राणवासः । दूरेति । प्राणविद्यास्थितस्य ॥ १८ ॥

समान एवं चाभेदात् ॥ १९ ॥

चोऽप्यर्थे । तथाचैवमपि सति श्रोत्रचक्षुरादिवैलक्षण्यप्रतीतावपि सति समान एकरूप एव, न तु विषमः । तत्र हेतुरभेदादिति । चक्षुरादीनां ब्रह्मत्वेन परस्परमभेदादित्यर्थः ।

अत्रेदमाकूतम् । 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामी'ति श्रुतेरुपनिषद्वेद्यमेव ब्रह्मस्वरूपम् । ताश्च 'प्राणन्नेव प्राणो भवति वदन् वा'गित्यादिरूपाः प्रतिनियतेन्द्रियग्राह्यान् अर्थान् स्वरूपेणैव गृह्णत् ब्रह्म तत्तच्छब्दवाच्यं भवतीति वदन्ति । तद्वाच्यता च व्यवहार्यत्वे । स च 'तदेतत्प्रेयः पुत्रा'दित्यादिवाक्यैकवाक्यतया निरुपधिस्नेहवतामेव व्यवहार्य इति ज्ञाप्यते । स चाविर्भूतेऽवताररूप एव सम्भवति । एवं सति तत्र भक्तैर्भगवद्विग्रहे तत्तदवयवेषु भेदेन यथा यथा व्यवह्रियते, तथा तथैव तदेकमेवाखण्डसच्चिदानन्दरूपं ब्रह्मेत्यर्थः सम्पद्यते । एवंविधो लोके न प्रसिद्ध इत्यसम्भावना स्यात्, तदभावायाग्रे श्रुतिराह 'ईश्वरो हि तथा स्या'दिति । एतेनाविर्भूतरूपे व्यापकत्वैकरसत्वसच्चिदानन्दत्वादयो धर्मा उपसंहर्तव्याः, अनाविर्भूतेऽपीति स्थितम् । एवं सत्याविर्भावेऽनाविर्भावेऽपीश्वरः

भाष्यप्रकाशः ।

समान एवं चाभेदात् ॥ १९ ॥ सूत्रमवतारयन्ति ननु विग्रह इत्यादि । तथाच शल्ककुसुमयोरिव स्वगतद्वैतमापततीति तत्परिहारायोत्तरं पठतीत्यर्थः । व्याकुर्वन्ति चोऽप्यर्थ इत्यादि । ननु भिन्नप्रकारकप्रतीतौ विद्यमानायां कथमभेदसिद्धिरित्यतस्तद्व्युत्पादयन्ति अत्रेत्यादि । स चेति । औपनिषदः पुरुषश्च । स चेति । व्यवहारश्च । नच तस्य व्यवहारस्याप्रामाणिकत्वं शक्यशङ्कम् । वरणहेतुकतनुविवरणैकसाध्यत्वात् । 'प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात्' 'आह च तन्मात्र'मिति सूत्रद्वयेनातीतपादेपि तस्योपपादनात् । तदेतदभिसन्धायाहुः एवं सतीत्यादि । अत्र लौकिकयुक्तेः कौण्ठ्यमेव श्रुत्यभिप्रेतमित्याशयेनाहुः एवंविध इत्यादि । सिद्धमाहुः एतेनेत्यादि । एतेनेति । ईश्वरस्य तथात्वश्रावणेन ।

एतामेव श्रुतिं हृदिकृत्य प्रकारान्तरेण सूत्रं योजयन्ति एवं सत्याविरित्यादि । तथाच, 'अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोपि सन् । प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायये'ति

रश्मिः ।

समान एवं चाभेदात् ॥ १९ ॥ भाष्ये । परस्परमिति । धर्मिधर्मयोरिति बोध्यम् । प्रकृते । स चेतीति । अत्र निरुपधीत्यादिभाष्यं गताज्ञानानामिति बोध्यम् । तस्येत्यादि । औपनिषदः पुरुषश्चेत्याकारकस्य । शक्या शङ्का यस्मिन्निति शक्यशङ्कम् । वरणेत्यादि । पुष्टिमार्गीयम् । वरणस्य स्वीयत्वेनाङ्गीकारे रूढेः । वस्तुतस्तु वृङ् संभक्तौ । सर्वात्मभावो वरणम् । वेदान्ते योगात्, रूढेरभावात् । विवरणं प्रकाशनम् । तथा च निरुपधिस्नेहवतामितिभाष्येण गताज्ञानानामिति सूचनात्तमोभावेन विशुद्धसत्त्वजज्ञानविषयत्वेन स व्यवहारः प्रामाणिक इति भावः । एवं सतीत्यादि । भेदेनेति । इवार्थेन । गीतायां 'अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थित'मिति ब्रह्मनिरूपणे वाक्यात् । एवं सत्याविरित्यादीति । आविर्भाव इत्यादिना सूत्रार्थः । एवं चेत्यत्र सूत्रेऽन्वयादिति सूत्रान्मण्डूकप्लुत्याव-

समानः । न ह्याविर्भावे कांश्चनागन्तुकान् धर्मानादायाविर्भवतीति वक्तुं शक्य-मनाविर्भूतस्यापि । एवमाविर्भूतप्रकारेणैवाभेदादित्यपि सूत्रार्थः सूत्रकाराभिमत इति ज्ञातव्यम् । चकारेण विरुद्धसर्वधर्माश्रयत्वं समुच्चीयते । एवं साक्षादाविर्भूते भगवद्रूपे पूर्णानन्तधर्मास्तदुपासकेनोपसंहर्तव्या इति सिद्धम् ॥ १९ ॥

अथ यत्र कार्यचिकीर्षया जीवे स्वयमाविशति, तदावेशात्तद्धर्मा अपि केचित् तस्मिन्नाविर्भवन्ति । तत्रोपासकेनाखिलब्रह्मधर्मोपसंहारः कर्तव्यः, न वेति शङ्कासमाधानं विकल्पेनाह सूत्राभ्याम् । तत्रादौ विधिपक्षमाह ।

सम्बन्धादेवमन्यत्रापि ॥ २० ॥

अन्यत्रापि जीवेऽप्येवं ब्रह्मणीवोपासना कार्या । तत्र हेतुः सम्बन्धादिति ।

भाष्यप्रकाशः ।

गीतावाक्येनास्यां श्रुतावुक्तस्येश्वरत्वस्य नैसर्गिकत्वेन तादृगाकारस्य सार्वदिकत्वात् तथेत्यर्थः । अत्र च 'विश्वतश्चक्षुः' 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूप'मित्यादिश्रुतयोऽप्यनुसन्धेयाः । पूर्वं चोप्यर्थे व्याख्यात इत्यस्मिन् पक्षेऽर्थान्तरमाहुः चकारेणेत्यादि । सिद्धमाहुः एवं साक्षादित्यादि । साक्षादाविर्भूत इति । सत्त्वाद्यधिष्ठानमनपेक्ष्य स्वरूपेणाविर्भूते ।

अन्ये त्विदमेकसूत्रमधिकरणमङ्गीकृत्य वाजिशाखीयाग्निरहस्यस्थबृहदारण्यकस्थयोः शाण्डिल्यविद्ययोरैकविध्यं परस्परगुणोपसंहारं च विचारयन्ति ।

तदपि प्रथमाधिकरणीयपञ्चसूत्र्यैव सिध्यतीति बोध्यम् । रूपाभेदस्यैव प्रयोजकत्वादिति ॥ १९ ॥

सम्बन्धादेवमन्यत्रापि ॥ २० ॥ एवमवतारोपासनादौ गुणोपसंहारं विचार्यावेशे तं विचारयतीत्याशयेनाग्रिमसूत्रमवतारयन्ति अथेत्यादि । 'य आत्मनि तिष्ठन् य आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीर'मिति श्रुत्या आत्ममात्रस्य ब्रह्मशरीरत्वेपि, 'योऽन्तर्बहिस्तनुभृतामशुभं विधुन्वन्नाचार्यचैत्त्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ती'त्येकादशस्कन्धे तनुभृदन्तर्बहिरशुभवि-

रश्मिः ।

धारणादित्यनुवर्तते इत्याशयेन सूत्रशेषं व्याकुर्वन्ति स्म एवमित्यादि । एवेति । अनुवृत्ते स्थले । स्वामिति । उक्तरीत्या स्वाम् । आत्ममाया पञ्चाध्याय्युक्तयोगमाया । पुराणे, अत्र त्विच्छेति ज्ञेयम् । नैसर्गिकत्वेनेति । 'प्रकृतिं स्वा'मित्यनेन विशुद्धसत्त्वाधिष्ठानकत्वोक्तेः । वासुदेव इत्यर्थः । तथेति । एवंसत्याविरित्यादिरित्यर्थः । विश्वत इति । अत्र योगमाययौपनिषदः पुरुषश्च ज्ञेयः । आदिना 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ती'ति श्रुतिः । सत्त्वादीति । सत्त्वं वराहस्याधिष्ठानं रजो वामनस्य तमो मत्स्यकच्छपयोः । सात्त्विकादिपुराणोक्तत्वात् । तावतीं मायां दूरीकृत्य स्वरूपेण मूलरूपेणाविर्भूते । शाण्डिल्येति । पूर्वस्यां गुणाः श्रूयन्ते । 'स आत्मानमुपासीत मनोमयं प्राणशरीरं भारूपमि'त्येवमादयः । तस्यामेव शाखायां बृहदारण्यके पुनः पठ्यते 'मनोमयोऽयं पुरुषो भाः सत्यस्तस्मिन्नन्तर्हृदये यथा व्रीहिर्वा यवो वा स एव सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किञ्चे'ति । तयोः । रूपाभेदस्येति उपसंहारहेतोरुपसंहारसूत्रोक्तस्य ॥ १९ ॥

सम्बन्धादेवमन्यत्रापि ॥ २० ॥ अवतारेति । सर्वदा संक्रमणमवतारः (कार्य)कार्यकालं

अयोगोलके वह्नेरिव तस्मिन्नावेशलक्षणः सम्बन्धोऽस्तीति, तत्त्वेन व्यपदेशाच्च तथेत्यर्थः ।

अत्रैवं ज्ञेयम् । अयं तु जीवः, अत्राविष्टं भगवन्तमहमुपास इति जानाति चेत्, तदा न सा जीवगामिन्युपासना, किन्तु ब्रह्मगामिन्येव । तत्राखिलधर्मोपसंहारे न किञ्चित् बाधकम् । यत्र ब्रह्मत्वेनैव ज्ञात्वोपास्ते, तत्रापि 'तं

भाष्यप्रकाशः ।

धूननपूर्वकस्वगतिव्यञ्जनरूपविशेषकार्यस्मरणात् तदादिकार्यचिकीर्षया यत्र जीवे स्वयं भगवानाविशति, तदा भगवदावेशाद्भगवद्धर्मा अपि केचित्तस्मिन्नाविर्भवन्ति । यथा इन्द्रप्रतर्दनसंवादे इन्द्रे । अत्र जीव इत्युपलक्षणम् । तेन प्रतिमाया अपि सङ्ग्रहः । गोपालतापनीये मथुरासमीपस्थवनस्थिता द्वादशमूर्तीरुक्त्वा, 'ता हि ये यजन्ति ते मृत्युं तरन्ति मुक्तिं लभन्त' इति फलमुक्त्वा, अग्रे 'मथुरामण्डले यस्तु जम्बूद्वीपे स्थितोपि वा । योऽर्चयेत् प्रतिमां मां च स मे प्रियतरो भुवि । तस्यामधिष्ठितः कृष्णरूपः पूज्यस्त्वया सदे'त्यादिभिः प्रतिमोपासनं लक्षीकृत्य सर्वेषां स्वपूजनस्योक्तत्वात् प्रतिमायामधिष्ठानोक्त्या स्वावेशस्य चोक्तत्वात् । अतस्तादृशे जीवादावुपासकेनाखिलब्रह्मधर्मोपसंहारः कर्तव्यो न वेति शङ्कायाम्, 'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ । तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मन' इति श्वेताश्वतरश्रुत्या गुरुभक्तेर्देवभक्तिवदतिदिष्टत्वात्, भक्तिपारम्यस्य चाखिलगुणोपसंहार एव सिद्धेर्गुरौ स कार्यः । अन्यत्र प्रतिमादौ तु न कार्यः, तादृशवाक्याभावादिति प्राप्ते, तत्समाधानं मार्गभेदव्यवस्थितविकल्पेन सूत्राभ्यामाहेत्यर्थः । तत्रेति । गुरौ प्रतिमादौ च । सूत्रं व्याकुर्वन्ति अन्यत्रापीत्यादि । प्रतिमासंग्रहायाहुः तत्त्वेन व्यपदेशादिति । उक्तं च स्कान्दे पाण्डुरङ्गमाहात्म्ये 'शिलाबुद्धिर्न कार्या च तत्र नारद कर्हिचित् । ज्ञानानन्दात्मको विष्णुर्यत्र तिष्ठत्यचिन्त्यकृ'दिति । उपासनामार्गे व्यवस्थितस्य विधिपक्षस्य बीजं स्फुटीकुर्वन्ति अत्रैवमित्यादि । एवमिति । वक्ष्यमाणप्रकारा-

रश्मिः ।

त्वाक्रमणमावेशः । स्वगतिमिति । नूतनमार्गं प्रवर्तयतीत्यर्थः । तदादीति । आदिनोपनयनसाङ्गवेदाध्यापने । 'उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्द्विजः । सरहस्यं तदङ्गं च तमाचार्यं प्रचक्षत' इति वाक्यात् । रहस्यं वेदान्ताः । तानि शिक्षादीनि अङ्गानि यस्य वेदस्य स तथोक्तस्तम् । अधिष्ठानेति । अधिकस्थितिः । 'यमादिभि'रिति श्रीभागवतवाक्यात् । तस्या उक्त्येत्यर्थः । जीवादाविति । जीवगुरुप्रतिमासु । अतिदिष्टत्वादिति । देव उपसंहृतविरुद्धधर्माश्रयस्तद्भक्तिवत् उपसंहृतविरुद्धधर्माश्रयगुरुभक्तिर्भवतीत्यतिदेशस्तस्मात् । येनकेनापि गुणेन भक्तिदर्शनाद्भक्तिपारम्यस्येत्युक्तम् । तदिति । उक्तायां शङ्कायां समाधानम् । सप्तमीति योगविभागात्समासः । मार्गभेदेति । मार्गावुपासाभक्तिरूपौ तयोर्भेदेन व्यवस्थितः उपासामार्गे उपसंहारः भक्तिमार्गेऽनुपसंहार इत्येवं विकल्पस्तेनेत्यर्थः । आहेति । उत्तरस्याहेत्यस्याकर्षः । तत्रेतीति । विधिपक्षमिति । कर्तव्य इत्यत्र विधौ तव्य इति तं पक्षम् । अन्यत्रापीत्यादीति । आवेशलक्षण इति । अभेदसंसर्गात् आवेशलक्षण इत्युक्तम्, संयोगविशेष इत्यर्थः । सम्बन्धोस्तीत्यत्रेतिशब्दो हेतौ । हेत्वन्तरमाहुस्तत्त्वेनेत्यादिनेत्याशयेनाहुः प्रतिमेति । ननु प्रतिमायाः ऐतदात्म्येन व्यपदेशः, नतु तत्त्वेन महावाक्य इत्यत आहुः उक्तं चेति । यत्रेति । सति प्रतिमादौ । तथा च ज्ञानानन्तानन्दसद्रूपत्वं प्रतिमादौ । ब्रह्मलक्षणमुक्तम् । प्रतिमाया असंग्रहायाहुरिति वाभासार्थः । विधीति । उपसंहारः कर्तव्य इति पक्षस्य । एवमित्यस्मात्प्रकारवाचकात्तृतीयाद्विवचन-

यथा यथोपासते तथैव भवति तद्धैतान् भूत्वाऽवती'ति श्रुतेर्गुर्वादौ जीवत्वबुद्धिनिषेधाच्च तथा । तत्र यादृगुपासकस्तदुपासनासिद्ध्यर्थं तत्फलदानार्थं च तादृग्रूपो भगवानाविशतीति च तथा ॥ २० ॥

यस्त्वन्तरङ्गं भगवद्भक्तं हृद्याविर्भूतभगवत्कं ज्ञात्वैतद्भजनेन अहं भगवन्तं प्राप्स्यामीति ज्ञात्वा तमेव भजते, स भक्तिमार्गीय इति भक्तहृद्याविर्भूते रूपे उपसंहारो धर्माणां तेन न कार्य इत्यग्रिमं पठति ।

न वाऽविशेषात् ॥ २१ ॥

अनुपसंहारे हेतुरविशेषादिति । अस्य भक्तभक्तत्वेन तद्भजनरसास्वादनेन विस्मृततदाविष्टभगवत्कत्वेन तन्निरपेक्षत्वेन वा तदाविष्टभगवति गुणोपसंहारेऽनुपसंहारे वा भक्तोपासनायां विशेषाभावादित्यर्थः । अनुपसंहारस्यात्र बाधकत्वाभावज्ञापनाय वाशब्दः ।

विशेषादिति वा । पूर्वं विहितत्वेन भगवदाकारादिषु भजनं कुर्वन्नप्युक्तरूपभक्तसङ्गेन तद्भजनेन च पूर्वस्माद्विशिष्टं रसमनुभूतवानिति रसास्वादे विशेषाद्गुणोपसंहारं स न करोतीत्यनुवादः । विहितत्वेन गुणोपसंहारपूर्वकोपासनायां नीरसत्वेनानादरज्ञापनाय वाशब्दः । भगवदवताररूपोपि बादरायणः प्रासङ्गिकेऽपि भक्तिमार्गस्मरणे तदीयरसावेशप[illegible]स्तद्भावस्वभावमनूक्तवान् ॥ २१ ॥

अपिच । उपसंहारो हि तत्रानुक्तानामन्यत्रोक्तानां गुणानां तत्र सत्त्वेन ज्ञानमात्रम् । उक्तरूपभक्ताय तु तद्भजनीये भक्त एवालौकिकाननुभावान् भगवान् प्रत्यक्षं दर्शयतीति न तत्रोपसंहारापेक्षागन्धोऽपीत्यत्रोत्तरं पठति ।

भाष्यप्रकाशः ।

स्याम् । जीवत्वबुद्धिनिषेधादिति । 'आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचि'दित्यादिवाक्योक्तात् तस्मात् । नचोक्तश्रुत्या गुरौ भक्तिरेवोक्ता, नोपासनेति तदुपासनप्रकारव्यवस्थात्र न सङ्गतेति शङ्क्यम् । एवं 'गुरूपासनयाशितेने'त्येकादशस्कन्धे तस्या अप्युक्तत्वादिति । अत्रैवं प्रकारद्वयेप्यभिसन्धिमात्रं न प्रयोजकम्, किन्तु ब्रह्मावेश इति बोधनायाहुः तत्र यादृगित्यादि । आवेशस्त्वनुभावादिनावधार्यत इति नात्र काचिच्छङ्का । एवमेव श्रीजगन्नाथादौ पूजाप्रवाहस्थलेप्यवगन्तव्यम् । तेन उपासनामार्गे उभयत्राप्युपसंहारः सर्वगुणानां युक्त इत्यर्थः ॥ २० ॥

न वाऽविशेषात् ॥ २१ ॥ निषेधपक्षो भक्तिमार्गे इति बोधयन्तः सूत्रमवतारयन्ति यस्त्वन्तरङ्गमित्यादि । स भक्तिमार्गीय इति । श्वेताश्वतरमन्त्रोक्तरीतिकप्रेमविश्वासयोरुत्कर्षात् स भक्तिमार्गीयः । सूत्रं व्याकुर्वन्ति अनुपसंहारे इत्यादि । कुतो वा, कुत्र वा अविशेष इत्याकाङ्क्षायां तद्व्युत्पादयन्ति अस्येत्यादि । तथाच नवमस्कन्धे 'तत्प्रसङ्गानुभावेन रन्तिदेवानुवर्तिनः । अभवन् योगिनः सर्वे नारायणपरायणा' इतिवत् तादृशस्य तथात्वेन तद्भजनरसास्वादनेन तदाविष्टभगवति गुणोपसंहारे वा 'विस्मृते'त्यादिहेतुद्वयेनानुपसंहारे वा तत्प्रसङ्गानुभावादेव भगवत्प्राप्तिरविशिष्टेति तादृशभक्तोपासनायां ताभ्यामुत्कर्षापकर्षाभावान्नोपसंहारस्य किमपि प्रयोजनमित्यर्थः । 'अविशेषा'दिति पदच्छेदं कश्चिन्न मन्येत, तदोक्तोऽर्थो न सिध्येदिति, तदापि तत्सिद्धये प्रकारान्तरं हेतुं व्याकुर्वन्ति विशेषादित्यारभ्य वाशब्द इत्यन्तम् । तद्भजनेनेति । भगवदाकृतिभजनेन । ननु तदनुवादस्य किं प्रयोजनम्, अत आहुः भगवदवतारेत्यादि तथाच । तदुत्कर्षबोधनाय तत्स्वभावबोधनमेव प्रयोजनमित्यर्थः ॥ २१ ॥

रश्मिः ।

लुगित्याहुः वक्ष्यमाणेत्यादि । भाष्ये । महावाक्ये ऐतदात्म्येन तत्त्वेन च सवितोरभेद उक्तः, तत्र सवितोरुपासने स्तः, तत्र सत्युपासनं बाधकमित्यन्तेनोक्तम् । अत्रेति । प्रत्त्विमत्वौ सति । ऐतदात्म्येऽभेदसम्बन्धेनाविष्टम् । ब्रह्मेति । ऐतदात्म्यरूपब्रह्मगामिनी । एवकारस्तु, पाण्डुरङ्गमाहात्म्योक्तवाक्यात् । अधुना यत्रेत्यारभ्य तथेत्यन्तेन चित्युपासनमाहुः यत्रेत्यादिना । ज्ञात्वेति । 'तत्त्वमस्या'दिवाक्येन जीवं ज्ञात्वा । तथेति । अखिलधर्मोपसंहारे । 'तं यथायथे'ति श्रुत्यनुसारेण कृते न किञ्चिद्बाधकम् । इदमपि क्वचित्प्रकारः तथाशब्दनिविष्टः । प्रकृते । एवं प्रकारेति । सुबोधिन्यनुसारेण जीवविशेषं गृहीत्वोक्तप्रकारद्वये सद्विषये चिद्विषये च । अभिसन्धीति । ब्रह्मानुसन्धानस्य संघट्टनमात्रम् । सन्धिर्भ्रमसंघट्टनम् । तत्र यादृगित्यादीति । तथेति । पूर्ववत् । अनुभावेति । 'द्रौण्यस्त्रविप्लुष्ट'मित्यत्र द्वितीयस्कन्धेस्ति । आदिना विरुद्धधर्मप्रदर्शनं शैल्यां मूर्तौ निम्नत्वदर्शनं यथा । भक्तिमार्गे उक्त्वा शरणमार्गे आहुः एवमेवेति । यथाश्रुतं जगन्नाथबलभद्रयोरश्वावारुह्य भक्तकार्यकरणम् । प्रकारद्वये भक्तिमार्गभ्रमं वारयन्ति स्म तेनेति । उभयत्रेति । सति चिति च । 'तेन जीवो नोपास्य' इत्युक्तं सुबोधिन्यां तद्भक्तिमार्गीयमिति न तस्या विरोधः ॥ २० ॥

नवाऽविशेषात् ॥२१॥ श्वेतेति । तथा गुराविसत्रादिष्टा भक्तिः प्रेम । अविश्वासो बाधकः । बाधकाभावो विश्वासः, सोपि तात्पर्यविषयः, यथा देवस्तथा गुरुरिति विश्वासः 'यथा देवे तथा गुरा'वित्यत्र । तयोरुत्कर्षो भक्तिमार्गीयत्वम्, स पुष्टिभक्तिमार्गीय इत्यर्थः । पुष्टिमार्गे भक्तसहितो भगवान् फलतीति साधनेपि तथेति । भाष्ये । इत्यग्रिममिति । इति हेतोः कार्याकार्यसाधारणमग्रिमं सूत्रम् । प्रकृते । तद्व्युदिति । कुत इति प्रश्ने, भक्तभक्तत्वेनेत्यादिव्युत्पादनम् । कुत्रेति प्रश्ने, तदाविष्टभगवतीति व्युत्पादनम् । कुर्वन्तीत्यर्थः । तत्प्रसङ्गेति । रन्तिदेवप्रसङ्गस्य योऽनुभावः विसर्पियशोरूपः तेन तत्पुत्राः । तथात्वेन भक्तभक्तत्वेन । तत्प्रसङ्गेति । भगवद्भक्तप्रसङ्गस्यानुभावः स्वर्गपुनर्भवाधिकभगवत्सङ्गिसङ्गस्य स्वर्गपुनर्भवानादरः । 'तुलयाम लवेनापि' इति वाक्यात् । ताभ्यामिति । भगवत्युपसंहारानुपसंहाराभ्यां भक्तभक्तस्योत्कर्षापकर्षाभावात् । भाष्ये । वाशब्दोऽनादर इत्याहुः अनुपेति । अत्रेति । भक्तभक्तविषये भगवत्प्राप्तौ । प्रकृते । प्रकारान्तर इति । उक्तरूपभक्तसङ्गेन भगवद्भजने । विशेषादित्यारभ्येत्यादि । विहितत्वेनेति । 'तं भजे'दिति गोपालतापिनीये । विशिष्टमिति । भक्तपूजनेन समं भगवद्भजने पुष्टिमार्गो जात इति, 'ज्ञात्वाज्ञात्वा च कर्माणि जनोऽयमनुतिष्ठति । विदुषः कर्मसिद्धिः स्यात्तथा नाविदुषो भवे'दिति भक्तसङ्गेन भगवज्ज्ञानं जातमिति वा, विशिष्टम् । अनुवाद इति । अनुपसंहारे प्रकारानुवादः प्रकारान्तरे । विहितत्वेनेति । पूर्ववत् । नीरसत्वेनेति । सात्त्विकत्वात्तथा । 'मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः । सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते' इति गीताष्टादशाध्यायवाक्यात् । तर्हीति । प्रकारान्तरकाले । तदुत्कर्षेति । भक्तिमार्गोत्कर्षबोधनाय । तत्स्वभावेति । भक्तस्यानुपसंहारस्वभावबोधनम् ॥ २१ ॥

दर्शयति च ॥ २२ ॥

ननु भक्तभक्तः स्वसेव्येऽत्यलौकिकं वीर्यं दृष्ट्वा तदाविष्टे भगवति तत्सम्भारकत्वस्येन्द्रादीनामपि तदाज्ञापेक्षित्वं दृष्ट्वा द्युलोकव्यापकत्वस्योपसंहारं करिष्यतीत्याशङ्क्याह ।

सम्भृतिद्युव्याप्त्यपि चातः ॥ २३ ॥

राणायनीयानां खिलेषु पठ्यते । 'ब्रह्मज्येष्ठा वीर्या सम्भृतानि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमाततान, ब्रह्म भूतानां प्रथमं तु जज्ञे, तेनार्हति ब्रह्मणा स्पर्धितुं कः' इति । अस्यार्थस्तु—अन्यैर्हि पुरुषैः सहायानपेक्ष्य विक्रमाः संभ्रियन्ते । तेन तत्पराक्रमाणां त एव नियतपूर्वभावित्वरूपकारणत्वेन ज्येष्ठाः । ब्रह्मधर्माणां तु

भाष्यप्रकाशः ।

दर्शयन्ति च ॥ २२ ॥ सूत्रमवतारयन्ति अपिचेत्यादि । प्रकटार्थमत्र भाष्यम् ।

अन्ये तु, 'सम्बन्धादेवे'त्यादित्रिसूत्रमधिकरणमङ्गीकृत्य, बृहदारण्यकोपान्ते 'सत्यं ब्रह्मे'त्युपक्रम्य, आदित्यमण्डलस्थस्य अक्षिस्थस्य च ये उपासने विहिते, तयोरुपनिषदौ रहस्यनामनी उपासनशेषतयाम्नायेते । 'तस्योपनिषदहरित्यधिदैवतम्, तस्योपनिषदहमित्यध्यात्म'मिति, ते किं सङ्कीर्येते, उत व्यवतिष्ठेते इति सन्देहे, सम्बन्धिभेदाद्व्यवतिष्ठेते इति सिद्धान्तयन्ति ।

सोऽपि स्वाध्यायसूत्रस्थसवदृष्टान्तबोधितेन सम्बन्धिभेदेनैव व्यवस्थितिं लभमानो नाधिकरणान्तरमपेक्षत इति चिन्त्यम् ॥ २२ ॥

सम्भृतिद्युव्याप्त्यपि चातः ॥ २३ ॥ सूत्रमवतारयन्ति ननु भक्तेत्यादि । तत्सम्भारकत्वस्येति । वीर्यसम्भारकत्वस्य । उपसंहारं करिष्यतीति । 'तं यथा यथोपासत' इत्यत्र स्वाभिसंहितरूपेणैव साधनस्योक्तत्वात् ऐहिकपारलौकिकार्थं उपसंहारं करिष्यति । सूत्रं व्याकर्तुं विषयवाक्यमुपन्यस्य प्रथमं तत् व्याकुर्वन्ति राणायनीयेत्यादि । उक्तं भवतीत्यन्तम् ।

रश्मिः ।

दर्शयन्ति च ॥२२॥ प्रकटार्थमिति । भक्त एवेति । आचार्ये कृष्णदासद्वारा शिलाधारणम् । रामानुजाचार्ये बदरिकाश्रमे पर्वतात्पातेऽप्यभङ्गः । मध्वविजये माध्वाचार्ये । व्यासे 'अपश्यत्पुरुषं पूर्ण'मित्यादि समाधिभाषायाम् । एवं प्रकटार्थम् । दर्शयति भजनीये भक्त आचार्यादौ जनताऽलौकिकानुभावान् पश्यति, भगवान् तं अलौकिकानुभावान् दर्शयतीति सूत्रार्थः । चोऽनुक्तसमुच्चये । उपनिषदावितिति । शब्दोऽयं हलन्तः । अजन्तं पदं तदा शकन्ध्वादिषु पररूपम् । तस्योपेति । अर्थस्तु उपनिषदशब्देनोपनिषच्छब्देन वा देवताप्रकाशकं रहस्यं नाम । अहरिति नाम । अहःशब्दः प्रकाशवाची । आदित्यरूपस्योक्तरूपस्य नाम........। तस्येति । चाक्षुषपुरुषस्य सत्यस्य । अधिदैवतमिति । देवतैव दैवतं तस्मिन्नित्यधिदैवतं नाम । अभिव्यापकाधारे सप्तमी । तस्येति । मुक्ताविषयस्य पुरुषस्य सत्यस्य । आत्मनीत्यध्यात्मं नाम । उपनिषदशब्देनोपनिषच्छब्देन वा देवताप्रकाशकं रहस्यं नाम । अहमिति नाम । अहंशब्दः प्रत्यगात्मवाची । चाक्षुषपुरुषस्योक्तरूपस्य । व्यवतिष्ठेते इति । व्यवस्थितिं कुर्वाते । सम्बन्धीति । उपसंहारात् संकीर्येते इति पूर्वपक्षे तथा ॥ २२ ॥

सम्भृतिद्युव्याप्त्यपि चातः ॥ २३ ॥ वीर्येति । नृसिंहतापिनीयेऽग्निपूतत्ववायुपूतत्वादित्यपूतत्वसोमपूतत्वविष्णुपूतत्वसर्वपूतत्वमृत्युतर्तृत्वपाप्मतर्तृत्वब्रह्महत्यातर्तृत्वभ्रूणहत्यातर्तृत्ववीरहत्यातर्तृत्वसर्वहत्यातर्तृत्वाग्निस्तम्भकत्ववायुस्तम्भकत्वादित्यस्तम्भकत्वसोमस्तम्भकत्वोदकस्तम्भकत्वसर्वदेवस्त-

ब्रह्मैव ज्येष्ठमनन्यापेक्षं सृष्ट्यादि करोतीत्यर्थः । एवं सति ब्रह्म ज्येष्ठं येषां तानि ब्रह्मज्येष्ठानि वीर्याणि । अत्र छन्दसि बहुवचनस्य डादेशः । किञ्च, अन्येषां वीर्याणां बलवद्भिर्मध्ये भङ्गोऽपि भवति । तेन ते स्ववीर्याणि न सम्बिभ्रति । ब्रह्मवीर्याणि तु ब्रह्मणा सम्भृतानि निष्प्रत्यूहं सम्भृतानीत्यर्थः । तच्च ज्येष्ठं ब्रह्माग्रे इन्द्रादिजन्मनः प्रागेव दिवं स्वर्गमाततान व्याप्तवन्नित्यमेव विश्वव्यापकमित्यर्थः । देशतोऽपरिच्छेदमुक्त्वा कालतोऽपि तमाह ब्रह्मेति । भूतानामाकाशादीनां पूर्वमेव जज्ञे । आविर्बभूवेत्यर्थः । एतेन वीर्यसम्भृतिद्युव्याप्तिप्रभृतिमाहात्म्यमुक्तं भवति ।

तथाच सम्भृतिश्च द्युव्याप्तिश्च तयोः समाहारस्तथा । एतावपि स तत्र नोपसंहरति । तत्र हेतुः 'न वाविशेषा'दिति सूत्रोक्त एवेत्यतिदिशति अत एवेति । एतत् यथा तथा तत्रैवोक्तम् ।

विषयवाक्योत्तरार्धोक्तधर्मानुद्देशेनैवं ज्ञायते भक्तस्यैहिकपारलौकिकोपयोगिधर्मोपलक्षणार्थं द्वयोरेवोद्देशः कृत इति । चकारेण दर्शनमप्युक्तं समुच्चीयते ।

भाष्यप्रकाशः ।

सूत्रं व्याकुर्वन्ति तथाचेत्यादि । तत्रैवोक्तमिति । 'अथ भक्तभक्तत्वेने'त्याद्युक्तरीत्या उपासनायामविशेषात्, पूर्वं 'विहितत्वेने'त्याद्युक्तरीत्या च भजनरसास्वादने एतदपेक्षया विशेषाच्च न करिष्यतीति तस्मिन्नेव सूत्रे उपपादितम् । अयमेव सूत्रकाराशय इत्यत्र गमकमाहुः विषयवाक्येत्यादि । तथाचोपसंहारं विनापि भक्तस्य लौकिकालौकिकसम्पादनादलौकिकानुभावदर्शनाच्च एतयोरपि नोपसंहारशङ्कात्रेति पूर्ववदत्रापि भक्तस्वभावस्यैवानुवादः, प्रथमाधिकारिणः शिक्षा वेति

रश्मिः ।

म्भकत्वसर्वग्रहस्तम्भकत्वादिवीर्यं यस्य सम्भारकत्वं तस्य । उपसंहारमित्यनेनान्वेति । भाष्ये । इन्द्रादीनामिति । आदिना महर्लोकादिस्थजनाः । तथा तत्रैव श्रुतयः 'सर्वेषां लोकं जयति स भुवर्लोकं जयति स स्वर्लोकं जयति स महर्लोकं जयती'त्यादयः । तथा च इन्द्रस्यादी इन्द्रादी इन्द्र आदिर्येषां ते इन्द्रादयः इन्द्रादी च इन्द्रादयश्च इन्द्रादयस्तेषाम् । भक्तभक्ताज्ञापेक्षित्वमेकादशवाक्येन विष्ण्वात्मकस्याक्षरात्मकहृदयस्य भक्तभक्तस्य सर्वगे मनोनिवेशेनाज्ञापकत्वशक्तेः प्राप्तत्वात् । वाक्यं तु 'विष्णौ त्र्यधीश्वरे चित्तं धारयेत्कालविग्रहे । स ईशित्वमवाप्नोति क्षेत्रक्षेत्रज्ञचोदना'मिति पञ्चदशाध्याये । प्रकृते । राणायणीयेत्यादीति । अस्यार्थ इति । वेदस्यार्थः । ब्रह्मज्येष्ठत्वं स्फुटयितुमन्यत्राज्येष्ठत्वं वीर्ये सम्पादनीय आहुः अन्यैरित्यादि । सहायानिति । यथा कौरवैः पाण्डवैश्च । सम्भ्रियन्ते सम्पाद्यन्ते । ज्येष्ठा मुख्याः । ब्रह्मज्येष्ठेति व्याकुर्वन्ति स्म ब्रह्मधर्माणामिति । धर्मा जगत्कर्तृत्वादयः । धर्माणां धर्म्यभेदान्निर्धारणे षष्ठी । सम्भृतानीति व्याकुर्वन्ति स्म किञ्चेति । बलवद्भिरिति । यथा यादवैर्जरासन्धवीर्यभङ्गः । त इति । अन्ये । सम्बिति । शिशुपालस्तु बिभर्ति । ब्रह्मणेत्यसहायेन । ब्रह्माग्र इत्यादि व्याकुर्वन्ति स्म तच्चेति । विश्वेति । विश्वस्मिन्व्यापकम् । देशत इति । वीर्यदेशभिन्नदेश इति तथा । कालतः प्रथमकालम् । अत्यन्तसंयोगे द्वितीयेति तथा । तथाचेत्यादीति । तथेति । सम्भृतिद्युव्याप्ति । 'स नपुंसक'मिति नपुंसकत्वम् । एतावित्यर्थौ । अतिदिशति अन्यत्र हेतुसाध्यादिप्राप्तिं करोति । सौत्रचकारमेवकारार्थसमुच्चायकमाहुः अत एवेति । अनुपसंहारो विशेषाभावादेव । वक्ष्यमाणप्रकाशात्तु स्थानविशेषादेव । स्थानं दहरादिविद्यास्थं हृदयादि तत्र विशेष आध्यात्मिकत्वादिः तस्मात् । विषयवाक्येत्यादीति । धर्मः भूतप्रथमजत्वं तन्मात्रानुद्देशेन

अन्यच्च । स्पर्धाकृतिसम्भावनायां हि तद्योग्यतानिषेधः सम्भवति । सा चाविर्भूत एव भगवति सम्भवतीत्यखिलशक्त्याविर्भावपूर्वकमाविर्भूतस्य तस्य एतया श्रुत्या माहात्म्यमुच्यत इति गम्यते । एवं सत्येतद्वाक्योक्तधर्मयोरेवानुपसंहार्य-

भाष्यप्रकाशः ।

भावः । चकारेणोत्तरार्धोक्तधर्मसमुच्चयमाशङ्क्य तत्तात्पर्यमाहुः **चकारेणे**त्यादि । श्रुतेरनारभ्याधीतत्वेन भक्तहृदयाविष्टभगवद्रूमकत्वस्य सन्दिग्धत्वात् पूर्वोक्ते व्यासाशयो न निश्चेतुं शक्यत इति शङ्कायां विषयवाक्यतात्पर्यकथनपूर्वकं तमुद्घाटयन्ति **अन्यच्चे**त्यादि । तथाच तुरीयपादेन श्रुतेराविर्भूतब्रह्मविषयकत्वे निश्चिते यत् द्वयोरेवानुपसंहारकथनम्, तेन तत्र व्यासाशयो निर्णीयत इत्यर्थः । तेनानारभ्याधीतानामप्यनुपयुक्तानां नोपसंहार इति सिद्धम् ।

अन्ये तु, इदमेकसूत्रमधिकरणमङ्गीकृत्य, अनारभ्याधीतेऽस्मिन् वाक्ये उक्तानां गुणानां सर्वासु विद्यासूपसंहारः न वेति शङ्कायाम्, नोपसंहारः । कुतः । विशेषात् । दहरादिविद्यासु हृदयादिरूपस्थानविशेषादिति व्याख्याय, स्थानस्य तदनुपसंहारकत्वे आध्यात्मिकत्वं

रश्मिः ।

सूत्रे । **द्वयोरि**ति । सम्भृतिद्युव्याप्त्योः । कथमत्र भक्ते सूत्रकाराशय इत्यत आहुः **तथाचे**त्यादि । आभासोक्तरीत्या लौकिकः सम्भारः अलौकिकं द्युव्यापनेन भगवत इन्द्रादीनां भक्ताज्ञापेक्षित्वं तयोः सम्पादनं तस्मात् । नृसिंहतापिनीयोक्तस्याग्निपूतत्वादेरलौकिकानुभावस्य जीवत्वम् । तद्विरुद्धधर्मरूपस्य दर्शनात् । **एतयोरि**ति । सम्भृतिद्युव्याप्त्योरत्र भगवति तथा । **पूर्ववदि**ति । रसास्वादे विशेषात्तस्य भक्तस्वभावत्वात्तथा । एवकारो विषयवाक्यस्य श्रुतित्वात् । **अनुवाद** इति । सिद्धस्य कथनम् । **प्रथमे**ति । जिज्ञासुत्वामात्सर्यश्रवणादरवत्त्ववतः **शिक्षा** धर्मानुपसंहारशिक्षा । अस्पर्धाशिक्षा वा । **तत्तात्पर्यमि**ति । चकारस्य तात्पर्यार्थमाहुरित्यर्थः । वैयाकरणमतम् । नैयायिकमतेन चकार एवकारार्थ इत्युक्तम् । **सन्दिग्धे**ति । अनारभ्याधीतस्यात्र 'यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान् । तं तं लोकं जयते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकामः । स वेदैतत्परमं ब्रह्मधाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम् । उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमतिवर्तन्ति धीरा' इति मुण्डकश्रुत्येकवाक्यतयार्थः कृतः । अन्यश्रुत्येकवाक्यतायां तु सन्दिग्धत्वादित्यर्थः । **स** इति । भूतिकामः । **पुरुषमात्मज्ञं** तत्स्थं वा । अतिवर्तन्ति पुंसो रेतःकणाश्रया न भवन्तीति भावः । **तमि**ति । व्यासाशयम् । **अन्यच्चेत्यादी**ति । स्पर्धा संघर्षः । संघर्षः पराभिभवेच्छा । **सम्भवती**ति । अभावस्य प्रतियोगिनिरूपणाधीननिरूपणकत्वात् । **एवे**ति । नचानाविर्भूताय नास्तिकः स्पर्धते इति वाच्यम् । ॐ । एवेत्यस्याप्यर्थकत्वात् । **माहात्म्यमि**ति । सम्भृतिद्युव्याप्तिरूपम् । **एतद्वाक्ये**ति । धर्मौ सम्भृतिद्युव्याप्त्याख्यौ । एवकारेण भूतप्रथमजत्वं व्यवच्छिद्यते । ननु कथं सर्वादित्वस्यानुपसंहार्यत्वम् । उपसंहार्यत्वस्यान्यत्र परस्परमसाधारणत्वेन स्थितधर्मनियम्यत्वात् सर्वसाधारण्येन प्रकारेणोपसंहारायोग्यत्वादनुपसंहार्यत्वम्, न तु प्रकृतमनुपसंहार्यत्वम्, व्यापकधर्मत्वात् । **तथाचे**ति । **तुरीये**ति । उपसंहारेणार्थनिर्णायकेन । **आविर्भूते**ति । अपरिग्रे योज्यः । **तत्रे**ति । सम्भृतिद्युव्याप्तिसूत्रे भगवद्भक्ते उपसंहारस्तन्निष्ठभगवत्यनुपसंहारे । ब्रह्मभूतानामित्यत्र भूतानां प्रथमं ब्रह्म जज्ञ इत्यन्वयवत् ब्रह्मभूतानां 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मे'ति गीतोक्तानां प्रथमं जज्ञ इत्यन्वयस्यापि सम्भवात् स भगवतो ब्रह्मभूतस्य भक्तिमतो निरूपयन्त्याः श्रुतेः कीर्तनभक्तेः भक्तभक्तविषयत्वेन तद्वुर्वीकाणामप्येवं भवत्विति व्यासाशयः । **तेने**ति । सकलसाधारणधर्मभूतप्रथमजत्वस्योपसंहार्यानुपसंहार्यधर्मेष्वविचारेण । **दहरादी**ति । आदिना शाण्डिल्यविद्यादहरविद्योपकोशल-

भाष्यप्रकाशः ।

केचन हेतुत्वेनाहुः । केचिदल्पत्वम् । अन्ये तु विद्याविशेषं हेत्वन्तरमाहुः । किञ्च । यद्यपि तासु 'यावान् वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः' 'अतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते' 'ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानाकाशा'दित्यादिभिराधिदैविक्यो विभूतयोऽप्युच्यन्ते, तथापि ता माहात्म्यज्ञापनार्था इति ता एव तत्रोपसंहार्याः, प्राकरणिकत्वात्, न त्वितराः । अतो द्युव्याप्तिनिवृत्तौ तत्सहपठिताया वीर्यसम्भृतेरपि निवृत्तिरित्याहुः ।

तन्न रोचिष्णु । द्युव्याप्तिरूपाया महत्या आधिदैविक्या विभूतेर्ब्रह्मस्वरूपमादायैव स्थानस्य तदाध्यात्मिकतायास्तदन्यतायाश्च बाधकतामनादृत्योपदेशेन तस्मिन् स्थानविशेषे द्युव्याप्त्युपसंहारबाधकत्वकथनस्यायुक्तत्वात् । नच सा दिक्कालादीनामिव भिन्नेति युक्तम् । ब्रह्मण उभयत्राप्यैक्येन व्याप्तौ भेदस्य वक्तुमशक्यत्वात् । नच शब्दान्तरनिर्देशाद्भेद इत्यपि युक्तम् । सौत्रहेतुविरोधात् । सूत्रे पूर्वसूत्रोक्तस्थानविशेषोपबन्धस्यैवातिदेशाङ्गीकारात् । एतेनैव विद्याविशेषस्याप्यनुपसंहारहेतुत्वं दत्तोत्तरम् ।

यत्तु **भामत्याम्**, या काचिदाधिदैविकी विभूतिः शाण्डिल्यविद्यायां श्रूयते, तस्यास्तत्प्रकरणाधीतत्वात् तन्मात्रं गृहीष्यते, नैतावता सम्भृत्यादीनुत्क्रष्टुमर्हति, तत्रैतत्प्रत्यभिज्ञानाभावात्, ब्रह्माश्रयत्वेन प्रत्यभिज्ञानमतिप्रसक्तम्, भूयसीनामैक्यप्रसङ्गादित्युक्तम् ।

रश्मिः ।

विद्या आधिदैविक्यः । **तदनुपे**ति । अनारभ्याधीतस्योपसंहारकत्वविरोधित्वे । विरोधरूपे । विरोधो नञर्थ इति । **आध्यात्मिकत्वमि**ति । स्थानस्येति बोध्यम् । **केचने**ति शंकराचार्याः भास्कराचार्याश्च । **केचिदि**ति रामानुजाचार्याः । **अन्ये त्वि**ति । माध्वादयः । **तास्वि**ति दहरादिविद्यासु । **निवृत्तिरि**ति । सन्नियोगशिष्टानां सहैव प्रवृत्तिः सहैव निवृत्तिरिति न्यायेन । **ता एवे**ति । नत्वनारभ्याधीते सम्भृतिद्युव्याप्ती उपसंहार्ये । **महत्या** इति । व्यापकधर्मस्य व्यापकत्वनियमान्महत्याः । तस्या धर्मत्वेनाधारभूतं ब्रह्मस्वरूपम् । एवकारो विद्वन्मण्डनोक्तत्वात् । **तदाध्यात्मिके**ति । द्युव्याप्त्याध्यात्मिकायाः । **बाधकता** उपसंहारबाधकता या परैरादृता तामित्यर्थः । **उपदेशेन** सूत्रे सम्भृतिद्युव्याप्त्योरुपदेशेन । **तस्मिन्नि**ति । आध्यात्मिकेऽन्यस्मिंश्च । **अयुक्तत्वादि**ति । भवता ब्रह्मस्वरूपमादायानुक्तत्वेन तथा । तथाच स्थानविशेषस्यानुपसंहारहेतुत्वं न सभम्वतीतिभावः । अथ सौत्रसमाहारविचारेणाहुः **न च से**ति । व्याप्तिः । दिग्देशरूपा कर्मणि प्रसिद्धा । आदिना मन्त्रः तेजः द्युत्वम् । **भिन्ने**ति । व्याप्तिः सम्भृतिभिन्ना वा । **ब्रह्मण** इति । उक्तब्रह्मस्वरूपस्य उभयत्र सम्भृतिद्युव्याप्त्योरैक्यं समाहारद्वन्द्वात् तेनेत्यर्थः । भेदे सति उभयत्र एकहेतोरसम्भवाभिप्रायेणाहुः **सौत्रे**ति । विरोधमाहुः **सूत्र** इति । एवकारोऽविशेषादित्यस्य व्यवच्छेदकः । तेन सम्भृतिद्युव्याप्त्योर्वीर्यत्वेपि स्वतन्त्रेच्छस्य मुनेर्वर्णनासक्तस्य पर्यनुयोगानर्हत्वमिति बोधितम् । **एतेनैवे**ति । उक्तप्रकारेण । विद्याविशेषस्य स्थानघटितत्वात् । एवकारस्तु सौत्रार्थस्य व्यासाशयगोचरत्वोक्तेः । **तन्मात्रमि**ति । सैवेति तन्मात्रम् । प्राकरणिकाधिदैविकविद्यामात्रम् । नत्वाधिदैविक्योरनारभ्याधीतयोः सम्भृतिद्युव्याप्त्योर्ग्रहणं करिष्यते । **तत्रैतदि**ति । शाण्डिल्यविद्यायाम् । **एतयोः** सम्भृतिद्युव्याप्त्योः प्रत्यभिज्ञानाभावात् । दहरविद्योक्ताधिदैविक्यो विभूतयस्तु प्रत्यभिज्ञायन्ते : 'अतः परो दिव'इत्याद्युक्तश्रुत्योः शाण्डिल्यविद्यास्थयोः दहरविद्यास्थस्य 'यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः, उभे ह्यस्मिन्द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते'इति श्रुतिभ्यां तत्ताइदन्ताप्रकारकज्ञानसम्भवात् । दहरविद्योक्तोयं शाण्डिल्यविद्यास्थ

त्वेन यत् कथनम्, तत्तु भक्तहृद्याविर्भूतं ब्रह्माप्येवंभूतमेवेति ज्ञापनाय, अतो युक्त एवानुपसंहारः ॥ २३ ॥

इति तृतीयाध्याये तृतीयपादे तृतीयं कार्याख्यानादित्यधिकरणम् ॥ ३ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

तदपि तथा । विध्यैक्ये संयोगरूपचोदनाख्यानां चतुर्णां हेतुतायाः पूर्वमुक्ततया केवलेन रूपैक्येन विध्यैक्यप्रसङ्गस्य वक्तुमशक्यत्वादिति । एवमन्यत्रापि ज्ञेयम् ।

सिद्धान्ते तूक्तरीत्या 'सर्वभूतस्थ एक' इत्येवं चिन्तिते, स आत्मत्वेन निरुपधिप्रियत्वेन पतित्वेन च साकारः पर्यवस्यति, सम्बन्धश्च तस्यावेशरूपो यत्राधिकः, तत्राप्यधिष्ठितं तमनुसन्धाय तद्गुणा अन्येप्युपसंहार्याः । यद्यधिष्ठान एव विशेषस्फूर्तिः, तदा तत एव फलसिद्धेरुपसंहारस्य न किञ्चित्प्रयोजनमिति सिद्धम् । एवं व्याख्या खरूपा कला च सिद्धेति ॥ २३ ॥ इति तृतीयं कार्याख्यानादित्यधिकरणम् ॥ ३ ॥

रश्मिः ।

आकाश इति । ब्रह्माश्रयत्वमाकाश इव संभृतिद्युव्याप्त्योरप्यस्तीति ब्रह्माश्रयत्वेन रूपेणाकाशशब्देन संभृतिद्युव्याप्त्योरपि प्रत्यभिज्ञानमुपकोसलविद्यास्थे 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इत्यत्रातिप्रसक्तं सत् भूयसीनामौपमन्यवादिविद्यानामैक्यप्रसङ्गात् ऐक्यप्रसङ्गमालोच्यान्यत्रैक्यमापादयेत् । ल्यब्लोपपञ्चम्यान्ते शेषः पूरणीयः । तथेति । दत्तोत्तरम् । पूर्वमिति । सर्ववेदान्तप्रत्ययसूत्रे । अशक्येति । तथाच ब्रह्माश्रयत्वेन सम्भृत्यादेः प्रत्यभिज्ञानं प्राप्तमिति भावः । अन्यत्रेति । ब्रह्माश्रयत्वेनेत्याशङ्कायामशक्यत्वं ज्ञेयम्, शिथिलत्वात् । नैयायिकानां घटत्वेन वह्न्यभावमादाय साध्याभाववद्वृत्तित्वं धूमेस्तु, शास्त्रान्तरत्वात् । उक्तरीत्येति । अधिकरणत्रयोक्तरीत्या । पुरुषविद्यायाः अग्रे स्पष्टत्वात्स्मृतया । सर्वभूतस्थः सर्ववेदान्तप्रत्ययो भवति । 'तृतीयं सर्वभूतस्थ'मिति वाक्यात् । 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मे'ति सामान्यं ब्रह्मोपासनम् । 'सर्वभूतेषु मन्मति'रिति श्रीभागवतं चासन्दिग्धम् । 'व्याप्तेश्चे'तिसूत्रे पुरुषोत्तमः । 'प्रथमं महतः स्रष्टृ'ति वाक्यात् । 'पुरुषविद्या'सूत्रे 'द्वितीयं त्वण्डसंस्थितं' वक्ष्यते । चिन्तित इति । चिन्तितप्राये । स इति । पुरुषोत्तमः रसरूपः, दशरसात्मकं जगदिति । आत्मत्वेनानन्दमय इति सूत्रे । निरुपधीति । समानसूत्रे पतितत्वेनेत्येपि ज्ञेयम् । साकारोऽग्रिमाधिकरणेनेति तत्कारणं साकारः । अत उक्तं पर्यवस्यतीति । सम्बन्धश्चेत्यादि । 'सम्बन्धा'दिति सूत्र उक्तम् । तत्रापीति । भक्तेपि । तमित्यावेशरूपं सम्बन्धम् । विशेषेति । पूर्वभजनाद्विशेषस्य रसे स्फूर्तिः । तत एव अधिष्ठानभक्तादेव । उपसंहारस्येति । भगवत्युपसंहारस्य । एवं व्याख्या खेति । 'समान' सूत्रोक्तरीत्या व्याख्याखकलान्नमयशिरोरूपा सिद्धेत्यर्थः । 'आकाशशरीरं ब्रह्मे'ति श्रुतेरीश्वरशिरः खम्, एवमवतारेपीति । किं पुनर्जीवेपि, 'छिद्रा व्योम्नीव चेतना' इति सिद्धान्तमुक्तावलीवाक्यात् । आकाशस्य छिद्रदातृत्वात् वृद्धिह्रासभाक्त्वाच्च । मनोमये 'आकाश आत्मे'ति मनोमये श्रावणम्, तस्य न ग्रहणम्, आत्मरूपस्याकाशस्योपासनानुपयोगात् । 'अन्तरिक्षं कले'ति छान्दोग्ये । 'श्रोत्रं कले'ति च । 'अन्तरिक्षमाकाशः' । श्रोत्रं कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न आकाशः ॥ २३ ॥ इति तृतीयं कार्याख्यानादित्यधिकरणम् ॥ ३ ॥

१. प्रसङ्गरूपेति पूर्वः पाठः ।

पुरुषविद्यायामिव चेतरेषामनाम्नानात् ॥ २४ ॥ (३-३-४.)

तैत्तिरीयके, 'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्, स भूमिं विश्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठत् दशाङ्गुलम्, पुरुष एवेद् सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्य'मित्यादिना पुरुषविद्या निरूप्यते । तत्रैव, 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मिति प्रश्ने, 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमय' इत्यारभ्य प्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमयात्मकं ब्रह्मस्वरूपं निरूप्यते । तत्र सर्वत्र 'स च पुरुषविध एवे'ति च पठ्यते ।

अत्रान्नमयादिषु पुरुषसूक्ते च पुरुषपदश्रवणादन्नमयादिषु सहस्रशीर्षत्वाद्युपसंहारः कर्तव्यो न वेति भवति संशयः । किमत्र युक्तम् । उपसंहर्तव्यमेवेति । कुतः । सर्वत्र ब्रह्मण एवोपास्यत्वादत्राप्युपासनोक्तेर्ब्रह्मत्वपुरुषत्वयोरविशेषाद्विध्यैक्यादिति प्राप्ते, उच्यते । पुरुषविद्यायामिवेति । अन्नमयादिषु सहस्रशीर्षत्वादिकं नोपसंहर्तव्यम् । कुतः । पुरुषविद्यायां यथा पुरुषस्वरूपं निरूप्यते, न तथेतरेषामन्नमयादीनां विज्ञानमयान्तानां स्वरूपं तत्प्रकरणे निरूप्यते । अत्र हि पुरुषत्वमुच्यते । सहस्रपदमनेकत्वोपलक्षकम् । अन्यथाक्ष्णां शिरोभ्यो द्वैगुण्यं वदेत् । तेन साकारव्यापकत्वमुक्तं भवति । तत्र पुरुषविधत्वम्, स चाध्यात्मिकरूपः, तच्छरीराभिमान्यात्मा चान्य आधिदैविक उच्यते, न तथात्र । किञ्च, 'पुरुष एवेद् सर्व'मित्यादिना प्रपञ्चात्मकत्वं मुक्तिदातृत्वं चोक्त्वा, नैतावन्मात्रमस्य माहात्म्यम्, इतोऽपि महन्माहात्म्यमस्तीति वक्तुं प्रपञ्चरूपं तद्विभूतिरूपमिति 'एतावानस्य महिमे'त्यनेनोक्त्वा तत आधिक्यमाह 'अतो ज्यायाँश्च पूरुष' इति । एवमतिवैलक्षण्यात् पुरुषपदमात्रसाधर्म्येण

भाष्यप्रकाशः ।

पुरुषविद्यायामिव चेतरेषामनाम्नानात् ॥ २४ ॥ एवमनारभ्याधीतानां धर्माणां भक्तिमार्गेऽनुपसंहारमुक्त्वा उत्तमाधिकारिभिरशेषगुणपूर्णं परं ब्रह्मैवोपास्यम्, न तु विभूतिरूपमिति बोधनायोपासनामार्गे तेष्वशेषाँनुपसंहारमवसरसङ्गत्या वदतीत्याशयेनाधिकरणविषयादिकं दर्शयन्ति तैत्तिरीयक इत्यादि । प्रश्न इति । प्रपाठके । अविशेषादिति । भृगुविद्यायां ब्रह्मत्वस्यात्र च पुरुषविधत्वोक्त्या तदाकारत्वस्योक्तत्वेन तयोरविशेषात् । सूत्रं व्याकुर्वन्तोऽत्रापि नशब्दः पूर्वसूत्रादनुवर्तत इत्याशयेनाहुः अन्नमयादिष्वित्यादि । निरूप्यत इति । 'सहस्रशीर्षे'त्यादिना निरूप्यते । अत्र हीति । पुरुषविद्यायाम् । तेनेति । सहस्रशीर्षत्वादिश्रावणेन । वैलक्षण्यबोधनायाहुः तत्रेत्यादि । तत्रेति । अन्नमयाद्युपासनप्रकरणे । स चेति । अन्नमयादिः । वैलक्षण्यान्तरमाहुः किञ्चेत्यादि । सिद्धमाहुः एवमित्यादि । तथाच पुरुषविद्यायाममृतत्वस्य फलत्वेनोक्ततयान्नमयादिचतुष्टयविद्यासु यथायथमन्नायुर्भयाभावसर्वकामप्राप्तीनां फलत्वेनोक्ततया

रश्मिः ।

पुरुषविद्यायामिव चेतरेषामनाम्नानात् ॥ २४ ॥ उत्तमेति । दृढवैराग्यवत्त्वमुत्तमाधिकारः । दृढत्वं द्वादशाङ्गपुरुषोत्तमैकतानत्वरूपम् । हरेरपि हरित्वं वैराग्य उत्कर्षः । तादृशैः । विशेषेति । विभूतीनामशेषगुणपूर्णत्वार्थं तथा । प्रश्न इति । 'सर्वे सर्वार्थवाचका' इति तथा । तत्रेत्यादीति । द्वैगुण्यमिति । सहस्रशीर्षस्तु द्विगुणाक्षिसत्त्वात्तथा । द्विसहस्राक्ष इति पदं वदेत् ।

१. इत्यध्याये इति पाठः । २. सहस्रशीर्षत्वादिकमिति पाठः । ३. भक्तिमार्गेपि विशेषानुपसंहारमिति पूर्वः पाठः ।

नैकविद्यत्वं वक्तुं शक्यम्, नचोपसंहार इति । चकारात् 'अम्भस्यपारे भुवनस्य मध्ये नाकस्य पृष्ठे महतो महीया'नित्यादिश्रुतयः, 'सर्वतः पाणिपादान्त'-मित्यादिस्मृतयश्च संगृह्यन्ते । एतेन यत्किञ्चिद्धर्मसाम्येपि न मूलभूतब्रह्मरूपत्वम्, अत एव न तत्रोपास्यता तथात्वेनेति ज्ञापितम् । अत एव भृगूपाख्यानेऽन्नमया-दिब्रह्मज्ञानेपि जिज्ञासैवोक्ता । भृगोरानन्दरूपपरब्रह्मज्ञाने तु नोक्ता । तेनाशे-षगुणपूर्णं ब्रह्मेत्युक्तं भवति । अत उत्तमाधिकारिभिस्तदेवोपासनीयम्, न

भाष्यप्रकाशः ।

संयोगभेदात्, पुरुषविद्यायां पुरुषत्वस्यान्नमयादिषु पुरुषविधत्वस्य चोक्ततया रूपभेदादेस्तस्यास्तासां च चोदनाख्ययोर्भेदस्य स्पष्टत्वाच्च न विद्यैक्यमिति तथेत्यर्थः । वैलक्षण्यबोधनस्य तात्पर्यमाहुः एतेनेत्यादि । एतेनेति । विभूतिभ्योऽतिवैलक्षण्यबोधनेन । न तत्रोपास्यता तथात्वेनेति । ब्रह्मत्वेनोपास्यतायां सत्यामपि न मूलभूतब्रह्मरूपत्वेन । एतदधिकरणप्रयोजनस्य पूर्वमनुक्तत्वादिदा-नीमाहुः तेनेत्यादि । तेनेति । एवं महिमाधिक्यादतिवैलक्षण्यबोधनेन । उत्तमाधिकारि-भिरिति । एतेन भक्ता अपि संगृहीता ज्ञेयाः । तेषामेव तथात्वादिति । अत्र समाचारसूत्रोक्तैर्हेतु-भिरेवानुपसंहारप्राप्तावपि यत्पुनर्विशेषतस्तद्धेतुकथनम्, तद्विभूतिरूपेषु मूलरूपगुणानुपसंहारार्थम् । 'योऽन्यथा सन्तमात्मान'मिति वाक्योक्तबाधकस्य विद्यमानत्वात् । एवञ्चात्र पूर्वं पतित्वेन चिन्तिते चित्तस्य निवेशो यदाधिकः, तदा सोऽक्षरस्यापि पतिरित्येवं पर्यवस्यति । 'उतामृतत्वस्येशान' इति मोक्षेशनशीलत्वस्यात्र श्रावणात् । अनस्तमितत्वाद्वायुरूपा कलाप्यत्र बोधिता ।

अन्ये तु, ताण्डिनां पैङ्गिनां च या 'पुरुषो वा व यज्ञ' इत्यादिनोक्ता षोडशशतवर्षजी-वनफलिका पुरुषविद्या, या च तैत्तिरीयाणां 'तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमान' इत्यादिनोक्ता विद्या, तयोः पुरुषविधेति समाख्यैक्यात् पुरुषावयवेषु यज्ञावयवकल्पनेन रूपैक्याच्च विद्यैक्ये, तैत्तिरीयोक्ता गुणास्तत्रोपसंहर्तव्या इति प्राप्ते, यथा पुरुषविद्यायां ताण्ड्यादिभिर्गुणा आम्नायन्ते, न तथा तैत्तिरीयक इति रूपभेदात्, तैत्तिरीयके च 'य एवं वेद ब्रह्मणो महिमानमाप्नोती'ति फलसंयोगभेदाच्च विद्याभेदे सति न तैत्तिरीयोक्तानां गुणानां तत्रोपसंहार इत्येवमाहुः ।

तत्रेदमवधेयम् । व्यासचरणैर्हि जिज्ञासाशास्त्रं शीघ्रं मोक्षो भवतु जीवानामिति करुणया आरब्धम् । तेन याभिः शीघ्रं मुच्यन्ते, ता एव विद्या आदरेण विचारणीयाः, शेषाणां तु तत्रो-

रश्मिः ।

नच द्विरूपवर्णलोपः । सहस्रपादित्यत्रापि तथापत्तेः । पूर्वमिति । 'ईशान' इति श्रुत्येशनशीलत्वस्य भावित्वात्तत्पूर्वं पतित्वेन 'दर्शयति'सूत्रभाष्योक्तरीत्या चिन्तिते 'स मानसीन आत्मा जनाना'मिति श्रुत्या चित्तस्य निवेशः स यदाधिकः मानससेवारूपः, तदा स भगवान् अक्षरस्यापि पतिः । 'मम योनिर्महद्ब्रह्मे'ति गीतावाक्यात् । अपिना स्वस्य पतिः । अतिगोप्यत्वात्स्पष्टं नोक्तम् । विभूत्युपासना-नन्दमयभजनाभ्यामानन्दमयाधिकरणोक्तरीत्या पर्यवस्यति । तदेतद्भजनं श्रीमद्गोविन्ददीकार्या श्रीगोस्वामिभिः कृतमिति निगर्वः । मोक्षेति । ज्ञानिप्राप्यभगवद्योन्यक्षरस्य ईशनशीलत्वं तस्य । 'यदन्नेनातिरोहती'ति श्रुतिविचारेणाहुः अनस्तमिति । तैत्तिरीये 'स वा एषोऽन्नरसमय' इत्युक्तेरन्नेन स्वकारणेन अतिरोहतीति छान्दसो नलोपः । 'आविर्भावतिरोभावौ शक्ती वै मुरवैरिण' इति वाक्यात्षष्ठो भावविकारोऽस्तस्तदभावं इतत्वात् गतत्वात् वायुरूपा कलेति । 'सैषानस्तमिता देवते'ति श्रुतेः । इयं कलान्नमयादिनिरूपणानुवृत्त्यान्नमयस्य शिरोरूपापि प्रियशिरस्त्वादिसूत्रोक्तप्रियशिरस्त्वादिवासनयान्नमय-शब्देन बोधिता । 'वायवस्थे'ति संहिताश्रुतेः । मनोमयस्य शिरो यजुःकला सा नोक्ता । प्रतिपादकत्वात् ।

विभूतिरूपमिति ज्ञापितम् ॥ २४ ॥

इति तृतीयाध्याये तृतीयपादे चतुर्थं पुरुषविद्यायामित्यधिकरणम् ॥ ४ ॥

अथ निर्दोषत्वं ज्ञात्वा भजनीयमिति ज्ञापयितुमधिकरणान्तरमारभते ।

वेधाद्यर्थभेदात् ॥ २५ ॥ (३-३-५.)

वाजसनेयिशाखायां 'द्वया ह प्राजापत्या' इत्युपक्रम्य तेषां मिथः स्पर्धामु-क्त्वोच्यते, 'ते ह देवा ऊचुर्हन्तासुरान् यज्ञ उद्गीथेनात्ययामेति, ते ह वाचमूचुस्त्वं न उद्गायेति, तथेति, तेभ्यो वागुदगायत्, यो वाचि भोगस्तं देवेभ्य आगायत्, यत् कल्याणं वदति तदात्मने, तेऽविदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य

भाष्यप्रकाशः ।

क्तैरेव न्यायैरानुषङ्गिको निर्णयो भविष्यति । अतः परविद्यां विहायैतद्विचारो युक्तो वा, परविद्याविचारो वा युक्त इति । ताण्डिप्रभृतीनां विद्यायामायुर्वृद्ध्यादिरूपं लौकिकं फलम्, 'तस्यैवं विदुष' इति तैत्तिरीयविद्यायामपि ब्रह्ममहिमप्राप्तिः फलम्, महिमा च विभूतिः, 'गोअश्व-मिह महिमेत्याचक्षत' इति छान्दोग्ये सिद्धत्वात् । पुरुषसूक्ते तु 'तमेवं विद्वानमृत इह भवती'ति फलम् । अतो विद्यान्तरं विहायेदमत्र विचारितमिति । एवमन्यत्रापि बोध्यम् ॥ २४ ॥ इति चतुर्थं पुरुषविद्यायामित्यधिकरणम् ॥ ४ ॥

वेधाद्यर्थभेदात् ॥ २५ ॥ एककार्यत्वरूपां सङ्गतिमधिकरणप्रयोजनं च वदन्तोऽवता-रयन्ति अथेत्यादि । सूत्रं व्याकर्तुं विषयादिकमाहुः वाजेत्यादि । वाजसनेयिशाखायामिति ।

रश्मिः ।

अत्रेत्यधिकरणे । करुणयेति । गुरुलक्षणे करुणानिवेशात्तथा । भविष्यतीति । सूत्राणां न्याय-रूपत्वाद्भविष्यति । अन्यत्रापीति । भास्कराचार्यादिमतेष्वपि दूषणं बोध्यमित्यर्थः ॥ २४ ॥ इति चतुर्थं पुरुषविद्यायामित्यधिकरणम् ॥ ४ ॥

वेधाद्यर्थभेदात् ॥ २५ ॥ एककार्यत्वेति । एकस्य विचाररूपस्य कारणस्य कार्यत्वमशे-षगुणपूर्णभजने पूर्वोक्ते निर्दोषभजने चेति तथा । नच पूर्वमुपासनीयमिति पदान्न भजनमिति शङ्क्यम् । उप समीपे स्थित्वा यथायोग्यकरणस्योपासनापदार्थत्वेन मनोनिवेशरूपोपासनाभावात् । अशेषगुणपूर्ण-पदसमभिव्याहारेणोपासनायास्तादृशत्वात् । तेन निर्दोषत्वज्ञानमधिकरणप्रयोजनम् । भजनीयत्वं पूर्वं सिद्धम् । वाजेत्यादीति । यज्ञेत्यादि । सोमे सप्तसंस्थे तत्राप्यग्निष्टोमे उद्गीथकर्मकर्तृप्राणस्वरूपा-श्रयणेनासुरानभिभूय स्वं देवभावमत्ययामातिगच्छामह इत्यन्योन्यमुक्तवन्तः । उद्गीथकर्मकर्तृस्वरूपा-श्रयणं च ज्ञानकर्मभ्यां भवति । तत्र कर्म 'तदेतानि यजे'दिति विधास्यमानं मन्त्रजपलक्षणम् । ज्ञानं त्विहाख्यायिकया परीक्ष्यमाणमशुद्धत्वादिप्रत्याख्यानेन विशुद्धप्राणोपादानरूपमित्यर्थः । तदुपास्य-स्वरूपनिर्धारणाय परीक्षाप्रकारं दर्शयति स्म 'ते ह वाचमूचु'रिति कण्डिकाषट्केन । ते देवा ह उक्त-प्रकारेण निश्चित्य वाचं वागभिमानिनीं देवतामग्निमेवोद्गानकर्त्रीं 'असतो मां सद्गमये'त्यादिमन्त्रप्रकाश्यां देवतां च मत्वा त्वं नोऽस्मभ्यमुद्गायौद्गात्रकर्म कुर्वित्यूचुरुक्तवन्तः । एवं देवैर्नियुक्ता वाग्देवताकृत्य-माह तथेत्यादीति । तथास्त्विति तन्नियोक्तृन्प्रयुज्य स्वसामर्थ्यमविचार्योद्गानकर्तृत्वं मन्त्रप्रकाश्यत्वं चात्मनोऽङ्गीकृत्य तेभ्योऽर्थिभ्य उदगायत् उद्गानं कृतवती । कः पुनरनेन कर्मणा कार्यविशेषः कृत इत्यपेक्षायां यथा प्रकृते ज्योतिष्टोम उद्गात्रा त्रिषु स्तोत्रेषु यजमानार्थमुद्गानं क्रियते, न च सुखार्थम्, तद्वदत्रापि द्विविधं तदिति कथयन्तं कार्यविशेषमाह य इति । यो वाचि निमित्तभूतायां सत्यां संघातस्य भोगः सुखविशेषस्तं देवेभ्योऽर्थिभ्य आगायदुद्गानेन प्रापितवती । यत्पुनः कल्याणं शोभनं वदति

पाप्मनाविध्यन्, स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं वदति स एव, स पाप्मे'ति । एवमेव प्राणचक्षुःश्रोत्रप्रभृतिषु पापवेधमुक्त्वोच्यते । 'अथैनमासन्यं प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्य एष प्राण उदगायत, ते विदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्य-न्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाविव्यत्सन्, स यथाश्मानम् ऋत्वा लोष्ठो विध्वंसेतैवꣳ ह वै विध्वंसमाना विष्वञ्चो विनेशु'रिति । छान्दोग्येपि प्राणादिष्वेवमेव पाप्मवे-धमुक्त्वासन्ये न तथेत्युच्यते । एतावान् परं विशेषः, वाजसनेयिनां गानकर्तृत्वम्, सामगानामुद्गीथत्वेनोपास्यत्वमुच्यते वाक्प्राणादीनामिति ।

अत्र देहसम्बन्धित्वगानकर्तृत्वयोरुपास्यत्वस्य चाविशेषेपि वागादिषु पाप्मवेधः, आसन्यप्राणे कुतो नेति भवति जिज्ञासा ।

नचासन्योपासनाया विधेयत्वात् तत्स्तुत्यर्थमन्येषु पाप्मवेध उच्यते,

भाष्यप्रकाशः ।

बृहदारण्यक उद्गीथब्राह्मणे । तथैव छान्दोग्येपि । न तथेति । न पाप्मवेधः ।

सन्देहमाहुः अत्रेत्यादि । इति भवति जिज्ञासेति । इति हेतोर्वागादीनां पाप्मवेधः सत्यः, काल्पनिको वेति संशय इत्यर्थः । सिद्धवत्तदुक्तिः सन्देहबीजम् । नन्वपार्थेयं चिन्ता, अन्येषु पाप्म-वेधोक्तेर्विधेयासन्योपासनास्तुत्यर्थत्वेन 'अन्ये त्वपशव' इतिवदासन्यप्रशंसामात्रार्थतया वस्तुतः सर्वेषु

रश्मिः ।

यथाशास्त्रं वर्णानभिनिर्वर्तयति तदात्मने स्वार्थमेव । तद्ध्यसाधारणं वाग्देवतायाः कर्म यत्सम्यग्वर्णो-च्चारणम् । एवं वाग्देवतायाः कल्याणवदनरूपासाधारणविषयाभिषङ्गलक्षणरन्ध्रं स्वावसरं प्रतिलभ्य तेऽसुराः स्वकार्यायोद्युक्ता इत्याह त इति । तेऽसुराः कामादिस्वाधिकाराद्दैवैः शमादिना कृत्वा प्रच्या-व्यमाना देवहृद्गतमविदुर्विदितवन्तः । किं तदित्यत आह अनेनेति । अनेनैवोद्गात्रा शास्त्रजनितकर्म-ज्ञानरूपेण नोऽस्मान् स्वाभाविककर्मज्ञानात्मकान् देवान् अत्येष्यन्तीति तमुद्गातारं वाग्रूपमभिद्रुत्य वेगेनागम्य स्वेनासङ्गलक्षणेन पाप्मनाऽविध्यंस्ताडितवन्तः स्वनिष्ठपापं संयोजितवन्त इति यावत् । अस्मानसुरानतिक्रम्य देवानेष्यन्तीत्यर्थः । एवमसुरैः प्रजापतेर्वाचि पाप्माक्षिप्त इति कुतोऽवगम्यत इत्याशङ्कायां प्रजास्वनुभूयमानपाप्मकार्यलक्षणलिङ्गेनानुमीयमानः पाप्मा प्रजाकारणप्रजापतावप्युपमे-यादित्याह स य इति । यः स पाप्मा साधकावस्थस्य प्रजापतेर्वाचि प्रक्षिप्तः, स एषोऽनुमानेन प्रत्यक्षीक्रियते । कोसौ । यदेव येनैव प्रयुक्ता सतीयं वागिदमप्रतिरूपमननुरूपं शास्त्रप्रतिषिद्धं स्त्रीवर्ण-नादि वदति, स एव य एवं प्रजासु प्रतिकूलवदनहेतुत्वेनानुमितः, स एव पाप्मा स कारणभूतप्रजापति-वाचि गतः । कारणानुविधायि हि कार्यमित्यर्थः । अथैनमित्याद्युक्तार्थम् । वागादिषु नैराश्यानन्तरं अथेत्यस्यार्थः । अविव्यत्सन् वेद्धुमिच्छां कृतवन्तः संश्लिष्यमाणाः सन्तो विष्वञ्चो नानागतयो विनेशु-रित्यन्वयः । तत्र स प्रसिद्धो दृष्टान्तो यथा लोके पाषाणचूर्णनाय प्रक्षिप्तो लोष्टः पांसुपिण्डः अश्मानं पाषाणं ऋत्वा प्राप्य स्वयं विध्वंसेन विचूर्णीभवेदेवं हैव एवमेव खलु विध्वंसमाना विशीर्यमाणा असुरा अपि नष्टा इत्यर्थः । छान्दोग्य इति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म तथैवेति । उद्गीथब्राह्मण एव । इति हेतोरिति । प्राणस्यातिदेशाधिकरणेन ब्रह्मत्वानुसन्धानमकुर्वतो यतो जिज्ञासा भवतीति हेतोः प्रजापतेर्वागादीनां सप्राणानाम् । ननु प्रजापतेः स्रष्टुर्ब्रह्मत्वे पाप्मवेधो विरुद्धधर्मोपि न संभवति । ब्रह्मत्ववदपहतपाप्मत्वस्याप्यसाधारण्यात् । अन्येषां साधारणधर्माणां स्वविरुद्धधर्मसामानाधिकरण्येपि साधारणधर्माणां तदभावात् । अन्यथा ब्रह्मत्वविरुद्धाब्रह्मत्वस्याप्यापत्तेरिति सत्यत्वकोटिर्न संभवती-त्यनुसंधायाहुः सिद्धवदिति । 'तमभिद्रुत्य पाप्मनाविध्य'न्नित्यत्र तथा । तथाच द्वितीयकोटिसंभवा-

असिद्धेति वाच्यम् । न हि प्रयोजनायासन्तमप्यर्थं बोधयति श्रुति-रिति वक्तुं शक्यम् । प्रमाणत्वव्याहतिप्रसङ्गात् । एकत्र प्रतारकत्वे सर्वत्रापि तच्छङ्कया तदुक्ते कोपि न प्रवर्तेतापि । साक्षात्क्रियार्थत्वाभावेपि

भाष्यप्रकाशः ।

तदभावादिति पूर्वपक्षं हृदिकृत्याहुः नचेत्यादि । असद्वचने बाधकं व्युत्पादयन्ति न हीत्यादि ।

नन्वर्थवादाधिकरणे विधेयस्तावकत्वेनार्थवादानां प्रामाण्यं पूर्वतन्त्रे व्यवस्थापितम्, 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्यु'रिति, अतस्तदर्थं एव प्रामाण्यं तेषाम्, न तु स्वार्थ इत्याकाङ्क्षायामाहुः एकत्रेत्यादि । तथाच विचारकस्य हृदि श्रुतेः प्रकारांशे असत्यभाषित्वे भाते विधेयार्थांशेपि तादृशशङ्कोदयस्य दुर्निवारतया तत्र प्रवृत्तिव्याघातेन विधेः प्रवर्तकत्वमेव कुण्ठीभवेत्, ततश्च वेदस्य वैयर्थ्यमेव स्यात्, 'अपशव' इत्यत्रापि पशुत्वपर्युदासोऽन्येषु पशुसादृश्यं ग्राहयति, न तु पशुत्वं निषेधति । यथा 'न कलञ्ज'मित्यत्र । तच्च गवादिसादृश्यं तु तेष्वस्त्येवेति तत्सादृश्यं तेषाममुख्यतां बोधयद्गवादिप्रशंसायां पर्यवस्यतीति नासदर्थबोधने स दृष्टान्तः । नच मध्वादिविद्यायां कल्पनोपदेशस्य व्यासपादैरप्यङ्गीकारादत्रापि तथास्त्विति वाच्यम् । 'अविध्य'न्निति भूतार्थकप्रयोगबाधापत्तेः । 'यदेवेदमप्रतिरूपं वदति, स एव पाप्मे'त्यादिभिः श्रावितस्य पाप्मस्वरूपस्येदानीमनुभूयमानस्याप्यननुभवापत्तेश्च । मध्वादिविद्यास्वपि कल्पनोपदेशा-ङ्गीकारः सांख्यप्रसिद्ध्या तद्बोधनार्थ इति तु तत्रैवोपपादितम् । अथ यदि स सिद्धान्तीय-त्वेनाद्रियते, तदापि 'तस्य द्यौरेव तिरश्चीनवंशोऽन्तरिक्षमपूप' इत्याद्युद्देश्यरूपविशिष्टस्यैव

रश्मिः ।

त्संदेह इति भावः । अनेन विषयवाक्यस्यासंदिग्धत्वं विषयत्वविघटकं वारितम् । विधेयेति । विधेया यासन्योपासना तस्याः स्तुत्यर्थत्वेन । इतिवदिति । 'गो अश्वा एव पशवोऽन्ये त्वपशव' इतिवत् । सर्वेषु वागादिषु । तदभावात् [illegible]वेधाभावात् । पूर्वपक्षं पूर्वमीमांसकपूर्वपक्षम् । तदर्थे इति । स्तुत्यर्थे । प्रकारांश इति । स्तुत्यंशे । अर्थवादेन स्तुतो विधिरिति प्रकारत्वम् । गो अश्वा एवेत्यत्र गुणवाद उक्तः सोऽसदर्थबोधक इति तन्नुदसितुमाहुः अपशव इति । पशुत्वाव-च्छिन्नप्रतियोगिताकाभाव इत्यर्थोऽपशव इत्यत्र यदा, तदा पशुत्वपर्युदासो भवति । यदा तु पश्वभा-वोऽर्थः, तदा पशुप्रतियोगिकाभाव इत्यर्थो भवति । पर्युदासो नञर्थः । अन्येषु गवाश्वभिन्नेषु गवाश्व-भिन्ना गवाश्वसदृशा इति सादृश्यमपशवो गृह्णन्ति तत्पशुत्वपर्युदासो ग्राहयति । पर्युदासः सदृग्ग्राही । न कलञ्जमिति । अत्र कलञ्जपर्युदासः पूर्वतन्त्रे नास्ति । आकृतौ शक्तेः । अतः कलञ्जत्वपर्युदासः । कलञ्जत्वभिन्नं कलञ्जत्वसदृशं आक्षेपलभ्यं कलञ्जं भक्षयेदित्यर्थः । कलञ्जभक्षणादेरनर्थहेतुत्वमाक्षिपन् पुरुषं ततो निवर्तयति निषेधः निषेधस्य निवर्तनाभिधायकत्वात् । निवर्तना पर्युदासरूपा, लिङर्थः प्रवर्तना । तेन सम्बध्यमानो नञ् प्रवर्तनाप्रतिपक्षभूतां निवर्तनां गमयति, विधिवाक्यश्रवणोत्तरं प्रवर्त-यतीति प्रवर्तनाप्रतीतिवत् निषेधवाक्यश्रवणेऽयं मां निवर्तयतीति निवृत्त्यनुकूलव्यापारनिवर्तनायाः प्रतीतेरपि अर्थान्वयो नञ इति मीमांसार्थप्रदीपे । तेष्विति । गवादिभिन्नपशुषु । तत्सादृश्य-मिति । गवादिसादृश्यं गवादीतरपशूनां पशुत्वांशेऽमुख्यताम् । प्रत्यक्षविरोधे कल्पना, नतु भूतेर्थे इत्याशयेन हेतुमाहुः अविध्यन्निति । व्यध ताडने लङ् । तत्रैवेति । प्रथमाध्याये तृतीयपादे एव । साक्षादितिभाष्यं विवरीतुमाहुः अथेति । स इति । संशयनिरूपण उक्तः कल्पनापक्षः । आद्रियत इति । असाधारणधर्मस्य विरुद्धधर्मानङ्गीकारात् । अन्यथा ब्रह्मत्वविरुद्धाब्रह्मत्वस्याप्यापत्तेः । उद्देश्येति । द्यामुद्दिश्य तिरश्चीनवंशत्वकल्पना । एवमन्तरिक्षमुद्दिश्यापूपत्वकल्पना । एवं च द्यौरूप-

नासन्निरूपकत्वमर्थवादानाम् । वस्तुतस्तु 'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा वा तदेव वीर्यवत्तरं भवती'ति श्रुतेः, 'ज्ञात्वाज्ञात्वा च कर्माणि जनोऽयमनुतिष्ठति । विदुषः कर्मसिद्धिः स्यात्तथा नाविदुषो भवे'दित्यादिवाक्यैः 'य एवं वेदे'ति वाक्यैश्चार्थवादोक्तस्वरूपं ज्ञात्वा कर्मकरणे पूर्णं फलम्, अन्यथा नेत्यर्थवादानां फलोपकार्यङ्गनिरूपकत्वान्नानर्थक्यम्, अत उक्तेऽर्थे हेतुं न पश्याम इति प्राप्ते, तमेवाह वेधादीति । वाक्प्राणादिषु यः पाप्मवेधः, आदिपदात् दुष्टविषयसम्बन्धश्च, तत्र हेतुरर्थभेदः । अर्थो भगवांस्तस्माद्भेदादित्यर्थः । आसन्यस्तु य एवायं मुख्यः प्राण'स्तमुद्गीथमुपासीते'ति छान्दोग्य उपास्यत्वेनोक्तः । 'सर्ववेदान्तप्रत्यय'मिति

भाष्यप्रकाशः ।

रूपान्तरविधानदर्शनेन रूपान्तरविधानमात्रस्यैव काल्पनिकत्वम्, न तु सर्वस्य, अन्यथा 'ता वा एता ऋच एतमृग्वेदमभ्यतप'न्नित्यादेरपि बाधापत्तेः । अतो भूतार्थवादस्य स्वार्थे प्रामाण्यमवश्यमभ्युपेयम् । नचार्थवादेषु सर्वत्र यथाश्रुतार्थग्रहणे 'आदित्यो यूपः' 'यजमानः प्रस्तर' इत्यादिषु गौण्युच्छेदः सूत्रविरोधश्च स्यादिति वाच्यम् । तत्र प्रत्यक्षविरोधेन गौणीस्वीकारात् । असति मानान्तरविरोधे तद्दृष्टान्तेन सर्वत्र प्रत्यवस्थातुमयुक्तत्वादित्यसकृदुक्तम् । तस्माद्यत्र प्रमाणान्तरविरोधः, तत्रैव कल्पनोपदेशादिः, न सर्वत्रेति निश्चयः । तदेतदभिसन्धायाहुः साक्षादित्यादि । एवं पूर्वतन्त्रविचारेण परम्परयार्थवादानां क्रियार्थत्वमुक्त्वा, उत्तरकाण्डविचारेण साक्षादेव तेषां क्रियार्थत्वमाहुः वस्तुत इत्यादि । य एवं वेदेति वाक्यैरिति । 'य एवं वेद स वीर्यैरेव छान्दोभिरर्चति', 'य एवं वेदोपैनं यज्ञो नमती'त्यादिजातीयैर्विद्वद्वाक्यैः । तथाच सत्यर्थैव प्रशंसया विधेयस्तुतेरुचितत्वात् सिद्धेऽन्येषां पाप्मवेधे आसन्यस्य कुतस्तदभाव इत्यत्र हेत्वनुपलम्भात् तेषां पाप्मवेधहेतोर्न निर्णयः कर्तुं शक्य इति पूर्वपक्षे प्राप्ते, तमेव निर्णयहेतुमाहेत्यर्थः । सौत्रं हेतुं व्याकुर्वन्ति वाक्प्राणेत्यादि । भेदादिति । भौतिकतया प्राकृतत्वेन भेदात् । तथाचास्माद्धेतोः पाप्मवेधः शक्यनिर्णय इत्यर्थः । नन्वयमासन्येपि तुल्य इति कथं तत्र तदभाव इत्यत आहुः आसन्य इत्यादि । उक्त इति । उत्कृष्टप्रणवादित्यैकत्वोद्गीथदृष्ट्यनन्तरं उक्तः ।

रश्मिः ।

विशिष्टस्य तिरश्चीनवंशस्य । सर्वस्येति । उद्देश्यरूपविशिष्टस्य । ता वा एता इति । ताः प्रसिद्धाः एताः सूर्यातपरूपाः समीपतराः । अभ्यतपन्नित्यार्षम् । भूतार्थवादत्वाद्बाधापत्तेः । गौणीति । वेदप्रतिपाद्यत्वगुणयोगात् सत्त्वगुणयोगात् । सूत्रेति । 'विधिना त्वेकवाक्य'सूत्रविरोधः । स्वार्थे प्रतिपाद्योपक्षीणशक्तित्वाद्वाक्यस्य । तत्रेति । वाक्ययोः । उक्तमिति । ग्रन्थान्तरेषूक्तप्रायम् । य एवमिति । 'स वीर्यै'रितिपदं 'उपनमती'ति च । उपशब्दं करोति उपवक्तीत्यर्थः । विद्वदिति । 'ज्ञात्वाज्ञात्वे'ति स्मृत्युत्तरं 'य एवं वेदे'ति । विद्वद्वाक्यं न तैत्तिरीयश्रुतिरिति भावः । माहात्म्यज्ञानस्य भक्त्युपयोगेन कर्मण्युपयोगाभावाच्च । अन्येषामिति । वाक्प्राणादीनाम् । तेषामिति । वागादीनाम् । आसन्येपीति । प्राणत्वेन पूर्वोक्तप्राणसाम्यात्तथा । तत्रेति । आसन्ये पाप्मवेधाभावः । उत्कृष्टमिति । छान्दोग्येऽथाधिदैवतमित्युपक्रमात्तदनन्तरमुत्कृष्टं त्रैगुण्यवेदोत्तरं तत्त्वमुत्कृष्टत्वम् । अधिदैवतस्य सात्त्विकत्वात् । एवं चात्राप्यधिदैवतत्वम् । अस्यास्तृतीयखण्डस्थत्वेपि चतुर्थपञ्चमखण्डयोरभावेपि षष्ठे इत्यधिदैवतमिति समाप्तिश्रुतेः । नैवम् । तृतीयखण्डत्वेन द्वितीयखण्डकृतवैलक्षण्यादरात् । तथाच प्रणवे उद्देश्ये आदित्यैकत्वं उद्गीथदृष्टिश्च तयोरनन्तरम् । तथाच श्रुतिः 'अथ खलु य उद्गीथः स

१. अधिदैवितस्येति मूले पाठः ।

न्यायाद्वेदान्तेषूपास्यं ब्रह्मातिरिक्तं नोच्यत इत्यासन्योऽपि ब्रह्माभिन्नः, अत एव 'अपहतपाप्मा ह्येष' इति सामगैः पठ्यते । अतस्तत्र न पाप्मवेध इति भावः । ब्रह्मणः स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वज्ञापनायार्थपदेनोक्तिः । एतेन विभूतिरूपेऽपि यत्रैवम्, तत्र मूलभूतब्रह्मणि निर्दोषत्वं किं वाच्यमिति ज्ञापितम् । अथवा, अर्थः प्रयोजनं विषय इति यावत् । तद्भेदादित्यर्थः । अत्रेदमाकूतम् । देवा हि स्वस्यासुरजयाय गानार्थं वागादीनूचुः 'त्वं न उद्गाये'ति गानानन्तरं 'यो वाचि भोगस्तं देवेभ्य आगाय'दित्युच्यते । एवमेव प्राणादिष्वपि 'स्वस्वभोगं देवेभ्य आगाय'दिति । एवं सति

भाष्यप्रकाशः ।

ब्रह्माभिन्न इति । उत्कृष्टतद्विभूतिरूपत्वात् तदात्मकतयोक्तः । उत्कर्षश्च पाप्मवेधाभावादेव गम्यते । एवञ्च 'मनो ब्रह्मेत्युपासीते'त्यादौ यत्तेषामुपास्यत्वेन विभूतित्वेपि नैतत्साम्यम्, तद्भगवता स्वसामर्थ्यस्य तत्र तारतम्येनैव स्थापितत्वादिति । यत् पुनर्वागादीनामुपास्यत्वं छान्दोग्ये प्रतीयते, तत्तु प्रासप्राप्तानुवादरूपम्, न तु वास्तवम् । श्रुत्यनभिप्रेतत्वात् । उदवसानीयपञ्चकपालवत् । तत्र निषेधेनेवात्र पाप्मवेधादेव तथा निश्चयात् । अतो न चोद्यावकाशः । ननु यदि वागादीनां ब्रह्मभिन्नत्वमेवमभिप्रेतम्, तदा सूत्रे ब्रह्मभेदादित्येवोच्येतेत्यत आहुः ब्रह्मण इत्यादि । ननु भवत्वेवमासन्योत्कर्षः, तथापि पूर्वप्रतिज्ञातस्याधिकरणप्रयोजनस्य कथमवगतिरित्यत आहुः एतेनेत्यादि । तथाच कैमुतिकन्यायादवगतिरित्यर्थः । नन्वर्थपदस्य वस्त्वर्थकत्वे उक्तमेव सिध्यति, तदनङ्गीकारे कथमेतदवगन्तव्यमित्यत आहुः अथवेत्यादि । रायभिधेयनिवृत्तीनामत्र प्रसङ्गाभावात् प्रयोजनमत्रार्थो ग्राह्यः । स चात्र वागादीनां विषयरूपः । तस्यैव देवार्थत्वेनोक्तत्वात् । अतस्तद्भेदादित्यर्थः । तदेतदुपपादयन्ति अत्रेदमित्यादि । उच्यत इति । बृहदारण्यके

रश्मिः ।

प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथ इत्यसौ वा आदित्य उद्गीथ एष प्रणव ॐमिति ह्येष स्वरन्नेती'ति । अग्रे 'अथाध्यात्मं य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासीतोमित्येष स्वरन्नेती'ति । प्रणवशब्दवाच्योपि कस्मात्, हि यस्मात् एष सविता ॐमिति स्वरन्नुच्चारयन् एति गच्छति । यद्वा । प्राणिनां प्रवृत्त्यर्थमोमिति स्वरन्ननुज्ञां कुर्वन्निव एति । स्पष्टमन्यत् । अत्र यद्यपि प्रणवोद्गीथयोरेकत्वोक्तिरिति व्याख्यातम्, तथापि भाविनीमाख्यां आदित्य उद्गीथरूपामादायोद्गीथस्थले आदित्यपदोक्तिः । एवमुद्गीथदृष्टिरित्यत्रादित्यदृष्टिरिति व्याख्यानं द्रष्टव्यम् । 'असौ वा आदित्य उद्गीथ' इति श्रुतेः । भाष्ये । ब्रह्मातिरिक्तमिति । ब्रह्म अतिरिक्तमिति छेदः । प्रकृते । उत्कृष्टेति । अन्येषामप्रत्यक्षत्वात् 'त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासी'ति श्रुतेः प्रत्यक्षत्वादुत्कृष्टेति विशेषणम् । यद्यपि तथाप्यध्यात्मत्वात्पाप्मवेधाभाव उत्कर्षः । पाप्मावेध उत्कर्ष इत्याहुः उत्कर्ष इति । पूर्वेति । आभासे प्रतिज्ञातस्य । अधीति । निर्दोषत्वज्ञानस्य । वस्त्वर्थेति । 'अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु'ति कोशात्तथा । उक्तमिति । ब्रह्मैवार्थत्वेन सिध्यति । ब्रह्मातिरिक्तस्यावस्तुत्वात् । तदनङ्गीकार इति । सौत्रार्थशब्दस्य वस्त्वर्थकत्वानङ्गीकारे रायाद्यर्थानामङ्गीकारे केन प्रकारेण एतद्ब्रह्मणो निर्दोषत्वमधिकरणप्रयोजनमवगन्तव्यम् । प्रयोजनरूपार्थाभावादित्यर्थः । अरुचिर्नोक्ता । अस्याप्यर्थस्य विवक्षितत्वात् । रायभीति । रैश्च अभिधेयं च निवृत्तिश्च रायाभिधेयनिवृत्तयः तासाम् । अत्रेति । पूर्वव्याख्याने वस्तुरूपे । अत्रेति । द्वितीयार्थशब्दव्याख्याने । तस्येति । प्रयोजनरूपविषयस्यैव 'यो वाचि भोगस्तं देवेभ्य आगाय'दित्यादिश्रुतिषु देवार्थत्वेनेत्यादिः । तद्भेदात् विषयरूपप्रयोजनभेदात् । प्रयोजनं फलं तदत्र विषयभोगः ।

देवार्थमेवैतद्गानम्, न तु भगवदर्थम् । यद्यप्यासन्येऽप्येवमुच्यते, 'तेभ्य एव प्राण उद्गाय'दिति, तथापि यथा वागादिषु स्वनिष्ठभोगं 'देवेभ्य आगाय'-दित्युक्तम्, तथा नासन्ये । तेनोक्तमानैर्ब्रह्मात्मकत्वेनासुरजयहेतुर्भगवत्सम्बन्ध एवेति ज्ञात्वा तथैवागायदासन्य इति ज्ञायते । अत एवान्यत्र वेध उक्तोऽत्र तत्करणेच्छायामप्यासुराणां नाश उक्तः । अग्रे च, 'भवत्यात्मना परास्य द्विषन् भ्रातृव्यो भवति य एवं वेदे'ति पठ्यते । तेन परब्रह्म निर्दोषमिति किमु वाच्यम् । यत्र तद्विभूतिरूपासन्यस्योक्तरूपतां यो वेत्ति, सोऽपि गुणयुक्तो दोषरहितश्च भवतीति कैमुतिकन्यायः सूचितो भवति । एतेन लोके दोषत्वेन ये धर्माः प्रतीयन्ते, त एव धर्मा भगवति निरूप्यमाणा न दोषत्वेन ज्ञेयाः, किन्तु

भाष्यप्रकाशः ।

उच्यते । उक्तमानैरिति । उपास्यत्वपाप्मवेधराहित्यासुरजयहेतुभूतार्थज्ञानैः । आसन्यस्यैवं-प्रकारकज्ञानसत्तायां गमकमाहुः अत एवेत्यादि । एवं व्याख्यानेपि पूर्वोक्तार्थसिद्धिमाहुः तेनेत्यादि । एतेनार्थान्तरस्यापि सिद्धिमाहुः एतेनेत्यादि । य इति । मोहव्रणपलायनादयः । न दोषत्वेन ज्ञेया इति । यथा सृष्टिस्थितिप्रलयकर्तृत्वस्य भगवल्लक्षणत्वान्मूलरूपे प्रलयकर्तृ-त्वमसृत्वादिकं च न दोषः, तथावतीर्णेपि भगवति मोहादयोप्यसुरमोहनार्थत्वात्तथा । 'अज्ञत्वं पारवश्यं च विधिभेदादिकं तथा । तथा प्राकृतदेहत्वं देहत्यागादिकं तथा । असुराणां विमोहार्थं दोषा विष्णोर्न हि क्वचि'दिति ब्रह्माण्डवाक्यात् । तथाच तेभ्यः सकाशाद्दोषत्वमुद्धाप्य भगवतो निर्दोषत्वं ज्ञात्वा भजनीयमिति सिद्धम् । तेन मुख्यविभूत्यतिरिक्तविभूतीनामपहतपाप्मत्वाभा-वात्तेषूक्तधर्मानुपसंहारोपि सिद्धो बोध्यः ।

अन्ये तु, इदमप्येकसूत्रमधिकरणं स्वीकृत्य, 'शुक्रं प्रविध्य' 'हृदयं प्रविध्ये'त्यादीन्याथर्व-णिकानामुपनिषदारम्भस्थानि वाक्यानि विषयत्वेनोदाहरन्ति ।

रश्मिः ।

उपास्यस्येत्यादि । अत्रैवोक्तैः 'य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासीते'त्युपास्यत्वमानं प्रमाणं शब्दरूपं 'अपहतपाप्मा ह्येष' इति पाप्मवेधराहित्यमानं शब्दरूपम् । आसुरजयहेतुभूतोऽर्थ उद्गीथस्तस्य ज्ञानं येनोक्तशब्देन तैर्मानैरित्यर्थः । भाष्ये । भगवत्सम्बन्ध एवेति । विलक्षणोपास्यत्वापहतपाप्म-त्वं विशिष्टभगवतो व्याप्यव्यापकभावसम्बन्धः विभूतिविभूतिमद्भावः सम्बन्धो वा आसन्यस्येति ज्ञेयम् । व्यापकेनाप्यासुरजयसम्भवादेवकार आसन्यत्वस्यासुरजयहेतुत्वयोगव्यवच्छेदकः । प्रकृते । एवंप्रका-रकेति । आसुरनाशो ज्ञानसाध्य इत्याशयेनोक्तम् । अत एवेत्यादीति । एतादृशज्ञानवत्त्वादेव । भवतीति । भवति प्रजापतिरूपेण अस्योपासकस्य । द्विषन् पाप्मा । भ्रातृव्यः भ्रातुः 'व्यन्सपत्न' इति सूत्रात्सपत्नः । भवति परामवति । 'व्यवहिताश्चे'ति सूत्रम् । पूर्वोक्तेति । अत्रैव पूर्वोक्तार्थः कैमुति-कस्तस्य सिद्धिस्ताम् । 'शुक्रं प्रविध्ये'ति श्रुत्यर्थस्तु, अभिचारकर्मदेवतामभिचारकर्त्री प्रार्थयन्ते । हे देव, ते मद्रिपोः सर्वमङ्गं प्रविध्य विदारय । हृदयं च विदारय । धमनीः शिराः प्रवृज्य भिन्धि । तस्य शिरश्चाभितो भिन्धि । एवं मद्रिपुस्त्रेधा विभक्तो विश्लिष्टो भवतीत्यर्थः । आदिना 'देव सवितः प्रसुव यज्ञ'मिति ताण्डिनां 'श्वेताश्वो हरितनीलोसी'त्यादिः शाट्यायनानां श्रुती गृह्येते । सविता देवपत्नी सूर्यापरपर्यायत्वात् । निरुक्ते सूर्यो देवपत्नीनामसु पठित इति प्राणिगर्भविमोचने मरणकर्मेत्यभिचारकर्म । हरित इन्द्रनीलस्तद्वर्णी-

गुणत्वेनैव, वस्तुन एव तथात्वादिति भावो ज्ञाप्यते ॥ २५ ॥

एवं भगवत्सम्बन्धाभावे दोषसम्बन्धमुक्त्वा तथा सति गुणहानिं च वदंस्तत्र विशेषमाह ।

हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात् कुशाच्छन्दःस्तुत्युपगानवत् तदुक्तम् ॥ २६ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

तत्र केवलो वेधशब्दो नास्ति ।

माध्वास्तु, 'अग्ने त्वचं यातुधानस्य भिन्धी'ति वाक्यम् ।

तत्र तु वेधशब्द एव नास्तीति विषयवाक्यत्वं चिन्त्यम् । अथ वेधरूपार्थबलाद्विषय-वाक्यत्वम्, तदापि सन्निधिना विद्याङ्गत्वपूर्वपक्षोत्थापनम् । लिङ्गस्य बलिष्ठत्वाभाङ्गत्वमिति सिद्धान्तः । स च पूर्वतन्त्रादेव सिध्यन्नस्य सूत्रस्यानुवादकत्वमापादयतीत्यतोपि चिन्त्यम् ॥ २५ ॥

हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात् कुशाच्छन्दःस्तुत्युपगानवत्तदुक्तम् ॥ २६ ॥

एवमुपास्यस्य निर्दोषत्वं व्युत्पाद्य पूर्वसूत्रस्य पुरःस्फूर्तिकमादाय जीवस्य ब्रह्मभावेपि ब्रह्मासाधारण-गुणा नोपसंहार्या इति प्रसङ्गतो वक्तीत्याशयेन सूत्रमवतारयन्ति एवमित्यादि । भगवत्सम्बन्धा-भावे सति गुणहानिमपि वदन् भगवत्सम्बन्धे गुणप्राप्तिरूपं विशेषमाहेत्यर्थः । सूत्रं व्याकुर्व-

रश्मिः ।

लोऽसीतीन्द्रः सम्बोध्यते । केवल इति । किंतु प्रशब्दघटित इति । सति वेधादेः केवलस्य विषयवाक्ये सम्भवे प्रशब्दघटितमयुक्तमिति हृदयम् । सूत्रार्थस्तु प्रविध्यादयो मन्त्रा विद्यासूपसंह्रियेरन्, किंवा नोपसंह्रियेरन्निति संशयः । उपसंहार एवैषां विद्याप्रधानानामुपनिषद्ग्रन्थानां समीपे पाठादिति पूर्वपक्षे, सिद्धान्तः नैषामुपसंहारो विद्यास्विति । कस्मात्, वेधाद्यर्थभेदात् । 'हृदयं प्रविध्ये'त्यादिमन्त्राणां येऽर्था हृदयवेधादयो भिन्नाः अनभिसंबद्धाः ते उपनिषदुक्ताभिर्विद्याभिः, न तेषां ताभिः संगन्तुं साम-र्थ्यमस्ति । अयमर्थः । पूर्वपक्षोक्तस्थानरूपप्रमाणस्य लिङ्गरूपप्रमाणापेक्षया दुर्बलत्वान्न पूर्वपक्ष इति । देशसामान्यं स्थानम् । तच्च द्वेधा पाठदेशसामान्यमनुष्ठानदेशसामान्यं च । तत्र पाठदेशसामान्यमपि द्वेधा । यथासंख्यरूपं सन्निधिरूपं च । तत्र प्रथमस्यानुक्तत्वाद्द्वितीयः सन्निधिपाठरूपदेशसामान्यसह-कृतो 'यथाग्नये कृत्तिकाभ्यः पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपे'दिति, 'सोत्र जुहोत्यग्नये स्वाहा' 'कृत्तिकाभ्यः स्वाहे'त्यादि च । अत्र 'सोत्र जुहोती'त्यादिवाक्यविहितोपहोमानां सन्निधिपाठरूपदेशसामान्येन 'अग्नये कृत्तिकाभ्यः पुरोडाश'मित्यादिवाक्यविहितनक्षत्रेष्ट्यङ्गत्वं बोध्यत इति । लिङ्गरूपप्रमाणं स्वार्थगतं शब्दगतं वा सामर्थ्यम्, तत्रार्थगतसामर्थ्यं रूपलिङ्गसहकृतो यथा 'स्रुवेणावद्यती'त्यादि । अत्र स्रुवादीनां सामर्थ्यमालोच्य 'द्रवं मांसं कठिन'मित्यभिधात्रीं श्रुतिं कल्पयित्वा स्रुवस्य द्रवावदानेऽङ्गत्वं बोधयतीत्येवं प्रकृतेपि विद्यासमीपे पाठे पूर्वोक्ते समीपपाठसामर्थ्यमालोच्य वेधादीनां विद्याभिर्भेद इत्यभिधात्रीं श्रुतिं कल्पयित्वा वेधादिविद्यासु नोपसंहारेऽङ्गत्वं बोधयतीति ज्ञेयम् । अग्न इति । हे अग्ने, त्वं यातुधानस्य सत्त्वविशेषस्य श्रीभागवतप्रसिद्धस्य त्वचं भिन्धीति । लिङ्गस्येति । स्थानरूपसन्नि-ध्यपेक्षया भिन्धीति विधिशब्दसामर्थ्यस्य । असन्दिग्धं न विषयवाक्यमित्याहुः स चेति । सिद्धान्तश्च । आपादयतीति । यदि सूत्रमनुवादकं न भवेत्पूर्वतन्त्रोक्तं नानुवदेदित्येवमापादयति । वेधादि विद्याङ्गं न वेति सन्देहे, विद्याङ्गमिति पूर्वपक्षेऽर्थस्य लिङ्गस्य स्थानाद्भेदेन भेदादिति सूत्रार्थः ॥ २५ ॥

हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात् कुशाच्छन्दःस्तुत्युपगानवत् तदुक्तम् ॥ २६ ॥

ब्र० सू० र० ३६

'तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैती'त्याथर्वणिकैः पठ्यते । परमपदेन ब्रह्मोच्यते । तथाच सकार्याविद्यारहितः परममुपैति । तदनन्तरं साम्यमुपैतीति योजना ।

तत्रेदं विचार्यते । साम्यं हि समानजातीयधर्मवत्त्वम् । तच्च कतिपयधर्मैरशेषतन्निष्ठधर्मैर्वा भवति । तत्रान्त्यः पक्षो ब्रह्मणा समं न सम्भवति । 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यत' इति श्रुतिविरोधात् । अत आद्य एव पक्षोऽनुसर्तव्यः । तत्र कैर्धर्मैः साम्यमिहोच्यत इत्याकाङ्क्षायामाह हानाविति । ब्रह्मणः सकाशाद्विभागो जीवस्य हानिशब्देन उच्यते । तथाच तस्यां सत्यां ये धर्मा जीवनिष्ठा आनन्दादीश्वर्यादयो भगवदिच्छया तिरोहिताः, ते ब्रह्मसम्बन्धे सति पुनराविर्भूता इति तैरेव तथेत्यर्थः । भगवदानन्दादीनां पूर्णत्वाज्जीवानन्दादीनामल्पत्वात्तादृशैव समैर्धर्मैः कृत्वा ब्रह्मसाम्यं जीव उपचर्यते । 'साम्यमुपैती'ति । वस्तुतस्तु नैतैरपि धर्मैः साम्यमिति भावः । अत एव, 'न तत्सम' इति श्रुतिरविरुद्धा । अत एव सूत्रकृता 'साम्यमुपैती'ति साम्योपायनशब्दमात्रम्, न तु साम्यपदार्थः स्वारसिकोऽत्रास्तीति भावप्रकटनाय शब्दशब्द उक्तः । ननु तैरेव धर्मैः साम्यम्, नेतरैरित्यत्र को हेतुरित्याकाङ्क्षायामाह उपायनशब्दशेषत्वादिति । 'परममुपैती'ति य उपायनशब्दः, तच्छेषत्वात् साम्योपायनस्येत्यर्थः । ब्रह्मसम्बन्धहेतुकत्वादानन्दांशाद्याविर्भावस्य, तदैव साम्योपायनकथनात्तैरेव धर्मैः साम्यमभिप्रेतमिति भावः । नन्वानन्दादीनां ब्रह्मधर्मत्वात् तैस्तत्साम्यकथनं तदभेदमेव गमयतीत्याशङ्क्य, तद्धर्मवत्त्वमात्रस्य न तदभेदसाधकत्वमित्यत्र दृष्टान्तमाह कुशेत्यादि । कुशा औदुम्बर्यः समिधस्ता अग्निष्टोमादियागेषु प्रस्तोत्रा स्थाप्यन्ते । तदा तत्सम्बन्धि यच्छन्दःस्तुत्युपगानं तद्वदित्यर्थः । तत्र 'अभि त्वा शूर नोनुमो दुग्धा इव धेनव'

भाष्यप्रकाशः ।

भगवत्सम्बन्धे विशेषबोधिकां श्रुतिमाहुः तदेत्यादि । एतत्पूर्वार्धं तु 'यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनि'मिति । पठ्यते इति । मुण्डके पठ्यते । ननु कात्र भगवत्सम्बन्ध उच्यत इति शङ्कायां पूर्वार्धस्य स्फुटार्थत्वादुत्तरार्धं व्याकुर्वन्ति परमपदेनेत्यादि । विद्वान् भगवज्ज्ञानवान्, पुण्यपापे अविद्याकार्ये, ज्ञानेन विधूय निवार्य, निरञ्जनः अविद्यारहितः सन्, परमं ब्रह्म उपैति, तदनन्तरं साम्यमुपैतीत्येनमर्थः संक्षेपेण तथाचेत्यादिनोक्तः । एतेन यदन्यैरुक्तं 'परममत्युत्कृष्टं साम्यं समत्वं अद्वैतलक्षणं उपैति अवगच्छती'ति । तन्निरस्तम् । समशब्दस्य सर्वपर्यायत्वे साम्यं सर्वत्वम्, तुल्यपर्यायत्वे तौल्यम्, न पुनरद्वैतं निर्विशेषत्वलक्षणम्, लक्षणाप्रसङ्गात् । उभयनिरूपितधर्मरूपसाम्याङ्गीकारेपि यथा नाद्वैतहानिः, तथातीतपाद एवोपपादनात् । अन्यथा श्रुतिविरोधप्रसङ्गाच्च । अत उपैतिपदावृत्तिरेव युक्तेति । ननु भवत्वेवम्, तथापि किमत्र विचार्यमित्यत आहुः तत्रेदमित्यादि । इदमिति । साम्यम् । विचारमुपपादयन्ति साम्यं हीत्यादि । आहेति । यैर्धर्मैः साम्यं तानत्राहेत्यर्थः । सूत्रं व्याकुर्वन्ति ब्रह्मण इत्यादि । सूत्रे तुशब्देन श्रुत्यन्तरे समाभ्यधिकनिषेधादत्र साम्यपदं लक्षणया अद्वैतपरमिति पक्षो निरस्यते । ब्रह्मणः सकाशाद्विभागो जीवस्य, 'ओहाक् त्यागे' इति धातुनिष्पन्नेन हानिशब्देनोच्यते । विभागस्य पूर्वस्थितित्यागरूपत्वात् । तथाच तस्यां सत्याम्, उपायनशब्दशेषत्वात्, उपायनं ब्रह्मप्राप्तिस्तद्वाचकः शब्द उपैतिशब्दस्तच्छेषत्वात् साम्यस्य ये धर्मास्तिरोहिताः, ते परमोपायने ब्रह्मसम्बन्धे सति पुनराविर्भूता इति तैरेव तथा तैरेव साम्यमित्यर्थः । नन्वेवं साम्येपि 'न तत्सम' इति श्रुतौ संकोचस्तु स्यादेवेत्यत आहुः भगवदित्यादि । जीवानन्दादीनामल्पत्वादिति । 'सर्वे जीवाः सर्वमयास्तथाप्यल्पा' इति नृसिंहोत्तरतापनीये जीवानामल्पताया उक्तत्वेन तदानन्दादीनामपि तथात्वात् । नन्वेवमेव सूत्राशय इति कथं ज्ञातव्यमित्यत आहुः अत एव सूत्रकृतेत्यादि । हेतुमवतारयन्ति नन्वित्यादि । तदैवेति । ब्रह्मसम्बन्ध एव । तथाचोपायनशब्दशेषत्वात् उक्तैरेव धर्मैः साम्यमिति सूत्रयोजनेत्यर्थः । दृष्टान्तमवतारयन्ति नन्वानन्देत्यादि । व्याकुर्वन्ति कुशा इत्यादि । उपगीयतेऽनेनेत्युपगानम् । करणे ल्युट् । तथाच कुशाभिः कृत्वा छन्दःस्तुत्युपगानसाधनभूतभकारवदिति सूत्रार्थ इत्यर्थः । एतद्व्युत्पादयन्ति तत्रेत्यादि ।

रश्मिः ।

तथा सतीतिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म भगवदित्यादि । विशेषेति । साम्योपायनरूपविशेषबोधिकाम् । पश्य इति । पश्यतीति पश्यः । भगवज्ज्ञानेति । स्मार्तः प्रयोगः । उपैतीति । उप आ एतीति पदच्छेदः । तथाचेत्यादिना भाष्येणोक्तः । लक्षणेति । ब्रह्मवत् सर्वत्वे अभेदसम्बन्धो लक्षणा । तौल्येपि अभेदः । ब्रह्मतुल्यः ब्रह्माभिन्न इत्यर्थात् । सिद्धान्ते साम्येऽद्वैतमुपपादयन्ति स्म उभयेति । वक्ष्यमाणे इत्यर्थः । अतीतेति । तदनन्यत्वाधिकरणे । 'परमत' इत्यधिकरणे 'स्थानविशेष' सूत्रे 'अम्बुव'दधिकरणे वा । श्रुतीति । अद्वैतश्रुतिविरोधप्रसङ्गात् । लक्षणयेति । अभेदसम्बन्धरूपया । तच्छेषत्वादिति । हानावुपायनशब्दशेषत्वात् । भगवदित्यादीति । उपचर्यते कतिपयधर्मैर्गौणं क्रियते । सूत्रयोजनेति । हानौ जीवस्य भगवत्सकाशाद्विभागे ये जीवनिष्ठा धर्मास्तिरोहिता भगवदिच्छया आनन्दैश्वर्यादयस्ते भगवत्सम्बन्धे सति पुनराविर्भूता भवन्तीति परमं तुकारात् 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यत' इति श्रुतिनिषिद्धसाम्यपदं लाक्षणिकमद्वैतवाचकमिति पक्षनिरासकात् साम्यमुपैतीति योजना यद्यपि, तथापि दुरूहत्वममन्यमाना उपायनशब्दस्योपैतीत्यस्य साम्ये कर्मत्वाच्छेषत्वं विशेषणत्वं तस्मात् उक्तैरेवैश्वर्यादिधर्मैः साम्यमिति साम्यस्यैतादृशस्य योजनेत्यर्थः । नन्वानन्देत्यादीति । नेति । चन्द्रवन्मुखमित्यादौ तथा । अनेनेति । भकारेण । छन्द इत्यादि । छन्दोभिर्वेदैः स्तुतियुक्तमुपगानं तत्साधनभूतो भकारः तद्वत् । अत्रोपगानं भावल्युडन्तम् । ऋत्विजो गायन्तीत्यार्त्विज्यं गानस्य । अत्र भाष्ये । तत्सम्बन्धीति । स्तुतिरूपप्रतिपाद्यस्य प्रतिपादकत्वसम्बन्धि, छन्दसः स्तुतियुक्तमुपगानमित्यर्थः । प्रकृते । तत्रेत्यादीति । अभि त्वेति श्रुत्यर्थस्तु, हिरण्याक्षस्य वराहं प्रति वचः, ब्राह्मणे वाराहोक्तेः । कृष्णं प्रति भीष्मवचो वा । वेदान्ते कृष्णोक्तेः । यद्वा, हे शूर यातुधानादे, यज्ञाभिभावक, त्वामभि त्वा नोनुमः न रथन्तरेण साम्ना स्तुमः । तत्र दृष्टान्तः । अदुग्धाः न विद्यते दुग्धं यासु ताः धेनवो यथा न स्तुत्यास्तद्वत्, तथापि ब्रह्मत्वं परं

१. अभेदो लक्षणा ।

इत्यृषि ये वर्णाः, तेषामच एवोपसंहृत्य भकारेणैव गानं क्रियते । न हि तदार्चिकवर्णधर्माणामचामुपसंहारोऽस्तीति तद्गात्मकत्वं भकारस्य सम्भवति, एवं प्रकृतेऽपि ब्रह्मधर्मप्राकट्येन न तदात्मकत्वं जीवस्य सम्भवति । ननु तत्त्वमस्यादिवाक्यैरत्राभेदबोधनादस्तु तथेति चेत्, तत्राह तदुक्तमिति । जीवब्रह्माभेदबोधनतात्पर्यमुक्तमित्यर्थः । 'तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञव'दिति सूत्रेणेति शेषः ।

अपिच । श्रुतौ ब्रह्मोपायनस्य साम्योपायनहेतुत्वोक्त्या तदनुपायनस्य साम्यानुपायने हेतुत्वमिति ज्ञाप्यते । तथाच, 'पराभिध्यानात् तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययाै'विति सूत्रे जीवस्य ब्रह्मांशत्वेनानन्दैश्वर्यादिब्रह्मधर्मवत्त्वात् ब्रह्मणः सकाशाद्विभागे सति तदिच्छया तद्धर्मतिरोधानस्य संसारित्वे हेतुत्वमुक्तं यत्, तदपि 'तदुक्त'मित्यनेन स्मार्यत इति न विस्मर्तव्यम् । यथान्यशाखोक्तधर्मा अप्येकस्यां विद्यायामुपसंह्रियन्ते, एवं ब्रह्मनिष्ठा धर्मा जीवेऽप्येतया श्रुत्या बोध्यन्त

भाष्यप्रकाशः ।

तदात्मकत्वमिति । तदभेदः । अत्र किञ्चिदाशङ्क्य तत्समाधिं स्मारयतीत्याहुः ननु तत्त्वमित्यादि । अत्राभेदबोधनादिति । जीवे ब्रह्माभेदबोधनात् । तदुक्तपदं व्याकुर्वन्ति जीवेत्यादि । नच तद्गुणसारत्वसूत्रे संसारावस्थायामेव व्यपदेशपक्ष उच्यते, न तु मुक्त्यवस्थायाम्, 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्', 'सलिल एको द्रष्टाऽद्वितीयो भवती'त्यादिश्रुतिषु ब्रह्माभेदस्यैव श्रावणादिति वाच्यम् । अभेदेपि मुक्त्यवस्थायां जीवन्यूनताया 'यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति, एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतमे'ति काठकश्रुत्या भेदसहिष्णोरभेदस्यैव निश्चायनात् । नच 'सलिल एक' इत्यादिविरोधः । तत्र तादृशाभेदप्रतीत्यापि तदुपपत्तेः । लोकेपि मिलिताङ्गुल्यादौ विभागाभाव एव एकशब्दप्रयोगाच्च । नचावान्तरमुक्तावेवंभाव इति वाच्यम् । मानाभावात् । परमतेपि 'अविभागेन दृष्टत्वा'दिति सूत्रेऽविभागस्यैव व्याख्याततत्वात् । ब्रह्मसूत्रेषु मुक्तिविचारे कुत्राप्यैक्यपदादर्शनाच्च । नचैवमपि शङ्कापिशाची न निवर्तत इति चेत् । 'भिद्यते हृदयग्रन्थि'रिति श्रुत्युक्तदर्शने एव निवर्त्स्यते इति किमतोऽधिकं वाच्यमिति दिक् । नच गतिसामान्यसूत्रभाष्यविरोधः । तत्रापि सामान्यपदस्य तुल्यपदेनैव व्याख्यानात् । सूत्रकारस्याप्येतदेव मतम् । अन्यथा तु 'गत्यैक्या'दित्येव वदेत् । नच तद्विषयवाक्यविरोधः । तत्रापि विज्ञाता विज्ञातृरूपेण न तिष्ठति, किन्तु ब्रह्मरूपेणेति भेदविरुद्धसंपदा अभेदेन स्थानस्थाभिप्रेतत्वादिति न कोपि चोद्यावकाशः । तदुक्तपदसूचितमर्थान्तरमाहुः अपिचेत्यादि । एतेन गुणहानिर्व्याख्याता बोध्या । नन्वेतद्व्याख्यानमसङ्गतम्, उपसंहारप्रकरणे धर्मसाम्यविचारप्रसङ्गस्याभावादित्यत आहुः यथेत्यादि । यथा छान्दोग्यस्थपञ्चाग्निविद्यायां काण्वाद्युक्तः षष्ठोऽग्निः प्राणविद्यायां पञ्चमं रेतश्चोपसंह्रियते, विद्यैक्यबलात्, तथात्र श्रुत्या परमसाम्यनिरूपणादैक्यभ्रमेणासाधारणा ब्रह्मनिष्ठा धर्मा अपि जीवे उपसंहार्या इति शङ्कानिरासायैतदुक्तमित्यर्थः । तस्मान्निर्दोषत्वे तिरोहितगुणप्राप्त्या साम्ये च सिद्धे ब्रह्मभूतस्य मुख्यं भजनं सिध्यतीति तदर्थे यतनीयम्, न तु विभूतिपरेण भवितव्यमिति बोधितम् । अत्रापहतपाप्मत्वस्य यज्ञे प्राकट्याद्यङ्गसम्बन्धे रुक्मवर्णत्वात् सौभाग्यस्य कर्तृत्वयो-

रश्मिः ।

दुष्टमिति भावः । पूर्वपक्षयोरदुग्धा दुग्धविरोधिन्यः । विरोधो नञर्थः । अच एवेति । द्वितीयाबहुवचनान्तमच इति पदम् । एवकारः स्पर्शाक्षरव्यवच्छेदकः । उपसंहृत्येति । 'त्वामिद्धि हवामह' इत्यस्यामुपसंहृत्य, सान्निध्यात् । सान्निध्यं पूर्वतन्त्रे द्वितीयाध्यायस्य तृतीयपादे प्रथमाधिकरणे । 'अभित्वा शूर' इत्येतस्यां योनावुत्पन्नं रथन्तरं साम । 'त्वामिद्धि हवामह' इत्येतस्यामुत्पन्नं बृहत्साम । जगतीछन्दस्कायामप्युत्पन्नं जगत् सामेत्युक्तेः । त्वां इत् हि इति छेदः । त्रिमिदा स्नेहने त्वा त्वामिद्धि इति वा । भकारेणैवेति । 'अभि त्वे'ति श्रुते रथन्तरसामयोनित्वेनास्या उद्धृतभकारस्य रथन्तरसामत्वं प्रतिभाति । अस्याः श्रुतेर्लाघवम् । भकारशब्दः कोशादेकादशबलयुक्तशुक्रस्य वाचकः । नक्षत्रवाचको वा । तेनेत्यर्थः । लाघवादेवकारः शरीरगुर्वीं श्रुतिं व्यवच्छिनत्ति । आर्चिकेति । ऋक्सम्बन्धिनां ऋचि भवानाम् । 'तत्र भव' इति ठक् । चतुर्दशमाहेश्वरसूत्रोक्तत्वात्पाणिनीयानुक्तत्वादचां वर्णधर्मत्वम् । तद्गात्मकत्वमिति । अष्टादशाचः पञ्चाशद्वर्णास्तदञ्जलात्मकत्वं तदात्मकत्वम् । गतीति । इदं सूत्रं प्रथमस्य प्रथमपादे । गुणहानिरिति । माध्वीयामस्योक्ता । पञ्चममिति । सर्ववेदान्तप्रत्ययसूत्र एवोक्तम् । 'उपसंह्रियन्त' इत्यनुक्त्वा 'बोध्यन्त' इत्युक्तं तदर्थमाहुः इति शङ्केति । उपसंहारशङ्कानिरासायैतत् 'बोध्यन्त' इति पदमुक्तमित्यर्थ इत्यर्थः । उपासनां प्राकरणिकीमाहुः तस्मादिति । ब्रह्मनिष्ठधर्माणां जीवे बोधनात् । दोषः पाप्मवेधः तस्मान्निर्गतत्वे प्रथमसूत्रोक्ते द्वितीयसूत्रोक्ते तिरोहितगुणानामानन्दादीनां प्राप्त्या साम्ये । 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति । समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते परा'मिति गीताया आहुः ब्रह्मभूतस्येति । जीवस्य । मुख्यं परं फलाविसंवादि एकादशैकोनविंशाध्यायोक्तम् । तदर्थे इति । मर्यादामार्गीये तदुक्ते । एतेन तत्पदार्थाशया भजनेऽयं पुष्टिमार्गो भवति । 'तत्त्वायामि ब्रह्मणे'ति सन्ध्याश्रुतेः । तत् महावाक्योक्तं त्वा त्वायामि पद्भ्यां सेवे । पादसेवोक्ता । ब्रह्मणा हिरण्यगर्भेण वन्द्यमानः वन्द्यमानम् । अमः सुः । 'अथा मानसी सेवां अत्यहं करोती'ति सुबोधिन्याम् । वन्दनभक्तिः सेवापूर्त्यै एकादशस्कन्धसुबोधिन्यामुक्तम् । तत् पूर्वोक्तं यजमानो दैशिक आशास्ते आशां कुरुते । हविर्भिः बहुविधभक्तिमार्गीयैः समर्पणदानैः । स यजमानो न कृतात्मनिवेदी, किंतु श्रुतात्मनिवेदीत्याह अहेडमान इति । हेड अनादरे । हेडते कृतात्मनिवेदनत्वदशायां गुरुणा न हेडमानोऽहेडमानः, हे वरुण, इह लोके बोधी ज्ञानी उरु यथा भवति तथा शंसमानः कीर्तनभक्तिमान् । आयुः अन्नं प्रमोषीः प्रकर्षेण मोषीः । मुष स्तेये । जल्दोषेण स्तेयं मा कार्षीः । अडभावश्छान्दसः । उरु शं यथा भवति तथा स यजमानोऽतो नोऽस्माकं आयुः त्वं प्रमोषीः । आनन्दमयादीनां प्रियशिरस्त्वसूत्रानुसारेण प्रियाद्युपासनमुक्त्वा तत्प्रसङ्गेन स्मृताय विरुद्धधर्माधारत्वाय निकेतत्वानिकेतत्वे श्रीवैराग्यरूपे आहुः पुरुषविधब्राह्मणोक्तपतिपत्नीभजनाय । तत्प्रसङ्गेन स्मृताय च । अत्रापहतेति । श्रुतौ अपहतपाप्मा यज्ञ उक्तः, सोऽत्र शाखाभेदेन पुरुषविधः । आनन्दमयाधिकरणे पुरुषविधब्राह्मणोक्तेरानन्दमयाद्युपासनप्रसङ्गेन पुरुषविध आनन्दमय इति स्मृतेः । पुरुषविधयज्ञो दंपतीत्वतः 'पतिः पत्नी चाभवता'मिति पुरुषविधब्राह्मणश्रुतेः । ततो यज्ञ आसन्ये अपहतपाप्मत्वं रुक्मवर्णत्वं पत्नीकृतमधोक्षजे । तस्याः क्रियात्वेन रुक्मवर्णत्वमिति । गोप्यत्वा'दजामेका'मिति श्रुत्युक्ताया अजायास्त्यक्ताया गुणहानिः तस्यां सत्यां ब्रह्मोपायनशेषत्वात्साम्यस्य । ब्रह्मप्राप्तिमुख्यनित्यक्रीडाप्रवेशोपयिकः प्रपञ्चः तस्य शेषत्वं पत्नीनिष्ठसाम्यस्येति परम्परया ब्रह्मोपायनशेषत्वं साम्यस्येत्याशयवन्त आहुः सौभाग्यस्येति । अलौकिककर्तृत्वयोनित्वाभ्यां सौभाग्यस्य साम्यरूपस्य । ब्रह्मवदभिन्न(निभिन्न)निमित्तोपादानत्वं तेन साम्यमित्युक्तम् । तस्याः कार्यकारणभावः प्रपञ्चसम्बन्धः इति त्रिधा सौभाग्यतज्जन्यकर्तृत्वयोनित्वैस्त्रिधा आधिदैविकादिभेदेन या श्रीर्लक्ष्मीः शोभा

भाष्यप्रकाशः ।

नित्वाभ्यां प्रपञ्चस्य च सम्बन्ध इति त्रिधा श्रीनिकेतनत्वमुक्तम् ।

अन्ये तु इदमप्येकसूत्रमधिकरणमङ्गीकृत्य, 'अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहुमुखात् प्रमुच्य, धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवानी'ति ताण्डिश्रुतिं 'तदा विद्वा'नित्याथर्वणश्रुतिं 'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्या'मिति शाट्यायनिश्रुतिं 'तत्सुकृतदुष्कृते विधूनुते तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमुपयन्ति अप्रिया दुष्कृत'-मिति कौशीतकिश्रुतिं चोदाहृत्य, यत्रोभयं श्रूयते, तत्र न कश्चिद्विचारः, यत्राप्युपायनमेव श्रूयते, न हानम्, तत्राप्यर्थादेव हानं सन्निपतति, अन्यैरुपेयमानयोरात्मीयसुकृतदुष्कृतयोर्हानस्यावश्यकत्वात्, यत्र पुनः केवलं हानमेव श्रूयते, तत्रोपायनं सन्निपतेन्न वेति संशये, अश्रवणाद्विद्यान्तरगोचरत्वाच्च न सन्निपततीति पूर्वपक्षे, तत्रापि तत्सन्निपातं सिद्धान्तयितुं सूत्रमेवं व्याकुर्वते । हानौ केवलायामपि श्रूयमाणायामुपायनं सन्निपतति । कौशीतकिरहस्ये उपायनशब्दस्य हानशेषत्वेन समधिगतत्वादित्यादि ।

रश्मिः ।

तस्या **निकेतनत्वं** निकेतनं धर्मो भक्तिविषयः । **उक्तम्** । सूत्रयोस्तात्पर्येण भजनीयतावच्छेदकपञ्चकेन सहोक्तश्रीनिकेतनमुक्तम् । प्रपञ्चस्वत्वं सम्बधयति प्रियाम् । **श्रीनिकेतनत्वमुक्तमिति** पाठे । उक्तप्रपञ्चस्य स्वत्वमात्मत्वं सम्बन्धयति प्रियामिति णिजन्तत्वेन कर्मद्वयम्, प्रिया श्रीः तस्या निकेतत्वमुक्तम् । द्वितीयस्कन्धसुबोधिन्यां भाष्ये भजनीयमुक्तं तद्विषयतावच्छेदकं पञ्चकमुक्तं द्वितीयस्कन्धसुबोधिन्यां द्वितीयाध्याये तत्त्वध्यानप्रकरणे 'एवं स्वचित्ते स्वत एव सिद्धे' इति श्लोके 'आत्मत्वं प्रियत्वं अर्थत्वं भगवत्त्वमनन्तत्वं चे'ति । 'आध्यानाये'ति सूत्रेण तत्त्वध्यानप्रकरणस्मारणात् । सुबोधिन्यामुक्तपञ्चधर्मोत्त्यनन्तरं भजने चैते धर्मा भजनीयविषयतावच्छेदकत्वेन गुणोपसंहारन्यायेन ग्राह्या इति । तेन 'नमामि हृदये शेषे लीलाक्षीराब्धिशायिनम् । लक्ष्मीसहस्रलीलाभिः सेव्यमानं कलानिधि'मित्यत्र सेवा प्रपञ्चिता । तेनानन्दमयस्य नित्यक्रीडास्थसाम्येपि श्रीवत्सकौस्तुभौ विना साम्यमिति केवलस्वरूपभक्तिकामेन श्रीवत्समुपसंहार्याधोक्षजे जानातीच्छति यतत इति क्रमेण भक्तिः सम्पाद्येति साम्ये भजनव्यभिचारात् कथमानन्दमयस्य भजनीयत्वमिति कुचोद्यं निरस्तम् । श्रीवत्सेनेतरपार्थक्यात् । किंच तृतीयस्कन्धे 'अद्राक्षमेकमासीन'मित्यत्र सुबोधिनी 'तदा भगवतः ऐश्वर्यस्य प्रादुर्भूतत्वात् षोडशापि कलाः तदा भगवति दृष्टाः संपूर्णो भवति । अतोत्र भगवतः षोडशविशेषणानि । एतान्येव गुणोपसंहारे षोडशाधिकरण्या प्रतिपादितानी'ति । **अश्व इवेति** । प्रत्येकं भाष्यकाराणामिमानि विषयवाक्यानि । श्रुत्यर्थस्तु, 'यथाऽश्वो जीर्णानि रोमाणि रजोभिः सह त्यक्त्वा स्वच्छो भवत्येवमहमपि पापं सर्वं विधूय निर्मलः सन् यथा वा चन्द्रो राहोर्मुखात्प्रमुच्य भास्वरो भवत्येवमकृतं प्रवाहरूपेणानादिसिद्धं शरीरं धूत्वा त्यक्त्वातिस्वच्छः सन् कृतात्मा कृतकृत्यो ब्रह्मात्मकं लोकमभिसंभवाम्याभिमुख्येन प्रसक्तेन प्राप्नोमीत्यर्थः । परमं साम्यमैक्यम् । तस्य मृतस्य विदुष इत्यर्थः । दायं भागमित्यर्थः । **हानस्येति** । उपायनशेषस्य । **इत्यादीति** । अमूर्तयोः पुण्यपापयोरन्यत्र संचारात्मकोपादानस्य मुख्यस्यायोगात् सूत्रे शब्दपदेन हानाद्युपायनोपसंहारस्य स्तुत्यर्थत्वं सूचितम् । शाखान्तरो विशेषः शाखान्तरे पापेक्षित उपसंहरणीय इत्यत्र दृष्टान्तमाह **कुशाच्छन्द इत्यादिना** । तत्र कुशदृष्टान्तो यथा—'कुशा वानस्पत्याः स्थे'त्यादौ भाल्लविनां श्रुतौ हे कुशाः समिद्रूपा यूयं वानस्पत्याः स्थाऽतो यजमानं रक्षतेति यजमानप्रार्थने वनस्पतियोगित्वेन सामान्यसमित्श्रवणे 'औदुम्बरा' इति

भाष्यप्रकाशः ।

तच्चिन्त्यम् । आद्ये उपायनशब्दस्याभावेन अर्थग्रहणेपि तस्य फलबोधकत्वेन द्वितीयवाक्येपि तस्य तथात्वेन हानशेषत्वाभावाद्विषयत्वायोगात् । ताण्ड्याथर्वणकौशीतकिवाक्येषु कम्पनार्थकधातुनिष्पन्ने 'धूत्वे'त्यादिशब्दे हान्यर्थत्वं लक्षयित्वा उपायने तच्छेषताकल्पनस्य क्लिष्टत्वात् । चतुर्ष्वपि वाक्येषूपायनस्य सत्त्वात् क उपायनशब्दः सूत्रकाराभिसंहित इत्यनिश्चयेन कौशीतकिस्थशब्दस्यैव विषयत्वमित्यस्याप्यतिक्लिष्टत्वाच्च ।

यदप्यस्योपायनवादस्य स्तुत्यर्थत्वादन्यदीयपुण्यपापयोः कथमन्यत्र प्राप्तिरित्यत्र नाभिनिवेशः कार्य इत्युक्तम् ।

तदपि न रोचिष्णु । 'राज्ञि चामात्यजा दोषाः पत्नीदोषाश्च भर्तरी'त्यादिस्मृतावभिमान-

रश्मिः ।

शाखान्तरीयो विशेष आश्रितः 'औदुम्बराः कुशा' इति । छन्दोदृष्टान्तो यथा—'छन्दोभिः स्तुवीते'त्यत्र देवासुरच्छन्दसामविशेषेण पौर्वापर्यप्रसङ्गे 'देवच्छन्दांसि पूर्वाणी'ति पैङ्गिश्रुत्या निर्णयः । स्तुतिदृष्टान्तो यथा—षोडशिनः पात्रविशेषस्य ग्रहणे त्वङ्गभूतं स्तोत्रं कदा कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायां छन्दोगानां कालाविशेषप्राप्तौ 'समयाध्युषिते सूर्ये षोडशिनः स्तोत्रमुपाकरोती'ति तैत्तिरीयकवाक्यात् कालविशेषधीर्भवति । एवं (भूयः अर्च्यानां श्रुते) वा कालविशेषधीरिति । उपगानदृष्टान्तो यथा—'ऋत्विज उपगायन्ती'ति सामान्यवाक्यं शाखान्तरीयं नाध्वर्युरुपगायन्तीति विशेषमपेक्ष्याध्वर्युवर्जिता ऋत्विज उपगायन्तीत्येतदर्थपरतया निश्चीयते । तथाच यथा कुशादिश्रुत्यन्तरगतविशेषान्वयास्तथा हानाद्युपायनान्वय इत्यर्थः इत्यादिशब्दार्थः । **अभावेनेति** । उपयन्तीति पदाभावात्तथा । **अर्थेति** । विधूयेत्यस्यार्थः विभागानुकूलो व्यापारः त्यक्त्वेत्यर्थात् । तत्र पूर्वक्षणे ईश्वरस्य निमित्तत्वात् पुण्यपापयोः कर्म, ततः देवदत्तात् पुण्यपापयोर्विभागः, ततः पुण्यपापवैशिष्ट्येन साञ्जनत्वारम्भकवैशिष्ट्यनाशः, ततः पुण्यपापनाशः, तेन साञ्जनत्वनाश इति । ततस्तेनैव देवदत्तात्पुण्यपापयोर्विभागेन सकर्मणोः पुण्यपापयोराकाशादिविभागो जन्यते, ततः पूर्ववैशिष्ट्यनाशः, ततो विष्णुमित्रकृष्णदत्तयोर्वैशिष्ट्यम् । ततो विष्णुमित्रे कृष्णदत्ते चोपसंहृतयोः पुण्यपापयोर्हानम्, ततः कर्मनाश इति विभागस्यार्थस्तस्य ग्रहण इत्यर्थः । **तस्येति** । उपायनशब्दस्य फलं उपयन्तीत्यत्रोपायनं तस्य फलबोधकत्वेन । इदं हानशेषत्वाभावादित्यनेनान्वेति । **तस्येति** । उपायनशब्दस्य फलबोधकत्वेन । उपायनानुकूलव्यापार इति धात्वर्थात् । फलं वा धात्वर्थ इति मतम्, मण्डनमिश्राणामपि । **हानशेषत्वेति** । 'परार्थः शेषलक्षण'मिति जैमिनिसूत्रात् हानार्थत्वाभावात् । किन्तु व्यापारार्थत्वम् । फलं धात्वर्थ इति पक्षेपि लकारार्थव्यापारशेषत्वेन हानशेषत्वाभावात् । **लक्षयित्वेति** । जन्यजनकभावसम्बन्धो लक्षणा । **सत्त्वादिति** । प्रथमे धूत्वेत्यस्य त्यागार्थग्रहणे सत्त्वात् । द्वितीये विधूयेतिपदस्य त्यागार्थग्रहणे सत्त्वात् । तृतीये उपयन्तीत्युपायनस्य सत्त्वात् । तथा चतुर्थे सत्त्वात् । **कौशीतकीति** । उभयोक्तेरेवकार एकोक्तिविशिष्टव्यवच्छेदकः । **अतीति** । प्रथमविषयवाक्यत्यागे मानाभावान्मानस्थापन एकवाक्यताङ्गीकारादेकवाक्यतायाश्चतुर्षु प्रमाणेष्वन्तर्भावाभावात्परस्परमेकवाक्यतापन्नवाक्यचतुष्टयस्य शब्दत्वेन प्रामाण्याददतीति । **स्तुत्यर्थत्वादिति** । असदर्थबोधकत्वात् । 'नाभिनिवेशः कार्य' इत्यनेनान्वेति । **अभिमानेति** । अमात्येन निग्रहादिके कृते राजाभिमन्यते मया कृतमिति, पत्न्यां दुष्टायां

इत्येतावत्साम्यमस्तीत्युपसंहारप्रकरण एतस्य निरूपणं कृतम् ॥ २६ ॥

इति तृतीयाध्याये तृतीयपादे पञ्चमं वेधाद्यधिकरणम् ॥ ५ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

मात्रेण दोषसंक्रमकथनात्, भारतादौ माण्डव्यदत्तयमशापप्रसङ्गे बालकृतपापस्य जनकत्वोपाधिना पितृसंक्रमकथनात्, विश्वामित्रपुण्येन त्रिशङ्कोः स्वर्गप्राप्तिस्मरणाच्चापि तथा सम्भवेन स्तुतिमात्रत्वाङ्गीकारस्याप्रयोजकत्वात्, 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथे'ति श्रुतिस्मृतिभ्यां ज्ञानस्य कर्मनाशकत्ववत् विद्याविशेषस्यान्यत्र कर्मसंक्रामकत्वेपि बाधकाभावात्। न च सुकृतदुष्कृतयोः कर्तृसामानाधिकरण्यस्यैव सर्वत्र दर्शनान्नान्यत्र साक्षात् संक्रमः, अपि तु फलस्य तत्र सम्बन्धात् तत्र स उपचर्यत इति वाच्यम्। हेतुव्यधिकरणस्य फलस्यैवाशक्यवचनत्वात्। न च वाक्यान्यथानुपपत्त्या तत्र तथा कल्प्यत इति वाच्यम्। तस्या अत्रापि तौल्यात्। किञ्च। आन्यत्रिकवाक्यस्य आन्यत्रिकवाक्यशेषत्वाय 'कुशाच्छन्दःस्तुत्युपगानव'दित्यत्र दृष्टान्तत्रयं यत् स्वीकृतम्, तदपुष्टार्थम्। एकेनापि तत्सिद्धेरप्रत्यूहत्वेन बहूनां कथने प्रयोजनाभावादिति ॥ २६ ॥ इति पञ्चमं वेधाद्यधिकरणम् ॥ ५ ॥

रश्मिः ।

पतिर्दुष्ट इति लोका वदन्ति। दोषसंक्रमेति। अन्यथा नाभिमन्येत। जनकत्वेति। अभिमानस्थलेऽयमुपाधिः। यथाभिमानोऽन्यदीयपुण्यपापयोरन्यत्र प्राप्तिरित्यत्राभिनिवेशे उपपत्तिसाधकः, तथात्र जनकत्व'मात्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शत'मिति श्रुत्युक्तपितृपुत्रयोरैक्यज्ञानसंजातवासनासमानाधिकरणमुपपत्तिसाधकं ज्ञेयम्। तथेति। अन्यदीयपुण्यपापयोरन्यत्र प्राप्तिरित्यत्राभिनिवेशो शब्दस्योपपत्तिसाधकत्वेन संभवस्तेन। एवं भगवन्माहात्म्यमुक्त्वा 'अनृतेन प्रत्यूढा' इति श्रुतेः पुण्यपापयोरविद्यया प्रतिकूलत्वेन प्रापितयोरन्यदीयपुण्यपापयोरन्यत्र प्राप्तिरित्यत्राभिनिवेशसाधकं विद्याविशेषमाहुः क्षीयन्त इति। कर्मनाशेति। कर्माविद्यारूपमत्र बोध्यम्। 'अविद्यायामन्तरे वर्तमाना' इति मुण्डकश्रुतेः। विद्येति। विद्याविशेषोऽत्र त्रय्या व्यतिरिक्त आथर्वणः। अन्येति। ऋतादन्यदनृतं कर्म। योगमायास्थले दशमे प्रसिद्धं यथा कथञ्चित्। कर्तृत्वेति। यो हि कर्ता तत्र सुकृतदुष्कृते इति। फलस्येति। सुकृतदुष्कृतफलस्य पुण्यपापरूपस्य। तत्रेति। तथा 'तस्य सुहृदः साधुकृत्यामुपयन्ति'। मृतस्य साधुकृत्यां मृतोऽयं सुहृद्वयं तत्कार्यरहितास्तत्सुकृतफलभागिन इत्युपयन्ति। 'द्विषन्तः पापकृत्यामुपयन्ति'। मृतस्य पापकृत्यां मृतोयं द्वेषेण वयं पापफलभागिन इति। सम्बन्धो दार्ष्टान्तिके। स इति। सुखदुःखोपसंहारः सुकृतदुष्कृतोपसंहारो वा। वाक्यान्यथेति। विषयवाक्यान्यथानुपपत्त्या। यद्विना यदनुपपत्तिरसम्भवस्तेन। तत्र तत्समाधानाय तथा उपायनवादः स्तुतित्वेन कल्प्यत इत्यर्थः। तस्या इति। स्तुतेरत्रास्मन्मतेपीत्यर्थः। दृष्टान्तत्रयमिति। पूर्वमुक्तं व्याख्यातं च। एकेनापीति। न च बहुभिः साध्यदार्ढ्यमिति वाच्यम्, हेतोः सदोषत्वापत्तेः ॥ २६ ॥ इति पञ्चमं वेधाद्यधिकरणम् ॥ ५ ॥

सम्पराये तर्तव्याभावात् तथा ह्यन्ये ॥ २७ ॥ (३-३-६.)

वाजसनेयिशाखायां 'स एष नेति नेतीत्यात्मे'त्युपक्रम्य, 'न व्यथत' इत्यन्तेन ब्रह्मस्वरूपमुक्त्वा, यत एतादृग्ब्रह्मातस्तद्विदपि विवक्षितरूप इत्यभिप्रायेणाग्रे पठ्यते 'अतः पापमकरवमतः कल्याणमकरवमित्युभे ह्येष एते तरत्यमृत' इत्यादिना। अग्रिमया 'एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्ये'त्यृचा च ब्रह्मविदो माहात्म्यमुक्त्वा पठ्यते। 'तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः श्रद्धा-

भाष्यप्रकाशः ।

सम्पराये तर्तव्याभावात् तथा ह्यन्ये ॥ २७ ॥ साम्पराय इति पाठे स्वार्थेऽण् बोध्यः। पूर्वाधिकरणे जीवस्य भगवत्सम्बन्धे विशेषमुक्त्वा तत्साधनयोर्ज्ञानभक्त्योर्मध्ये किं ज्याय इति विचारयितुमधिकरणमारभत इत्याशयेन सूत्रे तर्तव्याभावपदात्तल्लिङ्गिके श्रुती विषयत्वेनोदाहरन्ति वाजेत्यादि। अथर्वणेत्यादि च। एतयोराद्यं वाक्यं बृहदारण्यके शारीरब्राह्मणस्थम्। तत्र च पूर्वं 'मनसैवानुद्रष्टव्य'मित्यनेन तद्दर्शनसाधनमुक्त्वा, 'विरजः पर आकाशा'दित्यादिना विरजत्ववशित्वेशानत्वादीन् धर्मान् बोधयित्वा, ततोऽनिरुक्तत्वाय 'नेति नेती'त्यनेनैतावन्मात्रतां निषिध्य, 'अगृह्यो नहि गृह्यते, अशीर्यो नहि शीर्यते, असङ्गोऽसितो न सज्जते न व्यथत' इत्यनेन लौकिकप्रमाणाग्राह्यत्वमनाशित्वमसङ्गत्वम्, 'षिञ् बन्धने', अबद्धत्वं निर्दुःखत्वं चोक्त्वा, तेन जडविलक्षणं ब्रह्मस्वरूपं बोधयित्वा, ब्रह्मण एतादृशत्वात् तद्विदपि साध्वसाधुकर्मरहित इति बोधनायाग्रे पठ्यते 'अतः पापमकरवमतः पुण्यमकरवमित्युभे ह्येष एते तरत्यमृतः साध्वसाधुनी' इति। अत इदमभिसंधाय पापमकरवं कृतवानस्मि, अत इदमभिसन्धाय कल्याणं पुण्यं कृतवानस्मि, इति एवमभिसन्धिपूर्वकं कृते एते उभे साध्वसाधुनी हि निश्चयेन एष उक्तरीतिकब्रह्मवित् तरति अतिक्रामत्यभिभवति। अमृतो जीवन्नेव, नैनं कृताकृते तपतः, एनं ब्रह्मविदं निन्दितकरणकल्याणकरणे पश्चात्तापं न जनयतः, नास्य केनचन कर्मणा लोको मीयते, अस्य प्राप्तव्यो ब्रह्मलोकः केनापि कर्मणा नापयाति, प्राप्तव्यं प्राप्नोत्येवेत्यर्थः। तदेतदृचाभ्युक्तम्। ब्राह्मणोक्तोऽर्थो वक्ष्यमाणर्चाप्युक्त इत्यर्थः। ऋक् तु 'एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न कर्मणा वर्धते नो कनीयान् तस्यैव स्यात् पदवित् तं विदित्वा न कर्मणा लिप्यते पापकेने'ति। 'एष' इति ब्राह्मणोक्तः। 'तं' पूर्वोक्तरूपमात्मानं विदित्वा तस्यैवात्मनः पदवित् पदं चरणं स्थानं वा 'तद्धाम परमं ममे'ति वाक्यादक्षरं तद्वित् स्यात्। ततः पापेन लिप्तो न भवतीत्येवमक्षरविदो माहात्म्यमुक्त्वा पठ्यते। तत्साधनमुच्यते 'तस्मादेवंवि'दित्यादिना। यस्मादेवं ज्ञातुर्माहात्म्यम्, तस्मादेवं शास्त्रतो ज्ञः, यः स्वरूपवित्, शान्तो दान्तः निगृहीतान्तर्बहिःकरण उपरतो निवृत्तसर्वेहस्तितिक्षुः दुःखसहिष्णुः श्रद्धाचित्त आस्तिक्यबुद्धिमान् आत्मनि स्वशारीर एवात्मानमक्षरं पश्येत्। 'अर्हे कृत्यतृचश्चे'-

रश्मिः ।

सम्पराये तर्तव्याभावात् तथा ह्यन्ये ॥ २७ ॥ अत इति। अभावस्य प्रतियोगिसापेक्षत्वात्। साध्वसाधुनी इति। द्वितीयाद्विवचनान्तं पदम्। नापयातीति। मीयत इति। माङ्माने शब्दे च। अपयातिशब्देन शब्द्यत इत्यर्थः। पदवित्तमिति। पदवित् तं इति छेदः। 'तस्यैवात्मा पदवित् तमिती'दानीन्तनपाठः। स्वशारीर इति। स्वजीवे। 'यस्यात्मा शरीर'मित्य-

चित्तो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्येत्, सर्वमेनं पश्यति, सर्वोऽस्यात्मा भवति, सर्वस्यात्मा भवति, सर्वं पाप्मानं तरति, नैनं पाप्मा तरती'त्याद्युक्त्वान्ते पठ्यते 'य एवं वेदे'ति । अत्र हि पाप्मतरणादिरूपं ब्रह्मज्ञानमाहात्म्यमुच्यते । ज्ञानस्य संसारमुक्तिहेतुत्वात् । अथर्वणोपनिषदादिषु तु भगवद्भक्तेर्मुक्तिहेतुत्वमुच्यते । 'परं ब्रह्मैतत् यो धारयती'त्युपक्रम्य 'भजति सोऽमृतो भवति सोऽमृतो भवती'ति । अग्रेपि 'मुक्तो भवति संसृते'रिति । एतद्विषयव्यवस्था तु पुरैवोक्तेति नात्रोच्यते ।

एतावान् परं सन्देहः, 'य एवं वेद स पाप्मानं तरती'ति वचनाज्ज्ञानदशायामपि पापसत्त्वं वाच्यम्, अन्यथा तरणासम्भवापत्तेः । एवं सति भक्तिदशायामप्येवमेव, न वेति भवति संशयः ।

भाष्यप्रकाशः ।

त्यर्हार्थे लिङ् । दर्शनार्ह इत्यर्थः । एवं दर्शनार्हतामुक्त्वा स्वस्य द्रष्टृतानिश्चयार्थं द्रष्टृलिङ्गानि वदति 'सर्वमेनं पश्यती'त्यादिना । स्वज्ञानार्थं लिङ्गमुक्त्वा परज्ञानार्थं तदाह 'विपापो विजरो विजिघत्सोऽपिपासो ब्राह्मणो भवति, य एवं वेदे'ति । य उक्तप्रकारकब्रह्मद्रष्टा स विपापादिलिङ्गैर्निश्चेय इत्यर्थः । अत्र विपापत्वं पापरूपकार्याकर्तृत्वमेव । बाह्यानां जराद्यभावानां समभिव्याहारात्, न तु पूर्वपापराहित्यम्, तस्य तर्तव्यत्वेनात्रोक्तत्वात् । इदं चान्यमतेपि तुल्यम् । सर्वैरेव 'अश्व इव रोमाणि विधूय पापम्' 'स आगच्छति विरजां तत्सुकृतदुष्कृते विधूनुत' इत्यादिश्रुतीरुदाहृत्य विदुषोपि देहवियोगसमय एव तर्तव्याभावव्याख्यानात् । अन्यथोक्तश्रुतिविरोधादिति सर्वमभिसन्धायास्य वाक्यस्य निष्कृष्टार्थमाहुः अत्र हीत्यादि । तर्तव्यलिङ्गां श्रुतिमुक्त्वा तदभावलिङ्गामाहुः अथर्वणेत्यादि । 'परं ब्रह्मे'त्यादिवाक्यं गोपालतापनीयस्थम् । अर्थस्तु स्फुटः । आदिपदेन तदुपबृंहणभूतपुराणसङ्ग्रहः । अतः परं यदंशे संशयस्तं प्रकटयितुं पूर्वविचारितमंशं प्रथममाहुः एतदित्यादि । एतच्छ्रुतिद्वयविषयभूते ये ज्ञानभक्ती तयोर्या व्यवस्था, अधिकारिभेदेन रूपभेदकथनात् तेन तेन ते ते धर्मास्तत्र तत्रोपसंहार्याः, नोपसंहार्याश्चेति नियमरूपा, सा तु 'न वा प्रकरणभेदा'दिति सूत्र एवोक्तेति तदंशे संदेहाभावादत्र पुनर्नोच्यत इत्यर्थः । सन्दिग्धांशमाहुः एतावानित्यादि । एवं सतीति । मुक्तिकारणत्वेन भक्तिज्ञानयोस्तौल्ये सति । तयोस्तौल्यं भक्तौ पापसूचनाद्यभावश्च सन्देहबीजम् ।

रश्मिः ।

न्तर्यामिब्राह्मणात् । शरीरमेव शारीर इति वा । स्वज्ञानेति । स्वस्य ब्रह्मद्रष्टृत्वज्ञानार्थं लिङ्गं समीपतरवर्तिनमान्तरं सर्वं यथाश्रुतं वा पश्यतीति लिङ्गमुक्त्वा । विजर इति । विगता जरा यस्मात् । विगता जिघत्सा अदनेच्छा यस्मात् । अदेर्घस्लृ, सन् द्वित्वम् । एवेति । प्रायपाठादान्तरपापकर्तृत्वव्यवच्छेदकः । तस्येति । पूर्वपापस्य । सर्वैरिति । भाष्यकारैः । अश्वो रोमाणीव ब्रह्मवित्पापं पापशब्दान्तैक्यम् । विरजां विरजशब्दात्सोर्डा । अम् अव्ययम् । उक्तेति । 'सर्वं पाप्मानं तरती'ति घटितविषयवाक्यश्रुतिविरोधात् । इति सर्वमिति । पराभिप्रायप्रकारेण सर्वमभिसन्धाय । तदभावेति । तर्तव्यपापाभावलिङ्गाम् । तदुपबृंहणेति । 'भेजिरे मुनयोऽथाग्र' इति । 'भवपारप्लवो दृष्टो हरिचर्यानुवर्णन'मिति च । सन्देहबीजमिति । ज्ञानमार्गवत्पापसत्त्वे भक्तिमार्गे तयोस्तौल्यं बीजं प्रथमकोटौ । द्वितीयकोटौ भक्तौ पापसूचनमुक्तत्वसूचनाभावो बीजम् । उक्तगोपालतापिनीयश्रुतौ बोध्यम् । श्रुतौ पापशब्दाभावात् सूचनशब्द उक्तः । सूचकशब्दोपि नेति भावः । 'मुक्तो भवति संसृते'रित्यत्र

तत्र श्रुतावविशेषेण पापनाशश्रवणान्मुक्तिपूर्वकाले पापनाशावश्यकत्वादेकत्र निर्णीतः शास्त्रार्थोऽपरत्रापि तथेति न्यायेन भक्त्या पापनाशादत्रापि तथैवेति प्राप्ते, आह सम्पराय इत्यादि । सम्परायः परलोकः, तस्मिन् प्राप्तव्ये सतीत्यर्थः । अथवा । परः पुरुषोत्तमस्तस्याऽयो ज्ञानम् । तथाच सम्यग्भूतं पुरुषोत्तमज्ञानं येन स सम्परायो भक्तिमार्ग इति यावत् । अथवा । परे पुरुषोत्तमे अयनमयो गमनं प्रवेश इति यावत् । तथाच सम्यक्परायो येन स तथा भक्तिमार्ग इत्यर्थः । ज्ञानमार्गेऽक्षरप्राप्त्या भक्तिमार्गे पुरुषोत्तमप्राप्त्या तस्माद्विशेषमत्र ज्ञापयितुमेवंकथनम् । अतो भक्तेः पूर्वमेव पापनाशो युक्त इति भावः । ब्रह्मभूतस्य भक्तिलाभानन्तरं 'भक्त्या मामभिजानाती'ति भगवद्वाक्यात् पुरुषोत्तमस्वरूपज्ञानस्य भक्त्येकसाध्यत्वात् तथा । एवं सति 'मुक्तानामपि सिद्धानां नारायण-

भाष्यप्रकाशः ।

पूर्वपक्षमाहुः तत्र श्रुतावित्यादि । तथैवेति । भक्तिदशायां पापसत्त्वमेव । सिद्धान्तं वक्तुं सूत्रं व्याकुर्वन्ति सम्पराय इत्यादि । भक्तिदशायामेव तर्तव्याभाव इति भावः । संपरायशब्दस्य प्रसिद्धार्थग्रहणे भक्तिमार्गबोधकपदाध्याहारापत्तिरिति तमर्थं विहाय यौगिकार्थं गृहीत्वा व्याकुर्वन्ति अथवेत्यादि । अत्र द्वेधा व्याख्यानेन पुरुषोत्तमज्ञानस्य तत्प्राप्तेश्च साधनं भक्तिमार्ग एवेति ज्ञापिते सन्देहो भवति । ननु 'रूढिर्योगमपहरती'ति न्यायेन योगस्य निर्बलत्वादिदं न युक्तम्, व्यासचरणैर्वा कुत एवं प्रयुक्तमिति, तद्वारणायाहुः ज्ञानमार्गे इत्यादि । तस्मादिति । ज्ञानमार्गात् । एवंकथनमिति । यौगिकपदकथनम् । तथाचैवं व्यासाशयादध्याहारापेक्षया यौगिकादरस्य लघुत्वाच्चैवमाशयकथनं युक्तमित्यर्थः । भक्तेरिति । मर्यादामार्गीयप्रेमात्मिकाया भक्तेः । नन्विदं तदा युज्येत, यदा ज्ञानमार्गाद्भक्तिमार्गोत्कर्षः स्यात्, स एव तु कथमित्यत आहुः ब्रह्मेत्यादि । तथेति । ज्ञानमार्गाद्भक्तिमार्गस्योत्कृष्टत्वम् । ज्ञानमार्गे साक्षात्कारोत्तरं पुण्यपापनिवृत्त्या सुखप्राप्तेः, भक्तेस्तु पापनाशोत्तरमेव भवनादादित एव सुखप्राप्तेश्चेत्यपि बोध्यम् । किञ्च । ननु भवत्वेवम्, तथापि कथं भक्तिमार्गे तर्तव्याभाव इत्यत आहुः एवं सतीत्यादि ।

रश्मिः ।

मुक्तो ज्ञानमार्गीयाङ्गिन्नः । तत्र श्रुतावित्यादीति । अत्रापीति । भक्तिमार्गेपि । प्रसिद्धेति । 'कृत्वा तत्साम्परायिक'मित्यादौ परलोके सम्परायशब्दः प्रसिद्धः । भक्तिमार्गेति । भक्तिमार्गे यः सम्परायः परलोकस्तस्मिन् तर्तव्याभावात् । तथा ज्ञानानन्तरमपि पापवन्तोऽन्ये भक्तिमार्गीयेभ्योऽन्ये 'मुक्तानामपि सिद्धाना'मित्याद्युक्तवाक्येभ्य इति सूत्रार्थः स्यादत्र तथेत्यर्थः । ससम्यन्तभक्तिमार्गपदाध्याहारः । लाघवादर्थाध्याहारे पदजन्यपदार्थोपस्थितिहान्या घटपदात्पटबोधः स्यादिति भावः । तत्प्राप्तेरिति । भाष्ये प्रवेशः प्राप्तिरिति भावः । भक्तिमार्ग एवेति । प्रथमान्तं पदम् । तथाच तृतीयसुबोधिनी । 'भक्तिमार्ग एव मार्ग' इति । सन्देह इति । उक्तसन्देहः । एवमिति । यौगिकं पदम् । ज्ञानमार्ग इत्यादीति । इदमानुमानिकाधिकरणे 'त्रयाणामेव चैव'मिति सूत्ररश्मौ 'यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ती'ति श्रुतिव्याख्याने स्पष्टम् । युक्तमित्यर्थ इति । तथाच पूर्वमीमांसाकारिकासु श्रीमदाचार्याः 'विचारो योगरूढित' इति । वेदे तथा । वेदान्ते योगमात्रं 'सर्वे सर्वार्थवाचकाः' 'सर्वं सर्वमय'मिति चेति । अत्रेति । भक्तिमार्गे । ब्रह्मेत्यादीति । ब्रह्मभूतस्येति । तर्तव्यपापरहितस्य । भक्त्येकेति । न तु पापाभावं द्वारीकृत्य भक्त्येकसाध्यत्वात् । उत्कृष्टत्वमिति । 'अभिजानाती'ति-

परायणः । सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने’ ‘मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात्’ ‘जन्मान्तरसहस्रेषु तपोध्यानसमाधिभिः । नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते’ ‘जन्मान्तरसहस्रेषु समाराध्य वृषध्वजम् । वैष्णवत्वं लभेत् कश्चित् सर्वपापक्षयादिहे’त्यादिवाक्यैः पापनाशानन्तरमेव भक्तिसम्भवाद्भक्तस्य तर्तव्यपापादेरभावान्न ज्ञानमार्गीयतुल्यतेत्यर्थः ।

ननु ‘य एवं वेदे’ति सामान्यवचनात् पुरुषोत्तमविदोऽप्येवमेवेति चेत्, तत्राह तथा ह्यन्ये । तथा ज्ञानानन्तरमपि पापवन्तोऽन्ये भक्तिमार्गीयेभ्योऽन्य इत्यर्थः । उक्तवचनरूपोपपत्तिर्हिशब्देन ज्ञाप्यते ॥ २७ ॥

ननु भक्तिमार्गीयाणामपि गोपस्त्रीणां ‘दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभाः । ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमङ्गला’ इति वचनेन दुष्कृतसुकृतयोरपि हानिश्रवणात् पूर्वोक्तवचनैर्विरोध इत्याशङ्कायामुत्तरं पठति ।

छन्दत उभयाविरोधात् ॥ २८ ॥

छन्द इच्छा, तथाच भक्तिमार्गीयाणामपि पूर्वं पापनाशो यः, स भगव-

भाष्यप्रकाशः ।

‘मुक्ताना’मिति वाक्यं तु षष्ठस्कन्धचतुर्दशाध्यायस्थम् । ‘नराणां क्षीणपापाना’मिति तु पाण्डवगीतास्थम् । ‘समाराध्य वृषध्वज’मिति तु वाराहपुराणीयप्रबोधिनीमाहात्म्यस्थम् । वैष्णवत्वमिति । भक्तिमार्गीयप्रेमवत्त्वम् । एतदग्रे ‘एतज्ज्ञात्वा तु विद्वद्भिः पूजनीयो जनार्दनः । वेदोक्तविधिना सम्यक् भक्तिमार्गानुसारत’ इति गारुडवाक्यात् । ‘श्रिण्वास्ते वैष्णवाश्च त’ इति गारुडाच्च । तथाचैतेभ्यो वाक्येभ्यो भक्तस्योत्कृष्टत्वात् तथेत्यर्थः । सूत्रशेषमवतारयन्ति ननु य इत्यादि । नन्विदं सूत्रे कुतो लभ्यत इत्यत आहुः उक्तेत्यादि । तथाच हिशब्दाल्लभ्यत इत्यर्थः ॥ २७ ॥

छन्दत उभयाविरोधात् ॥ २८ ॥ सूत्रमवतारयन्ति ननु भक्तीत्यादि । पूर्वोक्तवचनैरिति । पापाभावबोधकवचनैः । तथाच विरोधादनिश्चये पापसन्निपातात्र भक्तिमार्गीयस्यो-

रश्मिः ।

पदोक्तं ज्ञानं तु फलात्मकमिति भावः । उत्कर्षापकर्षौ तु साधनभूतज्ञानभक्त्योः । इति स्थितिः । अत्र त्रुटिः ‘अमुकस्य’मित्यस्य । एतेभ्य इति । भाष्ये आदिशब्देन ‘दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभा’ इति वाक्यं तदत्रापीति ज्ञेयम् । तथेति । तर्तव्याभावो भक्तिमार्गे इत्यर्थः । ननु य इत्यादीति । इयं ‘वाजसनेयिशाखाया’मित्यादिभाष्योक्ता ज्ञेया । यः पूर्वोक्तप्रकारेण ब्रह्म वेदेत्यर्थे पुरुषोत्तमो वाविषयः सगुणं ब्रह्मेति पुरुषोत्तमविदोऽप्येवमेवेत्यर्थः । अन्य इत्यर्थ इति । तथाच ब्रह्मशब्देन न पुरुषोत्तमः, तस्य पुच्छत्वात्, ‘ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठे’ति श्रुतेः । पुरुषोत्तमस्तु भक्तैः सह निगूढभावं करोतीति ब्रह्म वेदेत्यत्र पुरुषोत्तमग्रहणाभावान्न ब्रह्मशब्दः पुरुषोत्तमसाधारणः । तथाच ब्रह्मविदो ज्ञानानन्तरमपि पापवन्तो पुरुषोत्तमविद्भ्यो भक्तिमार्गीयेभ्योऽन्य इत्यर्थः ॥ २७ ॥

छन्दत उभयाविरोधात् ॥ २८ ॥ विरोधेति । भक्तिमार्गे पापापापाययोर्विरोधः

१. असंभवादिति पाठः । २. मर्यादामार्गीयप्रमेयत्वमिति पाठः । ३. वेदोक्तविधिना भक्ते भागमोक्तेन वा सुधीरिति वाक्यादिति पाठः ।

दिच्छाविशेषतः, अतो भक्तेः पूर्वमेव पापनाशनिरूपकात्तन्नाशनिरूपकवचनयोरविरोधाद्धेतोर्भक्तेः पूर्वमेव पापनाश आवश्यक इत्यर्थः । एवं सति भक्तेः पूर्वमेव तन्नाश औत्सर्गिकः । स कश्चिद्विशेषेच्छयापनोद्यत इति भावो ज्ञापितो भवति । अत्रेच्छाविशेषे वक्तव्यबहुत्वेपि किञ्चिदुच्यते । चिकीर्षितलीलामध्यपातिभक्ता न सोपधिस्नेहवत्यः, न सगुणविग्रहाः, न वा सुकृतादियुक्ता इति ज्ञापयितुं कतिपयगोपीस्तद्विपरीतधर्मयुक्ताः कृत्वा, तस्यां दशायां स्वप्राप्तौ प्रतिबन्धं कारयित्वा, स्वयमेव तां दशां नाशयित्वा, स्वलीलामध्यपातिनीः कृतवानिति । न चैतावता सार्वदिक एवायं भावो भवति । न हि मन्त्रप्रतिबद्धशक्तिरग्निरदाहक इति तत्स्वभावत्वमेव तस्य सार्वदिकमिति वक्तुं शक्यम् । एतच्च श्रीभागवत-

भाष्यप्रकाशः ।

त्कर्षसिद्धिरिति शङ्कायां विरोधनिवारणायोत्तरं पठतीत्यर्थः । सूत्रं व्याकुर्वन्ति छन्द इच्छेत्यादि । एवं सतीति । पापनाशस्य बहुवाक्यसिद्धत्वे सति । ज्ञापितो भवतीति । इच्छाया अविरोधकथनेन ज्ञापितो भवति । ननूपपादनमन्तरेणैवमिच्छा कथं ज्ञातुं शक्यत इत्यत आहुः अत्रेच्छेत्यादि । तथाच विस्तरभियात्रानुपपादनेपि सुबोधिनीतोऽवगन्तव्यमित्यर्थः । एवं चात्र तर्तव्यलिङ्गकश्रुतौ ‘तमेतं वेदानुवचनेन विविदिषन्ती’ति पूर्वं श्रावणात् सामान्यतो वेदैकसमधिगम्यत्वं प्रतिपादितम् । सरस्वत्यां कृतकेतमिति । विशेषस्त्वग्रे वाच्य इति ।

रश्मिः ।

सहावस्थानाभावस्तस्य निवारणाय । इच्छाया इति । पञ्चम्यन्तम् । अत्रेच्छेत्यादीति । द्वितीयस्कन्धनवमाध्याये मूलेच्छा विशेषेच्छा चोक्ता, तत्रोक्तविशेषेच्छायां वक्तव्यं बहुत्वं यत्र विषयबहुत्वात्तस्मिन् सत्यपि । तद्विपरीतेति । चिकीर्षिताङ्गसङ्गलीलामध्यपातिभक्तधर्मा निर्गुणत्व-सोपाधिस्नेहवत्त्वाभाववत्त्व-सगुणविग्रहाभाववत्त्व-सुकृतदुष्कृतत्वयुक्तत्वाभाववत्त्वरूपाः । तद्विपरीतधर्माः सगुणत्वसोपाधिकस्नेहवत्त्व-सगुणविग्रहवत्त्व-सुकृतदुष्कृतत्वयुक्तत्वरूपाः । तैर्युक्ताः कृत्वा । तस्यामिति । शारीर्यां दशायाम् । गोपकृतं प्रतिबन्धं कारयित्वेति । गोपाः कुर्वन्ति तान् प्रतिबन्धं कारयित्वा । तां शारीरीम् । ‘अङ्गसङ्गं करिष्यामी’ति श्रुतिविरोधोऽङ्गसङ्गाभावे मत्वा परिहरन्ति स्म नहीति । अयमिति । सगुणत्वादिभावः । तस्येति । अग्नेः । दशमेति । पञ्चाध्याय्याम् । सम्परायछन्दशब्दयोः गूढार्थं व्याख्यार्थमाहुः एवं चात्रेति । अत्रेति । अधिकरणे । श्रावणादिति । वेदस्य वेदान्ताङ्गत्वश्रावणात् सामान्यतः वेदवेदान्तसाधारण्येन वेदत्वेन यो वेदः तदेकसमधिगम्यत्वम् । सरस्वत्यां वेदवेदान्तरूपायां कृतं केतः स्थानं प्रतिपादकत्वं येन तत् । विशेषः सकलजीवनिकायकेतत्वम् । अग्रेऽग्रिमाधिकरणे । पूर्वोक्तश्रीनिकेतत्वधर्मे प्रमाणं सूत्रीयछन्दःशब्दो वेदवेदान्तार्थव्यञ्जक उक्तः । पश्चात् सकलजीवनिकायकेतत्वमग्रेतनाधिकरणे निरूपयिष्यत इति ज्ञेयम् । श्रीवत्सकौस्तुभौ भगवतोऽन्यवैलक्षण्यज्ञापकौ । तेन प्रसङ्गात्पूर्वोक्तश्रीवत्सवत्त्वोपसंहारो दृढीकृतः । भक्तिमार्गे पापानुपसंहारः क्वाचित्को विशेषेच्छापनोद्य उपसंहारश्चोक्तः । किञ्च, पादारम्भे ‘इह तु ब्रह्मगता एव धर्मा विचार्यन्त’ इति सावधारणभाष्याद्भक्तोऽऽध्यात्मिकादित्रितयविदाश्रयभक्तो नित्यलीलास्थो भक्तत्वेन न ग्राह्यः, अपित्वाश्रयत्वेनेति भाष्यकारवाक्योक्त्या ज्ञायते । अन्यत्र तु ‘जीवमुख्यप्राणलिङ्गा’दिति सूत्रन्यायेन परम्परया ब्रह्मगता धर्मा बोध्या इति ।

भाष्यप्रकाशः ।

नन्वन्यैर्येत् सूत्राणि व्याख्यायन्ते, तत्र पूर्वतन्त्रोक्तन्याया उपोद्घलकत्वेनोपन्यस्यन्ते, व्यासपादैस्तेषां तत्र तत्रादरणात्, अत्र तु पुराणेतिहासवाक्यानि, तत्र किं ज्याय इति चेत् । उच्यते । इदमेव ज्यायः । इतिहासपुराणयोर्वेदोपबृंहणत्वात् । तत्रापि 'वेदान्तकृद्वेदविदेव चाह'मिति 'मां विधत्तेऽभिधत्ते मा'मिति वाक्याद्गीतैव ज्यायसी । स्वयं समाधावनुभूयोक्तत्वाच्छ्रीभागवतं च । पूर्वतन्त्रे तु जैमिनये यत् स्वयं गुरुमुखादवगत्य पाठितं तदेव आद्रियते, नेतरदिति जैमिनिमतदूषणादवगम्यते, पुराणादिकं न क्वापि दूष्यते, प्रत्युतोपोद्घलकत्वेन चाद्रियते, अतो विचारय किं ज्याय इति । किञ्च, अस्मिन् सूत्रे छन्दःशब्देन कैश्चिद्विद्याभ्यासयमनियमजनिका विदुष इच्छा व्याख्याता, अन्यैस्तु तत्सुहृदां तद्द्विषामिच्छा, इतरैस्तु व्याख्यातुरिच्छा, यथाकथञ्चिच्छ्रुतिद्वयाविरोधः सम्पाद्य इति । एवमपि विचारे ईश्वरेच्छायाः सर्वत्र कारणत्वात् तत्तद्वि-

रश्मिः ।

व्याख्यायन्त इति । द्विसूत्रमिदमधिकरणमन्येषामपि । तैः सुकृतदुष्कृतहानिकालविचारः । तद्धानं किं देहवियोगकाले देहादुत्क्रान्तस्याध्वनि च, उत देहवियोगकाल एवेति विशये । मार्गमध्ये परित्याग इति पूर्वपक्षे । मरणात्पूर्वमेवोपास्ये साक्षात्कृते तयोः परित्याग इति व्याख्यायन्ते । **उपन्यस्यन्त** इति । (यथा शंकरभाष्ये पर्यङ्कविद्यात्रोक्ता, तस्यां पूर्वतन्त्रोक्तन्यायाः पूर्वतन्त्रोक्तन्यायसिद्धार्थकविद्याः तासामुपोद्घलकत्वेनोक्तिः । यथा पर्यङ्कविद्यायां कौषीतकिनोऽध्वनि सुकृतदुष्कृतवियोगमामनन्ति, तथा ह्यन्येपि शाखिनः ताण्डिनः शाट्यायनिनश्च । देहवियोगकाले सुकृतदुष्कृतहानमामनन्तीति) व्याख्याकारैरुपन्यस्यन्ते । भाष्येष्वदर्शनात् । **तत्र तत्रेति** । यथा 'आकाशस्तल्लिङ्गा'दित्यत्राकाशपदेन 'ब्रह्म वदे'दिति श्रुतिं कल्पयित्वाकाशादुत्पद्यन्त इत्याकाशादिशब्दा ब्रह्मवाचका इत्यत्र 'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणे'ति पूर्वतन्त्रसूत्रात् । **अहमिति** । गीतावक्ता । इदं गीतावाक्यम् । वेदविरक्तृकत्वाद्गीता ज्यायसी । 'मा'मित्यादिश्रीभागवतं गीताव्याख्यानत्वेन । व्याख्याता गीता ज्यायसी । **स्वयमिति** । व्यासेन भगवता चेति ज्यायः । **जैमिनीति** । इदं गुणत्रयविवरणाध्याये स्पष्टम् । **कैश्चिदिति** । शङ्कराचार्यैः । तथाच भाष्यं 'छन्दत' इति सूत्रस्य । 'यदि च देहादपसृतस्य देवयानेन पथा प्रस्थितस्यार्धपथे सुकृतदुष्कृतक्षयोऽभ्युपगम्येत, ततः पतिते देहे यमनियमविद्याभ्यासात्मकस्य सुकृतदुष्कृतक्षयहेतोः पुरुषप्रयत्नस्येच्छातोऽनुष्ठानानुपपत्तेरिति । यमादिकं विदुष इति तथा । पुरुषप्रयत्न इच्छानिमित्तक इत्युभयोर्निमित्तनैमित्तिकयोरिच्छा सुकृतदुष्कृतक्षययोरित्युभयाविरोधात् ।' **अन्यैरिति** । भास्कराचार्यैः । तथाच भाष्यं 'छन्दतः संकल्पतो यो हि विदुषः शुभं संकल्पयति, तस्य सुकृतापत्तिः । यस्तु द्वेषादहितमिच्छति, तस्य दुष्कृतापत्तिरिति । उभयोः कौषीतकिशाट्यायनिश्रुत्योरविरोधात् । 'तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमुपयन्त्यप्रिया दुष्कृत'मिति कौषीतकिश्रुतिः । 'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्या'मिति शाट्यायनिश्रुतिः । 'प्रियेषु स्वेषु सुकृतमप्रियेषु च दुष्कृतम् । विसृज्य ध्यानयोगेन ब्रह्माप्येति सनातन'मिति स्मृतिः । **इतरैरिति** । रामानुजैः । तथाच तद्भाष्यं 'एवमस्वाभाव्यात्सुकृतदुष्कृतहानिकालेऽवधृते सत्युभयाविरोधेन श्रुतेरर्थस्वभावस्य चाविरोधेन, छन्दतो यथेष्टं पदानामन्वयो वर्णनीय इति । कौषीतकिवाक्ये 'तत्सुकृतदुष्कृते विधूनुत' इति चरमश्रुतो वाक्यावयव एव 'एतं देवयानं पन्थानमापद्ये'ति प्रथमश्रुतावयवात्प्रागनुगमयितव्य इत्यर्थ इति । श्रुत्यर्थस्वभावाविरोधेन छन्दत इत्युक्त्या व्याख्यातुरिच्छा ।' तदाहुः **यथाकथञ्चि**दिति । **एवमपीति** । भगवदिच्छाविशेषत इति भाष्यैकवाक्यतायामपि दुष्कृतांशेऽसंदिग्धश्रुत्येकदेशे

१. विद्यान्तर्गतं ग्रन्थकद्भिः स्वयं लोपितमिति प्रतिभाति ।

शमस्कन्धविवृतौ प्रपञ्चितमस्माभिः ॥ २८ ॥

इति तृतीयाध्याये तृतीयपादे षष्ठं सम्परायाधिकरणम् ॥ ६ ॥

गतेरर्थवत्त्वमुभयथान्यथा हि विरोधः ॥२९॥ (३-३-७.)

ननु 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योम'न्निति 'तमेवं विद्वानमृत इह भवति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाये'त्यादिश्रुतिभिरुत्कृ-

भाष्यप्रकाशः ।

द्यावतस्तदा तदा तथा तथेति यथाश्रुताङ्गीकारेपि मुक्तिप्रतिबन्धाभावाच्छ्रुतिसङ्कोचाभावाच्च किं ज्याय इत्यपि विचारय । न हि क्रमेण मुक्तिं प्राप्नुवतो देहवियोगकाले वा किञ्चित्क्षणोत्तरं विरजानदीतरणे वा सुकृतादिक्षये पर्यङ्कोपासकस्य कश्चिद्विशेषो भवति । अतः काकदन्तविचारप्रायमेतत् ॥ २८ ॥ इति षष्ठं सम्परायाधिकरणम् ॥ ६ ॥

गतेरर्थवत्त्वमुभयथान्यथा हि विरोधः ॥ २९ ॥ पूर्वाधिकरणे ज्ञानापेक्षया भक्तेर्ज्ञान्यपेक्षया भक्तस्य चोत्कर्षः प्रतिपादितः । तदेव तद्धेतुबोधनेन दृढीकरोतीत्याशयेनाधिकरणमवतारयन्ति नन्वित्यादि । अत्र 'तमेवं विद्वा'निति वाक्यमुत्तरनारायणस्थम् । तत्र 'वेदाहमेतं

रश्मिः ।

श्रुतेरक्षरमात्रान्यथाऽवक्रीत्वेन सुकृतदुष्कृतहानावान्तरविचारस्येच्छया स्पष्टत्वाद्विचारानपेक्षे सति । **तत्तद्विद्येति** । कौषीतकिनां पर्यङ्कविद्योपकोशलविद्या–पञ्चाग्निविद्या–दहरविद्या–मधुविद्या–शाण्डिल्यविद्या–षोडशकलविद्या–वैश्वानरविद्यासु सा सा विद्या तत्तद्गतः । **तदा तदा** तत्तद्विद्याकाले । **तथा तथेति** । तत्तद्विद्याप्रकारेणेच्छेति । यथाश्रुतं देहत्यागकालेऽध्वनि वा सुकृतदुष्कृतक्षयं श्रुत्युक्तमनतिक्रम्य यथाश्रुतम् । अव्ययीभावः । तस्याङ्गीकारे । **मुक्तीति** । पर्यङ्कविद्यायामामनन्ति । 'स एतं देवयानं पन्थानमासाद्याग्निलोकमागच्छती'त्युपक्रम्य 'स आगच्छति विरजां नदीं तां मनसैवात्येति तत्सुकृतदुष्कृते विधुनुते' इति तदुक्तमुक्तेः श्रुत्युक्तत्वेन प्रतिबन्धकाभावात् । **यथादृष्टमिति** विरोधाभावश्रुत्योः । श्रुत्योः संकोचाभावो यथादृष्टवादित्वादेव, तथैव विषयवाक्यत्वविरोधासंदिग्धत्वाङ्गीकारादेव च । **किं ज्याय इति** । अयमर्थः । सम्परायसूत्रादारभ्य ज्ञानमार्गीयत्वेन व्याख्यातोपि गीतादिवाक्यैरुपबृंह्य भक्तिमार्गो व्याख्यातः । स च ज्ञानकाण्डः कर्मकाण्ड इति समाख्यातो विरुद्धश्च । **नैवम्** । गतिप्रतिबन्धस्य श्रौतत्वेनैवाभावादसन्दिग्धत्वेन विषयत्वायोगाच्च । न्यूनताख्यनिग्रहस्थानस्यापत्तेश्चाभावः । ननूक्तं समाख्याद्वयाद्भक्तिमार्गोऽप्रामाणिक इति । नैष दोषः । उक्तदुर्लभाधिकारात्काण्डद्वयसमाख्या, अन्यथा 'भगवान्ब्रह्मकार्त्स्न्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया । तदध्यवस्यत्कूटस्थो रतिरात्मन्यतो भवे'दिति वाक्यं न स्यात् । तथाच प्रत्यक्षश्रुतिः 'अग्नये जुष्टं निर्वपामी'ति संहितायाम् । निरुक्ते च दुर्गाचार्याः 'सरस्वतीमाविवासेम धीतिभि'रिति । सरस्वती भगवल्लक्षणा । विवासतिः परिचरणकर्मा । धीतिभिरङ्गुलिभिः, उपलक्षणं विविधोपचारैरिति । तामसत्वं च 'यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् । अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृत'मिति वाक्यात् । नच स्मार्ते पर्यवसानाद्विषयवाक्यमपि स्मार्तकं स्यादिति वाच्यम् । पूर्वतन्त्रे स्मृतिविषयवाक्यत्ववददोषात् । '[illegible]'ति 'स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गा'दिति सूत्राभ्यां व्यासपादैस्तत्रतत्र स्मृतीनामुपष्टम्भकत्वोक्तेः । **एतदिति** । गतिप्रतिबन्धकसुकृतदुष्कृतविचारसूत्रेण कथनम् ॥२८॥ **इति षष्ठं सम्परायाधिकरणम् ॥ ६ ॥**

गतेरर्थवत्त्वमुभयथान्यथा हि विरोधः ॥ २९ ॥ **तदेवेति** । प्रतिपादनमेव उक्तमेव वा । तद्धेतुः पुरुषोत्तमः यज्ज्ञानेनैव मोक्षः तद्बोधनेनेत्यर्थः । **उत्तरेति** । टीकायां द्रष्टव्यम् ।

पञ्चात्मज्ञाने सत्येव मोक्ष इत्युच्यते। 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य' इति श्रुत्या आत्मीयत्वेनाङ्गीकारात्मकवरणस्य भक्तिमार्गीयत्वात् तस्मिन् सति भक्तिमार्गे प्रवेशाद्भक्त्यैव स इत्युच्यते। किञ्च। 'भक्त्या मामभिजानाती'त्युक्त्वा, 'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तर'मिति भगवतोक्तमिति भक्तिमार्गेपि पुरुषोत्तमज्ञानेनैव मोक्ष उच्यते, ज्ञानमार्गे त्वक्षरज्ञानेनेति विशेषः। 'तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः। न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिहे'ति वचनेन भक्तिमार्गीयस्य ज्ञाननैरपेक्ष्यमप्युच्यते। तथाचैवं मिथः श्रुत्योः स्मृत्योश्च विरो-

भाष्यप्रकाशः।

पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्ता'दिति पूर्वार्धे एतं जगत्कर्तृतया पूर्वमत्र उक्तं महान्तं पुरुषं अहं वेदेति श्रुतिः स्वस्य ज्ञातृत्वमुक्त्वा, तत्स्वरूपमाह, तमसः अज्ञानात्मकस्य परस्तात् परम्, आदित्यवर्णम्, आदित्यस्येव मण्डलान्तःश्यामावदातो वर्णो यस्य, 'श्यामाच्छबलं प्रपद्ये शबलाच्छ्याम'मिति छान्दोग्ये श्रुतत्वात्तादृशम्। तथाचैतादृशश्रुतिभिः सत्यादिलक्षणकोक्तरूपब्रह्मज्ञानेन मोक्ष उच्यते, 'यमेवे'ति श्रुतौ तूक्तप्रकारेण भक्त्यैव स आत्मलाभात्मको मोक्ष उच्यत इति मोक्षार्थं ज्ञानभक्ती समुच्चेतव्ये, किं वा विकल्पयितव्ये इत्येकः संशयः। किञ्च, 'भक्त्या मा'मिति गीतायां पुरुषोत्तमज्ञानस्य, 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मिति श्रुतावक्षरज्ञानस्य च मोक्षहेतुत्वमुच्यते इति भक्तेन तदर्थं ते समुच्चेये, विकल्पनीये वेत्यपरः। नच विकल्पस्याष्टदोषदुष्टत्वात् समुच्चय एव युक्त इति वाच्यम्। 'तस्मान्मद्भक्ती'त्येकादशस्कन्धीयभगवद्वाक्ये भक्तं प्रति ज्ञानस्यानुपयोगबोधनेन तत्समुच्चयस्य वैयर्थ्यात्। तथाचैवं प्रथमे कल्पे श्रुत्योर्द्वितीये च स्मृत्योर्विरोधात् समुच्चय-

रश्मिः।

श्यामाच्चेति। अवदातो भास्वरशुक्लरूपः। शबलं मिलितम्। भास्वरशुक्लेनेति ज्ञेयम्। **शबलादिति**। भास्वरशबलश्यामात् श्यामं कदाचिज्ज्ञानिप्रत्यक्षविषयम्। 'सत्यं ज्ञानमनन्त'मित्यत्र व्यापारं विनैव हेतुतया निर्व्यापारया निर्वाहमाश्रित्य द्वितीयकोटित्वसमर्थनाद्द्वितीयकोट्या संशयमाहुः **सत्यादीति**। **यमेवेति**। मुण्डकश्रुतौ। **भक्त्यैवेति**। 'वृङ् संभक्ता'विति धातुपाठाद्वरणात्मकस्य भक्तिसाधनकरणव्युत्पत्तिलभ्यस्य। एतद्रूपाद्भक्तिमार्गीयत्वात्। तस्मिन्साधने सति। चरणपदार्थनिविष्टफलरूपभक्तिमार्गे प्रवेशात् फलरूपभक्त्यैवेत्यर्थः। 'भक्त्या जानाति चाव्यय' मितिश्रुतेरेवकारः। **ज्ञानभक्ती इति**। ज्ञानं ज्ञानमर्यादाभक्तिभेदेन द्विविधम्। भक्तिः पुष्टिभक्तिः। एवं साधनभूतज्ञानभक्ती उक्त्वा फलात्मकज्ञानमसिद्धवदावृत्तं परपदार्थनिविष्टं ब्रह्मज्ञानं तदुभयविषयकसंशयमुखेन किञ्चेत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म **किञ्चेत्यादि**। **ब्रह्मविदिति**। 'क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसा'मिति तदर्थकस्मृतिः पाठ्या। भाष्ये **स्मृत्योरि**त्युक्तेः। प्रथमकोटावक्षरज्ञानमसिद्धवादावृत्तं गृहीतमत्रापि तथा। 'ते प्राप्नुवन्ति मामेवे'ति वाक्यात्। अत एव 'क्लेशोऽधिकतर' इति स्मृतावक्षरमात्रविषयिण्यामक्षरज्ञानस्य च मोक्षहेतुत्वमुच्यत इति न कोपि दोषः। 'क्लेशोऽधिकतर' इति स्मृत्युपन्यास इति बोध्यम्। **तदर्थमिति**। मोक्षाय। **समुच्चेये इति**। 'भक्तिर्ज्ञानाय कल्पत' इति ज्ञानाभेदात्समुच्चेये। भेदे तु विकल्पनीये। स्नेहस्य ज्ञानाद्भेदात्। 'तस्मान्मद्भक्ती'त्यादिभाष्यं विवरीतुमाहुः **नचेत्यादि**। **अष्टेति**। एते पूर्वं व्याख्याताः। तथाचैवमिति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **तथाचैवमिति**। **स्मृत्योरिति**। '**ब्रह्मवि**दाप्नोति पर'मित्यस्य स्मृतित्वं 'वेदान्तकृद्वेदविदेव चाह'मित्यत्र गीतायां वेदवित् वेदान्तकृदिति

धावेकतरनिर्धारः सम्भवति। नच ज्ञानेनैव मोक्षः, उभयत्रापि तयोक्तेः, ज्ञाननैरपेक्ष्योक्तिस्तु भक्तिस्तुत्यभिप्रायेति वाच्यम्। विषयभेदेन ज्ञानभेदान्मुक्तिसाधनं कतमज्ज्ञानमित्यनिश्चयात्। नच श्रौतत्वाविशेषात् समुच्चय इति वाच्यम्। ज्ञानिनोऽक्षरे भक्तस्य पुरुषोत्तमे लयात् समुच्चयासम्भवात्। तथैवं विरोधाभावानुपपन्नं सर्वमिति चेत्। न। पूर्वं ज्ञानमार्गीयज्ञानवतः पश्चाद्भक्तिमार्गीयज्ञान-

भाष्यप्रकाशः।

विकल्पयोरेकतरानिर्धाराद्वाक्यानामबोधकत्वं प्रसज्यते। नच ज्ञानेनैव मोक्षः, 'तमेव'मिति श्रुतौ 'भक्त्या मा'मिति स्मृतौ च तस्यैव मोक्षहेतुत्वेनोक्तेः, भक्तस्य ज्ञाननैरपेक्ष्योक्तिस्तु तत्त्वतो ज्ञानं भक्त्येति साधनान्तरसाधितं ज्ञानमतात्त्विकत्वान्न श्रेयः, अतो भक्तिरेव ज्ञानार्थं कार्येति तत्स्तुत्यभिप्रायेति न भक्तेः समुच्चयशङ्केति वाच्यम्। एवं भक्तित्यागेपि श्रुतौ 'ब्रह्मवि'दित्यत्र अक्षरस्य 'तमेव'मित्यत्र पुरुषोत्तमस्य च विषयत्वेनोक्ततया विषयभेदेन ज्ञानभेदान्मोक्षसाधकज्ञानविकल्पस्य दुर्वारत्वात्। नच श्रौतत्वाविशेषाज्ज्ञानयोरेव समुच्चयोऽस्त्विति वाच्यम्। 'अक्षरात् परतः परः' इति श्रुतेः 'अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्। यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं ममे'ति गीतावाक्याच्चाक्षरपुरुषोत्तमयोर्भेदादव्यक्तवाक्येऽक्षरस्य परमगतित्वकथनेन ज्ञानिनोऽक्षरे लयात्, 'भक्त्या मा'मिति वाक्ये स्वस्य विशतिकर्मत्वबोधनेन भक्तस्य पुरुषोत्तमे लयात् तत्स्थानभेदेन फलभेदे तयोरपि समुच्चयस्यासम्भवात्। ननु यद्येवं फलभेदः, तर्हि तस्य तस्य साधनस्य तत्र तत्र व्यवस्थित्या वाक्यानामितरेतरविरोधाभावात् सन्देहे निवृत्ते सर्वं श्रुत्युक्तं स्मृत्युक्तं चोपपन्नमिति व्यर्थमेवाधिकरणमिति चेत्। न। पूर्वं ज्ञानमार्गीयज्ञानवतः पश्चाद्भक्तिमार्गीयज्ञानवतः 'अन्ते या मतिः

रश्मिः।

वेदार्थस्मरणप्राप्तेः। वस्तुतस्तु श्रुतिस्मृत्योरिति पाठः। 'स्मृतेश्चे'तिसूत्रभाष्ये वेदान्तानां वेदत्वोक्तेः। 'ब्रह्मवि'दितिश्रुतिस्थले 'क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसा'मिति स्मृतिः पठनीया। भाष्ये 'स्मृत्यो'रित्युक्तेन ज्ञानेनेति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **नच ज्ञानेनेति**। **उभयत्रापीति**भाष्यविवरणं **तमेवमितीति**। **भक्त्येवेति**। ज्ञानस्यैव। 'भक्तिर्ज्ञानाय कल्पत'इत्यङ्गीकारात्। गीतायां 'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी'त्युक्त्वा 'एतज्ज्ञानमिति प्रोक्त'मिति गीताया एवकारः। **ज्ञाननैरपेक्ष्ये**ति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **भक्तस्येति**। **तत्त्वत इति**। फलत्वेन ज्ञानम्। **साधनान्तरेति**। साधनं भक्तिः तदन्यत्साधनं साधनान्तरं तेन साधितमित्यर्थः। **अतात्त्विकत्वादिति**। अतत्त्वसम्बन्धित्वात्। अफलरूपत्वादिति यावत्। **ज्ञानार्थमिति**। फलात्मकज्ञानार्थम्। **तत्स्तुतीति**। भक्तिस्तुत्यभिप्राया। **विषयेति**भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **एवं भक्तित्याग इति**। नचेति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **नचेति**। **ज्ञानिन इति** भाष्यं हेतुं दत्वा विवृण्वन्ति स्म **अक्षरादिति**। **तदिति**। लयस्थानभेदेन। फले अक्षरपुरुषोत्तमौ तयोस्तज्ज्ञानयोः। **तथैवमिति** भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **नन्विति**। **वाक्यानामिति**। अक्षरतत्प्राप्तिसाधनपुरुषोत्तमतत्प्राप्तिसाधनप्रतिपादकवाक्यानाम्। अक्षरमात्रप्राप्त्यसाधकत्वात्तथा। **उपपन्नमिति**। तत्तत्परत्वेनोपपन्नम्। तत्रापि 'भक्तिमार्ग एव मार्ग' इति सुबोधिन्या पुष्टिमर्यादाभक्तिसम्बन्धिनां वाक्यानाम्। **उपपन्नमिति**। पूर्ववत्। **अधिकरणमिति**। पुष्टिमर्यादाभेदेन वाक्यानामुपपत्तिकरम्। न पूर्वमिति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **न पूर्वमिति**।

१. (न पूर्वमिति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **नपूर्वमिति**। भक्तीति। भक्तिमार्गीयशाब्दज्ञानवतः। ज्ञानमार्गीयं ज्ञानं तु शाब्दापरोक्षरूपं श्रवणादिभिः शुद्धान्तःकरणस्य सूक्ष्मपदार्थविषयकं 'यथा यथात्मेति' वाक्यादिति स्पष्टम्) इति निह्नान्तर्गतमधिकम्।

३८ अ० सू० २०

वतो लयस्थाननिर्धारासम्भवात्। अपरं च। 'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वे'ति वचनाद्भक्तिमार्गे तत्त्वतो भगवज्ज्ञानमेव प्रवेशसाधनमिति मन्तव्यम्। तथाच 'मत्कामा रमणं जारं मत्स्वरूपाविदोऽबलाः। ब्रह्म मां परमं प्रापुः सङ्गाच्छतसहस्रश' इति वाक्याज्ज्ञानमार्गीयभक्तिमार्गीयज्ञानरहितानामपि भगवत्प्राप्तेस्त-

भाष्यप्रकाशः।

सा गति'रित्यङ्गीकारे पूर्वज्ञानवैयर्थ्यप्रसक्तेर्दुर्वारतया तस्य न्यायस्याशक्यवचनत्वेन तादृशस्य लयस्थाननिर्धारासम्भवात् सन्देहेऽधिकरणप्रणयनस्यावश्यकत्वात्। अपरं च। यदि भक्तेरिवाक्षरज्ञानादपि परज्ञानमेव कयाचिद्विधया आदृत्याधिकरणावश्यकत्वमुच्यते, तदा तु 'ततो मा'मित्याद्युक्तरीत्या भगवज्ज्ञानस्यैव प्रवेशसाधनत्वमधिकरणे मन्तव्यम्। तथाच 'तमेवे'ति श्रुतेः सावधारणत्ववत्, 'मत्कामा' इति स्मृतौ 'सङ्गाच्छतसहस्रश' इति कथनेन तदुपबृंहिताया वरणश्रुतेरपि सावधारणतुल्यत्वेन मार्गद्वयसिद्धज्ञानरहितानामपि भगवत्प्राप्तेर्ज्ञानसाधनत्वनिरूपकश्रुतिविरोध इति

रश्मिः।

ज्ञानमार्गभक्तिमार्गौ विविच्य साधने वक्तव्येऽग्रे मिलितयोर्विचारः क्रियते। ज्ञानं सर्वभावः सर्वत्वं सर्वस्मिन्नात्मनो भावः स्मरणम्। स्वयमेवानुभूतनिजसुखानुभवश्च। सर्वश्चासावात्मनो भावश्चेति निग्रहवान् सर्वात्मभावोभिन्नः। मनोमात्रजन्यत्वसर्वेन्द्रियभवनत्वाभ्यामपि ज्ञानमार्गीयज्ञानसर्वात्मभावयोर्भेदः। मार्गभेदाच्च भेदः। सर्वात्मभावस्वरूपं भक्तिमार्तण्डे स्पष्टम्। सर्वभावः सर्वभूतेषु मन्मतिः। स्वयंप्रकाशः। सर्वभूतस्याक्षरत्वेन स्वयंप्रकाशत्वं तत्प्रकाश्यत्वेप्यक्षुण्णमक्षरे। भक्तिकारणं श्रीभागवत उक्तम्। ज्ञानं भगवद्धर्मः। सर्वभावसामानाधिकरण्यान्मार्गत्वम्। तदीयभावमेलनात्। ज्ञानमार्गीयज्ञानं सर्वभूतेषु मन्मतिरूपम्। 'यथा यथात्मा परिमृज्यते' इति ज्ञानं ज्ञानाङ्गभक्तिजन्यं पृथक्। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मे'ति श्रुत्युक्तं कार्यकारणवस्त्वैक्यमर्षणजन्यं ज्ञानं एतदन्तर्गतं हृदयस्याक्षरत्वेन ज्ञानम्। साधनेन सदानन्दतिरोभावपूर्वकं ज्ञानप्राधान्यात्। स्वरूपात्मकज्ञानं चतुर्विधं नित्यम्, षड्विधं जन्यम्, एवं दशविधम्, तत्रेदं ज्ञानं क्वचिन्नित्ये जीवधर्मे ज्ञाने निविशते। तज्ज्ञानवतो भक्तस्य पश्चात् उक्तसाधनात्पश्चात् भक्तिमार्गीयं ज्ञानं साध्यम्। भक्तिरनन्तानन्दधर्मः। तपो वैराग्ययोगे मार्गः। भक्तिमार्गीयं ज्ञानं फलात्मकं ज्ञानं तद्वतः। **पूर्वज्ञानेति**। अक्षरप्राप्तिसाधकस्य पूर्वज्ञानस्य यत्रोक्तसाध्यसाधनभावः तत्र वैयर्थ्यं तस्य प्रसक्तेर्दुर्वारत्वमेवेत्यर्थः। **तस्येति**। 'अन्ते या मति'रित्युक्तस्य मर्यादाभक्तस्याक्षरात्मकचरणयोर्लयः, पुष्टभक्तस्य पुरुषोत्तमे लय इत्यर्थविघटकस्य। **तादृशस्येति**। भक्तस्य। भक्तसंवलितो भगवांल्लयस्थानं चरणौ वा लयस्थानमिति निर्धारासंभवात् पुष्टभक्तो मार्यादिकभक्तो वेति सन्देहे सति। **सन्देह इति**। उक्तोभयविधसन्देहे उभयथेति सिद्धान्ताभिवृत इत्यर्थः। यद्वा। ज्ञानभक्ती समुच्चेतव्ये विकल्पयितव्ये वेति सन्देहः। **अधिकरणेति**। पुष्टमर्यादाभक्तोपासनार्थं पुष्टिमर्यादयोः पुष्टौ साधनोपसंहारो न वेति संदेहे नेति तात्पर्यकाधिकरणप्रणयनस्य तथात्वात्। क्वचिन्नोभयमुक्तिसाधनमिति प्रतिपादकं भाष्यमपरं चेति तद्विवृण्वन्ति स्म **अपरं चेति**। **अक्षरज्ञानादिति**। पादरूपाक्षरज्ञानं भगवज्ज्ञानं अवयवज्ञानस्यावयविज्ञाननिविष्टत्वात्। **कयेति**। पादत्वविधया। 'भक्त्या मामभी'त्यत्र ज्ञाने पादरूपाक्षरस्य सत्त्वात्। **अपीति**। पादसेवनमात्रभक्तेर्विवक्षितमोक्षसाधकत्वाभावात् भगवत्पादसेवनस्य शमलधूननसाधनत्वात् तन्निवारणायाधिकरणावश्यकत्वमुच्यत इत्यर्थः। **उक्तरीत्येति**। भाष्योक्तरीत्या। **एवेति**। पादत्वेन ज्ञानव्यवच्छेदकैवकारः। अवयवित्वेन तु ज्ञानमस्त्येव। **सावधारणतुल्यत्वेनेति**। 'बहूनामनुग्रहो न्याय्य' इति न्याया-

त्साधनत्वनिरूपकश्रुतिविरोधः। तथाच क्वचिज्ज्ञानं मुक्तिसाधनत्वेनोच्यते, क्वचिद्भक्तिः, क्वचिन्नोभयमपीत्येकतरसाधनानिश्चयान्मुक्तिसाधने मुमुक्षोः प्रवृत्त्यसम्भव इति प्राप्ते, आह गतेरर्थवत्त्वमित्यादि। गतेर्ज्ञानस्य अर्थवत्त्वं फलजनकत्वम्, उभयथा मर्यादापुष्टिभेदेनेत्यर्थः।

अत्रायमाशयः। 'एष उ एव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषती'त्यादिश्रुतिभ्यो भगवान् सृष्टिपूर्वकाल एवैतस्मै जीवायैतत्कर्म कारयित्वैतत्फलं दास्य इति विचारितवानिति तथैव भवति। तत्रोक्तरीत्या मुक्तिसाधनाननुगमे हेतुरवश्यं वाच्यः। एवं सति कृतिसाध्यं साधनं ज्ञानभक्तिरूपं

भाष्यप्रकाशः।

तत्कृतसंशयादप्यधिकरणमावश्यकम्। अतः पूर्वोक्तौ विषयौ संशयौ च निर्बाधौ। तथा सति, तथाच क्वचिदित्याद्युक्तरीत्या मुमुक्षुप्रवृत्त्यसम्भवान्मोक्षेच्छां परित्यज्य स्वर्गसाधन एव प्रयतनीयम्, किञ्च, एवं मुमुक्षुप्रवृत्त्यसम्भवे प्राप्ते पूर्वोक्तं ज्ञानभक्त्योस्तारतम्यं भक्त्युत्कर्षो दोषस्य कादाचित्कत्वं च न निर्धारयितुं शक्यमिति च पूर्वपक्षे प्राप्ते श्रुतेर्बोधकताप्रकारं वदन् सिद्धान्तेन पूर्वोक्तं द्रढयितुं ज्ञानोत्कर्षबोधनतात्पर्यमाहेत्यर्थः। सूत्रं व्याकुर्वन्ति गतेरित्यादि। नन्विदं कथं बुद्धावारोहतीत्याकाङ्क्षायां व्युत्पादयन्ति अत्रायमित्यादि। कार्यमात्रे प्रतीश्वरेच्छायाः कारणत्वेन तस्याश्च नित्यत्वेन 'एष उ एवे'त्यादिश्रुत्युक्तापीच्छा तथेति भगवान् सृष्टिपूर्वकाल एव यद्यथा विचारितवांस्तत्तथैवेति, तत्र भगवद्विचारशरीरप्रविष्टोऽयनकारणविमर्शे पूर्वोदाहृतवाक्योक्तरीत्या ज्ञान-भक्ति-वरण-भगवद्विषयककाम-रमण-जारादिबुद्धीनां शास्त्रे कथनेन मुक्तिसाधनाननुगमे सति शास्त्रद्वारा मुमुक्षुप्रवृत्तिसिद्धये तत्साधनानुगमे हेतुरवश्यं वक्तव्यः। एवं तद्वदनावश्यकत्वे सति उक्तमार्गभेद एव हेतुः। तत्र कृतिसाध्यमित्याद्युक्तरूपा मर्यादा, सर्वसाधारणहेतुना साध्यसिद्धौ मर्यादापदप्रयोगस्य लोके दर्शनात्, यथैतावति कृत एतावद्दीयत इति राज्यमर्यादेति,

रश्मिः।

पेक्षया तथा। 'शतशोऽथ सहस्रश' इति बहूनामनुग्रहः। **तत्कृतेति**। ज्ञानरहितानां भगवत्प्राप्तिः ज्ञानसहितानां वेति विरोधकृतसंशयात्। प्राप्तस्वर्गसाधने यतनीयमिति पूर्वपक्षवारकमधिकरणमावश्यकमित्यर्थः। **निर्बाधाविति**। बाधाः पूर्वोक्ताशङ्काः। पूर्वपक्षार्थं तथाचेति भाष्यार्थमाहुः **तथासतीति**। **उक्तरीत्येति**। भाष्योक्तरीत्या। **श्रुतेरिति**। ज्ञानसाधनत्वबोधकश्रुतेः। **नित्यत्वेनेति**। 'अविनाशी वा अर' इति श्रुतेः। **इच्छेति**। अवान्तरेच्छा। **तथेति**। नित्यत्वेन नित्या। तत्रेति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **तत्र भगवदिति**। **ज्ञानेति**। ज्ञानं च भक्तिश्च वरणं च भगवद्विषयककामश्च रमणं च जारब्रह्मबुद्धिश्च ताः तासाम्। **शास्त्र इति**। ज्ञानभक्तिवरणानि वेदान्तशास्त्रेऽन्यच्छ्रीभागवतशास्त्रे। 'इतिहासः पुराणं च वेदानां पञ्चमो वेद' इति छान्दोग्यश्रुतेः। वेदोपाङ्गत्वेन वेदशास्त्रनिवेशाच्च। उपाङ्गानि चरणव्यूहे प्रसिद्धानि। पूर्वपक्षग्रन्थोक्तरीत्याननुगमः। **तदिति**। तस्या मुक्तेः साधनानि शास्त्रोक्तान्युक्तानि तेषां मुक्त्यनुगमे मुक्त्यर्थं पार्थक्येन प्रापणे हेतुर्मार्गभेदः। **एवं** सतीतिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म एवमिति। तद्वदनं हेतुवदनं तस्यावश्यकत्वे सति। उक्तानां मार्गाणां भेदः। **कृतीति**। मर्यादेत्यन्ता। **सर्वेति**। राजप्रजासाधारणेन हेतुना। **साध्येति**। साध्यं राज्यं तस्य सिद्धिर्मर्यादया भवतीति स्वकार्ये कार्यकारणभावसम्बन्धरूपलक्षणया मर्यादापदप्रयोगस्य। **राज्यमर्या-**

१. सत्साधनानुगमे इति श्रीहस्ताक्षरेषु पाठः।

शास्त्रेण बोध्यते । ताभ्यां विहिताभ्यां मुक्तिर्मर्यादा । तद्रहितानामपि स्वस्वरूपबलेन स्वप्रापणं पुष्टिरित्युच्यते । तथा च यं जीवं यस्मिन्मार्गेऽङ्गीकृतवान्, तं जीवं तत्र प्रवर्तयित्वा तत्फलं ददातीति सर्वं सुस्थम् । अत एव पुष्टिमार्गेऽङ्गीकृतस्य ज्ञानादिनैरपेक्ष्यम्, मर्यादायामङ्गीकृतस्य तदपेक्षित्वं च युक्तमेवेति भावः ।

भाष्यप्रकाशः ।

शास्त्रेऽपि 'स्वकृतसेतुपरीप्सये'ति सेतुर्मर्यादा । **तद्रहितानामित्याद्युक्ता तु पुष्टिः** अनुग्रह इति यावत् । 'पोषणं तदनुग्रह' इति द्वितीयस्कन्धात् । अनुग्रहश्च धर्मान्तरमेव, न तु फलदित्सा । 'यस्यानुग्रहमिच्छामी'ति वाक्यात् । कृपानुकम्पादिशब्दानां स एव वाच्यः । एवं सति 'लोकवत्तु लीला कैवल्य'मितिन्यायेन **तथाच यं जीवमित्याद्युक्तरीत्या** ददातीत्युदितानुदितहोमिवदधिकारिभेदाद्व्यवस्थितमिति सर्वं पूर्वोक्तं सुस्थम् । **केवलमर्यादायां** **वृतस्य जीवस्याक्षरं** **पूर्वं** **ज्ञानमार्गीयज्ञानवतः पश्चाद्भक्तिमार्गीयज्ञानवतः** क्रमेण मर्यादायां **पुष्टौ चाङ्गीकारात्तस्य पूर्वमक्षरे** ततः पुरुषोत्तमे लयस्य 'ते तु ब्रह्महृदं नीता मग्नाः कृष्णेन चोद्धृता' इतिवत् सुखेन **सम्भवाच्छ्रुतिद्वयोक्तमुपपन्नमित्यर्थः** । एतेनैव स्मृत्योरपि विरोधः परिहृत इति बोधयन्ति **अत एवेत्यादि** । **अत एवेति** । मार्गभेदादेव । सूत्रशेषमवतार्य व्याकुर्वन्ति **अत्रेत्यादि** । **तथेति** । **मुक्तिसाधने**

रश्मिः ।

देति । राज्ये मर्यादा राज्यनिमित्तं तत्सिद्धिफलिका मर्यादा । **परीप्सा** इच्छा तया । एतेनोभयथापदविवरणभाष्यान्तर्गतमर्यादेत्यस्य विहितज्ञानभक्ती इत्याशयो विवृतः । अविहितज्ञानभक्ती तु 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्य' इति मैत्रेयब्राह्मणश्रुतौ । श्रवणस्य स्मरणकीर्तनभक्तिनिवर्त्यत्वेन तन्मात्राक्षेपेऽन्यासां प्रेमवशात्स्वयमेव भवनादविहितत्वम् । 'श्रवणकीर्तनस्मरणैः प्रेमे'ति सुबोधिन्यामेकादशस्कन्धस्य सुबोधिन्याम् । 'श्रोतव्य'इत्यत्र तव्यस्त्वावश्यकेऽपि प्रोक्त इत्यवैधत्वम् । तथाच श्रवणादिसरणिर्मर्यादाभक्तिः । सा च मत्कृत**भक्तिरत्नतट्टीकयोः** प्रपञ्चिता, ततो द्रष्टव्या । तद्रहितानामितिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म **तद्रहितानामिति । इतिवाक्यादिति** । नचानुग्रहाभिन्नं फलं दातुमिच्छां करोमीत्यर्थ इति वाच्यम् । सनर्थेच्छानन्वयात् । **कृपेति** । आदिना दया । **सः** अनुग्रहः । एवकारः फलदित्साव्यवच्छेदकः । **तथाचेति** भाष्य विवृण्वन्ति स्म **एवं सतीति । उक्तरीत्येति** । भाष्योक्तरीत्या । उदितानुदितकालिकौ होमौ ययोस्तः तौ उदितानुदितहोमिनौ तयोरिवेति षष्ठ्यन्ताद्वतिः । अधिकारिणौ तयोर्भेदादित्यर्थः । अपरं चेति भाष्योक्तमत्र नोक्तमिति न्यूनं पूरयन्ति स्म **केवलेति** । न्यूनताया निग्रहस्थान वे तूपलक्षणविधयाहुः **केवलेति** । मर्यादाशब्देन भगवद्धर्मरूपं ज्ञानं केवलशब्देन विद्याङ्गतपआदियोगो व्यावर्त्यते । केवलज्ञानेन तु ज्ञानमार्ग इत्यर्थः, केवलानां ज्ञानभक्तिकर्मणां भगवद्धर्मत्वम्, वैराग्यादिविद्याङ्गसाहित्ये मार्गत्वमित्येकादशसुबोधिन्याम् । **अक्षर** इति । आध्यात्मिके । केवलभक्तेस्तु स्वस्वरूपबले वर्णनीय उपयोगः । योगादिविद्याङ्गवैशिष्ट्ये तु तस्य मार्गत्वमित्याहुः **पूर्वमिति** । ज्ञानमार्गे योगयोगाद्विद्यापञ्चाङ्गेषु । मर्यादायामङ्गीकारादिति वक्ष्यमाणत्वात् । मर्यादा प्रेम्णीत्यर्थात् । 'योगयोगे तथा प्रेमे'ति निबन्धात् योगयोगः । **भक्तिमार्गीयेति** । अत्रापि योगयोगः । पुष्टावङ्गीकारादिति वक्ष्यमाणत्वात् । **मर्यादायामिति** । मर्यादाभक्तिमार्गे । **पुष्टौ** पुष्टिमार्गे । **अक्षर** इति । पादरूपे । **श्रुतिद्वयेति** । 'सत्यं ज्ञानमनन्त'मित्यनया 'यमेवैष' इत्यनया चोक्तम् । **अत एवेत्यादीति** । **मर्यादायामिति** । मर्यादाभक्तिर्ज्ञानं च तस्याम् । **युक्तमिति** । किञ्च, 'भक्त्या मा'मित्यादिभाष्योक्तस्मृत्योर्युक्तमित्यर्थः ।

अत्र साधकत्वेन विपक्षे बाधकमाह अन्यथा हि विरोध इति । अन्यथा मर्यादापुष्टिभेदेन व्यवस्थाया अकथने विरोधाद्धेतोस्तथेत्यर्थः । विरोधस्तु पूर्वपक्ष-

---

भाष्यप्रकाशः ।

मुमुक्षुप्रवृत्तिप्रतिरोधः ।

ननु सूत्रे को वा विरोधोऽभिप्रेतो योऽत्र साधकत्वेनाद्रियत इत्यत आहुः **विरोध इत्यादि** ।

अत्रेदं बोध्यम् । ब्रह्मनिरूपकेषु वेदान्तवाक्येषु क्वचित्सृष्टिकर्तृत्वप्रशासितृत्वादिरूपं **ब्रह्ममाहात्म्यं** जीवात्मनः परमात्माभेदस्तादृशज्ञानस्य मोक्षसाधनत्वं चोच्यते । **क्वचिच्च वरणेन स्वतनुविवरणम्** । **क्वचिद्भक्त्यैव मोक्ष** इत्युच्यते । तत्र प्रकरणभेदान्माहात्म्यज्ञानवतात्माभेदज्ञानेनाक्षरप्राप्तिः । वरणेन स्वतनुविवरणश्रावणात्तेन भगवत्स्वरूपे दर्शनगोचरे सति **हृदयग्रन्थिभेदात्** सुदृढस्नेहरूपायां भक्तौ जातायां पूर्वजातमुक्तविधज्ञानमपि तत्रैवोपकरोतीति **पुरुषोत्तमप्राप्तिः** । **नच केवले ज्ञाने वरणमुपसंहर्तुं शक्यम्** । विद्याधर्मत्वाभावात्, **वरणश्रुतौ जीवकृतसर्वसाधनाल**भ्यत्वश्रावणेन परमात्मनः **श्रवणादिविध्युक्तसाधनालभ्यतया** तन्मात्रसाधनकायां **विद्यायां**

रश्मिः ।

अत्रेति । मर्यादापुष्टिभेदेन व्यवस्थाकथने मुक्तिसाधने मुमुक्षुप्रवृत्तिसाधकत्वेन विपक्षे पुष्टिमर्यादाभेदेन व्यवस्थाया अकथने बाधकं मुमुक्षुप्रवृत्तिप्रतिरोधमाहेत्यर्थः । **मर्यादापुष्टीति** । धर्मादिष्वनियम इति पूर्वप्रयोगार्हस्य पुष्टिशब्दस्य परप्रयोगः । **अत्रेदमिति** । भाष्ये श्रुतिविषयवाक्यत्वाय्रेदं **वक्ष्यमाणं बोध्यम्** । **वेदान्तेति** । 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते', 'एतस्यैवाक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिवी विधृते तिष्ठतः', 'तदात्मान१ँ स्वयमकुरुत' 'तत्त्वमसी'त्यादिषु । **सृष्टीति** । आदिना साक्षात्सृष्टिकर्तृत्वम् । **तादृशेति** । भक्त्यङ्गज्ञानस्य । मोक्षसाधनत्वं भक्तिरूपव्यापारद्वारा चोच्यते । **तदुक्तम्**—'माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः । स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथे'ति **पञ्चरात्रे** । 'अनवगाह्यमाहात्म्ये' 'नृप स्वात्मैव वल्लभ' इति वाक्यद्वयं श्रीभागवते । भगवानात्मनोप्यात्मा । **क्वचिदिति** । वरणश्रुतौ । तनुविवरणं 'विवृणुते तनुं स्वा'मितिपाठे । **क्वचिदिति** । '**ब्रह्मविदाप्नोति** पर'मित्यत्र '**ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमे**'तीति । संस्था भक्तिः । 'तत्संस्थस्यामृतत्वोपदेशा'दिति **शाण्डिल्यसूत्रात्** । पादस्थानभेदेनाक्षरस्य द्वैविध्याद्यादृशज्ञानेन पादरूपाक्षरप्राप्तिस्तदाहुः **तत्रेति** । **प्रकरणेति** । **अक्षर**प्रकरणपुरुषोत्तमप्रकरणयोर्भेदात् । माहत्म्यज्ञानं स्वमतोद्भवं तस्य त्वमसीति तत्त्वमसीत्यत्रार्थपक्षे जीवस्यांशत्वेन ज्ञान'मध्यात्मज्ञाननित्यत्व'मिति गीतोक्तम्, नत्वर्थवादरूपम् । तद्वतामात्माभेदज्ञानं तेनाक्षरस्य पादरूपस्य प्राप्तिः । एतस्य पश्चाद्भक्तिमार्गीयज्ञानोपयोगं वक्तुमाहुः **वरणेनेति** । '**यमेवैष** वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वा'मित्यस्यां तेन वृतेनेत्यर्थे वरणे पर्यवसानाद्वरणेनेत्युक्तम् । स्वतनुविवरणं स्वस्य भगवतस्तनुस्तस्या विवरणं प्रकाशनं बाहुलकात् तस्य श्रावणात् । **तेनेति** । **स्वतनुविवरणश्रावणेन** । 'भिद्यते हृदयग्रन्थि'रिति श्रुतेराहुः **हृदयेत्यादि** । हृदयग्रन्थिः **दुष्टकामक्रोधादि** । **सुदृढेति** । तत्त्वं च 'कामाद्द्वेषा' इत्यादिवाक्योक्तं अदुष्टकामाद्यविहितभक्तिपूर्वकत्वम् । **पूर्वजातमिति** । अक्षरात्मकहृदये भगवत्स्वरूपे दर्शनगोचरे सत्यक्षराज्ञानं पूर्वजातं **उक्तविधज्ञानं** अक्षरप्रतिष्ठितत्वविषयकं सत्तत्र नाम भक्त्यंशमाहात्म्यज्ञानमुपकरोति तज्जनकत्वेन इत्येवं भक्त्या **पुरुषोत्तमप्राप्तिः** । उपसंहारपादत्वादाहुः **नन्वेति** । **शक्यमिति** । तस्य ज्ञानवद्भूतधर्मत्वादिति **भावः** । **'अन्येकं** रूपं रसात्पृथ'गित्यत्रैकत्वपृथक्त्वयो रूपधर्मवज्ज्ञानधर्मत्वं वरणस्येत्यत आहुः **वरणेति** । **श्रवणादीति** । 'श्रोतव्य' इत्यत्र विधौ तव्य इति भावः । **साधनानि** श्रवणादीनि । **तन्मात्रेति** ।

सम्बन्ध उपपादितः । एतेनैव 'ननु श्रवणादिरूपा प्रेमरूपा च भक्तिरविशेषेण पापक्षय एवोदेति, उत कश्चिद्विशेषोऽस्ति । तत्राधुनिकानामपि भक्तानां दुःखदर्शनाच्छ्रवणादेः पापनाशकत्वश्रवणाच्चाविशेषपक्षस्त्वसङ्गतः । अथ श्रवणादिरूपा पापे सत्यपि भवति, प्रेमरूपा तु तन्नाश एवेति विशेषो वाच्यः । सोऽपि प्रेमवतामपि अक्रूरादीनां मणिप्रसङ्गे भगवता समं कापट्यकृतिश्रवणान्न साधीया'नित्यपि शङ्का निरस्ता वेदितव्या ।

भाष्यप्रकाशः ।

वरणस्योपसंहर्तुमशक्यत्वाच्च । एवं साधनभेदेन फलभेदसिद्धौ पूर्वोक्तोभिनीषाश्रुतिसिद्धभगवद्विषयशरीरे श्रौतसाधनानां तदभावस्य तद्विरुद्धानां कामादीनामपि प्रवेशेन वरणे प्रकारभेदः सिध्यति । स च पुराणोक्तैरुपबृंहणैर्विशेषतोऽवगम्यत इति हृदिकृत्य सूत्रकृता इदमधिकरणं प्रणीतमित्याशयेन पुराणस्याविरोधपरिहारचिन्तनमत्र कृतम्, न तु मुख्यतया तेषां विषयवाक्यत्वमिति वैदिकम्मन्यबहिर्मुखबोधनाय वर्त्म । वस्तुतस्तु 'सर्ववेदेतिहासानां सारं सारं समुद्धृत'मितिवाक्याद्वेदत्वमेव श्रीभागवतस्य । 'इतिहासपुराणं वेदानां पञ्चमो वेद' इति बृहदारण्यकश्रुतेश्च । अतस्तद्वाक्यत्वेनापि विषयवाक्यत्वं युक्तमिति न शङ्कालेशः ।

प्रकृतमनुसरामः । एतस्याधिकरणस्य पूर्वाधिकरणोत्थशङ्कानिरासरूपं प्रयोजनान्तरमाहुः एतेनेत्यादि । एतेनेत्यस्य इत्यपि शङ्का निरस्ता वेदितव्येत्यनेनान्वयः । न साधीयानिति । पापं विना भगवति कापट्यकृत्यसम्भवान्न साधीयान् । तथाच सम्परायसूत्रसिद्धः सिद्धान्तो न

रश्मिः ।

वरणमात्रं साधनं यस्याः सा वरणमात्रसाधनिका तस्याम् । अशक्यत्वादिति । नहि साधनस्य वरणस्य साध्ये ज्ञाने उपसंहारो दृष्ट इति भावः । अन्यत्रादर्शनात् । तथा 'चैकं रूप'मिति दृष्टान्तो नेति भावः । एवमित्यादि । श्रवणादिविध्युक्तसाधनतन्मात्रसाधनयोर्भेदेन । फलयोः पुरुषोत्तमतदितरफलयोर्भेदसिद्धौ । पूर्वोक्तेति । अत्रैव पूर्वोक्तेत्यादिः । तदभावस्य वरणेतरसाधनाभावस्य । स चेति । अत्रैव 'यमेवैष'इत्यादिभाष्योक्तो वरणे प्रकारभेदश्च । उपेति । 'भगवान्ब्रह्म कार्त्स्न्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया । तदध्यवस्यत्कूटस्थो रतिरात्मन्यतो भवे'दित्यत्रोपबृंहणे यच्छब्दार्थे ऐक्यमाहात्म्ययोर्माहात्म्ये वरणस्यान्तर्भावाद्विशेषतः । तथे'तिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहये'दित्युपबृंहणम् । तथा 'जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरत' इत्युपबृंहणम् । जगज्जन्मादिकर्तृत्वस्य माहात्म्यात् । किंच 'भक्त्या मामभिजाना'तीति भाष्योक्तोपबृंहणे तैः । वैदिकमिति । वेद एव षडङ्गानीत्येवं वैदिकमात्मानं मन्यते स वैदिकंमन्यः, स च बहिर्मुखः, बहिः तर्का मुखान्युपाया यस्य तस्य बोधनाय उपबृंहणानां विशेषतोऽवगमांशे उपकारात् । ननु नेयं भाष्यकृतां शैली, यदि स्यात्, तदा पूर्वोक्तं स्यात्, नत्वेवम्, पूर्वमीमांसाभाष्ये शबरस्वामिशैल्याः षष्ठाध्याये द्वितीयपादे षष्ठाधिकरणे 'तस्मिंस्तु शिष्यमाणानि जननेन प्रवर्तेर'न्नित्यधिकरणे दर्शनादित्यत आहुः वस्तुतस्त्विति । ननु स्मृतीनामुत्सन्नप्रच्छन्नशाखामूलत्वादस्तु पूर्वमीमांसाविषयत्वम्, पुराणानां तु कथं मीमांसाविषयत्वमत आहुः सर्ववेदेति । तद्वाक्येति । पुराणवाक्यत्वेनापि । एतेनेत्यादीति । भक्तानामिति । श्रवणादिमताम् । ननु कुतो न कारणसत्त्वे प्रेमेति चेत् । न । प्रेमवन्मुक्तेरपि फलत्वात्, प्रेमादिकं प्रति श्रवणादीनां तृणारणिमणिन्यायेन कारणत्वात् । दुःखेति । पापकार्यदुःखदर्शनात् । पापनाशकत्वेति । अन्योन्याश्रयापादकात्तस्मात् । श्रवणं तु 'केचित्केवलया भक्त्या वासुदेवपरायणाः । अघं धुन्वन्ति कार्त्स्न्येन नीहारमिव भास्कर' इति वाक्ये । कापट्येति ।

तथाहि । मर्यादापुष्टिभेदेनाङ्गीकारे वैलक्षण्यादाद्यायामङ्गीकृतानां मुमुक्षयैव श्रवणादौ प्रवृत्तिः, तद्दातृत्वेनैव भगवति प्रेमापि, न तु निरुपधिः । कदाचिद्वस्तुस्वभावेन मुक्तीच्छानिवृत्तावपि तद्भक्तेः साधनमार्गीयत्वात् 'अनिच्छतो मे गतिमण्वीं प्रयुङ्क्त' इति वाक्यादन्ते मुक्तिरेव भवित्री । अस्मिन् मार्गे श्रवणादिभिः पापक्षये प्रेमोत्पत्तिः, ततो मुक्तिः । पुष्टिमार्गेऽङ्गीकृतेस्त्वत्यनुग्रहसाध्यत्वात् तत्र च पापादेरप्रतिबन्धकत्वाच्छ्रवणादिरूपा प्रेमरूपा च युगपत्, पौर्वापर्येण वा, वैपरीत्येन वा भवत्येव । अत्र श्रवणादिकमपि फलरूपमेव । स्नेहेनैव क्रियमाणत्वान्न विधिविषयः । न ह्यविद्यादिमुक्त्यन्तरूपभजनान-

भाष्यप्रकाशः ।

युक्त इत्याशङ्काप्येतेन मार्गभेदेन समाधानान्निरस्ता वेदितव्येत्यर्थः । कथं निरस्तेत्याकाङ्क्षायां व्युत्पादयन्ति तथा हीत्यादि वक्तुं शक्येत्यन्तम् । तथाच सम्परायसूत्रसिद्धः सिद्धान्तो मर्यादामार्गविषयः । सत्यपि पापे भक्त्युदयपक्षस्तु पुष्टिमार्गे, तत्र वरणप्रकारभेदे नियामिका या इच्छा,

रश्मिः ।

कापट्यं पापकार्यम् । तथाहीत्यादि वक्तुं शक्यमित्यन्तमिति । अस्मिन्निति । मर्यादायामङ्गीकारे मार्गे । 'यमेवैष वृणुत' इत्युक्तभाष्यरीत्या मार्गे । वैपरीत्येनेति । पूर्वं प्रेमरूपा पश्चाच्छ्रवणादिरूपेत्येवम् । अयोगव्यवच्छेदकैवकारः । 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य' इत्यत्र पाठक्रमे 'दृष्ट एव स्नेह' इति भाष्याद्दर्शनानन्तरं प्रेम तदनन्तरं श्रोतव्य इत्युक्तश्रवणादीत्येवं श्रुत्यर्थात् । अत्रेति । पाठक्रमेण श्रवणाद्यङ्गीकारे । फलरूपमेवेति । स्नेहस्य श्रवणादिफलत्वात्तथा । मुक्तिप्रतिपादकैकादशस्कन्धे 'श्रद्धामृतकथायां मे शश्वन्मदनुकीर्तन'मित्युपक्रम्य 'एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम् । मयि संजायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यत' इत्यन्तवाक्यैरेवकारः । मुक्तेः फलत्वात् । न कुलालकुविन्दादिफलघटपटादिवदवान्तरफलत्वम् । न विधीति । स्नेहेनैवेत्यत्रापि हेतुः । तथाच प्रेमपर्यन्तं विधेयत्वेन श्रवणादिकम्, प्रेमानन्तरं तु स्वव्यसनतः क्रियमाणमुत्तमभक्तिरूपं न विधिविषयम् । भाष्ये विषयशब्दो नियतलिङ्गः । पूर्वतन्त्रेऽप्येवम् । नहीति । अविद्या आदिर्यस्य मुक्तिः सायुज्यमन्ते यस्य भजनानन्दात्यन्तरायस्य । अत एवाविद्यादिमुक्त्यन्ताभ्यां रूपं यस्य भजनानन्दात्यन्तरायस्यान्तेन रूप्यन्ते उपमीयन्ते इत्यविद्यादिमुक्त्यन्तरूपभजनानन्दात्यन्तरायरूपाणि तानि अभ्रंकषाविरलविविधमहातरुगहनानि तेषाम् । यथानलोऽभ्रंकषम् । कष हिंसायां (भ्वा-प-सेट्) अभ्रमाकाशं कषति हिनस्तीत्यभ्रंकषं गहनं विपिनं दहति । स्वदेहहिंसकं वस्त्वित्युक्तम् । दाह्यत्वसमर्थकं विशेषणं अविरलविविधमहातरु इति । अविरला गह्वरा विविधा अनेकरूपा महान्तोत्युच्चाः तरवो यस्य । तथानुग्रहः अभ्रंकषं गहनं दुःखं दहति अविद्याऽज्ञानं आकाशं देहं हिनस्ति । यथाधुनिक आकाशं ब्रह्मदेहं न मनुत इति । अत्रापि दाह्यत्वसमर्थकं विशेषणं अविरलेत्यादि । अविरला[illegible] विधानाश्यानि विविधानि विविधदुष्कृतजन्यानि महातर्वादिवृक्षस्तस्य दुःखानि गहनानि । आदिवृक्षस्य वेदार्थत्वेन कर्मरूपत्वात् । तस्य वेदार्थत्वं तु 'ऊर्ध्वमूलमधःशाख'मिति श्वेताश्वतरश्रुतेः । 'कर्मैके तत्र दर्शना'दिति जैमिनिसूत्रात् कर्मरूपत्वं तस्य । अतो महातर्वादिवृक्षसम्बन्धीनि दुःखानि मुक्त्यन्तरूपाणि । भगवदीयानां मुक्त्यनादरस्मरणात् गहने प्रवेशः । 'शुद्धाश्च सुखिनश्चैव ब्रह्मविद्याविशारदाः । भगवद्भजने योग्या नान्य इत्यर्थतः फल'मिति प्रथमसुबोधिनीकारिकायाः सुखिनो भजनानन्दाधिकारिण इति दुःखानां गहनानामत्यन्तरायत्वं भजनानन्दे । मुक्तेरप्यत्यन्तान्तरायरूपत्वम् ।

न्द्वात्यन्तरायरूपाभ्रङ्कषाविरलविविधमहातरुगहनानां दहने लोलुपस्यानुग्रहानलस्य तदान्तरालिकपापतूलं प्रतिबन्धकमिति वक्तुं शक्यम्।

तदुक्तं श्रीभागवते 'स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः। विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चिद्धुनोति सर्वं हृदि संनिविष्ट' इति। विकर्म प्राक्तनम्, तत् दुःखदमिति, स्वयं च हरित्वेन दुःखहर्तेति धुनोति।

भाष्यप्रकाशः।

सा 'छन्दत उभयाविरोधा'दिति सूत्रे सूचिता, सैवात्रोभयथेति पदव्याख्याने व्युत्पादिता। तेन न चोद्यावकाशः। नापि तत्कृतश्रवणादीनां पापनाशार्थत्वं शङ्क्यम्। तेषां प्रेम्णा क्रियमाणत्वेन फलमध्यपातित्वात्। पापस्य त्वनुग्रहेणैव नाशसम्भवादित्यर्थः।

नन्वेतादृश्येवेच्छेत्यत्र किं मानमत आहुः तदुक्तमित्यादि। अत्र यद्विकर्म यच्च कथञ्चिदुत्पतितं तत्सर्वं धुनोतीत्यन्वयः। तत्र पूर्वं विवृण्वन्ति विकर्मेत्यादि। तत् दुःखदमित्यत्र तदिति भिन्नं पदम्। हरित्वेन दुःखहर्तेति। 'हराम्यघं यत्स्मर्तॄणां हविर्भागं क्रतुष्वहम्। वर्णश्च मे हरिश्रेष्ठस्तस्माद्धरिरहं स्मृत'इति महाभारतवाक्यात्तथा। मध्ये निविष्टस्य कथञ्चित्पदस्य धुनोतिना सम्बन्धे धूननप्रकार इच्छाविषय एव वाच्यः। स चेच्छाविवरणादेव लभ्यत इति वैयर्थ्यात्

रश्मिः।

भजनस्य भेदसाध्यत्वेन मुक्तेरभेदरूपायास्तथा। तदान्तरेति। अन्तरायान्तरालिकं मायारूपं पापतूलम्। भगवत्सृष्टं पापं तु प्रतिबन्धकं भवत्येव। 'अघं धुन्वन्ती'ति वाक्यात्। इति नहि वक्तुं शक्यमित्यन्वयः। ननु भजनानन्दः ज्ञानक्रियाकाण्डोक्तः स्यात्, तच्च तु न दृश्यत इति चेत्। न। ज्ञानक्रियापरिनिष्ठितानामत्यन्तानुग्रहे भक्तिदानस्य 'भगवान्भजतां मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोग'मिति वाक्ये सिद्धत्वाद्भक्तमनोरथेन भजनानन्ददानात्। 'अचलत्वं चापेक्ष्ये'ति व्याससूत्रात्। सूचितेति। भक्तेः पूर्वमेव पापनाशो यया भवति, सा छन्दपदवाच्या। वरणप्रकारभेदे नियामिका तु छन्दपदसूचितेत्यर्थः। व्युदिति। अत्रायमाशय इत्यादिभाष्येण व्युत्पादिता। न चोद्येति। सम्परायसूत्रसिद्धः सिद्धान्तो न युक्त इति चोद्यस्यावकाशः। अत्रेति भाष्यं विवरीतुमाहुः नापीति। तत्कृतेति। मर्यादाभक्तकृतश्रवणादीनाम्। पापेति। अविद्यया विद्योपमर्दे पापं तस्य नाशार्थत्वमविद्योपमर्दकाले शङ्क्यम्। विवृण्वन्ति स्म तेषामिति। व्याख्यातम्। अनुग्रहेणेति। मर्यादायामपि कारणमनुग्रह इति भक्तिहेतुग्रन्थेऽस्ति। एतादृशीति। पुष्टिमर्यादाभेदे नियामिका। यजमानस्य तदाशया कृतायां श्रवणादिसरणौ पुष्टिपदप्रयोगः। तदाशाभावे मर्यादा। 'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी'ति गीतायां तदाशाभावे याऽव्यभिचारिणी भक्तिर्भवति तस्या उक्तेः। 'तद्रूपं तत्र च स्थितं साकारव्यापकत्वाच्चे'त्यव्यभिचारिणी। अत्रैकदेशविकृतन्यायेनाभेदमाश्रित्य प्रश्नः। अथवा। भाष्योक्तौ पुष्टिमर्यादामार्गौ प्रमाणप्रमेयबलरूपौ ग्राह्यौ। अस्मिन्पक्षे भेदे प्राप्ते किमिति प्रश्नः अभेदमुपपाद्य भेदाभावाभावरूपभेदविषयको ग्राह्यः। विकर्मेति। संचितम्। उत्पतितं विकर्म क्रियमाणम्। भाष्ये। स्वपादेति। उपकारं स्मृत्वा स्वस्य भगवतः पादमूलं ओघं समूहं 'प्रियतमकरपद्मस्पर्शभावेक्षणा'दिति स्वामिनीस्तोत्रोक्तम्। भजतः। अन्यस्मिन् भावः त्यक्तोऽन्यभावो येन तस्य। प्रकृते। पूर्वमिति। विकर्म। विकर्मेत्यादीति। प्राक्तनं संचितं कर्म। तथेति। हरित्वेन दुःखहर्तृत्वम्। धूननेनान्वयं निराकुर्वन्ति स्म मध्य इति। उत्पतितधुनोतिपदयोर्मध्ये। धूननेति। कथञ्चिदित्यत्र कथंशब्दार्थः धूनने प्रकारः केनापि प्रकारेण धूननं करोती-

१. भजनान्दास्यन्तरायेति पाठः।

उक्तविशेषणविशिष्टस्य स्वतो विकर्मकृत्यसम्भवात् सांसर्गिकं मत्तो भूतम्, न तु मया कृतमितिवत् वा यत् कृतं विकर्म तत् 'कथञ्चिदुत्पतित'मित्युच्यते। त्यक्तान्यभावत्वेन भगवत्सेवाख्यासङ्गेनेन्द्रद्युम्नाख्यपाण्ड्यराजवन्महदागमनाद्यज्ञानं वा। वक्ता उक्तरूपे भक्ते विकर्मोक्तावनुचितत्वज्ञापनाय वा 'कथञ्चि'दित्युक्तवान्। तेन तर्कितं विकर्मात्राभिप्रेतमिति ज्ञायते। एतादृशस्यापि यदि विकर्म भवेत्, तदा तन्निवृत्त्यर्थं न तेनान्यत् कर्तव्यम्। भगवानेव हृदि निविष्टस्तद्धुनोति यत इति। कदाचित् स्वभक्तिबलस्फूर्त्या सदोषमपि जनं कृतार्थीकरिष्यामीत्यङ्गीकुर्याच्चेद्भक्तः, तदैव तद्धृदिस्थ एव तत्संसर्गजं दोषमस्यैतदङ्गीकारेण तद्दोषमपि धुनोतीति सर्वपदेनोच्यते। चिरकालभोग्यमपि तत्क्षणेनैव नाशयति। तन्नाशने कालादेरप्रतिबन्धकत्वमित्यपि ज्ञापयितुं परस्य कालादेरीश-

भाष्यप्रकाशः।

पूर्वपदेनैव सम्बन्धो युक्त इत्याशयेन द्वितीयं विवृण्वन्ति उक्तेत्यादि। मत्तो भूतम्, न तु मया कृतमितिवदिति। अकामतः अबुद्धिपूर्वकं च कृतम्। एवञ्च सांसर्गिकेन सह त्रिविधं विकर्मोक्तम्। त्यक्तान्यभावस्यैतदपि न सम्भवतीत्यरुच्या ततोऽतिरिक्तमन्यदाहुः त्यक्तेत्यादि। अज्ञानं वेति। कथञ्चिदुत्पतितविकर्मस्थानीयमिति शेषः। गौण्यङ्गीकारे बीजं वक्तुमाहुः वक्तेत्यादि। तथाच तादृशस्य पापमेव नास्ति, किन्तु भगवदिच्छैव तादृशी सन्मार्गस्थापनार्थेत्याशयेनैतद्वाक्यवक्ता करभाजनो योगीश्वर एकादशस्कन्धे निमिं प्रति तथोक्तवानित्यर्थः। एवं कथनस्य तात्पर्यमाहुः तेनेत्यादि। सर्वपदतात्पर्यमाहुः कदाचिदित्यादि। इदमपि नवमस्कन्धे रन्तिदेवोपाख्याने सिद्धम्। 'तत्प्रसङ्गानुभावेन रन्तिदेवानुवर्तिनः। अभवन् योगिनः सर्वे नारायणपरायणा' इति, द्वितीयस्कन्धे शुकोक्तौ च 'किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुष्कसा आभीरकङ्का यवनाः खसादयः। येऽन्येऽपि पापा यदपाश्रयाश्रयाः शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नम' इति। चिरकालभोग्यस्य यत्र क्षणमात्रेण नाशनम्, तदुदाहरणं त्वन्तर्गृहगताः प्रागेवोक्ताः। सिद्धमाहुः

रश्मिः।

त्यर्थात्। अयमिच्छाविषयो वाच्यः पूर्वभाष्यात्। पूर्वभाष्य इच्छाविवरणम्। पूर्वेति। उत्पतितपदेन। द्वितीयमिति। कथञ्चिदुत्पतितम्। मत्त इति। इत्यत्रेतीतिवत्। ससम्यन्ताद्वतिः। मत्तो कामतः भूतं अबुद्धिपूर्वकं भूतं संसर्गतो भूतम्। अकामतः पञ्चमस्कन्धे बभ्रूहननं बभ्रूहनने इच्छाभावात्। अबुद्धिपूर्वकं यथा सेवा संसारसहितसंसारस्य नाशनं कृतम्। संसर्गतः कृतमक्रूरे। संसर्गः शतधन्वनः। सांसर्गिकमित्यत्र संसर्गेण निर्वृत्तमिति विग्रहे 'तेन निर्वृत्तमि'ति सूत्रेण 'अध्यात्मादेष्ठञिष्यत' इति वा भवार्थे 'तदस्य प्रयोजन,मिति वा ठञ्। एतदपीति। त्रिविधं विकर्म। तत इति। त्रिविधात्। गौणीति। एकस्थानीयत्वं गुणस्तद्योगाद्गौणी। वक्तेत्यादीति। उक्तरूप इति। पाण्ड्यराजवद्वर्तमाने। अनुचितत्वेति। अनुचितत्वसूचनाय। तादृशस्येति। पाण्ड्यराजवद्वर्तमानस्य। सन्मार्गेति। पाण्ड्यराजवद्वर्तमाने भक्ते विकर्मोक्तावनुचितत्वं यत्र मार्गे तादृशसन्मार्गस्थापनार्था। तथेति। कथञ्चिदित्युक्तवान्। तेनेत्यादीति। तर्कितं अन्यथाज्ञानविषयं विकर्मात्र वाक्येऽभिप्रेतम्। तत्प्रसङ्गेति। रन्तिदेवस्य यः

१. कृतमिति बुद्ध्येति पाठः। २. अरुचिज्ञापनाय इति पाठः। ३. अत्राप्यमीत्यादिपाठः।

त्वमुक्तम्। अत्र भजनादिहृन्निवेशान्तानां स्पष्ट एव विकर्मणि सत्यपि सम्भव इति ॥ २९ ॥

इति तृतीयाध्याये तृतीयपादे सप्तमं गतेरर्थवत्त्वमित्यधिकरणम् ॥ ७ ॥

उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत् ॥ ३० ॥ (३-३-८.)

ननु मुक्तेरेव सर्वत्र फलत्वमुच्यते, युक्तं चैतत्, संसृतेर्दुःखात्मकत्वात्, तन्निवृत्तेः सर्वेषामिष्टत्वात्, पुष्टिमार्गीयभक्तानां तु तदनपेक्षित्वमुच्यते। तदुक्तमथर्वणोपनिषत्सु। अष्टादशार्णमन्त्रस्वरूपमुक्त्वा पठ्यते 'परब्रह्मैतद्यो धारयती'त्यादेरन्ते 'सोऽमृतो भवती'त्यादि। एतदग्रे 'किं तद्रूपं किं रसनं कथं हैतद्भजन'मित्यादिप्रश्नोत्तरं पठ्यते 'भक्तिरहस्यभजनं तदिहामुत्रोपाधिनैराश्येनैवामुष्यात्मनः

भाष्यप्रकाशः।

अत्रेत्यादि। तथाच मर्यादाभक्तिमार्गे तर्तव्याभावाज्ज्ञानमार्गत उत्कर्षः, पुष्टिभक्तिमार्गे तु कश्चित्पापसत्त्वेपि भगवतैव तन्नाशनेन कृपातिशयादुत्कर्ष इति सिद्धमित्यर्थः। तेन पूर्वाधिकरणोक्तो भक्त्युत्कर्षो हेतुबोधनेन दृढीकृतः। किञ्च, एतेन भगवतः फलत्वबोधनात् स्वरूपावस्थितस्यैव तथात्वादकेतनत्वरूपो धर्मोपि प्रतिपादितः ॥ २९ ॥ इति सप्तमं गतेरर्थवत्त्वमित्यधिकरणम् ॥ ७ ॥

उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत् ॥३०॥ पूर्वाधिकरणे भक्तिहेतुबोधनेन ज्ञानमार्गापेक्षया भक्तिमार्गस्योत्कर्षो दृढीकृतः। अत्र त्वनुग्रहजन्ययोर्मर्यादापुष्टिभक्त्योर्मध्ये मर्यादाभक्तेः पापनाशोत्तरमेव जायमानत्वात् पुष्टिभक्तौ च तादृशनियमाभावात् तत आधिक्यं न स्यादतस्तारतम्यं विचार्यते। चरणश्रुतिप्रपञ्चभूतमिति पूर्ववदेव विशयसंशयौ पूर्वपक्षे निक्षिप्य सूत्रमवतारयन्ति ननु मुक्तेरित्यादि। पुष्टिमार्गीयभक्तानां मुक्त्यनपेक्षत्वं कुत्राथर्वोपनिषत्सूच्यत इत्याकाङ्क्षायाम्, गोपालपूर्वतापनीय इत्याह अष्टादशार्णेत्यादि। भक्तिरहस्यभजनमिति। अत्र भक्तिशब्दाच्छान्दसः सोर्लुक्। रहस्यभजनमित्यस्य विवरणं तदिहेत्यादि। अर्थस्तु–तत् भजनम्, अमुष्यात्मनो

रश्मिः।

प्रसक्तस्तस्य योऽनुभावो नारायणपरायणत्वं साधनाभावेपि तत्त्वं तेन। तर्तव्येति। तर्तव्यं पापम्। पुष्टीति। भाष्यीयात्रशब्दस्यार्थः। पूर्वाधिकरणसमाप्तौ विरुद्धधर्माधारत्वप्रतिज्ञानादुक्तकृतकेतनत्वविरुद्धधर्ममाहुः किञ्चेति। एतेनेति। हृदि सन्निवेशकथनेन। 'स मानसीन आत्मा जनाना'मिति श्रुतेः फलत्वम्। स्वरूपेति। फलत्वोक्तेर्मोक्षरूपत्वात् 'मुक्तिर्हित्वान्यथा रूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः' सा च भगवतः 'स आत्मा स्वाश्रय' इत्याश्रयलक्षणवाक्योक्तोऽतः स्वरूपावस्थितिराश्रयरूपता तदाधारस्य तथात्वात् फलत्वात्, 'दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षण'मिति वाक्यादेवकारः। तथात्वात् फलत्वात्। अपिना फलत्वम् ॥ २९ ॥ इति सप्तमं गतेरर्थवत्त्वमित्यधिकरणम् ॥ ७ ॥

उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत् ॥ ३० ॥ भक्तिहेत्विति। कृपातिशयरूपभक्तिहेतुबोधनेन। ननु मुक्तेरित्यादीति। तदनपेक्षित्वं मुक्त्यनपेक्षित्वम्। आहेति। पूर्वपक्ष्याह। अष्टादशार्णेत्यादीति। पञ्चपदोऽष्टादशार्णमन्त्रः। 'कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहेति'। गोपीजनेति वल्लभायेति पदद्वयम्। अत्र दशार्णपदाभावेपि, अग्रे 'एतस्मादन्ये पञ्चपदाऽभूवन् गोविन्दस्य मनवो मानवानाम्। दशार्णाद्यास्तेपि संक्रन्दनाद्यैरभ्यस्यन्ते भूतिकामैर्यथावत्'। 'तदेतस्य स्वरूपार्थं वाचा वेदयती'ति श्रुतेरत्रापि दशार्णत्वं प्राप्यते। श्रुत्यर्थस्तु टीकायां द्रष्टव्यः, अत्र प्रयोजनाभावान्न लिख्यते।

कल्पनमेतदेव नैष्कर्म्य'मिति। एतदत्र विचार्यते। मन्त्रावृत्तितदधिष्ठातृरूपध्यानादेरमृतत्वं फलमुच्यते। भजनस्वरूपं च यावत्फलनैराश्येन भगवत्यात्मनः कल्पनमित्युच्यते। नच फलनैराश्येन भजनेऽप्यन्ते मुक्तिरेव भवित्रीति वाच्यम्। 'तं यथा यथोपासते तथैव भवति तद्धैतान् भ...वती'ति श्रुतेर्मुक्तिसाधनत्वेन ज्ञात्वा भजतः सैव फलम्। स्वरूपस्यैव स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वमनुभवन् यो भजते, तस्य तदेव फलमिति यतो निर्णयः सम्पद्यते। 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यह'मिति

भाष्यप्रकाशः।

वस्तुत एतदीयस्य जीवस्य इहामुत्रोपाधिनैराश्येनैव ऐहिकामुष्मिकयावत्फलेप्साराहित्येन कल्पनं तदीयत्वसमर्थनम्। अन्तर्बहिःसेवया तद्दृढीकरणम्। 'कृपू सामर्थ्ये' इति धात्वर्थात्। एतदेव स्वस्य तदीयत्वसमर्थनमेव, नैष्कर्म्यं संन्यास इति। अन्ये तु, 'भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधिनैराश्येनामुष्मिन् मनःकल्पन'मिति पठन्ति। एवं पाठद्वयेऽपि यावत्फलनैराश्यस्य प्रविष्टत्वादामुत्रिकमध्ये मुक्तेरपि प्रवेशात् तदनपेक्षत्वं समानम्। एतदत्र विचार्यत इति। उक्तं तापनीयवाक्यद्वयमस्मिन् सूत्रे विचार्यते। सन्देहं वक्तुं विचारप्रकारमाह मन्त्रेत्यादि। 'अमुं पञ्चपदं मन्त्रमावर्तयेद्यः स यात्यनायासतः केवलं तत्' इति मन्त्रोक्ता या पञ्चपदस्याष्टादशार्णमन्त्रस्यावृत्तिः पुनः पुनः कथनम्, 'तस्मात् कृष्ण एव परो देवस्तं ध्यायेत्तं रसेत्तं भजे'दिति ब्राह्मणोक्तं यत्तदधिष्ठातृध्यानादि, तस्य सर्वस्य अमृतत्वं फलम्, उपक्रम एव 'यो ध्यायति रसति भजति सोऽमृतो

रश्मिः।

एतस्य दशार्णमन्त्रस्य स्वरूपं पञ्चपदमुक्त्वा। 'भक्ती रहस्यभजन'मिति प्राप्त आहुः अत्र भक्तीति। 'सुपां सुलुगि'तिसूत्रेण लुक्। अमुष्येति। अमुष्य विप्रकृष्टस्य य आत्मा जीवस्तस्य। नैष्कर्म्यमिति। यावत्फलेप्साराहित्ये सति तदेककामत्वे तदीयत्वं भवतीति यावत्फलेप्साराहित्यं करणं तदीयत्वसमर्थने उक्तम्, तज्जन्यं तदीयत्वसमर्थनं नैष्कर्म्यम्। तदित्थम्। कर्मणा कर्मनिर्हारो नैष्कर्म्यं कर्मनिर्हारकं कर्म। अकामस्याप्तकामस्य यावत्फलेप्साराहित्यं भवति तदन्वाप्तकामस्याविहितं विहितं दास्यं भवति। 'आदरः परिचर्याया'मित्येकादशैकोनविंशे कथनात्। कर्मनिर्हारकं कर्म। भक्तित्वाच्च। 'केचित्केवलया भक्त्या वासुदेवपरायणाः। अघं धुन्वन्ती'ति वाक्यात्। तच्च नैष्कर्म्यं संन्यासः। कर्मसंन्यासयोगाध्याये 'त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः। कर्मण्यभिप्रवृत्तोपि नैव किंचित्करोति सः ॥ निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः। शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः। समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥ गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः। यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्। ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना' इति। नचाधः सेवनं संसारजनकं 'अधश्चोर्ध्व'मिति वाक्यविषयत्वात् अस्मदादिविषयवत् इत्यनुमानेन संसारजनकं दास्यमिति वाच्यम्। आचार्यमार्गत्वस्योपाधित्वात्। 'कृत्वाऽतरन् वत्सपदं स्म यत्प्लवाः' इत्यस्य सुबोधिन्यनुगुणयत्किंचित्संसारवत्सेवनं साध्यव्यापकत्वस्थलम्। सेवनातिरिक्तविषयं साधनव्यापकत्वस्थलम्। एवं नैष्कर्म्यं संन्यास इत्यर्थः। उपबृंहितोयं संन्यास उपनिषत्सु तत्तदधिकारानुसारी ज्ञेयः। समानमिति। पुष्टभक्तानां समानम्। तन्मते पुष्टभक्ताभावेपि स्वमते तदविरुद्धमित्यर्थः। मनःकल्पनं मानसी सेवा। आहेति। पूर्वपक्षीति बोध्यम्। एवमग्रेपि। ब्राह्मणेति। ब्रह्म ब्राह्मणः ब्रह्म जानाति ब्राह्मण इति व्युत्पत्तेः। अधिष्ठाता दशार्णप्रतिपाद्यः।

भगवद्वाक्याच्च । अत एव रहस्यभजनं लक्ष्यमुक्तम् । तथाच श्रौतत्वभगवत्सम्बन्धित्वयोरविशेषात् कतमो गरीयानिति संशये गूढाभिसन्धिः पठति ।

मुमुक्षोः सकाशाद्रहस्यभजनकर्तैव उपपन्नः उपपत्तियुक्तः । तमेवोद्घाटयति तल्लक्षणार्थोपलब्धेरिति । तल्लक्षणो भगवत्स्वरूपात्मको योऽर्थः स्वतन्त्रपुरुषार्थरूपः, तदुपलब्धेः स्वाधीनत्वेन तत्प्राप्तेरित्यर्थः । यद्यपि पुरुषोत्तमे प्रवेशो तदानन्दानुभवो भवति, तथापि न प्रभोस्तदधीनत्वम् । भक्तितिरोभावात् । प्रत्युत वैपरीत्यम् । भजनानन्दस्य तत आधिक्यं तु 'मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम्'

भाष्यप्रकाशः ।

भवती'त्यनेनोच्यते । भजनस्वरूपमित्यारभ्य, भगवद्वाक्याच्चेत्यन्तग्रन्थस्तु स्फुटार्थः । एतन्निगमनायाह अत एवेत्यादि । अत एवेति । स्वरूपस्य फलत्वादेव । 'अस्य भजन'मिति पाठे तु निरुपधिभजनमेव लक्ष्यम् । उभयथापि 'तद्वैता'नित्यादिभिः सिद्धो निर्णयस्तुल्यः । अतो निरपेक्षभजनेपि मुक्तिरेव फलमिति निर्णयस्य कर्तुमशक्यत्वात् यत् सिद्धं तदाह तथाचेत्यादि । उक्तहेतुभ्यामुभयोर्भक्तयोः साम्यमेव युक्तमिति पूर्वपक्षरूपे संशये श्रुतिस्थगूढाभिप्रायं प्रकटयन् सूत्रं पठतीत्यर्थः । सूत्रं व्याकुर्वन्ति मुमुक्षोरित्यादि । रहस्यभजनकर्तेति । पाठान्तरे तु निरुपधिभजनकर्ता । तमेवेति । तादृशं भक्तम् । गूढाभिसन्धिं वा । अग्रे उपपत्तेरेव कथनादिति । ननु पुरुषोत्तमे सायुज्येपि सूत्रोक्तस्य हेतोरुपपद्यमानत्वात् कथं रहस्यभजनकर्तुरेवाधिक्यस्य सिद्धिरित्यत आहुः यद्यपीत्यादि । ननु मास्तु प्रभोस्तदधीनत्वं सायुज्ये, तथापि स्वरूपानन्दापेक्षया भजनानन्दस्याधिक्ये किं मानम्, अत आहुः भजनानन्दस्येत्यादि । अत्र प्रथमवाक्यं पञ्चमस्कन्धषष्ठाध्याये श्रीशुकैः परीक्षितं प्रत्युक्तम् । 'राजन् पतिर्गुरुरलं भवतां यदूनां दैवं प्रियः कुलपतिः क्व च किङ्करो वः । अस्त्वेवमङ्ग भगवान् भजतां मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोग'मिति । अत्र मुक्तिदातुरप्यदेयत्वेन भक्तेराधिक्ये सिद्धे तदानन्दस्या-

रश्मिः ।

एतन्निगमनायेति । तस्मात्तथेति निगमनं न्यायशास्त्रे । **भाष्ये** । **रहस्येति** । तत्प्राप्तिसाधनं लक्ष्यम्, 'तदिहामुत्रे'त्यादिलक्षणम् । लक्ष्यं निरुपधि बोध्यम् । **प्रकृते** । **मुक्तिरेवेति** । एवकारः स्वरूपस्य व्यवच्छेदकः । **उक्तेति** । श्रौतत्वभगवत्सम्बन्धित्वाभ्यां हेतुभ्यां उभयोर्मुक्तिभगवत्स्वरूपार्थं भजतोः । **इति पूर्वपक्षेति** । मुक्तिसाधनत्वेन भजन् गरीयानुत स्वरूपस्यैव स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वमनुभवन् भजन् गरीयानिति संशये उक्तहेतुभ्यामित्यादिपूर्वपक्षे रूपं यस्य तादृशे संशये । उक्तायां 'यो ध्यायति रसति भजति सोऽमृतो भवती'ति श्रुतौ तिष्ठतीति श्रुतिस्थं गूढं मुमुक्षोः सकाशात् रहस्यभजनकर्तैवोपपन्न इत्यमृतपदगूढं अभिप्रायम् । **गूढाभिसन्धि**रितिपाठे उक्ताभिप्रायवान् व्यासो भगवान् गूढोभिसन्धिर्यस्येति बहुव्रीहिः । **सूत्रमिति** । बुद्धिस्थत्वात्सूत्रमपठित्वा व्याकुर्वन्तीत्यर्थः । गूढाभिसन्धिरूपे भाष्यीयार्थव्यतिरिक्ते । अत्र हेतुः **अग्र** इति । सूत्रेऽग्रे उपपत्तेः उपपन्नरूपतादृशभक्तधर्मस्य । यदि तल्लक्षणार्थो न स्यात्तदा तदुपलब्धिर्न स्यादित्येवमन्यथाज्ञानरूपायाः । ननु स्यादमृतपदगूढोभिप्रायः मुमुक्षोः सकाशाद्रहस्यभजनकर्तैव मुख्य इति उपपन्नरूपतादृशभक्तधर्मस्य तथापि तल्लक्षणार्थोपलब्धेरिति हेतुना कथं प्राप्तिरत उक्तं एवेति । अप्यर्थे आकृतौ शक्तेः तदाक्षेप्यव्यक्तेरुपपन्नरूपाया गौणार्थत्वात् । **कथनात्** तल्लक्षणार्थोपलब्धेरिति पदेन कथनात् । **सायुज्य** इति । उक्ततदीयत्वविलक्षणसायुज्ये । **रहस्येति** । तदीयस्य । **तदानन्दस्येति** । भजनानन्दस्य । ननु भजनेनानन्दो भजनानन्दः । अत्र

'दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः' 'नारायणपरा लोके' इत्युपक्रम्य 'स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिन' इत्यादिवाक्यैरध्यवसीयते । अत एव सामीप्यवाच्युपसर्ग उक्तः । तेन दासीत्वेन दासत्वेन लीलायां सुहृत्त्वेन प्रभुनिकटे स्थितिरुक्ता भवति । नच महत्पदार्थस्वरूपाज्ञानादल्प एवानन्दे यथा सर्वाधिक्यं मन्वानः पूर्वोक्तं न वाञ्छति, तथात्रापीति वाच्यम् । दीयमानानामर्थानां स्वरूपाज्ञानासम्भवात् । अनुभवविषयीक्रियमाणत्वस्यैवात्र दीयमानपदार्थत्वात् । तद-

भाष्यप्रकाशः ।

धिक्यम् । द्वितीयं तृतीयस्कन्धे कपिलवाक्यम् । तृतीयं षष्ठस्कन्धे सप्तदशाध्याये उमां प्रति शिववाक्यम् । नन्वयमर्थः सूत्राशयगोचरत्वेन कथं ज्ञेय इत्यत आहुः अत एवेत्यादि । तथाच यद्येवमर्थोऽभिप्रेतो न स्यात्, तदा 'तल्लक्षणार्थलब्धे'रित्येव सूत्रे वदेत् । भगवत्स्वरूपलाभस्योभयत्रापि तुल्यत्वेनोपोपसर्गप्रयोजनाभावात् । अत उपलब्धिपदाज्ज्ञेय इत्यर्थः । चतुर्विधमुक्त्यन्तर्गतत्वव्यावृत्त्यर्थं तादृशस्य सिद्धं स्वरूपमाहुः तेनेत्यादि । एतदेव भक्तेराधिक्यमूहापोहेन द्रढयन्ति नचेत्यादि । स्पष्टम् ।

इतोप्यत्युत्कटभक्तसूचनाय पक्षान्तरमाहुः अथवेत्यादि । स्पष्टम् । एवमत्र भक्तेः परमा

रश्मिः ।

फलसाधनयोरेकीकृत्य निरूपणात्कथं सायुज्यापेक्षया[1]धिक्यम् । किञ्च, किं शक्यतावच्छेदकमिति चेत् । सत्यम् । भजनेनेत्यत्र न करणे तृतीया, अपि तु 'प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यान'मिति वार्तिकेनाभेदे तृतीया । फलत्वेनाभेदः । ननु किं साधनं फलरूपमिति चेत् । न । एकादशे मुक्तिफलप्रतिपादकं सुबोधिन्यां फलात्मकं साधनमाहेति परस्परानुकथनमित्यस्याभासेन तदुक्तसाधनानां फलत्वात् । तेन साधनभूतभजनाभिन्नानन्दपदस्य भजनानन्दस्य भजनानन्दत्वमपि शक्यतावच्छेदकम् । 'साधनानामसिद्धवदावृत्तिः कर्तव्ये'ति सुबोधिन्या फलदशायामपि साधनावृत्तेः । यादृशं साधनं तदुक्तं भजनानन्दत्वं वा शक्यतावच्छेदकं भजनं तादृशानन्दे तात्पर्यग्राहकम् । लाघवात् । **उभयत्रेति** । उपोपसर्गे तदभावे च, सायुज्ये तदीयत्वे वा । ज्ञेय इति । तथाहि । उप समीपे लब्धिः तदीयत्वे । तस्य भेदघटितत्वात् । सायुज्ये लब्धिः, नतूपलब्धिः, सायुज्येऽभेदादिति । **चतुर्विधेति** । सामीप्यस्य वक्ष्यमाणभाष्यात्तदीयत्वेन तदतिरिक्तस्य सालोक्यवाक्योक्तसालोक्यादिचतुष्टयरूपचतुर्विधेत्यर्थः । **तादृशस्येति** । तदीयत्वरूपमुक्तिं प्राप्तस्य । **तेनेत्यादीति** । शरीरादिकं चतुर्थपादे वक्तव्यम् । **ऊहेति** । ऊहस्तर्कः । भाष्यमित्यत्रोहवचनविवक्षणात् । अपोहः तर्कापोहनं समाधानम्, तयोः समाहारः तेनैकवचनम् । **स्पष्टमिति** । तादृशं महतां पदार्थस्वरूपमक्षरज्ञानं तस्यान्यत्र वैराग्यजनकस्याज्ञानात् अल्पानन्दे भगवदीयसम्बन्धिनि सगुणे । **उत्कटेति** । तदीयत्वमुक्तिं गतस्य भेदोऽयमुत्कटभक्तस्तस्य सूचनाय । **पूर्वोक्तमिति** । पदार्थस्वरूपमज्ञातम् । **तथात्रापीति** । दृष्टान्तवत् अत्र भजनानन्दाधिक्यप्रतिपादकवाक्येषु । उत्कृष्टत्वेन सालोक्यादिसायुज्यान्तेषु ज्ञानाभाववतः सगुणे भजनानन्देऽल्पे आधिक्यज्ञानमिति भावः । **वाच्यमिति** । वचनमूहरूपं अपोहनम् । **दीयमानानामिति** । सालोक्यादीनाम् । उत्कृष्टत्वेन स्वरूपाज्ञानासंभवात् । दीयतेऽनुभवविषयीक्रियते तत् दीयमानमित्याशयवन्त आहुः **अनुभवेति** । **दीयमानेति** । आकृतौ शक्तिपक्ष इति भावः । भाष्यीयत्वादेवकारः । नन्व-

[1] इतः पूर्वं (यथा पूर्णो भगवदीयास्ते शेषभ्यासामिमाकृतः) ।

ज्ञाने स्वर्गादित्रये तुल्यदर्शित्वासम्भवश्च। 'मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोग'मिति वाक्ये भक्तेराधिक्यं स्पष्टमेवोच्यते। तस्मात्न्यूनार्थजिघृक्षोः सकाशात् पूर्णार्थवान् महानिति युक्तमेवास्योपपन्नत्वम्। इममेवार्थं दृष्टान्तेनाह लोकवदिति। यथा स्वाधीनभर्तृका नायिका तदवस्थाननुगुणगृहवित्तादिकं दीयमानमपि नोररीकरोति, तथेत्यर्थः।

अथवा। स भगवानेव लक्षणमसाधारणो धर्मो यस्य स तल्लक्षण उद्भटभक्तिभावः स एव अर्थः स्वतन्त्रपुरुषार्थरूप इति। अग्रे पूर्ववत्। भगवत्प्राकट्यवानेव हि भक्तो भक्तत्वेन ज्ञायत इति तथा। एतेन ज्ञाप्यं हि ज्ञापकादधिकं भवति। एवं सति यज्ज्ञापकं परमकाष्ठापन्नं वस्तु पुरुषोत्तमस्वरूपं सर्वफलरूपं तन्महित्वं[1] कथं वक्तुं शक्यमिति सूच्यते ॥ ३० ॥

इति तृतीयाध्याये तृतीयपादेऽष्टममुपपन्नाधिकरणम् ॥ ८ ॥

भाष्यप्रकाशः।

काष्ठा सूचिता। तेन फलभक्तौ मुक्तिर्न सन्निपततीति मर्यादाभक्तिफलभूतमुक्तिभाजोऽपि सकाशात् पुष्टिभक्तोऽधिक इति सिद्धम्। अत्र गोपालतापनीयोक्ते विषयवाक्ये भक्तिविषयतया पुरुषोत्तमस्वरूपस्य सिद्धत्वेन श्यामावदातत्वं प्रतिपादितम्।

रश्मिः।

(नु)भवविषयीक्रियमाणत्वं न जातिरिति कथं तस्य पदार्थत्वमिति चेत्। न। विशेष्यौदासीन्येन धर्मावच्छिन्ने शक्तेः। कलशपदस्य कलशत्वे शक्तस्य कलशत्वधर्मवाचकत्वेप्याकृतौ शक्तेरनिवार्यत्वात्। व्यक्तेरभेदस्य जातिबाधकस्य सत्त्वात्। तदज्ञान इति। तुल्यत्वनिरूपकलौकिकसगुणसुखत्वेनापवर्गाज्ञाने। अपवर्गस्य सात्त्विकत्वात्सगुणत्वम्। उत्कृष्टत्वेनापवर्गज्ञाने। पूर्णार्थेति। यथा 'पूर्णा भगवदीयास्ते शेषव्यासाग्निमारुता' इत्युक्ताः पूर्णार्थवन्तः। 'अत इतरज्ज्याय' इति सूत्रादेवकारः। अस्य मुमुक्षोः सकाशाद्रहस्यभजनकर्तुः। तदवस्थेति। भर्त्रवस्थेत्यर्थः। एवं स्पष्टमित्यर्थः। स्पष्टमिति। यस्येति। भक्तस्य। उद्भटेति। भक्त इति वक्तव्ये भक्तत्वस्योद्भटभक्तिभावप्रयुक्तत्वात्प्रयोजकस्य मुख्यत्वात्तदेवोपात्तम्। अग्र इति। दृष्टान्तांशे। ज्ञाप्यमिति। अत्र भक्तो ज्ञाप्यः। सामान्ये नपुंसकम्। तन्महित्वमिति। भक्तमहित्वम्। सूच्यत इति। सूत्रेण सूच्यते। एवं स्पष्टमित्यर्थः। काष्ठेति। तदीयत्वरूपा। फलभक्ताविति। 'भक्तिरहस्यभजन'मिति श्रुत्युक्तायां मनःकल्पनं मानसीसेवारूपं तनुवित्तजसेवाफलमिति फलभक्तित्वम्। नेति। 'फलभोगनैराश्येने'त्यत्र मुक्तिरूपफलस्य सत्त्वान्न सन्निपततीत्यर्थः। यद्यपि तदीयत्वस्य सामीप्यमुक्तित्वम्, तथापि सामीप्ये दासत्वेन दासीत्वेन सुहृत्त्वेन स्थित्यभावान्न प्रायपाठपठितसामीप्यमुक्तित्वम्। तत्र सुहृत्त्वरूपभक्त्यभावात्। वस्तुतस्तु प्रायपाठपठितसामीप्ये दासत्वदासीत्वे सोपाधिके, न तु निरुपाधिके। आत्मकामस्य नोपाधित्वम्। 'अकाम आप्तकाम आत्मकाम' इति श्रुतावकामत्वानन्तरमात्मकामत्वश्रावणात्सकलोपाधिनैराश्यात्। विषयवाक्य इति। 'भक्तिरहस्यभजन'मित्यादिरूपे तदाक्षिप्त 'एतदत्र विचार्यत' इत्यादिभाष्योक्ते च। भजतीत्युक्त्या भजनविषयतयेत्यादिः। अक्षरस्य ज्ञानविषयत्वात्। श्यामेति। पूर्वमानन्दमय-

---

1. तन्महत्त्वमिति शोधितपाठः।

भाष्यप्रकाशः

शंकराचार्यास्तु, 'गतेरर्थवत्त्व'मिति द्विसूत्रमधिकरणमङ्गीकृत्य, क्वचित् पुण्यपापहानसन्निधौ देवयानः पन्था श्रूयते, क्वचिन्न। स किं सर्वत्र संनिपतेन्न वेति संशये, उपायनवत् सर्वत्रेति प्राप्तम्। तत्राह। गतेः देवयानस्य पथः, अर्थवत्त्वमुभयथा विभागेनेत्युक्त्वा क्वचिदर्थवती गतिः, क्वचिन्नेति विभागस्वरूपं व्याचक्रुः। तन्मन्दम्। एकस्य प्रकारस्य गतिसार्थक्यं प्रत्यहेतुतया सौत्रस्योभयथापदस्य विरोधात्।

भास्कराचार्यास्तु, उभयथेत्यस्य सुकृतनिवृत्त्या दुष्कृतनिवृत्त्या चेत्यर्थमाहुः। पूर्वव्याख्यानादिदमेव समीचीनम्। सूत्रस्थपदसङ्गतेः।

वाचस्पतिमिश्रास्तु, यदि पुण्यमपि निवर्तते, किमर्था तर्हि गतिरिति भास्कराचार्योक्तमवतारणं सूत्रव्याख्यानं चानूद्याहुः। तैरनाशङ्कनीयमेवाशङ्कितम्, विद्याक्षिप्तायां हि गतौ केयमाशङ्का, यदि क्षीणसुकृतः किमर्थमयं यातीति। न हीयं सुकृतनिबन्धना गतिः, अपि तु विद्यानिबन्धनेति। तस्माद्वृद्धोक्तमेवोपवर्णनं साध्विति। तन्मन्दम्। विद्याक्षिप्ताया एव गतेरर्थवत्त्वस्य सूत्रे प्रकारद्वयेन समर्थितत्वात्। तत्र प्रकाराकाङ्क्षायामर्थशब्दस्य पञ्चस्वर्थेषु निवृत्तेरप्युक्तत्वात् तदभिप्रेत्य द्वेधा निवृत्त्यार्थवत्त्वव्याख्याने दोषाभावात्। तद्व्याख्येयवृद्धोक्तौ त्वर्थशब्दस्य प्रयोजनार्थताया निवृत्त्यर्थताया वा उपगमेऽप्युभयथेति पदासामञ्जस्यं दुर्वारमेव, अतो वृथायमाडम्बरः। किञ्च। मतद्वयेपि देहवियोगकाल एव द्विविधकर्मक्षयस्याङ्गीकृतत्वात् ब्रह्मणश्च व्यापकत्वाद्गतिवैयर्थ्यं तु मतद्वयेपि नापैति।

यत्पुनर्भास्कराचार्यैः पर्यङ्कस्थस्य ब्रह्मणः कार्यब्रह्मत्वमुपगतम्। तदपि मन्दम्। हेत्वदर्शनात्। नच साकारत्वमेव हेतुरिति वाच्यम्। तस्य कार्यासाधारणतायाः प्रागेव बहुधास्माभिर्निरस्तत्वेनाभिमानमात्रत्वात्। नच 'यजूदरः सामशिरा' इति श्लोकरूपया तत्स्वरूपसंग्राहकश्रु-

रश्मिः।

निरूपणेन स्मृतविरुद्धधर्मौ निरूपितौ। तत्र श्रीनिकेतत्वेन लक्ष्मीसहस्रलीलाभिः सेव्यमान उक्तः, तस्य शृङ्गाररसरूपत्वाच्छ्यामावदातत्वं भक्त्यर्थं सौत्रदृष्टान्तेन प्रतिपादितम्। आध्यानाय द्वितीयस्कन्धे इदं रूपं द्रष्टव्यम्। अर्थवत्त्वं पुण्यपापहानवत्त्वम्। उभाववयवौ यस्येत्युभयं तस्मात्प्रकारे थाल्। एतदाह विभागेनेति। एकस्येति। क्वचिन्नेत्युक्तस्य। सूत्रव्याख्यानं पूर्वोक्तम्। अनाशङ्कनीयमिति। यदि पुण्यमपि निवर्तते, किमर्था तर्हि गतिरित्यनाशङ्कनीयम्। विद्याक्षिप्तेति। विद्याप्रेरितायाम्। आशङ्केति। पुण्यप्रेरितत्वाशङ्का। यातीतीति। आशङ्केति बोध्यम्। सुकृतेन निबध्यते साध्यसाधनभावसम्बन्धेनेति सुकृतनिबन्धना। 'शाङ्करव्याख्यानापेक्षयेदमेव समीचीन'मित्युक्त्वादधोक्षजत्वं विस्मृत्य 'पुण्यः पुण्येन भवती'ति श्रुत्या पुण्यरूपभगवत्प्राप्तिः पुण्येन भवतीत्याशयेनाहुः विद्याक्षिप्ताया इति। सुकृतनिबन्धनाया व्यवच्छे[illegible] एवकारः। अर्थवत्त्वस्येति। व्याख्यातमिदं पदम्। तत्र प्रकारेति। सुकृतदुष्कृतप्रकारद्वये। प्रकारः निवृत्तसुकृतो निवृत्तदुष्कृत इत्यत्र निवृत्तत्वं निवृत्तिः। पञ्चस्विति। 'अर्थोऽभिधेयरैवस्त्वि'त्युक्तेषु। अर्थवत्त्वेति। अर्थवत्त्वमर्थ एव निवृत्तिरित्यर्थस्तद्व्याख्याने। दुर्वारमिति। एतदुपपादितं पूर्वम्। आडम्बरः समारम्भः। गतीति। व्यापकस्य प्राप्तत्वात्तत्प्राप्त्यर्थकगतिवैयर्थ्यम्। नापैतीति। न आ अप एतीति छेदः। पर्यङ्कस्थस्येति। इयं प्रागुक्ता। पर्यङ्कविद्यायां कार्यब्रह्मप्राप्तिरित्यत्र तद्भाष्यम्। तस्येति। साकारत्वस्य। प्रागेवेति। सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरण एव। न चेति। 'यजूदरः सामशिरा असावृङ्मूर्तिरव्ययः। स च ब्रह्मेति

भाष्यप्रकाशः ।

त्योक्तं वेदरूपत्वमेव हेतुरिति युक्तम् । तदा मनोमयत्वेन भगवद्धर्मरूपतयापि नित्यत्वानपायात् । नच द्वैतापत्तिः । तस्या अपि प्रागेवाभेदस्वरूपविचार एव निरस्तत्वात् । उपासकस्य लिङ्गशरीरवत्त्वं वेदात्मकस्थूलशरीरवत्त्वं च युक्तमिति बोध्यम् ।

रामानुजाचार्यास्तु, संपरायाधिकरणं पञ्चसूत्रमङ्गीकृत्य, तत्र देहपातसमय एव यावत्कर्मक्षयं सूत्रद्वयेन व्याख्याय, गतिसूत्रं पूर्वपक्षत्वेन व्याकुर्वन्ति । गतेर्देवयानगतिश्रुतेः । उभयथा अर्थवत्त्वं सुकृतदुष्कृतयोरेकदेशस्य देहवियोगकाले हानिः शेषस्य पश्चादित्युभयथा कर्मक्षये सत्येवार्थवत्त्वम्, अन्यथा हि विरोधः । देहत्यागसमय एव सर्वकर्मक्षये सूक्ष्मदेहस्यापि नाशात् केवलस्य गमनं तु विरुध्येतेति । एतस्योत्तरमुपपन्नसूत्रे । उपपन्न एवोत्क्रान्तिकाले सर्वकर्मक्षयः । कथम् । तल्लक्षणार्थोपलब्धेः । 'परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते, स तत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन् रममाण' इत्यादिषु क्षीणकर्मण आविर्भूतस्वरूपस्यापि देहसम्बन्धाख्यस्यार्थस्योपलब्धेः । विद्या हि स्वयं सूक्ष्मशरीरस्यानारम्भिकापि सर्वकर्मणां निरवशेषक्षयेपि स्वफलभूतब्रह्मप्राप्तिप्रदानाय देवयानेन पथा गमयितुं सूक्ष्मशरीरं स्थापयति, यथा लोके केनचित् तडागादिके कृते, तस्य पुंसो नाशोत्तरमप्यन्ये तडागादिकमशिथिलं कृत्वा स्थापयन्ति, तद्वदित्येवं व्याकुर्वन्ति । अन्यापेक्षया इदमेवातिसुन्दरम् । अस्मन्मते तु यदेतन्न विचारितं तत् 'छन्दत' इति सूत्रे भगवदिच्छायाः कारणत्वोक्त्या यादृश्येच्छया यो यादृगधिकारी तस्य तस्य तदा तदा कर्मक्षयस्तया तया विद्ययेति न कुत्रापि कल्पना, न वा श्रुतिविरोध इत्यस्य निर्णयस्यार्थादेव सिद्धिरिति बोध्यम् ॥ ३० ॥ इत्यष्टममुपपन्नाधिकरणम् ॥ ८ ॥

रश्मिः ।

विज्ञेय ऋषिब्रह्मोभयोर्महा'निति श्लोकः । तदेति । पर्यङ्कस्थदशायाम् । नित्यत्वेति । वेदनित्यत्वानपायात् । प्रागेवेति । पादारम्भे 'न वा प्रकरणभेदादि'ति सूत्रभाष्यादौ, 'सर्वाभेदादन्यत्रेमे' इति सूत्रभाष्ये च । तर्हि 'यजूदर' इत्यस्य का व्यवस्थेत्यत आहुः उपासकस्येति । श्यामावदातत्वमुक्तं स चाकाशशरीरः आकाशस्य 'भूतानां छिद्रदातृत्वं बहिरन्तरमेव चे'ति लक्षणा 'छिद्रा व्योम्नीव चेतना' इति चेतनच्छिद्रकाः उपासका भवन्ति, तत्रैकस्योपासकस्य । 'स एष जीवो विवरप्रसूति'रिति श्लोकार्थमाहुः लिङ्गशरीरेति । युक्तमिति । अत्रैवं प्रतिभाति । 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूत' इत्यादिश्रुत्याऽत्रिवृत्कृतभूतव'च्छिद्रा व्योम्नीव चेतना' इति श्याचार्योक्तेरात्माकाशरूपजीवाद्वायुः पञ्चधा प्राणात्मा वायोरग्निरौदर्यादिः । अग्नेरापः शरीरे दृश्यमानाः । ताभ्यः पृथिवी अस्थिरूपा । 'यत्कठिनं सा पृथिवी'ति श्रुतेः । तस्या ओषधयः केशाः तेभ्योऽन्नं लिक्षाः । तस्मात्पुरुषो यूका इति । पुरुषोऽन्नरसमय इति । सकलसाधारणं कर्मजन्यं युक्तम् । कारणे तथा दर्शनात् । नित्यलीलास्थानां तु शरीरे भक्तमनोरथेनात्मजन्ये, न तु कर्मजन्ये । श्रुतिरूपाणामिच्छा तु 'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा' इति श्रुत्युक्तेन्द्रियैः शरीरेण चेति तदुभयविषयिणीति नित्यलीलास्थभक्तानां लिङ्गशरीरवत्त्वं वेदात्मकस्थूलशरीरवत्त्वं च युक्तमिति बोध्यमित्यर्थः । सूक्ष्मदेहस्येति । कर्मजन्यस्य । केवलस्येति । जीवस्य । स्वयमिति । कर्मपूर्वप्रज्ञारहिता । 'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा चे'ति बृहदारण्यकात् । तडागादिकमिति । केनचित्कृतमेव । श्रुतिविरोध इति । श्रुतीनां पुण्यपापसन्निधौ देवयानपथि श्रुतिः । 'पुण्यः पुण्येन भवती'ति श्रुतिः । 'यजूदर' इति श्रुतिः । 'परं ज्योतिरुपसम्पद्ये'ति श्रुतिः । एतासां विरोधः । सिद्धिरिति । असन्दिग्धत्वे पर्यवसानमिति भावः ॥ ३० ॥ इत्यष्टममुपपन्नाधिकरणम् ॥ ८ ॥

अनियमः सर्वासमाविरोधः शब्दानुमानाभ्याम् ॥ ३१ ॥ (३-३-९)

अथर्वणोपनिषत्सु पठ्यते 'परब्रह्मैतत् यो धारयति रसति भजति ध्यायते प्रेमति शृणोति श्रावयत्युपदिशत्याचरति सोऽमृतो भवति सोऽमृतो भवती'ति । तत्र धारणादीनां समुदितानामेवामृतसाधकत्वम्, उत प्रत्येकमपीति भवति संशयः । अत्र धारणादिसाधनकलापमुक्त्वा फलमुच्यत इति समुदितानामेव मुक्तिसाधकत्वम् । उपलक्षणं चैतत् । श्रवणादिनवविधभक्तीनामप्येवमेव तथात्वमिति पूर्वपक्षे, सिद्धान्तमाह अनियम इति । समुदितानामेव तेषां फलसाधकत्वमिति नियमो नास्तीत्यर्थः । अत्रोपपत्तिमाह सर्वासामविरोध इति । 'चिन्तयँश्चेतसा कृष्णं मुक्तो भवति संसृते'रिति श्रुत्या चिन्तनमात्रस्य तथात्व-

भाष्यप्रकाशः ।

अनियमः सर्वासामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम् ॥ ३१ ॥ एवं पुष्टिभक्तेः फलरूपत्वं तादृशभक्तस्य स्वरूपं च निरूप्य ततो न्यूनाया अपि मर्यादाभक्तेर्ज्ञानमार्गादुत्कर्षविषयोत्कर्षात् बोधयितुं मर्यादाभक्तिसाध्यायां मुक्तौ सर्वा भक्तयः सन्निपतन्ति, किं वा प्रत्येकमेवेतरनिरपेक्षाः मुक्तिं साधयन्तीति विचारयितुमधिकरणमारभत इत्याशयेन विषयादिकमाहुः अथर्वणेत्यादि । अत्र सर्वाङ्गे मनोधारणं करोतीति धारयतिपदार्थः । रसति कीर्तयति जपतीत्यर्थः । भजति शारीरादिना सेवते । ध्यायते एकाङ्गं लीलां वा चिन्तयति । प्रेमति युधिष्ठिरादिवत् स्निह्यति । शृणोति श्रावयतीति प्रकटार्थम् । उपदिशति मन्त्रद्वारा बोधयति । आचरति भगवद्धर्मानिति शेषः । एवमत्र नवोक्ताः । अयं च शाखान्तरीयः पाठः । प्रसिद्धपाठे तु 'ध्यायति रसति भजती'ति त्रयमेवोच्यते, तदाप्युपलक्षणविधया अन्या अन्यत्रोक्ता अपि समायान्ति । संशयपूर्वपक्षौ स्पष्टौ । सिद्धान्तं वक्तुं सूत्रं व्याकुर्वन्ति समुदितानामित्यादि । अत्रेति । अनियमे ।

रश्मिः ।

अनियमः सर्वासामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम् ॥ ३१ ॥ फलभक्तौ मुक्तिर्नैरपेक्ष्यमुक्तम्, तदग्रे मुक्तिविचारं विरुणद्धीत्यालोच्याहुः एवं पुष्टीति । गतिसूत्रे उक्तायाः उपपन्नसूत्रे फलरूपत्वम् । स्वरूपं दासदासीसुहृद्रूपम् । मर्यादेति । गतिसूत्रोक्ता या मर्यादाभक्तिस्तत्साध्यायाम् । इतरेति । स्वेतरभक्तिनिरपेक्षाः एकैकेत्यर्थः । धारयतीति । धारणां करोतीत्यर्थः । कीर्तयतीति । 'रस शब्द' इति धातुपाठात् । मानसं कीर्तनमित्याहुः जपतीति । 'जप मानसे' । सेवत इति । 'भज सेवायाम्' । एकाङ्गमिति । ध्यायतीत्यस्य ध्यानं करोतीत्यर्थाद्ध्यानस्वरूपमुक्तम्, 'वैकुण्ठलीलाभिध्यान'मिति तृतीयस्कन्धादाहुः लीलां चेति । 'ध्यै चिन्तायाम्'मिति धातुपाठादाहुः चिन्तयतीति । भगवदिति । मध्यमाधिकारे भगवद्धर्माचरणम् । अन्या इति । भक्तयः । अन्यत्रेति । श्रुत्यन्तरेषु । संशयेति । पूर्वपक्षस्तु अत्रेत्यादि । तथात्वं फलसाधकत्वम् । एवमेवेति । धारणादिकलापवदेव समुदितानां तथात्वं फलसाधकत्वम् । एवाहेति । केवलेति भावविशेषणादेवकारः । तथाच पुष्टि-

1 तथात्वम् । 2 तत्र ।
४० अ० सू० १०

मुच्यते । 'पञ्चपदीं जप'न्नित्याद्युक्त्वा 'ब्रह्म सम्पद्यते ब्रह्म सम्पद्यत' इति श्रुत्या कीर्तनमात्रस्य तथात्वमुच्यते । तथाच प्रत्येकपक्ष एव सर्वासां श्रुतीनामविरोधः स्यात् । एवं सति 'परब्रह्मैतत् यो धारयती'त्यादिषु 'सोऽमृतो भवती'ति पदं प्रत्येकं सम्बध्यत इति ज्ञेयम् ।

ननु यथा दण्डादीनां प्रत्येकं घटहेतुत्वोक्तावपि नैकस्यैव तज्जनकत्वम्, एवमत्राप्येकैकस्य चिन्तनादेस्तथात्वोक्तावपि फलसाधकत्वं समुदितानामेव तेषामिति चेत् । मैवम् । योऽर्थो यत्प्रमाणैकसमधिगम्यः, स तेन प्रमाणेन यथा सिध्यति, तथा मन्तव्यः । दण्डादेस्तथात्वं प्रत्यक्षेण गृह्यत इति तत्र तथास्तु, प्रकृते तु तेषां तथात्वमलौकिकशब्दैकसमधिगम्यम् । श्रुतिस्तूक्तैव । नचोक्तन्यायः श्रुतिष्वपि तात्पर्यनिर्णायको भवतीति वाच्यम् । अलौकिकेऽर्थे लौकिकस्यासामर्थ्यात् । अन्यथा ब्रह्मणा मनसैव प्रजाजनने निषेकादिकमपि कल्प्येत । स्मृतिरपि 'केवलेन हि भावेन गोप्यो गावः खगा मृगाः । येऽन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसा ।' 'एतावान् सांख्ययोगाभ्या'मित्युपक्रम्य, 'अन्ते नारायणस्मृति'रित्यादिरूपैवमेवाह । इममेवार्थं हृदि कृत्वाह सूत्रकारः **शब्दानुमानाभ्यामिति** । श्रुतिस्मृतिभ्यामित्यर्थः । ते चोक्ते ।

एतेन सूत्रकारस्यान्योऽप्यनुशयोऽस्तीति भाति । यत्रोक्तसाधनस्तोमसम्पत्तिरेकस्मिन् भक्तेऽस्ति, तत्रैकेनैव मुक्तावितरसाधनत्वबोधकश्रुतिविरोधाच्छ्रवणकीर्तनस्मरणानां मुक्त्यव्यवहितपूर्वक्षणे युगपदपि सम्भवादन्यथासिद्धिसम्भवे विनिगमकाभावादेकेनैव मुक्तिरिति न नियमः । अतः प्रत्येकसाधकत्वबोधिकानां

भाष्यप्रकाशः ।

किञ्चिदाशङ्क्य परिहरन्ति नन्वित्यादि । एवमेवाहेत्यन्तम् । एवमेवाहेति । प्रत्येकपक्षमेवाह । एवं प्रत्येकपक्षं निर्णीय यत्रासां समुदायस्तत्र कस्य कारणतेत्याकाङ्क्षायां तामप्येतेन पूरयतीत्याहुः एतेनेत्यादि । एतेनेति । अनियम इत्यादिकथनेन । तमेवानुशयं व्युत्पादयन्ति यत्रोक्तेत्यादि । युगपदपि सम्भवादित्ययं अन्यथासिद्धिसम्भवे हेतुः । विनिगमकाभावादिति । त्रयाणां मध्ये कस्यान्यथासिद्धिरित्यत्र विनिगमकाभावात् । अत इति । अनियमात् । ननु प्रत्येकपक्षे भक्तिकारणत्वश्रुतीनां मिथोविरोधाद्भक्तीनां न प्रत्येकं कारणत्वम्, तथा समुदितानामपि कारणत्वं मास्तु, ज्ञान एव तदुपक्षयस्य वक्तुं शक्यत्वात्, श्रुतीनां चोपचारेण नेतुं शक्यत्वादित्येवं तर्ह्येकेत्यादिना आशङ्क्य, तत्र भक्तीनां मुख्यकारणत्वे

रश्मिः ।

भावेन मर्यादाभावकैवल्यवदत्रापि प्रत्येकं कैवल्यमित्यर्थः । तामिति । आकाङ्क्षाम् । **अनियम इत्यादीति** । आदिना पदद्वयम् । **अन्यथासिद्धीति** । श्रवणजन्यमुक्तिं प्रति कारणतां ज्ञात्वैव समुदितजन्यमुक्तिं प्रति कार(ण)ताज्ञानादन्यथासिद्धिः । **त्रयाणामिति** । एकमुक्तिकारणानाम् । **मिथ इति** । तृणारणिमणिन्यायोऽत्र न, किन्तु 'विरोधे विकल्प' इति मनुस्मृतिरपि न, किन्तु मुमुक्षुभिः तदर्थं का भक्तिरिति विरोधो भक्तिसहानवस्थानलक्षणस्तस्मात् । **न प्रतीति** । सुन्दोपसुन्दन्यायेनाभावात् । **ज्ञान एवेति** । 'भक्त्या विमुच्यते'त्यत्र भक्त्येति करणतृतीयानिर्वाहाय तथा । 'भक्त्या जानाति चाव्यय'मिति श्रुतेरेवकारः । हेतुतृतीयाज्ञानं फलात्मकमिति श्रुतिविरोधमाशङ्क्याहुः **श्रुतीनामिति** । उप-

सर्वासां श्रुतीनां मिथोऽविरोधः । तर्ह्येकत्र तथात्वे सर्वत्रैव तथास्त्वित्याशङ्क्य तत्र बाधकमाह **शब्दानुमानाभ्यामिति** । पूर्ववत् । तत्र प्रत्येकमपि मुक्तिहेतुत्वमुच्यत इति न तथेत्यर्थः । यत्र प्रत्येकमपि तथात्वम्, तत्र किमु वक्तव्यं समुदितानां तथात्व इति भावः । तेन श्लिष्टः प्रयोगोऽयमिति ज्ञेयम् ॥ ३१ ॥

इति तृतीयाध्याये तृतीयपादे नवममनियमाधिकरणम् ॥ ९ ॥

यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् ॥ ३२ ॥ (३-३-१०)

पूर्वं मुमुक्षुभिर्मुक्तिसाधनत्वेन क्रियमाणानां भगवद्धर्माणां मुक्तिसाधनप्रकारो विचारितः, अधुना तु भगवान् स्वविचारितकार्यं लौकिकैश्वर्याद्यशक्यं ज्ञात्वा, स्वैश्वर्यादिकं दत्वा, येन जीवेन तत् कारयति, स जीवस्तैर्धर्मैर्मुक्तो भवति, न वेति विचार्यते ।

भाष्यप्रकाशः ।

बाधकमाहेत्यर्थः । तत्रेति । श्रुतौ स्मृतौ च । तथात्र श्रुतेरुपचारसहिष्णुत्वेपि स्मृतौ 'केवलेन हि भावेने'ति केवलपदान्नोपचारसहिष्णुत्वम्, अतस्तदुपबृंहितश्रुतावपि यथाश्रुतमेवादरणीयमित्यर्थः । ननु तर्हि पूर्वं विकल्पितस्य दोषस्य कथं परिहार इत्यत आहुः यत्र प्रत्येकमित्यादि । तथाच तादृशस्थले सर्वासां भक्तीनां सन्निपातात् फलशैघ्र्यं बोध्यमित्यर्थः । श्लिष्ट इति । 'अनियम' इत्यनेन एकमेव कर्तव्यम्, न द्वयं त्रयमित्यस्याप्यनियमस्य संग्रहान्नानार्थसंश्रय इत्यर्थः । अत्र भगवदभिज्ञानद्वारा मुक्तिजनिकानां भक्तीनां विचारेण ताभिर्ज्ञेयस्य भगवतो निर्मलत्वबोधकं **विरजमिति** विशेषणं प्रतिपादितं बोध्यम् ।

अन्ये तु अर्चिरादिगतिः सर्वासु विद्यासु, उत यत्र श्रूयते तत्रेति संशये, सर्वत्रेति सिद्धान्तयन्ति । अस्मिन् सिद्धान्ते तु यत्रातिकृपा, तत्र सद्योमुक्तिः । इतरत्र त्वर्चिरादिगतिरिति विशेषो गतिसूत्रादेव सिध्यतीति बोध्यम् ॥ ३१ ॥ **इति नवममनियमाधिकरणम् ॥ ९ ॥**

यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् ॥ ३२ ॥ पूर्वाधिकरणसङ्गतिं वदन्तोऽधिकरणप्रयोजनमाहुः पूर्वमित्यादि । मुक्तो भवति, न वेति । सायुज्यं प्राप्नोति, न वा । तथाच यदि तैः प्राप्नोति, तदा भक्तित्वम्, न मुक्तिजनकतावच्छेदकम् । तेषु भक्तित्वाभावात् ।

रश्मिः ।

चारेणेति । हेतुतृतीयायाः करणे उपचारः फलात्मकज्ञानस्य साधनज्ञान उपचारः तेन । **पूर्वमिति** । भाष्येऽन्यानुशयपक्षे विकल्पितस्य समुदिताभिर्मुक्तिः श्रुतीनां मिथो विरोध इत्येकैकस्या मुक्तिर्वेति विकल्पितप्रायस्य दोषस्य साधनाज्ञानस्य संशयग्रन्थोक्तस्य वा साधनाज्ञानस्य । **यत्र प्रत्येकमित्यादीति** । **तथात्वमिति** । तृणारणिमणिन्यायेन मुक्तिसाधकत्वम् । **भाव इति** । कैमुतिकन्याये भावः । **एकमेवेति** । भजनम् । **संग्रहात्** सूचनात् । अनियमादिपदद्वये नानार्थसंश्रय इत्यर्थः । 'भक्त्या माममी'तिवाक्यादाहुः **अत्रेति** । **विरजमिति** । 'प्रवर्तते यत्र रजस्तम' इति द्वितीयस्कन्धनवमाध्यायवाक्यान्निर्मलपदसामानाधिकरण्यम् । **विशेषणमिति** । एकमित्यस्य विशेषणम् । 'अद्राक्षमेकमासीन'मिति तृतीयस्कन्धवाक्ये । **अस्मिन्निति** । प्रत्यक्षेऽस्मत्सिद्धान्ते । **गतिसूत्रादिति** । भक्तिमार्गस्य भगवद्वशीकारकत्वाद्भक्तेच्छया यत्रातिकृपारूपलीला, तत्र सद्योमुक्तिरित्यादि सिध्यतीत्यर्थः ॥ ३१ ॥ **इति नवममनियमाधिकरणम् ॥ ९ ॥**

यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् ॥ ३२ ॥ न मुक्तीति । किंतु भगवद्धर्मत्वं

१ (ननु प्रत्येकपक्ष इत्यादिनोक्तस्योभयोः कारणत्वाभावस्य) इतः पूर्वमेव चिह्नान्तर्गतम् ।

तत्र जीवकृतभगवद्विषयकधर्माणां यत्र तत्साधकत्वम्, तत्र भगवदीयानां धर्माणां तत्साधकत्वं सुतरामेव । तेषां स्वकृत्यसाध्यत्वेनाविधेयत्वात्तत्साधनेष्व-प्रवेशोपीति सन्देहे निर्णयमाह यावदित्यादि ।

यस्मिन् जीवे यत्कार्यसाधनार्थमधिकारो भगवता दत्तः, तत्कार्यसाधनक्षमास्तस्मिन् ये स्वधर्मा भगवता स्थापिताः, त आधिकारिका इत्युच्यन्ते । तत्कार्यसम्पत्तिरेव तदधिकारप्रयोजनमिति तावदेव तेषां तस्मिन् स्थितिरित्यर्थः । एवं सति तत्सम्पत्तौ सोऽपि निवर्तेत इति तत्सम्बन्धिनो धर्मा अपि निवर्तन्त इति मुक्तिपर्यन्तं न तेषां व्यापारसम्भवः । भगवता तथैव विचारितत्वात् ।

भाष्यप्रकाशः ।

यदि न प्राप्नोति, तदा भगवद्धर्मत्वमपि न तथा । अत्राद्ये पूर्वोक्तश्रुतिस्मृतिविरोधः, द्वितीये भगवद्धर्माणां मुक्तिप्रतिबन्धकत्वप्रसङ्ग इत्यतो विचार्यत इत्यर्थः । एवञ्च ते भगवद्धर्मा विषयः । मुक्तिहेतवो न वेति संशयः । ते च 'यदादित्यगतं तेज' इत्यादिवाक्योक्ताः प्रतर्दनसंवाद इन्द्रेण स्वस्मिन्नुक्तास्तादृशा अन्यत्रापि ज्ञेयाः ।

पूर्वपक्षमाहुः तत्रेत्यादि । अत्र द्वौ पूर्वपक्षौ । तत्र भगवान् यदा स्वकार्यकर्तृत्वेन अङ्गीकरोति, तदा तान् धर्मान् ददातीति वरणहेतुकत्वात्तैरपि मुक्तिरित्येकः सुतरामित्यन्तेनोक्तः । तादर्थ्येन विहितत्वाभावान्नेत्यपरः अप्रवेशोपीत्यन्तेनोक्तः । एवं सत्युभयत्रापि युक्तिसद्भावात् सन्देह एव पर्यवस्यतीत्यतः सन्देहे निर्णयमाहेत्युक्तम् ।

सिद्धान्तं वक्तुं सूत्रं व्याकुर्वन्ति यस्मिन्नित्यादि । भवत्वेवम्, तथाप्युक्तसन्देहस्य कथं निवृत्तिरित्यतस्तदर्थं सूत्रतात्पर्यं स्फुटीकुर्वन्ति एवं सतीत्यादि । कार्यसम्पादनाय भगवता दत्तानां धर्माणां यावत्कार्यमवस्थाने सति कार्यसम्पत्तावधिकारोपि निवर्तेत इति तन्निवृत्तौ ते धर्मा अपि निवर्तन्ते । 'लोकवत्तु लीले'ति न्यायात् । अतो निवृत्तत्वादेव न मुक्तिपर्यन्तं तेषां व्यापारसम्भवः । नच तन्निवृत्तौ न्यायमात्रमेव मानम्, अपि तु 'स्थानं पुरन्दराद्धृत्वा बलये दास्यतीश्वर' इत्यादीनि वाक्यान्यपि । अतो भगवता तेषां कार्यार्थताया एव विचारितत्वाद्वरणहेतुकत्वेपि नैतेषां मुक्तिहेतुत्वम् । अतो भक्त्यभावे तेषां प्रकृतौ लयः । यदि तेऽधिकारिणो भक्ताः, तदाधि-

रश्मिः ।

मुक्तिजनकतावच्छेदकम् । न तथेति । मुक्तिजनकतावच्छेदकम् । आद्य इति । प्राप्तिपक्षे । द्वितीय इति । अप्राप्तिपक्षे । स्वस्मिन्निति । 'मामुपास्स्वे'ति । अन्यत्रापीति । भगवान् शेषः भगवान् व्यासः भगवानग्निः भगवान्मारुत इत्यत्रापि । अङ्गीकरोतीति । 'यमेवैष वृणुत' इति श्रुतेः । ददातीति । 'तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वा'मित्यत्र श्रुतावात्मनोप्यात्मा स्वां तनुं विवृणुते वृतभक्तात्मानं स्वां तनुं स्वतनुत्वेन प्रकाशयति । विशेषेणाङ्गीकुरुत इति वार्थः । 'आचार्यचैत्त्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ती'ति वाक्यात् । विहितत्वेति । भगवद्धर्माणां तथा । लोकवदिति । यथा लोके पाठको भक्तिवशाद्भगवद्गुणवान् तदा न स पाठकः, पाठकत्वस्य गतत्वात्, किंतु भक्त इत्युच्यते । भगवद्भावाच्च्युतौ तु पाठक इत्युच्यते तद्वत् । भगवतेति भाष्यं विवरीतुमाहुः नच तदिति । विवृण्वन्ति स्म भगवतेति । तेषामिति । भगवद्धर्माणां कार्यं भगवति व्यासे वेदशाखाविभागः, आचार्येषु मार्गप्रकटनम् । तदर्थतायाः । तावत्कार्यदर्शनादेवकारः । वरणहेतुकत्वं भगवद्धर्मेषु । प्रकाशाश्रयन्यायेन धर्माणां प्रमेयबलमाशङ्क्याहुः नैतेषामिति । प्रमाणाभावादिति भावः । प्रकृताविति ।

मुक्तिस्तु भक्त्यैवेति भावः । यच्च 'ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे । परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पद'मिति वाक्यम्, तत्त्वाकल्पान्तं येषामधिकारः सप्तर्षिप्रभृतीनां तद्विषयकमिति ज्ञेयम् । अन्यथा भगवद्दत्ताधिकारसामर्थ्यस्य भरतस्य स्वाधिकारसमाप्तौ मुक्तिं न वदेत् । 'कृतात्मानः' इति

भाष्यप्रकाशः ।

कारसमाप्त्यनन्तरं भक्तिः फलोन्मुखीभवतीति न भक्तित्वस्य मुक्तिजनकतावच्छेदकत्वहानिरिति मुक्तिस्तु भक्त्यैवेति भाव इत्यर्थः । ननु यद्याधिकारिकाणां न मुक्तिपर्यन्तो व्यापारः, तर्हि 'ब्रह्मणा सह ते सर्वे' इति वाक्ये अधिकारान्ते मुक्तिकथनं विरुद्धं स्यादित्यत आहुः यच्चेत्यादि । तथाच तद्भक्तेस्तदानीमेव फलौन्मुख्यस्य भगवता विचारितत्वात्तदापि तयैव तन्मुक्तिः, न त्वाधिकारिकैर्गुणैरित्यदोषः । अत्र गमकमाहुः अन्यथेत्यादि । तथाच यद्याधिकारिकैरेव गुणैर्मुक्तिः स्यात्, तदा 'स भुक्तभोगां त्यक्त्वेमां निर्गतस्तपसा हरिम् । उपासीनस्तत्पदवीं लेभे वै जन्मभिस्त्रिभि'रिति तादृशोपासनया तथा मुक्तिं न वदेत् । अत एतदनुरोधेन पूर्वोक्तवाक्येपि साधनान्तरेणैव मुक्तिर्बोध्येत्यर्थः । तत्रापि गमकमाहुः कृतेत्यादि । तथाचात्रापि तथेत्यर्थः । एतेन प्रशान्तारुणलोचनत्वं विचारितम् । प्रशान्तं ज्ञानम्, अरुणं क्रिया, रजोरूपत्वात् । तदुभयविचारात्मकं लोचनम् । तेषु तेष्वधिकारिषु ज्ञानक्रिययोः कार्य[illegible]दानादिति बोध्यम् ।

अन्ये त्वत्र अपान्तरतमवशिष्ठप्रभृतीनां पूर्णज्ञानवतां दृष्टपरतत्त्वानामपि व्यासमैत्रावरुणादिरूपजन्मान्तरदर्शनाद्विद्याया न मुक्तिहेतुत्वमित्याशङ्क्य, तन्निरासायाधिकारस्य प्रतिबन्धकत्वात्तत्समाप्तौ पूर्वया विद्ययैव मुक्तिमाहुः ।

रश्मिः ।

नात्र भगवद्धर्मेषु तेषां लय उक्तः । प्रकृतेः स्वरूपात्मिकायाः प्रणवत्वेन नवीनभावजनकत्वात्तत्र लयेपि भगवद्धर्मत्वाभावप्रसङ्गाभावात् । 'शब्दार्थरसरूपधृ'गिति द्वादशस्कन्धात् । ॐकारस्य शब्दत्वात् । यच्चेत्यादीति । सप्तर्षीति । प्रभृतिशब्देन चतुर्दशमन्वन्तराणि दिवाभिमानिदेवता(नि) च ग्राह्याणि । तदानीमिति । अधिकारसमाप्तिकाल एव । पूर्वोक्तेति । 'ब्रह्मणा सह ते सर्वे' इति वाक्ये 'स भुक्तभोगा'मित्यस्मिन्वाक्ये वा साधनान्तरेण भक्त्या । उपासनेन वा । तथेति । साधनान्तरेणैव व्यापिवैकुण्ठे प्रवेश उच्यते, न त्वाधिकारिकगुणैरित्यर्थः । प्रशान्तेति । सूत्रेऽधिकारशब्दात्साधनाध्याये साधनानां पादे भगवद्धर्माणां विचारादधिकार उत्तमोत्तमः साधनं भक्त्यादिरध्यायार्थः भगवद्धर्मा आनन्दमयादेः तत्र 'आनन्दादयः प्रधानस्यो'क्ताः अन्येऽधिकारशब्दात्तृतीयस्कन्धीयाधिकारप्रकरणस्मरणात् 'आध्यानाये'ति सूत्रस्मारितध्यानादिविषयाणां तृतीयस्कन्धादाहुः प्रशान्तेति । तेन पूर्वत्रोत्तरत्र च तृतीयवाक्योक्तधर्माणामान्यत्रिकाणां भगवत्परत्वविचार इति पादार्थस्य नाव्याप्तिः । तृतीयवाक्यानि तु 'अद्राक्षमेकमासीनं विचिन्वन् दयितं पतिम् । श्रीनिकेतं सरस्वत्यां कृतकेतमकेतनम् । श्यामावदातं विरजं प्रशान्तारुणलोचनम्' इति षड्विशेषणानि विचारितानि । षष्ठी कला च । अन्यास्तत्रतत्र वक्ष्यन्ते । तेषु तेष्विति । भगवद्व्यासाचार्यादिषु ज्ञानकार्यार्थं प्रदानं ज्ञानस्य । एवं क्रियावतारेषु क्रियाकार्यं प्रथमसुबोधिन्यां स्पष्टम् । अपान्तरतमेति वेदाचार्यनाम । स व्यासो जातः । मैत्रावरुणौ वशिष्ठपितरौ । आदिना मनस्तो नारदः । व्यासमैत्रावरुणादिभी रूप्यते व्यवह्रियते तादृशं

पदात्तेषामपि भगवति कृतान्तःकरणानामेव परस्य भगवतः परपदे व्यापिवैकुण्ठे प्रवेश उच्यते, न त्वाधिकारिकगुणैः ॥ ३२ ॥

इति तृतीयाध्याये तृतीयपादे दशममाधिकारिकाधिकरणम् ॥ १० ॥

अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तम् ॥३३॥ (३-३-११)

ननूक्ताथर्वणोपनिषद्वाक्यैर्भगवद्धर्माणां मुक्तिसाधनत्वमुच्यते, श्रुत्यन्तरेषु 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' 'तरति शोकमात्मवित्' 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवती'त्यादिषु ज्ञानस्यैव मुक्तिसाधनत्वमुच्यते, श्रुतित्वाविशेषादुभयोस्तथात्वे कारणवैजात्ये कार्यवैजात्यस्यावश्यक-

भाष्यप्रकाशः ।

सिद्धान्ते तु तादृशाधिकारस्य भगवद्दत्तत्वात्तादृशाज्ञापरिपालनस्याप्रमत्तत्वेन प्रकरणे तुष्टाद्भगवत एव कृतात्मत्वम्, ततो मुक्तिः, न तु तथा विद्ययेति विशेषः । उचितं चैतत् । 'मोक्षमिच्छेज्जनार्दना'दिति वाक्याद्भगवतो मोक्षदातृत्वादिति । नच विद्ययेति युक्तम् । तस्याः सात्त्विकीत्वेन स्वप्नप्रबोधन्यायाद्विद्योपमर्दस्यापि सम्भवादिति । एवमेव ज्ञानपक्षेपि ज्ञेयम् । तेनात्र

भक्ताधिकारिणां मुक्तिरन्यथा प्रकृतौ लयः ।

पुनः सृष्टौ तथैश्वर्यं कर्मिणां पुनरागतिः ॥ १ ॥ इति सर्वोपि विषयः सूचितो ज्ञेयः ॥ ३२ ॥ इति दशममाधिकारिकाधिकरणम् ॥ १० ॥

अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तम् ॥ ३३ ॥ पूर्वाधिकरणे प्रासङ्गिकविचारेणापि भक्तेरेव मुक्तिकारणत्वे दृढीकृते तदर्थं भगवद्भक्तिरेवावश्यं कार्येति सिध्यति । तथा सति श्रुत्यन्तरे अक्षरज्ञानस्यापि मुक्तिकारणत्वश्रावणात् तस्य का गतिरित्याकाङ्क्षायां तत्प्रकारं विचारयितुमधिकरणमारभत इत्याशयेन विषयसंशयौ पूर्वपक्षकुक्षावेव निक्षिप्य सूत्रमवतारयन्ति नन्वित्यादि । भगवद्धर्माणामिति । भगवद्विषयाणां श्रवणादीनाम् । अत्र उच्यते इत्यन्तेन विषयसंशयतद्बीजान्युक्तानि । श्रुतित्वेत्यादिना पूर्वः पक्ष उच्यते । तथाचैवं वैजात्यस्यावश्यकत्वात्, 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्ति'रिति श्वेताश्वतरश्रुत्या मुक्तेः

रश्मिः ।

जन्मान्तरं तस्य दर्शनात् । **कृतात्मत्वमिति** । 'ब्रह्मणा सह' इति वाक्योक्तमनूदितम् । **स्वप्नप्रबोधेति** । एतयोरुपमर्द्योपमर्दकभावः । **उपमर्दस्येति** । विद्यया सः । **ज्ञानपक्ष इति** । अज्ञानेन ज्ञानोपमर्दस्य सम्भवात् । **अन्यथा** भक्त्यभावे । **प्रकृतौ** स्वरूपे । ज्ञानित्वात् । अन्येषां तु प्रकृतौ । ज्ञानिनां **सृष्टौ** ज्ञानित्वेनैश्वर्यम् । **सर्व इति** । भक्तज्ञानिकर्मिविषयः । यावदवस्थितिराधिकारिकाणां वाच्योर्थः । सूत्राणां विश्वतोमुखत्वात्सर्वो विषयः सूचितः ॥ ३२ ॥ **इति दशममाधिकारिकाधिकरणम् ॥ १० ॥**

अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तम् ॥ ३३ ॥

भक्तेरेवेति । पादार्थत्वाद्भगवद्धर्मत्वेन भक्त्युपादानमित्याशयेन भगवद्धर्माणामित्यस्यार्थोयम् । भगवान्भक्तिभक्तिमानि'तिवाक्याद्भगवद्धर्मो भक्तिः । 'तस्य प्रियमेव शिर' इति श्रुतेश्च । **उच्यत इतीति** । द्वितीयोच्यत इत्यन्तेन । पूर्वपक्षे विषयसंशयनिक्षेपपूर्वकं विषयसंशयतद्बीजानि वदन्त एव तावद्भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **तथाचेति** । **वैजात्यस्येति** । आथर्वणोपनिषद्वाक्येषु श्रुत्यन्तरेतु मिलितेषु विषयेषु भक्ति-

त्वान्मुक्तौ च तदसम्भवात् 'भक्त्या मामभिजानाती'ति वाक्याद्भक्तौ ज्ञानस्यापि सम्भवाज्ज्ञानेनैव मुक्तिरिति पूर्वपक्षे, ज्ञानसाधनत्वनिरूपकश्रुतितात्पर्यं निरूपयन् पुरुषोत्तमप्राप्तेरेव मुक्तिपदवाच्यत्वात्तद्भजनस्यैव तत्प्रापकत्वमिति हृदि कृत्वाह अक्षरधियामित्यादि । तुशब्दः पूर्वपक्षनिरासे । वाजसनेयके श्रूयते

भाष्यप्रकाशः ।

सर्वमायानिवृत्त्यात्मकत्वेन तस्यां वैजात्यासम्भवात्, ज्ञानकारणत्वबोधकश्रुतेः सावधारणत्वेन भक्तिकारणत्वबोधिकायां च तदभावेन 'भक्त्या मामभी'ति गीतावाक्याद्भक्तौ ज्ञानस्य सम्भवात् 'गतेरर्थवत्त्व'मित्यतीताधिकरणे मर्यादामार्गे ज्ञानस्य मुक्तिसाधनताप्रतिपादनाच्च भक्तेः परम्परया कारणतामादाय भक्तिकारणतावाक्यानां समर्थनीयतया ज्ञानेनैव मुक्तिरिति पूर्वपक्षे, ज्ञानसाधनत्वनिरूपकश्रुतितात्पर्यं निरूपयन् उक्तं हृदि कृत्वा अक्षरज्ञानस्य तां प्रति स्वरूपयोग्यतासम्पादकत्वेन कारणत्वमाहेत्यर्थः । सूत्रं व्याकुर्वन्ति तुशब्दः पूर्वेत्यादि । **पूर्वपक्षनिरास इति** । पूर्वोक्तरीत्या सावधारणवाक्यसिद्धत्वाज्ज्ञानेनैव मुक्तिरिति पूर्वपक्षनिरासे । तं ज्ञानकारणत्वनिरूपकश्रुतितात्पर्यनिरूपणमुखेनोपपादयन्ति वाजेत्यादि ।

अयमर्थः । अस्थूलादिवाक्यस्योपसंहारे 'य एतद्विदित्वा प्रैति स ब्राह्मण' इत्यक्षरवेत्तुर्ब्रह्मत्वमुक्तम् । 'अथ परे'ति वाक्ये च परविद्याया अक्षरज्ञानजनकत्वमेवोक्तम् । तेन ज्ञानरूपे मार्गे इष्टप्राप्त्युपाये अस्थूलत्वादृश्यत्वादिगुणकं यदक्षरं तद्विषयकाण्येव ज्ञानानीष्टप्रापकतया निरूप्यन्ते, न तु पुरुषोत्तमविषयकाणीति ज्ञानविषयविशेषणबलान्निश्चीयते । तत्फलविचारे च 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मिति श्रुतावक्षरब्रह्मविदोऽक्षरात् परस्य प्राप्तिः फलत्वेनोच्यते । नचाक्षरमेव पुरुषोत्तम इति वाच्यम् । परपदप्रयोगवैयर्थ्यापत्तेः । 'दिव्यो ह्यमूर्त' इति मन्त्रे 'अक्षरात् परतः पर' इत्येतस्यापि विरोधापत्तेः । नच तत्राक्षरपदेन प्रकृतिर्वा, जीवात्मा वा ग्राह्य इति युक्तम् । प्रकृतविरोधात् । जगत्कारणभूतस्य चेतनस्यैव तत्राक्षरत्वेन प्रकृतत्वात् । अतस्तत्र 'अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः

रश्मिः ।

ज्ञानरूपसाधनवैजात्यस्य । ज्ञानं भक्तिर्वा साधनमिति संशयः । भक्तिज्ञानप्रतिपादकश्रुतिद्वयं संशयबीजम् । **वैजात्येति** । पूर्वपक्षत्वाद्वैजात्यासंभव उक्तः । अयं समर्थनीयतयेत्यस्य । **भक्तौ ज्ञानस्येति** । इदमपि पूर्वपक्षत्वात् । ज्ञानं तु फलात्मकम् । **परम्परयेति** । फलात्मकज्ञानद्वारा । **तामिति** । भक्तिं प्रति । **ज्ञानेनैवेति** । एवकारो भक्तिव्यवच्छेदकः । **तमिति** । पूर्वपक्षम् । **ज्ञानविषयेति** । विशेषणमस्थूलत्वादृश्यत्वादिगुणकत्वम् । **ब्रह्मविदिति**भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **तत्फलेति** । भाष्यमुपबृंहणपरमिति मत्वोपबृंहयितुमाहुः **नचेत्यादि** । सगुणगुणानां विशेषदर्शनोत्तरमभावात्तर्कः । **वाच्यमित्यस्य** तर्कितव्यमित्यर्थात् । **परपदेति** । परिणामाद्वैतत्वाद्विशेषदर्शनोत्तरमपि परत्वान्निरूपपुरुषोत्तमगुणानां विशेषदर्शनोत्तरं भावात् । एवं परपदेत्यादिः । पुरुषोत्तमपदाभावादत्राहुः **दिव्य इति** । 'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुष' इत्यत्र नामैकदेशग्रहणादस्ति पुरुषोत्तमपदमिति । 'विष्णुर्नाम महायोगी महामायो महातपाः । तत्त्वमार्गे यथा दीपो दृश्यते पुरुषोत्तम' इति । यस्तु 'अर्धमात्रा तु निश्चले'त्युक्त्वा 'शुद्धस्फटिकसंकाशं किंचित्सूर्यमरीचिवत् । लभते योगयुक्तात्मा पुरुषोत्तमतत्पर' इति योगतत्त्वोपनिषदि । 'अर्धमात्रात्मकः कृष्णः' तस्य लाभसाधकत्वेनोक्तः पुरुषोत्तमः सोऽभेदाच्छब्दभेदेन साध्यसाधनभावः । **ग्राह्य इति** । एवमक्षरपरं परपदमिति भावः । **प्रकृतेति** । प्रकृतमक्षरं न प्रकृतिर्न जीवात्मेति भावः । **तत्रेति** । मुण्डके । **प्रकृतत्वादिति** । 'तथाक्षरात् विविधाः सौम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ती'तिश्रुत्या तथा । **तत्रेति** । मुण्डके ।

‘एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूल’मित्यादि । तथाथर्वणे च ‘अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यत’ इति । तेन ज्ञानमार्गेऽक्षरविषयकाण्येव ज्ञानानि निरूप्यन्ते, पुरुषोत्तमविषयकाणि नेति निश्चीयते । ‘ब्रह्मविदाप्नोति पर’मिति श्रुतावक्षरब्रह्मविदोऽक्षरात् परस्य प्राप्तिरुच्यते । ‘अक्षरादपि चोत्तम’ इति भगवद्वाक्याच्चाक्षरातीतः पुरुषोत्तमः । ‘भक्त्या मामभिजानाती’ति वाक्ये ‘मा’मिति पदात् पुरुषोत्तमविषयकं ज्ञानमुच्यते, न त्वक्षरविषयकम् । किञ्च, ब्रह्मभूतस्य भक्तिलाभोक्तेस्तस्य चानन्दांशाविर्भावात्मकत्वात्तस्य चाविद्यानाशजन्यत्वात्तस्य चाक्षरज्ञानजन्यत्वात् पूर्वकक्षाविश्रान्तमेवाक्षरज्ञानम् । एवं सत्यक्षरविषयिणीनां

भाष्यप्रकाशः ।

परमां गतिम्, यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं ममे’ति ‘कूटस्थोऽक्षर उच्यत’ इति गीतास्वप्युपबृंहित एव प्राप्यः । तस्माच्चाक्षरात् परः पुरुषोत्तम एवेति गीतास्थात् ‘अक्षरादपि चोत्तम’ इति भगवद्वाक्यतोऽक्षरातीततया निश्चितः, अतस्तत्प्राप्तिरेव फलत्वेन निश्चीयते । तत्कारणविचारे तु श्रुतौ ‘ब्रह्मवि’दित्यनेन तद्विवरणर्चि ‘ब्रह्म यो वेदे’त्यनेन च ज्ञानं प्राप्तृविशेषणत्वेनोच्यत इति स्वरूपयोग्यतासम्पादकमेवाक्षरविषयकं ज्ञानम् । ‘भक्त्या मामभी’ति गीतावाक्ये तृतीयया भक्तेः करणत्वं ‘मा’मिति पदात् तद्व्यापारभूतं पुरुषोत्तमज्ञानं चोच्यते, न त्वक्षरविषयकम् । किञ्च । यथाधिगम्यत इत्यस्य प्राप्त्यर्थकत्वमङ्गीक्रियते, तदा तेनाक्षरप्राप्तिर्भवति, सैव ‘ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवती’ति श्रुत्यन्तरेणोच्यते । तदापि ‘भक्त्या मा’मित्यस्मात् पूर्वं यत् ‘ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति । समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते परा’मिति वाक्यम्, तस्मिन् ब्रह्मभूतस्य भक्तिलाभोक्तेर्ब्रह्मभावस्य च स्वरूपलाभरूपत्वेनानन्दाविर्भावात्मकत्वादानन्दाविर्भावस्य चाविद्यानाशजन्यत्वादविद्यानाशस्य चाक्षरज्ञानजन्यत्वात् परप्राप्तिपूर्वकक्षारूपो यो ब्रह्मभावस्तद्विश्रान्तमेवाक्षरज्ञानम् । तेनाक्षरप्राप्तेर्मुक्तित्वं यदुच्यते, तदक्षरस्य परमधामत्वेन पुरुषोत्तमाविनाभावा-

रश्मिः ।

प्राप्य इति । अमूर्तः पुरुषो प्राप्यः । तस्माच्चेति । उक्तोपबृंहणात् । चकारेण भाष्यीयोपबृंहणाद्वक्ष्यमाणात् । भाष्यं संयोज्य विवृण्वन्ति स्म **अक्षरात्पर इति । इति निश्चीयत** इति पूर्वान्वयिभाष्यमाहुः । ‘अक्षरातीततया निश्चित’ इति शब्दभेदेन पूर्वान्वयि । किञ्च । भाष्यं **परस्य प्राप्तिरुच्यत** इति पूर्वान्वयीत्याहुः **अतस्तत्प्राप्तिरेवेति** । शब्दाध्याहारेणार्थभेदेन च । **भक्त्या मामभी**त्यादिभाष्यं विवरीतुमाहुः **तत्कारणेति** । परप्राप्तिकारणत्वेन । **ज्ञानं प्राप्त्रिति** । ‘ब्रह्मवि’दित्यत्र ‘वि’दित्यत्र प्राप्तुर्विशेषणं ज्ञानम्, ‘यो वेदे’त्यत्र प्राप्तुर्विशेषणं ज्ञानम् । ब्रह्मविषयकज्ञानवान् ब्रह्मविषयकज्ञानानुकूलो व्यापारो देवदत्तनिष्ठ इति क्रमेण बोधात् । भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **भक्त्या मामभीति । मामिति पदादिति** । ‘अभिजानाती’त्यत्राभिज्ञानानुकूलव्यापार इति ज्ञानस्य विषयतासंबन्धेन ‘मा’मित्यस्मत्पदार्थत्वाद्भक्तिव्यापारभूतं पुरुषोत्तमज्ञानं जातम् । तदनुकूलो व्यापारस्तु देवदत्तनिष्ठः । **नत्विति** । भक्तिव्यापारभूतमित्यर्थः । किञ्चेति भाष्यं विवरीतुमाहुः **किञ्चेति** । ‘अथ यया तदक्षरमधिगम्यत’ इति भाष्योक्तश्रुतेः अक्षरस्याधिगमो ज्ञानं यया साक्षरज्ञानजनिका तस्या भावोऽक्षरज्ञानजनिकात्वम् । टापो ह्रस्वे पुंवद्भावे वा इतोपि लोपः । ‘निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपाय’ इति न्यायादित्याशयेन (अ)क्षरज्ञानजनिकेत्युक्तम् । तत्र विद्या ज्ञानमित्येकस्य जन्यजनकभावो विरुद्ध इति प्रकारान्तरेण व्याख्यामाहुः **यद्यधीति । ब्रह्म वेदेति** । ब्रह्मविषयिणीं विद्यां चकार करोति वा । विवृण्वन्ति स्म **ब्रह्मभूतस्येत्यादिना । पुरुषोत्तमाविनेति** ।

धियां श्रुतौ मुक्तिसाधनेषु यः अवरोधः प्रवेशनं गणनेति यावत्, स सामान्यतद्भावाभ्यां हेतुभ्याम् । पुरुषोत्तमसम्बन्धिसम्बन्धे मुक्तिरिति सामान्यम् । मर्यादामार्गेऽङ्गीकृतानां ‘ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति । समः सर्वेषु

भाष्यप्रकाशः ।

दुच्यते । तेनावधारणमपि जीवस्य पुनरावृत्त्यभावेन मृत्य्वतिक्रमेण कैवल्येनाक्षरप्राप्तेर्ब्रह्मभावात्मकत्वेन चोपपद्यमानं न विरुध्यत इति ज्ञानकारणत्वनिरूपकश्रुतिभिरुच्यत इत्यर्थः । तेन सिद्धमाहुः एवमित्यादि । एवं तदविरोधे सति अक्षरविषयिणीनां धियां तैत्तिरीयादिश्रुतौ योऽवरोधो मुक्तिसाधनेषु गणना, स सामान्यतद्भावाभ्यां हेतुभ्याम् ।

तत्र किं सामान्यमित्यपेक्षायां पुरुषोत्तमसम्बन्धिसम्बन्धे मुक्तिरिति भक्तसङ्गे सिद्धम् । ‘सत्सङ्गलब्धया भक्त्या मयि मां य उपासिता । स वै मे दर्शितं सद्भिरञ्जसा विन्दते पद’मित्येकादशस्कन्धे । स च पुरुषोत्तमसम्बन्धिसम्बन्धस्त(त)द्धामरूपाक्षरज्ञानेप्यस्तीति तदेव सामान्यम् । तथा, ‘मर्यादामार्गे’ इत्याद्युक्तरीत्या तद्भावो ब्रह्मभावः ताभ्यां हेतुभ्यां अक्षरज्ञानानां मुक्तिसाधनेषु प्रवेशः । मर्यादामार्गिणां पुरुषोत्तमप्राप्तौ स्वरूपयोग्यतासम्पादकत्वेन प्रवेश इत्यर्थः ।

रश्मिः ।

रसत्वेनातिसुन्दरत्वात्परमं धाम पीठं चरणौ पुच्छं वृन्दावनम् । तदविनाभावात् । भक्तैः सह निगूढभावकरणे पीठाद्यन्यतमापेक्षा । न तु युगपत् । ‘तं पीठस्थं येऽनुयजन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषा’मिति श्रुतेः । ‘अथ परे’त्यस्या अर्थकथने भाष्ये एवकाराच्छ्रुतौ ‘ज्ञानादेव तु कैवल्य’मिति सावधारणोक्तेस्तदेकवाक्यतापन्नायामवधारणमित्याशयो ज्ञेयः । ‘ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवती’त्यत्रोक्तश्रुतावेवकारविरोधमाशङ्क्याहुः **तेनावेत्यादि । ब्रह्मभावेति** । ब्रह्मभावो ब्रह्मत्वं ‘बुद्ध्या विशुद्धया युक्त’ इति गीतोक्त आत्मा स्वरूपं यस्याः । भावे त्वः । हल्लोपपुंवद्भावौ पूर्ववत् । तेन । **ज्ञानेति** । ‘ज्ञानादेव तु कैवल्य’मित्याद्युक्ताभिः । **तदविरोधेति** । पुरुषोत्तमाक्षरज्ञानप्रतिपादिकयोः श्रुत्योर्विषयभेदादविरोधे सति । पुरुषोत्तमेतिभाष्यमुक्तसूत्रार्थभाष्यप्रपञ्चं विवरीतुमपेक्षामाहुः **तत्र किमिति** । विवृण्वन्ति स्म **पुरुषोत्तमेति** । सम्बन्धिनोऽक्षरभक्तप्रमेयबलानुग्रहाः । तेषां सम्बन्धोंऽशांशिभाव एकस्वामिकत्वमाधाराधेयभावौ । तन्निष्ठभगवद्भावब्रह्मभावयोर्जन्यजनकभावः सम्बन्धः । एकस्वामिकत्वं भगवद्वीर्यसंविजनकैकाधिकरण्यं सम्बन्ध इत्याशयेनाहुः **भक्तसङ्ग इति** । भक्तसङ्गे सिद्धं सामान्यम् । **केत्यतो** वाक्यं पठन्ति स्म **सत्सङ्गेति । पदं** मुक्तिः । **स चेति** । अस्यार्थः **पुरुषोत्तमेति** । पुरुषोत्तमसम्बन्धिभक्तः भगवद्वीर्यसंविजनकः (भगवद्भावजनकः) तस्य भगवद्भावस्य सम्बन्धोऽक्षरज्ञाने जन्यजनकभावः । अन्यत्राप्याहुः **तद्धामेति** । तद्धाम पुरुषोत्तमसम्बन्धि तद्रूपाक्षरं तस्य ज्ञाने । परममुक्तिजनके । मम पुरुषोत्तमाधिष्ठानं हृदयमक्षरमिति ज्ञानेऽप्यस्ति । अपिनोक्तोदाहरणं तस्मिन् । **तदेवेति** । विधेयलिङ्गम् । उक्तसम्बन्ध एव सामान्यमित्यर्थः । **मर्यादेति** भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **तथा मर्यादेति** । **इति वाक्यादिति** ब्रह्मभावानन्तरं भगवद्भावसम्भवादित्यत्र हेतुः, न तु ब्रह्मभावानन्तरमित्यत्र । तेनेति वाक्याद्ब्रह्मभावस्तदनन्तरमिति नान्वेतव्यम् । परम्परोपयोगे तु प्रवेशादित्यन्तो हेतुः । साध्यार्थकभाष्येणैवं सत्यक्षरेत्याद्युक्तेन सह युवन्ति स्म **अक्षरज्ञानानामिति** । भाष्यीयप्रवेशनमित्यस्यार्थः । कार्यभूतहेतुना साध्यमुक्तं प्रवेशमाहुः **मर्यादामार्गिणामिति** । इदमुक्तं **मर्यादामार्ग** इत्यादिभाष्येण । **स्वरूपेति** । स्वरूपयोग्यतासम्पादनेन कार्येण हेतुना प्रवेशोऽक्षरज्ञानानां मुक्तिसाधनेषु

भूतेषु मद्भक्तिं लभते परा'मिति वाक्याद्ब्रह्मभावानन्तरमेव भगवद्भावसम्भवात्तेन पुरुषोत्तमे प्रवेशात्तत्र परम्परोपयोगो ब्रह्मभावस्येत्युभाभ्यां हेतुभ्यां तथेत्यर्थः । वस्तुतस्तु पुरुषोत्तमप्राप्तिरेव मुक्तिरिति भावः ।

नन्वक्षरस्याविशिष्टत्वेन तदुपासकानामपि तथात्वात् केषाञ्चित् तत्रैव लयः, केषाञ्चिद्भक्तिलाभ इति कथमुपपद्यत इत्याशङ्क्य, तत्र हेतुं दृष्टान्तेनाह औपसदवदिति । उपसदाख्ये कर्मणि तानूनप्त्रस्पर्शाख्यमौपसदं कर्मास्ति । तत्रातिथ्यायां ध्रौव्यां स्रुचि चमसे वा यदाज्यं चतुरवत्तं पञ्चावत्तं वा समवद्यति, तत्तानूनप्त्रमित्युच्यते । 'अनाधृष्टमसी'ति मन्त्रेण षोडशाप्यृत्विजो यजमानेन सह तानूनप्त्रं

भाष्यप्रकाशः ।

अत्र सामान्यादित्युक्ते करणतापि सम्भाव्येतेति तद्वारणाय द्वितीयो हेतुरिति बोध्यम् । अक्षरज्ञानस्य मुक्तिसाधनतावच्छेदकं यद्रूपं तज्ज्ञापनाय प्रथमः । यदि ह्यक्षरप्राप्तेः परममुक्तित्वं स्यात्, तदाथर्वणिकायामक्षरविद्यायां पुरुषस्याक्षरात् परत्वं न श्राव्येत । तत्तु श्राव्यते । अतोऽक्षरज्ञानानामक्षरप्रापकत्वेन तज्ज्ञापकत्वेन वा न परममुक्तिकारणता, किन्तूक्तरीत्या भगवद्धामताज्ञापकत्वेनेत्याशयेनाहुः वस्तुत इत्यादि । दृष्टान्तमवतारयन्ति नन्वक्षरस्येत्यादि । तत्रैव लय इति । 'ब्रह्मैव भवती'त्यवधारणादक्षर एव लयः । भक्तिलाभ इति । 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मिति

रश्मिः ।

प्रवेश इति दृष्टान्तरहितसूत्रार्थ इत्यर्थः । करणतेति । ब्रह्मभावव्यापारो भगवद्भावः ब्रह्मभावजन्यत्वे सति ब्रह्मभावजन्यपुरुषोत्तमप्रवेशजनकत्वात् । द्वितीय इति । 'ते प्राप्नुवन्ति मामेवे'ति सावधारणवाक्याद्द्वितीयापेक्षा नास्ति, तथाप्यात्मक्लिष्टं न भगवति समर्पणीयमित्यक्षरभावस्य 'क्लेशोऽधिकतरस्तेषा'मिति वाक्यादतिक्लिष्टाक्षरभावस्य 'कृष्णायाक्लिष्टकारिण' इति गोपालतापिनीयादभगवत्कृतत्वेन करणतापक्षस्योक्तश्रुतिविरुद्धत्वाद्द्वितीय इत्यर्थः । नचेतिहासबाधो न युक्तः श्रुत्येति वाच्यम् । 'भक्त्या जानाति चाव्यय'मिति श्रुत्युक्तफलात्मकज्ञाने भक्तिमात्रोपयोगाद्भक्तौ ब्रह्मभावस्योपयोगो हि चित्तशुद्धिद्वारा कर्मवत् पापाभाववत् । 'श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिः प्रसाध्यत' इति वाक्यादित्यनावश्यकत्वरूपबाधस्य सम्भवात् । एवमनेकेषु भक्तिसाधनेषु सत्सु ज्ञानकाण्डत्वादक्षरज्ञानस्य भक्तिकारणस्योक्तौ अक्षरज्ञानस्य फलत्वं अक्षरज्ञानस्य भगवद्भावसाधनत्ववत् मुक्तिसाधनत्वं चेति । पृथक्साधनतावच्छेदकं यद्रूपं तद्वक्तुमाहुः अक्षरेति । यद्रूपं पुरुषोत्तमसम्बन्धिसम्बन्धः, स चात्र तद्धामत्वेनाक्षरज्ञानेऽस्ति । भगवद्भाववान् भक्तः, भगवद्भाव आनन्दधर्मः, स चात्र पुरुषोत्तमधामत्वेनाक्षरज्ञानेनेति तथा । तेन परममुक्तिसाधनतावच्छेदकं पुरुषोत्तमधामत्वम् । पुरुषोत्तमधामत्वप्रकारकाक्षरविशेष्यकज्ञानत्वात् । मुक्तिजनकतावच्छेदकमक्षरत्वेनाक्षरज्ञानादक्षरत्वमिति विवेकः । परममुक्तिः पुरुषोत्तमप्राप्तिः । मुक्तिः स्वरूपलाभः । अयं यद्रूपप्रपञ्चः । प्रथम इति । हेतुः । तथाच ज्ञानकाण्डत्वाद्ब्रह्मभावपूर्वकभगवद्भाव इति हेतुद्वयमित्यर्थः । आथर्वणिकायामिति । मुण्डके । 'अव्यक्तात्पुरुषः परः । पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गति'रित्यस्याम् । नन्वक्षरज्ञानं ज्ञानविषयकं ज्ञानम्, तच्चाक्षरत्वेन शाब्दम्, तत्रैकज्ञाने साध्यसाधनभावविरोधादाहुः तज्ज्ञापकत्वेनेति । शाब्दं ज्ञानं तदक्षरत्वेनाक्षरज्ञापकं तु भवत्येवेत्यर्थः । उक्तेति । तत्र किं सामान्यमित्याद्युक्तरीत्या । इति श्रुत्युक्तेति । ब्रह्मवित् भक्त्या परमाप्नोतीति भाष्ये उक्तत्वात्तथा । व्याख्यानमिति । दृष्टान्तेन हेतुव्याख्यानम् । अतिथ्यायां चतुर्थ्याम् । ध्रौव्याम् । ध्रौव्येति पाठः । इसेर्डा । ध्रुवमेव ध्रौवं

१. अतिथ्याया इति पाठः । २. ध्रौवात्, ध्रौवाज्यादिति पाठौ ।

समवमृशन्ति, 'अनु मे दीक्षा'मिति मन्त्रेण यजमानः 'तत् समवमृशन् यं ऋत्विजं कामयेत, अयं यज्ञयशसमृच्छेदिति तं प्रथममवमर्शये'दिति श्रूयते श्रुतौ कल्पे च । अत्र सर्वेषामृत्विजां तानूनप्त्रत्वाविशेषेपि यस्मिन् स्नेहातिशयेन तथेच्छा, तत्रैव तथा कृतिः, नेतरेषु । न हि तत्राविशिष्टेषु कथमेवं कृतिरिति पर्यनुयोगः सम्भवति, एवमिहापीत्यर्थः ।

ननु श्रवणादेर्यथा पुरुषोत्तमसम्बन्धित्वेन तत्प्राप्तिहेतुत्वम्, एवमक्षरस्याप्यस्त्वित्याशङ्का तु निखिलासुरजीवतमःपुञ्जनिरासकेन यदुवंशोदयाचलचूडामणिनैव निरस्तेति न स्वतो वक्तुमुचितेत्याशयेन आह तदुक्तमिति । भगवद्गीतास्विति शेषः । तत्र 'यदक्षरं वेदविदो वदन्ती'त्युपक्रम्य, 'स याति परमां गति'मित्यन्तेनाक्षरप्राप्त्युपायमुक्त्वा, 'अनन्यचेताः सतत'मित्यादिना स्वप्राप्त्युपायं वैलक्षण्यं चोक्त्वा, भक्त्येकलभ्यत्वं स्वस्य वक्तुं पूर्वं क्षराक्षरयोः स्वरूपमाह, 'सहस्रयुगपर्यन्त'मित्युपक्रम्य, 'प्रभवत्यहरागम' इत्यन्तेन क्षरस्वरूपमुक्त्वा, 'परस्तस्मात्तु भावोऽन्य' इत्युपक्रम्य, 'तद्धाम परमं मम'त्यन्तेनाक्षरस्वरूपमुक्तम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

श्रुत्युक्तपरप्राप्तिसाधनीभूतभक्तिलाभः । हेतुमिति । भगवदिच्छारूपम् । व्याख्यानं तूत्तानार्थम् । तथाच भगवदिच्छयैव विशेष इत्यर्थः । सूत्रोक्तां सम्मतिं व्याकर्तुमवतारयन्ति ननु श्रवणादेरित्यादि । व्याकुर्वन्ति तत्रेत्यादि । तत्रेति । गीताया अष्टमाध्याये । वैलक्षण्यमिति । साधनसौकर्यं स्वप्राप्तिरूपस्य फलस्योत्कर्षं च । स्वस्य वक्तुमिति । अत्राक्षरस्वरूपकथने अक्षरस्य परमगतित्वं स्वधामत्वं चोक्त्वा 'पुरुषः स परः पार्थे'त्यादिना परस्य यद्भक्त्येकलभ्यत्वं वक्ष्यति, तदक्षरादुत्तमत्वेन वाक्यान्तरे सिद्धे स्वस्मिन्नेव परत्वविश्रान्तेः स्वस्यैव वक्ष्यति, बाधकाभावे स इति

रश्मिः ।

आज्यस्थालीस्थमाज्यं तस्माद्ध्रौवाज्यात् । स्रुक् प्रसिद्धा । चमसः पात्रविशेषः । चतुरवत्तं चतुर्गृहीतम् । समवद्यति सम्यक् अवहीनं द्यति खण्डयति । 'दो अवखण्डने' । केनापि प्रकारेण । अनाधृष्टमिति । न आसमन्ताद्धृष्टम् । ञिधृषा प्रागल्भ्ये । 'प्रगल्भमसि अनाधृष्टमस्यनाधृष्य'मिति मन्त्रे हे तानूनप्त्र । अस्यन्तत्वान्मन्त्रत्वम् । समवमृशन्तीति । स्पृशन्ति । अनु म इति । अनु पश्चात् मे मम दीक्षां अवमृशेति मध्यमपुरुषान्तत्वान्मन्त्रत्वम् । तत् तानूनप्त्रम् । यं ऋत्विजमिति च्छेदः । कामयेत इच्छेत् । 'कमु कान्तौ' । कान्तिरिच्छा । यज्ञयशसं यज्ञकीर्तिं ऋच्छेत् प्राप्नुयात् । अवमर्शयेदिति । स्पर्शयेत् । एवं व्याख्यानं तूत्तानार्थमित्यर्थः । विशेष इति । 'केषांचित्तत्रैव लयः, केषांचिद्भक्तिलाभ' इति भाष्योक्तो विशेषः । सम्मतिमिति । तदुक्तमितीतिहाससम्मतिम् । ननु श्रवणादेरित्यादीति । पुरुषोत्तमेति । पुरुषोत्तमाविर्भावस्य श्रवणादेश्च जन्यजनकभावसम्बन्धोऽतः पुरुषोत्तमसम्बन्धित्वं तेनेत्यर्थः । एवमिति । अवयवावयविभावसम्बन्धः स्वस्वामिभावसम्बन्धः । निखिलेति । निखिला येऽसुरा जीवाः तेषां तमसः पुञ्जस्तस्य निरासकेन । यदुवंश उदयाचलः तस्य चूडामणिना मुख्येन । उदयाचले चूडामणिः सूर्यस्तेन । निरस्तेति । 'क्रोधस्यान्तं फलोदया'दिति वाक्यात् फलं युद्धम् । अष्टमाध्याय इति । षडध्यायी कर्ममार्गे, षडध्यायी ज्ञानमार्गे, षडध्यायी भक्तिमार्गे इति ज्ञानमार्गीयत्वं प्रमेयस्य बोधयितुमुपात्तः । स इत्नीति । स पर इत्यत्र स इति तच्छब्देन सन्निहितस्य 'तद्धाम परमं

अत्र पूर्वं क्षरस्वरूपमुक्तमिति 'परस्तस्मात्त्वि'त्यत्र क्षरादेव परत्वमुच्यते । तच्छब्दस्य पूर्वपरामर्शित्वात्तस्यैव पूर्वमुक्तत्वात् । अत एवाक्षरव्यावर्तकस्तुशब्द उक्तः । एतेन नित्यत्वेन क्षरणाभावादक्षरशब्देन जीव एवोच्यते, न तु पुरुषोत्तमाधिष्ठानभूतो जीवातीत इति निरस्तम् । 'यं प्राप्य न निवर्तन्त' इति वाक्यात् जीवे तथात्वासम्भवात् । नित्यमुक्तत्वापत्त्या शास्त्रवैफल्यापत्तेश्च । इत एव ज्ञानमार्गिणां तत्प्राप्तिरेव मुक्तिरिति ज्ञेयम् । ततोऽनिवृत्तेः । 'पुरुषः स परः पार्थे'त्यनेनाक्षरात् परस्य स्वस्य भक्त्येकलभ्यत्वमुक्तम् । तेन ज्ञानमार्गीयाणां न पुरुषोत्तमप्राप्तिरिति सिद्धम् । 'यस्यान्तःस्थानी'त्यनेन परस्य लक्षणमुक्तम् । तच्च मृत्स्नादिप्रसङ्गे श्रीगोकुलेश्वरे स्पष्टमुच्यते । तेनाक्षरोपासकानां न पुरुषोत्तमोपासकत्वम् । तद्विषयकश्रवणादेरभावादिति भावः । 'अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गति'मिति वाक्यात् 'स याति परमां गति'मित्यत्राक्षरमेव यातीत्यर्थो ज्ञेयः ।

भाष्यप्रकाशः ।

तच्छब्देन संनिहितपरामर्शाच्च स्वस्य वक्तुम् । अत्रेति । 'सहस्रयुगे'त्यादिग्रन्थे । अत्र मतान्तरमुद्भाव्य परिहरन्ति एतेनेत्यादि । एतेनेति । 'क्षरः सर्वाणि भूतानी'ति वाक्यान्तरसिद्धं भूतग्रामं व्यक्तकोटौ निवेश्य ततः परत्वकथनेन । हेत्वन्तरमाहुः यमित्यादि । तथाच भूतग्रामपदेन जडान् गृहीत्वा अक्षरपदेन जीवग्रहणे एतौ दोषौ प्रसज्येयाताम्, अतस्तन्मतमयुक्तमित्यर्थः । अस्मादेव सन्दर्भादर्थचतुष्टयं यदन्यत् सिद्धं तदाहुः इत एवेत्यादि । ज्ञेय इत्यन्तम् । इत एवेति । अक्षरस्य भगवद्धामत्वादेव । इत्यर्थो ज्ञेय इति । ऐकशब्द्याज्ज्ञेयः । तथाचाक्षरस्य पुरुषोत्तमसम्बन्धित्वे सत्यपि पुरुषोत्तमप्राप्तिं प्रति न हेतुत्वम् । तद्धेतुतावच्छेदकस्यानन्यभक्तित्वस्य तत्राभावादित्येवमेतेन सन्दर्भेण सा शङ्का निवारितेत्यतो न कार्येत्यर्थः ।

रश्मिः ।

ममे'त्यस्मत्पदार्थस्य परामर्शाच्च स्वस्य वक्तुमन्यथा त्वक्षरस्य वक्तुम् । एताविति । तथात्वासम्भवादिति भाष्योक्तं मुक्तित्वं शास्त्रवैफल्यापत्तिश्चेत्येतौ । अर्थचतुष्टयमिति । ज्ञानमार्गिणामक्षरप्राप्तिः १ । अक्षरात्परस्य स्वस्य भक्त्येकलभ्यत्वम् २ । 'समान एवं चाभेदा'दिति सूत्रोक्तावतारे श्रीगोकुलेश्वरेप्यक्षरोपासकानां न पुरुषोत्तमोपासकत्वम्, पुरुषोत्तमविषयकश्रवणादेरभावात् ३ । 'स याति परमां गति'मित्यत्राक्षरमेव यातीत्यर्थः ४ । इत्यर्थचतुष्टयम् । ऐकेति । उभयोर्वाक्ययोरेकः शब्दः परमामिति गतिमिति च ययोस्ते एकशब्दे वाक्ये तयोर्भाव ऐकशब्द्यं तस्मात् । ननु गणनादेवार्थचतुष्टये लब्धे तदुपादानस्य किं प्रयोजनमत आहुः तथाचेति । अनन्येति । नन्ववयवावयविभावसम्बन्धे मास्तु अनन्यभक्तित्वम्, स्वस्वामिभावसम्बन्धे तु स्यादिति चेत् । न । ज्ञानमार्गस्य भिन्नत्वात् । 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्य' इति पुरुषोत्तमस्य भिन्नत्वे तत्प्रापकस्यापि भेदात् । नन्वेवं सति पुष्टिभक्तावप्यनन्यभक्तित्वं न स्यात्, प्रतिकृतिकसम्बन्धिन्याः मूलरूपातिरिक्तविषयत्वादिति । चेत् । न । अनन्यभक्तेर्मर्यादामार्गीयत्वात् । 'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी'ति गीतावाक्यस्य 'अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जव'मित्यादिसाधनप्रायपाठपठितत्वेन साधनसाध्यत्वेन तथावसायात् । तत्रेति । अक्षरसम्बन्धे । एतेनेति । अर्थचतुष्टयप्रतिपादकेन । सेति । एतेन नित्यत्वेनेत्यादिभाष्योक्ताक्षरधीपदेन जीवधीर्ग्राह्या, न तु पुरुषोत्तमाधिष्ठानभूतजीवातीतोऽक्षरधीपदेन ग्राह्य इत्याशङ्का । निवारितेति । अक्षरत्वेन

किञ्च । तैत्तिरीयोपनिषत्सु पठ्यते 'यस्मिन्निदं सञ्च विचैति सर्वं यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः । तदेव भूतं तदु भव्यमा इदं तदक्षरे परमे व्योमन् । येनावृतं खं च दिवं महीं च येनादित्यस्तपति तेजसा भ्राजसा च । यमन्तःसमुद्रे कवयोऽवयन्ति यदक्षरे परमे प्रजा' इति । अत्राक्षरात्मकत्वेन क्षरात्मकादाकाशात् परमे व्योम्नि भक्तानां हृदयाकाश इति यावत् । तत्र प्रकाशमानमित्यर्थात् । अत एव 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मित्युपक्रम्य, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योम'न्नित्येतदुपनिषत्स्वेव पठ्यते । 'यदक्षरे परमे प्रजा' इति पदं 'अवयन्ती'त्यनेन सम्बध्यते । अत्र प्रजापदात् व्यापिवैकुण्ठात्मको लोकोऽक्षरपदेनोच्यते इत्यवगम्यते । अत एव 'न यत्र माये'त्यादिना श्रीभागवते तत्स्वरूपमुच्यते । एतेनाक्षरस्य पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वं निश्चीयते । इतोप्यक्षरातीतः पुरुषोत्तम इत्यवगम्यते । एवं सति सामान्यं भगवद्विभूतिरूपत्वम्, तन्नावसत्व

भाष्यप्रकाशः ।

ननु श्रुतावक्षरात् परत्वमेव पुरुषस्योक्तम्, न तु तत्र स्थितत्वम्, तथोक्तौ परस्य स्वप्रतिष्ठत्वं च हीयेतेति गीतास्मृतिवाक्यमन्यथा नेतव्यमित्याशङ्क्याहुः किञ्चेत्यादि । अस्यां श्रुतौ सर्वाधारत्वं सर्वदेवनिषदनस्थानत्वं सर्वात्मकत्वं च पादत्रयेणोच्यते, तुरीये तदाधार उच्यते, तस्यार्थमाहुः अत्रेत्यादि । भक्तहृदयाकाशमेवात्र परमव्योमपदे परामृश्यत इत्यत्र मानमाहुः अत एवेत्यादि । ननु भवतु भक्तहृदयाकाशे प्रकाशमानत्वमक्षरस्य, तथापि कथं लोकात्मकत्वम्, अत आहुः यदित्यादि । तथाच प्रजालिङ्गादक्षरस्य लोकात्मकत्वमित्यर्थः । एतमर्थं पुराणेनोपबृंहयन्ति अत एवेत्यादि । इतोपीति । शुकवाक्यादपि । तथाच श्रुतौ पुराणे च तथा सिद्धत्वाद्गीतावाक्यं नान्यथा नेतुं शक्यमित्यर्थः । स्वप्रतिष्ठताहानिं परिहरन्ति एवं सतीत्यादि । तथाच छान्दोग्ये 'स्वे महिम्नि प्रतिष्ठित' इति श्रावणात्, तैत्तिरीये 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठे'ति श्रावणाच्चाक्षरब्रह्मणो भगवद्विभूतिरूपत्वेन चरणरूपतया स्वाभिन्नत्वेन च भक्तिसामान्याद्भगवतस्तत्र स्थितावपि न स्वप्रतिष्ठत्वहानिरित्यर्थः । एवमत्र मुक्तिस्वरूपमस्थूलत्वादयो धर्माश्च

रश्मिः ।

रूपेण पुरुषोत्तमभेदात् मार्गान्तरत्वात् । श्रुताविति । 'पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गति'रित्यादिश्रुतौ । गीतास्मृतिवाक्यमिति । ननु पुराणवन्नेतिहासः श्रुतिबाध्य इत्यत उक्तं स्मृतीति । इतिहासस्य स्मृतित्वपक्षे बाध्यत्वमिति भावः । आहुरिति । अक्षरस्य पुरुषोत्तमाधारत्वप्रतिपादिकां श्रुतिमाहुरित्यर्थः । सर्वाधारत्वमिति । यस्मिन् ब्रह्मणि इदं विश्वं समेति च व्येति चेति जगल्लयस्थानत्वं विरुद्धमेतीत्युत्पत्तिस्थानमित्युक्तेस्तथा । सर्वदेवेति । यस्मिन्ब्रह्मणि विश्वस्मिन् इति अधिविश्वं तत्र । सर्वेति । तृतीयपादे तत् ब्रह्म । स्पष्टमन्यत् । तस्यार्थमिति । सर्वाधारेऽक्षराधारत्वस्य बाधात्तुरीयस्यार्थमाहुरित्यर्थः । भक्तिसामान्यादिति । भक्त्या सामान्यं भगवद्विभूतित्वं भक्तिसामान्यं तस्मात् । भक्ताक्षरयोर्भक्तिसामान्यं तदत्रापीति ज्ञेयम् । स्वसमवाय्याधारसम्बन्धेन् भक्तिरक्षरात्मकभक्तहृदय इति स्वं भक्तिस्तत्समवाय्यानन्दो भगवान् तदधिकरणं भक्तहृदयमक्षरात्मकमिति । चरणरूपतया स्वाभिन्नत्वेन च भगवतस्तत्राक्षरे भावः सत्ता उक्तरीत्या 'तद्धाम परमं ममे'त्युक्तरीत्या स्थितावपि । अपिना 'स आत्मा स्वाश्रयाश्रय' इत्युक्तस्वप्रतिष्ठत्वेन सह छान्दोग्योक्तस्वमहिमप्रतिष्ठत्वं समुच्चीयते । न स्वेति । योगिवदनेकरूपत्वाद्भक्तहृदयगामित्वं स्वप्रतिष्ठत्वमिति । तस्य हानिर्नेत्यर्थः । भाष्यं स्फुटार्थम् । पादाध्यायार्थौ सङ्गमयन्ति स्वाव्याप्तिवारणाय एवमत्रेति । अत्राधिकरणेऽक्षरधीरूपमपि न अन्यमुक्तिस्वरूपम्, विषयवाक्ये चास्थूलत्वादयो धर्माश्चाक्षरधर्मा अपि

पुरुषोत्तमस्य भावः सत्ता उक्तरीत्या तत्र स्थितिरिति यावत्, ताभ्यां हेतुभ्यां तथेत्यप्यर्थो ज्ञेयः ॥ ३३ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

सफला विचारिताः । एतान् धर्मांश्चरणीयत्वेन बोधयन्तीत्यादिर्बोधकताप्रकारश्च । (तेन भगवत्प्राप्तिप्रेप्सुना भक्तिरेव कार्या, न तु पूर्वकक्षायामेव विश्रान्तव्यम्, द्वितीयस्कन्धे 'भगवान् ब्रह्मकात्स्न्येनें'त्यत्र भगवता भक्तावेव श्रुतितात्पर्यस्य निर्धारितत्वात्, गीतायां द्वादशाध्यायेपि 'मय्यावेश्य मनो ये मा'मित्यादिना स्वोपासनयैव शीघ्रं सुखेन स्वप्राप्तिबोधनात्, अक्षरोपासनेन दुःखतः स्वप्राप्तेरुक्तत्वाच्च भक्तिरेवावश्यकीति सिद्धम् ।) अत्राक्षरस्य गणितानन्दत्वात् 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मित्यत्र पुरुषोत्तमज्ञानस्य 'भक्त्या मा'मिति गीतावाक्ये तद्भक्तेः 'औपसदव'दिति दृष्टान्त इच्छाया एव प्राधान्यबोधनेन परम्परया कर्मणोपि कचित् प्रापकत्वसूचनात् क्रियया भक्त्या ज्ञानेन च सायुज्यप्राप्तिबोधकं दोर्भिश्चतुर्भिर्विदित्तमिति विशेषणं च प्रतिपादितं ज्ञेयम् ।

अत्र भट्टभास्करशङ्कररामानुजभाष्येषु पूर्वोक्तवाजसनेयकाथर्वणोक्तवाक्यद्वयमेव

रश्मिः ।

भगवद्धर्माः तदभेदात् पादार्थः । सफला इति । मुक्तिस्वरूपफलं भगवद्भावः । अस्थूलत्वादि धर्मफलम् । किमन्यद्ब्रह्मभावनिर्वाहकमिति जिज्ञासया 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्त' इत्यादिजगजन्मादिकर्तृत्वभगवद्धर्मबोधकश्रुतिभिर्विरुद्धधर्माधारत्वम् । पूर्वाधिकरणसङ्गतिप्राप्तमर्थमाहुः एतानिति । 'परब्रह्मैतद्यो धारयति रसती'त्याद्युक्तान् भगवद्धर्मान् । चरणीयत्वेन आचरणीयत्वेन बोधयन्ती अस्थूलादिश्रुतिः ।

अयमर्थः । अनियमाधिकरणे भगवद्धर्मा उक्ता धारणादयः, तेषामेव मुक्तिसाधनत्वम्, नैश्वर्यादीनां भगवद्धर्माणामिति यावदधिकाराधिकरण उक्तम्, तेषां धारणादीनां विषयो विरुद्धधर्माश्रयोऽत्राधिकरण उक्तः, सोऽधोक्षज इति दशविधलीलाः धारणारसनादिविषयिण्य इति बोध्यमित्येवं तात्पर्येणास्थूलादिश्रुतयो बोधयन्ति । आदिना सूचयन्तीत्यर्थः । बोधकताप्रकारोऽधिकरणस्येति बोध्यम् । 'विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम् । सङ्गतिश्चेति पञ्चाङ्गं शास्त्रेऽधिकरणं स्मृत'मिति । ननु तद्भावो भगवद्भावो न भवति, वृत्तेर्द्वैविध्यात्, अतोऽक्षरधीमात्रमित्यतस्तेनेत्यादिः सिद्धमित्यन्तो ग्रन्थः प्रवर्तते । यदि च तत्परब्रह्म 'ॐतत्स'दिति गीतायाः तद्भावः पुरुषोत्तमभावः, तदा तु मूलपुस्तकेऽयं ग्रन्थो नास्तीति न व्याख्येयः । मूलपुस्तकेऽभावात् ।

षोडशाधिकरण्यां षड्विशेषणान्युक्तानि, सप्तमं 'दोर्भिश्चतुर्भिर्विदित'मित्येकस्य विशेषणं वक्तुमाहुः अत्राक्षरस्येति । षष्ठ्यन्तत्रयं प्राधान्यबोधनेनेत्यनेनान्वेति । पुरुषोत्तमेति । गौणमुख्यन्यायप्राप्तस्यागणितानन्दज्ञानस्य परम्परयेतीच्छाया इत्यनेनान्वयि । कचिदिति । 'कर्मणैव तु संसिद्धिमास्थिता जनकादय' इत्यत्र 'कर्मणा ब्रह्मैवमुच्यत' इति सुबोधिन्याम् । चतुर्भिरिति । दोः कर्मेन्द्रियम् । तदत्र चत्वारि । पुरुषोत्तमज्ञानं क्रिया पञ्चरात्रात् । भक्तिः क्रिया स्पष्टम् । इच्छापि क्रिया । इच्छयत इतीच्छा । क्रियावाचि भ्वादित्वात् धातुत्वं धातुत्वाल्लडादय इति । कर्म क्रिया लोकप्रसिद्ध्या । कर्मेत्यत्र कर्तरि मन् । क्रियेत्यत्र भावेशः इयङ् । कथं सामानाधिकरण्यमिति । अतश्चतुर्भिर्ज्ञानभक्तीच्छाकर्मभिः । चतुर्भिः पादसेवनादिभिश्चतुर्भिर्विशेषेण ज्ञातम् ।

१. यद्यप्ययं ग्रन्थो मूलपुस्तके नास्ति, तथाप्यस्य प्रामाणिकत्वं तु नैव संदिग्धम् । मूलपुस्तकतो लिपीकृतेऽन्यपुस्तकेऽयं ग्रन्थः शोधत्वेन श्रीपुरुषोत्तमानां श्रीहस्ताक्षरेषूपलभ्यत एवेति ।

भाष्यप्रकाशः ।

विषयवाक्यत्वेनोपन्यस्य, किमासां विशेषप्रतिषेधबुद्धीनां सर्वत्र प्राप्तिः, उत व्यवस्थेति संशये, प्रकरणावरोधाच्छ्रुतिविभागात्, विद्यान्तररूपस्य विद्यान्तररूपत्वे प्रमाणाभावान्निषेधरूपाणां गुणानामानन्दादिवत् स्वरूपावगमोपायत्वाभावाच्चेति हेतुभिर्नान्यत्र प्राप्तिरिति पूर्वः पक्षः । सिद्धान्तस्तु, प्रपञ्चपर्युदासस्य, विशेषनिराकरणरूपस्य ब्रह्मबोधनप्रकारस्य, सामान्यात्, तस्य प्रतिपाद्यस्य ब्रह्मणः सर्वत्र भावादैक्यात् सर्वत्रावरोधस्तासां निषेधबुद्धीनां परिग्रहः । तेन 'आनन्दादयः प्रधानस्ये'त्यत्र विधिमुखो विचारः, इह तु निषेधमुख इति तस्यैवायं प्रपञ्च इति भास्करं शाङ्करं च मतम् ।

रामानुजभाष्ये तु, सर्वेषूपासनेषु ब्रह्मणः समानत्वात्, अस्थूलत्वादीनां तत्प्रतीतौ भावादन्तर्भावात् । अयमर्थः । केवलानन्दादेः प्रत्यगात्मनि विद्यमानत्वेन तेषामसाधारणाकारेण ब्रह्मोपस्थापकत्वाभावादसाधारणाकारनिश्चयार्थं हेयप्रत्यनीकताज्ञानस्यावश्यकत्वेन चिदचिदात्मकप्रपञ्चवैलक्षण्यबोधनमावश्यकम् । तत्रास्थूलत्वादिना अचिद्वैलक्षण्यम्, प्रशासनेन चिद्वैलक्षण्यं च वाजसनेयके उच्यते, एवमाथर्वणेऽप्यदृश्यत्वादिकथनान्निरङ्कुशकर्तृत्वसर्वज्ञत्वादिना ज्ञेयम् । तथाचास्थूलत्वादिविशेषितज्ञानानन्दाद्याकारस्य ब्रह्मणोऽनुसन्धेयत्वादस्थूलत्वादीनामानन्दादिवदस्ति ब्रह्मप्रतीतावन्तर्भाव इति तासामस्थूलत्वादिबुद्धीनां सर्वत्रावरोध इति सिद्धान्तः । तेनेदमधिकरणं तत्सहकारित्वादत्यन्तावश्यकमिति तन्मतापेक्षयेदं मतं युक्तम् । ननु तर्हि पूर्वपक्षोक्तहेतूनां का गतिरित्याकाङ्क्षायां गुणानां प्रधानानुवर्तित्वे दृष्टान्तं तत्र प्रमाणं चाह 'औपसदवत्तदुक्त'मिति । यथा चतूरात्रे जामदग्न्याहीने पुरोडाशिनीषूपसत्सूपसद्गुणभूतः सामवेदपठितोपि 'अग्निर्वै

रश्मिः ।

विशेषेति । स्थूलत्वादीनां श्रौतानां विशेषाणां प्रतिषेधस्तद्विषयिणीनामस्थूलत्वादिप्रकारकास्थूलादिविशेष्यकबुद्धीनाम् । सर्वत्रेति । वाजसनेयकाथर्वणातिरिक्तेषु स्थलेष्वपि । विद्यान्तरेति । सगुणोपासनेषु सर्वत्र विशेषप्रतिषेधोपसंहारेण विद्यान्तरं सगुणोपासनरूपत्वे । प्रपञ्चेति । पर्युदासः सदृग्ग्राही । विशेषेति । प्रापञ्चिकस्थूलत्वादीनां निराकरणरूपस्य । सामान्यादिति । सर्वत्र सामान्यात् । सौत्रतद्भावशब्दव्याख्यानं तस्य प्रतीति । विधिमुखेति । विशेषाणामानन्दादीनां विधिस्तन्मुखस्तदुपायो विचारः । इहाधिकरणे तु स्थूलत्वादीनां निषेधोपायः । तस्यैवेति । 'आनन्दादयः प्रधानस्ये'त्यस्य । भास्करमिति । अत्र भेदोपि ज्ञेयः । शाङ्कर आरोपापवादः स्पष्टः । विशिष्टाद्वैतार्थं पृथगाहुः रामानुजेति । सामान्यहेतुं व्याकुर्वन्ति स्म सर्वेष्विति । तद्भावहेतुं व्याकुर्वन्ति स्म तत्प्रतीताविति । ब्रह्मप्रतीतौ । प्रत्यगात्मनीति जीवे । असाधारणेति । चिदचिदात्मकप्रपञ्चवैलक्षण्याकारनिश्चयार्थम् । हेयेति । हेयः प्रपञ्चस्तस्य प्रत्यनीक आनन्दादिस्तत्ता वैलक्षण्यं तस्या ज्ञानस्य । अचिदिति । जडांशाद्वैलक्षण्यम् । स्वल्पार्थे नञ् । चिद्वैलक्षण्यमिति । नहि चिज्जीवः प्रशास्तीति भावः । अस्थूलत्वादीति । आदिना प्रशासितृत्वम् । तथाचास्थूलादिमज्ज्ञानानन्दाकारस्येत्यर्थः । अन्तर्भाव इति । विषयतयान्तर्भावः । तासामिति । सौत्रं पदम् । तत्सहेति । 'आनन्दादयः प्रधानस्ये'त्यस्य सहकारित्वात् । प्रधानेति । प्रधानविशेषणत्वे । तत्रेति । दृष्टान्ते प्रमाणं तदुक्तमिति । यथा चतूरात्र इति । तथाहि । यजुर्वेदे 'जमदग्निः पुष्टिकामश्चतूरात्रेणायजेते'त्युत्पन्ने जामदग्न्याहीने जामदग्न्यं च तदहीनं जामदग्न्याहीनम्, तत्र पुरोडाशं 'पुरोडाशिन्युपसदो भवन्ती'ति,

१. प्रथमब्रह्मसिरूपत्तिः ।

भाष्यप्रकाशः ।

होत्रं वेत्वि'त्यादिकः पुरोडाशप्रदानमन्त्रो विनियोगविधेर्याजुषत्वेन यजुर्वेदिनाध्वर्युणा याजुर्वैदिकेनोपांशुस्वरेण पठ्यते, न तूद्गात्रा सामगेन सामस्वरेणोच्चैस्स्वरेण, तद्वत् । तदुक्तं पूर्वकाण्डे शेषलक्षणे 'गुणमुख्यव्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेदसंयोग' इति । अर्थस्तु, गुणमुख्ययोर्व्यतिक्रमे विरोधे सति तदर्थत्वात् गुणस्योत्पत्तिविधेः प्रधानार्थत्वान्मुख्येन याजुर्वैदिकेन विनियोगविधिना वेदसंयोगो ग्राह्य इति । एतद्दृष्टान्तव्याख्यानं पूर्वोक्तभाष्यत्रयेपि समानम् ।

शाबरभाष्ये त्वत्रान्यदुदाहृतम् । तथाहि । अस्त्याधानं यजुर्वेदविहितम्, 'य एवं विद्वानग्निमाधत्त' इति, तदङ्गत्वेन यजुर्वेद एव गानं च विहितम्, 'य एवं विद्वान् वारवन्तीयं गायति यज्ञायज्ञीयं गायति वामदेव्यं गायती'ति, एतानि च सामानि सामवेदे उत्पन्नानि, अतः केन स्वरेण पठनीयमिति सन्देहे, उत्पत्तिविधेर्विनियोगविध्यधीनतया यजुर्वेदस्वरो ग्राह्य इति ।

एवञ्चात्र विचार्यमाणे पूर्वोक्तं मतद्वयं न रुचिरम्, 'अक्षरधिया'मित्यत्राक्षरस्य धीरिति षष्ठीसमासे अक्षरस्य विशेषनिषेधसम्बन्धितया निवेशेन गौरवात् प्रशासनादेरसंग्रहात् पूर्वोक्तानावश्यकत्व-

रश्मिः ।

पुरोडाशयुक्तासूपसत्स्विष्टिषूपदिष्टासु पुरोडाशप्रधानकमन्त्राणामुद्गातृवेदोत्पन्नाना'मग्नेर्वैर्होत्रं वेरध्वर'मित्यादीनामुद्गात्रा प्रयोग इति यथाध्वर्युकर्तृकपुरोडाशविशेषाणां मन्त्राणां यत्र क्वचिच्छ्रुतानामप्यध्वर्यूणां सम्बन्धः, एवमक्षरं प्रति शेषाणां निषेधानां यत्र क्वचिच्छ्रुतानामप्यक्षरेण सर्वत्र सम्बन्ध इत्यर्थः । रामानुजभाष्ये तु उद्गातृवेदोत्पन्नमन्त्राः 'अग्निर्वै होत्रं वेत्वि'त्यादयः । प्रकाशे ते उपात्ताः । वेः पक्षिणः वायोर्वाग्नेर्होत्रं पुरोडाशं वेः पूर्वार्थस्याध्वरमित्यर्थः । अग्निः वै निश्चयेन होत्रं पुरोडाशं वेतु गच्छतु । 'वी प्रजननकान्तिगत्यवसादनेषु' । पुरोडाशप्रदानमन्त्रः पठ्यत इत्यनेनान्वेति । **विनियोगेति** । श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यारूपषट्प्रमाणान्यतमप्रमाणसहकृतो योङ्गसम्बन्धं बोधयति स विनियोगविधिः । यथा 'दध्ना जुहोती'त्यत्र दधिगुणवत् उपांशुस्वरो गुणो विधीयते उपसदाख्ये कर्मणि 'अग्निर्वै होत्रं वेत्वि'त्यादिमन्त्रेषु । विनियोगविधिस्तु यजुर्वेदे 'जमदग्निः पुष्टिकामश्चतूरात्रेणायजेते'त्यत्र लङ्लिङर्थ इति । श्रुतिस्तु ब्रह्मामृतवर्षिण्यां शङ्करभाष्यमतीयायाम् । 'अग्निर्वै होत्रं वेत्वि'त्यादिक इत्यत्रादिना भास्करभाष्यीया 'अग्निर्वै होत्रं वेरध्वरस्य पितरं वैश्वानरमवसेकं इन्द्राय देवेभ्यो जुहुतां हविः स्वाहे'ति ग्राह्या । अत्र जुहुतामिति विनियोगविधिर्वा । अत्र याजुषत्वं याजुषौपसदाङ्गत्वाद्बोध्यम् । याजुर्वैदिकेनेत्युपांशुस्वरविशेषणम् । **उत्पत्तीति** । प्रथमज्ञप्तिरुत्पत्तिः । 'यथाग्नेयोऽष्टाकपालः पुरोडाश' इति । **समानमिति** । श्रुतिपाठभेदस्तूक्तः । **वारवन्तीयमिति** । वारवन्तपदयुक्तं साम वारवन्तीयम् । एवमग्रेपि । 'उच्चैः साम्नोपांशु यजुषे'ति सामयजुषोः स्वरभेदोस्ति । उत्पन्नानि प्रथमज्ञातानि । **पठनीयमिति** । गानम् । **विनियोगेति** । यथा 'दध्ना जुहोती'ति विनियोगविध्यधीनः 'अग्निहोत्रं जुहोती'त्युत्पत्तिविधिः । दधिद्रव्यज्ञानं विना विशिष्टाग्निहोत्रज्ञानाभावात् । अत्र दृष्टान्तेन पूर्वपक्षोक्तहेतूनां गतिरुक्ता । तथाहि । श्रुतिविभागादिति शङ्करभाष्यीयो हेतुः, अग्रे द्वयं रामानुजभाष्यीयम् । तेषां गतिश्चिन्त्या । अक्षरस्य धीरित्यत्र विशेषनिषेधविषयिणीत्वं सम्बन्धोऽक्षरस्य धिया सह । तदाहुः **अक्षरस्येति** । विशेषनिषेधसम्बन्धो विशेष्यविशेषणभावः सोस्यास्तीति विधिनिषेधसम्बन्ध्यक्षरः तत्तयाक्षरनिवेशेन शक्यतावच्छेदके गौरवात् । व्यावहारिकसत्त्वेनाङ्गीक्रियमाणस्य जीववैलक्षण्यार्थं सोपाधिके प्रशासनद्यावापृथिवीविधारकत्वादेरसंग्रहात् । हेयप्रपञ्चप्रत्यनीकतायाः सगुणेऽभावात् पूर्वं रामानुजाचार्यमतनिरूपणे

इयदामननात् ॥ ३४ ॥

ननु संसारनिवृत्त्यानन्दाविर्भावयोरविशेषादक्षरे ब्रह्मणि लये पुरुषोत्तमे प्रवेशात् न्यूनतोक्तौ को हेतुरित्याकाङ्क्षायामाह । इयदिति परिमाणवचनम् । तस्य श्रुतौ कथनादित्यर्थः ।

अत्रेदं ज्ञेयम् । तैत्तिरीयोपनिषत्सु 'सैषानन्दस्य मीमांसा भवती'त्युपक्रम्य, मानुषमानन्दमेकं गणयित्वा, तस्मादुत्तरोत्तरं शतगुणमानन्दं गन्धर्वानारभ्य, प्रजापतिपर्यन्तस्योक्त्वा, उच्यते 'ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः, स एको ब्रह्मण आनन्द' इति । एवं सति इयत्[1] एतावदित्यक्षरानन्दस्य सावधिकत्वेन श्रुतौ कथनादानन्दमयत्वेन निरवध्यानन्दात्मकत्वस्य पुरुषोत्तमे कथनात्तथोक्तिरिति ॥ ३४ ॥

इति तृतीयाध्याये तृतीयपादे एकादशमक्षरधियामित्यधिकरणम् ॥ ११ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

दोषापत्तेश्च । तृतीये त्वक्षरस्याक्षरत्वेन निवेशादुक्तदोषत्रयाभावात्तन्मतमुत्तमम् । तथाप्याथर्वणोदितस्य परस्मादपरत्वस्य तैत्तिरीयोक्तस्य लोकरूपत्वस्य या धीस्तदसंग्रहान्न पूर्णमित्यवधेयम् ॥ ३३ ॥

इयदामननात् ॥ ३४ ॥ सूत्रमवतारयन्ति नन्वित्यादि । व्याकुर्वन्तः परिमाणवचनं व्युत्पादयन्ति अत्रेत्यादि । **आनन्दमयत्वेनेत्यादि** । पूर्वानुवाकसमाप्तावानन्दमये जीवस्योपसंक्रमणमुक्त्वा, अग्रिमारम्भे 'तदप्येष श्लोको भवती'ति तच्छब्देनानन्दमेव लक्षीकृत्य, 'यतो वाचो निवर्तन्त' इति श्लोकेन वाङ्मनसागोचरत्वस्य ब्रह्मानन्दे कथनेन पुरुषोत्तमे तथा कथनादक्षरे सावधिकत्वोक्तिरित्यर्थः । ननु 'यतो वाच' इति श्लोकः 'कदाचने'ति पाठभेदेन मनोमयेपि पठ्यते, ब्रह्मोपनिषदि च 'आनन्दमेतज्जीवस्य यज्ज्ञात्वा मुच्यते बुध' इति श्लोकोत्तरार्धं पठ्यते, अतः कथमेतेन पुरुषोत्तमानन्दस्य तथात्वसिद्धिरिति चेत् । उच्यते । मनोमयस्य वेदात्मकताया यजुःशिरस्त्वादिना बोधितत्वाद्वेदस्य च शब्दब्रह्मात्मकत्वात् 'सर्वे वेदा' इति श्रुतेर्ब्रह्मबोधकत्वान्मनोमयश्लोके ब्रह्मण इति पञ्चम्या शब्दब्रह्मणो वेदान्मनोमयादवाङ्मनसगोचरमानन्दं विद्वान्

रश्मिः ।

उक्तमनावश्यकत्वं सगुणत्वस्य विशेषस्य निषेधादनावश्यकत्वदोषापत्तेरित्यर्थः । द्वितीयभास्करमते भेदोपि कार्यात्मना ज्ञेयः । **उक्तेति** । गौरवादित्याद्युक्तदोषत्रयाभावात् । **तन्मतं** रामानुजमतमुत्तमम् । **परस्मादिति** । नन्वक्षरधियामित्यत्राक्षरशब्दशक्यतावच्छेदकमक्षरत्वम्, परस्मादपरत्वं तु 'ऋग्वेदो यजुर्वेद' इत्यादिश्रुत्युक्तं ऋगादाविति चेत् । न । अक्षरस्यापरविद्यात्वात्तत्राप्यपरत्वं प्राप्तमिति । 'द्वे विद्ये वेदितव्ये परा चैवापरा चे'ति श्रुतेः । **तैत्तिरीयेति** । किंचेतिभाष्ये महानारायणोक्तस्य । **तदसंग्रहादिति** । 'अक्षरधिया'मित्यत्राक्षरस्याक्षरत्वेन निवेशात्, विशेषनिषेधसम्बन्धितयाप्यनिवेशात् परस्मादपरत्वेन लोकरूपत्वेनाप्यनिवेशात् तस्या असंग्रहात् । अक्षरपदशक्यतावच्छेदके न पूर्णम्, किंतु न्यूनमिति न्यूनताख्यनिग्रहस्थानमित्यर्थः ॥ ३३ ॥

इयदामननात् । **नन्वित्यादीति** । **अविशेषादिति** । 'दुःखाभावः सुखं चेति पुरुषार्थद्वयं मत'मितिवाक्यादविशेषात् । **तथात्वेति** । निरवध्यानन्दत्वसिद्धिः । **पुरुषोत्तमेति** । शब्दब्रह्मप्रति-

१, इयत इति पाठः ।

भाष्यप्रकाशः ।

कदाचन न बिभेतीति पुरुषोत्तमानन्दज्ञानसाधनतया मनोमय एतस्योक्तया, ब्रह्मोपनिषदि च 'यज्ज्ञात्वा मुच्यते बुध' इति तुरीयपादे कथनेन जीवाभिन्नमानन्दमेतदित्यर्थायोगात् यस्मिन् परमात्मनि जीवात्मा संधेयत्वेन पूर्वमन्त्रे उक्तः, एतत्परमात्मस्वरूपं आनन्दं आनन्दोऽस्यास्तीत्यानन्दं जीवस्य सन्धेयत्वेन सम्बन्धि, यज्ज्ञात्वा बुधः सन् मुच्यत इत्यर्थकतया तस्य भगवदीयत्वेन तथात्वसिद्धिरिति जानीहि । अतो न चोद्यावकाश इति दिक् ।

अन्ये तु, इदमेकसूत्रमधिकरणान्तरमङ्गीकृत्य, 'द्वासुपर्णेति' मन्त्रो मुण्डके श्वेताश्वतरे च ब्रह्मप्रकरणे पठ्यते, काठके तु 'ऋतं पिबन्ता'विति । तयोराद्ये भोक्त्रभोक्त्रोर्वेद्यता, द्वितीये तु भोक्त्रोरेवेति वेद्यभेदाद्विद्याभेदे प्राप्ते, विद्यैक्यं युक्तम् । इयत एतावन्मात्रस्य द्वित्वपरिच्छिन्नस्योभयत्रामननात् । 'पिबन्ता'वित्यस्य प्रयोगस्य छत्रिन्यायेन पिबदपिबत्समुदायेपि सम्भवात् । उपक्रमोपसंहाराभ्यामेतयोर्वाक्ययोः परविद्यात्वनिश्चयेन उभयत्रापि जीवसहितस्य ब्रह्मण एव प्रतिपाद्यत्वादित्याहुः ।

तन्मतेऽधिकरणवैयर्थ्यमेव । काठकवाक्यस्य जीवद्वयपरत्वं निवार्य जीवसहितब्रह्मपरत्वस्य 'गुहां प्रविष्टा'वित्यधिकरण एव प्रतिपादितत्वात्तदपेक्षयाधिक्यस्यात्रादर्शनाच्चेति ।

रामानुजाचार्यास्तु, इयत् अस्थूलत्वादिविशेषितमानन्दादिकमेव गुणजातं सर्वत्रानुसन्धेयत्वेन प्राप्तम् । कुतः । आमननात् । आभिमुख्येन मननं चिन्तनमामननं तस्माद्धेतोरित्येवमर्थमाहुः । तत्राप्युदासीना वयम् ॥ ३४ ॥ **इत्येकादशमक्षरधियामित्यधिकरणम्** ॥ ११ ॥

रश्मिः ।

पाद्यपुरुषोत्तमानन्दशब्दं ज्ञानं तस्य साधनतया । साधनत्वमुक्तविधया । **एतस्येति** । निरवध्यानन्दस्य । **इत्यर्थायोगादिति** । कर्मकर्तृभेदौचित्यादितिभावः । **पूर्वमन्त्र** इति । 'महात्मा प्रज्ञयात्मत्वं संधत्ते परमात्मनि । तेन सन्ध्याध्यानमेव तस्मात्सन्ध्याभिवन्दन'मिति मन्त्रे । **तस्येति** । निरवध्यानन्दस्य । **तथात्वेति** । निरवध्यानन्दसिद्धिः । **चोद्येति** । पुरुषोत्तमजीवमनोमयानन्दश्रुत्या प्राप्तस्य चोद्यस्य दोषस्यावकाशः । **तयोरिति** । वाक्ययोः । **भोक्त्रभोक्त्रोः** ब्रह्मजीवयोः । **भोक्त्रोरिति** । छायातपयोः । **छत्रीति** । 'छत्रिणो यान्ती'तिन्यायेन छत्री राजा, अन्ये त्वच्छत्रिणः । **उपक्रमेति** । मुण्डके तृतीयमुण्डकारम्भस्यापि द्वितीयमुण्डकस्था 'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुष' इत्युपक्रमेण 'आनन्दरूपममृतं यद्विभाती'ति वोपक्रमेण संपन्ना । श्वेताश्वतरे 'य एको वर्णो बहुधा शक्तियोगा' दित्युपक्रम्य 'अजामेकां लोहितकृष्णरूपा'मित्युपक्रम्य वा 'द्वा सुपर्णे'त्यस्याः कथनात् । उपसंहारस्तु मुण्डके 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्य' इति, श्वेताश्वतरे 'ऋचो अक्षरे परमे व्योम'न्निति । **उभयत्रेति** । वाक्ययोः । **अत्रेति** । अस्मिन्नधिकरणे । अतोऽस्य सूत्रस्य पूर्वशेषत्वमिति भावः । **अस्थूलत्वादीति** । अस्थूलत्वादिमदानन्दादिकमित्येवं विशेषितम् । इदं पूर्वशेषमस्मिन्मते । **तत्रापीति** । अपिना पूर्वमतसमुच्चयः । एकत्रावृत्तेरदूषकत्वादपरत्र विद्वन्मण्डने 'अभेदादनुपाधित्वा'दित्यनयोक्तत्वादुदासीनाः । मायागुणैः सर्वकर्मत्वादिभिश्चिन्तनीयमित्यन्ये । रामानुजास्तु मायागुणैरचिन्तनीयम् । अस्मन्मतेऽपि । 'प्रवर्तते यत्र रजस्तमस्तयोः सत्त्वं च मिश्र'मिति द्वितीयस्कन्धात् ॥ ३४ ॥ **इत्येकादशमक्षरधियामित्यधिकरणम्** ॥ ११ ॥

अन्तरा भूतग्रामवत् स्वात्मनः ॥ ३५ ॥ (३-३-१२.)

अथ ज्ञानमार्गे यथा स्वात्मत्वेन ब्रह्मणो ज्ञानम्, तथा भक्तिमार्गेपि भक्त्या पुरुषोत्तमज्ञाने स्वात्मत्वेन पुरुषोत्तमज्ञानं भवति, न वेति विचार्यते । सर्वान्तरत्वेन श्रुतौ कथनात् तत् भवतीति पूर्वः पक्षः । तथात्वेपि 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशान' इत्यादिश्रुतिभिरेवमेव ज्ञानम्, न तु तथेति सिद्धान्तः । अत्र तथा

भाष्यप्रकाशः ।

अन्तरा भूतग्रामवत् स्वात्मनः ॥ ३५ ॥ अधिकरणमवतारयन्ति **अथेत्यादि** । यथा ज्ञानमार्गेऽक्षरधियः स्तूयन्ते, तथाऽभेदोपासनापीति भक्तिमार्गे अक्षरधीविनियोगविचारोत्तरमभेदधीस्मरणाज्ज्ञानमार्गे पूर्णज्ञानसम्पत्तौ यथा स्वात्मब्रह्माभेदानुभवात्मिका वृत्तिर्भवति, तथा भक्तिमार्गे सिद्धायां भक्तौ 'भक्त्या मामभिजानाती'ति वाक्यावेदिते ज्ञाने स्वात्मपुरुषोत्तमाभेदानुभवात्मिका वृत्तिर्भवति, न वेति संशये विचार्यत इत्यर्थः ।

पूर्वपक्षमाहुः **सर्वान्तरत्वेनेत्यादि** । बृहदारण्यके कहोडप्रश्ने उषस्तप्रश्ने च 'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वे'ति, तदुत्तरवाक्ये च 'एष त आत्मा सर्वान्तर' इति याज्ञवल्क्येन सर्वान्तरत्वेन कथनात्, अन्तर्यामिब्राह्मणे च 'यः पृथिव्यां तिष्ठन् यः पृथिवीमन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयती'त्यारभ्य, 'य आत्मनि तिष्ठ'न्नित्यन्तैर्वाक्यैः परमात्मा सर्वान्तरत्वेन श्रावितः । स च यदन्तस्तिष्ठति, तं स्वान्तः स्थापयति, वह्निरिवायोगोलकमित्यन्तर्यामिब्राह्मणे सिद्धम् । तथा सति श्रौतेन येन केनापि साधनेन तस्मिन्नभिज्ञायमाने स्वात्मनस्तद्व्याप्तत्वेन भेदास्फुरणात् स्वात्मत्वेन ज्ञानमदण्डवारितम्, अतस्तद्भवतीति पूर्वः पक्ष इत्यर्थः ।

सिद्धान्तमाहुः **तथात्वेपीत्यादि** । ब्रह्मणः सर्वान्तरतया एतदात्मनस्तदविभक्तत्वेपि 'सर्वस्य वशी'त्यादिश्रुतिभिः सर्वेशितृत्वादिरूपेणैव ज्ञानम्, उत्कटया भक्त्या तेषामेव स्फुरणात्, न तु स्वात्मत्वप्रकारकमित्येष सिद्धान्त इत्यर्थः । नन्वभिज्ञाने सर्वांशज्ञानदर्शनात्तदंशाज्ञाने को हेतुरित्याकाङ्क्षायां हेतुं गृह्णन्ति **अत्र तथेत्यादि** । **विपरीत** इति । स्वात्मत्वेन ज्ञाने । **एतदेव**

रश्मिः ।

अन्तरा भूतग्रामवत् स्वात्मनः ॥ ३५ ॥ **एष** इति । समीपतरवर्ती । **स्थापयतीति** । स्वाश्रयाश्रयत्वार्थं तथा । **तस्मिन्निति** । पुरुषोत्तमे । **अभीति** । 'भक्त्या मामभिजानाती'ति वाक्यं स्मारितम् । **अदण्डेति** । यथा दण्डेन गामभ्याजेत्यत्र दुष्टायां गवि दण्डोपयोगः, तथाऽदुष्टे पूर्वपक्षज्ञानमदण्डेन वारितमित्यर्थः । **एतदात्मनः** समीपतरवर्तिजीवात्मनः । **एवेति** । श्रीगोस्वामिनां महाविष्णुत्वेन टिप्पण्युक्तदिक् परस्याप्यभिप्रेतेत्येवकारः । **तेषामिति** । सर्वेशितृत्वादीनाम् । अयमर्थः । टिप्पण्यां श्रीगोस्वामिभिः 'समुद्विजे भवद्धेतो'रित्यत्र ब्रह्मविद्यायां देवक्यां भक्तिमार्गीयसामग्र्या ज्ञानमार्गीयसामग्रीबाधोपपादनात्तेषामिति । अधुनापि तथैव भक्तप्रत्यक्षविषयत्वेनैवकारः । **स्वात्मत्वेति** । स्वात्मत्वप्रकारकपुरुषोत्तमविशेष्यकं ज्ञानमित्यर्थः । **तदंशेति** । ईक्षत्यधिकरणे यावद्धर्मत्वेनाज्ञानमुक्तमत्राभिज्ञाने तदंशाज्ञाने को हेतुरिति प्रश्नः । **अत्र तथेत्यादीति** । वृतभक्ते स्वात्मत्वेन पुरुषो-

१. स्वात्मत्वेनेति पाठः । २. अक्षरधीविचारेणाभेदज्ञानस्मरणानन्तरं ज्ञानमार्गे इति पूर्वः पाठः श्रीहस्ताक्षरेषु ।

ज्ञानाभावस्यावश्यकत्वार्थं विपरीते बाधकमाह । पूर्वस्मिन् सूत्रे ब्रह्मानन्दात् भजनानन्दस्याधिक्यं निरूपितम् । स तु भगवद्दत्तः । तद्व्यवधायकोऽर्थश्च प्रभुणा न सम्पाद्यते । स्वात्मत्वेन ज्ञानं च भजनानन्दान्तरायरूपम् । यद्येतत् सम्पादयेत्, तं न दद्यात्, अग्रेऽन्यथाभावात्, अतः स्वात्मत्वेन ज्ञानं भक्तिमार्गीयस्य न सम्भवतीत्याशयेनाह अन्तरा स्वात्मन इति । भगवता भक्तिमार्गे स्वीयत्वेनाङ्गीकृतो य आत्मा जीवस्तस्य यदात्मत्वेन ज्ञानम्, तत् भजनानन्दानुभवे अन्तरा व्यवधानरूपमिति भगवता तादृशे जीवे तन्न सम्पाद्यत इत्यर्थः । तत्सम्पादनस्य सर्वथैवासम्भावितत्वं हीनत्वं च ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह भूतग्रामवदिति । उक्तभक्तस्य विग्रहोऽप्यलौकिक इति तत्र लौकिको भूतग्रामो न सम्भवति, हीनत्वात्त-

भाष्यप्रकाशः ।

विभजन्ते पूर्वस्मिन्नित्यादि । 'इयदामनना'दिति सूत्रे अक्षरस्य गणितानन्दत्वबोधनेन ब्रह्मानन्दाद्भजनानन्दस्याधिक्यं निरूपितम् । स भजनानन्दस्तु कृपाधिक्येन भगवता दत्त इति तद्व्यवधायकोऽर्थो भगवता न सम्पाद्यते । 'स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छ'दित्यादिश्रुतिभ्यो मुख्यभक्तिमार्गस्य क्रीडार्थत्वावगमादभेदे च क्रीडाया असम्भवात् । स्वात्मत्वेन ज्ञानं हि 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्ये'दिति श्रुतेर्भेदविलायकत्वेन भजनानन्दान्तरायरूपं यदि स्वात्मत्वेन ज्ञानं सम्पादयेत्, भजनानन्दं न दद्यात्, अग्रे विलयेन तस्यान्यथाभावात्, अतः स्वात्मत्वेन ज्ञानं भक्तिमार्गीयस्य पूर्णदशायां न सम्भवतीत्याशयेन स्वात्मत्वेन ज्ञाने बाधकमनेन सूत्रेणाहेत्यर्थः । सूत्रं व्याकुर्वन्ति भगवतेत्यादि । अन्तरेति मध्यवाचकमव्ययम् । तथाच व्यवधायकमित्यर्थः । नन्वस्तु तस्यान्तरायत्वम्, तथापि तन्न सम्पादयतीति कथमवगन्तव्यमित्यत आहुः तत्सम्पादनस्येत्यादि । अलौकिक इति । साक्षात्सम्बन्धस्य हेये लौकिकविग्रहे असम्भवादलौकिकः । हीनत्वात्तथेत्यर्थ इति । तथाच चिकीर्षितलीलाप्रतिबन्धकत्वेन हीनत्वाद्भूतग्रामवदन्तरायत्वं दृष्टान्तेनावगन्तव्यमित्यर्थः । लौकि-

रश्मिः ।

त्मज्ञानाभावस्य । बाधकमिति । अन्तरायत्वरूपं बाधकं सूत्रकार आह दत्त इति । सर्वात्मभावो दत्त इति तत्फलं सोपि दत्तः । फलसाधने एकीकृत्य निरूपिते वा । अर्थ इति । अभेदः । नेति । भक्तवश्यत्वादिति भावः । भक्तभावस्तु 'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा' इति श्रुत्युक्तः । एकाकीति । एतावत्पर्यन्तमेकाकी पुरुषविधः । अहंकारपाप्मदाहभयविशिष्टः । मुख्येति । भक्तिमार्गेऽहंकारादिसत्त्व एकाकित्वम्, ज्ञानमार्गे तु न, ब्रह्मातिरिक्ताहंकारादेर्लयात् । कर्ममार्गे तु कर्मरूपीश्वरः । अतोऽत्र भक्तिमार्गस्येत्युक्तम् । मुख्यत्वं त्रिषु मार्गेषु । स्वात्मत्वेनेत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म स्वात्मत्वेनेति । भजनानन्देति । सर्वात्मभावजन्यभजनानन्दान्तरायरूपम् । ज्ञानमिति । पुरुषोत्तमज्ञानम् । भजनानन्दमिति । भाष्यीयस्य तमितिपदस्यार्थः । अग्र इति भाष्यार्थोऽग्र इति । तस्येति । भक्तैः सह निगूढभावकर्तुः श्रीपुरुषोत्तमस्यैवार्थेन भेदेन लीला अनुभ(व)वतः अन्यथाभावोऽभेदेन भावः । बाधकमिति । विभाज्यस्यानुवृत्तिः । भगवतेत्यादीति । ननु जगद्व्यापारवर्जेऽधोक्षजे स्वात्मत्वेन ज्ञानमसम्भवीत्यत आहुः स्वीयत्वेनेति । तथाच 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्य' इति श्रुतिविषयभक्तविषयं पुरुषोत्तमस्य स्वात्मत्वेन ज्ञानं सम्भवीति भावः । तादृश इति । वृते । नेति । अन्यत्राप्राप्तं वृते प्राप्तं नेत्यर्थः । तत्सम्पादनस्य अभेदसम्पादनस्य । उक्तेति । वृतभक्तस्य पुरुषोत्तमशरीरत्वेन तस्य विग्रहोपि

थेत्यर्थः । अथवा । लौकिको भूतग्रामः स्त्रीपुत्रपश्वादिर्ब्रह्मानन्दानुभवे बाधकः, तथा भजनानन्दानुभवे स्वात्मत्वेन भगवज्ज्ञानमित्यर्थः ॥ ३५ ॥

अन्यथाऽभेदानुपपत्तिरितिचेन्नोपदेशान्तरवत् ॥ ३६ ॥

ननु भक्तेष्वप्युद्धवादिषु ज्ञानोपदेशः श्रूयते, स चात्मब्रह्माभेदज्ञानफलक इत्यात्मत्वेन ज्ञानाभावे तदभेदोपदेशानुपपत्तिः स्यादिति तन्मन्तव्यमेव, एवं सति भक्तिमार्गात् ज्ञानमार्गस्योत्कर्षश्च सिध्यतीत्याशङ्क्य, परिहरति उपदेशा-

भाष्यप्रकाशः ।

कशरीरस्य प्रतिबन्धकत्वं सन्दिग्धत्वादुपपादनसापेक्षमित्यरुच्या प्रकारान्तरेण दृष्टान्तं व्याकुर्वन्ति अथवेत्यादि । यत्तदोर्नित्यसम्बन्धाद्यथेति पदमर्थादेवायातीत्यतो नोक्तम् ॥ ३५ ॥

अन्यथाऽभेदानुपपत्तिरितिचेन्नोपदेशान्तरवत् ॥ ३६ ॥ स्वात्मत्वेन भगवज्ज्ञानस्य बाधकत्वे भक्तेषु तदुपदेशो नोपपद्येतेत्याशङ्क्य परिहरतीत्याशयेन व्याकुर्वन्ति नन्वित्यादि । श्रूयते इति । एकादशस्कन्धे उच्यते । आत्मत्वेन ज्ञानाभावे इत्यन्तोऽन्यथापदस्यार्थः । तदभेदोपदेशानुपपत्तिरित्यभेदानुपपत्तिरित्यस्यार्थः । इतीत्यारभ्य, परिहरतीत्यन्त इति चेन्नेत्यस्यार्थो व्याख्यातः ।

तत्रैवमभिसन्धिः । पूर्वं उपपन्नसूत्रे दासीदाससुहृद्भेदेन त्रिविधा लीलामध्यपातिनो भक्ता उक्ताः, तत्र 'नोद्धवोऽण्वपि मन्न्यून' इति वाक्यादुद्धवोऽत्यन्तरङ्गः । आदिपदेन व्रजस्थाः, तेपि 'रामेण सार्धं मथुरां प्रणीत' इत्यादिना विगाढभावा उक्ताः, तत्रोद्धवे साक्षादुपदेशः, व्रजस्थेषु सन्देशेन साक्षाच्च । तथा सतीतरेषु तदावश्यकत्वं किं वाच्यम् । किञ्च, तेषु चेदुपदेशो विफलः स्यात्, तदा अपार्थकार्यकर्तृत्वाज्जीवतुल्यत्वं चापद्येतेति तस्य तेषु फलमवश्यमभ्युपेयम् । एवं सति पूर्वोक्तं सर्वमयुक्तमिति सूत्रांशेनाशङ्क्य, दृष्टान्तेन परिहरतीति बोध्यः ।

रश्मिः ।

'ममास्तु तव सन्निधौ तनुनवत्वमेतावता न दुर्लभतमा रतिर्मुररिपौ मुकुन्दप्रिय' इति यमुनाष्टकोक्तोऽलौकिकः । साक्षात्सम्बन्धस्येति । भगवत्साक्षात्सम्बन्धस्य । चिकीर्षितेति । 'अथातोऽनुप्रश्नाः । उताविद्वानमुं लोकं प्रेत्य कश्चन गच्छति । आहो विद्वानमुं लोकं प्रेत्य कश्चित्समश्नुता उ ।' अग्रे 'अस्माल्लोकात्प्रेत्य एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रामती'त्यानन्दमयपर्यन्तमुपसंक्रमणमुक्तम् । तदनन्तरं चिकीर्षितलीलाप्रतिबन्धकत्वेन । सन्दिग्धत्वादिति । पुष्टिमार्गीयाणां भक्तानामलौकिकशरीरप्राप्तिं विनैव पुरुषोत्तमानुभव इति सन्दिग्धत्वात् । किञ्च, पुरुषोत्तमस्य स्वात्मत्वेनानुभवो लीलान्तःपात्यपि लीलान्तःपातिप्रतिबन्धकसहित इति स नोक्तः । इत्यर्थ इति । तथाच श्रुतिः 'गुहां प्रविष्टावात्मानौ'वित्यधिकरणे 'विशेषणाच्चे'तिसूत्रे माध्वभाष्ये 'सत्य आत्मा सत्यो जीवः सत्यं भिदा सत्यं भिदा सत्यं भिदा मैवारुणो मैवारुणो मैवारुण' इति पैङ्गिश्रुतिः । भेद इवशब्दार्थकः । गीतायां 'विभक्तमिवे'ति ब्रह्म(प्र)करणवाक्यात् ॥ ३५ ॥

अन्यथाऽभेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशान्तरवत् ॥ ३६ ॥ विगाढेति । विगाढत्वं नामाविहितभक्त्या निरन्तरपुष्टपरमप्रेमभक्तिकत्वं भावे । 'रामेण सार्ध'मितिश्लोके सिद्धम् । तस्य तेष्विति । उपदेशस्योद्धवादिभक्तेषु । फलं स्वात्मत्वेन पुरुषोत्तमाभेदज्ञानम् । पूर्वोक्तमिति । अभेदज्ञा-

न्तरवदिति । न ह्यत्राभेदज्ञानायोपदेशः, किन्तु यथाग्रिमस्वर्गापवर्गाख्यपारलौकिकानन्दफलकालौकिके कर्मण्यधिकाररूपसंस्कारार्थं गायत्र्युपदेशः क्रियते, तत्संस्कारसंस्कृतं तच्छरीरादिकमपि भूतादिभिरपि नोपहतं भवति, यथा वा योगोपदेशसंस्कृतस्य वपुरग्न्यादिभिर्नोपहन्यते, तथा प्रकृते भक्तिभावस्य रसात्मकत्वेन संयोगविप्रयोगभावात्मकत्वात् द्वितीयस्य प्रलयानलादतिकरालत्वेन कदाचित्तद्भावोदये तेन भक्तवपुरादेस्तिरोधानेऽग्रिमभजनानन्दानुभवप्रतिबन्धः स्यादिति तन्निवृत्त्यर्थं ज्ञानोपदेशसंस्कारसंस्कृतं तद्वपुरादिकं भगवता क्रियते, न त्वात्माभेदज्ञानं भगवतोऽभिप्रेतमित्यर्थः । अन्यथोपदेशानन्तरं बदरीं गच्छन् विदुरं प्रति 'इहागतोऽहं विरहातुरात्मे'ति न वदेत् । एवमेवान्येष्वपि भक्तेषु ज्ञेयम् । अत्रोपदेशान्तरपदं प्रस्तुतोपदेशभिन्नमुपदेशान्तरमाहेति प्रस्तुतस्य

भाष्यप्रकाशः ।

दृष्टान्तं व्याकुर्वन्ति न हीत्यादि । अत्र प्रथमार्थे वतिः । तथाच फलान्तरार्थं यथा गायत्र्युपदेशः, तथा भजनानन्दार्थमयमुपदेश इत्यर्थः । तस्यावान्तरफलं तत्संस्कारेत्यादिनोच्यते । तत्तथा न प्रसिद्धम्, अतः प्रकारान्तरमाहुः यथा वेत्यादि । एतच्चोक्तमेकादशे 'अग्न्यादिभिर्न हन्येत मुनेर्योगमयं वपु'रिति । अभिप्रेतमिति । मुख्यत्वेन अभिप्रेतम् । तथाचोक्तरीत्या उपदेशस्य फलान्तरसत्त्वेनात्मनि तदभेदज्ञानस्य साफल्ये सति न भगवतो जीवतुल्यत्वापत्तिः, नापि ज्ञानमार्गोत्कर्ष इत्यर्थः । नन्वत्रोक्तरीत्या भजनानन्दप्रतिबन्धाभाव एवोपदेशफलम्, न ब्रह्माभेदानुभव इत्यत्र किं गमकमित्याकाङ्क्षायामाहुः अन्यथेत्यादि । एवमन्येष्वपि भक्तेषु ज्ञेयमिति । कुरुक्षेत्रप्रसङ्गस्योत्कण्ठावाक्यैः 'आहुश्च ते नलिननाभे'ति वाक्याच्च ज्ञेयम् । ननु भवत्वेवम्, तथापि सूत्रे 'अभेदानुपपत्ति'रित्युक्तम्, न त्वभेदोपदेशानुपपत्तिरिति, अतोऽत्रायमेव सूत्रकाराशय इति कथं ज्ञातव्यमित्यत आहुः अत्रेत्यादि । दृष्टान्तकोटिप्रविष्टमुपदेशान्तरपदं प्रस्तुतोपदेशभिन्नमुपदेशान्तरमाहेति प्रस्तुतस्य तस्योपदेशस्याभावादभेदानुपपत्तिपदमलग्नकं स्यात्,

रश्मिः ।

नस्य प्रतिबन्धकत्वम् । बोध्य इति । अभिसन्धिबोध्य इत्यर्थः । अत्रेति । सौत्रदृष्टान्ते । अयमिति । सौत्रो भेदोपदेशः । मुख्यत्वेनेति । अन्यानङ्गत्वेन । उक्तविरोधादितिभावः । उक्तरीत्येति । यथा वेत्यादिभाष्योक्तरीत्या । नेति । अपार्थकार्यकर्तृत्वात्तथा । नापीति । एवं सति भक्तिमार्गाज्ज्ञानमार्गोत्कर्ष इत्यादिभाष्योक्तज्ञानमार्गोत्कर्षो नेत्यर्थः । उक्तरीत्येति । यथा वेत्यादिभाष्योक्तरीत्या । अन्यथेत्यादीति । न वदेदिति । उपदेशानन्तरं पुरुषोत्तमाभिन्नत्वादविरहात्मेति वदेत् । अन्येष्विति । देवकीवसुदेवार्जुनेषु । एकादशसमाप्तौ 'प्राणांश्च विजहुस्तत्र भगवद्विरहातुरा' इति वाक्यम् । अर्जुने तु 'कृष्णस्य विरहातुर' इति वाक्यम् । श्रीनन्दे तु वक्ष्यमाणम् । अत्र विरहोऽविद्यया वियोपमर्दे इत्याशङ्क्याहुः कुरुक्षेत्रेति । एकोनाशीतितमाध्याय उत्तरार्धे 'अथैकदा द्वारिकाया'मित्यारम्भके उत्कण्ठावाक्यानि । तानि च 'का विस्मरेत वां मैत्री'मित्यादीनि । वां नन्दयशोदयोः मैत्रीम् । रोहिणी देवकी च वदति यशोदां प्रति । इतोप्युत्कण्ठावाक्यमाहुः आहुश्चेति । गोप्य आहुश्च । 'आहुश्च ते नलिननाभ पदारविन्दं योगेश्वरैर्हृदि विचिन्त्यम-

१. अपिर्नास्ति क्वचित् । २. प्रकाशे एवेति नास्ति । ३. उपदेशमाहेति पाठः ।

तस्यान्यस्याभावादभेदपदेनाभेदोपदेश एवोच्यते । एतेन भगवान् स्वीयानां भक्तिभावप्रतिबन्धनिरासायैव सर्वं करोतीति ज्ञापितं भवति ।

अथवा । उपदेशान्तरवदित्यस्यायमर्थः । शरीराद्यध्यासवतस्तद्भिन्न आत्मा तत्त्वम्, न तु शरीरादिरित्युपदेशो ज्ञानमार्गे यथा क्रियते, तेन शरीरादावात्मबुद्ध्या यः स्नेहादिः, सोऽपगच्छति, तथात्र सर्वेषामात्मनो ह्यात्मा 'य आत्मनि तिष्ठ'न्नित्यादिश्रुतिसिद्धो जीवात्मनोऽप्यात्मा पुरुषोत्तम इति बोध्यते । तेन पुरुषोत्तमे निरुपधिः स्नेहस्तत्सम्बन्धित्वेनात्मनि स सिध्यति । यद्यप्येवंभावः पूर्वमप्यासीदेव, तथापि सहजस्य शास्त्रार्थत्वेन ज्ञाने सति प्रमोदो दार्ढ्यं च भवतीति तथा । नैतावता जीवाभेद आयाति । अग्रे जीवनसम्पत्तिरेवोपदेशकार्यम्, न तु तेन पूर्वभावोपमर्दः सम्भवतीति सारम् । तेन ज्ञाने सर्वाधिक्यं मन्वानाय भक्तिबलप्रदर्शनं च सिध्यति ॥ ३६ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

अतोऽत्राभेदपदेनाभेदोपदेश एव लक्षणयोच्यत इत्यभेदपदान्वयानुपपत्त्या ज्ञातव्यमित्यर्थः । तेन सिद्धमाहुः एतेनेत्यादि । एतेनेति । उक्ताशङ्कानिरासेन ।

भक्तदेहस्थितेर्योगादेशादपि सम्भवेन तदर्थमात्मब्रह्माभेदोपदेशकथनं न युक्तमित्यरुच्या उपदेशान्तरपदस्यार्थान्तरमाहुः अथवेत्यादि । तथाच स ज्ञानोपदेश एतदर्थः, न त्वात्मब्रह्माभेदज्ञानफलक इति न तेन ज्ञानोत्कर्षसिद्धिरित्यर्थः । नन्वेवं सति ज्ञानोपदेशवैयर्थ्यं नापैतीत्याशङ्क्य परिहरन्ति यद्यपीत्यादि । तथेति । अवैयर्थ्यम् । नैतावतेत्यादि । तथाचैवं ज्ञानोपदेशस्य सार्थक्यादेतावता आत्मत्वोपदेशमात्रेण न जीवस्य ब्रह्माभेद आयातीत्यर्थः । तेन सिद्धमाहुः अग्र इत्यादि । तथाच यत्र किञ्चित्कार्यार्थं विप्रयोगसहनमावश्यकम्, तत्रैवैवं प्रभुः करोति, न तु सर्वत्र । अतः पूर्वोक्तं सर्वं सारमुपपन्नमित्यर्थः । एवंकरणस्य प्रासङ्गिकं फलमाहुः तेनेत्यादि ।

ननूद्धवादिषु ज्ञानोपदेशः पौराणः, स किमर्थमिह विचार्यत इति चेत् । उच्यते । 'विधिश्च प्रतिषेधश्च निगमो ही'त्यादिनोद्धवकृतप्रश्नेन 'मां विधत्तेऽभिधत्ते मा'मित्यादिना भगवदुक्तोत्तरेण

रश्मिः ।

गाधबोधैः । संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं गेहंजुषामपि मनस्युदियात्सदा नः' । लक्षणयेति । नामैकदेशत्वादैशिकसम्बन्धो लक्षणा तया । अभेदपदेति । यथा 'गङ्गायां घोष' इत्यत्र घोषपदान्वयानुपपत्त्या लक्षणाबीजभूतया ज्ञातव्यमित्यर्थः । उक्तेति । ननु भक्तेष्वित्याद्युक्तशङ्कानिरासेन । भक्तिभावेति । विरहेण वपुराद्यभावे भक्तिभावे विरहांशप्रतिबन्धः तन्निरासाय । भ्रमरगीतसुबोधिन्यैवकारः । अपैतीति । पूर्ववत् । यद्यपीत्यादीति । पूर्वमिति । (यथाहुस्ते (उद्धवादयः) उत्पत्त्यैव भक्ता इति । तथाच जन्मना ज्ञानवन्तो जडभरतादयो ज्ञेयाः । यद्वा । युगलगीते गोपीनां सिद्धेः ।) उपदेशात्पूर्वमित्यर्थः । अतीति । तेनोत्तमाधिकारोद्द्योति भाष्यारम्भकारिकायाः । अग्र इत्यादीति । देवकीवसुदेवार्जुननन्दगोपीषु । अग्रे एकादशसमाप्तौ एकाशीतितमाध्याये भ्रमरगीते च । उपदेशकार्यमुक्तम् । अतः पूर्वोक्तमिति । भक्तविषयत्वात्पूर्वोक्तं भक्तिभावप्रतिबन्धनिराकरणाय ज्ञानोपदेशः, न तु पुरुषोत्तमस्यात्मत्वेन ज्ञानायेत्युक्तम् । सारमिति । स्मार्तः प्रयोगः । 'सारं सारं समुद्धृत'मिति वाक्यात् । प्रासङ्गिकमिति । प्रसङ्गो ब्रह्माभेदज्ञानफलकज्ञानोपदेशपरिहारस्य तेन जन्यते भक्तिबलप्रदर्शनं प्रासङ्गिकम् ।

१. अतिप्रमोद इति पाठः ।

व्यतिहारो विशिंषन्ति हीतरवत् ॥ ३७ ॥

ननु 'तद्योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽह'मित्यैतरेयके, तैत्तिरीयके च 'अहमस्मि ब्रह्माहमस्मी'ति पठ्यते। अत्र मध्यस्थं ब्रह्मपदमुभयत्र सम्बध्यते। तेनावृत्त्या व्यतिहारः। अतो ब्रह्माभेदः सिध्यति। तथा लीलामध्यपातिभक्तानामपि 'कृष्णोऽहमहं कृष्ण' इति भाव उल्लेखश्च श्रूयते। अतस्तदभेदज्ञानं भक्तिफलमिति पुरफुल्यमानं[1] प्रतिवादिनं तत्स्वरूपं बोधयति। रसात्मकत्वाद्भक्तेः संयोगविप्रयोगात्मकत्वात्

भाष्यप्रकाशः ।

च तस्य श्रौतत्वस्फुटीकरणात्, सन्देशेपि 'एतदन्तः समाम्नाय' इति वाक्येन तथात्वाद्विचार्यत इति जानीहि ।

अत्र शाङ्करा द्विसूत्रमेतदधिकरणमङ्गीकृत्य बृहदारण्यकस्थोषस्तकहोडब्राह्मणयोर्भिन्नविद्यात्वमभ्यासादाशङ्क्य रूपाभेदादैकविध्यं साधयन्ति ।

भास्कराश्च सूत्रमेकीकृत्य उपदेशवदित्येवं पठित्वा पूर्ववदेव सिद्धान्तयन्ति ।

रामानुजास्तु व्यतिहारादिसूत्रद्वयमत्र निक्षिप्यैतदेव सिद्धान्तयन्ति ।

तदिदमुपसंहारस्वाध्यायसूत्राभ्यामेव सिध्यतीति तेनैव गतार्थम्, अतो न पृथक् चिन्तनीयम् ॥ ३६ ॥

व्यतिहारो विशिंषन्ति हीतरवत् ॥ ३७ ॥ सूत्रमवतारयन्ति नन्वित्यादि । ऐतरेयके इदं वाक्यमादित्यपुरुषं प्रकृत्योक्तम् । तैत्तिरीयके तु जलस्थं ब्रह्म प्रकृत्य । अत्रेति । तैत्तिरीयके । तेनावृत्त्या व्यतिहार इत्यादि । ब्रह्मपदस्योभयत्र सम्बन्धेन तदावृत्त्या व्यतिहारः स्वात्मनो ब्रह्मत्वविधानेन ब्रह्मणः स्वात्मत्वविधानेन व्यत्ययः । अत उक्तरूपाद्व्यत्ययाज्जीवस्य ब्रह्माभेदः सिध्यति, तथा भक्तवाक्येपीति शङ्कायां व्यतिहारस्वरूपं सूत्रेण बोधयति । तथाच यद्यभेददर्शनस्य भक्तिफलत्वं न स्यात्, तदा लीलास्थानां ब्रह्माभेदो न स्फुरेत्, स तु स्फुरतीति दृश्यत इति पूर्वोक्तः सिद्धान्तो न युक्त इत्याशङ्कायां व्यतिहार-

रश्मिः ।

शैषिकः प्रत्ययः । भाष्यीयचकारार्थः । श्रौतविषयाग्रहिणः प्रत्याहुः नन्विति । श्रौतत्वेति । विधिप्रतिषेधार्थवादनामधेयमन्त्राणां श्रुतिषु दर्शनाच्छ्रौतत्वस्फुटीकरणात् । समाम्नायः श्रुतिः । 'वने वृन्दावने क्रीडन् गोपगोपीसुरैः सहे'ति श्रुतिः । प्रपञ्चोयमिति । बृहदिति । 'यत्साक्षादपरोक्षं ब्रह्म, य आत्मा सर्वान्तर' इत्येवं द्विरुषस्तकहोडप्रश्नयोर्नैरन्तर्येण वाजसनेयिनः समामनन्तीति । 'अभ्यासस्य भेदकत्वं पूर्वतन्त्रसिद्धम्' । एकीकृत्येति । तेन 'अन्तरा भूतग्रामवदात्मनोऽन्यथाभेदानुपपत्तिरिति-चेन्नोपदेशव'दित्येवमेकीकृत्य ॥ ३६ ॥

व्यतिहारो विशिंषन्ति हीतरवत् ॥ ३७ ॥ आदित्येति । अन्तस्तद्धर्माधिकरणोक्तमादित्यपुरुषम् । जलस्थमिति । 'अम्भस्यपार' इत्यारम्भात् । अम्भसि अपारे इति च्छेदः । अत एव 'नमामि हृदये' इति सुबोधिन्यारम्भे कारिका । व्यत्यय इति । विशेष्यविशेषणभावस्य ब्रह्मजीवयोर्व्यत्ययो वैपरीत्यम् । पूर्वोक्त इति । ज्ञानोपदेशस्य भक्त्यर्थं वपुरादिधारणार्थत्वमिति सिद्धान्तः ।

१. पम्फुल्यमानमिति पाठः ।

द्वितीयभावोद्रेके यथेतरेऽश्रुप्रलापादयो व्यभिचारिभावाः, तथातिविगाढभावेन तदभेदस्फूर्तिरप्येकः, स च न सार्वदिकः, तदा स्वात्मानं तत्त्वेन विशिंषन्ति, तं च स्वात्मत्वेन । सोऽत्र व्यतिहारपदार्थ इत्यर्थः । अपरं च। उद्देश्यविधेयभावस्फूर्तौ न ह्यद्वैतज्ञानमस्ति, किन्तु भावनामात्रम्, भक्तानां तु विरहभावे तदात्मकत्वमेवाखण्डं स्फुरति, येन तल्लीलां स्वतः कुर्वन्ति। एतद्यथा तथा श्रीभागवतदशम-

भाष्यप्रकाशः ।

स्वरूपमनेन बोधयतीत्यर्थः । सूत्रं व्याकुर्वन्ति रसात्मकत्वादित्यादीति । एकः स इति । एको व्यभिचारिभावः । तथाच विरहदशायां काश्चनात्मानं तत्त्वेन विशिंषन्ति, अन्याश्च तं स्वात्मत्वेन, अतो भिन्नवक्तृको व्यतिहारपदार्थः, न तु त्वदुक्तरीतिकः, अतः कादाचित्कत्वाच्च तस्य भक्तिफलत्वमित्यर्थः । सूत्रयोजना तु, इतरवत् अश्रुप्रलापादिवत्, भक्तानां 'अहं कृष्णः कृष्णोऽह'मिति व्यतिहारो विशेषणबुद्धिव्यत्ययो व्यभिचारिभावः, हि यतो हेतोः विशिंषन्ति । भगवद्द्रष्टृत्वेनाश्वत्थादीनिव । अनेन प्रकारेणात्मानं कदाचिदेव विशिंषन्ति, न सर्वदा, अतस्तथेति । एतेनोदाहरणेन भक्त्युत्कर्षसिद्धिं स्फुटीकुर्वन्ति अपरं चेत्यादि । (तथाचात्र 'लीला भगवतस्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिका' इति पूर्वं कथनात्, 'रिङ्गयामास काप्यङ्घ्री कर्षती'त्यादावनुकरणे स्वात्मविस्मरणेन केवलभगवत्त्वस्फूर्तेरेव बोधनात्तथेत्यर्थः । एवञ्च 'मय्येव सकलं जात'मित्यत्रापि भावनामात्रम्, चतुर्थपादे 'तद्ब्रह्मास्म्यहमेव य' इत्यत्र 'ब्रह्माह'मिति पदाभ्यामद्वयभावनामात्रस्यैव बोधनात् । एतद्यथा तथा अस्माभिः कैवल्योपनिषदर्थसंग्रहे स्फुटीकृतमिति ततोऽवधेयम् । अत्राभेदानुभवस्य विगाढभावदशास्थव्यभिचारिभावतया भक्तिमार्गे विनियोग-

रश्मिः ।

रसात्मकत्वादित्यादीति । अतिविगाढेति । अविहितभक्तिपूर्वकशास्त्रीयस्नेहवत्त्वं विगाढत्वम् । अतिशब्दस्तु अन्याभिनवगुप्तपादादिप्रौढदृष्टत्वेनात्यन्तत्वार्थं विगाढम् । **तदभेदेति ।** रामानुजभाष्ये 'अम्भस्यपार' इत्यारम्भे 'महीया'निति पदेनानन्दवल्लीस्थो 'रसो वै स' इत्युक्तः परामृश्यतेऽतोऽत्र तदभेदस्फूर्तिः । **तमिति ।** पुरुषोत्तमम् । **भिन्नेति ।** ज्ञानिभिन्नभक्तकर्तृकः । **त्वदिति ।** ज्ञानिवक्तृकः । 'अहं मनुरभवं सूर्यश्चे'तिवत् । **अत इति ।** भक्तिमार्गीयत्वात् । **तस्येति ।** पुरुषोत्तमाभेदज्ञानस्य । **विशेषणेति ।** व्यत्ययो वैपरीत्यम् । **व्यभीति ।** शान्तरसनिष्ठत्वे सति भक्तिरसनिष्ठत्वात् । **तथेतीति । भक्तिमार्गीयेति । अपरं चेत्यादीति ।** परेषामैतरेयतैत्तिरीयकयोरुद्देश्यविधेयभावेऽविधाया अगतत्वान्न ह्यद्वैतज्ञानमस्ति, किन्तु शास्त्रदृष्ट्या भावनाऽभेदस्मरणम् । एवकारार्थे मात्रच् । पूर्णज्ञानिनो वामदेवस्य 'अहं मनुरभवं सूर्यश्चे'त्येवमवगुत्य(।)निरूपणमद्वैतस्य । कर्ममार्गे संन्यासाभावाद्भक्तिमार्गे आहुः **भक्तानामिति ।** संन्यासे विरहभावे । 'विरहानुभवार्थं तु सर्वत्यागः प्रशस्यत' इति वाक्यात् । **अखण्डमित्यस्य** भावाद्वैते विशेषणं **तदात्मकत्वमेवेति ।** यथा 'सा सा सा सा जगति सकले कोऽयमद्वैतवाद' इति । वक्ष्यन्ति चाग्रे लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणे । येनेति । अनेनाखण्डस्फुरणस्य करणत्वमुक्तम् । निरोधलीलाकरणे 'पृच्छथेमा लता' इत्यत्राखण्डं तदात्मकत्वं लतासु स्फूर्तिः करणम् । यतो भगवदीय एव भगवद्गतिं जानातीति पृच्छया भवन्ति। 'स्वयमेवात्मनात्मानं जानासी'ति वाक्यात् । तत्रापि स्वतः स्फुरणं प्रत्यक्षात्मकमिति नान्यप्रश्नापेक्षा । भक्त्युत्कर्षस्त्वेवम् । सर्वभावः पुरुषोत्तमः । गीतायां पुरुषोत्तमयोगाध्याये तथोक्तेः । स चाक्षरद्वारा, स च पाद इति अखण्डांश इदमित्थतयाक्षर एव, पुरुषोत्तमस्या-

स्कन्धविवृतौ प्रपञ्चितमस्माभिः । एवं सति मुख्यं यदद्वैतज्ञानं तत् भक्तिभावैकदेशत्वव्यभिचारिभावेष्वेकतरदिति सर्षपस्वर्णाचलयोरिव ज्ञानभक्त्योस्तारतम्यं कथं वर्णनीयमितिभावः ॥ ३७ ॥

इति तृतीयाध्याये तृतीयपादे द्वादशमन्तरा भूतग्रामवदित्यधिकरणम् ॥ १२ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

विचारेण साधनदशायां सर्वभावेन भजने भेदोपासनवदभेदोपासनस्याप्येकदेशित्वं बोधितम् । सर्वभावेनैवाकृत्स्नत्वपरिहारे तत्र विशेषाभावादिति ।)

यत्तु शङ्करभास्कराचार्यौ पूर्वोक्तमैतरेयवाक्यं 'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसी'ति जाबालवाक्यं चोदाहृत्य, किमिह व्यतिहारेणोभयरूपा मतिः कार्या,/ उतैकरूपेति संशये, उभयरूपमतिकरणे ईश्वरस्य निकर्षः, संसारिणश्चोत्कर्ष आपद्येतेत्येकरूपैव कार्येति पूर्वपक्षमुक्त्वा, उभयरूपैव कार्या, अन्यथा उभयाम्नानमनर्थकं स्यात् । नचोक्तदोषापत्तिः । अनेन प्रकारेणाप्यात्मैक्यस्यैवानुचिन्तनीयत्वात् । वचनप्रामाण्यात्त्वत्र द्विरूपा मतिः कर्तव्येत्युच्यते । फलतस्त्वेकत्वमेव दृढीभवति । यथा ध्यानार्थेपि सत्यकामादिगुणोपदेशे तद्गुण ईश्वरः प्रसिध्यति, तद्वदित्याहतुः ।

तदसङ्गतम् । तस्या मतेर्वचनमात्रजन्यत्वे विशेष्यविशेषणभावस्फुरणेन तादृशभावनामात्रं कार्यमिति सिध्यति, न तु तेन भेदोऽपैति, आहार्यज्ञानत्वात् । नचानेन फलत ऐकात्म्यसिद्धिरित्यपि युक्तम् । पूर्वोक्तैर्न्यायैस्तद्विषयश्रुतिभिश्च सिद्धे अंशांशिभावे तदपनोदेनैकात्म्यस्य वक्तुमशक्यत्वात् । 'यथा ध्यानार्थेऽपी'ति भवदुक्तन्यायेनापि वाक्यप्रामाण्यात्तद्गुणकेश्वरप्रसिद्धिवद्विशेषणविशेष्यभावबोधनबलात् तादात्म्यस्यैव सिद्धेश्च । लक्षणाग्रस्तं वाक्यैकदेशं 'तत्त्वमसी'त्यादाय

रश्मिः ।

धोक्षजत्वात् । तथाचेदमित्थतया चरणेऽखण्डत्वम्, न भक्तिलभ्ये पुरुषोत्तम इति ज्ञानाद्भक्त्युत्कर्षसिद्धिः । **अत्रेत्यारभ्येतीत्यन्तो** ग्रन्थो मूलपुस्तके नास्ति । व्याख्या तु **सर्वभावेनेति** । पुरुषोत्तमयोगाध्याये 'यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् । स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारते'तिवाक्यात्सर्वभावेनेत्यादिः । **एकदेशित्वं**[1] वृक्षधर्मदेशित्वम् । **तत्रेति** । अखण्डज्ञाने । **भाष्ये । एवं सतीत्यादि । मुख्यमिति** । लोकाश्रयणात् । अन्यमार्गत्वाद्वा । **भक्तिभावेति** । त्रयस्त्रिंशद्व्यभिचारिभावाः तेष्वेकतम इति प्राप्ते महाभाष्यप्रयोगात्तरप् । **ज्ञानभक्त्योरिति** । दृष्टान्तोऽखण्डस्फुरणेनेति अक्षरज्ञानपीतकौशेयवासोभक्त्योस्तारतम्यं कथं वर्णनीयमिति प्रश्नः । भक्तिमार्गेन्तराभेदासम्पादनाद्भक्त्युत्कर्ष इत्युत्तरम् । संसारिणश्चोत्कर्ष इति । एकेषां जीवब्रह्मवादादपरेषां व्यापकैकजीववादादुत्कर्षः ब्रह्मज्ञानात् । व्यापकैकजीवस्य ब्रह्मणा भेदाभेदौ । **एकरूपेति** । 'अहं वै त्व'मिति । **उक्तेति** । निकर्षोत्कर्षदोषयोरापत्तिः । **एकत्वमिति** । आवरणभङ्गजं बोध्यम् । **अपैतीति** । अप आ एति । बाधकालीनमिच्छाजन्यं ज्ञानमाहार्यज्ञानम् । वेदान्तविज्ञानेनावरणभङ्गे फलतस्त्वेकत्वे भूयसां साधनप्रतिपादकानां वेदभागानां वैयर्थ्यप्रसङ्गमालोच्याहुः **पूर्वोक्तैरिति** । द्वितीयाध्यायोक्तैः सूत्रैः । **वक्तुमिति** । साधनैर्विना वक्तुम् । **विशेषणेति** । 'त्वमहं अहं त्व'मिति **विशेषणविशेष्यभावः** । विशेषणस्य विशेष्यभावः । अन्यथा धर्मादित्वं स्यात् । तस्य बोधनबलात् । **तादात्म्यस्येति** । नीलो घट इत्यत्रैव गुणस्यांशस्य तदात्मनो भावत्वं तस्यैव सिद्धेः । घटो नील इति पक्षेपि तथा । **लक्षणेति** । अंशांशिभावे तादात्म्यम् ।

१. रश्मौ एकदेशित्वम् ।

सैव हि सत्यादयः ॥ ३८ ॥ (३-३-१३.)

अथेदं विचार्यते । प्राप्तभक्तेः पुरुषस्य सत्यशमदमादयो विधीयन्ते, न

भाष्यप्रकाशः ।

सकलशास्त्रव्याकुलीकरणानौचित्यस्य प्रागेवोक्तत्वाच्चेति ।

रामानुजाचार्यास्तु । 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्त्वमसी'त्यवगतसर्वात्मभावविषयत्वादस्य वाक्यस्य नात्र प्रतिपादनार्थमपूर्वं किञ्चिदस्ति, तत्तु वक्ष्यति 'आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ती'ति । नच सर्वात्मत्वानुसन्धानातिरेकेण परस्मिन् ब्रह्मणि जीवत्वानुसन्धानं जीवे च ब्रह्मत्वानुसन्धानं तथ्यं सम्भवति । तस्मादनादरणीयं तन्मतमित्याहुः । तदपि युक्तमेव ।

एतस्मिन्नधिकरणे वैराग्यतपःसमाधिपरिपाकसिद्धस्य ब्रह्मात्माभेदज्ञानस्य भक्तिमार्गीयव्यभिचारिभावतानिरूपणेन ब्रह्मभावप्राप्यत्वबोधकं पीतकौशाम्बरेण च विवृतमिति विशेषणं प्रतिपादितं ज्ञेयम् । ज्ञानमार्गिणां तावतैव ब्रह्मभावात्मकफलसिद्धेरिति ॥ ३७ ॥ **इति द्वादशमन्तराभूतग्रामवदित्यधिकरणम् ॥ १२ ॥**

सैव हि सत्यादयः ॥ ३८ ॥ फलतो भक्त्युत्कर्षं साधयित्वा साधनतोऽपि तत्

रश्मिः ।

तदपेक्षया तदंशे तच्छब्दलक्षणेत्येवं एकदेशं तदिति अभेदसम्बन्धः । **सकलशास्त्रेति** । 'ऐतदात्म्यमिदं सर्व'मित्यादिवेदशास्त्रेत्यर्थः । तन्मूलान्यन्यशास्त्राणीति सकलशब्दः । **प्रागेवेति** । द्वितीयाध्याये तदनन्यत्वाधिकरणे । **सर्वात्मेति** । सर्वस्मिन्नात्मभावः सर्वात्मभावः । तद्विषयत्वात् । **अस्येति** । उक्तैतरेयवाक्यस्य जाबालवाक्यस्य च । **अपूर्वमिति** । 'सर्वं खल्विद'मित्यादिप्रतिपादितं पूर्वं न भवतीत्यपूर्वम् । **वक्ष्यतीति** । फलाध्याये । **तन्मतं** पूर्वमतम् । षोडशाधिकरणीप्रतिपाद्यमाहुः **एतस्मिन्निति** । 'भक्त्या प्रसन्ने तु हरौ तं योगेनैव योजये'दिति भक्त्यनन्तरं योगसूत्रसिद्धमाहुः **वैराग्येत्यादि** । 'जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धय' इति । तेन साधनसिद्धमभेदज्ञानमुक्तम्, न तु शाब्दज्ञानेनापरोक्षम् । **ब्रह्मभावेति** । अक्षरज्ञानप्राप्यत्वबोधकं सात्त्विकत्वेन सगुणाक्षरज्ञानप्राप्यः पीतकौशाम्बरो भाति । पीतकौशाम्बरं माया । गोपालतापिनीये 'माया पीताम्बर'मित्युक्तम् । अत्र **ब्रह्मभावानन्तरं भगवद्भावो** ज्ञेयः 'अक्षरधिया'मिति सूत्रादनुवृत्तः । तेन पीतकौशेयाम्बरो विषयो नास्थूलादिमात्रश्रुतिविषयोऽक्षरः । **ब्रह्मभावेत्यत्र** ब्रह्मभावेन प्राप्यत्वं ब्रह्मभावप्राप्यत्वं तस्य बोधकमिति करणतृतीयासमासः । ननु क्वचिद्ब्रह्मभावविषयत्वमक्षरस्य क्वचित्पीतकौशेयाम्बरस्येत्यत्र व्यवस्थामाहुः **ज्ञानमार्गिणामिति** । मार्गभेदाद्व्यवस्थेति भावः । **तावता** अक्षरज्ञानमात्रेण । ब्रह्मभावत्वेनाक्षरात्मकत्वेन कार्यकारणभावादेवकारः । ब्रह्मभावस्य भगवद्भावद्वारत्वे तु पीतकौशेयाम्बरस्य ब्रह्मभावस्य सगुणत्वादितिभावः । अत्र सुबोधिनी । 'पीतं कौशं कौशेयं यदम्बरं तेन च विदितम् । अनेन ब्रह्मभावेपि ज्ञानमङ्गमिति तदेव **विशेषणमाह पीतमिति** । अहन्ताममताभावः । रूपत्रये शुक्ले पीतान्तर्भावात् । अहन्ताममता कृष्णा मायाकार्यत्वेन तमोरूपत्वात्तमसश्च नीलत्वात् । कौशमिति कुशसम्बन्धिनो यमनियमादयः । अम्बरमित्यवस्थापरित्यागेन निर्लेपता । एतानि ब्रह्मभावे ज्ञानसाधनानि । 'वैराग्यं च तपश्चैव समाधिरिति साधनम्' । **एकमेवैतत्र** प्रत्येकपर्यवसायि । चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । सर्वफलरूपो भगवानित्यर्थ' इति । अत्रालौकिकं व्याख्यानं भगवतोऽलौकिकत्वात् ॥ ३७ ॥ **इति द्वादशमन्तरा भूतग्रामवदित्यधिकरणम् ॥ ११ ॥**

सैव हि सत्यादयः ॥ ३८ ॥ फलत इति । ब्रह्मभावस्याक्षरं तद्भावस्य पुरुषोत्तम इति ।

वेति। फलोपकार्यन्तरङ्गसाधनत्वात् शुद्धौ सत्यामेव चित्ते भगवत्प्रादुर्भावसम्भवात् विधीयन्त इति पूर्वः पक्षः। तादृशस्य ते न विधीयन्त इति सिद्धान्तः। तत्र हेतुमाह। हि यस्माद्धेतोः, सैव भक्तिरेव सत्यादिसर्वसाधनरूपा। तस्यां सत्यां सत्यादयो ये ज्ञानमार्गे विहितत्वात् कष्टेन क्रियन्ते मुमुक्षुभिः, ते भक्तहृदि भगवत्प्रादुर्भावात् स्वत एव भवन्तीति न विधिमपेक्षन्त इत्यर्थः ॥ ३८॥

भाष्यप्रकाशः ।

साधयतीत्याशयेनाधिकरणं वदन्तोऽवतारयन्ति अथेत्यादि । यथा 'सत्यं परं परꣳसत्य'मित्यादौ ज्ञानार्थम्, यथाच 'शान्तो दान्त' इत्यादौ ज्ञानोत्तरं सत्यशमदमादयो विधीयन्ते, तथा प्राप्तभक्तेः पुरुषस्य भक्त्युत्तरं ते विधीयन्ते, न वेति संशये, फलोपकार्यन्तरङ्गसाधनत्वात् फलस्य भगवत्प्राप्तेरुपकारी मुख्यं साधनं भगवदाविर्भावः, तस्यान्तरङ्गा चित्तशुद्धिः, तस्याः साधनानि सत्यादीनि, तस्मात् । एतदेव विवृणोति शुद्धौ सत्यामेव चित्ते भगवदाविर्भावसम्भवादिति । अतो यथा सम्परायाधिकरण उपन्यस्तैर्वाक्यैर्भक्तेः पूर्वं ते विधीयन्त इत्युन्नीयते, तथा भक्त्युत्तरमपि ते विधीयन्ते इति पूर्वपक्षः । तादृशस्य प्राप्तभक्तेस्ते सत्यादयो न विधीयन्ते, 'भक्त्या त्वनन्यये'ति वाक्ये अन्यसाधननिरपेक्षयैव भक्त्या ज्ञानदर्शनप्राप्तीनामुक्तत्वात् तयैव संसिद्धेरिति सिद्धान्तः । तत्र सिद्धान्ते युक्तिमाहेत्यर्थः । सूत्रं व्याकुर्वन्ति हीत्यादि । 'यत् कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत् । योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि । सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसे'ति । 'धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता । मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक्प्रपुनाति ही'ति च एकादशे भगवद्वाक्यात् सैव भक्तिरेव सर्वसाधनरूपा । अतस्तथेत्यर्थः ।

रश्मिः ।

साधनत इति । ज्ञानमार्गे साधनानि सत्यशमदमादीनि । ज्ञानानन्तरमनुवर्तनात् । वेदान्तशब्दस्तु प्रमाणं न साधनम् । प्रमाणावगतसाधने प्रवर्तते यतः । अतः सत्यशमदमादिभिः शाब्दापरोक्षं तद्वत्र भक्तिमार्गे, न सत्यशमदमादयो भगवद्रूपे फले साधनम्, किन्तु भक्तिरेवेति साधनतः सत्यशमदमादितोपि । **तत्** उत्कर्षम् । तदित्यव्ययम् । भक्त्युत्कर्षम् । तत्सर्वरूपत्वं भक्तेः, न तु भक्तिरूपत्वं सत्यशमदमादीनां ज्ञानसाधनत्वेप्यत्रेत्येवं साधनतोपि तत्साधयतीत्यर्थः । **यथे**त्यादि विचारो यथेत्यर्थः । भाष्यसूचितं विषयवाक्यमाहुः **सत्यं पर**मिति । इदं विषयवाक्यम् । 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' 'सत्यं परं धीमहि' 'सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्य' मित्यादिषु सत्यज्ञानानन्तेषु सत्योपादानात् । अन्ययोरुपलक्ष्यत्वात् । 'शान्तो दान्त' इति शारीरब्राह्मणेस्ति । 'अणुः पन्था विततः पुराणः' इति द्वितीयाध्याये भोक्त्रापत्तिसूत्रेऽणुः पठितः । महत उपासनमाह । तथा चोपक्रमः । 'विरजः पर आकाशात् अज आत्मा महान्ध्रुवः' । 'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः' । 'नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान्वाचो विग्लापनं हि त'दिति । उपसंहारश्च 'स वा एष महानज आत्मा अजरोऽमरोऽभयोऽमृतो ब्रह्माभयं वै ब्रह्माभयꣳ ह वै ब्रह्मा भवती'ति । **ज्ञानोत्तर**मिति । 'तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त' इति पाठाविदो विशेषणीभूतज्ञानानन्तरम् । यतो वेत्तीति वित् ज्ञानानुकूलव्यापारवान् । ज्ञानं च साधनचतुष्टयसाध्यमिति विषयश्रुतौ सत्यशमदमादयः ज्ञानोत्तरं पूर्वं वा विधीयन्ते, तथा ज्ञानशब्दस्य भक्तिपरत्वे प्राप्तभक्तेर्भक्तेः पूर्वं स्वतःसिद्धसत्यशमदमादयो भक्त्युत्तरं विधीयन्ते न वेति संशय इत्यर्थः । फलेतिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म **फले**ति । **त** इति । तर्तव्यपापादयः । **त** इति । सत्यशमदमादयः । तादृशस्येतिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म **तादृशस्ये**ति । **युक्ति**मिति हेतुशब्दार्थः । **अतस्तथे**ति । सैव भक्तिरेव सत्यादिसर्वसाधनरूपा ।

१. भगवदाविर्भाव इति प्रकाशपाठः ।

भाष्यप्रकाशः ।

अत्र शङ्करभास्कराचार्यौ, इदमेकसूत्रमधिकरणमङ्गीकृत्य, बृहदारण्यकोपान्ते, 'स यो हैतं महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मे'त्युपक्रम्य, 'जयतीमान् लोका'निति फलमुक्तम् । अग्रे च 'आप एवेदमग्र आसुस्ता आपः सत्यमसृजन्ते'ति प्रकृत्यानन्तरमुच्यते, 'तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः, यश्चायं दक्षिणेक्षन् पुरुष' इत्यादि, ततो 'हन्ति पाप्मानं जहाति चे'ति फलमुच्यते, तत्र फलभेदाद्विद्याभेद इति प्राप्ते, सैव पूर्वोक्तैवेयं विद्या, हि र्हेतौ, सत्यादयः पूर्वप्रकृता एवात्र 'तद्यत्तत्सत्य'मित्यनेन परामृश्यन्ते । स्थानविशेषसम्बन्धाच्चैकविद्यम् । फलं तूपनिषदो'रहरित्यह'मिति चोक्तयोः, न तु विद्यायाः, तस्माददोष इत्याहतुः ।

तदयुक्तम् । सौत्रस्यादिपदस्यासङ्गतेः । उत्तरस्मिन् वाक्ये हि 'तद्यत्तत्सत्य'मिति तत्पदेन सत्यमात्रमाकृष्यते, न त्वन्यत्किञ्चिदादिपदबोधितं तस्मात् । नच पूर्ववाक्ये स्थानविशेषोक्तिर्येन तदैक्यादैक्यं सम्भाव्यम्, किञ्च, सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणे शाखान्तराधिकरणोक्तास्त्रयो हेतव ऐकविद्यार्थमादृतास्तत्कथं तत्रानुक्तात् स्थानविशेषात् तत्सिद्धिः । नापि केवलाद्रूपैक्यात्, 'चोदनाद्यविशेषा'दित्यस्य व्यभिचारित्वापत्तेः । किञ्च, इयं सत्यविद्या पूर्वमुपनिषदोः प्रसङ्गे विचार्यमाणा पूर्ववाक्योक्तया स्वैक्यमस्मारयन्ती कथमकस्मादत्र स्मारयेत् । अतः काल्पनिक एवायं विचार इत्युपेक्ष्यः ।

रामानुजाचार्यास्तु, 'न वा विशेषा'दित्यत्राक्ष्यादित्यस्थानभेदेन विद्याभेदस्योत्तरवाक्ये साधितत्वादत्र च वाक्यद्वये फलभेदस्य दृश्यमानत्वादवस्थाभेदेन रूपभेदस्यापि सत्त्वादुत्तरवाक्य उपासनभेदे सति कथं पूर्ववाक्योक्तेनास्याभेदः सम्भवति, किञ्च, एकविद्यात्वे फलभेदस्योपनिषद्गुणनिबन्धनत्वम्, तस्य तन्निबन्धनत्वेन बाधकनिवृत्तौ चैकविद्यात्वमित्यन्योन्याश्रय इति दूषणमाहुः ॥३८॥

रश्मिः ।

बृहदिति । बृहदारण्यकचतुर्थप्रपाठकोपान्ते यक्षपूज्यम् । **फलभेदा**दिति । लोकजयपाप्महननभेदात् । **स्थाने**ति । स्थानविशेषसम्बन्धैक्यप्राप्तमेकविद्यमित्यर्थः । फलभेदाद्विद्याभेदं वारयतः स्म **त्रय** इति । तृतीयान्त एकः । अधिकारादिति द्वितीयः । चकारोक्तस्तृतीयः । एवं त्रय आदृताः । **पूर्वतत्र**-द्वितीयाध्यायीयशाखान्तराधिकरणे संयोगादयश्च तस्य हेतव उक्तास्तेष्वेकं संयोगं विहाय त्रय आदृता इत्यर्थः । **रूपैक्या**दिति । विद्यारूपैक्यात् । प्रासङ्गिकोऽयं हेतुः । **व्यभिचारित्वे**ति । सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वसाध्याभाववति सत्यत्वादिधर्मवति चोदनाद्यविशेषहेतोर्वृत्तित्वेनासाधारण्यात्तथा । फलं त्वित्याद्युक्तं प्रत्युत्तरयन्ति स्म **किञ्चेय**मिति । उपनिषदोः प्रसङ्गे सत्यविद्या पूर्वं विचार्यमाणेत्यन्वयः । **पूर्ववाक्ये**ति । हृदयब्राह्मणोक्तया हृदयब्रह्मणः सर्वत्वेन अक्षरत्वेनोपासनं सर्वात्मभावरूपं त्र्यक्षरं तद्विषयकम् । पूर्ववाक्यं 'य एवं वेदे'ति । तदुक्तया हृदयविद्यया । **स्वैक्य**मिति । स्वस्या हृदयविद्यायाः पूर्वायाः तदुत्तरसत्यब्राह्मणीयायाः 'तद्वैतदेतदेव तदा सत्यमेवे'ति श्रुतेः प्राप्तं स्वस्याः सत्यविद्याया **ऐक्यम्** । श्रुतेस्तु तत् हृदयं ब्रह्म । तदास्थेत्यत्र तत् ब्रह्मेत्यर्थः । **अकस्मा**दिति । वाक्यं विना । **अत्रे**ति । अग्रेतन 'आप एवेदमग्र आसु'रिति ब्राह्मणे । **स्मारये**दिति । नच 'ता आपः सत्यमसृजन्ते'ति 'ते देवाः सत्यमित्युपासत' इति । 'तदेतत्र्यक्षरꣳसत्य'मितीति प्रत्यभिज्ञानमतो नाकस्मादिति वाच्यम् । पूर्ववाक्योक्तया स्वैक्यस्यास्मारणे प्रश्नपर्यवसानात् । **उत्तरवाक्य** इति । 'आप एवेदमग्र आसु'रिति **महावाक्ये** । **अत्र चे**ति । अधिकरणेयम् । **अवस्थे**ति । बाल्यतदितररूपावस्थाभेदेन । **पूर्वे**ति । सत्योपासनेन । अस्य द्वितीयवाक्योक्तोपासनस्य अभेद इत्यर्थः । फलभेदो विद्यैक्ये बाधकः । तस्य एकविद्यात्वे **निवृत्ति**-रुपनिषद्गुणे ऐक्येपि फलभेदसाधकः । अत एकविद्यात्वे फलभेदस्य तथा । **तस्ये**ति । **उपनिषद्गुणस्य** फलभेदनिबन्धनत्वं तेन । **बाधके**ति । बाधकः फलभेदस्तस्य निवृत्तौ ॥ ३८ ॥

कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः ॥ ३९ ॥

पूर्वसूत्रे शास्त्रोक्ताखिलसाधनरूपत्वं भक्तेरुक्तम् । तद्दार्ढ्यार्थमधुना मुक्तिप्रतिबन्धकत्वेन हेयत्वेनोक्तानां कामादीनामपि भगवत्सम्बन्धान्मुक्तिसाधकत्वमुच्यते । भक्तिस्तु विहिताविहिता चेति द्विविधा । माहात्म्यज्ञानयुतेश्वरत्वेन प्रभौ निरुपधिस्नेहात्मिका विहिता । अन्यतोऽप्राप्तत्वात् कामाद्युपाधिजा सा त्वविहिता । एवमुभयविधाया अपि तस्या मुक्तिसाधकत्वमित्याह । इतरत्र विहितभक्तेरिति शेषः । कामाद्युपाधिजस्नेहरूपायां कामाद्येव मुक्तिसाधनमित्यर्थः । भगवति चित्तप्रवेशहेतुत्वात् । आदिपदात् पुत्रत्वसम्बन्धित्वादयः । स्नेहत्वाभावेऽप्यविहितत्वभगवद्विषयकत्वयोरविशेषात् द्वेषादिरपि संगृह्यते । तेन भगवत्सम्बन्धमात्रस्य मोक्षसाधकत्वमुक्तं भवति । तत्र विहितभक्ताविल्यर्थः । शास्त्रे सर्वथा हेयत्वेनोक्ता हि गृहाः । सर्वनिवेदनपूर्वकं गृहेषु भगवत्सेवां कुर्वतां तदुपयोगित्वेन तेभ्य एव मुक्तिर्भवतीत्यर्थः । एतादृशानां गृहा भगवद्गृहा एवेति ज्ञापनायायतनपदम् । तेषु तथा प्रयोगप्राचुर्यात् । आदिपदेन

भाष्यप्रकाशः ।

कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः ॥ ३९ ॥ सूत्रप्रयोजनमाहुः **पूर्वे**त्यादि । **तद्दार्ढ्यार्थ**मिति । कैमुतिकन्यायेन तदर्थम् । तेनास्य प्रासङ्गिकत्वं बोधितम् । सूत्रं व्याकर्तुं पूर्वोक्तं विभजन्ति **भक्तिरि**त्यादि । **अन्यतोऽप्राप्तत्वा**दिति । शास्त्रव्यतिरिक्तहेत्वन्तरादप्राप्तत्वात् । व्याकुर्वन्ति **इतरत्रे**त्यादि । कामादेः कथं मुक्तिसाधनत्वमित्यपेक्षायां 'कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव वा । नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते' इति दशमस्कन्धवाक्यानुसारेण हेतुमादिपदस्यार्थं तत्कथनतात्पर्यं चाहुः **भगवती**त्यादि । सूत्रशेषं व्याकुर्वन्ति **तत्रे**त्यादि । एतदग्रे, चकारार्थबोधिका **माहात्म्यज्ञाने**त्यादिका फक्किका उक्ता, सा लेखकप्रमादात् पश्चात्पतितास्तीति ज्ञेयम् । ननु कामादीनां कथं तथात्वमित्याकाङ्क्षायां सौत्रं हेतुं व्याकुर्वन्ति **शास्त्र** इत्यादि । इदं चाग्रे 'गृहिणोपसंहार'सूत्रे सेत्स्यतीति ज्ञेयम् । अत्रायमेवाशय इत्यत्र गमकमाहुः **एतादृशाना**मित्यादि । **प्रयोगप्राचुर्या**दिति । 'अण्डमुत्पादयाभासुर्ममाय-

रश्मिः ।

कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः ॥ ३९ ॥ **कैमुतिके**ति । यत्सम्बन्धेन कामादीनां मुक्तिसाधनत्वं तत्सम्बन्धेन सत्यशमदमादीनां मुक्तिसाधनत्वे किमु वक्तव्यमित्येवं कैमुतिकन्यायेन । **पूर्वोक्त**मिति । सूत्रे पूर्वमुक्तं कामादि इतरत्रेति च । न च विभागोऽस्त्येवेति वाच्यम् । ग्रन्थप्रयोजनं प्रपञ्च्य विभागे इत्याशयात् । सौत्रकामादीतरत्रेत्यनयोः सप्रपञ्चं विभागं करे कुर्वन्तीत्यर्थः । **विहिते**ति । विधिविषया । 'तं भजेदि'ति । विधिरपूर्व इति । **भाष्ये** । तदर्थमत्यन्ताप्राप्तिमाहुः **शास्त्रे**ति । **तत्कथने**ति । तेन **भगवदि**त्यादिभाष्येणादिशब्दकथनतात्पर्यम् । **भाष्ये** । **भगवत्सम्बन्धमात्रस्ये**ति । प्रमेयबलस्येति यावत् । **उक्ते**ति । भाष्ये उक्ता । अत्र चकारोक्तेस्तत्सम्बन्धस्य युक्तत्वात् । **शास्त्र इत्यादी**ति । 'गृहं सर्वात्मना त्याज्य'मित्यादिशास्त्रे । **गृहा** इति पुंस्त्वं स्मार्तम् । **तेभ्य** इति । आयतनादिभ्यः । 'मद्वार्तायातयामानां न बन्धाय गृहा मता' इति वाक्यात् । **एतादृशानामित्यादी**ति । **भगवद्गृहा** इति । एतेनैतादृशाः महाराजोपचारेण भक्तार इत्युक्तम् । महाराजो यावत्पर्यन्तं तिष्ठति

१. रश्मौ उक्तेति पाठः ।

स्त्रीपुत्रपश्वादयः संगृह्यन्ते । एतेन ज्ञानादिमार्गादुत्कर्ष उक्तो भवति । बाधकानामपि साधकत्वात् । माहात्म्यज्ञानपूर्वकस्नेहे सत्येव भर्तृत्वेन ज्ञाने कामोपि सम्भवतीति ज्ञापनाय चकारः ॥ ३९ ॥

इति तृतीयाध्याये तृतीयपादे त्रयोदशं सैव हि सत्यादय इत्यधिकरणम् ॥ १३ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

तनमुत्तमम् ।' 'पञ्चायतनपूजे'त्यादौ तथात्वात् । पूर्वोक्तं प्रयोजनं निगमयन्ति **एतेने**त्यादि । **एतेने**ति । पूर्वसूत्रे भगवद्भक्तिबलस्य, अत्र च 'गोप्यः कामा'दित्यादिसप्तमस्कन्धवाक्यात् कामादीनामविहितभक्तिहेतूनाम्, 'भक्तिरस्य भजन'मित्युक्त्वा, 'एतदेव च नैष्कर्म्य'मिति विहितभक्तेः संन्यासरूपतायास्तापनीये श्रावणात्, 'मद्वार्तायातयामानां न बन्धाय गृहा मता' इति वाक्यात् गृहादीनां च मुक्तिसाधनत्वस्य कथनेन । चकारसूचितमर्थमाहुः **माहात्म्ये**त्यादि । **इतिज्ञापनाये**ति । इतिहेतोर्विहितभक्तौ कामादपीति ज्ञापनाय । अत्रोभयोर्भक्त्योः स्वरूपबलसाधनयोर्विचारेण पुष्टिभक्त्याश्रितमर्यादाभक्तिबोधकं वाम ऊरावधिश्रित्य **दक्षिणाङ्घ्रिसरोरुहं श्रित**मिति विशेषणं प्रतिपादितं ज्ञातव्यम् ।

अन्ये तु, 'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तर आकाश' इत्युपक्रम्य, 'एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः

रश्मिः ।

तावत्पर्यन्तं तद्गृहमिति । **स्त्रीपुत्रे**ति । प्रमेयबलविषया एव । **निगमयन्ती**ति । तस्मात्तथेतिवत् । **अविहिते**ति । अस्य मुक्तिसाधनत्वस्येत्यनेनान्वयः । **विहिते**ति । भजनस्य 'तं भजे'दिति गोपालतापिनीये विहितत्वात् । **संन्यासे**ति । नैष्कर्म्यं संन्यासो भवतीति तथा । निर्गतः कर्मणः निष्कर्मा संन्यासी तस्य भावो नैष्कर्म्यं संन्यासः । उपनिषद् आवर्तयेत् आरण्यं वेति सकलकर्मनिषेधात् । **गृहा** इति बहुवचनार्थमाहुः **गृहादीना**मिति । आदिपदेन स्त्रीपुत्रपश्वादयः संगृह्यन्ते । दम्पत्योः सहाधिकारात्स्त्री । भगवत्सेवार्थं वध्वानयनम् । 'पुत्रेण लोकं जयती'ति पुत्रः । 'पुत्रे कृष्णप्रिये रति'रिति । 'पयसाग्निहोत्रं जुहोती'ति । 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति । तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मन' इति । अत्राप्यादिपदेनारामोपवनादिः । अव्ययानां द्योतकत्वमाश्रित्याहुः **चकारे**ति । **विहिते**ति । 'माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढ' इति वाक्याद्विहितत्वम् । **कामादपी**ति । **तत्र चे**ति सूत्रांशात्कामादपीत्यर्थः । षोडशाधिकरण्या अर्थमाहुः **अत्रोभयो**रिति । विहिताविहितयोः । स्वरूपबलं साधनं च तयोः । स्वरूपबलं बाधकानां साधकत्वम् । पूर्वसूत्रे शास्त्रोक्ताखिलसाधनरूपत्वम् । **पुष्टी**ति । अविहितभक्तिकामाद्याश्रिताया मर्यादाभक्तेर्विहितभक्तेर्बोधकम् । बोधकत्वं तु 'भवत्पदाम्भोरुहनावमत्रे'त्यत्र भगवत्पादयोर्भक्तित्वमुक्तम्, तत्र वाम ऊरुः पादसहित इति पुष्टिभक्त्याश्रितत्वस्य । 'दक्षिणाङ्घ्रिसरोरुह'मिति मर्यादाभक्तेः । अत्र पूर्ववाक्योक्त्येति भाष्यप्रकाश उक्तम्, तेन **हृदयब्राह्मणोक्त**भूमसर्वात्मभावयोरुपासनासूचि । तथाहि । 'एष प्रजापतिर्यद्धृदय'मित्युपक्रमः । अत्र **हृदयस्य प्रजाप**तित्वं विधीयते । कथमेवं स्यात् हृदयं सर्वात्मभावत्वेन वक्ष्यमाणं प्रजापती रजोधिष्ठातेति । **एवं तु** स्यात् । हृदि अयं रजोधिष्ठाता । वेदान्तत्वात् योगे तु प्रजानां पतिर्भगवान् । भूमा प्रजापतिः सर्वात्मभावकरणेन सर्वात्मभावत्वाद्भूमा । 'एतद्ब्रह्मैतत्सर्व'मिति ब्रह्मलिङ्गम् । सर्वात्मभावरूपत्वमाह 'तदेतत्त्र्यक्षर१ हृदयमिती'ति । 'हृ इत्येकमक्षरमभिहरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेदे'ति । **स्वाश्चे**त्यत्र **शसो डा** । **अन्ये चे**ति । हृ । सम्प्रदाने प्रत्ययः । हृञ् हरणे इत्यस्मात् । हृदः सान्निध्यात् । स्वाश्चानिन्द्रियाणि वसवोऽभिमुखाभिहरन्त्यन्ये तदनुसारिणः । सर्वेन्द्रियाणां भगवत्परत्वं सर्वात्मभावः **निरोधलक्षण**-

भाष्यप्रकाशः।

सत्यसङ्कल्प' इति छान्दोग्य आम्नायते। 'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु,' 'य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन् शेते सर्वस्य वशी सर्वस्येशान' इति वाजसनेयके। तयोरैकविध्यं परस्परगुणोपसंहारो भवेन्न वेति सन्देहे, कामादिसूत्रेणैकविध्यमुपसंहारं च सिद्धान्ती-कुर्वन्ति। कामादीत्यत्र कामपदं 'देवदत्तो दत्तः' 'सत्यभामा भामे'तिवन्नामैकदेशरूपम्। तेन सत्यकामाद्या वाजसनेयके वशित्वाद्याश्छान्दोग्ये उपसंहार्याः। हृदयायतनस्य, वेद्यस्येश्वरस्य, लोकासम्भेदप्रयोजनकसेतुत्वरूपेश्वरधर्मस्य च समानत्वादिति चाहुः।

तच्चिन्त्यम्। श्रुतौ सत्यकामपदस्य यौगिकत्वेन नामत्वाभावात् तदेकदेशस्य कामादिपदस्य नामैकदेशताया वक्तुमशक्यत्वात्। अथ रूढत्वम्, तदापि तदेकदेशेन कामादिपदेन ब्रह्मैव समर्पणीयम्, न तु तद्गुणा अपि। दृष्टान्ते तथैव दर्शनात्। अथ योगरूढत्वम्, तदापि कामपदस्य सर्वकामादिपदैकदेशतायास्तुल्यत्वान्मनोमयादिवाक्योक्ता अपि धर्मा वाजसनेयके कुतो नोपसंह्रियेरन्, कुतो वा तस्यानेनैकविद्यात्वाभावः। हृदयस्यायतनस्य वेद्यस्येश्वरस्य सत्यसंकल्प-त्वाकाशात्मत्वस्य समानधर्मस्य सत्त्वात्। किञ्च। यद्यायतनादिकमेतदैकविध्यत्वादिसम्पादकत्वेन व्यासचरणानामभिप्रेतं स्यात्, तदा कामादीतरत्र वशित्वादि तत्रेति ब्रूयुः, न त्वेवं सन्दिग्धं वदेयुः। किञ्च। सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणे 'चोदनाद्यविशेषा'दित्यनेन शाखान्तराधिकरणोक्ता-श्चत्वारस्त्रयो वा हेतवो विद्यैक्यार्थं संगृहीताः। तत् यद्यायतनादिभिरङ्गीक्रियेत, तदा

रश्मिः।

ग्रन्थेपि। 'य एवं वेदे'त्युपासनम्। एवं 'द इत्येकमक्षरं ददत्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेदे'त्यत्र। तथैव 'यमित्येकमक्षरमेति स्वर्गलोकं य एवं वेदे'त्यत्र। स्वर्गलोक आत्मसुखम्। व्युत्पत्तिस्तु एतीति यम्। एरच्। एकविधमित्यस्य कारणं **परस्परेति**। **इति सन्देह** इति। इति सन्देहो यस्मिन् ऐकविध्य-मिति पूर्वपक्षे स तथोक्तस्तस्मिन्। नैकविधं कार्यं न उपसंहारं कारणमस्ति। **वाजसनेयक** इति। उपसंहार्या इत्यन्वयः। सौत्रेतरत्र पदार्थः। **छान्दोग्य** इति। सौत्रतत्रपदार्थः। आयतनादिभ्य इत्यस्यार्थः। **हृदयेति**। हृदयमायतनं यस्येश्वरस्य। आदिपदार्थमाहुः **लोकेति**। 'अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसम्भेदाये'त्युक्तो लोकासम्भेदः प्रयोजनमस्य सेतुत्वस्य तत्तथोक्तम्। तेन रूप्यते व्यवह्रियते यः स ईश्वरधर्मस्तस्य। समानत्वं छान्दोग्यवाजसनेयकयोर्ज्ञेयम्। **सूत्रे कामशब्दो** न नामैकदेश इत्याहुः **श्रुताविति**। **नामत्वेति**। पाचकपाठकवत् नामत्वाभावात्। विशेषणत्वात्त-थेति नोक्तम्। विष्णुरातः परीक्षित् इत्यत्र न विशेषणत्वेपि नामत्वात्। एवं वेदान्ते योगमादायोक्तम्। बाहुलकाग्रहवादिनं प्रत्याहुः **अथेति**। स्वमते रूढ्यभावः। **दृष्टान्ते** इति। 'देवदत्तो दत्त' इत्युक्ते पूर्वस्मिन्। वेदान्ते 'स्मृतेश्चे'तिसूत्रभाष्यानुरोधेन वेदत्वाग्रहवादिनं प्रत्याहुः **अथ योगेति**। स्वमते योगरूढिर्वेद एव, न वेदान्ते। **सर्वकामादीति**। छान्दोग्ये पञ्चमप्रपाठके 'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः (सत्यकामः) सत्यसङ्कल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्य-नादर एष म आत्मा हृदये' इत्यत्र सर्वकामादिपदानि तेषामेकदेशतायाः। **मनोमयेति**। वाक्यमव्य-वहितपूर्वमुक्तम्। **तस्येति**। मधुविद्यान्तर्गतस्योक्तवाक्यार्थस्य। **अनेन** वाजसनेयकार्थेन। एका विद्या एकविद्या तस्या भाव एकविद्यत्वं तस्याभावः। अत्र दहरविद्या निर्गुणविषया वाजसनेयकोक्ता सगुणविषया तयोर्भेद उपसंहारः परस्परं तत्र विद्याभेदो विरुध्यते 'अभेदादनुपाधित्वा'दित्यादिविद्वन्मण्डनेन तदवि-रोधाय सर्ववेदान्तप्रत्ययप्रपञ्चरूपत्वनिषेधमाहुः **किञ्च सर्वेति**। **चत्वार** इति। संयोगेन सह। **त्रय** इति। अत्रैव व्याख्यातम्। **तद्यदीति**। **तत्** विद्यैक्यम्। **आयतनादिभिरिति**। चोदनाद्यविशे-

आदरादलोपः ॥ ४० ॥ (३-३-१४.)

ननु नित्यानां वर्णाश्रमधर्माणां भगवद्धर्माणां चैककाले प्राप्तौ युगपदुभयोः करणासम्भवादन्यतरबाधे प्राप्ते, कस्य स्यान्न कस्येति स्यात् संशयः। तत्र कर्मणां स्व-स्वकाले विहितानामकरणे प्रत्यवायश्रवणादितरत्रातथाश्रवणादन्यदापि तत्कृति-सम्भवात् सावकाशत्वेन तेषामेव बाधो युक्तः, न तु निरवकाशानामिति पूर्वः पक्षः।

भाष्यप्रकाशः।

तस्य हेतोर्व्यतिरेकव्यभिचारः प्रसज्येत, कतिपयैरङ्गीकारे यत्किञ्चिद्धेतुसत्त्वस्य यत्र क्वापि सौल-भ्याद्विद्याभेदश्चोच्छिद्येत। प्रकृते च चोदना भिद्यते, एकत्र 'अन्वेष्टव्यं विजिज्ञासितव्य'मिति वाक्यात्, अन्यत्र च 'य एवं वेदे'ति वाक्यात्। आख्या च भिद्यते, वाजसनेयके दहरविद्येत्या-ख्याया अप्रसिद्धत्वात्। तत्तद्गुणकस्येश्वरस्य वेद्यत्वे तु रूपमपि भिद्यते इति कथं विद्यैक्यम्। अथ यथाकथञ्चित् ते चत्वारस्त्रयो वा हेतव आनेयाः, तदा तत एव ऐकविद्यसिद्धेरेतत्सूत्र-सार्थक्यं दुरुपपादमित्यगतिकगतिकं तत्प्रपञ्चरूपत्वमस्येत्यवधेयम् ॥ ३९ ॥ **इति त्रयोदशं सैव हि सत्यादय इत्यधिकरणम्** ॥ १३ ॥

आदरादलोपः ॥४०॥ पूर्वाधिकरणेषु सात्त्विकानां वृतानां ज्ञानासक्तिवारणाय ज्ञानमा-र्गाद्भक्तिमार्गस्य फलतः साधनतः स्वरूपतः सम्बन्धतश्चोत्कर्षः प्रतिपादितः। अतः परं ये वृता राजसा-स्तेषां ज्ञाने रुच्यभावेपि कर्मणि रुचेर्विद्यमानत्वात्तन्निरासार्थं कर्मकरणनिर्णयायाधिकरणमारभत इत्याशयेन सूत्रमवतारयन्ति नन्वित्यादि। कस्य स्यादिति। कस्य बाधः स्यात्। **इतरत्रेति**।

रश्मिः।

षेन्तर्भूतैस्तैः। **तस्य हेतोरिति**। नोदनाद्यविशेषहेतोः। अत्र सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वाभावो न वर्तते चोदनाद्यविशेषाभावोत्रास्तीति व्यतिरेकव्यभिचारप्रसङ्गः। ततश्च व्याप्तिग्रहप्रतिबन्धः फलम्। **कति-पयैरिति**। चोदनाद्यविशेषान्तर्भूतायतनेषु कतिपयैः। सर्वैस्तु विद्ययोर्भेद इत्यङ्गीकार इत्यर्थः। **यत्किञ्चिदिति**। अभेदसाधकयत्किञ्चिद्धेतुसत्त्वस्य। **यत्र क्वापीति**। पक्षे दृष्टान्ते च। च पुनः विद्याभेदो विद्वन्मण्डनेनोच्छिन्नः पुनरत्रोच्छिद्येत। **एकत्रेति**। छान्दोग्ये दहरविद्यायां विज्ञातव्यः। **अन्यत्रेति** वाजसनेयके। **अप्रसिद्धत्वादिति**। किन्तु ब्राह्मणमिति प्रसिद्धिः। **कथमिति**। चोदना-द्यविशेषान्तर्भूतायतनादिभिः विद्यैक्यं कथमिति प्रश्नः। **तत्प्रपञ्चेति**। सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणप्रपञ्च-रूपत्वम् ॥ ३९ ॥ **इति त्रयोदशं सैव हीत्यधिकरणम्** ॥ १३ ॥

आदरादलोपः ॥४०॥ **वृत्तानामिति**। मुक्तावधिकारिणाम्। वृत्तपदं ख्याते व्याख्यातम्। 'वृत्तोऽतीते दृढे ख्याते वर्तुले विधृतेऽमृते। वाच्यवद्वर्तने वृत्तं चरित्रच्छन्दसोरपी'ति विश्वः। भवान्तस-म्भवत्वाज्ज्ञानासक्तिस्तस्या वारणाय। तेन 'सात्त्विका भगवद्भक्ता ये मुक्तावधिकारिणः। भवान्तसम्भवा दैवात्तेषामर्थे निरूप्यत' इति निबन्धः स्मारितः। **फलत** इति। 'अक्षरधिया'मित्यत्र। **साधनतो** गताधिकरणे। स्वरूपतोन्तराधिकरणे। **सम्बन्धतो**ऽक्षरधियामित्यत्र 'सामान्यत' इति हेतुव्याख्याने। **राजसा** इति। 'राजसं कर्मबहुल'मितिवाक्यात्कर्मबहुलाः। **रुचीति**। 'सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञान'मिति वाक्यात्सात्त्विकानां ज्ञाने रुचिः, न राजसानाम्। **नन्वित्यादीति**। **प्रत्यवायेति**। 'धर्मं चरे'ति विध्युलङ्घने। एकादशस्कन्धोक्तं 'वेदोक्तं नाचरेद्यस्त्वि' त्याद्युक्त्वा 'मृत्योर्मृत्युमुपैति स' इति प्रत्यवायः **तस्य** श्रवणात्। इतरत्रेति। भगवद्धर्माकरणे। अन्यदा अन्यस्मिन् काले। **तत्कृतीति**। भगवद्ध-र्मकृतिसम्भवात्। तेषामिति। भगवद्धर्माणाम्। **निरवकाशानां** वर्णाश्रमधर्माणाम्। **उच्चारयेदिति**-

तत्र सिद्धान्तमाह आदरादिति। ब्रह्मयज्ञप्रकरणे तैत्तिरीयकैः पठ्यते 'ॐमिति प्रतिपद्यत एतद्वै यजुस्त्रयीं विद्यां प्रत्येषा वागेतत्परममक्षरं तदेतदृचाभ्युक्तमृचो, अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुर्यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासत' इति । अत्र ऋक्सम्बन्धित्वेन वर्णात्मके, वस्तुतस्तु परमव्योमात्मके अक्षरे ब्रह्मण्योङ्कारे वर्तमानं तल्लोकवेदप्रसिद्धं परं ब्रह्म यो न वेद, स किं ऋचा करिष्यतीत्यनेन तदज्ञाने वेदाध्ययनस्य निष्फलत्व-

भाष्यप्रकाशः।

भगवद्धर्मेषु । सिद्धान्तं विशदयितुं सूत्रं विवृण्वन्ति ब्रह्मयज्ञेत्यादि । ब्रह्मयज्ञप्रकरण इति । तैत्तिरीयाणामारण्यके स्वाध्यायब्राह्मणे ।

श्रुत्यर्थस्तु, ब्रह्मयज्ञेन यक्ष्यमाण ॐमिति प्रतिपद्यते, प्रणवाक्षरं प्रथममुच्चारयेत् । प्रतिपद्यत इति पञ्चमो लकारः । पूर्वोच्चारणे हेतुः । एतद्वै यजुस्त्रयीं विद्यां प्रति, अयं यजूरूपः प्रणवमन्त्रस्त्रयीं विद्यां लक्षीकृत्य प्रतिनिधिरूपो यतोऽस्ति । तच्चाथर्वणे स्फुटम्, 'तस्य वै प्रणवस्य पूर्वा मात्रा पृथिव्यकारः स ऋग्भिर्ऋग्वेदोऽथ द्वितीयान्तरिक्षं स उकारः स यजुर्भिर्यजुर्वेदस्तृतीया द्यौः स मकारः स सामभिः सामवेद' इति सायणभाष्ये । वस्तुतस्तु आथर्वणानां गोपथब्राह्मणे इन्द्रप्रजापतिसंवादे प्रजापतिना वेदत्रये एकाक्षरोऽथर्ववेदे मात्राभिर्युक्त इति व्यवस्थापनात्, तैत्तिरीये बृहन्नारायणे 'ॐमित्येकाक्षरं ब्रह्मे'तिश्रावणादत्रामात्र एव । नच त्रयीप्रतिनिधित्वविरोधः । द्वादशस्कन्धे 'स सर्वमन्त्रोपनिषद्वेदबीजं सनातन'मिति बीजत्वबोधनात् यथा पुस्तकलिखनोत्तरं तन्मूलपुलस्तके प्रतिव्यवहारः, तथा त्रयीमूलत्वात् प्रतित्वम् । एकादशस्कन्धे 'वेदः प्रणव एवाग्रे' इति प्रथमकृतयुगे तन्मात्रबोधनात्तदा सर्वं कार्यं प्रणवेनैवेति वा तस्य त्रयीप्रतिनिधित्वमित्यदोषात् । 'एषा वा'गिति सर्ववाग्बीजत्वात् सर्ववाग्रूपम् । तथाच छन्दोगा आमनन्ति 'तद्यथा शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि सन्तृण्णान्येवमोङ्कारेण सर्वा वाक् सन्तृण्णे'ति। 'अश्वत्थादिपत्रेषु दृश्यमानास्तन्तुसदृशा अवयवाः शङ्कवस्तैर्यथा कृत्स्नानि पर्णानि व्याप्तानि, तद्वदोङ्कारेण सर्वा वाग्व्याप्ते'ति सायणभाष्ये । 'एतत्परममक्षर'मिति । 'एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं पर'मिति काठकश्रुतेः । तदेतदृचाभ्युक्तमिति । तदेतत्परमं ब्रह्मरूपमक्षरं वक्ष्यमाणयर्चा स्पष्टमुक्तमित्येवं ज्ञेयः ।

ऋचं पठित्वा व्याकुर्वन्ति अत्रेत्यादि । ऋक्सम्बन्धित्वेन वर्णात्मके, वस्तुतस्तु 'एतद्ध्येवे'ति काठकश्रुत्या 'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योम'न्निति तैत्तिरीयश्रुतेश्च परमव्योमात्मके ॐकारे, 'यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदु'रिति देवनिषदनस्थानत्वाल्लोकात्मके अक्षरे ब्रह्मणि,

रश्मिः ।

विधिव्याख्यानादाहुः **प्रतिपद्यत** इति । **पञ्चम** इति । लेट् । **तच्चेति** । प्रतिनिधिरूपत्वं च । आथर्वणमाहुः **तस्य वा** इति । **अत्रेति** । तैत्तिरीयके स्वाध्यायब्राह्मणे । **एकाक्षरमिति** । समष्ट्यविकृतम् । एतदर्थं वस्तुतस्तुपक्षः । **प्रतीति** । प्रतिनिधिव्यवहारः । प्रतित्वं प्रतिनिधित्वम् । 'प्रतिप्रतिनिधिप्रतिदानयो'रिति सूत्रादर्थः । श्रुतौ ऋच इति षष्ठ्यन्तम् । ऋक्सम्बन्धिनि वर्णात्मके इत्यर्थः । तदाहुः **ऋक्सम्बन्धित्वेनेति** । अर्थपरत्वेन वस्तुतस्तु पक्षेणाक्षरे परम इति श्रुतिं व्याकुर्वन्तीत्याशयेनाहुः **वस्तुतस्त्विति** । **एतद्ध्येवेति** । 'एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम् । एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो

मुच्यते । एवं सति तदुक्तकर्मणोपि तथात्वमायाति । एतेन 'भक्त्या मामभिजानाती'ति वाक्यात् परब्रह्मस्वरूपज्ञानं भक्त्यैवेति भक्ताः सन्तः पुरुषोत्तमविदो ये, तेषामेव वेदाध्ययनादिकं फलप्रदम्, नान्येषामित्युक्तं भवति । अत एव श्रीभागवतेप्युक्तं 'ऋषयोपि देव युष्मत्प्रसङ्गविमुखा इह सञ्चरन्ति,' 'संसरन्ती'ति वा । अन्वये निदर्शनम् । ये इत् ईश्वरत्वेन तत् पूर्वोक्तं परं ब्रह्म विदुः, त इमे भक्ताः सर्वापेक्षया सम्यक्प्रकारेण भगवन्निकटे श्रीगोकुलवैकुण्ठादिष्वासत इति । तेनान्येषां सम्यगसत्त्वमर्थाक्षिप्तं भवति । पुरःस्थितार्थवाचीदंशब्दप्रयोगेण चान्येषामसत्तुल्यत्वं श्रुतेरभिमतमिति ज्ञायते । ऋक्शाखायामपि 'तमु स्तोतारः पूर्व्यं यथाविद ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन, आस्य जानन्तो नाम चिद्विवक्तन

भाष्यप्रकाशः।

उक्तश्रुतौ निहितत्वेन श्रावणाद्गीतायां 'तद्धाम परमं मम'ेति वाक्याच्च तत्र प्रतिपाद्यत्वेन स्वरूपेण च वर्तमानम्, तं 'अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तम' इति गीतावाक्याल्लोकवेदप्रसिद्धं परं ब्रह्म यो न वेद, स किं ऋचा, ऋगिति वेदमात्रोपलक्षकम्, वेदेन किं करिष्यतीति । शेषं स्फुटम् । 'ऋषय' इति वाक्यं तु तृतीयस्कन्धे नवमाध्याये । अन्वये निदर्शनमिति । तदज्ञातुर्वेदाध्ययनसद्भावेपि तन्मुख्यफलाभावादन्वयव्यभिचारे निदर्शनं श्रुतिः श्रीभागवतवाक्यं चाहेत्यर्थः ।

अथवा, इदमग्रिमेण सम्बध्यते । तथाच वक्ष्यमाणेन वाक्यशेषेण श्रुतिर्ज्ञानवतां भगवत्प्राप्तिलक्षणं निदर्शनमाहेत्यर्थः । तदेव श्रुतिशेषं व्याकुर्वन्ति ये इदित्यादि । इदित्यवधारणे । तथाच प्रणवार्थभूतस्य भगवतो यज्ज्ञानं तस्यावश्यकत्वं तदज्ञानेऽध्ययनादिनैष्फल्यं च बोधयन्त्यानयर्चा भगवज्ज्ञानसाधनीभूतायां वरणसाध्यायां भक्तावादरो दर्शितः । एवं श्रुत्यन्तरे साधनभक्तावप्यादरः श्राव्यते इत्याशयेनाहुः ऋगित्यादि । अर्थस्तु, हे स्तोतारो मदुत्कर्षवर्णनपराः । इयं वेदानामुक्तिः । तं लोकवेदप्रसिद्धम्, पूर्व्यं पूर्वस्य कारणस्य सम्बन्धि सर्वकारणकारणरूपम्, यथाविदः यथावत्तत्स्वरूपवेत्तारो भवन्तः, ऋतस्य सूनृतवाणीरूपस्य वेदस्य, गर्भं अन्तर्निहितम्, जनुषा स्वस्य सम्पूर्णजन्मना यावज्जीवमिति यावत्, पिपर्तन पूर्तियुक्तं सन्तुष्टं कुरुत, सन्तोषयत । अत्र यथाविच्चोक्त्या पूर्णज्ञानानां देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणजीवविनियोगं भगवत्तोषार्थं दर्शयति श्रुतिरिति भगवद्धर्मेषु श्रुतेरादरः स्फुटति । अथ भगवत्तोषाभावे किमपि न सिध्यतीत्याशयेन पूर्वोक्तकरणाशक्तावनुकल्पमाहोत्तरार्धेन । आसमन्तात् अस्य परमपुरुषस्य नाम अखण्डशब्दब्रह्मरूपत्वेन जानन्तः, विवक्तन विशेषेण वदत । नाम्नः स्वरूपं

रश्मिः ।

यदिच्छति तस्य त'दिति श्रुत्या । उक्तश्रुताविति । तैत्तिरीयश्रुतौ । शेषमिति । **एवं सतीत्यारभ्य** वेत्यन्तं व्याख्येयम् । **अत्र तदुक्तेति** । वेदोक्तकर्मणः । 'पटोलपत्रं पित्तघ्नं नाडी तस्य कफापहे'त्यत्रेवात्रापि वेदाध्ययने वेदमात्रग्रहणम् । **तथात्वं** निष्फलत्वम् । एवं शेषं स्फुटम् । **अन्वयेति** । यत्र यत्र तदज्ञातुर्वेदाध्ययनसद्भावस्तत्रतत्र पुरुषोत्तमरूपमुख्यफलमित्यन्वयः, तस्य व्यभिचारे सति **निदर्शनं** दृष्टान्तम् । श्रीभागवतवाक्यं कर्तृ । निदर्शनमाहेत्यर्थः । निदर्शनं त्वेवम् । यत्र भक्तेः संसाराभावस्तत्र पुरुषोत्तमप्रसङ्ग इति । निदर्शनं न दृष्टान्तः, किंतु भगवत्प्राप्तिः करणव्युत्पत्त्या तत्राहुः **अथवेति** । **अग्रिमेणेति** । श्रुतिशेषेण । वाक्यशेषोऽप्ययम् । श्रुतिः 'ऋचो अक्षरे परमे व्योम'न्निति । **य इदित्यादीति** । य एवेश्वरत्वेन तत्पूर्वोक्तमित्यादिः । इम इतीदमः प्रत्यक्षगे रूपमत आहुः **श्रीगोकुलेति** । वैकुण्ठस्थेषु गोकुलस्थत्व एवेम इति प्रयोगः । **प्रणवार्थेति** । अयमर्थो गायत्र्यर्थकारिकासु श्रीमद्गोस्वामिभिः स्पष्टी-

महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे' इत्याद्यृग्भिरन्येभ्यो धर्मेभ्यः सकाशाद्भगवद्धर्मेष्वादरः श्रूयते इति तेषां अलोप एवेत्यर्थः । एतेन 'अकरणे प्रत्यवायश्रवणा'दित्यादि यदुक्तम्, तदपि प्रत्युक्तं वेदितव्यम् । करणेपि वैयर्थ्यात्तदपरिहारात् । एवं सति यदकरणे प्रत्यवायकथनम्, तेन तस्मादवकाशं प्राप्य गौणकालेप्यकरणे तथेति तस्याशय इति ज्ञायते ॥ ४० ॥

नन्वेवं तात्पर्यकत्वे श्रुतेरुपनयनादिवत् कर्मोपयोगित्वं भक्तितज्ज्ञानयोः स्यादिति कर्मण एव प्राधान्यम्, न तु भक्तेः सिध्यतीत्याशङ्क्य, भक्तितज्ज्ञानावश्यकत्वबोधकश्रुतितात्पर्यमाह ।

उपस्थितेऽतस्तद्वचनात् ॥ ४१ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

विश्वा तदेव कीर्तयत । अनुकल्पेन कथं सन्तोष इत्यतो नामस्वरूपमाह चिदिति । उपलक्षणमेतत् । सच्चिदानन्दात्मकम् । तथाच नाम्नो ज्ञानरूपत्वात्तद्द्वारा भगवतोपि ज्ञानं भविष्यति, तेन तोषोपि भविष्यतीत्यर्थः । नामस्वरूपस्याप्यज्ञाने तदुपायं गुरूपसत्तिरूपमाह । हे विष्णो ते त्वत्सम्बन्धिनं महः तेजोरूपम्, समभिव्याहारात् त्वत्तेजोरूपम्, सुमतिं निर्दोषपूर्णगुणत्वेन भगवन्तं जानन्तम् । सुबुद्धिं भक्तमिति यावत्, तं भजामहे । तथाचान्यो भजतु, मा वा, वयं तु भजामह इति श्रुतयः स्वकृतिं दर्शयन्ति । अनेन तदुपायेप्यादरो दर्शितः । तेन भगवद्धर्माणामत्यादृतत्वं बोधितमिति ज्ञेयः । इत्याद्यृग्भिरित्यादिपदेन, 'प्रतत्ते अद्य शिपिविष्ट नामे'त्यादीनां संग्रहः । एवं श्रुतिद्वयेन भगवद्धर्मेष्वादरे श्रुतेः सिद्धे तेषामेव मुख्यकाले करणं सिद्धमिति तेन पूर्वपक्षयुक्त्युत्तरसिद्धिं सारयन्ति एतेनेत्यादि । तर्हि प्रत्यवायश्रवणस्य का गतिरित्याकाङ्क्षायां तामाहुः एवं सतीत्यादि । तेनेति । कथनेन । तस्मादिति । भगवद्धर्मात् । तथेति । प्रत्यवायः ॥ ४० ॥

उपस्थितेऽतस्तद्वचनात् ॥ ४१ ॥ सूत्रमवतारयन्ति नन्वेवमित्यादि । उक्तश्रुतिभ्यां

रश्मिः ।

कृतस्ततोऽवसेयः । वरणेति । पुष्टिभक्तौ । अनुकल्पमिति । विध्यन्तरम् । कथमिति । मुख्यकल्पानाश्रयणजदुःखसत्त्वात्क(थ)मिति प्रश्नः । 'कल्पः स्यात्प्रलये न्याये शास्त्रे ब्रह्मदिने विधा'विति विश्वः । ज्ञेय इति । पूर्वेणार्थस्त्वित्यनेनान्वेति । प्रतत्त इति । प्रनाम पूर्णम् । प्रा पूरणे । तत् सच्चिदानन्दरूपं ते तव शिपिविष्टनामेति । यथावत् शिपिविष्टनामेति ज्ञेयम् । 'शिपिविष्टस्तु खलतौ शिवे दुश्चर्मणि स्मृत' इति विश्वः । आदिनर्ग्वेदोपनिषन्मण्डूकनाम्नी । भगवद्धर्मेष्विति । क्रिया वर्णाश्रमधर्मः । ज्ञानं भगवद्धर्मः । तत्र यथावत् भगवद्धर्मविषयकम् । 'ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिः संदिह्येते परस्थिते' इति भाष्यकारिका । ते च ज्ञानावच्छेदका धर्माः 'मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपी'ति वाक्याद्भक्तिप्रधानाः । भक्तयो नवविधाः प्रेम सर्वात्मभावश्च । ऐश्वर्यादयः । पादार्थाव्याप्तिरपि स्मारिता । आदर इति । उक्तश्रीभागवतवाक्यादादरः । एतेनेत्यादीति । करणेपीति । 'वेदं कृत्वा वेदिं करोती'त्यत्र 'क्षुत आचामे'दित्यत्र पूर्वं वेदिकरणे क्षुतनिमित्ताभावेप्याचमने कृते वेधाचमनयोर्वैयर्थ्यं यथा, तथा भगवद्धर्मकाले वर्णाश्रमधर्मकरणे तस्य वैयर्थ्यं तस्मात् । तस्य प्रत्यवायश्रवणस्यापरीहारात्[1] । परेर्दीर्घः । प्रत्यवायः 'मृत्योर्मृत्युमुपैति स' इत्येकादशोक्तः । भाष्ये । तस्येति । प्रत्यवायवाक्यस्य ॥ ४० ॥

उपस्थितेऽतस्तद्वचनात् ॥ ४१ ॥ उक्तेति । 'तमु स्तोतारः' 'प्रतत्ते' इति श्रुतिभ्याम् ।

1. रश्मौ तदपरीहारादिति पाठः ।

तयोर्युगपत्करणेऽनुपस्थितेपि यदि पूर्वं भगवद्धर्मकरणमुच्यते, तदा त्वदुक्तं स्यात्, नत्वेवम्, किन्तूभयोर्युगपत्करण उपस्थिते बलाबलविचारे क्रियमाणे,

भाष्यप्रकाशः ।

भगवद्धर्मादरे बोधिते भगवद्धर्मकरणे श्रुत्युक्तानां कर्मणां सार्थक्यं नान्यथेत्येवं श्रुतेस्तात्पर्येण उपनयनादिवदङ्गत्वादेस्तदङ्गत्वं कर्मणश्च प्राधान्यं सिध्यतीत्याशङ्क्य भक्त्याद्यावश्यकत्वबोधनतात्पर्यमाहेत्यर्थः । सूत्रं व्याकुर्वन्ति तयोर्युगपदित्यादि । यजुर्ब्राह्मणश्रुतौ भगवज्ज्ञानस्यावश्यकत्वं बोध्यते । तेन स्वाध्यायावर्तनदशायामपि तदावश्यकता आयाति । ऋक्संहिताश्रुतावपि 'यथाविद' इति 'जानन्त' इति च स्तोतृविशेषणाद्विधेयस्य भगवद्धर्मस्य करणे ज्ञानस्याधिकारप्रयोजकत्वं लभ्यते । मन्त्राणां विधायकत्वं तु 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभेते'त्यत्र परैरादृतम् । 'वसन्ताये'त्यादीनां न मन्त्रत्वमिति स्वपक्षेपि मन्त्राणां स्वार्थे प्रामाण्यस्याङ्गीकाराद्विधिशक्तिकौण्ठ्याभावे विधायकत्वं न हीयते । अतो मुमुक्षूणां भगवद्धर्मा आवश्यकाः । कर्माणि तु 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति ब्रह्मचर्येण यज्ञेन तपसा श्रद्धया अनाशकेने'ति श्रुतेर्विविदिषायामेवोपक्षीणानि । ज्ञानपर्यन्तत्वपक्षेप्यारादुपकारकाणीति विविदिषोक्त्यैव लभ्यत इति दूरापास्तं तत्प्राधान्यम् । एवं ज्ञानोत्तरं यत्र कथञ्चिद्वर्णाश्रमधर्मा भगवद्धर्माश्च युगपत्प्राप्ताः, तत्र प्रत्यवा-

रश्मिः ।

सार्थक्यमिति । 'यदेव विद्यये'तिश्रुतेः पूर्वमीमांसकाशङ्का । श्रुतेरिति । यजुर्ब्राह्मणश्रुतेः 'ॐमिति प्रतिपद्यत' इत्यादेः । सिध्यतीति । 'त इमे समासत' इत्यत्र यज्ञायेति शेषं पूरयित्वा सिध्यति । भक्त्यादीति । भक्तितज्ज्ञानावश्यकत्वबोधनस्य तात्पर्यं ज्ञानकाण्डत्वा'त्तमेत'मिति श्रौतं ज्ञानकाण्डीयं तात्पर्यमाहेत्यर्थः । तयोरित्यस्यार्थ ऋक्संहितायजुर्ब्राह्मणश्रुत्योरित्याहुः यजुर्ब्राह्मणेति । बोध्यते इति । यज्ञे बोध्यते । आयातीति । ब्रह्मयज्ञत्वादायाति । स्तोत्रिति । ज्ञानस्याधिकारेत्यादौ हेतुः । विधेयस्येति । पिपर्तनेतिविधिविषयस्य भगवतोऽधोक्षजत्वाद्भगवद्धर्मस्य करणे ज्ञानस्य स्तोतृविशेषणस्य । पिपर्तनेतिमध्यमपुरुषान्मन्त्रत्वम् । पूर्वतन्त्रे मध्यमपुरुषान्तस्य मन्त्रत्वोक्तेः । तदाहुः मन्त्राणामिति । स्वपक्ष इति । भावार्थपादभाष्ये । एतावता तयोरित्यस्यार्थ उक्तः । अत इति । कर्मणा पूर्तिमुक्तं कुरुतेति पिपर्तनेत्यस्यार्थेपि ज्ञानकाण्डत्वेन 'तनेतं वेदानुवचनेने'ति श्रुतिविषयत्वेन सेवाख्यकर्मणा पूर्तिमुक्तं कुरुतेत्यर्थादित्यर्थः । भगवद्धर्मा उक्ता ज्ञानविषयाः । आभासे श्रुतेरुपनयनादिवदित्यादि यदुक्तं तत्राहुः कर्माणि त्वितिि । 'विविदिषन्ती'त्यत्र रामानुजाचार्यवत्सनर्थाविवक्षायामाहुः ज्ञानपर्यन्तत्वेति । आरात् समीप उपकारकाणि कर्माणीति । विविदिषोक्तिर्व्यञ्जनया । सनर्थाविवक्षोक्तेः । तत्प्राधान्यं कर्मप्राधान्यम् । भाष्यविवरणं तु अनुपस्थितेपीति । अपिनोपस्थिते । त्वदुक्तं कर्मणः प्राधान्यं स्यात्, शास्त्रस्य प्राथम्यात्, नत्वेवम्, शास्त्रप्राथम्यापेक्षया श्रुतिद्वयस्य प्राबल्यात् । 'तमेतं वेदानुवचनेने'ति 'यदेव विद्यये'ति श्रुतिद्वयम् । प्रकृते । किन्तूभयोरिति भाष्यविवरणमाहुः एवं ज्ञानेति । कर्माप्राधान्यज्ञानोत्तरम् । कथञ्चिदिति । कारणत्वेन प्रकारेण भगवति लोकसंग्राहका वर्णाश्रमधर्माः क्रियाशक्तिरूपाः भगवद्धर्मा ज्ञानशक्तिविषयभक्तिरूपाः । 'भगवान्भक्तभक्तिमानि'तिवाक्यात् । ज्ञानशक्तेः सविषयत्वात् भगवान्विषय इति चेद्भक्ता अपि सन्तु, 'मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपी'ति वाक्यात् । प्राप्ता इति । भगवति प्राप्ताः । जीवे कथञ्चिन्मार्गाग्रहेण प्राप्ताः । प्रत्यवायेति । यथा बलदेवे सूतवधानन्तरम् । आदिना 'मृत्योर्मृत्युमुपैति स' इति जीवविषये

अत आदराद्धेतोस्तद्वचनाद्भगवद्धर्माणां बलवत्त्वेनालोपवचनात् न कर्माङ्गत्वमेतेषां सिध्यतीत्यर्थः॥ ४१॥

इति तृतीयाध्याये तृतीयपादे चतुर्दशमादरादलोप इत्यधिकरणम्॥ १४॥

भाष्यप्रकाशः।

यादिबोधकवाक्यैः प्रबलदुर्बलभावे वैपरीत्येन भाते तदपवादायादरः प्रकाश्यते। ततश्च भगवद्धर्माणां बाधाभावः सिध्यति। तथा सतीतरेषामादराभावेपि प्रत्यवायश्रवणवैयर्थ्यपरिहाराय तेषां गौणकाले करणमर्धाधानवद्व्यवस्थाप्यते, अतो न भक्त्यादीनां कर्माङ्गत्वमित्यर्थः। अत्र कर्मणामनादरव्युत्पादनेन भगवद्धर्माविरुद्धरीत्या तत्करणस्य व्युत्पादनेन च निष्कामनित्यकर्मकृतिबोधकं अपाश्रिताभकाश्वत्थमिति विशेषणं प्रतिपादितं ज्ञेयम्।

रश्मिः।

एकादशवाक्योक्तमृत्युप्राप्तेर्निन्दा। वैपरीत्येनेति। बलाबलविचारे ज्ञानकाण्डत्वादुपनयनादिवदित्याभासोक्तं वैपरीत्यम्, तेन 'यदेव विद्यये'ति श्रुत्या भाते 'तमेत'मितिश्रुत्या ज्ञानकाण्डत्वेन च तस्य वैपरीत्यस्यापवादाय 'ऋषयोपि देव युष्मत्प्रसङ्गविमुखा इह सञ्चरन्ती'त्युपष्टम्भाद्भगवद्धर्मेष्वादरः प्रकाश्यते, नतु वर्णाश्रमधर्मे। इतरेषामिति। वर्णाश्रमधर्माणाम्। अर्धाधानेति। अर्धाधाने कृते कामनासमाप्तावपि विधिबलादर्धाधानं क्रियते तस्येव। गौणकालोऽनधिकारकालो विधिलभ्यः। तदेतत्षष्ठस्य द्वितीयपादे तृतीयाधिकरणे स्पष्टम्। सूत्राणां न्यायरूपत्वात्। 'असमाप्यं समाप्यं वा काम्यं कामे निवर्तिते। आद्यः प्रयोजनाभावादन्त्यो निन्दादिसश्रवा'दिति। अत्र 'चित्रया यजेत पशुकामः' 'कारीर्या यजेत वृष्टिकामः' इत्यादिषु कामप्रेरितेन पुरुषेण कर्मोपक्रान्तम्। तस्य च समाप्तेः प्रागेव केनापि निमित्तेन तत्तत्फलप्राप्तौ दोषदर्शनेन कामो निवर्तते। तदा कर्मानुष्ठाने प्रयोजनाभावात् न समापनीयमिति चेत्। मैवम्। प्रक्रान्तस्य कर्मणोऽसमाप्तौ निन्दाप्रायश्चित्तयोः श्रवणात्। 'देवताभ्यो वा एष प्रावृश्च्यते यो यक्ष्य इत्युक्त्वा न यजते' 'त्रैधातवीयेन यजेत न देवताभ्य आवृश्च्यते'ति तदुभयं श्रुतं तस्मात्समापनीयमित्यर्थः। ओ व्रश्चू छेदने। अत इति। वैपरीत्यापवादात्। तत्करणस्य कर्मकरणस्य। निष्कामेति। 'कर्माणि साधनत्वेन निरूपयती'ति सुबोधिन्याभासात्। 'अपाश्रितः आश्रितः अर्भकाश्वत्थो येन। आश्रितः पश्चादिति वा। अर्भाणां कं सुखं यस्मात्। बालकसुखदायी। अर्भकरूपः कोमलः अश्वत्थो वा। तस्यैवारणी भवतः। कर्माणि सर्वाणि तत्साधनान्येव। अपाश्रयपदेन च साधनत्वेनैव कर्मणामपेक्षा, नतु तद्गतं फलमप्यपेक्षत इति सूचितम्। अपाश्रिता अर्भका यस्मिन्निति बालाधिकारः कर्मणि सूचित' इति सुबोधिनी। आभासे साधननिरूपणं लोकसंग्रहार्थम्। पश्चादिति। मायाया निवृत्तेः पश्चात्। स चाश्वत्थो धर्मरूपोपि ह्यैश्वर्यधर्मरूपः अन्यथाकरणसमर्थः। अन्यथा ब्रह्मणा प्रार्थितोपि न स्वरूपमन्यथयेत्। वीर्यं तु नास्थेयम्। 'नैच्छद्वपु'रितिवाक्यात्। ननु नित्यानन्दे प्रभासलीलानुपपन्नेत्यत आहुः अर्भाणामिति। ऐश्वर्याविष्टोऽधोक्षजो बाल इति न नित्यानन्दत्वविरोधः। धर्मोऽश्वत्थः 'वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येक' इति। स एवैश्वर्यमित्यर्भकरूपः। अधुना लोकसंग्रहार्थं कर्माश्रयणरूपं तेन बृहदारण्यकोक्तोश्वत्थः कालात्मा भगवाञ्जातोऽश्वत्थादग्निरूपोपि, अश्वत्थे धर्मे तन्निष्ठाश्वे च तिरोभवतीत्यश्वत्थाश्रयणेच्छाया आहुः तस्यैवेति। महीधर्यां वेदटीकायामश्वत्थगर्भशमीशाखाहरणोक्तेः। तत्साधनानीत्यरणिकाष्ठानयनसाधनानि साक्षात्परम्परयेति बोध्यम्। अपाश्रित आश्रित इत्यर्थ उक्तोऽपपरी अनर्थकाविति सूत्रात्। अधुनाऽपार्थं हीनं वदन्ति अपाश्रयेति। कर्मणा-

तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग्घ्यप्रतिबन्धः फलम्॥ ४२॥ (३-३-१५.)

अथेदं विचार्यते। पुरुषोत्तमविदः कर्म कर्तव्यम्, न वेति।

तत्र मार्गत्रयफलात्मके तस्मिन् सम्पन्ने पुनस्तस्य स्वतोऽपुरुषार्थस्य करणमप्रयोजकमिति न कर्तव्यमेवेति पूर्वपक्षः।

तत्र सिद्धान्तमाह तन्निर्धारणेत्यादिना। अत्रेदमाकूतम्। भक्तिमार्गे हि मर्यादापुष्टिभेदेनास्ति द्वैविध्यम्। तत्र मर्यादायां पुष्टौ चैतादृशस्य न कर्मकरणं सम्भवति। अत एव तैत्तिरीयकोपनिषत्सु पठ्यते 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चने'ति। 'एतꣳ ह वा व न तपति किमहꣳ साधु नाकरवं किमहं पापमकरवमिती'ति। श्रूयते चोभयविधानामपि कर्मकरणमम्बरीषोद्धवपाण्डवा-

भाष्यप्रकाशः

शङ्करभास्कराचार्यौ तु वैश्वानरविद्योक्तस्य प्राणाग्निहोत्रस्य भोजनलोपे लोपो न वेति शङ्कायां लोपं सिद्धान्तयतः। तत्रोदासीना वयम्।

रामानुजाचार्यास्तु, इदं सूत्रद्वयं कामादिसूत्रशेषत्वेनाङ्गीकृत्य तत्र मोक्षार्थिनां निर्विशेषोपासकानां सत्यकामत्वादिवद्वशित्वादिकमपि लुप्यते इति शङ्कानिवृत्तये आद्यम्, छान्दोग्योक्तं 'सर्वेषु लोकेषु कामचार' इति फलं सांसारिकमिति शङ्कानिरासाय द्वितीयमिति मन्यन्ते। अयं च परविषयो विचार इति पूर्वोक्तमतद्वयापेक्षयायमेव युक्तः॥ ४१॥ इति चतुर्दशमादरादलोप इत्यधिकरणम्॥ १४॥

तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग्घ्यप्रतिबन्धः फलम्॥ ४२॥ ननु यद्येवं तर्हि गौणमुख्यन्यायेन कर्मणामप्रयोजकत्वात् परमहंसेष्विव भक्तेष्वपि तत्प्राप्तिरेव न सम्भवतीत्यर्थः पूर्वोक्तो विचार इत्याकाङ्क्षायां पाक्षिकप्राप्तिं हृदिकृत्य तत्प्रयोजनबोधनायेदमधिकरणमित्याशयेन संशयपूर्वपक्षौ वदन्तस्तदवतारयन्ति अथेत्यादि। तस्मिन्निति। पुरुषोत्तमज्ञाने। सिद्धान्तं वदन्तः सूत्रं व्याकुर्वन्ति अत्रेदमित्यादि। एतादृशस्येति। पुरुषोत्तमविदः सर्वदा भगवदानन्दमनुभवतो वा। श्रूयते चेति। गोपालोत्तरतापनीयेऽतिथिपूजारूपो गृहस्थधर्मो

रश्मिः।

मिति। अश्वत्थरूपधर्माश्रयणरूपकर्मात्र। बहुवचनमन्यापेक्षम्। हीनाश्रयणात्तु तद्गतं फलमप्यपेक्षत इत्यर्थः। अपाश्रिता इति। मुख्यतया तु वैदिका आश्रिताः। अतो बालस्यैश्वर्याविष्टस्याधिकारः प्रभासलीलायां कर्मणि सूचित इत्यर्थः। वैश्वानरेति। प्राणाग्निहोत्रोपनिषदि स्फुटम्। उदासीना इति। पूर्वतन्त्रे द्वारलोपात्कार्यलोपस्य सिद्धत्वे तत एव सिद्धेरुदासीनाः। परविद्ययोरिति[1]। 'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यत' इति श्रुतेः पूर्वा परा। छान्दोग्यं तु नारदसनत्कुमारसंवादस्थं सर्वात्मभावविद्याविषयमिति परविद्या॥ ४१॥ इति चतुर्दशमादरादलोप इत्यधिकरणम्॥ १४॥

तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग्घ्यप्रतिबन्धः फलम्॥ ४२॥ पाक्षिकेति। कर्मकरणे भगवदिच्छानिर्धारणपाक्षिकेत्यर्थः। तत्प्रयोजनेति। अग्रे स्फुटम्। भाष्ये। मार्गेति। कर्ममार्गेण चित्तशुद्धौ ज्ञानं ज्ञानिनो भक्तौ सत्यां 'भक्त्या जानाति चाव्यय'मितिश्रुत्युक्ते फलात्मके। आकूतमिति।........। प्रकृते। 'अम्बरीषोद्धवपाण्डवादी'नामित्यत्रादिपदार्थत्वेन शुकजडादयो भाष्ये व्याकृतप्रायाः। गोपालेत्यादि। गान्धर्वीप्रभृतीनां पुष्टिमार्गीयत्वं स्फुटम्। 'अह्न्याप्तं निशि शयान'-

1. परविषय इत्यत्र परविद्ययोरिति पाठः रश्मौ।

दीनाम्। एवं सत्युभयविधानां मध्ये, मम कर्मकरणे प्रभोरिच्छास्तीति यो निर्धारयति, स करोति। य एतद्विपरीतम्, स न करोति। यथा शुकजडादिः। एतन्निर्धारश्च भगवदधीनः, अतो भक्तेष्वपि तन्निर्धारणानियमः, अतः कर्म कर्तव्यमेवातन्निर्धारणे[1] त्वाधुनिकानाम्। एवं सतीच्छाज्ञानवता तत्सन्देहवता च कर्म कर्तव्यमिति सिद्धम्। तत्रोभयोः फलं वदन्नादावाद्यस्याह तद्दृष्टेः। तस्या भगवदिच्छाया दृष्टिर्ज्ञानं यस्य स तथा। तस्य जीवकृतकर्मफलात् पृथक् भिन्नमीश्वरकृतकर्मणो यत्फलं वेदमर्यादारक्षा लोकसंग्रहश्च तत्फलमित्यर्थः। हिशब्देन 'सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत। कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रह'मिति भगवद्वाक्यरूपोपपत्तिः सूचिता। द्वितीयस्य मध्यमाधिकारात् कालेसङ्गादिजनितचित्तमालिन्येन[2] भगवत्सांनिध्ये प्रतिबन्धः स्यात्, तन्निवृत्तिस्तत्कृतकर्मणः फलमित्यर्थः।

भाष्यप्रकाशः।

गान्धर्वीप्रभृतीनाम्। चकारात् स्मृतौ। उभयविधानामिति। मर्यादायां पुष्टौ चाङ्गीकृतानां भक्तानाम्। एतद्विपरीतमित्यत्रापि **निर्धारयतीति** सम्बध्यते। तथाच निर्धारणानियमपदस्य हेतुगर्भतया एवं कर्मप्रसक्तेर्विद्यमानत्वान्न पूर्वाधिकरणोक्तविचारवैयर्थ्यमित्यर्थः। ननु भवत्वेवं पुरुषोत्तमविदः कर्मकरणम्, तथापि किं तस्य फलमिति विचारणीयम्, न तावल्लौकिकम्, तदनभीष्टत्वात्। नापि प्रत्यवायपरिहारादिः, 'स्वपादमूलं भजत' इति वाक्याद्भगवतैव तत्सिद्धेरित्याकाङ्क्षायां सूत्रशेषमवतारयन्ति तत्रेत्यादि। एवं सिद्धे कर्मकरणे ज्ञातेच्छतत्सन्देहवतोः फलं वदन्निश्चितेच्छस्य फलं **तद्दृष्टेः** पृथगित्यनेन पूर्वमाहेत्यर्थः। **द्वितीयस्य** विवृण्वन्ति **द्वितीयस्येत्यादि**। तथाच तादृशोरपि कर्मणः साफल्यस्य सत्त्वान्न पूर्वोक्तविचारवैयर्थ्यमित्यर्थः।

रश्मिः।

मितिवाक्यात्। तथाच पुष्टिमर्यादामार्गीया भक्ता अप्यादिपदार्थः। अत्र गान्धर्वीप्रभृतीनां श्रूयते चेत्यन्वयो न भवति। गोपालतापिनीये गान्धर्वीप्रभृतिष्वम्बरीषादीनामग्रहणात्। तथाच श्रूयते चेत्यस्य वेदोपाख्यानेष्वित्यर्थः। अन्वयान्तरमाहुः **स्मृताविति**। स्मृतौ श्रूयते श्रावणविषयीक्रियते। नच स्मर्यते चेति पठनीयमिति वाच्यम्। 'इतिहासः पुराणं वेदानां पञ्चमो वेद' इति श्रुत्या पुराणेष्वपि स्मर्यते चेत्यस्य बाधात्। स्मृतयस्तु नवमस्कन्धे 'स इत्थं भक्तियोगेन तपोयुक्तेन पार्थिवः। स्वधर्मेण हरिं प्रीणन्सङ्गान्सर्वान् शनैर्जहा'वित्यम्बरीषस्य कर्मकरणे। दशमस्कन्धे 'क्रतुराजेन गोविन्द राजसूयेन पावनीः। यक्ष्ये विभूतीर्भवत' इति पाण्डवानां कर्मकरणे। एकादशस्कन्धे 'यथोपदिष्टं जगदेकबन्धुना तपः समास्थाय हरेरगाद्गति'मित्युद्धवस्य कर्मकरणे एकोनत्रिंशाध्यायस्था। **मर्यादायामिति**। मर्यादायामम्बरीषादयः। पुष्टिमर्यादायां गान्धर्वीप्रभृतयः। पुष्टौ 'केवलेन हि भावेन गोप्यो गावः खगा मृगाः। येऽन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसे'तिवाक्योक्ता गोप्यादयः। 'स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः। विकर्म यच्चोत्पतितं कथंचिद्धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्ट' इति। **मर्यादेत्यादि**। मर्यादायामम्बरीषादयः भक्तेः ससाधनत्वात्। पुष्टौ गोप्यादयः निःसाधनभक्तिमत्त्वात्। पुष्टिमर्यादायां गान्धर्वीप्रभृतयः गोपालतापिनीये ससाधनभक्तेः, 'अञ्जसाप्नुत'मिति निःसाधनभक्तेश्च कथनात्। शुकजडादयो ज्ञानिभक्ताः। प्रथमस्कन्धे शुकस्य पञ्चमस्कन्धे जडस्य ज्ञानित्वेन प्रसिद्धेः।

---

१. एतान्निर्धारणमिति पाठः। २. कामसङ्गेति पाठः।

अथवा। पूर्वसूत्राभ्यां भगवद्धर्मकृतेरावश्यकत्वमुक्तम्। सर्वात्मभाववतो

भाष्यप्रकाशः।

अत्र भगवत्स्वरूपविषयकपूर्णज्ञानवतामेव तदिच्छया वर्णाश्रमधर्मकरणतदकरणयोर्विभजनात् पूर्णज्ञानप्राप्यत्वबोधकं अक्रूरामिति विशेषणं प्रतिपादितं ज्ञेयम्। न क्रूरं यस्येति तदर्थादिति।

एवमेतत्सूत्रव्याख्याने प्रत्यवायश्रवणादिना गौणकालेऽप्यवश्यकर्तव्यतया पूर्वाधिकरणे साधितानां कर्मणां वैयर्थ्यपरिजिहीर्षया फलस्य वक्तव्यत्वेन पृथग्व्यप्रतिबन्धः फलमिति सूत्रभागसार्थक्यमायाति, न सम्पूर्णस्य सूत्रस्येत्यरुच्या व्याख्यानान्तरार्थं सूत्रमवतारयन्ति अथवेत्यादि। पूर्वसूत्राभ्यां भगवद्धर्माणां मोक्षफलानां श्रवणादीनां कृतेः करणस्यावश्यकत्वमुक्तम्, यः पुनः सर्वात्मभाववान्, तस्य तूक्तभगवद्वचनात्, तं प्रति मोक्षसाध-

रश्मिः।

भगवदिति। इच्छाया भगवन्निष्ठत्वेन तन्निष्ठसत्ताया अपि परम्परया भगवन्निष्ठत्वेन विषयविधया भगवदधीनत्वम्, मुख्यत्वात्, इतरयोश्च विशेषणत्वात्। ननु प्रभोरिच्छास्तीत्यत्र प्रभुसम्बन्धीच्छानिष्ठः सत्तानुकूलो व्यापार इति वैयाकरणबोधोतः कथमितरयोर्विशेषणत्वमिति चेत्। न। अनौचित्याद्भगवतो विशेषणत्वे सखण्डब्रह्मवादेन। एतद्भगवदधीनपदेन सूच्यते। एतत्फलमाहुः **अतो भक्तेष्विति**। येषां पुनर्भगवान् साधनं फलं च तेष्वपीत्यर्थः। तादृशेष्विच्छासत्तयोरभावात्। तथा चैतन्निश्चयस्य ज्ञानरूपस्य सकलभक्तसाधारणं भगवदधीनत्वमुररीकार्यमिति भावः। नचान्योन्याश्रयः भगवदधीनो निर्धारः निर्धाराधीनो भगवान् साधनमिति ज्ञानमिति वाच्यम्। पूर्वं कर्मकरणनिर्धारेण कार्येणाधीनस्य भगवान्साधनमस्ति कारणं विना कार्याभावादिति भगवान्साधनमिति पश्चाज्ज्ञानस्य सम्भवेनान्योन्याश्रयाभावात्। **भाष्ये। वेदेत्यादि**। इदं गीतातृतीयाध्याये 'लोकसङ्ग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसी'ति लोकसङ्ग्रहः। 'यद्यदाचरति श्रेष्ठ' इत्यारभ्य 'उपहन्यामिमाः प्रजा' इत्यन्तेन वेदमर्यादारक्षा। ननु 'न कुर्यां कर्म चेदह'मितीश्वरं प्रति व्यतिरेकमुखेन विधिरस्ति तत्र गीतायां अर्जुनं प्रति लोकसंग्रहकथनवद्वेदमर्यादारक्षाप्युक्ता न सर्वान्प्रत्याज्ञेत्याकाङ्क्षायां हिकारस्यार्थमाहुः **हीति**। अत्र विद्वांसं प्रत्याज्ञास्तीति नोक्तदोष इत्यर्थः। भगवद्वाक्येन रूप्यते व्यवह्रियत इति भगवद्वाक्यरूपा उपपत्तिः युक्तिः। यदीदं भगवद्वाक्यं न स्यात्, उक्तदोषः स्यादिति अव्ययानां वैयाकरणमते द्योतकत्वात्सूच्येतेति। **प्रकृते। भगेत्यादि। पूर्णेति**। 'पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यत' इति श्रुत्या **पूर्वं पूर्णं** भगवता भक्तमनोरथानुरूपं पूर्तिकर्मज्ञानं तद्वताम्, **विभजनात्** अम्बरीषाद्युदाहरणसमर्थितात्। **अक्रूरामिति**। (अक्रूरामिति ज्ञानम्, पूर्णत्वात्, अन्येषां परिच्छेदरूपत्वात्। अनेन पूर्णमेव ज्ञानं साधनमिति, न तु खण्डब्रह्मज्ञानानि शारीरकादीनि। सर्वेषां भक्तानामुपसंहृतत्वात् दौर्बल्यमाशङ्क्य निराकृतम्। भक्तानां तत्रैव प्रवेशात्। अनेनान्येपि दैहिका धर्मा निवारिताः। उत्पत्तिकार्यतपस्यादीनि चाक्षरसाम्यात् निवारितानि। 'अस् भुवि' 'डुकृञ् करणे' 'शम उपशमे' इति धात्वादयो गृहीताः। प्रपञ्चकर्मज्ञानानि वा ज्ञानसाधनानि, ततः ससाधनं ज्ञानमुक्तं भवति।) तथाचायं सूत्रार्थः। मम कर्मकरणेऽकरणे वा भगवदिच्छास्तीति निर्धारणानियमादाधुनिकानाम्, अतस्तैर्निष्कामतया कर्म कर्तव्यमेव। **तद्दृष्टेः**। तस्या भगवदिच्छाया दृष्टिर्ज्ञानं यस्याम्बरीषोद्धवयुधिष्ठिरादेस्तस्य पृथक् जीवकृतकर्मणो यत्फलं तस्माद्भिन्नं सन्मार्गरक्षालोकसङ्ग्रहादिकं तदेव फलम्, न तु स्वर्गादिकम्। पूर्वोक्तनिष्कामकर्मकर्तुस्तु अप्रतिबन्धः कर्मजप्रतिबन्धाभावः फलं युक्तमिति। इदानीं मुख्यायाः एकादशसर्वस्वत्वेन सर्वनिर्णये उक्तायाः न्यूनताख्यनिग्रहस्थाननिवारिकायाः प्रसङ्गतः प्रस्तावनामाहुः य इति। उक्तेति। भाष्योक्तप्र-

'न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिहे'ति भगवद्वचनाद्विधेयाभावादसम्भवाच्च कर्मज्ञानयोर्विहितभक्तेश्च करणं न सम्भवतीति तस्य किं फलमित्याकाङ्क्षापूरणाय तदनुवदति तन्निर्धारणेत्यादिना। तस्मिन् धर्मिण्येव, न तु धर्मेष्वपि दृष्टिर्यस्य स तथा। दृष्टिपदेन ज्ञानमात्रमुच्यते। तेन अन्यविषयकदर्शनश्रवणादिज्ञानाभाव उक्तो भवति। एतादृशस्य प्रभुसङ्गममात्रमपेक्षितम्। तत्र भगवदुक्तस्वसङ्गमावधिकस्य भक्तस्य सङ्गमसमयनिर्धारो भवति। अतादृशस्य तस्य स नेति तन्निर्धारणानियमः। एतेन फलप्राप्तेः प्रागवस्थोक्ता भवति। फलस्वरूपमाह पृथक्फलमिति। अस्यानिर्वचनीयत्वादनुभवैकवेद्यत्वान्मोक्षान्तं यत्फलं शास्त्र उक्तं तस्माद्भिन्नमित्युक्तम्। अन्यत्र हि धर्माणां साधनत्वम्, यत्र फलमेव साधनम्,

भाष्यप्रकाशः।

नानामविधानस्य सत्याद्यधिकरण उपपादितत्वेन विधेयानां तेषामभावात्, तद्भावस्वभावेन तेषां कर्तुमशक्यतया असम्भवाच्च कर्मज्ञानविहितभक्तीनां करणं सर्वात्मभाववतो न सम्भवति, तदभावे च न मोक्षोपीति तस्य किं फलमित्याकाङ्क्षायां तस्य यत्फलं तदनेन सूत्रेणानुवदतीत्यर्थः। व्याकुर्वन्ति तस्मिन्नित्यादि। एतेनेति। तन्निर्धारणानियमपदेन। अन्यत्रेति। मोक्षपर्यन्ते फलान्तरे। तथाच भगवत्सङ्गमाभिलाषौत्कट्येन तदेकतानस्य भगवतानुक्तस्वसङ्गमावधिकस्य 'यतो वाचो निवर्तन्त' इति श्रुत्युक्तमगणितानन्दरूपं फलम्, तत्प्राप्तिपूर्वदशायां तद्भावप्रति-

रश्मिः।

वद्वचनात्। विहितभक्तीति। तेन सर्वात्मभावेऽविहितभक्तेः कामाद्युपाधिना चिन्तनरूपायाः करणं सम्भवतीत्युक्तम्। भाष्ये। नन्वत्र पक्षे इदं सूत्रं नाधिकरणमिति वक्ष्यते। तथाच तस्याः श्रुतेर्दृष्टिर्दर्शनम्। तस्या इति षष्ठीतत्पुरुषोस्त्विति चेत्। सत्यम्। सर्वात्मभावे 'यत्र नान्यत्पश्यती'त्यादिश्रुतेर्दर्शनं वर्तते, तथापि यत्र यस्मिन्नधिकरणेऽन्यधर्मादिदर्शनादिनिषेधाद्धर्मिण्येव दृष्टिः सूच्यते इत्याशयेनाहुः तस्मिन्निति। श्रुतावन्यदर्शननिषेधाद्विग्रहवाक्ये एवकारः समासघटको न। ज्ञानमात्रमिति। मात्रं कार्त्स्न्ये। प्रभ्विति। प्रभोः सम्यक् गमः अपर्यालोचितोऽध्वा पुष्टिमार्गस्तन्मात्रम्। मात्रमवधारणे। 'मात्रं कार्त्स्न्येऽवधारण' इति कोशात्। अपेक्षितमिति। विप्रयोगभावोदय एव स भावो ज्ञातो भवतीति। तत्र प्रभुसङ्गमातिरिक्तमनपेक्षितम्। स्वसङ्गमेत्यादि। वैराग्यं न श्रेयो भवेदित्युक्ते विषयवैतृष्ण्यसंज्ञं वैराग्यं न श्रेयः विषयतृष्णा श्रेयः भगवदुक्तः स्वस्य सङ्गमस्यावधिः पूर्वावस्था विषयतृष्णारूपा यस्य भक्तस्य तादृशस्य अपर्यालोचिताध्वनः पुष्टिदास्यसुक्तप्रेम्णः समयः कालः तस्य निर्धारो निश्चयः भगवत्सङ्गकालनिश्चयो भवति। यदि भगवत्सङ्गकालनिश्चयो न स्यात्, 'सत्सङ्गान्मामुपागता' इत्येकादशे द्वादशाध्याये भगवान्न वदेत्। अतादृशस्य धर्मादिदृशेः सङ्गमसमयनिर्धारो न, सर्वात्मभावैकलभ्यत्वात्तस्य। प्रागवस्थेति। यथा 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः सन्न्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः। ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले' इति प्रागवस्था, 'परामृतात्परिमुच्यन्ति सर्वे' इति फलस्य। शास्त्र इति। मर्यादाभक्तिशास्त्रेपीत्यर्थः। फलमित्यादि। ननु कथं फलमेव साधनं फलत्वसाधनत्वयोर्विरोधादितिचेन्न। फलं भगवान् स्वस्यानन्दावेशं तिरोभाव्य कृपावेशं कृतवानित्यविरोधात्। 'कृपाविष्टः साधनम्, आनन्दाविष्टः फल'मिति भाष्यात्। प्रकृते। अगणितेत्यादि। अगणितानन्देनागणित आनन्दो यत्र विषयतया सोऽगणितानन्दः पूर्वोक्तरसात्मकपुरुषोत्तमभजनानन्दानुभवस्तेन रूप्यते व्यवह्रियतेऽर्थादुत्तरकाले

तत्फलस्यानिर्वाच्यता युक्तैवेति हिशब्देनाह। ज्ञानमोक्षादिना तद्भावाप्रतिबन्धश्च फलमित्यर्थः। प्रासङ्गिकमेतत्सूत्रम् ॥ ४२ ॥

इति तृतीयाध्याये तृतीयपादे पञ्चदशं तन्निर्धारणाधिकरणम् ॥ १५ ॥

भाष्यप्रकाशः।

बन्धाभावश्च फलमिति भक्तिविचारे मुख्यभक्तेरपि स्मृत्या प्रसङ्गत उक्तमित्यर्थः। अस्मिन् इदं केवलं सूत्रमेव, न त्वधिकरणम्। एतज्ज्ञापनायोक्तमेतत्सूत्रमिति।

अत्रान्ये तु, 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीते'त्यादीनि कर्माङ्गान्युपासनानि तत्तत्कर्मसु जुहूपर्णतादिवन्नित्यं क्रतुसम्बन्धीनि न वेति शङ्कायां न नित्यानीति सिद्धान्तयन्ति। 'अङ्गेषु यथाश्रयभाव' इत्यन्तिमाधिकरणं चैतस्यैव प्रपञ्च इत्याहुः। तत्तेनैवास्य गतार्थत्वाद्वैयर्थ्यमस्य सूत्रस्य तन्मते दुर्वारमिति ज्ञेयम् ॥ ४२ ॥ इति पञ्चदशं तन्निर्धारणाधिकरणम् ॥ १५ ॥

रश्मिः।

ज्ञायते यदकुतोभयं तदगणितानन्दरूपं फलमित्यर्थः। भगवदुक्ताकुतोभयपदस्येत्याद्यग्रेतनसूत्रभाष्यात्। तद्भावेति। तद्भावे सर्वात्मभावे प्रतिबन्धो ज्ञानमोक्षादिना ज्ञानमैक्यज्ञानं मोक्षः सायुज्यं आदिना वैराग्यं पुरुषोत्तमज्ञानस्य तैरपकर्षवत्तया ज्ञानं तदभावरूपं च फलम्। मुख्यभक्तेरिति। मुख्यत्वं 'तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां' इत्युपक्रम्य 'याहि सर्वात्मभावेने'त्युक्त्वा 'आत्मानं च स्वयं वेद तस्मादन्यवचो मृषे'ति निबन्धोक्तैकादशसर्वस्वत्वम्। स्मृत्या न्यूनताख्यनिग्रहस्थाननिवृत्त्यै स्मृत्या। तथाचैष सूत्रार्थः। तद्दृष्टेः पुरुषोत्तमदृष्टेः सर्वात्मभाववत इति यावत्। तन्निर्धारणानियमः सङ्गमसमयनिर्धारणानियमोऽतः पृथक्फलं अप्रतिबन्धश्च फलं हि फलस्यानिर्वाच्यता युक्तैवेति। 'उपस्थितेऽतस्तद्वचना'दिति सूत्रादत इत्यनुवर्तते। 'कामादीतरत्रे'ति सूत्राच्चकारः। ननु पुरुषोत्तमदृष्टेस्तन्निर्धारणानियमः कथं सङ्गमसमयनिर्धारो भवतीति भाष्यविरोधादिति चेत्। न। पुरुषोत्तमस्य सर्वात्मभावरूपत्वेन सर्वात्मभावे चाहङ्कारादेशस्य सत्त्वेन तद्दृष्टेरित्यत्राहङ्काररूपधर्मदृष्टेः कादाचित्क्या अपि सत्त्वेन तामादाय तन्निर्धारणाभावात्तन्निर्धारणानियमः, सार्वदिकस्तु तन्निर्धारात्तन्निर्धारणनियम इति भाष्याविरोधात्। अहङ्कारस्य दैन्यविरुद्धत्वेन दैन्यजपुरुषोत्तमात्मकसङ्गमसमयनिर्धाराविर्भावविरोधः। एतत्सूत्रमितीति। तेनात्र न षोडशकलाषोडशाधिकरणीप्राप्तं विशेषणमुक्तमिति भावः। नन्वत्रान्यादृतः सूत्रार्थः कुतस्त्यक्त इत्याकाङ्क्षायामाहुः अत्रान्ये त्विति। विषयमाहुः ओमित्येतदिति। छान्दोग्येऽस्ति। विशयमाहुः तत्तदिति। जुह्वित्यादि। यथा जुह्वां पर्णता पर्णमयीता। 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवती'ति श्रुतेः। आदिना गोदोहनम्। 'गोदोहनेन पशुकामस्ये'ति श्रुतेः। यथा गोदोहनं तथा नवेति योजना। नित्यानि अप्रकरणपठितानामपि जुह्वादिद्वारेण क्रतुप्रवेशात्प्रकरणपठितवन्नित्यतैवमुद्गीथाद्युपासनानामिति पूर्वपक्षः। सिद्धान्तमाहुः नेति। तन्निर्धारणानियमः। उद्गीथादिकर्मगुणयाथात्म्यनिर्धारणानि रसतमप्राप्तिः समृद्धिर्मुख्यप्राण इत्येवमादीनि नैतासां नित्यवत्कर्मसु नियमः। कुतस्तद्दृष्टेः। तस्या नियमस्य दर्शनात्। 'तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेदे'त्यविदुषोपि क्रियाभ्यनुज्ञानात्। अपिचैवञ्जातीयकस्य कर्मव्यपाश्रयस्य विज्ञानस्य पृथगेव कर्मणः फलमुपलभ्यते। कर्मफलसिद्ध्यप्रतिबन्धं तत्समृद्धिरतिशयविशेषः कश्चित्। 'तेनोभौ कुरुतः नाना तु विद्या चाविद्या च यदेव विद्यया करोती'ति। तत्र नाना त्विति विद्वदविद्वत्प्रयोगयोः पृथक्करणात् वीर्यवत्तरमिति च, तरप्प्रत्ययप्रयोगाद्विद्याविहीनमपि कर्म वीर्यवदिति गम्यत इत्येवं सिद्धान्तयन्तीत्यर्थः ॥ ४२ ॥ इति पञ्चदशं तन्निर्धारणाधिकरणम् ॥ १५ ॥

प्रदानवदेव तदुक्तम् ॥ ४३ ॥ (३-३-१६.)

अथेदं विचार्यते । सर्वात्मभावो विहितकर्मज्ञानभक्तिसाध्यः, न वेति । तत्र पुराणे 'तस्मात् त्वमुद्धवोत्सृज्ये'त्युपक्रम्य, 'मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम् । याहि सर्वात्मभावेन यास्यसे ह्यकुतोभय'मिति वाक्ये मुक्त्यात्मकाकुतोभयसाधनरूपशरणगमने प्रकारत्वेन सर्वात्मभावस्य कथनेन स्वप्रयत्नसाध्यत्वं गम्यते । अतः साधनसाध्य इति पूर्वः पक्षः ।

तत्र सिद्धान्तं वक्तुं तदुपदेशस्वरूपमाह प्रदानवदिति । यद्ययं साधनोपदेशः स्यात्, स्यात्तदा साधनत्वेन सर्वात्मभावेन शरणप्राप्तेः स्वकृतिसाध्यत्वम्, न त्वेवम्, किन्तु, तदुक्तं भगवदुक्तम् । प्रदानवत् । प्रकृष्टं दानं प्रदानं वरदानमिति यावत्, तद्वदेवेत्यर्थः । वरेण हि स्वकृत्यसाध्यमपि सिध्यतीति तथा । शत्रुसंहारभयादिनापि शरणाप्तिर्भवति, तत्र न तस्याः पुरुषार्थत्वम्, किन्तु तन्निवृत्तेरेव । प्रकृतेपि सर्वात्मभावे स्वरूपप्राप्तिविलम्बासहिष्णुत्वेनात्यार्तौ स्वरूपातिरिक्ता-

भाष्यप्रकाशः ।

प्रदानवदेव तदुक्तम् ॥ ४३ ॥ एवं राजसानां कर्मासक्तिवारणायाधिकरणद्वयं प्रणीय मुख्यभक्त्युत्कर्षज्ञापनेन तदभिलाषोपजननाय तत्कृतकर्म फलं चं प्रदर्शितम् । अतः परं मुख्यभक्तिः केन भवतीत्याकाङ्क्षायामिदमधिकरणमारभत इत्याशयेनावतारयन्ति अथेत्यादि । व्याकुर्वन्ति यदीत्यादि । स्यात्तदा साधनत्वेनेत्यादि । सर्वात्मभावकरणकशरणप्राप्तिसाधनत्वेन रूपेण सर्वात्मभावस्य स्वकृतिसाध्यत्वं स्यात् । तन्निवृत्तेरिति । शत्र्वादिभयनिवृत्तेः । नन्वेतद्वाक्योक्तस्यार्थस्य कथं प्रदानतुल्यत्वमित्याकाङ्क्षायां तदुपपादयन्ति प्रकृतेपीत्यादि । एतच्चेति । एतादृशं शरणगमनम् । नन्वेवं स्वकृत्यसाध्यत्वेऽस्य भावस्य प्रदानत्वमेव सिध्यति, न तु

रश्मिः ।

प्रदानवदेव तदुक्तम् ॥ ४३ ॥ एवमिति । पूर्वोक्ताधिकरणद्वयपरामर्शेनेत्यर्थः । चात्रेति । मुख्यभक्तिफलं चकारार्थः । अत्राधिकरणद्वये । प्रवृत्त्यर्थं दर्शितम् । प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यर्थं विषयप्रयोजनसम्बन्धाधिकारिणां सर्वत्र प्रदर्शनात् । भाष्ये । तत्रेति । तादृशसंशये सतीत्यर्थः । विषयवाक्यं तु 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमे'ति छान्दोग्यस्थम् । तेन सर्वात्मभावोक्तेः । अत्र च 'सर्वात्मभावो विहिते'त्यादिभाष्येण तत्प्रतिपादकोक्तश्रुतिस्मारणात् । पुराणस्य श्रुत्युपबृंहकत्वेन पुराणेन श्रुतिमुपबृंहयन् पूर्वपक्षमाह पुराण इत्यादि । प्रकारत्वेनेति । सर्वदेहिनामेकमात्मानं मां सर्वात्मभावेनैव शरणं याहीत्येवं विशेषणत्वेन याहीति क्रियापदे गमनानुकूलव्यापारसाध्यत्वं गम्यत इत्यर्थः । ननु गमनं शरणनिष्ठं तदनुकूलव्यापारश्चोद्धवनिष्ठ इति कथं सर्वात्मभावस्य स्वप्रयत्नसाध्यत्वमिति चेत् । न । सर्वात्मभावेन शरणनिष्ठं गमनं तदनुकूलव्यापार इत्यर्थात् । अतएव गम्यत इत्युक्तम्, नतूच्यत इति । तदुपेति । तस्य सर्वात्मभावस्य उपदेशः कथनं तस्य स्वरूपम् । (याहीति लोटाज्ञा प्रतीयते तद्विषयत्वेन शरणगमनं प्रतीयते, तत्र प्रकारत्वेन सर्वात्मभावः । स च 'मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोग'मिति वाक्यात्कस्मैचिदेव दानेन सिद्ध इति तस्य स्वरूपमित्यर्थः । नच कदाप्यदाप्यदानमिति वाच्यम् । सर्वात्मभाववद्भक्तानां दर्शनात् । न चेदं सर्वात्मभावाविषयमिति वाच्यम् । मर्यादाभक्तेः साधनतोपि सिद्ध्या पुष्टेरनुग्रहेणैव सिद्ध्या दानानपेक्षणादस्य वाक्यस्य निर्विषयत्वापत्तेः ।) तदुक्तमिति व्याख्येयम् । भगवतैकादशसर्वस्वत्वेन रूपेणोक्तम् । निबन्धे सर्वनिर्णये स्फुटम् । प्रदानवदिति व्याकुर्वन्ति

१. भात्र दर्शितमिति रश्मौ पाठः ।

स्फूर्त्या तद्भावस्वाभाव्येन गुणगानादिसाधनेषु कृतेष्वप्यप्राप्तौ स्वाशक्यत्वं ज्ञात्वा प्रभुमेव शरणं गच्छति, एतच्च न स्वकृतिसाध्यमिति सुष्ठूक्तं प्रदानवदिति । भक्तस्येप्सितोऽर्थो हि वरो भवति । सर्वात्मभावस्यानुभवैकवेद्यत्वेन

भाष्यप्रकाशः ।

तत्तुल्यत्वमित्याकाङ्क्षायामाहुः भक्तस्येत्यादि । स्पष्टम् । नन्वेवमपि शरणगतेरेव स्वकृत्यसाध्यत्वं

रश्मिः ।

स्य प्रकृष्टमिति । अयं न विग्रहः एकादशसर्वस्वत्वेनोक्तार्थजातस्य प्रकृष्टदानकर्मत्वेन प्रकृष्टदानतुल्यत्वाभावादत आहुः वरेति । वरस्य सिद्धस्य न तु साधनसाध्यस्य दानं वरदानमिति षष्ठीतत्पुरुषः । तथाच वरस्य सिद्धस्य कथनरूपदानमिव तदुक्तं भगवदुक्तं भगवत्कथनमिति यावदित्यर्थः । नच प्रकृष्टस्य दानमिति भाष्यापत्तिरिति वाच्यम् । प्रकृष्टं दानं वरस्य दानमित्यनयोः पर्यायत्वात् । एवेति । 'आत्मानं च स्वयं वेद तस्मादन्यवचो मृषे'ति निबन्धात् । ननु वरदानं साधनमेव तेनापि फलवता वर्त्यत इति चेत्, तत्राहुः वरेणेति । स्वकृतिसाध्यसाधनत्वं साधनत्वम् । स्वकृत्यसाध्यसाधनत्वं तु न । अनुग्रहवद्वरदानस्यापि भगवद्धर्मत्वात् । सर्वात्मभावे स्वस्वत्वध्वंसपूर्वकपरस्वत्वोत्पादनं दानं न यतः । प्रकृष्टं अभीष्टमिति यावत् । भगवतोऽभीष्टम् । 'ईप्सितत्वासम्भवेपी'ति वक्ष्यमाणभाष्यात् । तथेति । साधनेतरत्वप्रकारेण दरकथनरूपं दानम् । 'युक्तं भगैः स्वैरितरत्र चाध्रुवै'रिति वाक्यात् । वरदानं भगवन्निष्ठं साधनं भक्तनिष्ठमिति विभेदः । प्रायस्तत्तत्फलं प्रति तत्तन्निष्ठस्यैव साधनत्वम् । कचिदेव पितृनिष्ठप्रायश्चित्तेन पुत्रनिष्ठा शुद्धिः । ननु मुख्यभक्तावपि दार्ढ्यार्थं 'कामादीतरत्र'सूत्रोक्तकामादीनां तेभ्य एव मुक्तिसाधकानां का गतिरिति चेत्, तत्राहुः शत्र्वित्यादि । शत्रुसंहाराभ्यां भयं तदादिना, आदिना द्वेषः । न पुरुषार्थत्वमिति । किन्तु क्रत्वर्थत्वम्, क्रतुपौष्कल्याय विधीयते, या प्रयाजादिवत् शरणाप्तिः, सा क्रत्वर्था भगवत्सम्बन्धरूपक्रत्वर्था । मुख्यभक्तिदार्ढ्यार्थत्वेन मुख्यभक्तिरूपक्रत्वर्था वा । ननु क्रतुर्धर्मो यज्ञ इति यावत्, तत् कथं मुख्यभक्तेः क्रतुत्वमिति चेत्, न, 'अप्रतीकालम्बन'सूत्रे तत्क्रतुपदस्य 'प्राचीनभगवद्भजनलक्षणक्रतुश्च नीयत' इति भाष्यात् । नहि भयादिना शरणाप्त्या पुरुषस्य कश्चित् प्रीतिविशेष उत्पद्यते, येन पुरुषार्था भवेत् । मुख्यभक्तिलक्षणक्रतुस्तु न क्रत्वर्थः, स्वस्यैव क्रतुत्वात् । पुरुषप्रीतये विधीयमानाः पुरुषार्थाः यथा मुख्यभक्त्यादयः । प्रकृते । शत्र्वादीति । पुरुषार्थत्वमित्यन्वयः । यथा गोदोहनादेः पुरुषार्थत्वम्, न क्रत्वर्थत्वम्, चमसेनापि क्रतुपौष्कल्यसिद्धेर्गोदोहनाभावेपि । एवं शत्र्वादिभयनिवृत्त्यभावेपि तद्भयेन मुख्यभक्तिलक्षणक्रतुपौष्कल्यसिद्धेः । एतच्च पूर्वमीमांसायां चतुर्थाध्याये स्फुटम् । अर्थस्येति । सर्वात्मभावेन मुक्त्यात्मकाकुतोभयसाधनरूपशरणप्राप्तिकथनरूपसुसिद्धचयरूपवाक्यस्योक्तं कथनं स एवार्थस्तस्य । एकतिङ्वाक्यमिति पक्षे वाक्यद्वयोक्तार्थस्य । प्रदानेति । वरस्य यद्दानं तत्तुल्यत्वम् । यथा वरस्य सिद्धस्य दानं कथनं 'मयेमा रंस्यथ क्षपाः' इति कथनम् । तथा तादृशशरणगमने प्रकारत्वेन सर्वात्मभावस्य कथनमिति प्रदानतुल्यत्वम् । एतादृशमिति । 'तानि पर' इति सूत्रभाष्योक्तं भगवन्मतसिद्धं च शरणगमनं सर्वात्मभावस्य स्वकृत्यसाध्यत्वेन तत्पूर्वकरीत्या, न स्वकृतिसाध्यमित्यर्थः । प्रदानवदित्यत्र । डुदाञ् दाने भावे घञ् । प्रथमान्ताद्वतिः । तेन सर्वात्मभावेन मुक्त्यात्मकाकुतोभयसाधनरूपशरणप्राप्तिकथनरूपवाक्यस्योक्तं कथनम्, स एवार्थो वरदानेन 'मयेमा रंस्यथ क्षपा' इति वरस्य कथनेन तुल्यः । अस्येति । भावस्यास्येति योजना । भावस्य सर्वात्मभावस्य सम्बन्धिनोऽस्य प्रत्यक्षस्य कथनस्येत्यर्थः । प्रदानत्वं वरस्य दानत्वं कथनत्वरूपम् । स्पष्टमिति । ईप्सितत्वासम्भवे भक्तेन मह्यं सर्वात्मभावं देहीति स्वानुभ-

पूर्वमज्ञानेनेप्सितत्वासम्भवेपि स्वत एव कृपया दानमिति वदित्युक्तम्। अथवा। 'सर्वात्मभावेन मां याही'ति सम्बन्धः ।

यद्वा। प्रदानवदित्यस्य पूर्ववदेव व्याकृतिः । तत्र साधनासाध्यत्वे प्रमाणमाह तदुक्तमिति। 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्य' इति श्रुत्या वरणातिरिक्तसाधनाप्राप्यत्वमुच्यत इति तत्तथैवेत्यर्थः ।

भाष्यप्रकाशः ।

सिध्यति, न तु सर्वात्मभावस्येत्यतो वाक्यस्य योजनान्तरमाहुः **अथवेत्यादि** । शरणपदं मामित्यस्य विशेषणम् । तथाच सर्वात्मभावस्यैव प्रदानतुल्यत्वं निराबाधमित्यर्थः । यद्यपि 'गतेरर्थवत्त्व'मित्यारभ्य सर्वोपि वरणश्रुतेरेव प्रपञ्चः, तथाप्यत्र पुराणवाक्यमात्रस्य विषयत्वेनोपन्यासेनापाततः पौराणत्वशङ्का अस्य विचारस्य स्यादिति तन्निरासाय सूत्रांशं प्रकारान्तरेण व्याकुर्वन्ति **यद्वेत्यादि** । **तत्तथैवेत्यर्थ इति** । परमात्मनो लभ्यत्वं वरणजन्यसर्वात्मभावसाध्यमेवेति सर्वात्मभावो वरणैकलभ्यः, न त्वितरसाधनसाध्य इत्यर्थः । तथाच सर्वात्मभाव-

रश्मिः ।

त्यप्रकाशनात्तस्मै न दद्यादित्यदानम्, तथापि स्वानुमत्यप्रकाशनेऽपि कृपया दानं दानवद्भवत्येव । न च भाष्ये स्वानुमतिप्रकाशनं कुतो नोक्तमिति चेत्, न। भगवतो भक्तमनोरथपूरकत्वात्, भक्तस्य चेप्सीतत्वाभावात्। ईश्वरस्य नियमो नास्ति यद्भक्तेष्टव्यतिरिक्तं न देयमेवेति । एवं स्पष्टमित्यर्थः।

एवमपीति । एवमिति तृतीयान्तम् । पूर्वोक्तविमर्शे **एतद्वेत्यस्य** शरणगमनमिति विमर्शेनेत्यर्थः । नन्वेतादृशमिति शरणगमनविशेषणम्, तत्र सर्वात्मभावस्यापि सर्वात्मभाव इत्यादिना सत्त्वेन कथं शरणागतेरेव स्वकृत्यसाध्यत्वमिति चेत्, न। सर्वात्मभावे सतीत्यर्थे सति सप्तम्या सामानाधिकरण्यबोधनात् तत्समानाधिकरणकान्यत्यार्तिस्वरूपातिरिक्तास्फूर्ति–गुणगानादिसाधनकरण–प्रभ्वप्राप्ति–स्वाशक्यत्वज्ञान–प्रभुशरणगमनानि, न तु सर्वात्मभावादिविशेष्यं शरणगमनमिति शरणागतेरेव स्वकृत्यसाध्यत्वात्। **शरणपदमित्यादि** । 'मुमुक्षुर्वै शरणमनुव्रजे'दिति श्रुतेर्वक्ष्यमाणरीत्याप्युपपत्तेरस्मत्पदार्थस्य विशेष्यत्वोपपत्तेश्च शरणपदं मामित्यस्य विशेषणमित्यर्थः । सर्वात्मभावदानं प्रकृष्टदानं न स्वानुमतिप्रकाशनाभावात्, किन्तु एकदेशविकृतत्वात् प्रदानतुल्यत्वं निराबाधमित्यर्थः । **आपाततः इति** । शाबरभाष्याद्यनवलोकनकालत्वमासाद्य स्यादित्यर्थः । 'आपातस्तदात्व' इति विश्वात् । ल्यब्लोपे पञ्चमी । शाबरभाष्ये षष्ठाध्याये द्वितीयपादे 'तस्मिंस्तु शिष्यमाणानि जननेन प्रवर्तेरन्' इत्यधिकरणे प्राङ्मुखो भुञ्जीत, उदङ्मुखो मूत्रं कुर्यात्' इत्येवमादयः। तत् प्रभुरूपसर्वात्मभावः । **तथैव** वरणलभ्यत्वप्रकारेणैवेत्यर्थमाहुः **परमात्मन इति** । परमात्मनः लभ्यत्वमितिप्रयोगोऽवैदिकः । हशि चेत्यस्याप्राप्तिः । आद्गुण इत्यस्य च वाक्यत्वेन संविधाया विवक्षाभावात्। श्रुतौ सर्वात्मभावनिवेशो वाराहे भक्तिनिवेशस्य 'आत्मा वा अरे' इति श्रुतौ कृतत्वात् क्रियते स्म **वरणजन्यसर्वात्मभावेति** । तथा च वाराहीयचातुर्मास्यमाहात्म्ये सप्तविंशाध्याये 'श्रवणानन्तरं कार्यं मननं भक्तिपूर्वकम्' इति । वरणं स्वीयत्वेन स्वीकारः । तस्याधिकारः स दानपात्रं तस्मै सर्वात्मभावादिकथनम्, प्रदानवत् वरस्य दानवत् । ननु वरकथनवदित्यनुक्त्वा यत् प्रदानवदित्युक्तम्, तेन दानस्य स्वस्वत्वेत्यादिपूर्वोक्तलक्षणमपि क्वचिदभिप्रेतमिति चेत्। न। यत्र महावाक्योपदेशादौ स्वस्वत्वध्वंसपूर्वकपरस्वत्वोत्पादनमनुभूयते, तादृशवरदा-

१. वरदानादौ ।

भाष्यप्रकाशः ।

साधनकस्वप्राप्तिबोधकमेकादशस्कन्धीयं भगवद्वाक्यं वरणलभ्यत्वबोधकश्रुत्यर्थनिर्णायकत्वादुपन्यस्तम्, अतो न विचारस्याश्रौतत्वमित्यर्थः । एवं चात्र सर्वात्मभावोक्तिसन्दर्भे 'रामेण सार्धं'मित्यत्र 'मय्यनुरक्तचित्ता' इति भक्तविशेषणादिभ्योऽनुरागात्मा भगवद्दर्शने तीव्रवियोगाधिप्रभृतिजनको विगाढभावः परमासक्तिरूपो य उक्तः, स सर्वात्मभावः शरणागतिकारणत्वे-

रश्मिः ।

नाभिप्रायकत्वात् । **वरणेत्यादि** । वरण(लभ्य)लभ्यत्वं मध्यमपदलोपी समासः । उक्तवाराहवाक्यात् । तद्बोधकश्रुत्यर्थनिर्णायकत्वादित्यर्थः । ननु 'याहि सर्वात्मभावेने'ति वाक्ये सर्वात्मभावपदेनैकादशसर्वस्वकथनान्तर्गतेनैकेन कथं श्रुतीनां बह्वीनां सर्वात्मभावपरत्वम्, सर्वात्मभावपदस्य समासान्तरैरन्यविधसर्वात्मभावपरत्वे प्रकृतसर्वात्मभावानुपोद्बलकत्वादित्याशङ्कायामेकादशद्वादशाध्यायसन्दर्भमाहुः **एवं चेत्यादि** । तथा च सर्वात्मभावोक्तिसन्दर्भो वर्तत इत्यदोषः । उपपादयांबभूवुः **रामेणेति** । अत्र समासनिश्चयोपि भविष्यति। **परमासक्तिरूप इति** । 'आसक्तिः प्रेम्णो भावकन्दलरूपादुत्तरं तादृशे प्रेम्णि तत्कारणेन तदुत्कर्षावस्था रागादिरूपे'ति भक्तिवर्धिनीविवृतौ श्रीपुरुषोत्तमकृतायाम् । 'स्वविषये विविधमनोरथजनको भाव आसक्ति'रिति श्रीकल्याणरायाः । यद्धीर्वा अत्र सन्दर्भ इति पदद्वये द्वादशाध्यायोक्तेः । अत्रातिव्याप्तिवारणाय **परमेति** । परमत्वं परज्ञानकरणत्वं अनुषक्तत्वं वा 'अनुषङ्गबद्धधिय' इति द्वादशाध्यायवाक्यात् । एवमपि परज्ञानकरणाक्षरज्ञानासक्तावतिव्याप्तिः । द्वितीयपक्षे अतिव्याप्तिः स्फुटा । 'क्लेशोधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसा'मिति गीतायाः अक्षरासक्तिरस्ति । तद्वारणायानु**रागात्मेति** 'मय्यनुरक्तचित्ता' इति वाक्यविशेषणोक्तः । 'सा परानुरक्तिरीश्वर' इति शाण्डिल्यसूत्रात् । परेति न लक्षणघटकमिति श्रीगोकुलनाथजिट्टीकायां भक्तिवर्धिन्या एव । एवमपि संयोगभक्तावतिव्याप्तिस्तन्निराकरणाय **भगवदित्यादि** । अदर्शने तीव्रवियोगाधयो मनःपीडा विप्रयोगे । वैकुण्ठस्याक्षरब्रह्मादर्शनेपि पूर्वोक्तं भवतीति । **भगवद्दर्शन इति** । विप्रयोग उक्तः । मे तीव्रवियोगाधय इति विशेषणात् । विप्रयोगेतिव्याप्तिस्तद्वारणाय **विगाढभाव इति** । विशेषेण गाढो दृढः कामादिभिः भावः प्रेमा । विगाढभावेनेत्युक्तेः । पुष्टिमार्ग उक्तः । भाष्यमत्र 'कामादी'ति सूत्रस्य 'माहात्म्यज्ञानपूर्वकस्नेहे सत्येव भर्तृत्वेन ज्ञाने कामोऽपि भवतीति ज्ञापनाय चकार' इति। एवं पुष्टिमार्गस्य दृढविप्रयोगेऽतिव्याप्तिः। तद्वारणायार्तिं प्रापयेत् । अतिविगाढभाव इत्यर्थः। 'अतिविगाढभाव' इति लिङ्गभूयस्त्वसूत्रभाष्यात् । 'धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथञ्चने'ति भ्रमरगीतवाक्यात् । भ्रमरगीतेपि सर्वात्मभावोक्तेः सत्त्वात् । एवं चातिविगाढभाववत्यः अतिकृच्छ्रवतीत्वादित्यनुमेयमिति । एवमप्यतिव्याप्तिस्तदवस्थैवेति विशेष्यमाहुः **स इति** । 'न मे वियोगतीव्राधयोऽन्यं ददृशुः सुखाये'ति वाक्येऽन्यविषयकदर्शननिषेधेन 'स यत्र नान्यत्पश्यती'ति श्रुतिप्रसिद्धः स सर्वात्मभाव इत्यर्थः । अत्रातिविगाढभावज्ञाप्यत्वेन सर्वस्मिन्नात्मभाव आत्मत्वमात्मस्फूर्तिरिति यावत् । अस्य समासस्य विरोधं स्वयं परिहरिष्यन्ति तेनेत्याद्यग्रिमग्रन्थेन । श्रीधरोक्तसमासस्तु क्रियाकलापविशेषणत्वे । सर्व आत्मा सर्वात्मा तस्य भावस्त्वतल्वाच्यः । प्रकृतिजन्यबोधे प्रकारात्मा स सर्वात्मभावः प्रेमकारणमेकादशैकोनविंशे 'सर्वभूतेषु मन्मति'रित्युक्त्वा, 'एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम्, मयि सञ्जायते भक्ति'रिति वाक्यात् न प्रदानसाध्यः कारणात्मा, अयं तु फलकारणाभ्यां व्यतिरिक्तः । सर्वेषामात्मभाव इत्यस्य पूर्वोक्तसमासार्थभेदेन पूर्वसमासपर्यायत्वात् । सर्व आत्मनां भाव इत्यपि वक्ष्यमाणसमासप्रायः । सर्वश्चात्मा च सर्वात्मानौ जडजीवौ तयोर्भाव आत्मरूप इति द्वन्द्वगर्भितषष्ठीतत्पुरुषे 'अभ्यर्हितं पूर्वम्'

भाष्यप्रकाशः ।

नोपदिष्ट इति सिध्यति । तत्र परमासक्तिश्चानन्दजन्यैव । लोके आनन्दजनक एवासक्तिदर्शनात् । एवं च यत् यज्जनकम्, तत्तद्गुणकं तत्तदात्मकं चेति व्याप्तेः पूर्वं सिद्धत्वात् । 'सर्वोपि आत्मनो भाव' इति सुबोधिन्यां व्याख्यानात् । श्रुतौ निरवध्यानन्दरूपत्वेन रसरूपत्वेन पुत्रादिभ्योपि प्रेयस्त्वेन च सिद्धस्यात्मनो यो भावो धर्मः प्रियत्वाख्य आनन्दात्मा, यन्मात्रां सर्वे उपजीवन्ति, स सर्वस्तदंशिभूतो भगवद्धर्म ऐश्वर्यादिवदतिरिक्त एव ज्ञेयः । तस्य दानं चानुभावनम् । युक्तं चैतत् । अन्यथा सर्वेषामेव तथा स्फुरेदिति । अतो विगाढभावेन

रश्मिः ।

इति सूत्रेण आत्मसर्वभाव इत्यापत्तिः । सर्वं च आत्मा च भावश्चेत्येतेषां समाहार इति समाहारद्वन्द्वोपि न । नपुंसकत्वापत्तेः । अव्ययीभावोपि न । अव्ययीभावश्चेत्यव्ययप्रसङ्गात् । द्विगुरपि न । सङ्ख्यापूर्वत्वाभावात् । शरणेति । पूर्वोक्तशरणेत्यर्थः । अधिभौतिकं नवमस्कन्धोक्तं भाष्ये वक्ष्यमाणं च सुबोधिन्युक्तं च सर्वात्मभावं प्रपञ्चयन्ति स्म तत्रेत्यादिना । दानलक्षणं सङ्घटयितुं स्वस्वत्वं ध्वंसप्रतियोगि व्युत्पादयाम्बभूवुः परमेति । अनुषक्तबद्धधीरूपा परमासक्तिः । चकारात् श्रुतिप्रसिद्धो निरोधलक्षणोक्तः । उभयोपादानम् । निरोधस्कन्धे स श्रुतिप्रसिद्धः 'मनसो वृत्तयो नः स्युः कृष्णपादाम्बुजाश्रयाः' इति श्रीनन्दवाक्ये प्रसिद्धः प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकभगवदासक्तित्वेन रूप्यते व्यवह्रियते इति परमासक्तिरूप उपात्तः । श्रुतिप्रसिद्धश्च अपरिहेय इत्युभयमुपात्तम् । आनन्दजनके पुंसः स्त्रियां स्त्रियाः पुंसि । सर्वात्मभावान्तर्गतसर्वपदार्थानाहुः एवं चेत्यादि । यत्स्त्र्यादिकं यस्य सुखादेर्जनकं तत्स्त्र्यादिकं तत्सुखादयो गुणा यस्य तत्तत्तद्गुणकं च पुनस्तदात्मकं तत्सुखादिकमात्मा स्वरूपं यस्य तादृशम् । पूर्वमिति । समन्वयाधिकरणे । सुबोधिन्यां 'सर्वात्मभावोधिकृतो भवतीनामधोक्षज' इत्यस्य भ्रमरगीते । श्रुताविति । जात्यभिप्रायेणैकवचनम् । 'यतो वाच' इत्यस्यां 'रसो वै स'इत्यस्यां रसरूपत्वेन मैत्रेयीब्राह्मणे पुत्रादिभ्योपि प्रेयस्त्वेन धर्मस्तद्वृत्तिः । आनन्देति । आनन्दधर्मत्वादिति भावः । 'प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वा'दिति व्याससूत्रात् । तदंशीति । मात्रारूपांशांशिभूतो भगवद्धर्म इत्यनेन शुद्धस्नेहस्तत्र स्वस्य भगवतः सत्त्वमिति दानलक्षणघटकं ध्वंसप्रतियोगि व्युत्पादितम् । अतिरिक्त इति । न च गौरवं शङ्क्यम् । 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयत' इति श्रुतौ धर्मासङ्कोचात् । सर्वपदार्थश्चोक्तः । व्युत्पादितस्य स्वस्वत्वस्य ध्वंसपूर्वकपरस्वत्वोत्पादनं संघटयितुमाहुः तस्येति । सर्वात्मभावस्यानुभावने स्फूर्त्याख्यानुभवस्य प्रेरणे हि स भक्तनिष्ठ इति स्वस्वत्वध्वंसपूर्वकपरस्य भक्तस्य स्वत्वोत्पादनाद्दानत्वमित्यर्थः । भक्तनिष्ठत्वे सर्वस्मिन् आत्मभावः सर्वात्मभाव इति प्रियत्वाख्यसर्वात्मभावस्य स्फूर्तौ समासः । वरकथनवत्सर्वात्मभावकथनरूपं दानं तु स्फूर्तिरहितस्य सर्वात्मभावस्य । युक्तिमाहु युक्तमिति । एतत् । स्फूर्तिमादाय दानसमर्थनम् । युक्तिमाहुरन्यथा ज्ञानरूपां अन्येति । अन्यथा अनुभावनस्य दानत्वाभावे प्रकारे सति । स्फुरेदिति । यतो न स्फुरति, अतोऽनुभावने दानत्वं प्रकार इत्यर्थः । एवं सर्वात्मभावपदस्य द्वेधा व्युत्पन्नस्य प्रथमव्युत्पन्नो भक्तनिष्ठो दानेन यदा भवति, तदा विगाढभावसंज्ञो भवति, तदाहुः अत इत्यादि । लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणभाष्याद्भगवन्निरोधात्मकसर्वात्मभावविरहेतिविगाढभावेन तत्स्फूर्तेर्निरोधादुत्तरकालिकत्वेन साधनमुख्यत्वात् प्रदर्शितात् । तादृशस्तत्सदृशोऽनुभवभिन्नत्वे सत्यनुभवगतभूयोधर्मवान् । प्रियत्वं भगवद्धर्मस्तदाविर्भावितविगाढभावाविर्भावितोऽनुभवः प्रियत्वानुभवः मध्यमपदलोपी समासः । तेन भग-

भगवदुक्ताकुतोभयपदस्य न मुक्तिरर्थः, किन्तु 'यतो वाच' इत्यादिनानन्दस्य स्वरूपमुक्त्वा 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चने'ति श्रुत्युक्तं यत्पूर्वोक्तं रसात्मकपुरुषोत्तमभजनानन्दानुभवोत्तरकालीनमकुतोभयं तदर्थः ॥ ४३ ॥

इति तृतीयध्याये तृतीयपादे षोडशं प्रदानवदित्यधिकरणम् ॥ १६ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

सर्वत्र तथानुभवरूपं यत्कार्यं तादृशः प्रियत्वानुभवः सर्वात्मभाव इति फलति । तेन भगवद्धर्मविगाढभावतथास्फूर्तिषु सर्वात्मभावप्रयोग आधिदैविकादिभावो ज्ञेयः । ननु पूर्वोक्तवाक्ये अकुतोभयसाधनत्वेन शरणागतेर्वा सर्वात्मभावपूर्वकस्वप्राप्तेर्वोपदेशः । अकुतोभयं चाक्षरप्राप्तिरूपा मुक्तिरेव । 'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसी'त्यादिश्रुत्या निश्चीयते । एवं सति सर्वात्मभावस्यापि मुक्तिसाधनत्वमेव पर्यवस्यति, वामदेवादिसार्वात्म्ये तथा दर्शनात्, पुरुषोत्तमप्राप्तेरपि साधनकोटिनिवेशेन तदपेक्षया मुक्तेरेवोत्कर्षश्च सिध्यतीति पूर्वोक्तं सर्वं द्रविडमण्डकन्यायमनुसरतीत्याशङ्कायामकुतोभयपदार्थमाहुः भगवदुक्तेत्यादि । तथाचास्याः श्रुतेरानन्दमीमांसायां ब्रह्मानन्दस्य गणितानन्दत्वकथनोत्तरमानन्दमयश्लोकेषूक्तत्वादानन्दमीमांसातः पूर्वानुवाके परस्य

रश्मिः ।

वद्धर्मविगाढभावानुभवेषु सर्वात्मभावपदमिति फलितम् । तदेवाहुः तेनेत्यादि । तेन भगवद्धर्मविगाढभावयोः सुबोधिन्युक्ता व्युत्पत्तिः, तथा भगवत्वेन स्फूर्तौ तु सर्वस्मिन्नात्मभावः सर्वात्मभाव इति । ननु विग्रहे भावपदं भक्तिवाचकं 'भक्तिः प्रवर्तिते'ति वाक्यात्, अत्र त्वनुभवपदमिति वैरूप्यमिति शङ्क्यम् । भावादीनां सर्वात्मभावे सत्यनुभूतानां भक्तिहंसोक्तदिशा भावत्वात् । ननु विरहे मुख्यलक्षणे तु भावपदं तदनुरोधेन तस्मिन्सति भक्तिहंसदिगवकाशोऽन्यत्र लक्षणगतभावपदाननुगमेऽसम्भव इति चेन्न । भक्तिमार्तण्डे विस्तरात्सर्वात्मभावनिरूपणे । परन्तु विगाढभावरूपसर्वात्मभावो विजातीययोगादिसंवलितो ज्ञेयो भक्तनिष्ठ एव । मार्गत्वात् । 'याहि सर्वात्मभावेने'ति वाक्यात् । एकादशस्कन्धसुबोधिन्यां शुद्धस्य भगवद्धर्मत्वं न मार्गत्वमित्युक्तेः । आधीति । स्तोश्चुनाश्चुरित्यस्याप्राप्तिः । स्मृतिष्वेतादृशप्रयोगबाहुल्यात् । तदनुकरणेन । एवं सुबोधिनीसमासो विगाढभावस्फूर्तौ व्याकृतो भ्रमरगीते विरहनिरूपणात् । यत्त्वग्रे भाष्ये तत्प्रकाशे च सर्वात्मभावस्य कार्यस्वरूपलक्षणे तत्रापीदं सुबोधिनीव्याख्यानं प्रकारान्तरेण योज्यम् । आत्मन इति श्लिष्टप्रयोगात् । 'स्वर्गकामो यजेते'त्यत्र स्वर्ग इति श्लिष्टप्रयोगवत् । यथा तत्र स्वर्गात्मसुखरूपमर्थद्वयमेवमत्रापि विगाढभावस्फूर्तिलिङ्गभूयस्त्वसूत्रोक्तयद्दर्शनादिकयदन्यादर्शनादिकरूपमर्थद्वयम् । तद्भक्तिमार्तण्डे स्फुटम् । अग्रे भाष्यप्रकाशे न स्फुटम् । सुबोधिनीस्थात्मन इत्यस्य मनस इत्यर्थात् । संयोगे । संयोगविप्रयोगभेदेन सुबोधिन्या द्वेधा व्याख्यानम् । नन्वनुभवो ज्ञानमिति सर्वात्मभावो ज्ञानं किं तस्मादिति चेन्न । भक्त्यन्तःपातित्वात् । यथापेक्षितसमर्पणं दर्शनं दास्यम् । एतच्च भक्तिहंसे स्फुटम् । विहितकर्मज्ञानभक्त्यसाध्योपि सर्वात्मभावो भक्तिरेव । भक्तिमुपक्रम्य भ्रमरगीते 'सर्वात्मभावोऽधिकृत' इति वाक्यात् । 'सर्वात्मभावरूपाया मुख्यभक्ते'रिति भाष्यप्रकाशाच्च । अन्यत् भक्तिमार्तण्डे स्पष्टम् । वामदेवेति । पुरुषविधब्राह्मणेऽस्ति । सर्वात्मभावनिरूपणे ज्ञानप्रकारविशेषनिरूपणाशङ्कायाः पूर्वविकल्पसूत्रे भाष्ये वक्ष्यमाणत्वा'दहं ब्रह्मास्मी'ति प्रकारस्य वामदेवसार्वात्म्ये दर्शनात्तद्वदत्रापि ज्ञानप्रकारविशेषनिरूपणे भवतु हीत्यर्थः । द्रविडेति । व्यर्थक्रमबोधकन्यायमित्यर्थः । द्रविडदेशे गोधूमाभावान्मण्डका न भवन्ति इति तद्देशीयास्तं भोक्तुं कर्तुं च न विदन्ति । मध्यदेशादावागतो द्रविडः कथं मण्डका भोज्या इति पृष्टे केनचिदुपहसितः पदयोर्मध्यात्पृष्ठाच्च हस्तपरिवर्तनं कृत्वा पश्चादूर्ध्वं मुखं विधाय भोज्या इति । तृतीयसुबोधिन्यां षष्ठाध्यायेऽस्ति

भाष्यप्रकाशः ।

रसरूपतायाः प्रतिपादितत्वादस्याः श्रुतेरुक्तविध एवार्थ इति निश्चीयते । ततश्च तत्र योऽर्थो 'न बिभेति कुतश्चने'ति वाक्येनोक्तः, सोऽत्राकुतोभयपदेनोच्यत इति नात्र त्वदुक्तमुक्तिगन्धोपि । किञ्च । भगवद्वाक्येपि 'अथैतत्परमं गुह्यं शृण्वतो यदुनन्दन । सुगोप्यमपि वक्ष्यामि त्वं मे भृत्यः सुहृत् सखे'ति तादृशेऽधिकारिणि परमगोप्यकथनं स्वत एव प्रतिज्ञाय, 'केवलेन हि भावेन गोप्यो गावः खगा मृगाः । येऽन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसे'ति श्लोके भावेन बहूनां स्वप्राप्तिमुक्त्वा, ततः को भाव इत्याकाङ्क्षायाम्, 'रामेण सार्धं मथुरां प्रणीत' इत्यादिश्लोकचतुष्टयेन भावस्य भक्तिरूपं स्वरूपं ज्ञापयितुं विगाढभावात्मिकां तत्काष्ठाम्, तया काष्ठया परब्रह्मरूपस्वप्राप्तिं स्वरूपज्ञानाद्यभाववतां बहूनामुक्त्वा, तदनन्तरं 'तस्मा'दित्यादिवाक्यद्वयेन स्वप्राप्त्यकुतोभयाप्ती अवदत् । तेनोक्तश्रुत्युक्तरसात्मकब्रह्मानुभवोत्तरकालीनतैवाकुतोभयस्य स्फुटतीति न पूर्वोक्तार्थे द्रविडमण्डकमित्यर्थः । अत्र सर्वात्मभावस्य वरणातिरिक्तसाधनासाध्यत्वनिरूपणेन इतरत्र वैराग्यबोधकस्य त्यक्तपिप्पलमित्यस्य विशेषणस्यार्थो बोधितो ज्ञेयः ।

अन्ये तु । वाजसनेयकादौ व्रतमीमांसादावध्यात्माधिदैवतयोः श्रावितौ प्राणवायू पृथगुपगन्तव्यावपृथग्वेति सन्देहे, तत्त्वाभेदादपृथगिति प्राप्तौ, आध्यानार्थादुपदेशभेदात् पृथगिति सिद्धान्तयन्ति । स च निरूपणप्रकारभेदेन 'नानाशब्दा'दिति सूत्रेण च सिध्यतीति नेदं सूत्रमाकाङ्क्षतीति दिक् ॥ ४३ ॥ **इति षोडशं प्रदानवदित्यधिकरणम्** ॥ १६ ॥

रश्मिः ।

तल्लेखे विवृतोऽयं न्यायः । **रसरूपताया** इति । 'रसो वै स' इति श्रुत्येत्यर्थः । 'रस आस्वादने' इत्यस्य रूपम् । व्याख्यानान्न तु 'रस शब्द' इत्यस्य । अस्तु । ईश्वरत्वात् । **तादृशे** भृत्यादिसदृशे । **स्वत एवेति** । उद्धवप्रश्नं विना प्रतिज्ञा कृपालुत्वं द्योतयति । **तत्काष्ठामिति** । भावप्रकर्षम् । 'काष्ठा दारुहरिद्रायां कालमानप्रकर्षयो'रिति विश्वात् । **परब्रह्मेति** । 'मत्स्वरूपाविदोऽबलाः । ब्रह्म मां परमं प्रापुः सङ्गाच्छतसहस्रश' इति वाक्याद्बहूनां शतसहस्राणामित्यर्थः । **नेति** । मुक्तिस्कन्धसर्वस्वत्वाच्च । **वरणेत्यादि** । वरणजसर्वात्मभावातिरिक्तानि साधनानि तैरसाध्यत्वनिरूपणेनेत्यर्थः । मध्यमपदलोपी समासः । **इतरत्रेति** । साधनेषु षोडशाधिकरण्या विशेषणमाहुः **त्यक्तेति** । त्यक्तं पिप्पलं कर्मफलं येन वैराग्यमेतत् । कर्मफलत्वं पिप्पलस्य सुबोधिन्यामुक्तम् । **अन्ये त्विति** । शङ्कराचार्यादयः । **तत्त्वेति** । 'यः प्राणः स वायु'रितिश्रुतेः । **आध्यानेति** । आध्यानार्थोऽयमाध्यात्मिकाधिदैवविभागोपदेश इति शङ्करभाष्यात् । ननु निरूपणं प्रकारभेदेपि 'यः प्राण' इत्युक्तश्रुतेः प्राणवाय्वोर्निरूपणप्रकाराभेदान्न सिध्यतीति पाक्षिकदोषशङ्कायामाहुः **नानेति** । इदं सूत्रं वक्ष्यमाणम् । न च नानाशब्दादिभेदादिति सूत्रे यः प्राणः स वायुरितिवदुपास्यभेदो नास्तीति शङ्क्यम् । तत्रोपास्याभेदेपीति भाष्यात् । सूत्रार्थस्तु प्राणवायू आध्यानार्थं पृथगुपगन्तव्यौ एकादशकपालप्रदानवत् । यथा 'इन्द्राय राज्ञे पुरोडाशमेकादशकपालमिन्द्रायाधिराजायेन्द्राय स्वराज्ञे' इत्यत्र पुरोडाशिन्यामिष्टौ राजादिगुणभेदात् यथान्यासमेव देवतापृथक्त्वात् प्रदानपृथक्त्वं भवति । एवं तत्त्वाभेदेपि आध्येयांशपृथक्त्वात् आध्यानपृथक्त्वम् । तदुक्तं **संकर्षे** 'नाना वा देवता पृथग्ज्ञाना'-दिति । संकर्षो देवताकाण्डं तत्रेत्यर्थः । वाकारोऽवधारणे ॥ ४३ ॥ **इति षोडशं प्रदानवदित्यधिकरणम्** ॥ १६ ॥

लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपि ॥ ४४ ॥ (३-३-१७.)

ननु प्रतिबन्धककालादृष्टादिसद्भावेपि वरणकार्यं स्यात्, उत तन्निवृत्तावेविति संशये, प्रतिबन्धकाभावस्य सर्वत्र हेतुत्वात् तन्निवृत्तावेव तथेति पूर्वपक्षे, सिद्धान्तमाह लिङ्गेत्यादिना ।

सामोपनिषत्सु नवमे प्रपाठके सनत्कुमारनारदसंवादे प्रथमत एव मुख्या ब्रह्म-

भाष्यप्रकाशः ।

लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपि ॥ ४४ ॥ पूर्वाधिकरणे सर्वात्मभावरूपाया मुख्यभक्तेर्वरणैकलभ्यत्वं स्थापितम्, वरणश्रुतौ तु परमात्मनो वरणैकलभ्यत्वमुच्यते, न तु सर्वात्मभावस्येति कथमस्य तत्प्रपञ्चत्वमिति शङ्कायां तस्य वरणैकलभ्यत्वं पुनर्दृढीकर्तुं तत्स्वरूपं च श्रुत्या विवेक्तुमधिकरणान्तरं प्रणयतीत्याशयेन तदवतारयन्ति **नन्वित्यादि** । प्रतिबन्धका ये कालादृष्टस्वभावाः तेषां विद्यमानत्वे वरणकार्यभूतः सर्वात्मभावो जीवस्य भवेत्, नवेति संशये, वरदानस्यापि तपआदिभिः साधनैस्तोषे सत्येव प्रसिद्धेः पूर्वाधिकरणोक्तरीत्या सर्वात्मभावस्य भगवता वरदानेपि तत्कारणस्यावश्यवक्तव्यतया प्रतिबन्धकाभावस्य सर्वत्र कारणत्वदर्शनात् प्रतिबन्धकसत्तायां च कार्यादर्शनात्तन्निवृत्तिरवश्यं मृग्येति प्रतिबन्धकानां निवृत्तावेव वरणात् सर्वात्मभावो भवतीति तस्य वरणैकलभ्यत्वं न साधीय इति पूर्वपक्षे, सिद्धान्तमाहेत्यर्थः । सूत्रं व्याकर्तुं लिङ्गभूयस्त्वबोधिकां श्रुतिं प्रदर्शयन्तस्तदर्थं प्रकटयन्ति **सामोपनिषत्स्वित्यादि** । प्रसिद्धस्थलनिर्देशो विप्रतिपत्तिनिरासाय । स च संवादो 'अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारद' इत्यारभ्यान्तं ज्ञेयः । तत्र 'अधीही'त्यन्तर्भावितण्यर्थः । अध्यापय । 'बुधयुधनशजनेङ्प्रुद्रुस्रुभ्यो णे'रिति ण्यन्तादिङः परस्मैपदम् । णिजर्थेऽप्यत्र पदव्यत्ययः । अत्र सर्वात्मभावस्य वरणैकलभ्यत्वमुपपादयन्तः 'तं होवाचे'ति सनत्कुमारवाक्यस्य तात्पर्यमाहुः **प्रथमत इत्यादि** ।

रश्मिः ।

लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपि ॥ ४४ ॥ कारणत्वेन कारणानां सर्वात्मभावे त्वन्यथासिद्धत्वमुक्त्वा प्रतिबन्धकाभावत्वेन कारणानामन्यथासिद्धत्वमाहुः तथापि कारणत्वात् पूर्वाधिकरणेनैव प्रतिबन्धकाभावस्यापि विचारितप्रायत्वात् सर्वात्मभावस्वरूपं संयोगसामयिकमाहुः **पूर्वेति** । **अस्येति** । सर्वात्मभावप्रतिपादकस्यास्य लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणस्य तस्या वरणश्रुतेः सर्वात्मभावाप्रतिपादिकायाः प्रपञ्चत्वं कथमिति प्रश्नः । **तस्य** सर्वात्मभावस्य । **प्रसिद्धेरिति** । कठवल्ल्यां 'तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीत् गृहे मे अनश्नन् ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्य' इति अनशनरूपतपसा तुष्टाग्नि वरप्रसिद्धेः । वृकासुरप्रसङ्गे श्रीभागवते ब्रह्माण्डपुराणे उत्तरस्थाने खिले च स्तुतितुष्टं भगवन्तं प्रति । 'यदि देयो वरो हि न' इति वाक्यात् । आदिपदेन तपआदिभिरित्यत्र होमस्तुत्योर्ग्रहणात् । **प्रसिद्धेति** । प्रथमतृतीयपादस्थभूमाधिकरणप्रसिद्धस्थलनिर्देशो विप्रतिपत्तिः । **प्रतिपत्तिः** प्रबोधो भूमत्वेन सर्वात्मभावप्रबोधः तस्य विरुद्धोऽभावस्तन्निरासाय । अस्य विस्पष्टस्य प्रपाठकस्य उपनिबन्धो 'न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवत् नहि लोकापत्ते'रिति वक्ष्यमाणसूत्रे अस्य प्रपाठकस्य लोकमृत्युवददर्शनात् । भगवद्रूपत्वात् **सर्वात्म**भावस्येति वक्ष्यमाणभाष्यात् । **आन्तमिति** । अन्तं चरमवर्णध्वंसं आ मर्यादीकृत्य आन्तम् । **णिजर्थ** इति । इङ् अध्ययने अदादिरात्मनेपदी अनिट् । उक्तसूत्रात् आत्मनेपदव्यत्ययः **परस्मै-**

विद्योपदेशार्हो न भवतीति ज्ञात्वा, सनत्कुमारो नारदाधिकारं च ज्ञातुं 'यद्वेत्थ तेन मोपसीदे' त्युक्तो नारदः स्वयं विदितमृग्वेदादिसर्पदेवजनविद्यान्तमुक्त्वा, 'सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मी'ति स्वाधिकारमुक्त्वा, आह 'नात्मविच्छ्रुतꣳ ह्येव मे भगवदृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति, सोऽहं भगवः शोचामि तं

भाष्यप्रकाशः

'उपसीदे'ति श्रौतस्य पदस्य 'तं होवाचे'ति श्रौतेनैव पदेनान्वयः । 'यद्वेत्थ तेन मोपसीद ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामीति होवाच ।' यत्त्वं जानासि तत्कथनेन मदुपसन्नो भव, स्वाधीतं वद, ततोऽतिरिक्तं तुभ्यं कथयिष्यामीत्युक्तवान् । तदा इत्युक्तः सनत्कुमारेण नारदः स्वविदितं ऋग्वेदादिसर्पदेवजनविद्यान्तं आह । अत्र ऋग्वेदादिपुराणान्तं प्रसिद्धम्, अग्रे तु वेदानां वेदो व्याकरणम्, पित्र्यं श्राद्धकल्पः, राशिर्गणितम्, दैवं उत्पातज्ञानम्, निधिर्महाकालादिनिधिशास्त्रम्, वाकोवाक्यं तर्कशास्त्रम्, एकायनं नीतिशास्त्रम्, देवविद्या निरुक्तम्, ब्रह्मविद्या शिक्षाकल्पच्छन्दश्चितयः, भूतविद्या भूततन्त्रम्, क्षत्रविद्या धनुर्वेदः, नक्षत्रविद्या ज्योतिषम्, सर्पविद्या गारुडम्, देवजनविद्या गन्धर्वोक्तयुक्तिनृत्यगीतवाद्यशिल्पादिविज्ञानानि ज्ञातव्यानि । 'एतद्भगवोऽध्येमि' । एतत्पूर्वोक्तं हे भगवन् अध्येमि, स्मरामीत्युक्त्वा, 'सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि', शब्दार्थमात्रवित्त्वादापाततः परोक्षज्ञानवानेवास्मीति स्वाधिकारमुक्त्वा, 'अनात्मवि'दित्यादि 'तारयत्वि'त्यन्तमाह, तथाचाप्तवाक्यप्रामाण्याच्छोकेन लिङ्गेन स्वस्यानात्मवित्त्वमनुमायात्मज्ञापनेन शोकतारणायोपसन्नोऽस्मीत्याशयवता नारदेनोक्तः सनत्कुमारस्तदधिकारमवगत्य, मुख्यब्रह्मविद्योपदेशयोग्यत्वसम्पादनाय 'यद्वै किञ्चाध्यगीष्ठा नामैवैत'दित्यादिना नारदोक्तानां सर्वेषां नामत्वबोधनपूर्वकं नाम्नो ब्रह्मत्वेनोपासनमुपदिश्य, 'यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवती'ति तत्फलं शोकतरणायोक्तवान्, तदा नारदः केवलं नामोपासने उक्तफलाभावम्, तस्य ब्रह्मत्वेनोपासने तूक्तं फलम्, तदपि नामगतिपरिच्छिन्नमिति विमृश्य, तेन शोकातरणं च निश्चित्य, ततोऽधिकं जिज्ञासमानः 'अस्ति भगवो नाम्नो भूय' इति पप्रच्छ, तत्र 'नाम्नो वाव भूयोऽस्ती'त्युत्तरिते, 'तन्मे भगवान् ब्रवीत्वि'त्येवं नारदेन पूर्वस्मात् पूर्वस्मा'द्भूयो भूयो वदे'ति पृष्टः सनत्कुमारो 'वाग्वा नाम्नो भूयसी'त्यादिना नामरूपविज्ञापकत्वं वाङ्माहात्म्यमुक्त्वा, वाचो

रश्मिः ।

पदम् । उपेति । अन्वयमाहुः यद्वेत्थेति । 'ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामी'ति वाक्यान्तरितोऽन्वयः । ब्रह्मविद्येत्यादि । चितिर्ज्ञानं शिक्षाकल्पच्छन्दसां ज्ञानानि । 'छन्दोविचिति वेदिमि'रित्यत्र वृत्तरत्नाकरे प्रस्तावे व्याख्यातम् । अध्येमि परस्मैपदकथनादिक्स्मरणे ईत् इत्यस्य अदादेः परस्मैपदिनो रूपमित्याहुः स्मरामीति । तथाचेति । आप्तवाक्यं 'तरति शोकमात्मवि'दितिश्रुतिः । अनुमायेति । अहं नात्मवित् शोकात्, शूद्रवत् इत्येवं प्रयोगः । अहमनात्मविदित्यनुमाय स्वार्थानुमानेन यत्र यत्र शोकः, तत्र तत्र अनात्मवित्त्वमिति व्याप्तिज्ञानात्मकेनानुमितिं विधाय । मुख्येत्यादि । मुख्यब्रह्मविद्योपदेशार्थम् । श्लिष्टप्रयोगेणाधिकजिज्ञासासंपादनाय 'यत् वै किञ्च अध्यगीष्ठा नाम एव एतत्' इति पदच्छेदः । उक्तफलं यथाकामचारस्तदभावम् । विमृश्येति । श्रुतिप्रामाण्याद्विमृश्य । निश्चित्येति । 'यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथा कामचारो भवती'ति श्रुत्यामेवकाराभावेप्यश्रुतकल्पनस्य दोषत्वान्निश्चित्येत्यर्थः । नामेत्यादि । नामरूपयोः शाब्दज्ञानविषयकारकत्वम् । 'वाग्वा ऋग्वेदं ज्ञाप-

मां भगवाञ्छोकस्य पारं तारयत्वि'ति नारदेनोक्तः सनत्कुमारः पूर्वस्मात्पूर्वस्मात् भूयो वदेति पृष्टः, भूयःपदमधिकार्थकम्, नामवाङ्मनःसङ्कल्पचित्तध्यानविज्ञानबलान्नापस्तेजआकाशस्मराशाप्राणान् ब्रह्मत्वेनोपासनाविषयत्वेनोक्त्वा, प्राणो-

भाष्यप्रकाशः ।

ब्रह्मत्वेनोपासनं तत्फलं च पूर्ववदुवाच, तत्र भूयःपदं न बाहुल्यार्थकम्, नापि पुनरर्थकम्, किन्त्वाधिक्यार्थकम्, आधिक्यमुत्कर्षस्तदर्थकमिति तत्तन्माहात्म्यकथनादवसीयते, एवं नामवाङ्मनःसङ्कल्पचित्तध्यानविज्ञानबलान्नापस्तेजआकाशस्मराशा उक्ताः । तत्र नामवाचौ प्रसिद्धौ, मनो मननव्यापारविशिष्टमन्तःकरणम्, मननव्यापारश्च विवक्षाद्यात्मकः । सङ्कल्पोपि कर्तव्याकर्तव्ययोर्विषयसमर्थनरूपस्तादृशान्तःकरणस्यैव वृत्तिविशेषः । चित्तं चेतयितृत्वं प्राप्तकालानुसन्धानवत्त्वम्, अतीतानागतविषयप्रयोजननिरूपणसामर्थ्यं च । ध्यानं शास्त्रोक्तदेवतालम्बनो विजातीयानन्तरितः प्रत्ययसन्तान एकाग्रतापरपर्यायः । चिरकालस्थायिज्ञानवादे तु तादृश एक एव प्रत्ययो बोध्यः । विज्ञानं शास्त्रार्थविषयकं विशिष्टज्ञानम् । बलं अन्नभक्षणजनितं मनसो विज्ञेयविभावनसामर्थ्यम् । अन्नमापस्तेज आकाशश्च प्रसिद्धाः । स्मरः स्मरणं अप्रयत्नश्चित्तव्यापारः । आशा अप्राप्तवस्त्वाकाङ्क्षा तृष्णाकामाद्यपरपर्याया । एवमेतेषां स्वरूपमुपनिषद्व्याख्यानादवगन्तव्यम् । एतेषामत्र ब्रह्मत्वेनोपासनमुक्तम्, प्राणस्य त्वाशातो भूयस्त्वं माहात्म्यं चोक्त्वा, 'स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नतिवादी'त्यनेन तद्दर्शनादिमतोऽतिवादित्वं यद्यप्युक्तम्, तथापि तत्र विद्याया अपर्यवसानादग्रे जन्यप्रायपाठे 'आत्मनः प्राण' इति श्रावणाच्च सोत्र परत्वेन नाभिप्रेतः, किन्त्वाप्तन्यत्वेन । स चोक्तमाहात्म्यवत्त्वादपहतपाप्मत्वाच्चान्येभ्य उक्तेभ्य उत्कृष्ट इति तेभ्योऽस्योत्कृष्टवादित्वमेवातिवादित्वम्, न तु परमकाष्ठापन्नोत्कृष्टवादित्वरूपं तदिति सोऽपि ब्रह्मत्वेनोपास्यतयैवाभिप्रेतः । तदेतदभिसन्धाय भाष्ये प्राणोपि तथोपास्यमध्ये गणितः प्राणान् ब्रह्मत्वेनोपासनाविषयत्वेनोक्त्वेति । श्रुतौ तथानुक्तिस्तु नारदस्य मुख्यविद्याग्रहणयोग्यता जाता न वेति परीक्षार्थम् । अत एवाग्रे 'तं चेत् ब्रूयुरतिवाद्यसीति, अतिवाद्यसीति ब्रूयान्नापह्नुवीते'त्युक्त्वा, 'एष तु वा अतिवदति, यः सत्येनातिवदती'ति

रश्मिः ।

यती'ति श्रुतेः । 'दिवं च पृथिवीं च वायुं चाकाशं चे'ति श्रुत्या रूपविज्ञापकत्वम् । वाङ्माहात्म्यं वाग्देवत्वम् । ब्रह्मत्वेनेति । 'तत्रास्य कामचारो भवति, यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते' इति श्रुतेः । अत्र भूयःपदं 'भूयः पुनः पुनः स्यात् प्रभूतार्थे त्वमव्ययम् । निश्चये च निषेधे च साकल्यातीतयोरपी'ति विश्वादनेकार्थकमिति तदर्थं निश्चिक्युः तत्रेति । अथेति । तथा च श्रुत्या पूर्वोक्तार्थबाधात् नामनारायणादितो लक्षणया वोत्कर्षार्थकमिति भावः । विषयेति । विषयो यस्य यो ज्ञातः स तस्य प्रयोजनं फलम् । प्रत्ययसन्ताने स्वमतमाहुः चिरेति । बलमिति । विज्ञानानन्तरं स्नेहरूपबलस्यापि वक्तुं शक्यत्वेपि ह्यनुग्रहादीनां विशेषकारणानामनुक्तेः प्रसिद्धमेव बलमुरीकृतम् । तथा च भाष्यम् । ज्ञात एव स्नेह इति । बलं भक्तिरिति च । यद्वा । अन्नातेजआकाशस्मरणाशाकाङ्क्षाणामग्र आधिक्येन वक्ष्यमाणत्वात् तेषां चानन्दमयाधिकरणोक्तरीत्या वक्तव्यत्वात् बलं भक्तिर्वा । जगति भक्तिः स्वांशबलत्वेन भवति । च प्रसिद्धा इति । चकारेणानन्दमयाधिकरणे प्रसिद्धाः । न चाप्रयोजकत्वम् । शास्त्रार्थविषयकविशिष्टज्ञानाद्वयस्त्वात् । माहात्म्यमिति । देवत्वम् । अतिवादित्वमिति । अग्रे स्पष्टम् । अपरीति । अग्रे ततोपि भूयः प्रश्नोत्तराभ्याम् । तथेति । ब्रह्मत्वेन । वदानीति लडर्थे लोट्

पासकस्यातिवादित्वं सत्यवादित्वेनोक्त्वा, विजिज्ञासितव्यत्वेन सत्यविज्ञानमतिश्रद्धानिष्ठाकृतिसुखानि पूर्वपूर्वकारणत्वेनोत्तरोत्तराण्युक्त्वा, सुखस्वरूपजिज्ञासायामाह 'यो वै भूमा तत्सुख'मिति । भूम्नः स्वरूपजिज्ञासायामाह 'यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमे'ति ।

भाष्यप्रकाशः ।

प्राणोपासकस्यातिवादित्वं सत्यवादित्वेनोक्तम् । यद्येवं श्लिष्टप्रयोगेऽस्याधिकजिज्ञासोत्पत्स्यते, तदा योग्यः, नो चेदयोग्य इत्येतदर्थमेवमुक्त्वा, ततो नारदेन प्राणस्य तत्त्वं न प्राणः, किन्त्वन्यदिति बुद्ध्वा, 'सोऽहं भगवः सत्येनातिवदानी'ति स्वाभिप्राय उक्तः, तत्र 'अतिवदानी'त्यन्तर्भावितसनर्थः । सत्येनातिविवक्षामीत्याशयात् । तदा सनत्कुमारः 'सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्य'मित्यादिना तस्य सत्यादिजिज्ञासामुत्पाद्य, विजिज्ञासितव्यत्वेन सत्यविज्ञानमतिनिष्ठाकृतिसुखानि पूर्वपूर्वकारणत्वेनोत्तरोत्तराण्युक्तवान् । तत्र सत्यं अर्थमनतिक्रम्य स्थितं वस्तुस्वरूपम्, विज्ञानं तद्विषयकं विशिष्टज्ञानम्, मतिस्तर्केण तदर्थस्वरूपविचारः, श्रद्धा आस्तिक्यबुद्धिः, निष्ठा तद्विषयक आदरस्तत्परत्वरूपः, कृतिस्तद्विषयसाधनानुकूल इन्द्रियव्यापारः, सुखं अनुकूलबुद्धिवेद्य आन्तरो धर्म इत्येवं लौकिकसमानाकारं तत्स्वरूपं ज्ञातव्यमिति सत्यादिषु कृत्यन्तेषु विशेषाकथनादायातीति तथोक्त्वा, ततः सुखे विशेषं वक्तुं सुखस्वरूपजिज्ञासायामाह । 'यो वै भूमा तत् सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य' इति भूम्नो विचार्यत्वमुक्तम् । तेन प्राणस्य सत्यवदनादीनां च स एव कारणं तत्त्वं च, अतस्तमेव कृत्यादिप्रणाड्या ज्ञात्वा, सत्यवदनेऽतिवादित्वम्, नान्यथेत्यवगत्य, किंस्वरूपो विचार्य इत्याकाङ्क्षायां पप्रच्छ 'भूमानं भगवो विजिज्ञास' इति । एवं नारदस्य भूमस्वरूपजिज्ञासायामाह 'यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमे'ति । इह यच्छब्दगतसप्तम्या अधिकरणार्थत्वे ब्रह्मणो व्यापकत्वेन सर्वेषां तदुपश्लिष्टतया तद्व्याप्यतया च सर्वेषां सर्वदान्यज्ञानाभावापत्तेः सप्तम्याः सत्यर्थत्वेपि ब्रह्मणः सर्वत्र सत्त्वेन सर्वस्य तथात्वापत्तेश्चात्र कश्चिद्विशेषो वाच्यः । तथाच यस्मिन् दृष्टे श्रुते विज्ञाते सति द्रष्टुः श्रोतुर्विज्ञातुरन्यविषयकदर्शनश्रवणविज्ञानाभावो भवति, स भूमेति लक्षणकथनेन नित्यनिरवधिसुखरूपं तत्स्वरूपं स्वेतरस्मिन् सुखत्वसुखसाधनत्वज्ञानाभावजननं तत्कार्यं चेति सिध्यति । तेनैवं स्वरूपकार्यलक्षणयुक्तं विचार्यमिति फलति । तत्र भूम्नि दृष्टे श्रुते विज्ञातेऽन्यदर्शनादिकं कुतो न भवति, किं विशेषदर्शने रजतादिकमिवान्यन्नश्यति, उत कारणे कार्यमिव भूम्न्यन्यल्लीयते, अथवा सूर्यतेजोनक्षत्रादिकमिव भूमा अन्यत्तिरस्करोतीति शङ्कायामाह 'अथ यत्रान्यत् पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम्, यो वै भूमा तदमृतम्, अथ यदल्पम् तन्मर्त्य'मित्यनेन । अनित्यत्वे सति सावधिसुखरूपत्वे सत्यन्यत्र सुखत्वसुखसाधनत्वज्ञानजनकत्वमल्पसुखत्वमिति सिध्यति । तथाच न पूर्वविकल्पितं किञ्चिद्भवति, अपि तु भूम्नि दृष्टे श्रुते विज्ञाते तदानन्दैकतानतया[2] अन्यदल्पं न सुखत्वेन सुखसाधनत्वेन च पश्यति, न शृणोति न विजानातीत्यर्थः सिध्यति । तत्र ननु यदि भूम्नो दर्शनश्रवणविज्ञानेष्वन्यतमेनैवं भाव आनन्दैकतानत्वरूपः, तर्हि शृण्वतो मम कुतो नास्ति । अथ समुदितैस्तैस्तदा यत्र भूमा स्वरूपं स्वकार्यं च प्रकाशयँस्तिष्ठति, तस्यैव भावो नान्यस्येत्याशयः, तदा स आधारो वक्तव्य इत्याशयेन पृच्छति 'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित' इति, उक्तरीत्या कमभिव्याप्य स्थित इत्यर्थः । तत्रोत्तरमाह 'स्वे महिम्नी'ति । स्वविभूतौ । अत्रापि को महिमेत्याशङ्का भविष्यतीति तद्वारणाय स्वयमेवाह

रश्मिः ।

छान्दसः । विवक्षामीति व्याख्यानात् । उपनिषद्व्याख्यानाच्च । **कृत्यादीति** । कृतेरादिभूतया प्रणाड्या । **ज्ञात्वेति** । 'भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य' इत्यत्रैवकारः सर्वत्र, नत्वेवंकारः । अतः कृत्यादिप्रणाड्या तदुक्तिवैयर्थ्यपरिजिहीर्षया ज्ञात्वा विजिज्ञास इत्यत्रेच्छाविषयज्ञानं यत् तद्विषयीकरणं भूम्नः प्रतीयत इति । **आहेति** । भूमलक्षणमाह । औपश्लेषिकवैषयिकाभिव्यापकाधारेषु वैषयिकाधाराङ्गीकारो न सम्भवति, ह्यन्यपदार्थस्य विषयत्वादिति शङ्कायां यत्रेति सप्तम्याः सतिसप्तमीत्वं समर्थयाम्बभूवुः इहेत्यादिना । **अन्यज्ञानाभावापत्तेरिति** । न च ब्रह्मणो ह्युपश्लिष्टत्वेपि व्याप्यत्वेपि 'पश्यन् चक्षुर्भवती'त्यादिरीत्या चिक्रीडिषया वा पुराणमते मायया वा न सर्वेषां सर्वदान्यज्ञानाभावापत्तिरिति वाच्यम् । भूमाधिकरणे भूम्नो ब्रह्मत्वेन सिद्धस्यात्र ज्ञानप्रकारविशेषनिरूपणे ज्ञानेनाज्ञाननिवृत्त्या तथात्वापत्तिः जीवस्य ब्रह्माभेदात् । भेदे तु अचलत्वसूत्रोक्ताभासे भक्तमनोरथपूरकत्वात् भगवतश्चक्षुर्भवनादीनां नित्यलीलास्थाना'मात्मत आविर्भावतिरोभावा'विति श्रुतेर्भक्ताधीनात्मतो भवनाद्ब्रह्मरूपस्यात्मनो लीलास्थसकलपदार्थरूपत्वेन लीलास्थानां सर्वेषां सर्वदान्यज्ञानाभावापत्तिः, न तु प्रपञ्चस्थानामपीत्यदोषात् । **तथात्वे** । पूर्वोक्तदिशा सर्वस्य निरवधिस्य नित्यलीलास्थस्य च तथात्वं सर्वदान्यज्ञानाभावापत्तिमत्त्वं तस्यापत्तेः । **कश्चिद्विशेष** इति । आशोक्ततरणोपपादनं वाच्यः । **तथा चेति** । पूर्वोक्तप्रकारे सति । **सतीति** । न च 'फले सप्तमी यत्रे'त्यत्र यत्फलकोन्यदर्शनाभाव इति कर्मणोऽन्यस्य फलेन यच्छब्दार्थेन समवायादिति वाच्यम् । अन्यदर्शनाभावस्य सुषुप्तावपि सत्त्वेनात्मा फले स्यादिति तत्फलं तु भक्त्येकसाध्यत्वात् । न च भक्तिप्रकरणादन्यदर्शनाभावो भक्तिरेवेति तस्यात्मा फलं कथं न भवतीति वाच्यम् । अत्रार्थेऽन्येषां रामानुजाचार्यादीनामसंमतेर्वक्ष्यमाणत्वात् । 'सर्वं हि पश्यः पश्यती'ति श्रुतिविरोधाच्च । न च सुषुप्तिलक्षणे दृष्टे विज्ञाते इति कुतो लब्धमिति वाच्यम् । एतादृशविशेषमन्तरा कस्मिन्नर्थे सप्तमीत्यपि वाच्यम् । सत्यर्थे सप्तमीति चेत् । सुषुप्तिर्व्याक्रियताम् । ननु सुषुप्तौ व्याक्रियमाणायां शङ्करभाष्यपूर्वपक्षस्य सिद्धान्तीकरणात् सम्प्रदायप्रदीपोक्ता भगवदाज्ञा सेत्स्यति शङ्कराचार्यमतस्था मन्मतं पूर्वपक्षयन्ति तत्त्वं सिद्धान्तयेत्याकारिकेति चेत्, न । अहङ्कारादेशात् । 'अथातोऽहङ्कारादेश' इति वक्ष्यमाणश्रुतेः । तस्य तुरीयग्राहकत्वं प्रतिभाति । चित्तस्य सुषुप्तिग्राहकत्वात् । तथाच 'अशक्ये हरिरेवास्ति मोहं मा गाः कथञ्चन' इति वाक्यान्न दोषः । किञ्च । सर्वस्य तथात्वापत्तेश्चेत्युक्तदोषाच्च । तथाच श्रुतिः 'सर्वं हि पश्यः पश्यती'ति । अत्र रामानुजमाध्वभास्कराचार्यौ भिक्षुशैवौ च भगवन्तौ 'यत्र नान्यत् पश्यत्यादे'र्भूमातिरिक्तयावद्दर्शननिषेधो नार्थः, किन्तु निरवधिसुखरूपे ब्रह्मण्यनुभूयमाने ब्रह्मस्वरूपतद्विभूत्यन्तर्गतत्वात् कृत्स्नस्य वस्तुजातस्यैश्वर्यविशिष्टब्रह्माभिन्नत्वेन न पश्यतीति । एतदेवोपपादयति वाक्यशेषः । 'स वा एवं पश्यन्नेवं मन्वान' इत्यादिः । अग्रे 'न पश्यो मृत्युं पश्यति, न रोगं नोत दुःखताम्, सर्वं हि पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वश' इति मन्त्रश्चेति वदन्ति । पूर्वोक्ताविरुद्धमेतत् । भूमाधिकरणभाष्यप्रकाशे एतदुक्तम् । **इतीति** । इति स्वरूपलक्षणं कार्यलक्षणं च सिध्यतीत्यर्थः । **किमित्यादि** । **विशेषदर्शनम्** । नेदं रजतमित्याकारकं रजतादिकम्, शुक्ताविदं रजतमिति । आदिना रज्जौ सर्पोऽयमिति । नायं सर्पः, रज्जुरेवेति विशेषदर्शनम् । कारणे जले कार्यं पृथिवी । **स्वेति** । विभूत्यध्यायोक्तायाम् । **अत्रापीति** ।

१. संपद्यते । २. तदेकतानतारूपः ।

भाष्यप्रकाशः।

'यदि वा न महिम्नीति गो अश्वमिह महिमेत्याचक्षते हस्तिहिरण्यं दासभार्यं क्षेत्राण्यायतनानी'ति। तथाचैतेषु तत्प्रतिष्ठाया अदर्शनात्कथमेतदिति शङ्कां मा कृथाः। तत्र हेतुमाह 'नाहमेवं ब्रवीमी'ति। एतादृशे महिम्नि प्रतिष्ठित इत्यहं न ब्रवीमि। तर्हि क्व प्रतिष्ठित इत्यत आह 'ब्रवीमीति होवाच अन्यो ह्यन्यस्मिन् प्रतिष्ठित' इति। अत्र 'इति होवाचे'ति श्रुतिवाक्यम्, शेषं सनत्कुमारस्य। तथाच गोअश्वादिभ्योऽन्यो महिमा तस्मिन् प्रतिष्ठित इति। तथाच लौकिकमहिमभिन्नः स्वे आत्मीये भूते भक्ते योऽथवा स्वाभिन्नो यो महिमा तस्मिन्नुक्तरीत्या स्थित इत्यर्थः। अतस्तेनापि प्रकारेण विचार्य इत्यर्थतः सिध्यति। तर्हि स कीदृग् येन तत्रैव प्रतिष्ठित इत्याकाङ्क्षायां तं विवृणोति 'स एवाधस्तात् स उपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात् स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदं सर्व'मित्यारभ्याग्रेऽहंकारादेशं तत आत्मादेशं च पूर्ववत् 'आत्मैवेदं सर्व'मितीत्यन्तम्। तथाच यस्य पूर्वं 'स एवाधस्ता'दित्याद्युक्तरीत्या सर्वदिक्षु भूमभानं सर्वं परिदृश्यमानं भूमेति च भानम्। अथ तदनन्तरम्, अत एतस्माद्भानाद्धेतोरहङ्कारादेश एव पूर्ववद्भूमाभिन्नस्वभानम्। अथ तदनन्तरम्, अतस्तादृशभानाद्धेतोरात्मादेश एव पूर्ववद्भूमाभिन्नात्मभानमिति। एवंप्रकारकभानवान् यः स पुरुषस्तत्र यो महिमा

रश्मिः।

विभूतिष्वपीत्यर्थः। **अस्येति**। नारदस्य। **स्वयं** सनत्कुमारः। **यदि वा नेति**। यदि वा परमार्थत आधारं पृच्छसि तर्हि ब्रूमः। महिम्नि गो अश्वं गवाश्वं तदादिरूपे महिम्नि। **नेति**। न प्रतिष्ठित इतीत्यर्थः। **कथमेतदिति**। कथं केन प्रकारेण। 'स्वे महिम्नी'ति श्रुतिवाक्यमित्यर्थः। **न ब्रवीमीति**। अन्ये ज्ञानिनस्तु ब्रुवन्तीत्यर्थः। अन्यज्ञानिनां परमार्थः गीताविभूत्यध्याये। 'धेनूनामस्मि कामधुक्' 'उच्चैःश्रवसमश्वानाम्' 'ऐरावतं गजेन्द्राणाम्' 'श्रीमदूर्जितमेव वा' 'रुद्राणां शङ्करश्चास्मि' 'देवर्षीणां च नारदः' 'सिद्धानां कपिलो मुनिः' 'कीर्तिः श्रीर्वाक् च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा। विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्' इत्येतेषु वाक्येषु गवाश्वादीनां श्रीकृष्णजिदभेदः। अत एव 'ह्यन्यो ह्यन्यस्मिन् प्रतिष्ठित' इति श्रुतेर्ज्ञानिनो भूमा तु स्वतो न भिन्न इति भावं वदन्ति। सर्वात्मभावरूपमुख्यभक्तिप्रकरणाद्भक्तानामुक्तश्रुतिप्रतिपाद्यपरमार्थमाहुः **तथा चेति**। गवाश्वादिभ्योऽन्यो महिमा यस्तस्मिन् तद्रूपेऽन्यस्मिन् प्रतिष्ठित इति। **हि युक्तश्चायमर्थः**। ज्ञानमार्गीयादर्थाद्भिन्नः। ननु ज्ञानमार्गीयार्थो भक्तिमार्गीयो वेति चेत्। न। महाभाष्ये 'चत्वारि शृङ्गा त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्ये'ति श्रुतेर्निरुक्तावाशुशुक्षणिपरत्वेन व्याख्यातापि शब्दपरत्वेन व्याकरणादत्रापि ज्ञानमार्गपरत्वेन व्याकृता भक्तिमार्गपरत्वेन व्याकृतेति। **स्वाभिन्न** इति। स्वं भगवान्। **उक्तेति**। उक्ता 'अन्यो ही'त्यादिश्रुत्योक्ता रीतिस्तया। श्रुतिप्रामाण्यात् स्वस्मिन्नपि (स्वयं) स्थित इत्यर्थः। अस्मिन् पक्षे 'अन्यो ही'त्यादिश्रुत्यर्थः स्पष्टः। भूमा तु स्वतो न भिन्न इति भावः। **स** इति। महिमा। श्रुतौ स इति भूमा। **पूर्ववदिति**। 'अहमेवाधस्ता'दित्यादिपूर्ववत्। 'आत्मैवाधस्ता'दित्यादि पूर्ववच्च। **भूमेति**। यथाधस्ताद् घट इत्यत्राधस्तनघटभानम्। इदंपदार्थमाहुः **परीति**। इदमस्तु प्रत्यक्षगे रूपमिति। **स्वेति**। भूमाभिन्नानां स्वेषां भानम्, 'कृष्णोऽहं पश्यत गति'मित्यत्र यथा भूमा भगवान् तत्त्वेन स्वेषां भक्तानां भानम्। **हेतोरिति**। सञ्चारिभावरूपादित्यर्थः। आत्मपदं मुख्यात्मपरम्। अहङ्कारादेशस्य सञ्चारिभावत्वज्ञापनाय पुनर्भूमाभिन्नात्मज्ञानमित्यर्थः। एवमग्रे भाष्ये स्फुटम्। **महिमेति**। सस्फूर्तिसर्वात्मभावस्तस्मिन् प्रसिद्धे

एतेन सर्वात्मभावस्वरूपमेवोक्तं भवति। तत्र विरहभावेऽतिविगाढभावेन

भाष्यप्रकाशः।

तस्मिन् भूमा प्रतिष्ठित इत्यर्थः सिध्यति। तस्य तत्र प्रतिष्ठितत्वे गमकमाह 'स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवती'ति। तथाचोक्तप्रकारकदर्शनमननविज्ञानवानुक्तप्रकारकरत्यादिमान् भवतीत्येते धर्मास्तत्र भूमप्रतिष्ठागमका इत्येतैर्लक्षणैर्भूममहिमाधारः पुमान् ज्ञातव्य इत्यर्थः। एतच्च महिमस्वरूपमग्रे अनुबन्धादिसूत्रभाष्ये स्फुटीभविष्यति। एवं तत्स्वरूपं निष्कृष्य तादृशस्य शोकतीर्णत्वं पूर्वपृष्टोत्तरत्वेनाह 'स स्वरा'डित्यादिना। सः भूमात्मरत्यादिमान् स्वस्मिन्नेव राजते, स्वस्मिन् भूमानं रञ्जयति वा, तस्य नामाद्याशाप्राणपर्यन्तलोकेषु कामचारः स्वातन्त्र्यं भवतीति सर्वप्राप्त्या शोकपारतीर्णो भवतीत्यर्थः। एवमेतं परिचाययित्वा तेनैव शोकतरणादितरोपायवतो निन्दति 'अथ येऽन्यथाऽतो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति, तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवती'ति। रञ्जयतीति राजा। अन्यो रञ्जयिता येषां तेऽन्यराजानः। तथाच ये इतोऽन्यथा विदुरन्यासक्तास्ते तथेतिसन्दर्भार्थः।

एतस्य तात्पर्यं स्फुटीकर्तुं गृह्णन्ति एतेनेत्यादि। एतेन भूम्नः कार्यलक्षणवाक्ये-

रश्मिः।

वृतभक्ते भूमा भूमाधिकरणोक्तो भगवान् प्रतिष्ठित इत्यर्थः। भगवतो भूमत्वेनोपादानं सुखरूपत्वाय। ननु भगवति सर्वात्मभावरूपा भक्तिः, भक्तौ तु न भगवानिति चेत्। न। महिम्नीति सप्तम्या अभिव्यापकाधारोऽर्थः। न त्वौपश्लेषिक आधारः। तथा च महिमानं सस्फूर्तिसर्वात्मभावमभिव्याप्य प्रतिष्ठित इत्यर्थात्। न च महिमपदं 'एतावानस्य महिमा' इत्यत्र विश्ववाचकमिति वाच्यम्। विश्वान्तर्गतसस्फूर्तिकैतादृशभावे विश्ववाचकस्य सङ्कोचात्। 'सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्या' इत्यत्र सर्वपदवत्। **तथा चोक्तेति**। 'अनुबन्धादिभ्य' इति सूत्रभाष्योक्तप्रकारकेत्यादिः। **एत इति**। उक्तप्रकारकरत्यादिरूपा धर्माः। उक्तप्रकारकदर्शनादिधर्मास्तु भूमगमकाः, न तु भूमप्रतिष्ठागमका इत्यनुबन्धादिभ्य इति सूत्रभाष्यात्। **महिमेति**। 'स एवाधस्ता'दित्युक्तम्। 'स वा' इत्युक्तं च। व्याकरणस्य वेदाङ्गत्वात् श्रीभागवतस्य वेदत्वात् तच्चतुर्थस्कन्धोक्तं लक्षणमाहुः **स्वस्मिन्निति**। 'रञ्जयतीति राजे'ति पृथुचरित्रे व्युत्पत्तिः। **तेनैवेति**। भूम्नैव। **इत इति**। श्रुत्यन्तर्गतस्मात इत्यस्यार्थः। **कार्यलक्षणेति**। स्वरूपलक्षणं तु 'सत्यं ज्ञानमनन्तमानन्दं ब्रह्मे'ति ब्रह्मोपनिषदुक्तम्। **सर्वात्मभावेति**। ननु विगाढभावस्य विरह एव भाष्ये उक्तेः 'यस्मिन् दृष्टे श्रुते विज्ञाते' इति लक्षणश्रुतिविवरणे प्रकाश एवोक्तसंयोगे सर्वात्मभावपदस्यैकदेशविरह एव प्रवृत्तस्य कथं जीवेश्वरभेदेनाधिभौतिकादिभेदेन संयोगविप्रयोगभेदेन च द्वादशप्रकारेषु प्रवृत्तिरिति चेत्। न। भाष्येऽतिविगाढभावपदेति पदार्थस्य विवक्षितत्वात्। तथा च वि विशेषेण गाढो दृढः बलं बलपदवाच्यो भावः प्रेमा विगाढभावः। तस्य ज्ञापको निरोधलक्षणग्रन्थोक्तो निरोधः। तदुक्ते तु सर्वात्मभावे सर्वः सर्वेन्द्रियसम्बन्धी आत्मनोऽन्तःकरणस्य भाव इति। आत्मनो भाव इति षष्ठीतत्पुरुषं विधाय सर्व आत्मभाव इति कर्मधारयः। 'सर्वेन्द्रियाण्यन्तःकरणस्य वृत्तय' इति पञ्चमस्कन्धे निरूपितम्। 'एकादशामी मनसो हि वृत्तय आकूतयः पञ्चधियोऽभिमान' इति। तदुक्तमाचार्यैः 'सर्वात्मभावोऽधिकृतो भवतीनामधोक्षजे। विरहेण महाभागा महान् मेऽनुग्रहः कृत' इति श्लोके 'सर्वोप्यात्मनो भावो भगवत्येवाधिकृत उत्तरोत्तरं वृद्ध्यर्थं आरब्ध इवे'ति सुबोधिन्या। ननु विरहेणेत्युक्तौ पुष्टिमार्गीयत्यागवन्निनां विरहसामयिकसर्वात्मभावपदनिर्वचनम्,

सर्वत्र तदेव स्फुरतीति 'स एवाधस्ता'दित्यादिनोक्त्वा, कदाचित् स्वस्मिन्नेव भगवत्त्वस्फूर्तिरपि भवतीति 'अथाहङ्कारादेश' इत्यादिना तामुक्त्वा, एतेषां व्यभिचारिभावत्वेनानियतत्वं ज्ञापयितुं पुनः सर्वत्र भगवत्स्फूर्तिमाह 'अथात

भाष्यप्रकाशः।

न यदुद्धवं प्रति सर्वात्मभावस्वरूपं स्वस्मिन् विगाढभावात्मकं भगवतोक्तं तदेवोक्तमित्यर्थः । कथमित्याकाङ्क्षायामेतदग्रिमोक्तकार्यान्यथानुपपत्त्यार्थादुक्तं भवतीति वक्तुमेतद्विभजन्ते तत्रेत्यादि ।

रश्मिः।

न तु संयोगसामयिकसर्वात्मभावपदनिर्वचनमिति संयोगीयान्यन्निर्वचनमिति चेत् । न । संयोगविप्रयोगभेदेनैकस्या एव भक्तेर्द्वैविध्यात् । न च संयोगे मानाभाव इति वाच्यम् । विहितभक्त्यसाध्यत्वेन भक्तिपदं सर्वात्मभावेऽर्धदलवाचकं स्यादिति । न चास्त्वेवमिति वाच्यम् । विशिष्टे शक्तिवादिनां घट इत्युक्ते हि न घटत्वाविषयकप्रत्ययो भवतीति तथा वक्तुमशक्यत्वात् । तथा च प्रत्ययः । प्रतिमादिं पश्यतो भगवन्तं पश्यामीति चक्षुःसंयोगे । विप्रयोगे तु दैहिकपारतन्त्र्यं देशैक्येपि । तदा न पश्यामीति प्रत्ययः । तथा च प्रयोगः । विगाढभाववान् निरोधादाचार्यवदिति । एवं सर्वस्मिन् भाव इति सर्वात्मभाव इति लालूभट्टकृतसर्वात्मभावविवेके । सा व्युत्पत्तिरतिविगाढभावेन वक्ष्यमाणस्फूर्तौ । तथा चैतादृशः सर्व आत्मनो भावो यत्र विगाढभावे स विगाढभावः सर्वात्मभावः । द्वितीयदले त्वतिविगाढभावः अतिपदार्थोऽनुभवसाक्षिको विरहे संयोगापेक्षयातिशयरूपः । तत्र सर्वस्मिन्नात्मभावो यत्रातिविगाढभावे स सर्वात्मभावः । तदुक्तं **सर्वात्मभावस्वरूपं स्वस्मिन् विगाढभावात्मकम्**िति । अन्यस्मिन् कामुकेऽयं भावः सर्वात्मभावः स्यात्, तद्व्यावृत्त्यर्थं **स्वस्मिन्निति** । विगाढभावात्मकसर्वात्मभावान्निरोधात्मकस्तस्मादतिविगाढात्मके स्फूर्त्यात्मकः सर्वात्मभावः । एवं संयोगे द्विविधोपि त्रिविधः आध्यात्मिकाधिदैविकयोरभेदात् । अतिविगाढभावतदुद्भवस्फूर्तिरूपो द्विविधोपि विरहे त्रिविधः । उक्ताभेदात् । एवं षड्विधो जीवे । ईश्वरेप्येवं षड्विधः कारणरूपः । तदुक्तं प्रदानवत्सूत्रभाष्यप्रकाशे 'तेन भगवद्धर्मे'त्यादिना । व्युत्पत्तिस्तु सुबोधिन्या एव 'सर्वोप्यात्मनो भावः' इत्यस्याः श्रुतौ निरवध्यानन्दरूपत्वेन रसरूपत्वेन पुत्रादिभ्योपि प्रेयस्त्वेन च सिद्धस्य आत्मनो यो भावो धर्मः प्रियत्वाख्य आनन्दात्मा यन्मात्रां सर्व उपजीवन्ति स सर्वस्तदंशिभूतो भगवद्धर्म ऐश्वर्यादिवदतिरिक्तः । ननु स दत्तो जीवेष्वपि तादृश इति चेत् । न । 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ती'ति श्रुत्या प्रदानवत्सूत्रोक्तरीत्या भगवद्धर्मात्मकसर्वात्मभावदानेपि भगवद्धर्मसर्वात्मभावस्योक्तविधत्वमपि । मात्रारूपत्वेन परिणामात् । एतेन प्रदानवत्सूत्रोक्तभाष्यप्रकाशोक्तलक्षणकसर्वात्मभावनिर्वचनाभावात् तद्विरोध इत्यपास्तम् । तत्र भगवद्धर्मात्मकसर्वात्मभावनिर्वचनात् । आध्यात्मिकाधिभौतिकस्फूर्तिविगाढभावयोर्मात्रात्वादुक्तविधत्वम् । पुराणमतेन तु प्रदानवदेवेति सूत्रभाष्यप्रकाशेऽनुरागात्मेत्यादिविशेषणविशिष्टः सर्वात्मभावो ज्ञेयः । तथा चैतेन श्रुतिवाक्येन सर्वः सर्वेन्द्रियसम्बन्धी आत्मनोऽन्तःकरणस्य भावः 'कामः सङ्कल्प'इत्यादिश्रुत्युक्तस्तस्य विद्यारूपस्य स्वरूपं 'दर्शनाच्चे'ति वक्ष्यमाणसूत्रादुक्तमित्यर्थः । निरोधलक्षणोक्तविद्यारूपमिति यावत् । श्रीवल्लभजित्कृतसर्वात्मभावनिरूपणे सर्वात्मभावपदस्यायमर्थकः । भक्तिमार्तण्डे च । 'नन्दगोपव्रजस्त्रीणां' नन्दगोपसर्वात्मभावत्वेन 'मनसो वृत्तयो नः स्यु'रिति भ्रमरगीतीयवाक्योक्तेन सर्वात्मभावनिरूपणस्य युक्तत्वात् । उक्तश्रुतेश्चेति

भाष्यप्रकाशः।

अयमर्थः । अत्र व्याख्यातरीत्या यो भूममहिमाधाररूपः पुमान् परिचाययिष्यते, तस्य या स्फूर्तिः, सा नाखण्डब्रह्मज्ञानरूपा, 'तत् केन कं पश्ये'दित्यादिवत्तदाकाराभावात्, किन्तु सखण्डतद्रूपा, षण्णां दिशां परिदृश्यमानस्य सर्वस्य चानुवादपूर्वकं तत्स्फूर्तिकथनात् । सापि न वामदेवादिस्फूर्तिव'न्मनुरभवमहं सूर्यश्चे'त्यादिसर्वत्राहङ्ग्रहरूपा, अहङ्कारादेशोत्तरं पुनरात्मादेशकथनेन तस्याः व्यभिचारबोधनात् । अतः सा द्विविधाया अपि ज्ञानिस्फूर्तेर्विलक्षणेति तद्वानपि तेभ्यो विलक्षणः । 'स यदि पितृलोककामो भवती'त्यादिवदस्य कामानामनुक्तत्वाद्दहराद्युपासकेभ्योपि विलक्षणः । मर्त्यसुखानभीप्सुत्वाल्लोकतोपि विलक्षणः । किन्तु सत्यवदनादिकारणभूतकृत्यादिजनकसुखलाभवश्वस्य भूमप्रतिष्ठाप्रश्नोत्तराभ्यां तन्महिमाधारत्वेनोक्तत्वात् पूर्वं भूमलाभवानुक्तः, तेन दृष्टश्रुतविज्ञातभगवत्कः परमभक्तस्तत्र ततोऽन्यदर्शनादिराहित्यस्योक्तत्वाद्विरहभावे **प्रपञ्चविस्मारकपरमासक्तिरूपो** योऽतिविगाढभावस्तेन सर्वत्र तदेव आसक्तिविषयं

रश्मिः।

भाष्यार्थः । भाष्यीयैवकारव्यावर्त्यमाहुः **अयमर्थ** इति । 'सा सा सा सा जगति सकले कोऽयमद्वैतवाद' इत्यत्रायं भावः कामुकस्योपवर्णितः । क्वचित् तत्रापि संभोगविगाढभावनिरोधविप्रयोगातिविगाढभावस्फूर्तीनां सत्त्वात् लौकिकः सर्वात्मभावो रूपप्रपञ्चान्तर्गतो बन्धको रूपप्रपञ्चस्य बन्धकत्वात् 'सर्वग्रन्थीनां प्रविमोक्ष'इति श्रुतिविरोधाच्चेत्यत आहुः **मर्त्येति** । तथाच लौकिके सर्वात्मभावे मर्त्यसुखाभीप्सुरधिकारी, अलौकिके तु शुद्धाहारी । 'प्राणपोषको ह्याहारः, तस्य सदोषत्वे तु न किञ्चित् सिध्यती'ति भाष्यात् । 'न पश्यो मृत्युं पश्यती'ति मृत्व्यस्पृष्टसुखत्वात् सर्वात्मभावस्यामर्त्यसुखाभीप्सुरधिकारी । एतेन वैष्णवस्य स्वस्त्रियामेतादृशभाववतो भावेपि न क्षतिः । आत्मविषयत्वाच्च । न चायोग्ये भावकल्पनमिति वाच्यम् । 'यद्यदिष्टतम'मिति वाक्यात् । 'लोकवत्तु लीलाकैवल्य'मिति सूत्राच्च । आत्मविषयकः कैवल्यरूपः । स्त्र्यादिविषयकोऽकैवल्यरूपः । **सत्येत्यादि** । सत्यवदनविज्ञानमतिश्रद्धानिष्ठाः सुखादयः तासां कारणीभूता कृतिरादिः कृत्यादिसुखस्यादिः । तस्या जनकेत्यर्थः । ननु सत्यवदनादिजनकेत्येतावतैव चारितार्थ्ये कारणभूतकृत्यादीत्यधिकमिति चेत्, न । एतदनुक्तौ सत्यवदनादिसकलजनकेति भ्रमः स्यात्, तन्निवृत्तये कारणभूतायाः सुखस्यादिरूपायाः कृतेर्जनकत्वनिश्चयार्थं कारणभूतकृत्यादीत्यस्यानाधिक्यात् । **उक्तत्वादिति** । 'यदा वै सुखं लभतेऽथ करोती'ति श्रुत्येत्यर्थः । **दृष्टेति** । भूमलक्षणश्रुतिव्याख्याने विशेषरूपेण लब्धः । **परमेति** । दृष्टश्रुतविज्ञातभ(ग)वत्कत्वमेव परमभक्तत्वम् । संयोगविगाढभावयोस्तु प्राकृतयोरनुवादात् । संयोगविगाढभावनिरोधानां वक्ष्यमाणत्रयप्रतिपादकग्रन्थानुरोधेन वक्तव्यत्वात् । अत्र सत्यवदनादीनां संनिवेशप्रकारः । सर्वात्मभावे 'भक्तिः प्रवर्तिता दिष्ट्ये'ति वाक्यं भ्रमरगीते, भक्तिवर्धिन्यां च 'सेवायां वा कथायां वे'ति वाक्यं विविदिषोर्भक्तस्य सत्यवदनादिजनककृतिर्गुरूपसत्तिः । अस्य पुष्टित्वं सन्दर्भस्यैकादशद्वादशाध्यायोक्तस्यैतन्निबन्धे उक्तत्वात् स्फूर्तिनिरोधयोः सर्वात्मभावपदं भाष्ये श्रीभागवते चोक्तमिति । अनुग्रहमात्रेण कृतिः पुष्टित्वात् । ततो निष्ठा, ततः श्रद्धा, ततो मतिः, ततो विज्ञानम्, ततः सत्यं सत्यवदनं कथा कथनादिरूपमुक्तश्रुतिप्रामाण्याज्ज्ञेयम् । **तत्र भूमलक्षणे** । **ततः** दर्शनश्रवणविज्ञानाद्यनन्तरम् । **उक्तेति** । एतस्य विरहभावलिङ्गत्वम् । न च प्रेमलक्षणे संयोगे वियोगवर्तनं प्रेमेत्युक्तत्वात् वियोगवर्तनं संयोगेऽस्त्विति शङ्क्यम् । प्रेमलक्षणत्वात् । सर्वात्मभावस्य प्रदानमात्रसाध्यत्वात् । **परमासक्तीति** । परः सर्वोत्कृष्टो मीयते ज्ञानस्य स्फूर्त्यात्मकस्य विषयीक्रियते यस्यामेतादृश्यासक्तिरनुषङ्गबद्धधीरूपा तया रूप्यते

भाष्यप्रकाशः।

भगवत्स्वरूपमेव सर्वत्र स्फुरतीति 'स एवाधस्तादित्या'दिनोक्त्वा, एतेषां विरहभावकृततत्तत्स्फूर्तिरूपाणां ज्ञानानां व्यभिचारिभावत्वेनानियतत्वं ज्ञापयितुं पुनरहङ्कारादेशात् पूर्वं निरूपित-

रश्मिः।

व्यवह्रियते ज्ञायते इति तद्रूपोऽतिविगाढभाव इत्यर्थः। 'मनसो वृत्तयो नः स्युः कृष्णपादाम्बुजाश्रया' इति भ्रमरगीतोक्तसर्वात्मभावे निरोधस्कन्धोक्ते निरोधस्य प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकभगवदासक्तिरूपस्य संनिवेशो भाष्यस्य आवश्यकः। तेनातिविगाढभावे वक्तव्येऽस्य विशेषणस्य किं प्रयोजनमिति कुचोद्यं निरस्तम्। व्यभिचारीति। विरहेत्यादितत्तत्स्फूर्तयोऽधःस्थत्वादिप्रकारकास्तद्विशेष्यका बोध्याः। ते तु त्रयस्त्रिंशत्। 'चिन्ता स्मृतिर्हर्षं औत्सुक्यमपस्मारो विबोधो मतिरुन्मादो मरण'मित्येतेषु मतिरत्र सम्भवति। तस्या लक्षणं शास्त्रोपदेशमन्त्राद्यैरर्थनिर्धारणं मतिरिति। 'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यत' इति गीतातः व्यभिचारित्वमस्या भक्तिरसात् पूर्वभावित्वेनोत्तरभावित्वेन च, भक्तिमार्गे उन्मादो वा। तस्य लक्षणम्, 'सन्निपातग्रहादितं उन्मादश्चित्तविभ्रमः।' तदुक्तं 'उत्तमानां विप्रलम्भो भवेत् प्रियवियोगतः। नीचानां विभवभ्रंशात् सर्वेषां सन्निपातत' इति। अत्रापि वाक्यं 'इत्युन्मत्तवचो गोप्यः कृष्णान्वेषणकातराः' इति। अत्र भक्तिपदवाच्यत्वात् षट्सु सर्वात्मभावपदव्युत्पत्तिः। संयोगः परस्परालिङ्गनपरिचुम्बनाद्यनन्तभेदत्वादपरिच्छेद्य इत्येक एव। सर्व आत्मनो भावः परम्परया यत्र संयोगे स तथोक्तः। संयोगे परम्परया निरोधकारणत्वात्। वि विशेषेण गाढो दृढः बलपदवाच्यो भावः प्रेमा। 'दृढः स्थूलबलयो'रिति पाणिनिसूत्रात्। न च भावपदार्थो रतिर्वाच्य इति वाच्यम्। रतेर्भगवद्ग्राहकत्वात्। 'वशे कुर्वन्ति मां भक्त्ये'ति वाक्यात्। 'तं भजे'दिति श्रुतेश्च। न च प्रेमपदोपसन्दाने विहितकर्मज्ञानभक्तिसाध्यो न वेति शङ्कित्वा प्रदानसाध्यत्वं सर्वात्मभावस्योक्तम्, तद्भङ्गः, प्रेमपदेन विहितभक्तिलाभो न, अन्यसाधनसाध्यत्वादिति वाच्यम्। भाष्ये विहितपदाच्चित्तशुद्ध्यादीनां मर्यादाभक्तिसाधकत्वे पुष्टौ प्रदानसाध्यत्वे बाधकाभावात्। न च प्रदानसाध्यत्वेऽनुग्रहासाध्यत्वापत्त्या भक्तिहेतुविरोध इति वाच्यम्। सर्वात्मभावोक्तिसन्दर्भरूपे द्वादशाध्याये पुष्टिमार्गकथनानन्तरं 'याहि सर्वात्मभावेने'ति वाक्यात् पुष्टिभक्तित्वेपि सुबोधिन्याः सर्वः सर्वेन्द्रियसम्बन्धी आत्मनोऽन्तःकरणस्य भावः, 'कामः सङ्कल्प' इतिश्रुत्युक्तो वा, 'एकादशामी मनसो हि वृत्तय' इति पञ्चमस्कन्धोक्तो वा भवनं भगवति सत्ता वर्तनं तत्परत्वेनावस्थापनं वेत्यर्थिकायाः सिद्धस्य वक्ष्यमाणस्य विधारूपस्य निरोधस्य दानेनाभ्युपगमात्। इतरस्याध्यात्मिकाधिभौतिकस्यानुग्रहसाध्यस्य पुष्टित्वादनुग्रहेणोपगमात्। श्रौतस्य प्रदानसाध्यता, पौराणस्य तु अनुग्रहसहकृतप्रदानसाध्यता सर्वात्मभावस्य निरोधात्मकस्य। वक्ष्यमाणनिरोधात्मकस्य। विगाढभावे सर्व आत्मनोऽन्तःकरणस्य भाव उक्तो यत्रेतिव्युत्पत्तिः। 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत' इति गीतायाः। निरोधे व्युत्पत्तिः। सर्वः सर्वेन्द्रियसम्बन्धी भावः 'कामः सङ्कल्प' इति श्रुत्युक्तः। भाष्ये भूमपदवाच्यो यः। 'एतेन सर्वात्मभावस्वरूपमेवोक्तं भवती'ति भाष्यात्। भाष्यमते इयं मुख्या व्युत्पत्तिः सर्वात्मभावस्य। भूमलक्षणश्रुतिसिद्धत्वात्। पञ्च तु सर्वात्मभावव्युत्पत्तिशून्याः सर्वात्मभावान्तःपातित्वात् सर्वात्मभावा इत्युच्यन्त इति भक्तिहंसदिशा ज्ञायते। अथापि व्युत्पत्तिर्विरहे। विशिष्टो रहो विरहः। अन्तःसंवेदनम्। विरहो, 'विरहे ये विविधा भक्तिभावा उत्पद्यन्ते, ते न सङ्गमेपी'ति वैशिष्ट्यम्। स च चक्षूरागः। प्रथममित्यवस्थाप्रकारेण विकलत्वास्वास्थ्यरूपः। नन्वन्तःसंवेदनेपि चक्षूराग इति चेत्। न। 'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदा-

भाष्यप्रकाशः।

त्सानुभूत्या सर्वत्र भगवत्स्फूर्तिमाह 'अथात आत्मादेश' इत्यादिना।

विधात्रयसमाप्तौ च 'स वा एष एवं पश्य'न्नित्यादि कथयति। तत्र 'स' इत्यनेन पूर्वोक्तं परामृश्य, 'एष' इत्यनेन महिमानं निगमयति। तत्रायमर्थः। पूर्वं विधात्रयस्योक्तत्वात्तासां प्रत्येकमहिमरूपत्वे, 'स वा एष' इत्यत्र बहुवचनापत्तिः। समुदितस्य तथात्वे पूर्वविधापरामृष्टस्य भूम्नोपि महिमत्वापत्तिः, अतस्तदुभयमत्र नाभिप्रेतम्, किन्त्वेवं पश्य'न्नित्यादिनोक्तासु दर्शनादिक्रियासु पूर्वोक्तविधात्रयं कर्मत्वेनैवाभिप्रेत्यैवंपदेन परामृशति, दर्शनादिमतश्चाग्रे फलं

रश्मिः।

वृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छ'न्निति श्रुत्यान्तःसंवेदने चक्षूरागोक्तेः। आत्मदर्शनं 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' इति शाण्डिल्यसूत्रेण रागमन्तरासम्भवच्चक्षूरागरूपां भक्तिमाह। द्विषति चक्षुःस्वकारणनिर्वाहाय। न चास्तु चक्षूरागः संयोगवद्विरहेपि, रागस्य भक्तिलक्षणत्वात्, परन्तु सम्यक् ज्ञानं तस्य श्रुतौ न सम्भवति, प्रत्याशादिभिस्तिरस्कारादिति बोध्यम्। 'भवतीनां वियोगो मे न हि सर्वात्मना क्वचि'दित्यस्मात्। 'दुस्त्यजस्तत्कथार्थ' इत्यस्माच्च रागप्राप्तेः। लक्षणोक्तस्य मानावश्यकत्वाच्च। अन्यथा लक्षणत्वापलापप्रसङ्गः। ननु 'कामाद्द्वेष्यः', 'अलमन्यविचारेण, प्रेमेच्छेति स्थितं मत'मिति वाक्याभ्यां इच्छा ममेति चेत्। न। 'अनाविष्कुर्वन्नन्वया'दितिसूत्रे भक्तिरसस्य गुप्तस्यैवाभिवृद्धिस्वभावत्वेन कामादीनां गौणप्रेमत्वात्। अतः 'कामस्तस्य दिदृक्षैवे'ति 'नैव इच्छा तु साधारण्या'दिति कारिकाशाण्डिल्यसूत्रयोरिच्छायां विशेषस्य दूषणस्य चोक्तेः। अतः बहुविधोपि विरहोऽत्रैक एव गण्यते, संयोगवदिति सिद्धम्। ननु विप्रलम्भ इति वक्तव्ये तदेकदेशोपादानं भाष्ये कुत इति चेत्। न। विप्रयोगस्याभिलाषविरहेर्ष्याप्रवासशापहेतुकत्वेन पञ्चविधस्य सङ्गमप्रत्याशाकालीनास्तदनुत्पादो विप्रलम्भ इति लक्षणलक्षितस्याद्यावयवोऽभिलाष इच्छारूपः द्वितीयो विरहः। देशैक्येपि गुर्वादिपारतन्त्र्यम्। अन्यासङ्गिनि प्रिये कोप ईर्ष्या। प्रवासो वैदेश्यम्। उत्पादिकोपनियन्त्रणं शापः वाग्दण्डः। विप्रलम्भलक्षणे प्रत्याशा प्राप्तिनिश्चयः। तत्रोद्धवस्य 'अत्रागतोऽहं विरहातुरात्मे'ति वाक्याद्विरहेऽन्तर्भावि सर्वं भवतीति विरहस्य भागवतमते मुख्यत्वात्। अन्यथा प्रवासहेतुके विप्रलम्भे विरहहेतुकत्वं विरुद्धमुक्तं स्यात्। सर्वस्मिन्नात्मभावः परम्परया यत्र विरहे स सर्वात्मभावः। संयोगवद्विप्रयोगेपि सर्वात्मभावं वक्तुं तत्रेत्यारभ्य इत्यादिभेत्यन्तं भाष्यं ततः संयोगभाव इत्यादिभाष्येण सुखान्वितमपि अग्रेतनश्रुत्या तदेव भाष्यं संयोज्य 'सर्वात्मभावस्वरूपमेवोक्तं भवती'ति भाष्यमावृत्त्या पुनर्योजयन्तिस्म विधेति। विधात्रयमात्मादेशाहङ्कारादेशात्मादेशरूपम्। अहङ्कारस्य पुरुषविधब्राह्मण आत्मतः प्रथममुत्पत्तिदर्शनात्। जीववाचकस्याहङ्कारस्य प्रयोगः, न तु सन्निपातलक्षणैकदेशस्यास्मत्पदवाच्यस्य हेयस्य। लक्षणं तु 'सन्निपातस्त्वहमिति ममेत्युद्भव या मति'रिति। न चोक्तोन्मादोत्पादकः सन्निपातोऽस्त्विति शङ्क्यम्। भेदांशे तस्याविरोधात्। भक्तानामन्तराभूतस्याभेदस्यादानादयं ब्रह्माभिप्रेतोऽहेय एव। तदुक्तं सुबोधिन्यां 'कृत्वाऽतरन् वत्सपदं स्म यत्प्लवा' इत्यस्य। भेदः संसारः। सुबोधिन्यां भूम्नोपीति। न च निरोधलक्षणोक्तनिरोधस्य भूमपदवाच्यत्वेन स्फूर्तिविषयस्य कथं भूमपदवाच्यत्वमितिशङ्क्यम्। भक्तिहंसोक्तदिशा सर्वात्मभावान्तःपातिनोपि स्फूर्तिविषयस्य भूमत्वात्। पूर्वोक्तेति। एवंपदेन पूर्वोक्तेत्यादिरित्यन्वयः। पूर्वपरामर्शार्थिक एवकारः। फलमिति। 'आत्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः, स स्वराड् भवती'ति श्रुत्या

आत्मादेश' इत्यादिना। ततः संयोगभावे सति पूर्वभावेन सर्वोपमर्दिना स्वप्राणादिसर्वतिरोधानेनाग्रिमलीलानुपयोगित्वं न शङ्कनीयम्, यतो भगवत एव सर्वसम्पत्तिरित्याशयेन 'तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यत' इत्युपक्रम्य 'आत्मत एवेद५ सर्व'मित्युक्तवान्। ततः श्लोकैस्तद्भावस्वरूपमुक्त्वैतस्य मूलकारणमाह 'आहारशु-

भाष्यप्रकाशः।

वदति, तेन 'कर्म फलार्थत्वा'दिति न्यायात्तादृशफलजनकं यद्विधात्रयकर्मकं ज्ञानं तदत्र महिमत्वेन फलति। तथाचात्राग्रे आत्मरत्यादिपदैः रतिक्रीडामिथुनानन्दानां रसरूपं भगवन्तं भजत एव धर्माणामुक्तत्वात् दृष्टश्रुतविज्ञातभगवत्को रसस्य संयोगविप्रयोगाभ्यां द्विधानुभवविषयत्वाद्विरहभावेऽतिविगाढभावेनोक्तरीत्या सर्वत्र तत्स्फूर्तिमान् भक्तो भूममहिमाधारत्वेन सिद्ध इति तस्य या स्फूर्तिः सोक्तरीतिकसर्वात्मभावव्यभिचारिभावरूपैव, नान्यविधेति तेन भगवति विगाढभावरूपं तत्स्वरूपमेवात्रोक्तं भवतीत्यर्थः।

एतदेव फलतोपि निगमयितुं, 'तस्य ह वा एतस्ये'त्यादेर्ग्रन्थस्य तात्पर्यमाहुः तत इत्यादि। तथाच विरहभावानन्तरं संयोगभावे असति पूर्वभावेन विरहात्मकेन तथेति कुथैवेदं सर्वमिति शङ्कानिरासाय 'तस्य वा एतस्ये'त्यादिना भगवत एव सकाशात् सर्वस्थितिमुक्तवान्, अतो विरहेण सर्वोपमर्दाभावाल्लीलोपयोगसिद्धिरिति, सापि तादृशभक्ततद्भावयोर्गमिकेत्यर्थः। एतदेव सङ्ग्रहग्रन्थतात्पर्यकथनेन दृढीकुर्वन्ति ततः श्लोकैरित्यादि। श्लोकास्तु 'न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखताम्। सर्व५ हि पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वश इति। स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा। सप्तधा नवधा चैव पुनश्चैकादशः स्मृतः। शतं च दश चैकश्च सहस्राणि च विंशतिः। आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः। स्मृतिप्रतिलम्भे

रश्मिः।

फलमित्यर्थः। न्यायादिति। अयं न्यायः पूर्वमीमांसायां तृतीयाध्याये वर्तते 'कर्माण्यपि जैमिनिः फलार्थत्वा'दिति सूत्रसिद्धः। कर्माण्यपि शेषाणि फलार्थत्वात् पारार्थ्यस्य शेषलक्षणत्वादिति जैमिनिः सिद्धान्तवक्ता आहेति सूत्रार्थः। विधात्रयेति। 'एवं पश्य'न्नित्यस्य विधात्रयं पश्यन्नित्याद्यर्थात् विधात्रयेत्यादिः। ज्ञानं क्रिया कर्मेति यावत्। ननु कथं ज्ञानं कर्मेति चेत्। न। 'भूवादयो धातव' इत्यस्य सूत्रस्य 'क्रियावाचिनो भ्वादय' इत्यर्थात्। अत्रेति। विरहे। उक्तेति। भाष्योक्तरीतिकनिरोधात्मकसर्वात्मभावेत्यर्थः। तेनेत्यादि। विगाढभावस्यातिविगाढभावस्य रूपं व्यवहारो ज्ञानं येन सर्वात्मभावेनेति बहुव्रीहिः। विरहभावेपीत्याद्युक्तग्रन्थात्। विरहभावेऽतिविगाढभावेनेति पाठः। तत्र विरहभावेऽतिविगाढभावेनेति भाष्यात्। तत्स्वरूपं सर्वात्मभावस्वरूपम्। एवकारेण 'सर्वात्मभावं विदध'दिति नवमस्कन्धवाक्ये 'सर्वस्मिन्नात्मभावो यत्र क्रियाकलाप' इति श्रीधरीग्रन्थेन सर्वस्मिन्नात्मभाव इति समासावेदकश्रीभागवतेन चास्यार्थस्येतरार्थापेक्षया प्रामाणिकत्वादितरेऽर्था व्यावर्त्यन्ते। यथैतेनेत्यादिभाष्ये एवकारेण 'मनसो वृत्तयो नः स्युः कृष्णपादाम्बुजाश्रया' इत्यादिना भ्रमरगीतोक्तश्रीनन्दसर्वात्मभावस्य 'वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणा'मित्यत्र नन्दव्रजस्त्रीत्वेन तासामपि वक्तुं शक्यत्वेन 'आत्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्ये'ति श्रुत्या च सर्वः सर्वेन्द्रियसम्बन्धी आत्मनोऽन्तःकरणस्य भाव इति षष्ठीतत्पुरुषगर्भितकर्मधारयार्थस्येतरार्थापेक्षया प्रामाणिकत्वादितरेऽर्था व्यावर्त्यन्ते, तद्वत्। अर्थ इति। तत्रायमर्थ इत्यत्रत्यार्थमुद्दिश्यैतादृशार्थत्वं विधीयत इति तत्रायमर्थ इति न वाक्यान्तरमिति न वाक्यभेदः। गमिकेति। तादृशभक्तभाववान् आत्मतः पुष्टिमार्गीयप्राणादिसर्वसम्पत्तेः।

द्धा'वित्यादिना। प्राणपोषको ह्याहारः, तस्य सदोषत्वे तु न किञ्चित् सिध्यति।

भाष्यप्रकाशः

सर्वग्रन्थीनां प्रविमोक्ष' इति। अर्थस्तु, पश्यः उक्तविधया भूमदर्शनवान् मृत्युरोगौ न, दुःखभावं च न पश्यति, उतेति पादपूरणे, अथवा पक्षान्तरे, दुःखसत्तामेव न पश्यति, का वार्ता मृत्युरोगयोः। तत्र हेतुमाह। हि यतो हेतोः सर्वं भूमात्मकं पश्यो भूमद्रष्टा पश्यति। तेन दुःखादिकं न पश्यतीति। तस्य फलमाह। सर्वशः सर्वेण सर्वमाप्नोतीति न तस्य पुनः शोकः। प्राप्तौ, प्रकारमाह 'स एकधे'त्यादि। अनेन 'आत्मत आविर्भावतिरोभावा'विति यत्पूर्वमुक्तम्, तस्य प्रकार आविर्भावप्रकारोक्तिद्वारा विवृतः। स भूमैव उक्तप्रकारैः प्रकटो भवन् पश्यस्य सर्वं प्रापयतीति। अथवा। पश्य एव भगवतः सकाशात्तत्तदनुभवार्थं तथा प्रकटीभवतीति बोध्यः। मध्ये, द्विधा चतुर्धा षोढा अष्टधा दशधेत्यादिप्रकारत्यागस्तु तिरोभावप्रकारबोधनार्थः। विशेषतस्तु तादृशाधिकाराभावान्न विवेचितुं शक्य इति नोच्यते। तेन विरहसामयिकदशैव बोध्यत इति हृदयम्। एवमग्रेपि भगवत्कृपया बोध्यम्। एतस्य सर्वस्य मूलकारणमाहारशुद्धिः। सा च 'त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोऽलङ्कारचर्चिताः। उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेमही'तिप्रकारेण भगवद्दत्तप्रसादेन भवन्ती सत्त्वं शोधयति। तच्छुद्धौ सत्यां ध्रुवा पूर्वावस्थास्मृतिः। तस्याः प्रतिलम्भे अविद्याकामकृतानां सर्वासां ग्रन्थीनां प्रकृष्टो ज्ञानितोऽप्यधिको विमोक्ष इति ज्ञेयः। अतः परं श्रुतिरेतस्य ज्ञानस्य यस्मैकस्मैचिददेयत्वायाह 'तस्मै मृदितकषायाय तमसस्पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमार' इति। तथाच सोपि दर्शयति, न

रश्मिः।

आत्मसृष्टौ ह्यात्मतस्तादृशभक्तभावरहितानामप्यात्मतः प्राणादिसर्वसम्पत्तेर्हेतोः साधारण्यवारणाय पुष्टिमार्गीयेति। 'निपातः पादपूरणे' इति निरुक्तेनोतपदार्थमुक्त्वा ग्रन्थान्तरानुरोधेनाहुः अथवेति। भूमात्मकं सुखात्मकम्। सर्वेणेति। उपनिषद्व्याख्यानेपि 'बह्वल्पार्थाच्छस्कारकादन्यतरस्याम्' इति पाणिनिसूत्रात् सर्वदाता सर्वशःपदार्थो बहुशःपदार्थ इति सर्वेणेत्यस्य सर्वदातृत्वेनापि प्रकारेणेत्यर्थः। तिरोभावेति। श्रुतार्थापत्त्या तिरोभावप्रकारबोधकः। पूर्वमाविर्भावादेकधा सत्यज्ञानानन्तानन्दरूपम्। इह तु 'सच्चिदानन्दता स्वत' इति निरोधलक्षणग्रन्थवाक्यादेकधा। पश्चाद्द्विधा सत्यानन्दत्वप्रकाराभ्यां तिरोभावः। ज्ञानमात्रप्रकाराभ्यां स्थितिः। एकधायां लीलाविशिष्टत्वत्रिधाभक्तित्रिशिष्टविधयोः प्रवेशे त्रिधा। तेजोऽयन्नरूपेण वा। सर्वात्मभावे संयोगोपि वर्तत इति गौरत्वश्यामत्वातिश्यामत्वप्रकारैर्वाविर्भवति। एवमग्रेपि। न च 'स्वप्राणादिसर्वतिरोधानेने'ति भाष्यात् प्राणादिप्रकारो वक्तुं योग्य इति वाच्यम्। पूर्वं भक्तस्य सायुज्यादिदशायां तथात्वेन पञ्चधा भवनादौ तन्निवेशस्य सुकरत्वाददृष्टः कथं कल्प्येत। विवेचितुमिति। महाकविप्रयोगोऽयं काव्यप्रकाशे। अतो विवेक्तुमिति नोक्तम्। विगतं वं सुखं यस्मिन्निति विवः प्रपञ्चः तस्मिन् अर्चितुं पूजयितुमिति वा। नोच्यत इति। विशेषाकाङ्क्षायां 'सदा सर्वात्मभावेन भजनीयो व्रजाधिप'इति वदद्भिः प्रभुभिस्तथैव सेवित इति तद्ग्रन्थात् तर्कणीयो विशेषः। तेनेति। प्राणादिसर्वतिरोधायकप्रकारबोधनेन। पूर्वेति। 'जातिं स्मरति पौर्विकी'मिति मनुः। 'सोऽहं' मित्याकारिका व्युच्चरणात् पश्चादविद्यासम्बन्धात् पूर्वेति प्रस्थानरत्नाकरे 'जीवस्यानुस्मृतिः सती'ति वाक्यात्। 'स्मृतिर्भक्ति'रिति रामानुजाचार्याः। ग्रन्थीनामविद्याजनितरागादिग्रन्थीनाम्। सर्वात्मभावफलत्वेन 'स स्वराड् भवती'ति श्रुत्युक्तोऽर्थो व्याख्यातः, पूर्वं 'सर्वग्रन्थीनां प्रविमोक्ष'स्तु सिद्धान्तमुक्तावल्यां 'ततः संसारदुःखस्य निवृत्ति' रित्यनेनोक्तः।

एवं सति भगवदतिरिक्तस्य स्वतो निर्दोषत्वाभावाद्भगवानेव चेत्प्राणपोषको भवेत्, तदा सर्वं सम्पद्यते। स च सर्वात्मभावे सत्येव भवति। स च तथा तद्वरणं विना न भवति। तच्चोक्तकार्यानुमेयमिति वरणलिङ्गं सर्वात्मभावः, तस्यैव

भाष्यप्रकाशः।

तु दातुं शक्नोति, एतस्य भगवत्परमकृपाप्राप्यत्वात्। तर्हि कथनमपि कुत इत्याकाङ्क्षायां सनत्कुमारस्य कृपालुत्वमाह 'तं स्कन्द इत्याचक्षत' इति। योऽसौ वरदानेन शिवस्य पुत्रोपि जातस्तेन तथेत्यर्थः। द्विरुक्तिः समाप्त्यर्था। तदेतत् सर्वं हृदिकृत्य आहुः एवं सतीत्यादि। एवं श्रुतितात्पर्यमुक्त्वा सूत्रं व्याकर्तुमाहुः स चेत्यादि। स भगवांश्च प्राणपोषकः सर्वात्मभावे सत्येव भवति। स सर्वात्मभावश्च तथा अत्यनुग्रहेण तस्य जीवस्य वरणं विना न भवति, तत् वरणं च भगवत्कृतप्राणपोषणानुमितसर्वात्मभावरूपकार्यानुमेयमिति वरणलिङ्गं सर्वात्मभावः

रश्मिः।

सोऽवान्तरफलमिति तट्टीकायाम्। परमेति। विरहसामयिकसर्वात्मभावदातृत्वं पारम्यं कृपायाम्। तथा च प्रदानवत्सूत्रभाष्यम्, 'सर्वात्मभावस्यानुभवैकवेद्यत्वेन पूर्वमज्ञानेनेति तत्त्वासम्भवेपि स्वत एव कृपया दान'मिति। वरदानेनेति। क्वचित् प्रसिद्धं पुत्रभवनम्। द्विरिति। 'वाक्यादेरामन्त्रितस्यासूयासंमतिकोपकुत्सनभर्त्सनेष्वि'ति सूत्रेण सम्मतौ द्विर्वचनं वाक्यादेरामन्त्रितस्य। 'स्कन्दिर् गतिशोषणयोः'। भ्वादिरनिट्। स्कन्दस्य शिवपुत्रत्वे। वरदातुः पितुर्वा शोकशोषकत्वम्। तद्योगरूढ्या। रूढ्यभावे तु नागयज्ञोपवीतिन्यपि स्कन्द इति प्रयोगापत्तिः पुराणमते, श्रौते तु मते वेदान्तत्वेन योगमात्रादरणात् स्कन्दति प्रकरणात् शोकम्, शोषकः 'तरति शोकमात्मवि'दिति श्रुतेः शोकस्य। इति न रूढ्यपेक्षा। इत्थं च द्विरुक्तिश्चरमवर्णध्वंसरूपसमाप्त्यर्था, श्रौतपौराणमतातिरिक्तमताप्रतिपाद्यत्वात्। श्रुतितात्पर्यमिति। यथाहुरुपनिषद्व्याख्यानकारा विश्वेश्वराः 'पूर्वप्रपाठके श्रेष्ठाधिकारिणं प्रत्येवं ब्रह्मात्मतत्त्वमुपदिष्टम्, अथोत्तरप्रपाठके मध्यमाधिकारिणः प्रति शाखाचन्द्रन्यायेन ब्रह्मणि बुद्धिस्थिरीकरणार्थं सोपानारोहणन्यायेन बोधनार्थं नामादिप्राणान्तसङ्कीर्तनद्वारा भूमाख्यं निरतिशयं तत्त्वं निरूप्यते' इति प्रपाठकाभासे। तद्भाष्ये पूर्वविकल्पसूत्रस्य निराक्रियते, तथापि 'अधीहि भगवो ब्रह्मे'त्यादिप्रपाठके नामादिप्राणान्तसङ्कीर्तनेन माहात्म्यज्ञानस्याक्षुण्णतया पूर्वप्रपाठकेनात्माभेदज्ञानस्य जातत्वेन सर्वात्मभावरूपमुख्यभक्तौ तात्पर्यम्। 'भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया, तदध्यवस्यत् कूटस्थो रतिरात्मन्यतो भवे'दिति शास्त्रार्थनिरूपके द्वितीयस्कन्धे वाक्यात्। न च यत्र 'नान्यत् पश्यती'त्यादेस्तु श्रुतेर्मुख्यभक्तावभिधावृत्तिरस्तु, किं तात्पर्येणेति चेत्, न। उक्तश्रुत्यभिधावृत्तिप्रतिपाद्यसर्वात्मभावेऽन्यासां श्रुतीनां तात्पर्यमुक्त्वेत्यर्थात्। अत्रीति। सर्वात्मभावोक्तिसन्दर्भे पुष्टिभक्तेरपि सत्त्वात् पुष्टिभक्तिकारणं सर्वात्मभावस्यापीत्याशयेनोक्तं सामान्यतो विशेषाकाङ्क्षायाम्। परमकृपयेति बोध्यम्, 'स्वत एव कृपया दान'मित्युक्तभाष्यात्। क्वचिद्भाष्ये तेन प्रकारेणेत्यर्थ इति तथापदार्थोपि दृश्यते। विनेति। 'यमेवैष वृणुत' इति श्रुतेः। भगेत्यादि। सर्वात्मभाववान् भगवत्कृतप्राणपोषणात्। इत्येवमनुमितः भक्तः सर्वात्मभाववानित्यनुमितिविषयीकृतः सर्वात्मभावस्तद्रूपं कार्यं तेनानुमेयं वरणवान् सर्वात्मभावादित्येवमनुमातुं योग्यमिति हेतोस्तथा। तस्येत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म। 'प्रभूतार्थे त्वनव्यय'मिति विश्वादाहुः सर्वत इत्यादिभाष्यार्थम्। भूयस्त्वादिति। पदेनानेन भूधातुघटितेन 'फलमत उपपत्ते'रिति सूत्रसंवाद्यर्थं एकादशसर्वस्वसर्वात्मभावमनुभवतां भूम-

भूयस्त्वात् सर्वतोऽधिकत्वात्तद्वरणमेव सर्वतः कालादेर्बलीय इत्यर्थः। यल्लिङ्गमेव सर्वतोऽधिकम्, तस्य तथात्वे किं वाच्यमिति कैमुतिकन्यायोपि सूचितः। ज्ञानमार्गीयज्ञानेन प्रतिबन्धशङ्कायामाह तदपीति। उक्तमिति शेषः। 'अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मन' इति सूत्रेण। तच्चोपपादितमस्माभिः॥ ४४॥

पूर्वविकल्पः प्रकरणात् स्यात् क्रियामानसवत्॥ ४५॥

तत्राह, नात्र वरणलिङ्गभूयस्त्वं निरूप्यते, किन्त्वात्मज्ञानप्रकारविशेष एव। तथाहि। पूर्वप्रपाठक आत्मना सहाभेदः सर्वस्य निरूपितः श्वेतकेतूपाख्यानेन, अग्रिमे च 'सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मवि'दित्यादिना नारदस्यात्मजिज्ञासैवोक्ता। एवं सत्युत्तरमपि तद्विषयकमेव भवितुमर्हति, अत आत्मप्रकरणत्वादुभयोः प्रपाठकयोः पूर्वस्मिन् यदभेद उक्तः, तस्यैव स्वरूपं 'आत्मत एवेदꣳ सर्व'-

भाष्यप्रकाशः।

सर्वतोऽधिक इति तस्य वरणमेव कालादिभ्यो बलिष्ठम्। अतः कालादिरूपप्रतिबन्धकसद्भावेपि तत्कार्यं भवत्येवेत्यर्थः। एवमत्र प्रदानवत्सूत्रोक्तसर्वात्मभावस्वरूपं सफलं श्रुत्या विवेचितं बोध्यम्। हिशब्दसूचितमर्थमाहुः यल्लिङ्गेत्यादि। सूचित इति। निश्चयार्थकहिशब्दप्रयोगेण सूचितः। सूत्रशेषमवतारयन्ति ज्ञानमार्गीयेत्यादि। आत्मादेशे 'आत्मैवेदं सर्व'मिति सर्वस्यात्मत्वेन भानं श्रावितम्। तथा सति स्वात्मन्यपि तदभेदो भासत्येव। भाते च तस्मिन् विरहभावप्रतिबन्धादुक्तरूपः सर्वात्मभावो ज्ञानमार्गीयज्ञानप्रतिबद्धो नोदेष्यतीति शङ्कायामाहेत्यर्थः। समाधिं व्याकुर्वन्ति अन्तरेत्यादि। पूर्वं भजनानन्दरूपफलदित्सायां सत्यां हि भगवता विरहभावः सम्पाद्यत इति तत्प्रतिबन्धकं न क्रियत इति तस्मिन्नधिकरण एवोपपादितमिति सा शङ्का तदनुसन्धानेनैव निवार्येत्यर्थः॥ ४४॥

पूर्वविकल्पः प्रकरणात् स्यात् क्रियामानसवत्॥ ४५॥ पूर्वोक्तमर्थं दृढीकर्तुं सूत्रद्वयेनाशङ्कते इत्याशयेनावतारयन्ति तत्राहेत्यादि। उक्त इतीत्यन्तम्। तत्राहेति। उक्तेऽर्थे पूर्वपक्षी चोदयति निरूपित इति। 'ऐतदात्म्यमिदं सर्व'मिति महावाक्ये निरूपितः। उक्त-

रश्मिः।

लक्षणं स्मार्यते। तेन विषयः प्रपाठको भवति। भूमपदस्य भूधातुघटितत्वात्। सर्वत इति। इतिहेतौ। तस्य भक्तस्य तत् वरणमेव वक्ष्यमाणकैमुतिकन्यायप्राप्तमेव। कालादिभ्य इत्यत्रादिपदेनादृष्टशीघ्रबोधोक्तसेवाचक्रादि संगृह्यते। भवत्येवेत्येवकारोऽन्यत्रादृष्टसिद्धान्तेऽयोगव्यवच्छेदकः। नीलं सरोजं भवत्येवेतिवत्। एवमित्यादि। विवेचितमिति। महाकविप्रयोगादिट्। विवे अचितमिति वा। 'अञ्चु गतिपूजनयोः।' 'अच इत्येके' इत्यस्य सेट्त्वात्। हीति। ननु सर्वात्मभावनिरूपणस्योपक्रान्तत्वात् सर्वात्मभावस्य कालादिभ्यो बलिष्ठत्वेन तत् सर्वात्मभाव एव कालादेर्बलीय इति भाष्यपाठापत्तिः, सा च सर्वात्मभावस्य पुलिङ्गत्वादयुक्ता। तत्पदस्याव्ययत्वेन तदनुरोधेन बलीय इत्येव नपुंसकत्वसमर्थने बलीयःपदस्य विशेष्यनिघ्नत्वेन बलीयानिति भाष्यपाठापत्तिरिमामाशङ्कां परिजिहीर्षवो हीत्यादिः। सूचितमिति। वाच्यार्थं तु निश्चयात्मकं स्वयमेव वक्ष्यन्ति तस्मिन्निति। सायुज्यात्मकाभेदातिरिक्तेऽभेदे। ज्ञानमार्गीयेति। ज्ञानविशेषणाद्भाष्ये॥ ४४॥

पूर्वविकल्पः प्रकरणात् स्यात् क्रियामानसवत्॥ ४५॥ तत्राहेति। क्वचिद्भाष्येऽत्राहेति पाठः। अर्थस्त्वेक एव। चोदयतीति। स्मेति शेषः। भाष्ये आहेति लिडन्तप्रयोगात्

मित्यन्तेनोक्तमिति पूर्वोक्तप्रकारादन्येन प्रकारेणात्माभेद एव सर्वस्योक्तः । तदेवाह । पूर्वस्य पूर्वप्रपाठकोक्तात्माभेदज्ञानस्य विकल्पः प्रकारभेद एवाग्रेपि निरूप्यते । तत्रोपपत्तिमाह प्रकरणादिति । एतत्तूपपादितम् । अत्र सिद्धान्तिसम्मतमेव दृष्टान्तमाह तद्धृदयसंवादार्थं क्रियामानसवदिति । यथा पूजनप्रकरणे बाह्यं तत्क्रियारूपमुच्यते, आन्तरं तु मनोव्यापाररूपमुच्यते । न ह्येतावतान्यतरस्य तद्भिन्नत्वं वक्तुं शक्यम् । प्रकरणभेदात् । तथेहापीत्यर्थः ॥ ४५ ॥

अतिदेशाच्च ॥ ४६ ॥

नामरूपात्मकं हि जगत्, तत् पूर्वं सर्वशब्देनानूद्य तस्मिन् ब्रह्माभेदो निरूपितः, अग्रे तु ऋगादिविद्या अनूद्य नामात्मकब्रह्मत्वं तत्रातिदिश्यते ।

भाष्यप्रकाशः ।

रमिति । सनत्कुमारोक्तं प्रत्युत्तरम् । व्याकुर्वन्ति तदेवाहेत्यादि । अग्रेपीति । नवमेऽस्मिन् प्रपाठके । उपपादितमिति । अवतारणग्रन्थ उपपादितम् । बाह्यं तदिति । बाह्यं पूजनम् । तद्भिन्नत्वमिति । पूजनभिन्नत्वम् ॥ ४५ ॥

अतिदेशाच्च ॥ ४६ ॥ व्याकुर्वन्ति नामेत्यादि । नामरूपात्मकं हि जगत्, तत् पूर्वं पूर्वस्मिन् प्रपाठके 'ऐतदात्म्यमिदं सर्व'मिति सर्वपदेनानूद्य, तस्मिन् ब्रह्माभेद ऐतदात्म्यपदेन निरूपितः । अग्रे अस्मिन् प्रपाठके तु, 'यद्वै किञ्चाध्यगीष्ठा' इत्यादिना नारदोक्ता ऋगादिविद्या

रश्मिः ।

अस्य च तद्व्याख्यानत्वात् । धातूनामनेकार्थत्वात् । भाष्ये । अन्येनेति । शाखासदेशे चन्द्रशाखाशब्दवज्जीवान्तर्यामितया जीवसदेशे ब्रह्मणि त्वमिति व्यपदेशः । 'य आत्मनि तिष्ठ'न्नित्यादिश्रुतेरिति प्रकारेणेत्यर्थः । यद्वा । 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासी'दितिवत्ततो जातत्वात्तदिति व्यपदेशः । 'इग्यणः सम्प्रसारण'मित्यत्र 'काकात् जातः काकः, श्येनात् जातः श्येनः, एवं सम्प्रसारणात् जातो वर्णः सम्प्रसारण'मिति महाभाष्योक्तेः । 'सन्मूलाः सौम्येमाः सर्वाः प्रजाः' इति वाक्यशेषाच्च । 'ब्राह्मणो मुखमित्येवं मुखात् जातत्वहेतुतः । यथावदच्छ्रुतिस्तद्वज्जीवो ब्रह्मेति वा भवे'दितिस्मृतेश्चेति प्रकारेणेत्यर्थः । अन्येपि प्रकारा भक्तिमार्तण्डे सन्तीति ततोऽवधेयाः । परन्तु शाखाचन्द्रन्यायः शाङ्कराणां प्रसिद्धः । ततो जातत्वनिबन्धनं तदिति पक्षोपि 'आत्मत एवेद५ सर्व'मिति श्रुतिमापातत उपजीवति । ततो द्वौ प्रकारौ युक्तौ ।

प्रकृते । नवम इति । नवमप्रपाठक इति वाक्यात् । अङ्कतः सप्तमः । अत्रेति । तत्राहेत्याद्यवतारणग्रन्थ इत्यर्थः । क्वचित्पुस्तके 'तथाचायमर्थ इत्याद्याहे'त्यन्तो ग्रन्थः, स उपेक्ष्यः, मूलपुस्तकेऽदर्शनात् । सर्वात्मभावप्रकरणानादरे बीजाभावात् । ज्ञानप्रकरणस्य पूर्वपक्षिसम्बन्धित्वेपि 'हि आत्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्ये'ति समाप्तिस्थश्रुतेः 'एतज्ज्ञानमिति प्रोक्त'मित्यव्यभिचारिणीं भक्तिं मध्येकृत्य गीतावाक्याच्च 'यत्र नान्यत् पश्यती'त्यस्या असन्दिग्धत्वान्महाप्रकरणाविरोधात् सर्वात्मभावस्य गीतामते ज्ञानत्वेन । एतदेवेति । महाप्रकरणत्वमेव । स्पष्टत्वान्न व्याक्रियते ॥ ४५ ॥

अतिदेशाच्च ॥ ४६ ॥ ऋगादिविद्येति । अत्र छान्दोग्ये विद्यापदाभावेपि मुण्डके 'द्वेविद्ये

१. 'तथाचायमर्थः । अत्र हि वरणलिङ्गं सर्वात्मभावो न भूमलक्षणवाक्यमात्रेण सिध्यति, येन प्रकरणमनादृत्य स गृह्येत, किन्तु तदारभ्य 'आत्मत एवेदं सर्व'मित्यन्तेन सन्दर्भेण, अतः सन्दर्भो यथा सर्वात्मभावबोधकमवान्तरप्रकरणम्, तथा प्रपाठकद्वयात्मबोधकं महाप्रकरणम् । तदा भूमलक्षणवाक्यस्य सन्दिग्धत्वात् प्रपाठकद्वयरूपं महाप्रकरणमेवानुसर्तव्यमित्यर्थः । एतदेव द्रढीकर्तुं हेत्वन्तरमाह ।' अयं भागः श्रीपुरुषोत्तमैः स्वयमेकवारं लिखित्वा पश्चात् लोपितो मूलपुस्तके दृश्यते ।

'नामैवैतन्नामोपास्स्वे'ति । इतोपि हेतोर्ज्ञानप्रकारभेद एवाग्रे निरूप्यत इत्यर्थः ॥४६॥

विद्यैव तु निर्धारणात् ॥ ४७ ॥

तुशब्दः पूर्वपक्षं व्यावर्तयति । यदुक्तं सनत्कुमारनारदसंवाद आत्मज्ञानप्रकारविशेष एव निरूप्यत इति, तन्न, किन्तु विद्यैव निरूप्यत इति ।

अत्रेदमाकूतम् । 'नायमात्मे'ति श्रुतिरितरसाधननिषेधपूर्वकं वरणस्य

भाष्यप्रकाशः ।

अनूद्य नामात्मकब्रह्मत्वं तत्रातिदिश्यते । तथैव मनःप्रभृतिरूपात्मकं जगत्तत्तच्छब्देनानूद्य तत्तदात्मकब्रह्मत्वं तत्रादिश्यते । अतो यथा कौण्डपायिनां सत्रे 'मासमग्निहोत्रं जुहोती'त्यग्निहोत्रनाम्ना प्राकृताग्निहोत्रधर्मास्तत्रादिश्यन्ते, तथात्र 'नामोपास्स्वेति स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्त' इत्यादिवाक्यैर्नामादीञ्जगद्रूपाननूद्य नामादिशब्दैस्तत्तदात्मकब्रह्मत्वं तेष्वतिदिश्यत इत्यतिदेशादपि हेतोर्ज्ञानप्रकारविशेष एवाग्रेऽस्मिन् प्रपाठके निरूप्यत इत्यर्थः ॥ ४६ ॥

विद्यैव तु निर्धारणात् ॥ ४७ ॥ उक्तं पूर्वपक्षं सूत्रव्याख्यानेन निरस्यन्ति तुशब्द इत्यादि । ननु विद्याशब्दो ज्ञानसामान्ये प्रसिद्धः, सर्वात्मभावस्वरूपे ज्ञानविशेषे कथं नियम्यत इत्याकाङ्क्षायां तदुपपादनाय वरणादिश्रुत्येकवाक्यतया प्रकृतश्रुतितात्पर्यं वक्तुं पूर्वं वरणश्रुतिं व्याकुर्वन्ति अत्रेत्यादि । अस्यां उक्तायां श्रुतौ वरणश्रुत्यविरुद्धं तात्पर्यं तस्माद्वरणश्रुत्यर्थं उच्यत इत्यर्थः । वरणश्रुतिस्तु 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन । यमेवैष वृणुते

रश्मिः ।

वेदितव्ये' इत्युपक्रम्य, 'तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेद' इति श्रुतेर्विद्यापदप्रयोगोऽस्ति । अतिदिश्यत इति । 'नामैवैतन्नामोपास्स्वे'ति श्रुत्यातिदिश्यत इत्यर्थः । नन्वत्र नामत्वमतिदिश्यते, न नामात्मकब्रह्मत्वमिति चेत् । न । 'स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्त' इति पूर्वार्थानुवादकश्रुत्या नामोपासनस्य नामात्मकब्रह्मोपासनत्वात् । अतिदेशस्तु अन्यत्र । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'ति प्रतिपाद्ये ब्रह्मणि प्रतीतस्य ब्रह्मत्वस्यान्यत्र नाम्नि कार्यत उपासनायाः प्राप्तिः । तदुक्तं पूर्वाचार्यैः । 'अन्यत्रैव प्रतीतायाः कृत्स्नाया धर्मसन्ततेः । अन्यत्र कार्यतः प्राप्तिरतिदेशोऽभिधीयत' इति । प्राकृताद्ब्रह्मोपासनात् तत्समानेषु नामोपासनकर्मसु धर्मप्रवेश आज्ञाविषयप्रवेशो 'नामैवैतन्नामोपास्स्वे'त्यनेन स्यात् स वेदो वातिदेशः । 'प्राकृतात् कर्मणो यस्मात् तत्समानेषु कर्मसु । धर्मप्रवेशो येन स्यात् सोतिदेश इति स्मृत' इति तैरेव । तत्तच्छब्देनेति । मनःप्रभृतिशब्देन तच्छब्दस्य द्विरुक्तावप्यर्थस्यैक्यात् । स च स चेति विग्रहे एकशेषापत्तिः । तत्तदिति । मनःप्रभृत्यात्मकब्रह्मत्वम् । अत इति । अतिदेशात् । मासमिति । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । अग्निहोत्रेति । द्वितीयलक्षणादरेणातिदेशरूपेण । तत्रेति । मासाग्निहोत्रे । अतिदिश्यन्त इति । प्रथमलक्षणेन पूर्वतन्त्रे सप्तमस्य तृतीये पादे उक्ताधिकरणेऽतिदेशा धर्मनिष्ठाः क्रियन्ते । सूत्रं तु उक्तम्, 'क्रियाभिधानं तच्छ्रुतावन्यत्र विधिप्रदेशः स्या'दिति । चतुःसूत्रमिदमधिकरणं भाष्ये प्रसिद्धम् । भाष्ये 'सायमग्निहोत्रं जुहोती'ति पपाठ भाष्यकृत् । ज्ञानेत्यादि । ब्रह्मत्वप्रकारकनाममनःसङ्कल्पादिविशेष्यकज्ञानप्रकारविशेष इत्यर्थः ॥ ४६ ॥

विद्यैव तु निर्धारणात् ॥ ४७ ॥ इदम्पदार्थमाहुः वरणेति । आकूतपदार्थमाहुः तात्पर्यमिति । भिन्नवाक्यत्वार्थं शेषं पूरयन्ति स्म तस्मादिति । उक्त्वेति । श्रुतिरुक्त्वा वृत-

साधनत्वमुक्त्वा वृतलभ्यत्वे हेतुं वदन् वरणविषयमप्याह 'तस्यैष आत्मा वृणुते तनुं स्वा'मिति । तस्य वृतस्यात्मन एष भगवानात्मा, अत एव तत्तनूरूपः स जीवात्मा । तद्वरणस्यावश्यकत्वज्ञापनाय स्वामिति । सर्वो हि स्वकीयां तनुमात्मी-

भाष्यप्रकाशः ।

तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनुं स्वा'मिति मुण्डके कठवल्ल्यां चास्ति । विवृणुत इति पाठान्तरं चास्ति । उक्त्वेति पादत्रयेणोक्त्वा । अत एवेति । भगवतो वृतात्मात्मत्वादेव । तथाच तस्यैष आत्मा सम्बन्धिनं स्वां तनुं वृणुत इत्यन्वयः । ननु माध्यन्दिनानामन्तर्यामिब्राह्मणे 'यस्यात्मा शरीर'मिति सामान्यत आत्ममात्रस्य ब्रह्मशरीरत्वश्रावणात् कथं वृतस्यैव तत्तनूरूपत्वमित्याकाङ्क्षायामाहुः तद्वरणस्येत्यादि । तथाच यद्यपि तत्र सामान्यत आत्ममात्रस्य शरीरत्वं श्रावितम्, तथापि 'य आत्मानमन्तरो यमयती'ति नियन्तव्यत्वायैव साधारण्येनैव श्रावितम्, न तु स्वकीयत्वकथनपूर्वकम् । अतः सर्वेषु शरीरत्वे साधारणेपि यं स्वीयत्वेनालोचितवाँस्तमेव वृणुत इत्यर्थः । विवृणुते इति पाठेपि विशेषेण वृणुत इत्यर्थः ।

ननु विवरणपदस्य प्रकाशनार्थकत्वाद्विवृणुत इति पाठेऽयमर्थो न लप्स्यते, किन्तु यं वृणुते तस्य स्वां तनुं प्रकाशयतीत्येवार्थो लप्स्यत इति चेत् । मैवम् । तस्मिन्नपि पक्षे तनुविवरणलिङ्गेनोक्तस्यार्थस्य लाभात् । तथाहि । सर्वेषां जीवानां तौल्येऽप्यत्र 'यं वृणुत' इति विशेषकथनाद्वरणीये कश्चिद्विशेषो विवक्षितः । सोपि न जीवे साधारणशास्त्रीयसाधनजन्मा, पूर्वार्धासङ्गत्यापत्तेः । नापि साधनाभावजन्मा, पामरपशुकीटमात्रेषु तदापत्तेः, साधनशास्त्रवैयर्थ्यापत्तेश्च । अतोन्यथानुपपत्त्या भगवदालोचनजन्मैव वाच्यः । सोपि न ज्ञानिभक्तसाधारणः । भावभेदानुपपत्तेः । 'स्वं विवृणुत' इत्येतावतैव चारितार्थ्येन तनुपदवैयर्थ्यापत्तेश्च । अतस्तनुपदानुरोधात् साकारस्यैव प्रकाशो वक्तव्यः । स तु प्रायो भक्तानामेवेति वरणविषयतया सुखेनैव भक्तो लप्स्यते ।

रश्मिः ।

लभ्यत्वे हेतुं[1] स्वात्मत्वम्, स्वात्मा ज्ञानिप्रभृतिभिर्लभ्यत इत्यलभ्यस्य लाभो वृतभक्तस्योक्तः । वदन्निति छान्दसं पुंस्त्वम् । श्रुतीनां वा सर्वात्मभावकरणात् भगवत्सेवानुकूल्यरूपं पुंस्त्वं जातमिति लीलायां प्रसादशक्तेः श्रुतिषु सत्त्वेन स्त्रीत्वविशिष्टशक्त्यवच्छिन्नश्रुतिः पुंस्त्वविशिष्टवदनकर्त्री समानाधिकरणेत्यर्थः । तादृशं पुंस्त्वं टिप्पण्यां तदादाय वेदाः प्रमाणम्, शतं ब्राह्मणा इतिवदुपपाद्यम् । सामानाधिकरण्यं च भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तत्वे सत्येकार्थबोधकत्वम् । 'लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे' इति सूत्रेण वदन्नित्यत्र शता शाब्दबोधेपि सामानाधिकरण्यमुपपादयति । वरणविषयं तनुम् । द्वितीयाया विषयार्थकत्वात् । अत्रैव श्रुतिर्वदन्निति प्रयोगः साधुः । अन्यथा मर्यादाभङ्गप्रसङ्गात् । भाष्यप्रामाण्याद्वैतादृशः प्रयोगः । वृणुत इत्यर्थ इति । न च सिद्धान्तान्तर एकव्यापकजीवपक्षस्योक्तत्वादवृतानामप्यात्मनां शरीरत्वेन वृतलभ्यालभ्यलाभापत्तिरिति शङ्क्यम् । अरूपवत्सूत्रसिद्धसिद्धान्तान्तरेपि वृतत्वाच्छेदेनालभ्यलाभाङ्गीकारात् । स्वमिति । आत्मीयम् । स्वामित्युक्ते स्त्रीत्वविशिष्टस्य स्यात्, तनुविशेषणत्वे तु भिन्नलिङ्गस्यादर्शनेन स्वामित्येव । सामान्ये नपुंसकत्वस्या(स)गतिकगतित्वात् । प्राय इति । सिद्धान्तमुक्तावलिटीकाप्रामाण्यात् 'ज्ञानिभक्तौ चेद्विशेषतोऽनुगृह्णाति पुष्टिमार्गीयां भक्तिं प्राप्नुतः । आदाविति भक्त्या व्यवधानम्, तथापि नलकूबरमणिग्रीववत् कदाचित् तयाऽव्यवधानेपि साकारप्रकाशः । कर्मठस्य सुरज्येष्ठस्यासुरव्यामोहलीलासामयिकसाकारप्रकाशः, अतः प्राय इत्युक्तम् । एवकारो 'नैषा

१. हेतुत्वम् ।

यत्वेनात्मत्वेन च वृणुते, तद्विशिष्ट एव भोगान् भुङ्क्ते । अत एव तैत्तिरीयकोपनिषत्स्वपि 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मिति सामान्यतो ब्रह्मविदः परब्रह्मप्राप्तिमुक्त्वा, अग्रिमर्चा विशेषतोऽवदन् । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'ति परब्रह्मस्वरूपमुक्त्वा, 'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिते'त्युक्तम् । एतद्यथा तथानन्दमयाधिकरणे प्रपञ्चितमस्माभिः ।

भाष्यप्रकाशः ।

यत्तु केचिदस्मिन् मन्त्रे 'यमेव परमात्मानमेष विद्वान् वृणुते प्राप्तुमिच्छति, तेन वरणेन एष परमात्मा लभ्यः, नान्येन साधनान्तरेण । नित्योपलब्धस्वभावत्वात् । कीदृशोऽसावात्मलाभ इति, उच्यते । तस्य एष आत्माऽविद्यासंछन्नः स्वां परां तनुमात्मतत्त्वस्वरूपं प्रकाशयति । प्रकाशे घटादिरिव विद्यायां सत्यामाविर्भवतीति मुण्डके व्याचक्रुः । यदपि काठके यमेव स्वमात्मानमेष साधको वृणुते प्रार्थयते तेनैवात्मना वरित्रा स्वयमात्मा लभ्यः ज्ञायते इत्येतत् । निष्कामश्चात्मानमेव प्रार्थयते । आत्मनैवात्मलाभ इत्यर्थः । कथं लभ्यत इति । उच्यते । तस्यात्मकामस्यैष आत्मा विवृणुते प्रकाशयति पारमार्थिकीं तनुं स्वां स्वकीयाम् । स्वं याथार्थ्यमित्यर्थ इति । तत्रापि तनुपदवैयर्थ्यस्य दुर्वारत्वात् वरणीयवरित्रोरभेदाङ्गीकाराच्च व्याख्येयविरोधः स्फुट एव । किञ्च । गीतायां 'एवं सततयुक्ता ये' इत्यर्जुनप्रश्ने, भगवता 'मय्यावेश्य मनो ये मा'मित्युत्तरेण, 'चतुर्विधा भजन्ते मा'मिति भजनमुपक्रम्यैव, 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मत'मिति ज्ञानिभक्तस्यैवात्मकत्वकथनेन, 'तपस्विभ्योऽधिको योगी'ति सन्दर्भे शुष्कज्ञान्यपेक्षया योगिन उत्कर्षमुक्त्वा, 'श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मत' इति भक्तोत्कर्षकथने चात्मवृतार्थस्यैवोपोद्बलनाच्च तदसङ्गतम् । अतो विवरणपदस्य प्रकाशनार्थकत्वपक्षेपि तनुप्रकाशलिङ्गेन भक्तस्यैव वरणविषयत्वं निश्चीयत इति तेष्वेव स्वीयत्वं सिध्यतीति पूर्वोक्तप्रकारे न कश्चिद्दोष इति हृदिकृत्योक्तार्थदार्ढ्याय श्रुत्यन्तरमाहुः अत एवेत्यादि । तथाच यदि लाभपदार्थः प्रकाशनरूपः श्रुत्यभिप्रेतः स्यात्, तदास्यामृचि प्राप्तिपदार्थः कामभोगरूपो नोच्येत । अतो न पूर्वोक्तेऽर्थे विप्रतिपत्तव्यमित्यर्थः । एतच्छ्रुतावपि विप्रतिपत्तिश्चेत्, तदा पूर्वग्रन्थमवलोक्य सा निरसनीयेत्याशयेन आहुः एतदित्यादि । आनन्दमयाधिकरणे अक्षरादुत्तमस्य रसरूपस्यैव

रश्मिः ।

तर्केण मतिरापनेये'ति विरोधकम् । 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्य' इत्यादिश्रुतौ नाराहवाक्याङ्गत्वप्रवेशवत् वरणश्रुतावपि भक्तिप्रवेशस्य न्याय्यत्वेन तर्काभावाद्भुते । 'वृङ् सम्भक्तौ' क्र्यादिः संविभजनार्थ इति स नोपात्तः । ननु परेषामयमर्थः, न तु वैयाकरणानाम्, सम्यक् सेवारूपसर्वात्मभावः सम्भक्तिपदार्थोऽस्तु, श्रुतौ विकरणव्यत्ययोऽस्त्विति चेत् । न । भक्तिमार्गे यद्वरणं स्वीयत्वेनाङ्गीकाररूपमिति भाष्ये विकरणव्यत्ययानङ्गीकारात् । न चेदमप्रयोजकमिति वाच्यम् । 'आचार्यवान् पुरुषो वेदे'ति श्रुतेः । इच्छतीति । ज्ञानवान् इच्छात इति ज्ञानमनुमेयम् । य इच्छति, स यतिष्यत एव । इत्तीति । इमं प्रश्नरूपं हेतुं विचार्य श्रुत्योच्यते इत्यर्थः । प्रकाश इति । सति सप्तमी । घटादिरिति । पूर्वं विद्यमान एवात्मतत्त्वं प्रकाशयति, तद्वत् । घटादेरुपादानविषमसत्ताकान्यथाभावरूपविवर्तत्वात् । अभेदेति । ननु भवतामप्यभेदाङ्गीकारोऽस्त्येवेति चेत् । न । भावाद्वैतेन पटस्तन्तव इत्यभेदप्रत्ययेपि तन्तवः पट इत्यप्रत्ययात् तादृशभेदमादायोपपत्तेः । नन्वभेदमादाय पाक्षिको दोष इति चेत् । न । उपष्टब्धत्वादित्याहुः किञ्चेति । रसरूपस्येति । एतेनानन्दमयाधिकरणोक्तः प्राप्तिपदार्थः, न

भाष्यप्रकाशः ।

परशब्दार्थत्वेन निर्णीतत्वात् परमव्योमत्वेन चाक्षरस्य तद्धाम्नो निर्णीतत्वाद्वरणेनैव तत्प्राप्तेरपि विचारितत्वात्तथेत्यर्थः ।

ननु वरणश्रुतिः काठके 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्, अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत् पश्यसि तद्वदे'ति प्रश्ने, 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ती'त्यादिना, 'एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्मे'ति प्रकृत्य पठिता । मुण्डकेपि 'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते यत्तदद्रश्यमग्राह्य'मित्यक्षरमेवोपक्रम्य पठिता । एवं सति पुरुषोत्तमप्रसङ्गस्य कुत्राप्यदर्शनात् कथमत्रैवं भगवत्परत्वेन व्याख्यायत इति चेत् ।

अनवधाय वदसि । काठके सर्ववेदवेद्यत्वं परस्यैवोच्यते । तत्र वाच्यवाचकाभेदविवक्षया प्रणवे वक्तुमक्षरपदेन प्रणवं परामृश्य, तत्र ब्रह्मत्वमुपासनासाधनत्वाय विधीयते मन्त्रद्वयेन । ततो 'न जायते न म्रियते वे'ति मन्त्रद्वयेनोपासकस्वरूपमुक्त्वा, 'अणोरणीयान् महतो महीया'नित्यादिमन्त्रत्रयेण तस्य परस्यात्मनो विरुद्धधर्माश्रयत्वादिकमुक्त्वा, तस्य ज्ञानं कथमित्याकाङ्क्षायां 'नायमात्मे'ति पठ्यते । अतो नात्र तद्गन्धः । मुण्डकेपि प्रथमे मुण्डके 'यत्तदद्रश्यमग्राह्य'मित्यादिना सर्वकारणत्वेनाक्षरं प्रस्तुतम्, द्वितीयेपि 'यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिङ्गा' इति मन्त्रेण तस्मात् सजातीयविजातीयसृष्टिमुक्त्वा, 'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः । अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः पर' इति मन्त्रे पूर्वोक्तादक्षरात् परतः परोऽतिरिक्त उक्तः । तृतीयेपि 'द्वा सुपर्णे'त्यनेनान्तर्यामितया तमेव परामृश्य ततो 'जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीश'मित्यादिना तद्दर्शनफलमुक्त्वा, ततो 'ज्ञानप्रसादेने'त्यनेन निष्कलध्यानात्तद्दर्शनमुक्त्वा, ततो ज्ञानप्रसादेपि न स्वसा-

रश्मिः ।

तु व्यापनरूप इति ध्वन्यते । न च कामिनामालिङ्गने कामिन्यादिव्याप्तीच्छासत्त्वा'दश्नुत' इत्यत्र रसरूपत्वेपि व्याप्त्यर्थोऽस्त्विति वाच्यम् । 'लोकवत्तु लीलाकैवल्य'मिति सूत्रात् तावत्याः शरीरप्रतिबद्धाया व्याप्तेः स्वीकारात् । अनवेति । 'एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म, एतद्ध्येवाक्षरं पर'मिति श्रुतौ ब्रह्मपरयोः शब्दवैलक्ष्याहितवैलक्षण्यमनवधाय । परस्यैवेति । अनिदमित्थतयेति शेषम् । ईक्षत्यधिकरण उपपादनादेवकारोऽवधारणे । न'न्वेतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्मे'त्यनेन सर्ववेदवेद्यत्वमक्षरेपि श्रुत्योच्यते, तत्राहुः तत्रेत्यादि । प्रणव इति । 'नवीनभावजनक' इत्यादिगायत्र्यर्थकारिकातस्ताद्दृशोऽर्थो ध्वन्यते । अकार उकारो मकारोऽर्धमात्रा चेत्येतच्चतुष्टयात्मके ब्रह्मरुद्रविष्णुकृष्णरूपे वाचक इत्यर्थः । विधीयते, नत्वारोप्यते । तथा च परस्येक्षत्यधिकरणे कृष्णस्य 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इति श्रुतिप्राप्ताशब्दत्वं निषिध्यते तद्द्वारानिदमित्थतया सर्ववेदवेद्यत्वं इतरत्र तु वर्तत एवेदमित्थतया सर्ववेदवेद्यत्वम् । श्रुतिश्च 'ओमित्येतत् । एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म, एतद्ध्येवाक्षरं पर'मिति । परं कृष्णरूपम् । परपदार्थस्यानन्दमयाधिकरणे निरूपणात् । एतच्चादृश्यत्वाधिकरणे समन्वयाध्यायद्वितीयपादे निपुणतरमुपपादितम् । मन्त्रेति । 'एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म, एतद्ध्येवाक्षरं परम् । एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छसि तस्य तत् । एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् । एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते' इति मन्त्रद्वयेन । तस्य प्रणवार्धमात्राप्रतिपाद्यस्य । ज्ञानमिति । फलात्मकम्, न तु साधनात्मकम् । सर्वेति । तथा च सर्वकारणे निरङ्कुशजगज्जन्मादिकर्तृत्वेन शास्त्रप्रतिपाद्यत्वरूपलक्षणसङ्गत्या परमे ब्रह्माक्षरात्मकं प्रस्तुतमित्यर्थः । **अतिरिक्त** इति । गोकुले नित्यलीलाकर्ता । 'तानि परे तथा ह्याहे'ति व्याससूत्रात् । इत्तीति । शङ्करभाष्ये प्रतिपाद्यान्तराभावादिति भावः । छान्दोग्ये सामशाखायां काठकं यजुःशाखायां मुण्डकं शाखान्तरम् ।

किञ्च । पुरुषोत्तमलाभे हेतुभूतं तु भक्तिमार्गे यद्वरणं स्वीयत्वेनाङ्गीकाररूपं

भाष्यप्रकाशः ।

मर्थ्येन पश्यति, किन्तु तत्सामर्थ्येनैवेत्याशयेन 'नायमात्मे'त्यादिकं पठ्यते । तेनोभयत्रापि पुरुषोत्तम एव प्रकृत इत्यनवद्यम् ।

एतदेव गीतायामुपबृंहितम् । 'द्वाविमौ पुरुषौ लोक' इत्यारभ्य, 'प्रथितः पुरुषोत्तम' इत्यन्तेन ।

ननु तथापि शाखान्तरस्थस्य वाक्यस्य कथमेतच्छेषत्वमिति चेत्, ऐकार्थ्यादिति ब्रूमः । 'हानौ तूपायने'ति सूत्रे, कुशाच्छन्दःस्तुत्युपगानदृष्टान्तेषु भाल्लविनां 'कुशा वानस्पत्या स्थिता मा पाते'ति निगमस्थवाक्यशेषत्व'मौदुम्बर्यः कुशा' इति शाट्यायनिवाक्ये सर्वैर्भाष्यकारैरादृतम् । जैमिनिना च बाधलक्षणे 'अपि तु वाक्यशेषः स्यादन्याय्यत्वात् विकल्पस्य विधीनामेकदेशः स्या'दिति सूत्रे 'नानुयाजेष्वि'ति वाक्यस्य 'आश्रावयाऽस्तु श्रौषट् यज ये यजामहे वष'डिति-दूरस्थवाक्यशेषत्वमादृतम् । तस्मान्नात्र शङ्कालेशः ।

ननु तथापि तेषु तेषु भक्तेषु वरणमपि तत्तदनुरूपमनेकविधमिति रसमार्गीयमेवात्र कथं ग्रहीतुं शक्यत इत्याकाङ्क्षायामाहुः किञ्चेत्यादि । तथाचाग्रिमश्रुत्या तथावसीयत इत्यर्थः । श्रुतिस्तु

रश्मिः ।

कुशेति । 'कुशा च छन्दश्च स्तुतिश्चोपगानं च कुशाच्छन्दस्तुत्युपगानानि तेषु तद्वत् । ससम्यन्ताद्वतिः । अयं सूत्रैकदेशस्य भाष्यकाराणां समासः । भाल्लविनामिति । एतेषां कचित् प्रसिद्धा शाखा । कुशेति । 'भो कुशा यूयं वानस्पत्या वनस्पतियोनयः ख्याता इत्थंभूता यूयं मा मां पात रक्षते'त्यर्थः । शाट्येति । खाण्डिकेयानां पञ्चभेदा भवन्ति । कालेताः शाट्यायनी हिरण्यकेशी भारद्वाज्यापस्तम्बी चेति । शाट्यायनिनस्तैत्तिरीयशाखास्थाः । छन्द आदिषु तु श्रुत्यन्तरगतविशेषान्वयो वक्ष्यते । यथा 'नवाक्षराणि छन्दांस्यासुराणि, अन्यानि दैवतानि, तेषां कचित् छन्दोभिः स्तुवते' इत्यत्राविशेषप्राप्तौ 'देवछन्दांसि पूर्वाणी'तिपैङ्ग्याम्नानाद्विशेषग्रहः प्रतीयत इत्यर्थः । यथातिरात्रे षोडशिनो ग्रहस्याङ्गभूतं स्तोत्रं कदेति छान्दोगादीनामाकाङ्क्षायामुदयसमयाविष्टे सूर्ये षोडशिनः स्तोत्रमिति समयाध्युषिते सूर्य इत्यार्चश्रुतेः कालविशेषग्रह इत्यर्थः । ऋचो धीयत इत्यार्चाः । 'यथार्त्विज उपगायन्ती'ति विशेषश्रुतेर्नाध्वर्युरुपगायतीति श्रुत्यन्तरादध्वर्युभिन्ना ऋत्विज उपगायन्तीत्यर्थविशेष इति भाल्लविनः । ननु भवद्भिः किं विचारितमित्यत आहुः **जैमिनिने**ति । इदं सूत्रं दशमस्याष्टमे पादेऽस्ति । पर्युदासाधिकरणसिद्धान्तसूत्रम् । सूत्रार्थस्तु, यज्ञमात्रे ये यजामहे इति प्रयोक्तव्यमिति श्रुतम् । नानुयाजेषु ये यजामहं करोतीत्यपि श्रुतम् । तत्र नकारस्य निषेधार्थकत्वेऽतिरात्रे षोडशिग्रहणाग्रहणयोरिवानुयाजेषु यज्ञत्वाविशेषात् प्रयोक्तव्यम्, निषेधान्न प्रयोक्तव्यमिति विकल्पः स्यात्, तस्यान्याय्यत्वाद्ये यजामहविधेरेव नानुयाजवाक्यमेकदेशः स्यात्, पर्युदासवृत्त्या विधिवाक्यशेषः स्यादिति यावत् । तथा चानुयाजभिन्नेषु यागेषु 'ये यजामह' इति प्रयोक्तव्यमित्येकवाक्यतेति । ननु ये यजामहे वषडिति वाक्ये 'ये यजामहे' इति प्रयोक्तव्यमिति कथं श्रुतमिति चेत् । न । नानुयाजेष्विति निषेधस्य प्राप्तिपूर्वकत्वेनानुयाजसम्बद्धेन नेत्यनेन शब्देनानुयाजव्यतिरिक्तेषु 'ये यजामहः कर्तव्य' इति श्रुत्यर्थे ये यजामहस्य कर्तव्यतानुयाजेषु प्राप्तानुयाजव्यतिरिक्तयागेषु प्राप्यत इति ये यजामह इति प्रयोक्तव्यमित्यस्य लाभात् । न च नेत्ययंशब्दः करोतिना सम्बध्नात्विति वाच्यम् । तदा ये यजामहं न करोतीत्येवं प्रतिषेधः स्यात्, तस्यानिष्टत्वात् । पर्युदासः सदृग्ग्राही तदर्थको नशब्दः । करोतीत्यस्याधिकरणमालायां कर्तव्य इति

तदेव, न त्वन्यादृशमपीति ज्ञापनायाग्रे वदति 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्य' इति। बलकार्यं हि प्रभुवशीकरणम्। नच 'अहं भक्तपराधीनः' 'वशे कुर्वन्ति मां

भाष्यप्रकाशः ।

मुण्डके 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गा'दिति । ननु श्रुतौ बलशब्दो वर्तते, न तु भक्तिशब्द इति कथं तेन तन्निश्चय इत्याकाङ्क्षायां बलशब्देन तत्प्राप्तिमुपपादयन्ति बलकार्यमित्यादि । नच बलशब्दस्य शरीरसामर्थ्ये प्रयोगदर्शनाद्भक्तौ तस्य लाक्षणिकत्वं स्यादिति शङ्क्यम् । वशीकारके यस्य कस्यापि सामर्थ्ये तत्प्रयोगदर्शनात् । तृतीयस्कन्धे कपिलवाक्ये 'बलं मे पश्य मायायाः स्त्रीमय्या जयिनो दिशाम्। या करोति पदाक्रान्तान् भ्रूविजृम्भेण केवल'मिति भ्रूविजृम्भसामर्थ्येपि तत्प्रयोगात् । अतः कार्यादिशब्दवत्सापे-

रश्मिः ।

विवरणात् लेडाश्रयणम् । तेषां तव्यदादीनां विधौ विधानात् । लेटोपि लिङर्थे विधानात् । आश्रावयेतिश्रुतौ श्रौषट् वषडिति हविर्धानार्थकाव्ययौ । अनेकेति । यथा 'तं काचिन्नेत्ररन्ध्रेण हृदिकृत्य निमील्य च। पुलकाङ्ग्युपगूह्यास्ते योगीवानन्दसम्प्लुते'ति फलप्रकरणे निर्गुणभक्तवरणं योगिवत् कामसम्बन्धव्यतिरेकेण । रसेति । विवादाभावाय काव्यप्रकाशादौ स्नेहमार्गैक्येन रसशास्त्रं प्रपञ्चितमित्युभयोरैक्याभिप्रायेण । तदुक्तं 'कामाद्द्वेष्य' इति । वस्तुतस्तु 'आत्मकाम' इति श्रुत्युक्तो वेदयोग्य एव कामो वाक्ये ग्रहीतुं शक्यः, भगवतः श्रीकृष्णस्यात्मत्वात्। तत्र काचित् श्रीकृष्णप्रेमवती काचिद्वेदान्तश्रुतिर्वैराग्योत्कर्षवती श्रीकृष्णे शृङ्गारवती । कोशे प्रेमशृङ्गारयोर्नाम्नां भेदात् । 'प्रेमा नाप्रियताहार्द' मित्यादौ 'शृङ्गारः शुचिरुज्ज्वल' इत्यत्र च । तथापि 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म, अग्निर्देवता ब्रह्म' इत्यार्षं गायत्र्यं छन्दः परमात्मं स्वरूपं सायुज्यं विनियोगमायातु वरदा देवी, अक्षरं ब्रह्म सम्मितं गायत्र्यं छन्दसां मातेदं ब्रह्म जुषस्व म' इति सन्ध्याश्रुतेः 'स्त्रीद्वारा पुरुषे भवे'दिति स्त्रीणां कामावश्यकतया भेदो युक्त उभयेषाम् । अग्रे 'वशे कुर्वन्ति मां भक्त्ये'ति भाष्याच्च । तत्र 'सत्स्त्रियः सत्पतिं यथे'ति दृष्टान्तात् । यदि च 'आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्य' इति जीवप्रकरणगीतायाः कयप्यकामुकीति प्रेमवत्याः कामाभावे शृङ्गारवतीतो भिन्ना, तदा तु भक्तिमार्ग इति भाष्यं पुष्टिभक्तिमार्ग इत्यर्थकम्, प्रकरणात् दर्शनाच्चेतिसूत्राच्च । तत्र पुष्टिमार्गीयभक्तोदाहरणात् । क्वचिति । भ्रूविजृम्भः सामर्थ्यं भ्रूविजृम्भसामर्थ्यमिति कर्मधारयः । कार्यादीति । यथा कस्य कार्यम्, कस्य शब्दः इत्यत्र कुविन्दस्येत्याद्युक्तौ कार्यं पटत्वेन घटत्वेन कुड्यत्वेन कुसूलत्वेन गृह्यते, यथा वा किं कार्यम्, कः शब्दः, को घटः इत्यत्र पटः कार्यम्, घटः कार्यम्, कुड्यं कार्यम्, कुसूलं कार्यमित्युक्तौ कार्यत्वेन पटादीनां ग्रहणम्, पटः पृथ्वी ताम्रपटस्य पृथ्वीत्वेन ग्रहणवत् । आकाशस्येत्याद्युक्तौ आकाशतन्मात्रत्वेन पार्थिवत्वेन शब्दो गृह्यते, यथा वा ध्वनिः शब्दः 'श्रोत्रग्राह्यो गुणः शब्द' इत्यत्र शब्दत्वेन ध्वन्यादीनां ग्रहणम् । को घट इत्यत्र 'घटः पृथिवी'त्युक्तौ पृथिवीत्वेन घटस्य । एवं कस्य बलं किंबलमित्यत्र भक्तस्य मायाया इत्युक्तौ भक्तित्वेन भ्रूविजृम्भत्वेन बलं गृह्यते, एवं भक्तिर्बलम्, भ्रूविजृम्भो बलमित्युक्तौ बलत्वेन भक्तेर्भ्रूविजृम्भस्य ग्रहणमिति कुम्भपदेन घटग्रहणवद्बलपदेनाभिधया वृत्त्या भक्तिग्रहणमिति बलपदस्य भक्तमायाभक्तिभ्रूविजृम्भैः सापेक्षा वृत्तिरभिधाख्या यस्य तत्त्वात् । सामर्थ्यं भक्तिरूपं बलरूपं वा तद्रूपत्वं भक्तावादाय भक्तित्वेन बलत्वेन वा बलपदप्रयोगः । बलभक्तिनिष्ठं सामर्थ्यमेकमिति भक्तिस्थाने बलपदप्रयोग इति नार्थः, 'सिंहो माणवक' इतिवत् गौण्या-

भक्त्ये'त्यादिवाक्यैर्भक्त्यैवेति बलशब्देन भक्तिरुच्यते। अन्यथा पूर्ववाक्य एवेतरनिषेधस्य कृतत्वात् पुनर्बलाभावनिषेधं न कुर्यात्। वरणमात्रस्य हेतुत्वमुक्त्वा

भाष्यप्रकाशः ।

क्षवृत्तिकत्वात् सामर्थ्यरूपत्वमादाय तथा प्रयोग इति न लाक्षणिकत्वगन्धोपि । नचैते वाक्ये गुणावतारस्य विष्णोः, न तु भगवत इति कथमेताभ्यां भक्तौ पुरुषोत्तमवशीकारकत्वसिद्धिरिति शङ्क्यम् । एकादशस्कन्धीयचतुर्दशाध्याये 'न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव । न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिते'ति भगवद्वाक्येपि साधयतिना स्ववशीकारस्यैव बोधनादस्यैवार्थस्य सिद्धेः । तद्वाक्योपन्यासस्तु स्फुटार्थत्वात् गुणावतारेपि मूलधर्मसमानधर्मताबोधनार्थत्वाज्ज्ञेयः । ननु तथाप्यत्र भक्तिरूपमेव बलं विवक्षितम्, न इतरदात्मनिष्ठाजनितवीर्यादिरूपमित्यत्र किं गमकमित्यत आहुः अन्यथेत्यादि । तथाच पूर्ववाक्योक्तनिषेधेनैव साधनजनितबलस्याभावे प्राप्तेपि यः पुनर्बलाभावनिषेधः, तदन्यथानुपपत्तिरेवात्र भक्तेर्विवक्षितत्वगमिकेत्यर्थः । ननु पूर्ववाक्ये प्रवचनादीनां त्रयाणामेव निषेधः, नेतरेषामिति तत्प्राप्त्यर्थमत्र बलाभावनिषेधात्र तदनुपपत्तिरित्याकाङ्क्षायां तन्निवारणाय हेत्वन्तरमाहुः वरणेत्यादि । तथाच तत्रोत्तरार्धे एवकारेण वरणस्यैवात्मलाभहेतुतानिश्चायनात् पूर्वार्धोक्तानां प्रवचना-

रश्मिः ।

पत्त्या 'न लाक्षणिकत्वगन्धोपी'त्यस्याग्रेतनग्रन्थस्य विरोधात् । न च घटस्य कलशत्वेनोपादानवत् पर्यायभूतसामर्थ्यरूपत्वमादाय बलपदप्रयोग इति वाच्यम् । घटे वक्तव्ये कलशपदप्रयोगवत् सामर्थ्ये वक्तव्ये बलपदप्रयोग इत्यत्र गमकाभावात् । न च श्रुतिरेव गमिकेति वाच्यम् । उक्तस्थले घटस्य कलशत्वेनेव सामर्थ्यस्य बलत्वेन ग्रहणापत्तेः 'सामर्थ्यरूपत्वमादाये'ति ग्रन्थविरोधात् । अत एव 'बलशब्देन भक्तिरुच्यत' इति भाष्येण बलत्वेन भक्तिरुक्ता । घटः कलशत्वेन यथा । बलभक्त्योः पर्यायता भाष्ये उपपादिता । बलभक्तिसामर्थ्यानां भाष्यप्रकाशे । गुणेति । नवमस्य निबन्धे 'ब्रह्मण्योपि हरिस्तस्य व्रतार्थं न व्यमोचय'दित्यत्र हरिर्गुणावतारो विष्णुः । आवरणभङ्गे 'त्रिभिर्देवैररक्षणे हेतुमाहु'रित्याभासात् । 'विष्णुचक्रोपतापितः' 'विष्णुचक्रं सुदर्शन'मिति शुकवाक्याभ्यां च । 'ततो निराशो दुर्वासाः पदं भगवतो ययौ । वैकुण्ठाख्यं यदध्यास्ते श्रीनिवासः श्रिया सहे'ति वाक्यादक्षराधिष्ठातुः श्रीपुरुषोत्तमस्येति यदि विभाव्येत, तदा तु न शङ्कावकाशः । आत्मेति । उपनिषद्भाष्याद्युक्तम् । नन्विति । तस्य बलाभावनिषेधस्यान्यथानुपपत्तिः, सा च अर्थान्तरकल्पनया समाधेयत्वेनोच्यमानप्रमाणसिद्धयोर्द्वयोरर्थयोः परस्परं प्रतिघातः । प्रस्थानरत्नाकरे द्वारमित्यादावेकस्यैव प्रमितत्वाद् द्वयोरर्थयोरिति द्वित्वं त्याज्यमिति स्थितम् । तथा च भक्तिरूपार्थान्तरकल्पनया समाधेयत्वेनोच्यमानप्रमाणसिद्धं बलाभावनिषेधस्तस्य पूर्ववाक्योक्तेतरनिषेधेन प्रतिघातः । तत्समाधानाय भक्तिरूपार्थान्तरकल्पनमर्थापत्तिः, एवं तदन्यथानुपपत्तिर्भक्तेर्विवक्षितत्वगमिकेत्यर्थः । नन्वन्यथानुपपत्तिः प्रमाणम्, अत्र बलं भक्तिरिति प्रमायां नार्थापत्तिरिति चेत् । न । प्रमाकरणत्वाभावादन्यथानुपपत्तेस्तादृशप्रमाकारणत्वेनाभ्युपगमात् । अर्थापत्तेः शब्दरूपप्रमाणानुग्राहकत्वेन 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्य' इति शब्दप्रमितार्थो बलरूपः, तस्य ज्ञानं भक्तित्वेन तस्य दार्ढ्यहेतुत्वात् । अभ्यासादिवत् । न चार्थापत्तेः प्रमाणत्वविरोध इति वाच्यम् । शब्दलक्षणप्रमाणानुग्राहकत्वरूपप्रामाण्यात् । अभिहितान्यपपत्तिरियम्, 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेते'त्यत्र वाक्यगतज्योतिष्टोमस्य परेषां क्षणिकतया स्वर्गसाधनतानुपपत्त्या मध्यवर्त्यपूर्वं कल्प्यत इति वेदान्तपरिभाषाकारोक्तेः । विशेषप्रपञ्चस्तु प्रस्थानरत्नाकरे द्रष्टव्य एव । वरणस्येति । न च 'यमेवैष'

बलस्य तथात्वं च न वदेत् । एतादृशस्य हृदि भगवत्प्राकट्यं भवतीत्याह 'एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधामे'ति । अस्यार्थस्त्वेष आत्मा आत्मनोऽप्यात्मा पुरुषोत्तमः ब्रह्म अक्षरब्रह्मात्मकं धाम विशते इति । धामपदं पुरुषोत्तमस्याक्षरं ब्रह्म सहजं स्थानमिति ज्ञापनार्थमुक्तम्, अन्यथा न वदेत् । तेन तद्धृदये स्वस्थानमाविर्भावयित्वा स्वयं तत्र प्रकटीभवतीति

भाष्यप्रकाशः ।

दीनां जीवकृतयावत्साधनोपलक्षकत्वे सिद्धे बलाभावानुपपत्तितादवस्थ्येऽस्मिन् बलाभावनिषेधमुखेन बलहेतुताबोधनात्तद्बलं लौकिकमार्यादिकबलाभ्यामतिरिक्त भगवदनुग्रहजन्यं पुष्टिमार्गीयमेव ग्राह्यम् । तच्चोक्तरीत्या भक्तिरूपमेवेत्यतः सैवात्र गृह्यते । बलपदस्य सामर्थ्यसामान्ये शक्तत्वेऽप्युक्तयुक्त्या तद्विशेष एव पर्यवसानादित्यर्थः । एवञ्चैतदग्रे प्रमादस्यालिङ्गतपसश्च यो निषेधः, तेनाप्रमादस्य सलिङ्गतपसश्च सहकारिता बोध्यते । तत्राप्रमादो भगवदिच्छानुरूपसेवाकरणादिरूपः । सलिङ्गं तपश्च सर्वात्मभावसहितविरहभावरूपं ज्ञेयम् । एतदुत्तरार्धमवतार्य व्याकुर्वन्ति **एतादृशस्येत्यादि** । **तद्धृदय इति** । तस्यैवं यतमानस्य हृदये । ननु भवत्वेवं श्रुतिद्वयार्थः, तथापि पूर्वसूत्राभ्यां यदस्यात्मप्रकरणादिना जीवब्रह्माभेदपरत्वमाशङ्कितम्, तस्य कथं परिहार इत्याकाङ्क्षायां

रश्मिः ।

इत्यत्र यमेव वृणुते तेन लभ्य इत्यर्थः, तदुक्तम्, 'केवलेन हि भावेने'त्युपक्रम्य, 'येऽन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसे'ति, तस्मान्नायमवकारान्वय इति शङ्क्यम् । एवमन्वये पुष्टिभक्तिमात्रसङ्ग्रहे मार्यादिकानां भक्तानामसङ्ग्रहापत्तेः । नन्वेवमेव विवक्षितं सिद्धान्तमुक्तावलीटीकायाम्–'ज्ञानिभक्तौ चेद्विशेषतोऽनुगृह्णाति, तदा पुष्टिभक्तिं प्राप्नुतः आदा'विति ग्रन्थात्, वक्ष्यन्ति च 'फलमत उपपत्ते'रिति सूत्रभाष्ये इति चेत् । न । येन केनापि लभ्य इति प्राप्तौ तदर्थं वृणुत इत्यस्यावश्यवक्तव्यत्वेन तत्रान्वयौचित्यात् । न चैवमपि वरणकर्त्रोन्वयोस्तु, तावतापि पुष्टिभक्तिप्राप्तेर्वृणुत इत्यस्य 'वरणं कुरुत' इत्यर्थाद्वरणरूपप्रकृत्येकदेशान्वयोऽनुचित इति शङ्क्यम् । यमेव वरणमेव वरणकर्तैवेति त्रेधान्वयेपि वरणस्यैव मुख्यत्वात् । 'वरणमात्रस्य हेतुत्वमुक्तत्वे'ति भाष्यात् । **अस्मिन्निति** । 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्य' इति वेदे । **उक्तेति** । अन्यथानुपपत्तिरूपकारणकजन्यावलम्बभक्तिरूपमेवेत्याकारकप्रमेत्युक्तरीत्येर्थः । **उक्तेति** । भाष्योक्तयुक्त्येत्यर्थः । 'पुनर्बलाभावनिषेधं न कुर्यात्', 'बलस्य तथात्वं न वदे'दित्यन्यथाज्ञानरूपयेत्यर्थः । 'स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेय' इति सूत्रे भाष्ये बलं सर्वात्मभाव इत्यात्रेयः । **बोध्यते इति** । 'भक्त्या जानाति चाव्यय'मित्यादौ भक्तौ कारणता, इतरयोः भक्त्या सहकारितेत्यर्थः । प्रमादोऽनवधानता, तदभावोऽप्रमादः स ईदृशो विवक्षित इत्याहुः **तत्रे-त्यादि** । सेवाकरणकथास्वस्थित्यादिरपि प्रमादकः । भगवदिच्छानवधानात् । अतो विशेषणं **भगवदिच्छेति** । मता तरीयोऽर्थो लौकिकपुत्रपश्वादिविषयासङ्गनिमित्तात् प्रमादादिति 'शमदमाद्युपेतः स्या'दिति सूत्रे स ज्ञानमार्गीयः । भजनस्य द्वितीयदलमाहुः **सलिङ्गमिति** । 'भक्त्याहमेकया ग्राह्य' इति वाक्ये एकपदेन मुख्यभक्तेरुक्तेः । भाष्येऽप्यादिपदेनास्या अप्युक्तेः । अतो विशेषणं **सर्वात्मभावेत्यादि** । अत्र सर्वस्मिन्नात्मभाव इति समासः स्फूर्त्या विवक्षितत्वात् सा लिङ्गं भवति, तया तपोरूपविगाढभावानुमानात् । विगाढभाववान् स्फूर्तेरिति । इतरद्व्याख्यानं तपोत्र ज्ञानं लिङ्गं संन्यास इति । तत्तु ज्ञानस्य सञ्चारिभावत्वेनात्मलाभाहेतुत्वेन संन्यासस्य 'दर्शनाच्चे'ति सूत्रे व्रजसीमन्तिनीनामुदाहरणेन तासां त्यागोऽङ्गमिति सर्वात्मभावाङ्गत्वेन पूर्वं सिद्धत्वात् ज्ञानमार्गीयम् । 'सोऽध्यक्ष' इति सूत्रे भाष्येऽभ्युप-

ज्ञाप्यते । प्रकृते श्वेतकेतूपाख्याने परोक्षवादेन ब्रह्माभेदबोधनेन पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वयोग्यता ज्ञाप्यते । अग्रे तु न ह्येतावतैवाधिष्ठानात्मकाक्षराविर्भावो भवति, पुरुषोत्तमस्य वा । तथा सति ज्ञानिनां सर्वेषां परप्राप्तिः स्यात्, नत्वेवम्, 'भक्त्याहमेकया ग्राह्य' इत्यादिवाक्यैः, किन्तु भगवदनुग्रहेण भक्तसङ्गेन च भक्तौ सत्यामिति ज्ञापनाय भक्त एव तद्बोधाधिकारीत्यपि ज्ञापयितुं भक्तस्य नारदस्य भगवदावेशयुक्तस्य सनत्कुमारस्य च संवाद उक्तः । तत्रात्मशब्देन पुरुषोत्तम उच्यते । भक्तिमार्गे तु निरुपधिस्नेहविषयः स एव यतः । स तु सर्वात्मभावैकसमधिगम्य इति सर्वात्मभाव एव विद्याशब्देनोच्यते । परमकाष्ठापन्नं यद्वस्तु, तदेव

भाष्यप्रकाशः ।

पूर्वस्यास्य च तात्पर्यमाहुः **प्रकृत इत्यादि** । प्रकृते छान्दोग्यस्य आत्मवाक्ये श्वेतकेतूपाख्याने, अन्यार्थमन्यकथनरूपो यः परोक्षवादस्तेन जीवस्याक्षरब्रह्माभेदबोधनेन पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वयोग्यता ज्ञाप्यते, अग्रे तदग्रिमप्रपाठके तु 'न ह्येतावते'त्युक्तरीत्या योग्यतामात्रेण न सः, किन्तु भगवदनुग्रहभक्तसङ्गाभ्यां जातायां भक्तौ स इति ज्ञापयितुं तयोः संवाद उक्तः, तस्य च संवादस्य भक्तिमार्गीयलिङ्गवत्तया तथात्वात् तत्रत्यात्मशब्देन तन्मार्गे निरुपधिप्रीतिविषयः पुरुषोत्तम एवोच्यते, न जीवात्मा, नाप्यक्षरब्रह्म, पुरुषोत्तमस्तु सर्वात्मभावैकप्राप्य इति स एव सर्वात्मभावो विद्याशब्देनोच्यते । किञ्च, 'परमकाष्ठापन्न'मित्याद्युक्तरीत्या वेदान्तस्यापि पुरुषोत्तम एव तात्प-

रश्मिः ।

गमादिभ्य' इत्यत्रादिपदात् भगवद्वशीकरणसमर्थः स्नेहः । प्रभ्वनिङ्गितार्थत्यागस्तदनुरूपं भजनं चाप्रमादसलिङ्गतपो बलपदार्थत्वेन व्याकृतम् । तत्र भगवद्वशीकरणसमर्थः स्नेहो बलं सर्वात्मभावपदवाच्यमुख्यभक्तिः । प्रभ्वनिङ्गितार्थत्यागस्तदनुरूपं भजनं च बलमप्रमादः । इङ्गितपदेन कोशे काल उक्तः, अत्र त्विच्छोक्ता । कोशे कियतां शब्दानां नामनारायणादिकोशेषु पाठात् । **पूर्वस्येति** । जीवब्रह्माभेदपरत्वस्य । **परोक्षेति** । आनन्दमयाधिकरणे विवृतः । **पुरुषोत्तमेति** । भक्तिरसत्वात् स्पष्टं नोक्तम् । **भगवदित्यादि** । भक्तिहेतौ स्पष्टम् । **अग्रे त्वित्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म अग्रे तदिति** । **भक्तेति** । ननूपासनामार्गीया भक्तिः 'सत्सङ्गलब्धया भक्त्या मयि मां य उपासिते' इति वाक्यादिति चेत् । न । उपासनामार्गस्य गोपालतापिनीय उक्तत्वात् गोपालतापिनीयस्य सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणादावुदाहृतत्वात् पाठक्रमस्य भक्तिनिरूपणोत्तरमुपासनानिरूपणात् तथात्वात् । यद्वा । मुख्यभक्तिप्रकरण उपासनाया अयुक्तत्वात् 'सत्सङ्गान्मामुपागता' इति पुष्टिप्राकरणिकवाक्योक्तसत्सङ्गो गृह्यते, अत एव सत्सङ्गपदं विहाय भक्तसङ्गपदम् । **स त्वित्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म पुरुषोत्तम इति** । **तथेति** । उक्तज्ञापकत्वात् । **तयोरिति** नारदसनत्कुमारयोः । **तत्रेत्यादि** भाष्यं विवृण्वन्ति **स्म तस्य चेत्यादिना** । **यत इति** भाष्यीयपदस्यार्थोऽयम् । विद्यापदमक्षराधिगमके मुण्डके उक्तं पुरुषोत्तमाधिगमके सर्वात्मभावपदे विद्यापदं कुत इत्यपेक्षायां **परमेत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म किञ्चेति** । इत्यादिवक्ष्यमाणभाष्योक्तरीत्या । **तात्पर्यमिति** । 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ती'ति श्रुतौ हीदमित्थतया निरूपणं 'यतो वाच' इति श्रुतिविरुद्धम्, अतोऽनिदमित्थतया 'सर्वे वेदा' इत्यादि । अतः परमकाष्ठापन्ने पुरुषोत्तमाख्ये वस्तुनि तात्पर्यवृत्तिः, अन्यत्राभिधा । तथा च **प्रतिपाद्यमिति** भाष्यं तात्पर्यवृत्त्येदमित्थतया प्रति-

हि वेदान्तेषु मुख्यत्वेन प्रतिपाद्यम् । अक्षरब्रह्मादिकं तु तद्विभूतिरूपत्वेन तदुपयोगित्वेन मध्यमाधिकारिफलत्वेन च प्रतिपाद्यते । तेन तत्र विद्याशब्दप्रयोग औपचारिकः, सर्वात्मभाव एव मुख्यः । युक्तं चैतत् । अक्षरविषयिण्या विद्यायाः सकाशात्तत उत्तमविषयिण्यास्तस्या उत्तमत्वम् । एवं सति पूर्वप्रपाठकस्याक्षरप्रकरणत्वादुत्तरस्य पुरुषोत्तमप्रकरणत्वात्त्वद्धेत्वसिद्धिश्च, अत उक्तन्यायेन विद्यैवाग्रिमप्रपाठके निरूप्यते, न तु पूर्वोक्तात्मज्ञानप्रकारविशेषः । अत्र हेतुमाह

भाष्यप्रकाशः ।

र्थम् । यद्यपि मुण्डके 'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यत' इत्यक्षरविद्यायाः परविद्यात्वमुक्तम्, तथाप्यग्रे 'अक्षरात् परतः पर' इति पुरुषस्य ततः परत्वश्रावणात्तद्विद्यायामेव परविद्यात्वं विश्राम्यतीत्यक्षरविद्यायां नान्तरीयकतया विद्याशब्दप्रयोगः परत्वोपचारादेवेति सर्वात्मभाव एव विद्यापदप्रयोगो मुख्यः । तस्या एव च विद्याया उत्तमत्वम् । एवं सत्युभयत्र प्रतिपाद्यभेदेन प्रकरणभेदात्त्वदुक्तस्य प्रकरणैक्यस्वरूपस्य भवदभिमतात्मविद्याप्रकारविशेषतासाधकस्य हेतोरसिद्धिरित्यस्मदभिप्रेत-

रश्मिः ।

पाद्यार्थकम् । पुरुषोत्तमे तात्पर्यवृत्तिः इति भक्ति(मार्तण्डे स्पष्टम्)........। तदुक्तं 'भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येने'त्यत्रात्मपदं पुरुषोत्तमपरमिति। **श्रावणा**दिति । न च शङ्करभाष्योक्तोऽर्थोऽस्त्विति शक्यम् । गीतायामक्षरपदस्य तत्राशक्तेः । ननु पुराणमतं भवदुक्तार्थेऽक्षरात् परत्वं श्रीभागवते ततः परत्वं वाराहे इति चेत् । न । अदृश्यत्वाधिकरणोक्तश्रुत्या 'तानि परे तथा ह्याहे'तिसूत्रोक्तश्रुत्या चास्य विषयस्य श्रौतत्वात् । कियतामर्थानां पौराणिकसदृशत्वात् । अक्षरेत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म **यद्यपी**ति । अत्र भाष्ये **तद्विभूतिरूपत्वेने**त्यादि । तत्र विभूतिरूपत्वमुत्कृष्टत्वे सत्यवरत्वरूपमुक्तश्रुतावेव विभूतिनिरूपणाध्याये 'अक्षराणामकारोऽस्मी'ति 'अकारो विष्णु'रित्यन्यत्र कोशादौ । अदृश्यत्वाधिकरणोक्त-(त)स्य साधिष्ठानत्व उपयोगित्वेन 'अक्षरधिया'मिति सूत्रोक्तरीत्या मध्य(म)ाधिकारी ज्ञानाधिकारी तस्य फलत्वेनेति त्रयाणां तृतीयान्तपदानामर्थान्वयः । **विश्राम्यती**ति । आधिदैविकादिभेदेन विश्राम्यति । युक्तमित्यादि । **विषयिण्या** इत्यन्तभाष्यार्थः । एतेन भाष्यीयाक्षरब्रह्मादिकमित्यादिपदं व्याकृतम् । **नान्तरीयके**ति । गौणतया । परत्वोपचारः सिंहो माणवक इतिवत् । **उत्तमत्वमि**ति । विद्यानामनियतत्वादुत्तमविषयिण्या उत्तमत्वमुचिततरमेव । **तेन तत्रे**ति भाष्यार्थमाहुः **इत्यक्षरे**ति । **इती**ति तेन पदार्थकः । सर्वात्मभावसमासो लक्षणश्रुत्युक्तः प्रसिद्धः । 'नातः परतरा विद्ये'ति निरोधलक्षणवाक्यात् । तैत्तिरीयशीक्षायां 'अथाधिविद्य'मित्यादि आयुष्ये अव्ययं विभक्तीतिसूत्रेणाव्ययीभावः । विद्यास्विति विग्रहः । आचार्यः पूर्वरूपम् । आचार्यः सनत्कुमारः । अन्तेवास्युत्तररूपम् । अन्तेवासी नारदः । विद्या सन्धिः । विद्या सर्वात्मभावः । प्रवचनᳩसन्धानम् । प्रवचनं प्रपाठकः । विद्या प्रायपाठपठितत्वाच्च विद्या । **एवं सती**त्यादिभाष्यमवतारयामासुः **एवं सती**ति । **प्रतिपाद्ये**ति । प्रतिपाद्येत्यादिकं पूर्वतन्त्रे द्वितीयाध्यायेऽस्ति । **हेतो**रिति । प्रपाठक आत्मविद्याप्रकारविशेषवान् प्रकरणैक्यात्, नात्मविद्याप्रकारविशेषवान् प्रकरणभेदादिति प्रत्यनुमानेन साध्यसाधकत्वेनासिद्धिः । न चासिद्धिरूपहेत्वाभासः इत्यर्थः शक्यः । 'प्रकरणभेदा'दिति भाष्यप्रकाशेनास्य हेतोः सत्प्रतिपक्षत्वस्फोरणात् । **अस्म**दिति । अस्मदभिप्रेतः सर्वात्मभावो विद्योच्यते निरूप्यते उक्तन्यायेन प्रकृतसूत्रेण प्रमाणेन । एवकारेण 'ननु प्रसिद्धा ब्रह्मविद्योपनिषदुक्ता विद्याधिकरणविषयवाक्यमस्तु, स्पष्टत्वात्, किमनेन प्रपाठ-

निर्धारणादिति । 'सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्य'मित्युक्त्वा, सुखस्वरूपमाह 'यो वै भूमा तत्सुखम्, नाल्पे सुखमस्ति, भूमैव सुखम्, भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य' इति । अक्षरपर्यन्तं गणितानन्दत्वात् पुरुषोत्तमस्यैवानन्दमयत्वेन निरवधिसुखात्मकत्वात् स एव भूमा, तस्यैव विजिज्ञासितव्यत्वेन निर्धारणादित्यर्थः । भूम्नो

भाष्यप्रकाशः ।

मेवात्रोच्यते, न तु त्वदुक्तमित्यर्थः । एवं प्रकरणभेदे तत्यतिदेशोऽप्यकिञ्चित्कर एव । अतिदेशमात्रेण तदवान्तरभेदत्वस्य क्वाप्यसिद्धत्वादिति। हेतुं व्याकुर्वन्ति **सुखं त्वेवे**त्यादि । **तथाच पूर्वत्र** 'सदेव सौम्ये'ति सद्रूपमात्मानं प्रकृत्य तदभेदज्ञानमुपदिष्टम् । इह तु भूमपदोक्तं निरवध्यानन्दरूपं जिज्ञास्यत्वेन निर्धारयति। यद्यत्र पूर्वप्रकृत आत्मा बोधनीयः स्यात्, तदात्रापूर्वं भूमशब्दं न वदेत्, वदति तु भूमपदम् । अतः शब्दान्तरेण पूर्वस्मादात्मनः सकाशाद्भूमपदोक्तस्य भेदे सिद्धे विषयभेदान्नात्र पूर्वोक्तं ज्ञानमुच्यते, किन्तु मुख्या सर्वात्मभावरूपैव विद्योच्यते । यद्यपि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'त्यादिश्रावणात्त्रयाणामविनाभावः, तथापि सावधिनिरवधित्वाभ्यामानन्दस्य भेदात् पूर्वत्र गणनापरिच्छिन्नस्यैव तस्य सिद्धिः, न तु निरवधेः । अतो भूमपदेनात्र तस्यैव निर्धारणात् तथेत्यर्थः । ननु भूमात्र जिज्ञास्यत्वेनोच्यते, तावता सर्वात्मभावः कथं लभ्यत इत्याकाङ्क्षायामाहुः **भूम्न** इत्यादि । तथाच भूमलक्षणस्थेन 'यत्रे'तिपदेन पूर्वोक्तरीत्या भूमज्ञानसत्ताबुच-

रश्मिः ।

केने'ति शङ्काव्यवच्छेदः । सन्दिग्धानामेव श्रुतिवाक्यानामधिकरणविषयवाक्यत्वात् । **अतिदेशे**ति । 'अतिदेशाच्चे'ति सूत्रोक्तः । **तदि**ति । ज्ञानप्रकारविशेषरूपस्य । भेदपदं विशेषवाचकम् । 'भेदो द्वैधे विशेषे स्या'दिति विश्वात् । प्रपाठको ज्ञानप्रकारविशेषप्रतिपादकोऽतिदेशादिति । **ज्ञानप्रकारावान्तरभेदो** विद्यतेऽस्य प्रतिपाद्यत्वेन स प्रपाठकः ज्ञानप्रकारावान्तरभेदस्तस्य भावस्तत्त्वम् । **क्वाप्यसिद्धत्वादि**ति । ननु वैकृताङ्गेषु यत्रातिदेशो वर्तते, तत्र वैकृताङ्गत्वेन ज्ञानप्रकारविशेषो वर्तते एव, उक्तानुमाने च वर्तते, अतः कुत उच्यते **क्वापी**ति चेत् । न । अतिदेशमात्रेणेत्युक्तेः । तथाहि । सर्वात्मभावनिरूपकत्वे प्रपाठकस्य सिद्धे प्रपाठको न ज्ञानप्रकारावान्तरभेदप्रतिपादकः, अतिदेशादिति पूर्वोक्तहेतोर्विरुद्धत्वात् साध्याभावसाधको हेतुर्विरुद्ध इति । तथा विकृतावतिदेशो वर्तते, तत्रातिदिष्टानामेव वैकृताङ्गत्वेन ज्ञानप्रकारविशेषाभावात् । विकृतावुद्दिष्टानामङ्गानामपि वैकृतत्वेन ज्ञानात् । तत्र चातिदेशाभावात् । **हेतु**मिति । अन्यहेतूक्तेः सौत्रं हेतुमित्यर्थः । **तथा चे**ति । पूर्वत्रप्रपाठके । कृष्णस्य सदानन्दत्वादानन्दांशमाहुः सदंशस्योक्तत्वात् **इहे**ति । **पूर्वे**ति । 'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इत्येवं पूर्वप्रपाठके प्रकृत आत्मा । **अपूर्व**मिति । न पूर्वप्रपाठकेऽभिधायकत्वेनास्तीत्यपूर्वो भूमशब्दस्तम् । **किन्त्वि**ति । एवकारेणान्यविद्याव्युदासः । यथा '**कर्ण** एव दाते'त्यत्र । न च विद्यापदं ज्ञानसामान्यवाचकमित्युक्तत्वात् ज्ञानकाण्डत्वाच्च कथं **सर्वात्मभावो विद्ये**ति चेत् । न । मुख्यभक्तेरपि सर्वात्मभावरूपायाः छान्दोग्ये विद्याप्रायपाठपठितत्वात् ज्ञानकाण्डपठितत्वाच्च विद्यात्वमविरुद्धम् । भक्तिप्रायपाठपठितत्वादर्चनस्य कर्मणो भक्तित्वमिव । अक्षरेत्यादिभाष्यमवतारयाम्बभूवुः **यद्यपी**ति। **तस्य** आनन्दस्य । **तस्यैव** निरवध्यानन्दस्यैव। तथा तत्प्रापिका सर्वात्मभावत्वप्रकारिकैव विद्योच्यते, 'फलमत उपपत्ते'रिति सूत्रे सर्वात्मभावस्यैव तत्प्रापकत्वोक्तेः । **भूमे**ति । 'आनन्दमयोऽभ्यासा'दितिसूत्रोक्तः । 'पुरुषोत्तमस्यैवे'त्याद्युक्तभाष्यात् । **सर्वात्मे**ति। पूर्वोक्तः । **पूर्वे**ति । लिङ्गमू-

लक्षणमग्रे उच्यते 'यत्र नान्यत् पश्यती'त्यादिना । यस्मिन् ज्ञाते सति नान्यत् पश्यतीत्यर्थः । तथा सति सर्वात्मभाववतः प्रभुदर्शने सत्यपि लीलोपयोगिवस्तुदर्शनादिकमनुपपन्नमिति शङ्का तु 'तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यत एवं मन्वानस्यैवं विजानत आत्मतः प्राणा' इत्यादिना निरस्ता वेदितव्या । तैः सह लीलां चिकीर्षतः प्रभुत एव सर्वं सम्पद्यते, न तु भक्तसामर्थ्येनेति भावेन तदुक्तः ॥ ४७ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

नात्तज्ज्ञानरूपस्य सर्वात्मभावस्य लाभ इत्यर्थः । ननु भूमलक्षणे तदितरदर्शनं निषिध्यते, सर्वात्मभाववतां तु तत् दृश्यते इति कथं तेन तल्लाभ इत्यत आहुः तथा सतीत्यादि । तथा सतीति । सर्वत्र भूमदर्शने सति । तैः सहेति । प्राणादिभिर्धर्मैः सह । तथाच तादृशलीलोपयोगिपदार्थदर्शनं प्रभुसामर्थ्यकारितम्, भगवदिच्छाया एव तथात्वात्, न तु स्वकृतम्, अतस्तेषां भगवदेकद्रष्टृत्वं निर्बाधम्, अतः सुखेन तल्लक्षणात्सर्वात्मभावलाभ इत्यर्थः ॥ ४७ ॥

रश्मिः ।

यस्त्वसूत्रोक्तरीत्या । भूमेति । यत्रेति सति सप्तम्या दर्शनादिविशेषे व्याख्याते भूम्नो ज्ञानं चाक्षुषादिरवस्य सत्तासूचनात् । तज्ज्ञानेति । तस्य भूम्नो ज्ञानं भूमा ज्ञायतेऽनेन तत् तद्रूपस्य । लाभ इति । यत्रेति भूमलक्षणश्रुतौ 'भगवद्रूपत्वात् सर्वात्मभावस्ये'ति भाष्यादेकरूपत्वाल्लाभ इत्यर्थः । ननु 'सत्यं ज्ञानमनन्तमानन्दं ब्रह्मे'ति श्रुतेर्ब्रह्मैतादृक्, स भूमा सर्वात्मभावस्तु सर्वोप्यात्मनो भावरूप आनन्दधर्म इति कथमुभयोरेकरूपतेति चेत् । न । प्रकाशाश्रयन्यायेनैक्यात् । तथा च भूमाधिकरणभाष्यं 'भावशब्दस्यापि सर्वत्वात् भगवति वृत्तेरदोष' इति । मन्प्रत्ययार्थस्य भावत्वेन भाववाचकशब्दस्यापीत्यर्थः । ननु लक्षणसङ्गमनं कथम्, इत्थम् । भूम्नि स्पष्टत्वात् सर्वात्मभाव उच्यते । यत्रेति यच्छब्दार्थस्य भूमत्वेप्यानन्दमयत्वात् तस्य स्वरूपात्मकात्मना ग्रहणम्, 'स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम' इति वाक्यादानन्दमयत्वे सर्वात्मभावस्य यच्छब्दार्थता । ननु पृथगेव लक्षणं कुतो न कृतमिति चेत् । न । 'उत्तमश्लोकजनेषु सख्य'मिति वाक्यात् । अत्र शास्त्रार्थरूपभगवान् भक्तसंवलित एव फलतीत्येकलक्षणलक्षितत्वम् । इदं पुष्टिमार्गीयमोक्षनिरूपणे उपपादितम् । ननु निरङ्कुशजगत्कर्तृत्वेन शास्त्रप्रतिपाद्यस्वरूपं ब्रह्मलक्षणं कथम् । एतस्यैव जिज्ञास्यत्वेन 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासे'त्यत्राप्यस्यैव ब्रह्मपदार्थत्वात् । अरूपवत्सूत्रेप्येवं प्रतिपादितमिति विद्वन्मण्डने स्पष्टम् । 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूपमि'तिश्रुतेः । सर्वात्मभावे यथायोग्य............ । तदितरेति । भूमेतरेत्यर्थः । सुषुप्ताविव । तत् भूमेतरत् । तेनेति । भूमपदेन सर्वात्मभावस्य लाभः दर्शनसहितस्य कथमित्यन्वयः । तथेति । एतस्यैव विवरणं 'प्रभ्वि'त्यादिभाष्ये भाष्यत्वात् स्वपदानि वर्णितानि । भाष्ये । अनुपपन्नमिति । 'नान्यत् पश्यती'तिश्रुतेः । प्रकृते । स्वकृतमिति । आत्मीयभक्तकृतम् । लीलाविष्करणमात्रं भक्तेच्छाकृतम् । 'अचलत्वं चापेक्ष्ये'ति सूत्राभासात् । यद्वा । 'न तु भक्तसामर्थ्येने'(ति)भाष्ये भक्तबलं निषिद्धम्, न तु भक्तेच्छा, तेन नाचलत्वसूत्राभासविरोधः । भगवदित्यादि । स्वेच्छाविर्भावितलीलोपयोगिपदार्थकभगवदेकद्रष्टृत्वमित्यर्थः । तथा च स्वेच्छाविर्भावितलीलोपयोगिपदार्थेऽन्तरदर्शनादिकं 'नान्यत् पश्यती'त्यादिना निषिध्यते इति भावः । तदित्यादि । तस्य भूम्नो लक्षणात् तदितरदर्शनरहितात् तदितरदर्शनरहितसर्वात्मभावलाभः सुखेनेत्यर्थः ॥ ४७ ॥

१. आत्मनः ।

दर्शनाच्च ॥ ४८ ॥

दृश्यते च सर्वात्मभाववतां भक्तानां व्रजसीमन्तिनीप्रभृतीनां पूर्वमितरविस्मृतिर्भगवत्स्पर्शादिनाग्रे सर्वसामर्थ्यमिति व्यासः स्वानुभवं प्रमाणत्वेनाह । उक्तं च श्रीभागवते ताभिरेव 'चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेषु यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये, पादौ पदं न चलतस्तव पादमूला'दित्यादिना । तेन ज्ञानशक्तिक्रियाशक्तितिरोधानमुक्तं भवति । अग्रे तदाविर्भावादिकं स्फुटमेव ॥ ४८ ॥

ननु सनत्कुमारनारदसंवादात्मकमान्तमेकं वाक्यम्, तत्रोपक्रमे 'मन्त्रविदेवास्मि नात्मवि'च्छ्रुतं[१] ह्येवं मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति, सोऽहं भगवः शोचामी'त्यादिना स्वात्मज्ञानस्यैवोपक्रमादुपसंहारोपि तमादायैवोचितः । अग्रे चेत् आत्मपदानामीश्वरपरत्वं स्यात्, वाक्यभेद उपक्रमविरोधश्च स्यात्, तस्माद्वाक्यानुरोधात् पूर्वज्ञानप्रकारविशेष एवायमिति मन्तव्यमित्यत उत्तरं पठति ।

श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः ॥ ४९ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

दर्शनाच्च ॥४८॥ शब्देनान्यादर्शनं साधयित्वा प्रत्यक्षेणापि साधयतीत्याशयेन व्याकुर्वन्ति दृश्यते इत्यादि । स्वानुभवमिति । स्वयं समाधावनुभूतम् । शेषं निगदव्याख्यातम् ॥ ४८ ॥

श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः ॥ ४९ ॥ सूत्रमवतारयन्ति नन्वित्यादि । ननु मास्त्वस्य पूर्वप्रकरणशेषत्वम्, तथाप्यस्य प्रपाठकस्यान्तमेकवाक्यत्वं तु निःसन्दिग्धम्, विषय-

रश्मिः ।

दर्शनाच्च ॥ ४८ ॥ शब्देनेति । 'ना... पश्यती'त्यादिशब्देन । दृश्यत इत्यादि । सर्वात्मभावो व्रजसीमन्तिनीनां 'सर्वात्मभावोऽधिकृतो भवतीनामधोक्षज' इत्यत्र भ्रमरगीते 'गोपगोपाङ्गनावीत'मिति गोपालतापिनीये 'गोप्यो नाम विष्णुपत्न्यः स्यु'रिति गोपीचन्दनोपनिषदि । पुराणहृदयैरत्र सर्वेन्द्रियव्यापारा भगवत्परा उन्नेयाः । ननु दर्शनं शाब्दं व्यासानामस्त्विति चेत् । न । पुनरुक्त्यापत्तेः । समाधाविति । 'अनर्थोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमधोक्षज' इति समाधिभाषोक्तभक्तिः समाधावनुभूता, तत्प्रपञ्चः 'चित्तं सुखेने'त्यादिस्तदात्मक एव । भाष्ये ज्ञानशक्तितिरोधानं चित्तहरणेन । न च 'मनसैवानुद्रष्टव्य' इति श्रुतेर्मनसः क(ा)रणत्वमिति शङ्क्यम् । 'नेह नानास्ति किञ्चने'त्यग्रेतनश्रुत्या तस्याभेदज्ञानकरणत्वात् । अतो ज्ञानमार्गीयं करणं विहाय चित्तं सुषुप्तिग्राहकं भूम्नः सुषुप्तित्वाद्भूमाधिकरणपूर्वपक्षे तद्ग्राहकं गृहीतम् । 'करावपी'त्यादिना क्रियाशक्तितिरोधानम् ॥ ४८ ॥

श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः ॥ ४९ ॥ व्यवहारे वयं भाट्टा इति वदतां वेदान्तिनां मायावादिनामाशङ्कामाहुरित्याशयेनाहुः नन्वित्यादि । आन्तमित्यादि । अन्तं आ अभिव्याप्य आन्तम् । एकवाक्यत्वं स्वार्थबोधे समासानां 'नात्मवित्, तरति शोकमात्मवि'दित्यादीनां वाक्यानां 'यत्र नान्य'दिति भूमलक्षणवाक्यस्याकाङ्क्षित्वाद्यपेक्षया पुनरेकवाक्यत्वं संहृत्य जातं पूर्वतन्त्रिणं निःसन्दिग्धं तृतीये तृतीयपादे निःसन्दिग्धम् । विषयस्य श्रीपुरुषोत्तमस्य भेदौ क्षराक्षरात्मकौ, तयोरत्र निरूपणीयत्वेनाभावात् । विषयनिष्ठोऽक्षरस्य वा भेदस्तस्याभावात् । विषयोऽक्षरो नेत्यन्योन्याभावविषयिणी प्रतीतिः ।

१. एकमेव ।

भाष्यप्रकाशः ।

भेदाभावात्, तत्र चोपक्रमे 'सोऽहं भगव' इत्यादिनात्मैव पृष्टः, उपक्रमश्चासञ्जातविरोधत्वादुपसंहारात् प्रबल इति पूर्वतन्त्रे स्थितम्, अत उपसंहारेऽप्युपक्रममादायैव नेतुमुचित इति तत्रत्या आत्मशब्दास्तत्परा एव युक्ताः, अग्रे चेत् 'अथात आत्मादेश' इत्यादीनामात्मपदानामीश्वरपरत्वं स्यात्, तदा ऐकार्थ्याभावात् 'अथात आत्मादेश' इत्यादिकं भिन्नं वाक्यं स्यात्, उपक्रमविरोधश्च स्यात्, अत उपक्रमगतात्मवाक्यानुरोधात् पूर्वप्रकरणोक्तात्मज्ञानस्य प्रकारविशेष एवा-

रश्मिः ।

आत्मैवेति । परमतप्रतिपन्नः । श्रीपुरुषोत्तमश्चात्[illegible] । आत्मशब्दा 'आत्मतः प्राण' इत्याद्याः । तत्परा निर्गुणब्रह्मपराः । अग्रे चेदिति भाष्यं विवरांचक्रुः अग्रे चेदिति । ईश्वरेति । न च कोशादीश्वरः शिव इति शङ्क्यम् । कोशस्य 'वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानी'त्यत्र निबन्धे सर्वथा प्रामाण्याभावात् । भिन्नमिति । अर्थभेदात् प्रश्नविषयात्मभिन्नात्मप्रतिपादकमुत्तरवाक्यं भिन्नं स्यात् । शङ्करभाष्येऽस्य सूत्रस्याभासे प्रकरणात् लिङ्गमपास्य क्रियाशेषत्वमध्यवसायितम् । तत्र क्रियास्थले ज्ञानप्रकारविशेषं निवेशयाम्बभूवुः किञ्चेति ।

अत्रैवं ज्ञेयम् । भाष्ये वाक्यमात्रं वाक्यानामेकवाक्यतात्मकं जगृहुराचार्याः, तत्प्रसिद्धग्रन्थानुरोधेनोदाहरणमात्रम्, अन्यथा 'वाक्याद्बलीयस्त्वाच्च न बाध' इति सूत्रकरणापत्तेः । अतो वाक्यप्रकरणाभ्यां बलीयस्त्वं लिङ्गस्य बोध्यते इति । न च स्थानसमाख्ययोरग्रहणे 'वाक्यप्रकरणाभ्यां बलीयस्त्वाच्च न बाध' इति सूत्रकरणापत्तिरिति वाच्यम् । स्थानस्य देशसामान्यरूपस्यानुष्ठानदेशसामान्याभावात् पाठदेशसामान्यं भवति । पाठदेशसामान्येपि यथासंख्यरूपपाठदेशसामान्यं नास्ति । यथासङ्ख्यमनु(ष्ठान)देशः समानां(श)स्तस्याभावात् । सन्निधिपाठरूपपाठदेशसामान्यस्यानारभ्याधीतविषयत्वाभावात् । वाक्यस्यानारभ्याधीतकविषयत्वात् । एवं स्थानस्याग्रहणम् । समाख्याया यौगिकशब्दरूपायाः स्ववाच्यपदार्थानामङ्गाङ्गित्वबोधिकात्वाद्वाक्येऽनुपयुक्तत्वात् । एवं समाख्याया अग्रहणम् । उभयाकाङ्क्षाप्रकरणम् । तस्य तु 'नात्मवित्, तरति शोकमात्मवित्', 'यत्र नान्यत् पश्यति, नान्यत् शृणोती'त्यादीनामन्योन्याकांक्षा वर्तते एव, सर्वात्मभावस्योपकारकस्यात्मज्ञानस्योपकार्यस्य चाकांक्षा । परन्त्विदं क्रियामात्रविषयम्, न ज्ञानप्रकारविशेषविषयम् । तथा च भाट्टभास्करे राणकः तेन सिद्धस्य समिधादेः क्रियाद्वारेण ग्रहणेन तेन क्रियाया एव प्रकरणेन ग्रहणम् । तत्राप्यारादुपकारिकाया एव प्रयाजादिरूपायाः यस्याः श्रुतिलिङ्गवाक्यैर्नान्यसंयोगो यागार्थत्वात् । संनिपत्योपकारिकायास्त्ववघातादिरूपायाः द्रव्यदेवतार्थत्वेन श्रुतिलिङ्गवाक्यैर्विनियोगान्न प्रकरणग्रहणमिति । न च क्रियास्थाने ज्ञानं प्रक्षिप्य उक्तन्यायेन ज्ञानप्रकारविशेषविषयं प्रकरणमस्त्विति शङ्क्यम् । देवताविषयत्वेन प्रकरणाग्रहणात् । अवघातादिक्रियावत् । परन्तु वाक्याद्बलीयस्त्वादिसूत्रप्रसङ्गात् प्रकरणमुपात्तम् । न च वाक्यस्यानारभ्याधीतवाक्याङ्गाङ्गिभावोपयोगितयात्र प्रपाठके आरभ्याधीतत्वेन 'नात्मवित्, तरति शोकमात्मवि'दित्यादिवाक्यानां नाङ्गाङ्गिभावो भूमलक्षणवाक्येनेति वाच्यम् । नामादिप्राणपर्यन्तं ब्रह्मत्वेनोपासनाविषयत्वेनोक्त्वा जिज्ञासितव्यत्वेन सत्यादिसुखान्तमुक्तम् । 'यो वै भूमा तदमृतम्, अथ यदल्पं तन्मर्त्य'मिति श्रुतावथेति भिन्नप्रक्रमेणाल्पानां मर्त्यत्वविधानात् नामादीनामुपासनाप्रकरणेन शोकतरणमनुपलभमानः सत्यादीनां जिज्ञासाविषयाणां शोकतारकत्वं 'स स्वराड् भवती'त्यादि 'न पश्यो मृत्युं पश्यति, न रोगम्, नोत दुःखता'मित्यनयोक्तमिति सर्वात्मभावबोधकया 'यत्र नान्य'दिति श्रुत्याङ्गाङ्गिभावो 'नात्मवित्, तरति शोकमात्मवि'दित्यादिश्रुतीनां भवत्येव ।

नैवं वाक्यानुरोधाद्वरणजसर्वात्मभावलिङ्गभूयस्त्वं बाधितव्यम् । वाक्यापेक्षया श्रुतिलिङ्गयोर्बलीयस्त्वात् । एतद्बलीयस्त्वं तु 'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्य'मिति जैमिनीयसूत्रे सिद्धम् । प्रकृत इतरसाधननिषेधपूर्वकं 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनुं स्वा'मिति श्रुतिर्वरणमात्रलभ्यत्वमाह । एतदग्रे च 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्य' इत्युपक्रम्य, 'एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वाँस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधामे'ति श्रुतिः पठ्यते ।

भाष्यप्रकाशः ।

यमिति मन्तव्यम् । किञ्च, अत्र हि वरणलिङ्गं सर्वात्मभावो न भूमलक्षणवाक्यमात्रेण सिध्यति, येन प्रकरणमनादृत्य स गृह्येत, किन्तु तदारभ्य 'आत्मन एवेदं सर्व'मित्यन्तेन सन्दर्भेण । अतः सन्दर्भो यथा सर्वात्मभावबोधकमवान्तरप्रकरणम्, तथा प्रपाठकः सर्व आत्मबोधकं महाप्रकरणम्, मत्तो भूमलक्षणवाक्यस्य सन्दिग्धत्वात् प्रपाठकरूपं महाप्रकरणमेवानुसर्तव्यमित्यत उत्तरं सूत्रं पठतीत्यर्थः । सूत्रं व्याकुर्वन्ति नैवमित्यादि । भूयस्त्वमिति । परमोत्कर्षः । तत्र किं श्रुत्यादिकमित्यपेक्षायां पूर्वं श्रुतेरुक्तत्वात्तां स्मारयन्तो लिङ्गं स्फुटीकुर्वन्ति प्रकृते इत्यादि ।

रश्मिः ।

आत्मशब्दानां 'नात्मवि'दित्यादीनां 'आत्मैवाधस्ता'दित्यादिश्रुत्युक्तात्मविषयत्वात् । ननूक्तमनारभ्याधीतत्वमङ्गाङ्गिभावे तन्त्रमिति चेत् । न । अनारभ्याधीतत्ववदेकार्थविषयत्वस्यापि तन्त्रत्वात् । यथा चातुर्मास्यप्रकरणपठितस्य 'द्वयोः प्रणयति द्वाभ्यामग्निं प्रणयती'ति वाक्यस्य शाखान्तरीयस्य वा 'आहवनीयादध्वर्युप्रतिप्रस्थातारौ सहाग्नी प्रणयत' इति वाक्यस्यैकवाक्यतया चातुर्मास्यान्तर्गतयोर्वरुणप्रघाससाकमेधसंज्ञयोः पर्वणोरीदृशं प्रणयनमङ्गत्वेन ज्ञायते । 'सामर्थ्यमालोच्य प्रणयनेन पर्वद्वयं भावये'दिति । द्वयोरित्यस्यैतत्पर्वद्वयविषयत्वं तस्मात् । तदेतदेकवाक्यत्वमुक्तं तन्निर्धारणानियमाधिकरणे 'तस्मात् त्व'मित्युपक्रम्य, 'याहि सर्वात्मभावेने'त्यत्र, 'सर्वात्मभावेन मां पुरुषोत्तमं याहि, अभयं यास्यस' इति । पुरुषोत्तमप्राप्तिस्तु फलात्मकज्ञानद्वारा, तदुक्तं 'तरति शोकमात्मवि'दिति । तदेकवाक्यतयोपसंहारस्य 'स स्वराड् भवती'त्यस्य बलेन निर्णयाद्वाक्यविनियोगोऽयम् । अधिकरणमालायां जैमिनीयन्यायमालाविस्तरोपनामिकायां तु उक्तत्रविशेषः कश्चिन्नोपगतः । तृतीयस्य तृतीयपादारम्भे उपक्रमोपसंहारैकवाक्यताबलेन निर्णयाद्वाक्यविनियोगो भवतीति विशेषातिरिक्तः । तेन वाक्यप्रकरणे उभे गृहीते । प्रसिद्धग्रन्थानुरोधात् ।

तदाहुः **किञ्चेति** । **वरणेति** । इदं भाष्ये स्पष्टीभविष्यति । **सन्दिग्धत्वादिति** । 'सर्वात्मभावोऽधिकृतो भवतीनामधोक्षज' इत्यस्य पुराणमतत्वात् । न च 'आत्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्ये'ति छान्दोग्यसमाप्तिस्थश्रुतिविचारेणासन्देह इति वाच्यम् । 'आत्मनि हार्दे ब्रह्मणि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्ये'त्यर्थेन 'कृष्णमूर्तिः सदा ध्येये'त्याद्यर्थाभावात् । **उत्तरमिति** सूत्रविशेषणम् । उत्तरसूत्रेण पठतीत्यस्य पर्यायत्वम् । यदि चैवं व्याख्यातपूर्वपक्षोत्थानमेव न सम्भवति, पूर्वतन्त्रिणां मायावादिनां च लिङ्गभूयस्त्वं श्रुत्वा वाक्यचिन्तास्फुरणात् श्रुतिचिन्ता तु स्यात्, तेषां लिङ्गाच्छ्रुतेः प्राबल्याद्वाक्यस्य तु लिङ्गात् दुर्बलत्वादिति विभाव्येत, तदा तु ह्युपनिषद्व्याख्यान्तर्गतस्य कस्यचित् तर्कितुः शङ्कया व्याख्यानमित्युन्नीयेत । भाष्ये । जैमिनीयसूत्र इति । तृतीयस्य तृतीयपादस्थे । पूर्वमिति । विधेवेति सूत्रे श्रुतेर्वेदरूपायाः लिङ्गं शब्दसामर्थ्यम् ।

१. किञ्चेत्यारभ्य, अनुसर्तव्यमित्यन्तः पाठः ३७८ पृष्ठे टिप्पणे निवेशितस्तत उद्धृत्य श्रीपुरुषोत्तमैरत्र योजित इति ।

भाष्यप्रकाशः।

अयमर्थः। सत्यमिदमात्मबोधकमान्तमेकं वाक्यम्, उपक्रमश्च बलीयान्, तथापि स नाश्वप्रतिग्रहेष्टिवाक्य इव निःसन्दिग्धः। तत्रत्यात्मपदस्य जीवाक्षरपुरुषोत्तमसाधारण्यात्। तथा सति तत्र को वा ग्राह्य इति विमर्शे, नारदस्य शोकतारकात्मज्ञानार्थं प्रष्टुं प्रवृत्तत्वेन तादृश एवात्मा ग्राह्यः। स च निरवधिसुखरूपत्वात् पुरुषोत्तम एव, न जीवः, नाप्यक्षरम्। आद्यस्य दुःखित्वादन्यस्य गणितानन्दत्वात्। अतो निरवधिसुखरूपात्माभिधायिका या भूमश्रुतिः, सा वाक्यात् बलीयसी। बुभुत्सितात्मस्वरूपनिर्णायकत्वात्। किञ्च। 'आत्मलाभान्न परं विद्यत' इति श्रुत्यन्तरे आत्मलाभस्य परमलाभत्वश्रावणाच्छोकतारकोऽप्यात्मा लभ्यमान एव शोकं तारयति, न त्वलभ्यमानः। लाभश्च न ज्ञानमात्रम्, किन्तु स्वाधीनतापुरस्कृतम्। प्रकृते च 'यदा वै सुखं लभत' इत्यादिकथनाल्लभ्यमानस्यैव निरवधिसुखरूपस्य भूम्नः शोकतारकत्वमभिसंहितम्। तस्य च 'इतरनिषेधे'त्याद्युक्तरीत्या वरणश्रुतिस्तन्मात्रलभ्यत्वमाह। एतदग्रे च 'नायमात्मे'ति भक्तिलभ्यत्वबोधिका श्रुतिः पठ्यते। अत आत्मज्ञानस्य ज्ञायमानस्यात्मनो वा शोकतारकत्वसम्पादिका 'लभत' इति लाभश्रुतिश्च तादृशी। तथा 'यमेवैष' इति श्रुतिर्वरणमात्रलभ्यत्वमात्मन आह। तदग्रिमा च भक्त्यादिलभ्यत्वम्। तानि च वरणस्यैव व्यापारभूतानि। एत-

रश्मिः।

इतरेत्यादिभाष्ये कस्य इतरनिषेधेत्यादीत्यपेक्षायां भूम्नः सर्वात्मभावरूपस्येत्याहुः अयमर्थ इति। अश्वेति। इयं तृतीयस्य चतुर्थचरणे चतुर्दशाधिकरणेऽस्ति। भूमेति। 'नायमात्मे'त्यत्र बलं निरपेक्षरवरूपं भूमश्रुतिः 'तपसो वाप्यलिङ्गा'दित्यत्र निरपेक्षरवरूपं वा भूमश्रुतिः, प्रकृते तु 'स भूमे'ति भूमरूपा निरपेक्षरवरूपा श्रुतिः उपक्रमगतात्मवाक्याद्बलीयसी। न च विनियोगविधेरभावात् कारणाभावे सहकारिषण्णां कारणानां कथमुपयोग इति वाच्यम्। पूर्वतन्त्रवत् कारणत्वाभावात्। तत्रत्यबलाबलमात्रादरणात्। न च श्रुतिर्वेदः सूत्र इति शङ्क्यम्। जैमिनेर्व्यासशिष्यत्वेन फलाध्याये 'परं जैमिनिर्मुख्यत्वा'दित्यादिसूत्रे तन्नामग्रहणात्। अन्यथा वेदादिबलीयस्त्वादित्येव सूत्रयेत्। बुभुत्सितेति। बोद्धुमिष्टस्यात्मनः। 'सुखं भगवो विजिज्ञास' इति श्रुतेः। शोकमिति। ननु पञ्चम्या भाव्यम्, तरणेऽपादानत्वात्। मैवम्। जीवः शोकं तरति, तं जीवं शोकं तारयतीति प्रेरणायां णिच्। तारयतीत्यस्य हारयतीत्यर्थात्। 'दुह्याच्पच्दण्ड्रुधिप्रच्छिचिब्रूशासुजिमन्थ्मुषाम्। कर्मयुक् स्यादकथितं तथा स्यान्नीहृकृष्वहा'मित्यत्र निञादीनां चतुर्णामर्थग्रहणात्। एवमपेक्षितोक्त्या सिद्धापेक्षितेन समं भाष्यान्वयमाहुः तस्य चेत्यादि। आत्मज्ञानस्यालाभत्वादाहुः ज्ञायमानस्येति। लाभेति। लाभप्रतिपादको निरपेक्षो रवः। तादृशी 'यदा वै सुखं लभत' इति वाक्याद्बलीयसी। भूमपदस्य सर्वात्मभावार्थकत्वपक्षमुक्त्वा तस्य भगवदर्थकत्वपक्षमाहुः तथेति। आत्मनो भगवतः 'भगवद्रूपत्वात् सर्वात्मभावस्ये'ति भाष्यात्। 'यमेवे'ति सावधारणश्रुत्या भक्त्यादीनामप्रयोजकत्वमाशङ्क्याहुः तानीति। प्रमादाभावसर्वात्मभावसहितविरहभावबलानि भक्त्यादीनि। एतदिति। वरणमात्रलभ्यत्वं सर्वात्मभावदानद्वारा लिङ्गं शब्दसामर्थ्यरूपम्, 'फलमत उपपत्ते'रित्यत्र तथा व्याख्यानात्। सर्वात्मभावस्य तु वरणमात्रलभ्यत्वं प्रदानवदधिकरणे सिद्धम्। अर्थद्वयं भगवत्सर्वात्मभावरूपं बहुषु स्थलेषु वर्तते। तत्रत्ये विचारे मानपदं

एतच्च 'विद्यैव तु निर्धारणा'दित्यत्र निरूपितम्।

अपरं च, 'नात्मवित्, तरति शोकमात्मवि'दितिनारदवाक्यानुवादयो-

भाष्यप्रकाशः।

दपि पुरुषोत्तमस्य लिङ्गम्। 'पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यये'ति गीतावाक्यात्। एतल्लिङ्गं चकारात् भूमादिश्रुतिः उभयमपि 'विद्यैवे'ति सूत्रे निरूपितम्। अत्र श्रुतिबोधको ग्रन्थः प्रायस्त्रुटित इति प्रतिभाति।

पूर्वोक्तस्य लिङ्गस्य श्रुत्यन्तरस्थत्वात् प्रकृतसन्दर्भस्थं लिङ्गं दर्शयन्ति अपरं चेति। नारदवाक्यानुवादयोरिति। नारदवाक्ये तदनुवादे च। उत्तमप्रश्नात्मकेनेति। 'अस्ति

रश्मिः।

कारत्स्न्ये एकत्र, अन्यत्रावधारणे बोध्यम्। गीतेति। सर्वात्मभावस्य लिङ्गं तु 'भगवान् भजतां मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोग'मिति वाक्यात्। भूमेति। भूमरूपनिरपेक्षो रवः आदिना पुरुषोत्तमरूपनिरपेक्षो रवः। विद्येतिसूत्रे पुरुषोत्तमरूपनिरपेक्षो रवो नास्ति। सर्वात्मभावरूपो रवश्चेत्याहुः अत्रेति। 'नायमात्मे'ति आत्मरवः पुरुषोत्तमवाची, 'तपसो वाप्यलिङ्गा'दिति सर्वात्मभाववाची। तथाप्युपपादनसापेक्ष इति प्राय इत्युक्तम्। श्रुत्यन्तरेति। मुण्डकश्रुत्यन्तरेत्यर्थः। काठकश्रुत्यन्तरेत्यर्थश्च। अत्र 'नायमात्मे'त्यादिवाक्यस्यात्मलाभसामर्थ्यं 'लभ्य' इति पदादालोचितम्। तनुविवरणसामर्थ्यं 'विवृणुत' इति शब्दादालोचितम्। द्वितीयस्य 'नायमात्मे'त्यादिवाक्यस्य धामवेशनसामर्थ्यं 'विशत' इति शब्दादालोचितम्। तयोः स्वार्थबोधे समाप्तयोर्वाक्ययोः पुनराकाङ्क्षावशेनैकवाक्यतया वरणालिङ्गं सर्वात्मभावः 'वरणजसर्वात्मभावे'ति भाष्यात्। तथा च निःसाधनो यः कोप्युक्तभक्तेरङ्गम्। वरणमात्रस्य साधनत्वमुक्त्वा पुनर्बलाभावनिषेधेनात्मलाभवाक्यस्य बलाप्रमादयोर्वाक्यस्य च सामर्थ्यमालोच्य परस्पराकाङ्क्षयैकवाक्यतया 'श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यत' इति वाक्याद्विविधश्रेयोवानुक्तभक्तेरङ्गम्। 'एतैरुपायै'रिति श्रुतावुपायपदान्न पुष्टिमार्गीयः, अपि तु मर्यादामार्गीयः। भक्तिहंसे स्पष्ट एवायमर्थः। तथा च यः कोपि वरणेन सर्वात्मभावं लभेतेति श्रुतिं कल्पयति पूर्वं लिङ्गम्। द्वितीयं तु लिङ्गं विविधश्रेयोवान् बलाप्रमादाभ्यामात्मानं लभेतेति श्रुतिं कल्पयति। एवञ्च यत्पूर्वपक्षिणोक्तं वाक्यात् ज्ञानप्रकारविशेषः प्रकरणाल्लिङ्गस्य सन्दिग्धस्य बाध इति। तन्नोपपद्यते। लिङ्गस्यासन्दिग्धत्वात् तेन दुर्बलवाक्यान्न ज्ञानप्रकारविशेषः, प्रकरणं तु दुरापास्तम्। तथा च यथा तृतीयस्य तृतीयपादेऽष्टमाधिकरणे 'स्योनं ते सदनं कृणोमि घृतस्य धारया सुशेवं कल्पयामि। तस्मिन् सीदामृते प्रतितिष्ठ व्रीहीणां मेध सुमनस्यमान' इति। अस्य मन्त्रस्यार्थः। भोः पुरोडाश ते तव स्योनं समीचीनं सदनं स्थानं कृणोमि। विकरणव्यत्ययान्न तनादिकृञ्भ्यउः, किन्तु जुहोत्यादिभ्यः श्लुः शपोपवादः। करोमीत्यर्थः। तच्च स्थानं घृतस्य धारया सुष्ठु सेवितुं योग्यं सुशेवं कल्पयामि। भो व्रीहिसारभूत त्वं व्रीहीणां मेध सुमनस्यमानः समाहितमनस्कस्तस्मिन् समीचीने उपविश तत्र स्थिरो भवेत्यर्थः। तत्र 'तस्मिन्' इत्यनेन पूर्वोत्तरयोरेकवाक्यत्वे सति सर्वोऽप्ययं मन्त्रः स्थानकरणस्याङ्गम्। तत्र विनियोजिका श्रुतिरेवं कल्पनीया सर्वेणानेन मन्त्रेण स्थानं कर्तव्यमिति। तथा सर्वेण मन्त्रेण पुरोडाशः स्थापनीय इत्यपि कल्पनीया। सदनाङ्गत्ववत् प्रतिष्ठापनाङ्गत्वस्यापि तद्वाक्यबोधितत्वात्। तथा सति सदनस्थापनयोरस्य मन्त्रस्य विकल्पः समुच्चयो वा स्वेच्छया भविष्यतीति प्राप्ते, सिद्धान्तितम्। यदेतत्पूर्वोत्तरार्धयोः परस्परान्वयेन सम्पन्नमेकवाक्यं तदेतदुत्तरार्धस्य

रात्मपदमुत्तमप्रश्नात्मकेन लिङ्गेन पुरुषोत्तमपरमिति ज्ञायते । स हि सर्वेभ्य उत्तमोऽतो ब्रह्मेत्युपास्यत्वेन सनत्कुमारोक्तप्रतिरूपं ततस्ततो भूयोऽस्तीत्य-

भाष्यप्रकाशः ।

भगवो नाम्नो भूय' इत्यादिरूपाधिक्यप्रश्नात्मकेन । एतदेव विभजन्ते स हीत्यादि । स पुरुषोत्तमो हि निश्चयेन 'स उत्तमः पुरुष' इति श्रुतेः 'अतोऽस्मि लोके वेदे चे'ति स्मृतेः

रश्मिः ।

सदनकरणे शक्तिमकल्पयित्वा कृत्स्नं मन्त्रं सदने विनियोक्तुं नार्हति । तथा पूर्वार्धस्य स्थापने शक्तिमकल्पयित्वा न तत्र प्रभवति । तथा सति लिङ्गेन वाक्यबाधादर्धद्वयमुभयोर्व्यवस्थितमिति व्यवस्थापितम् । तद्वत् 'नायमात्मे'तिवाक्यद्वयं स्वार्थबोधसमासम् । तत्र पूर्वं वरणमात्रलभ्यत्वमाह श्रुतिः । भाष्ये भक्तिहेतुग्रन्थस्योद्देशात् तत्र चानुग्रहस्य वरणकारणत्वेन निवेशादनुग्रहेण वरणमात्रलभ्यत्वमाह भक्तिहेतुः । भाष्यत्वाद्वरणानुग्रहयोः कार्यकारणभावः । अत्रेतरसाधननिषेधपूर्वकवरणादिमात्रलभ्यत्वात् पुष्टिः । अत्रापि स्वरूपबलेन मुक्तिः, ज्ञानभक्त्यादि दत्वा मुक्तिः । तत्र द्वितीयपक्षे पुष्टावपि सर्वात्मभावप्रवेश इति सर्वात्मभावमपेक्षते । स द्वितीयश्रुतौ लिङ्गपदेन श्रुतोऽश्रुतापेक्षया प्रबलोऽनुकृष्यते । 'गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययात् ।' 'मुख्यभक्तिरि'ति सर्वात्मभावसमाख्या । 'याहि सर्वात्मभावेने'त्येकादशसर्वस्वं निबन्धोक्तं श्रीभागवते एकादशस्कन्धे द्वादशाध्याये पुष्टिमार्गनिरूपणे यतः । श्रुतयश्च 'भक्तिरहस्यभजन'मित्यादि । अत्र मनःपदादेकादश मनसो वृत्तयो ग्राह्याः । 'आत्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्ये'ति । 'यत्र नान्यत् पश्यती'ति । 'श्रुतेश्चे'तिसूत्रमत्रैव चतुर्थचरणे । द्वितीयस्यां मर्यादाभक्तिः । 'न च प्रमादा'दिति भक्त्युपायकथनात् । अप्रमादाद्बलं तपश्च । लिङ्गं तु प्रदानवत्सूत्रोक्तरीत्या प्राप्यते । अत्रापि वरणमनुग्रहश्च योज्यः । किञ्च, 'पुरुषोत्तमलाभहेतुभूतं तु भक्तिमार्ग' इत्यादि 'विधैवे'ति सूत्रभाष्यात् । भक्तिहेतुग्रन्थरीत्यानुग्रहोपि । श्रुतयोपि 'आत्मा वा अरे' इत्यादि 'तं भजेत् तं रसेत्' 'भक्त्या जानाति चाव्ययम्' । तथा च दृष्टान्तानुरोधात् यथा 'स्रुवेणावद्यति स्वधितिनावद्यति हस्तेनावद्यती'त्यत्र स्रुवादीनां सामर्थ्यमालोच्य 'द्रवं मांसं कठिन'मिति श्रुतिं कल्पयित्वा स्रुवस्य द्रवावदाने स्वधितेर्मांसावदाने हस्तस्य कठिनावदानेऽङ्गत्वं विधिरर्थगतसामर्थ्यरूपलिङ्गमालोच्य बोधयति, तथा प्रकृते 'तदज्ञाने सर्वमौढ्यं तेन तद्धृदयं स्मृत'मिति निबन्धात् पुराणविदो विगतसर्वमोहा यावद्वाक्याभ्यामुभयश्रुतिभ्यां एकं मार्गमुपगच्छन्ति, तावत् 'मार्गास्त्रयो मया प्रोक्ताः' इति वाक्याद्वरणसामर्थ्यं तस्यात्मलाभहेतुत्वं ज्ञात्वात्मा लभ्यो भक्तिमार्गात्, सा भक्तिरपि पुष्टिः सर्वात्मभावरूपा, श्रुतौ वरणमात्रोपादानात् । अतः स्वेन वृतेन सर्वात्मभावेनात्मा लभ्य इति श्रुतिं प्रकल्प्य पुष्टिमार्गीयस्य पूर्वश्रुत्युक्तमार्गाङ्गत्वम् । द्वितीयश्रुतौ भक्त्यादेर्बलादिपदवाच्यस्य सामर्थ्यमालोच्य तस्य वरणमन्तराऽसम्भवं 'भगवान् भजतां मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोग'मिति वाक्यादालोच्य वरणेन बलादि भक्तिरिति श्रुतिं प्रकल्प्य मर्यादामार्गीयस्य द्वितीयश्रुत्युक्तमार्गाङ्गत्वं च बोधयतीति । लिङ्गस्येति । वरणसामर्थ्यस्य भक्त्यादेर्बलादिपदवाच्यस्य सामर्थ्यस्य च । लिङ्गमिति । आत्मपदस्य उत्तमप्रश्नात्मकत्वं लिङ्गम् । सर्वात्मभावस्य 'स एवाधस्ता'दित्यादिनोक्तो भावो लिङ्गम् । स भगवतो नारदस्योत्तमत्वं 'यो यच्छ्रद्धः स एव सः' इति वाक्यात् पुरुषोत्तमप्रयुक्तं उपनिषदि, अन्यथा नित्ये वेदेऽस्तीति अनित्यस्य नारदस्य श्रीभागवते मध्यमाधिकारिण उत्तमत्वानवच्छिन्नस्य संयोगापत्त्या स नारद इत्यर्थमनादृत्य भाष्यं व्याकुर्वन्ति स्म स पुरुषोत्तम इत्यादि ।

पृच्छत् । अन्ते सर्वाधिकत्वेन सुखात्मकत्वेन भूमानं श्रुत्वा तथा नापृच्छत्, किन्तु तत्प्राप्त्यर्थमत्यार्त्या 'कस्मिन् प्रतिष्ठित' इत्यपृच्छत् । तदा सर्वात्मभाववत्स्वेव प्रतिष्ठित इत्याशयेन सर्वात्मभावलिङ्गात्मकं भावं 'स एवाधस्ता'दित्यादिनोक्तवान् ॥ ४९ ॥

भाष्यप्रकाशः

सर्वेभ्यो नामादिप्राणपर्यन्तेभ्योऽक्षराच्चोत्तमः । अतो नामाद्याशान्तेषु ब्रह्मेत्युपास्यत्वेन कथनात् सनत्कुमारोक्तप्रतिरूपं सनत्कुमारेण 'नाम्नो वाव भूयोऽस्ती'त्याद्युक्ते 'तन्मे ब्रवीतु भगवा'नित्येवं तल्लक्षितरूपं तत'स्ततो भूयोऽस्तीति'ति ज्ञात्वा अपृच्छत् । अन्ते पश्चात् सर्वाधिकं भूमानं श्रुत्वा, तथा 'अस्ति ततोऽपि भूय' इत्येवं नापृच्छत्, किन्तु तदधिष्ठानमपृच्छत् । तथा चैतत्प्रश्नद्वयसामर्थ्येनाप्युपक्रमगतमात्मपदं पुरुषोत्तमपरमिति निश्चीयते । वाक्याल्लिङ्गस्यापि बलीयस्त्वादित्यर्थः । नन्वस्त्वात्मपदं पुरुषोत्तमपरम्, तथापि विवक्षितसर्वात्मभावबोधकस्यात्रादर्शनात् कथं न तद्भूयस्त्वबाध इत्यत आहुः तदेत्यादि । तथाच द्वितीयप्रश्नोत्तरे सर्वात्मभावलिङ्गस्य दर्शनान्न तद्बाध इत्यर्थः । एतेनावश्यकोपपत्तिरत्र वाक्यतात्पर्यनिर्णायिकेत्युक्तम् ॥ ४९ ॥

रश्मिः ।

त्यदादीनामुत्सर्गतः प्रधानपरामर्शित्वेन स पुरुषोत्तमः, न तु नारदः । अपृच्छदित्यत्र तु नारदः कर्ता । ननु स नारदो हि निश्चयेन श्रौतत्वादुत्तमः, मध्यमाधिकारित्वस्य श्रीभागवतीयत्वेन भगवन्मतत्वात् । श्रौतत्वाभावात् । अतः सर्वोत्तमत्वात् । सनत्कुमारोक्तप्रतिकूलरूपम्, अन्यत् समानं व्याख्यानमिति व्याख्यानं कुतो नादृतम्, अन्यथा स हि सर्वेभ्य उत्तम इति भिन्नं वाक्यं स्यादिति चेत् । न । पूर्वोक्तदोषाणामवर्जनीयत्वेन वाक्यभेदस्यादोषत्वात् । तल्लक्षितेति । प्रति लक्षणे 'लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः' इति पाणिनिसूत्रात् । नारदलक्षितं रूपम् । तथा चेति । पूर्वोक्तप्रकारेण च प्रश्नद्वयम्, ततो 'भूयोऽस्ती'ति ज्ञानेन प्रश्नः अधिष्ठानप्रश्नश्च । वाक्यात् 'सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि, नात्मवि'दिति वाक्यात् लिङ्गस्य ततो भूयस्त्वेन ज्ञातस्य ज्ञानविषयिणीच्छारूपस्य तदधिष्ठानज्ञानविषयिणीच्छारूपस्य च अधिपदेनात्मरूपनिरपेक्षत्वस्य बलीयस्त्वात् । तद्भूयस्त्वबाधो लिङ्गभूयस्त्वबाधः । ननु वाक्यार्थजीवात्मरूपस्य प्रतीतस्य बाधाद्वाक्याप्रामाण्यापत्तिरिति चेत्, तत्राहुः एतेनेति । उपपादनादावश्यिका युक्तिः, पुरुषोत्तमपर आत्मशब्दो न स्यात्, वाक्यप्रश्नसामर्थ्यश्रुतयो न स्युरित्येवंरूपा वाक्यस्य तात्पर्यं तस्य पुरुषोत्तमे निर्णायिकेत्येतेन भाष्येणोक्तम् । वक्तुरिच्छा तु तात्पर्यम् । तस्य शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतुत्वम्, 'संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता । अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य संनिधिः । सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादय' इति काव्यप्रकाश आदिपदात् । यद्यप्यादिपदार्थोऽभिनयादयः, इदं च नाभिनयः । अभिनयादय इत्यत्रादिशब्देन हृदयनिहितहस्तो गृहीतः । 'यथा 'इतः स दैत्यः प्राप्तः श्रीर्नेत एवार्हति क्षय'मित्यत्रात्मनिर्देशो हृदयनिहितहस्तेन प्रतीयते । तथाप्यादिपदार्थत्वं तात्पर्यस्याप्यविरुद्धम् । जीवेऽभिधावृत्तिः, पुरुषोत्तमे तात्पर्यवृत्तिस्तस्या निर्णायिकेति वार्थः । परं वाकारोऽनादरे । तस्य वाक्यस्य सन्दिग्धत्वादिति वक्ष्यमाणभाष्यप्रकाशात् । सन्दिग्धेऽर्थे काव्यप्रकाशकारिकाप्रवृत्तेरुचितत्वात् ॥ ४९ ॥

नन्वेतया श्रुत्या न सर्वात्मभावलिङ्गात्मको भाव उच्यते, किन्तु व्यापकत्वेन सर्वरूपत्वेन स्वभिन्नाधिकरणाभावादन्यत्राप्रतिष्ठितत्वमेवोच्यत इत्यत उत्तरं पठति ।

अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववत् दृष्टश्च तदुक्तम् ॥ ५० ॥

भूमस्वरूपं श्रुत्वा 'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित' इति प्रश्ने 'स्वे महिम्नी'त्युत्तरम् । तदर्थस्तु स्वीयत्वेन वृते भक्ते यो महिमरूपः सर्वात्मभावस्तस्मिन्निति । स्वरूपात्मके महिम्नीति वा । भगवदात्मकत्वात् सर्वात्मभावस्य । तदितरस्य साक्षात्पुरुषोत्तमाप्रापकत्वात्तस्यैव तत्प्रापकत्वात् परमकाष्ठापन्नमहित्वरूपोऽयमेव भाव इति महिमशब्देनोच्यते । स तु विप्रयोगभावोदये सत्येव सम्यक् ज्ञातो

भाष्यप्रकाशः ।

अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववत् दृष्टश्च तदुक्तम् ॥ ५० ॥ सूत्रमवतारयन्ति नन्वित्यादि । तथाच पूर्वमुपक्रमगतवाक्यबलेन प्रत्यवस्थाने तस्य वाक्यस्य सन्दिग्धार्थकत्वादुपसंहारगतत्वेप्यसन्दिग्धाभ्यां ततः प्रबलाभ्यां श्रुतिलिङ्गाभ्यामेतद्वाक्यार्थनिर्णयेनात्र ताभ्यामात्मपदस्य पुरुषोत्तमपरत्वेप्येतया द्वितीयप्रश्नश्रुत्या यत् सर्वात्मभावसमर्थनम्, तन्न युक्तम् । तदुत्तरश्रुतौ पुरुषोत्तमस्य स्वप्रतिष्ठताया एव सिद्ध्या भवदुक्तसर्वात्मभावभक्तस्याधिकरणताया असिद्धौ सर्वात्मभावस्यात्र प्रतिपत्तुमशक्यत्वादित्याशङ्कायामिदं सूत्रं पठतीत्यर्थः । उक्ताशङ्कानिवारकं सौत्रं हेतुमुक्तश्रुतिविचारमुखेन व्याकुर्वन्ति भूमेत्यादि । यदुक्तमत्र सर्वात्मभावलिङ्गात्मको भावो नोच्यत इति । तन्न । यतोऽत्र भूमस्वरूपश्रवणानन्तरं तदाधारप्रश्ने सनत्कुमारेण 'स्वे महिम्नी'त्युत्तरमुक्तम् । तत्र स्वपदस्यात्मीयवाचकत्वे स्वीयत्वेन वृतो यो भक्तस्तन्निष्ठो यो महिमा सर्वात्मभावरूप उत्कर्षस्तस्मिन्नित्यर्थो भवति । यदि च स्वपदमात्मवाचकम्, तदा स्वरूपात्मके महिम्नीत्यर्थो भवति । स च महिमा सर्वात्मभाव एवेत्युभयथापि तस्य महिम्नो भगवत्स्वरूपात्मकत्वात्स्वपदं न विरुध्यते । नच तस्य स्वरूपात्मकत्वे कथं महिमरूपत्वमिति शङ्कनीयम् । सेतुत्ववदुपपत्तेः । तदितरस्य पुरुषोत्तमभिन्नस्य तत्प्रापकत्वाभावादस्य तदात्मकभावस्यैव तत्प्रापकत्वादयमेव सर्वोत्कृष्ट इत्ययमेव महिमपदेनोच्यते । स तु विप्रयोगभावोदये सत्येव सम्यक् परमत्वेन रूपेण व्यभिचारिभावैर्ज्ञातो भवति । ते त्वनियतस्वभावा इति ज्ञापयितुं त्रिविधाः

रश्मिः ।

अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववत् दृष्टश्च तदुक्तम् ॥ ५० ॥ उत्तरेति । तस्य प्रश्नस्य उत्तरश्रुतौ 'स्वे महिम्नी'ति श्रुतौ । सौत्रमिति । अनुबन्धरूपम् । सर्वात्मेति । वृतपदसमभिव्याहारात्तदुत्तरश्रुत्युक्तलिङ्गपदार्थरूपसर्वात्मभावरूप इत्यर्थः । सर्वेति । 'तपसो वाप्यलिङ्गा'दिति श्रुतेः । तदितरस्येत्यादिभाष्यं विवराञ्चकुः न चेत्यादिना । तत्प्रापकत्वेति । 'स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तमे'ति 'भक्त्या जानाति चाव्यय'मिति भक्तिपरमात्मनोः स्वज्ञानसाधनत्वादैक्योक्तेः पुरुषोत्तमभिन्नस्य तत्प्रापकत्वाभावात् । प्रवेशसाधनत्वात् द्वयोरैक्यं वा । 'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तर'मिति वाक्यात् । भाष्ये साक्षात्पदं प्रत्यक्षे तुल्ये वा । 'साक्षात् प्रत्यक्षतुल्ययो'रिति विश्वात् । स त्विति भाष्यं विवरांचक्रुः स त्विति । परेति । ननु सर्वात्मभावत्वेन सर्वात्मभावः कुतो न ज्ञातो भवतीति चेत् । न । परो मीयते ज्ञायते तेनाधिष्ठानेनेति परमस्तत्त्वेना-

भवति व्यभिचारिभावैः । ते त्वनियतस्वभावा इति ज्ञापयितुं त्रिविधाः । 'स एवाधस्ता'दित्यादिना, 'आत्मैवेद॑ सर्व'मित्यन्तेन निरूप्य, भूमप्रतिष्ठाधिकरणप्रश्ने, यदुत्तरितं 'स्वे महिम्नी'ति, तमेवानुबध्नाति, 'स वा एष' इत्यनेन, तच्छब्दस्य पूर्वप-

भाष्यप्रकाशः ।

तदादेशाहङ्कारादेशात्मादेशरूपास्तिस्रो विधास्तस्य भावस्य ज्ञापकाः प्रकारास्तांस्त्रीन् प्रकारान् 'स एवाधस्ता'दित्यारभ्य 'आत्मैवेदं सर्व'मित्यन्तेन निरूप्य, भूमप्रतिष्ठाप्रश्ने यदुत्तरितं 'स्वे महिम्नी'ति, तं महिमपदोक्तं भावमेवानुबध्नाति, 'स वा एष' इति तच्छब्दस्योक्तमहिमपरामर्शित्वात् तस्मिन् भक्ते 'एवं पश्य'न्नित्यादिना तत्कर्मकदर्शनादिकर्तृताबोधनेन तद्भाववैशिष्ट्यं बोधयँस्तमेव भावं महिमपदेऽनुषञ्जयति । तथाच, अनुबध्नातीत्यनुबन्धः पचाद्यच् । पूर्वं स्वपदेनार्थबलेन वा उक्तं भावमनुलक्षीकृत्य बध्नाति नियमयतीत्यनुबन्धः, 'स एष एवं पश्य'न्नितिवाक्यस्थः । स इति पूर्वपरामर्शः । आदिपदेन त्रिविधभावबोधकाः पश्यदादयो धर्माः । स च तदादयश्चेत्यनुबन्धादयः । द्वन्द्वः । तेभ्योऽनुबन्धादिभ्यश्चतुर्भ्यो हेतुभ्यः सर्वात्मभाव एव दृढीक्रियत इति

रश्मिः ।

धिष्ठानत्वेन ज्ञातो भवति, 'स्वे महिम्नी'ति श्रुतिसमाकलनवेलासत्त्वात् । अन्यत्र कालेपि श्रुतिसमाकलनजन्यसंस्कारोद्बोधे परमत्वेन न ज्ञातो भवति, अतो न सम्यक्, अधिष्ठानत्वेन, किन्तु सर्वात्मभावत्वेन, श्रुतिसन्दर्भाभावात् । तथा च 'महिम्नी'त्युक्ते सर्वात्मभावप्रतीतिर्यत्र, तत्र परमत्वेनाधिष्ठानत्वेन ज्ञानमहिम्नीत्यधिष्ठानसप्तम्याः । यत्र तु महिम्नीत्याद्यधिष्ठानप्रतीतिर्नास्ति, तत्र सर्वात्मभावत्वेन सर्वात्मभावः प्रतीयते । राजकीयपुरुष इत्यत्र राजकीयत्वेन पुरुषप्रतीतिवत् । अनुबध्नातीति । ननु तद्भावलिङ्गानुबन्धो दृश्यते, पूर्वं ह्यतीति [illegible], न तु सर्वात्मभावानुबन्ध इति चेत् । न । लिङ्गानुबन्धे तद्भावोऽनुबद्ध एव । लिङ्गेन सर्वात्मभावानुमानादित्याशयात् । अन्यथा महिमरूपः सर्वात्मभाव इति भाष्यविरोधः । 'यदुत्तरितं 'स्वे महिम्नी'ति तमेवानुबध्नाती'ति भाष्यविरोधश्चेति । तच्छब्दस्येति भाष्यं विवरामासुः स वा इति । दर्शनादीत्यादि । 'पश्य'न्नित्यत्र कर्तरि लटः शतृप्रत्ययः, मन्वान इत्यत्र शानच् । विजानन्नित्यत्र शता । एवं दर्शनादिकर्तृता । सा च दर्शनाद्यनुकूलव्यापारवत्ता । दर्शनाद्याश्रयतेति नैयायिकाः । तस्याः बोधनेनेत्यर्थः । तद्भाववैशिष्ट्यं लिङ्गात्मकभाववैशिष्ट्यं बोधयन् तं लिङ्गात्मकं भावं महिमपदे सर्वात्मभाववाचकेऽनुषञ्जयति । षञ्ज सङ्गे भ्वादिः (प्रेरणा) णिजन्तः सर्वात्मभावस्य प्रतिपादकतासङ्गमनुपश्चाल्लिङ्गात्मको भावः सजति तत्वात् । तर्हि स कीदृक् येन तत्रैव प्रतिष्ठित इत्याकाङ्क्षायां तं विवृणोतीति लिङ्गभूयस्त्वसूत्रभाष्यप्रकाशात् तं भावं 'स एवाधस्ता'दित्यादिश्रुतिरनुषञ्जयति, महिमपदवाच्यसर्वात्मभावव्याख्यात्री यतः । ननु प्रतिपादकतासङ्गो व्याख्यात्र्या श्रुत्या, न तु महिमपदेन, अतः कथं महिमपदेन श्रुतिरनुषञ्जयतीति चेत् । न । अर्थाभेदात् । यथा कलशपदार्थो हि कम्बुग्रीवादिमान् घटपदेपि सजति, अर्थाभेदात् तं कलशपदमनुषञ्जयति । पचेति । 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यच' इति सूत्रेण । स्वपदेनेति । 'स्वे महिम्नी'ति स्वपदेनार्थबलेम्, तदितरेतिभाष्योपपादितं तेन वेत्यर्थः । बध्नातीति । 'स एवं पश्य'न्नित्यादिश्रुतिस्थं दर्शनादिकर्तारं श्रुतिः सैव बध्नातीत्यर्थः । स चेति । 'स एवाधस्ता'दित्यादिदर्शना'दिकर्ता तदादय आत्मादेशाहङ्कारादेशात्मादेशरूपास्तिस्रो विधाः । अतो वक्ष्यते चतुर्भ्यो हेतुभ्य इति । दृढीक्रियते इति । तदितरेत्यादिभाष्योपपादितो महिमरूपः सर्वात्मभाव एव श्रुत्यानुबन्धात् । ननु

१. करणक ।

भाष्यप्रकाशः ।

तस्य न बाध इति सूत्रे योजना । न बाध इति पूर्वसूत्रस्थमत्राप्यनुषज्जते । वस्तुतस्त्वत्र 'प्रज्ञान्तरपृथक्त्वव'दिति दृष्टान्तबोधितं भावपृथक्त्वमेव साध्यम् । तथाच प्रज्ञान्तरस्य यथा पृथक्त्वमस्ति, तथास्य भावस्यापि पृथक्त्वम् । यदि हि 'स्वे महिम्नी'त्यत्रान्यत्राप्रतिष्ठितत्वादिकमभिप्रेतं स्यात्, न भावपृथक्त्वम्, तदानुबन्धादिकं न कुर्यात्, करोति च तत्, अतस्तथेत्यर्थः । पृथक्त्वप्रकारश्चाग्रे भाष्य एव 'मुमुक्षुभक्तस्ये'त्यादिरूपे तद्विवरणे स्फुटः । एवं स्वोक्तं व्यवस्थाप्य परोक्तं

रश्मिः ।

न नूनं सर्वात्मभावानुबन्धः 'स एवाधस्ता'दित्यादिश्रुत्युक्तसर्वात्मभावलिङ्गभावरूपं यद्दर्शनादि तत्कर्त्रनुबन्धादिति चेत् । न । नूनं सर्वात्मभावानुबन्धो लिङ्गेपि सर्वस्मिन्नात्मभावः सर्वात्मभावः इति व्युत्पत्तिनिरूपणात् । लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणे भाष्यप्रकाशे 'तर्हि स कीदृक् येन तत्रैव प्रतिष्ठित इत्याकाङ्क्षायां तं विवृणोति । 'स एवाधस्ता'दित्यादि'रूपग्रन्थाल्लिङ्गलिङ्गिनोरभेदोक्तेश्च । कर्त्रनुबन्धस्य भावाधीनबन्धाच्च । भावं लक्षीकृत्य कर्तुर्बन्धात् । अन्यथा बन्धादिभ्य इत्येव सूत्रयेत् । तथा च सर्वात्मभाववतोऽनुबन्धात् सर्वात्मभावबन्धात् महिमपदेन सर्वात्मभाव उच्यते इत्यनुबन्धहेतुना स भावो दृढीकृतः । ननु महिमशब्दस्य क्व शक्तिः, न तावज्जगति, 'एतावानस्य महिमे'ति श्रुतिनिरुक्तशक्तिः । 'गो अश्व महिमे'त्यादिना जगदेकदेशगवाश्वादिषु महिमपदशक्तिमनूद्य 'नाहमेवं ब्रवीमी'ति शक्तिनिषेधात् । किन्तु 'महिमानमीश'मिति श्रुतेः शिवे शक्तिः, स तु 'ज्ञानेन भक्ते'ति श्रुतेः सर्वात्मभाववान् । भक्तेत्यत्र भक्तेः सर्वात्मभावरूपमुख्यभक्तिरूपत्वसम्भवात् । अत्रापि महिमपदशक्तावपि सर्वात्मभावस्याप्रसिद्धेर्दर्शनाच्चेतिसूत्रे व्रजसीमन्तिन्य उदाहृताः । प्रहस्ते महिमपदस्य सामर्थ्यं शक्त्युक्तेः । श्रुतिधूद्धारकत्वरूपसामर्थ्यस्य महिमत्वात् । प्रकृत उद्धारकत्वस्य सर्वात्मभावरूपत्वात् । 'दर्शनाच्चे'ति सूत्रात् । अत्र महिमपदं वेदान्तविषयत्वेन योगाद्वर्तते । योगस्तावत् । 'महु वृद्धौ' भ्वादिरात्मनेपदी, 'मह पूजने' भ्वादिः परस्मैपदी, 'महु भासे' चुरादिः परस्मैपदी, मंहति वृद्धिं कुरुत इति महो भगवान् तस्य भावो वृद्धिर्जगद्रूपेति जगदेतावान् महिमा । मंहयति भासते यो भगवान्, स महः, तस्य भावो महिमा शिवो भासारूपो 'महिमानमीश'मिति श्रुत्युक्तः । महति पूजयति यः सत्याख्यो भगवान् स महः, तस्य भावो महिमा पूजनाख्या 'यत्र नान्यत् पश्यती'त्यादिश्रुत्युक्ता । तद्धितान्तः । इम निच् । टिलो पः सर्वत्र । नन्दीति सूत्रेणाच् सर्वत्र । उँदित्वान्नुम् । उदितो नुम्धातोः । ननु 'सत्यं ज्ञान'मित्यादिस्वरूपलक्षणे सत्यनिष्ठा पूजा कथं स सर्वात्मभावरूपेति चेत् । न । भक्तेति श्रुतेः सत्याख्ये शिवादौ मुख्यभक्तिसर्वात्मभावरूपपूजाया युक्तत्वात् प्रकृतेऽन्यत्र तु यथावस्तुप्रपञ्चमित्येकेनानुबन्धरूपहेतुना स भावो दृढीकृतः । एवमात्मादेशाहङ्कारादेशात्मादेशैर्लिङ्गैः सर्वात्मभावोऽनुमितिविषयीकृतो दृढीकृतः । भक्तः सर्वात्मभाववान् आत्मादेशादहङ्कारादेशादात्मादेशाच्च । स स स स जगति सकले पश्यन्ती विरहिणीवदित्यत्र भक्तः सर्वात्मभाववानित्यनुमितिः । एवं चतुर्भिर्हेतुभिर्दृढीकृतेन सर्वात्मभावेन पूजयतीत्यत्र सर्वात्मभावाभिन्नं पूजनं करोति, 'प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यान'मिति वार्तिकेन तृतीयाऽभेदे । हेतौ तृतीयायां तु सर्वात्मभावेन पूजां सत्कारं करोतीत्यर्थः । भक्तिवर्धिनीटीकायां श्रीगोकुलनाथजिद्भिः 'पूजया श्रवणादिभि'रित्यत्र पूजापदं 'पूजां दधुः सप्रणयावलोकै'रित्यत्रेव व्याकृतमिति । न चैवं महिमपदे क्लिष्टकल्पनेति वाच्यम् । मीमांसाशास्त्रस्य विचारशास्त्रत्वाद्विचारस्य चैवंविधत्वात् । तस्य न बाध इति ।

१. 'उदित्त्वान्नुमुदितोर्द्वयोर्धात्वोः' इति मूलपाठः । २. इदं लक्षणं समन्वयद्वितीयपादे विचारितम् । ३. लिङ्गात्मकभावः ।

रामर्शित्वात् । एवं सति त्वदुक्तमन्यत्राप्रतिष्ठितत्वं चेदिह प्रतिपाद्यं स्यात्, तदोक्तरीत्यानुबन्धं न कुर्यात्, अहङ्कारादेशादिकं च न कुर्यात्, उक्तप्रश्नोत्तरं स्वान्यत्वस्वभावात् 'न क्वापी'त्येव वदेत् । तस्मादस्मदुक्त एव मार्गोऽनुसर्तव्यः । आदिपदात् त्रिविधा ये भावा उक्ताः, तेषामपि स्वरूपं 'एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजान'न्निति क्रमेण यन्निरूपितं तदुच्यते । पूर्वं श्रुतिविगाढभावेन तदितरास्फूर्त्या तमेव सर्वत्र पश्यति । एतदेवोक्तं 'एवं पश्य'न्नित्यनेन । ततः किञ्चिद्बाह्यानुसन्धानेऽहङ्कारादेशो भवति । स त्वहमेव सर्वतः स्वकुलिसामर्थ्येन तं प्रकटीकरिष्य इति मनुते ।

भाष्यप्रकाशः ।

दूषयन्ति एवं सतीत्यादि । एवं सतीति । अनुबन्धादिस्वरूपविचारेणोक्तरीत्या श्रुतेः सामञ्जस्ये सति । एवं सतीत्यस्य तस्मादित्यनेन सम्बन्धः । तथाचैवं श्रुतिसामञ्जस्ये सति तस्मात् । अनुबन्धकरणाहङ्कारादेशादिकरण'न क्वापी'त्यवदनरूपाद्धेतुत्रयात् तथेत्यर्थः । ननूक्तहेतुत्रयात् यद्यपि पूर्वपक्ष्यभिमतं बाध्यते, तथापि त्रिविधभावैः सिद्धान्त्यभिमतं कथं सिध्यतीत्याकाङ्क्षायामादिपदोक्तानां स्वरूपं व्याख्यातुं प्रतिजानते आदीत्यादि । तदुच्यत इति । तत् व्याख्यायते । व्याकुर्वन्ति पूर्वमित्यादि । एतदेवेति । एतादृशं दर्शनमेव । स त्विति । अहङ्कारादेशवाँस्तु ।

रश्मिः ।

अनुबन्धादिभ्य आत्मरत्यादि भवत्यतस्तस्य सर्वात्मभावस्य न बाध इत्यर्थः । ननु 'ततोऽतिदेन्येने'त्यादिवक्ष्यमाणभाष्यादनुबन्धादिभ्य आत्मरत्यादि भवतीत्येव सूत्रमस्त्विति वाच्यम् । 'नन्वेतया श्रुत्या न सर्वात्मभावलिङ्गात्मको भाव उच्यते' इति प्रकृतसूत्राभासोक्तस्य कारणत्वात् सूत्रपठने । अतोऽनुबन्धादिभ्यः सर्वात्मभावलिङ्गात्मकभावस्य न बाध इति युक्तमेव । उक्तेति । कर्तृद्वारा सर्वात्मभावानुबन्धरीत्या सर्वात्मभावलिङ्गत्रयकथनरीत्या च श्रुतेः 'स्वे महिम्नी'त्यस्याः प्रतिपाद्यसामञ्जस्य इत्यर्थः । न चानुबन्धादिभ्योऽन्यत्राप्रतिष्ठितत्वं सिध्यति । तस्यार्थस्य ज्ञानमार्गीयत्वात् । आत्मादेशादेरसम्भवाच्च । श्रुत्यादिबलीयस्त्वादिति सूत्रे ज्ञानप्रकारविशेषदूषणाच्च । भक्तिमार्गीयव्याख्याने तु 'व्यतिहार' इति सूत्रोक्तसञ्चारिरूपस्य सुखेन सर्वात्मभावलिङ्गत्वसम्भवाच्च । तथेति । अस्मदुक्तमार्गोऽनुसर्तव्यत्वेन प्रकारेणेत्यर्थः । अतोऽस्मदुक्तोऽस्माभिः 'तन्निर्धारणानियम' इत्यधिकरण उक्तः, कृत्यविषयोपि मार्गो भक्तिमतां भक्तिमार्गमनु पश्चात् सर्तव्यः प्राप्तुं योग्यः । 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' इति सूत्रेण उक्तमार्गोनुसर्येत इति वार्थः, कर्मणि तव्यसूवद्वा । भाष्य एवकारस्तु कर्ममार्गस्य हिरण्यगर्भातिरिक्तामोचकत्वेन ज्ञानमार्गस्याक्षरमात्रप्रापकत्वेन भक्तिमार्गस्यैव मार्गत्वात् । तदुक्तं तृतीयसुबोधिन्यां पञ्चविंशाध्याये सिद्धान्तान्तरनिरूपणोक्तिपुरस्कारेण चतुश्चत्वारिंशे श्लोके 'सर्वं शास्त्रार्थं निरूप्य परलोकार्थं यतता अस्मिन् लोके एतावानेव निःश्रेयसोदयः, तच्चेत् स्थिरीभवति, तदा कृतार्थता, तत्स्थिरीकरणार्थं भक्तिरेव, केनापि प्रकारेण भगवति स्थिरं मनः परमपुरुषार्थसाधकमिति योगसिद्धान्तः । तत्र भक्तिरेव स्थिरीकरणे हेतुरिति स्वसिद्धान्तानुसारेणापि भक्तिर्निरूपिता, भागवतानुसारेणापि । तस्माद्भक्तिः सर्ववादिसम्मतेति सैव कर्तव्या' ति । इयं भक्तिमार्गस्य कृतिविषयस्य विषयीकुर्वाणा मुख्यभक्तिरूपसर्वात्मभावमपि सिद्धान्तविषयीकरोति । कैमुतिकन्यायेन 'इत्येकादशसर्वस्वं भगवान् स्वयमुक्तवा'निति सर्वनिर्णयोपान्त्ये उक्तं कृत्यविषयमपि । 'तस्मादन्यवचो मृषे'ति सर्वनिर्णयात् । अनुभवाच्च । एतादृशमिति । एवंपदादिति भावः । न तु ज्ञानमार्गीयाभेददर्शनम्, एवंपदेन पूर्वविमर्शात् । पूर्वत्र

करोति च तथा । अत एवान्वेषणगुणगाने कृते ताभिः । एतदेवोक्तं 'एवं मन्वान' इत्यनेन । ततो निरुपधिस्नेहविषयः पुरुषोत्तम आत्मशब्देनोच्यते इति तदादेशो भवति । तदा पूर्वकृतस्वसाधनवैफल्यज्ञानेनातिदैन्ययुक्तसहजस्नेहजविविधभाव-

---

भाष्यप्रकाशः

तथाचाहङ्कारादेशोक्तरीत्या स्वभाने स्वस्मिन् सामर्थ्यविशेषभानादहमेव सर्वैः प्रकारैः 'स्वसामर्थ्येन तं प्रकटीकरिष्य इति मनुत' इत्यादिकथानया पङ्क्तिकयाहङ्कारादेशफलमुक्तम्, प्रामाणिकत्वाय परिचायितं च । 'ततो निरुपधी'त्यादिना चात्मादेशभानफलमुक्तम् । एवं विधात्रयोक्तानां स्वरूपं

रश्मिः ।

मम तत्स्वाम्युपरिष्टादित्यादिस्फूर्तौ षष्ठ्या भेदावगाहिन्या आक्षेपात् । 'अन्तरा भूतग्रामवत् स्वात्मन' इति सूत्रे भक्तानां भेदस्यादोषस्योक्तेः । अत एवकारोपि । **स्वभान** इति । व्यापकत्वेन भाने । नन्वस्त्व-भिन्नानां भक्तानां व्यापकत्वम्, आधुनिकानामणूनां जीवानां तु व्यापकत्व'मानन्दादयः प्रधानस्ये'ति सूत्रविरुद्धमिति चेत् । न । सायुज्ये तदीयव्यापकत्वस्य जीवेष्वङ्गीकारात् । **तमिति** । व्यापकमपि । **मनुत** इति । 'मन्वान' इति श्रुतौ 'मनु अवबोधन' इत्यस्य तनोत्यादिगणस्थस्योपादानम् । न तु मन्यत इति दिवादिगणस्थस्य, 'मन ज्ञान' इत्यस्य नवा 'मानयत' इति चुरादिगणस्थ'मनि स्तम्भ' इत्यस्य मन्यमान इति मानयान इति चाप्रयोगात् । अवबोधत इत्यर्थः । भाष्ये भागवतमतेनाहुः **करोति चेति** । अहं करिष्य इत्यत्र । ब्रह्महृदे नीतानां मग्नानां ब्रह्मभूतानामहमः प्राकट्यस्य 'ततोऽहं नामाभव'दिति पुरुषविधब्राह्मणादुक्तव्यतया 'करोति च तथे'त्युक्तम् । ननु श्रौतं 'मनुत' इत्येतावदेव भणतीत्यलं भागवताय करोतीत्यस्यैपदायेति चेत्, तत्राहुः **अत एवेति** । कृष्णोपनिषदि 'तस्मान्न भिन्ना एतास्ता आभिर्भिन्नो न वै विभु'रित्यभिन्नत्वेन तच्छब्दाभिहिताभिः कृते फलप्रकरणे इति श्रौते ते, मनुत इति श्रौते पूरणीये इत्यर्थः । **एतदेवेति** । एवकारेण 'मन ज्ञाने' इत्यस्यानिटो मन्तव्य इत्यस्य युक्तिभिरनुचिन्तनरूपमननस्य व्यवच्छेदः । 'मनु अवबोधन' इति सेटस्तदर्थाभावात् । दर्शनसाधनत्वाच्च युक्तिभिरनुचिन्तनरूपमननस्यास्य प्रकृतमननस्य दर्शनानन्तरभावित्वाच्च । एवंपदाच्च । **प्रकृते** । फलमिति । 'अहमेवाधस्ता'दित्यादिस्फूर्तेरहमेव सर्वैः प्रकारै'रित्यादिपङ्क्तिकयोक्तं फलं '**अत एवे**'त्यादिभाष्येण परिचायितमित्यर्थः । **तत** इति । अन्वेषणस्य प्रकटीकरणार्थत्वेन गुणगानस्य दोषनाशार्थत्वेन दोषनाशानन्तरं 'नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायत' इति वाक्योक्तन्यायान्निरुपधिस्नेहस्तद्विषयस्तु पुरुषोत्तमः । भक्तेः सर्वात्मभावत्वात् । 'इन्द्रियाणि जुहोती'तिश्रुतेः । न च तृतीयमार्गत्वमिति वाच्यम् । श्रुतीनां वैराग्यशमदमतितिक्षामुमुक्षुत्वानामवर्जनीयत्वात् । साधनचतुष्टयवतां भक्तानां तृतीयमार्गत्वं चिन्त्यम् । विरहकालेऽन्वेषणपूर्वकृतगुणगानसाधनानां भगवदप्राकट्ये वैफल्यं तस्य ज्ञानस्य दैन्यकारणत्वम्, न तु वैफल्यस्य, अतो ज्ञानपदम् । तेनातिदैन्यं कातरत्वं आर्तिरूपाधिकारिरूपं रसनिविष्टं स्नेहे विविधभावोत्पत्तौ कारणं भवतीति स्नेहे तद्युक्तत्वमुक्तम् । सहजपदेनानुग्रहजन्यत्वसूचनात् स्नेहे पुष्टिभक्तित्वम् । साधनजन्यत्वे स्नेहस्य सहाविर्भावो न स्यात् । स्नेहस्य तु स्वभाव एव यद्विविधभावजनकत्वम् । अतिरिक्तत्वेऽत्र गौरवम् । एतेन भाष्येण 'विजान'न्नितिश्रुतौ विविधभावप्रादुर्भाव उक्तः । 'जनी प्रादुर्भाव' इति धातोः । 'ज्ञा अवबोधन' इत्यस्य रूपं विजानन्निति, तदा तु विविधभावविषयकज्ञानवत्त्वेन विविधभाववान् ज्ञानद्वारेति भाष्यार्थः । **तत** इति । इदमेवात्मादेशभानफलं

वान् भवति । तदेतदुक्तं 'एवं विजान'न्नित्यनेन । अत एवोपसर्ग उक्तः । ततोऽतिदैन्येनाविर्भावे सति या अवस्थाः, ता निरूपिता 'आत्मरति'रित्यादिना । अत्रात्मशब्दाः पुरुषोत्तमवाचका ज्ञेयाः । अन्यथौपचारिकत्वं स्यात् । मुख्ये सम्भवति तस्यायुक्तत्वात् । ननु सर्वात्मभावस्यापि मुक्तौ पर्यवसानम्, उत नेति संशयनिरा-

---

भाष्यप्रकाशः ।

व्याख्यायाग्रिमग्रन्थं योजयन्ति **ततोऽतिदैन्य** इत्यादि ।

सूत्रांशमवतारयन्ति नन्वित्यादि । ननूक्तयुक्तिभिरत्र भवतु सर्वात्मभावः, तथाप्यत्र फलत्वेन सर्वग्रन्थिप्रविमोक्षस्यैवोक्तत्वात्तस्य च 'भिद्यते हृदयग्रन्थि'रिति श्रुत्यन्तरस्वारस्येन परावरदर्शनस्य यत्फलं तस्यैवात्र ग्राह्यत्वात्तस्य च 'तमेवं विद्वानमृत इह भवती'त्यादिश्रुत्यन्तरेषु मुक्तिरूपस्यैव सिद्धत्वादस्य भावस्यापि मुक्तावेव पर्यवसानमिति फलतो न कश्चिद्विशेषः । अथ, न, तदोक्तस्य फलवाक्यस्य विरोध इत्यस्यापि फलबलेन पूर्वज्ञानविशेषत्वमेवादर्तव्यमितिशङ्कानिरासाय दृष्टान्तमाहे-

रश्मिः ।

तदुक्तमित्यर्थः । **अग्रिममिति** । अनुबन्धादिभ्यः किं भवतीत्याकाङ्क्षायामात्मरत्यादि भवतीति सूत्रं योजयितुमग्रिममित्यादिः । **तत** इत्यादि । ननु 'भक्त्याहमेकया ग्राह्य' इति वाक्येन सर्वात्मभावस्य पुरुषोत्तमाविर्भावकारणत्वोक्तेरतिदैन्यस्याविर्भावकारणत्वं कथमिति चेत् । न । भक्तित्वेनेति वदामः । यतोत्र भाष्येऽतिदैन्यस्याविर्भावहेतुत्वोक्तिर्भक्त्यन्तःपातित्वेन भक्तित्वात् । अत एव भगवदाविर्भावे भक्तदुःखं 'भूमिर्माता तथा चान्ये दुःखभाजो हरिप्रिये'ति कारिकया हेतुत्वेनोक्तम् । **सूत्रांशमिति** । प्रसङ्गसङ्गत्या सूत्रांशेऽग्रेतनसूत्रेषु त्रिषु च फलं विचारयन्तः सूत्रांशमित्यर्थः । प्रदानवत्सूत्रे सर्वात्मभावसाधनं लिङ्गभूयस्त्वादिसूत्रे प्रमाणप्रमेये विचार्य फलं विचारयितुं सूत्रांशादारभ्य विचारः । चतुर्भिर्विचार एकादशस्कन्धसर्वस्वत्वात् सर्वात्मभावस्य । तथाचानुबन्धादिभ्य आत्मरत्यादि भवति, अतः सर्वात्मभावस्य न बाधः । आत्मरत्यादिना तज्जनकत्रिविधस्फूर्तेः सर्वात्मभावरत्यादिजनकत्रिविधस्फूर्त्या सर्वात्मभावस्यानुमानात् । पुष्टिमार्गीयात्मरत्यादिजनकस्फूर्तिवारणाय सर्वात्मभावरत्यादिजनकेति विशेषणम् । **अथ नेति** । न मुक्तौ पर्यवसानमपि त्वतिदैन्येनाविर्भावे सति या अवस्था आत्मरत्यादयस्ता एवेत्युत नेति भाष्यं व्याकृतम् । **विरोध** इति । सन्देहपूर्वकः । अत'स्ततः श्लोकैस्तद्भावस्वरूपमुक्त्वैतस्य मूलकारणमाहाहारशुद्धा'वित्यादिनेति भाष्यस्य न विरोधः । **पूर्वज्ञानेति** । पूर्वप्रपाठकोक्ताभेदज्ञानेत्यर्थः । **शङ्केति** । ननु शङ्का तर्कः संशयो विरुद्धकोट्यवगाहि ज्ञानमिति भाष्यस्थसंशयपदविवरणं शङ्केत्यनुपपन्नमिति चेत् । न । एतादृशव्याख्याने शङ्कापदस्य संशयाविवरणत्वात् । संशयस्याथ नेत्यन्तग्रन्थे परिसमाप्तेः । **दृष्टान्तमिति** । मुक्त्यपर्यवसाने दृष्टान्तम् । नन्वात्मरत्यादिजनकसर्वात्मभावलिङ्गात्मकभावे दृष्टान्तमित्यर्थः कुतो न कृत इति चेत् । न । **सूत्राणाम**ल्पाक्षरत्वात् । 'अल्पाक्षरमसन्दिग्ध'मित्यादिवाक्यात् । स्फुटं सर्वनिरूपणे त्वल्पाक्षरत्वं भज्येत । संशयपदात् । 'आत्मरतिः आत्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवती'ति विषयः सूचितः । संशयस्तु सर्वात्मभावस्य मुक्तौ पर्यवसानम्, उतात्मरत्यादावेव, तथा च 'स स्वराड् मुक्तो वा स्वेन रूपेण राजत' इति भजनानन्दवान् वा । स्वेन भगवता राजत इति । कर्तरि क्विप् । तत्र पूर्वपक्षः स्वराड् मुक्त एव, कुत इत्यत उक्तं भाष्यप्रकाशे तदेत्यादि । तदा संशयकाल उक्तस्याहारशुद्धावित्यस्य फलवाक्यस्य विरोध इत्यस्यापि फलबलेन पूर्वज्ञानशेषत्वमेवादर्तव्यमिति । सिद्धान्तस्तु, न मुक्तौ पर्यवसानम्, किन्तु भजनानन्द इत्यवान्तराधिकरणकम् । तदाहुः **दृष्टान्तमिति** ।

साय दृष्टान्तमाह प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववदिति । मुमुक्षुभक्तस्य स्वेष्टदातृत्वेन भगवद्विषयिणी या प्रज्ञा, सा सर्वात्मभाववद्भक्तप्रज्ञातः प्रज्ञान्तरमित्युच्यते । तच्च कर्मज्ञानतदितरभक्तप्रज्ञाभ्यः पार्थक्येन तदिष्टमेव साधयति यथा, तथा सर्वात्मभाववतो भक्तस्य यत्प्रकारिका भगवद्विषयिणी प्रज्ञा, तमेव प्रकारं स भावः साधयति, नान्यमिति न मुक्तौ पर्यवसानमित्यर्थः । अत्र व्यासः स्वानुभवं प्रमाणत्वेनाह दृष्टश्चेति । उक्तभाववतो भक्तस्य प्रभुस्वरूपदर्शनाद्यतिरिक्तफलाभावोऽस्माभिरेव दृष्ट इत्यर्थः । एतादृशा अनेके दृष्टा इति नैकस्य नाम गृहीतम् । अत्र शब्दमपि प्रमाणमाह तदुक्तमिति । भगवतेति शेषः । श्रीभागवते दुर्वाससं प्रति 'अहं भक्तपराधीन' इत्युपक्रम्य, 'वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथे'ति । यो हि यद्वशीकृतः, स तदिच्छानुरूपमेव करोति, अतो न सायुज्यादिदानम्, किन्तु भजनानन्ददानमेव । तेषां मुक्त्यनिच्छा तु 'मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादिचतुष्टयम् । नेच्छन्ति

भाष्यप्रकाशः ।

त्यर्थः । दृष्टान्तं व्याकुर्वन्ति मुमुक्षुभक्तस्येत्यादि । तथाच अन्या प्रज्ञा प्रज्ञान्तरम्, तत्कृतं पृथक्त्वं प्रज्ञान्तरपृथक्त्वम्, षष्ठ्यर्थे वतिः । अतः प्रज्ञान्तरफलस्येवैतत्फलस्यापि पृथक्त्वमेवेति नैतस्य बाध इत्यर्थः । नच फलोक्तिविरोधः । दर्शनस्य प्रागेव जातत्वेन अविद्याकामकर्मजन्यहृदयग्रन्थिभेदस्य प्रागेव जातत्वादत्र ततोऽतिरिक्तस्यैव फलस्य सर्वेषां एकत्वपर्यन्ताशास्वरूपाणां ग्रन्थीनां प्रकृष्टो विलक्षणो यो मोक्षः पुनस्तदनुद्भवरूपस्तस्याभिप्रेतत्वेनाविरोधात् । अग्रिमं शेषद्वयमवतारयन्ति अत्र व्यास इत्यादि । अत्र शब्दमित्यादि च । तादृशां मुक्तिपर्यन्तानिच्छां निगमयितुमाहुः तेषां मुक्त्यनिच्छेत्यादि । तथाच ज्ञानमार्गीयभगवद्दर्शने हृदयग्रन्थिभेदनं नानाविधवृत्त्यनुदयरूपम्,

रश्मिः ।

प्रज्ञान्तरेति । अत्र पृथक्पदार्थः फलत्वेन गृहीतः । प्रज्ञान्तरकृतपृथक्पदार्थफलस्येवेत्यर्थः । न च प्रज्ञान्तरपृथक्त्वस्येवेति वक्तव्यमिति वाच्यम् । पृथक्फले तात्पर्यात् । कीदृशोऽद्भुतो घट इति वक्तव्ये कीदृशमद्भुतं घटत्वं येनेदृशो घट इति तात्पर्येण कीदृशमद्भुतं घटत्वमिति प्रयोगवत् । एतत्फलस्येति । सर्वात्मभावफलस्य । नैतस्येत्यत्र पूर्वसूत्रादनुवर्तितमत्राप्यनुषञ्जितम् । तेन प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववन्न बाध इति वाक्यभेदः । वाक्यभेदस्य सूत्रेऽदोषत्वं अल्पाक्षरत्वसारवत्त्वाभ्याम् । भाष्ये । यत्प्रकारिका भजनानन्ददातृत्वप्रकारिका । तमेव भजनानन्ददातृत्वं भजनानन्द एव । तथा च भजनानन्दमेव । प्रकृते । फलेति । आहारशुद्धाविति श्रुत्युक्तफलोक्तीत्यर्थः । प्रागेवेति । 'मुक्तोपसृप्यव्यपदेशा'दिति व्याससूत्रात्तथा । तथा च पाठक्रममनादृत्यार्थक्रमेणाहारशुद्ध्यादिना मुक्तः सर्वात्मभाववानुपसर्पति भगवन्तमिति पाठक्रमानादरे हेतुरुक्तः । तथा च भाष्यं ततः श्लोकैरित्यादि लिङ्गभूयस्त्वसूत्रस्य । अत्रेति । भक्तिमार्ग इत्यर्थः । पुनरिति । 'भजते नैव तादृश' इति निबन्धादविद्यानुद्रमेन तथा । अवीति । प्राग्जातत्वाविरोधात् । न च पूर्वापरभावविरोधः । पाठक्रममनादृत्यार्थक्रमादरार्थं 'अग्निहोत्रं जुहोति यवागूं पचती'तिवत् पूर्वापराविरोधात् । अत्र व्यास इति । दृष्टः समाधिभाषोक्तसमाधौ । अनेके जैमिन्यौडुलोमिप्रभृतयः सूत्रप्रसिद्धा अस्माभिर्दृष्टा इत्यर्थो भाष्यस्य दृष्टानेकदृष्टपदानाम् । प्रमाणमिति भाष्यं नैयायिकप्रसिद्ध्या, अन्येषां श्रौतप्रामाण्यात् । दर्शनेति । ज्ञानमार्गीयत्व-

सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत् कालविप्लुतम् । स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः । सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत । दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जना'इत्यादिवाक्यसहस्रैर्निर्णीयते ॥ ५० ॥

न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्न हि लोकापत्तिः ॥ ५१ ॥

ननु 'नान्यत् पश्यती'त्यारभ्य सर्व . . . प्रपाठकस्य सर्वात्मभावनिरूपकत्वोक्तिरनुपपन्ना । अत एवात्मपदानां पुरुषोत्तमपरत्वोक्तिश्च । यतस्तस्य मुक्तावपि कामाभावः प्रतिपाद्यते । अत्र तु तस्य 'सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवती'ति श्रुतिः पठ्यते । एवं सति न तन्निरूपणपरत्वेति वा वाच्यम्, तद्भाववतोऽप्यन्यकामवत्त्वमिति वा । द्वितीयस्योक्तप्रमाणपराहतत्वेनाद्यपक्ष एवाश्रयणीय इति पूर्वपक्षं

भाष्यप्रकाशः ।

अत्र तु सर्वग्रन्थीनां प्रविमोक्षो भगवद्विषयकनानावृत्त्युदयेपि एकत्वपर्यन्तानिच्छारूप इति दर्शनभेदात् फलभेदस्तत्क्रतुन्यायादप्युपपन्न इत्यर्थः ॥ ५० ॥

न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्न हि लोकापत्तिः ॥ ५१ ॥ सूत्रमवतारयन्ति नन्वित्यादि । प्रतिपाद्यत इति । श्रीभागवते कपिलादिवाक्यैः प्रतिपाद्यते । अत्र त्विति । श्रौते सनत्कुमारवाक्ये तु । एवं सतीति । स्मृतिश्रुत्योर्विरोधे सति । उक्तप्रमाणपराह-

रश्मिः ।

भक्तिमार्गीयत्वधर्माभ्यां 'तस्मिन् दृष्टे परावरे' इति श्रुत्युक्तदर्शनभेदात् फलस्य हृदयग्रन्थिभेदस्य लिङ्गदेहभेदस्य भेदः । तत्क्रतुन्यायः 'सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशा'धिकरणसिद्धः । तत्र क्रतुभेदात् फलभेदः । भाष्ये । वाक्यसहस्रैरिति 'सहस्राणी'ति श्रुतेर्बहुवचनं विंशत्याद्याः सदैकत्व इत्यन्यत्र । योजनातः सहस्राणीति लोके तृतीयस्कन्धे । तथा चैष सूत्रार्थः । अनुबन्धादिभ्यश्चतुर्भ्यो हेतुभ्योऽत्र चकारो लुप्तषष्ठीकोऽनुक्तसमुच्चये वर्तते । चस्यार्थस्यात्मरत्यादिजनकसर्वात्मभावलिङ्गात्मकभावस्य सूत्रानुक्तरूपस्य न बाधोऽस्ति । प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववत् सर्वात्मभावफलस्यापि न बाधोऽस्ति । भजनानन्दो व्यासपादैर्दृष्टो भवति समाधिभाषायाम् । भगवतोक्तं चास्ति । अथ चतुर्णां वाक्यानां दण्डान्वयः । तदुक्तं दृष्टः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववन्मुक्त्यपर्यवसानार्थस्तद्युक्तोऽनुबन्धादिभ्यश्चकारार्थांश आत्मरत्यादिस्तज्जनकसर्वात्मभावलिङ्गात्मकभावस्य न बाध इति । चादीनां वाचकत्वमपि प्रस्थानरत्नाकरेऽस्ति । मुक्त्यपर्यवसानरूपोऽर्थोपि चकारार्थः ॥ ५० ॥

न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्न हि लोकापत्तिः ॥ ५१ ॥ पूर्वपक्षं निरस्यन्तीति वक्ष्यमाणभाष्यत्रिसूत्राधिकरणसन्देहं वारयन्ति सूत्रमिति । त्रिसूत्रे अधिकरणे, सूत्रमिति वा । श्रीति । 'अकाम'इति श्रुत्या उपलक्षकः प्रकाशः । वाक्यानि तु 'सालोक्यसार्ष्टिसामीप्ये'त्यादि । 'मुक्तसङ्गस्ततो भूयानदोग्धा धर्ममात्मनः' । 'आत्मनो धर्ममदोग्धा निःकाम' इत्यर्थ इति श्रीधरी । 'सालोक्यसार्ष्टिसामीप्य'मिति । आदिपदेन 'मत्सेवया प्रतीतं चे'ति भगवद्वाक्यं सार्धम् । स्मृतीति । स्मृतिपदं श्रुतेरप्युपलक्षकम् । उक्तस्मृतीति । उक्तश्रुतिमुपलक्षयति । उक्तानि 'दर्शनाचे'तिसूत्रभाष्येण 'तदुक्त'मिति सूत्रांशेन चोक्तानि स्मृतिवाक्यानि तैः पराहतत्वम्, श्रीभागवतस्य वेदवेदान्तसारत्वात् । स्मृतीनां सर्वात्मभावप्रकरण उदाहृतत्वेन तद्विरुद्धश्रुत्यर्थः स्यात्, मन्त्रिकत्वद्योतनं वा

निरस्यति। नेति। तत्र हेतुमाह सामान्यादप्युपलब्धेरिति। तत्समानधर्मयोगादपि तत्प्रयोगः श्रुतावुपलभ्यतेऽनेकशो यतः। प्रकृतेपि विविधानां लोकानां विविधसुखप्रधानत्वाद्भगवत्सम्बन्धिषु सर्वेषु सुखेषु कामचारो भवतीति श्रुतेरर्थो ज्ञेयः। ननु यथाश्रुत एवार्थोऽस्तु, तत्राह न हि लोकापत्तिरिति। सर्वात्मभाववत इति प्रकरणात् 'नान्यत् पश्यती'त्यादिधर्मविशिष्टस्यात्मनः प्राणादिसर्ववतो

भाष्यप्रकाशः।

तत्त्वेनेति। उक्तस्मृतिवाक्यपराहतत्वेन। व्याकुर्वन्ति नेतीत्यादि। नेति। यदुक्तमत्र सर्वात्मभावो नोच्यत इति, तन्न युक्तमित्यर्थः। हेतुं विवृण्वन्ति तदित्यादि। अनेकश इति। यथा 'अजामेका'मित्यत्र, 'सृष्टीरुपदधाती'त्यादौ च। तथाच यत एवम्, अतः प्रकृते कामचारवाक्येपि विविधानां लोकानां विविधसुखप्रधानत्वात्तेन साधर्म्येण भगवत्सम्बन्धिषु पूर्वोक्तेषु रतिक्रीडादिषु सुखरूपेषु पदार्थेषु लोकपदप्रयोग इति 'तेषु कामचारो भवती'ति श्रुतेरर्थो ज्ञेयः, न नामादिलोकपरः। भगवत्सम्बन्धिनस्तु सर्वात्मभाववत इष्टा एव, तद्भिन्नास्तु मुक्तिपर्यन्तं नेष्टा इति नैतेनात्र सर्वात्मभावाभावः शक्यशङ्क इत्यर्थः। यथाश्रुतार्थस्याग्रहणे युक्तिबोधनाय दृष्टान्तं

रश्मिः।

श्रुतिपराहतत्वम्। 'इतिहासपुराणैस्तु वेदं समुपबृंहये'दिति वाक्यात्। पूर्वपक्षमिति। इदं ध्वन्यते। 'तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवती'ति विषयवाक्ये। अत्र न सर्वात्मभावनिरूपणं तद्भाववतोऽप्यन्यकामवत्त्वं वेत्यत्र संशये च पूर्वपक्षमित्यर्थकः। यदुक्तमिति। 'न तन्निरूपणमत्रे'ति भाष्येण यदुक्तम्। ननु न सर्वात्मभावलिङ्गात्मको भाव उच्यते इत्यनुबन्धादिभ्य इति सूत्राभासेन यदुक्तमिति चेत्। न। तस्य सूत्रस्य निवृत्तत्वात्। तदिति। 'गौण्यसम्भवा'दिति सूत्रे गौण्यङ्गीकारादाहुः यथेति। अनेकश इत्यत्र शस्। वह्वो ह्यनेकाः प्रवृत्तीर्ददाति यः प्रयोग इत्यर्थः। 'अजा'मित्यादिश्रुतिः कल्पनोदेशसूत्रे विचारिता प्रथमस्य चतुर्थपादे। सृष्टीरित्यादिश्रुतिः पूर्वतन्त्रे प्रथमस्य चतुर्थपादे। अजाशब्देनाद्या सृष्टिः कल्पनयोच्यते। 'यथा ह्यजा वर्करसहिता सवत्सा स्वामिहिता, तथेय'मिति। सृष्टिशब्दोपेता मन्त्रा यासामिष्टकानामुपधाने विद्यन्ते ता इष्टकाः सृष्टय इत्युच्यन्ते। सृष्टिमानास्तामुपधाने मन्त्रे इति विगृह्य तद्वानासामुपधान इति व्याकरणसूत्रसिद्धप्रक्रियया तन्निष्पादनात्। 'प्रजासृज्यत', 'भूतान्यसृज्यन्ते'त्यादयः सृष्टिशब्दोपेता उपधानमन्त्राः। आदिना 'वाचो धेनुमुपासीते'ति, 'आदित्यो देवमधु'। द्युलोकादीनां चाग्नित्वं पञ्चाग्निविद्यायाम्। नेति। परमतेनोपनिषद्व्याख्यानेन सिद्धोऽर्थो नेत्यर्थः। 'लोकृ दर्शने विविधसुखज्ञानेष्वि'त्यर्थः। वेदान्ते योगरूढ्योर्योगादरणात्। न च योगादरे प्रकरणादात्मविषयकत्वेन लोकपदार्थदर्शनसिद्धेर्गौण्या किं प्रयोजनमिति शङ्क्यम्। वादिश्रुत्यनुसारित्वादस्य सूत्रस्य। 'लोके शब्दार्थसम्बन्धो रूपं तेषां च यादृशम्। न विवादस्तत्र कार्यो लोकोच्छित्तिस्तया भवेत्। ये धातुशब्दा यत्रार्थे उपदेशे प्रकीर्तिताः। तथैवार्थो वेदराशेः कर्तव्यो नान्यथा क्वचि'दिति पक्षावलम्बनात्। ननु 'छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ती'ति महाभाष्यात् 'ये धातुशब्दाः' इति कारिकया योगमात्रमस्त्विति चेत्। न। सूत्रे लोकापत्तिदानेन लोकशब्दार्थो योगरूढितः पूर्वकाण्डोक्तौ गृहीतौ, अनूदितौ चेत्यदोषात्। सर्वात्मभाववत इति भाष्यं प्रपञ्चयामासुः भगेत्यादि। सर्वात्मभाववत इति प्रकरणात् सम्बध्यते। तथाच सर्वात्मभाववतो लोकापत्तिर्नहीति योजना। 'भगवत्सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिष्वि'ति सेवाफलग्रन्थात् भगवत्सम्बन्धिनो लोकास्तु सर्वात्मभाववतः

लोकसम्बन्धो युक्तिसहोऽपि नेति ज्ञापनाय हिशब्दः। किञ्च। एतदग्रे, 'न पश्यो मृत्युं पश्यती'ति श्रुत्या यथा मृत्युनिषेधः क्रियते, तथा 'आत्मत एवेद१ सर्व'मितिश्रुत्यैवकारेणात्मातिरिक्तव्यवच्छेदः क्रियत इति मृत्युवल्लोकोपि न सम्बध्यत इत्याह मृत्युवदिति। तत्र रोगादीनामपि दर्शननिषेधे सत्यपि मृत्योरेव पश्चिदर्शनमुक्तम्, तेन भक्तानां लोकान्तरसम्बन्धस्तत्तुल्य इति ज्ञाप्यते, अत एव 'नोत दुःख'मिति दुःखसामान्यनिषेधोऽग्रे कृतः॥ ५१॥

परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः॥ ५२॥

अत्र हेत्वन्तरमाहास्मिन्नेव श्लोके, 'सर्वमाप्नोति सर्वश' इति परेण पादेन

भाष्यप्रकाशः।

व्याकुर्वन्ति किञ्चेत्यादि। अतिरिक्तव्यवच्छेद इति। प्रापञ्चिकसर्वव्यवच्छेदः। सूत्रे मृत्युवदिति षष्ठ्यर्थे वतिः। तथाच मृत्योरिव लोकानामप्यापत्तिर्नेत्यर्थः। अन्यद्विहायैतस्यैव कथनेन यत् सूच्यते, तत् तत्र गमकं चाहुः तत्रेत्यादि॥ ५१॥

परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः॥ ५२॥ एतत्सूत्रप्रयोजनमाहुः अत्रेत्यादि। लोकापत्त्यभावरूपस्यार्थस्य ग्राह्यत्वे 'न पश्य' इति श्लोकस्थं हेत्वन्तरमाहेत्यर्थः। तमेव हेतुं सूत्रव्याख्यानेन व्याकुर्वन्ति सर्वमित्यादि। एतच्छ्लोकस्थेन परेण तुरीयेण 'सर्वमाप्नोति सर्वश' इत्यनेन पादेन, शब्दस्य 'सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवती'त्यस्य श्रुतिवाक्यस्य

रश्मिः।

षष्ठ्यन्ताम्, इष्टा एव। भगवत्सम्बन्धिभिन्ना लोका मुक्तिपर्यन्तं यथा भवति, तथा नेष्टाः, निषेधात्। एतेन 'तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवती'ति वेदेन। अत्र यद्यपि 'लोका न लोका' इति श्रुतौ लोकानां निषेधः कृतः, तथापि भक्तमनोरथपूरकत्वेन सर्वात्मभाववद्भक्तेच्छा लोकनिरूपणे ज्ञेया। भक्तेच्छाभावे तु सर्वात्मभाववतो भगवत्सम्बन्धिनो भक्तेष्टा ज्ञेया लोकेतरे। प्रापञ्चिकेति। 'जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्चे'ति व्याससूत्रात्। तत्रेत्यादीति। अत एव लोकान्तरसम्बन्धाभावादेव दुःखस्य सामान्यं नित्यमेकमनेकानुगतमात्मरूपं वा। 'एत१ह वाव न तपती'ति श्रुतेः 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्, तत् केने'त्यादिश्रुतेश्च। आत्मलोके कर्माभावात्। 'ध्यानप्रक्षाल्युताशेषनिर्वृत्त्या क्षीणमङ्गला' इति वाक्यात्। 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुने'ति वाक्याच्च। दुःखस्याज्ञानजन्यत्वाच्च। ननु दुःखं न पश्यतीति वक्तव्ये दुःखतामित्यत्र वर्णागमः कुतो नाङ्गीकृत इति चेत्। न। दुःखसत्तामेव न पश्यतीत्यत्र तात्पर्येणैतावतोऽर्थस्य विवक्षितत्वाद्वर्णागमाभावात्। असङ्गतौ वर्णागमस्वीकारात्। तथा च तद्भाववतोप्येतत्कामवत्त्वमिति सिद्धान्तः॥ ५१॥

परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः॥५२॥ परेण चतुर्थपादेन सर्वमाप्नोती'त्यनेनोपसंहृतत्वादर्थनिर्णायकेन। सर्वदातृवाचकेन 'सर्वश' इति पदेन वा शब्दस्य 'तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवती'तिश्रुतिवाक्यस्य ताद्विध्यं तस्य 'आत्मत एवेदं सर्व'मित्यस्य विधता समानार्थकत्वमुपलब्धं यद्यपि पूर्वसूत्रात् प्रत्ययविपरिणामेनोपलब्धेरित्यस्य रूपमन्वेति, तथापि प्रथमोत्पत्त्यर्थे प्रतीयत इत्यध्याहार्यम्। चकारात् तस्मात् न लोकापत्तिरित्यनुवृत्त्यार्थः। पुनश्चकारोऽनुक्तसमुच्चय इत्यनुक्तोऽर्थो 'नन्वात्मत एवेदं सर्व'मिति वाक्येनैवैतदर्थलाभे पुनः 'सर्वेषु लोकेषु कामचारो

शब्दस्य श्रुतिवाक्यस्य 'आत्मत एवेदꣳ सर्वे'मिति यत् पूर्वं श्रुतिवाक्यं तद्विधतैव प्रतीयते इति न लोकसम्बन्धो वक्तुं शक्य इत्यर्थः । ननु 'आत्मत एवेदꣳ सर्व'मिति वाक्येनैवैतदर्थलाभे पुनस्तदुक्तिर्नौचितेत्याशङ्कायां तत्र हेतुमाह । तुशब्दः शङ्कानिरासे । भूयस्त्वाद्धेतोः । उक्तेऽर्थे हेतूनां बाहुल्ये तद्दार्ढ्यं भवतीत्याशयेनोक्तार्थस्यैव श्लोकेनानुबन्धः कृत इत्यर्थः । अथवा । भूयःपदमाधिक्यार्थकम् । तथाच स्वकृतसाधनसाधितफलापेक्षया स्वयमुद्यम्य भगवता साधितफले निरवधिरुत्कर्ष इति ज्ञापनाय पुनः श्लोकेन तथेत्यर्थः ॥ ५२ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

ताद्विध्यम्, 'आत्मन एवेदꣳ सर्व'मित्येवं रूपं यत् श्लोकात् पूर्वं श्रुतिवाक्यं तद्विधता तत्समानार्थकत्वमेव प्रतीयते, एतस्य पद्यश्लोकस्य 'तदेष श्लोक' इत्यनेन पूर्वोक्तसर्वार्थसंग्राहकतयोक्तत्वात्, पूर्वं चात्मन एव सर्वस्य निगमितत्वात् सर्वैः प्रकारैरात्मन एव पूर्वोक्तं सर्वमाप्नोतीत्यर्थस्य सिद्धेर्न प्रापञ्चिकलोकसम्बन्धो वक्तुं शक्य इत्यर्थः । सूत्रशेषमवतार्य व्याकुर्वन्ति तुशब्द इत्यादि । अनुबन्धः कृत इति । अनु पूर्वोक्तं लक्ष्यीकृत्य बध्यते सम्बध्यत इत्यनुबन्धः स कृतः । समासव्यासधारणस्य लोके विदुषामिष्टत्वादनेन श्लोकेन कृत इत्यर्थः । उक्तरीत्या व्याख्याने अपुष्टार्थत्वमित्यरुच्यार्थान्तरमस्याहुः अथवेत्यादि । तथेति । अनुबन्धः ॥ ५२ ॥

रश्मिः ।

भवती'त्यत्रोक्तिर्नौचितेति । तुरस्याः शङ्काया निरासः । कुतः । भूयस्त्वात् । हेतूनां भूयस्त्वात् । उक्तार्थस्य हेत्वन्तररूपस्यानुबन्धः कृत आधिक्याद्वानुबन्धः कृत इति सूत्रार्थः । पादेनेति । तेन भाष्ये परेण पाद्नेति पाठः । पद्नेति प्रामादिकः पाठः । तदेष इति । तत् पूर्वोक्तमर्थं सङ्ग्रहेण प्रतिपाद्यत्वेनाभिमुखीकृत्यैष श्लोको भवतीत्यर्थः । तदित्यव्ययम् । सर्वैरिति । सर्वशः इत्यस्यार्थः । सर्वदातृभिः सर्वमाप्नोतीत्यर्थव्यक्तेः सर्वैः प्रकारैरिति पर्यवसितोऽर्थः । बहुभिः प्रकारैरित्यर्थः । 'बह्वल्पार्थेभ्य' इति शस् । न प्रेति । पूर्वसूत्रादनुवर्तितस्य न लोकापत्तिरित्यस्यार्थकथनम् । बध्यत इति । भावे प्रत्ययः । अनुबन्ध इति । भावे घञ् । ननु पूर्वं व्यासस्य विद्यमानत्वात् श्लोकोक्तसमासस्य किं प्रयोजनमिति चेत्, तत्राहुः समासेति । 'धर्मादिष्वनियम' इति समासशब्दस्य पूर्वनिपातः । इष्टत्वादिति । यथात्रैव 'साङ्गोऽध्येय' इति प्रारम्भे । अपुष्टार्थत्वमिति । ननु लिङ्गभूयस्त्वप्रतिज्ञानाल्लिङ्गभूयस्त्वसूत्र इति पुनरुक्तेऽर्थेऽप्यपुष्टत्वं नेति चेत् । न । अपुनरुक्तलिङ्गभूयस्त्वस्य सूत्राशयगोचरत्वात् । 'अनवद्य'मिति सूत्रलक्षणात् । भाष्ये । स्वकृतेति । मर्यादायामात्मसायुज्ये 'अचलत्वं चापेक्ष्ये'ति सूत्राभासोक्तभक्तेच्छा मार्यादिकसाधनयुक्ता स्वकृतं साधनं तत्साधितं फल'मात्मत एवेदं सर्व'मिति श्रुत्युक्तमपि तस्यापेक्षया प्रदानवत्सूत्रोक्तदिशा स्वयमुद्यम्य वरवद्दास्यता भगवता साधितं फलं परस्य सर्वात्मभावस्तस्मिन्नित्यर्थः । हेतावाधिक्यान्न पुनरुक्तिकृतमपुष्टत्वमिति भावः । अनुबन्ध इति प्रकारे वाल् । अनुबन्धत्वेन प्रकारेणानुबन्ध इत्यर्थः ॥ ५२ ॥

एक आत्मनः शरीरे भावात् ॥ ५३ ॥

उक्तेऽर्थे श्रुत्यन्तरसम्मतिमप्याह । एके शाखिनस्तैत्तिरीयाः, शरीरे भक्तशरीरे हृदयाकाश इति यावत्, तत्र आत्मनो भगवतो भावादाविर्भावात् तेन सह सर्वकामोपभोगं वदन्तीं श्रुतिं पठन्ति 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिते'ति । अत्रोपक्रमे 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मिति श्रुतिरक्षरब्रह्मवित्ः परब्रह्मप्राप्तिं सामान्यत उक्त्वा, विशेषतः कथनार्थं 'तदेषाभ्युक्ते'तिवाक्यं तद्ब्रह्मप्रतिपाद्यत्वेनाभिमुखीकृत्यैषा वक्ष्यमाणा ऋक् परब्रह्मविद्भिरुक्तेत्युक्त्वैवमुक्तवती 'सत्यं ज्ञान'मिति । परब्रह्मस्वरूपमनुभवैकवेद्यम्, न शब्दादिभिर्वेद्यमिति ज्ञापनाय स्वयं तत्तत्स्वप्रतिपादिकाप्यन्यमुखेनोक्तवती । अत्र ब्रह्मणा सह सर्वकामोपभोग उक्त इत्येतदेकवाक्यतायै 'सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवती'ति श्रुतेरप्युक्त एवार्थो

भाष्यप्रकाशः ।

एक आत्मनः शरीरे भावात् ॥ ५३ ॥ सूत्रप्रयोजनमुक्त्वा व्याकुर्वन्ति एके इत्यादि । भाष्यमत्र निगदव्याख्यातम् । एवमनेनाधिकरणेनाविहितभक्तिरूपस्य सर्वात्मभावस्य स्वरूपं तस्य सर्वेभ्यः साधनेभ्य उत्कृष्टत्वं तत्फलं च निर्धारितम् ।

शाङ्करे भास्करीये च भाष्ये इदं नवसूत्रमेकमधिकरणम् । तत्र चाग्निरहस्ये, 'नैव वा इदमग्रे सदासी'दित्यस्मिन् ब्राह्मणे मनोऽधिकृत्य, 'षट्त्रिंशतं सहस्राण्यपश्यदात्मनोऽग्नीनर्कान्म-

रश्मिः ।

एक आत्मनः शरीरे भावात् ॥ ५३ ॥ निगदेति । भक्तशरीर इति । ननु भक्तेति विशेषणं कुतो लब्धमिति चेत् । शृणु । 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मित्यत्र ब्रह्मविद्भक्त्या परमाप्नोतीति भाष्येऽर्थाद्भक्तलाभ इति । भक्तेर्ज्ञानव्यापारत्वात् । 'अकृश'मिति विशेषणं षोडशाधिकरण्या नोक्तं तथापि ज्ञेयम् । पूर्णसाधनत्वात् । तथा च सुबोधिनी—'अकृश'मिति ज्ञानम् । पूर्णत्वात् । अन्येषां परिच्छेदरूपत्वात् । अनेन पूर्णमेव ज्ञानं साधनमिती'ति । न चात्र नेदं विशेषणमिति वाच्यम् । प्रभासलीलायाम'प्यपाश्रिताभकाश्वत्थ'मिति विशेषणे पूर्वाधिकरणोपान्ते ऐश्वर्याविष्टस्य कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थत्वेनोपदेशकाभावादासुरव्यामोहलीलोपयोगात् । एवं निगदव्याख्यातमित्यर्थः । निर्धारितमिति । प्रमाणं 'तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग्घ्यप्रतिबन्धः फल'मित्यधिकरणे । साधनं प्रदानवत्सूत्र उक्तमिति सर्वं शुभम् । एवेति । उक्तोऽर्थ एव, नान्यः, विकल्पापत्तेरित्यर्थः । विकल्पस्त्वेकवाक्यत्वाभाव इति भावः । नन्वग्निरहस्योक्तसम्पादिकाग्नीनां क्रियामयत्वं प्रकरणाद्भविष्यति, न ज्ञानमयत्वमिति चेत् । तत्राहुः शाङ्कर इत्यादि । श्रुत्यर्थस्तु—नैव वा इदमुत्पत्तेः पूर्वमासीत् । नाप्यसदित्युपक्रम्य मनसः प्रादुर्भावमुक्त्वा 'तन्मन आत्मानमैक्षते'त्यात्मेक्षणपूर्वकमग्नीनपश्यदिति मनोऽधिकृत्य आत्मनः स्वस्य सम्बन्धित्वेन, अग्नीन् किंभूतान् पुरुषायुष्येण स्वसशतवर्षान्तरगतैः षट्त्रिंशत्सहस्रैरहोरात्रैरवच्छिन्नतया एकस्मिन्नहोरात्रे उत्पन्नसर्वमनोवृत्तिष्वहोरात्रगतैकत्वारोपेण मनोवृत्तीनामसंख्येयानामपि षट्त्रिंशत्सहस्रत्वम् । इष्टिकात्वेन च सम्पाद्यन्ते । 'षट्त्रिंशत्सहस्राणी'त्यादिना । मन एव स्ववृत्तिरूपान् अग्नीन् अर्कान् ऋच्पूजायां अर्च्यान् । अत एव मनोविकारान् । मनश्चितः मनसा चीयन्ते सम्पाद्यन्ते इति

१. उक्त्वा तामिति पाठः । २. शब्दादिवेद्यम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

नोमयान्मनश्चित' इति यद्वाक्यं तद्विचार्य, तेषाममीनां न क्रियामयत्वम्, किन्तु विद्यामयत्वमेवेति सिद्धान्तितम् ।

रामानुजाचार्यमते त्विदमेकसूत्रम् । तत्र, तैत्तिरीयमहानारायणोपनिषत्स्थः 'सहस्रशीर्षं देव'मिति सर्वोऽनुवाको विषयवाक्यम् । तत्र किं पूर्वानुवाके 'दहरं विपाप'मिति यद्दहरोपासनं विहितम्, तद्विषयो निर्धार्यते, उत सर्ववेदान्तोदितपरविद्योपासनानां विषय इति संशये, दहरोपास्यविशेष एव निर्धार्यते प्रकरणात् । पूर्वस्मिन्ननुवाके 'दहरं विपापं परवेश्मभूतं यत्पुण्डरीकं पुरमध्यसꣳस्थम् । तत्रापि दहरं गगनं विशोकस्तस्मिन् यदन्तस्तदुपासितव्य'मिति दहरविद्या प्रकृता । अस्मिंश्चानुवाके 'पद्मकोशप्रतीकाशं हृदयं चाप्यधोमुख'मित्यादिना हृदयपुण्डरीकाभिधानम् । एतस्य नारायणानुवाकस्य दहरविद्योपास्यनिर्धारणार्थत्वमुपोद्बलयतीत्येवं प्राप्ते, उच्यते । लिङ्गभूयस्त्वादिति । अस्यानुवाकस्य निखिलपरविद्योपास्यविशेषनिर्धारणार्थत्वे बहूनि लिङ्गानि दृश्यन्ते । तथाहि । परविद्यासु अक्षरशिवशम्भुपरंब्रह्मपरंज्योतिःपरतत्त्वपरमात्मादिशब्दनिर्दिष्टमुपास्यं वस्त्विह तैरेव शब्दैरनूद्य, तस्य नारायणत्वं विधीयते, भूयसीषु विद्यासु श्रुतावनूद्य नारायणाभिधानभूयस्त्वं नारायण एव सर्वविद्यासूपास्यमस्थूलत्वादिविशेषितानन्दगुणकं परं ब्रह्मेति विशेषनिर्णये भूयो बहुतरं लिङ्गं भवति । लिङ्गशब्दश्चिह्नपर्यायः । चिह्नभूतं वाक्यं बहुतरमस्तीत्यर्थः । तद्धि प्रकरणाद्बलीय इति पूर्वतन्त्रे सिद्धम् । यत्पुनः 'पद्मकोशप्रतीकाश'मित्यादिवचनमस्य दहरविद्याशेषत्वमुपोद्बलयतीत्युक्तम् । तत्र । लिङ्गात्मकेन बलीयसा प्रमाणेन सर्वविद्योपास्यनिर्धारणार्थत्वेऽवधृते सति दहरविद्यायामपि तस्यैव नारायणस्योपास्यत्वमित्यर्थकतया तद्वचनोपपत्तेः । नच 'सहस्रशीर्ष'मित्यादिद्वितीयानिर्देशेन पूर्वानुवाकोदितोपासनासम्बन्धः शङ्कनीयः । तस्मिन् 'यदन्तस्तदुपासितव्य'मित्युपासिगतेन कृत्यप्रत्ययेन उपासिकर्मणोऽभिहितत्वात्तदुपास्ये द्वितीयानुपपत्तेः । 'विश्वमेवेदं पुरुषः' 'तत्त्वं नारायणः पर' इत्यादिप्रथमानिर्देशाच्च प्रथमार्थे द्वितीया वेदितव्या । 'अन्तर्बहिश्च तत् सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः । तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः । स ब्रह्मा स शिवः स हरिः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वरा'डिति निर्देशैः सर्वस्मात् परो नारायण एव सर्वत्रोपास्य इति निर्णीयमानत्वाच्च प्रथमार्थे द्वितीयेति निश्चीयत इत्युक्तम् ।

मम त्वत्रान्यदपि प्रतिभाति । सहस्रशीर्षादिषु त्रिषु मध्यममन्त्रे तुरीयपादे यत् 'उपजीवती'ति क्रियापदम्, तत्र कर्मत्वेन द्वितीयान्तपदान्यन्वयं प्राप्नुवन्ति, तन्मन्त्रारम्भे 'विश्वत' इत्यनेन यज्जगद्रूपं विश्वमुक्तम्, तदिदं विश्वमेव पुरुषः क्षरः परमं विश्वं नारायणं हरिमुपजीवतीत्येवं पदसम्बन्धे बाधाभावात् । एवमन्यान्यपि पदानि तत्रैव योजनीयानि । बाहुलकाश्र-

रश्मिः ।

मनश्चितस्तान् मनोऽपश्यदिति । **न क्रियेति** । अग्निचयनप्रकरणवत् क्रियामयत्वं तत् न, किन्तु प्रकरणाल्लिङ्गस्य बलीयस्त्वाद्विद्यामयत्वमित्यर्थः । लिङ्गभूयस्त्वादग्नीनां ज्ञानमयत्वं तल्लिङ्गं प्रकरणाद्बलीयः । तदपि 'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणे'त्यादिजैमिनिसूत्रे उक्तमिति सूत्रार्थः । **पूर्वतन्त्र** इति । उक्तसूत्रे सिद्धम् । **द्वितीयेति** । कर्तुरुपासनाक्रिययेप्सिततमत्वात् । दहरविद्यायामभिहितकर्मणो द्वितीयानुपपत्तिमाहु रामानुजाचार्याः **तस्मिन्नित्यादि** । **द्वितीयेति** । 'सहस्रशीर्ष'मित्यादि । **प्रथमार्थे** इति ।

1. रामानुजभाष्येऽत्र क्वचित् क्वचित् पाठभेदः ।

भाष्यप्रकाशः ।

यापेक्षया व्यवहितान्वयपक्षस्य लघुत्वादिति । अग्रे तु तैरष्टसु सूत्रेषु शङ्कराचार्योद्युपन्यस्तैव विद्या विचारिता ।

तन्मतचोरः शैवस्तु, तद्वदेवैकसूत्रेऽस्मिन्नधिकरणे, महानारायणोपनिषत्स्थं 'सर्वो वै रुद्रस्तस्मै रुद्राय नमो अस्तु । पुरुषो वै रुद्रः सन्महो नमो नमः । विश्वं भूतं भुवनं चित्रं बहुधा जातं जायमानं च यत् । सर्वो ह्येष रुद्रस्तस्मै रुद्राय नमो अस्तु' इति मन्त्रमुदाहृत्य, तदग्रिमं 'कद्रुद्राये'ति मन्त्रं त्यक्त्वा, 'नमो हिरण्यबाहवे हिरण्यपतयेऽम्बिकापतये उमापतये पशुपतये नमो नम' इति मन्त्रं चाग्र उदाहृत्य, अत्र किं सर्वात्मत्वादिभिरुमापतित्वेन च श्रूयमाणं परं ब्रह्म पूर्वप्रकृते सवितृमण्डलविद्यामात्र उपास्यम्, उत सर्वासु परविद्यास्विति सन्देहे, प्रकरणाद्यप्राप्तिमुद्भाव्य, परविद्यालिङ्गसम्बन्धवाक्यभूयस्त्वात् सर्वासु परविद्यास्विति सिद्धान्तयित्वा, 'सर्वो वै रुद्र' इति वाक्ये 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मे'ति शाण्डिल्यविद्योपास्यलिङ्गम्, 'पुरुषो वै रुद्र' इत्यत्र पुरुषसूक्तोपकोसलविद्याद्युपास्यलिङ्गम्, 'स'दित्यत्र सद्विद्योपास्यस्य, 'मह' इत्यत्र 'मह इति तद्ब्रह्म अङ्गान्यन्या देवता' इति व्याहृतिविद्योपास्यस्य, कद्रुद्रमन्त्रे 'शंतमꣳ हृदे'ति हृदयद्योतनाद्दहरविद्योपास्यस्य,' हिरण्यबाहव' इति हिरण्यरूपत्वं सवितृमण्डलोपास्यस्य, 'उमापतय' इति सर्वपरविद्योपास्यस्येत्यूचिवान् ।

तन्मन्दम् । आद्यायां परविद्यालक्षणाभावात् । 'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यत' इत्यक्षरप्रापकत्वस्य तद्गमकत्वस्य वा तल्लक्षणत्वात् । अस्यास्तु सर्वप्रतीकतया तत्क्रतुन्यायात् क्षरप्रापकत्वेनाक्षराप्रापकत्वात्, सर्वस्य ब्रह्मकारणकत्वमात्रभावनेनादृश्यत्वादिलक्षणकाक्षराज्ञापकत्वाच्च । द्वितीयेपि वाक्ये पुरुषशब्दस्य गौणत्वात्, 'भगवानिति शब्दोऽयं तथा पुरुष इत्यपि । निरुपाधी च वर्तेते वासुदेवे सनातने' इति विष्णुपुराणवाक्येन 'स एव वासुदेवोऽयं साक्षात्पुरुष उच्यते । स्त्रीप्रायमितरत् सर्वं जगद्ब्रह्मपुरःसरम् । स एव वासुदेवोऽयं पुरुषः प्रोच्यते बुधैः । प्रकृतिस्पर्शराहित्यात् स्वातन्त्र्याद्वैभवादपी'ति नारसिंहवाक्याभ्यां च पुरुषशब्दस्य भगवत्येव मुख्यवृत्तत्वेन तदभिमते शिवे तथात्वस्य बाधितत्वात् । अत एव तृतीयवाक्येपि 'सन्मह' इत्येकं पदम्, सतो महस्तेजः सन्मह इति चैकपद्ये तदर्थः, तेन तयोरपि पदयोः सद्विद्याव्या-

रश्मिः ।

'छन्दसि बहुल'मिति सूत्रात् । **तैरिति** । रामानुजैः । सूत्रार्थस्तु । पूर्वेण इष्टिकचिताग्निना विकल्प्यन्ते मनश्चितादयोऽग्नय इति तेषां विकल्पः प्रकरणात् क्रियाप्रकरणात् क्रिया क्रियारूपाश्च ते चितरूपा तामग्निचितादीनामपि क्रियामयक्रत्वनुप्रवेशेन क्रियामयत्वं मानसग्रहवदुपपद्यते, यथा द्वादशाहेपि वाक्ये दशमेऽहनि मानसग्रहस्य मनोनिष्पाद्यग्रहस्य उत्पादनस्तोत्रशस्त्रप्रत्याहरणभक्षणत्वेन विद्यारूपस्यापि क्रियामयक्रत्वङ्गतया क्रियारूपत्वम्, तथेहापीति । **शैव** इति । भगवानिति शेषः । **उमेति** । परब्रह्मत्वस्यात्र पर्यवसितेः । विष्णुसमानशीलव्यसनवत्त्वं **पर** इति । तदुत्कर्षासहनं हृत्वा विष्णावुत्कर्षमाहुः **तदिति** । **आद्यायामिति** । श्रुतौ । **अस्यास्तु** 'सर्वो वै रुद्र' इत्यस्यास्तु सर्वेषां जगत्स्थपदार्थानां प्रतीकताङ्गता, 'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जग'दिति गीतातस्तयाङ्गस्य क्षरत्वेन तत्क्रतुन्यायो यादृशः क्रतुस्तादृशं फलमिति क्रतोः सेवायाः सर्वस्य रुद्रत्वेन भावनारूपायाः क्षरविषयतया तत्त्वात् । **सर्वस्येति** । क्षरस्य । **वाक्य** इति । 'पुरुष' इत्यादिश्रुत्यन्तर्गतं वाक्यं पदसमूहः । **साक्षादिति** । साक्षात्प्रत्यक्षतुल्ययोः । **वैभवात्** विभुरेव वैभवस्तस्मात् । भावप्रधानो निर्देशः । **अत** इति । मुख्यपुरुषमहिमत्वादेव । सतो ब्रह्मणो महस्तेजः । **ऐकपद्य** इति । एकपदत्वेन सन्महः-

मन्तव्यः ॥ ५३ ॥

इति तृतीयाध्याये तृतीयपादे सप्तदशं लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणम् ॥ १७ ॥

व्यतिरेकस्तद्भावाभावित्वान्न तूपलब्धिवत् ॥ ५४ ॥ (३-३-१८.)

ननु 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मिति श्रुत्या अक्षरब्रह्मविदः परब्रह्मप्राप्तिरुच्यते। तत्रेतरसाधनसापेक्षं ब्रह्मज्ञानं परं प्रापयति, उत तन्निरपेक्षमिति भवति संशयः। अत्र श्रुतौ तन्मात्रोक्तेरितरनिरपेक्षमेव तत्तथेति पूर्वः पक्षः। सिद्धान्तस्त्वेवं सति ज्ञानमार्गीयाणामपि परप्राप्तिः स्यात्। सा त्वनेकप्रमाणबाधितेति पूर्वमवोचाम।

भाष्यप्रकाशः।

हृतिविद्योपास्यलिङ्गत्वाभावात्। 'हिरण्यबाहव' इत्यस्य सवितृमण्डलोपास्यत्वगमकताप्यक्षिद्वित्वलिङ्गविरुद्धेत्यस्य 'अन्तस्तद्धर्मा'धिकरण एवास्माभिरुपपादितत्वात्। उमापतिपदस्य कस्यामपि निःसन्दिग्धायां परविद्यायामदर्शनाच्च। इदं यथा तथा मया प्रहस्ताख्ये वाद उपपादितत्वान्नात्र विशिष्योच्यते। दहरविद्योपास्यत्वं तु क्रममुक्तौ प्राप्यविभूतिमध्येपि शिवस्य सत्त्वादनुमोदामह इति दिक् ॥ ५३ ॥ इति सप्तदशं लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणम् ॥ १७ ॥

व्यतिरेकस्तद्भावाभावित्वान्न तूपलब्धिवत् ॥ ५४ ॥ पूर्वाधिकरणान्तिमसूत्रे तैत्तिरीयश्रुतिः सम्मतित्वेन प्रदर्शितेति प्रसङ्गात्तदर्थविचारायाधिकरणान्तरमारभत इत्याशयेन तद्विषयादिकं वदन्तस्तदवतारयन्ति ननु ब्रह्मेत्यादि। प्रकृते सहकार्यनुक्तिः केवलाक्षरविदां तदप्राप्तिदर्शनं च सन्देहबीजम्। पूर्वपक्षसिद्धान्तौ तु स्फुटौ। सा त्वनेकेत्यादि। ज्ञानमार्गीयाणां परप्राप्तिस्तु 'यमेवैष वृणुते' 'नायमात्मा बलहीनेन' 'भक्त्या मामभिजानाति' 'भक्त्याहमे-

रश्मिः।

पदार्थः। अक्षीति। छान्दोग्यस्थे 'यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी' इति वेदे। अग्नीनां ज्ञानरूपत्वव्यवस्थापनम्, 'ब्रह्म तर्हि अग्नि'रित्युत्तरार्धसुबोधिन्युक्तश्रुत्याऽसन्दिग्धम्। प्रकरणस्याग्निश्रुतितत्पदसामर्थ्याभ्यां प्रकरणस्य नैर्बल्यान्नैर्बल्यम्। यद्वा। सूत्राणां न्यायरूपत्वेनाग्निरहस्येपि प्राप्तिः। न च भवन्मये यस्य भूयांसि लिङ्गानि तत्तच्छब्दवाच्यं यथा तत् वरणमेव बलीय इति, अन्यत्र तु तत् लिङ्गमेव बलीय इति तत्पदार्थाननुगम इति वाच्यम्। तत्पदार्थत्वेन वरणादीनां ग्रहणे तत्पदार्थत्वस्यानुगमात्। अन्यथा सूत्रेषु विश्वतोमुखत्वस्य लक्षणांशस्याव्याप्तेः।

माध्वास्तु। अनुव्याख्याने तु। तट्टीकायां न्यायसुधायाम्। 'विद्यैवे'ति सूत्रमुपन्यस्य यद्यपीदमधिकरणमनुबन्धादिभ्य इत्यतः पूर्वम्, तथाप्युपासनस्वरूपावगमे सत्येव तत्सार्थक्यसमर्थनस्यावसरः, नान्यथेति व्युत्क्रमेण व्याख्यानमित्युक्त्वोपपादितं तथाहीत्यादिग्रन्थेन। ते 'अनुबन्धादिभ्य' इत्यादौ उपासनास्वरूपं 'विद्यैव तु निर्धारणा'दित्यादौ तत्सार्थक्यमुच्यते।

भिक्षुभाष्येपीदं द्रष्टव्यम्।

तत्र रामानुजाचार्यमतमपि न्यायसञ्चारेण गतार्थतां भजते। माध्वभिक्षुभाष्ये सम्यगालोच्य तदधिकरणार्थपर्यवसानमालोच्यम् ॥ ५३ ॥ इति सप्तदशं लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणम् ॥ १७ ॥

व्यतिरेकस्तद्भावाभावित्वान्न तूपलब्धिवत् ॥ ५४ ॥ प्रकृत इति। श्रुतौ। सन्देहबीजमिति। व्युत्क्रमेण सन्देहबीजम्। स्फुटाविति। ज्ञानमार्गीयाणामिति। साधना-

किञ्च। ज्ञानशेषभूतब्रह्मापेक्षया फलात्मकस्य परस्य मुख्यत्वात् 'तदेषाभ्युक्ते'ति श्रुतिस्तदेव प्रतिपाद्यत्वेनाभिमुखीकृत्य ऋगुक्तेत्याह। तेन तत्र ब्रह्मपदे पुरुषोत्तमपरे ज्ञायेते। तथाच। गुहायां यथाविर्भूतं परमं व्योम पुरुषोत्तमगृहात्मकमक्षरात्मकं व्यापिवैकुण्ठं भवति, तदा तत्र भगवानाविर्भवतीति तत्प्राप्तिर्भवतीत्युच्यते 'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योम'न्नित्यनेन। तथाच। ज्ञानिनां गुहासु परमव्योम्नो व्यतिरेक एव, तत्र हेतुः, तद्भावाभावित्वादिति। 'यमेवैष वृणुत' इतिश्रुतेर्वरणाभावे भगवद्भावस्यासम्भवात्, ज्ञानिनां तथा वरणाभावाद्भगवद्विषयको भावो न भावीति तथेत्यर्थः। ननु ज्ञानविषयत्ववदाविर्भावोऽप्यस्तु, किञ्च, तदतिरिक्तमाविर्भावमपि न पश्याम इत्याशङ्कायामाह न तूपलब्धिवदिति। उपलब्धिर्ज्ञानम्, तद्वद्गुहायामाविर्भावो न भवतीत्यर्थः। यस्मै भक्ताय यल्लीलाविशिष्टं स्वस्वरूपमनुभावयिता प्रभुर्भवति, तद्गुहायां तल्लीलाश्रयभूतमक्षरस्वरूपं वैकुण्ठलोकवदाविर्भावयतीति नोक्तशङ्कालेशोपि। यत्र पुरुषोत्तमस्य

भाष्यप्रकाशः।

कया ग्राह्य' इत्यादिप्रमाणबाधितेति इतः पूर्वाधिकरणेष्ववोचामेति नात्र सिद्धान्ते सन्देग्धव्यमित्यर्थः। ननु भवत्वेवम्, तथाप्ययमर्थः प्रकृतश्रुतेः सूत्राच्च कथं लभ्यत इत्याकाङ्क्षायां पूर्वश्रुतेस्तल्लाभमाहुः किञ्चेत्यादि। तेन तत्रेति। तेनास्यामृचि। ज्ञायेते इति। आनन्दमयाधिकरणद्वितीयवर्णकस्थेन 'अथवा अक्षरे ब्रह्मण्यानन्दात्मके' इत्यादिव्याख्यानान्तरेण ज्ञायेते। ऋचि 'परमं व्योमे'ति पदद्वयं ज्ञानशेषभूतब्रह्मपरमित्याशयेन ऋक्सिद्धमर्थमाहुः तथाचेत्यादि। उच्यत इति। अस्यां ऋच्युच्यते। तथाचास्यां श्रुतौ गुहायां परमव्योमनि परप्राप्तिरुक्ता, परमव्योमाविर्भावस्तु न ज्ञानमार्गीयगुहायाम्, अतः परमव्योमपदादत्र सोऽर्थो लभ्यत इत्यर्थः। सूत्रात्तद्विवृण्वन्ति तथाचेत्यादि। व्यतिरेक इति। अभावः। सूत्रशेषमवतारयन्ति ननु ज्ञानेत्यादि। ज्ञानविषयत्ववदिति। अक्षरस्य ज्ञानविषयत्ववत्। तदतिरिक्तमिति। ज्ञानविषयत्वातिरिक्तम्। व्याकुर्वन्ति उपलब्धिरित्यादि। अनाविर्भावे हेतुं स्फुटीकुर्वन्ति यस्मा इत्यादि। लोकवदिति। लोकयुक्तम्। तथाच ज्ञानमार्गीयान् प्रति तादृशतदनुभावनेच्छाया अभावान्न परमव्योमात्मकाक्षरस्वरूपस्याविर्भावः। स चाविर्भावो दर्शनविषयत्वयोग्यतारूपः, न तु ज्ञानविषयत्वमात्रम्। अतो भगवतस्तथेच्छाभावेन केवलाक्षरज्ञानिनो वरणात्मकसहकारिशून्यत्वान्न परप्राप्तिरिति ज्ञानिभक्तस्यापि वरणात्मकसहकारिसापेक्षमेव ज्ञानं परप्राप्तिजनकमिति सिद्धान्तो निर्विचिकित्स इत्यर्थः। ननु श्रुतावक्षरस्यादृश्यत्वादिगुणकत्वस्योक्तत्वात् समन्वयाध्याये

रश्मिः।

न्तरभक्तेरपेक्षाभावोक्तेः। एवं सिद्धान्तः स्पष्ट इत्यर्थः। किञ्चेत्यादीति। ज्ञानशेषेति। 'ब्रह्मवि'दित्यत्र ज्ञानविशेषणीभूतं यद्ब्रह्म तदपेक्षया। ब्रह्मपदे इति। 'ब्रह्मवि'दित्यत्रत्याद्ब्रह्मपदादग्रेतने ब्रह्मपदे। सोऽर्थ इति। इतरसाधनसापेक्षं ब्रह्मज्ञानं परं प्रापयतीत्यर्थः। भाष्ये। तथेत्यर्थ इति। तद्भावाभावित्वादित्यर्थ इत्यर्थः। वैकुण्ठलोकोऽस्त्यस्मिन्निति वैकुण्ठलोकवत्। द्वितीयान्ताद्वतिर्नोक्त इत्याशयेनाहुः लोकयुक्तमिति। दर्शनविषयत्वेति। आविर्भावतिरोभाववादे स्फुटः। नन्विति। उपेक्षाज्ञानविषये आविर्भूतेनाविर्भावप्रसङ्गात्तथा। ननु श्रुताविति।

१. परं।

चाक्षुषत्वम्, तत्र ततोऽधःकक्षस्य तस्य तथात्वे का शङ्का नाम । एतदुपपादितं पूर्वम्, विद्वन्मण्डने च । ननु ज्ञानिज्ञानविषयभक्तगुहाविर्भूताक्षरयोर्भेदोऽस्ति, न वा । नाद्यः । मानाभावादेकत्वेनैव सर्वश्रोक्तेः । न द्वितीयः । निरवयवस्य कचिल्लोकरूपत्वात्तद्रूपत्वाभ्यामेकत्वानुपपत्तेरिति चेत् । मैवम् । लोकरूपत्वस्य पश्चाद्भावित्वे हीयमनुपपत्तिः, न त्वेवम्, किन्त्वक्षरस्वरूपमेव तथेति श्रुतिराह । 'अम्भस्यपारे भुवनस्य मध्य' इत्युपक्रम्य 'नदेव भूतं तदु भाव्यमा इदं तदक्षरे परमे व्योमन् ।' एतदग्रे च, 'यमन्तःसमुद्रे कवयोऽवयन्ति यदक्षरे परमे प्रजा' इत्यादिरूपा । स्मृतिरपि 'परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तो व्यक्तात् सनातनः । यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति । अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् । यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम' इत्यादि तु गीतासु । श्रीभागवतेपि 'दर्शयामास लोकं स्वं गोपानां तमसः परम् । सत्यं ज्ञानमनन्तं यद्ब्रह्म ज्योतिः सनातनम् । यद्धि पश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहिता' इति दशमे । द्वितीये च 'तस्मै स्वलोकं भगवान् समाहितः सन्दर्शयामासे'त्युपक्रम्य, कालत्रिगुणमायादिसम्बन्धराहित्यमुक्त्वा, भगवत्पार्षदानुक्त्वा, विमानप्रमदा उक्त्वा, श्रीरुक्ता । तथाच श्रुतिस्मृत्येकवाक्यतायां तादृक्स्वरूपमेवाक्षरमिति निर्णयो भवति । एवं सति सच्चिदानन्दत्वदेशकालापरिच्छेदस्वयम्प्रकाशत्वगुणातीनत्वादिधर्मवत्त्वेनैव ज्ञानिनामक्षरविज्ञानम्, भक्तानामेव पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वेन तथेति ज्ञेयम् । 'मल्लानामशनि'रिति श्लोकोक्तरीत्या पुरुषोत्तमस्येव । प्रभुणा ये यथा विचारिताः सन्ति, ते तथा भवन्तीति तद्विचार एव सर्वेषामधिकाररूप इति 'कृतप्रयत्नापेक्षस्त्वि'त्यत्र निर्णीतम् ॥ ५४ ॥

अस्मिन्नर्थे कैमुतिकन्यायकथनार्थं निदर्शनत्वेनोत्तरं पठति ।

अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम् ॥ ५५ ॥

यागे तत्तदृत्विङ्नियतकर्तव्यान्यन्वाधानादीन्यङ्गानि । तत्रावबद्धाः सर्व एवर्त्विजो यजमानेन । अवबन्धनं नाम 'अध्वर्युं त्वां वृणे,' 'होतारं त्वां वृणे,' 'उद्गातारं त्वां वृण' इत्यादिरूपं वरणमेव, अन्यथा सर्वकर्मविदुषां तत्कृतिपटूनामेकत्राधिकारः, नान्यत्रेति नियमो न स्यात् । तस्य तस्य तथा वरणे तु यजमानेच्छैव हेतुः । ते च तदा न सर्वासु शाखासु विहितान्यङ्गानि कर्तुं सर्वेपि शक्ताः, किन्तु यजमानवरणनियमिता एव तथा । तत्र हेतुमाह । हि यतः कारणात् प्रतिवेदं नियमितान्यङ्गानि, 'हौत्रमृचा, आध्वर्यवादि यजुषा, उद्गात्रं साम्ने'ति । तथाचालौकिके वैदिके कर्मणि जीवेच्छापि नियामिका भवति यत्र, तत्र किमु वाच्यं प्रतिरोमकूपं सावकाशममितब्रह्माण्डस्थितिमतस्तदीशितुरिच्छैव नियामिका तत्तत्साधनफलसम्पत्ताविति ॥ ५५ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

तथा निर्णीतत्वाच्च नेदं साधीय इति शङ्कायामाहुः यत्रेत्यादि । तथाच वरणेन पुरुषोत्तमस्वरूपस्य चाक्षुषत्वं वरणश्रुतौ 'भक्त्या त्वनन्यये'ति गीतास्मृतौ चोक्तम्, अक्षरस्यापि 'कश्चिद्धीर' इति श्रुतावुक्तम्, तच्च पुरुषोत्तमादधःकक्षम्, अतः साधनविशेषसम्पत्तौ कैमुतिकन्यायावतारात् सर्वादृश्यतायामपि दृश्यत्वे विरोधाभावान्न सन्देह इत्यर्थः । अत्राक्षरस्वरूपविचारेण चोदयति नन्वित्यादि । तथाच शब्दापेक्षयार्थस्य बलिष्ठ[illegible]स्वरूपविचारे पूर्वोक्तमनुपपन्नमित्यर्थः । तत्र समादधते मैवमित्यादि । निर्णीतत्यमित्यन्तेन । इयमिति । उक्तविकल्परूपा । न त्वेवमिति । न तु रूपभेदः । शेषमुत्तानार्थम् । तथाच स्वरूपस्योक्तरूपत्वाद्भगवदिच्छयाधिकारभेदेन तस्य तस्य तथा भानान्न काप्यनुपपत्तिरित्यर्थः ॥ ५४ ॥

अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम् ॥ ५५ ॥ सूत्रमवतारयन्ति अस्मिन्नित्यादि । व्याकुर्वन्ति याग इत्यादि । इत्यादिरूपं वरणमिति । तत्तत्कर्मकर्तृतानियमनरूपं सम्भजनं विभाग इति यावत् । शेषं स्फुटम् । तथाचाक्षरस्य तत्सर्वरूपत्वेपि ज्ञानिषु तथानाविर्भावे भक्तहृदये च तथाविर्भावे उक्तरीत्या कैमुतिकन्यायाद्भगवतस्तेषां तेषां तादृक्तादृक्फलदित्सैव नियामिकेत्यर्थः ॥ ५५ ॥

रश्मिः ।

अक्षरधियामित्यधिकरणे 'एतद्वै तदक्षर'मित्यादिश्रुतावुक्तत्वात् । समन्वयेति । 'अक्षरमम्बरान्तधृते'रित्यत्र निर्णीतत्वात् । इदमिति । सहकारिसापेक्षं ज्ञानं परप्राप्तिजनकमिति साधीयः । उक्तमिति । 'प्रत्यगात्मानमैक्ष'दिति प्रत्यगात्मरूपाक्षरज्ञानमुक्तम् । का शङ्का नामेतिभाष्यविवरणं कैमुतिकेति । भाष्ये । पूर्वमिति । 'न तूपलब्धिव'दित्यत्र । विद्वन्मण्डन इति । 'अभेदादनुपाधित्वा'दित्यत्र सगुणत्वेनाभिमताभेदोपपादनात्तथा । शब्दापेक्षयेति । पूर्वपक्षत्वाद्धादरिमतमुक्तम्, तस्यार्थप्रधानत्वात् । भगवतो व्यासस्य शब्दप्राधान्यात् । उत्तानेति । 'अम्भसी'त्यत्र लोकत्रयनिरूपणमिति न साङ्कर्यम् । गीतास्विति । तन्माहात्म्यं भागवतापेक्षया बहुवचनम् । देशकालेति । परिच्छिन्नत्वं मध्यमपरिमाणवत्त्वम् । भक्तानां तु देशकालकृतपरिच्छेदो वर्तते । श्रीगोवर्धनदेशाद्यमुनादेशः परः, यमुनादेशाच्छ्रीगोवर्धनदेशोऽपरः । प्रातःकालीना लीला न मध्याह्ने इत्येवं कालकृतपरिच्छेदः । लीलासु मध्यमपरिमाणरूपपरिच्छेदः, 'एकं रूपं रसात् पृथ'गितिवत् । तथेतीति । अक्षरज्ञानम् । एकस्यानेकत्वे दृष्टान्तमाहुः मल्लानामिति । पुरुषोत्तमस्यानेकत्वेन दर्शनाधिकारभेदात् । यथेति । 'कामाद्गोप्यो भयात् कंस' इति षड्वुपाधिभिर्भिन्नत्वेन विचारिताः । तद्विचार इति । भगवद्विचारः । सर्वेषामधीति । विषयतासम्बन्धेन तथा । भगवति तु विचारः समवायसम्बन्धेन । सिद्धमाहुः तथा चेति । स्वरूपस्येति । अक्षरस्वरूपस्य । भाष्योक्तरूपत्वात् । तस्य तस्येति । ज्ञानिनो भक्तस्य च । कापीति । कचिल्लोकरूपातद्रूपाभ्यामेकत्वानुपपत्तिरूपा भाष्योक्ता । उपासनादिविषयभगवद्धर्मरूपषोडशकला निवृत्ताः । अग्रेऽष्टाधिकरण्यां षड्धर्मा धर्मी समष्टिश्चेति संख्यातात्पर्यम् ॥ ५४ ॥

अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम् ॥ ५५ ॥ सम्भजनमिति । 'वृङ् संभक्ता'विति धातुपाठात् । शेषमिति । आध्वर्यवादीति । आदिना प्रतिप्रस्थातुः प्रातिप्रस्थात्रम् । एवं स्फुटं शेषम् ॥ ५५ ॥

१. सोपपादितम् । २. मायासम्बन्धः ।

मन्त्रादिवद्वाऽविरोधः ॥ ५६ ॥

ननु पूर्वं कर्मज्ञाननिष्ठानामपि पुंसामग्रे भक्तिमार्गीयत्वं यत्र भवति, तत्र तथैव भगवद्वरणमिति हि सिद्धान्तः । ऋत्विजस्त्वेकस्मिन् याग एकत्र वृतस्य नापरत्रापि तथेति विरुद्धो दृष्टान्त इत्यरुच्या निदर्शनान्तरमाह । यथैक एव कश्चिन्मन्त्रो बहुषु कर्मसु सम्बध्यते, कश्चित् द्वयोः, कश्चिदेकत्रैव, तथैव विधा-

भाष्यप्रकाशः ।

मन्त्रादिवद्वाऽविरोधः ॥ ५६ ॥ सूत्रमवतारयन्ति **नन्वित्यादि** । **तथैव भगवद्वरणमिति** । तत्तदनन्तरमेतं भक्तिमार्गे प्रवेशयिष्यामीत्येवं विचारितत्वात्तदनन्तरमेव भगवद्वरणम् । **ऋत्विज इति** षष्ठी । **नापरत्रापि तथेति** । नान्यकार्ये विनियोगः । सूत्रं व्याकुर्वन्ति **यथैक एवेत्यादि** । उदाहरणं त्वाद्यस्य 'देवस्य त्वा सवितुः प्रसव' इत्यादिरनुषङ्गमन्त्रः । द्वितीयस्य सूर्योपस्थाने मन्देहादिनिवारणे च गायत्रीमन्त्रः । तृतीयस्य 'तेजस्वी भूयास'मिति । एवमन्यदपि द्रष्टव्यम् । कर्मोदाहरणं ज्योतिष्टोमादि जयन्तीव्रतादि च द्रष्टव्यम् । **कर्मोदाहरणमन्यदप्याहुः**

रश्मिः ।

मन्त्रादिवद्वाऽविरोधः ॥ ५६ ॥ अनुषङ्गेति । उदाहरणमित्यनुषङ्गः । अनुषङ्गो वाक्यपरिसमाप्तिः । वाक्यस्य परिसमाप्तिर्येन । अनुषङ्गोपि मन्त्रभेदकः । अनुषज्यत इत्यनुषङ्गः । सम्बद्धमन्त्रः । 'देवस्य त्वा सवितुः प्रसव' इत्यसिदमादायेत्येकोऽनुषङ्गः । एवमितरावपि । यथाऽमृताभिषेके । भैषज्ये च 'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् ।' **भैषज्येनेति** । **द्वितीयस्येति** । द्वयोः कर्मणोः सम्बद्धस्य । 'आ सत्येन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च । हिरण्मयेन सविता रथेन देवो याति भुवनानि पश्य'न्नित्यत्र । **मन्देहेति** । आरणे सह वै पन्नायाम् । 'तदुह वा एते ब्रह्मवादिनः पूर्वाभिमुखाः सन्ध्यायां गायत्रियाभिमन्त्रिताम्भसो अप ऊर्ध्वं विक्षिपन्ति । ता एता आपो वज्रीभूत्वा तानि रक्षांसि मन्देहारुणे दीपे प्रक्षिपन्ती'तिश्रुत्या स्पष्टं मन्देहादिनिवारणम् । मन्देहद्वीपे निवारणं मन्देहादिनिवारणम् । तस्मिन् । गायत्रीव गायत्री । आसत्येन रजसेति । स्थानसाम्यं सम्बन्धो लक्षणा । मन्त्रत्वमभियुक्तप्रसिद्ध्या । अस्यन्तत्वान्तमध्यमपुरुषान्तत्वाभावेपि । सूत्रादिभावार्थपादभाष्ये । **तृतीयस्येति** । एकत्र कर्मणि सम्बद्धस्य मन्त्रः 'तेजस्वी भूयास'मिति होमे उदाहरणम् । **अन्यदपीति** । 'इषे त्वोर्जेत्वे'ति । शाखाच्छेदनेऽनुमार्जने । 'इषे त्वे'ति शाखायां 'छिनद्म्यूर्जस्त्वेत्यनुमार्ष्टि वे'ति कल्पसूत्रात् । तथा प्राणापानयोः प्रत्यगसने । 'प्राणमूर्ध्वमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यती'ति काठकात् । **वेदार्थे** द्वितीयपर्याये । तथा क्षुत्पिपासाभिवृद्धिकर्त्र्यै शक्त्यै औषधिपालने विचारकारणभूतशक्त्यै च । 'इषे पीपिहि ऊर्जे पीपिही'त्यारणात् । 'हरिः ऊ'मिति च । **बहुषु कर्मसु** । द्वयोः **कर्मणोः** 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोती'त्युदाहरणम् । यागे पापश्लोकश्रवणाभावे च कर्मणोः । पापश्लोकश्रवणाभावस्यापि कर्मत्वम् । कर्मान्तःपातात् । एकत्र कर्मणि 'कारीर्या यजेत वृष्टिकामः' इत्युदाहरणम् । वृष्टिकामोपि कर्म, 'कर्ता कर्म च करणं चे'ति गीतावाक्यात् । **आदिपदादिति** भाष्यविवरणं **कर्मोदाहरणमित्यादि** । **ज्योतिष्टोमादीति** । 'ज्योतिष्टोमोऽग्निष्टोमः' । इदं कर्म तत्रैकत्र कर्मणि एको ब्रह्मा कर्तृकर्मरूप उपयुज्यते । 'परमेष्ठिनो वा एष यज्ञोऽग्रे आसीद्यदग्निष्टोम इति, तेन स परमां काष्ठामगच्छ'दिति । 'कर्मणा ब्रह्मैवमुच्यत' इति सुबोधिनी । आदिशब्दार्थोऽग्रे वक्तव्यः । स्मार्तोदाहरणं **जयन्तीत्यादि** । जयन्तीव्रतं सेवाकर्मार्थं भगवदावेशार्थं च । आदिना प्रायश्चित्तं कर्म शुद्ध्यर्थम् । एकं पितृकृतं प्रायश्चित्तं कर्मानेकबालशुद्ध्यर्थम् ।

नात्, तथात्रापीत्यर्थः । आदिपदात् कर्मोच्यते । यत्र काम्येनैव नित्यकर्मनिर्वाहः, तत्र कामितार्थसाधकत्वे प्रत्यवायपरिहारेऽप्येकमेव तदुपयुज्यते । यथाच सर्वतोमुखेऽनेकहोतृप्रवरेऽध्वर्युप्रवरे च गृह्यमाणे 'देवाः पितर' इत्यादिना यजमानकर्तृकानुमन्त्रणमेकमेव सर्वत्र सम्बध्यते, तथैव विधेः, तथात्रापि तावद्विधं यदेकमेव वरणम्, तेन तत्तन्निष्ठानन्तरं भक्तिनिष्ठेति न दृष्टान्तविरोध इत्यर्थः ।

अथवा । ॐमित्युदाहृत्यैव मन्त्राणामुच्चारणान्मन्त्रादिरोङ्कारः । स यथा ब्रह्मात्मकत्वेनैक एव सर्वमन्त्रेषु सम्बध्यते, तथा वरणमपीति तथेत्यर्थः । यद्यपीतरनिष्ठानन्तरभूतभक्तिनिष्ठावतोपि वरणं तथाभूतमेकमेवेति नोक्तदोषः, तथाप्युत्कृष्टमार्गे वृतस्य नीचकक्षापादनमनुचितमिति मत्वा पक्षान्तरमुक्तम् । वस्तुतस्तु साधनमर्यादया यत्र भक्तिर्दित्सिता, तत्र तथेति नानुपपत्तिः काचित् ॥५६॥

इति तृतीयाध्याये तृतीयपादे अष्टादशं व्यतिरेकाधिकरणम् ॥ १८ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

यथाचेत्यादि । सर्वतोमुखः कश्चिद्यागविशेषः । **तावद्विधमिति** । क्रमिकतत्तत्प्रकारकम् ।

मन्त्रादिपदं तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिणा व्याख्याय षष्ठीसमासपक्षेण प्रकारान्तरमाहुः **अथवेत्यादि** । ननु पूर्वव्याख्याने को दोषो येन व्याख्यानान्तरमत्रोक्तमित्याकाङ्क्षायां तदुक्तमङ्गीकृत्य सम्भावितं दोषमाहुः **यद्यपीत्यादि** । **तथाभूतमिति** । यादृशं केवलभक्तिमार्गीयस्य तादृशम् । **पक्षान्तरमिति** । ॐकारनिदर्शनपक्षः । तथाच ब्रह्मात्मकत्वेनोत्कृष्टस्याप्योङ्कारस्य तत्तन्मन्त्रसाङ्गत्वाय तत्तत्सम्बन्धो न दोषावहः, तथा वृतस्यापि तत्सम्बन्धो मर्यादामार्गरक्षार्थत्वान्न दोषावह इत्यर्थः । युक्त्या समाधाय सिद्धान्तेन समाधानमाहुः **वस्तुत इत्यादि** । तथाच भगवदिच्छाविचारादेवानुपपत्तिपरिहारः, निदर्शनं तु वादिनिग्रहायेति सूत्रकाराशय इत्यर्थः ॥ ५६ ॥

इत्यष्टादशं व्यतिरेकाधिकरणम् ॥ १८ ॥

रश्मिः ।

आदिपदार्थमाहुः **कर्मोदेति** । **अन्यदिति** । बह्वर्थकमेकं कर्म । द्व्यर्थमेकं कर्म तु **यत्र काम्येनैवेत्यादि**भाष्येणोक्तम् । **काम्येन** पशुकामनया कृतेन । एवकारो भगवत्प्रेरणया कृतकर्मव्यवच्छेदकः । नित्यकर्माग्निहोत्रादि । कामितार्थः पश्वादिः । **प्रत्यवायेति** । 'धर्मेण पापमपनुदती'ति श्रुतेस्तथा । तदिति काम्यं कर्मेति भाष्यार्थः । **तथैव विधेरिति** । विधिस्तत्रैव । **क्रमिकेति** । क्रमप्राप्तो यो होतृत्वाध्वर्युत्वरूपः प्रकारः यस्मिन् वरणे सम्भजने तत् क्रमिकतत्तत्प्रकारकं वरणम् । **भाष्ये । तत्तन्निष्ठेति** । कर्मज्ञाननिष्ठानन्तरम् । **प्रकृते । मन्त्रादीति** । सौत्रम् । **तद्गुणेति** । मन्त्र आदिर्यस्य कर्मण इति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । प्रथमान्ताद्वतिः । उपयुज्यत इत्येकक्रियान्वयेन विशेष्यान्वय्यन्वयित्वरूपतद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिलक्षणसत्त्वात् । तेन तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिणा । **षष्ठीति** । मन्त्रस्यादिः मन्त्रादिरोंकारः । प्रथमान्ताद्वतिः । **भाष्ये । तथेत्यर्थ इति** । दृष्टान्ताविरोध इत्यर्थ इत्यर्थः । **प्रकृते । दोषमिति** । कर्मज्ञानसम्बन्धरूपम् । **अनुचितमित्यन्तेन** भाष्येणाहुः **यद्यपीत्यादीति** । **नोक्तदोष इति** । सम्भावितो दोषः । नन्वयं दोषो भाष्ये कोक्त इति चेत्, शृणु । **यद्यपीत्यादि**ग्रन्थस्य दोषं हृदिकृत्वा तत्परिहाराय प्रवृत्तत्वादित्याक्षेप्यत्वेन व्यञ्जनावृत्त्योक्त इति जानीहि । **ॐकारेति** । निदर्शनं दृष्टान्तः । **तत्सम्बन्धः** कर्मज्ञानसम्बन्धः । **वस्तुत इत्यादीति** । **तत्र तथेति** । **तत्र** भक्ते **तथा** कर्मज्ञाननिष्ठानन्तरं भक्तिमार्गीयवरणमित्यर्थः । **अनुपपत्तिरिति** । कर्मज्ञानसम्बन्धः ॥ ५६ ॥ **इत्यष्टादशं व्यतिरेकाधिकरणम् ॥ १८ ॥**

१. अनेकत्र ।

भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथाहि दर्शयति ॥ ५७ ॥ (३-३-१९.)

ननु सुखस्वरूपजिज्ञासायां 'यो वै भूमा तत् सुख'मित्युक्तम्, भूमस्वरूपजिज्ञासायां 'यत्र नान्यत् पश्यती'त्यादिना तद्यन्निरूपितं तत्सर्वात्मभावस्वरूपमिति यदुक्तम्, तन्नोपपद्यते। भूम्नो हि सुखरूपतोच्यते। सर्वात्मभावे तु विरहभावे दुःसहदुःखानुभवः श्रूयते। तेन मोक्षसुखमेव 'यो वै भूमे'त्यादिनोच्यते। 'यो वै भूमा तदमृत'मिति वाक्याच्च। अग्रे च, 'स वा एष एवं पश्य'न्नित्याद्युक्त्वा, 'तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवती'ति फलमुच्यते। तच्च मोक्षानन्तरमसम्भवि, अतः स भावो मोक्षो वात्रोच्यत इति संशयः।

तत्र कामचारोक्तेर्मुक्तिपूर्वदशायां तन्माहात्म्यनिरूपणार्थत्वादमृतशब्दाच्च मुक्तिरेव भूमपदेनोच्यत इति पूर्वः पक्षः।

तत्र भूमशब्देन स भाव एवोच्यत इति सिद्धान्तः। तत्र दुःखदर्शनानुपपत्त्या सर्वाधिकत्वलक्षणं भूमत्वमनुपपन्नमिति शङ्कां परिहरति। भूम्नः सर्वात्मभावस्य ज्यायस्त्वं सर्वस्मान्मन्तव्यम्। तत्रोक्तानुपपत्तिपरिहारार्थं दृष्टान्तमाह क्रतुवदिति। दर्शपूर्णमासप्रकरणे तैत्तिरीयके पठ्यते 'परमेष्ठिनो वा एष यज्ञोऽग्र आसीत्तेन स परमां काष्ठामगच्छ'दित्युपक्रम्य, 'य एवं विद्वान् दर्शपूर्णमासौ

भाष्यप्रकाशः।

भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथाहि दर्शयति ॥ ५७ ॥ प्रासङ्गिकं विचार्य पुनः प्रकृतशेषमेव विचारयतीत्याशयेनाधिकरणमवतारयन्तः संशयं व्युत्पादयन्ति नन्वित्यादि। तद्यदिति। भूमस्वरूपम्। श्रूयते इति। पुराणवाक्येभ्यः श्रूयते। तेनेति। सुखस्य दुःखविलक्षणत्वेन। यो वै भूमा तदमृतमिति वाक्याच्चेति। इदमपि 'तन्नोपपद्यत' इत्यत्र 'मोक्षाङ्गीकारे' च हेत्वन्तरम्। तत्रानन्तरं दुःखसद्भावेन सुखस्यामृतत्वाभावात्, मोक्षे चानन्तरं दुःखाभावेन सुखस्यामृतत्वादिति। एवं मोक्षकोटिर्व्युत्पादिता। अग्रे चेत्यादिना असम्भवीत्यन्तेन सर्वात्मभावकोटिर्व्युत्पादनम्। अत उभयबीजसद्भावादेवं संशय इत्यर्थः।

पूर्वपक्षमाहुः तत्रेत्यादि। कामचारोक्तेरिति षष्ठी।

सिद्धान्तमाहुः तत्र भूमेत्यादि। सम्प्रसादाधिकरणे भूमशब्देन परमात्मनो निर्णीतत्वाल्लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणे सर्वात्मभावस्यापि निर्णीतत्वादत्र भूमलक्षणवाक्ये भूमपदेन स भावः सर्वात्मभावसहित एव परमात्मोच्यते। यथा 'घटेन जलमाहरे'त्यादौ घटादिपदेन छिद्रेतरत्वादिसहितो घटादिः, तद्वदिति सिद्धान्त इत्यर्थः। एवं सिद्धान्तं सामान्यत उक्त्वा तं व्युत्पादयितुं सूत्रमवतारयन्ति तत्र दुःखेत्यादि। व्याकुर्वन्ति भूम्न इत्यादि। सर्वात्मभावस्येति। इदं षष्ठ्यर्थस्य विवरणम्। भूमसम्बन्धिनः सर्वात्मभावस्येत्यर्थः। अत्र लौकिकतन्निरासायैव कथनमिति बोध्यम्। तत्रेति। ज्यायस्त्वप्रतिज्ञायाम्। दर्शपूर्णमासप्रकरण इति। संहिताप्रथमाष्टकषष्ठ-

रश्मिः।

भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथाहि दर्शयति ॥ ५७ ॥ प्रकृतेति। सर्वात्मभावशेषम्। पुराणेति। भ्रमरगीतोक्तिभ्यः। श्रुतिवाक्यं तु 'वने वृन्दावने क्रीडन् गोपगोपीसुरैः सहे'ति सामान्यम्। तत्रेति। सर्वात्मभावे। भाष्ये। उक्तानुपपत्तीति। दुःखदर्शनानुपपत्त्या सर्वाधिकत्वलक्षण-

यजते परमामेव काष्ठां गच्छती'ति। यथा व्रतादिदुःखात्मकत्वेपि परमकाष्ठालक्षणफलगमकत्वेन दर्शपूर्णमासयोः सर्वे...भ्योऽधिकत्वं वक्तुं 'अग्र आसी'दिति स्तूयते. तथा दुःखहेतुत्वेप्यनन्यलभ्यसाक्षात्पुरुषोत्तमानन्दप्राप्तिहेतुत्वेन सुखरूपत्वमुच्यत इत्यन्येभ्यः सर्वेभ्यो ज्यायस्त्वं मन्तव्यमित्यर्थः। अत्रोपपत्तिमाह। तथाहि दर्शयति। श्रुतिस्तु 'स एवाधस्ता'दित्याद्युक्त्वा, 'अथाहङ्कारादेश' इत्याद्युक्त्वा, 'अथात्मादेश' इत्याद्युक्तवती, अग्रे चैतादृशस्य 'आत्मत एव प्राणाशास्मरादिसर्व'मिति च दर्शयति। एतत्सर्वात्मभाववत्येव सर्वमुपपद्यते, न तु मुक्तस्य। वृत्तिभेदाभावात् प्राणाद्यभावाच्च। जीवन्मुक्तिदशायां प्राचीनानामेव सत्त्वात्, 'आत्मतः प्राणा' इत्यादि न वदेत्।

भाष्यप्रकाशः।

प्रपाठकनवमानुवाके। अग्र आसीदिति। 'परमेष्ठिनो वा एष यज्ञोऽग्र आसीत्'। उच्यत इति। भाविस्वरूपमादायोच्यते। तथाच परमकाष्ठाप्रापकत्वात्तथेत्यर्थः। ननु भाविस्वरूपमादायैवोच्यते, न विद्यमानं स्वरूपमादायेत्यत्र किं गमकमित्याकाङ्क्षायामाहुः अत्रोपपत्तीत्यारभ्य, न वदेदित्यन्तम्। तथाच भूमपदेन यदि मोक्षावस्थामभिप्रेयात्, तदेवं त्रिविधा वृत्तीर्न वदेत्, प्राणादीनां नामान्तानां तत्र सम्बन्धं च न वदेत्, तदानीं तदुभयाभावात्, अतस्तदन्यथानुपपत्त्या भूमलक्षणे सर्वात्मभावभाविस्वरूपमेवोच्यत इति सर्वात्मभावसहित एव भूमा, न तु मोक्षावस्था। नापि जीवन्मुक्तावस्थेति युक्तम्। तां चेदभिप्रेयात्, तदा 'आत्मतः प्राणा' इत्यादि न वदेत्, तस्यामवस्थायां प्रारब्धवशादेव पूर्वप्राणादीनां सत्तायाः सत्त्वात्, अतो द्विविधस्यापि मोक्षस्यात्रादातुमशक्यत्वात् सर्वात्मभावोत्र ग्राह्य इत्यर्थः।

रश्मिः।

भूमत्वानुपपत्तिपरिहारार्थम्। प्रकृते। भावीति। परमकाष्ठापन्नस्वरूपमादाय। तथेत्यर्थ इति। ज्यायस्त्वमित्यर्थ इत्यर्थः। विद्यमानमिति। दुःखरूपम्। त्रिविधेति। 'स एवाधस्ता'दित्युक्ता। अहङ्कारादेशरूपा। आत्मादेशरूपा च। एतच्च प्राणाद्यभावाच्चेति भाष्याग्रे न वदेदित्यस्य सम्बन्धं कृत्वा योजितं ज्ञेयम्। जीवन्मुक्तीत्यादिभाष्ययोजना प्राणादीनामित्यादि। प्राचीनानामित्यस्य विशेषणमपीदम्। च पुन'स्तस्य वा एतस्यैवं पश्यत एवं मन्वानस्यैवं विजानत आत्मतः प्राण आत्मत आशे'त्यादि। मध्ये 'आत्मत आविर्भावतिरोभावा'विति। उपान्ते 'आत्मतो नामे'ति। अन्ते 'आत्मतो मन्त्राः, आत्मतः कर्माणि, आत्मत एवेदं सर्व'मिति। अत्र नामान्तानां तत्र जीवन्मुक्ते तथा। तदानीमित्यादि। सर्वात्मभावेन भावि फलं तस्य स्वरूपं तस्य काले इत्यर्थः। तदुभयेति। निःसम्बोधमोक्षजीवन्मोक्षोभयं तदभावात्। तदन्यथेति। प्राणादिनामान्तसम्बन्धस्य सर्वात्मभावभाविस्वरूपकल्पनं विनानुपपत्त्या। एवकारस्तु ब्रह्मवित्प्रपाठके आनन्दमयान्तानि रूपाण्युक्त्वा श्राव्यते। 'अथातोऽनुप्रश्नाः। उता विद्वानमुं लोकं प्रेत्य कश्चित् समश्नुते।' 'सोऽकामयते'त्याद्युक्त्वा तत्र दशरसात्मकजगदित्युक्तम्। मध्ये 'रसो वै स' इत्युक्त्वा 'स य एवंवित्। अस्माल्लोकात् प्रेत्य। एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रामती'त्याद्युक्त्वा 'एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति, तदप्येष श्लोको भवति। यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चने'ति श्रुतेः। तामिति। मोक्षावस्थां जीवन्मुक्तावस्थां वा। तस्यामिति। जीवन्मुक्तावस्थायाम्। न वक्तुं शक्यमिति

यद्वा। ननु लोकेपि शृङ्गाररसभाववति पुंसि नार्यां च त्वदुक्तभावसम्बन्धिव्यभिचारिभावाः श्रूयन्ते । सैव सर्वत्र, स एव सर्वत्रेति। एवं सति लौकिकसधर्मवत्त्वान्न त्वदुक्तभावस्यालौकिकज्ञानादिभ्य आधिक्यं वक्तुं शक्यम्, अलौकिकविषयत्वाल्लौकिकत्वमपि न तथेति भवति संशयः। तत्र मनुजत्वरिपुत्वादिज्ञानानामिव कामादिभावेन स्नेहभावस्यापि सम्भवान्नास्यालौकिकत्वमिति पूर्वः पक्षः ।

सिद्धान्तस्त्वस्य भावस्य लौकिकेभ्यो ज्यायस्त्वं मन्तव्यम् । ननूक्तं लोकसाधारण्यं बाधकमिति शङ्कानिरासाय निदर्शनमाह क्रतुवदिति । यथा दर्शादिषु दोहनाधिश्रयणातञ्चनव्रीह्यवघातादिपुरोडाशभक्षणादीनां लौकिकक्रियातुल्यत्वेन दर्शनेपि न लौकिकत्वम्, लौकिकप्रमाणाप्राप्तत्वादलौकिकतत्प्राप्तत्वात्, तथोक्तप्रमाणरूपवरणलभ्यत्वेन श्रुत्युक्तत्वान्न लौकिकत्वमस्य भावस्येति दिक् ।

वस्तुतस्तु ग्रामसिंहस्य सिंहस्वरूपत्वेपि न ताद्रूप्यं वक्तुं शक्यम्। तथा लौकिकपुंसि नार्यां वा तदाभासो रसशास्त्रे निरूप्यते, तद्दृष्टान्तेन भगवद्भाववन्नक्तरीतिभावनार्थम्, न तु ऋषीणां लौकिके तात्पर्यं भवितुमर्हति। अत्रोपपत्ति-

भाष्यप्रकाशः ।

एतस्यार्थस्य पूर्वाधिकरणस्थेन सामान्यसूत्रार्थविचारेणापि सिद्धप्रायत्वमित्यरुच्या वर्णकान्तरेण सूत्रं व्याकुर्वन्ति यद्वेत्यादि । श्रूयन्त इति । साहित्यग्रन्थेषु भरतसूत्रादौ बोध्यन्ते । अलौकिकज्ञानादिभ्य इति । लोकविलक्षणेभ्योऽक्षरज्ञानमुक्तिजीवन्मुक्तिभ्यः । न तथेति भवति संशय इति । न वक्तुं शक्य इति लौकिकसजातीयधर्मवत्त्वालौकिकविषयत्वाभ्यां हेतुभ्यां भवति संशय इत्यर्थः । पूर्वपक्षमाहुः तत्रेत्यादि । तत्रेति । भगवति । सिद्धान्तं वदन्तः सूत्रं व्याकुर्वन्ति सिद्धान्त इत्यादि। प्रतिज्ञायां हेतुं वक्तुं नन्वित्यादिना बाधकमाशङ्क्य दृष्टान्तं व्युत्पादयन्ति यथेत्यादि। उक्तप्रमाणरूपवरणलभ्यत्वेनेति । अलौकिकप्रमाणरूपतल्लभ्यत्वेन। तथाच सर्वात्मभावो लौकिकसदृशत्वेपि न लौकिकः, अलौकिकप्रमाणप्राप्तत्वात्, लौकिकप्रमाणाप्राप्तत्वाच्च, यागीयदोहनाधिश्रयणादिवत्, यन्नैवम्, तन्नैवम्, लौकिकतद्वदिति हेतुसिद्ध्या न प्रतिज्ञायां दोष इत्यर्थः। एतादृश्यश्च सादृश्यदर्शनजाः शङ्का अविचारकस्यैवोद्यन्ति, न तु विचारकस्येत्याशयेनाहुः वस्तुत इत्यादि। तथाच विचारकस्तु लोकेपि तथा तद्भावं पश्यन्नैवं शङ्कत इत्यर्थः। ननु यदि न सादृश्येन ताद्रूप्यम्, तदा ऋषिभिर्भरतादिभिरलौकिकभावधर्मसादृश्यं लौकिके रसे कुतो निरूप्यते, अतस्तद्दर्शनाद्विचारकस्यापि शङ्का तूदेत्येवेत्याकाङ्क्षायामृषीणां तथा तन्निरूपणस्य तात्पर्यमाहुः तथा लौकिकेत्यादि । भग-

रश्मिः ।

तथेतीत्यस्यार्थः । **सजातीयेति**। **सधर्मत्वादि**त्यस्यार्थः । **तत्रेत्यादीति** । **कामादीति**। आदिना भयादिपञ्चकम्। 'कामाद्गोप्य' इति वाक्योक्तम्। **प्रतिज्ञायामिति**। अस्य भावस्य लौकिकेभ्यो ज्यायस्त्वं मन्तव्यमित्यस्याम्। **निरूप्यत** इति । शास्त्रान्ते 'परमेण समाधिना' शास्त्रकरणोक्तेः । **तथा तन्निरूपणस्येति**। अलौकिकभावधर्मसादृश्येन लौकिकरसनिरूपणस्य।

माह तथाहीत्यादि। पूर्वोक्तभाववत आत्मनः प्राणादिकं सर्वं दर्शयति श्रुतिः 'तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यत' इत्यादिना। इतः पूर्वमपि 'स वा एष एवं पश्य'न्नित्युपक्रम्य, 'आत्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति, सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवती'ति श्रुतिश्च। न हि लोके एवं सम्भवति, आत्मपदानां भगवद्वाचकत्वादिति सर्वोत्तमविषयकभावस्यैव तथात्वं युक्तमिति चोपपत्तिर्हिशब्देन सूच्यते ॥ १७ ॥

इति तृतीयाध्याये तृतीयपादे एकोनविंशं भूम्न इत्यधिकरणम् ॥ १९ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

वद्भाववन्नक्तरीतिभावनार्थमिति। भगवति विगाढभाववान् यो भक्तस्तद्रीतिभावनार्थम्। ननु ऋषीणां तथैव तात्पर्यमित्यत्र किं गमकम्, अत आहुः नन्वित्यादि। तदुक्तं कामसूत्रसमाप्तौ वात्स्यायनेन 'तदेतद्ब्रह्मचर्येण परमेण समाधिना। विहितं लोकयात्रार्थं न रागार्थोऽस्य संविधिः। रक्षन् धर्मार्थकामांश्चीन् सम्पश्यन् लोकवर्तिनीम्। अस्य शास्त्रस्य तत्त्वज्ञो भवत्येव जितेन्द्रिय' इति। तथाच यदि लौकिके तात्पर्यं स्यात्, एतच्छास्त्रतत्त्वज्ञस्य जितेन्द्रियभवनरूपं फलं न वदेत्। एवं भरतोक्ते सङ्गीतशास्त्रेपि ज्ञातव्यम्। उपवेदत्वात्' अतः पूर्वोक्त एव निश्चयः। सूत्रशेषमवतारयन्ति अत्रेत्यादि। उक्तस्यार्थस्य प्रकृतश्रुत्यभिप्रेतत्वे उपपत्तिमाहेत्यर्थः। उपपत्त्यन्तरं बोधयितुं हिशब्दार्थमाहुः सर्वोत्तमेत्यादि। तथात्वमिति। सर्वसाधनज्यायस्त्वम्।

अत्रान्ये, वैश्वानरविद्यामुदाहृत्य, किमिहोभयथाप्युपासनं स्यात् व्यस्तस्य समस्तस्य च, उत समस्तस्यैव वेति सन्देहे, व्यस्तस्यापि विहितत्वात् फलस्यापि कथनादुभयथेति प्राप्ते, समस्तस्यैव न्याय्यम्। आन्तमेकवाक्यत्वात्। यथा 'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जात' इत्यत्र। 'मूर्धा ते व्यपतिष्यन्मां नागमिष्य' इत्याद्यनर्थस्य व्यस्तोपासने दर्शितत्वाच्चेत्याहुः।

रश्मिः ।

विगाढेति। षडुपाधिजन्यभाववान्। **पूर्वोक्त** इति। सर्वात्मभावविषयः। **उक्तस्येति**। ससम्बोधमोक्षरूपस्य सर्वात्मभावस्य । **प्रकृतश्रुतिः** 'तस्य ह एवं पश्यत' इत्यादिः । **भाष्ये**। **लोके एवमिति**। इह लोके जीवन्मुक्तस्य सम्भवति। **प्रकृते**। **सर्वोत्तमेत्यादीति** । **उपपत्तिरिति**। **युक्तमि**त्यस्य युक्तिरुपपत्तिस्तद्विषयमित्यर्थात् तद्विशेषणीभूतोपपत्तिः। सर्वात्मभावस्य भूमत्वेपि मुख्यभक्तित्वमादाय पादार्थसङ्गतिर्धर्मत्वादिति बोध्यम्। **वैश्वानरेति**। 'प्राचीनशाल औपमन्यव' इत्यस्यामाख्यायिकायां व्यस्तस्य समस्तस्य वैश्वानरस्योपासनं श्रूयते। व्यस्तोपासनं तावत्, 'औपमन्यव कं त्वमात्मानमुपास्स' इत्यादि। 'दिवमेव भगवो राजन्निति होवाच, एष वै सुतेजा आत्मा वैश्वानरोऽयं त्वमात्मानमुपास्स' इत्यादि। तथा समस्तोपासनमपि। 'तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा सन्देहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथ्व्येव पादा'वित्यादि। **एवं** वैश्वानरविद्याम्। **फलस्येति**। 'तस्मात् तव सुतं प्रसुतमासुतं कुले दृश्यत' इति फलस्य। **आन्तमिति**। अन्तं 'तस्य ह वा एतस्ये'ति समस्तोपासनवाक्यम्, तदभिव्याप्य आन्तं एकवाक्यत्वसमस्तस्य वाक्यत्वं तस्मात्। 'तस्य ह वा' इत्यत्र तच्छब्देन व्यस्तपरामर्शं कृत्वा एतस्येत्यनेनोक्तसमस्तस्याभेदोक्तेः। **यथा वैश्वानरमिति**। प्रथमस्य द्वादशाधिकरणे चतुर्थपादे। 'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्, पुत्रे जाते यदष्टाकपालो भवति गायत्र्यैवैनं ब्रह्मवर्चसेन पुनाती'त्यादि इष्टिविधायके वाक्ये येयं द्वादशसङ्ख्या तस्यामष्टत्वादिसङ्ख्यानामन्तर्भाव उक्त इत्यान्तमेकं वाक्यम्। **मां नागमिष्य** इति। मां प्रति विशेषं

नाना शब्दादिभेदात् ॥ ५८ ॥ (३-३-२०.)

पूर्वाधिकरणैः सर्वात्मभावस्वरूपादिनिर्णयं कृतवान्, अथ मत्स्यादिरूपाणां भगवदवतारत्वमविशिष्टमिति सर्वेषां समस्योपासना कार्या, उत पार्थक्येनेति विचारयति । अत्रोपास्याभेदेपि रूपभेदावेकत्रोपासकस्यान्यत्रानुपासनलक्षणाव-ज्ञासम्भवादस्या अप्यसिद्धिसम्भवादपि समस्यैव सा कार्येति प्राप्ते, सिद्धान्त-

भाष्यप्रकाशः ।

तन्नास्माकं रोचते । पूर्वकाण्डे उदवसानीयाख्ये कर्मणि 'अप वै सोमेनेजानाद्देवताश्च यज्ञश्च क्रामन्ती'त्यादिना देवतायज्ञावरोधार्थं पूर्वं पञ्चकपालं विधाय, ततो 'गायत्रो वा अग्नि'रित्यादिना तद्दोषदर्शनेन दूषयित्वा 'अष्टाकपालमाग्नेयं पुरोडाशं पञ्चसङ्ख्याके याज्यानुवाक्ये चोपसंहारे विहिते' इति पूर्वविधानस्यानभिप्रेतत्वबुद्धेः शीघ्रमुदयेन न पूर्वप्रकारकरणशङ्कोदयः, तथात्रापि शङ्काया एव पराहत्यानुदयेन पूर्वपक्षानुदयादिति ॥ ५७ ॥ **इत्येकोनविंशं भूम्न इत्यधिकरणम् ॥ १९ ॥**

नाना शब्दादिभेदात् ॥ ५८ ॥ सङ्गतिं बोधयन्तोऽधिकरणमवतारयन्ति पूर्वे-त्यादि । 'प्रदानव'दित्यादिभिः पूर्वाधिकरणैर्मुख्याधिकारिणामर्थे सर्वात्मभावस्वरूपस्य तदुत्क-र्षस्य तत्फलस्य तदधिकारिणां च निर्णयं कृतवान्, अथ तदनन्तरं पुराणोक्तानां मत्स्याद्युपा-सनानामपि नित्यानुमेयवेदमूलत्वादिदानीमपि केषाञ्चिद्रामनृहयग्रीवाद्युपासकानां दर्शनात् ताद-[1]शानामर्थे उपासनान्तरनिर्णयस्यावश्यकत्वात्, मत्स्यादिरूपाणां भगवदवतारत्वमविशिष्टम्, यथा सुतेजःप्रभृतीनां वैश्वानरावयवत्वमिति तेषां सर्वेषां समस्य भगवतैकीकृत्योपासना कार्या, उत सुतेजःप्रभृतीनां व्यस्तोपासने दोषश्रवणवदत्र दोषस्याश्रवणाद्व्यस्ततया कार्येति शङ्कायां प्रस-ङ्गाद्विचारयतीत्यर्थः । पूर्वपक्षमाहुः अत्रेत्यादि । अस्या अप्यसिद्धिसम्भवादिति । रूपा-

रश्मिः ।

प्रष्टुं न आगमिष्य इत्यर्थः । **दोषेति** । 'अग्निर्गायत्रः, अष्टाक्षरा गायत्री, तत्सम्बन्धी, अतः पञ्चकपालत्वं दोषः । तद्दर्शनेन । **आग्नेयं पुरोडाशमिति** । अग्ने तस्येति शेषः । **पञ्चसङ्ख्याक इति** । पञ्चकपाले । 'उपसंहारस्तस्मिन् विहिते' इति 'उदवसानीयाख्ये कर्मणी'त्यनेन पूर्वेणान्वयः । **कर्मणि विहित इति** । सतिसप्तमी । इतिः समाप्तौ । तत्समानाधिकरणः पूर्वविधानस्य पञ्चकपालसम्बन्धिनोऽनभिप्रेतत्वबुद्धेः शीघ्रमुदयः तेनेत्यर्थः । **अत्रापीति** । अधिकरणेपि ॥ ५७ ॥ **इत्येकोनविंशं भूम्न इत्यधि-करणम् ॥ १९ ॥**

नाना शब्दादिभेदात् ॥ ५८ ॥ सङ्गतिमिति । कृष्णावतारस्य 'समान एवं चाभेदा'-दित्यधिकरणे निरूपणात् मुख्याधिकारिणो वृताः, तेभ्यः सर्वात्मभावं ददातीति । सर्वात्मभावनिरूपणा-नन्तरं स्मृतावताराणां निरूपणं धर्मत्वात् । किं पुनर्ब्रह्माण्डान्तर्मायादूरीकरणे प्रकटे कृष्णेऽप्यवतार-व्यवहाराद्धर्मकत्वम् । इवार्थे कन् । अतो न पादार्थाव्याप्तिः । सर्वात्मभावस्वरूपस्य प्रदानवदेवाद्यधि-करणेषु, तदुत्कर्षस्य 'भूम्नः क्रतुव'दित्यधिकरणे, तत्फलस्य 'आत्मरतिरात्मक्रीड' इत्यादिभाष्येणात्रैवाधि-करणे तदधिकारिणां एतत्फलप्रेप्सूनामर्थात् प्राप्तानाम् । **दोषेति** । 'मूर्धा ते व्यपतिष्य'दित्याद्युक्तदोष-श्रवणवत् । **अत्रेति** । मत्स्यादिरूपाणां व्यस्तोपासने । **प्रसङ्गादिति** । स उक्तः । **अत्रेत्यादीति** । उपास्याभेदस्तु यथा रामो हास्यावतारः, वामनः कटिसूत्रावतारः, एवमलौकिकार्थत्वेनोपास्याभेदेपि ।

१. तद्व्यतिरिक्तानामर्थे उपासनान्तरनिर्णयस्यावश्यकत्वात् ।

माह । सर्वेष्ववतारेषु नानैवोपासना कार्या । तत्र हेतुः शब्दादिभेदादिति । तत्तत्स्वरूपवाचकशब्दानां मन्त्राणां चादिपदादाकारकर्मणां च भेदादित्यर्थः । एतेनैव मिथोविरुद्धानामाकारकर्मणामेकत्र भावनस्याशक्यत्वमयुक्तत्वं चेति भावः सूचितः ॥ ५८ ॥

इति तृतीयाध्याये तृतीयपादे विंशं नानाशब्दादिभेदादित्यधिकरणम् ॥ २० ॥

भाष्यप्रकाशः ।

न्तरावज्ञारूपापराधकृतप्रतिबन्धेनासम्भवात् । तथाचात्र दोषाश्रवणेप्युक्तरीत्या दोषसम्भवान्न कार्ये-त्यर्थः । सिद्धान्तं बोधयितुं सूत्रं व्याकुर्वन्ति सर्वेष्वित्यादि । तर्ह्यवज्ञादोषस्य कथं निवृत्तिरित्यत आहुः एतेनेत्यादि । एतेनैवेति । उपासनभेदस्थापनेनैव । अयुक्तमिति । विरुद्धत्वादयुक्तम् । तथाच शक्यस्य युक्तस्याकरणे ह्यपराधः, न त्वशक्यस्यायुक्तस्याकरणे । अतोऽनुपासनस्य तत्रापरा-धाप्रसञ्जकत्वेन प्रतिबन्धाभावान्नासिद्धिरित्यर्थः । एतेन यत् पूर्वं 'न भेदादिति चे'दितिसूत्रेऽधि-कगुणोपसंहारौचित्यमुक्तम्, तत्प्रकारोत्र दर्शितः । तत्तद्रूपप्राधान्येन ब्रह्मोपासकस्याधिका अपि गुणा अविरुद्धाः एवोपसंहार्याः, न त्वन्येपीति । तस्मात्तेषां व्यस्तोपासनमेव कर्तव्यमिति सिद्धम् ।

अन्ये तु, अत्र यासु यासु विद्यासु श्रुतिनानात्वेऽप्यर्थैक्याद्वेद्यैक्यम्, यथा 'मनोमयः प्राणशरीरः', 'कं ब्रह्म', 'सत्यकामः सत्यसङ्कल्प' इत्यादौ । यथा च, 'प्राणो वा व संवर्गः', 'प्राणो वा य ज्येष्ठः श्रेष्ठः', 'प्राणो ह पिता प्राणो माते'त्यादौ च । तत्र श्रुतिनानात्वस्य गुणा-न्तरपरत्वात्, विद्याभेदेन विद्यैक्याच्च, स्वपरशाखोक्तं गुणजातं विद्याकार्त्स्न्यार्थमुपसंहार्यमिति पूर्वपक्षे, शब्दादिभेदाद्विद्याभेदं सिद्धान्तयन्ति । पूर्वतन्त्रे शब्दान्तरादीनां कर्मभेदकत्वेन सिद्ध-त्वात्, प्रकृते च 'वेद' 'उपासीत' 'क्रतुं कुर्वीते'त्यादिशब्दभेदात् । आदिपदेन यथासम्भवं गुणादीनामपि भेदस्य सङ्ग्रहाच्च । नच शब्दभेदेपि 'यजति' 'जुहोती'त्यादिवत् 'वेदोपासीते'-त्यादावर्थभेदाभावान्न भेद इति वाच्यम् । तथाप्येकस्मिन्नेव वेद्ये प्रतिप्रकरणमितरेतरव्यावृत्तगुणो-पदेशरूपानुबन्धभेदेन तस्यां तस्यां विद्यायां तादृक्तादृग्गुणविशिष्टस्यैवोपास्यतया विद्याभेदोपपत्तेः । एवं स्थितेपि 'सर्ववेदान्तप्रत्यये'त्यादि द्रष्टव्यमिति चाहुः ।

रश्मिः ।

सुबोधिन्यां संनिवेशोऽवताराणां स्पष्टः । **उक्तरीत्येति** । अव्यवहितपूर्वोक्तरीत्या । **तत्प्रकार इति** । व्यस्तोपासनायामपराधाभावजनकत्वमवतारेऽधिकगुणोपसंहारो दर्शितः । किञ्च, **अविरुद्धेत्यादिः** प्रकारः । **तेषामिति** । मत्स्यादीनाम् । आभरणादिरूपत्वे तत्तद्वाचकशब्दानां मन्त्राणां चादिपदादाकार-कर्मणां च भेदादेवकारः । **शब्दान्तरेति** । आदिनाभ्याससंज्ञे । **वेद इति** । अमः सुः । **वेदम्** । **गुणादीनामिति** । वेदत्वादिगुणाः । आदिना संज्ञारूपे । **वेदोपासीतेति** । वेदशब्दादमोऽलुक् । वेदमुपासीतेति । **अर्थभेदेति** । 'यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु' । 'हु दानादनयोः' । अत्र दानरूपा-र्थाभेदवत् 'वेदोपासनं कुर्वीत' 'क्रतुं कुर्वीते'त्यर्थभेदाभावात् । **प्रतिकरणमिति** । करणं करणं शब्दं शब्दम् । वीप्सायां प्रतिः । इतरेतरस्मिन् मनोमयादौ व्यावृत्ता ये गुणा मनोमयत्वादयः तेषामुपदेशरू-पोऽनुबन्धः मुख्यानपायी तस्य भेदस्तेन । 'अनुबन्धः प्रकृत्यादेर्दोषोत्पादे विनश्वरे । मुख्यानपायिनि शिशौ प्रवृत्तस्यानवर्तने' इति विश्वः । **स्थितेपीति** । विद्याभेदे । **सर्वेति** । आविद्यकत्वाद्विशेषदर्शनेन

१. अयुक्तं प्रकाशे । २. रश्मौ प्रतिकरणम् ।

विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् ॥ ५९ ॥ (३-३-२१.)

पार्थक्येनोपासनानि कर्तव्यानीति स्थिते विचार्यते । किमग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिवदेषां समुच्चयः, उत फलविकल्प इति । तत्र विधिफलयोः समानत्वात् समुच्चय इति प्राप्ते, निर्णयमाह । उपासनानां विकल्प एव । तत्र हेतुः । अविशिष्टफलत्वात् । मुक्तिफलकत्वं हि सर्वेषामुपासनानामविशिष्टम् । एवं सत्येकेनैव तत्सिद्धावपरस्याप्रयोजकत्वादग्निहोत्रादिवन्नित्यताबोधकश्रुत्यभावात्तद्दर्शिनो विकल्प एव ॥ ५९ ॥

इति तृतीयाध्याये तृतीयपादे एकविंशं विकल्पाधिकरणम् ॥ २१ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

तदसङ्गतम् । सर्ववेदान्तप्रत्ययसूत्रोक्तचोदनाद्यविशेषरूपहेत्वभावादेवोक्तस्थलेषु विद्याभेदस्य सिद्धत्वेनैतत्सूत्रारम्भवैयर्थ्यप्रसङ्गात् । नचोपसंहारनिवृत्त्यर्थत्वान्नानर्थक्यमित्यपि युक्तम् । ऐक्यहेत्वभावादेव सिद्धे विद्याभेदे उपसंहारप्राप्तेरेवाभावात् विद्यापृथक्त्वनानापदविरोधाचेति ॥ ५८ ॥ इति विंशं नानाशब्दादिभेदादित्यधिकरणम् ॥ २० ॥

विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् ॥ ५९ ॥ अधिकरणमवतारयन्ति पार्थक्येनेत्यादि । विचार्यत इति । उपोद्घातसङ्गत्या विचार्यते । संशयमाहुः किमित्यादि । तथाच विधिसामान्यात् क्रमेण कार्याणीत्येवं समुच्चयः, उत फलतौल्याद्विकल्प इत्यर्थः । पूर्वपक्षमाहुः तत्रेत्यादि । विधिः फलं च सर्वत्र तुल्यम् । यथाग्निहोत्रादीनाम् । तथा सति यदेव न क्रियते, तत्फलाभावेन न्यूनतापत्तेर्विकल्पस्य प्राप्तप्रामाण्यपरित्यागादिदोषवत्तया तदादरे तत्संसर्गाच्च समुच्चय एव ज्यायानित्यर्थः । सिद्धान्तमाहुः उपासनानामित्यादि । तथाचाग्निहोत्रादितौल्यस्याभावाच्चित्रोद्भिदादितौल्यस्य सत्त्वाद्विकल्पस्यादुष्टत्वेन स्वर्गादिवद्विधमायानिवृत्तिरूपायां तत्तदवतारसायुज्यरूपायां

रश्मिः ।

द्र(ष्ट)व्यम् । सर्ववेदान्तेति । चोदनाविशेषदर्शनात् तथा । नानेति । उपसंहारे वेद्यैक्येन विध्यैक्ये तथा । अत्र चकारेण हेत्वन्तरं सूचितम् । स हेतुः । उपसंहारोऽर्थाभेदादिति । यथा कथञ्चित् समस्तोपासना ॥ ५८ ॥ इति विंशं नानाशब्दादिभेदादित्यधिकरणम् ॥ २० ॥

विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् ॥५९॥ उपोद्घातेति । प्रकृतं पार्थक्येनोपासनं तत्सिद्ध्यर्थो फलविकल्पचिन्ता उपोद्घातः स सङ्गतिः तया । किमित्यादीति । अग्निहोत्रेति । अग्निहोत्रादिमतो दर्शपूर्णमासाधिकारात् समुच्चयः । विधीति । पञ्चमस्कन्धे 'ॐ नमो भगवते मुख्यतमाय नमः सत्त्वाय प्राणायौजसे सहसे बलाय महामत्स्याय नम' इतीत्यत्र 'अस्त्वि'ति विधेः कूर्माद्यवतारभक्तिविधिभ्यः सामान्यात् । क्रमेणेति । 'मत्स्यकूर्मवराहे'त्यादि पाठक्रमेण । फलतौल्यादिति । सामान्यतो विश्वजित्यायेन मुक्तिः फलं तस्य तौल्यात् । सर्वत्रेति । मत्स्याद्यवतारभक्तिषु । यथाग्नीति । 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' 'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेते'त्यादयो विधयः । प्रत्यवायपरिहारः फलम् । प्राप्तप्रामाण्येति । 'विकल्पोऽष्टदोषदुष्ट' इति पूर्वतन्त्रे परिसंख्याविधावस्ति । तदादर इति । विकल्पादरेऽष्टदोषसंसर्गाच्चेत्यर्थः । समुच्चय इति । पाठक्रमेण समुच्चयः । चित्रोद्भिदादीति । पूर्वतन्त्रप्रसिद्धम् । 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' अन्यत्र 'चित्रया यजेत पशुकाम' इति प्रथमस्य चतुर्थपादे । स्वर्गादिवदिति । आदिना वृष्टिः ।

काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा पूर्वहेत्वभावात् ॥ ६० ॥ (३-३-२२.)

येषु तूपासनेषु भिन्नानि भिन्नानि फलान्युच्यन्ते, तत्र त्वनेकफलार्थिनस्तत्तत्फलकोपासनानि समुच्चीयेरन्, अविशिष्टफलत्वाभावात् । यत्र त्वेकस्यैवोपासनस्य स्वकामितानेकफलत्वं श्रूयते, तत्र तथैव चेदुपासनं करोति, तदा न समुच्चीयेरन्नपि । स्वकामितेष्वेकतरस्य तदन्यफलवैशिष्ट्येनाविशिष्टफलत्वाभावादिति पूर्वहेत्वभावादितिश्लिष्टप्रयोगाभिप्रायेणोक्तमिति ज्ञेयम् ।

अथवा । कामैक्ये नियतफलकानि तानि न समुच्चीयेरन् । अत्र हेतुः स्पष्टः ॥६०॥

इति तृतीयाध्याये तृतीयपादे द्वाविंशं काम्याधिकरणम् ॥ २२ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

च मुक्तौ विशेषाभावेन च फलस्याविशिष्टत्वात् समुच्चये अप्रयोजकत्वदोषापत्तेश्च विकल्प एव ज्यायानित्यर्थः । एतेनैव ब्रह्मप्राप्तिफलानां सद्विद्यादहरविद्योपकोसलविद्याशाण्डिल्यविद्याऽक्षरविद्यादीनां एकफलानां प्राणादिविद्यानां च विकल्पोऽवगन्तव्य इत्यपि बोधितम् । अत्र सर्वेऽप्येवमेवाहुः ॥ ५९ ॥ इत्येकविंशं विकल्पाधिकरणम् ॥ २१ ॥

काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयरेन् न वा पूर्वहेत्वभावात् ॥ ६० ॥ 'अविशिष्टफलत्वा'दित्यस्य विकल्पहेतोः प्रत्युदाहरणमिदम् । एवं मुक्तिफलिका उपासना विचार्य, काम्यासु पक्षद्वयस्य सम्भवात् ताः पृथक् विचारयतीत्याशयेन सूत्रं पठित्वा व्याकुर्वन्तस्तत्र तत्तत्फलानां काम्यत्वादुपासनानां समुच्चयपक्षं व्याकुर्वन्ति येष्वित्यादि । येषु, 'स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य कामचारो भवति', 'सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति येऽन्नं ब्रह्मोपासत' इत्यादिषु तथेत्यर्थः । एवं समुच्चयपक्षं व्याख्याय 'न वा' इति पदाभ्यामुक्तमसमुच्चयपक्षं व्याकुर्वन्ति यत्र त्वित्यादि । श्रूयते इति । यथा भार्गव्यां विद्यायां 'य एवं वेद प्रतितिष्ठति, अन्नवानन्नादो भवति महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन महान् कीर्त्ये'ति श्रूयते । तत्र तथैव चेत् । तदुक्तस्वकामितसकलफलसाधकतया चेत्तदुपासनं करोति, तदा तत्फलकान्यन्यानि 'तत्प्रतिष्ठेत्युपासीत' 'तन्मह इत्युपासीते'त्यादीनि तत्तद्गुणकान्युपासनानि न समुच्चीयेरन्नपि । अत्रापि हेतुः पूर्वहेत्वभावादिति । तं विवृण्वन्ति स्वकामितेष्वित्यादि । स्वकामितफलेष्वेकतरस्य फलस्य तदन्यफलवैशिष्ट्येन अविशिष्टफलत्वाभावादिति । तथाच समुच्चये अविशिष्टफलत्वाभा-

रश्मिः ।

नित्यानां प्रत्यवायपरिहारः, ज्योतिष्टोमस्य स्वर्गः । कारीर्यां वृष्टिः । तद्वदुपासनानां न, किन्तु मुक्तिफलकत्वं अविशिष्टत्वं सर्वासूपासनासु तस्मात् । अप्रयोजकत्वमपरोपासनायाः, अतोऽप्रयोजकत्वदोषापत्तेः ॥५९॥

काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा पूर्वहेत्वभावात् ॥ ६० ॥ विकल्पहेतोरिति । पूर्वसूत्रोक्तस्य । प्रत्युदेति । नित्येषु कर्मसु विकल्प उक्तः । काम्येषु समुच्चय उच्यते । तत्र विधिफलयोः समानत्वहेतुः, अपरस्याप्रयोजकत्वदोषापादकत्वान्नादृतः । तत्राविशिष्टमुक्तिमात्रफलत्वात् । अत्र काम्येषु तु विशिष्टस्य मुक्तिमात्रस्य फलस्याभावरूपात् पूर्वहेत्वभावरूपहेतोः प्रतिकूलमुदाहरणम् । विधिफलयोः समानत्वेऽपरस्याप्रयोजकत्वम्, विधिफलयोरसमानत्वेऽपरस्य प्रयोजकत्वम्, परन्तु कामनानियतमिति । तत्रेति । काम्येषु । समुच्चयेति । यथा सेवायां न पुत्रेण नापि पशुना कार्यम्, किन्तु समुच्चितेन पुत्रादिना, अतः समुच्चयपक्षम् । स य इति । सः यः इतिच्छेदः । इत्यादीति ।

---

१. फलकत्वम् । २. फलप्राप्तिफलानाम् ।

५४ ब्र० सू० र०

अङ्गेषु यथाश्रयभावः ॥ ६१ ॥ (३-३-२३.)

प्रधानेषु निर्णयमुक्त्वाङ्गेषु तमाह। एकार्थसाधकानामुपासनानां भेदेनाङ्गभेदेऽप्येकतरोपासने फलैक्यादङ्गानि तत्र समुच्चीयेरन्न वेति संशये, निर्णयमाह। उपासनाङ्गानां तदेवाश्रयः, तथाच यदङ्गं यदुपासनाश्रितम्, तत्रैवास्य भाव इत्यर्थः ॥६१॥

भाष्यप्रकाशः।

योऽनेकफलत्वात्, समुच्चयाभावे त्वविशिष्टफलत्वाभावस्तत्फलस्यान्यफलविशिष्टत्वादिति भेदेपि 'पूर्वहेत्वभावा'दिति यत्सूत्र उक्तम्, तत्तथेत्यर्थः। अत्र व्याख्यानक्लेशात् पक्षान्तरमाहुः अथवेत्यादि। कामैक्ये इति। एकमात्रविषयत्वेन तदैक्ये। अत्र हेतुः स्पष्ट इति। अस्मिन् पक्षे तेषां फलभेदेन विशिष्टफलतया अविशिष्टफलत्वाभावरूपः पूर्वहेत्वभावः स्फुट इत्यर्थः।

अत्रापि मध्वाचार्यभिक्षुव्यतिरिक्तानां सर्वेषामैकमत्यम्। अस्माकं त्वेतावान् विशेषः। अत्र सूत्रे काम्यपदादुद्गीथाद्युपासना अपि संग्रहीतुं शक्यन्ते। तास्वपि 'यदेव विद्यया करोती'त्यादिभिः फलश्रवणात्। कामपदाभावेपि रात्रिसत्रन्यायेन काम्यत्वस्य शक्यत्वादिति ॥ ६० ॥

इति द्वाविंशं काम्याधिकरणम् ॥ २२ ॥

अङ्गेषु यथाश्रयभावः ॥ ६१ ॥ कर्माङ्गत्वेपि स्वव्यापारेण फलसाधने उपासनान्तरानपेक्षत्वात् प्रधानानामुद्गीथाद्युपासनानामपि काम्यत्वेन यथाकामं समुच्चयविकल्पयोः पूर्वसूत्रेणैव सिद्धत्वादत्र विषयान्तरं बोधयन्तोऽधिकरणमवतारयन्ति प्रधानेत्यादि। अन्यानपेक्षतया स्वव्यापारद्वारा फलजनकानि प्रधानानि, तेषु समुच्चयादिनिर्णयमुक्त्वा, अन्यापेक्षतया तथा फलजनकेष्वङ्गेषु निर्णयमाहेत्यर्थः। ननु किं प्रयोजनं येन पृथगारम्भ इत्यत आहुः एकार्थेत्यादि। एकोऽर्थः एकं फलम्, तत्साधकानामनेकेषामुपासनानां रूपादिभेदेन भेदेपि तेषां मध्य एकतरोपासनेऽन्येषामस्य च फलैक्यात् तत्फलार्थं यान्यङ्गानि तत्र तत्रोक्तानि, तान्येकस्मि-

रश्मिः।

अन्यत्र प्रष्टव्यानि। **तथेत्यर्थ इति।** भिन्नानि भिन्नानि फलान्युच्यन्त इत्यर्थः। **भाष्ये। अविशिष्टेति।** सूत्रे पूर्वहेत्वभावादित्युक्तम्, अत एवेति चोक्तम्। 'अत एव प्राण' इत्यतिदेशाधिकरणवत्। अतोऽस्य प्रयोगस्याभिप्रायवर्णनं क्लिष्टप्रयोगत्वात् करिष्यन्ति। **प्रकृते। असमुच्चयेति।** 'न वा समुच्चीयेर'न्निति योजनासिद्धं पक्षम्। **तत्तुच्छेति।** यथा 'अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः। तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं पर'मित्यत्र तीव्रभक्तियोगः। तत्र नान्यकर्मसमुच्चयः। **तत्तथेति।** क्लिष्टप्रयोगाभिप्रायेणोक्तमित्यर्थः ॥ ६० ॥ **इत्येकविंशं विकल्पाधिकरणम् ॥२१॥**

अङ्गेषु यथाश्रयभावः ॥ ६१ ॥ उपासनेति। अवयव्यतिरिक्तोपासनान्तरानपेक्षत्वात् अवयविनश्चावयवमात्रत्वादवयव्यनङ्गीकारेण। **काम्यत्वेनेति।** 'आपयिता ह वै कामानां भवति, य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्त' इति श्रुतेस्तथा। फलसम्बन्धित्वं प्रधानत्वमङ्गेष्वपीति प्रधानलक्षणान्तरमाहुः **अन्यानपेक्षेति।** एकतरेति। महाभाष्यप्रयोगाद्बहूनां निर्धारणे डतरच्।

१. तस्य। २. श्रीपुरुषोत्तमैर्भाष्यप्रकाशस्यान्तिमश्लोके 'काम्यास्तु' इति सूत्रं पृथगधिकरणत्वेन निर्दिष्टम्। अतस्तदनुसारेण 'काम्यास्तु' इत्यादि द्वाविंशमधिकरणं भवति। श्रीकृष्णचन्द्रैः श्रीगोपेश्वरैश्च 'काम्यास्तु' इति पृथगधिकरणत्वेन न निर्दिष्टम्। तैश्च तस्यैकविंशे विकल्पाधिकरणेऽन्तर्भावः कृतः। श्रीपुरुषोत्तमैरपि पूर्वमेवमेव निर्दिष्टम्। वेदान्ताधिकरणमालायां त्वस्मिन् पादे पञ्चविंशत्यधिकरणानि, भावप्रकाशिकावृत्तौ चतुर्विंशत्यधिकरणानि। अतः प्रकाशे पञ्चविंशत्यधिकरणानि, रश्मौ च चतुर्विंशतिरित्यस्माभिस्तथैव योजितमिति।

अत्र हेतुमाह।

शिष्टेश्च ॥ ६२ ॥

तत्तदुपासनं तत्तदङ्गविशिष्टमेव वेदे शिष्यत इति तथेत्यर्थः। चकाराद्व्यतिरिक्तकरणे प्रायश्चित्तोक्तिरपि बाधिकेति सूच्यते ॥ ६२ ॥

इति तृतीयाध्याये तृतीयपादे त्रयोविंशमङ्गेषु यथाश्रयभावाधिकरणम् ॥ २३ ॥

भाष्यप्रकाशः

ष्मुपासने समुच्चीयेरन्नवेति संशये, उपसंहारसूत्रेऽर्थाभेदपदस्य फलाभेदवाचकत्वे फलैक्यात् समुच्चयप्राप्तौ, वक्ष्यमाणहेतुभ्यां निर्णयमाहेत्यर्थः। सूत्रं व्याकुर्वन्ति उपासनाङ्गानामित्यादि। तदेवेति। उपासनमेव। तथाच आश्रयमनतिक्रम्य यथाश्रयम्, भावः सत्ता, यथाश्रयं भावो यथाश्रयभाव इति सूत्रयोजना। उदाहरणं तु छान्दोग्ये 'मनो हिङ्कारो वाक्प्रस्ताव' इत्यादिभिर्दशभिर्वाक्यैर्गायत्र-रथन्तर-वामदेव्य-बृहत्-वैरूप-वैराज-शक्वर्य-रैवत्य-यज्ञायज्ञीय राजननामग्रहणपूर्वकं विहितानि दश सामोपासनानि, तेषु ह्येकमेकमसाधारणं फलमुक्त्वा, तदुत्तरं 'सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान् प्रजया पशुभिर्भवति महान् कीर्त्ये'ति सर्वोपासनेषु साधारणं फलमुक्त्वा, क्रमेण 'महामनाः स्यात् तद्व्रतम्, न प्रत्यङ्ङग्निमाचामेन्न ष्ठीवेत् तद्व्रतम्,' एवं 'न काञ्चन परिहरेत्', 'न तपन्तं निन्देत्, न वर्षन्तं निन्देत्', 'नर्तून्निन्देत्', 'न पशून्निन्देत्', 'संवत्सरमज्ञो नाश्नीयात्', 'ब्राह्मणान्न निन्देत्' इति तत्तदुपासनाङ्गभूतानि व्रतान्युक्तानि। तथाच तस्य व्रतस्य तत्तदुपासन एव सम्बन्धः, नान्यत्रेति बोध्यम्। एवज्जातीयमन्यदपि। न्यायस्य साधारणत्वात्। यथा भार्गव्या आनन्दविद्याया अङ्गभूतेषु त्रिष्वन्नप्रतिष्ठितत्वोपासनेषु प्रतिष्ठादीनां फलानामैक्यं तत्तदुपासनाङ्गभूतानां 'अन्नं न निन्द्यात् तद्व्रतम्, अन्नं न परिचक्षीत तद्व्रतम्, अन्नं बहु कुर्वीत तद्व्रत'मिति तत्तद्व्रतानां भेद इति ॥ ६१ ॥

शिष्टेश्च ॥ ६२ ॥ अत्र भाष्यं स्फुटम् ॥ ६२ ॥ **इति त्रयोविंशमङ्गेषु यथाश्रयभावाधिकरणम् ॥ २३ ॥**

रश्मिः।

वक्ष्यमाणेति। शिष्टिप्रायश्चित्तोक्तिभ्याम्। **उपासनमिति।** अवयवि। **यथाश्रयमित्यव्ययीभावः।** ततः कर्मधारयः। **भाष्ये। तत्रैवास्येति।** उपासनेऽस्याङ्गस्य भावः सत्तेत्यर्थः। **प्रकृते। सर्वमायुरिति।** शतवर्षं आयुः। ज्योक्। टीकायां स्पष्टम्। अग्रेपि। **आनन्देति।** आनन्दब्रह्मज्ञानानन्तरं 'सैषा भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योमन् प्रतिष्ठिते'त्यानन्दविद्या तस्याः। **अङ्गेति।** अङ्गभूतत्वं प्रतिष्ठाश्रयत्वानन्नादत्वादीनामानन्दविद्याफलानां 'पुनरन्नं न निन्द्यात्, तद्व्रत'मित्युपक्रम्योक्तेः साङ्गविद्यायाः पूर्वोक्तफलवत्त्वात्। 'एवमन्नं न परिचक्षीत तद्व्रत'मित्यत्र, 'अन्नं बहु कुर्वीत तद्व्रत'मित्यत्र चेत्येवमङ्गभूतेषु त्रिषु। **अन्नेति।** 'अन्नं न निन्द्यात् तद्व्रत'मित्यत्र 'स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेदे'त्युक्तम्। तथा 'अन्नं न परिचक्षीत तद्व्रत'मित्यत्र 'स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेदे'त्युक्तम्। तथैव 'अन्नं बहु कुर्वीत तद्व्रत'मित्यत्र 'स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेदे'त्युक्तमित्यन्नप्रतिष्ठितत्वोपासनानि तेषु। **तत्तदुपासनेति।** अन्नप्रतिष्ठितत्वोपासनाङ्गभूतानाम् ॥ ६१ ॥

शिष्टेश्च ॥ ६२ ॥ उदाहरणं द्रष्टव्यम्। **प्रायश्चित्तेति।** यथा 'आश्विनं धूम्रललाममालभेत, यो दुर्ब्राह्मणः सोमं पिपासे'दिति। अत्र सर्वे षड्सूत्रमधिकरणमङ्गीकुर्वन्ति, तदग्रे स्पष्टीभविष्यति ॥ ६२ ॥ **इतिद्वाविंशं यथाश्रयभावाधिकरणम् ॥ २२ ॥**

समाहारात् ॥ ६३ ॥ (३-३-२४.)

कर्ममार्गीयोपासने निर्णयमुक्त्वा ज्ञानमार्गीयोपासने तमाह । अथर्वोपनिषत्सु नृसिंहोपासनादिषु मत्स्यकूर्मादिरूपत्वेनापि स्तुतिः श्रूयते । श्रीभागवते च, 'नमस्ते रघुवर्याये'त्यादिरूपा स्तुतिर्व्रजनाथे । एवं सति रूपभेदेपि भगवदवतारस्याविशिष्टत्वादेकस्मिन् रूपे रूपान्तरसमाहारो दृश्यत इति सर्वरूपत्वेनैकत्रोपासनमपि साध्वित्यर्थः ॥ ६३ ॥

गुणसाधारण्यश्रुतेश्च ॥ ६४ ॥

ऐश्वर्यवीर्यादिगुणानां सर्वेष्ववतारेषु साधारण्यं श्रूयते । तेन धर्मिधर्माणामैक्यात् पूर्वोक्तं साध्वित्यर्थः ॥ ६४ ॥

इति तृतीयाध्याये तृतीयपादे चतुर्विंशं समाहाराधिकरणम् ॥ २४ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

समाहारात् ॥ ६३ ॥ सूत्रप्रयोजनमाहुः कर्ममार्गीयेत्यादि । कर्माङ्गतया कर्ममार्गीयेषु सामाद्युपासनेषु अङ्गनिर्णयमुक्त्वा, ज्ञानाङ्गतया ज्ञानमार्गीयेषु तेष्वङ्गनिर्णयमाहेत्यर्थः । सूत्रं व्याकुर्वन्तो विषयमाहुः अथर्वेत्यादि । अत्र मत्स्यकूर्मादिपदात् पूर्वं ब्रह्मविष्ण्वादीतिपदस्य त्रुटिर्बोध्या । तथाच नृसिंहोपासनायां 'यो वै नृसिंहो देवो भगवान् यश्च ब्रह्मा तस्मै वै नमो नम' इति, श्रीरामोपासनायां च 'यो वै रामचन्द्रः स भगवान् ये च मत्स्यकूर्माद्यवतारास्तस्मै वै नमो नम' इत्येवं विभागेन स्तुतिः श्रूयत इत्यर्थः । द्वितीयं पौराणोदाहरणम् । एवं विषय उक्तः । तत्र तत्सर्वरूपत्वेनोपासना कार्या, उत तेषां रूपाणां विरुद्धधर्मवत्त्वात् तथा न कार्येति संशये, शब्दादिभेदेन नानोपासनस्य पूर्वमुक्तत्वात् सर्वरूपत्वेनोपासने च तद्विरोधान्न कार्येति प्राप्तम् । तत्र सिद्धान्तं वक्तुं सूत्रं व्याकुर्वन्ति एवं सतीत्यादि । अत्र 'अङ्गेषु यथाश्रयभाव' इत्यनुवर्तते । समाहार इति । एकीभावः । तथाच ज्ञानमार्गीयोपासनाङ्गेष्वपि यथाश्रयभावे सति, 'रूपभेदेपी'त्यादिनोक्तरीत्या समाहारदर्शनात् तथेत्यर्थः । एतदेवाभिप्रेत्य 'भेदान्नेति चे'दिति सूत्रे 'उपासनाविषयेष्वि'त्यादिनावतारेष्वपि सर्वगुणोपसंहारौचित्यमुक्तम् ॥ ६३ ॥

अत्र हेत्वन्तरं सूत्रान्तरेणाह ।

गुणसाधारण्यश्रुतेश्च ॥ ६४ ॥ अत्र चकारोऽधिकरणपूर्णत्वद्योतकः । शेषं प्रकटार्थम् । तथाच भगवत्त्वप्राधान्योपासने एवं सर्वरूपत्वेनोपासनं कार्यम्, तत्तद्रूपप्राधान्येनोपासने तथा न कार्यमिति विभागान्न कोपि विरोध इत्यर्थः ॥६४॥ इति चतुर्विंशं समाहाराधिकरणम् ॥२४॥

रश्मिः ।

समाहारात् ॥ ६३ ॥ पूर्वकाण्डव्यवच्छेदेन वेदान्तपरिच्छिन्नकर्ममार्गीयोपासन इत्यर्थं मत्वाहुः कर्माङ्गतयेति । 'यदेव विद्यये'ति श्रुतिविषयेषु सामोपनिषदुक्तोपासनेषु पूर्वाधिकरणे निर्णयमुक्त्वा, आदिना यजुः 'तमेतं वेदानुवचनेने'ति श्रुत्याहुः ज्ञानाङ्गतयेति । मत्स्यकूर्मश्रुत्यभावं नृसिंहोपासनेऽदृष्ट्वाहुः अत्र मत्स्येति । तथाचेति । त्रुटौ पूरितत्वे च । आदिना रामोपासनेत्याशयेनाहुः श्रीरामेति । नृसिंहोपासना आदिर्यासां रामोपासनादीनां ता नृसिंहोपासनादयः तासु । अत्रातद्गुणसंविज्ञाने नृसिंहोपासनानन्वयः श्रूयत इत्यनेनेत्याशयः । अनन्वयापेक्षायां तु न श्रुटेः प्रयोजनम् । यथाश्रयभाव इति । यथाश्रयभावो व्याकृतः । तथेत्यर्थ इति । सर्वरूपत्वेनैकत्रोपासनमपि साध्वित्यर्थः ॥ ६३ ॥

गुणसाधारण्यश्रुतेश्च ॥६४॥ तत्तद्रूपेति । मत्स्यत्वादिरूपप्राधान्ये तु । मत्स्य इति प्रतीतिः, न तु मत्स्यो भगवानिति प्रतीतिरिति भावः ॥६४॥ इति त्रयोविंशं समाहाराधिकरणम् ॥२३॥

१. अवतारत्वस्य ।

न वा तत्सहभावाश्रुतेः ॥ ६५ ॥ (३-३-२५.)

नन्वेवमुपासनं नित्यम्, उत वैकल्पिकमिति संशये, उक्तरीत्या नित्यत्वे प्राप्ते, तन्निषेधमाह नेति । किन्तु वा, विकल्प एवैवमुपासन ऐच्छिकः, तत्र हेतुमाह सहभावाश्रुतेरिति । नियमतस्तेषां रूपाणां सहभावश्रवणं चेत् स्यात्, तदा स्यात्तथोपासनस्य नित्यता, न त्वेवम्, अतो विकल्प एवेत्यर्थः ॥ ६५ ॥

दर्शनाच्च ॥ ६६ ॥

योपि रूपान्तरसमाहारपूर्वकमुपास्ते, सोप्येकं रूपमुपास्यत्वेन मत्वा तत्तथोपास्त इति फलं तस्यैकस्यैव रूपस्य दर्शनं भवति, न तु सर्वेषाम्, इतोपि हेतोर्विकल्प एवेत्यर्थः । एतद्दृष्टान्तेन यस्मिन् रूपे यादृग्धर्मवत्त्वं श्रूयते, तादृग्धर्मविशिष्टमेवैकं रूपमुपास्यमिति व्यासहृदयमिति ज्ञायते । उपासनानिर्णयान्ते दर्शनात्मकहेतूक्त्या सर्वोपासनानां भगवत्साक्षात्कारः फलमिति ध्वन्यते । माहात्म्यज्ञापनार्थं परं सर्वावताररूपत्वं यथार्थमेव कैश्चिज्ज्ञाप्यते । यथार्थत्वात्त-

भाष्यप्रकाशः ।

न वा तत्सहभावाश्रुतेः ॥६५॥ अधिकरणमवतारयन्ति नन्वित्यादि । सर्वरूपत्वेनैकावतारोपासनं नित्यं अग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिवत् क्रमेण समुच्चेतव्यम्, उतैकमेव यावज्जीवं कर्तव्यमित्येवं वैकल्पिकमिति संशये, उक्तरीत्या सर्वेषां सर्वरूपत्वेनैश्वर्यादिगुणसाधारण्येन च क्रमिकसमुच्चये प्राप्ते, तस्य समुच्चयस्य निषेधमाहेत्यर्थः । व्याकुर्वन्ति नेतीत्यादि । चेत्स्यादिति । 'दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेते'त्यादिवच्चेत् स्यात् । शेषं स्फुटम् । एतमेव विकल्पमभिसन्धाय साध्यायसूत्रे सवदृष्टान्तव्याख्यानोत्तरं 'प्रकृतेपी'त्यादिना तत्तद्रूपे तत्तदसाधारणधर्मोपसंहारो व्यवस्थापितः ॥६५

दर्शनाच्च ॥ ६६ ॥ पूर्वसूत्राच्चपदमत्रानुवर्तत इत्याशयेन सूत्रं व्याकुर्वन्ति योपीत्यादि । तत्तथोपास्त इति । तत् एकमवताररूपं सर्वरूपवत्तयोपास्ते । एतद्दृष्टान्तेनेति । दर्शनदृष्टान्तेन । एतेन पूर्वाधिकरणोक्तपक्षस्य गौणता सूचिता । तथा दर्शनाभावादिति । सर्वनिरूपणान्ते एवं कथनस्य तात्पर्यमाहुः उपासनेत्यादि । ननु यद्येकस्यैव रूपस्य दर्शनम्, तदा सर्वरूपोपसंहारबोधनस्य किं प्रयोजनम्, अत आहुः माहात्म्येत्यादि । कैश्चिदिति । स्मृतिपुराणादिवाक्यैः । तत्त्वपीति । सर्वरूपोपसंहरणम् । तथाचैकरूपदर्शनेपि सर्वरूपोपसंहारोऽप्येकदेशिनां न दुष्ट इति भावः ।

अन्ये तु इदं सूत्रमेवाधिकरणमङ्गीकृत्य, कर्माङ्गभूतेषूद्गीथादिषु य आश्रिता वेदत्रयविहिताः प्रत्ययास्ते समुच्चीयेरन्, उत यथाकामं स्युरिति संशये, प्रत्ययाश्रयभूताः स्तोत्रादयो

रश्मिः ।

न वा तत्सहभावाश्रुतेः ॥ ६५ ॥ स्पष्टम् ॥ ६५ ॥

दर्शनाच्च ॥ ६६ ॥ सर्वरूपवत्तयेति । रामस्य हासरूपत्वं वामनस्य कटिभूषणरूपत्वमित्येवमादिप्रकारेण । भाष्ये । न तु सर्वेषामिति । रामादीनां हासादिरूपत्वादिति भावः । उपासनेत्यादीति । भगवदिति । चित्तशुद्धिद्वारेति ज्ञेयम् । माहात्म्येति । महात्मनो व्यापकस्य भावो मत्स्यादिः 'अरूपव'त्सूत्रसिद्धमाहात्म्यं तस्य ज्ञापनार्थम् कर्माङ्गेति । 'इत्याह नास्तिक्यनिराकरिष्णुरात्मास्तितां भाष्यकृदत्र युक्त्या । दृढत्वमेतद्विषयः प्रबोधः प्रयाति वेदान्तनिषेवणेने'ति पूर्वमीमांसाकारिका । प्रत्यया ज्ञानानि अङ्गविषया बोध्याः । प्रत्ययेति । प्रत्ययाश्रयाः ज्ञानविषयाः स्तोत्राद्यर्थाः ।

द्प्यविरोधीति ज्ञेयम् ॥ ६६ ॥

इति तृतीयाध्याये तृतीयपादे पञ्चविंशं न वा तत्सहभावाश्रुतेरित्यधिकरणम् २५

इति श्रीवेदव्यासमतवर्तिश्रीमद्वल्लभाचार्यविरचिते श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्ये तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः ॥ ३ ॥ ३ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

यथा समुच्चीयन्ते, एवं तदाश्रिताः प्रत्यया अपि । तत्रानुशिष्टत्वादिभ्यो हेतुभ्यः समुच्चीयेरन्निति पूर्वपक्षे, सहभावाश्रवणादिहेतुभ्यां यथाकामं स्युरिति सिद्धान्तयन्ति ।

तन्नास्माकं रोचते । यथाकामसूत्रोक्तहेतुनैव तादृशनिर्णयसम्भवेनैतद्वैयर्थ्यात् । गुणसाधारण्यसूत्रे पूर्वपक्षसमाप्त्या शिष्टिसूत्रस्थचकारवैयर्थ्यापत्तेश्चेति । तस्मात् पूर्वोक्तमेव युक्तमिति दिक् ।

अत्रायं संग्रहः । 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ती'ति श्रुतेः सर्वस्य वेदस्य ब्रह्मविद्यात्वम्, 'इतिहासपुराणं च वेदानां पञ्चमं वेद'मितिश्रुतेर्वेदपदेन तयोरपि सङ्ग्रहात्तयोरपि तथात्वम् । 'द्वे विद्ये वेदितव्ये' इत्याद्याथर्वणश्रुतेर्ऋग्वेदादिरूपा अपरा, अक्षराधिगमिका परेति फलतो विभागः । परास्वपि 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्', 'अक्षरात् परतः पर' इति श्रुतेः पुरुषोत्तमस्य तत आधिक्ये तद्विद्यानां विषयफलयोर्बलादक्षरविद्यातोऽप्याधिक्यम् । परास्वपरासु च तत्तद्वेदोक्तासु सर्ववेदान्तप्रत्ययसूत्रोक्तहेतुना फलसंयोगरूपचोदनानामविशिष्टत्वे विद्यैक्यनिर्णयः । तन्मध्ये अन्यतरस्याभावे तु विद्याभेदः । गुणोपसंहारस्तु प्रायशो रूपैक्यात् प्रयोजनैक्याद्वा, क्वचित्त्वर्थवादतौल्यादपि । स च स्वाध्यायसूत्रोक्तैर्निरूपणप्रकारभेदाधिकारिभेदसम्बन्धिभेदैः 'योऽन्यथा सन्त'मिति वाक्योक्तदोषापत्त्या च कासुचिदात्मविद्यासु बाध्यते, कर्मणि तु पूर्वोक्तैस्त्रिभिर्न्यूनातिरिक्तप्रायश्चित्तश्रवणाच्च बाध्यते । तदभावे तु भवति । परविद्या अपरविद्याश्च फलैक्ये

रश्मिः ।

वाचकत्वेनाङ्गत्वादित्वेन समुच्चीयन्ते । तदाश्रिताः कर्माङ्गभूतविषयाः प्रत्ययाः । **अनुशिष्टेति** । अग्रिमसूत्रोक्तेभ्यः । **सहभावेति** । 'नवे'ति 'दर्शना'दिति सूत्रोक्ताभ्याम् । **चकारेति** । सूत्रार्थस्तु शिष्टिः शासनं विधानमित्यर्थः । यथाङ्गानां प्रतिवेदं विधानं तथा तथा तदाश्रितोपास्तीनां विधानाविशेषाच्चाङ्गवत् समुच्चयनियम इति । एवं निरर्थकश्चकारवैयर्थ्यापत्तेरित्यर्थः ॥ **इति चतुर्विंशं न वा तत्सहभावाश्रुतेरित्यधिकरणम्** ॥ २४ ॥

'सर्ववेदान्तप्रत्यय'सूत्रार्थपुरःसरमाहुः **सर्वे वेदा** इत्यादि । **तथात्वमिति** । वेदत्वम् । **फलत** इति । कर्मज्ञानाक्षरज्ञाने फले ताभ्याम् । ननु 'अक्षरं ब्रह्म परमं वेदानां स्थानमुत्तम'मिति पुरुषोत्तमस्येदमित्थतया ज्ञानविषयेऽधोक्षजे कथं विद्येत्यतः प्रसङ्गादाहुः **परास्विति** । तथा च देशकृतपरत्वसम्बन्धेन यैः कैश्चिद्धर्मैरनधोक्षजस्यापि विद्येति भावः । **विषयेति** । विषयः पुरुषोत्तमः, परप्राप्तिः फलं तयोर्बलात् । 'सर्ववेदान्तप्रत्यये'त्यत्र सर्वपदं मुख्यवृत्तमित्याहुः **परास्विति** । **अपरास्विति** । धर्मकर्मरूपासु । **फलेति** । फलं संयोगश्च रूपं च चोदना च तासाम् । **तन्मध्य** इति । तेषां मध्ये । **अन्यतरस्येति** । तरप् महाभाष्यात् । 'उपसंहारोऽर्थाभेदा'दिति सूत्रार्थसङ्ग्रहः **गुणोपेति** । **स चेति** । गुणोपसंहारः । **त्रिभिरिति** । उक्तहेतुभिः । **बाध्यत** इति । उपसंहारो बाध्यते । **भवतीत्यु**पसंहारः । 'विकल्पोऽविशिष्टफलत्वा'दित्यस्यार्थसङ्ग्रहः । **परविद्या** इति । 'काम्यास्त्वि'त्यस्य सङ्ग्रहः

भाष्यप्रकाशः ।

विकल्पन्ते, फलभेदे तु यथाकामं समुच्चीयन्ते, क्वचिदेकस्योपासनस्य स्वकामितानेकफलत्वे विकल्पन्ते च । कर्ममार्गीयविद्याङ्गानि तु बहूनां विद्यानां फलैक्येपि यथाश्रयं तत्रैव व्यवतिष्ठन्ते, ज्ञानमार्गीयविद्याङ्गानि तु यथाश्रयं क्वचित् समाह्रियन्ते, क्वचित्तु यथाश्रयं व्यवतिष्ठन्ते । अवतारोपासनं च यथाकाममेव भवति, सर्वासां परविद्यानामुपास्यरूपसाक्षात्कारः फलमिति च ॥ ६६ ॥

इति पञ्चविंशं न वा तत्सहभावाश्रुतेरित्यधिकरणम् ॥ २५ ॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणनखचन्द्रनिरस्तहृदयध्वान्तस्य पुरुषोत्तमस्य कृतौ भाष्यप्रकाशे तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥ ३ ॥

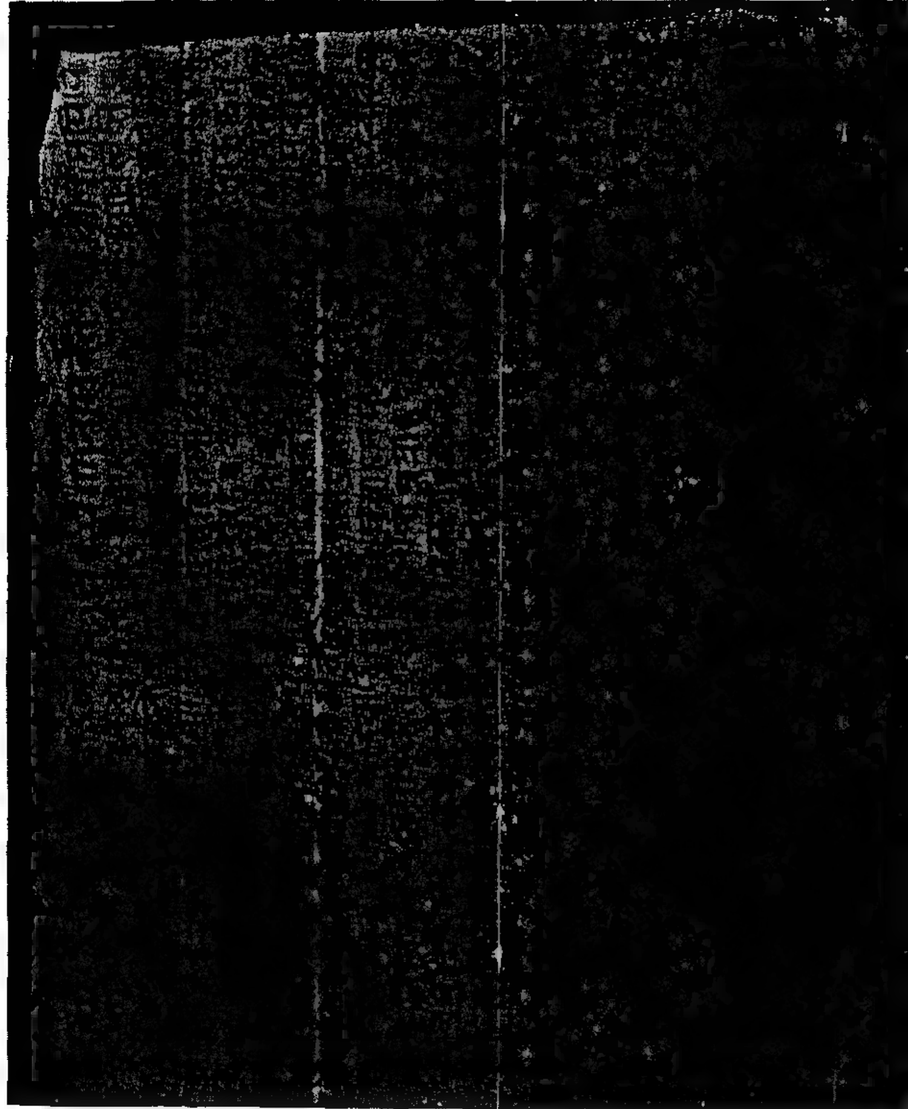
रश्मिः ।

फलभेद इति । **क्वचिदेकस्येति** । यथा 'अकामः सर्वकामो वे'त्यत्र । 'अङ्गेषु यथाश्रयभाव' इत्यस्यार्थसङ्ग्रहः **कर्ममार्गीयेत्यादिः** । 'यथाश्रय'मिति सूत्रव्याख्याने व्याख्यातम् । **तत्रैव** अवयविन्येव । 'समाहार'सूत्रार्थसङ्ग्रहः **ज्ञानमार्गीयेति** । 'गुणसाधारण्ये'त्यादिसूत्रार्थसङ्ग्रहः **अवतारेति** । 'दर्शनाच्चे'ति सूत्रार्थसङ्ग्रहः **सर्वासामित्यादि** ।

इति श्रीविठ्ठलेश्वरैश्वर्यनिरस्तसमस्तान्तरायेण श्रीगोविन्दरायजित्पौत्रेण सम्पूर्णवेश्रा विठ्ठलरायजिद्भ्रात्रीयगोकुलोत्सवात्मजगोपेश्वरजिता कृते भाष्यप्रकाशस्य तृतीयाध्यायस्य रश्मौ तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः सम्पूर्णतामगमत् ॥ ३ ॥ ३ ॥

इति श्रीमत्कृष्णद्वैपायनप्रणीतब्रह्मसूत्रेषु तृतीय उपनिषदां बोधकताप्रकारनिरूपके साधनाध्याये गुणोपसंहारो नाम तृतीयः पादः ॥ ३ ॥ ३ ॥





महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्यके हस्ताक्षरोंमें लिखित सुबोधिनी पत्र

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम् ।

भाष्यप्रकाश-रश्मि-परिबृंहितम् ।

तृतीयोऽध्यायः ।

चतुर्थः पादः ।

पुरुषार्थोऽतःशब्दादिति बादरायणः ॥ १ ॥ (३-४-१.)

उपासनाभेदेऽप्युपास्याभेदाच्छाखान्तरोक्तधर्माणामप्युपसंहारः कर्तुमुचित इति पूर्वपादे निरूपितमिति तन्न्यायेनोत्तरकाण्डप्रतिपाद्यब्रह्मफलकसर्वात्मभावेपि पूर्वकाण्डप्रतिपादितकर्मणामुपसंहारः प्राप्नोति न वेत्यधुना विचार्यते । विधि-

भाष्यप्रकाशः

पुरुषार्थोऽतःशब्दादिति बादरायणः ॥ १ ॥ अथ तुरीयपादं विवरिषवः सङ्गतिबोधनाय पूर्वपादार्थमनुवदन्त एतत्पादार्थमाहुः उपासनेत्यादि । 'फलमत उपपत्ते'रित्यत्र हेतुव्यपदेशेन जैमिनिमतनिरासपूर्वकं परमेश्वरस्यैव कारयितृत्वं फलदातृत्वं च समर्थयित्वा, ततोऽनन्तरूपस्य भगवतस्तत्तत्फलदानाय साक्षात्कारो यथा भवति, तदर्थं तत्तदुपासनमुक्तम् । तेन तत्तदुपास्यरूपसाक्षात्काररूपविद्यासिद्धौ परमेश्वरात् फलं भवतीति सिद्धम् । तथा उपासनाः कथं कर्तव्या इत्यपेक्षायां तं तं मार्गं स्वस्वाधिकारं तत्तद्भगवद्रूपं चानुरुध्य ते ते तत्तत्स्वरूपगुणास्तत्तदुपासनास्वरूपनिर्वाहकत्वादन्तरङ्गा इत्यन्तरङ्गविचारेण तत्तद्गुणानां बुद्धौ विषयीकरणरूपो गुणोपसंहार उक्तः । तत्र 'उपसंहारोऽर्थाभेदा'दिति सूत्रेऽर्थपदस्य वस्तुवाचकतामादाय उपासनाभेदेऽप्युपास्यवस्त्वभेदाद्यथा शाखान्तरोक्तधर्माणामप्युपसंहारः कर्तुं युक्त इति निरूपितम्, तथा अस्मिन् पादे उपासनाया बहिरङ्गाणामाश्रमादीनां विचारे उपसंहारसूत्रीयार्थपदस्य प्रयोजनवाचकतामादाय ब्रह्मदर्शनरूपफलैक्यात् तन्न्यायेन उत्तरकाण्डोक्तब्रह्मफलकसर्वात्मभावेपि पूर्वकाण्डोक्तकर्मणामुपसंहारः । स च कर्मणां तत्तदुपासनोपकारकतया बुद्धौ विषयीकरणरूपः करणार्थं प्राप्नोति । 'यज्ञो दानं तपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।

रश्मिः ।

पुरुषार्थोऽतःशब्दादिति बादरायणः ॥ १ ॥ **प्रयोजनेति** । फलवाचकतामादाय । 'दर्शनाच्चे'तिगतसूत्रविचारेणाहुः **ब्रह्मदर्शनेति** । अन्तरङ्गबहिरङ्गोपासनयोः ब्रह्मदर्शनरूपफलैक्याद्धेतोः । **तन्न्यायेनेति** । एकफलकसाधनयोः परस्परं गुणोपसंहारन्यायेन । 'तन्न्यायेने'ति भाष्यविवरणं **ब्रह्मफलकेति** । ननु भजनानन्दावाप्तिफलकः सर्वात्मभावः कथं ब्रह्मफलकः सर्वात्मभाव इति चेत् । न । अग्रे उपपादयिष्यमाणत्वात् । तेन 'ब्रह्मफलके'त्यत्र परब्रह्मेतिफलकेति बोध्यम् । **कर्मणा-**

१. भगवद्धर्मा अन्तरङ्गाणि ।

पक्षे तत्सहकृतस्यास्य फलसाधकत्वमिति सिध्यति । निषेधपक्षे तु केवलस्येति । इममेव पक्षं सिद्धान्तत्वेनाह पुरुषार्थ इत्यादिना। सिद्धान्ते ज्ञाते न तत्र पूर्वपक्षसम्भव इत्यादौ तमेवाह । अतः सर्वात्मभावादेव केवलात् पुरुषार्थः सिध्यति । कुतः । शब्दात् । श्रुतेरित्यर्थः । श्रुतिस्तु 'नायमात्मा प्रवचनेने'त्युपक्रम्य, 'यमेवैष वृणुत' इत्यादिका, 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मित्यादिका, 'तमेवं विद्वानमृत इह भवती'ति, सनत्कुमारनारदसंवादे 'यत्र नान्यत् पश्यती'त्याद्यात्मिका छान्दोग्यश्रुतिश्च । एतदादिश्रुतिषु पूर्वोक्तरीत्या केवलस्यैव भगवद्भावस्य फलसाधकत्वं श्रूयते इति तथा । अत्र 'फलमत उपपत्ते'रित्यत्रेवोपपत्तिं हेतुत्वेनानुक्त्वा, श्रुतिपदं चानुक्त्वा, शब्दपदं यदुक्तवान्, तेन श्रुतिस्मृत्यात्मकः सर्वोपि प्रमाणशब्दो हेतुत्वेन व्यासाभिमत इति ज्ञायते । तेन 'केवलेन हि भावेन गोप्यो गावः खगा मृगाः । येऽन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसा । यन्न योगेन सांख्येन दानव्रततपोऽध्वरैः । व्याख्यास्वाध्यायसंन्यासैः प्राप्नुयात् यत्नवानपि' इत्यादिरूपा स्मृतिरपि संगृह्यते । एतेन श्रुत्यादिप्रमाणवादिनामिदमेवाभिमतम्, तद्विरुद्धवादिनामितोऽन्यदिति तेषामप्रामाणिकत्वं ज्ञाप्यते । अत एव

भाष्यप्रकाशः ।

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् । एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलं तथा । कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तम'मिति गीतावाक्यात् । सहस्रसमे सत्रे हिरण्मयशकुनिरूपब्रह्मदर्शनस्य तत्र श्रावणात् । नाभ्यादीनां यज्ञेषु भगवत्प्रादुर्भावस्य श्रीभागवतेऽप्युक्तत्वाच्च । अथवा । 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' 'भक्त्या त्वनन्यया शक्य' इत्यादिषु साधनान्तरव्युदासान्न प्राप्नोतीति सन्देहे, अधुना प्रथमाधिकरणे विचार्यते । तथाच शेषिशेषभावः सङ्गतिरित्यर्थः । ननु गुणानामिव कर्मणामुपासनास्वरूपनिर्वाहकत्वाभावेनानावश्यकत्वात् किं तद्विचारेणेत्याकाङ्क्षायां विचारफलं पादार्थं वदन्तः सूत्रमवतार्य व्याकुर्वन्ति विधीत्यादि। इममिति। निषेधपक्षम् । तथाच विद्यासामर्थ्यबोधनायायं विचार इत्यर्थः । सिद्धान्तेनाधिकरणोपक्रमस्य तात्पर्यमाहुः सिद्धान्त इत्यादि । 'पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशा'दित्यत्र सिद्धान्तिनः सूक्ष्मदर्शित्वस्यावधारितत्वात्तथेत्येतदर्थं तमेवाहेत्यर्थः । शब्दशब्दप्रयोगतात्पर्यमाहुः अत्रेत्यादि । संग्रहेण यत् सिद्धं तदाहुः एतेनेत्यादि । अभिमतमिति । तात्पर्यगोचरम् । तद्विरुद्धवादिनामिति । तत्तात्पर्यविरुद्धवादिनाम् । अप्रामाणिकत्वमिति । प्रमाणतात्पर्यानभिज्ञत्वम् । बादरायणपदोक्तितात्पर्यमाहुः

रश्मिः ।

मिति । सहस्रसमादीनाम् । कर्मस्वरूपं फलैक्यार्थं फलं वाहुः सहस्रसम इति । श्रीभागवत इति । पञ्चमस्कन्धे । शेषीति । पूर्वोत्तरपादयोर्भगवद्धर्मबहिरङ्गधर्मप्रतिपादकयोः तथा । शेषिणो भगवद्धर्माः शेषाः बहिरङ्गा वर्णाश्रमधर्माः । इयं प्रसङ्गसङ्गत्यन्तर्गता । पादार्थमिति । बहिरङ्गवर्णाश्रमधर्मरूपम् । सूत्रमवेति । सूत्राभासमवतार्य सूत्रं व्याकुर्वन्तीत्यर्थः । विधीत्यादीति । कर्मणामुपसंहारः प्राप्नोतीति विधिपक्षः । कर्मसहकृतस्यास्य सर्वात्मभावस्य । केवलस्येति । सर्वात्मभावस्य । केवलस्येति पक्षप्रयोजनमाहुः तथा चेति । विद्या सर्वात्मभावः तस्याः सामर्थ्यं असहायशूरत्वं तस्य बोधनायायं नैषेधपाक्षिको विचार इति प्रयोजनमित्यर्थः । पूर्वं त्विति । द्वितीयपादसमाप्तौ वर्तते

१. नेति लुप्तम् । २. येन ।

स्वनाम गृहीतम् । स्वस्य वेदव्यासकर्तृत्वेन तत्रैव यतो भरः ।

अपरं च, वैदिकसिद्धान्ते भगवत्स्वरूपस्यैव स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वात् प्राप्ततत्स्वरूपाणां मुक्त्यनिच्छाकथनान्मुक्तोपसृप्यव्यपदेशाच्च मुक्तेरपरमपुरुषार्थत्वात् सा भवतु नामान्यैः साधनैः । वस्तुतः परमपुरुषार्थो य उक्तरूपः, स तु सर्वात्म-

भाष्यप्रकाशः ।

अत एवेत्यादि । तत्रैवेति । प्रमाणभूते शब्दे । पुरुषार्थपदतात्पर्यमाहुः अपरं चेत्यादि । अन्यैः साधनैरिति । मर्यादामार्गीयैः कर्मज्ञानविहितभक्तिरूपैः साधनैः । एतेन भास्कराचार्याङ्गीकृतो ज्ञानकर्मसमुच्चयः पूर्वकक्षाविश्रान्त इति बोधितम् ।

पुरुषार्थपदेन सूचितमर्थान्तरमाहुः एवं सतीत्यादि । अस्यां श्रुतौ 'तमसः परस्ता'दित्य-

रश्मिः ।

स । तमेवेति । सि त्तमेव । पुरुषार्थपदेति । उपलक्षणमेतत् । उक्तश्रुत्यादिषु सर्वात्मभावप्रतिपादनस्य । तदाहुरित्यन्वयः । वैदिकेति । गौणमुख्यन्यायेन मुख्ये सर्वात्मभावतत्फलविषये सिद्धान्ते । भगवत्स्वरूपस्यैवेति । सर्वात्मभावलभ्यस्य, एवकारो भगवत्प्राप्तिरूपस्यापि फलस्य व्यवच्छेदकः । प्रेमलभ्यत्वभगवत्प्राप्तेः । सायुज्यालौकिकसामर्थ्यं भगवत्सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादयः तनुवित्तजसेवाफले । प्राप्तेति । व्रजभक्ताम्बरीषप्रभृतीनाम् । मुक्तीति । 'मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थिति'रितिवाक्यात् स्वरूपस्थितिः । तदनिच्छाकथनं 'अनिच्छतोपि गतिमण्वीं प्रयुङ्क्त' इति वाक्ये । ननु सर्वात्मभावोपि मुक्तिः, चतुर्विधपुरुषार्थेषु मोक्षेऽन्तर्भावात्, अत आहुः मुक्तोपेति । ननु विशेषमुक्तिः स इति चेत्, न । 'मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः । सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने' इति वाक्यात् । अत्रापि तथेति चेत्, 'भगवान् भजतां मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोग'मिति वाक्यादित्यस्तु । पुरुषार्थेति । धर्मार्थकाममोक्षवाचकं पदम् । तेन चतुर्भुजरूपं धर्मकाममोक्षार्थरूपं पञ्चाध्याय्युक्तं सर्वात्मभावफलम् । एवं च ननु 'यमेवैषे'ति श्रुतौ वरणं न दानमिति कथं सर्वात्मभावः, 'ब्रह्मविदाप्नोती'त्यत्र भक्तिर्मूले निवेशिता । 'तमेवे'त्यत्र 'विद्वा'निति ज्ञानम् । आदिपदोक्त 'तरति शोकमात्मवित्', 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति', 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती'त्यत्र ज्ञानमुक्तमिति चेत् । न । 'यत्र नान्यत् पश्यती'त्याद्युक्तसर्वात्मभावे मुख्यभक्तिपदप्रयोगः । वरणलभ्यत्वं तु नोपपद्यते, वरणस्य त्रिषु मार्गेष्वनन्तर्भावात् । अत एव क्वचित् सर्वात्मभावे प्रवेशेन वरणजसर्वात्मभाव इति प्रकाशः । अङ्गग्रन्थे 'वृङ् संभक्तौ' इत्यत्र सम्यक् भजनं भक्तस्य दानम् संभक्तिः सर्वात्मभावो मुख्यभक्तिरपि वरणम् । 'तमेव'मित्यत्र सर्वात्मभावचरमवृत्तिरूपं ज्ञानम् । एवं 'तरति शोक'मिति श्रुतिर्नारदसनत्कुमारसंवादस्था सर्वात्मभावविषयिणी । अतो वित् ज्ञानं सर्वात्मभावचरमवृत्तिरूपम् । ब्रह्मज्ञानादिकमपि तद्रूपमिति सर्वं सुस्थम् । अत उक्तं 'केवलस्यैव भगवद्भावस्य फलसाधकत्व'मिति भाष्ये । एतेनेति । स तु सर्वात्मभावेनैवेति कर्मव्यवच्छेदकैवकारग्रथितग्रन्थेन । शङ्कराचार्यमते तु भाट्टमतं नास्तिकादिनिराकरणार्थमात्मास्तिता, परन्तु व्यवहाराभावात् चित्तशुद्ध्यर्थं कर्म, न समुच्चय इति भास्कराचार्योदीत्युक्तम् । पूर्वकक्षेति । अधिकारकक्षाविश्रान्तः । ननु सर्वात्मभावो ज्ञानम्, 'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी'ति वाक्याग्रे 'एतज्ज्ञान'मिति गीताया इति पूर्वकक्षाविश्रान्तः सर्वात्मभाव इति चेत् । न । गीतायामव्यभिचारिण्या भक्तेर्मर्यादामार्गीयत्वात् । पुष्टिमार्गे सदानन्देपि चित्ताभावमादाय तद्विषयकसर्वात्मभावस्य व्यभिचारिभक्तित्वाङ्गीकारात् । एवं

भावेनैवेति ज्ञापनाय फलपदमनुक्त्वा पुरुषार्थपदमुक्तम् । एवं सत्यस्य सूत्रस्यार्थान्तरमपि व्यासाभिमतमिति ज्ञायते । तथा सत्ययं श्लिष्टः प्रयोगः । तथाहि । पुरुषार्थो भगवानेव । कुतः । अतःशब्दात् । अतःपदविशिष्टश्रुतिवाक्यादित्यर्थः । तैत्तिरीयोपनिषत्सु पठ्यते 'अतः परं नान्यदणीयस५ हि परात् परं यन्महतो महान्तम्, यदेकमव्यक्तमनन्तरूपं विश्वं पुराणं तमसः परस्ता'दिति ॥ १ ॥

अथात्र प्रत्यवतिष्ठते ।

शेषत्वात् पुरुषार्थवादो यथान्येष्विति जैमिनिः ॥ २ ॥

विष्णोरिज्यत्वेन कर्मशेषत्वात् तत्स्वरूपज्ञानपूर्वको यागः फलातिशयहेतुरिति तन्माहात्म्यमुच्यत इत्यर्थवादरूपं तत् । अत्र दृष्टान्तमाह यथान्येष्विति ।

भाष्यप्रकाशः ।

नेनानुपाधित्वबोधनात् स्वतो विरुद्धधर्माधारत्वं बोध्यते । 'परात् पर'मित्यनेनाक्षरादुत्तमत्वम् । तथाचाक्षरात् परो यः, स एव परमपुरुषार्थ इति सिध्यति । एवं व्याख्यानद्वयेन केवलविद्याया एव पुरुषार्थपर्यवसायित्वम्, पुरुषोत्तमस्यैव च परमपुरुषार्थत्वं बोधितम् ॥ १ ॥

शेषत्वात् पुरुषार्थवादो यथान्येष्विति जैमिनिः ॥ २ ॥ सूत्रमवतारयन्ति अथेत्यादि । सिद्धान्तसूत्रे सर्वात्मभावस्य स्वतन्त्रतया पुरुषार्थपर्यवसायित्वे परब्रह्मण एव च परमपुरुषार्थत्वे दर्शितेपि हेतुव्यपदेशविषयश्रुतौ फलदित्सया कारयितृत्वस्योक्तत्वात् क्रिययैव फलम्, छान्दोग्ये कर्माङ्गोपासनानामेव पूर्वमुपक्रान्तत्वादन्यासामपि कर्मशेषत्वेन फलवत्त्वम्, ईश्वरस्य च तच्छेषतयैव फलदत्वमित्याशयेन पूर्वमीमांसक उक्तेर्थे प्रतिकूलतयावस्थितो भवतीत्यर्थः । सूत्रं व्याकुर्वन्ति विष्णोरित्यादि ।

अयमर्थः । पूर्वपादे कर्माङ्गोपासनानां निर्णये तु न पूर्वकाण्डविरोधः । यत्पुनरात्मज्ञानादेः सर्वात्मभावस्य च स्वातन्त्र्येण पुरुषार्थपर्यवसायित्वं परब्रह्मणः परमपुरुषार्थत्वं चेत्युक्तम् ।

रश्मिः ।

सतीत्यादीति । फलपदमनुक्त्वा पुरुषार्थपदे दत्ते सति । अयमिति । पुरुषार्थ इत्ययम् । भगवानिति । जिज्ञासासूत्राद्ब्रह्मेत्यनुवर्तत इति भावः । एवकारस्तु 'शिष्टेश्चे'ति सूत्रान्मण्डूकप्लुत्या चकारमनुवर्त्यावधारणार्थे प्रयुक्तः । अनुपाधीति । तमो माया उपाधिः । तदुक्तं ब्रह्मविद्योपनिषदि 'ब्रह्मविद्यां प्रवक्ष्यामि सर्वज्ञानमनुत्तमाम् । यत्रोत्पत्तिं लयं चैव ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा'दिति । तम उपाधिर्महेश्वरत्वे ॥ १ ॥

शेषत्वात् पुरुषार्थवादो यथान्येष्विति जैमिनिः ॥ २ ॥ हेतुव्यपदेशेति । द्वितीयपादसमाप्तिस्थस्य 'पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशा'दिति सूत्रस्य शेषः । विषयश्रुतिस्तु 'एष उ एव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषत एष उ एवासाधु कर्म कारयति यमधो निनीषत' इति । परस्मैपद्यपि । न पूर्वेति । चित्तशोधकत्वेन ज्ञानोपयोगवत् वेदान्तोपासनाभिश्चित्तशोधे कर्मोपयोगात् दृढत्वम् । 'इत्याह नास्तिक्यनिराकरिष्णु'रिति वाक्यात् । न पूर्वकाण्डविरोधः । आत्मज्ञानादेरिति । 'तरति शोकमात्मवि'दिति सर्वात्मभावप्राकरणिकश्रुत्युक्तमात्मज्ञानम् । चरम-

अन्येषु द्रव्यसंस्कारकर्मसु । 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति, न स पाप५श्लोक५शृणोति,' 'यदङ्क्ते चक्षुरेव भ्रातृव्यस्य वृङ्क्ते, यत्प्रयाजानुयाजा इज्यन्ते, वर्म वा एतत यज्ञस्य क्रियते, वर्म यजमानस्य भ्रातृव्याभिभूत्या' इत्येवंजातीयका फलश्रुतिरर्थवादस्तद्वदित्यर्थः ॥ २ ॥

ननु 'तमेव विदित्वा मुनिर्भवत्येतमेव प्रव्राजिनो लोकमीप्सन्तः प्रव्रजन्ति,' एतदग्रे च 'ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ती'ति श्रुतिर्भगवज्ज्ञानवतः सर्वत्यागं वदतीति न त्वदुक्तं साधीय इत्यत उत्तरं पठति ।

आचारदर्शनात् ॥ ३ ॥

ब्रह्मविदामपि वसिष्ठादीनामग्निहोत्रादिकरणं जैमिनिः पश्यतीति तदाचारं

भाष्यप्रकाशः ।

तत्र युक्तम् । कुतः । शेषत्वात् । शेषलक्षणे 'पुरुषः कर्मार्थत्वा'दिति पुरुषस्य कर्मार्थत्वमुक्तम् । तत्र चोदनाविचारे कर्तृतया सिध्यतीत्यात्मज्ञापकानि वाक्यानि कर्तृस्वरूपबोधकानि । एवं ब्रह्मवाक्यानि ब्रह्मणोऽनन्तरूपैरिज्यत्वात् 'यो देवानां नामधा एक एवे'त्यादिमन्त्रवर्णेन तत्तन्नामकत्वाच्च कर्मशेषत्वम्, तस्मात् । 'तत्स्वरूपज्ञाने'त्यादिवक्ष्यमाणभाष्योक्तरीत्या तत्तादृशम्, अतस्तत्र पुरुषार्थत्ववाद इत्यर्थः । विष्णोरिज्यत्वं ब्रह्मत्वं च शतदूषणीकारोपन्यस्तात् सङ्कर्षणकाण्डसमाप्तिस्थात् 'स विष्णुराह हि' 'तत् ब्रह्मेत्याचक्षते' इति सूत्रद्वयात् सिध्यतीति मुख्यतया तस्यैव शेषत्वमत्र व्याख्यातम् । अन्येषां च शेषत्वात् तत्फलस्यार्थवादत्वं जैमिनिना चतुर्थस्य तृतीयपादे उक्तं 'द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः स्या'दिति । तदुदाहरणं च 'यस्य पर्णमयी'त्यादिनोक्तम् ॥ २ ॥

रश्मिः ।

वृत्तिरूपमादिपदार्थः । शेषेति । पूर्वमीमांसातृतीयाध्यायारम्भसूत्रं 'अथातः शेषलक्षणम्' । तस्मिन् प्रपञ्चनीये । 'पुरुषः कर्मार्थत्वा'दिति सूत्रम् । 'चोदना पुनरारम्भ' इत्यत्र भावार्थपादे चोदनाविचारस्तस्मिन् । नामधा इति । नाम दधातीति नामधाः विश्वपावत् । कर्मशेषत्वमिति । 'इन्द्राय स्वाहे'त्यत्र सम्प्रदानत्वेन कर्मशेषत्वं यथा । तस्मादिति । 'विष्णोरिज्यत्वेन कर्मशेषत्वा'दिति भाष्यं विवृतम् । तत्तादृशमिति । माहात्म्यं तादृशम् । पुरुषस्य विराजः प्रजापतेरर्थवादरूपम् । पुरुषार्थस्य पूर्वसूत्रोक्तस्य । जैमिनिमतेऽभावात् । अतस्तत्र माहात्म्ये पुरुषस्य प्रजापतेरर्थत्ववादः । शतदूषणीकारो ग्रन्थकर्ता । सङ्कर्षणेति । सङ्कर्षणकाण्डसमाप्ति यथा स्यात् तथेति क्रियाविशेषणम् । स्यादिति । स प्रसिद्ध इज्यः विष्णुः स्यात् । आह हि । कर्तृ । तस्यैवेति । विष्णोरेव । विष्णुः फलम्, तस्य शेषत्वं जैमिनिमते स्वमतरीत्या । तथा च गुरुमतेन कर्तृफलस्यार्थवादत्वमित्युक्तम् । स्वर्गादिफलमिति प्रसिद्धिः । अस्य फलस्य नार्थवादत्वमनुक्तेः, अन्येषां त्वाहुः अन्येषां चेति । द्रव्यसंस्कारकर्मणाम् । बादरिमतमिदम् । तथा च तृतीयाध्यायसूत्राणि । तृतीयाधिकरणे । 'द्रव्यगुणसंस्कारेषु बादरिः' 'कर्माण्यपि जैमिनिः फलार्थत्वात्' 'फलं च पुरुषार्थत्वात्' 'पुरुषश्च कर्मार्थत्वात्' इति । शेषाधिकाराशेषत्वं शेषाणि शेषं शेष इति चतुर्षु ज्ञेयम् । 'यस्य पर्णमयी'ति । जुहूर्द्रव्यम् । संस्कारोदाहरणम् । यदङ्क्त इति । अङ्क्ते चक्षुरक्ते अञ्जयति संस्कुरुते । भ्रातृव्यस्य । भ्रातुः पुत्रस्य । 'व्यन्सपत्ने' । सपत्नस्य शत्रोश्चक्षुरेव वृङ्क्ते । ओ वृश्चू छेदने छिनत्तीत्यर्थः । कर्मोदाहरणम् । यत्प्रयाजेति । पञ्च प्रयाजाः पञ्चानुयाजाः । वर्म उपकञ्चुकम् ॥ २ ॥

१. जुहुः । २. यदाङ्क्ते । ३. पश्यति । ४. समाप्ति स्यादिति रश्मिपाठश्चिन्त्यः ।

प्रामाणिकं च मनुत इति तन्मतमनुवदन्निममप्यनूक्तवान् व्यासः। ब्रह्मविदां त्यागावश्यकत्वे गार्हस्थ्यमेतेषां न स्यादिति भावः। उक्तश्रुतिस्तु कर्मण्यशक्तानां तेषां त्यागमनुवदति। 'लोकैषणायाश्च व्युत्थाये'ति श्रुतेर्लोकसंग्रहार्थं तत्करणमिति न वक्तुं शक्यम् ॥ ३ ॥

तच्छ्रुतेः ॥ ४ ॥

ब्रह्मविदः कर्माचारनिरूपकश्रुतेरित्यर्थः। सा च 'जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे' इत्यादिरूपा। तथाच ज्ञानेनैवार्थसिद्धिश्चेत् स्यात्, तदा तद्वत आयाससाध्ये कर्मणि प्रवृत्तिर्न स्यादिति भावः ॥ ४ ॥

समन्वारम्भणात् ॥ ५ ॥

'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते' इति श्रुतिः फलारम्भे विद्याकर्मणोः साहित्यं दर्शयतीति न स्वातन्त्र्यं विद्यायाम् ॥ ५ ॥

तद्वतो विधानात् ॥ ६ ॥

'ब्रह्मिष्ठो ब्रह्मा दर्शपूर्णमासयोस्तं वृणीत' इति कल्पश्रुत्या ब्रह्मविदो ब्रह्मत्वेन वरणं विधीयत इति ब्रह्मज्ञानस्यार्त्विज्याधिकारसम्पादकत्वात् कर्मशेषत्वमेवेत्यर्थः ॥ ६ ॥

भाष्यप्रकाशः।

आचारदर्शनात् ॥ ३ ॥ सूत्रचतुष्टयमवतारयन्ति ननु तमित्यादि। उत्तरं पठतीति। उक्ताशङ्कायां विद्यायाः पुरुषार्थत्वं वारयितुमग्रिमसूत्राणि वक्तीत्यर्थः। सूत्रं व्याकुर्वन्तः प्रथमत आचारमेव कुतो वदतीत्यत आहुः ब्रह्मविदामित्यादि। प्रामाणिकं च मनुत इति। 'यदेव विद्यये'तिश्रुत्युपोद्बलकत्वेन तथा मनुते। तर्हि 'तमेव विदित्वे'त्यादिश्रुतेः का गतिरित्यत आह उक्तेत्यादि। ननु 'प्रव्राज'श्रुतेरशक्ताधिकारकत्ववत् कर्मकरणश्रुतेर्लोकसंग्रहार्थत्वस्यापि शक्यवचनत्वान्नेदं साधीय इत्यत आह लोकेत्यादि। तथाच, आचारदर्शनान्यथानुपपत्त्या तथा कल्प्यत इत्यर्थः।

अन्ये त्वाचारदर्शनसूत्रे 'जनको ह वा' इति श्रुतिम्, द्वितीये च 'यदेव विद्यये'त्युदाहरन्ति। तच्चिन्त्यम्। द्वितीयसूत्रवैयर्थ्यापत्तेः ॥ ३ ॥

तच्छ्रुतेः ॥ ४ ॥ समन्वारम्भणात् ॥ ५ ॥

तद्वतो विधानात् ॥ ६ ॥ एतद्भाष्यं सुगमम् ॥ ६ ॥

रश्मिः।

आचारदर्शनात् ॥ ३ ॥ अग्रिमेति। चत्वारि। यदेवेति। आचारस्येति बोध्यम्। भाष्ये। तन्मतमिति। जैमिनिमतम्। व्यासः स्वमतमनुवदन् इमं जैमिन्याद्याचारमप्यनूक्तवान्। एतेषामिति। जैमिनिजनकप्रभृतीनाम्। द्वितीयेति। तदर्थस्याचारे निवेशादिति भावः ॥ ३ ॥

तच्छ्रुतेः। समन्वारम्भणात्। तद्वतो विधानात् ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥ सुगममिति। जनको ह वा इति। ब्रह्मवित्त्वं याज्ञवल्क्यादिति बृहदारण्यके। फलारम्भ इति। तमित्यनेन देहत्वावच्छिन्नोपादानम्। न स्वातन्त्र्यमिति। किन्तु कर्मसाहित्यम्। कल्पश्रुत्येति। अङ्गकल्पश्रुत्या। अन्यया वा। एवं सुगमम् ॥ ६ ॥

१. तदाचारं च प्रमाणिकं मनुत इति, तदाचारं प्रामाणिकमिति च मनुत इति पाठौ।

ननु 'यदहरेव विरजेत्, तदहरेव प्रव्रजेत्, गृहाद्वा प्रव्रजेद्वनाद्वे'त्यादिश्रुतिभ्यो विहितत्वाविशेषात् कर्मतत्त्यागयोरैच्छिको विकल्पोऽङ्गीकार्यः, अतो न शेषिशेषभाव इत्यत उत्तरं पठति।

नियमाच्च ॥ ७ ॥

'आश्विनं धूम्रललाममालभेत, यो दुर्ब्राह्मणः सोमं पिपासेत्', 'ऐन्द्राग्नं पुनरुत्सृष्टमालभेत, य आतृतीयात् पुरुषात् सोमं न पिबेत्, विच्छिन्नो वा एतस्य सोमपीथो यो ब्राह्मणः सन्नातृतीयात् पुरुषात् सोमं न पिबति, 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुया'दित्यादिश्रुतिभ्यो यथा कर्मकरणे नियमः श्रूयते, न तथा तत्त्याग इति नोक्तपक्षः साधुरित्यर्थः। चकारात् 'नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते। मोहात् तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तित' इत्यादिरूपा स्मृतिः समुचीयते। त्यागविधिरशक्तविषय इत्युक्तमिति प्राप्ते ॥ ७ ॥

प्रतिवदति।

अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् ॥ ८ ॥

तुशब्दः पूर्वपक्षं व्यवच्छिनत्ति। यदुक्तं 'शेषत्वात् पुरुषार्थवाद' इति,

भाष्यप्रकाशः।

नियमाच्च ॥ ७ ॥ सूत्रमवतारयन्ति नन्वित्यादि। व्याकुर्वन्ति आश्विनमित्यादि। अत्र 'दुर्ब्राह्मण' इति 'विच्छिन्न' इति पदाभ्यामकरणे निन्दा बोध्यते, तेन च नियमेन नित्यत्वं कर्मणो व्यक्तीभवति, तथाग्रे यावज्जीवाधिकारेण। सूत्रपञ्चकोक्तं निगमयन्ति त्यागेत्यादि। इति प्राप्ते इति। एवंप्रकारेण ब्रह्मणस्तद्विद्यायाः कैमुतिकेन जीवविद्यायाश्च कर्मशेषत्वे प्राप्ते।

अन्ये तु 'तच्छ्रुते'रित्यत्र विद्यायाः कर्मशेषत्वाय 'यदेव विद्यये'ति श्रुतिमुदाहरन्ति, 'तद्वतो विधाना'दित्यत्र 'आचार्यकुलाद्वेदमधीत्ये'ति छान्दोग्यसमाप्तिस्थश्रुत्या वेदार्थज्ञानवतः कर्माधिकारं व्याकुर्वन्ति, 'नियमा'च्चेत्यत्र 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नर' इतीशावास्यश्रुतिं जरामर्यसत्रश्रुतिं चोदाहरन्ति।

तन्मते विद्यायाः कर्मशेषत्वमिति पूर्वपक्षः ॥ ७ ॥

अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् ॥ ८ ॥ परिहारं व्याकुर्वन्ति तुशब्द इत्यादि। पूर्वपक्षमिति। ईश्वर इज्यत्वात् कर्मशेष इति पक्षम्। कर्मसाम्यमिति।

रश्मिः।

नियमाच्च ॥ ७ ॥ आश्विनमित्यादीति। इन्द्राग्नी देवतेस्य। सास्य देवतेत्यण्। सोमस्य पीथः पानं सोमपीथः। सोमस्य पीथः पानं यस्य मूर्ध्नः स सोमपीथो मूर्धा। कैमुतिकेनेति। ब्रह्मणस्तद्विद्यायाः कर्मशेषत्वे, किं वाच्यं जीवविद्यायाः कर्मशेषत्व इति न्यायप्राप्तम्। एवमिति। एवं त्वयि न, अन्यथा इतः अस्ति। न, कर्म, लिप्यते नरे इति छेदः। लिप उपदेहे। तु–उ–अनिद्व मुचादित्वात् मुच्। लिम्पति। लिप्यत इति कर्मकर्तरिप्रयोगः। विद्यागा इति। न ब्रह्मणः ॥ ७ ॥

अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् ॥ ८ ॥ कर्मणो ब्रह्मसाम्यमिति। ननु सामर्थ्याभावात् कथं कर्मसाम्ययोः समास इति चेत्, न। साम्यपदस्य ब्रह्मसाम्ये लाक्षणिकत्वात्।

तन्नोपपद्यते । कुतः । **अधिकोपदेशात्** । कर्मसाम्यमपि न वक्तुं शक्यं यत्र, तत्र तच्छेषत्वं दूरापास्तम् । यत ईश्वरः कर्मणः सकाशादधिक उपदिश्यते । तथाहि । 'स वा अयमात्मा सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किञ्च, स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीया'नित्युपक्रम्य, अग्रे पठ्यते 'तमेतं वेदानुवचनेन विविदिषन्ति ब्रह्मचर्येण तपसा श्रद्धया यज्ञेनानाशकेन चैतमेव विदित्वा मुनिर्भवत्येतमेव प्रव्राजिनो लोकमभीप्सन्तः प्रव्रजन्ती'त्यादि । एवं सति यज्ज्ञानसाधनत्वं यज्ञे, तस्य यज्ञशेषत्वं कथं स्यात्, किन्तु यज्ञस्य तद्वेदनशेषत्वम् । एतेनेज्यत्वेन तच्छेषत्वं प्रत्युक्तं वेदितव्यम् । तज्ज्ञानस्य यागपूर्वाङ्गत्वात् तद्विशिष्टस्य तस्य ब्रह्मज्ञानसाधनत्वात् । नच पूर्वं सामान्यत इज्यज्ञानमासीत्, यज्ञेन विशेषतो ज्ञाने सति पुनर्यज्ञकरणे पूर्णं कर्मफलं भवतीति न तच्छेषत्वमिति वाच्यम् । 'तमेव विदित्वा मुनिर्भवत्येतमेव प्रव्राजिनो लोकमभीप्सतः प्रव्रजन्ती'ति श्रुतेस्तद्वेदनस्य गार्हस्थ्यविरोधित्वेन तदसम्भवात् ।

भाष्यप्रकाशः ।

कर्मणो ब्रह्मसाम्यम् । 'स वा अयम्' इति श्रुतिस्तु बृहदारण्यके शारीरब्राह्मणे । एवं सतीत्यादि । उक्तश्रुतौ 'वेदानुवचनेने'त्यादिभिस्तृतीयाश्रुतिभिर्भगवज्ज्ञानशेषत्वे कर्मणामुक्ते सति । तस्येति । यज्ञशेषिणोपि शेषिभूतस्य । अधिकोपदेशेन हेतुना यत् सिद्धं तदाहुः एतेनेत्यादि । उक्तहेतुना तत्प्रत्युक्तमित्यर्थः । तत् व्युत्पादयन्ति तज्ज्ञानस्येत्यादि । इज्यत्वेन ज्ञानस्य यागपूर्वाङ्गत्वात् पूर्वं सत्त्वेपि तादृशज्ञानपूर्वकं यागकरणे तादृशज्ञानविशिष्टस्य यागस्य ब्रह्मज्ञानसाधनत्वात् तत्फलस्य ज्ञानस्य यः शेषी तस्यैकदेशज्ञानशेषत्वापादने यस्य ज्ञानं यागपूर्वाङ्गं स यागशेष इति नियमो हेतुत्वेन वक्तव्यः । स तु स्वर्गादौ व्यभिचरति । स्वर्गादेः फलत्वज्ञानं विना तदर्थके यागे प्रवृत्त्यभावेन तज्ज्ञानस्य यागपूर्वाङ्गत्वेपि स्वर्गादेः फलत्वेन यागशेषत्वानङ्गीकारात् । अतस्तदप्रयोजकमित्यर्थः । पुनः शेषत्वमाशङ्क्य निषेधन्ति नचेत्यादि । पूर्वं गुरुमुखादध्ययने ततस्तस्यावर्तनेन स्वाध्यायत्वसम्पादने ब्रह्मण इज्यत्वेन सामान्यतो ज्ञानमासीत्, ततस्तदुद्देश्यकस्य ब्रह्मयज्ञस्य द्रव्ययज्ञस्य च करणे विशेषतो ज्ञाने सति पुनर्यज्ञकरणे 'यदेव विद्यये'ति श्रुत्या यागस्य वीर्यवत्तायां पूर्णं फलं भवतीति तात्पर्यात् 'तमेतं वेदानुवचनेने'ति श्रुत्या न ब्रह्मणो यागशेष-

रश्मिः ।

यज्ञेति । यज्ञशेषि भगवज्ज्ञानं तस्य शेषी विषयो भगवान् तस्येत्यर्थः । भाष्ये । तद्वेदनशेषत्वं भगवद्वेदनशेषत्वम् । प्रकृते । उक्तहेतुनेति । आभासोक्तहेतुना तत् इज्यत्वेन कर्मशेषत्वं विष्णोः । इज्यत्वेनेति । विष्णोर्ज्ञानस्य । यागपूर्वाङ्गत्वं जानातीच्छति यतत इति प्रणाड्या । यागस्य यत्नत्वात् । फलत्वेन यागपूर्वाङ्गज्ञानम् । तत्फलस्येति । कर्मफलस्य । शेषीति । भगवान् विषयः । तस्येति । ज्ञानरूपस्य शेषिणः एकदेशज्ञानम्, 'श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्' निरवयवत्वेपि तद्धर्मात्मकं ज्ञानं कर्म तेन । शेषिणः कर्मशेषत्वापादने । यदि ज्ञानविषयो न स्यात्, ज्ञानशेषो न स्यादित्येवं शेषत्वापादने । नियममाहुः यस्येति । विष्णोः । स इति । विष्णुः । तदिति । परम्पराकर्मशेषत्वम् । ब्रह्मण इज्यत्वेनेति । वराहरूपस्य विष्णोरिज्यत्वेन ज्ञानं वेदब्राह्मणात् । ब्रह्मयज्ञः श्रावण्यां प्रसिद्धः ।

१. भावीतिपाठः ।

यश्च साध्वसाधुकर्मफलसम्बन्धरहितः, तस्य कर्तृत्वेन तथात्वमनुपपन्नम्, अतो जीवात्मन एव तथात्वम्, न तु परस्य । नचैतयोर्वास्तवाभेदान्नैवमिति वाच्यम् । वास्तवाभेदाज्जीवेऽप्युक्तश्रुतिभ्यस्तथात्वस्य सुवचत्वात् । वास्तवाभेदस्य पूर्वमेव निरस्तत्वात्तमादाय ये पूर्वपक्षास्ते पूर्वपक्षा एवेत्यलमुक्त्या । 'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः । परेण नाकं निहितं गुहायां विभ्राजते तत् यतयो विशन्ती'ति श्रुत्या कर्मप्रजाधनैर्मोक्षाप्राप्तिमुक्त्वा त्यागेन तत्प्राप्तिरुच्यते । त्यागविषयस्यान्यस्यानुक्तया साम्निध्यात् कर्मादीनामेव त्यागोऽभिप्रेतः । तथाच मुक्तोपसृप्यत्वाद्भगवत उक्तसाधनेन मुक्ताः सन्तो नाकं परेण

भाष्यप्रकाशः ।

त्वनिवृत्तिरित्येवं न वाच्यम् । 'एतमेवे'त्यादितदग्रिमश्रुतेस्तादृग्ब्रह्मज्ञानस्य गार्हस्थ्यविरोधित्वेन यज्ञासम्भवात् । तदसम्भवे तथा फलोत्पत्त्यापादनस्यापि कर्तुमशक्यत्वात् ब्रह्मणः कर्मशेषत्वं नापादयितुं शक्यमित्यर्थः । नन्वीश्वरस्य कर्तृत्वाद्विश्वसृड्न्यायेन यज्ञकर्तृत्वे सुखेन तच्छेषत्वसम्भव इत्याशङ्क्य परिहरन्ति यश्चेत्यादि । तथात्वमिति । कर्मशेषत्वम् । एकदेशिप्रतिपन्नम् । जीवब्रह्मैक्यमादाय पुनः शेषत्वाशङ्कायां तदुपगम्य परिहरन्ति नचैतयोरित्यादि । तथात्वस्येति । ईश्वरवत् कर्मशेषित्वस्य । ननु यदि जीवेश्वरयोर्वास्तवाभेद उपगतः, तर्ह्येकतरपक्षपातस्य कर्तुमयुक्तत्वादुभयमप्यस्त्विति शङ्कायां सिद्धान्ते तदनुपगमेनाहुः वास्तवाभेदस्येत्यादि । जीवब्रह्मणोर्हि घटाकाशमहाकाशयोरिवौपाधिको भेदः, वस्तुतस्त्वभेदः । एतादृशाभेदस्य द्वितीयाध्यायतृतीयपादे 'अंशो नाने'त्यत्रांशत्वव्यवस्थापनेन निरस्तत्वात् तमादाय ये पूर्वपक्षास्ते जीवस्वरूपाज्ञानात् पूर्वपक्षा एव न भवन्तीति तथेत्यर्थः । श्रुत्यन्तरेणापि कर्मशेषत्वं परिहरन्ति न कर्मणेत्यादि । श्रुतिस्तु बृहन्नारायणे 'अणोरणीया'नित्यनुवाकस्था । अत्रानुवाकारम्भमन्त्रे

रश्मिः ।

पूर्णमिति । वीर्यं शुक्रमेकादशबलं ज्योतिःशास्त्रप्रसिद्धं फलमिति शुक्रब्रह्मवादिनः । यज्ञासंभवादिति तदसंभवादिति भाष्यस्यार्थः । तथा फलेति । यदि फलज्ञानाभावे यागप्रवृत्तिर्न स्यात्, 'इज्यत्वेन ज्ञानस्ये'त्याद्युक्तरीत्या फलोत्पत्तिर्न स्यात् । प्रवृत्तिः ज्ञानसाध्या, प्रवृत्तित्वात् घटप्रवृत्तिवदित्यनुमानम् । तथा 'फलज्ञाने यागप्रवृत्तिः इज्यत्वेन ज्ञानस्ये'त्याद्युक्तरीत्या फलोत्पत्तेः । पटप्रवृत्तिवदित्यनुमानम् । एवं तथा फलो[illegible]दनस्येत्यर्थः । विश्वसृगिति । तच्छेषत्वेति । कर्मशेषत्वम् । निरस्तत्वादिति । ननु श्रीभागवतद्वादशस्कन्धीयप्रमाणनिरूपणाध्यायस्थत्वान्न निरासः साधीयानिति वाच्यम् । परमतत्वेन तस्य शुकेष्टगतिरूपत्वात् । 'तत्त्वं च यथा यथाश्रुतं यथामति तदहं तेऽभिधास्यामी'ति शुकवाक्ये कथनात् । अत एव 'अंशो नानाव्यपदेशा'दिति व्याससूत्रमुक्तम् । करणत्वेन तद्विषयवाक्येन सहितं पुराणमतबाधकं भवतीति । अतः पूर्वपक्षाः पूर्वपक्षाः, न तु सिद्धान्ताः अस्मन्मते, श्रौतजीवस्वरूपाज्ञानादिति पूर्वपक्षा एव न भवन्तीति वाक्यशेषः । पूर्वपक्षाः पूर्वपक्षा इति प्रयोगस्तु न भवति, उद्देश्यतावच्छेदकविधेययोरैक्यात् । अतो न भवन्तीति वाक्यशेषः । पूर्वपक्षा निरस्ता न पूर्वपक्षा इति । एवमप्यपदार्थोपदार्थ इत्युद्देश्यतावच्छेदकविधेययोरैक्यमिति चेत् । भाष्यप्रामाण्यादस्तु प्रयोगः । तथेति । इत्यलमुक्त्येत्यर्थः । न कर्मणेत्यादीति । त्यागेन तत्प्राप्तिरिति । अत्र नञः प्रयोगाभावादिति । कर्मादीनामिति । त्यागविषयाणाम् । उक्तसाधनेनेति ।

विद्यमानमपि भक्तया गुहायां विभ्राजते, तत्, 'यस्मात् परं नापरमस्ती'त्यादिनोपक्रान्तत्वात् पुरुषोत्तमस्वरूपं यतयो विरहभावेन तद्विना स्थातुमशक्तास्तत्प्राप्त्यर्थं यतमाना विशन्तीति भक्तिमार्गीयाणां फलमुक्तम्। अग्रे 'वेदान्तविज्ञाने'त्यृचा ज्ञानमार्गीयाणां फलमुक्तम्, अन्यथा पौनरुक्त्यं स्यात्। एवं कर्मज्ञानाभ्यामधिको भक्तिमार्गः, तत्प्राप्यः पुरुषोत्तमश्च श्रुतावुपदिश्यत इति तदेकप्रमाणवादिनो बादरायणस्य मतमप्येवं जैमिनिमताद्धिकमित्यर्थः। एवं श्रुत्या परमतं निरस्य शिष्यविश्वासार्थं स्वानुभवमपि प्रमाणयति तद्दर्शनादिति। उक्ताधिक्यवत्त्वेनैव भगवतो भक्तिमार्गस्य चानुभवादित्यर्थः। 'श्रुतयोऽधिकमात्मानं दर्शयन्ती'ति न व्याख्यानम्। उपदेशपदेन पौनरुक्त्यापत्तेः। तन्मतमनिरस्य तस्मात् स्वमत आधिक्यमात्रोक्त्या निष्कामकर्मणश्चित्तशुद्धिहेतुत्वेन परम्पराज्ञानमार्गोपयोगाङ्गीकारोऽत्र सूच्यते। पुष्टिभक्तिमार्गे तु सोपि न। 'यन्न योगेने'ति वाक्यात्। एवं सति क्व कर्मशेषत्वगन्धोपि ब्रह्मणीति भावः ॥ ८ ॥

भाष्यप्रकाशः।

'महिमानमीश'मित्यनेनेशपदवाच्यस्य शिवस्य विभूतित्वकथनात्, 'यस्मात् पर'मिति मन्त्रस्य श्वेताश्वतरेपि श्रवणाच्छिवपरत्वभ्रमो मा भूदित्येतदर्थं भाष्ये पुरुषोत्तमस्वरूपपदमुक्तम्। एतस्यानुवाकस्य यथा पुरुषोत्तमपरत्वम्, तथा प्रकृस्ताख्ये वादे मया सम्यगुपपादितमिति विशेषतो नोच्यते। अत्रैतन्मन्त्रद्वयोक्तयोः प्रवेशपरिमोक्षयोर्भक्तिज्ञानफलयोरनावृत्तिरूपत्वात् दुःखसाहचर्याभावेन कर्मफलादाधिक्यं बोधितमिति तौ कर्ममार्गादुत्कृष्टाविति सिद्धम्। दर्शनव्याख्याने भक्तिमार्गस्य चेति चकारो ज्ञानमार्गसमुच्चायकः। श्रुतिसूत्रशेषयोर्व्याख्यानं तूत्तानार्थम्। मतान्तरीये एतद्व्याख्याने अयुक्तत्वं बोधयन्ति श्रुतय इत्यादि। शारीरादधिकं परमात्मानं दर्शयन्तीति यत् व्याख्यानम्, तत्पौनरुक्त्यापादकत्वादयुक्तमित्यर्थः। एवं स्वोक्तं व्याख्यानं समर्थयित्वा बादरायणपदेन स्वमतबोधनस्य तात्पर्यमाहुः तन्मतमित्यादि। तन्मतमिति। जैमिनीयं मतम्। अर्थस्तु स्फुटः। एवमेतेन सूत्रेण जैमिन्युक्तस्य शेषत्वस्य हेतोर्बाधितत्वं स्फुटीकृतम् ॥८॥

रश्मिः।

श्रुत्युक्तत्यागेन। नाकमिति। नाकस्य स्वर्गस्य परेण। ङसः सुः। भक्त्येति। राजा प्रसन्नः सन्नागच्छति, तद्वद्गुहायां भक्त्या आगच्छतीति भक्तिनिवेशः करणत्वेन। भ्राजृ दीप्तौ। यस्मात् परमिति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म श्रुतिस्त्वित्विति। भक्तिमार्गीयाणामिति। 'तद्यतयो विशन्ती'त्यत्र त्यागिनो विशन्तीत्यनुक्त्वा यत् यतिपदमुक्तम्, तदर्थ उक्त इति तथा। सूत्रार्थमाहुः एवं कर्मेति। 'अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्य एव'मिति पदचतुष्टयं व्याख्येयम्। स्वानुभवमिति। व्यासः स्वस्यानुभवम्। एतदुक्तं श्रुतिस्त्वित्यादिना। तत्पौनरिति। उक्तहेतुना तथा। स्फुट इति। तन्मतनिरासे ज्ञानोपयोगो झटिति न भासते युक्तिं विनेति तन्मतमनिरस्येत्येवं स्फुटः। बाधितत्वमिति। पुरुषार्थवादः शेषत्वात्। न पुरुषार्थवादः शेषत्वादिति बाधितत्वम्। अर्थवादत्वे शेषत्वं नोपपद्यते। स्वार्थेऽप्रामाण्येन घटोऽस्तीति वाक्यादपि चित्तशुद्धिः स्यादिति ॥ ८ ॥

१. भक्त्येति नास्ति।

तुल्यं दर्शनम् ॥ ९ ॥

यदुक्तं 'आचारदर्शनात् कर्मशेषत्वं ब्रह्मण' इति, तदपि न साधीयः। तुल्यं यतो दर्शनम्। ब्रह्मविदां शुकतृतीयजन्मवदार्षभादीनां त्यागदर्शनात्। एतेन यद्विदां कर्मत्यागः, तस्य कर्मशेषत्वं कथं शङ्कितुमपि शक्यमिति भावः सूच्यते। एतेन 'कर्मण्यशक्तान् प्रति त्यागविधि'रिति निरस्तम्। शुकादीनामतथात्वात् ॥९॥

ननु 'जनको ह वैदेह' इति श्रुतिसाहाय्यादाचारदर्शनं त्यागदर्शनादधिकबलमित्यत उत्तरं पठति।

असार्वत्रिकी ॥ १० ॥

ब्रह्मविदां सर्वेषामेतदाचारं चेन्निरूपयेच्छ्रुतिः, तदा त्वदुक्तं स्यात्, न त्वेवम्। यत एतादृशी श्रुतिर्ब्रह्मवित्सु सर्वेषु न श्रूयते। तथाहि। 'एतद्ध स्म वै तद्विद्वांस आहुर्ऋषयः कावषेयाः। किमर्था वयमध्येष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे। एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसोऽग्निहोत्रं न जुहवाञ्चक्रिरे, एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' 'एतावदरे खल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यः प्रवव्राजे'त्यादिश्रुतयो बह्व्यस्तद्विदां कर्मत्यागमेवानुवदन्ति, अतस्त्यागपक्ष एव बलवान् ॥ १० ॥

भाष्यप्रकाशः।

एवं ब्रह्मणः कर्मशेषत्वं निराकृत्य विद्यायाः कर्मशेषत्वं वारयतीत्याशयेनाहुः।

तुल्यं दर्शनम् ॥ ९ ॥ भाष्यमत्र प्रकटार्थम्। तथाच य आचारदर्शनमिति हेतुर्विद्यायाः कर्माङ्गत्व उक्तः, सोपि साधारणत्वाद्धेत्वाभास इति बोध्यते, ब्रह्मणः कर्माङ्गत्वं च कैमुतिकान्निरस्यते, जैमिनीयकृता त्यागव्यवस्था च निरस्यत इति तत्र बोधितम् ॥ ९ ॥

असार्वत्रिकी ॥ १० ॥ सूत्रमवतारयन्ति नन्वित्यादि। सदाचारस्य तुल्यत्वेपि केवलस्य परमुखनिरीक्षकत्वेन श्रुत्युपष्टब्धस्यैव बलवत्त्वम्, अतस्तुल्यत्वं न हेतोः साधारणत्वापादकमित्याशङ्कायां श्रुतेरपि साधारण्यं बोधयितुं सूत्रान्तरं पठतीत्यर्थः। सूत्रं व्याकुर्वन्ति ब्रह्मविदामित्यादि। अत्र प्रथमा श्रुतिर्बृहदारण्यके शारीरब्राह्मणे, द्वितीया मैत्रेयीब्राह्मणे। तथाच श्रुतेरपि साधारणत्वात् तद्बहुत्वानुगृहीतस्त्यागपक्ष एव बलवान्, न तु तत्करणपक्ष इत्यर्थः।

अन्ये तु 'यदेव विद्यये'ति श्रुतिरुद्गीथविद्यापठितेति तस्या एव कर्माङ्गतां बोधयतीति विद्यायाः कर्माङ्गता असार्वत्रिकीत्यर्थमाहुः ॥ १० ॥

रश्मिः।

तुल्यं दर्शनम् ॥ ९ ॥ प्रकटेति। शुकेति। शुकः तृतीयजन्मवज्जडभरतः ऋषभः आचार्याः तेषाम्। त्यागेति। कर्मत्यागदर्शनात्। एवं प्रकटार्थम्। साधारणत्वादिति। कर्माङ्गत्वाभाववति विष्णौ आचारदर्शनं हेतुरिति साध्याभाववद्वृत्तित्वात् तथा। कैमुतिकादिति। ब्रह्मविद्यायाः कर्माङ्गत्वाभावे किमु वक्तव्यं ब्रह्मणः कर्माङ्गत्वाभाव इति कैमुतिकात्। एतेन एतेन यद्विदामित्यादिभाष्यविवरणं कृतम्। एतेन कर्मणीत्यादिभाष्यविवरणं जैमिनीयेति। सा च भाष्योक्ता। तत्रेति। सूत्रे तुल्यत्वोक्त्या वितण्डया बोधितम् ॥ ९ ॥

असार्वत्रिकी ॥ १० ॥ त्यागपक्ष इति। कर्मत्यागपक्षः। तत्करणपक्ष इति। कर्मकरणपक्षः। तस्या एवेति। उद्गीथविद्याया एव। एवकार इतरविद्यायोगव्यवच्छेदकः ॥ १० ॥

नन्वु ब्रह्मवित्त्वाविशेषेऽप्येकेषां कर्मकृतिः, एकेषां तत्त्याग इति विभागः कुत इत्याशङ्क्य तत्र हेतुमाह ।

विभागः शतवत् ॥ ११ ॥

'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ती'ति श्रुतेर्मानुषानन्दमारभ्य ब्रह्मानन्दपर्यन्तं ये गणिता आनन्दास्ते सर्वे पुरुषोत्तमानन्दात्मका एव । एवं सति येषु यावानानन्दो दत्तोऽस्ति, तावन्तं तं निरूपयन्त्यधिकारतारतम्येन तद्दानमिति ज्ञापनाय शतोत्तरं शतोत्तरमानन्दं श्रुतिर्न्यरूपयत् । अत एव पुरुषायुःसंख्यासमानसंख्ययैवोत्कर्ष उक्तः, तेन पुरुषधर्मस्याधिकारस्यैवोत्कर्षः सूच्यते । एवं प्रकृतेऽप्यन्यभावराहित्यतारतम्येन भगवद्भावतारतम्यम्, अत्र त्वनुग्रह एवाधिकाररूप इति तदुत्कर्षे त्यागः, तदनुत्कर्षे नेत्यर्थः ॥ ११ ॥

यच्चोक्तं 'तद्वतो विधाना'दिति, तत्राह ।

अध्ययनमात्रवतः ॥ १२ ॥

यदुक्तं 'ब्रह्मिष्ठो ब्रह्मे'त्यादि, तत्र ब्रह्मशब्देन वेद एवोच्यते, न तु परः, तथाच तं ब्रह्मत्वेनाधिकृतशब्दरूपत्वं ज्ञात्वा सततं तदध्ययनमात्रं यः करोति, न तु तेन किञ्चित् कामयते, तस्याधिकारो ब्रह्मत्वार्त्विज्य इत्युच्यत इति न ब्रह्मज्ञानस्य कर्मशेषत्वम् । प्रत्ययस्यातिशायनार्थकत्वादतिशयेन ब्रह्मरूपस्तदैव भवतीति युक्तं तस्य तदार्त्विज्यम् । एवं सति ब्रह्मपदं ब्राह्मण्यपरमपि सङ्गच्छते ।

अथवा । वेदाध्ययनमात्रवतः कर्मण्यधिकारः, न तु ब्रह्मविदोऽपीत्यर्थः । नच तदन्तःपातित्वेन वेदान्तानामप्यध्ययनस्यावश्यकत्वे तत्प्रतिपाद्यब्रह्मज्ञानस्याप्यवर्जनीयत्वात्तद्वत एव तत्राधिकार इति वाच्यम् । शाब्दपरोक्षज्ञानस्य ब्रह्मज्ञानत्वाभावात् । न हि 'सिता मधुरे'तिशाब्दज्ञानमात्रवांस्तन्माधुर्यज्ञो भवति । तथा सति पित्तोपशमादिकं तत्कार्यमपि स्यात्, न त्वेवम् । अत एव छान्दोग्ये सनत्कुमारेण 'यद्वेत्थ तेन मोपसीदे'त्युक्तो नारद ऋग्वेदमारभ्य सर्पदेवजनविद्यापर्यन्तं स्वाधीतमुक्त्वाह 'सोऽहं मन्त्रविदेवास्मि, नात्मवि'दिति । अतोऽपरोक्षब्रह्मज्ञानमेव ब्रह्मज्ञानमुच्यते । अत एव तैत्तिरीयोपनिषत्सु 'वेदान्त-

---

भाष्यप्रकाशः ।

विभागः शतवत् ॥ ११ ॥ सूत्रमवतारयन्ति नन्वित्यादि । यदि बहुप्रमाणप्रमितत्वात् कर्मत्यागपक्ष एव ज्यायान्, तदोक्तरूपो विभागः किंहेतुक इति वक्तव्यम्, तदवचने तु ब्रह्मवित्स्वपि ये कर्मण्यधिकारशून्याः, तेषामेव कर्मत्यक्तृत्वं सेत्स्यतीति न विद्याया वेद्यस्य वा आधिक्यसिद्धिरित्याशङ्कायां कर्मत्यागात्यागविभागे हेतुमाहेत्यर्थः । एतस्येत्यादि । निरूपयन्तीति सुब्विभक्तिर्बोध्या । अत एवेति । अधिकाराभिप्रायादेव । प्रकृत इति । कर्मत्यागात्यागविभागे ब्रह्मविदाचारविभागे वा । अत्र त्विति । भगवद्भावतारतम्ये तु । तथाच कर्मत्यागात्यागविभागे एवमुत्कर्षस्तदभावश्च बीजम्, न तु त्वदुक्तमित्यर्थः ।

अन्ये तु इदं सूत्रं समन्वारम्भणसूत्रोत्तरत्वेनाङ्गीकृत्यैवं व्याकुर्वन्ति । यथा 'शतमाभ्यां दीयता'मित्युक्तेऽर्धमेकस्मै, अर्धमन्यस्मै दीयते, तथा विद्यान्यमारभते, कर्मान्यमिति विभागो द्रष्टव्य इति ।

तच्चिन्त्यम् । तत्र उपसंहारे 'इति तु कामयमान' इति कथनात् कर्माङ्गभूतविद्याया एव विवक्षितत्वावगमेन समन्वारम्भणस्य हेतुत्वाशङ्काया भ्रान्तिमूलत्वेन तदुपेक्षाया एव युक्तत्वादिति ॥ ११ ॥

अध्ययनमात्रवतः ॥ १२ ॥ सूत्रमवतारयन्ति यच्चेत्यादि । व्याकुर्वन्ति यदुक्तमित्यादि । इत्थं प्रत्ययसूचितमर्थमाहुः प्रत्ययस्येत्यादि । एतादृशस्य दुर्लभत्वाद्दर्शपूर्णमासयोश्च प्रतिपक्षान्तं कर्तव्यत्वात् तादृशाभावे तल्लोपप्रसङ्ग इत्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः अथवेत्यादि । 'आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयान' इति श्रुतावध्ययनमात्रश्रवणात्तावन्मात्रगत एवेति तथेत्यर्थः । नन्वध्ययनस्याक्षरग्रहणरूपत्वेऽविद्वत्त्वात् कर्मानधिकारप्रसक्तिः, अथार्थज्ञानस्याप्यपेक्षितत्वम्, तदा तु वेदान्तेभ्यो ब्रह्मज्ञानस्यापि सम्भवात् ब्रह्मिष्ठस्यापि कर्मशेषत्वमनिवार्यमित्याशङ्कामनूद्य परिहरन्ति नचेत्यादि । ब्रह्मज्ञानत्वाभावादिति । अत्र शाब्दज्ञानस्य तथात्वेन विवक्षितत्वाभावात् । तदुपपादयन्ति न हीत्यादि । तथा सतीत्यादि । तावतैव तन्माधुर्यज्ञत्वे सति तस्यापरोक्षज्ञानस्य रासनरूपत्वात् तत्कार्यं स्यात्, तत्तु न दृश्यते, एवं प्रकृतेपि यदि तत् तथा स्यात्, तदा शुकादिवदेव चरेत्, न त्वार्त्विज्यं कुर्यात्, अतस्तदिवैतदपि नापरोक्षमित्यर्थः । अत्र श्रुतिसम्मतिमाहुः अत एवेत्यादि । लिङ्गेन तस्यापरोक्षज्ञानत्वं निवार्य श्रुत्यापि वारणायाहुः तैत्तिरीयेत्यादि । ननु

रश्मिः ।

विभागः शतवत् ॥ ११ ॥ उक्तरूप इति । कर्मत्यागात्यागरूपः । सुब्विभक्तिरिति । प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणमिति तदन्तं पदं ग्राह्यम् । सुबन्तं बोध्यमित्यर्थः । भाष्ये । पुरुषायुरिति । 'शतायुर्वै पुरुष' इति तथा । प्रकृते । त्वदुक्तमिति । कर्माशक्तिरूपम् । एवेति । शरीरारम्भकविद्याव्यवच्छेदकः । हेतुत्वेति । विद्याकर्मसाहित्ये हेतुत्वाशङ्कायाः । तदुत्कर्षेति । सूत्रप्रत्याख्यानस्य ॥ ११ ॥

अध्ययनमात्रवतः ॥ १२ ॥ यदुक्तमित्यादीति । ब्रह्मत्वार्त्विज्य इति । ब्रह्मत्वाख्यार्त्विज्यम् । 'तं दर्शपूर्णमासयोर्वृणीत' इति वरणविधानादार्त्विज्यम् । सह सुपेतिसमासः । प्रत्ययस्येत्यादीति । अतिशयेनेति । अतिशयेन ब्रह्मा ब्रह्मिष्ठः । एवं सतीति । अतिशयस्य ब्रह्मविशेषणत्वे सति । ब्रह्मण्यतिशयासम्भवात् मीमांसकरीत्या आकृतौ शक्त्या ब्राह्मण्यपरम् । प्रतिपक्षान्तमिति । दर्शपूर्णमाससंज्ञाभ्यां पक्षयोरन्तं लक्षीकृत्य । तादृशेति । अतिशयितब्राह्मण्यवदृत्विगभावे । तल्लोपेति । दर्शपूर्णमासलोपप्रसङ्गात् । तथेत्यर्थ इति । कर्मण्यधिकारः, न तु ब्रह्मविदोपीत्यर्थः । भाष्ये । तद्वत इति । ब्रह्मज्ञानवतः । तत्र कर्मणि । प्रकृते । प्रकृते योजयन्ति स एवं प्रकृत इति । तत्तथेति । अपरोक्षं ज्ञानं कर्माङ्गं स्यात् । चरेदिति । ब्रह्मिष्ठः । नत्विति । यजमानफलसाधकमार्त्विज्यं स्वं प्रति निष्फलम् । ब्रह्मफलं त्यक्त्वा न कुर्यादित्यर्थः । अत इति । अत आर्त्विज्यकरणात् तदिव आर्त्विज्यमिव तदपि कर्माङ्गज्ञानमपि नापरोक्षम्, किन्तु शाब्दमित्यर्थः । लिङ्गेनेति । लिङ्गं शब्दस्य सामर्थ्यमिति 'मन्त्रवित् नात्मवि'दिति शब्दयोः सामर्थ्येन । तद्यथा । मन्त्रविदिति शाब्दं ज्ञानं नात्मविदित्यात्मापरोक्षनिषेध इति । तेन लिङ्गेन । श्रुतिः कल्प्यते । कर्माङ्गत्वेन शाब्दं ज्ञानं भवतु, मा भूच्चापरोक्षज्ञानमिति । एतच्छ्रुत्या कर्मणि शाब्दं ज्ञानमङ्गमिति लिङ्गेन विनियुज्यते । श्रुत्येति । निरपेक्षो रवः श्रुतिः । विज्ञानं निरपेक्षो रवः । तयेत्यर्थः ।

विज्ञानसुनिश्चितार्था' इति पठ्यते । विज्ञानमनुभव एव, न तु ज्ञानमात्रम्, अतो दूरापास्तं कर्मशेषत्वं ब्रह्मणः । 'तं विद्याकर्मणी' इत्यादिस्तु संसार्यात्मनः पूर्वदेहत्यागसामयिकं वृत्तान्तं निरूपयति, न तु ब्रह्मविद इति 'समन्वारम्भणा'दिति सूत्रमुपेक्षितमाचार्येण ॥ १२ ॥

यच्चोक्तं 'नियमाच्चे'ति, तत्राह ।

नाविशेषात् ॥ १३ ॥

'आश्विन'मित्यादिश्रुतिभ्यः कर्मकृतौ यथा नियमः श्रूयते, न तथा त्याग इति यदुक्तम्, तन्न । कुतः । अविशेषात् । 'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशु'रिति श्रुतिः कर्मादिना अमृतत्वाप्राप्तिमुक्त्वा तत्त्यागेन तां वदन्ती कर्मत्यागस्यावश्यकत्वं वदतीति तस्मान्न विशेषो यत इत्यर्थः । तथाच 'अमृतत्वमानशु'रिति पदात् मुमुक्षोः कर्मत्यागनियमः, अमुमुक्षोस्तत्कृतिनियम इतिव्यवस्थेति भावः ।

भाष्यप्रकाशः ।

भवत्वेवम्, तथापि समन्वारम्भणस्यापरिहृतत्वात् विद्यायाः कर्मसाहित्येनैव फलजनकताङ्गीकार्येति विद्यायाः कर्मशेषत्वं त्वनिवार्यमित्याशङ्कायामाहुः तं विद्येत्यादि । यतः सा संसारिवृत्तान्तं शारीरब्राह्मणे निरूपयति, अतस्तत्र विद्यापदेन विद्वद्वाक्योक्ता कर्माङ्गभूतैव विद्याभिप्रेयते, अत एव तत्र विद्याकर्मभ्यां 'दैवं वा पित्र्यं वा गान्धर्वं वे'ति तादृशशरीरमेव फलत्वेन वक्ति, न मोक्षम्, अतस्तस्मिन् वाक्ये ब्रह्मवित्संसर्गस्याप्यभावात् तदुपेक्षितम्, अतो न वेदान्तोदितविद्याया अपि कर्मशेषत्वमित्यर्थः । एतेन यदन्यैरत्र व्याख्यातम्, औपनिषदमात्मज्ञानं स्वातन्त्र्येणैव प्रयोजनवत् प्रतीयमानं न कर्माधिकारकारणतां प्रतिपद्यत इति प्रतिपादयाम इति, तत्र बीजमिदमेव वक्तव्यम्, न तु क्रत्वन्तरज्ञानं क्रत्वन्तराधिकारेणापेक्ष्यत इति दृष्टान्तबोधितमिति सूचितम् । तथा सत्यपि ब्रह्मिष्ठपदबोधितशेषताया अनपायादिति ॥ १२ ॥

नाविशेषात् ॥ १३ ॥ अवतारयन्ति यच्चोक्तमित्यादि । सौत्रं हेतुं व्याकुर्वन्ति न कर्मणेत्यादि । तथाच यथा कर्मश्रुतावकरणनिन्दादिना तदावश्यकतया कर्मकरणनियमोऽवग-

रश्मिः ।

विद्यायाः कर्मशेषत्वमिति । कर्मविशेषणत्वम् । विद्यासहितं कर्मेति । न च द्वन्द्वानुपपत्तिः । उभयप्राधान्येपि व्याख्यानप्राप्तं कर्मशेषत्वमित्यर्थात् । **तत्रेति** । शारीरब्राह्मणे । **तदुपेति** । तत्सूत्रं प्रत्याख्यातमित्यर्थः । **इदमेवेति** । उक्तोपपादनम् । **क्रत्वन्तरेति** । दर्शपूर्णमासक्रत्वन्तराधिकारेण । क्रत्वन्तरं दर्शपूर्णमासक्रतोरन्यः क्रतुः प्राकृतिकः क्रतुस्तस्य ज्ञानं नापेक्ष्यत इत्यर्थः । **दृष्टान्तेति** । 'सिता मधुरे'त्यादिदृष्टान्तः भाष्योक्तः । तेन बोधितम् । तद्यथा । शाब्दं ज्ञानं तदपि दर्शपूर्णमासाय ब्रह्मत्वार्त्विज्ये, न तु सर्वक्रत्वार्त्विज्ये । दूषणमाहुः **तथा सतीति** । **ब्रह्मिष्ठो ब्रह्मे**त्यत्र । शेषता विशेषणता गौणता । स्वमते ज्ञानकर्मणोः परस्परमङ्गाङ्गिभावः पूर्वाधिकरणे जिज्ञासाधिकरणे स्पष्टः ॥ १२ ॥

नाविशेषात् ॥ १३ ॥ तथेत्यर्थ इति । यतः कर्मनियमान्न कर्मकृतौ विशेष इत्यर्थः ।

अथवा । ननु क्रमप्राप्ते तुरीयाश्रमे हि कर्मत्यागः, द्वितीये तस्मिन् कर्मकरणनियमः, तत्र च कर्तुरङ्गत्वेन तत्स्वरूपज्ञानमावश्यकम्, तच्च वेदान्तैरेवेति कथं न

भाष्यप्रकाशः ।

म्यते, तथा त्यागश्रुतावपि कर्मादिभिर्मोक्षाप्राप्तिकथनपूर्वकं त्यागेन तत्प्राप्त्युक्त्या तदावश्यकतया त्यागस्यापि नियमोऽवगम्यत इति तथेत्यर्थः । तेन सिद्धमाहुः तथाचेत्यादि ।

एवं ब्रह्मज्ञानस्य कर्माङ्गत्वाभावेपि जीवस्वरूपज्ञानस्य कर्माङ्गत्वं न वारयितुं शक्यमित्याशङ्काप्यनेनैव निरस्ता भवतीत्याशयेन पक्षान्तरमाहुः अथवेत्यादि । तत्र चेति । कर्मणि च । अविशेषपदस्य व्याख्यानं 'आश्रमविशेषे विशेषाभावा'दिति ।

अयमर्थः । भाट्टा हि अध्ययनविधिगृहीतानां वेदान्तानां वेदशेषत्वायैवमुपवर्णयन्ति । तथाहि । यत्तावत् 'अविनाशी वा अरे अयमात्मे'त्यादिना जायमानं शरीराद्यतिरिक्तनित्यात्मस्वरूपसद्भावज्ञानम्, तत् पारलौकिकफलककर्मानुष्ठानौपयिकत्वात् कर्मज्ञानवदेव सामर्थ्यतः क्रतुसंयोगात् क्रत्वर्थम् । यथा ज्योतिष्टोमादिवाक्याध्ययनं दृष्टेनैव द्वारेणानुष्ठानौपयिकं ज्ञानं जनयतीति तदर्थतयैवाध्ययनं विधीयते, तथा 'अविनाशी'त्यादिवाक्यानामप्यध्ययनविधिरेव कर्मानुष्ठानोपयोग्यात्मज्ञानार्थतां विधत्ते, तद्यदि प्रमाणान्तरेणात्मनः शरीरादिविवेको नैकान्ततः सिध्यति, ततो दृढविवेकप्रतिपादकानामुपनिषद्वाक्यानां विस्पष्टज्ञानमेव फलम् । तदुक्तं 'इत्याह नास्तिक्यनिराकरिष्णुरात्मास्तितां भाष्यकृदत्र युक्त्या । दृढत्वमेतद्विषयः प्रबोधः प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन' इति । यदि च शरीरादिव्यतिरिक्तात्मज्ञानमन्यतोपि सिध्यति, ततो यथैवान्यतः क्रतुज्ञानसम्भवेऽप्यध्ययनोपात्तवेदवाक्यावगतकर्मरूपाणामेव पुंसां कर्मस्वधिकारः, तथैवाध्ययनोपात्तोपनिषद्वाक्यावगतात्मतत्त्वानामेवाधिकार इत्यध्ययनविधिबलादेव कल्प्यते । यच्चात्मसद्भावप्रतिपादनोपक्रमे 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य' इत्यादिकं विधिरूपं वाक्यम्, तत्तु

रश्मिः ।

भाष्ये । तस्मादित्यन्तं सौत्रो हेतुर्विवृतः । (**भाष्ये । वैराग्यस्यैवेति** । एवकारो वेदान्तैर्जीवस्वरूपज्ञानव्यवच्छेदकः । आश्रमविशेषे संन्यासाश्रमे जीवे वेदान्तैः स्वरूपज्ञानरूपविशेषाभावादिति द्वितीयोऽत्र सूत्रार्थः ।) **अध्ययनेति** । 'षडङ्गो वेदोऽध्येय' इत्यत्राध्ययनविधिना विषयविधया वेदा गृहीता इति हेतोः वेदपदार्था वेदान्ता अपि गृहीतास्तेषाम् । चित्तशुद्धिद्वारा भक्तिज्ञानजननेन पारलौकिकेत्यादिः । **सामर्थ्यतः** तच्छब्दसामर्थ्यतः शरीराद्यतिरिक्तनित्यात्मस्वरूपसद्भावज्ञानं वक्ष्यमाणदिशा क्रतुसंयोगात् क्रत्वर्थम् । कर्मज्ञानवत् । **दृष्टेनैवेति** । पदार्थधीः शक्तिधीश्च द्वारं दृष्टम् । एवकारोऽदृष्टं द्वारं व्यवच्छिनत्ति । तेन । **तदर्थतयेति** । अनुष्ठानौपयिकज्ञानार्थतया । एवकारेण पदार्थधीः शक्तिधीश्च व्यवच्छिद्यते । **अध्ययनविधिरिति** । उक्त एव वेदशब्देन वेदान्तग्रहणात् तत्र लाघवादेवकारः । **विधत्त इति** । वक्ष्यमाणरीत्या विधत्ते । **प्रमाणान्तरेणेति** । वेदान्तातिरिक्तप्रमाणेन । **नैकान्ततः** । न मुख्यतः । **एव फलमिति** । ज्ञानस्य सिद्धत्वेपि विस्पष्टांशे साध्यत्वेन साध्यवेदार्थसत्त्वादित्यर्थः । एवकारः साध्यकर्मान्तरं व्यवच्छिनत्ति । **एतद्विषय इति** । कर्मणः साध्यत्वेनादृढत्वेप्यात्मनः सिद्धस्यास्तितया कर्मविषयः प्रबोधो दृढत्वं प्रयातीत्यर्थः । **अन्यत इति** । 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'इत्यादिभ्यः । **अधिकार इति** । विधेयत्वज्ञानवत्त्वात् । **वक्ष्यमाणेति** । स्वकर्मरूपार्थस्य । 'कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः । अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गति'रिति वाक्यात् । **महेति** ।

भाष्यप्रकाशः ।

वक्ष्यमाणार्थस्यातिगहनत्वान्महोपयोगित्वाच्चालस्यं निवार्य श्रद्धाविशेषेण कृत्वा वक्ष्यमाणार्थप्रतिपत्तिमात्रार्थम् । तस्मादेतज्ज्ञानं दृष्टोपयोगित्वात् क्रत्वर्थम् । यानि पुनरितिकर्तव्यताविशेषे उपासनात्मकानि ज्ञानानि विधीयन्ते, तेषां क्रतौ दृष्टोपयोगाभावाददृष्टफलत्वम् । अदृष्टं च फलं वाक्यशेषात् द्विविधम्, अभ्युदयरूपं निःश्रेयरूपं च । 'सर्वांश्च कामानाप्नोति' 'सोऽश्नुते सर्वान् कामा'नित्याद्युक्तमभ्युदयफलम् । 'न स पुनरावर्तत' इत्याद्युक्तं निःश्रेयसफलमिति विवेकः ।

यत्तु 'विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति, न प्रेत्य संज्ञास्ती'ति ब्राह्मणेन भूतचैतन्यमुक्तमित्याशङ्क्यते । तन्न । स्वयमेव ब्राह्मणेन अत्रैव 'मा भगवानमूमुहं न प्रेत्य संज्ञास्ती'त्यनेन पूर्वोक्ताजरामृतत्वस्य विनाशित्वाभिधानतो बाधात् पूर्वपक्षं चोद्याख्यमुत्थाप्य, 'न वा अरे मोहमहं ब्रवीम्यविनाशी वा अरेऽयमात्मानुच्छित्तिधर्मे'त्युक्त्वा, 'मात्रासंसर्गस्त्वस्य भवती'ति कथनेन मात्राशब्दवाच्यानां भूतेन्द्रियधर्माधर्माणां विकाराणां सम्बन्धबोधनात् विज्ञानघनशब्दोक्तो ज्ञानशक्तिस्वभाव आत्मा एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय व्यक्तो भूत्वा तान्येवानुविनश्यति । भूतविनाशाद्विनष्ट इव भवति । भूतसंस्थो ह्यसौ स्वयं प्रत्यक्षेण गृह्यते । परैश्च शरीरचेष्टादिलिङ्गकानुमानेन । मुक्तस्तु प्रमाणपथातिवर्तनाद्विनष्ट इव भवतीति प्रकारेण मात्राणामेव नाश उच्यते, नात्मन इत्यविरोधात् । तदुक्तं 'अविनाशी स्वरूपेण पुरुषो याति नाशिताम् । मात्राणां सविकाराणां भूतादीनामसंज्ञिते'ति । अत्र हि मुक्तस्य ज्ञानाभावो बोध्यते । भूतेन्द्रियादिवियोगे करणाभावेन ज्ञानोपायाभावात् । 'तत्केन कं पश्ये'दित्यारभ्य 'विज्ञातारमरे केन विजानीया'दित्यन्तेन विज्ञानाभावोपपादनात् । वस्तुतस्तु प्रकरणार्थोपसंहारोऽयम् । यत एवं पूर्वोक्तन्यायेन भूतचैतन्यं न सम्भवति, तस्मात् भूतेन्द्रियाणामसंज्ञित्वम् । अचैतन्यम् । अन्यस्तु तेभ्यो नित्यश्चेतनस्तस्य स्वर्गगमनसम्भवाच्च स्वर्गं लोकं यातीत्यस्य प्रत्यक्षस्य विरोध इत्येवं भट्टकारिकाया अर्थादिति **पार्थसारथिमिश्राः** । तथाच यथा प्रोक्षणसंस्कृता एव

रश्मिः ।

साध्यार्थकर्मोपयोगित्वात् । **वक्ष्यमाणेति** । मैत्रेयीब्राह्मणे वक्ष्यमाणोऽर्थ आत्मरूपः तस्य प्रतिपत्तिर्ज्ञानं तन्मात्रार्थम् । यद्वा । कर्मरूपार्थप्रतिमात्रार्थम् । मात्रचा स्वर्गादिफलोपयोगव्यवच्छेदः । **दृष्टेति** । दृष्टस्य कर्मण उपयोगित्वात् । क्रत्वर्थं ज्ञानस्य बह्वायाससाध्यत्वेन पुरुषप्रीत्यजननात् क्रत्वर्थत्वम् । यैरङ्गैः पुरुषप्रीतिर्न जन्यते, तानि क्रत्वर्थानि । नन्वितिकर्तव्यता कर्मणि प्रसिद्धा, 'आत्मेत्येवोपासीते'त्याद्युपासनाविधीनां किं प्रयोजनमत आहुः **इतिकर्तव्यताविशेष** इति । आत्मनोपासना कार्येत्येवं कर्माङ्गात्मोपासनाज्ञानं सम्पाद्य कर्म भावयेदित्येवमुपासनाविधिविषयाः क्रियन्ते । **अदृष्टेति** । धर्मफलत्वम् । **भूतचैतन्यमिति** । नत्वात्मचैतन्यम् । **अत्रेति** । अत्र 'न प्रेत्य संज्ञास्ती'त्यत्र । भगवन् याज्ञवल्क्य माहं मूमुहम्, किन्तु मूमुहम् । **चोद्याख्यमिति** । वक्तृप्रेरणार्हाख्यम् । **अरे** इति । मैत्रेयि । अहं याज्ञवल्क्यः । **शरीरेति** । भूतादिः आत्मवान् प्रेक्षायाः देवदत्तवत् । आदिना ज्ञानवत्त्वादिच्छावत्त्वाच्च । देवदत्तवदेव । **मात्राणामिति** । भूतेन्द्रियधर्माणाम् । एवकारेणात्मव्यवच्छेदः । तदाहुः **नात्मन** इति । मिश्रव्याख्यानमाहुः **अत्र हीति** । कारिकायाम् । तेन नाशितं ज्ञानाभावम् । मुक्तमात्रविषयत्वापत्त्या वस्तुतः पक्षमाहुः **वस्तुत** इति । **प्रकरणेति** । आत्मप्रकरणम् । **पूर्वोक्तेति** । 'विज्ञानघनशब्दोक्त' इत्याद्युक्तव्याख्यानरीत्या । **अर्थादिति** । अयं हेतुः मात्राणामेव नाशः, नात्मन इत्यत्र । **प्रोक्षणेति** । 'व्रीहीन् प्रोक्षती'ति श्रुतिः । 'लौकिकं नैव

भाष्यप्रकाशः ।

व्रीहयो याग उपयुज्यन्ते, एवमौपनिषद्ज्ञानसंस्कृत एव कर्ता उपयुज्यत इति तत्स्वरूपनिरूपकत्वेन वेदशेषा वेदान्ता इत्याहुः । तत्र भाष्योक्तं दूषणं पश्चात् व्युत्पाद्यम् । पूर्वं तु तदुक्तेऽस्यात्मवाक्यतात्पर्यत्वासङ्गतिः प्रकाश्यते । शरीरादिव्यतिरिक्तात्मसत्तामात्रसाधनायाविनाशीत्यादिश्रुतिरिति यदुक्तम् । तन्मदम् । शाबरभाष्ये नैयायिकाद्युक्तयुक्तिभिरेव तत्सिद्ध्या तत एव नास्तिक्यनिराकरणसिद्धौ 'अविनाशी वा अर' इत्यादिश्रुतिसन्दर्भस्य तदर्थताया वक्तुमयुक्तत्वात् । एतदुपक्रमे 'येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्या'मिति मोक्षार्थत्वस्य श्रावणाभिरुपधिप्रियत्वबोधनस्याप्यन्यत्र वैराग्योत्पादनार्थत्वेन संसारिलिङ्गत्वाभावात् । 'ब्रह्म तं परादाद्योन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेदे'त्यादिनिन्दाश्रुत्या आत्मज्ञानेन सर्वज्ञानश्रावणस्यापि स्तुत्यर्थताया वक्तुमशक्यत्वात् । अध्ययनवाक्ये तु न विधिः, किन्त्वावश्यकार्थे तव्य इति जिज्ञासासूत्र एवोपपादितम् । अर्थज्ञानं तु सामान्यतो गुरुकृतात् ज्ञापनात् । विशेषस्तु तपआदिभ्यः साधनेभ्यो मीमांसाद्वयसहकृतेभ्य इत्यपि । अर्थज्ञानं च न द्रव्ययज्ञमात्रानुष्ठानोपयोगि । चातुराश्रम्यधर्मार्थत्वात् । अन्यथा तद्वाक्यवैयर्थ्यापत्तेः । धर्मोपि न धर्मत्वेन रूपेण वेदार्थः, किन्तु ब्रह्मात्मकत्वेन । 'यज्ञो वै विष्णु'रिति 'धर्मो यस्यां मदात्मक' इति श्रुतिस्मृतिभ्याम्, 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ती'ति 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य' इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यश्च । एवं च विधिपक्षेपि 'आत्मा वारे द्रष्टव्य' इति दर्शनविधानं ब्राह्मणोपक्रममारभ्यान्तं प्रोक्तस्यार्थस्यातिगहनत्वात् तदर्थम्, न तु क्रत्वर्थम् । 'सोऽश्नुते सर्वा'नित्यस्य यदभ्युदयरूपत्वमुक्तम् ।

रश्मिः ।

मनुत' इति वाक्यात् । अनधिगतार्थगन्तृत्वरूपप्रमाणाच्च । लोकेऽधिगतार्थगन्तृत्वम् । **उपयुज्यत इति** । कर्मण्युपयुज्यते । **तत्स्वरूपेति** । कर्तृस्वरूपनिरूपकत्वेन । **भाष्योक्तमिति** । **यदहरेवे**त्यादिभाष्योक्तम् । **अस्येति** । मैत्रेयीब्राह्मणस्य । 'भाष्यकृदत्र युक्त्ये'त्यस्यार्थमाहुः **शाबरेति** । **नैयायिकादी**त्यादिना वैदिकः । **उक्तयुक्तिभिरिति** । नैयायिकयुक्तयः शरीरचेष्टाज्ञानेच्छाभिरनुमानानि । तत्र व्याप्तिशोधिकाः । वैदिकयुक्तयो 'न्यग्रोधफलमत आहरे'त्यादयः । अत एवकारोऽ'विनाशी वा अरे' इत्यादिश्रुतिसन्दर्भव्यवच्छेदकः । **मोक्षार्थत्वस्येति** । सन्दर्भस्य मोक्षार्थत्वं तस्य । **निरुपधीति** । भगवत इति बोध्यम् । **अन्यत्रेति** । जीवादौ । लिङ्गं हेतुः । किन्तु वाक्यान्वयाधिकरणोक्तात्मलिङ्गत्वात् । **स्तुत्यर्थताया** इति । किन्तु वास्तवार्थपरताया वक्तुमुचितत्वात् । **एवेति** । पत्रावलम्बनादेवकारः । **ज्ञापनादिति** । 'साङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चे'त्यत्रार्थज्ञापनात् । 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्वे'त्यत्राहुः । 'अलौकिको हि वेदार्थ' इति श्रुत्याहुः **तपआदिभ्य** इति । 'वेदयुक्त्या तु प्रसादात् परमात्मन' इति श्रुत्यंशोक्तवेदयुक्तिपरमात्मप्रसादावादिपदेन गृह्येते । **इत्यपीति** । जिज्ञासासूत्र एवोपपादितमित्यर्थः । 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत, तमध्यापयीते'त्यत्राहुः **अर्थज्ञानं चेति** । **द्रव्येति** । इदं गृहस्थमात्राधिकारकम् । **तद्वाक्येति** । द्रव्ययज्ञातिरिक्तज्ञानयज्ञादिबोधकगीतावाक्यवैयर्थ्यापत्तेः । मीमांसकं प्रत्यन्यदप्याहुः **धर्मोपीति** । भावकर्मविध्यनुवादप्राप्तकालाद्यर्थेषु तव्यविधायकसूत्रेण विधिपक्षो मास्तु, नियमविधिपक्षस्तु स्यादित्यत आहुः **एवं चेति** । **आन्तमिति** । आ अन्तं अन्तमभिव्याप्य । **अतीति** । 'आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धे'ति काठकात् । इदं दूषणं वितण्डया तस्या उक्त्यभिप्रायः जिज्ञासाधिकरणभाष्ये परस्परमङ्गाङ्गिभावस्य ज्ञानकर्मणोरुक्तेरेकतरस्यादूष्यत्वविषयः । **न त्विति** । वेदान्तत्वेन 'तमेत'मितिश्रुतिप्रसक्तेः, न तु 'यदेव

कर्मशेषत्वमित्युत्सूत्रमाशङ्क्य निषेधति नेति। 'यदहरेव विरजे'दिति श्रुतेः 'तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावते'ति भगवद्वाक्याच्च त्यागे वैराग्यस्यैव प्रयोजकत्वादाश्रमविशेषे विशेषाभावादप्रयोजकत्वादित्यर्थः। यत्रापि कंचित्क्रम-

भाष्यप्रकाशः।

तदप्यबुद्ध्वा। परप्राप्तिविवरणरूपत्वेन तस्य निःश्रेयसरूपत्वात्। इदं च प्रागुपपादितम्। यदपि 'न प्रेत्य संज्ञास्ती'त्यनेन मोक्षदशायामात्मनः करणाभावाज्ज्ञानशून्यत्वमुच्यत इत्युक्तम्। तदपि तथा। 'अनुच्छित्तिधर्मे'त्यनेन तत्रैव धर्मानुच्छित्तिं श्रावयित्वा 'यद्वैतन्न पश्यति पश्यन् वै तत् द्रष्टव्यं न पश्यती'त्यादिना करणाभावेपि स्वत एव दर्शनस्य विभक्ताभावेनान्यादर्शनस्य चोक्त्या स्वतोऽविभक्तदर्शनस्यैव व्युत्पादनादिति। वस्तुतस्त्विदमपि ब्रह्मप्रकरणमिति वाक्यान्वयाधिकरणे व्युत्पादितमिति न तत्र जीवात्मसत्तासाधनार्थत्वगन्धोपि। तस्माच्च कर्तृशेषा वेदान्ताः।

अतः परं भाष्यं विभ्रीयते यदहरेवेत्यादि। यदुक्तं कर्तृस्वरूपनिरूपकत्वात् कर्मशेषत्वं वेदान्तानामिति। तन्न युक्तम्। कर्तुः कर्मशेषत्वाभावात्। 'यदहरेवे'त्यादिश्रुतेः 'तावत् कर्माणी'ति भगवद्वाक्याच्च त्यागे वैराग्यस्यैव प्रयोजकत्वाद्वैराग्योत्पत्तिपर्यन्तमेव कर्मकरणप्राप्तेराश्रमविशेषस्याप्रयोजकत्वाद्वेदानां पूर्वोक्तरीत्या 'कर्ममोक्षाय कर्माणि विधत्ते ह्यगदं यथे'ति स्मृत्या च कर्मत्याग एव तात्पर्याद्वेदानां वेदान्तशेषत्वाज्जीवस्वरूपनिरूपकवेदान्तभागस्यापि त्यागकर्तृनिरूपकत्वमेव मुख्यम्, कर्मकर्तृनिरूपणं तु प्रासङ्गिकम्। अत एव तद्वाक्येषु 'इति तु कामयमान' इति 'अथाकामयमान' इत्युभयविधं तत्स्वरूपं निरूप्यते। अत आश्रमविशेषमादाय वेदान्तानां कर्मशेषत्वस्थापनमयुक्तमेवेत्यर्थः। ननु त्यागस्य फलार्थत्वेपि ज्ञानाङ्गत्वात् ज्ञानस्य च वेदान्तसिद्धस्य कर्माङ्गतायाः प्रागेवोक्तत्वात् प्रव्राजेपि चातुराश्रम्यपक्षकथनेनाध्ययनोपात्तवेदान्तभागजन्यस्य ज्ञानस्य कर्मशेषत्वमनिवार्यमेवेत्याशङ्कायां तस्याः पूर्वमेवोत्तरं दत्तमित्याहुः यत्रापी-

रश्मिः।

विद्यये'ति श्रुतेः प्रसक्तेरिति भावः। ननु न निःश्रेयसरूपम्, 'सोऽश्नुत' इत्याद्युक्ताभ्युदयस्य सगुणप्राप्तिरूपत्वात्, अत आहुः **इदं चेति**। **प्रागिति**। पूर्वपादे। निर्गुण(स)गुणयोरभेदप्रतिपादन उपपादितम्। **तथेत्यबुद्ध्वा**। **मुक्तस्त्वित्यादिनोक्तं दूषयन्ति स्म यदपीति**। **तत्रैवेति**। ईश्वर एव। न उच्छित्तिर्येषां तेऽनुच्छित्तयः, अनुच्छित्तयो धर्मा यस्येत्येवं श्रावयित्वा। यत् करणदृश्यं न पश्यति, किन्तु करणाभावेपि पश्यति, अतः स्वतः एतद्दर्शनस्य। तथा तद्द्रष्टव्यं अन्यत् द्रष्टव्यम्। तदेवोच्यते **करणाभाव इति**। **एवेति**। ज्ञानशून्यत्वयोगव्यवच्छेदकः। **वाक्यान्वयेति**। प्रथमस्य तुरीयपादे। **तस्मादिति**। कर्मशेषकर्तृप्रतिपादकत्वात्। **वैराग्यस्येति**। एवकारो वेदान्तैर्जीवस्वरूपज्ञानव्यवच्छेदकः। आश्रमविशेषे संन्यासाश्रमे जीवे वेदान्तैः स्वरूपज्ञानरूपविशेषाभावादिति द्वितीयोत्र सूत्रार्थः। अन्योपि प्रयोजकत्वादाश्रमेत्यादिभाष्यार्थमाहुः **प्रकरणेति**। जीवप्रकरणप्रयोजकत्वात्। उपक्रमाभावान्न जीवप्रकरणत्वमिति भावः। **कर्मकर्त्रिति**। कर्मणि कर्ता गृहस्थाश्रमे स्थितः, तस्य निरूपणं तु। **तद्वाक्येष्विति**। शारीरब्राह्मणीयकर्तृवाक्येषु। **तत्स्वरूपमिति**। कर्तृस्वरूपम्। **आश्रमविशेषमिति**। गृहस्थाश्रमम्। एवकारस्तु 'तमेत'मिति श्रुतिविरोधात्। **ज्ञानाङ्गत्वादिति**। 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्था' इति श्रुतेस्तथा विशुद्धसत्त्वानन्तरं ज्ञानोदयनियमात्। **प्रागेवेति**। 'तद्वतो विधाना'दित्यत्र विस्मृतकण्ठमणिन्यायेन। **चातुराश्रम्येति**। क्रमेण संन्यासे। **ज्ञानस्येति**। शाब्द-

१. कुत्रचित्। २. रश्मिकाराणां प्रकाशपुस्तकस्थः 'प्रकरणप्रयोजकत्वादिति पाठः मूलप्रकाशेऽन्तिमे चाभावान्नात्र' स्वीकृतः।

प्राप्तिः, तत्रापि न तज्ज्ञानं ब्रह्मज्ञानमिति पूर्वसूत्र एवोक्तमिति भावः। एतेन वेदाध्ययनादिकमप्यप्रयोजकमिति ज्ञापितम्। अत एव शुकस्य वैराग्यातिशयादुपनयनादेरप्यनपेक्षोच्यते। एवं सूत्रद्वयेन कर्माधिकारसम्पादकत्वेन ब्रह्मज्ञानस्य तच्छेषत्वं निरस्तम्॥ १३॥

भाष्यप्रकाशः।

त्यादि। यत्रापि कस्मिंश्चित् पुरुषविशेषे क्रमेण त्यागप्राप्तिः, तत्रापि शाब्दज्ञानस्य मुक्तिसाधकत्वाभावाच्च विवक्षितब्रह्मज्ञानत्वमिति पूर्वस्मिन् 'अध्ययनमात्रवत' इति सूत्र एव व्युत्पादितम्, अतो न ब्रह्मज्ञाने कर्मशेषत्वगन्धोपीत्यर्थः। ननु तथापि 'ब्राह्मणेन निष्कारणः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चे'त्यादिश्रुतिभिर्वेदाध्ययनादिकं त्वावश्यकम्, तदपि कर्मैवेति तदङ्गत्वं स्वात्मज्ञानस्य भविष्यत्येवेति कथं न कर्माङ्गत्वमित्यत आहुः एतेनेत्यादि। अप्रयोजकमिति। ज्ञानस्य कर्माङ्गत्वाप्रयोजकम्। अत्र निदर्शनमाहुः अत एवेत्यादि। सिद्धमाहुः एवमित्यादि। एवमधिकोपदेशसूत्रेण स्वोक्तमुपष्टभ्य शेषैः पञ्चभिः सूत्रैर्जैमिन्युक्ता हेतव आभासीकृताः।

अन्ये तु 'कुर्वन्नेव ही'त्यत्र 'न विदुष' इति विशेषेण नियमविधानमित्येवं सूत्रार्थमाहुः। तथाचाविद्वद्विषयत्वेपि वाक्यसामञ्जस्यान्न तेन विद्यायाः कर्माङ्गत्वसिद्धिरिति तदाशयः।

रामानुजास्तु, उक्तवाक्ये कर्मणां करणनियमेपि कर्मसु विशेषो नोच्यते। यज्ञाद्येव कार्यम्, नान्यदिति। अतो यथा अविदुषां स्वतन्त्रफलसाधकं नियतम्, एवं विदुषां विद्याङ्गभूतम्, अत एवमपि वाक्यसामञ्जस्यान्नानेन विद्यायाः कर्माङ्गत्वप्राप्तिरित्याहुः। तदप्यविरुद्धम्॥ १३॥

रश्मिः।

ज्ञानस्य। **कर्मशेषत्वमिति**। 'यं यं क्रतुमधीते, तेनास्येष्टं भवती'ति श्रुत्युक्तकर्मशेषत्वम्। **पूर्वमिति**। 'अध्ययनमात्रवत' इत्यत्र। **क्रमेणेति**। 'आश्रमादाश्रमं गच्छेन्नान्यथा मत्परश्चरे'दिति वाक्याद्ब्रह्मचर्याद्गृहस्थाश्रमः, ततो वानप्रस्थाश्रमः, त(तः)संन्यासाश्रम इति क्रमेण। **मुक्तीति**। 'तमेव विदित्वे'त्यत्र शाब्दाविवक्षणात्। **तदङ्गत्वमिति**। 'ब्राह्मणेने'त्यत्र ब्रह्म जानाति ब्राह्मणस्तेनेत्यर्थात् कर्माङ्गत्वम्। **ज्ञानस्येति**। वेदाध्ययनादिकमिति भाष्येऽध्ययनज्ञानस्यादिपदार्थस्य। कर्माङ्गत्वे अप्रयोजकं अन्यथासिद्धं अन्यथासिद्धिस्तु पञ्चमीक्षसभादिर्यथा घटं प्रति। **भाष्ये**। **वैराग्येति**। न तु वेदान्तैर्जीवस्वरूपज्ञानात्। **उपेति**। अध्ययनतज्ज्ञानयोरधिकारसम्पादकस्य। आदिना विवाहवनवासयोः संग्रहः। **एवमित्यादीति**। **निरस्तमिति**। यत् तन्निरस्तम्। **न विदुष इति**। उभयान्वयि। 'कुर्वन्नेव ही'त्यत्र न नियमो न। विदुष इति विशेषेण नियमविधानं नेति। **विद्याया इति**। विद्वानित्यत्र विदितिशब्देनोक्तायाः। **तदाशय इति**। तदप्यविरुद्धम्, सूत्राणां न्यायरूपत्वात्। एवमग्रेपि। **करणेति**। नियम एवकारार्थः। तथाच **करणनियमेति** पाठः। करणनियमो यो वर्तते, स न, कुतः, अविशेषात्। तद्व्याकुर्वन्ति स्म **कर्मसु विशेषो नोच्यत इति**। **स्वतन्त्रेति**। स्वतन्त्रं फलं अज्ञातत्वेपि कर्मस्वभावादेव फलम्। तस्य साधकम्। नियतं दर्शनात्। विद्याङ्गभूतं कर्म १३

अथ ग्रहिलतया 'ब्रह्मिष्ठ' इत्यत्र ब्रह्मपदेन पर एवोच्यत इति वदसि, तत्रापि[1] वदामः ।

स्तुतयेऽनुमतिर्वा ॥ १४ ॥

दर्शपूर्णमासावेतादृशौ यत्र ब्रह्मविदार्त्विज्याधिकारीति तत्स्तुत्यर्थं 'ब्रह्मिष्ठो ब्रह्मे'त्यनेन ब्रह्मविदोऽप्यार्त्विज्येऽनुमितिः क्रियते, न तु तस्याधिकारत्वमभिप्रेतम् । उक्तानुपपत्तिभिरित्यर्थः ॥ १४ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

स्तुतयेऽनुमतिर्वा ॥ १४ ॥ एवं षड्भिः सूत्रैर्जैमिनीयोक्तं निराकृत्य पुनरुत्सूत्रं किञ्चिदाशङ्क्य निराकरोतीत्याशयेन सूत्रमवतारयन्ति अथेत्यादि । व्याकुर्वन्ति दर्शेत्यादि । तस्येति । ब्रह्मज्ञानस्य । तथाचोक्तवाक्ये ब्रह्मिष्ठपदमतिशयेन ब्रह्मवानित्यर्थकम् । अतिशयश्च श्रद्धया साक्षात्कारेण वेति 'यो यच्छ्रद्धः स एव सः' 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मत'मिति गीतास्मृत्यावसीयते । तादृशश्चेत् ब्रह्मा कृताकृतावेक्षकतया यागे तिष्ठति, तदा परमकाष्ठाप्रापकौ दर्शपूर्णमासौ साङ्गौ भवतः । 'यत्तत्कर्मसु वैषम्यं ब्रह्मदृष्टं समं भवे'दित्यष्टमस्कन्धे शुक्राचार्यं प्रति भगवद्वाक्यात् । अतो 'ब्रह्मिष्ठो ब्रह्मे'ति पदसमभिव्याहाररूपस्यानुग्रहबीजस्य वाक्ये विद्यमानत्वात्, शुकाद्याचारकावषेयश्रुतिविरोधत्यागनियमरूपाणामार्त्विज्यबाधकानामनुपपत्तीनां सत्त्वाच्च तस्या अनुज्ञायाः यागस्तुत्यर्थत्वमेवेत्यर्थः । सूत्रे वाशब्दोऽनादरे । तेन ब्रह्मणि श्रद्धावतः सर्वत्र ब्रह्मद्रष्टुश्च तदार्त्विज्यं प्रासङ्गिकमिति बोधितम् । स्तुतिप्रयोजनं त्वविद्वत्प्ररोचनम् । अधिकाराभावेपि त्यागकरणेऽनिष्टं स्यादिति तन्निवृत्त्यर्थमिति बोध्यम् ।

अन्ये तु, 'कुर्व'न्निति श्रुतौ प्रकरणसामर्थ्याद्विद्वानेव संबोध्यत इत्युच्यते । तदापि विद्यास्तुतये कर्मानुज्ञानं द्रष्टव्यम् । 'न कर्म लिप्यते नर' इति वाक्यशेषात् । यावज्जीवं कर्म

रश्मिः ।

स्तुतयेऽनुमतिर्वा ॥ १४ ॥ उत्सूत्रमिति । सूत्रादूर्ध्वं अधिकम् । कृताकृतेति । तथा वदन्ति कर्मण्युपाध्यायाः कृताकृतावेक्षत्वेन त्वं ब्रह्मा भवेति पूगीफलस्थापने । परमेति । यागे पञ्चमस्कन्धादौ प्रसिद्धौ । न च कुतो वैषम्यं समं भवेदिति शक्यम् । ब्रह्मानुभावात् । स्तुतिस्सद्धर्मारोप उत्कर्षाधायकगुणवर्णनरूपः । तत्र हेत्वाकाङ्क्षायामाहुः अतो ब्रह्मिष्ठ इति । पदसमिति । पदस्य ब्रह्मिष्ठपदस्य समभिव्याहारो ब्रह्मपदे वर्तते, अतः ब्रह्मपदधर्मस्य समभिव्याहारस्य विषमे समत्वानुग्राहकरूपस्यानुग्रहबीजस्य वाक्ये 'ब्रह्मिष्ठो ब्रह्मे'त्यस्मिन् विद्यमानत्वादनुज्ञाया 'ब्रह्मिष्ठो ब्रह्मा दर्शपूर्णमासयोस्तं वृणीते'त्यत्रामन्त्रणे लिङोक्तायाः स्तुत्यर्थत्वमित्यन्वयः । हेत्वन्तरमाहुः शुकादीति । शुकनारदाद्याचारः पर्यटनम्, न तु ज्ञानित्वे सम्पन्ने ऋत्विक्त्वमिति । कावषेयश्रुतिः 'तद्धतो विधाना'दिति सूत्रोक्ता कल्पश्रुतिस्तस्या विरोधस्तस्य त्यागः । नियम 'आश्विनं धूम्रललाम'मिति श्रुत्युक्ते 'नियमाच्चे'ति सूत्रीयः । एतेषां द्वन्द्वः । एतद्रूपाणामार्त्विज्यबाधकानाम् । एतद्विशेषणं पूर्वपदस्य । तेषां या अनुपपत्तयस्तासां सत्त्वाच्चेति । एषेति । 'तमेतमि'ति श्रुति(श्रुति)र्यतः । ननु वेदनेदान्तयोरङ्गाङ्गिभावो जिज्ञासाधिकरणे उक्त एवेति केनापि प्रकारेण ज्ञानस्य वेदाङ्गत्वमस्त्विति चेत्, तत्राहुः सूत्रे वाशब्द इति । ब्रह्मणीत्यादिः । ब्रह्मिष्ठपदार्थः । भक्तिपूर्वकक्षा सर्वत्रेति । भक्तिकारणं 'सर्वभूतेषु मन्मति'रिति वाक्योक्तः सर्वत्र ब्रह्मद्रष्टा तस्य । तदार्त्विज्यं ऋत्विजः कर्मार्त्विज्यम् । प्रासङ्गिकं दर्शपूर्णमासप्रसङ्गजातम् । दर्शपूर्णमासमात्रेपि 'ब्रह्मिष्ठो ब्रह्मे'त्युक्तम् । तन्निवृत्तीति । त्यागनिवृत्त्य-

---

1. अत्रापि ।

कामकारेण चैके ॥ १५ ॥

ननु 'एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न कर्मणा वर्धते नो कनीया'निति श्रुत्या ब्रह्मविदः कर्मकृतगुणदोषौ निषिध्येते, स च प्राप्तिपूर्वक इति ब्रह्मविदः कर्मकरणमावश्यकमिति प्राप्ते, उच्यते । कामकारेणेति । करणं कारः । कामेनेच्छया करणं कामकारः । तथाच परानुग्रहार्थमिच्छामात्रेण, न तु विधिवशात्, यत् करणम्, तत् कामकार इत्युच्यते । तथाचैवं कृते कर्मणि तत्कृतगुणदोषप्रसक्तौ तत्प्रतिषेधमेके शाखिन 'एष नित्य' इत्यादिना पठन्ति । न ह्येतावता कर्मकृत्यधिकारप्राप्तिरिति भावः ।

अथवा । कामेन कारो यस्य स तथा । तादृशेन कर्मणा प्राप्तवृद्धिह्रासयोः

भाष्यप्रकाशः ।

कुर्वत्यपि विदुषि विद्यासामर्थ्यात् कर्म न लेपाय भवतीति तत्रार्थादित्याहुः । तदप्यविरुद्धम् ॥ १४ ॥

कामकारेण चैके ॥ १५ ॥ नन्वनुज्ञयाप्यार्त्विज्यकरणे विध्यधीनत्वं तु निर्बाधम्, अतो भवतु कर्माङ्गत्वं विद्यायास्तद्द्वारेत्याशयेन सूत्रमवतारयन्ति नन्वित्यादि । स चेति । निषेधः । सूत्रं व्याकुर्वन्ति करणमित्यादि । इच्छामात्रेणेति । स्वेच्छामात्रेण । एतस्यैव विवरणं न तु विधिवशादिति । (तेन 'शौचमाचमनं स्नानं न तु चोदनया चरेत् । अन्यांश्च नियमान् ज्ञानी यथाहं लीलयेश्वर' इत्येकादशीयभगवद्वाक्यानुरूपया स्वेच्छयेति फलितं बोध्यम् ।) एतावतेति । गुणदोषनिषेधमात्रेण ।

एवं व्याख्याने स्वकृत्या दोषाद्यप्रसक्तिरायाति, न तु तदभिव्यञ्जककर्मकृतगुणदोषाप्रसक्तिरपीत्यतः प्रकारान्तरमाहुः अथवेत्यादि । स इति । ब्रह्मवित् । तथाच श्रुता'वेष' इत्यनेन

रश्मिः ।

र्थम् । कर्मप्रवृत्त्यर्थम् । प्रकरणेति । वाक्यशेषादिति । 'सन्दिग्धेषु वाक्यशेषा'दिति जैमिनिसूत्रम् । ज्ञानिकृतकर्म लेपाय भवति न वेति सन्देहोत्र । अविरुद्धमिति । सूत्राणां न्यायरूपत्वादित्युक्तम् ॥ १४ ॥

कामकारेण चैके ॥१५॥ अनुज्ञयेति । 'तं वृणीते'त्यामन्त्रणेन । तद्द्वारेति । अनुज्ञाद्वारा । आमन्त्रणं कामचारानुज्ञेति वैयाकरणप्रसिद्धेः । काम इच्छेत्यपि । कमु कान्तौ कान्तिरिच्छेति । तिङन्ते । 'न तु विधिवशा'दिति भाष्यप्रविष्टनिषेधप्रतियोगिविधिवशविशेषणविधिप्रतिपादक एव प्रकाशः न तु विधिवशादिति । तथा च काठकीयां 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्, अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वदे'ति प्रश्ने 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ती'त्युत्तरे 'म्ना अभ्यास' इत्यस्य प्रयोगात् गीतायां 'ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विता' इत्यत्र भक्तिरूपश्रद्धोक्तेश्च 'सात्त्विकीश्रद्धाभ्यास' इत्यायाति । सा तु 'अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तो विधिदृष्टो य इज्यते । यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विक' इति वाक्या'न्मनसैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुव'मिति बृहदारण्यका'न्महतामन्तःकरणं प्रमाण'मित्युद्धवादिवदिति तथा । तदभिव्यञ्जकेति । स्वकृत्यभिव्यञ्जकापूर्वस्थानीयं स्वसिद्धान्तेन भावार्थपादभाष्यीयं नित्यं कर्म । तत्कृतगुणदोषाप्रसक्तिरित्यर्थः । ब्रह्मविदिति । महानपि प्राप्तः । यतस्तृ-

---

1. इत्यादि ।

सम्बन्धाभावं ब्रह्मविदि एके पठन्तीत्यर्थः । चकारेणेश्वराज्ञया लोकसंग्रहार्थं कृतं कर्म समुच्चीयते । 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशान' इति श्रुतेस्तथा ॥ १५ ॥

उपमर्दं च ॥ १६ ॥

अनेन कर्माधिकाराभावे हेत्वन्तरमुच्यते । द्वैतभाने हि यथाकथञ्चित् कर्मकृतिसम्भावनापि । यस्य त्वखण्डब्रह्माद्वैतभानं 'ब्रह्मे'त्येव, न 'त्विदं ब्रह्मे'ति सखण्डम् । अत्रोद्देश्यत्वेन प्रपञ्चस्यापि भानात् सखण्डत्वम् । तथाचाखण्डतज्ज्ञाने कर्मतदधिकारादेरुपमर्दं चैके शाखिनः पठन्तीति न ब्रह्मज्ञानस्य कर्मशेषत्वस-

भाष्यप्रकाशः ।

कृताकृतजन्यतापाभावरूपं पूर्वोक्तमहिमानं परामृश्य तस्य नित्यत्वोक्तिस्तस्यैकरसत्वोक्तिश्च कामकारलिङ्गम् । तेन तादृशपुरुषस्यापि चेत्कर्मशेषत्वनिवृत्तिः, तदा विद्यायाः कर्मशेषत्वं शङ्कितुमप्यशक्यमित्यर्थः । ईश्वरेच्छायां गमकमाहुः सर्वस्येत्यादि । तथाच सर्ववशकरणार्थं कर्मणामावश्यकत्वात् भगवतः सर्वेशनशीलत्वेन ज्ञानिनामपि भगवदीशितव्यतया तानाज्ञापयति लोकसंग्रहार्थमित्ययमर्थोऽनया श्रुत्यैव ज्ञायत इत्यर्थः । (यद्यपि पूर्वपादे 'तन्निर्धारणानियम'सूत्रेऽयमर्थस्तत्फलार्थमुक्तः, तथाप्यत्र स एव वादिनिराकरणार्थमुच्यत इति न पुनरुक्तिदोषः ।) एवं ब्रह्मविदः कामकारबोधनादार्त्विज्यमपि तस्य न विधिनियतमिति च समर्थितम् ।

अन्ये तु, कामकार इच्छेति व्याख्याय, 'तद्ध स वै तत्पूर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते, किं प्रजया करिष्यामो येषां नो एवायमात्मा नायं लोक' इति वाजसनेयिश्रुतौ कर्मत्याग इच्छयैव बोध्यत इति प्रत्यक्षीकृतविद्याफलानां तदवष्टम्भेन प्रजादिषु कामाभावकथनात् । अतो विद्याफलस्य प्रत्यक्षतया तत्फलश्रुतेरयथार्थताया वक्तुमशक्यत्वाच्च विद्यायाः कर्मशेषत्वमाश्रयितुं शक्यमित्येवं व्याकुर्वन्ति । तत्र कामपदस्येच्छावाचकत्वेपि कामकारपदस्य तद्वाचकत्वं चिन्त्यम् ॥ १५ ॥

उपमर्दं च ॥ १६ ॥ उक्तोपष्टम्भाय सूत्रान्तरं पठतीत्याशयेन सूत्रमवतारयन्ति अनेनेत्यादि । व्याकुर्वन्ति द्वैतेत्यादि । अनेनापि पूर्वोक्तं समर्थितं ज्ञेयम् । शाङ्करग्रन्थेऽप्येवम् ।

रश्मिः ।

तीयस्कन्धे 'नोद्धवोण्वपि मन्न्यूनो यद्गुणैर्नार्दितः प्रभु'रिति । तदन्तःकरणं प्रमाणम् । 'बालक्रीडनकैः कृष्णक्रीडां य आदद' इति । ननु बालक्रीडा शास्त्राज्ञानवत इति कुतोन्तःकरणं प्रमाणमिति चेत् । न । सकलशास्त्रसंवादात् । इदं यथा तथोपपादितं भक्तिरत्नटीकायां मदीयायाम् । तदुक्तं 'अफलाकाङ्क्षिभि'रिति वाक्येन गीतायाम् । 'भक्त्याहमेकया ग्राह्य' इति समर्थितं ज्ञेयम् । तस्येति । महिम्नः । तस्येति । ब्रह्मविदः । कामकारेति । कामकारपदसामर्थ्यम् । विद्याया इति । पुरुषरूपकर्तृप्रतिपादिकायाः । ईश्वरेति । ब्रह्मवित्कामकारमूलभूतायाम् । तानाज्ञापयतीति । 'ब्रह्मज्ञो ब्रह्मे'ति श्रुत्या तथा । अनयेति । उक्तया कावषेयश्रुत्या 'ब्रह्मिष्ठो ब्रह्मे'त्यादिरूपया । न विधीति । किन्तु कामकारेण । प्रत्यक्षीति । 'अयमात्मे'ति प्रत्यक्षगेदमः प्रयोगात् । तदवष्टम्भेन फलावष्टम्भेन । विद्याफलस्येत्यात्मनः । फलश्रुतेरिति । 'अयमात्मे'ति फलश्रुतेः । तद्वाचकत्वं इच्छावाचकत्वम् ॥ १५ ॥

उपमर्दं च ॥ १६ ॥ उक्तोपेति । अखण्डब्रह्मविदः कर्मकृतगुणदोषनिषेधोपष्टम्भाय ।

म्भावनापीत्यर्थः । श्रुतिस्तु 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्ये'दित्यादिरूपा ॥ १६ ॥

ऊर्ध्वरेतस्सु च शब्दे हि ॥ १७ ॥

अत्रेदं विचार्यते । ब्रह्मचर्यानन्तरं गार्हस्थ्यमपि श्रुत्या बोध्यते, 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजे'दित्यादिश्रुतिभिर्ब्रह्मचारिण एव प्रव्रजनमपि बोध्यते, एवं सत्यविरोधाय 'यदहरेवे'ति श्रुतेश्च रागितद्रहितभेदेन विषयभेदो वाच्यः । तत्र ब्रह्मचर्याविशेषेऽपि भगवदनुग्रहविशेषजचित्तशुद्धिविशेषजवेदान्तार्थपरिज्ञानमेव

भाष्यप्रकाशः ।

रामानुजास्तु 'भिद्यते हृदयग्रन्थि'रिति श्रुतिमुपन्यस्यात्र विद्यया कर्मक्षयकथनाद्विद्यया तदुपमर्द इति न तस्याः कर्माङ्गत्वमित्याहुः ॥ १६ ॥

ऊर्ध्वरेतस्सु च शब्दे हि ॥ १७ ॥ ननु पूर्वसूत्रैर्विद्यायाः कर्मशेषत्वं बहुधा निराकृतम्, फले स्वातन्त्र्यं च स्थापितमिति किमनेन सूत्रेणेत्याशङ्कायां तत्प्रयोजनं वदन्तः पूर्वं त्रिभिः सूत्रैर्ग्रहिलवाद एकस्मिन्निराकृतेपि श्रुतौ ब्रह्मचर्यगार्हस्थ्यावेवाभिप्रेतौ, चातुराश्रम्यपक्षस्तु स्मार्तत्वान्निर्बल इति तमादाय कर्मत्यागादरो न युक्त इति ग्रहिलवादान्तरं निराकरोतीत्याशयेन सूत्रं व्याकुर्वन्ति अत्रेत्यादि ।

अयमर्थः । जाबालश्रुतौ हि 'संन्यासमनुब्रूही'ति जनकप्रश्ने याज्ञवल्क्यो 'ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत् गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजे'दिति क्रमेण चातुराश्रम्यपक्षं पूर्वमुक्तवान् । तत्रायुर्भागक्रमेण तथाकरणे आयुस्तुरीयभागे आन्ध्यादिकमपि क्वचित् सम्भवतीति तदा कर्मानधिकारे संन्यास इति शङ्का स्यादिति तदभावाय पक्षान्तरमाह 'यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् गृहाद्वा वनाद्वाथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वास्नातको वोत्सन्नाग्निरनग्निको वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव

भाष्यप्रकाशः ।

पूर्वोक्तमिति । ब्रह्मविदः कर्मकृतगुणदोषनिषेधनम् । विद्ययेति । 'दृष्टे परावर' इति विद्या तया । तदुपमर्दः कर्मोपमर्दः । 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावर' इति श्रुतिः । कर्माणीति कर्म । तस्या इति । विद्यायाः । 'अप्रतिषिद्धमनुमतं भवती'ति बहुधेति वक्ष्यमाणोपयोगि भवतीति ज्ञापितम् ॥ १६ ॥

ऊर्ध्वरेतस्सु च शब्दे हि ॥ १७ ॥ बहुधेति । अन्यमतान्यपि दूषितानि संगृहीतानि । फल इति । पुरुषोत्तमज्ञाने स्वातन्त्र्यं कर्माशेषत्वेन तथा । ग्रहिलवाद इति । सप्तम्यन्तम् । श्रुताविति । 'यदहरेव विरजेत्, तदहरेव प्रव्रजे'दिति श्रुतौ । एवेति । ग्रहिलवादात् । स्मार्तत्वादिति । सप्तदशाष्टादशाध्याययोरेकादशे चत्वार आश्रमाः । अतः स्मार्तत्वात् । तमिति । चातुराश्रम्यपक्षम् । ('यदि वेतरथे'त्यस्य प्रपञ्चः 'ब्रह्मचर्यादेवे'त्यादिः । स्नातक इति । 'वेदमधीत्य स्नाया'दिति वाक्यादधीतवेदः स्नातः । स्वार्थे कन् । उत्सन्न उच्छिन्नोऽग्निर्यस्य) श्रुत्या बोध्यत इति भाष्यीयश्रुतिं बोधयितुं प्रक्रम्यते ग्रन्थकृद्भिः । अयमर्थ इति । आयुस्तुरीयभाग इति । सप्तम्यन्तं पदम् । क्वचिदिति । पुरुषे । पक्षान्तरमिति । आश्रमद्वयपक्षम् । 'यदि वे'त्यादिनाह श्रुतिः । 'यदि वे'त्यादि । यदि वेति पक्षान्तरे । इतरथेति । भाष्यीयपक्षेण इतरथेत्यस्य प्रपञ्चः । एवकारः क्रमयोगव्यवच्छेदकः । गृहाद्वेति । ब्रह्मचर्यादित्यन्वेति । ब्रह्मचर्याद्गृहीत्यतो गृहाद्वा प्रव्रजेत् । वाकारोऽनादरे । तथा वनाद्वेत्यत्रापि ।

हेतुर्वाच्यः। 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः सन्न्यासयोगात् यतयः शुद्धसत्त्वा' इति श्रुतिरिममेवार्थमाह। तथाचैतादृशा एवोर्ध्वरेतस इत्युच्यन्ते। एवं सत्यूर्ध्वरेतस्सु कर्माभाव उक्तरीत्या त्वयाप्यूरीकार्यं इति ज्ञानरहितानां कर्मण्यधिकारः, तद्वतां सन्न्यास इति त्वदुक्ताद्विपरीतोऽर्थः सिध्यतीति क कर्मशेषत्वसम्भावना ज्ञाने।

ननु सन्न्यासेऽपि तदाश्रमीणं कर्मास्तीति वैराग्यसहकृतं ज्ञानमेतच्छेषभूतम्, तदसहकृतं तदग्निहोत्रादिशेषभूतमिति न वैपरीत्यमिति प्राप्ते, आह

भाष्यप्रकाशः।

प्रव्रजे'दिति। तेन कर्मानधिकारो न सन्न्यासप्रयोजकः, किन्तु वैराग्यमेव तत्प्रयोजकम्। तथा सति यावज्जीवाग्निहोत्रादिश्रुतीनामपि रागाधिकारकत्वान्न विरोध इति सिध्यति। तथापि ब्रह्मचर्यस्य तद्धर्मस्य च सर्वसाधारणत्वेपि कथं कस्यचिदेव विरागः, न सर्वस्येत्यपेक्षायां भगवदनुग्रहजनितचित्तशुद्धिरेव हेतुत्वेन वाच्या। भगवदनुग्रहे च व्यापारत्वेन वेदान्तार्थविज्ञानं तत्सहकारी सन्न्यासश्च वाच्य इति 'वेदान्तविज्ञाने'ति तैत्तिरीयश्रुत्यावसीयते। तथाचैवं भगवदनुगृहीता ऊर्ध्वरेतस इत्युच्यन्ते। तेषु च कर्माभाव उक्तरीत्या हेतुभेदकृतविषयभेदेन सन्न्यासयोगात्त्वयापि श्रौतवादिनाङ्गीकार्यः। अन्यथा श्रुतीनां सामञ्जस्यासम्भवात्। एवं सति 'परिव्राड् विवर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रहः शुद्धिरद्रोही भैक्षाण' इत्यादिरूपं तदग्रिमवाक्यमपि सङ्गतं भवेत्। तस्मान्न ज्ञानस्य कर्मशेषत्वं शक्यवचनमपि।

सूत्रशेषमवतारयन्ति नन्वित्यादि। तदाश्रमीणमिति। शौचाचमनस्नानाष्टग्रासभक्षण-

रश्मिः।

अन्यथोक्तक्रमपक्षेण पुनरुक्तिः स्यादिति। **अथेत्यादि** स्पष्टम्। **स्नातक** इति। 'वेदमधीत्य स्नाया'दिति वाक्यादधीतवेदः स्नातः। स्वार्थे कन्। उत्सन्न उच्छिन्नोऽग्निर्यस्य स उत्सन्नाग्निः। **एवं सती**त्यादि भाष्यतात्पर्यवर्णनम्। **तेने**ति। प्रव्रजने ब्रह्मचर्याद्यनेकानन्तर्यश्रावणात् कारणतावच्छेदकगौरवेण तृणारणिमणिन्यायत्यागाल्लाघवेनैकप्रयोजनान्वेषणेन। **वैराग्यमेवे**ति। 'यदहरेव विरजेत्, तदहरेव प्रव्रजे'दिति श्रुत्युक्तं वैराग्यम्। एव कर्मानधिकारव्यवच्छेदकः। कर्मानधिकार आरुण्युपनिषदि। 'आरुणिः प्रजापतेर्लोकं जगाम, तं[2] गत्वोवाच, भगवन्, केन कर्माण्यशेषतो विसृजानीति। तं होवाच प्रजापतिस्तव पुत्रान् भ्रातॄन् बन्ध्वादीन् शिखां यज्ञोपवीतं यागं सूत्रं चे'त्याद्युक्त्वा, 'विसृजे'दित्युक्तत्वात्। **एवं सती**तिभाष्यतात्पर्यं **तथा सती**त्यादि। **तत्रे**त्यादिभाष्यविवरणं **तथापी**त्यादि। विषयभेदेपि। भाष्यीयतत्रेतिपदस्याप्ययमर्थः। **तद्धर्मस्ये**ति। एकयज्ञोपवीतभोजनमौनादर्शादर्शनानि ब्रह्मचर्यधर्माः। एकत्वमविवक्षितम्। **व्यापारत्वेने**ति। भगवदनुग्रहेण वेदान्तार्थविज्ञानतत्सहकारिसन्न्यासाभ्यां चित्तशुद्धिरित्यत्र व्यापारत्वेन। **तथा चे**ति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **तथा चे**ति। एवमिति 'वेदान्तविज्ञाने'ति श्रुत्युक्तप्रकारेण। अन्ये तूर्ध्वमूत्रिण इति वक्तव्याः, अप्राप्तयोषितो वा वाच्या इति भावः। नपुंसका एते। एवं सतीति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **तेषु चे**ति। ऊर्ध्वरेतस्सु च। **हेतुभेदे**ति। रागितद्रहितौ भावप्रधानो निर्देशः। रागितद्रहितत्वे **हेतू** तयोर्भेदेन कृतो यो गृहस्थतुरीयाश्रमीणरूपविषयौ तयोर्भेदः तेन। **श्रौते**ति। पूर्वमीमांसकेन। **तदग्रिमे**ति। उक्तजाबालाग्रिमवाक्यम्। **सङ्गत**मिति। हेतुभेदभिन्नसन्न्यासानां बहुविधत्वात्

१. इति नास्ति, तच्यत इत्यपि पाठः। २. प्रजापतिम्।

शब्दे हीति। ज्ञानस्वरूपं तत्फलं च न युक्तिसिद्धम्, किन्तु वन्मात्रसिद्धम्। तत्र तु 'तमेवं विद्वानमृत इह भवति' 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' 'य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ती'त्यादिवाक्यैर्ब्रह्मज्ञानस्य मोक्ष एव फलं श्रूयते। सर्वसाधनानां साक्षात्परम्पराभेदेन तत्रैव पर्यवसानात्। अतो धर्मिग्राहकमानविरोधात्संन्यासाश्रमीणकर्मशेषत्वमपि न वक्तुं शक्यमित्यर्थः। नन्वेवं संन्यासवैयर्थ्यमिति चेत्। न। ब्रह्मविदतिरिक्तसङ्गस्य भगवद्विस्मारकत्वेनावश्यत्याज्यत्वेन श्रुत्या कथनात्, अत एव 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्था' इत्युक्त्वा, 'संन्यासयोगात् यतयः शुद्धसत्त्वा' इत्युक्तम्। अत्र पश्चम्यान्तःकरणे संस्कारविशेषाधायकत्वं च प्रतीयते संन्यासस्य। स च संस्कारः फलोपकार्यङ्गमित्यावश्यकः संन्यासो मर्यादा-

भाष्यप्रकाशः।

योगाभ्यासादि। व्याकुर्वन्ति **ज्ञानस्वरूपमित्यादि। धर्मिग्राहकमानविरोधादिति।** धर्मि कर्मशेषत्वेन मुख्यत्वेन च सन्दिह्यमानं ज्ञानम्। तद्ग्राहकं मानं तत्स्वरूपज्ञापिका श्रुतिः। सा तु ज्ञानस्य मोक्षपूर्वकालीनत्वं प्राप्तृविशेषणतां च कर्मनैरपेक्ष्येण वदन्ती मोक्षरूपं फलं प्रति साक्षादेव कारणतां बोधयतीति कर्मशेषत्वाङ्गीकारे तद्विरोधात्। तथाच ज्ञानस्य संन्यासाश्रमीणकर्मशेषत्वनिवारणाय मर्यादामार्गे संन्यासस्यावश्यकत्वबोधनाय चेदं सूत्रमित्यर्थः। अत्रैव किञ्चिदाशङ्क्य परिहरन्ति नन्वेवमित्यादि। एवमिति। ज्ञानस्य केवलस्य कारणत्वे। तथाच मर्यादामार्गे प्रतिबन्धनिवृत्तेरावश्यकतया श्रुतौ सन्न्यासस्य सत्त्वशोधकत्वकथनेन ज्ञानस्वरूपोपकारकत्वेपि फलानुभवप्रतिबन्धनिवारकत्वात् तत्राप्यपेक्षासत्त्वेन न वैयर्थ्यमित्यर्थः। क्वचित् व्यभिचारदर्शनेनावश्यकत्वशङ्का स्यादिति तन्निवृत्त्यर्थमाहुः पुष्टीत्यादि। तथाच मार्गभेदान्न दोष इत्यर्थः। एवमेतैश्चतुर्भिः सूत्रैराग्रहवादनिराकरणेन विद्यायाः स्वातन्त्र्येण मोक्षसाधकत्वं दृढीकृतम्।

रश्मिः।

सङ्गतम्। भेदास्तु विवेच्याः। **ज्ञानस्वरूपमित्यादी**ति। शब्दे हीत्यस्य व्याख्यानं **तत्र त्विति। प्राप्तृविशेषणतामिति।** विद्वान् प्राप्ता प्रथमश्रुतौ, ब्रह्मवित्प्राप्ता, विदुरिति यच्छब्दार्थनिष्ठो वेदनानुकूलो व्यापार इति वेदनानुकूलव्यापारवान् यच्छब्दार्थ इति प्राप्तृविशेषणता। **वदन्तीति।** विद्वानित्यादौ ह्येकार्थीभावेपि विग्रहदशायां वदन्ती। ननु विग्रहदशा न श्रुतिघटिकेति चेत्। न। व्यपेक्षायाः संहितापदक्रमेषु सत्त्वात्। **तद्विरोधादिति।** कर्मव्यवहितत्वेन साक्षात्कारणताबोधनविरोधात्। तथा चेति संन्यासाश्रमीणेतिभाष्यमपि विवृण्वन्ति स्म **संन्यासे**त्यादि। संन्यासाश्रमीणकर्माणि शौचाचमनस्नानाष्टग्रासभक्षणयोगाभ्यासादीनि। तानीच्छाद्वारा ज्ञानकार्याणि जानातीच्छति यतत इति ज्ञानस्य कर्मशेषत्वम्। **सूत्रमिति।** एके इत्यनुवर्तते। ऊर्ध्वरेतस्सु च शब्दे श्रुतिरूपे तु एके संन्यासाश्रमीणकर्मशेषत्वं पठन्तीति सूत्रार्थः। भाष्ये आर्थिकार्थः। **प्रतिबन्धे**ति। पापं प्रतिबन्धः। **फलानुभवे**ति। प्रतिबन्धः कः, भक्त्यभावः, भक्तौ प्रतिबन्धः पापम्। मर्यादाभक्तिव्यवस्थेयम्। पुष्टिव्यवस्थात्रैवाग्रे वाच्या। **अपेक्षे**ति। संन्यासापेक्षासत्त्वेन। **भाष्ये। ब्रह्मवित्** संन्यास्यपि। **संस्कार** इति। शुद्धसत्त्वरूपः। **प्रकृते। क्वचिदिति।** संन्यासवति ज्ञानाभाववति। यथा व्रजभक्तेषु। 'संन्यस्य सर्वविषयांस्तव पादमूल'मिति 'ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः। अग्र-

मार्गे। पुष्टिमार्गे त्वन्यैव व्यवस्था। 'न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिहे'ति वाक्यात् ॥ १७ ॥

परामर्शं जैमिनिरचोदना चापवदति हि ॥ १८ ॥

ऊर्ध्वरेतस्सु च ज्ञानोक्तेस्तस्य मुक्तिफलकत्वोक्तेः 'किं प्रजया करिष्यामो

भाष्यप्रकाशः।

अन्ये तु, 'त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति, प्रथमस्तप एव, द्वितीयो ब्रह्मचर्याचार्यकुलवासी, तृतीयो योऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्, सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेती'ति छान्दोग्यश्रुतिम्, 'ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासत' इति पञ्चाग्निविद्याश्रुतिम्, 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ती'ति काण्वश्रुतिं चोपन्यस्य एतेषु शब्देषूर्ध्वरेतसामाश्रमाणां कथनात्तेषां चाग्निहोत्रादिकर्मासम्भवाच्च विद्यायाः कर्माङ्गत्वमिति व्याकुर्वन्ति ॥ १७ ॥

परामर्षं जैमिनिरचोदना चापवदति हि ॥ १८ ॥ अत्रान्ये पूर्वोक्ता एव श्रुतीरुपन्यस्य एतेषु शब्देष्वाश्रमान्तराणां **परामर्शं** अनुवादं जैमिनिराचार्यो मन्यते, न विधिम्। अत्र लिङाद्यन्यतमस्य चोदनाशब्दस्याभावात्, अर्थान्तरपरत्वस्यैतेषु शब्देषु प्रत्येकमुपलम्भाच्च। 'त्रयो धर्मस्कन्धा' इत्यत्र त्रयाणां परामर्शपूर्वकपुण्यलोकप्राप्तिरूपमनात्यन्तिकं फलं सङ्कीर्त्य ब्रह्मसंस्थस्यामृतफलतायाः कथनेन, पञ्चाग्निविद्यास्थद्वितीयश्रुतौ च देवयानोपदेशप्रत्ययेनाश्रमा-

रश्मिः।

तातप्ततपसः सैत्सङ्गान्मामुपागताः' इति वाक्याभ्याम्। ज्ञानस्य व्यभिचारदर्शनेन ज्ञानस्यानावश्यकत्वशङ्का मोक्षं प्रति स्यात्। धर्मस्कन्धाः धर्मशाखाः धर्मांशाः। यज्ञादिपदानि तद्वति लाक्षणिकानीत्याहुः **प्रथम** इति। प्रथमो यज्ञस्कन्धः ते विद्वांस एव यज्ञवत्त्वात्। द्वितीयोध्यायनवान्। तृतीयो दानवान्। भोजनदानवान्। **पुण्यलोका** इति। पुण्या लोका येषाम्। **ब्रह्मसंस्थ** इति। ब्रह्मणि संस्था भक्तिर्यस्येति तथोक्तः। 'तत्संस्थस्यामृतत्वोपदेशा'दिति शाण्डिल्यसूत्रात्। ब्रह्मसंस्थो गृहस्थः पत्न्यादिसाहाय्यात्। 'ये च इमे अरण्य' इति वानप्रस्थाः। प्रव्राजिनः संन्यासिनः। **ऊर्ध्वरेतसामिति**। पारिभाषिकब्रह्मचर्यादाश्रमिणोरूर्ध्वरेतस्त्वम्। यद्वा। गौण ऊर्ध्वरेतस्त्वम्। **अग्निहोत्रादीति**। गृहस्थधर्मोऽग्निहोत्रम्। आदिना वन्यपुरोडाशयागो वानप्रस्थधर्मः। यतिधर्मश्च **न विद्याया** इति। किन्तु कर्मणां विद्याङ्गत्वम्। बहुधेत्युक्ते प्रकाशे उपयुज्यत इति न दूषणम् ॥ १७ ॥

परामर्शं जैमिनिरचोदना चापवदति हि ॥ १८ ॥ मृश तितिक्षायामितिवत् मृष तितिक्षायामित्यपीति मूर्धन्यान्तं पदं **परामर्ष**मिति। यथालिखितपाठकस्याधमत्वेन तालव्यान्तं पाठकाले कुर्यात्। **भाष्ये** तु तालव्यान्तम्। एतेष्विति। एत्युपासते प्रव्रजन्तीत्येतेषु। **न विधिमिति**। त्रिषु लेडाश्रयणे न विधिः प्राप्तः। **सूत्रे अचोदना** नाम चोदनाभावः। नञः पञ्चम्या लुक्, चोदनाभावात्, इत्यर्थमाहुः **अत्रेति**। **लिङादीति**। लिङ् लेट् लोट् तव्यानामन्यतमस्य। चोदनावाचकशब्दश्चोदनाशब्दस्तस्य। **अर्थान्तरेति**। वर्तमानार्थपरत्वस्य। **अनात्यन्तिकमिति**। क्षयिष्णु। न आत्यन्तिकं मोक्षरूपं तद्भिन्नम्। **ब्रह्मसंस्थस्येति**। व्याख्यातोऽयंशब्दः। **देवयानेति**। देवयानपथ्युपदेशज्ञानेन। 'ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते, तेऽर्चिषमभिसंभवन्ती'ति श्रुतेः। **आश्रमान्तरस्येति**। 'योषा वाव गौतमाग्निः तस्या उपस्थ एव समि'दित्यादिश्रुत्या गृहस्थाश्र-

१. श्रीहस्ताक्षरेषु परामर्षमिति। २. मत्सङ्गात्।

येषां नोऽयमात्मा नायं लोक' इत्यादिश्रुतेश्च ब्रह्मप्राप्तावेव सर्वस्याः श्रुतेस्तात्पर्यमिति सिध्यति, तस्या एव सर्वक्लेशापायपूर्वकपरमानन्दरूपत्वात्, न तु कर्मणि, दुःखात्मकसंसारहेतुत्वात् तस्य। जीवश्रेयोनिमित्तमेव श्रुतिप्राकट्यात्। अन्यथा निषेधविधिर्न स्यात्। तथाच कर्मविधिनापि परम्परामोक्ष एव फलत्वेन परामृश्यत इति सिद्धम्। तं परामर्शं कर्मस्वातन्त्र्यवादी जैमिनिरपवदति बाधत इत्यर्थः। मोहकशास्त्रप्रवर्तकः स इतीश्वरमेव न मनुते यतः, अतस्तत्प्राप्तिस्तस्य मते दूरापास्ता। कर्मानधिकारिणामन्धादीनां संन्यासविधिविषयत्वम्। अन्यथा

भाष्यप्रकाशः।

न्तरस्य सन्दिग्धतया तृतीयस्यां काण्वश्रुतौ च लोकपदतो लोकसंस्तवप्रतीत्या च तथावसायात्। अपि चापवदति। 'वीरहा वा एष देवानामि'ति, 'आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सी' रिति, 'नापुत्रस्य लोकोऽस्ती'ति प्रत्यक्षा श्रुतिरेवाश्रमान्तरमपवदतीति व्याख्याय 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजे'दिति जाबालश्रुतिमनपेक्ष्यायं विचार इत्याहुः।

तत्र जाबालश्रुत्यनपेक्षायां बीजं नोपलभ्यते। परामर्शशब्दश्च ग्रहणे प्रसिद्धः, न त्वनुवाद इत्यतो न सूत्रे तदुक्तोऽर्थोऽभिप्रेतः, किन्तु पूर्वोक्तमेव सिद्धान्तं स्थूणाखननवद् दृढीकर्तुं पुनर्जैमिनिमतमुत्थापयतीत्याशयेन पूर्वसिद्धमनुवदन्तः सूत्रं व्याकुर्वन्ति ऊर्ध्वेत्यादि। तस्येति। ज्ञानस्य। इत्यादिश्रुतेश्चेति। 'नापुत्रस्य लोकोऽस्ती'त्यादिश्रुतिविरुद्धायाः 'किं प्रजया करिष्यामः, न कर्मणा न प्रजये'त्यादिश्रुतेश्च। तस्या इति। ब्रह्मप्राप्तेः। न तु कर्मणीति। कर्मकरणे तु न तात्पर्यम्। तस्येति। कर्मणः। तथाच कर्मविधिनापि 'तमेतं वेदानुवचनेने'ति श्रुत्यादिभिर्ज्ञानजननद्वारा कर्मणां फलत्वेन मोक्ष एव तात्पर्यगोचरीक्रियते इति श्रुतिसन्दर्भविचारात् सिद्धम्। तमेतं परामर्शं निश्चयं कर्मस्वातन्त्र्यवादी जैमिनिर्बाधत इति सूत्रभागस्यार्थो युक्त इत्यर्थः। पुनर्जैमिनिपदकथनतात्पर्यमत्राहुः मोहकेत्यादि। तदुक्तं पाद्मोत्तरखण्डे मोहक-

रश्मिः।

मादन्याश्रमस्य वानप्रस्थस्य। **लोकेति**। प्रव्राजिनां क्षयिष्णुलोकासम्भवाल्लोकस्य संस्तवः एतादृशो लोको यः प्रव्राजिनां फलमिति। एवं लोकसंस्तवप्रतीतिस्तया। **तथेति**। अर्थान्तरपरत्वावसायात्। एष इति। आश्रमान्तरस्थः। **आश्रमान्तरमिति**। गृहस्थाश्रमादन्यमाश्रमम्। **पूर्वोक्तमेवेति**। ज्ञाननिरपेक्षं मोक्षरूपम्। एवकारो जैमिनिमतीयं कर्मण एव मोक्ष इति पक्षयोगं व्यवच्छिनत्ति। **स्थूणेति**। 'असन्दिग्धो हि वेदार्थः स्थूणाखननवन्मत' इति जिज्ञासाधिकरण एवोक्तम्। **भाष्ये**। जीवश्रेय इत्यादि। जिज्ञासाधिकरण उक्तम्। **निषेधेति**। 'न कलञ्जं भक्षयेत्', 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यन्तं कदाचने'ति निषेधविधी। यथा विधयः प्रेरणामभिदधतः स्वप्रवर्तकत्वनिर्वाहार्थं विधेयस्य यागादेः श्रेयःसाधनतामाक्षिपन्तः पुरुषं तत्र प्रवर्तयन्ति। एवं 'न कलञ्जं भक्षये'दित्यादयो निषेधा अपि निवर्तनामभिदधतः स्वनिवर्तकत्वनिर्वाहार्थं निषेध्यस्य कलञ्जभक्षणादेरनर्थहेतुत्वमाक्षिपन्तः पुरुषं ततो निवर्तयन्तीति। अन्यत् **मीमांसार्थप्रदीपे** स्पष्टम्। **प्रकृते**। तथा चेति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **तथा च कर्मेति**। **श्रुत्यादिभिरिति**। आदिना 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मत' इति गीता, 'कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यदप्यकारण'मिति श्रीभागवतं च। **तमिति** भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **तमेतमिति**। **निश्चयमिति**। ज्ञानग्रहणम्। पूर्वं परामर्शो ग्रहण-

'वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयत' इति श्रुतिर्न स्यात्, अतो 'ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्, गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत्, यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् गृहाद्वनाद्वे'तिश्रुतेरप्यङ्गहीन एव स विषयः, यत आयुर्भागविभागेनाश्रमाणां विधानम् । तुरीये तस्मिन् देहेन्द्रियादिवैकल्यं नियतम्, अतः कर्मण्येव श्रुतेस्तात्पर्यम् । अपिच, ज्ञानकर्मणोरलौकिकफलसाधकत्वे तत्त्वेन विहितत्वमेव प्रयोजकम् । अपरोक्षब्रह्मज्ञानं च न विधेयम् । साक्षात्स्वकृत्यसाध्यत्वात् । चोदनाबोधकलिङ्गाद्यभावाच्च ज्ञानस्य न मुक्तिसाधकत्वं वक्तुं शक्यम् । 'य एनं विदु'रित्यादिस्तु यागेष्विज्यविष्णुस्तुतिपरेत्याशयेनाह अचोदना चेति । जैमिनिवत्तत्सहायभूतेयमचोदना च परामर्शमपवदतीति सम्बन्धः । तथाच विधिसम्बन्धात् कर्मैवानुष्ठेयम्, न तु मुक्तिसाधनमपि, अतथात्वादिति स्थितम् ॥ १८ ॥

अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः ॥ १९ ॥

बादरायण आचार्यो जैमिनेरपि गुरुस्तदेव कर्तव्यमिति शिष्यसंमतमनुष्ठेयं कर्मापवदतीति पूर्वेण सम्बन्धः । तत्र हेतुः । साम्यश्रुतेः । यथा 'वीरहा वा एष देवाना'मिति श्रुत्या कर्मत्यागकर्तुर्निन्दा श्रूयते, एवमेव भगवज्ज्ञानरहितस्यापि सा श्रूयते यतः । तथाहि । 'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः । तांस्ते प्रेत्यापि गच्छन्त्यविद्वांसोऽबुधा जनाः ।' एतदग्रे च, 'ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवोपयन्ती'त्यादिरूपा । एतच्च निन्दामात्रेण साम्यमुक्तमापाततः । वस्तुतस्तु 'तमेतं वेदानुवचनेन विविदिषन्ति ब्रह्मचर्येण तपसा श्रद्धया यज्ञेनानाशकेन चैतमेव विदित्वा मुनिर्भवत्येतमेव प्रव्राजिनो लोकमीप्सन्तः[1] प्रव्रजन्ती'ति श्रुत्या ज्ञानसाधनत्वेनैवाश्रमकर्मकरणोक्तेश्च न स्वातन्त्र्यं कर्मणो वक्तुं शक्यम् । अत एव शुकस्य न ब्रह्मचर्यादिकमपि[2] । फलस्य जातत्वेन तत्साधनानपेक्षणात् । नच स्वर्गकामपदश्रवणान्नैवमिति वाच्यम् । त्वदभिमतलोकात्मकस्वर्गे 'यन्न दुःखेन सम्भिन्न'मिति वाक्यशेषोक्तस्वर्गपदप्रवृत्तिनिमित्तधर्माभावादात्मसुखस्यैव तादृशत्वात्तस्यैव तत्रोक्तेः । एवं सति 'तमेतं वेदानुवचनेने'तिश्रुत्यैकवाक्यतापि सम्पद्यते । अन्यथा तु विरोध एव ।

भाष्यप्रकाशः ।

शास्त्रकथनप्रस्तावे 'द्विजन्मना जैमिनिना पूर्वं वेदमयार्थतः । निरीश्वरेण वादेन कृतं शास्त्रं महत्तर'मिति । पराशरोपपुराणेपि 'अक्षपादप्रणीते च काणादे सांख्ययोगयोः । त्याज्यः श्रुतिविरुद्धोंऽशः श्रुत्येकशरणैर्नृभिः । जैमिनीये चे'त्युक्तम् । तन्मतेन सव्यासविधितात्पर्यमाहुः कर्मेत्यादि । अङ्गहीन एव स इति । अङ्गहीनः पुरुषः । अत्र गमकं यत इत्यादिनोच्यते । तदुपपादनं तुरीय इत्यादिना । एतेन सिद्धमाहुः अत इत्यादि । अचोदनेत्यादंशमवतारयन्ति अपि चेत्यादि । शेषं स्फुटम् ॥ १८ ॥

अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः ॥ १९ ॥ पूर्वसूत्रे जैमिनिमतमनूद्येदानीं तत्परिहरतीत्याशयेन सूत्रं व्याकुर्वन्ति बादरायण इत्यादि । 'असुर्या' इति मन्त्रे 'अविद्वांस' इत्यनेन कर्माङ्गभूतविद्वद्वाक्योक्तज्ञानशून्या एव निन्द्यन्त इति शङ्कानिरासायाहुः एतदग्र इत्यादि । श्रुती तु बृहदारण्यके शारीरब्राह्मणस्थे । तथाच यथा कर्माकरणनिन्दया कर्मनित्यत्वम्, तथा अविद्वन्निन्दया ब्रह्मज्ञाननित्यत्वं प्राप्यते, अतो निन्दामात्रेण कृत्वा कर्मकरणे श्रुतितात्पर्यसाधनमुक्तमित्यर्थः । ननु साम्यश्रुत्या ज्ञानस्याप्यावश्यकत्वं प्राप्यते, न तु कर्मापवादः, तथा सति विद्वद्वाक्योक्तज्ञानवद्वेदान्तोक्तब्रह्मज्ञानस्यापि कर्माङ्गत्वमवर्जनीयमित्याशङ्क्य तन्निवारणायाहुः एतदित्यादि । उक्तमापातत इति । भगवता व्यासेन तथोक्तम् । तथोक्तौ गमकमाहुः वस्तुत इत्यादि । न ब्रह्मचर्यादिकमिति । उपनयनाभावादाश्रमरूपं तत्र । तथाच श्रुत्यर्थसन्देहवारणायाचार्यस्य प्रवृत्तत्वादुक्तश्रुतिदर्शनेपि यदेवं निन्दामात्रेण साम्यकथनं तदापातत एव । नचोक्तश्रुतिदर्शनेपि साम्यकथनात् कर्मणां मुख्यत्वमेवाभिप्रेतमिति शङ्क्यम् । शुकादिषु तथा दर्शनस्य विरोधप्रसङ्गात् । नच तत्तद्वाक्येषु स्वर्गकामादिपदश्रवणाज्ज्ञानसाधनत्वोक्तेश्च भिन्नवाक्यगोचर-

रश्मिः ।

मित्युक्तत्वात् । पुनरिति । शेषत्वादितिसूत्रीयजैमिनिशब्देनैव चारितार्थ्ये पुनरित्यर्थः । जैमिनीये चेति । 'जैमिनीये च वैयासे न विरोधोऽस्ति कश्चने'ति । अपि चेत्यादिनेति । तत्त्वेनेति । अलौकिकफलसाधकत्वेन । तत्सहायेति । जैमिनिमतसहायभूता । परामर्शं ज्ञानपरामर्शम् । अतथात्वादिति । विधिसम्बन्धाभावात् ॥ १८ ॥

अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः ॥ १९ ॥ तथोक्तमिति । आपाततो नाम वितण्डयोक्तम् । तथोक्ताविति । आपतत उक्तौ । वस्तुत इत्यादीति । ज्ञानसाधनत्वेनेति । विविदिषन्तीत्यत्र रामानुजाचार्यैः सनर्थाविवक्षणात् । भाष्येण स्वमतेपि तत् सूच्यते, अन्यथा ज्ञानेच्छासाधनत्वेनेत्युक्तं स्यात् । ज्ञानपदं ज्ञानेच्छायां लाक्षणिकं वा । 'वेदोऽक्षरमात्रमपि नान्यथा वदती'ति भाष्यात् । आश्रमेति । ब्रह्मचर्यं प्रथमाश्रमीणस्य, तपस्तृतीयाश्रमीणस्य, श्रद्धा तुरीयाश्रमीणस्य । 'विरहानुभवार्थं तु सर्वत्यागः प्रशस्यत' इति संन्यासनिर्णयवाक्यात् । यज्ञो गृहस्थस्येति तथा । चकार आपाततः साम्यहेतोरुक्तस्य समुच्चायकः । न स्वातन्त्र्यमिति । फलजनने ज्ञानस्य कर्मापेक्षत्वेन स्वातन्त्र्यं ज्ञानवत् स्वातन्त्र्यम् । उक्तश्रुतेरिति । 'वीरहा वा एष' इति श्रुतिदर्शने । दूषणरहितश्रुतिदर्शने । स्वपक्षदोषमनुद्धार्य परपक्षदोषाविष्करणस्य वितण्डात्वात् । फलस्येति भाष्यं विवरीतुमाहुः न चोक्तेति । साम्येति । न तु स्वपक्षदोषोद्धारपूर्वकपरपक्षदोषाविष्करणात् । मुख्यत्वमिति । प्रथमशास्त्रत्वात् । ज्ञानवत् फलजनने स्वातन्त्र्यम् । विवृण्वन्ति स्म शुकादिष्विति । तथा दर्शनस्येति । अखण्डब्रह्मज्ञानरूपफलस्य जातत्वेनाखण्डब्रह्मज्ञानसाधनकर्मानपेक्षत्वदर्शनस्य । अपेक्षत्वमपेक्षणम् । कर्मणां मुख्यत्वे ज्ञानवत् तत्सहकृतं दर्शपूर्णमासयोर्ब्रह्मार्त्विज्यं श्रुतं स्यात्, कर्मणां मुख्यत्वात् । फलजनने ज्ञानवत् स्वातन्त्र्यात् । अतो विरोधस्यैकाङ्गसहानवस्थानस्य प्रसङ्गात् । न चेतिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म न चेति । उपलक्षणविधया स्वर्गकामपदव्याख्यानं स्वर्गकामादीति । तेन स्वर्गकामश्च स्वर्गकामश्च स्वर्गकामौ आदी यस्य वृष्टिकामपदस्य तत् स्वर्गकामादिपदं तस्य श्रवणादित्यर्थः । 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' 'विश्वजिता यजेत' 'चित्रया यजेत वृष्टिकामः' इति । ज्ञानसाधनत्वोक्तिः 'तमेत'मिति श्रुतौ तस्याः । ताभ्यां हेतुभ्यां ज्ञानकर्मणोर्भिन्नवाक्य-

१. लोकमभीप्सन्तः । २ अपि नास्ति ।

ननु दृष्टफलका अपि कारीरीचित्रादियागाः श्रूयन्त इति नैवं निर्णय इति चेत्। उच्यते। नित्यकर्मणो हि ज्ञानसाधनत्वमुच्यते। व्रीहिपश्वादीनां तन्निर्वा-

भाष्यप्रकाशः।

त्वेन दुर्बलत्वान्नोक्तं साधीय इति शङ्क्यम्। स्वर्गकामपदावयवभूतस्वर्गपदस्यात्मसुखे लोके च शक्तेः किमत्राभिप्रेतमिति सन्देहे प्रसिद्ध्यपेक्षया वाक्यशेषस्य बलिष्ठत्वात् त्वदभिमतस्य वाक्यशेषेऽनुपपत्तावात्मसुखस्यैव वाक्यशेषे सिद्धेस्तदभिप्रायेणैव तेषु वाक्येषु स्वर्गकामपदस्योक्तेः। नचात्र किं गमकमिति शङ्क्यम्। एवमात्मसुखस्य तत्रोक्तत्वे सति तस्यात्मज्ञानसापेक्षतयोक्तश्रुत्येकवाक्यता सिध्येत्, अन्यथा तु विरोध एव। स च सम्भवत्येकवाक्यत्वेऽयुक्त इति सर्वसामञ्जस्यस्यैव गमकत्वात्। अतो वाक्यशेषोक्तमेवाङ्गीकार्यमित्यर्थः।

अत्र किञ्चिदाशङ्कते नन्वित्यादि। तथाच श्रुत्यन्तरे तथादर्शनात् स्वर्गपदस्य प्रसिद्धार्थाङ्गीकार एव युक्तः, न तु वाक्यशेषोक्तार्थाङ्गीकारः। तथा सति 'सुवर्गाय वा एतानि लोकाय हूयन्त' इत्यादिकं युज्येत[1]। अन्यथा तद्विरोधापत्तेरित्यर्थः।

अत्राभिदधते नित्येत्यादि। उक्तश्रुतौ हि नित्यस्य कर्मणस्तथात्वमुच्यते। नित्यं च कर्म तदैव साङ्गं भवति, यदा शुद्धैर्द्रव्यादिभिरुपसम्पद्यते। अन्यथा 'चाण्डालो जायते यज्ञकरणा-

रश्मिः।

गोचरत्वेन तादृशविरोधस्यैकाङ्गसहानवस्थानरूपस्य दुर्बलत्वादित्यर्थः। नोक्तमिति। एकवाक्यानुक्तत्वेन कर्मणाममुख्यत्वम्। शङ्क्यमिति। तेन भाष्ये वाच्यमित्यत्र तर्कवाग्विवक्षा बोध्या। त्वदभिमतेति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म स्वर्गकामपदेति। वाक्यशेषस्येति। 'यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्। अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पद'मिति वाक्यशेषस्य। अभीति। ज्ञानप्रकरणात् त्वदभिमतस्येत्यपि। प्रसिद्ध्याभिमतस्य। एवकारेण लोकव्यवच्छेदः। तदभीति। आत्मसुखाभिप्रायेणैव। ज्ञानप्रकरणादेवकारः। तेष्विति। स्वर्गविषयेषु कामेषु सत्सु। सति सप्तम्यन्तम्। एवं सतीति भाष्यं विवरीतुमाहुः न चात्रेति। विवृण्वन्ति स्म एवमात्मेति। तत्रेति। वाक्यशेषे। तस्यात्मेति। आत्मसुखस्य स्वानुभवात्मज्ञानसापेक्षतया। उक्तेति। भाष्योक्त'तमेतं वेदानुवचनेने'ति श्रुत्येकवाक्यता। सा चेत्थम्। स्वर्गपदघटितवाक्ये आत्मसुखं स्वर्गपदेन ज्ञानप्रकरणात्, तत्र वेदानुवचनं साधनम्, न तु ज्ञानवत् फलजनने स्वतन्त्रमिति। एवं सिध्येदित्यर्थः। अन्यथेति। उभयसमुच्चये तु शुकादिषु कर्माभावात् सहानवस्थानविरोध एव। सर्वेति। अधिकारानुसारेण श्रुतिसामञ्जस्यं जिज्ञासासूत्रभाष्योक्ते ज्ञानकर्मणोः परस्पराङ्गाङ्गित्वे, श्रुत्योर्विरोधे विकल्प इति मनुस्मृते च सामञ्जस्यम्। तस्येत्यर्थः। अत इति। गमकसत्त्वात् ज्ञानप्रकरणाच्च, आभ्याम्। नन्वित्यादीति। कारीरीति। 'कारीर्या यजेत वृष्टिकामः' 'चित्रया यजेत वृष्टिकामः' इति श्रुती। आदिना 'विश्वजिता यजेते'ति। अत्र स्वर्गः फलम्। 'स स्वर्गः स्यात् सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वा'दिति जैमिनिसूत्रात्। फलं स स्वर्गः स्यादिति विधेयलिङ्गम्। सर्वान् यागान् प्रति। अविशिष्टत्वादिति सूत्रार्थः। नैवमिति। न वाक्यशेषेण निर्णयः, प्रसिद्धिप्रायपाठाभ्यां प्रसिद्ध्या निर्णयः। श्रुत्यन्तरेणेति। प्रायपाठावेदककारीर्यादिश्रुत्यन्तरेण। तथेति। दृष्टफलत्वस्य फले दर्शनात्। युज्यत इति। लोकपदघटिता युज्यते। तद्विरोधेति। लोकपदविरोधापत्तेः। अभिदधत इति। सिद्धान्तमभिदधते। उक्तेति। 'तमेतं वेदानुवचनेने'ति श्रुतौ। कर्मण इति साङ्गस्य। निबन्धेपि 'यथा कथञ्चिन्नित्यस्य सिद्धिर्वेदेन बोध्यते'

1. प्रकाशे युज्येत, रश्मौ युज्यते।

हकत्वात्तच्छेषत्वेन तेषां विधानम्। एवं सति 'वीरहे'ति श्रुतिः साग्निकस्य गृहिण आलस्यादिदोषेण तदुद्वासने दोषमाह, न त्वाश्रमान्तरपरिग्रह इति मन्तव्यम्। अन्यथा तदुच्छेदस्तद्विधिवैयर्थ्यं च स्यात्। नचानधिकृतमादाय तत्समाहितिरिति वाच्यम्। अत्र पृच्छामः। अन्धपङ्ग्वादिभिः प्रव्रजनं कार्यमिति विधिरस्ति, आहोस्वित् यावज्जीवमग्निहोत्रविधायकप्रव्रजनविधायकवाक्ययोर्विरोधाभावाय विषयो भिन्नः कल्प्यते। नाद्यः। अश्रुतेः। न द्वितीयः। 'यदहरेव विरजे'दिति श्रुत्या वैराग्यवतः प्रव्रजनविधानात्तेनैव विषयभेदसिद्धौ तत्कल्पनानवका-[1]

भाष्यप्रकाशः।

च्छूद्रभिक्षिता'दित्यादिनिन्दावाक्यानि न स्युः। अतस्तादृशद्रव्याद्यर्थं चित्रादियागानां नित्यशेषतया विधानम्। एवमेकफलकेषु नानायागेष्वपि कश्चिदभिप्रायोऽस्तीत्यवगन्तव्यम्। अन्यथा तद्वैयर्थ्यापत्तेः। एवमतिविमुखस्य सन्मार्गश्रद्धाजननार्थं दृष्टफलाः कारीर्यादयो विधीयन्ते। इदमप्यश्वमूत्रणादिनिदर्शनादवगम्यते। एवं सति काम्यैस्तत्तद्यागैः समीचीनादृष्ट उत्पन्ने तन्निष्पन्नैरुपकरणैर्यदा साङ्गनित्यकर्मसिद्धिः, तदा ज्ञानं भवति। तेन चात्मसुखम्। लोकस्त्वङ्गवाक्येषु फलतयोच्यते। यदि प्राचीनदुरदृष्टवशात् यष्टुर्लोककामना भवति, तदा साङ्गात् कर्मणस्तद्भवतीति। अतो न तत्र तात्पर्यम्, किन्तु वाक्यशेषोक्त एवेति कर्मणां ज्ञान एव तात्पर्यमित्यर्थः। ननु यदि ज्ञानमेव मुख्यम्, तदा त्यागावश्यकत्वे 'वीरहे'त्यादिनिन्दावाक्यविरोधो दुर्वार इत्यत आहुः एवं सतीत्यादि। ननु निन्दावचनद्वयाञ्जस्यार्थमधिकारिभेदकल्पनमावश्यकम्, तत्र 'वीरहे'त्यादिविषयसङ्कोचापेक्षया 'असुर्ये'त्यादिविषयसङ्कोच एव युक्तः, 'आज्यमवेक्षते, विष्णुक्रमान् क्रामती'त्यादिस्वारस्यात्। तत्रानधिकारे तु कर्मानधिकारात्तत्र त्यागादिविधिसार्थक्ये सर्वसामञ्जस्यादित्याशङ्क्य विकल्पपूर्वकं तत् परिहरन्ति नचानधिकृतेत्यादि। तत्समाहितिरिति। संन्यासोच्छेदतद्विधिवैयर्थ्ययोः समाधानम्। तथाच यदि प्रव्राजवाक्ये

रश्मिः।

इति। तथात्वं ज्ञानसाधनत्वम्। शुद्धैर्वेदोक्तैः मन्त्रैः द्रव्यादिभिरित्यत्रादिना तपोयोगज्ञानानि गीतोक्तानि। शूद्रेति। शूद्रभिक्षितात् द्रव्यात् यज्ञकरणं तस्मात्। चण्डालो जन्मान्तरे जायते, फलस्योत्तरजन्मीनत्वात्। तद्भवतीति। स्वर्गलोकरूपं फलं भवतीति। तत्रेति। लोके। तात्पर्यशब्दादभिधास्ति। वाक्यशेषेति तात्पर्यमित्यनुषज्यते। कर्मणामित्यादि। 'तमेत'मिति श्रुतेरित्यर्थः। मुख्यमिति। फलजनने स्वतन्त्रम्, न तु कर्म। वीरेति। गार्हस्थ्यबोधकमिदम्। परामर्शसूत्र उक्तम्। एवं सतीत्यादीति। तदुद्वासन इति। अभ्युद्वासने। आश्रमेति। आश्रमो गृहस्थाश्रमः। तदन्यश्चतुर्थाश्रमः तस्य परिग्रहे। अन्यथेति। आश्रमान्तरपरिग्रहे श्रुतेर्दोषबोधकत्वे। संन्यासोच्छेदः संन्यासविधेः 'यदहरेव विरजेत्, तदहरेव प्रव्रजे'दित्यस्य वैयर्थ्यं चेत्यर्थः। निन्देति। वचनद्वयेति। तत्तु 'वीरहे'ति 'असुर्या नाम ते लोका' इति च। वीरहेत्यादीति। अस्य विषयसङ्कोचः साग्निकस्य गृहिण आलस्यादिदोषेणाभ्युद्वासने दोषमाह श्रुतिः, न त्वाश्रमान्तरपरिग्रह इति। तस्यापेक्षया। 'असुर्ये'त्यादिविषयसङ्कोचमेवाहुः आज्यमवेति। इत्यादीति। 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति, न स पाप९ श्लोक९ शृणोती'त्यादिपदार्थः। तेतत्त्यागादीति[2]। अवेक्षणादित्यागः, आदिना संन्यासः। सर्वेति। वेदवेदान्तशास्त्रस्य सर्वशास्त्ररूपस्य सामञ्जस्यात् किं पुनस्तदन्तर्गतस्य निन्दाद्वयस्य। तदिति।

1. तत्कथनानवकाशादिति रश्मिपाठः। 2. प्रकाशे तत्र त्यागादीति, रश्मौ तत्तत्त्यागादीति।

शात् । तेन 'नापुत्रस्य लोकोऽस्ती'ति श्रुतिरप्यविद्वद्विषयिणीति न विरोधः । 'विद्वांसः प्रजां न कामयन्त' इति श्रुतेः । एतेनर्णत्रयापाकरणमपि प्रत्युक्तं वेदितव्यम् । अविद्वद्विषयत्वात् । यदप्युक्तं 'अचोदना चे'ति सूत्रावयवेन 'चोदनाबोधकलिङ्गाद्यभावो बाधक' इति । तदपि न साधीयः । श्रुतिसाम्यादेव । श्रूयते हि 'तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः श्रद्धावित्तो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्ये'दिति । नच प्रमाणवस्तुपरतन्त्रत्वान्न ज्ञानस्य विधेयतेति वाच्यम् । इतरज्ञानस्य तथात्वेपि जीवात्मलक्षणेऽधिष्ठाने परमात्मनो भगवतो दर्शनस्यान्यतोऽप्राप्तत्वाच्छ्रद्धान्तसाधनैस्तद्दर्शने स्वरूपयोग्यतासम्पत्त्याघात्मन्यधिष्ठाने परमात्मदर्शना-

भाष्यप्रकाशः ।

'विरजे'दित्यधिकारबोधकं पदं न भवेत्, तदा तथा कल्पयितुं शक्येतापि, न तु तत्सद्भाव इति तदप्रयोजकमित्यर्थः । श्रुत्यन्तरविरोधपरिहारायाहुः तेनेत्यादि । एतेनेति । 'विद्वांस' इति कथनेन ।

ननु साम्यश्रुतिरूपेण हेतुना भवतूक्तदोषपरिहारः, तथापि ज्ञानस्य प्रमाणवस्तुपरतन्त्रत्वेन चोदनाविषयत्वाभावादचोदनाकृतापवादस्य कथं परिहार इत्यत आहुः यदपीत्यादि । तथाच चोदनाश्रुतिसाम्यात् तस्यापि परिहार इत्यर्थः । अत्र 'पश्ये'दित्यस्य प्रमाणान्तरजन्यदर्शनानुवादत्वमाशङ्क्य निषेधन्ति नचेत्यादि । तथाचात्र 'एवंवि'दित्यादिभिर्निर्विचिकित्सशाब्दज्ञानवत्त्वशमदमवैराग्यदुःखसहिष्णुत्वश्रद्धावित्तत्वपूर्वकं जीवात्माधिकरणकपरमात्मदर्शनप्रयत्नस्य प्रमाणान्तरेणाप्राप्तत्वात् तद्विधानस्य सुखेन सम्भवान्नानुवादत्वमित्यर्थः । ननु तथापि कर्मचोदनासु

रश्मिः ।

सर्वसामञ्जस्यम् । भाष्यीयविकल्पेन सह सिद्धान्तप्रघट्टकार्थमाहुः **तथा च यदीति** । **विरजेदिति** । इदं कामवतो भिन्नस्य वैराग्यवतोऽधिकारबोधकम् । **तथेति** । तदतिरिक्तो यावज्जीवमग्निहोत्रविधायकप्रव्रजनविधायकवाक्ययोर्विरोधाभावायान्धपङ्ग्वादिभिः प्रव्रजनं कार्यमिति भिन्नविषय इत्यर्थः । **तत्सद्भाव इति** । **विरजेदिति** । वाक्ययोर्विरोधाभावसाधकपदसद्भावे । **तस्य** विरजेदिति पदस्य । अतिरिक्तं अन्धपङ्ग्वादिभिः प्रव्रजनं कार्यमिति यत्तदप्रयोजकम् । तेन भाष्ये **तेनैवेत्यस्य** वैराग्येनैव । **विषयभेदे**त्यादेर्गृहस्थतुरीयाश्रमभेदसिद्धौ अयं विषयो भिन्नः कल्प्यते इत्यस्य कथनानवकाशादित्यर्थः । **श्रुत्यन्तरेति** । 'नापुत्रस्य लोकोऽस्ती'त्यस्याः विरोधपरिहाराय । **तेनेत्यादीति** । **अविद्वदिति** । तेन संन्यासे पुत्राभावेपि लोकस्याक्षरात्मकस्य सिद्धिः विद्वदधिकारात् । **भाष्ये** । **ऋणत्रयेति** । देवर्णपित्रर्णमनुष्यर्णाः । 'ऋणत्रयमपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशये'दिति तुरीयेर्णत्रयापाकरणाभावान्मोक्षानधिकारसम्पादकर्णत्रयापाकरणम् । **उक्तदोषेति** । 'वीरहा वा एष' इति श्रुत्युक्ताग्न्युद्वासनकृतनिन्दादोषपरिहारः । **प्रमाणान्तरेति** । प्रमाणं 'तस्मादेवंवित्', तदन्यत् 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्य' इति प्रमाणान्तरम्, तज्जन्यदर्शनानुवादत्वम् । **तथा चेति** । **भाष्ये** । भगवतो दर्शनस्येत्यस्यान्तर्यामिब्राह्मणोक्तदर्शनमात्रम्, न तूपासनम्, जीवे तन्निषेधात् । एवं तस्य दर्शनस्य विधिविषयत्वेनान्यतोऽप्राप्तत्वात् । 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य' इत्यत्रावश्यकार्यार्थेष्वपि तव्यस्य सम्भवात् श्रद्धान्तसाधनैस्तद्दर्शने आत्मोपासनात्मके स्वरूपयोग्यतासम्पत्तौ दर्शनसाधनं तु भक्तिरेव ।

नुकूलप्रयत्नविधानसम्भवात्, श्रवणविधिना श्रुतिवाक्यजशाब्दज्ञानानुकूलप्रयत्नविधानवत् । एवमेव हि यागविधिनापि क्रियारूपयागस्य स्वानुकूलप्रयत्नाधीनत्वेन स प्रयत्न एव विधीयते । अन्याप्राप्तत्वात् । न तु क्रिया । तत्प्रयत्ने सति तस्याः स्वत एव सम्भवात् ।

अथवा । ननु यथा 'वीरहे'ति श्रुत्या कर्मत्यागो निन्द्यते, तथैव 'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः । तांस्ते प्रेत्यापि गच्छन्त्यविद्वांसोऽबुधा जनाः । ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवोपयन्ती'त्यादिश्रुत्या भगवज्ज्ञानाभावो निन्द्यते । एवं सति कर्मज्ञानानुकूलप्रयत्नयोर्विधेयत्वे मिथो विरोधादधिकारिभेदेन विधेयत्वं वाच्यम् । न च 'तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत याव'ते'ति भगवद्वाक्याद्रागिणः कर्म विधीयते, तद्रहितस्य ज्ञानमिति वाच्यम् । 'जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेज' इति श्रुतेर्नीरागत्वेन प्रसिद्धस्यापि तस्य कर्मणि प्रवृत्तिर्या, सा न स्यात्, अधिकाराभावात् । अथ जनकदृष्टान्तेन कर्मणोऽङ्गित्वं ज्ञानस्य तदङ्गत्वं वाच्यम् । तथा च ज्ञानवता कर्मानुष्ठेयमिति प्राप्तं प्रतिवदति । **अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः ॥** ज्ञानमङ्गं तदङ्गित्वेनानुष्ठेयं कर्मेति मतं बादरायणोऽपवदतीति पूर्वेण सम्बन्धः । तत्र हेतुमाह साम्यश्रुते-

भाष्यप्रकाशः ।

कर्मण एव विधेयतेति तस्य फलवत्त्वमुचितम्, इह तु ज्ञानानुकूलप्रयत्नस्येति ज्ञानस्याविधेयत्वं दुर्वारमित्याशङ्कायां कर्मचोदनास्वप्येततुल्यत्वं बोधयन्ति एवमेवेत्यादि । **स इति** । यागाभिव्यञ्जकः । न तु क्रियेति । 'यज्ञो वै विष्णुः' 'सुप्तं कर्म प्रबोधय'मित्यादिश्रुतिस्मृतिभिरलौकिकस्य कर्मणो नित्यत्वात् सा न विधेया । इदं यथा तथा समन्वयसूत्र एव व्युत्पादितं कारिकाभिः । भावार्थपाद भाष्ये चाचार्यैः । तथा चोभयत्रापि तत्तदभिव्यञ्जकप्रयत्नस्यैव विधेयत्वात्तेनाभिव्यक्ताभ्यां ज्ञानकर्मभ्यां सुखेन फलसम्भवान्न कोपि दोष इत्यर्थः । अस्मिन् व्याख्याने ज्ञानाङ्गत्वेन कर्म कर्तव्यमिति सिद्धम् ।

इदमेव च 'विधिर्वा धारणव'दितिसूत्रे प्रतिपादनीयमित्येकतरवैयर्थ्यमापद्येतेत्यरुच्या प्रकारान्तरेण व्याकर्तुमवतारयन्ति अथवेत्यादि । **मिथो विरोधादिति** । कर्माङ्गस्य कामस्य ज्ञानाङ्गस्य शान्त्यादेश्चेतरेतरविरोधेन तयोर्विरोधात् । व्याकुर्वन्तो हेतुं विशदीकुर्वन्ति स्वत

रश्मिः ।

आत्मनीत्यादि । मनसि अधिष्ठाने परमात्मनो दर्शनमुपासनम्, **तदनुकूलप्रयत्नविधानसम्भवात्** । अनुभवातिरिक्तज्ञानं विधिविषयमपि 'तस्मादेव'मित्यत्रापूर्वविधिविघटकत्वाभाव इत्याशयेनाहुः **श्रवणविधिनेति** । अत्र **प्रयत्नः** पूर्वापरीभावापन्नो विधिपुरुषोभयनिष्ठः । तस्य विधानवदित्यर्थे चेत्यर्थः । **जीवात्माधीति** । जीव इव जीवः मनोऽधिष्ठानत्वात् । **दर्शन**मुपासनम् । **नानुवादत्वमिति** । 'तस्मादेवंवि'दित्यत्र 'पश्ये'दित्यस्य 'द्रष्टव्य' इति विधिदर्शनानुवादत्वम् । सिद्धत्वेनाविधेयत्वेन तस्याफलवत्त्वात् । **एततुल्यत्वम्** । ज्ञानचोदनातुल्यत्वम् । **भाष्ये** । **भर्जनस्येवेति** । भर्जनस्य यथा नाङ्गता,

रिति । स्वतोऽपुरुषार्थं कर्म फलार्थिनैवानुष्ठेयम् । तथा च 'एष नित्यो महिमे'ति श्रुत्या ज्ञानवति विहितनिषिद्धयोः कर्मणोः फलाजनकत्वेन साम्यं श्रूयत इति फलार्थिप्रवृत्त्यसम्भवेन ज्ञानिनस्तथात्वाभावेन कर्मोच्छेदप्रसक्त्या न ज्ञानस्याङ्गत्वं वक्तुं शक्यम् । कृषीवलस्य व्रीहीणां वपने भर्जनस्येव । तथा च ज्ञानिनः प्रवृत्त्यसम्भवेनान्येषां च 'अथेतरे दुःखमेवोपयन्ती'ति निन्दाश्रवणेन तथात्वात् सर्वार्थतत्त्वज्ञा श्रुतिर्ज्ञानबहिर्भूतं कर्म कथं विदध्यादिति ज्ञानस्य पुरुषार्थासाधकत्वोक्तिमसहमानेनाचार्येण प्रौढ्या निरूपितम् ॥ १९ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

इत्यादि । तथात्वाभावेनेति । कर्मकर्तृत्वाभावेन । ननु ज्ञानिप्रवृत्त्यभावेपि न कर्मोच्छेदः' फलार्थिनां प्रवृत्तेः सम्भवात् । न चासुर्यवाक्याभिवृत्तिः, तत्र 'अविद्वांस' इत्यनेन विद्वद्वाक्योक्तज्ञानशून्यनिन्दाया अपि शक्यवचनत्वादित्याशङ्कायां स्वोक्तं विभजन्ते तथा चेत्यादि । अन्येषामिति । ब्रह्मज्ञानशून्यानाम् । तथात्वादिति । कर्मकरणासम्भवात् । ज्ञानबहिर्भूतमिति । तत्सम्बन्धशून्यम् । एवं निरूपणस्य तात्पर्यमाहुर्ज्ञानस्येत्यादि ।

अन्ये तु, अनुष्ठेयमाश्रमान्तरम् । कुतः साम्यश्रुतेः । 'त्रयो धर्मस्कन्धा' इत्यादौ गार्हस्थ्येन सममेवाश्रमान्तरपरामर्शश्रुतिदर्शनादित्याद्याहुः ।

तत्तु जाबालश्रुतिचोदितत्वादेवाश्रमान्तराणां तद्विहायैवं व्याख्यानं न समञ्जसमिति प्रागेव दत्तोत्तरमित्यवधेयम् ॥ १९ ॥

रश्मिः ।

तथा ज्ञानस्य कर्मभर्जकस्य न कर्माङ्गतेत्यर्थः । 'ज्ञानभर्जितकर्माणम्' । प्रकृते विद्वद्वाक्येति । विद्वद्वाक्योक्तकर्मज्ञानशून्यनिन्दायाः, अपिना कर्मनिन्दायाः । स्वोक्तमिति । कर्मनिन्दनं विभजन्ते विशेषेण भजन्ते स्मरन्ति स्मेत्यर्थः । ज्ञानस्येत्यादीति । प्रौढ्येति । गौरवेण ज्ञानकाण्डत्वान्निरूपितम् । वस्तुतस्तु परस्परं ज्ञानकर्मणोरङ्गाङ्गिभावो वर्तते एव, 'तमेत'मिति 'यदेव विद्यये'ति श्रुतिभ्याम् । इत्यादीति । आदिना यथा शाखान्तरप्राप्तयोरेव निवीतप्राचीनावीतयोः परामर्शे उपवीतविधिपरे वाक्ये तस्मात् तुल्यमनुष्ठेयत्वं गार्हस्थ्येनाश्रमान्तरस्येति भाष्यम् । तत्त्वित्यादि । तत्तु न समञ्जसमित्यन्वयः । किं तदित्यत आहुः आश्रमान्तराणामिति । ब्रह्मचर्यवानप्रस्थगृहस्थतुरीयाश्रमाणाम् । द्वयोराश्रमयोरन्येषाम् । द्वयप्रतियोगिको भेदः । तद्विहायानुष्ठेयत्वं विहाय । एवं गृहस्थतुरीयाश्रमपरव्याख्यानम् । एवं व्याख्यानं कस्मादसमञ्जसमित्यत आहुः जाबालचोदितत्वादेवेति । आश्रमाणां व्याख्यानस्येति बोध्यम् । ननु परामर्शसूत्रे'ऽश्रान्य' इति प्रक्रम्य 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजे'दिति जाबालश्रुतिमनपेक्ष्यायं विचार इत्याहुरित्युक्तेः कुतस्तदपेक्ष्यासामञ्जस्यदानमिति चेत्, तत्राहुः प्रागेवेत्यादि । परामर्शसूत्र एवासामञ्जस्यदानं दत्तोत्तरम् । तत्र 'जाबालश्रुत्यनपेक्षायां बीजं नोपलभ्यत' इत्यादिनेत्यवधेयम् ॥ १९ ॥

एवं सति पूर्वकाण्डवैयर्थ्यमापततीति तत्तात्पर्यमाह ।

विधिर्वा धारणवत् ॥ २० ॥

यथा योगशास्त्रे मनःसमाधेरेव साध्यत्वात् तत्साधनत्वेनैव मानस्याः मूर्तेर्धारणं विधीयते, न तु स्वतन्त्रतया फलसाधकत्वेन, मनःसमाधौ तत्त्यागात्, 'ततः किञ्चन न स्मरेत्', 'तत्रापि चित्तबडिशं शनकैर्वियुङ्क्ते' इत्यादिवाक्येभ्यस्तथा, तथा भक्तिसाधनत्वेनैवानुष्ठेयमिति तात्पर्येण कर्मविधिरुच्यते, न तु स्वतन्त्रतया फलसाधकत्वेन । ननु तत्र समाधिमधिकृत्य यमादीन्युक्तानीति तन्मध्यपातित्वेन धारणस्य तथात्वमुच्यते, प्रकृते ज्ञानं भक्तिं वाधिकृत्य न कर्म विहितमिति दृष्टान्तवैषम्यमिति चेत् । न । उक्तानुपपत्त्या स्वानिन्द्यमेव कर्म श्रुतिर्विदधातीत्यवश्यं वाच्यम् । निन्दायां चेतरपदाज्ज्ञानमध्यपातिन एव तद्विषयस्य प्राप्तेरावश्यकत्वात् । तथा च भगवज्ज्ञानस्येतरनिरपेक्षत्वेन स्वरूपो-

---

भाष्यप्रकाशः ।

विधिर्वा धारणवत् ॥ २० ॥ सूत्रमवतारयन्ति एवं सतीत्यादि । एवं सतीति । उक्तश्रुतिवेतुः कर्माकरणे प्राप्ते सति । व्याकुर्वन्ति यथेत्यादि । अत्र 'ततः किञ्चने'ति वाक्यमेकादशस्कन्धीयम् । द्वितीयं तृतीयस्कन्धीयम् । तथेति । त्याज्यत्वम् । तथा भक्तीत्यत्र भक्तिपदं ज्ञानस्याप्युपलक्षकम् । अत्र दृष्टान्तबलेन कर्मणोऽस्वातन्त्र्यसाधनमसहमानो दृष्टान्तवैषम्यमाशङ्कते नन्वित्यादि । वैषम्यं समादधते नेत्यादि । 'एष नित्य' इति श्रुतौ ज्ञानिनि कर्मणां फलाजनकत्वकथनात्तेषां कर्मण्यप्रवृत्त्या ज्ञाने कर्माङ्गतायामप्युक्तदोषतौल्येन उक्तश्रुतौ ब्रह्मज्ञानशून्यानां दुःखप्राप्तिकथनेन चान्येषामपि प्रवृत्त्यसम्भवे पूर्वकाण्डवैयर्थ्यप्रसक्तिरूपयानुपपत्त्या स्वानिन्द्यमेव कर्म पूर्वकाण्डीयश्रुतिर्विदधातीत्यवश्यं वाच्यम् । 'अथेतर' इत्यविद्वन्निन्दावाक्य 'इतर'पदात् ज्ञानशून्येषु निन्दितेषु ज्ञानवान् वा तद्योग्यो वा ज्ञानमार्गमध्यपात्येव कर्माधिकारी वाच्यः । तत्र जातज्ञानस्यापि 'न कर्मणे'त्युक्तश्रुत्या निवृत्तौ तद्योग्यस्यैव विषयत्वेन प्राप्तेरावश्यकत्वात् । तथा च काम्यानां कर्मणां मूढविश्वासजनकतया परम्परातः सार्थक्यम् । नित्यानां स्वात्मसुखफलकानां विद्यासाहाय्यमन्तरेण तादृशफलोपधायकत्वस्यादृष्टत्वाज्जनकादिष्वपि विद्यासाहाय्यस्यैव दर्शनात् केवलभगवज्ज्ञानस्य च शुकारुणिभरतादिषु फलोपधायकत्वदर्शनात्तस्येतर-

रश्मिः ।

विधिर्वा धारणवत् ॥२०॥ श्रुतीति । 'असुर्या नाम ते लोका' इति श्रुतिवेतुः, भाष्ये तत्तात्पर्यमिति । एकादशसप्तदशाध्याये युधिष्ठिरवाक्यम् । 'यथानुष्ठीयमानेन त्वयि भक्तिर्नृणां भवे'दित्यादिवाक्यैस्तत्तात्पर्यं सर्वोत्तममार्गविषयमाह । प्रकृते । तृतीयेति । वृद्धत्वाभावान्छप्रत्ययो मृग्यः। भाष्यं विवरीतुमाहुः एष नित्य इति । उक्तदोषेति । कर्मण्यप्रवृत्त्याख्यदोषतौल्येन । उक्तेति । 'ये तद्विदु'रिति श्रुतौ । अत्रान्येषामिति । कर्मकाण्डे कर्मठानां ज्ञानिभिन्नानामपि । विवृण्वन्ति स्म पूर्वकाण्डेति । विदधातीति । वाक्यं विदधाति । तेन 'ब्राह्मणो न हन्तव्य' इत्यत्र 'हन्तव्य' इति मात्रे निन्द्यविधानेपि न दोषः । वाक्यं त्वनिन्द्यकर्म विदधात्येन । निन्दायामिति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म । तद्विषयस्येति भाष्यस्य 'ज्ञानाधिकारिणः' इत्यर्थात् तत्र विकल्पेपि ज्ञानयोग्यस्येत्याहुः तत्र जातेति । तथा चेति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म, तथा चेति । जनकादिष्विति । आदिना ज्ञानिनः कर्मसिद्धाः श्रीभागवतप्रसिद्धाः यथा आविर्होत्रः । शुकेति । आरुणिरारुण्युपनिषदि । तस्येति ।

पकारित्वमस्य कर्मणो वाच्यम् । तथा चोक्तं 'दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमैः । श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते' इति । 'एष नित्यो महिमे'ति श्रुतिरपि यज्ज्ञाने सति विहितनिषिद्धकर्मफलासम्बन्धः 'तद्वित् स्या'दित्यनुक्त्वा 'तस्यैव पदवित् स्या'दिति यदुक्तवती, तेन पदयोर्भक्तिमार्गरूपत्वात् तत्र च पदयोरेव सेव्यत्वेन मुख्यत्वात्तज्ज्ञानानुकूलप्रयत्नमेव पूर्वं विदधे । तेन 'शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः । त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुज'मिति वाक्याच्च वर्णाश्रमधर्मा आत्मधर्माश्च पदज्ञानसाधनत्वेन कर्तव्या इति सिद्धम् । 'तस्यैव'

भाष्यप्रकाशः ।

निरपेक्षकत्वेन नित्यकर्मविधिवैयर्थ्यपरिहाराय 'तमेतं वेदानुवचनेने'त्यादितृतीयाश्रुत्या ज्ञानभक्ती प्रति स्वरूपोपकारित्वं नित्यस्य कर्मणो वाच्यमिति तात्पर्येण नित्यविधीनां तदुपयोगित्वेन काम्यविधीनां च सामञ्जस्यान्न पूर्वकाण्डवैयर्थ्यमित्यर्थः । ननु भवत्वेवं कर्मणां ज्ञानाङ्गत्वम्, तथापि भक्त्यङ्गत्वे किं मानम्? अत आहुः तथा चोक्तमित्यादि । ननु तथापि ज्ञान्तरितत्वात् भक्त्यङ्गत्वापेक्षया ज्ञानाङ्गत्वमेव साधीय इति शङ्कायां भक्त्यङ्गत्वस्य श्रौतत्वं विशदयन्ति एष इत्यादि । सिद्धमाहुः तेनेत्यादि । उक्तेन स्वल्पोपपादनेनापरितुष्यन्तो विशेषतः श्रुत्यर्थं वदन्ति तस्यैवेत्यादि । सर्वत्रेति । पदविच्छब्देपि । पूर्वमिति । पूर्वार्धे । तथा च पूर्वोक्तं युक्तमित्यर्थः । वस्तुतस्तु, तेनेत्यादिसिद्धार्थकथनात् पूर्वस्तस्यैवेत्यादिग्रन्थो लेखकभ्रमात् पश्चात् पतित इति प्रतिभाति ।

रश्मिः ।

शुकादिज्ञानस्य । ज्ञानभक्ती इति । विविदिषन्तीत्यत्र विद् ज्ञाने, सन्निच्छायाम्, 'इच्छा प्रेमे'ति विश्वनाथमतं गौणं, 'नैवेच्छा तु साधारण्या'दिति शाण्डिल्यर्षिणा निषेधात्, अतश्चित्तशुद्धिद्वारा ज्ञानभक्ती प्रतीत्यर्थः । तदुपेतिं । ज्ञानोपयोगित्वेन । काम्यविधीनां च परम्परया ज्ञानोपयोगित्वेन । किमिति । ज्ञाने ज्ञानकाण्डोक्तवाक्यशक्तिः भक्तिकाण्डाभावात् किमिति प्रश्नः । तथा चोक्तमित्यादीति । 'विविध'पदेनान्यविशेषणेनापि 'ज्ञानी चेद्भजते कृष्ण'मिति वाक्येन कर्मणो ज्ञानभक्तिव्यन्तरितत्वात् । एष इत्यादीति । तस्यैवेत्यादि । यज्ज्ञाने सति विहितनिषिद्धकर्मफलासम्बन्धः । तस्यैव । पुष्टिस्थस्यैव । भक्तीति । 'भवत्पदाम्भोरुहनाव'मित्यत्र सुबोधिन्यामस्ति । तत्र चेति । प्रत्येकभक्तिमार्गे च । पदयोरिति । पादसेवनभक्तिरुक्ता ताभ्यामेव मुक्तिरिति । तज्ज्ञानेति । पदे वेत्तीति पदवित् । कर्तरि क्विप् । पदनिष्ठज्ञानानुकूलप्रयत्नवान् स्यादिति लिङा विदधे । उक्तप्रयत्नवत्त्वं प्रयत्न एव तम् । तद्दानानुकूलप्रयत्नमेवेति पाठे पादसेवनभक्तेर्जीवस्य पद्भ्यां सेवनमित्यपि तृतीयसुबोधिन्यामस्ति । तदा तेन पदयोरित्यादिभाष्यं न सम्भवति । अतस्तद्दानेति । विरहे पदयोर्दानं पञ्चाध्याय्यां स्पष्टम् । 'भगवान् भजतां मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोग'मिति दुर्लभाधिकारीयं पादसेवनमुक्तम् । तदा पदवित् पददानानुकूलप्रयत्नवान् । तर्हि धात्वर्थज्ञानमेतद् दानम् । ज्ञानसमवायिकत्वात् । छान्दोग्ये नारदसनत्कुमारसंवादे 'आत्मतः स्मरः' 'आत्मतो विज्ञान'मिति श्रुतिभ्याम् । अन्यत् पूर्ववत् । तेनेत्यादीति । वर्णाश्रमेति । तेन वर्णाश्रमधर्मवत्सु आत्मधर्मवत्सु ये 'शृण्वन्ती'त्यादिकर्तारः त एव पश्यन्तीत्यन्वयः । आत्मधर्मा भगवद्दत्तैश्वर्यादिमन्तः । कर्तव्या इति । 'दानव्रततपोहोमे'ति वाक्यात् कर्तव्याः । वदन्तीति ।

तच्छब्दस्य प्रसिद्धार्थकत्वाल्लोकवेदप्रसिद्धस्य पुरुषोत्तमस्यैव, तत्रापि, 'पदवि'देव, दीनभावेन भक्तिमार्गीयज्ञानवानेव, स्यादेवेत्येवकारः सर्वत्रानुषज्यते । तथा सति भक्तौ जातायां स्वत एव भगवज्ज्ञानं भवतीति ज्ञापयितुं 'तं विदित्वे'ति पश्चादुक्तवतीति तदाशयो ज्ञायते । अत एव पूर्वं कर्म निरूपितम् । साधनत्वात् ।

स्यादेतत् । भक्तिसाधनत्वमेव चेत् कर्मणः श्रुतेरभिप्रेतम्, तदा भगवद्विदि तत्फलासम्बन्ध इत्यनुपपन्नमिति चेत् । मैवम् । कर्मणां हि भक्त्युत्पत्तौ स्वरूपयोग्यतासम्पादकत्वमेव । 'नायमात्मे'ति श्रुतेः कर्मज्ञानाभ्यामलभ्यत्वाद्भगवतः स्वरूपयोग्यतापेक्षापि मार्यादिकस्य, न तु पौष्टिकस्य, अत एव वाशब्द उक्तोऽनियमवाची । तथा सति भगवदनुग्रहश्चेत्, तदा भक्तिः, तया पुरुषोत्तमज्ञानम्, तदा कर्मतत्फलसम्बन्धगन्धोऽपि नेति किमनुपपन्नम् । एतेन, 'तमेव विदित्वा मुनिर्भवति' 'अग्राह्यो न हि गृह्यते' इत्यादिश्रुतीनां मिथो विरोधः परिहृतः,

भाष्यप्रकाशः ।

अत्र पुनश्चोदयति स्यादित्यादि । अनुपपन्नमिति । साङ्गाद्वैदिककर्मणः फलावश्यम्भावनियमेन ततो भक्त्युत्पत्तिसम्भवादनुपपन्नमित्यर्थः । तत् समादधते मैवमित्यादि । उक्त इति । ज्ञानस्य कर्मसापेक्षत्वात् पूर्वकाण्डे नित्यविधिर्ज्ञानमार्गीयस्येति कर्मणस्तदङ्गत्वबोधनाय सूत्रे उक्त इत्यर्थः । उक्तार्थोपष्टम्भार्थमेवंतात्पर्याङ्गीकारे गुणान्तरमाहुः एतेनेत्यादि । अत

रश्मिः ।

प्रेमविवशा वदन्ति । भ्रमरगीतटिप्पण्यां विरहे प्रेम प्रसिद्धम् । निरोधलक्षणे च 'अहं निरुद्धो रोधेन निरोधपदवीं गत' इति । दीनेति । अहङ्कारविरुद्धं पादसेवनानुकूलं दैन्यं, तेन । भावपदेन भक्त्यन्तःपातिना । भक्तिमार्गीयेति । भक्तिमार्गीयपदज्ञानवान् । पदविच्छब्द इति । श्रुतिप्रामाण्यादिति भावः । भाष्ये । तथा सतीत्यादि । मुक्तिसाधनपादसेवने सति । तज्जन्यप्रेमभक्तौ । स्वत इति । आत्मीयभक्तेः प्रेम्णः । भगवज्ज्ञानं फलात्मकं 'भक्त्या मामभिजानाती'ति वाक्योक्तम् । 'तं विदित्वे'ति । शारीरब्राह्मणे 'एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न कर्मणा वर्धते नो कनीयान् । तस्यैव स्यात् पदवित् तं विदित्वा न कर्मणा लिप्यते पापकेने'ति । अग्रे 'तस्मादेवंविच्छान्तो दान्तः' इति श्रुतिः । तदिति । फलात्मकं ज्ञानम् । तदाशयः श्रुत्याशयः । प्रकृते । पूर्वार्धे इति । 'एष नित्यो महिमे'त्यस्मिन् । पूर्वोक्तमिति । पादसेवनप्रपञ्चनम् । प्रतिभातीति । प्रेम्णा वैवश्यदशायां पश्चादपि सम्भवात् प्रतिभातीत्युक्तम् । मैवमित्यादीति । स्वरूपेति । शुद्धचित्तस्य भक्तिरिति चित्तशुद्धिसम्पादकत्वम् । स्वरूपस्य भक्तिस्वरूपस्य चित्तशुद्धिर्योग्यता स्वरूपयोग्यता, तत्सम्पादकत्वम् । श्रीभागवतवाक्यादेवकारः । भाष्ये । कर्मतत्फलेति । कर्म चित्तशुद्धिसम्पादकं तत्फलं चित्तशुद्धिः । ननु कुतो न चित्तशुद्धिसम्बन्धो मानसीनत्वादिति चेत् । न । मर्यादाभक्तस्य यदानुग्रहेण पुष्टिभक्तिः तदा पुरुषोत्तमज्ञानमिति पुष्टौ पापाभावस्येव चित्तशुद्धेरप्रयोजकत्वात् । ननु 'स मानसीन आत्मा जनाना'मिति श्रुतेः 'शुद्ध एव रमत' इत्याचार्योक्तेश्च कथं चित्तशुद्धिरूपकर्मफलसम्बन्धाभाव इति चेत् । न । 'जगद्व्यापारवर्ज'मित्यधिकरणे जगद्व्यापाररहित्यात्तत्र । 'प्रवर्तते यत्र रजस्तमस्तयोः सत्त्वं च मिश्रं न च कालविक्रम' इत्यत्र मिश्रसत्त्वनिषेधात् । विशुद्धसत्त्वाभावश्चित्त इति । कालविक्रमरहितसत्त्वत्वं विशुद्धसत्त्वत्वम् । उक्तार्थोपेति । उक्तार्थः कर्मणो ज्ञानाङ्गत्वबोधनं स्यादेतदिति ग्रन्थात् पूर्वग्रन्थोक्तः तदुपष्टम्भार्थं स्यादेतदित्यादिना ग्रन्थेन, एवं पुष्टिमार्गीयत्वेन कर्मविधेस्तात्पर्यम्, अभिधेयं तु

भक्त्या ग्राह्यत्वात् तदितरसाधनाग्राह्यत्वात् । अत एव 'विविदिषन्ति', न तु विदन्त्यपीत्याशयवती 'तमेतं वेदानुवचनेने'ति श्रुतिः पठ्यते ।

न चानुपदमेव, 'तमेव विदित्वा मुनिर्भवती'त्युक्तेः सान्निध्यादुक्तसाधनैरेव वेदनमभिप्रेतमिति वाच्यम् । वेदानुवचनादीनां सर्वेषां वेदनसाधनत्वे सर्वेषां तत्कर्तॄणां वेदनसम्भवेन 'मुनिर्भवती'त्येकत्वं तद्विदि न वदेत्, अतो ज्ञानं कस्यचिदेकस्य भवतीति ज्ञानस्य दुर्लभत्वं ज्ञाप्यते । 'मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये । यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वत' इति भगवद्वाक्याच्च । तर्हि वेदानुवचनादिषु निःशङ्का प्रवृत्तिः कथम्? इत्थम् । 'स वा अयमात्मे'त्यादिकया पूर्वश्रुत्या भगवन्माहात्म्यं श्रुत्वा यथाकथञ्चित् तद्वेदनौत्सुक्ये सति सत्सङ्गाभावेन भक्तिमार्गापरिचयात् कर्ममार्गमात्रमाश्रमधर्मत्वेनालौकिकार्थसाधकत्वेनापि पूर्वं ज्ञातमस्तीति तदेव भगवद्वेदनेपि साधनमिति मन्यमानास्तदेव कुर्वन्ति । ननु वैदिकसाधनानां वैयर्थ्यं कथमिति चेत् । न । भ्रमकृतत्वेऽपि जन्मान्तरीयाक्षरज्ञानोपयोगिसंस्काराधायकत्वेनावैयर्थ्यात् ॥ २० ॥

भाष्यप्रकाशः ।

एवेति । साधनबलेनाग्राह्यत्वादेव । इत्याशयवतीति । यद्यपि 'रथेन जिगमिषती'त्यादाविच्छामात्रस्यापुरुषार्थत्वात् फलपर्यन्तत्वमिष्यत इति प्रकृतेप्येवं वक्तुं शक्यम्, तथापि लोके फलपर्यन्ततायाः प्रायो दर्शनेन प्रतिबन्धाभावे तथा कल्पयितुं शक्यम् । प्रकृते तु 'नायमात्मे'ति श्रुत्या वरणाभावे ज्ञानाभावस्य निश्चितत्वात् केवलेन वेदानुवचनादिना ज्ञानरूपं फलं न वक्तुं शक्यते । अत इच्छायास्तदर्थकयत्नकारणत्वेनेच्छाकारणानां यज्ञादीनां ज्ञानं प्रति स्वरूपयोग्यतासम्पादकत्वमेवेत्याशयवतीत्यर्थः । अग्रिमवाक्यविरोधमाशङ्क्य परिहरन्ति न चानुपदेत्यादि । उक्तसाधनैरिति । वेदानुवचनादिभिः । तथा च 'मुनि'रित्येकवचनश्रुत्यानेनापि तदुपोद्बलनमेव क्रियत इति न तद्विरोध इत्यर्थः । ज्ञानं कस्यचिदेवेति यदुक्तम्, तत्राशङ्कते तर्हीत्यादि । नित्यकर्मणां वेदानुवचनादीनां ज्ञान उत्कटेच्छाजननेन वा सत्त्वशोधनेन वा स्वरूपयोग्यतासम्पादन एव पर्यवसानम्, तदा ज्ञानमूलकारणस्य वरणस्य स्वविषयतानिश्चयस्याभावेन वेदानुवचनादिषु निःशङ्का प्रवृत्तिर्या दृश्यते, सा कथमित्यर्थः । तत्परिहाराय प्रवृत्तिमुपपादयन्ति इत्थमित्यादि । 'स वा अयमात्मा सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किञ्च । स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयानेष भूताधिपतिरेष लोकेश्वर एष लोकपालः स सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाये'ति माहात्म्यश्रवणेन वेदनौत्सुक्ये सति तेन तेषु तत्साधनत्वभ्रमात् प्रवृत्तिरित्यर्थः । ननु भ्रमात् करणे पापभ्रमेण कृतस्य प्रायश्चित्तस्येव तेषां वैयर्थ्यं स्यादित्याशयेनाशङ्कते नन्वित्यादि । तत्र समादधते नेत्यादि । तथा च तत्र कर्मफलनिषेधस्य 'नान्तरिक्षे न दिवी'त्यादिवन्नित्यानुवादरूपत्वादेते पदज्ञानसाधनत्वेन कर्तव्या इति विदित्वा ते कुर्वन्ति । तत्र भक्तिमार्गात्मकपदज्ञानाभावेप्यक्षरात्मकपदज्ञानस्य जन्मान्तरे भवनार्थं मनसि तत्संस्कारमाश्रमधर्मा आदधत इति पूर्वोक्तमक्षुण्णमित्यर्थः । न च पापभ्रमप्रायश्चित्तस्येवास्य वैयर्थ्येपि दोषाभावात् सार्थकत्वसाधनमप्रयोजकमिति शङ्क्यम् । 'न हि कल्याणकृत् कश्चि'दिति न्यायेन पापभ्रमप्रायश्चित्तस्यापि जन्मान्तरे तादृशपापविषयकमनःप्रवृत्त्यभावस्य फलत्वेन वक्तुं शक्यतया किञ्चिदंशेन तत्रापि सार्थक्यस्यैव युक्तत्वात् । तेन पूर्वोत्तरकाण्डयोरैकशाख्यानुरोधादेवं श्रुतितात्पर्यनिश्चयेनैकवाक्यतायां पूर्वस्योत्तरशेषत्वमिति सिद्धम् ॥ २० ॥

रश्मिः ।

कर्मैव, तस्याङ्गीकारे सर्वोत्तममार्गे गुणान्तरं विरुद्धधर्माश्रयत्वेन साधितेपि श्रुत्यविरोधेऽर्थान्तररूपं गुणान्तरम् । एतेनेत्यादीति । श्रुतीनामिति । शारीरब्राह्मणस्थानाम् । साधनेति । भक्तीतरसाधनबलेन । प्रकृते इति । 'वेदानुवचनेन विविदिषन्ती'त्यत्र । फलेति । फलमुत्तरदेशसंयोगो ग्रामसंयोगश्च । प्रायो दर्शनमिच्छायास्तेन । प्रतिबन्धेति । निम्नोच्चभूमिकृतप्रतिबन्धः कार्यविघटनम्, तदभावे । तथेति । फलपर्यन्तं कल्पयितुं शक्यम् । जानातीच्छति यतत इति क्रमेणाहुः तदर्थकेति । यज्ञादीनामिति । ज्ञानजनकत्वात् पञ्चरात्रशास्त्राच्च ज्ञानरूपाणाम् । ज्ञानं प्रतीति । भक्तिं प्रति । गीतायां भक्तौ शक्तिर्ज्ञानशब्दस्य । स्वरूपेति । चित्तशुद्धिद्वारा । स्वरूपं भक्तेः । योग्यता चित्तशुद्धिरित्युक्तमेव । तस्याः सम्पादकत्वम् । यद्वा । इच्छाकारणानामित्यादेर्ग्रन्थस्यायमर्थः । 'तमेत'मितिश्रुतौ भक्त्यप्रतीतेः । इत्थं च इच्छा कारणं येषां यत्नरूपाणां यज्ञादीनाम् । न तु विदन्त्यपीतिभाष्यात् ज्ञानं प्रति स्वरूपेत्यादिः । स्वरूपं ज्ञानस्वरूपम् । योग्यता चित्तशुद्धिः । तस्याः सम्पादकत्वम् । अग्रिमेत्यादि । अयमनुपदम् । पदं विविदिषन्तीति । न तु विदन्त्यपीत्यनेन विरोधः 'तमेव विदित्वे'त्यस्य । तं विरोधं परिहरन्ति न चानुपदेत्यादीति । पदं विविदिषन्तीति तल्लक्षीकृत्येत्यनुपदम् । भागे वा । उक्तपदं अग्रिमवाक्यभाग इत्यर्थः । एवेति । एवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदकः । कस्यचिदिति । शुद्धचित्तस्य । मुनिरित्येकेति । कश्चिदेवेत्यत्र हेतुः । तदुपोद्बलनमिति । न तु विदन्त्यपीत्यस्योपोद्बलनम् । तर्हीति । एकदेशविकृतन्यायात् न तु विदन्त्यपीत्यनेन तमेव विदित्वेत्यस्य विरोध इत्यर्थः । वेदानुवचनादीनामिति । वेदानुवचनमपि याग इति सामानाधिकरण्यम् । ज्ञान इति । चित्तस्य शुद्धत्वादिति भावः । अन्यथा कर्मविषयकत्वाद्यादीनां कर्मविषयिणीच्छेति कर्मविषयिण्युत्कटेच्छा स्यात् तज्जननेन । स्वरूपेति । व्याख्यातम् । ज्ञानमूलेति । ज्ञानकरणं कर्म चित्तशुद्धिद्वारा । मूलकारणं वरणं यथा कर्मणि यथा भक्तौ तथा ज्ञानेपि कल्प्यं तस्य कृतस्य । स्वेति । अयं ज्ञानमार्गीयं वरणं प्राप्य ज्ञानेन मां प्राप्नोत्विति वरणस्य स्वविषयतानिश्चयः । तस्याभावेन । अवान्तरप्रवर्तकाभावेन । निःशङ्केति । कस्यचिदेव ज्ञानमिति शङ्काकारणसत्त्वात् । तेनेति । औत्सुक्येन । तेषु । वेदानुवचनादिषु । तत्साधनत्वेति । ज्ञानसाधनत्वभ्रमात् । तेषामिति । वैदिकसाधनानाम् । वैयर्थ्यं कथं स्यादित्यर्थः । तत्रेति । भ्रमात्करणे । कर्मेति । अप्राप्तप्रतियोगिकस्य । नान्तरिक्ष इति । अग्निश्चेतव्य इति सम्बन्धः । नित्येति । प्रत्यक्षसिद्धार्थानुवादाद्यथा 'अग्निर्हिमस्य भेषज'मिति । एत इति । आश्रमधर्माः । 'तस्यैव पदवित् स्या'दिति श्रुत्युक्तपदज्ञानसाधनत्वेन । पूर्वोक्तमिति । वैदिकसाधनानां वैयर्थ्यं भ्रमकृतानां संस्कारफलानामक्षुण्णम् । ऐकशाख्येति । 'संहतमेतच्छास्त्रं जैमिनीयेन षोडशलक्षणेने'तिवृत्त्या तथा । सर्वोत्तममार्गे तु 'तमेत'मिति श्रुत्यैकवाक्यता वृत्तेरानुगुण्याद् भक्तिपर्यन्तम् । वेदानुवचनेनाधिदैविकशुद्ध्या भक्तिरिति । 'यथानुष्ठीयमानेन त्वयि भक्तिर्यथा भवे'दिति युधिष्ठिरवाक्यात् । न तु विदन्त्यपीति भाष्यमनुग्रहरहितकर्तृपरम् । एवमिति । उक्तप्रकारेण । श्रुतीनां पूर्वोत्तरकाण्डस्थानां तात्पर्यनिश्चयेन ॥ २० ॥

स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात् ॥ २१ ॥

ननु साम्यश्रुतेर्हेतोः कर्मशेषत्वं ज्ञानस्य यदपास्तम्, तन्नोपपद्यते । साम्योक्तेर्ज्ञानस्तुतिरूपत्वात् । अपि च । तथा ज्ञानिनोपि कर्मोपादानात् कर्मकृतिस्वीकारादिति यावत् । अन्यथा ज्ञानिनां कर्मकृत्यभावेन तत्कृतगुणदोषाप्रसक्त्या तन्निषेधानुपपत्तिः स्यात् । तेषामपि तत्कृतगुणदोषसम्बन्धोऽस्त्येवेति ज्ञापनाय मात्रपदम् । निषेधेनेतरसाधारण्यं परिह्रियते । तथा च ज्ञानिनोपि कर्मकरणात् कर्मशेषत्वं ज्ञानस्य निष्प्रत्यूहमिति चेत्, नैवं वक्तुं युक्तम् । पदज्ञानस्य कर्मफलासम्बन्धफलकत्वस्यापूर्वत्वाद्विधेयत्वमेव । न हि यस्य कर्मणो ज्ञानस्य वा यत्फलं तदुक्तिरपि स्तुतिरेवेति युक्तम् । तयोरुच्छेदापत्तेः । विधिर्हि प्रवर्तकः । तस्य

भाष्यप्रकाशः ।

स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात् ॥ २१ ॥ अत्रैव किञ्चिदाशङ्क्य परिहरतीत्याशयेन सूत्रं विवृण्वन्तः पूर्वपक्षभागं व्याकुर्वन्ति नन्वित्यादि । ननु यदि साम्यश्रुत्या कर्मोपादानमापाद्यते, तदा निषेधश्रवणं बाधितमेव स्यादित्यत आह निषेधेनेत्यादि । इतरसाधारण्यमिति । अज्ञानिनां यथा कर्मजगुणदोषः, तथा ज्ञानिनो नेति [1]तथेत्यर्थः । कर्मशेषत्वमिति । सन्यासाश्रमीणकर्मशेषत्वम् । परिहारभागं व्याकुर्वन्ति नैवमित्यादि । अपूर्वत्वाद्विधेयत्वमिति । यथा 'प्रतितिष्ठन्ति ह वै य एता रात्रीरुपयन्ती'त्यत्र रात्रिसत्रीयप्रतिष्ठाफलकत्वस्यापूर्वत्वाद् विधेयत्वमेव, न तु स्तुतिमात्रत्वं तथेत्यर्थः । तदेतदुपपादयन्ति न हीत्यादि । यस्येति पदं 'यत् फल'मित्यनेन सम्बध्यते । हिर्हेतौ । विधिर्हीत्यत्रापि तथा । एवमिति ।

रश्मिः ।

स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात् ॥ २१ ॥ परिहरतीति । सूत्रकारः । नन्वित्यादीति । यदपास्तमिति । 'असुर्या नामे'ति श्रुत्या कर्मनिन्दाया वितण्डयापास्तम् । स्तुतीति । असदुत्कर्षाधायकगुणवर्णनरूपत्वात् । यथा 'सौधाग्राणि स्पृशन्ति विधुमण्डल'मिति सौधस्तुतिः । मात्रच्प्रत्ययान्तस्याव्ययत्वेन पञ्चम्यन्तत्वम् । सौत्रो वा लुक् पञ्चम्याः । स्तुत्योपादानादिति स्तुतिपदानुवृत्त्या हेत्वन्तरमन्यच्चेत्यर्थोपि चेत्यस्य । तयेति । स्तुत्या । आसस्य ज्ञानिनोपि । तन्निषेधेति । कामकारसूत्रोक्तायां 'एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्ये'ति श्रुतौ कर्मकृत्यभावकृतगुणदोषनिषेधानुपपत्तिः । तेषामित्यादि । ज्ञानिनामपि कर्मकृत्यभावकृतगुणदोषसम्बन्धः । मात्रपदमिति । स्तुतिरेव स्तुतिमात्रमित्यवधारणार्थकमात्रपदम् । स्तुतज्ञानमात्रस्थितौ कर्मकृत्यभावकृतगुणदोषसम्बन्ध इति भावः । आपाद्यत इति । साम्यश्रुतेः स्तुतिमात्रपरायाः ज्ञानस्य कर्मसाम्यं स्यात्, तदा ज्ञानिनां कर्मोपादानं न स्यात्, वर्तते तु विपरीतम्, अतो ज्ञानिनां कर्मोपादानापत्तिः एवमापाद्यते । बाधितमिति । 'मम माता वन्ध्ये'तिवन्निर्विषयं स्यात् । ज्ञानिनो नेति । तेनेतरैरज्ञानिभिः साधारण्यं परिह्रियत इति भाष्यार्थः । अयमेव तथेत्यस्यार्थः । सन्यासाश्रमीणेति । सन्यासाश्रमे कर्माणि सत्रागारभिक्षुचर्यादि तच्छेषत्वं कर्मज्ञाने । 'ज्ञात्वा कर्म कुर्या'दिति । तथेत्यर्थ इति । 'तस्यैव पदवित् स्यात्' इत्यत्र पदज्ञानस्य 'एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्ये' तिश्रुत्युक्तो यः गुणदोषफलासम्बन्धः तत्फलकत्वस्य । 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुत' इति । 'स्यादि'ति विधिस्तद्विषयत्वं विधेयत्वं तथेत्यस्यार्थः । पदज्ञानवानेवेति भाष्य एवकारेण ज्ञानप्रतिबन्धकगुणदोषफलसम्बन्धव्यवच्छेदः क्रियत

१. तयेतिरश्मिपाठः ।

पुरुषप्रवृत्त्युपयोग्यर्थकथनेनैव चारितार्थ्यादन्यार्थकथनस्य स्तुतित्वमस्तु नाम । न ह्येवं प्रकृते । मुमुक्षोः कर्मबन्धाभावप्रेप्सोस्तत्साधनत्वज्ञान एव प्रवृत्तिसम्भवात् । यच्च कर्मफलसम्बन्धनिषेधानुपपत्त्या कर्मसम्बन्ध इत्युक्तम्, तन्न साधीयः । न हि तरणौ तमःकार्याभाव इत्युक्ते तत्प्राप्तिरपि सम्भवति । अथवा । पुरुषोत्तमज्ञानमुख्यफलस्यातिमहत्त्वेन साक्षाद्वक्तुमशक्यत्वं ज्ञापयन्ती कैमुतिकन्यायेन परम्परया तदाहनयर्चा 'तं विदित्वा ब्राह्मणो भवती'ति श्रुतेर्ब्राह्मणपदेन ब्रह्मविदुच्यते । तथा चाद्यपदेन बुद्धिस्थब्राह्मणमाहात्म्योद्देशो कृते, स क इत्याकाङ्क्षायामाह, तं ब्राह्मणं विदित्वा विहितनिषिद्धफलासम्बन्धी भवतीतिलक्षण इत्यर्थः । साक्षाद्भगवद्विदः किमु वाच्यमिति भावः । अतस्तस्यैव तच्छब्दस्य *पूर्वपरामर्शित्वात् ब्राह्मणस्यैव भगवद्विदो भक्तस्यैव पदवित् स्यात्*, तज्ज्ञानानुकूलप्रयत्नवान् स्यात्, तद्भजेतेति यावत् । तथा च यत्र [1]भक्तविद्विषयकज्ञानस्याप्युक्तरीत्या न कर्मशेषत्वं वक्तुं शक्यम्, तत्र भगवज्ज्ञानस्य तथात्वं दूरदूरतरमिति सर्वं सुस्थम् ॥ २१ ॥

भाष्यप्रकाशः

अन्यार्थकथनम् । पूर्वोक्तमाशङ्कान्तरमनूद्य परिहरन्ति यच्चेत्यादि । 'यतो वाचो निवर्तन्त' इत्यत्राकुतोभयस्य भगवज्ज्ञानफलत्वश्रवणात् । ततो न्यूनं [2]कर्मफलसम्बन्धाभावमात्रस्य फलत्वकथनमप्रयोजकमित्यरुच्या 'एष नित्य' इति ऋगुत्तरार्धं प्रकारान्तरेणाहुः अथवेत्यादि । तदाहेति । महत्त्वमाह । तद्विशदयन्ति तमित्यादि । 'तं विदित्वे'ति व्याख्येयप्रतीकम् । श्रुतेरिति । विपापादिपदोत्तरं पठितान्निरपेक्षाच्छब्दात् । आद्यपदेनेति । एष इति पदेन । स क इति । ब्राह्मणः कः । विहितनिषिद्धफलासम्बन्धीति । पापकपदे पापं कं सुखं यस्मादित्यस्याप्यर्थस्य सङ्ग्रहीतुं शक्यत्वात् तथेत्यर्थः । तद्भजेतेति । पदं भजेत । सुस्थमिति । कर्मफलासम्बन्धस्य विधेयत्वेन स्तुतिरूपताया आदर्तुमशक्यत्वाज्ज्ञानस्य न सन्यासाश्रमीणकर्मशेषत्वमिति यदुक्तं तदक्षुण्णमित्यर्थः ।

रश्मिः ।

इति कर्मफलासम्बन्धफलकत्वस्य विधेयत्वम् । पूर्वोक्तमिति । अत्रैव पूर्वोक्तम् । भगवदिति । 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वा'नित्यनेनानन्दात्मकभगवज्ज्ञानफलत्वश्रावणात् । न्यूनेति । न्यूनञ्च तत् कर्मफलसम्बन्धाभावमात्रं तस्य । कर्मफले गुणदोषौ तयोः सम्बन्धस्तस्याभावः स एव तन्मात्रं तस्येति व्याख्यातम् । अथवेत्यादीति । पुरुषोत्तमज्ञानफलं प्रवेशः मुख्यं फलं पदवित्त्वं तस्य । महत्त्वमिति । उपकारस्मृत्या पूज्यत्वम् । अनया ऋचा वेद आह । एष इति पदेनेति । 'एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्ये'ति श्रुतिस्थपदेन । भाष्ये । बुद्धिस्थेति । एष बुद्धौ सन्निहितः इच्छाद्वारा ज्ञानकार्यस्य उद्देशकृतिरूपयत्नस्याग्रे दर्शनात् । नित्यो महिमेति । तथा च बुद्धिस्थं ब्राह्मणस्य महिमरूपमाहात्म्यं तस्योद्देश इत्यर्थः । प्रकृते । पापकेति । 'तस्यैव स्यात् पदवित् तं विदित्वा न कर्मणा लिप्यते पापकेने'त्यत्रपापकपदे । तथेति । विहितनिषिद्धफलासम्बन्धीत्यर्थः । पुष्टिमार्गे पापस्य प्रतिबन्धकत्वमाशङ्क्य श्रुत्योक्तम् । भाष्ये । इतिलक्षण इति । एष इति पूर्वोक्तवि-

१. भगवद्विद्विषयक इति पाठः । २. रश्मौ न्यून...फलेति समस्तं पदम् ।
६० ब्र० सू० ९०

पारिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात् ॥ २२ ॥

अथ प्रकारान्तरेण शङ्कते । 'भृगुर्वै वारुणिर्वरुणं पितरमुपससार' 'अधीहि भगव' 'इति होपससाद सनत्कुमारं नारदः' 'प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं

भाष्यप्रकाशः ।

एतदग्रे भावशब्दाच्चेति सूत्रं पठ्यते । तत्र च भावशब्दादित्यस्य विधिशब्दादित्यर्थः । तथा चापूर्वत्वादेव न पदज्ञानस्य विधेयत्वकल्पनम्, किन्तु 'पदवित् स्या'दिति विधिशब्दादपीत्यर्थो वक्तव्यः । 'कुर्यात् क्रियेत कर्तव्यं भवेत् स्यादिति पञ्चमम् । एतत् स्यात् सर्ववेदेषु नियतं विधिलक्षणम्' इति वाचस्पतिलिखितात् न्यायविदां स्मरणात् ।

तच्च 'विधिर्वा धारण'वदित्यत्रैतस्यैव 'स्यात् पदवि'दिति श्रुतिव्याख्यानेनैव व्युत्पादितम्, अतः प्रयोजनाभावादुपेक्षितमिति प्रतिभाति । लेखकदोषात् त्रुटितं वेति ज्ञेयम् ।

अन्ये तु, 'स्तुतिमात्र'मित्यादिद्विसूत्रमधिकरणान्तरमङ्गीकृत्य, 'स एष रसानां रसतमः परमः परार्ध्योऽष्टमोयं उद्गीथ' इत्याद्याः श्रुतयः किमुद्गीथादिस्तुत्यर्थाः, उतोपासनविध्यर्था इति संशये, उद्गीथादिकर्माङ्गान्युपादाय श्रावणात् स्तुत्यर्था इति शङ्कायाम्, अपूर्वत्वाद्विध्यर्थाः 'उद्गीथमुपासीते'ति विधिशब्दाच्च तथेत्याहुः । ततः पारिप्लवादिसूत्रत्रयमप्यधिकरणान्तरत्वेनोक्त्वा, अग्नीन्धनसूत्रं, 'पुरुषार्थोऽतः शब्दा'दित्याद्यधिकरणस्य फलोपसंहारार्थमिति चाहुः ।

तन्नास्माकं रोचते । विद्यायाः स्वतः पुरुषार्थत्वसाधनाय सव्यासस्य तदङ्गत्वसाधनाय चाचार्यस्य प्रवृत्तत्वान्मध्ये उद्गीथादिविचारे प्रसङ्गस्यादर्शनादिति दिक् ॥ २१ ॥

पारिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात् ॥ २२ ॥ अत्राशङ्कान्तरं परिहर्तुमेषा

रश्मिः ।

हितनिषिद्धफलासम्बन्धीतिलक्षणः । **प्रकृते । पदं भजेत** । पादसेवनं चतुर्थं भजनं कुर्वीत । तदुक्तं 'निवृत्ततर्षैरुपगीयमाना'दिति । उपगानं समीपमागत्य गानम्, समीपागमनं पद्भ्यामिति पदयोरुपकारं स्मृत्वा भजेत । पादुकाद्वारा । 'त्वत्पादुकामविरतं परि ये चरन्ती'ति वेदस्तुतौ । पादसंवाहनं वा तदुक्तं 'तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकाम' इति । **भाष्ये । उक्तरीत्येति** । द्वितीयव्याख्यानोक्तरीत्या । **दूरेति** । दूरात् तद्विषयकज्ञानात् दूरतरं भगवज्ज्ञानस्य तथात्वं कर्मशेषत्वम् । **प्रकृते । कर्मफलेति** । भक्तिमार्गीयज्ञानवानेव स्यादिति पदवित्पदव्याख्यानभाष्य एवकारार्थविवरणेन विवृतम् । 'विधिर्वा धारणव'दिति सूत्रे । **स्तुतीति** । व्याख्यातम् । **पठ्यत इति** । शङ्कराचार्यादिभिः स्वभाष्येषु पठ्यते । **कर्माङ्गानीति** । सावयवत्वापादकानि । **भावशब्दाच्चेति** सूत्रार्थमाहुः **उद्गीथमिति । तथेति** । उपासनविध्यर्थाः । **फलोपेति** । फलं अग्नीन्धनाद्यपेक्षाभावः तस्योपसंहारार्थम् । **अस्माकमिति** । अस्मभ्यमिति वक्तव्ये समबुद्धित्वाय सर्वत्र 'रुच्यर्थानां प्रीयमाण' इति सूत्रात् स्वस्य प्रीयमाणत्वाभावाद्वा षष्ठी । **विद्याया इति** । 'पुरुषार्थोऽत' इति सूत्रीयातःशब्दार्थः । **उद्गीथादीति** । आदिनोद्गीथाङ्गानि ॥ २१ ॥

पारिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात् ॥ २२ ॥ आशङ्कान्तरमिति । पारिप्ल-

धामोपजगामे'त्याद्युपाख्यानैर्हि ब्रह्मविद्या निरूप्यते । 'सर्वाण्याख्यानानि' पारिप्लवे शंसती'ति श्रुत्या शंसनशेषत्वं तेषामवगम्यते । शंसने शब्दमात्रस्य प्राधान्येनार्थज्ञानस्यातथात्वादुपदेशान्ताख्यानप्रतिपाद्यं ज्ञानं मन्त्रार्थवदप्रयोजकमिति कर्मशेषत्वमपि न वक्तुं शक्यम् । प्राधान्यं तु दूरापास्तम् । धर्मिण एवासिद्धिरित्याह । **पारिप्लवार्था इति** । उक्तरीत्या सर्वा उपाख्यानश्रुतयः कर्मशेषभूता इत्यर्थः अत्राचार्य एवमपि कर्मशेषत्वं ज्ञानस्य न सम्भवतीत्याह नेति । कुतः । **विशेषितत्वात्** । कर्मणः सकाशाज्ज्ञानं विशेषितमधिकधर्मविशिष्टत्वेनोक्तमिति न ज्ञानस्य कर्मशेषत्वमित्यर्थः । ननु विशेषितत्वमाख्यानेष्वेवेत्यप्रयोजको हेतुरिति चेत् । मैवम् । आचार्याशयानवगमात् । तथाहि । पूर्वं 'तुष्यतु दुर्जन' इति न्यायेनाख्यानानां शंसनशेषत्वमुपेक्षित्वोच्यते । न ह्याख्यानेष्वेव ज्ञानं निरूप्यते, किन्त्वन्यत्रापि । तथा हि । तैत्तिरीयके पठ्यते । 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्, तदेषाभ्युक्ता, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'त्युपक्रम्य, माहात्म्यविशेषज्ञानार्थमाकाशादिकर्तृत्वमुक्त्वा, आनन्दमयत्वं रसरूपत्वमुक्त्वा, 'भीषास्मा'दित्यादिना सर्वनियामकत्वं चोक्त्वा, भगवानेव पूर्णानन्द इति ज्ञापनायानन्दगणनां कृत्वा, आनन्दमयं पुरुषोत्तमं प्राप्तेनानुभूयमानानन्दस्वरूपं, 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सहे'त्यादिनोक्त्वा, तद्विदो माहात्म्यमुच्यते 'एतꣳ ह वा व न तपति किमहं साधु नाकरवं किमहं पापमकरव'मिति । अत्र ज्ञानवान् सच्चिद्रूपदेशकालापरिच्छिन्नं सर्वकर्तारं निरवध्यानन्दात्मकं सर्वनियामकं मनोवागगोचरं पुरुषोत्तमं प्राप्नोति, कर्म तु स्वयं क्लेशात्मकम्, तद्वांश्च 'अस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ती'ति श्रुतेः क्षुद्रतरानन्दजनकस्वर्गपश्वादिफलमाप्नोतीति विहितनिषिद्धकर्मणोश्चाप्रयोजकत्वं तस्मिन्नुच्यत इति कर्मणः सकाशाज्ज्ञानस्य निरवधिरेव विशेष उच्यत इति न धर्म्यसिद्धिः, न वा कर्मशेषत्वं ज्ञानस्य सिध्यति ॥ २२ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

त्रिसूत्रीत्याशयेनैतस्य पूर्वपक्षांशमवतारयन्ति अथेत्यादि । **तेषामिति** । उपाख्यानानाम् । **धर्मिण एवासिद्धेरिति** । धर्मिणो ज्ञानस्यैव अप्रयोजकत्वादसिद्धेः । परिहारांशमवतारयन्तो व्याकुर्वन्ति अत्रेत्यादि । **विशेषितमिति** । विशेषः सञ्जातोऽस्येति विशेषितम् । अधिकधर्मविशिष्टत्वं च परमानन्दरूपफलजनकत्वं ज्ञेयम् । तदेवाग्रे व्युत्पाद्यम् । शेषं स्फुटम् ॥ २२ ॥

रश्मिः ।

वकर्मशेषत्वं ज्ञानस्येत्याशङ्कान्तरम् । **भाष्ये । उपदेशान्तेति** । 'मामुपास्स्वे'ति प्रतर्दनं प्रतीन्द्रोपदेशान्ताख्यानप्रतिपाद्यम् । **प्रकृते । विशेषितमिति** । 'तारकादिभ्य इतच्' । **शेषमिति** । ज्ञानं कर्मशेषत्वाभाववत्, विशेषितत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं लौकिकघटवत् । इत्यत्राख्यानेषु हेतोः साध्याभाववद्वृत्तित्वात् साधारण्यमाहुः **ननु विशेषितत्वमिति । अप्रयोजक इति** । साधारणो हेतुः विशेषितत्वरूपः । **उपेक्षित्वेति** । क्त्वो ल्यबभावश्छान्दसः । **अत्रेति** । भृगुप्रपाठके । **तस्मिन्नुच्यते इति** । भृगुप्रपाठके ब्रह्मवित्प्रपाठके 'एतꣳह वा व न तपती'ति श्रुत्योच्यते इत्यर्थः । एवं शेषं स्फुटम् ॥२२॥

तथाप्याख्यानप्रतिपादितविद्यानामसिद्धिरेवेति चेत्, तत्राह ।

तथा चैकवाक्यतोपबन्धात् ॥ २३ ॥

यथा केवलश्रुतेर्विद्याप्राधान्यम्, तथैवोपाख्यानश्रुतीनामित्यर्थः । चकारेण प्रश्नोत्तरैर्निर्णीतार्थप्रतिपादनम् । महतामेवात्र प्रवृत्तिः । सापि बह्वायासपूर्विकेति विद्यामाहात्म्यज्ञापनं प्ररोचनं चाधिकमुपाख्यानानामुपाख्यानं विनैव विद्यानिरूपिकायाः श्रुतेः सकाशादित्युच्यते । तत्र हेतुरेकवाक्यतोपबन्धादिति । 'आचार्यवान् पुरुषो वेदे'ति श्रुत्यैकवाक्यताज्ञानमाख्यानं विना न भवतीति तदर्थमुपबन्धात् गुरुशिष्यकथोपबन्धादित्यर्थः ।

अथवा । उपाख्यानरहितायां श्रुतौ यथा ज्ञानं निरूप्यते, तथैव 'अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारद' इत्याद्याख्यानेष्वपि निरूप्यत इत्यनाख्यानश्रुत्यैकवाक्यतयैवाख्याने ज्ञानस्वरूपोपबन्धात् प्रतिपादनादित्यर्थः ।

भाष्यप्रकाशः ।

तथा चैकवाक्यतोपबन्धात् ॥ २३ ॥ सूत्रप्रयोजनमाहुः तथापीत्यादि । असिद्धिरिति । कर्मशेषत्वाभावस्यासिद्धिः । तथा चाशङ्कान्तरस्य निवृत्तत्वेऽप्युक्ताशङ्काया अनिवृत्तत्वादेकदेशदोषपरिहारायेदं सूत्रमित्यर्थः । व्याकुर्वन्ति यथेत्यादि । प्ररोचनं चाधिकमिति । इदमवान्तरफलमधिकम् । कथमेकवाक्यतोपबन्ध इत्याकाङ्क्षायां तामुपपाद्याहुः आचार्येत्यादि । सर्वासां परविद्यानां परब्रह्मैवार्थः, तत्प्राप्तिरेव च प्रयोजनम् । 'आचार्यवान् पुरुषो वेदे'ति श्रुतिश्छान्दोग्ये श्वेतकेतूपाख्याने 'यथा सौम्य पुरुषं गन्धारेभ्योऽभिनिबद्धाक्ष'मित्युपक्रम्य पठिता । तत्र तद्दृष्टान्तेन आचार्योच्छिष्यस्य ब्रह्मज्ञानादिकं श्राव्यते । अतः सर्वा एव विद्या गुरुशिष्यसाकाङ्क्षाः । तदेतच्छ्रुत्युक्तमेकवाक्यताज्ञानमाख्यानं विना न भवतीति तदर्थं तदुपबन्धात् । तथा च केवलानां यथा न शंसनशेषत्वम्, तथा आख्यानोक्तानामपि नेत्यर्थः ।

अन्ये तु सूत्रे 'एकवाक्योपबन्धा'दिति पाठमङ्गीकृत्य एकवाक्यतयोपबन्धं व्याकुर्वन्त, एकवाक्यपदं भावप्रधानं बोधयन्तीति न कश्चिद्विशेषः ।

रश्मिः ।

तथा चैकवाक्यतोपबन्धात् ॥ २३ ॥ तथापीत्यादीति । यद्यपि 'एतद्ध वा व न तपती'ति श्रुत्या विहितप्रतिषिद्धकर्मणोरप्रयोजकत्वम्, तथापि 'सर्वाण्याख्यानानि पारिप्लवे शंसती'ति श्रुत्या आख्यानप्रतिपादितेत्यादि । **उक्तेति** । आभासोक्ताशङ्कायाः । **एकदेशेति** । शङ्कैकदेशः । शङ्का धर्म्यसिद्धिविषया ज्ञानस्य कर्मशेषत्वविषया च शङ्कान्तरपदेनोक्ता, तत्रैकदेशः ज्ञानस्य कर्मशेषत्वं तस्य दोषस्य परिहारायेत्यर्थः । **यथेत्यादीति** । तथा चेति सूत्रांशार्थः । तथा चकारार्थमाहुः **चकारेणेति** । **गुरुशिष्येति** । 'अर्थैकत्वात् एकं वाक्यं साकाङ्क्षं चेत्, विभागे स्या'दित्यत्र द्वितीयाध्याये । परस्पराकाङ्क्षयैकवाक्यत्वमुक्तम् । अत्र विद्यानां केवलज्ञानानां गुरुशिष्यघटितोपाख्यानापेक्षा तयार्थैकत्वादेकं वाक्यमित्युक्तम् । **तदर्थमिति** । तेन त्रिपदमिदं सूत्रं एकवाक्यतया उपनिबन्धात् तृतीयासमासः । **अपि नेति** । विशिष्टं शुद्धान्नातिरिच्यत इति भावः । ननु तथापि 'सर्वाण्याख्यानानी'ति श्रुतिविरोधस्तु स्यादिति चेत् । न । सर्वाण्युपाख्यानानि शंसत्येव,

नैकट्यवाचिनोपपदेन वस्तुसती[1]' या तत्तद्गुरुतत्तच्छिष्यकथा तत्सामीप्यमत्रोच्यते अन्यथा सामीप्यासम्भवादतः कल्पितत्वशङ्कानिरासः ।

नन्वेवमपि पारिप्लवार्थत्वे न बाधकं पश्याम इति चेत् । उच्यते । अश्वमेधप्रकरणे, 'मनुर्वैवस्वतो राजे'त्यादीन्याख्यानानि यत्र पठितानि, तत्र सामान्यतस्तेषां विनियोगः, 'सर्वाण्याख्यानानि पारिप्लवे शंसती'त्यनेनोक्त इति सर्वशब्दस्तदा-

भाष्यप्रकाशः ।

नन्वेवमाख्यानरहितानामप्याख्यानोक्तार्थाकाङ्क्षत्वात्तासामेवैतच्छेषत्वम् न त्वाख्यानवतीनां तच्छेषत्वमिति नोक्तदोषनिवृत्तिरित्यपेक्षायां पक्षान्तरमाहुः अथवेत्यादि । तथा च यदि तत्रान्यदेवोच्येत तत्परत्वमेव स्यात्, न ज्ञानपरत्वम् । निरूप्यते तु ज्ञानस्वरूप एतासामपि केवलविद्याशेषत्वम्, अतो न दोष इत्यर्थः । सूत्र उपोपसर्गकथनस्य तात्पर्यमाहुः नैकट्येत्यादि ।

अत्र पुनराशङ्कते नन्वित्यादि । एवं पूर्वव्याख्याने तासामुपाख्यानाकाङ्क्षा, द्वितीये चोपाख्यानानां तदाकाङ्क्षेति परस्पराकाङ्क्षयैकवाक्यत्वे उभयविधवाक्यानां पारिप्लवशेषता[2] अदण्डवारितेति तथेत्यर्थः । अत्र समादधते उच्यत इत्यादि । तथा च प्रकरणेन सर्वशब्दार्थसङ्कोचावगमादनेन वाक्येन विद्यानां न कर्मशेषत्वसिद्धिरित्यर्थः । उक्तेऽर्थे लिङ्गमप्युपोद्बलकमाहुः एवं सतीत्यादि ।

रश्मिः ।

न तूपाख्यानानां पारिप्लवाङ्गत्वमित्याशयात् । एवमिति । तेन द्विपदमिदं सूत्रं एकवाक्यताया उपनिबन्धात् । शेषत्वं निषेधे । **आख्यानेति** केवलज्ञानानाम् । **आख्यानेति** । विज्ञानां विधेयत्वनिर्वाहायोपाख्यानोक्तार्थस्य विधेयस्तावकस्य आकाङ्क्षत्वादित्यर्थः । यः स्तूयते, स विधीयते इति पूर्वमीमांसकोक्तेः । किञ्च 'केवलानां यथा न पारिप्लवशंसनशेषत्वं तथाख्यानोक्तानामपि विद्यानां पारिप्लवशंसने उक्तार्थेति तु केवलभारहारकत्वनिवृत्त्यै । 'केवलभारहारः स्यादधीत्य वेदं यो न जानात्यर्थमिति' । एवमप्येकवाक्यतोपबन्धात् । **तासामिति** । आक्षिप्ताख्यायिकानां केवलानाम् । **एतच्छेषत्वम्**, पारिप्लवशेषत्वम् । 'सर्वाण्याख्यानानी'ति श्रुतावाख्याने विशेषाश्रवणात् । **तच्छेषत्वमिति** पारिप्लवशेषत्वम् । **उक्तेति** । भाष्यीयाभासोक्तदोषनिवृत्तिः । **अथवेत्यादीति** । श्रुतावित्यस्य 'साङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चे'त्यस्याम् । अनारभ्याधीतत्वादस्याः । **निरूप्यत इत्यस्य** 'तरति शोकमात्मविद्' इति श्रुत्या निरूप्यत इत्यर्थः । एकवाक्यतेत्यस्यार्थैकत्वेन तथेत्यर्थः । **आख्यान इत्यस्य** भृगूपाख्यान इत्यर्थः । **तत्रेति** । आख्यानरहितविद्यासु । **अन्यदेव** ज्ञानाद्भिन्नमेव । **एतासामपीति** पारिप्लवशेषभूतानाम् । **अतो नेति** । विद्याशेषत्वात् न भाष्यीयाभासोक्तो दोषः आख्यानप्रतिपादितविद्यानां कर्मशेषत्वाभावस्यासिद्धिरूपः । **नैकट्येत्यादीति** । **वस्तुसजातीयेति** समानसंवित्संवेद्या ज्ञानादिवस्त्वाकाङ्क्षिता । यथा ज्ञानं कथावस्त्वाकाङ्क्षितमित्याकाङ्क्षितत्वेन सजातीयत्वं वा । **अन्यथेति** । आकाङ्क्षितत्वाभावे । कल्पितत्वस्य अर्थवादत्वस्य शङ्कानिरासः वस्तुसजातीयत्वात् । **तासामिति** । केवलानां विद्यानां तदाकाङ्क्षेति केवलविद्याकाङ्क्षा । **उभयेति** । केवलश्रुत्युपाख्यानश्रुत्योरिव उभये केवलोपाख्याने विधेयेषु तानि वाक्यानि उभयविधवाक्यानि तेषाम् । **पारिप्लवेति** । 'सर्वाण्याख्यानानि पारिप्लवे शंसती'ति श्रुत्या पारिप्लवशेषिता एतयैव श्रुत्याऽदुष्टा सा न दण्डेन युक्त्यन्तरेण वारितेत्यर्थः । यथा दण्डेन गामभ्याजेत्यत्र दुष्टां गां तथेत्येवं प्रकृते नेत्यदण्डवारिता । **तथेमीति** । एवमपि पारिप्लवार्थत्वे बाधकं न पश्याम इत्यर्थः । **अनेनेति** । पारिप्लवेन वाक्येन । **लिङ्गमिति** 'पारिप्लवमा-

१ वस्तुसजातीयेतिरश्मिपाठः व्याख्यातश्च तथा । २ पारिप्लवशेषितेति रश्मिपाठः ।

ख्यानपर एव, न त्वाख्यानान्तरपरोऽपि। प्रकरणस्य नियामकत्वात्। एवं सति, यदा पारिप्लवाख्यकर्मप्रस्तावः, तदा विशेषविनियोग उक्तः। 'पारिप्लवमाचक्षीते'ति। तत्र प्रथमेऽहनि 'मनुर्वैवस्वतो राजे'ति। द्वितीयेऽहनि 'इन्द्रो वैवस्वत' इति। तृतीयेऽहनि 'यमो वैवस्वतो राजे'त्याद्याख्यानविशेषा वाक्यशेषे विनियुज्यन्ते। आख्यानसामान्यपरत्वे त्वह्नोविशेष उपाख्यानविशेषविधानं न स्यात्। अत एव पारिप्लवमित्येकवचनम्, अतो नाख्यानान्तरगन्धसम्बन्धोऽपि। ज्ञापकाभावात्॥ २३॥

अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा॥ २४॥

एवं 'पुरुषार्थोऽतः शब्दा'दित्युपक्रम्य ज्ञानस्य फलसाधने कर्माऽनपेक्षत्वमुपपाद्य तत्रैवोपपत्त्यन्तरमाह। यतो ज्ञानी ज्ञानेन स्वयमेव यज्ञात्मको जातः, अत एव जरामर्याग्निहोत्रेऽग्निस्तदिन्धनं समिदादि, तदादय आज्यादयस्तेषामनपेक्षोक्ता। श्रुतौ तैत्तिरीयके पठ्यते। 'तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः श्रद्धा

भाष्यप्रकाशः।

एवं सतीति प्रकरणसन्निधिभ्यां सर्वशब्दार्थसङ्कोचे सति। तथा चेदं लिङ्गमपि सङ्कोचे मानमित्यर्थः। ननु 'मनुर्वैवस्वत' इत्यादीनि तत्तदहनि पूर्वमाख्यातव्यानीत्यभिप्रायेण विशेषविधानमित्याशङ्कावारणाय गमकान्तरमाहुः अत एवेत्यादि। तथा च यदि तथाभिप्रायः स्यात्, तदा बहुवचनमादिपदं वा प्रयुक्तं स्यात्, अतस्तदभावान्न तथेत्यर्थः। एवञ्च पारिप्लवसत्रे यो विशेषितस्वरूपो हेतुरुक्तः, स एव प्रकृतेतराण्याख्यानानि व्यावर्तयन् सर्वशब्दार्थसङ्कोचं बोधयतीति न काऽपि शङ्केति तात्पर्यम्॥ २३॥

अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा॥ २४॥ सूत्रप्रयोजनमाहुः एवमित्यादि। व्याकुर्वन्ति

रश्मिः।

चक्षीते'ति श्रुतिसामर्थ्यम्। प्रकरणेति। सन्निधिः। पारिप्लवसन्निधिः। भाष्ये विशेषेति सङ्कुचितसर्वशब्दार्थोपाख्यानस्य विनियोगः। वाक्येति सर्वाण्युपाख्यानानि शंसति कर्माणि, उतैकं सङ्कुचितोपाख्यानं कर्मेति सन्देहे प्रवृत्तं 'पारिप्लवमाचक्षीते'ति वाक्यशेषस्तेन वाक्यशेष इति पाठे न वर्णलोपः, किन्तु विवक्षातः कारकाणि भवन्तीत्यधिकरणत्वविवक्षा वाक्यशेषे। अह्नोविशेष इति सप्तम्यन्तम्। प्रकृते। पूर्वमिति। पारिप्लवकर्मणः पूर्वम्। बहुवचनमिति। 'पारिप्लवान्याचक्षीते'ति। पारिप्लवमादावाचक्षीतेति। तदभावादिति। आदिबहुवचनयोरभावात्। तथेति। नाख्यानान्तरगन्धसम्बन्धोपीत्यर्थः। पूर्वमाख्यातव्यानीति नेति वार्थः। एवं चेति। सूत्रे तथेत्यनेन दृष्टान्तार्थे पूर्वसूत्रीयार्थानुवादसूचने च। इतराणि। अधिकधर्मविशिष्टानि। न कापीति। सूत्रे सङ्कोचकपदाभावात् व्याख्यानं प्रासङ्गिकं कुत इति शङ्का न॥ २३॥

अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा॥ २४॥ स्फुटमिति। सूत्रं व्याकुर्वन्ति स्म जरामर्येति। महानारायणसमाख्यावस्ति। जरा पञ्चसप्तत्यनन्तरं मरणं मरस्तयोः साधु जरामर्याग्निहोत्रं तत्र। तथा च श्रुतिः 'एतद्वै जरामर्याग्निहोत्रं सत्र'मिति। तैत्तिरीयक इति। महानारायणे। विदुषो यज्ञस्येति। विद्वत्कर्तृकयज्ञस्य। यद्वा। यज्ञस्येति। ज्ञानेन यज्ञात्मकस्य। 'गोपालोऽहमिति भावये'दिति गोपालतापनीयात्। यजमान इति। फलभाक्त्वात्। पत्नीति। फलेऽनुकूलत्वात्।

पत्नी शरीरमिध्ममुरो वेदिर्लोमानि बर्हिर्वेदः शिखा हृदयं यूपः काम आज्यं मन्युः पशुस्तपोऽग्नि'रित्यादि। एतेन यदन्यस्य यज्ञतासम्पादकम्, तस्य स्वकार्यसाधने कथं यज्ञापेक्षा भवेदिति भावः सूच्यते॥ २४॥

इति तृतीयाध्याये चतुर्थपादे प्रथमं पुरुषार्थोऽतः शब्दादित्यधिकरणम्॥ १॥

भाष्यप्रकाशः।

यत इत्यादि। शेषं स्फुटम्॥ २४॥

इति प्रथमं पुरुषार्थोऽतः शब्दादित्यधिकरणम्॥ १॥

रश्मिः।

शरीरमिध्ममिति। इध्मं समिधः, ता यथाग्नौ हूयन्ते, तथा शरीरं तपसि, द्वितीयस्कन्धनवमाध्यायोक्ते। उरः प्रसिद्धम्। वेदिः संस्कृता भूः स्थण्डिलम्। बर्हिरिति। विराड्लोमानि। तत्साम्यात्। वेद इति। 'वेदं कृत्वा वेदिं करोती'ति श्रुत्युक्तो वेदः। वेदो धननामसु निरुक्त उक्तम्। हृदयं यूप इति। यथा उरोऽधो हृदयं तथा वेद्यधो यूप इत्यधस्त्वसाम्यात्। काम आज्यमिति। आज्ये घृतं यथाग्नौ तथा कामस्तपसि तपः कामः। विरहताप एव सर्वात्मभावव्यक्तेः सर्वात्मभावकामः स्यात्। मन्युः पशुरिति। पशुवन्मन्युः क्रोधः राजसादिभावे विशसनीय इत्यर्थः। जरामर्याग्निहोत्रस्य सत्रत्वमुक्तं तदर्थं कर्तॄनाह दमः शमयितेत्यादि। बहुकर्तृको यागः सत्रम्। तत्र दम इन्द्रियसंयमरूपोपि कर्ता। कर्तृभूतदमाभावे अन्यत्र मनस्सत्त्वे सर्वात्मभावसत्रं न निर्वहेत्। शमयिता मनसो बोध्यः। दक्षिणावाग्घोतेति। दक्षिणा दैवी वाक् होता होतृकर्मकर्त्री होतर्ग्वित्। जुहोतीति होता। नेष्टृत्वष्टृहोतृपोत्रिति साधुः। प्राण उद्गातेति। उद्गातृकर्मकर्ता। प्राण आसन्यः। सोपि कर्ता। यतः सन्देशसदृशसामगानकर्ता। सादृश्यं च प्राणरक्षकत्वेनापहतपाप्मत्वेन। सर्वात्मभाववत्यः दास्यभक्तिमत्यः 'भवाम दास्य' इति वाक्यात्। साम्नि च भगवतः परिचर्योक्तेति युक्तं सामगातुः प्राणस्य कर्तृत्वम्। उद्गता सामवित्। उद्गा[illegible]द्गाता। तृन् तृच् वा। चक्षुरध्वर्युरिति। इन्द्रियवतीनां सर्वात्मभावाध्वरे साध्वीत्वात् चक्षुरध्वर्युः। अध्वर्युर्यजुर्वित्। अध्वरमिच्छतीत्यध्वर्युः। सुप इति क्यच्, कव्यध्वरपृतनस्येति लोपः क्याच्छन्दसीत्युः। ब्रह्मेति। ब्रह्मदृन्मभानां मनोपि बृहदिति ब्रह्मा कृताकृतावेक्षकः। श्रोत्रं अग्नीदिति अग्नीन् इन्धे इत्यग्नीत्। ञि इन्धि दीप्तौ क्विप्। न लोपः अग्नीदृत्विक्। या अवध्रियते सा दीक्षेति। दीक्ष मौण्ड्येज्योपनयननियमव्रतादेशेषु। भ्वा. आ. से. अवार्था बहवः नवाध्यांयुक्ताः तदर्थं ध्रियते वैकुण्ठलीला सा दीक्षा नियम इत्यर्थः। साधारणविषयेति प्रतिज्ञेत्यर्थः। नियमः प्रतिज्ञा। यदश्नाति तद्धविरिति प्रसिद्धमग्नौ विरहतापे। यत्पिबति तदस्य सोमपानमिति। स्पष्टम्। यद्रमते तदुपसद इति। उपसीदन्त्यासु उपसदः। रमणेऽनेकेषु सीदन्तीति साम्यम्। 'आत्मक्रीड' इति श्रुतेः। यत्सञ्चरत्युपविशत्युत्तिष्ठते च स प्रवर्ग्य इति। प्रवर्ग्यो वायुः। आदित्यो वा चेष्टारूपः। कालश्चेष्टेति यागे प्रवर्ग्यो द्रष्टव्यः। स्वाहाकारे। यन्मुखं तदाहवनीय इति। मुख्यतो मुखे जुहोतीति। आहवनीयोग्निः कुण्डश्च। या व्याहृतिराहुतिरिति। तिस्रो व्याहृतयो नोक्ताः आत्मयजमानस्य आधिभौतिकत्वात्। व्याहृतिर्भूस्तस्याः सत्ता मुखे। 'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविश'दिति श्रुतेः। आहुतिराहवनीयमुखे। यदस्य विज्ञानं तज्जुहोतीति। अस्य आत्मयजमानस्य यद्विज्ञानं व्याहृत्याहुतिविषयकम्। विशिष्टं वैदिकं ज्ञानम्। तज्जुहोति। मुखयोर्ददातीत्यर्थः। यत्सायं प्रातरत्ति तत् समिधमिति।

सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् ॥ २५ ॥ (३-४-२.)

उक्तन्यायेन ज्ञानं प्रति कर्मणः फलोपकारित्वाभावेपि स्वरूपोपकारित्वमस्ति न वेति चिन्त्यते । तत्र नेति पूर्वः पक्षः । गुरूपसत्तितदुपदेशैरेव तत्सम्भवात् । 'आचार्यवान् पुरुषो वेदे'ति श्रुतेः । अत्र सिद्धान्तमाह सर्वापेक्षेति । सर्वेषां

भाष्यप्रकाशः ।

सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् ॥ २५ ॥ अधिकरणमवतारयन्ति उक्तन्यायेनेत्यादि । पूर्वाधिकरणे पुरुषोत्तम एव पुरुषार्थः, तत्प्राप्तिश्च केवलाज्ज्ञानादेवेति प्रतिज्ञाय शब्दाद्धेतोस्तत् साधयित्वा शब्दस्य तत्साधकत्वं व्युत्पादितम् । अत उक्तेन न्यायेन शब्देन ज्ञानं प्रति कर्मणः फलोपकारित्वाभावेपि कर्मणां सार्थक्याय स्वरूपोपकारित्वं यदुक्तम्, तद्युक्तत्वादस्ति, उतायुक्तत्वान्नास्तीत्येतदस्मिन्नधिकरणे विचार्यत इत्यर्थः । सिद्धान्तं व्याकुर्वन्ति सर्वेषामित्या-

रश्मिः ।

अग्निविरहतापाविन्धे समिति सम्यक् । पचाद्यच् । 'यदेव असृजत तत्तदत्तुमध्रियते'ति बृहदारण्यकादात्मात्ति । यजमानोप्यत्ति । सुषुप्तावानन्दमपि । 'आनन्दभुक्' इति नृसिंहतापिन्याः । नन्वौषधिरग्निविरहतापाविन्धे न त्वन्नमिति चेत्, न । 'औषधवदशनमाचरे'दित्यारुणिश्रुतेः । पाच्यान्नाशनमाचरेदित्यर्थः । यथा 'अत्यम्बुपानात् न विपच्यतेन्नं निरम्बुपानाच्च स एव दोषः । तस्मान्नरो वह्निविवर्धनाय मुहुर्मुहुर्वारि पिबेदभूरी'ति । पाच्याम्बुपानम् । **यत्प्रातर्मध्यन्दिनं सायञ्च तानि सवनानी**ति । सोमलताकण्डनकालाः प्रातर्मध्यन्दिनसायंरूपाणि सवनानि सर्वात्मभावे षुञ् अभिषवे स्वा. उभय, अ-सुन्वन्ति सोमं भगवन्मन इति सवनानि । चन्धादित्वात् ल्युः । ल्युट् वा । **ये अहोरात्रे ते दर्शपूर्णमासा**विति । विरहकालरूपौ त्वत्र । **ये अर्धमासाश्च मासाश्च ते चातुर्मास्यानी**ति । षट्कचतुष्टयत्रिकचतुष्टयसाम्यात् । **य ऋतवस्ते पशुबन्धा** इति । मन्युं पशुं हृदये यूपे ऋतुभिः षड्भिः प्रतिबन्धकृतं कुर्यादिति ऋतवो मन्युं बध्नन्तीति पशुबन्धाः । मन्युपदात् नित्यलीलायां सर्वात्मभावेपि । मन ज्ञाने दि. आ. अ. मनिजनिद् सिब्योरिति युः । 'मन्युर्दैन्ये क्रतौ क्रोधे क्रुधी'ति हैमकोशः । **ये संवत्सराश्च परिवत्सराश्च तेऽहर्गणा** इति । देवदेवत्वाद्भगवतः । देवदिनं संवत्सरः । **सर्ववेदसं वा एतत्सत्त्र**मिति । सर्वस्वदाननामकं सत्रम् । सर्ववेदसशब्दः काठकभाष्ये सर्वस्वदाने व्याख्यातः । सत्रं बहुकर्तृकयागः । **यन्मरणं तदवभृथ** इति । अवभृथस्नानं मन्त्रात्मकम् । 'विभुरसी'त्यादि महानारायणे मन्त्रः अत्यन्तत्वेन मन्त्रत्वात् । सन्न्यासमन्त्रोयम् । विस्मरणजनकत्वादन्त्ये अत्यन्तविस्मरणरूपत्वं मन्त्रस्य । 'मृत्युरत्यन्तविस्मृति'रितिवाक्यादत्यन्तविस्मृतेर्मृत्युत्वात् । 'एतद्वै जरामर्यमग्निहोत्रं सत्र'मिति । जरा मरणं मरः तयोः साधु जरामर्यम् । तत्र साधुरिति यत् । सत्रं व्याख्यातम् । इति दमः शमयितेत्यादि श्रुत्यर्थः । **यदन्यस्ये**ति । यत् ज्ञानं अन्यस्य जरामर्यस्य । अत्रेदं ज्ञानं सर्वात्मभावरूपं जरामर्यात्मकयागविषयकम् । 'यज्ञो वै विष्णु'रिति श्रुतेः । कृष्णोपि यज्ञधर्मकः यज्ञः, 'धर्मो यस्यां मदात्मक' इति वाक्यात् । **स्वकार्ये**ति । सर्वात्मभावकार्यं पुरुषोत्तमप्राप्तिः तस्य साधने । **भाष्ये** सर्ववेदससत्रे जरामर्याग्निहोत्रसत्रत्वोक्तिः सर्ववेदससत्रपदं विहाय जरामर्याग्निहोत्रपदमुपात्तम् । **इत्यादी**ति । आदिना **दमः शमयिते**त्यादि । एवं स्फुटम् ॥ २४ ॥

इति प्रथमं पुरुषार्थोत इत्यधिकरणम् ॥ १ ॥

सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् ॥ २५ ॥ **उक्तन्यायेने**ति । सूत्रे सर्वशब्दो

कर्मज्ञानभक्तीनां पुरुषोत्तमज्ञानोत्पत्तावस्त्यपेक्षा । अत्र प्रमाणमाह यज्ञादिश्रुतेरिति । यज्ञादिनिरूपिका श्रुतिरेव प्रमाणं यत इत्यर्थः ।

इदमत्राकूतम् । पुरुषोत्तम एव स्वतन्त्रपुरुषार्थरूपः, तत्प्राप्तिरेव फलम् । तत्र प्रेमभक्तिजं तज्ज्ञानमेव साधनमिति 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मित्यादिना 'एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ती'त्यादिश्रुतिसहस्रैश्च प्रतिपाद्यते । 'अथेतरे दुःखमेवोपयन्ती'ति श्रुत्या ज्ञानरहितानां दुःखमात्रप्राप्तिरुच्यते । एवं सति स्वतोऽपुरुषार्थरूपं यज्ञादिकं सर्वार्थतत्त्वप्रतिपादिका श्रुतिर्यन्निरूपयति, तत्सर्वथा पुरुषार्थसाधनत्वेनैवेति मन्तव्यम् । तच्च निष्कामतयैव कृतं तथा । अत एव वाजसनेयिशाखायां 'यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवती'त्युपक्रम्य पठ्यते 'तस्माल्लोकात् पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मण' इति तु कामयमानोऽथाऽकामयमानो योऽकामो निष्काम आत्मकाम आप्तकामो भवति, न तस्मात् प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवनीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माऽप्येती'त्यादि । अत्र 'अथाकामयमानः' कर्ता निरूप्यत इति शेषः । यः पुमान् कर्मकृतावकामस्ततो निष्कामः सन्नात्मकामो निरुपधिस्नेहवान् प्रभौ, ततो भगवत्प्राप्त्या आप्तकामो भवतीत्यर्थः । अत्र

भाष्यप्रकाशः ।

दि । तथा च मार्गत्रयापेक्षाकथनात्तत्तन्मार्गोक्तानां कर्मणामपेक्षास्तीत्यर्थो बोधितः । यज्ञादिपदे आदिशब्देन शमदमादीनां कर्मणां भगवद्धर्मरूपाणां शरणगमनादिकर्मणां च सङ्ग्रहः । यज्ञादिकर्मणां विद्यास्वरूपोपकारकत्वे कथं यज्ञादिश्रुतेः प्रमाणत्वमित्याकाङ्क्षायां तदुपपादयन्ति **इदमत्रे**त्यादि । **एवं सती**ति । अनेन प्रकारेण ज्ञानशून्यकर्मणां दुःखप्रापकत्वे सति । मन्तव्यमिति निरूपणान्यथानुपपत्त्या मन्तव्यम् । तथेति । पुरुषोत्तमज्ञानसाधकम् । 'अथा-

रश्मिः ।

मार्गांशेऽसङ्कुचितवृत्तिरित्याशयेनाहुः **कर्मज्ञानभक्तीना**मिति । 'मार्गास्त्रयो मया प्रोक्ता' इति वाक्यात् । ननु ज्ञानकाण्डं कर्मकाण्डमिति काण्डद्वयात् कर्मज्ञानयोः पुरुषोत्तमज्ञानोत्पत्तावस्त्यपेक्षेति युक्तम्, भक्तिनिवेशः कुत इत्यत आहुः **इदमत्रे**ति । **तत्र प्रेमे**ति । ज्ञानकाण्डकर्मकाण्डयोरभिधेये ज्ञानकर्मणी भवतः । 'सर्वेषामेव शब्दानां व्यञ्जकत्वमपीष्यत' इति शब्दानामपि व्यञ्जकत्वात् तात्पर्यार्थाकाङ्क्षायां भक्तिरस्तु । 'अग्नये जुष्टं निर्वपामी'ति प्रथमाष्टकात् । 'भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येने'तिवाक्याच्च । एवं च 'भक्त्या मामभी'तिवाक्योपष्टब्धं प्रेम भक्तिजमित्यर्थः । **अन्यथे**ति । सर्वथा पुरुषार्थसाधनत्वकल्पनं समाधेयस्वतोऽपुरुषार्थरूपयज्ञादिनिरूपणस्यानुपपद्यमानस्योपपत्तये । इदमर्थापत्तिलक्षणम् । अन्यथानुपपत्तिलक्षणं तु अर्थान्तरकल्पनया समाधेयत्वेनोच्यमानः प्रमाणसिद्धयोरर्थयोः परस्परप्रतिघातः । प्रस्थानरत्नाकरे प्रमाणपरिच्छेदसमाप्तौ सम्यग् द्रष्टव्यो विचारः । **अथेत्यादी**ति । **कर्मकृता**विति । काम्यानां कर्मणां कृतौ । **निष्काम** इति । सन्न्यासी । 'काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्न्यासं कवयो विदु'रिति गीता । **आत्मकाम** इति । आत्मनि कामो यस्य पुंसः । कामोत्र इच्छा 'अलमन्यविचारेण प्रेमेच्छेति स्थितं मत'मिति विश्वेश्वरमतेनाहुः **निरुपधिस्नेहवा**निति । एवं मर्यादाभक्तिं निरूप्य कर्मभिर्ज्ञानं निष्कामसकामयोश्च निरूपयन्ति स्म अत्र

'यथाकारी'त्यादिना कर्मकर्तुरेवोपक्रमात् 'अथाकामयमान' इत्यनेनापि तथाभूतः स एवोच्यते । एवं सति सत्कर्मणि प्रवृत्त्यर्थं विविधफलानि स्वयमेवोक्त्वा जनान् भ्रामितवानिति स्वोक्तकरणात् चिरेण दयया निष्कामं करोति, सकामतयापि क्रियमाणेन वैदिककर्मणाऽनेकजन्मभिः संस्कारविशेषप्रचयेनापि तथा । 'कषाये पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते' इत्यादिस्मृतिभ्यश्च ज्ञानोत्पत्तौ कर्मापेक्षास्तीति । चकारेण पुष्टावङ्गीकृतस्य सर्वानपेक्षेति सा समुच्चीयते । अत एव, 'नायमात्मे'-त्यादिश्रुतिर्न विरुध्यते ।

भाष्यप्रकाशः ।

कामयमान' इति श्रुतिभागं व्याकुर्वन्ति अथेत्यादि । तथाभूतः स इति । 'एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलं तथे' ति गीतावाक्यादकामः कर्मकृतौ, निष्कामः फले । एवं द्विविधकर्तृनिरूपणेन यत् सिध्यति तदाहुः एवं सति सदित्यादि । उक्तमर्थं स्मृत्योपष्टम्भन्ति कषाय इत्यादि । एवं मर्यादामार्गे कर्मापेक्षैव यद्यपि भगवत्साक्षात्कारे व्युत्पादिता, तथापि हेतुबोधके यज्ञादिश्रुतिपदे आदिशब्देन तैत्तिरीयाद्युक्तानामानन्दमयाद्युपासनानामन्यत्रोक्तानां शमादीनां ज्ञानोपकारिणाम्, तथा भक्त्युपयोगिनां गोपालतापनीयाद्युक्तानां शरणगमनध्यान-रसनभजनादीनां च सङ्ग्रहात्तदपेक्षापि बोध्या । साप्यग्रिमसूत्रेषु व्युत्पादयिष्यते । चकारार्थमाहुः चकारेणेत्यादि । सेति । अत्रानुक्तापि । सौत्रस्य चकारस्यार्थं श्रौतार्थापत्त्योपष्टम्भन्ति अत एवेत्यादि । अत एवेति । मार्गभेदादेव । तथा च साधनदशायामेव कर्मापेक्षा, न तु सिद्धद-शायामिति भावः ।

अत्रेदं बोध्यम् । पुरुषोत्तमज्ञानं हि मार्गभेदेन सामान्यतश्चतुर्विधं वा । तत्र कर्ममार्गे

रश्मिः ।

यथेति । अकाम इति 'अकामयमान' इत्यनेनाकामः 'यथाकारी'त्यादिना कर्मकर्ता । भाष्य-स्थेनापिना पूर्वोक्तनिःकामः केति चेत् फले । अपिः पदार्थसम्भावनायाम् । स्वयमिति वेदः भ्रामित-वानिति । अविहितकरणात् लौकिकात् वैदिके भ्रामितवान् । चिरेणेत्यादि । 'भगवान् भजतां मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोग'मिति वाक्यात्तथा । निष्कामः सन्यासीत्युक्तं 'आश्रमाणां तुरीयोस्मी'ति । अतो मुक्तः । तथेति निष्कामं करोति । कषाय इति कामक्रोधादौ पक्वे शास्त्ररीत्या परिणते । एवमिति सर्वशब्देन मार्गत्रये प्रमेये सति यज्ञादिपदेन भक्तिज्ञानसङ्ग्रहवत् । गोपालेति । आदिना श्रीभागवतमुपष्टम्भकम् । अन्यदप्युपयुक्तम् । शरणेति 'मुमुक्षुर्वै शरणमनुव्रजे'दिति शरणगमनम् । मुमुक्षुत्वस्य साधनचतुष्टयप्रवेशात् । शरणगमनस्य मुमुक्षत्वज्ञापकत्वात् । ध्यानं श्रीभागवतेपि साधनस्कन्धीयत्वात् उपात्तम् । रसनभजनयोः स्वरूपं गोपालतापनीय एवोक्तम् । हेतुबोधकं सूत्रे यज्ञादिश्रुतिपदम् । पञ्चम्यन्तत्वात् । तत्र यज्ञादीत्यत्रादि-पदेन षष्ठ्यन्तोक्तानां सङ्ग्रहात् । चकारेति । एवं मर्यादाभक्तिं कर्मभिर्ज्ञानं निष्कामसकामयोश्च निरूप्य पुष्टिभक्तिर्निरूप्येत्याशयेन चकारार्थम् । श्रौतार्थापत्त्येति लक्षणमुक्तम् । पुष्टिकल्पनं समाधेयनायमात्मेतिश्रुतार्थस्यानुपपद्यमानस्योपपत्तय इति लक्षणसमन्वयोत्र । दृष्टार्थापत्तिस्तु, जीवन् देवदत्तो गृहे नास्तीत्यत्र जीवनसंसृष्टगृहाभावस्यानुपपद्यमानस्योपपत्तये बहिर्भावकल्पना । मार्गेति । 'भक्तिमार्गस्य कथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चय' इति पुष्टिमार्गभेदात् । पुरुषोत्तमज्ञानमिति । ननु

ननु ज्ञानद्वारा कर्मादीनामेव फलसाधकत्वमस्त्विति शङ्कानिरासाय दृष्टान्तमाह अश्ववदिति । यथा स्वेष्टफलसाधकदेशव्यवधानात्मकदेशातिक्रमेऽश्वस्य साधनत्वम्, न तु तत्तत्फलसिद्धावपि, तथाधिभौतिकाध्यात्मिकाधिदैविक-प्रतिबन्धनिवृत्तावेव तेषां साधनत्वम्, न तु भगवत्प्राप्तावपीत्यर्थः । इदं च मुमुक्षु-भक्तविषयकमिति ज्ञेयम् । आत्यन्तिकभक्तिमतां भक्तीतरानपेक्षणात् ॥ २५ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

यदाविर्भवति, तत् सत्त्वगुणमाधारीकृत्य तत्रान्तर्यामिन्यायेन प्रविश्य सत्त्वं स्वान्तर्भूतं कृत्वा तेन तेन रूपेणाविर्भवतीति नाभिदक्षादियज्ञेषु तत्तद्रूपेणाविर्भावादवगम्यते । ज्ञानमार्गे त्वक्षर-रूपेणैवाविर्भवतीति, 'ये त्वक्षरमनिर्देश्य'मिति गीतावाक्यसन्दर्भादवगम्यते । ज्ञानभक्तिसाहित्ये तु यद् बलिष्ठं तदनुसारेणाविर्भवति । एवं केवलेपि विहितभक्तिमार्गेपि तत्तदुपासनावाक्यै-स्तत्क्रतुन्यायादवसीयते । अविहितभक्तिमार्गे तु वरणानुसारेणाविर्भवतीति वरणश्रुत्यादिभिरव-सीयते । तत्र विहितमार्गत्रयसम्बन्धित्वान्मर्यादामार्गीयसाक्षात्कारे साधनापेक्षा । पुष्टिमार्गे तु वरणमात्रैकसाध्यत्वान्न तदपेक्षेत्युभयमप्युपपन्नमिति ।

ननु सर्वापेक्षापदे कर्मज्ञानभक्तीनां पुरुषोत्तमज्ञानेऽपेक्षां व्याख्याय यज्ञादिश्रुतेरित्यस्यार्थ-व्युत्पादने द्विविधं कर्मकर्तारं व्याख्याय निष्कामकर्तुः कर्मापेक्षामात्रं व्युत्पादितम् । ततश्च ज्ञाने कर्मापेक्षा सिद्धा, न तु ज्ञानभक्त्यपेक्षेति तत्कथनस्य किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायामाहुः इदं चेत्यादि । इदमिति । कर्मापेक्षणम् । भक्तीतरानपेक्षणादिति । अतीतपादे, 'सैव हि सत्या-दय' इत्यत्र निर्णीतत्वेन तथात्वात् । तथा चैकादशस्कन्धे 'योगास्त्रयो मया प्रोक्ता' इत्यत्र कर्मज्ञानभक्तीरुक्त्वा, । 'निर्विण्णानां ज्ञानयोगः कर्मयोगस्तु कामिनाम् । न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिद' इति कथनेन तस्य तस्य तत एव सिद्धिरिति मुमुक्षुभक्तस्य सोपाधिकस्नेह-वत्त्वात्तस्य कर्मापेक्षणं युक्तम् । अत्र वाक्यसन्दर्भे योगशब्देन पुरुषार्थप्राप्त्युपाय उच्यते । ज्ञान-शब्देन, 'सर्वभूतेषु येनैकम्' 'कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञान'मित्यादिवाक्योक्तं ब्रह्मैव सर्वम्, 'वासुदेवः सर्व'मित्यत्र पर्यवसितं सात्त्विकं ज्ञानमुच्यते । कर्मशब्देन च पूर्वकाण्डाद्युक्तमग्निहोत्रादिलक्षणं विहितं कर्मोच्यते । भक्तिशब्देन च तापनीयगीताश्रीभागवताद्युक्तो भगवद्विषयकः स्नेह उच्यते । अत एव त्रयः स्वस्वप्रकरणोक्तसाधनसहिता मार्गशब्देन व्यवह्रियन्त इति सोपाधिभक्तस्य तदपेक्षणं युक्तमेवेत्यर्थः । तस्मादस्ति ज्ञानस्वरूपे सर्वापेक्षेति सिद्धम् ॥ २५ ॥

रश्मिः ।

चित्तशुद्धिद्वारा पुरुषोत्तमज्ञाने यज्ञस्य कारणत्वं वक्तव्यम्, तथा च सर्वोत्तममार्गस्य कुतः शङ्कया मुक्तिरिति चेत् न । भक्त्यजनकत्वात् । तत्कथनस्येति ज्ञानभक्तिकथनस्य । भाष्ये । आत्य-न्तिकेति 'सैवात्यन्तिकी या स्वतो रसभावं प्राप्ता सैव नान्यत्फलमङ्गीकारयति । अत्यन्तप्रेमोत्पत्तावेवं भवती'ति तृतीयस्यैकोनत्रिंशाध्याये 'सालोक्ये'ति श्लोकव्याख्याने । तथा चेति मुमुक्षुभक्तेतरभक्तसत्त्वे च । तस्य तस्येति । ज्ञानाधिकारिणः कर्माधिकारिणः भक्त्यधिकारिणश्च । तत एवेति ज्ञानात् कर्मणो भक्तेश्च साधनात् तथेति सर्वापेक्षेत्यर्थः । ज्ञानेति क्षराक्षरपुरुषोत्तमज्ञाने ॥ २५ ॥

शमदमाद्युपेतः स्यात् तथापि तु तद्विधेस्तदङ्गतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात्॥२६॥

ननु 'तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त' इत्यादिना शमादेरेव ज्ञानसाधनत्वमुच्यते, न तु यज्ञादेरिति चेत्, तत्राह शमदमाद्युपेतो भक्तिमार्गेऽपि स्यादेव यद्यपि, तथापि तदङ्गतया 'आत्मन्येवात्मानं पश्ये'दिति ज्ञानमार्गीयज्ञानाङ्गतयैव शमादिविधेर्हेतोर्ज्ञानमार्गे तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात् तथा विधिरित्यर्थः। भक्तिमार्गे स्वत एव शमादीनां सम्भवेऽप्यावश्यकत्वं न तेषामिति भावः ॥ २६ ॥

भाष्यप्रकाशः।

शमदमाद्युपेतः स्यात् तथापि तु तद्विधेस्तदङ्गतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात् ॥ २६ ॥ सूत्रमवतारयन्ति **नन्वि**त्यादि। 'तमेतं वेदानुवचनेने'ति श्रुतिलिङ्गाद्यभावेन विद्यास्तुत्यर्थं, यज्ञाद्यनुवादस्य शक्यवचनत्वात्। विद्यार्थिनः 'शान्तो दान्त' इति श्रुत्या शमादीनां साधनानां विशेषतो विधानात्, भक्तिमार्गेपि, 'ॐकारेणान्तरितं कृत्वा यो जपति गोविन्दस्य पञ्चपदं मनुं तस्यैवासौ दर्शयेदात्मरूप'मित्यादिश्रुतीनां तापिनीयेषु दर्शनाच्च तत्करणमेव युक्तम्, न तु यज्ञादिकरणमिति पूर्वोक्तहेतोर्बाधितत्वमित्याशङ्क्य तत्परिहारमाहेत्यर्थः। सूत्रं व्याकुर्वन्ति **शमदमे**त्यादि। **तथा विधिरि**ति। साधनत्वेन विधानम्। तथा चानया श्रुत्या ज्ञानमार्गीयस्य साधनान्तरमधिकं विधीयते इति तेषामवश्यानुष्ठेयत्वम्। तत्र च न यज्ञादिकं निषिध्यत इति तेषामप्यनुष्ठेयत्वम्। यद्यपि तत्र लिङाद्यभावः, तथापि 'विविदिषन्ती'ति फलसंयोगस्यापूर्वत्वात्तत्र रात्रिसत्रवत् दिष्टाग्निहोत्रस्ये, 'उपरि हि देवेभ्यो धारयन्ती'ति वाक्ये समिद्धारणवच्च विधिः कल्पयितुं शक्यत इति तेषामपि हेतुत्वमदण्डवारितमिति न पूर्वोक्तहेतोर्बाधितत्वमित्यर्थः। एतेन भक्तिमार्गेऽव्यवस्थाप्यर्थात् सिद्धेत्याहुः **भक्ती**त्यादि। 'भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधिनैराश्ये-

रश्मिः।

शमदमाद्युपेतः स्यात् तथापि तु तद्विधेस्तदङ्गतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात् ॥ २६ ॥ लिङ्गादीति। (यद्यपि वेदानुवचनेनेत्यादितृतीयाश्रुतिर्वर्तते, तथापि स्तुतावप्यविरुद्धेति लिङ्गादीत्युक्तम्। आदिना वाक्यप्रकरणस्थानसमाख्याः। लिङ्गादिकं विविदिषावेदानुवचनादीनां कार्यकारणभावे बोध्यम्।) आदिना लेट् लोट् तव्यादिः। तत्प्रतिपाद्यविध्यभावे 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्यु'रिति सूत्रविषयत्वात् यत्र कुत्रत्यविद्यास्तुत्यर्थमित्यादिः। **पञ्चपद**मिति कृष्णायेत्येकं पदम्, गोविन्दायेति द्वितीयम्, गोपीजनेति तृतीयम्, वल्लभायेति तुरीयम्, स्वाहेति पञ्चममिति श्रुत्युक्तम्। ॐकारेणान्तरितम्, ॐ कृष्णाय ॐ गोविन्दाय ॐ गोपीजन ॐ वल्लभाय ॐ स्वाहेत्येवं कृत्वा। **मनुं** अवताररूपम्। तापिनीयं च तापिनीयं च तापिनीयं च तापिनीयानि तेषु। रामतापिनीयं नृसिंहतापिनीयं च। **तत्करणं** शमदमादिकरणं **पूर्वोक्तहेतोरि**ति ज्ञानोत्पत्तिः सर्वापेक्षावती, यज्ञादिश्रुतेरित्यस्य बाधितत्वं पक्षेऽभावः। **तत्परिहार**मिति शमदमादेः परम्परया कारणत्वव्यवस्थापनात् यज्ञादिश्रुतेः पक्षे सद्भावस्थापनात् परिहारम्। **अनये**ति तस्मादेवंविदित्यनया। **साधनान्तरं** शमदमादिरूपम्। **तत्र चे**ति 'तस्मादेवंवि'दिति श्रुतौ। **फले**ति। फलं ज्ञानेच्छा। **विधिरि**ति। उपयन्तीत्यत्र लेडाश्रयणात् धारयन्तीत्यत्र च तथा। **तेषामपी**ति वेदानुवचनादीनामपि। **दण्डः** श्रुतिविरोधः तेन वारितं दण्डवारितं न भवतीत्यर्थः। **पूर्वोक्ते**ति। यज्ञादिश्रुतेरित्यस्य

सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् ॥ २७ ॥

ननु सत्त्वशोधकत्वेन यज्ञशमदमादेर्विधानमिति मतं नोपपद्यते। 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धि'रिति श्रुतेस्तद्विरुद्धा सर्वान्नभक्षणानुमतिरपि यतः श्रूयते छन्दोगानाम्। 'न ह वा एवंविदि किञ्चनानन्नं भवति'। तथा वाजसनेयिनां, 'न ह वा अस्यानन्नं जग्धं भवती'त्यादि। तस्मात् सत्त्वशुद्ध्यर्थं यज्ञादेर्न विधानमिति प्राप्ते विषयव्यवस्थामाह। आहारदौर्लभ्येन प्राणात्यय उपस्थिते प्राणधारणस्य ज्ञानाऽन्तरङ्गतमसाधनत्वेनाहारस्य देहपोषकत्वेन ततो बहिरङ्गत्वात् तदनुमतिः क्रियत इत्यर्थः। अत्र प्रमाणमाह तद्दर्शनादिति। 'चाक्रायणः किलर्षिरापद्गत इभ्येन सामिखादितान् कुल्माषांश्चखादे'त्यादिश्रुतिदर्शनादित्यर्थः।

भाष्यप्रकाशः।

नैवामुष्मिन् मनःकल्पन'मिति भक्तिलक्षणात्तादृश्यां सत्यां तन्मार्गे स्वत एव शमदमादीनां सम्भवान्न तेषामावश्यकतया विशेषतो विधानम्। अत एव तत्र 'एतदेव च नैष्कर्म्य'मिति सन्न्याससरूपत्वं श्रावितम्। तथा च ज्ञानेऽन्तरङ्गाणां शमादीनां बहिरङ्गाणां यज्ञादीनां चास्त्यपेक्षा। भक्तौ तु तेषामर्थात् सिद्धिरिति भेद इत्यर्थः ॥ २६ ॥

सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् ॥ २७ ॥ अत्रैव किञ्चिदाशङ्क्य परिहरतीत्याशयेन सूत्रमवतारयन्ति **नन्वि**त्यादि। तथा च यथा प्राणसंवादस्थश्रुतिभ्यामाहारशोधकश्रुत्युक्तमपोद्यते, तथा ताभ्यां शमयज्ञाद्यपवादोपि वक्तुं शक्यते। तस्मात् सत्त्वशुद्ध्यर्थं यज्ञशमदमादेर्न विधानम्, किन्त्वेतानि वाक्यानि विद्यास्तावकान्येवेति प्राप्ते, तानि न स्तावकानि, अपि तु विशेषविधानार्थान्येवेति हृदिकृत्य, अन्नभक्षणवाक्यव्यवस्थामाहेत्यर्थः। सूत्रं व्याकुर्वन्ति **आहारे**त्यादि। **क्रियते इ**ति। प्राणधारणार्थं क्रियते। तथा च सर्वान्नानुमतेर्ज्ञानान्तरङ्गसाधनार्थं

रश्मिः।

हेतोः। **तत्रे**ति भक्तिमार्गे। **सन्न्यासे**ति। 'काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्न्यासं कवयो विदु'रिति गीतावाक्यात्। **अन्तरि**ति लिङ्गदेहधर्मत्वात्तथा। **बहिरि**ति यज्ञादीनां क्रियात्वेन देहधर्मत्वात्तथा। **तेषा**मिति। शमदमादीनाम् ॥ २६ ॥

सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् ॥ २७॥ परीति व्यासः परिहरति **नन्वि**त्यादीति। **छन्दोगाना**मिति। **एवंविदी**ति ज्ञानिनि प्राणविदि। **अनन्न**मिति। **अप्रशस्तम्।** प्राणोपासकस्य यज्जन्तुमात्रस्य जग्धं भक्ष्यं तत्सर्वमनन्नं भवति, इह अदनीयमेव भवतीत्यर्थ इति **प्रश्नामृतवर्षणीकारः।** **विशेषे**ति। बहिरङ्गसाधनानुमतिरूप**विशेषविधानार्थानि**। तथान्तरङ्गशमदमादिविधानार्थानि। **आहारेत्यादी**ति। **ज्ञानान्त**रिति। अन्तरङ्गतमसाधनत्वं मर्यादाभक्तेः भ्रमरगीतसुबोधिन्यामुक्तम्। **तत** इति प्राणधारणात्। **चाक्रायण** इति मटचीहतेषु कुरुष्वित्येतस्मिन् ब्राह्मणे चाक्रायणो नामतः किल ऋषिः कुरुदेशे दुर्भिक्षे जाते क्षुत्पीडितो देशान्तरमागतः कदाचिद्धस्तिपालकदेशं निविष्टः, तेन हस्तिपालकेन इभ्यपदवाच्येन सामि अर्धं भक्षितान् कुत्सितान्

यद्यपि ज्ञानसाधनत्वेन सत्त्वशुद्धेरपेक्षितत्वात् जाते ज्ञाने तत्साधनापेक्षणात् 'एवंविद्'इति वचनात् तादृशे सार्वदिक्यपि तदनुमतिर्नानुचिता । 'अपि स्मर्यते' इत्यनेनाविदुषोऽप्यनुमतेर्वक्ष्यमाणत्वाच्च । तथाप्याचार्येणावस्थाविशेषविषयकत्वमुक्तं यत्, तेन ज्ञानिनोऽप्यनापदि विहितत्यागोऽविहितकरणं च चित्तमालिन्यजननेन ज्ञानतिरोधायकमिति श्रुत्यभिमतमिति ज्ञाप्यते । अत एव श्रीभागवते द्वितीयस्कन्धे "विशुद्धं केवलं ज्ञानं प्रत्यक्सम्यगवस्थितम् । सत्यं पूर्णमनाद्यन्तं निर्गुणं नित्यमद्वयम् । ऋषे विदन्ति मुनयः प्रशान्तात्मेन्द्रियाशयाः । यदा तदेवासत्तर्कैस्तिरोभूयेत विप्लुत'मिति ब्रह्मणोक्तम् । 'ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा। बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति' इति मार्कण्डेयेनाप्युक्तम् । एषा ज्ञानमार्गीयज्ञानवतो व्यवस्थेति ज्ञेयम् । भक्तिमार्गीयस्यैवमापदसम्भवात् । 'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते । तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यह'मिति भगवद्वाक्यात् । 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते' इत्यत्रैवकारेण पुरुषोत्तमज्ञानवत एव मायातरणोक्तेरक्षरमात्रज्ञानवतां तथात्वमुचितम् ॥ २७ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

व्यवस्थितत्वेनासार्वदिकत्वाच्च तया सार्वदिकानां सत्त्वशोधकसाधनानां ज्ञानमार्गे बाधः शक्यवचन इत्यर्थः । अत्र किंचिदाशङ्क्य परिहरन्ति यद्यपीत्यादि तथापीत्यादि च । ननु भवत्वेवं ज्ञानमार्गे, तथापि भक्तिमार्गे शमदमादीनां सत्त्वशोधकानां स्वभावतः प्राप्तत्वेन तदर्थकनिर्बन्धाभावात्तस्यापदुपस्थितौ पूर्वोक्तानुमतेरपि तत्र वक्तुमशक्यत्वात्तस्य का गतिरित्यत आहुः भक्तिमार्गीयस्यैवमिति । ननु यद्येवम्, तदा ज्ञानमार्गीयस्य कथमापत्तिरित्यत आहुः मामेवेत्यादि । तथा च मायातरणाभावादापत्तिमत्त्वमित्यर्थः ॥ २७ ॥

रश्मिः ।

माषान् भक्षितवान् । तेनोदपानं गृहाणेत्युक्ते सति, उच्छिष्टं न पीतं स्यादिति प्रतिषिध्य स्थिते चाक्रायणे, किमेते माषा उच्छिष्टा नेति हस्तिपकेनोक्ते सति, नेत्यत्र हेतुमाह चाक्रायणः । कुल्माषभक्षणं चेदहं न कुर्याम्, तर्हि मे जीवनं न स्यात्, उदपानं तु तटाकादिषु स्वेच्छातो भविष्यतीति । एवमिभ्योच्छिष्टान् माषान् खादित्वा शिष्टान् जायायै ददौ, तया च भर्तुः स्वभावज्ञया निहितानुत्तरादनेपि भक्षितवानिति श्रुतम् । ज्ञानान्तरङ्गेति । न च बहिरङ्गत्वमुक्तमिति कुतोऽन्तरङ्गत्वमिति वाच्यम् । अन्तरङ्गतमाद्बहिरङ्गमन्तरङ्गमित्यदोषात् । अत्रान्तरङ्गतमादीनां क्षराक्षरपुरुषोत्तमज्ञानैर्विवेको ज्ञेयः । भाष्ये चित्तमालिन्येति । 'यथा यथात्मा परिमृज्यत' इति वाक्यमनुसन्धेयम् । ऋष इति हे नारद । प्रयच्छतीति । चित्तमालिन्यजननेन ज्ञानतिरोधायको मोह इति । तमोरूपमायाकार्यत्वात् । प्रकृतेति । तदर्थकेति । भक्त्यर्थकशमादिनिर्बन्धाभावात् । तस्य आपदुपस्थिताविति च्छेदः । तत्रेति । भक्तिमार्गे । तस्येति । भक्तिमार्गीयस्य । आपत्तिमत्त्वमिति । भाष्यीयस्य तथात्वमिति पदस्य विवरणमिदम् ॥ २७ ॥

अबाधाच्च ॥ २८ ॥

आपदि तथान्नभक्षणेन चित्ताशुद्ध्यसम्भवेन तज्जनितप्रतिबन्धाभावाच्च न दोष इत्यर्थः ॥ २८ ॥

अपि स्मर्यते ॥ २९ ॥

आपद्यविदुषोपि दुष्टान्नभक्षणे पापाभावो यत्र स्मर्यते, तत्र विदुषि श्रुत्यनुमते का शङ्केत्यर्थः । स्मृतिस्तु 'जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः । लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा' इति । अथवा । विदुषो दुष्टकर्मासम्बन्धः, 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथे'ति स्मर्यतेऽपीत्यर्थः ॥ २९ ॥

शब्दश्चातोऽकामकारे ॥ ३० ॥

यतो ज्ञानाग्निरेव सर्वकर्मदहनसमर्थ इति फलदशायां कामकारेऽपि न दोषः, अत एव साधनदशायां तदभावेन 'तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षु'रित्यादिरूपः शब्दः कामकारनिवर्तकः श्रूयत इत्यर्थः ॥ ३० ॥

इति तृतीयाध्याये चतुर्थपादे द्वितीयं सर्वापेक्षेत्यधिकरणम् ॥ २ ॥

विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि ॥ ३१ ॥ (३-४-३.)

एवं ज्ञानस्य कर्मनाशकत्वे सिद्धे जातज्ञानस्याश्रमकर्म कर्तव्यं न वेति चिन्त्यते । तत्र फलस्य जातत्वात् कृतस्यापि नाश्यत्वेनाप्रयोजकत्वाच्च कर्तव्यमिति पूर्वः पक्षः । तत्र सिद्धान्तमाह ।

यथा ज्ञानिनामप्यनापदि शिष्टानामेवान्नं भक्षणीयम्, विहितत्वात्, तथा

भाष्यप्रकाशः ।

अबाधाच्च ॥ २८ ॥ अपि स्मर्यते ॥ २९ ॥ शब्दश्चातोऽकामकारे ॥ ३० ॥

एतत्सूत्रत्रयभाष्यमतिरोहितार्थम् ।

अन्ये तु, 'सर्वान्नानुमति'रित्यादिसूत्रचतुष्टयात्मकमधिकरणान्तरमङ्गीकृत्य, किमत्र विद्यावतः सर्वान्नभक्षणं विधीयते, उत विद्यास्तुत्यर्थं कीर्त्यत इति संशये, न द्वयमपि, किन्तु प्राणरक्षार्थमनुज्ञामात्रम् । अतोऽर्थवाद एवेति सिद्धान्तयन्ति । तदप्यविरुद्धम् ॥ ३० ॥

इति द्वितीयं सर्वापेक्षेत्यधिकरणम् ॥ २ ॥

विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि ॥ ३१ ॥ अधिकरणप्रयोजनं पूर्वपक्षादिकं चाहुः एवं ज्ञानस्येत्यादि । सूत्रव्याख्यानं तु स्फुटम् ॥ ३१ ॥

रश्मिः ।

अबाधाच्च ॥ २८ ॥ अपि स्मर्यते ॥ २९ ॥ शब्दश्चातोऽकामकारे ॥ ३० ॥ तदभावेनेति ज्ञानाग्न्यभावेन । अतिर इति । एवमतिरोहितार्थमित्यर्थः ॥ ३० ॥

इति द्वितीयं सर्वापेक्षेत्यधिकरणम् ॥ २ ॥

विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि ॥३१॥ एवं ज्ञानस्येत्यादीति । 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणी'त्युक्तदिशा । 'अविद्यायामन्तरे वर्तमाना' इति मुण्डके कर्माविद्येत्यन्ये व्याकुर्वन्ति स्म । कृतस्येति कर्मणः । विहितत्वेति 'ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्, गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजे'दित्यनया एकादशे

आश्रमकर्मापि कर्तव्यमेव, नित्यं विहितत्वादित्यर्थः। यथाऽनापद्यशिष्टान्नभक्षणं दोषाय, निषिद्धत्वात्, एतच्चोपपादितं 'सर्वान्नानुमति'रित्यत्र, तथा नित्यत्यागोऽपि प्रत्यवायजनक इति तत् कर्तव्यमेवेति भावः ॥ ३१ ॥

यच्चोक्तं कृतस्यापि नाश्यत्वेनाप्रयोजकत्वान्न कर्तव्यमिति तत्राह।

सहकारित्वेन च ॥ ३२ ॥

शमदमादीनामन्तरङ्गसाधनानां सहकारीण्याश्रमकर्माणीत्येतद्रहितैः शमादिभिरपि ज्ञानं न स्थिरीकर्तुं शक्यमिति तानि कर्तव्यान्येवेत्यर्थः। संसारवासनाजनकत्वस्वभावो यः कर्मणां स ज्ञानेन नाश्यत इति न सहकारित्वेऽनुपपत्तिः काचिदिति भावः ॥ ३२ ॥

एवं ज्ञानमार्गीयज्ञानस्थैर्यसाधनमुक्त्वा भक्तिमार्गीयसाधनानां भगवच्छ्रवणादीनामिव आधिक्यमावश्यकतां चाह।

सर्वथापि त एवोभयलिङ्गात् ॥ ३३ ॥

भगवच्छ्रवणकीर्तनादयः साधनान्तरवद्विहितत्वेन कर्तव्या एव यद्यपि, तथापि सर्वथापि अन्येषां युगपदुपस्थितौ तदनुरोधमकृत्वापि त एव भगवद्धर्मा

भाष्यप्रकाशः।

सहकारित्वेन च ॥ ३२ ॥ ननु गीतास्मृतौ ज्ञानस्य सर्वकर्मनाशकत्वमुक्तम्, जातज्ञानस्य च ज्ञानं वर्तत इति तेन कर्मनाशे कथं तेषां सहकारित्वं युज्यत इत्याशङ्कायामाहुः संसारेत्यादि। तथा च स्मृतावेधोऽग्निदृष्टान्तस्योक्तत्वात् यथाग्निरेधांसि दहंस्तेषां धूमादिजनकं स्वभावं नाशयति, स्वस्थितिपर्यन्तमङ्गाररूपेण स्थापयति च तत्स्वरूपम्, तद्वदत्रापि स्वान्तर्गतमेव कर्मस्वरूपं कृत्वा स्थापयतीति न सहकारित्वेऽनुपपत्तिरित्यर्थः ॥ ३२ ॥

सर्वथापि त एवोभयलिङ्गात् ॥ ३३ ॥ पूर्वं सर्वापेक्षासूत्रे सर्वपदेन कर्मज्ञानभक्तीनां सङ्गृहीतत्वात्तेषु कर्मणामङ्गाङ्गतयैव सङ्ग्रहः, मुख्यतया तु ज्ञानभक्त्योरिति पूर्वं प्रथमकक्षाविश्रान्तज्ञानमार्गीयज्ञानस्थैर्यप्रकारं दर्शयित्वा अधुना भक्तिमार्गीयाणां तं दर्शयतीत्याशयेन सूत्रमवतारयन्ति एवमित्यादि। आहेति। शारीरब्राह्मणस्थश्रुतिविचारेण श्रीभागवतगीतावाक्यविचारेण चाहेत्यर्थः। सूत्रं व्याकुर्वन्ति भगवदित्यादि। अन्येषामिति। आश्रमधर्माणाम्। ननु तच्छब्दस्य पूर्वपरामर्शित्वात् पूर्वं चाश्रमधर्माणां शमादीनां चोक्तत्वात्तान् विहायात्र तच्छब्देन भगवद्धर्मा एव कथं

रश्मिः।

सप्तदशाष्टादशाध्यायीयाभ्यां च विहितत्वात्। प्रत्यवायेति। 'सप्तहात् शूद्रतां व्रजे'दिति सप्तदिनानि सन्ध्यावन्दने अकृते प्रत्यवायो यथा। एवं स्फुटमित्यर्थः ॥ ३१ ॥

सहकारित्वेन च ॥ ३२ ॥ तेषामिति। एधसां काष्ठानाम्। तद्वदिति ज्ञानं कर्मणां संसारवासनाजनकत्वस्वभावं नाशयित्वा ज्ञानस्थितिपर्यन्तं स्वस्य ज्ञानस्यान्तर्गतं कृत्वा ॥ ३२ ॥

सर्वथापि त एवोभयलिङ्गात् ॥ ३३ ॥ शारीरेति। भाष्य एवाग्रे वक्तव्यानि।

एव कर्तव्या इत्यर्थः। कुतः। श्रुतिलिङ्गात् स्मृतिलिङ्गाच्च। श्रुतिलिङ्गं तु 'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः। नानुध्यायाद् बहून् शब्दान् वाचो विग्लापनं हि त'दिति। 'तमेवैकं जानथात्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतु'रित्यपि। अत्रैवकारेण भगवदतिरिक्तं प्रतिषिद्धय तद्विषयकज्ञानानुकूलं प्रयत्नं श्रवणात्मकं विज्ञायेति विधाय स्मरणमपि तन्मात्रविषयकमेव 'प्रज्ञां कुर्वीते'ति वचनेन विधाय तदेकनिष्ठताहेतुभूतानामेव शब्दानामावर्तनमर्थानुसन्धानमपि कर्तव्यम्, नान्येषामिति 'नानुध्यायाद् बहू'नित्यनेनोक्तवती। अत्र 'अन्वि'त्युपसर्गेण ध्यानस्य पश्चाद्भावित्वमुच्यते। तेन योग्यतया श्रवणकीर्तने एव तत्पूर्वभाविनी प्राप्येते। स्मृतिस्तु 'शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः। त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं भवप्रवा-

---

भाष्यप्रकाशः।

गृह्यन्त इत्याशङ्कायां हेतुव्याख्यानेन तामपि निरस्यन्ति श्रुतिलिङ्गं तु 'तमेव धीर' इत्यादि। तथा च पूर्वं सूत्रेषु शमादीनां यज्ञादीनां च शारीरब्राह्मणस्थानामेव परामृष्टत्वादत्रापि तत्रत्यमेव साधनं परामृश्यते। तत्र च पूर्वं 'तमेव धीर' इति वाक्यमेवोक्तम्। ततो वेदानुवचनवाक्यम्। ततः शान्तदान्तवाक्यम्। अतः सूत्रस्थेन तच्छब्देन श्रुतिस्थं यत्पूर्वम्, तदेव परामृश्यते। श्रुतावेषां पूर्वमुक्तत्वेपि यदेषां पश्चाद्विचारणम्, तदेकादशस्कन्धे भगवता 'ज्ञानं कर्म च भक्तिश्चे'ति पश्चादुक्तत्वात्। 'तमेवैक'मिति मुण्डकश्रुतिश्चासन्दिग्धतया सम्यक् माहात्म्यस्फोरणाय पठ्यते। केन लिङ्गेनात्र भगवद्धर्मप्राप्तिरित्याकाङ्क्षायां इतरानुध्याननिषेधकवाक्यगतानूपसर्गस्य पश्चाद्भावित्वप्रकाशकत्वलिङ्गेन तत्पूर्वभाविनी श्रवणकीर्तने प्राप्येते। तेन तदनन्तरं तत्सारभूतशब्दार्थानुसन्धानमेव कार्यम्, न त्वन्येषां तदर्थमन्यानुवादकानामपीति बोध्यत इति न कोपि शङ्कालेशः। स्मृतिलिङ्गं वक्तुमाहुः स्मृतिस्त्वित्यादि। अत्रापि प्रथमवाक्ये फलश्रुतिलिङ्गेन तेषां करणं लभ्यते। एवं

रश्मिः।

त्वामिति आशङ्काम्। पश्चादीति अस्मिन्सूत्रे। पश्चादिति ज्ञानकर्मणी पूर्वसूत्रविचारिते इति ताभ्यां पश्चात् भक्तेरुक्तत्वात्। भाष्ये 'तमेवैक'मित्यत्राभिप्रायानुक्त्या। शारीरेत्यादि पूर्वमुक्तं साधयन्ति स्म तमेवैकमिति। माहात्म्येति। 'महात्मानस्तु मां पार्थे'ति वक्ष्यमाणवाक्ये महात्म्यावच्छिन्नोक्तेरुपष्टभ्य श्रुतावपि त एव सम्बोध्या इति भावः। यद्वा। आत्मानमिति पदादतनशीलस्य माहात्म्यं क्षराक्षरज्ञानेपि तत् ज्ञानमेवेति माहात्म्यं देवत्वम्। माहात्म्यं तमेवेत्यत्रैवोक्तमित्यतोऽग्रेतनभाष्यमित्याशयेन अत्रान्वित्युपसर्गेत्यादिभाष्यार्थमाहुः केनेति लिङ्गं शब्दस्य सामर्थ्यं तेन। भगवद्धर्मेति माहात्म्यप्राप्तिः। पश्चादिति। तच्छब्दार्थध्यानस्य स्मरणस्य भावनस्य कृष्णचिन्तनस्येति यावत्। 'तस्माच्छ्रीकृष्णमार्गस्थो विमुक्तः सर्वलोकतः। आत्मानन्दसमुद्रस्थं कृष्णमेव विचिन्तये'दिति वाक्यात्। तत्पूर्वेति निर्वाहकत्वेन भावेनापूर्वभाविनी। श्रवणादित्रिकस्य परस्परनिर्वाहकत्वमेकादशस्कन्धसुबोधिन्यां वर्तते। तेनेत्यादि भक्तेः कर्मज्ञानाभ्यां पश्चादस्मिन् सूत्र उक्तत्वेन। तदनन्तरमिति श्रवणकीर्तनानन्तरम्। शब्देति। अनुसंधानं भावना। न त्वन्येषामिति। 'वने वृन्दावने क्रीडन् गोपगोपासुरैः सहे'ति उपनिषदुक्तोऽर्थः। तदर्थम् तदुपष्टम्भार्थम्। अन्येषां काव्यादीनां तत्राप्यन्येषां राज्ञामनुवादकानाम्। 'सर्वाः शरत्काव्यकथारसाश्रया' इति वाक्यात्। फलश्रुतीति पदाम्बुजदर्शनविषयिणीफलश्रुतिसामर्थ्येन। तेषामिति।

होपरमं पदाऽम्बुज'मिति । 'महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः । भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् । सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः । नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासत' इति । एतेन भगवद्धर्माणामात्मधर्मत्वेनान्तरङ्गत्वादाश्रमकर्मणो देहधर्मत्वेन बहिरङ्गत्वात्तदविरोधेनैव तत् कर्तव्यमिति स्थितम् । अत एव भगवद्धर्मान्यधर्मं प्रतिषिध्य तेषां सर्वेभ्य आधिक्यं ज्ञापयितुं 'स वा अयमात्मा सर्वस्य वशी'त्यादिना भगवन्माहात्म्यमुक्तम् ॥ ३३ ॥

अनभिभवं च दर्शयति ॥ ३४ ॥

प्राधान्येन भगवद्धर्मा एव कर्तव्या इत्यत्रोपोद्बलकान्तरमनेन उच्यते । 'सर्वं पाप्मानं तरति, नैनं पाप्मा तरति, सर्वं पाप्मानं तपति, नैनं पाप्मा तपती'त्यादिना भगवद्धर्मानुरोधेनाश्रमकर्माकरणजदोषैरनभिभवं च श्रुतिर्दर्शयति, अतो भगवद्धर्मा एव सर्वेभ्य उत्तमानि साधनानीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः ॥ ३५ ॥

भगवद्धर्मेभ्य आश्रमधर्मा हीना इत्यप्यल्पमुच्यते । अपि तु तस्मिन् पुरुषोत्तमे धर्मिण्येव दृष्टिस्तात्पर्यं यस्य पुंसस्तस्याश्रमधर्मा अन्तरा च फलसिद्धौ व्यवधानरूपाश्चेति श्रुतिर्दर्शयतीति पूर्वेण सम्बन्धः । अन्तराशब्दोऽत्राव्ययात्मको व्यवधानवाचकः । तथा च श्रुतिः 'एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे ब्राह्मणा अनूचाना विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोक' इति ऋणापाकरणहेतुत्वेन लौकिकोत्कर्षहेतुत्वेनापि प्रजाया अभीष्टत्वेपि तदुत्पादनव्यासङ्गेन भगवदानन्दानुभवेऽन्तरायो भविष्यतीति तद्दृष्ट्या तत्रोपेक्षां दर्शयति ॥ ३५ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

गीतावाक्येपि ज्ञेयम् । सिद्धमाहुः एतेनेत्यादि । एतदुपष्टम्भाय प्रकृतश्रुतिस्थमेव लिङ्गं दर्शयन्ति अत एवेत्यादि । तथा चान्ते भगवन्माहात्म्योक्तिरपि भगवद्धर्माणामाधिक्ये तेषामवश्यकर्तव्यत्वे च लिङ्गमित्यर्थः । एतेन अस्मिन् सूत्रे त एवेत्यवधारणेन तयाणां युगपदुपस्थितौ भगवद्धर्मातिरिक्तान् आचार्यो निवर्तयतीति बोधितम् । एतदुपष्टम्भायैवाग्रिमा पञ्चसूत्रीति ॥ ३३ ॥

अनभिभवं च दर्शयति ॥ ३४ ॥ अत्र भाष्यमतिरोहितार्थम् । 'सर्वं पाप्मानं तरती'ति श्रुतिस्तु शारीरब्राह्मणस्था ॥ ३४ ॥

अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः ॥ ३५ ॥ व्यवधानवाचक इति । 'अन्तरेऽन्तरा, अन्तरेण च मध्ये स्यु'रिति कोशात् । मध्यस्थितस्य च व्यवधायकत्वाद् व्यवधानवाचक इत्यर्थः । आश्रमकर्मणां कथं व्यवधायकत्वमित्याकाङ्क्षायां श्रुत्या तदुपपादयन्ति तथा चेत्यादि । इयमपि श्रुतिस्तत्रत्यैव ॥ ३५ ॥

अपि स्मर्यते ॥ ३६ ॥ विशेषानुग्रहश्च ॥ ३७ ॥ एतद्भाष्यमप्यतिरोहितार्थम् । अनुग्रहस्तु धर्मान्तरं कृपादयाद्यपरपर्यायम्, न तु फलदित्सा । 'यस्यानुग्रहमिच्छामी'ति वाक्यात् । अयमेव च पुष्टिशब्देनोच्यते । 'पोषणं तदनुग्रह' इति वाक्यात् । एतत् सर्वं मत्पितृचरणविरचिते पुष्टिप्रवाहमर्यादाख्यग्रन्थविवरणे प्रपञ्चितमिति नात्रोच्यते ॥ ३७ ॥

अतस्त्वितरज्यायो लिङ्गाच्च ॥ ३८ ॥ मुक्तेरिति पञ्चमी अत्रेति । भक्तिमार्गीयभगवदीयत्वस्य मुक्तितोपि ज्यायस्त्वे । स्वरूपमेवेति । तिष्ठतीति शेषः । अतोपीति भगवदुपयोगिलिङ्गस्थूलशरीरद्वयात्मिकाया भजनानन्दानुभावकसामग्र्या आधिक्यादिति । एतेन 'सर्वेन्द्रियैस्तथा चान्तःकरणैरात्मनापि हि । ब्रह्मभावात्तु भक्तानां गृह एव विशिष्यत' इति निबन्धोक्तं

रश्मिः ।

श्रवणकीर्तनादीनाम् । एवं गीतेति । नवमाध्यायस्थं वाक्यम्, अत्रापि पदाम्बुजदर्शनं फलश्रुतिः । श्रीभागवतस्य गीताव्याख्यानत्वात् । यद्वा । नवमाध्यायस्थं व्यवहितम्, 'यान्ति मद्याजिनोपि मा'मिति वाक्योक्तं श्रीभागवतोक्तरूपम् । एतेनेत्यादीति । तदविरोधेनेति । अन्तरङ्गाविरोधेन । तत्कर्तव्यम् बहिरङ्गकर्तव्यम् । प्रकृतेति । 'तमेव धीर' इति श्रुतिस्थम् । अत एवेत्यादीति । अन्तरङ्गानुरोधेन बहिरङ्गस्य कर्तव्यत्वादेव । 'नानुध्याया'दित्यादिना भगवद्धर्मेभ्योऽन्यं बहूनां धर्मं निषिध्य । माहात्म्यमुक्तमिति । देवत्वमुक्तम् । आचार्य इति व्यासः । आश्रमे आश्रमान्तरधर्मनिवर्तनवत् निवर्तयति ॥ ३३ ॥

अनभिभवं च दर्शयति ॥ ३४ ॥ सर्वमिति । अस्यां श्रुतौ । नैनमिति । पुरुषोत्तमविदमपीति तात्पर्यार्थः ॥ ३४ ॥

अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः ॥ ३५ ॥ तत्रत्यैवेति । शारीरब्राह्मणस्थैव ॥ ३५ ॥

अपि स्मर्यते ॥ ३६ ॥ विशेषानुग्रहश्च ॥ ३७ ॥ अतस्त्वितरज्यायो लिङ्गाच्च

अपि स्मर्यते ॥ ३६ ॥

अपिशब्देनाश्रमधर्माणां तथात्वं किमु वाच्यम्, यतो ज्ञानतत्साधनवैराग्यादीनामप्यन्तरायरूपत्वं स्मर्यते । 'तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः । न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिहे'ति भगवद्वाक्यम् ॥ ३६ ॥

विशेषानुग्रहश्च ॥ ३७ ॥

स्मर्यत इति पूर्वेण सम्बन्धः । ज्ञानादेः सकाशाद्भक्तिमार्गे फलतोऽप्युत्कर्षमाह । ज्ञानादिसाधनवत्स्वनुग्रहो मुक्तिपर्यन्त एव, भक्तिमार्गे तु, 'अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विजे'त्यादिवाक्यैर्विशेषरूपो मुक्तादिभ्योपि भक्तानां व्यावर्तको भगवदनुग्रहः स्मर्यत इत्यर्थः ॥ ३७ ॥

गूढाभिसन्धिमुद्घाटयन् फलितमर्थमाह ।

अतस्त्वितरज्यायो लिङ्गाच्च ॥ ३८ ॥

अत इति पूर्वोक्तश्रुतिस्मृतिपरामर्शः । तथा चेतरस्या मुक्तेरपि भक्तिमार्गीयतदीयत्वमेव ज्याय इत्यर्थः । अत्र हेत्वन्तरमाह लिङ्गाच्चेति । मुक्तानां तु मायाविनिर्मुक्तमात्मस्वरूपमेव, न तु देहेन्द्रियादिकमप्यस्ति, येन भजनानन्दानुभवः स्यात् । भक्तानां तु देहेन्द्रियादिकमपि मायातत्कार्यरहितत्वेनानन्दरूपत्वेन च भगवदुपयोग्यतोपि तत्तथेत्यर्थः । न हि मुक्तात्मनां कश्चन भगवदुपयोगोऽस्तीति

भावः। तदुक्तं श्रीभागवते, 'न यत्र माया किमुताऽपरे हरेरनुव्रता यत्र सुरासुरार्चिता' इत्यादि, मुक्तोपसृप्यत्वं चोच्यते। अत एव सप्तमस्कन्धे 'देहेन्द्रियासुहीनानां वैकुण्ठपुरवासिना'मित्युक्तम्। पुरवासित्वे देहादेरावश्यकत्वान्निषेधो जडात्मकानामेवेत्यवगम्यते। इतरज्याय इति पाठे तु पूर्वोक्ताश्रमकर्मपरामर्शोऽत इत्यनेन उक्तयोरेव वा। एतेन, 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिते'तिश्रुत्युक्तफलवत्त्वं तस्य सूच्यते ॥ ३८ ॥

इति तृतीयाध्याये चतुर्थपादे तृतीयं विहितत्वाच्चाश्रमकर्मेत्यधिकरणम् ॥

भाष्यप्रकाशः।

स्मारितम्। ननु भगवदुपयोगित्वस्य कथं मुक्त्यपेक्षया भक्ताधिक्यलिङ्गत्वमित्यपेक्षायां तत्र प्रमाणमाहुः तदुक्तमित्यादि। एतद्वाक्ये मायासंसर्गरहिते स्थाने भगवदनुव्रतानां कथनाद्भगवतो मुक्तसेव्यत्वस्य पूर्वं भगवता सूत्रकारेण मुक्तोपसृप्यसूत्रे उक्तत्वाच्च तदेव प्रमाणमित्यर्थः। एतदुपोद्बलनाय निषेधमुखेनालौकिकदेहबोधकं वाक्यान्तरमाहुः अत एवेत्यादि। एवमेकपाठं व्याख्याय पाठान्तरं व्याकुर्वन्ति इतरदित्यादि। उक्तयोरिति। श्रुतिस्मृत्योः। अस्मिन् पक्षे इतरदितिपदेन भक्तिमार्गीयभगवदीयत्वं बोध्यम्। सिद्धमाहुः एतेनेत्यादि। तस्येति तादृशभगवदीयत्वस्य। एवं ज्ञानिधर्माणां शमादीनामाश्रमधर्माणां च विहितत्वेन तौल्यादवश्यकर्तव्यत्वे प्राप्तेप्यनभिभवादिपञ्चसूत्र्या भगवद्धर्माणामुत्कर्षप्रदर्शनेन, अन्येषामेतेषां च युगपदुपस्थितौ भक्तिमार्गीयेण पूर्वमेत एव कर्तव्या, गौणकाले त्वन्य इति निर्णीतम्। यद्यप्यतीतपादे, 'आदरादलोप' इत्यधिकरणे राजसभक्तानां कर्मासक्तिनिवृत्तयेऽयमर्थ उक्तः, तथाप्यत्र कर्मोपसंहारप्राकारदार्ढ्यार्थं पुनर्विशेषतो युक्तिपूर्वकं बोधित इति न पुनरुक्तिदोष इति ज्ञेयम्।

अन्ये तु 'सर्वथाऽपी'ति सूत्रद्वयमाश्रमकर्माधिकरणशेषत्वेनाङ्गीकृत्य त एवेत्यवधारणेनाश्रम-

रश्मिः।

॥ ३८ ॥ **स्वरूपमेवेति**। तेनात्मस्वरूपमित्यत्रात्मनः स्वरूपमित्यपि पाठः। **आधिक्यादि**तीति आधिक्यादपि। 'इति प्रकरणे हेतौ प्रकारादिसमाप्तिष्वि'ति विश्वात्। **भक्ताधिक्येति**। ननु मुक्तिः फलम्, भक्तो फलभक्तिविशिष्ट इति मुक्त्यपेक्षया भक्ताधिक्यासिद्ध्या दूरं तल्लिङ्गत्वप्रश्न इति चेत्, न। 'अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तम' इत्यात्यन्तिकभक्तिलक्षणमुक्त्वा कार्यमाह 'सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत। दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जना' इत्यत्रैकत्वापेक्षया भगवत्सेवनस्याधिक्योक्तेः। **पूर्वमिति** द्वितीयाध्याये। **निषेधेति** 'देहेन्द्रियासुहीनाना' मित्येवं पूर्वोक्तस्य, भक्तानां तु देहेन्द्रियादिकमपीत्यस्य **निषेधमुखेन** निषेधोपायेन **भगवदीयत्वस्य**। तेन भगवदीयत्वं फलवदिति निष्पन्नम्। फलं किमित्युक्ते। साधनफलैकीकारेण। प्रकटसदंशसेवायां प्रकटानन्दांशत्वे भवति। सेवाविषयभगवद्रूपानन्देन वा। तदुक्तं 'तस्मात् सर्वं परित्यज्य निरुद्धैः सर्वदा गुणाः। सदानन्दपरैर्ज्ञेया सच्चिदानन्दता स्वत'इति निरोधलक्षणग्रन्थे। निरुद्धस्य जीवस्य सच्चिदानन्दता स्वत इति बोध्यम्। निरोधस्त्वात्यन्तिकभक्त्यात्मको भवत्येव। एतच्चेतः प्रेत्य फलम्। 'अस्माल्लोकात् प्रेत्ये'ति ब्रह्मवित्प्रपाठकश्रुतेः। **भक्तिमार्गीयेणेति**। पुंसा। **आश्रमकर्मेति**। इदमधिकरणं सूत्रचतुष्टयात्मकम्। तेनाश्रमकर्माधिकरणे शेषत्वेनाश्रमकर्माधिकरणशेषत्वेन। सप्तमी शौण्डैरित्यत्र सप्तमीति योगविभागात् समासः। **त एवेति**। सर्वथापि त एवेत्यत्र त एवेत्यवधारणेन। **आश्रमेति**। आश्रमधर्मातिरिक्तानि धर्मान्तराण्यग्निहो-

भाष्यप्रकाशः।

धर्मातिरिक्तधर्मान्तरनिवृत्तिमङ्गीकुर्वन्ति। यथा हि, 'मासमग्निहोत्रं जुहुती'ति कर्मान्तरमुपदिश्यते, तथा नात्र, किन्तु तान्येव वेदानुवचनादिपदैरनूद्य पृथक्संयोगो विधीयते तस्मादिति। तत्रैवं व्याख्याने सर्वथेति पदानर्थक्यम्। आश्रमधर्मपक्षे भेदशङ्काया एवानुदयादिति। अनभिभवसूत्रवैयर्थ्यं च।

तथा, 'अन्तरा चापी'ति सूत्रचतुष्टयात्मकमधिकरणान्तरमङ्गीकृत्य तत्र विधुरादीनां द्रव्यादिसम्पद्रहितानां चान्यतमाश्रमप्रतिपत्तिहीनानां च विद्यायामधिकारोऽस्ति, न वेति संशये, रयिक्वावाचक्नवीप्रभृतीनामपि ब्रह्मविस्त्वश्रुत्युपलब्धेः। संवर्तप्रभृतीनां च नग्नचर्यादियोगादनपेक्षिताश्रमकर्मणामपि महायोगित्वस्मरणात्। विधुरादीनामविरुद्धैः पुरुषमात्रसम्बन्धिभिर्धर्मविशेषैर्विद्यानुग्र-

रश्मिः।

त्रादीनि न भवन्ति। किन्तु सर्वथाप्याश्रमकर्मत्वपक्षे विद्यासहकारित्वपक्षे च त एवाग्निहोत्रादयोऽनुष्ठेयाः। **त** एवेत्यवधारयन् आचार्यः किं निवर्तयति। कर्मभेदाशङ्कामिति ब्रूमः। यथा कुण्डपायिनामयने'मासमग्निहोत्रं जुहोती'त्यत्र नित्याग्निहोत्रात् कर्मान्तरमुपदिश्यते नैवमिह कर्मभेदोस्तीत्यर्थः। कुतः। श्रुतिलिङ्गात्, स्मृतिलिङ्गाच्च। श्रुतिलिङ्गं तावत् 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ती'ति सिद्धवदुत्पन्नरूपाण्येव यज्ञादीनि विविदिषायां विनियुङ्क्ते। जुहुतीत्यादिवत् नापूर्वमेषां रूपमुत्पादयतीति। स्मृतिलिङ्गमपि 'अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति य' इति। एवं आश्रमधर्मातिरिक्तधर्मान्तरनिवृत्तिमङ्गीकुर्वन्तीत्यर्थः। **कर्मान्तर**मिति। पूर्वतन्त्रे चिन्तितं द्वितीयेऽध्याये। अत्र हि जुहुतीत्याख्यातस्य विधायकस्य प्रकृतिभूतस्य जुहोतेरर्थः अग्निहोत्रमिति युक्तः तस्य प्रसिद्धाग्निहोत्राद्भेदः। जुहोतेः साध्यहोमव्यक्तिवचनत्वेन सिद्धाग्निहोत्रपरामर्शानुपपत्तेः। अत एव तदेकार्थकाग्निहोत्रशब्दस्य न नित्याग्निहोत्रानुवादकत्वं व्यक्तिवचनादेव। एवं कर्मान्तरमुपदिश्यते। **तथा नात्रेति** अत्र प्रकृते तथा न यज्ञादेर्विधायकाख्यातः प्रकृत्यर्थः। विविदिषाया एव तदर्थत्वात् **किन्तु तानीति**। अग्निहोत्रादीनि। विविदिषन्तीति **पृथग्विद्यासंयोगः**। तस्मादाख्यातप्रकृत्यर्थमात्रार्थकैर्यज्ञादिशब्दैः प्रसिद्धस्य यज्ञादेरनुवादेन 'तमेत'मित्यत्र विद्यासंयोगमात्रमपूर्वं **विधीयते** इति न कर्मभेदः। **तस्मा**दिति उभयलिङ्गात्। **एवमिति** सर्वथाप्याश्रमकर्मत्वपक्षे विद्यासहकारित्वपक्षे चेति। **सर्वथा**पदव्याख्याने। **अनुदया**दिति अग्निहोत्रादेर्गृहस्थाश्रमधर्मत्वात् विद्यासहकारित्वमात्रपक्षे सर्वपदासङ्गतेः। **अनभिभवेति**। रागादिभिः क्लेशैरेष ह्यात्मानं न पश्यति यं ब्रह्मचर्येणानुविद्याश्रुतिर्ब्रह्मचर्यादेराश्रमकर्मणो मनःशुद्धिद्वारा ज्ञानसाधनत्वे आत्मानभिभवं लिङ्गं दर्शयतीति सूत्रार्थः। अत्राश्रमधर्मविचारः पूर्वसिद्ध इति तथा। **विधुरेति** अन्तराले वर्तमानो विधुरः। एतस्यैव प्रपञ्चः **द्रव्यादीति**। **रयिक्वेति**। छान्दोग्ये 'जानश्रुतिर्ह पौत्रायण' इत्यारम्भके प्रपाठकेऽस्ति। **वाचक्नवीति**। वचक्नोरपत्यं स्त्री वा वाचक्नवी। वाचक्नवीत्यपि पठ्यते। **ब्रह्मविस्त्वेति**। 'रयिक्वेमानि षट्शतानि गवामयं निष्को अयं अश्वतरीरथोऽनु म एतां भगवो देवताᳪ शाधि यां देवतामुपास्स:' इति ब्रह्मवित्त्वश्रुतेरुपलब्धेः। वाचक्नवी स्त्रीत्वादनाश्रमी। **अपि स्मर्यत** इति सूत्रार्थमनुवदन्ति **संवर्तेति**। प्रभृतिशब्देनर्षभादयः। **महेति** इतिहासे तथा। **विशेषानुग्रहश्चेति** सूत्रार्थमनुवदन्ति स्म **विधुरादीना**मिति। **अविरुद्धै**रिति अविधुरादिभ्योऽविरुद्धैः। **धर्मेति** जपोपवासदेवताराधनादिभिः। तथा च स्मृतिः 'जप्येनैव तु संसिद्ध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः। कुर्यादन्यन्न वाऽकुर्यात् मैत्रो ब्राह्मण उच्यते' इति। संशयद्वितीयकोटेः पूर्वपक्षत्वं

तद्भूतस्य तु नाऽतद्भावो जैमिनिरपि नियमातद्रूपाभावेभ्यः ॥ ३९ ॥ (३-४-४)

अथेदं विचार्यते । तदीयानामपि कदाचित् सायुज्यमस्ति, न वेति । तत्र भक्तिमार्गस्यापि साधनरूपत्वात् तस्य च मुक्तावेव पर्यवसानात् तदीयत्वस्य साधनावस्थायामुत्कृष्टावस्थारूपत्वात् तेषामपि मुक्तिरावश्यकी । तथा च फलतो न कश्चित् विशेष इति प्राप्ते, उच्यते तद्भूतस्येत्यादि । तुशब्देन मर्यादामार्गीयव्यवच्छेदः । अत्र विश्वासदार्ढ्यायाह । अन्यस्य का वार्ता, कर्ममात्रनिरूपकस्य जैमिनेरपि यदि कदाचिद्भगवत्कृपयायं भावो भवेत्, तदा तद्भूतस्य पुष्टिमार्गीयभगवद्भावं प्राप्तस्य तस्यापि नातद्भाव उक्तभावतिरोधानं न कदाचिदपीत्यर्थः । अत्र हेतूनाह नियमादीन् । तैत्तिरीयके, 'ते ते धामान्युश्मसी'ति मन्त्रे 'यत्र भूरिशृङ्गा अयासस्तदुरुगायस्य परमं पद'मित्युक्त्वा, तदनन्तरं तत्र कृतानि कर्माण्यपि, 'विष्णोः कर्माणि पश्यते'ति मन्त्रेण निरूप्य, पुनः पूर्वोक्तलीलास्थानं, 'तद्विष्णोः परमं पद'मिति पदेनानूद्य, तस्य नित्यत्वनिरूपणायोच्यते, 'सदा पश्यन्ति सूरय' इति । सूरयो विद्वांसः पुरुषोत्तमज्ञानवन्त इति यावत् । तच्च भक्त्यैवेति सूरिपदेन भक्ता उच्यन्ते । तथा च भक्तानां सार्वदिकदर्शनं नियम्यते, 'सदे'ति पदेन । एवं सति पुष्टिमार्गीयभगवद्भावं प्राप्तस्य मुक्तावुच्यमानायां तन्नियमो भज्येतेत्यर्थः । यच्चोक्तं साधनावस्थायामुत्तमावस्थारूपत्वम्, परं तदीयत्वस्य फलं मुक्तिरेवेति तत्राह । अतद्रूपेति । उक्तभगवदीयत्वं न साधनरूपमपि तु मुक्तेरपि फलरूपम् । 'मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः । सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा' इति वाक्यात् । 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत' इति श्रुत्या अमृतस्य मुक्तस्य ब्रह्मस्वरूपभोग उच्यते । स च, 'यमेवैष वृणुत' इति श्रुतेर्भगवदीयत्वसाध्य एवेति स्पष्टं फलत्वमस्यातोऽतद्रूपत्वम् । किञ्च । फलं हि साधनादुत्तमं भवति । भगवदीयत्वादुत्तमस्यार्थस्याभावादपि न मुक्तिर्वक्तुमुचिता । तदुक्तं श्रीभागवते पञ्चमस्कन्धे पूर्वं भक्तिस्वरूपं निरूप्य, 'तयैव परया निर्वृत्या ह्यपवर्गमात्यन्तिकं परमपुरुषार्थमपि स्वयमासादितं नो एवाद्रियन्ते भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्था' इति ॥ ३९ ॥

इति तृतीयाध्याये चतुर्थपादे चतुर्थं तद्भूतस्येत्यधिकरणम् ॥ ४ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

ह्यसरणाच्च । तेषामप्यस्त्यधिकार इति निर्णयमाहुः । अन्तरालवर्तित्वापेक्षया आश्रमित्वं ज्यायो विद्यासाधनमिति चाहुः । तत्रोदासीना वयम् ॥ ३८ ॥

इति तृतीयं विहितत्वाच्चाश्रमकर्मेत्यधिकरणम् ॥ ३ ॥

तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि नियमातद्रूपाभावेभ्यः ॥ ३९ ॥ अधिकरणमवतारयन्ति अथेत्यादि । कदाचित् सायुज्यमस्ति, न वेति साधनभक्तिपरिपाकदशायामक्षरसायुज्यमस्ति न वेत्यर्थः । तस्य चेति । साधनस्य । सिद्धान्तं वक्तुं सूत्रं व्याकुर्वन्ति तुशब्देनेत्यादि । तेन 'नैकात्मतां मे स्पृहयन्ती'त्यादीनां भक्तमुक्तिबोधकानां वाक्यानां न विरोध इति बोधितम् । मर्यादासहितपुष्टौ फलस्य पुरुषोत्तमसायुज्य एव पर्यवसानादिति । यदि कदाचिदिति । अनेकजन्मसु विहितकर्मकरणेन भगवत्तोषे जाते । तन्नियम इति । सार्वदिकदर्शननियमः । पुष्टिमार्गीयभगवदीयत्वस्य मुक्तिफलरूपत्वे श्रुतिं दर्शयन्ति यदा सर्वे इत्यादि । इयं शारीरब्राह्मणस्था । तत्र अकामयमानं कर्तारमुपक्रम्य तादृशस्य प्राणानुत्क्रमणं 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती'ति ब्रह्मणि लयं चोक्त्वा लयस्वरूपं विवेक्तुं 'तदेष श्लोको भवती'ति प्रतिज्ञाय, 'यदा सर्वे' इति पठ्यते । तत्र सर्वकामप्रमोके अस्यामृतत्वभवनमुक्त्वा, 'अत्र' एतल्लोक एव, 'ब्रह्म समश्नुते' इत्यनेन 'सोऽश्नुते' इत्यत्रेव 'अश भोजने' इति धातोरेव विकरणपदव्यत्ययाभ्यां प्रयोगात्तस्यैवार्थो गृह्यत इति मुक्तस्य ब्रह्मस्वरूपभोग एवात्रोच्यते । स च, 'यमेवे'ति श्रुत्यन्तरैकवाक्यतया तथावधार्यते इति मुक्तिफलरूपत्वान्न तस्य मुक्तिसाधनरूपत्वमित्यर्थः । तेन अतद्रूप इति भावप्रधानो निर्देश इति बोधितम् । न च 'सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेने'त्यत्रेयं वाजसनेयिश्रुतिः । 'अकामयमानस्ये'त्यारभ्या'त्र ब्रह्म समश्नुत' इत्यन्तं सुषुप्तिपरत्वेन भाष्य एव व्याख्यातेति कथमत्रैवमुच्यत इति शङ्क्यम् । याज्ञवल्क्येन श्लिष्टतया तत्र सुषुप्तिमोक्षावस्थे बोधिते इति बोधनार्थं तत्र तथा व्याख्यानम्, न तु सिद्धान्तबोधनायेति तत्रैव मया व्युत्पादितत्वादिति । शेषं स्फुटम् । यद्यप्यतीतपादे लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणस्थे 'अनुबन्धादि'सूत्रेऽयमर्थो निर्णीतः, तथापि सर्वात्मभाववत एव निर्णीतः न तु पुष्टिमर्यादामार्गीयभगवद्भक्तस्यापीति न पुनरुक्तिरिति ज्ञेयम् ।

अन्ये तु, अत्र ऊर्ध्वरेत आश्रमात् कथमपि पुनराश्रमान्तरं भवति न वेति संशयेऽनेन सूत्रेण तद्भावः साध्यत इत्याहुः । तदस्माकमपि सम्मतम् ।

यत्तु जैमिनिपदमैकमत्यबोधनायेत्याहुः तत् तद्दर्शने तद्विचारादर्शनाच्छिष्यत्वेन तत्सम्मतिप्रदर्शनप्रयोजनाभावाच्चेति न रोचिष्णु ॥ ३९ ॥ इति चतुर्थं तद्भूतस्येत्यधिकरणम् ॥४॥

रश्मिः ।

सूचयन्तो अन्येषामिति । इतरदिति सूत्रार्थमनुवदन्ति स्म । अन्तराल इति आश्रमाणामन्तराले । वर्तित्वापेक्षया आश्रमरहिततायां वर्तित्वापेक्षया । उदासीना इति । सारवद्विश्वतोमुखत्वात् सूत्राणामिति भावः ॥ ३८ ॥ इति तृतीयं विहितत्वाच्चाश्रमकर्मेत्यधिकरणम् ॥ ३ ॥

तद्भूतस्य तु नाऽतद्भावो जैमिनेरपि नियमातद्रूपाभावेभ्यः ॥ ३९ ॥ तेनेति ज्ञानमार्गीयमुक्तिनिषेधेन । न विरोध इति । भक्तिमार्गीयत्वादिति भावः । नैकात्मतामित्यत्रैकात्मताप्तौ निषेध इति । भाष्ये । सूरिपदेनेति । पुरुषोत्तमज्ञानवद्वाचकपश्यतिपदसमभिव्याहृतेन । प्रकृते । उक्तेति आत्मकामेनोक्ता । विकरणेति अश्नातीत्यत्र तथा । स चेति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म । स च यमेवेति । तथेति भाष्योक्तप्रकारेण । तस्येति । तदीयत्वस्य । तेनेति । अतद्रूपत्वमिति भाष्येण । अत्रैवमिति अस्मिन्नधिकरणे । एवं पुष्टिफलदत्वेन । श्लिष्टतयेति । मोक्षसुषुप्तिसुखयोः श्लिष्टं ब्रह्मपदं तया । बोधिते इति । स्फुटमिति । उत्तमस्येति । भगवदीयत्वफले वैराग्यजनकस्य । आत्यन्तिकमिति एतल्लक्षणमुक्तम् । एवं स्फुटमित्यर्थः । ऐकमत्ये विशेषावधानमाशङ्क्याहुः शिष्यत्वेनेति । नेति । विशेषावधानाभावान्न रोचिष्णु ॥ ३९ ॥

इति चतुर्थं तद्भूतस्येत्यधिकरणम् ॥ ४ ॥

न चाधिकारिकमपि पतनानुमानात् तदयोगात् ॥ ४० ॥ (३-४-५)

अथेदं विचार्यते । ध्रुवायेव ब्रह्मादिलोकाधिकारं दत्वा तत्सम्बन्धिफलं ददाति, न वेति । तत्र नेत्याह न चेति । तत्र हेतुः । पतनानुमानादिति । 'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुने'ति स्मृतेरित्यर्थः । फलस्य सावधित्वादिति भावः । किञ्च । तादृशे भगवदीये पतनायोगादपि न तथा । अथवा । तादृशस्य सदा भक्तिरसानुभवात्तदतिरिक्तस्यानपेक्षणादन्येषां फलानां सम्बन्धाभावादित्यर्थः ॥ ४० ॥

भाष्यप्रकाशः ।

न चाधिकारिकमपि पतनानुमानात् तदयोगात् ॥ ४० ॥ अधिकरणमवतारयन्ति अथेत्यादि । **अथेदं विचार्यत** इति पुष्टिमर्यादामार्गीयफलविचारोत्तरं मर्यादापुष्टस्य फलं विचार्यत इत्यर्थः । तत्सम्बन्धीति अधिकारसम्बन्धि । सिद्धान्तमाहुः तत्र नेत्यादि । ईदृशे सन्देहे 'ध्रुवायेव ददाती'ति पूर्वपक्षे नेत्याहेत्यर्थः । हेतुं व्याकुर्वन्ति आब्रह्मेत्यादि । सूत्रयोजना तु, आधिकारिकं फलम् चकारादधिकारमपि न, पुष्टिमार्गीयेभ्यो न ददात्येव । कुतः । **पतनानुमानात्** । अनुमीयते श्रुतिरनेनेत्यनुमानं स्मृतिः, पतनबोधकमनुमानं पतनानुमानं तस्मात् । शेषा तु स्फुटा । तर्हि, ध्रुवाय कथं दत्तवानिति तु न शङ्क्यम् । द्वितीयस्कन्धे, 'ते वै विदन्त्यतितरन्ति च योगमाया'मिति भगवद्योगमायाज्ञानरूपसाधनान्तरस्य ध्रुवे उक्तत्वेन, 'नैच्छन्मुक्तिपतेर्मुक्तिं पश्चात्तापमुपेयिवा'निति वाक्येन च तस्य मुमुक्षुतया मर्यादामार्गीयत्वावगमात् । ये पुनः पुष्टावङ्गीकृताः, तेषां तु मुक्तावप्याकाङ्क्षाराहित्यात्तामेव न ददातीति दूरापेतमाधिकारिकमित्यर्थः । किञ्च । तस्यापि तत्र मुक्तिरेव मायातरणरूपा फलत्वेनोच्यते, न तु भक्तिफलम्, अतो न दोषः । भक्तस्वरूपविचारेणार्थान्तरं तदयोगपदस्याहुः । अथवेत्यादि ॥ ४० ॥

रश्मिः ।

न चाधिकारिकमपि पतनानुमानात् तदयोगात् ॥ ४० ॥ **तत्सम्बन्धीति** । ततोऽपुनरावृत्यादि यावदधिकारम् । **नेत्यस्यार्थः पुष्टिमार्गीयेभ्य** इत्यादिः सम्प्रदानक्रियावधारणैः सह । **श्रुतिरनेनेति** । ऋषीणां श्रुत्युक्ताचारस्मरणात् स्मृतिरिति व्युत्पत्त्या स्मृतिमूलश्रुतिरनेनानुमानेन ज्ञाप्यतेऽनुमीयते वा । '**आब्रह्मे**'ति स्मृतिः एतत्समानार्थकश्रुतिमूला, स्मृतित्वात् । 'आरूढो नैष्ठिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते पुनः । प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुध्येत् स आत्महे'ति स्मृतिवदिति । मध्यमपदलोपी समास इत्याहुः **पतनेति** । देवपूजको ब्राह्मणो देवब्राह्मण इतिवत् । **शेषेति** । **तदयोगादित्यस्य** योजना भाष्ये स्फुटेत्यर्थः । **दत्तवानिति** । अपुनरावृत्यादि यावदधिकारं दत्तवान् । **उक्तत्वेनेति** । ज्ञानवत्त्वात् । मुमुक्षुतायां हेतुः **नैच्छन्निति** । ध्रुवः मुक्तिपतेर्मुक्तिं नैच्छदित्यर्थः । **तस्मात्** सपत्न्या वा वाक्स्मरणात् । पश्चादितिपाठे स्मरणात् पश्चात् । **तस्येति** । ध्रुवस्य । **तामिति** । मुक्तिम् । **तस्यापीति** । ध्रुवस्यापि । **न दोष इति** । ध्रुवायापुनरावृत्त्यादिदानदोषो न । **भाष्ये । पतनायोगादिति** । भगवद्भावाच्युतिः पतनम् । अग्रिमसूत्रे वक्ष्यन्ति । **फलानामिति** । अधिकारसम्बन्धिफलानामपुनरावृत्यादीनाम् ॥ ४० ॥

उपपूर्वमपि त्वेके भावमशनवत्तदुक्तम् ॥ ४१ ॥

एके भक्ता आधिकारिके फले पतनमात्रं न हेयत्वप्रयोजकमिति वदन्ति, अपि तु उपपूर्वं पतनमेव तदिति वदन्ति, भक्तिभावाच्युतेः । अधिकारसमाप्तौ भगवदनुग्रहाशापि कदाचित् सम्भवतीत्युपपतनं तत् । मुक्तौ त्वपुनरावृत्तेर्भक्तिरसाशापि नेति महापतनमेव सेति भावः । तेन निषिद्धकर्मफलतुल्यत्वं ज्ञापितं भवति । अत एव श्रीभागवते 'नारायणपरा लोके न कुतश्चन बिभ्यति । स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिन' इति गीयते । भक्तिमार्गे तु साक्षात्सङ्गाभावेपि तदीयं भावमात्रमप्यशनवत् साक्षाद्भगवत्स्वरूपभोगवदेव मन्यन्ते । तदुक्तं श्रीभागवते, 'अथ ह वा व तवे'त्यादिना । साक्षाद्भगवद्भोगो जीवस्यासम्भावित इति शङ्कानिरासायाह, तदुक्तमिति । 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिते'ति, 'अत्र ब्रह्म समश्नुत' इत्यादिश्रुतिषु साक्षाद् ब्रह्मस्वरूपरसाशनमुक्तमित्यर्थः ॥ ४१ ॥

इति तृतीयाध्याये चतुर्थपादे पञ्चमं न चाधिकारिकमित्यधिकरणम् ॥ ५ ॥

बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्च ॥ ४२ ॥ (३-४-६)

अथेदं चिन्त्यते । प्रचुरभगवद्भावमात्रवतः साक्षात् स्वरूपभोगवतो वा गृह-

---

भाष्यप्रकाशः ।

उपपूर्वमपि त्वेके भावमशनवत्तदुक्तम् ॥ ४१ ॥ उक्तेऽर्थे हेत्वन्तरमाहेत्याशयेन सूत्रं व्याकुर्वन्ति, एक इत्यादि । 'अथ ह वा वे'ति । इदं गद्यं षष्ठस्कन्धे नवमाध्याये 'अथ ह वा व तव महिमामृतरससमुद्रविप्रुषा सकृदवलीढया स्वमनसि निष्यन्दमानानवरतसुखेन विस्मृतदृष्टश्रुतविषयसुखलेशाभासाः परमभागवता एकान्तिनो भगवति सर्वभूतसुहृदि सर्वात्मनि नितरां निरन्तरनिर्वृतमनसः कथमु ह वा एते मधुमथन पुनः स्वार्थकुशला ह्यात्मप्रियसुहृदः साधवस्त्वच्चरणाऽम्बुजानुसेवां विसृजन्ति, न यत्र पुनरयं संसारपर्यावर्त' इति । तथा च पूर्णानुग्रहभाजनानामेव भगवत्परायणत्वात् तेषामाधिकारिकं फलमधिकारं च तुच्छत्वान्न ददाति, किन्तु भगवल्लोकेषु नित्यमक्षरात्मकं सेवानुरूपं देहमन्तर्भजनानन्दानुभवं च ददातीत्येतादृशी मर्यादापुष्टानां फलमिति सिद्धम् । एतेन भक्तिमार्गे मध्यमजघन्याधिकारिणोरपि ज्ञानफलतः फलोत्कर्षाद्भक्तिमार्ग उत्कृष्ट इत्यपि सिद्धम् ॥ ४१ ॥

इति पञ्चमं न चाधिकारिकमित्यधिकरणम् ॥ ५ ॥

बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्च ॥ ४२ ॥ अधिकरणप्रयोजनमाहुः **अथेदमि-**

रश्मिः ।

उपपूर्वमपि त्वेके भावमशनवत्तदुक्तम् ॥ ४१ ॥ **उक्तेऽर्थे** इति लोकाधिकारसम्बन्धिफलं न ददातीत्युक्तेऽर्थे । **भाष्ये । सोऽश्नुत** इति श्रुत्योरर्थः पूर्वमुक्तः ॥ ४१ ॥

इति पञ्चमं न चाधिकारिकमित्यधिकरणम् ॥ ५ ॥

बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्च ॥ ४२ ॥ ननु सन्न्यासस्य प्रसिद्धत्वात् किमनेनाधिकरणेनेत्यत आहुः अधिकरणेति । **प्रयोजनमिति** आरुण्युपनिषदि 'आरुणिः प्रजापतेर्लोकं

त्यागः कर्तव्यो न वेति, फलस्य सिद्धत्वान्नेति पक्षव्यवच्छेदाय, 'मद्वार्तायातयामानां न बन्धाय गृहा मता' इति वाक्याद् बन्धकत्वेन त्याज्य इति पक्षव्यवच्छेदाय च तुशब्दः भावमात्रे साक्षात्प्रभुसम्बन्धे वा, उभयथापि गृहाद्बहिर्गमनं गृहत्याग इति यावत् । स आवश्यकः । तत्र प्रमाणमाह स्मृतेरित्यादि । 'त्वं तु सर्वं परित्यज्य स्नेहं स्वजनबन्धुषु । मय्यावेश्य मनः सम्यक् समदृग्विचरस्व गा'मित्यादिस्मृतिर्भगवद्भाववतस्तत्सङ्गविशिष्टस्यापि बहिर्गमनमाह । तदाचारोपि तथैव श्रूयते, अतस्तथा ।

अत्रायमाशयः । आश्रमधर्मत्वेन गृहत्यागो 'यदहरेवे'त्यादिश्रुतिभ्यः पूर्वमुपपादितोपि यदधुना पुनरुच्यते, तेन तदतिरिक्तोऽयमिति ज्ञायते । तथा चोक्तवाक्यान्मुमुक्षुमुक्तिप्रतिबन्धकत्वाभावेपि व्यासङ्गस्य तत्रावश्यकत्वादुक्तोभयोरप्यनवरतं प्रभुरसास्वादे प्रतिबन्धकत्वेन तस्य तत्त्यागस्य विप्रयोगरसानुभावकत्वेन च स कर्तव्यः । यद्यपि स्वेष्टान्तरायत्वेन स्वत एव तत्त्यागो भावी, तथापि 'आश्रमादाश्रमं गच्छे'दितिवाक्यादत्राश्रमान्तरत्वाभावेन त्यागस्याविहितत्वशङ्काभावायेयमुक्तिरिति ॥ ४२ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

त्यादि । अथ भक्तिमार्गीयमध्यमजघन्ययोः फलविचारोत्तरं मध्यमस्य त्यागरूपं साधनं चिन्त्यत इत्यर्थः । मध्यमत्वं विशदयन्तः संशयादिकमाहुः प्रचुरेत्यादि । अत्राधिकारिद्वयस्योक्तत्वाद्विविधपूर्वपक्षव्यवच्छेदार्थस्तुशब्द इत्याशयेनाहुः फलस्येत्यादि मद्वार्तेत्यादि च ।

अतस्तथेति उक्तप्रमाणप्राप्तत्वात्त्यागः कर्तव्य इत्यर्थः । उद्धवस्य मध्यमाधिकारित्वं तु 'उद्धवादिमध्यमभावबोधकाय नम' इति नामावल्यां स्फुटम् । पुनरुक्तिपरिहाराय तदाशयमाहुः, अत्रेत्यादि । पूर्वमिति ऊर्ध्वरेतःसूत्रे । उक्तवाक्यादिति । 'मद्वार्तायातयामाना'मिति वाक्यात् । तस्येति गृहस्य । इयमुक्तिरिति अनेन सूत्रेणानुज्ञा । तथा चाश्रमान्तररूपत्वाभावेन स्मृत्यन्तरोक्तत्वाभावेपि एकादशस्कन्धेऽष्टादशाध्याये 'यदा कर्मविपाकेषु लोकेषु निरयात्मसु । विरागो जायते सम्यङ् न्यस्ताग्निः प्रव्रजेत्तत' इत्यादिषोडशभिः श्लोकैस्त्रिदण्डसन्न्यासमुक्त्वा, ततो, 'ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षकः । सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा

रश्मिः ।

जगाम, तं गत्वोवाच भगवन् केन कर्माण्यशेषतो विसृजानी'ति प्रश्ने 'दण्डमाच्छादनं कौपीनं परिग्रहेत् शेषं विसृजेच्छेषं विसृजेदि'त्युत्तरम् । सन्न्यासोपनिषदि च, 'गर्भवासभयाद् भीतः शीतोष्णाभ्यां तथैव च । गुहां प्रवेष्टुमिच्छामि परं पदमनामय'मिति'सन्न्यासाग्नीन् न पुनरावर्तये'दित्युक्तम् । तज्ज्ञानमार्गे ज्ञानकाण्डत्वात् । भक्तिमार्गे तु तन्मध्ये भगवतोक्तं नारदं प्रति । नारदस्य भक्तत्वात् । तदुक्तं 'यच्चित्तं तत्सदा मय्येवावतिष्ठते तस्मादहं च तस्मिन्नेवावस्थीय' इति भगवता नारदं प्रत्युक्तं परमहंसोपनिषदि । तथा च ज्ञानमार्गीयसन्न्यासस्य प्रसिद्धत्वेपि भक्तिमार्गीयमोक्षसन्न्यासनिरूपणं **प्रयोजनम्** इत्यर्थः । यद्यपि गीतोक्तचतुर्थपञ्चमाध्याययोरप्येवं निरूपयितुं शक्यम्, तथापि ज्ञानमार्गीयत्वात् तद्विहायाष्टादशाध्यायोक्तः सङ्गृहीतः, भक्तिमार्गीयत्वात् । **अधिकारद्वयस्येति प्रचुरेत्यादिभाष्यो-**

स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः ॥ ४३ ॥

पुष्टिमार्गीयभक्तस्य विहितत्वादिज्ञानमप्रयोजकम् । तत्र हेतुः । तस्य भक्तिमार्गस्वामिनः श्रीगोकुलेशादेव फलस्य श्रुतेः । अतो बहिर्गमनं न साधनत्वेनात्र कार्यमिति भावः । अत्र, 'यमेवैष वृणुत' इति श्रुतिरनुसन्धेया । एतदनुपदमेव पठ्यते 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्य' इति । अत्र भगवद्वरणानन्तरमपि जीवबलं कतमं, यदपेक्ष्य भगवल्लाभ इति जिज्ञासायां सर्वात्मभाव एव बलमिति निर्णीयते । तस्यैव मर्यादाबलोपमर्दकत्वाद्भगवद्वशीकारहेतुत्वाच्च । व्रजसीमन्तिनीनां प्रभुवचनातिक्रममपि कृत्वा स्वरूपपरिग्रहस्तद्बलेनैव यत इत्यात्रेय आचार्यो मनुते ।

भाष्यप्रकाशः ।

चरेदविधिगोचर' इत्यादिभिरेकादशभिर्ज्ञाननिष्ठस्य भक्तस्य च तदतिरिक्तः सन्न्यास उक्तः । तद्बोधनायेदं कथनमित्यर्थः । एतस्य प्रपञ्चः सन्न्यासनिर्णयग्रन्थादवगन्तव्यः ॥ ४२ ॥

स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः ॥ ४३ ॥ ननु भक्तिमार्गीयत्यागो मध्यमस्य कर्तव्यत्वेनोक्त इत्याकाङ्क्षायामिदं सूत्रं प्रवृत्त इत्याशयेन व्याकुर्वन्ति पुष्टीत्यादि । **विहितत्वादिति** विहितत्वेन ज्ञानम् । तथात्वेन फलसाधकत्वज्ञानं च । **साधनत्वेनेति** फलप्राप्तिसाधनत्वेन । **अत्रेति** 'स्वामिन एव फल'मित्यस्मिन्नर्थे 'नायमात्मा बलहीनेने'ति वाक्यार्थस्य गुणोपसंहारपाद एव विचारितत्वात्तद्विचारोऽत्र न क्रियते । **तस्यैव मर्यादेत्यादि** । 'धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता । मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति ही'ति । 'न साधयति मां योगो न साङ्ख्यं धर्म उद्धव । न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिते'त्येका-

रश्मिः ।

क्तस्य गताधिकरणान्त्योक्तश्रुतिद्वयार्थस्य । **विविधपूर्वेति** भाष्योक्तविविधपूर्वपक्षव्यवच्छेदार्थः । **भाष्ये** । त्वं त्विति हे उद्धव त्वम् । **तदाचार इति** उद्धवाचारः । **श्रूयत इति** एकादशस्कन्धे श्रूयते । **तथेति** बहिर्गमनम् । **पुनरुक्तीति** ऊर्ध्वरेतःसूत्र उक्तो गृहत्यागः पुनरत्रोच्यते इति पुनरुक्तिः, तस्याः परिहाराय । **अत्रेत्यादीति** । **उक्तोभयोरिति** । साक्षात् स्वरूपभोगवत्प्रचुरभगवद्भावमात्रवतोः । **प्रभुरसास्वादे प्रतिबन्धकत्वेनेति** । तत्तु क्व भगवान् मिलिष्यतीति पर्यटनोक्तेः, 'क इत्था वेद यत्र स' इति श्रुत्या स्थानज्ञानाभावोक्तेश्च । किञ्च, 'भक्त्याहमेकया ग्राह्य' इति वाक्याद्भक्त्यैकग्राह्ये पूर्णभक्तिग्राह्यत्वाद्विप्रयोगरसानुभावकत्वेन । **तदतिरिक्तेति** । तदुक्तं परमहंसोपनिषदि चतुर्थाश्रमधर्मत्वेन गृहत्यागमुक्त्वोच्यते, अयं न मुख्योऽस्ति, कोऽयं मुख्य इति चेत्, अयं मुख्यः 'न दण्डं न शिखां न यज्ञोपवीतं नाच्छादनं चरति परमहंसः न शीतं न चोष्णं न सुखं न दुःखं न मानापमाने चे'ति । चरत्याचरति । 'न दण्डमाचरति दण्डाभावनिष्ठाचारानुकूलव्यापारवानिति बोधः । यज्ञोपवीताभावः दण्डवेष्टनाभावस्तन्निष्ठाचारानुकूलव्यापारवानिति बोधः । एवमन्यत्र ॥ ४२ ॥

स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः ॥ ४३ ॥ प्रकटार्थमिति । **एतदनुपदमिति** एतत्पदं स्वामितिपदम् । 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वा'मिति श्रुतिः । **कतममिति** । **बल इति** पुंस्त्वस्मरणादिति भावः । उभयलिङ्गं बलपदम्, न क्लीलिङ्गम् ।

इदमत्राभिप्रेतम्। सर्वात्मभावस्य यद् बलम्, तत्तदात्मकस्य प्रभोरेव, तस्य चायं स्वभावो यदन्यन्न रोचते। अत एव व्रजपरिवृढवदनेन्दुवचनकिरणप्रचारप्रोच्छलत्केवलभावाम्भोधिवचनवीचयो गीयन्ते 'यर्ह्यम्बुजाक्ष तव पादतलमस्प्राक्ष्म तत्प्रभृति नान्यसमक्षं स्थातुं पारयाम' इत्यादयः। अतस्त्यागः पृष्ठलग्न एवायातीति न तदर्थं यतनीयमिति। विष्णववतारत्वेन पुरुषोत्तमभावस्वरूपज्ञोऽयमिति तथा ॥ ४३ ॥

आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रीयते ॥ ४४ ॥

सर्वत्यागपूर्वकं यद् बहिः प्रभुसमीपगमनं भक्तस्य तद् आर्त्विज्यमृत्विक्त्वमेवेत्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते।

भाष्यप्रकाशः।

दशस्कन्धीयवाक्याभ्यां तथात्वादित्यर्थः। तदात्मकस्येति सर्वात्मभावात्मकस्य। अन्यदिति भगवदतिरिक्तम्। सिद्धमाहुरत इत्यादि। तथा चोत्तमस्य स्वत एव गृहत्यागः सम्भवतीत्यतो नोक्त इत्यर्थः। नन्वात्रेयस्य कथमेवं भक्तिमार्गीयभावस्वरूपज्ञानं येन गृहत्यागयत्नं निषेधतीत्यत आहुः विष्णववतारेत्यादि। 'अत्रेरपत्यमभिकाङ्क्षत आह तुष्टो दत्तो मयाहमिति यद्भगवान् स दत्त' इति द्वितीयस्कन्धवाक्यादवतारत्वेन तथेत्यर्थः ॥ ४३ ॥

रश्मिः।

सर्वात्मभाव एव बलमिति बलं भक्तिरिति भाष्ये, भक्तिः सर्वात्मभाव इति भावः। तथा च श्रुतौ **बलहीनेन** सर्वात्मभावहीनेन। मुख्ये कार्यप्रत्ययात्। सर्वात्मभावलिङ्गं च 'तपसो वाप्यलिङ्गा'दिति। **तपो** विरहतापः, विरह एव सर्वात्मभावस्य सम्यग् ज्ञानात् सर्वात्मभावलिङ्गभिन्नात्। **प्रभुवचने**ति। अत्रायं भावः। गुरुवाक्योलङ्घनं महापराध इति प्रभुवचनातिक्रमत्वेन स्वरूपपरिग्रहत्वेन कार्यकारणभाव उक्तः, स न मुख्यः, किं तु **तद्बलेनैवे**ति भाष्येण प्रभुवचनातिक्रमयोगव्यवच्छेदपूर्वकसर्वात्मभावबलेनेत्युक्तत्वात् सर्वात्मभावत्वेन स्वरूपपरिग्रहत्वेन कार्यकारणभाव इति। एवं च प्रभुवचनातिक्रमस्य स्वरूपपरिग्रहकारणत्वं सर्वात्मभाववत्कृतस्यैव। तथापि कथमिति चेत्। न। 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणे'त्यत्र तासां स्वातन्त्र्यम्, ब्रह्मणो गौणत्वमिति। ब्रह्मणो गौणत्वेप्यतिक्रमः कथमिति चेत्, 'दुर्लभो दुर्घटश्चैव युष्माकं सुमनोरथ' इति भगवद्वाक्यगतदुःखांशत्वात्। तेन स्वरूपं विद्वन्मण्डननित्यलीलावादस्थबृहद्वामनपुराणोक्तं गोपीजनवल्लभं तस्य परिग्रह एतादृगतो न गुर्विच्छया कृतो गुरुवाक्यातिक्रमो नापराधः लीलान्तःपातात्। **भाष्ये**। **व्रजे**ति **व्रजस्य परिवृढः** प्रभुः। प्रभौ परिवृढः इति पाणिनीयसूत्रात्। तस्य **वदनं** परमैश्वर्ययुक्तं तस्य **वचनानि** 'स्वागतं वो महाभागा' इत्यादीनि तेषां **किरणाः** वचनानां वीचित्वात्, तेषां **प्रचारः** प्रचरणं तच्च पुष्टिमार्गीयाणामनुग्रहजन्यमिति अनुग्रहजप्रचारेण तद्व्यापारभूतेन **प्रोच्छलन्** श्रुतिरूपाणां सुधाजन्यज्ञानाधिकभावं कुर्वन् केवलभाव**ाम्भोधिः** साधनरहितपुष्टिभावाम्भोधिर्यासां ता व्रजपरिवृढवदनेन्दुवचनकिरणप्रचारप्रोच्छलत्केवलभावाम्भोधयः। तासां **वचनानि** 'मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलं प्राप्ता' इत्यादीनि। तान्येव **वीचयस्तरङ्गाः**। **पृष्ठलग्न** इति पृष्ठे प्रस्वेदादिना लग्नः पदार्थः। **तदर्थं** त्यागार्थम्। **प्रकृते तथेति** भगवद्भावज्ञ आत्रेयः। विष्णोः पुराणे ब्रह्मसमानधर्मवत्त्वोक्तेः ॥ ४३ ॥

तस्यायमभिसन्धिः। यजमानो हि स्वेष्टसिद्ध्यर्थमृत्विज आदौ वृणुते। प्रकृते च, 'यमेवैष वृणुत' इति श्रुतेः 'तस्मादेकाकी न रमत' इति श्रुतेश्च स्वक्रीडार्थं भगवान् स्वचिकीर्षिततत्तल्लीलानुरूपान् जीवान् वृणुते। 'यूनः स्थविरान् वे'ति विकल्पादेकरूपाणां यथा सोमादिषु वरणम्, तथा सर्वात्मभाववत्त्वेनैकरूपाणामेवात्र वरणम्। तत्र यथा स्वीयस्वीयतदङ्गमात्रकरणं तेषाम्, तथेतरसम्बन्धनिवर्तनपूर्वकं तद्भोग्यसमर्पकत्वमत्र। तदुक्तं भगवता 'यदा पुमाँस्त्यक्तसमस्तकर्मा निवेदितात्मा विचिकीर्षितो म' इति। अत्र पूर्वपदेनेतरसम्बन्धनिवर्तनोक्त्या सर्वात्मभाव उक्तो भवति। तदनन्तरमात्मनिवेदने सति तद्विषयकलीलाकरणेच्छाविषयः सम्भवति। अन्तरङ्गलीलाप्रवेशनमिच्छायां विशेषः। तस्मात् सुष्ठूक्तमार्त्विज्यमिति। एतेन, 'न ददाति न पचती'त्यादिश्रुतेर्यथा सोमादौ दीक्षितस्य तद्यागेतरधर्मनिवृत्तिः, स एव परमो धर्मो यतः, तथा पुरुषोत्तमस्योत्तमभक्तैः सह रमणमेव सार्वदिकम्, एतदेव च महन्महत्त्वमिति सूचितं भवति। प्रकृते भक्ता-

भाष्यप्रकाशः।

आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रीयते ॥ ४४ ॥ औडुलोम्याशयमाहुः तस्यायमित्यादि। यूनः स्थविरान् वेति। सर्वान् यूनः सर्वान् स्थविरान् वा। तत्रेति सोमादियागे। अत्रेति भक्तिमार्गीयलीलायाम्। तत्र सम्मतिमाहुः। तदुक्तमित्यादि 'यदा पुमा'निति वाक्यमेकादशस्कन्धे ऊनत्रिंशाध्यायेऽस्ति। तद् व्याकुर्वन्ति अत्रेत्यादि। पूर्वपदेनेति 'त्यक्तसमस्तकर्मे'तिपदेनेतरसम्बन्धनिवर्तनोक्त्या भक्तिमार्गीयो विगाढभावैकदेशः सर्वात्मभाव उक्तो भवति। न चायं ज्ञानमार्गीय इति वक्तुं शक्यः। अग्रे निवेदितात्मपदात्। तदनन्तरमात्मनिवेदने सति विचिकीर्षितो, निवेदितात्मजीवविषयकलीलाकरणेच्छाविषयः, स निवेदितात्मा जीवो भवति, विचिकीर्षितपदे व्युपसर्गेण अन्तरङ्गलीलाप्रवेशनरूपो विशेष, इच्छायां बोध्यते। एतदुत्तरार्धं तु 'तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो मयात्मभूयाय च कल्पते वै' इत्यस्ति। तदर्थस्तु, यदैवं भवति, तदा अमृतत्वं ब्रह्मभावं वह्न्ययोगोलकन्यायेन प्रतिपद्यमानः सन् मया सह कल्पते, कामाशनसमर्थो भवति च पुनः आत्मभूयाय 'स्वरूपेणावतारेणे'ति न्यायेन मदात्मत्वाय कल्पत इति। क्वचित्तु, 'यदा पुमा'नित्यत्र 'मर्त्यो यदे'ति मूले पाठः, तदाऽप्यर्थे न कोपि विशेषः।

तदेतत्सूत्रार्थत्वेन निगमयन्ति तस्मादित्यादि। आर्त्विज्यपदमेवं व्याख्याय तत्सूचितमर्थमाहुः एतेनेत्यादि। एतदेव च महत्त्वमिति। रमणे सार्वदिकत्वमेव च भक्तिमार्गे उत्कर्षः।

रश्मिः।

आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रीयते ॥ ४४ ॥ **त्यक्तसमस्ते**ति। अभिधेयेति ज्ञेयम्। **भक्तीति**। कामशास्त्रीयसर्वात्म[illegible]वर्तकं विशेषणम्। **विगाढे**ति। विगाढभावः 'ता नाविद'न्नितिश्लोकोक्तः तदेकदेशस्तच्चरमवृत्तिरूपः। **उक्त** इति तात्पर्यवृत्त्योक्तः। **आत्मनिवेदन** इति 'श्रवणं कीर्तनं विष्णो'रित्यस्मिन् श्लोके पाठक्रमेण कृतात्मनिवेदने। **अन्तरङ्गे**ति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म **विचिकीर्षितपद** इति। **इच्छाया**मिति विषयसप्तम्या इच्छाविषय इत्यर्थः। **स्वरूपेणे**ति अयं न्यायः। **निगमयन्ती**ति। तस्मात्पर्वतो वह्निमान् इति निगमनं यथा तथा निगमयन्ति। **आर्त्विज्यपद**मिति। वेदान्ते लीलाधर्मे आर्त्विज्यम्। ऋतौ यजतीति ऋत्विगिति सूत्रेण साधुः। **भाष्ये**। **सोमाद्या**विति। यागे तद्यागेतरधर्मा दानपचनादयः तेषां निवृत्तिः। **एतदेव च महत्त्वमिति** भाष्यप्रतीकम्। अत्र **महन्महत्त्व**मिति भाष्यपाठः। तत्र

नामृत्विक्त्वेन निरूपणे हेतुत्वेन तात्पर्यान्तरमप्याह । तस्मै यजमानारब्धकर्मसाङ्गत्वाय ऋत्विक् परिक्रीयते वरणेन स्वकार्यमात्रोपयोगित्वाय स्वीयः क्रियते, तथा प्रकृतेपि । न च 'कच्चित् कल्याण्यो दक्षिणा' इति प्रश्नवचनात्तदर्थैव तत्प्रवृत्तिः, अत्र तु स्वतः पुरुषार्थत्वेन भगवदर्था प्रवृत्तिः, अतो वैषम्यमिति वाच्यम् । नीरागस्यापि वरणसमये तत्प्रश्नस्यावश्यकत्वात्, तथैव दक्षिणादानमपि, अन्यथा निरङ्गत्वापत्तेः । प्रकृतेपि भक्तानां स्नेहादेव प्रवृत्तिर्भगवान् स्वानुभवार्थमेवताननुभावयतीति न वैषम्यम् ॥ ४४ ॥

श्रुतेश्च ॥ ४५ ॥

अथर्वणोपनिषत्सु पठ्यते 'भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधिनैराश्येनैवामुष्मिन् मनःकल्पनमेतदेव च नैष्कर्म्य'मिति ।

भक्तिमार्गप्रचारैकहृदयो बादरायणः ।
मानं भागवतं तत्र तेनैवं ज्ञेयमुत्तमैः ॥ ४५ ॥

इति तृतीयाध्याये चतुर्थपादे षष्ठं बहिस्तूभयथेत्यधिकरणम् ॥ ६ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

सूत्रशेषं व्याकुर्वन्ति प्रकृत इत्यादि । तथा प्रकृत इति । चिकीर्षितलीलासाङ्गत्वाय तत्तद्भक्तवरणमित्यर्थः । स्मृतिषु याजनस्य वृत्तिमध्ये गणनादार्त्विज्ये स्वार्थमेव प्रवृत्तेर्भजनस्य च भगवदर्थत्वेन तदभावात् तद्वैषम्यमाशङ्क्य परिहरन्ति न चेत्यादि । नीरागस्येति याजनेन वृत्तिमनिच्छतः । आवश्यकत्वादिति वैधत्वेनावश्यकत्वात् । तथैवेति वैधत्वेन । अनुभावयतीति लीला अनुभावयति । तथा च यथा तत्र वैधत्वमेव तादृशप्रश्नादिप्रवृत्तिप्रयोजकम्, एवमत्र निरुपधिस्नेहः, यथा तत्र तद्दानेन कर्मसाङ्गता, तथात्र स्वलीलानुभावनमतो न वैषम्यमित्यर्थः । तथा च भगवदिच्छायां सत्यामुत्तमस्य गृहत्यागः कर्तव्यः, अन्यथा तु न कर्तव्यः, यजमानाधीनर्त्विग्वत्तादृशस्य केवलं प्रभ्वधीनत्वादिच्छा चानियता, अतो नोक्त इत्यौडुलोमेराशय इति बोध्यम् ॥ ४४ ॥

रश्मिः ।

महत्त्वे महत्त्वपरिमाणं नास्तीति महत्पदं बाहुलकमित्याशयः । महतो महत्त्वं पूजकत्वं सन्माननमिति षष्ठीतत्पुरुषे तु न बाहुलकम् । वृत्तिमध्य इति अध्ययनाध्यापनदानप्रतिग्रहयजनयाजनब्राह्मणवृत्तय इति वृत्तिमध्य इत्युक्तम् । स्वार्थमेवेति । न च यजमानकर्मार्था प्रवृत्तिरिति वाच्यम् । याजनाय स्ववृत्तये प्रवृत्त्यङ्गीकारेण यजमानकर्मार्थत्वाभावात् । तदभावादिति स्वार्थत्वाभावात् । तद्वैषम्यं दृष्टान्तवैषम्यम् । न चेत्यादीति । कच्चित् 'कल्याण्यो दक्षिणा' इति याजने प्रश्नवचनात् । स्वार्थदक्षिणार्थैव तत्प्रवृत्तिः ऋत्विक्प्रवृत्तिः । अत्र तु दार्ष्टान्तिके तु । वैषम्यं दृष्टान्तवैषम्यम् । भाष्ये तत्प्रश्नस्येति । कल्याणदक्षिणाविषयकप्रश्नस्य । निरङ्गत्वेति यागस्येति बोध्यम् । प्रकृते । अनुभावयतीति ते लीला अनुभवन्ति तान् लीला अनुभावयतीति हेतुमण्णिच् । स्वलीलेति सप्रतियोगिनिःप्रतियोगिलीलयोर्मध्ये सप्रतियोगिस्वलीलानुभावनं तेन सप्रतियोगिलीलासाङ्गतेत्यर्थः । न वैषम्यं न दृष्टान्तवैषम्यम् ॥ ४४ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

श्रुतेश्च ॥ ४५ ॥ व्याकुर्वन्ति अथर्वणेत्यादि । तथा चात्र विहिताया भक्तेः सन्न्यासरूपताया उक्तत्वात् बुद्धिपूर्वकं तत्करणमावश्यकम्, न तु त्यागस्यापि, श्रुतौ तावन्मात्रस्यैव कथनादिति व्यासमतमित्यर्थः । तेनात्र भक्तिमार्गे साधनपरिपाकदशायां द्विविधः सन्न्यासः अत्यन्तसिद्धानां विगाढभावस्वाभाव्यादेव प्राप्तः, यथा व्रजभक्तानामतः सोऽवैधः । तत ईषन्न्यूनानां तु विरहानुभवार्थं कर्तव्यः, यथा श्रीमदुद्धवानाम् । स वैधः । 'त्वं तु सर्वं परित्यज्ये'ति, 'मद्भक्तो वाऽनपेक्षकः, सलिङ्गानाश्रमाँस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचर' इत्यादिवाक्यतः प्राप्तत्वात् । द्वावप्येतौ नाश्रमरूपाविति तूपपादितम्, अतो न कोपि सन्देहः ।

नन्वत्रान्यैः 'परामर्शा'दि सूत्रेष्वाश्रमरूपं सन्न्यासं विचार्य, 'अन्तरा चापी'ति सूत्रे विधुरादीनामपि तस्य कर्तव्यता विचारिता, महायोगिनां नग्नचर्यादिकं च । 'तद्भूताधिकरणे' च ऊर्ध्वरेतोभ्य आश्रमेभ्यः प्रच्युतभावश्च विचारितः, तन्मते चाश्रमात्मक एव सन्न्यासो विविदिषाविद्वद्दशाभेदेनेति तदेवात्र कुतो नाद्रियत इत्याकाङ्क्षायामाहुः भक्तीत्यादि । "अनर्थोपशमं साक्षाद् भक्तियोगमधोक्षजे । लोकस्याजानतो व्यासश्चक्रे सात्वतसंहिता'मिति श्रीभागवतवाक्याद्भागवतं पुराणमेव सर्वं तत्र व्यासस्य तादृशत्वे मानं प्रमितिजनकम् । तेन हेतुना उत्तमैर्भक्तावधिकारिभिरेवं ज्ञेयम् । यद्यपि प्रकारान्तरेण व्याख्यातृभिरुक्तैः सूत्रवर्णकैर्ज्ञानमार्गीयो द्विविधोपि सन्न्यासो व्याख्यातः, तथापि विविदिषायां कालदोषेणापचारदोषस्य तैरेव दर्शितत्वात् । आन्तरवैराग्याभावे बहिर्लिङ्गमात्रस्थापने च 'गृहस्थस्य क्रियात्यागो व्रतत्यागो बटोरपि । तपस्विनो ग्रामवासो भिक्षोरिन्द्रियलौल्यता । आश्रमापसदा ह्येते खल्वाश्रमविडम्बकाः । देवमायाविमूढाँस्तानुपेक्षेतानुकम्पये'ति सप्तमस्कन्धीयनारदवाक्ये 'मौनानीहानिलायामा दण्डा वाग्देहचेतसाम् । यस्यैते न भवन्त्यङ्ग वेणुभिर्न भवेद्यति'रित्येकादशीयभगवद्वाक्ये च तादृशस्य निन्दितत्वात् । विद्वद्दशायां चेदानीं दुर्घटत्वात् तदनादृत्य भक्तिमार्गीय एव साधनपरिपाकदशायां कर्तव्यो, न त्वन्यथापीत्यर्थः ।

अन्ये तु, 'आत्रेया'दिसूत्रत्रये अङ्गोपासनानां यजमानकर्मत्वं वार्त्विककर्मत्वं वेति संशये, आत्रेयमते यजमानकर्मत्वम्, औडुलोमिमते ऋत्विक्कर्मत्वम्, तदेव च युक्तमिति व्यवस्थापयन्ति । तत्रोदासीना वयम् । अप्रासङ्गिकत्वेनारुच्यत्वादिति ॥ ४५ ॥

इति षष्ठं बहिस्तूभयथेत्यधिकरणम् ॥ ६ ॥

रश्मिः ।

श्रुतेश्च ॥ ४५ ॥ भक्तिमार्गीयं दार्ष्टान्तिकमार्त्विज्यं श्रुतेश्च इत्यर्थः । उक्तत्वादिति नैष्कर्म्यपदेनोक्तत्वात् । निष्कर्मणः पुंसो भावो नैष्कर्म्यमिति व्युत्पत्तेः । बुद्धीति इहामुत्र फलभोगवैराग्यविषयिणी या बुद्धिस्तत्पूर्वकम् । तत्करणं सन्न्यासपूर्वकभक्तिकरणम्, न तु सन्न्यासमात्रकरणम् । 'कृष्णसेवा सदा कार्ये'त्यस्य व्याख्याने आवश्यकार्थयप्रत्ययोक्त्या तत्स्मारणायावश्यकमित्युक्तम् । प्रत्ययस्तु नैष्कर्म्यमित्यत्र भावे । साधनेति सा तु विपक्वकषायाणां व्यसनदशा, तस्याम् । विगाढेति 'ता नाविद'न्निति वाक्योक्तभावस्वाभाव्यात् । अवैध इति स्वभावजे विधेरप्रयोजकत्वात् । पूर्वतन्त्रेप्येवम् । ईषदिति । मर्यादास्थानाम् । विरहानुभवार्थमिति । तेन पुष्टौ विरहोपि न तथा प्रयोजकः, स्वरूपबलेनैव मोचकत्वात् । विधी आहुः त्वं त्विति, मद्भक्तो वेति च । आद्ये विचरस्वेति विधिः । लोटा । द्वितीये चरेदिति । उपपादितमिति बहिस्तूभयथेति सूत्रभाष्यप्रकाश उपपादितम् । अपचार इति । क्रोधादिके ॥ ४५ ॥

इति षष्ठं बहिस्तूभयथेत्यधिकरणम् ॥ ६ ॥

सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत् ॥ ४६ ॥ (३-४-७)

ननु 'यमेवे'ति श्रुतिः साधनान्तरनिषेधपूर्वकं वरणस्यैव साधनत्वमाह, 'तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः श्रद्धावित्तो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्ये'दिति श्रुतिः साधनान्तरमप्याह । एवं विरोधे श्रुतित्वाविशेषात् किमादरणीयम्, किं नेति संशये, साधनान्तरविधिरेवादरणीयः, अन्यथा शास्त्रवैयर्थ्यं स्यादिति प्राप्ते, उच्यते सहकार्यन्तरविधिरिति । मर्यादापुष्टिभेदेन वरणं द्विधोच्यते । तत्र सहकार्यन्तरविधिस्तु मर्यादापक्षेणोच्यते । पुष्टौ तु नान्यापेक्षेति न विरोधगन्धोपि । अपरं च । साधनं हि कायिकं वाचिकं मानसिकं च विधीयते, तत्र 'मनसैवाप्तव्य'मिति श्रुतेस्तृतीयं मुख्यम् । तदपि तावदेव मार्यादिकस्यापि विधेयत्वेन कर्तव्यम्, यावत्स्नेहो न भवति । यतस्तद्वतः स्नेहवतस्तूक्तं तृतीयं साधनमपि विध्यादिवत् । यथा तद्वतो विधिरर्थवादो वा प्रवृत्तावप्रयोजकः, तस्य स्वत एव सम्भवात्, तथा भगवत्प्राप्ताविदमित्यर्थः । कैमुतिकन्यायेन पूर्वयोरप्रयोजकत्वमेतच्छेषत्वादेवायास्यतीति तृतीयमेवोक्तम् ॥ ४६ ॥

इति तृतीयाध्याये चतुर्थपादे सप्तमं सहकार्यन्तराधिकरणम् ॥ ७ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत् ॥४६॥ एवं भक्तिमार्गीयस्य गृहत्यागावश्यकत्वे साधिते तद्वत्साधनान्तरं शमादिरूपमप्यायातीति तद्व्यवस्थां बोधयितुमिदमधिकरणमित्याशयेन तदवतारयन्ति ननु यमेवेत्यादि । व्याकुर्वन्ति मर्यादेत्यादि । नान्यापेक्षेति 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्य' इति श्रुत्युक्तादन्यस्यानपेक्षा । नन्वेतानि शमादीन्यन्तरङ्गाणि मानसानि साधनानि किमिति पाक्षिकाणि क्रियन्त इत्यत आहुः अपरं चेत्यादि । विधीयन्त इति 'तमेतं वेदानुवचनेन', 'शान्तो दान्त' इत्यादिवाक्यैर्विधीयन्ते । तृतीयमिति शान्तादिवाक्योक्तम् । विध्यादिवदिति विधिश्च तदादिश्च विध्यादी तद्वत् । प्रथमार्थे वतिः । तथा च पित्रादौ सहजस्नेहवतो यथा तत्सेवाविधिस्तत्फलबोधकोऽर्थवादो वा न तत्प्रवृत्तिप्रयोजकः, तस्य तत्र स्वत एव प्रवृत्तिसम्भवात्, तथा भगवत्प्राप्त्यर्थमिदं शमादिकं स्वभावादेव सम्भवतीति न तदर्थं वाक्यापेक्षा । अतो भक्तिदार्ढ्येच्छुं प्रत्येवेदं विधेयम्, न तु दृढभक्तिमन्तं प्रतीति तथेत्यर्थः । तेन पुष्टिमार्गे वरणमात्रमेव साधनम्, मर्यादामार्ग एव त्वन्याकाङ्क्षेति सिद्धम् ॥ ४६ ॥

इति सप्तमं सहकार्यन्तराधिकरणम् ॥ ७ ॥

रश्मिः ।

सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत् ॥ ४६ ॥ तदिति । अधिकरणम् । ननु 'यमेवे'त्यादीति । विधिरेवादरणीय इति । पुंस्त्वं स्मार्तं । 'समाधिनानुस्मर तद्विचेष्टित'मिति । मर्यादेत्यादीति । सहकार्यन्तरेति भक्तावनुग्रहः कारणम्, सहकारीणि श्रवणादीनि । अन्यत्सहकारि सहकार्यन्तरं शमादि । अत्र सहकारिणां श्रवणादीनामपि मर्यादापक्षेण विधिः । सिद्धमाहुः अत इति पुष्टिमर्यादाभ्याम् । भक्तिबीजदार्ढ्येच्छवो मार्यादिकाः । भक्तिवर्धिन्यां भक्तिबीजमुक्तम् । इदमिति साधनजातम् । दृढभक्तीति । दृढबीजा भक्तिः तद्वन्तम् । तथेति । सहकार्यन्तरविधिस्तु मर्यादापक्षेणोच्यते । पुष्टौ तु नान्यापेक्षेति न विरोधगन्ध इत्यर्थः ॥ ४६ ॥

इति सप्तमं सहकार्यन्तराधिकरणम् ॥ ७ ॥

कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः ॥ ४७ ॥ (३-४-८)

ननु 'बहिस्तूभयथे'त्यादिना भगवदीयस्य गृहत्याग आवश्यक इति निरूपितम् ।

छान्दोग्ये तु 'आचार्यकुला'दित्युपक्रम्य, छान्दोग्योपनिषदन्ते 'आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान् विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्य अहिं[१]सन् सर्वाणि

भाष्यप्रकाशः ।

कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः ॥ ४७ ॥ पूर्वाधिकरणोक्तं दृढीकर्तुं किञ्चिदाक्षिप्य समाधत्ते, इत्याशयेन सूत्रमवतारयन्ति ननु बहिरित्यादि । तात्पर्यमाहेति । उक्तश्रुतेस्तात्पर्यमाहेत्यर्थः ।

श्रुत्यर्थस्तु, आचार्यकुलाद् गुरुगृहाद्, गुर्वभावे तत्पत्न्यां तत्पुत्रे तद्गोत्रे वा ब्रह्मचर्यमिति ज्ञापयितुं कुलपदम् । वेदमधीत्य गुरोः कर्मातिशेषेण गुरोः सेवारूपं यत्कर्म तत् कृत्वा, ततोऽतिशेषोऽवशेषो यः कालस्तेन कालेन वेदाध्ययनं साङ्गं सरहस्यार्थज्ञानपुरःसरं कृत्वा, अभिसमावृत्य जिज्ञासाद्वयसमापनोत्तरमाचार्यकुलान्निवृत्य दारानाहृत्य कुटुम्बे स्थित्वा, गार्हस्थ्यविहिते कर्मणि तिष्ठन्, शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो विविक्ते स्वाध्यायब्राह्मणोदितप्रकारे पवित्रे देशे यथावदासीन आवृत्तिमधीतस्य कुर्वन्, धार्मिकान् विदधत् पुत्रान् शिष्यांश्च शिक्षणेन धर्मशीलान् कुर्वन्, आत्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्य हार्देऽन्तर्यामिणि परे ब्रह्मणि बाह्याभ्यन्तरेन्द्रियाणि सम्यक् स्थापयित्वा, 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठती'ति न्यायेन तमेव शरणत्वेन ज्ञात्वा कर्माणि तत्र सन्न्यस्येति यावत् । अहिं-

रश्मिः ।

कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः ॥ ४७ ॥ पूर्वेति । बहिस्तूभयथेत्यधिकरणोक्तम् । साङ्गमित्यादि । 'साङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चे'ति श्रुतेरुक्तम् । यद्वा । आचार्यपदादाचार्यलक्षणनिविष्टरहस्तदङ्गेऽधीत्येतिशब्देनोपलक्ष्येते । जिज्ञासाद्वयार्थगमनरहितं समावर्तनमभिसमावर्तनम् । गार्हस्थ्यविहित इति कुटुम्बविशेषणम् । सम्प्रतिष्ठाप्येत्यत्र समुपसर्गार्थमाहुः हार्द इति । जीव उपास्त्यानिषेधान् मानसीन इत्युक्तम् । हार्दपदेन 'यो मनसि तिष्ठन् मनसोऽन्तरो यं मनो न वेद यस्य मनः शरीरं यो मनोऽन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृत'इतिश्रुत्युक्तेऽन्तर्यामिणि । तत्रापि प्रत्येकपर्यवसितरूपव्यावृत्त्यर्थं ब्रह्मणीति तद्व्यावृत्त्यर्थं पर इति । अत्र हार्द इति विशेष्यम् । इदं हार्दं प्रकटं बोध्यम् 'धार्मिकान् विदध'दित्युक्तत्वात् धर्मेण चित्तशुद्धौ भक्त्याविर्भावात् । सम्यगिति । निरोधलक्षणग्रन्थोक्तरीत्या । अनिरुद्धैस्तु सिद्धान्तमुक्तावल्युक्तरीत्या । तथा च श्रुतिः 'इन्द्रियाणि जुहोती'ति । गीतापि । यद्यप्येव मुख्यत्वात् तथापि निरोधस्य दानसाध्यत्वादाचार्यसन्दर्शितागमप्रकारेत्याहुः । ईश्वर इति । शरणत्वेनेति । 'शुद्धाश्च सुखिनश्चैव ब्रह्मविद्याविशारदाः । भगवद्भजने योग्या नान्य इत्यर्थतः फल'मिति प्रथमसुबोधिनीकारिकायां 'ब्रह्मविद्याविशारदा' इत्युक्तेरुक्तशमदमादिसूत्रोक्तशमदममुमुक्षावैराग्यप्राप्त्या मुमुक्षुकार्यं शरणगमनं श्रुतत्वादत्र

---

१. छान्दोग्य इत्यारभ्य इदं विषयवाक्यमित्यन्तं श्रीहस्ताक्षरलिखितमूलपुस्तके नास्ति, तथापि प्रकाशकारैर्व्याख्यातत्वादुपलब्धेष्वादर्शेषु दृश्यमानत्वाच्चात्र निवेशितम् ।

भूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते। न स पुनरावर्त्तते न स पुनरावर्त्तते'। इदं विषयवाक्यम्।

'ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यत' इति गृहिणोपसंहारः कृतः। वाजसनेयिशाखायां च 'तद्ध स्म वै तत्पूर्वे ब्राह्मणा अनूचाना विद्वांसः प्रजां न कामयन्त' इत्युपक्रम्य 'अथ भिक्षाचर्यं चरन्ती'ति पठ्यते। एवं सति विकल्पे सम्भवत्युपसंहारस्य तात्पर्यग्राहकत्वाद् गृहिण एव यथोक्तकर्तुर्ब्रह्मसम्पत्तिरिति श्रुतेस्तात्पर्यम्। त्यागोक्तिस्तु ब्रह्मैतादृशं यदर्थं सर्वं त्यज्यत इति स्तुतिपरेति प्राप्ते, गृहिणोपसंहारे हेतुत्वेन तात्पर्यमाह कृत्स्नेति। त्यागे वाङ्मनसोरेव भगवति विनियोगः, न सर्वेन्द्रियाणाम्। गृहिणस्तु सर्वैः प्रकारैर्भजनं भवतीति, परिजनश्च कृतार्थो भवतीति च भजने

भाष्यप्रकाशः।

सन् सर्वाणि भूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः, तीर्थानि शास्त्रादिष्टा भिक्षाद्युपायास्तेषु परपीडापि सम्भवति, यथा याज्ञवल्क्यस्य कुरुपाञ्चालस्थब्राह्मणैः सह चर्चायाम्, तदादिभ्यो भिक्षाटनाद्युपायेभ्योऽतिरिक्तस्थले हिंसां परपीडामकुर्वन्, स खल्वेवं वर्तयन् सोधिकारी उक्तेन प्रकारेण वर्तमानः पुत्रादिपरिजनमप्येवं वर्तयन् यावदायुषं यावज्जीवम्, ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते देहान्ते भगवल्लोकं प्राप्नोति। न च पुनरावर्तते। प्राप्तेर्जन्यत्वेन पुनरावृत्तिः शङ्क्येत। जन्यभावत्वेन नश्वरत्वेन लोके व्याप्तेः। तदभावायात्रावृत्तिर्निषिध्यते तेन लोकवैलक्षण्यं बोधितम्। पुनः कथनं समाप्तिद्योतनायेति बोध्यम्।

सूत्रं व्याकुर्वन्तः श्रुतितात्पर्यमाहुः त्याग इत्यादि। कृत्स्नेति। सर्वेषामान्तराणां बाह्यानां

रश्मिः।

प्राप्नोति। गोपालतापनीये 'मुमुक्षुर्वै शरणमनुव्रजे'दिति श्रुतिः। शमदमादिष्वेकस्य कार्यमुक्तम्। एकादशे 'मच्छरणो मुनि'रित्युपबृंहणात्। एवं श्रीमदाचार्यमार्गरीत्या ज्ञात्वा, कर्माणि सर्वेन्द्रियाण्यपि तत्र सन्न्यस्येति। भगवति सन्न्यस्य, तत्पराणि कृत्वा इति यावत्। द्वितीयविवरणे यावत्प्रयुक्तं कर्मणां तत्परत्वकरणमेकादशैकोनविंशाध्याये। षट्शास्त्रातिरिक्तस्य मुख्यत्वं यथा तथोपपादितं भक्तिरत्नटीकायां मया। एवं चैकोनविंशे 'श्रद्धामृतकथायां म' इत्यादिना श्रद्धामन इति मनसस्तत्परकरणम्। एवमन्यदपि। परन्त्वेत'देवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम्। मयि सञ्जायते भक्ति'रिति तत्र वाक्यादार्थक्रमेण श्रुतात्मनिवेदनं शरणगमनानन्तरं प्राप्नोति। तदनु 'श्रद्धामृतकथायां म' इत्यादिनोक्तनवधाभक्तयस्तत्र सकलेन्द्रियपरता तद्द्वारा भगवति सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्य सन्न्यस्येति यावत्। सन्न्यस्येत्युक्त्वा सन्न्यासो नैष्कर्म्यं 'इहामुत्रफलभोगनैराश्यं' कृत्वेत्युक्तम्। अत्र नैष्कर्म्यपदं इहामुत्रफलभोगनैराश्यकरणकमनःकल्पने उक्तम्। तदुक्तं भक्तिहंसे 'भक्तिमार्गः श्रवणादिसरणिरूप' इति। अन्यदूह्यम्। भिक्षादीति। आदिना निरोधलक्षणग्रन्थोक्तो निरोधः। 'तीर्थं नातः परात् पर'मिति तद्ग्रन्थवाक्यात्। वर्तयन्निति णिचं समर्थयन्ति स्म स इति। उक्तेनेत्यस्यामेव श्रुतावुक्तेन। पुत्रादीति। पुत्रादिपरिजनो वर्तमानस्तं पुत्रादिपरिजनं वर्तयन्। जन्यभावत्वेनेति। जन्यत्वेन नश्वरत्वेन व्याप्तौ घटोन्मज्जनापत्तिः। ध्वंसस्य जन्यत्वेन नश्वरत्वात्। दत्ते तु भावपदे ध्वंसस्याभावत्वेन नश्वरत्वाभावान्नोन्मज्जनापत्तिरिति। तदभावायेति। पुनरावृत्त्यभावाय। तेनेति। व्याप्तेर्लौकिकत्वेनापुनरावृत्तौ लोकवैलक्षण्यं बोधितम्, व्याप्तिविषयत्वात्। पुनः कथनमिति। 'न

कृत्स्नता भवतीति तेनोपसंहारः कृत इत्यर्थः। अत एव 'आत्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्ये'त्युच्यते। अत्र, आत्मपदं भगवत्परमिति ज्ञेयम्। कर्ममार्गीयगृहिव्यवच्छेदाय तुशब्दः।

अत्रेदमाकूतम्। 'भक्तिमार्गो बहुविध' इति कपिलदेववाक्यात् केचन भक्ताः स्वगृहेष्वेव स्नेहेन भगवदाकारे विविधोपचारैः सेवां कुर्वन्तस्तयैव निर्वृत्या मुक्तिमपि तुच्छां मन्यन्ते। तदुक्तं 'मधुद्विट्सेवानुरक्तमनसामभवोऽपि फल्गु'रिति। तेन भगवद्भजन एव, तत्रापि पुष्टिमार्ग एव, श्रुतेर्भर इति ज्ञायते। पूर्वमुत्कटभगवद्भाववतां तदर्थं त्यागं निरूप्य, गृहिणोपसंहारतात्पर्यं पश्चाद् यन्निरूपितवान्, तेन तादृग्भाववतैव त्यागः कार्यः, तद्रहितेन तु गृह एवोक्तरीत्या प्रभुभजनं कार्यम्, तेनैव तल्लाभ इति व्यासहृदयमिति ज्ञायते। उक्तभावाभावे त्यागधर्मानिर्वाहादिति। केचन भक्ता भाषणादिलीलादर्शनं विना स्थातुमशक्ताः प्रचुरभावविवशतया गृहांस्त्यक्त्वा वनं गच्छन्ति। आत्रेयौडुलोमिभ्यां तु भगवदवतारसाम-

भाष्यप्रकाशः।

च सार्थक्यम्। तेनेति। गृहिणा। एवं तात्पर्ये गमकमाहुः अत एवेत्यादि। कर्ममार्गीयेति। जैमिनीयतन्त्रविचारितेत्यर्थः।

ननु पूर्वाधिकरणे त्यागं निरूप्य, यदत्र गार्हस्थ्यं प्रशंसति, तत्किमित्याकाङ्क्षायामाहुः अत्रेदमित्यादि। भक्तिमार्गो बहुविध इति कपिलदेववाक्यादिति। 'भक्तियोगो बहुविधो मार्गैर्भामिनि भाव्यते। स्वभावगुणभेदेन पुंसां भावो विभिद्यत' इति कपिलदेववाक्यात् भक्तिमार्गो बहुविध इत्यन्वयः। तदुक्तमिति 'यो दुस्त्यजान् क्षितिसुतस्वजनार्थदारान् प्रार्थ्यां श्रियं सुरवरैः सदयावलोकाम्। नैच्छन्नृपस्तदुचितं महतां मधुद्विट्सेवानुरक्तमनसामभवोपि फल्गु'रिति पञ्चमस्कन्धे भवाटवीसमाप्तौ शुकेनोक्तम्। तथा च भरतस्य राजदशायां तथाभावस्योक्तत्वादन्यस्यापि गृहिणस्तथाविधत्वे तथात्वमित्यर्थः। तेनेति गृहिणोपसंहारे आत्मनि सर्वेन्द्रियसम्प्रतिष्ठापनादिकथनेन। श्रुतितात्पर्यं निरूप्य व्यासतात्पर्यं निरूपयन्ति पूर्वमित्यादि। तल्लाभ इति। भगवत्प्राप्तिः। उक्तभावाभावे त्यागधर्मानिर्वाहादिति। विगाढभावाभावे'स एवाधस्ता'दित्यादिनोक्तस्य सर्वत्र तद्भानरूपस्य त्यागधर्मस्य मध्ये विच्छेदेन सर्वदा स्थैर्या-

रश्मिः।

च पुनरावर्तत' इत्यस्य। जैमिनीयेति। पूर्वतन्त्रविचारितगृहिव्यवच्छेदाय। यथाहुः षष्ठाध्याये 'दम्पत्योः सहाधिकार' इति। पाठान्तरमाहुः भक्तियोगो बहुविध इति। भगवदाकार इति। भगवत्स्मरणं त्रेधा भवति,'यमादिभिर्योगपथैरान्वीक्षिक्या च विद्यया। मदर्चोपासनाभिर्वा नान्यैर्योग्यं स्मरेन्मन' इत्येकादशे विंशाध्यायवाक्यात्। अत्र 'शङ्खचक्रे मृदा यस्तु कुर्यात् तप्तायसेन वा। स शूद्रवद्बहिष्कार्यः सर्वस्माद्द्विजकर्मण' इत्यत्र शङ्खचक्रनिषेधस्य तप्तायसे पर्यवसानवद् योग्यस्मरणस्य भगवदर्चोपासनायां पर्यवसानात्। तथात्वमिति। उक्तभाववत्त्वम्। गृहिणोपसंहार इति। गृहिणा विद्योपसंहारे। पूर्वमित्यादीति। वहिस्तूभयथेत्यधिकरणे। तदर्थमिति। भगवदर्थम्। मर्यादां स्पष्टत्वात् त्यक्त्वा पुष्टिमाहुः। विगाढेति। इदं लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणे स्पष्टम्। त्यागधर्मस्येति। त्यागः सर्वात्मभाव इति श्रीहरिरायजितः। तस्य धर्मश्चरमवृत्तिस्तस्य।

यिकभक्तदशोक्ता । एते सर्वे फलमार्गीयाः । वाजसनेय्युक्तास्तु साधनमार्गीया इति नानुपपत्तिः काचित् ॥ ४७ ॥

मौनवदितरेषामप्युपदेशात् ॥ ४८ ॥

किञ्च । सन्यासिन आवश्यका ये धर्मास्ततोऽधिकास्ते गृहिणः सिध्यन्ती-

भाष्यप्रकाशः ।

भावात् । ननु यद्येवं दौर्लभ्यम्, तदा तत्कथनमशक्योपदेशरूपत्वादप्रयोजनकं, अतो न वक्तव्यमेवेति किमित्युक्तमत आहुः केचनेत्यादि । तथा च दौर्लभ्येपि तत्सत्तास्तीत्यतस्तदनूदितम् । अतस्तादृशाधिकारे भगवत्कृपया सम्पन्ने तत्कर्तव्यताबोधनार्थं तत्कथनमित्यर्थः । नन्वात्रेयौडुलोमिभ्यामेतादृशदशासम्पत्तौ गृहत्याग उच्यते, वाजसनेयके तु 'किं प्रजया करिष्यामो येषां नो एवायमात्मा नायं लोक' इति श्रावणादात्मलोककामनामात्रे बोध्येते इति ताभ्यामुक्तं श्रुतिविरुद्धम्, किञ्च, ये लीलादर्शनार्थं वनं गच्छन्ति, ते भगवदागमने पुनरायान्ति, न तु वन एव स्थित्वा सन्यासिधर्मानातिष्ठन्तीत्यतोपि तच्छ्रुतिविरुद्धम्, अतः कथं श्रौते विचार एतं तन्मतोपन्यास इत्यत आहुः । आत्रेयेत्यादि । एते सर्वे यदीया दशा ताभ्यामुक्ता, ते सर्वे भक्ताः फलमार्गीयाः, मार्ग उपायः । फलमेव मार्गो यत्रासौ मार्गः फलमार्गस्तत्सम्बन्धिनः । यथा गोपालतापनीयोक्ता गान्धर्वीप्रभृतयः । तथा च फलरूपो भगवानेव स्वस्वरूपं ताननुभावयतीति भगवत्कृपाविशिष्टयैवेच्छया तेषां सर्वेन्द्रियव्यापाराः । वाजसनेयिनां कहोडब्राह्मण उक्तास्तु साधनमार्गीयाः । साधनं शमादिविशिष्टं ज्ञानमेव मार्ग उपायः फलप्राप्तौ यत्रासौ साधनमार्गस्तत्सम्बन्धिन इति तत्तदधिकारिभेदेन तथा तथा कथनान्न पूर्वोक्ता श्रुतिविरोधरूपा काप्यनुपपत्तिरित्यर्थः ॥ ४७ ॥

मौनवदितरेषामप्युपदेशात् ॥ ४८ ॥ सूत्रमवतारयन्ति किञ्चेत्यादि । व्याकुर्वन्ति मौनपदमित्यादि । यद्यपि मुनेर्भावो मौनमिति योगेन विचारात्मकं ज्ञानमप्यादातुं शक्यते,

रश्मिः ।

अतोऽवक्तव्यमिति । अतः अवक्तव्यमिति च्छेदः । आत्मेति । आत्मा च लोककामना चात्मलोककामने ते एवात्मलोककामनामात्रे बोध्येते । तन्मतेति । आत्रेयौडुलोमिमतोपन्यासः । फलसाधनयोः सामानाधिकरण्यमाहुः मार्ग उपाय इति । फलमार्ग इति । प्रमेयबलमिति यावत् । गान्धर्वीति । प्रभृतिपदेन व्रजस्त्रियः । 'तासां मध्ये श्रेष्ठा गान्धर्वी ह्युवाचे'ति श्रुतेः । एते प्रमेयबलेन मुक्ता इति प्रमेयबलरूपफलमार्गसम्बन्धिनः, तदाहुः तथा चेति । भगवानेवेति । फलमेव, एवकारेण तदतिरिक्तसाधनव्यवच्छेदः । भगवत्कृपेति । भगवदभिन्ना, फले साधनांश इति शेषः । कृपाविष्टः साधनमित्याचार्योक्तेः । भगवत्कृपाविशिष्टयेच्छयेति न समस्तं पदम् । इच्छायां कृपाविशिष्टत्वाभावात् । विशिष्टयेति । अक्षरूदं नीतानामपि सर्वेन्द्रियव्यापारा भवन्त्विति विशिष्टेच्छा तथा । एवकारेण साधारणेच्छायोगव्यवच्छेदः क्रियते । भक्तमनोरथपूरकत्वेन रूपभेदात् । वाजसनेयीति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म वाजसनेयिनामिति । साधनमित्यादि । 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मित्यत्र ब्रह्मविदित्यत्र ज्ञानम् । तत्सम्बन्धिन इति । प्रमाणबलिनः । पूर्वोक्तेति । सूत्रारम्भोक्ता । श्रुतिस्तु 'एतद्ध स्म वा' इति ॥ ४७ ॥

मौनवदितरेषामप्युपदेशात् ॥ ४८ ॥ रूढमिति । यौगिकमित्युक्ते विचारात्मकज्ञान-

त्यपि हेतोस्तेनोपसंहारः कृत इत्याशयेनाह मौनवदित्यादि । मौनपदमनीहानिलयामादित्रिदण्डिधर्मोपलक्षकम् । यथा वागिन्द्रियमात्रदेह[1]मात्रचित्तमात्रनियामकास्ते धर्मा उक्ता न्यासिनः, तथेतरेषामपीन्द्रियनियामकानां धर्माणां 'आत्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्ये'ति श्रुत्या गृहिण उपदिश्यन्त इति युक्तो गृहिणोपसंहार इत्यर्थः । तत्र नियमनमात्रम्, अत्र तु भगवति विनियोगात् आधिक्यमिति भावः । वस्तुतस्तु केवलनियमनस्याप्रयोजकत्वात् तत्रापि भगवति विनियोग एव तात्पर्यमिति ज्ञेयम् ॥ ४८ ॥

अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् ॥ ४९ ॥

ननु भगवति सर्वेन्द्रियविनियोगात् गृहिणोपसंहार इति न युज्यते, 'शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयान' इत्यादिकर्ममार्गीयसाधनश्रुतेरित्याशङ्क्य, तत्तात्पर्यमाह अनाविष्कुर्वन्निति । भगवद्भावस्य रसात्मकत्वेन गुप्तस्यैवाभिवृद्धिस्वभावकत्वात्ाश्रमधर्मैरेव लोके स्वं भगवद्भावमनाविष्कुर्वन् भजेतेत्येतदाशयेन ते धर्मा उक्ताः । गोपने मुख्यं हेतुमाह अन्वयादिति । यतो भगवता सममन्वयं सम्बन्धं प्राप्य वर्तते, अतो हेतोस्तथा । अत्र ल्यब्लोपे पञ्चमी । एतेन यावद् अन्तःकरणे साक्षात् प्रभोः प्राकट्यं नास्ति, तावदेव बहिराविःकरणं भवति, प्राकट्ये तु न तथा सम्भवतीति ज्ञापितम् ॥ ४९ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

तथापि भगवता 'मौनानीहानिलायामा दण्डा वाग्देहचेतसा'मिति वाक्ये त्रयाणां समभिव्याहृतत्वाद्वाग्दण्डरूपं मौनं रूढं गृहीतं ज्ञेयम् । शेषं स्फुटम् ॥ ४८ ॥

अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् ॥ ४९ ॥ सूत्रमवतार्य व्याकुर्वन्ति नन्वित्यादि । भाष्यमत्रातिरोहितार्थम् ॥ ४९ ॥

रश्मिः ।

बोधापत्तिरतो रूढमित्युक्तम्, योगरूढमित्यर्थः । नामैकदेशग्रहणात् ॥ ४८ ॥

अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् ॥ ४९ ॥ अतिरोहितार्थमिति । तत्तात्पर्यमिति । कर्ममार्गीयसाधनश्रुतितात्पर्यम् । भगवद्भावस्येति । अत्राश्नुत इति श्रुतावशनमनाविष्कृतमश्नुत इत्यश्नातिस्थाने प्रयोगात् । अतः सूत्रमप्यनाविष्कुर्वन्नशनमित्याशयेन व्याकृतम् । न चान्योन्याश्रयः । अश्नातीत्यस्य पदव्यत्ययविकरणव्यत्ययाभ्यां [illegible]सूत्रव्याख्यानं सूत्रव्याख्यानेनाश्नुत इत्यत्र पदव्यत्ययविकरणव्यत्ययौ यत इति वाच्यम् । आनन्दमयाधिकरणोक्तयुक्तिभिरनाविष्कुर्वन्निति योगविभागाच्चानाविष्कुर्वन् श्रुतौ ह्यश्नातीति प्रथमसूत्रार्थः ततश्चाश्नुत इत्यादावुभयसिद्धौ योगविभागस्येष्टसिद्ध्यर्थत्वादन्वयादिति द्वितीयसूत्रे पूर्वसूत्रमनुवर्त्य प्रकृतं सूत्रं सिद्धमित्यन्योन्याश्रयाभावात् । आश्रमेति । सर्वाश्रमधर्मैरित्यर्थः । भजने प्रकाराकाङ्क्षायां स्वधर्ममाहेति सुबोधिन्यां यतः । उक्ता इति । स्वाध्यायब्राह्मण उक्ताः । अतस्तथेति । ल्यब्लोपे पञ्चमीत्यतः शेष उक्तः । अतोऽत्यन्तस्नेहाद्भगवत्सुखकरं गोपनमित्यर्थः । नास्तीति । विरहे नास्ति । बहिराविष्करणं गुप्तान्वयस्याश्रमधर्मद्वारा भवति । प्राकट्य इति । अन्तःकरणे प्राकट्ये तु तथा नाम, बहिराविष्करणं न सम्भवति,

१. देहमात्र चित्तमात्रेतिद्वयं प्राचीनतमादर्शे हरितालिकया दूरीकृतं दृश्यते ।

ऐहिकमप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात् ॥ ५० ॥

वैदिककर्मकरणे तात्पर्यमुक्त्वा लौकिकस्यानावश्यकत्वेपि तत्समयमाह । प्रस्तुतं प्रभुभजनं तत्प्रतिबन्धासम्भव एवैहिकं कार्यम् । नन्वैहिकं कर्मास्तु, मा वा, अतस्तत्समयोक्तिर्व्यर्थेत्याशङ्क्याह । तद्दर्शनादिति । 'आचार्यकुला'-दित्युपक्रम्याग्रे पठ्यते, 'धार्मिकान् विदध'दिति । अतो धार्मिकपुत्रविधान-मैहिकं कर्म श्रुतौ दृश्यते, अतस्तत्समयोक्तिरावश्यकी। अन्यथा श्रुतावुक्तमस्तीति प्रस्तुतबाधेपि तत्करणे फलप्रतिबन्धः स्यादिति भावः ॥ ५० ॥

इति तृतीयाध्याये चतुर्थपादेऽष्टमं गृहिणोपसंहाराधिकरणम् ॥ ८ ॥

भाष्यप्रकाशः

ऐहिकमप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात् ॥ ५० ॥ अत्रापि भाष्यं प्रकटार्थम् । एवञ्च यस्य मर्यादायां वरणं वर्तते, तेन साधनापरिपाकदशायां 'आचार्यकुला'दिति श्रुत्युक्तरीत्या गृह एव स्थित्वा भगवद्भजनं कर्तव्यम्, स्वधर्मरहस्यं च गोपनीयमिति सिद्धम् ॥

शङ्कराचार्यास्तु, सहकार्यन्तराधिकरणं त्रिसूत्रमङ्गीकृत्य, तस्मात् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत् बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिरमौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मण' इति बृहदारण्यकीयकहोडब्राह्मणे किं मौनं विधीयत उत नेति संशये, मौनं विधीयते । यद्यप्यत्र न विधिः, तथाप्यपूर्वत्वाद्विधिराश्रयणीयः । मौनं च पाण्डित्यातिरिक्तं ज्ञानातिशय-रूपम् । 'मुनीनामप्यहं व्यास' इति प्रयोगदर्शनात् । अतो मननान्मुनिस्तद्भावो मौनम् । अतो-

रश्मिः ।

विरहे त्रिविधभावोत्पत्त्या नवधाभक्तिभक्तधर्मैराश्रमधर्माणां तादृशे बाधात् । **ज्ञापितं** तात्पर्यवृत्त्योक्तम् । एवमतिरोहितार्थमित्यर्थः ॥ ४९ ॥

ऐहिकमप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात् ॥ ५० ॥ **प्रकटार्थमिति** । प्रकटोऽर्थो यस्य, तथाहि । अप्रस्तुतेत्यत्र प्रस्तुतस्य प्रतिबन्धः प्रस्तुतप्रतिबन्धः, न प्रस्तुतप्रतिबन्धोऽप्रस्तुतप्रतिबन्धस्त-स्मिन्नित्यर्थं मत्वाहुः **प्रस्तुतमिति** । **कार्यमिति** । मृत्युभीरुणा कार्यम् । एकादशे योगीश्वरवाक्ये 'वेदोक्तं नाचरेद्यस्तु मृत्योर्मृत्युमुपैति स' इति दर्शनात् । **श्रुतावुक्तमिति** । स्वाध्यायब्राह्मणश्रुता-वुक्तम् । अधुना प्रस्तुतपदे नञन्वयं कृत्वाहुः **प्रस्तुतबाध इति** । नञर्थबाधः । **तत्करणे** ऐहिककरणे । **फलेति** । प्रस्तुतभजनरूपसाधनाभावात्तथा । **एवं प्रकटार्थम्** । **साधनेति** । शमदमादिमुमुक्षुत्ववैराग्यबोधका(मा)घपरिपाकः अस्वाधीनता । **रहस्यमिति** । यथा त्रिभङ्गललित-स्तोत्रोक्तम् । 'अहं तदीय इत्येषा तद्वार्ता रूपिता पर'मिति तदीयाधिकारोक्तेः । **तस्माद्ब्राह्मण इति** । यस्मात् पूर्वे ब्राह्मणा आत्मानं विदित्वा पुत्राद्येषणाभ्यो व्युत्थाय भिक्षाचर्यं चरन्ति, तस्मादधुनातनो ब्राह्मणः पण्डाध्ययनजा आपाततो ब्रह्मधीस्तद्वान् पण्डितस्तस्य कृत्यं पाण्डित्यं श्रवणं तन्निर्विद्य निश्चयेन लब्ध्वा बाल्येन ज्ञानबलभावेन मननेन, शुद्धान्तःकरणत्वेन वा स्थातुमिच्छेत् तद्द्वयं लब्ध्वा, अथ श्रवणमननानन्तरं मुनिर्मननशीलो निदिध्यासनपरः स्यादमौनं श्रवणमनने च मौनं च निदिध्यासनं लब्ध्वोक्तत्रयस्य ब्रह्मसाक्षात्कारहेतुत्वात् तत्त्रयानन्तरं ब्रह्मावगच्छतीति **ब्राह्मणः** साक्षा-त्कृतब्रह्मा भवतीति श्रुत्यर्थः । **मौनमिति** । निदिध्यासनम् । **ज्ञानातीति** । निदिध्यासनमित्यर्थः । ब्रह्मामृतवर्षिण्यां तथा व्याख्यानात् । **तद्भावो मौनमिति** । भावे घञ् । भावोत्र प्रकृतिजन्यबोधे

भाष्यप्रकाशः ।

'ऽथ मुनि'रित्यत्र मुनिः स्यादित्येवं विधिराश्रयणीयः । यद्यपि 'गार्हस्थ्यमाचार्यकुलम्' 'मौनं वानप्रस्थ्य'मित्यत्र मुनिशब्द उत्तमाश्रमेपि श्रुतः, तथापि, 'वाल्मीकिं मुनिपुङ्गव'मित्यत्र व्यभि-चारदर्शनान्न नियमतोऽन्यत्र तदर्थको ग्रहीतुमुचितः । उक्तश्रुतौ त्वाश्रमान्तरसन्निधानाद्युक्तं तद्ग्रहणम् । ज्ञानप्रधानत्वादुत्तमाश्रमस्य तस्माद् बाल्यपाण्डित्याऽपेक्षया तृतीयं मौनमत्र विधी-यते । निर्वेदनीयत्वनिर्देशादपि मौनस्य बाल्यपाण्डित्यवद् विधेयत्वाश्रयणम् । 'तद्वत' इति विद्यावतः सन्न्यासिनो ग्रहणम् । कहोडब्राह्मणे तस्यैव प्रस्तुतत्वात् । ननु विद्यावत्त्वे सत एवा-तिशयप्राप्तेः किं मौनविधिनेत्यत आह 'पक्षेणे'ति । यस्मिन् पक्षे भेददर्शनप्राबल्यान्न प्राप्नोति तस्मिन् पक्षे विधिरिति विध्यादिवदिति । यथा दर्शपूर्णमासादौ सहकारित्वेनाग्न्याधानाद्यङ्ग-जातविधिः, एवमविधिप्रधानेऽस्मिन् विद्यावाक्येपि मौनविधिरित्याहुः ।

तेन तन्मते 'तद्वतः पक्षेण सहकार्यन्तरविधि'रिति प्रतिज्ञा, तृतीयं विध्यादिवदिति हेतु-वाक्यमिति सिध्यति ।

भास्कराचार्यास्तु पूर्ववदेवाङ्गीकृत्य सूत्रमेवं योजयन्ति । विधीयत इति विधिः । तद्वतो विद्यावतस्तृतीयं मौनं ज्ञानप्रकर्षपक्षेण सहकार्यन्तरविधिः । तथा च ज्ञानातिशयमापादयेज्ज्ञा-नपरिपाकाय योगाभ्यासं कुर्यादित्यर्थः । विध्यादिवत् । यथा अग्निहोत्रादिकमविदुषः फला-तिशयार्थिनो विधीयते, तथा विदुषो व्युत्थायिनो ज्ञानप्रकर्षरूपं मौनं कर्तव्यत्वेन विधीयत इति वदन्ति ।

रामानुजाचार्यास्तु सूत्रयोजनां भास्कराचार्यवदेवाङ्गीकृत्य तदर्थमेवमाहुः । विधिश-ब्देन यज्ञादिः, सर्वाश्रमधर्मः शमदमादिश्च विधिशब्देनोच्यते । आदिपदेन श्रवणमनने गृह्येते । सहकार्यन्तरं विधीयत इति सहकार्यन्तरविधिः । तथा च यथा, 'तमेतं वेदानुवचनेने'त्यादिना, 'शान्तो दान्त' इत्यादिना च यज्ञादिः शमादिश्च सहकारित्वेन विद्यावतो विधीयते । यथा च,

रश्मिः ।

प्रकारः । व्यञ्जो लोपो वा । **मुनिशब्द इति** । भावप्रधानोऽयम्, व्यवहारे भाट्टत्वाद्वा मुनित्वे शक्तिः । मुनित्वस्य विधेयत्वमाश्रीयत इति भाष्यात् । **उत्तमेति** । तुरीयाश्रमे । आश्रमप्रायपाठात् । **व्यभिचारेति** । मुनिषु मध्ये पुङ्गवं श्रेष्ठं न निर्धारण इति षष्ठीसमासनिषेधः । आश्रमवाचकत्व-व्यभिचारदर्शनात् । **अन्यत्रेति** । आश्रमप्रायपाठादन्यत्र । **तदर्थकः** आश्रमार्थकः । **उक्ते** । 'गार्हस्थ्यमाचार्यकुल'मित्यादिश्रुतौ । **तद्ग्रहणमिति** । मौनशब्दस्य चतुर्थाश्रमवाचकस्य ग्रहणम् । **निर्वेदनीयत्वेति** । निश्चयेन वेदनीयत्वनिर्देशात् । **प्रस्तुतत्वादिति** । 'एतं वै तमात्मानं विदित्वे'त्युपक्रम्य, 'अथ भिक्षाचर्यं चरन्ती'तिश्रुत्या प्रस्तुतत्वात् । **मौनविधिनेति** । अतिशया-र्थम् । **न प्राप्नोतीति** । अभेदविद्यावत्त्वं न प्राप्नोति । **अविधीति** । कृत्यविषयत्वेन ज्ञानस्या-विधिप्रधाने विद्यावाक्ये । **आपादयेदिति** । तर्कप्रधाना एते । यदि ज्ञानातिशयो न स्यात्, ज्ञानपरिपाकाय योगाभ्यासं न कुर्यादिति । अतो योगाभ्यासं कुर्यादिति सहकार्यन्तरविधिः । **अवि-दुष इति** । अक्षरज्ञानरहितस्य । भेदज्ञानवतः । **व्युत्थायिन इति** । व्युत् स्थायिनः । उदः-स्थास्तम्भोः पूर्वस्य । व्युद् अधिकं स्थायिनः पूर्वज्ञानादेव तदधिकज्ञाने स्थायिनः । **इत्नीति** । इत्येवं योजयन्तीति पूर्वेणान्वयः । **तदर्थमिति** । सूत्रार्थम् । **अर्थप्राप्त इति** । शमदमादिमतोर्थात् प्राप्ते ।

भाष्यप्रकाशः ।

'श्रोतव्यो मन्तव्य' इत्यादिश्रवणमनने चार्थप्राप्ते विद्यासहकारित्वेन गृह्येते, तथा । तस्मात् ब्राह्मणः पाण्डित्यमित्यादिना पाण्डित्यं बाल्यं मौनमिति त्रयं विद्यायाः सहकार्यन्तरं विधीयत इत्युक्तं भवति । मौनं च पाण्डित्यादर्थान्तरमित्याह 'पक्षेणे'ति । इदं च मननं श्रवणप्रतिष्ठार्थान्मननादप्यर्थान्तरम् । उपासनालम्बनस्य पुनः संशीलनं तद्भावनारूपम् । अतोऽपूर्वत्वादत्र विध्यश्रवणेपि तदाश्रयणम् । मुनिः स्यादिति । तस्मादेवं वाक्यार्थः । ब्राह्मणो विद्यावान् पाण्डित्यं निर्विद्य उपास्यं ब्रह्मतत्त्वं परिशुद्धं परिपूर्णं च विदित्वा श्रवणमननाभ्यां प्राप्तं वेदनेन प्रतिलभ्येति यावत् । तच्च भगवद्भक्तिभूतं सत्त्वशुद्धिकृतम् । 'नाहं वेदै'रित्यारभ्य, 'भक्त्या त्वनन्यया शक्यो ज्ञातु'मिति गीतायामुक्तत्वात्, 'यस्य देवे परा भक्ति'रिति, 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्य' इति श्रुतावप्युक्तत्वाच्च । बाल्येन तिष्ठासेदिति । बालस्य यत्स्वभावानाविष्काररूपं कर्म तेन स्थातुमिच्छेत् । बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिः स्यात्, बाल्यपाण्डित्ये यथावदुपादाय परिशुद्धे परिपूर्णे ब्रह्मणि निदिध्यासनरूपप्राप्तये मननशीलो भवेत् । एवं त्रितयोपादानेन लब्धविद्यो भवेदित्याह । 'अमौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मण' इति । अमौनं मौनेतरसहकारिकलापस्तच्च मौनं च यथावदुपाददानस्तदेकनिष्ठायां विद्याकाष्ठां लभत इत्येवं विषयवाक्यं व्याख्यातवन्तः ।

बृहदारण्यकमिताक्षरायां तु, पण्डा वेदाध्ययनजन्या बुद्धिस्तद्वान् पण्डितस्तस्य कर्म वेदा-

रश्मिः ।

श्रवणेति । श्रवणस्य प्रतिष्ठा मननं एतदर्थात् । **उपासनालम्बनस्तद्विषयस्तस्य** । **वाक्यार्थ** इति विषयवाक्यार्थः । **वेदनेन** इति । उपासनेन । **तच्चेति** वेदनं च 'सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञान'मिति वाक्यात् सत्त्वकृतं भक्तिरूपं **सत्त्वशुद्धिकृतम्** । **तदेकेति** । सत्याम् । सती सप्तमी । **श्रवणेति** श्रवणलक्षणं ज्ञेयम्, यथाचार्यमते 'भगवद्वाचकपदवाक्यानां भगवति शक्तितात्पर्यनिर्धार' इति द्वितीयसुबोधिन्याम् । अतः **श्रवणापरपर्यायम्** । **निःशेषमिति** । शेषान्निष्क्रान्तं कृत्वा । निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्येति समासः । **श्रवणेति** । **श्रवणज्ञानेनोत्पन्नमशेषानात्मदृष्टेस्तिरस्करणं तस्य सामर्थ्यम्** । **तिष्ठासेदिति** स्थातुमिच्छेत् । **व्युत्थायिनमिति** । विद्वांसम् । **तद्विधिः** सहकार्यन्तरविधिः । **रामानुज** इति मते । तद्विधिः सहकार्यन्तरविधिः । **नातीति** नातिक्रम्य गच्छन्ति । **इत्यत इति** । इति हेतोः विद्याया भक्तित्वे ज्ञानपदप्रवृत्तेर्भक्तौ सत्त्वादतो भक्तेर्ज्ञानत्वेन ज्ञानपक्षानतिरेकादित्यर्थः । तेन परोक्तपक्षोत्र सम्मतः सूत्राणां विश्वतोमुखत्वोदाहरणार्थः । **एतदिति** । व्युत्थाय्यपरिपक्वौ विहाय **स एव** मर्यादापक्ष **एवादृतः** । व्युत्थाय्यपरिपक्वत्वयोर्भार्यादिकधर्मत्वात् । ननु पुष्टिमर्यादापक्षयोर्गतेरर्थवत्त्वसूत्र उक्तत्वात् तद्धर्मभूतोत्थाय्यपरिपक्वत्वे पुरस्कृत्यायं विचारोत्र युक्त इति चेत्, तत्राहुरेवेति । धर्मौ स्पष्टावित्येवकारस्तद्योगव्यवच्छेदकः । गतेरर्थवत्त्वसूत्रे पुष्टिमर्यादे ससाधनासाधनत्वाभ्यां विचारिते, अत्र तु तृतीयस्याप्रयोजकत्वं विचारितमिति विशेषः । कहोडब्राह्मणार्थस्तु मिताक्षरोक्तः तत्रापि **विशेषस्तु** । श्रवणापरपर्यायं स्वमार्गीयश्रवणलक्षणात् । बाल्येन भक्तित्वेन बलं भक्तिरिति भाष्यात् । **स्वार्थे** ष्यञ् वा । भक्तिरूपो भवेयमिति स्थातुमिच्छेत् । मुनिः मौनवान् सन्न्यासिधर्ममौनानीहानिलायामवान्, अनिलायामः प्राणायामः । **तिष्ठासेत्** । 'विरहानुभवार्थं तु सर्वत्यागः प्रशस्यत' इति वाक्यात् विरहानुभवार्थं

एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेः ॥ ५१ ॥ (३-४-९)

ननु 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य' इति श्रुतौ मुक्त्यनन्तरं ब्रह्मसम्पत्तिः श्रूयते, सा तु पुरुषोत्तमसङ्गे लीलारसानुभवातिरिक्ता वक्तुमशक्या, मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात्, 'मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः । सुदु-

भाष्यप्रकाशः ।

न्तविचारलक्षणं श्रवणापरपर्यायं पाण्डित्यं निर्विद्य निःशेषं कृत्वा अनन्तरं बाल्येन तिष्ठासेत् । श्रवणज्ञानोत्पन्नाशेषानात्मदृष्टितिरस्करणसामर्थ्यं बलं तस्य भावो बाल्यम्, तेन बाल्येन विषयानाकृष्टस्तिष्ठासेन्मननं कुर्यादिति यावत् । बाल्यं च पाण्डित्यं च निःशेषं कृत्वा अथ मुनिर्मौनवान् धारावाहिकात्मप्रत्ययप्रवाहवान् तिष्ठासेदित्यनुषज्यते । निदिध्यासनं कुर्यादिति यावत् । एवममौनशब्दवाच्यं श्रवणमननाख्यं मौनशब्दवाच्यं निदिध्यासनं निर्विद्य अथ ब्राह्मणो निरुपचरितब्राह्मण्यवान् ब्रह्मैव स्यात् कृतकृत्यो भवेदित्येवं व्याख्यातम् ।

तत्र मतभेदेन वाक्यव्याख्यानस्य भिन्नार्थत्वेपि मौनस्य प्रकृष्टज्ञानरूपस्यैवाङ्गीकारादर्थस्तुल्यप्रायः । सूत्रव्याख्याने तु शाङ्करे भास्करे च मते व्युत्थायिनं प्रति तद्विधिः । रामानुजे तु अपरिपक्वं प्रत्यावश्यकतया विद्यापरिपाकार्थं तद्विधिरिति फलति । सिद्धान्ते तु यावन्त्येतानि साधनानि तानि सर्वाणि मर्यादापक्षं नातिचरन्तीत्यत एतद्विहाय स एवादृत इति बोध्यम् । अग्रे तु न तथा विरुद्धम् । 'गृहिणोपसंहारे' तु बहुकर्मोपदेशं बीजमाहुः । बहुकर्मोपदेशे तु न किञ्चिदपीति तत्साकाङ्क्षत्वादरुच्यम् । 'मौनव'त्सूत्रे तु विद्यायाः सर्वाश्रमसाधारण्यं व्याकुर्वन्ति । 'अनाविष्कुर्व'न्नित्यत्र च बाल्यरूपं निश्चिन्वन्ति । तदविरुद्धमित्युपरम्यते ॥ ५० ॥

इत्यष्टमं गृहिणोपसंहाराधिकरणम् ॥ ८ ॥

एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेः ॥ ५१ ॥ सूत्रमवतारयन्ति

रश्मिः ।

सर्वत्यागं कुर्यात् । **अथ ब्राह्मणो** गोपालतापिनीये यः सः पुरुषोत्तमवित् **स्यात्** ततः **कृतकृत्यो** भवेत् । **बहुकर्मेति** । कृत्स्नभावः सन्न्यासिनो विशिष्यते । बहुलायासानि हि बहून्याश्रमकर्माणि यज्ञादीनि तं प्रति कर्तव्यतयोपदिष्टानि आश्रमान्तरकर्माणि च यथासम्भवं अहिंसेन्द्रियसंयमादीनि अस्य विद्यन्ते, तस्मात् गृहमेधिनोपसंहारो न विरुध्यत इति भाष्येण तथा । **साकाङ्क्षत्वादिति** बहुकर्मोपदेशबीजसाकाङ्क्षत्वात् । **व्याकुर्वन्तीति** । इतरेषां चतुर्णामाश्रमाणामुपदेशाविशेषात् । **मौनवदिति** व्याकुर्वन्ति । तेन विद्यायाः सकलाश्रमसाधारण्यं गौणसाधनव्युदासार्थम् । **निश्चिन्वन्तीति** । बाल्येन तिष्ठासेदित्यत्र यथोपपादमूत्रपुरीषत्वादिबालचरितं, अन्तर्गता वा भावशुद्धिः, दम्भदर्पप्ररूढेन्द्रियत्वादिरहितत्वं बाल्यं स्यादिति संशये, यथोपपादमूत्रपुरीषत्वं च प्रसिद्धतरं बाल्यमिति पूर्वपक्षे आन्तरो भावविशेषो बालस्याप्रकटेन्द्रियत्वादिरिह बाल्यमाश्रीयत इति सिद्धान्त इत्येवं **निश्चिन्वन्ति** । **तदविरुद्धमिति** । 'शुद्धभावप्रसादित' इति वाक्यात् प्रसादहेतुत्वेन स्नेहान्तर्गतत्वात् ॥ ५० ॥

अष्टमं गृहिणोपसंहाराधिकरणम् ॥ ८ ॥

एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेः ॥ ५१ ॥ सूत्रमिति । अधिक-

लैभः प्राशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुन' इति स्मृतेश्च, मुक्तेः फलं भक्तिरसानुभव एव, एवं सत्युक्तगृहिणस्तत्फलं भवति, न वेति संशये, निर्णयमाह । एवंभूतस्योक्तरूपस्य मुक्तस्य मुक्तेर्यत्फलं भक्तिरसानुभवः, तस्य अनियमः तस्य भगवदिच्छाधीनत्वात् । साधनाप्राप्यत्वात् । अत एव 'मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोग'मिति शुकवाक्यम् । अत्रौत्सर्गिकं हेतुमाह तदवस्थेति । 'न स पुनरावर्तत' इत्यस्याश्रुत्या मुक्त्यवस्थाया एव सार्वदिकत्वेन निर्धारः क्रियते । यद्यप्येवं मुक्तिफलाभावनियम एवायाति, न तु तदनियमः, तथापि 'तस्य तावदेव चिर'मित्यादिप्रमाणैः 'न स पुनरावर्तत' इति श्रुत्या समं विरोधा-

भाष्यप्रकाशः ।

ननु तस्येत्यादि । सेति । ब्रह्मसम्पत्तिः । तस्या उक्तरूपत्वे मानं मुक्तेत्यादि । **एवं सतीति** । लीलारसानुभवस्य मुक्तिफलत्वे सति । एवं संशये व्युत्पादिते पूर्वपक्षः स्वत एव भासत इत्याशयेन निर्णयमेव सूत्रे आहेत्यर्थः । व्याकुर्वन्ति **एवमित्यादि** । **उक्तरूपस्य मुक्तस्येति** गृहिणो मुक्तस्य । **अत एवेति** साधनाप्राप्यत्वादेव । **औत्सर्गिकमिति** अधिकारसामान्यात् प्राप्तम् । नन्वनया श्रुत्या पुनरावृत्तिकथनेन मुक्तावस्थाया एव नित्यत्वनिर्धारे लीलारसानुभावकब्रह्मसम्पत्तिरूपस्य मुक्तिफलस्य भेदसाध्यत्वात्तदभावेन मुक्तिफलाभावनियम एवायाति, न त्वनियम इत्याशङ्क्य तत्परिहरन्ति **यद्यपीत्यादि** । सत्यं यद्यपि, 'न स पुनरावर्तत' इति तदवस्थावधारणश्रुत्या उक्तानियमो नायाति, तथापि 'तस्य तावदेव

रश्मिः ।

रणात्मकम् । **ननु तस्येत्यादीति** । श्रुत्यर्थस्तु तस्य आचार्यवतः पुरुषस्य पण्डितस्य मुक्ताविद्याबन्धनस्य मेधाविनः तावदेव कालं चिरं विलम्बः सत्सम्पत्ताविति शेषः । तावत्कियदित्यत आह **यावदिति** । यावत्कालपर्यन्तं न विमोक्ष्ये, नञर्थः स्वल्पः विमोक्षो भूमा, मोक्षोऽक्षरः, स्वल्पो विमोक्षो भूमा सर्वात्मभावः साधनत्वात्, लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणे भूमपदं सर्वात्मभावे, यथा भूमाधिकरणे ब्रह्मणि तथा चाहं भूमा न विमोक्ष्ये सर्वात्मभावं करिष्ये । अथ तदनन्तरं सम्पत्स्ये, देहपातानन्तरमहं सम्पत्स्ये विभूतिसहित आनन्दमयः पत्स्ये भक्ततनुं प्राप्स्यामि । 'तस्यैष आत्मा वृणुते तनुं स्वा'मिति श्रुतौ तस्य वृतभक्तस्य तनुं चतुरात्मकं स्वां स्वकीयां स्वकीयत्वेन वृणुते सम्भजते इत्यर्थात् । एषा श्रुतिश्छान्दोग्ये श्वेतकेतूपाख्याने वर्तते, तत्र व्याख्यानेऽग्रे मुक्तिरियमपि । यद्वा न विमोक्ष्य इत्यस्य न विमुक्तिं मुक्तिम्, वर्णागमं करिष्ये इत्यर्थः अतो नाग्रेतनभाष्यविरोधः । **अशक्येति** । वक्ष्यमाणभक्तिमार्गीयेर्थे अशक्या । **उक्तरूपत्वे** लीलारसानुभवरूपत्वे । **मुक्तेत्यादीति** । **गृहिण इति** । पुष्टिमार्गीयस्य सर्वस्यानुगृहीतस्य प्राप्तात्यन्तानुगृहीतस्य वा तस्येत्यपि संशयो ज्ञेयः । तत्फलं तु कस्यचिदत्यनुग्रहेण पुष्टौ प्रवेशने भवतीति वक्ष्यमाणभाष्यात् । **मुक्तिफलत्व इति** मुक्तस्य मुक्तेः फलत्वे **साधनेति** । लीलारसानुभवस्य मार्यादिकस्य पुष्टिभक्तिद्वारा कथनात्तथा । **प्राप्तमिति** । तत आगत इति ठक् । यद्यपि सौत्रे इत्यणन्तमुदाहरणं तथापि सूत्रे विशेषात् ठगपि उत्सर्गश्च उत्पत्त्यादिशून्यकालिकत्वं तत् प्राप्तम् । जीवानामधिकारसामान्यं मुक्त्यवस्था । 'यया सम्मोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकं । परोपि मनुतेऽनर्थं तत्कृतं चाभिपद्यते । अनर्थोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमधोक्षज' इति वाक्यात् । **भाष्ये** । **तदवस्था** । कृत्स्नभावाधिकरणविषयवाक्येनाधिकरणसङ्गत्यर्थमाहुः **न स पुनरित्यादि** ।

भावायौत्सर्गिकी तदवस्था । तत्फलं तु कस्यचिदत्यनुग्रहेण पुष्टौ प्रवेशने भवतीति स्वाभिप्रायं प्रकटीकुर्वता बादरायणेन अनियम इत्युक्तम् । एवं सति

भाष्यप्रकाशः ।

चिर'मिति श्वेतकेतूपाख्यानश्रुतावाचार्यवतः पुरुषस्य ब्रह्मज्ञानोत्तरं मोक्षानाप्तिपर्यन्तमेव ब्रह्मसम्पत्तिविलम्बः, न तु तदुत्तरमिति श्राव्यते । ब्रह्मसम्पत्तिश्च 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवती'ति 'परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते, स उत्तमः पुरुष' इत्यादौ सम्परिष्वक्तरूपैव सिद्धेत्यैकीभावदशाविरुद्धा । अतस्तदविरोधार्थमेतयोः श्रुत्योर्विशेषौत्सर्गिकभाव आदर्तव्यः । वरणेन पुष्टौ प्रवेशने मुक्त्यनन्तरं ब्रह्मसम्पत्तिरूपं फलम्, तदभावे तु मुक्त्यवस्थैवेति । तथा च वरणस्य भगवदिच्छामात्राधीनत्वात् तस्याश्च पूर्वं ज्ञातुमशक्यत्वाद्भगवता सूत्रकृता एवम्भूतस्वाभिप्रायस्य बोधनार्थमनियम इत्युक्तमित्यर्थः । नन्वेवं सति श्रुतस्य भेद आयाति, स च तस्या-

रश्मिः ।

श्रुत्येति । स इत्यस्य तत्त्वावच्छिन्ने वृत्तिः । तत्त्वं च मुक्त्यवस्था ब्रह्मांशत्वात् । तथा च चैतन्यं अपुनरावृत्तत्वेनोपस्थितं मुक्त्यवस्था । **क्रियत इति** । तस्या इति शेषः । मुक्त्यवस्थावधृतेरित्यर्थः । **प्रकृते** । तथा चायं सूत्रार्थः । एवं गृहिणोपसंहारे विधानां कृते । मुक्तेः फलं पुरुषोत्तमलीलानुभवः तस्यानियमः तुरीयाश्रमानन्तरमेवेति नियमः, पुष्टिस्थानां सर्वेषामिति च, तस्याभावः, कुतः, मुक्त्यवस्थावधृतेर्गृहिण आदृताया इति । **तदभावेनेति** । भेदाभावेन । **तदवस्थेति** । गृहस्थाश्रमे । मुक्त्यवस्थायाः अनावृत्तिरूपायाः अवधारणश्रुत्या । ननु कुतो 'न स पुन'रित्यस्या गृहस्थाश्रमे मुक्त्यवस्थावधारकत्वमिति चेत्, तत्प्रकरणादिति जानीहि । **उक्तानियमः** सूत्रोक्तमुक्तिफलानियमः । **तदनियम** इत्यन्तभाष्यार्थमुक्त्वा, तथापीत्यादिभाष्यार्थमाहुः प्रपञ्चेन **तथापीत्यादिना** । इयमपि पूर्वाधिकरणसङ्गत्यर्था, सङ्गतिस्तु सामान्यविशेषभावरूपा । भाष्यार्थस्तु, 'तस्य तावदेव चिर'मित्यत्र । आदिना मुक्तोपसृप्येत्यादिप्रमाणानि । षष्ठ्यन्तप्रयोगे कर्तव्ये तृतीयान्तश्छान्दसः प्रयोगः । **विरोधेति** । 'न स पुनरावर्तत' इत्यैक्यम् । 'तस्य तावदेव चिर'मित्यत्र लीलारसानुभवः कर्मकर्तृभावादिति वार्थभेदेनेति भेदाभेदयोर्विरोधः तदभावाय । 'न स पुनरावर्तत' इत्यत्रौत्सर्गिकी दशा'तस्य तावदेव चिर'मित्यत्र विशेषावस्थेति विरोधाभावः तस्मै । सामान्यविशेषयोर्न विरोधः कालभेदादित्यर्थः । **औत्सर्गिकीति** । 'न स पुनरावर्तत' इति श्रुतौ औत्सर्गिकी । **तदवस्थेति** । मुक्त्यवस्था । **आचार्यवत इति** । छान्दोग्ये'आचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिर'मित्याद्युक्तेस्तथा । **ब्रह्मज्ञानोत्तर**मित्यावश्यकत्वात् साधनमाक्षिप्तम् । **मोक्षानाप्तिः** भगवदिच्छाज्ञानपरिपाकरूपकारणाभावात् । **तत्पर्यन्तमेव** । **ब्रह्मसम्पत्तीति** । ननु ब्रह्मसम्पत्तिरेव मोक्ष इत्यभेदान्वयोऽस्तु, न भेदान्वयः साध्यसाधकभावसम्बन्धकृत इति चेत् । न । अभेदस्य ज्ञानपर्यन्तत्वेन भक्तावभेदादानान्नाभेदान्वय इति । अभेदादान'मथ सम्पत्स्य' इत्युक्तदशायाम् । **विरोधाभावायेति** भाष्ये उक्तम्, तत्रैकीभावदशाविरुद्धेत्यन्तेन विरोधं व्युत्पाद्याहुः **ब्रह्मसम्पत्तिश्चेति** । यद्यप्यत्रेतिशब्दपर्यन्तं ब्रह्मसम्पत्तिः सत्सम्पत्तिरिति लक्ष्यमुक्तम्, लक्षणवाक्ये परं ज्योतिः कर्म, ज्योतिर्जीव उपसम्पद्य, उपेत्यनर्थकम् । **स्वेन** चिन्मात्रेण **रूपेण** । **सम्परिष्वक्तः** सायुज्यमैक्यमिति लक्षणार्थ उक्त इति वक्तुं शक्यम्, तथापि तस्य ज्ञानमार्गीयत्वादुपोपसर्गत्वा'दुत्तमः पुरुषः' इति पदाभ्यां च 'परं ज्योति'रित्युपलक्षणं सदनन्तानन्दयोः । यथा 'सत्यं परं धीमही'त्यत्र *चिदनन्तानन्दयोरुपलक्षकं सत्यपदम्* । *उप समीपे सम्पद्य सालोक्यादिमुक्तीनामे-*

'न स पुनरावर्तत' इति श्रुतिः प्रपञ्चे पुनरावृत्तिं निषेधति, न तु तदतीतेपीति ज्ञेयम् । समाप्तिज्ञापनायावृत्तिः ।

अथवा । श्रुतौ तदवस्थावधृतेर्हेतोरस्माकमपि तदवस्थावधृतिर्यतोऽतः फलानियमनिश्चयोपीत्यर्थः । एवं सति मुक्तिपर्यन्तं साधनं भगवद्भाव इति निर्णयः सम्पन्नः ॥ ५१ ॥

इति तृतीयाध्याये चतुर्थपादे नवमं मुक्तिफलानियम इत्यधिकरणम् ॥ ९ ॥

इति श्रीवेदव्यासमतवर्तिश्रीवल्लभाचार्यविरचिते ब्रह्मसूत्राणुभाष्ये तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ३ ॥ ४ ॥

समाप्तोयं तृतीयोऽध्यायः ।

भाष्यप्रकाशः[1] ।

वृत्तिमापादयन्नुक्तां श्रुतिं विरुणद्धीति शङ्कायामाहुः **एवं सतीत्यादि**। श्रुतिद्वयस्याविरोधे कर्तव्ये सत्यनावृत्तिश्रुतिः प्रपञ्चे पुनरावृत्तिं निषेधति । उपकोसलब्राह्मणे 'एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्त' इति विशेषनिर्देशात् । न तु तदतीतेपि । एतेनैवावृत्तिनिषेधस्य सामान्यत्वनिवारणादिति ज्ञेयमित्यर्थः ।

सूत्रस्थपदावृत्तेः समाप्तिमात्रबोधकत्वेऽर्थवत्ता न स्यादित्यतः पक्षान्तरमाहुः **अथवेत्यादि** । **अत इति** । श्रुत्यन्तराविरोधात् । सिद्धमाहुः **एवमित्यादि** । **भगवद्भाव इति** सप्तमी । तथा च परप्राप्तौ भगवद्भावं एव परमा साधनकाष्ठेत्यत्र सिद्धमित्यर्थः ।

रश्मिः ।

कतमां सम्यक् प्राप्य **स्वेन रूपेण** तत्तन्मुक्त्युचितेन । **अभीति** । ञिभी भय इत्यादीनां प्रत्ययान्तानां तदुचितं रूपम् । उत्तमः पुरुषोत्र पुरुषोत्तमलीलाप्रवेशात् तत्तल्लीलारसानुभविता । अत्यनुग्रहवांश्चेत्, उत्तमश्चासौ पुरुषः पुरुषोत्तम इति पुरुषोत्तमपदं कर्मधारयसमासेन निष्पन्नम् । **सम्परिष्वक्तो** भेदघटित इति भक्तिमार्गीयः । इवार्थो भेद इत्युक्तम् । एकीभावो 'न स पुनरावर्तत' इत्यत्र, इयं दशा मुक्तावस्था नित्यस्वरूपा अनावृत्तिरूपत्वात् । लीलारसानुभवितृत्वरूपा च विरुद्धानेकीभावरूपत्वात् । **एकीभावेति** । पूर्वाधिकरणविषयवाक्योक्ता पुनरावृत्तचैतन्यैकीभावदशाविरुद्धा । **तदविरोधार्थमिति** । विरोधाभावायेति भाष्यविवरणम् । **श्रुत्योरिति** । 'तस्य तावदेव चिर'मित्यस्याः 'न स पुनरावर्तत' इत्यस्याश्च । **विशेषेति** विशेषभावः 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूप'मिति श्रुत्युक्तः 'तमसःपरस्ता'दित्युक्त्या पुरुषोत्तमः **श्रुतिद्वयस्येति** मानवमावर्तं नावर्तन्त इति श्रुत्युक्तनित्यलीलाया अपुनरावृत्तनित्यस्वरूपः औत्सर्गिकभावो अपुनरावृत्तनित्यस्वरूपः । पुनरावृत्तिर्मायिकानाम् । अमायिकानां पुरुषे विराजि दोधूयमानानां विशेषपदार्थवद् अपुनरावृत्तिः । **पुष्टाविति** अत्यनुग्रहसाध्यायाम् । **तदभाव इति** । वरणेन पुष्टिप्रवेशस्याभावे इत्यर्थः । **मुक्त्यवस्थेति** । पुष्टानामपि इत्यन्तभाष्यविवरणम् । **अनियम इत्युक्तमिति** । उभयोराश्रमयोः । इतरयोस्तदङ्गत्वात् । अत एवैकादशे सप्तदशाध्याये ब्रह्मचर्यगृहस्थाश्रमयोर्निरूपणम् । भिन्नेऽष्टादशाध्याये तुरीयवानप्रस्थाश्रमयोर्निरूपणम् । तस्य तावदेव चिरमित्यस्या न स पुनरित्यस्याश्च । **अनावृत्तिश्रुतिरिति** । 'इमं मानवमावर्त'मिति श्रुत्येकवाक्यताप्राप्ता । **एतेनेति** साधनेन । **तदतीत इति** मानवावर्तातीते जगद्व्यापारवर्जे, आत्मबोधोपनिषत्प्रसिद्धे, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं यत् ब्रह्मज्योतिः सनातन'मित्युपष्टब्धे । **एतेनेति** उक्तनिर्देशस्य सामान्यान्तर्गतत्वेन । आवृत्तिनिषेधो विषयवाक्येन तस्य, **सामान्य**-

भाष्यप्रकाशः ।

अन्ये तु 'ऐहिक'सूत्रे साधकस्यैतज्जन्मनि विद्योत्पत्तिरुत, जन्मान्तरे इति सन्देहे, मम जन्मान्तरे विद्या भवत्वित्यभिसन्ध्यभावादिभिरस्मिन्नेव जन्मनीति प्राप्ते, प्रतिबन्धकाभावस्य कारणतायाः सर्वत्र सिद्धत्वादत्र वा परत्र वा यदैव प्रतिबन्धककर्मादिनिवृत्तिः, तदैव तत्र विद्योत्पत्तिरिति सिद्धान्तयन्ति ।

'एवं मुक्तिफलानियम' इति सूत्रे तु यथा साधनवीर्यविशेषाद्विद्याया ऐहिकामुष्मिकत्वकृतो विशेषः, तथा विद्याफलभूताया मुक्तेरप्युत्कर्षापकर्षरूपो विशेषो भवेदित्येवं प्राप्ते । उच्यते । एवं मुक्तिरूपे विशेषनियमो नास्ति । कुतः । तदवस्थावधृतेः । सर्वेषु ब्रह्मरूपत्वावधारणात्, 'अस्थूलमनणु,' 'स एष नेति नेत्यात्मा', 'यत्र नान्यत् पश्यति' इत्यादिश्रुतिभ्यो ब्रह्मण एकलिङ्गत्वस्यैव सिद्धत्वादित्याहुः ।

तदस्मन्मते पूर्वकक्षारूपमिति लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणे निर्णीतम् । तदवगमिका विद्या च तत्रैव विश्रान्तेति निर्णीतं 'अक्षरधिया'मित्यधिकरणे । अतो नास्माभिस्तत्राधिकं किञ्चिद्विचार्यत इति बोध्यम् ॥ ५१ ॥

इति नवमं मुक्तिफलानियम इत्यधिकरणम् ॥ ९ ॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणनखचन्द्रनिरस्तहृदयध्वान्तस्य पुरुषोत्तमस्य कृतौ भाष्यप्रकाशे तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ३ ॥ ४ ॥

समाप्तस्तृतीयोऽध्यायः ।

रश्मिः ।

त्वस्य निर्धारणादिति पाठः । **सामान्यत्वेति** समानपदात् स्वार्थे ष्यञ् । **सूत्रस्थपदेति** । तदवस्थावधृतिपदस्यावृत्तिः **समाप्तीति** । व्यञ्जनया बोधकत्वे शक्त्यभावात् । अतः तदवस्थावधृतिपदस्यार्थवत्ता नेत्यर्थः । **अथवेत्यादीति** । श्रुतौ ज्ञानिनां तदवस्थावधृतेरस्माकं भक्तानामपि तदवस्थावधृतेः । यद्वा **श्रुतौ** प्रमाणभूतायाम् । **अस्माकं** प्रामाणिकानाम् । **श्रुत्यन्तरेति** । 'इमं मानवं आवर्तं नावर्तन्त' इति श्रुत्यन्तराविरोधात् । **भाष्ये फलानियम** इति । तुरीयाश्रम एवेति नियमो न । यद्वा गृहस्थस्यानुग्रहभाजः स सर्वस्य न लीलानुभवः, कस्यचिदेवात्यन्तानुग्रहेण पुष्टिप्रविष्टस्य । **अभिसन्धिः** सङ्कल्पः । **आदिनेच्छायत्नौ** । **भवेदिति** । तथा च मुक्तेरेकरसत्वभङ्ग इति भावः । **एकलिङ्गत्वस्येति** । विधिनिषेधयोर्निषेधलिङ्गत्वस्य निषेधो लिङ्गं हेतुः प्रमाणं यस्य तत्त्वस्य । आरोपापवादात् । **पूर्वकक्षेति** । 'अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वा' दित्यत्र स्फुटम् । **विद्येति** परा विद्या । 'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यत' इति मुण्डकात् ॥ ५१ ॥

इति नवमं मुक्तिफलानियम इत्यधिकरणम् ॥ ९ ॥

इति श्रीविट्ठलेश्वरैश्वर्यनिरस्तसमस्तान्तरायेण श्रीगोविन्दरायजित्पौत्रेण सम्पूर्णवेश्मा विट्ठलरायजिदात्मजश्रीयगोकुलोत्सवात्मजगोपेश्वरजिता कृते भाष्यप्रकाशस्य तृतीयाध्यायस्य रश्मौ तृतीयाध्यायस्य चतुर्थपादः सम्पूर्णतामगमत् ॥ ४ ॥

समाप्तस्तृतीयाध्यायः ॥ ३ ॥

---

१. एतावतो ग्रन्थस्य श्लोकानां संख्या ८८१७ अष्टसहस्राष्टशतसप्तदश । अध्यायत्रयस्य श्लोकसंख्या १४२४२ चतुर्दशसहस्रद्विशतद्विचत्वारिंशत् । श्रीहस्ताक्षरमूलग्रन्थे इदं श्रीगोपेश्वरैः स्वयमेव लिखितम् ।

❀

प्रास्ताविकम् ।

भाष्यप्रकाश–रश्मि–परिबृंहित–श्रीमदणुभाष्यस्य तृतीयाध्यायस्याद्यपादद्वयस्य प्राकट्यानन्तरं यत्किमपि समुपलब्धं तन्निवेदनमावश्यकम् । आंग्लभाषायां यद्यप्येतत् सविस्तरं निरूपितम्, तथापि तद्भाषानभिज्ञानां प्रमोदाय सङ्क्षेपेणात्रानूद्यते । श्रीमन्नाथद्वाराधीशश्रीमद्गोस्वामिकुलतिलकश्रीमद्गोवर्धनलालजिमहाराजचरणानां तत्सूनुलालबावाश्रीदामोदरलालचरणानां परमोदारानुग्रहेण श्रीमत्प्रभुचरणश्रीमद्विठ्ठलेश्वराणां निजश्रीहस्ताक्षरलिखितस्य श्रीमदणुभाष्यस्य चतुर्थाध्यायस्य तृतीयाध्यायस्य चतुर्थपादस्यान्तिमपत्रत्रयस्य 'अनुष्ठेय'मिति सूत्रस्य वर्णकान्तरस्य च दर्शनसौभाग्यं सम्प्राप्तम् । तद्भागस्य श्रीमदणुभाष्यस्य पाठादि तदाधारेणैव योजयिष्यते । श्रीमत्प्रभुचरणश्रीहस्ताक्षरप्रतिकृतिमपि यथावकाशं प्रकटीकरिष्यामः । एतेनाणुभाष्यस्यान्तिमसार्धाध्यायस्य प्रणेतृत्वं श्रीमत्प्रभुचरणानामेवेति तन्मूलपुस्तकदर्शनेन सुष्ठु निश्चीयते । श्रीमदणुभाष्यस्यायं विभागः श्रीमत्प्रभुचरणैः श्रीगोकुल एव तत्र निवासाङ्गीकृत्यनन्तरं प्रणीत इत्यपि निर्णीतमस्माभिरांग्लटिप्पणे । कारणानि च सविस्तरं तत्रैव दर्शितानि ।

भाष्यप्रकाशश्च श्रीमत्पुरुषोत्तमानां श्रीहस्ताक्षरलिखितान्तिमशोधयुक्तो 'गुजराती' मुद्रणालयाधिपतिसन्मान्य 'नटवरलाल इच्छाराम देसाइ' इत्यस्य सौहार्देन प्राप्तः । एतेन प्रकाशमुद्रणमपि विदुषां हृदये सन्तोषं जनयिष्यतीति । अत्राप्यधिकजिज्ञासुभिरन्यत्रास्मिन्नेव पुस्तके द्रष्टव्यमिति ।

एतत्पादभाष्यस्य पाठादियोजनेऽस्माभिः श्रीमत्प्रभुचरणपौत्राणां श्रीमद्गिरिधरपितृचरणानां श्रीकल्याणरायाणां पुस्तकस्योपयोगः कृतः । श्रीकङ्करपल्लीस्थश्रीमद्द्वारकाधीश्वरप्रभोर्मन्दिरस्थप्राचीनचित्रसङ्ग्रहात् श्रीमत्पुरुषोत्तमानां प्राचीनं चित्रं श्रीमन्मातृचरणश्रीमद्गोस्वामिनीश्रीसौन्दर्यवतीनां निःसीमानुग्रहेणोपलब्धम् । तत्तादृशमेव सम्पाद्य 'श्रेष्ठिवर-वैष्णव-लालजीभाई' इत्येतेषां सम्मत्यात्र निवेशितमिति ।

श्रीपुरुषोत्तमचरणानां गुरुश्रीकृष्णचन्द्रचरणानामेतद्भाष्यविभागविवरणमस्माभिस्तन्मूलपुस्तकाधारेण संशोध्य परिशिष्टे निवेशितम् । एतन्मूलपुस्तकमस्माभिः 'परलोकनिवासित्रिपाठिमनःसुखरामसूनुविद्वद्वरतनसुखरामभाई'सकाशात् सम्प्राप्तम् । एतदखिलं विवरणं ग्रन्थप्रणेतॄणां श्रीहस्ताक्षरेष्वेव लिखितमिति तद्दर्शनेनास्माकं स्फुरति । एतदखिलं विवरणं श्रीपुरुषोत्तमैर्निजकृतौ प्रायः समग्रमेव समावेशितं दृश्यते । एते श्रीकृष्णचन्द्राः श्रीमत्प्रभुचरणानां तृतीयलालश्रीबालकृष्णानां द्वितीयसुतश्रीव्रजनाथानां सूनवः संवत् १६५५ श्रावण-कृष्ण-सप्तम्यां प्रादुर्भूताः । निखिलोपलब्धब्रह्मसूत्रभाष्यसमीक्षापूर्वकमणुभाष्यमर्मोद्घाटनपद्धतिर्यास्माभिर्भाष्यप्रकाशे दृश्यते, सा पद्धतिः श्रीपुरुषोत्तमैः श्रीकृष्णचन्द्राणामेव प्रेरणया कृपया चोपलब्धेति प्रतिभाति । तृतीयाध्यायस्य तृतीयपादभाष्यप्रकाशस्यात्र मुद्रितपरिशिष्टेन सम्वादनेनास्मदभिप्रायः स्फुटिष्यतीति । साम्प्रदायिकविद्वत्सु प्रार्थनीयमिदं यच्छास्त्ररीत्या श्रीमदणुभाष्यस्यावगाहनं भवतामभीष्टं चेत्, एतेषां श्रीकृष्णचन्द्राणां श्रीमदणुभाष्यस्य प्राचीनतमैतद्विवरणस्यान्वेषणं कर्तव्यमिति । सम्प्रदाये तेषां तच्छिष्यश्रीपुरुषोत्तमानां च वंशस्योत्सन्नत्वात् नामावशेषा एव ते जाता इति विचिन्त्य चेतो दुनोत्यस्माकम् । कस्मिन् वर्षे तेषां प्रादुर्भावो जात इत्यपि सम्प्रदायवंशवृक्षे प्रायो न दृश्यते । निर्भयरामः सम्प्रदायकल्पद्रुमे 'इमे शास्त्रवित्तमा' इति वर्णयति । 'भद्रपुरनिवासिवैष्णवश्रेष्ठिवर-दि-ब-गोविन्ददास'सकाशादुपलब्धात् प्राचीनपुस्तकात्तस्तज्जन्मसमयोऽस्माभिर्ज्ञातः । एतेषां गोस्वामिनां पण्डितमुकुटमणीनामैतिह्यं सम्प्रदायगौरवमभिलषद्भिरवश्यमन्वेषणीयमिति विज्ञप्तिः ।

श्रीमदाचार्यश्रीमद्वल्लभाधीश्वर-
प्राकट्यमहोत्सवः ।
चैत्र–कृष्ण–११–१९८३ ।

मूलचन्द्र तेलीवाला ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

परिशिष्टम् ।

गुणोपसंहारपादभाष्यविवरणम् ।

सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् ॥ १ ॥ तृतीयपादं व्याचिख्यासवः सङ्गतिबोधनाय पूर्वपादार्थमनुवदन्तः प्रस्तूयमानार्थमाहुः **पूर्वपादेत्यादि** । **विचार्यन्त** इति । धर्माः सर्वे सर्वत्र सन्ति, क्वचिदेव वा केचन सन्ति, केचन न सन्ति, सर्वत्रैव न सन्त्यौपाधिका वा सन्तीति सन्देहे विचार्यन्त इत्यर्थः । नन्वत्र सर्वैरेकदेशिभिर्विद्याभेदाभेदविचार एवाद्रियते, तत्कुतो धर्मा विचार्यन्त इत्युच्यत इति चेत् । उच्यते । आचार्यस्य ब्रह्मनिरूपणार्थमेव मुख्यतया प्रवृत्तत्वेन ब्रह्मशेषतयैव विद्याविचारस्यौचित्यात्पूर्वपादसङ्गतिसौकर्यात् पक्षवाचकविज्ञानोपासनादिपदाध्याहारापेक्षया पूर्वपादान्तपरामृष्टब्रह्मानुषङ्गस्यैव ज्यायस्त्वात्सर्ववेदान्तप्रत्ययमित्येकवचनस्यापि स्वारस्यात् विद्याविचारादर्तृभिरपि तद्भेदाभेदयोर्विषयभेदाभेदाभ्यामेव समर्थनेन तद्विचारस्यापि विषयविचारैकशरणत्वेन तत्सिद्धान्तितविद्यैक्यस्यैवमपि सिद्धेश्चेति बुध्यस्व । ननु सिद्धे विग्रहे धर्माः सिद्धप्राया एवेति पुनः किमिति विचार्यन्त इत्यत आहुः **ते चेदित्यादि भिन्ना इत्यन्तम्** । अतो विचार्यन्त इत्यर्थः । एवं सङ्गतिं प्रदर्श्य मतान्तरोक्तविषयस्यापि प्रस्तुतरीतिकविचारेण निर्णयसिद्धिबोधनाय तत्साधारणं विषयद्वयं पूर्वमाहुः **यथेत्यादि** । एतदाद्युदाहरणानां विभूतिविषयकत्वाद्विचारस्यैतादृग्विषयमात्रपरताव्यावर्तनायोदाहरणान्तरमाहुः **अपरं चेत्यादि** । एवं विषयं निर्दिश्य पूर्वपक्षाकारं विवेक्तुं पूर्वं मतान्तरीयाकारं वदन्तस्तेनाशङ्कान्तरमुत्थापयन्ति **तथा चेत्यादि** । अत्र दृष्टान्तोदाहरणं त्वामिक्षाधिकरणम् । तत्र हि 'तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिन'वाक्ये तप्तदुग्धनिष्पन्नघनविरलद्रव्यद्वयरूपक एको यागो यागद्वयं वेति सन्देहे, द्रव्यदेवताविशिष्टयागान्तरविधौ गौरवप्रसङ्गादपूर्वान्तरकल्पनाप्रसङ्गाच्च न यागद्वयविधिः, किन्तु पूर्वस्मिन्नेव यागे वाजिनं गुणो विधीयते, वाजिभ्य इत्यनेन च वाजोऽन्नमामिक्षा तद्येषामस्तीति व्युत्पत्त्या पूर्वोक्ता विश्वेदेवा एवोपलक्ष्यन्त इति पूर्वपक्षः, तत्रोत्पत्तिशिष्टामिक्षाद्रव्यावरुद्धे याग उत्पन्नशिष्टं वाजिनं गुणत्वेन प्रवेशं न लभते निर्बलत्वात्, ततश्च तत् द्रव्यं स्वसम्बन्धियागं पूर्वस्माद्भिनत्ति, वाजिपदं चाश्वे रूढत्वान्न योगेन विश्वान् देवानुपलक्षयिष्यति, तथा सति विध्यपूर्वान्तरकल्पनयोः प्रामाणिकत्वात्तत्कृतं गौरवं न दोषायेति द्रव्यदेवताभेदाद्यागभेद इति स्थितम् । तथा प्रकृते पञ्चाक्षरः षडक्षर इत्यादि । श्रीकृष्णः श्रीरामो नृकेसरीत्यादीतरपरिच्छेदकरूपभेदाद्वेद्यभेदः । किंच यथा कारीरीवाक्यान्यधीयानास्तैत्तिरीया भूमौ भोजनमाचरन्ति नेतर इति धर्मभेदः, तथात्र शिरोव्रतमाथर्वणिकानामेव नेतरेषामिति धर्मभेदः । विभूतिभेदश्च क्वचिद्रामस्वरूपं विभूतिमध्ये गण्यत इतरत्र वासुदेवस्वरूपम्, एवं मुरलीधरत्वं धनुर्धरत्वं चेति धर्माणामावापोद्वापौ । किञ्च दृष्टादृष्टफलभेदोपि । यथा राममन्त्राणां सर्वकामदत्वं मोक्षः । श्रीकृष्णस्मरणस्य भगवद्विषयककामजननं तन्मन्त्रस्यानायासतो भगवत्पदप्राप्तिरिति, रूपभेदेन धर्मभेदेन फलसंयोगभेदेन च वेद्यभेदप्राप्तौ दोषान्तरमापतितम्, तेन मतान्तरोक्त-

---

१. इदमखिलं विवरणं श्रीपुरुषोत्तमचरणैः स्वकृतप्रकाशे प्रायः शब्दश उद्धृत्य समावेशितम् । श्रीपुरुषोत्तमगुरुभिः श्रीमद्गोस्वामिश्रीकृष्णचन्द्रचरणानामियं कृतिरित्यस्मत्प्रत्ययः ।

पूर्वपक्षसमाधानाभ्यां धर्मभेदापादितदोषो नापैतीति कश्चिदधिक आकारो वक्तव्य इत्यर्थः । अत्रोपासनाविषयाणामब्रह्मत्वं सिद्धान्तत्वेनाभिमन्यमानः कश्चिदेकदेशी पूर्वोक्ताशङ्कामप्रयोजकां मनसि कृत्वा चोदयति **नन्वित्यादि** । तद्दूषयन्ति **मैवमित्यादि** । **समन्वयविरोधापत्तेरिति** । आचार्येण हि समन्वयः श्रुतीनां ब्रह्मनिरूपकत्वेन प्रतिपादितः, न तु तासामौपाधिकनिरूपकत्वेनातस्तथेत्यर्थः । अथ ग्रहिलतया तथैव प्रतिपादित इत्युक्तौ युक्त्यन्तरमाहुः **तासामित्यादि** । ननु तासां यथाकथंचिद्ब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थत्वान्न हानिरित्यत आहुः **श्रुतेरित्यादि** । अन्यथा सतोऽन्यथा कथनात्तथेत्यर्थः । अथ विषभोजनवद्वदतीति न प्रतारकत्वमित्यत एतन्न्यायस्याप्रवृत्तिं सूचयन्ति **अपरं चेत्यादि** । **तत्तदुपासनामिति** । अन्यथा ज्ञानरूपामित्यर्थः । तथा च न विषभोजनवदेषोक्तिरिति भावः । एतद्दार्ढ्याय युक्त्यन्तरमाहुः **स्पष्टेत्यादि** । तथा च यदि त्वदुक्तं व्यासोऽभिप्रेयात्, स्पष्टार्थानि रामादिपदान्यपि देवतावाचकानि ब्रह्मवाचकानि वेति सन्दिह्य तन्निर्णयमपि कुर्यादतस्तदभावान्न तथेत्यर्थः । एवमेकदेशिमतं निरस्य सर्वासां ब्रह्मनिरूपकत्वमेव व्यासाभिप्रेतमित्याशयेन सिद्धं पूर्वपक्षस्वरूपमाहुः **एवं च सतीत्यादि** । सर्वासां ब्रह्मनिरूपकत्वे सति धर्मभेदकृतधर्मिभेदाद्ब्रह्मानेकत्वापत्त्या 'नेह नानास्ती'त्यादिश्रुतिविरोधस्तासामौपाधिकपरत्वे बहूनां वाक्यानां ब्रह्मविद्यात्वहानिरित्ययमेव पूर्वपक्षाकार इत्यर्थः । अत्र सूत्रावयवमुपन्यस्य समादधते **अभिधीयत इत्यादि** । ननु नायं प्रतिज्ञार्थः । तथाहि । पूर्वकाण्डे यज्ञस्यानन्तरूपनिरूपणं यथा भगवन्मूर्तित्वसिद्ध्यर्थम्, तथा ब्रह्मनिरूपणाय प्रवृत्ते उत्तरकाण्डेऽनेकरूपनिरूपणप्रयोजनालाभाद्यथाकथंचित्प्रतिपत्त्यर्थत्वस्य सिद्धान्तिनानङ्गीकारादनन्तरूपश्रुतेरसङ्कुचितवृत्तित्वेन निरूपणस्याशक्यत्वाच्चेत्याशङ्कायामाहुः **ब्रह्मण इत्यादि** । तथा च 'फलमत उपपत्ते'रित्यत्र ब्रह्मणः फलदातृत्वस्य निश्चितत्वात्तत्तत्फलसाधकोपासनार्थं तत्तन्निरूपणमित्ययमेव प्रतिज्ञार्थ इत्यर्थः । ननूपासनार्थमेकमनेकरूपेण निरूप्यत इति कथमवगन्तव्यमित्यत आहुः **तत्र हेतुरिति** । तथाच सूत्रोक्तहेतोरवगन्तव्यमित्यर्थः । कथमित्याकाङ्क्षायां तमनूद्य विवृण्वन्ति **चोदनेत्यादि** । तथा च ब्रह्मत्वेनोपासनाविधानात्तथावसीयते, तेन यथाग्निहोत्रे द्रव्यभेदे उपांशुयाजे देवताभेदेपि एकदेशस्यैव भेदान्न यागभेदस्तथात्रापि किंचिद्रूपधर्मभेदान्न वेद्यभूतब्रह्मभेद इत्येवमित्यर्थः । ननु शाखान्तराधिकरणे केवलानां रूपादीनां व्यभिचारित्वं हृदिकृत्य 'एकं वा संयोगरूपचोदनाऽख्याऽविशेषा'दिति सूत्रेण संयोगादिहेतुचतुष्कसमुदायं हेतूकृत्याभेदः साधित इति प्रकृत एकेन हेतुना कथं सिद्धिरित्यत आहुः **आदीत्यादि** । तथा चात्रापि संयोगरूपचोदनात्मकहेतुत्रयसत्त्वादेकदेशरीतिकोदाहरणे आख्या अपि सत्त्वेनोक्तचतुष्कस्यापि सत्त्वान्न दोष इत्यर्थः । ब्रह्म सर्ववेदान्तप्रत्ययमेकं चोदनाद्यविशेषात्, यत्र चोदनाद्यविशेषस्तत्र प्रतिपाद्याभेदः । सर्वशाखाप्रत्ययज्योतिष्टोमवदित्यनुमानमत्र सिद्धम् ।

तत्र दोषमाशङ्क्य सूत्रकारः समाधत्ते इत्याशयेन सूत्रं पठन्ति **भेदादित्यादि** । **उक्तहेत्वसिद्धिमिति** । धर्मभेदकृतमिथोभेदादिपदसंगृहीतरूपाभेदस्य पक्षे ब्रह्मण्यभावेन चोदनाद्यविशेषादित्यस्य हेतोः स्वरूपासिद्धिमित्यर्थः । **तथा च ब्रह्मधर्मस्येत्यादि**, यथा षोडशिग्रहणाग्रहणयोः स्वरूपभेदेप्यतिरात्रधर्मत्वेनाभेदस्तथा तत्तद्धर्मवैशिष्ट्यावैशिष्ट्ययोर्ब्रह्मधर्मत्वेन तथात्वात् त्वदुक्तहेतोरेव स्वरूपासिद्धिरित्यर्थः, भेदेन हेतुना सिद्धान्तहेतुं दूषयता त्वया प्रतिवाक्यं प्रतिपाद्यं ब्रह्म भिन्नं धर्मभेदाद्यत्र धर्मभेदस्तत्र प्रतिपाद्यभेद आमिक्षावाजिनयागवदित्यनुमानं लक्षितम् । तत्र त्वदुक्तहेतोरतिरात्रदृष्टान्तेन व्याप्यत्वासिद्धिरित्यपि बोध्यम् । नन्वेवं ब्रह्मैक्यमत्राचार्यः किमित्याग्रहेण निरूपयतीत्याकाङ्क्षायामुपसंहारसूत्रविचारेण तदाशयमाहुः ***एवं सतीत्यादि*** । *तत्रेति, न्यूनगुणके रूपे* । ***उचित इति,***

कर्मणि द्वयोरेकदा कर्तुमशक्यत्वात्पर्यायभेदेन विकल्पस्यापि प्रसक्तिः, प्रकृते तु तदपि नेत्यत उचित इत्यर्थः । नन्विदं सूत्रकारेण नोक्तमित्याशङ्कायामाहुः **इति भाव इति** । पूर्वसूत्रोक्तहेतोरत्र शोधनादग्रे कथनाच्च तथाशयो लभ्यत इत्यर्थः । उपसंहारपदार्थश्च सामान्यतः प्रसक्तस्य विशेषे नियमनमित्यग्रिमसूत्रे स्फुटीभविष्यति । तच्चात्र तेषां तेषां गुणानां तत्रतत्र सत्त्वेन ज्ञानरूपमित्यग्रे वाच्यं 'न वा विशेषादि'ति सूत्रे । नन्वेवं सति यत्र ब्रह्मत्वेनोपासनं विधीयते तत्र तद्वाक्यनिर्णयो भवति, यत्र पुनर्ब्रह्मत्वेनोपासनं न विधीयते यथा प्राणसंवादे पञ्चाग्निविद्यायां च, तत्र ब्रह्मत्वेनोपासनाभावेनैक्याभावात्कथं निर्णय इत्याशङ्कायां तत्रापि न्यायस्यास्य तौल्यादेतेनैव निर्णय इति हृदिकृत्य कंचिद्विशेषमाहुः **अत्रेत्यादि** । **ओमित्येतदक्षरमिति**, ॐकाराक्षरमित्यर्थः । तथा च **विभूत्युपासनान्या**यस्तत्रापि बोध्य इत्यर्थः । अत्राचार्येणोपासनामात्रनिर्णयो न क्रियतेपि तु साधनमात्रस्य, तथा सति भक्तिमार्गस्यापि व्यवस्था वक्तव्यैवेत्याशयेनाहुः **भक्तीत्यादि** । **अग्र इति**, 'न वा प्रकरणभेदा'दिति सूत्रे । ननु भक्तेरप्रस्तुतत्वात्तद्व्यवस्थाकथनमनुपपन्नमिति चेत् । न । उपासनाया अपि तथात्वात् । न च तस्याः श्रौतत्वादस्ति प्रस्ताव इति वाच्यम् । तुल्यत्वात् । **गोपालतापनीये इति** 'सकलं परब्रह्मैतद्यो ध्यायति रसति भजति सोऽमृतो भवती'ति ध्यानाद्भिन्नतया तस्या अपि विधानात् । 'भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधिनैराश्येनैवामुष्मिन् मनःकल्पनमेतदेव च नैष्कर्म्य'मिति लक्षणभेदाच्च । न च यच्छब्दोपबन्धादयमनुवाद एव न विधिरिति वाच्यम् । 'यदाग्नेयोऽष्टाकपाल' इत्यादिवददोषात् । न च कर्तृसामानाधिकरण्यान्नेदं साम्प्रतमिति वाच्यम् । तथापि समासौ 'कृष्ण एव परो देवस्तं ध्यायेत्तं रसेत्तं भजे'दिति दर्शनेनादोषात् एकस्मिन्नेव प्रकरणे सृष्टिकर्तृत्वादिना माहात्म्यस्य आत्मत्वेन निरुपाधिप्रियत्वस्य च बोधनात् श्रुतीनां भक्तावेव तात्पर्यावसायाच्च । नन्वत्र विहितभक्तिमार्गीया व्यवस्था वाच्या अविहितभक्तिमार्गीया वेति चेत् । उभयोरपीति ब्रूमः । किं मानमिति चेत् । श्रीभागवते श्रीनन्दादीनां फलकथनात्तद्बलेनाविहितभक्तेरपि प्रामाणिकत्वसिद्धौ तद्व्यवस्थाया अपि मन्दमध्यमयोरर्थे आवश्यकत्वात् । अतो नात्र चोद्यावसर इति दिक् ॥

ननु सूत्रकारेणेदं कुत्रोक्तमिति चेत् । अग्रिमसूत्रेऽधिकारस्य नियामकत्वं वदता सूचितमिति जानीहि ।

अग्रिमसूत्रमवतारयन्ति **नन्वित्यादि** । तथा च शिष्टाचारविरोधात्पूर्वत्र साधितोपासनाद्यैक्यचिन्तावैयर्थ्ये प्राप्ते प्रतिवदतीत्यर्थः । सूत्रस्थस्य तथात्वेनेत्यस्यार्थमाहुः **स एकमित्यादि बोधयतीत्यन्तम्** । यत एवं बोधयत्यतो हेतोः स्वाध्यायस्य वेदस्य तथात्वेन नानास्वरूपैककर्मबोधकत्वेनेत्यर्थः । तत्प्रयुक्त इति नियमविशेषणम् । तथा च बोधनप्रकारमर्यादाबलात्तावत्कर्मकरणनियम इत्यर्थः । अत्र बीजमाहुः **तावद्भिरित्यादि** । स्वाध्यायस्य तथात्वेनेत्यस्य हेतोर्यज्ञानां भगवन्मूर्तितासाधकत्वेन चारितार्थ्यादनेन हेतुना दोषापरिहारं मन्वानः सूत्रकृद्धेत्वन्तराणि समुच्चिनोतीत्याशयेनाहुः **नन्वित्यादि** । उक्तहेतुप्रयुक्ते नियमे शिष्टाचारबीजभूतां सम्मतिमाहुः **अत एवेत्यादि** । अत एव, तत्तच्छाखावाक्यतत्तदधिकारन्यूनाधिकप्रायश्चित्तानां नियामकत्वादेव । **परशाखोक्तमिति**, यथा 'कुक्कुटोसीत्यश्मानमादत्ते कुटरुरसीति वे'त्यश्मादानमन्त्रो येषां कल्पे विकल्पितस्तैरेव तत्र पठ्यते, नेतरैः । विकल्पे तूभयस्याशाखार्थत्वमिति, यत्कल्प एवं विनियोगविधिर्नास्ति तेषां तादृशस्थले इच्छया करणे धर्माभासपरधर्मत्वापत्त्या तथेत्यर्थः । **अतोपीति**, कल्पोक्तनियमबलादपि । **नियम्यन्त इति**, लिङ्गान्नियम्यन्ते । एवं सूत्रं व्याख्याय उपासनाया अपि समाचारत्वेन सङ्ग्रहात्तमेव नियमं तत्राप्याहुः *प्रकृतेपीत्यादि । तथा सतीति, तद्बोधकप्रमाणमननुरुध्य* रूपान्तरासाधारणधर्मोपसंहारेङ्गीकृते

सति । तथा चैवं भावने सवदृष्टान्तबोधिता लिङ्गस्य नियामकता भज्येतातस्तथा न भावनीयमित्यर्थः अत्र वादी लैङ्गिकनियमस्याप्रयोजकत्वं शङ्कते **नन्वित्यादि** । तत्र समादधते **सत्यमित्यादि** । **तत्रेति**, आक्षेपे । **कार्येति**, मूलरूपोपासकेन कार्या । **इति ज्ञेयं परमिति** । मत्स्येवताराणामेव तत्त्वविधानदर्शनात्तथेत्यर्थः । ननु श्रुत्या त्वेतावद्बोध्यत इति सत्यम्, तथापि मूलरूपत्वाविशेषस्योपसंहारहेतोर्विद्यमानत्वादुपसंहारे किं बाधकमित्यत आहुः **तत्रेत्यादि** । **उक्तमेवेति** । लैङ्गिकनियमरूपं यत्कर्मण्युक्तं तदेव, अन्यथा तत्राप्यतिप्रसङ्गः स्यादिति भावः । ननु पूर्वसूत्रोक्तहेतुना सर्वत्र सर्वगुणोपसंहारप्राप्तौ समाचारसूत्रे निरूपणप्रकारभेदाधिकारभेदप्रायश्चित्तश्रवणासाधारणलिङ्गानां नियामकत्वमादृतम्, तेन तत्तच्छाखिभिस्तत्तदधिकारिभिस्तत्तल्लिङ्गनियताः स्वाधिकारानुसारेण स्वशाखोक्ता गुणा भावनीया इति सिद्धम् । तथा सति प्राणाद्युपासनायां शाखान्तरोक्तगुणोपसंहारो न स्यादित्यत आहुः **प्राणादीत्यादि** । न च निरूपणप्रकारभेदरूपं बाधकं दृश्यत एवेति वाच्यम्, तस्य मन्दमत्यनुग्रहार्थत्वेन बाधकत्वाभावात् । शाखाविभागात् पूर्वमिच्छयैवाधिकारमनुसृत्यर्षिभिः करणात् । आचार्येण मन्दमतेस्तावतैव फलसिद्धिबोधनार्थमेव तदुपन्यासात् । हेत्वन्तरकथनेन तथानिश्चयात् । तेनैकशाखाध्येतुस्तावतैव सिद्धिर्द्विव्याद्यध्येतुस्तूपसंहारेणोपासनापौष्कल्यात्फलशैघ्र्यमिति फलति, तदेतदभिसन्धायोक्तं **न किंचिद्बाधकमिति** । लैङ्गिकनियमसमर्थनाय मत्स्यकूर्मादिरूपेणायमेव सर्वकर्म कृतवानिति यदुक्तं तत्र चोदयति **नन्वित्यादि** । तत्र समादधते **नैवमित्यादि** । धर्मिग्राहकमानतः सिद्धिं दृष्टान्तेनोपपादयन्ति **यथेत्यादि** । नियतपदार्थवादिमते भावभिन्नस्य निषेधमुखप्रतीतिगोचरस्यैकस्यैव पदार्थस्य तादृशप्रतीतिबलेन तावद्रूपत्वं स्वीक्रियते, न तु निरूपकभेदमादाय स्वरूपनानात्वम्, तद्वदत्र ब्रह्मण औपनिषदत्वात्तद्वाक्यबलेन तथेत्यर्थः । एवमुपपत्तिपरिहाराय श्रुतिरूपप्रमाणेन भगवतोनन्तरूपत्वं साधितम् । अतः परं श्रुतार्थापत्तिश्रुतिभ्यामनन्तधर्मवत्त्वं साधयितुं पूर्वं श्रुतितात्पर्यमनूद्य वादिनमनुयुञ्जन्ति **अपरं चेत्यादि** । तदाशयमनूद्य दूषयन्ति **उपेत्यादि** । **वदाम** इति, तवानिष्टापत्तिं वदामः । **न वदेदिति** ग्रहणकोक्तमवदनं व्याकुर्वन्ति **तथाहीत्यादि** । **तस्येति**, ब्रह्मज्ञानस्य । एकजातीयत्वे हेतुः । **घटवत्स्वेत्यादि** । **निरूपयेदिति**, ब्रह्मविज्ञानफलं निरूपयेत् । **अपि वा वदेदिति**, अशेषगुणज्ञानाभावे फलाभावापत्त्या वदेदित्यर्थः । आशयान्तरमनुवदन्ति । **न चेत्यादि** । उपासनानाममात्रोक्तौ प्रकाराज्ञानादुपासनाया असिद्धेस्तथेत्यर्थः । तद्दूषयन्ति **परेत्यादि** । तथा चैवमाशयकल्पनपक्षे प्रकारोक्तिवैयर्थ्यं तदवस्थमित्यर्थः । तर्हि कस्तदाशय इत्याकाङ्क्षायां मन्दाधिकारिणामपि तावतैव फलसिद्ध्यर्थं वदतीत्याशयं हृदिकृत्य तेन विवक्षितं साधयन्ति **तस्मादित्यादि** । **तस्मादिति**, त्वदुक्ताशयस्यानुपपन्नत्वात्, **एतेनेति**, उक्तार्थापत्त्याधिकारव्यवस्थापनेन । उक्तोपष्टम्भाय श्रुतिमुपन्यस्यन्ति **तदुक्तमित्यादि** । स्वाभाविकीति विशेषणतात्पर्यकथनेनैकदेशिमते निरस्ते अनन्तधर्मवत्त्वं ब्रह्मणि वास्तवमिति सिद्धम् । तथा सति यस्य रूपस्य ये असाधारणा धर्मास्ते तस्मिन्नेव रूपे नियता इत्याक्षेपलभ्यत्वाभावान्नान्यत्रोपसंहर्तुं शक्या इत्यर्थः । एवं लैङ्गिकनियमं समर्थयित्वा स्वोक्तसूत्रव्याख्यानं दृढीकर्तुं मतान्तरीयमेतत्सूत्रव्याख्यानमप्यसमञ्जसमिति बोधनाय तमनुवदन्ति **केचिदित्यादि** । अयं मतान्तरग्रन्थः शाखान्तराधिकरणस्थस्य 'विद्यायां धर्मशास्त्र'मिति सूत्रीयशाबरभाष्यस्य छायामनुसरति, तत्र हि 'कारीरीवाक्यान्यधीयानास्तैत्तिरीया भूमौ भोजनमाचरन्ति नेतरे, तथैकेऽग्निमधीयाना उपाध्यायस्योदकुम्भमाहरन्ति नेतरे, तथैकेश्वमेधमधीयाना अश्वस्य घासमाहरन्ति नेतर' इति धर्मभेदात्कर्मभेद आशङ्किते, **विद्यायां धर्मशास्त्रमिति** सूत्रेण विद्या वेदनमध्ययनमिति यावत्, तस्यायं धर्मो, न तु कर्मण स्तेनान्यधर्मस्यान्याभेदकत्वात्कर्मभेदः परिहृत इति स्थितम् । तेन प्रामाणिकः, परन्तु **सूत्रकाराशयविरुद्ध इति** बोधनाय दूषयन्ति **स चिन्त्यत** इत्यादिना । चिन्ताहेतुमाहुः **न हीत्यादि** । हि यतो हेतोः । अस्य शिरोव्रतस्य विद्याधर्मत्वं विद्याभेदकं न भवति, उक्तन्यायेन चोदनाद्यविशेषरूपेणान्यत्रापि तथात्वेन सर्वविद्याधर्मत्वस्य सिद्ध्या तदभेदकत्वात्, तथा चास्य भेदकत्वमापाद्य ततोन्यधर्मसाधनेन तदसाधकत्वं काकदन्तविचारन्यायमनुसरतीत्युपेक्ष्य इत्यर्थः । इवपदं प्रकारस्य प्रामाणिकत्वबोधनार्थम् । प्रामाणिकत्वेनोपेक्ष्यत्वमसहमानश्चोदयति **नन्वित्यादि** । तत्रोपेक्ष्यत्वे बीजभूतामनुपपत्तिं बोधयन्ति **सूत्रस्येत्यादि** । **तत्तात्पर्यकल्पनेति**, शिरोव्रतोपदेशतात्पर्यकल्पना । ननु मुख्यार्थबाधः फलमुखो न दोषायेत्यतो दूषणान्तरमाहुः **किञ्चेत्यादि** । तथा च भवता हि विद्यैकत्वसाधकत्वेनेदं सूत्रं व्याख्यातम्, तथा सति शिरोव्रतस्य प्रकृतग्रन्थविशेषसंयोगेनासङ्कीर्णत्वेपि पूर्वसूत्रोक्तहेतोर्दृढत्वे सम्पन्ने 'तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेते'त्यत्र यथैतच्छब्दस्तथा सर्वत्र धर्मकथन एतच्छब्दादर्शनेन तद्धर्मोपसंहारस्य प्राप्तावसरत्वादुक्ताशङ्काया अनिवृत्तिस्तस्मादस्य सूत्रस्योक्तरीत्योपसंहारनियमबोधकतयैव व्याख्यानमुचितम्, एवं च नियमविशेषस्यैवोपसंहारपदार्थत्वात्तल्लक्षणस्यापि सौत्रत्वसिद्धिरिति गुणोपि । तस्मान्मतान्तरीयव्याख्यानमुपेक्ष्यमेवेत्यर्थः ।

एवं मतान्तरनिरासेनैतत्सूत्रार्थं निष्कृष्य पुनः सिंहावलोकनेन स्थूणाखननवत्पूर्वसूत्रार्थं दृढीकर्तुं चिन्तान्तरमारभन्ते **नन्वित्यादि** । **पूर्वोक्तरीत्येति**, अनन्तरूपत्वसमर्थनरीत्या । शेषग्रन्थस्तु निगदव्याख्यातः । तथा च निर्धारासम्भवे धर्माणां मायिकत्वमेव शरणीकरणीयम् । तथा सति स्वरूपपराणामेतच्चिन्ताया अनुपयोगात्पूर्वोक्तशङ्काया अनिवृत्तावप्यदोष इति मतान्तरीयव्याख्यानं साध्वेवेति भावः । तत्र तन्निर्धारणचिन्तासार्थक्याय समादधते **अभिधीयत** इति । तत्र पूर्वं निरवयवत्वेपि यथावतारेष्वंशत्वं प्रकारं बोधयितुं रामानुजादिमतस्याप्येकदेशत्वं बोधयन्तोंशं च प्रयोजकं वदन्ति **सत्त्वमित्यादि** । अत्र वाक्ये सत्त्वविशेषणाभ्यां प्रियापदविशुद्धपदाभ्यां सत्त्वस्य प्राकृतत्वं व्यावर्त्यते । 'मां भजन्ति गुणाः सर्वे निर्गुणं निरपेक्षक'मिति, 'विलज्जमानया यस्य स्थातुमीक्षापथेऽमुये'ति वाक्याभ्यां तस्या गुणानामप्रियत्वेन तस्या अविशुद्धत्वेन च बोधनाय तद्गुणस्य सत्त्वस्य प्रियत्वशुद्धत्वयोरशक्यवचनात् । न चाप्रसिद्ध्या नैवमिति शक्यम्, 'सत्त्वं रजस्तम इति निर्गुणस्य गुणास्त्रय' इति द्वितीयस्कन्धे त्रयाणां भगवद्गुणत्वोक्तेस्तत्र तेषां सिद्धत्वात् । 'कार्पासे न हि सूत्रं तदेव पुनः पौर्वापर्यमापद्यमानं सूत्रतामापद्यत इति भगवान्निर्गुणस्ते गुणा' इति तत्र विवरणात्तदेतदुक्तं **भगवद्धर्मरूप एव कश्चनास्तीति** । एतमेव रामानुजमते शुद्धसत्त्वं नाम रजस्तमोमिश्रप्राकृतसत्त्वविलक्षणसत्त्वगुणाश्रयो द्रव्यविशेष इत्याहुः '**स्वसत्तामासकं द्रव्यं** त्रिगुणात्तद्विलक्षण'मिति प्रमाणं चाहुः । सिद्धान्ते तु प्राकृतानामिव तस्यापि द्रव्यत्वस्याविरुद्धत्वात्तत्रैव विश्राम्यत इति विशेषः । एवं प्रयोजकमुक्त्वा तेन सिद्धमंशस्वरूपमाहुः **यादृशेनेत्यादि** । अतो निरवयवत्वांशत्वबोधकप्रमाणयोर्न विरोध इत्यर्थः । अतः परं श्रैष्ठ्यबोधनाय मूलस्वरूपं विवृण्वन्ति **यत्राधिष्ठानेत्यादि** । प्रादुर्भूतस्य पूर्णत्वे गमकमाहुः **अत एवेत्यादि** । **तेनेति**, जृम्भाव्यादानदामोदरलीलासु व्यापकत्वं प्रदर्शयितुस्तथात्वेनेत्यर्थः । **एवमिति**, सत्त्वस्याधिष्ठानत्वे । **सर्वत्रेति**, अवतारादौ । विभूतिस्वरूपमाहुः **मत्स्येत्यादि** । **तत्त्वमिति**, विभूतिरूपत्वम् । **तत्र तत्रेति**, नानाविधलौकिकशरीरेषु । एवं रूपत्रयविभागस्याप्रयोजकत्वं मन्यमानश्चोदयति **नन्विति** । न्यायसिद्धत्वाद्विभूतिरूपं तथास्तु, अवताररूपमूलरूपे तु न तथा, वदतो व्याघातादित्यर्थः । समादधते **नैवमिति** । **तत्रेति**, स्वतोनन्तरूपत्वे प्रमाणं च । आदिपदेन 'क्षयन्तमस्य रजसः पराक' इत्यादीनां

सङ्ग्रहः । एवं सत्त्वाधिष्ठानतदनधिष्ठानयोः स्थिरीकरणेन तथा प्राकट्यमपि स्थिरमेवेति **रूपविभागोपि स्थिर** इति साधयित्वा तादृक्प्राकट्यप्रयोजकं तत्प्रयोजनं चाहुः **प्राकट्यं हीत्यादि** । **प्राकट्यमपि तथेति**, अत्रापि बीजं 'ये यथा मां प्रपद्यन्त' इति प्रतिज्ञावाक्यं बोध्यम् । **एतेनैवेति**, प्राकट्य-प्रकारव्यवस्थापनेनैव । एवं विभागमुपपाद्य सिद्धमाहुः **एतेनेत्याद्यध्यवसीयत** इत्यन्तम् । मथुरा-द्वारकादिस्थानां प्रायशः सोपाधिकस्नेहवत्त्वात्तदर्थं प्राकट्यविनियोगे वैरूप्यापत्तिं हृदिकृत्योक्त**मानुषलिङ्गिकत्वादिति** । व्यूहविशेषं द्वारीकृत्य तत्करणेन तेषां तद्दानात्तथेत्यर्थः । **एतदेव रूपमिति**, सत्त्वाव्यवहितं श्रीकृष्णस्वरूपम् । **इदमिति**, अधिष्ठानाव्यवधानम् । **तथेति**, विषयः । तथा च यदि निर्विशेषं ब्रह्म स्यात्तदा तथा स्यादपि, तत्तु प्रागेव निरस्तम्, तथा सति विरुद्धधर्माधारस्यैवं स्वरूपनिर्धारसिद्धेर्धर्माणाममायिकत्वेन वास्तवत्वात्तदुपसंहारचिन्ताया अप्युपयुक्तत्वादुक्तशङ्का निवर्त-नीयैवेत्यतो मतान्तरीयव्याख्यानमुपेक्ष्यमेवेति भावः । एवं स्वरूपधर्मादिकं निर्द्धार्यानया चिन्तया सिद्धं गुणान्तरमाहुः **एवं सन्तीत्यादि** । **गुणभेदस्याप्रयोजकत्वादिति**, विद्यागुणभेदस्य वेद्यभेदाप्रयो-जकत्वात् । **निःप्रत्यूहमिति**, निर्विशेषवादिमते धर्माणामुपाधिनिष्ठत्वादुपाधीनां भिन्नत्वादुपास्यानां रूपाणां चाब्रह्मत्वात्तेन रूपेण वेद्यैकत्वं सविघ्नम्, अत्र तु ब्रह्मणः सर्वरूपत्वात्प्राज्ञलमतस्तथेत्यर्थः ।

तेन वेद्यैक्यादेव विद्यैक्यमित्येतमेवार्थं सूत्रकारोभिप्रैतीति ज्ञापयन्तं सूत्रमेवाग्रिमं पठित्वा व्याकुर्वन्ति **दर्शयति चेत्यादि** । इत्यादिनेत्यादिपदेन रामानुजभाष्यमायावादिभाष्याद्युपन्यस्त-श्रुतीनां संग्रहः । तथा च श्रुतिरपि वेद्यैकत्वेन विद्यैकत्वं दर्शयति, न तु स्वतः, दोषं च ब्रह्मभेददर्शने, अतोपि निःप्रत्यूहं ब्रह्मणः सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वमित्यर्थः । एतेन श्रीरामादिविद्यानां ब्रह्मविद्यात्वेनैक्यम्, विभूतिविद्यानां तु प्राणादिरूपतत्तद्विभूतिविद्यात्वेनैक्यमिति सिद्धम् ॥ १ ॥

अतः परं यदर्थमिदमैक्यं विवेचितं तत्प्रयोजनमुपसंहारसूत्र उच्यत इत्यन्य एकदेशिनो वदन्ति, तथा सत्युपसंहारहेतोरैक्यस्य पूर्वं सिद्धत्वादस्मिन् सूत्र उपसंहारस्तस्मादित्येव वक्तव्यं पदान्तराणां प्रयोजनाभावेन वैयर्थ्यादिति न सोर्थः, किन्तु श्रुतितात्पर्यबोधनाय पूर्वसूत्रोक्तनियमसमर्थ-नायोपसंहारप्रयोजकज्ञापनाय चैवं सूत्रप्रणयनमित्याशयेनाहुः **नन्वित्यादि** । **पूर्वसूत्रोक्तरीत्येति**, लैङ्गिकनियमेनेत्यर्थः । **क्वचिदिति**, रूपविशेषे । उक्तावताररूपत्वस्य श्रीराम इति, ब्रह्मधर्मस्य ब्रह्मरूपविशेषे । एवमग्रे रूपान्तरधर्मस्य रूपान्तर इति बोध्यम् । **इत्याशङ्क्येति** । इति अतो हेतोर्लिङ्गस्य नियामकत्वं यत्पूर्वसूत्र उक्तं तदसार्वत्रिकत्वाद्व्यभिचारीत्ययुक्तमित्याशङ्क्येत्यर्थः । **पदार्थ-स्येति**, अभिधेयस्य । 'इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते', 'तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयत' इति श्रुतिः । तथा च परब्रह्मत्वे श्रुतेस्तात्पर्यं न तु रूपान्तरत्वे, यदि तथाभिप्रेयान्नोपसंहरेदित्यर्थः । अर्थाभेदपदकृत्यमुक्त्वा शेषाणां वक्तुमाहुः **नन्वित्यादि** । विधिशेषशब्दे बहुव्रीहिः । पूर्वं चोप्यर्थे । **समानेपीति**, अर्थाभेदे समानेपि । तथा च तस्य मत्स्यादिरूपत्वमेवोपसंहृतम्, न तु तद्धर्मवत्त्वम्, तेन तेषां तद्रूपधर्मलैङ्गिकनियमबाधो नेत्यर्थः । नन्वयमर्थस्तूपसंहारार्थाभेदादित्यनेनैव सिद्ध इति शेषवैयर्थ्यं दुर्वारमित्यतः पक्षान्तरमाहुः **यद्वेति** । मत्वर्थीयो वत्प्रत्यय इति, वदिति प्रत्ययो योत्र सूत्रे स मत्वर्थीयः । सर्वे सर्वपदादेशा इत्यभिप्रेत्यैवमुक्तम् । अस्मिन् पक्षे विधिशेष इत्यत्र षष्ठीत-त्पुरुषः । अस्य यागस्येति चातुर्मास्यप्रथमपर्वणो वैश्वदेवयागस्य । इत्याशासीतेति, वैश्वदेवाख्यपर्वणः संवत्सराभिसान्यग्निप्राप्तिहेतुत्वात्तद्यागकाले तदीयसूक्तवाकमध्ये संवत्सरीणामिति मन्त्र सूक्तवाकाशीःषु

होता आशासीतेत्यर्थः । शेषं प्रकटार्थम् । **उक्तरीतिरिति**, अर्थवादबलात्फलान्तरसाधकत्वम् । तथा च यो मां स्मृत्वा निष्कामः सकामो भवति, यो ध्यायति सोऽमृतो भवतीत्युभयविद्यार्थवादबलाद्भग-वत्स्मरणे उभयफलसाधकत्वमुपसंहरणीयमित्यर्थः । अस्मिन्पक्षे चकारार्थो नोक्त इति, तमाहुः **प्राणादीत्यादि** । **तद्वादय** इति, बाधका भावादयः । अयमर्थः पूर्वसूत्रेणैव सिद्ध एवेति पुनःसंग्रहे बीजं न पश्याम इत्यत आहुः **वस्तुत** इति, पूर्वसमुच्चयार्थं इति, अर्थाभेदादित्यस्य समुच्चयार्थः । अत्रापि चकारवैयर्थ्यमाशङ्क्य तत्तात्पर्यमाहुः **शास्त्रेत्यादि** । अतो न वैयर्थ्यमित्यर्थः । एवं चाधिकारः प्रायश्चित्तादिरूपबाधकार्थाभेदार्थवादविशेषैर्नियतो गुणोपसंहार इति सिद्धम् ।

पूर्वसूत्र उपसंहारप्रयोजको हेतुरर्थाभेदरूप उक्तस्तं समर्थयितुमिदं सूत्रद्वयमित्याशयेन सूत्रमुप-न्यस्य सूत्रं व्याकुर्वन्ति **अन्यथात्वमित्यादि** । **उक्तन्यायेनेति**, अर्थाभेदादित्यनेन ब्रह्मत्वं स्या-दिति, तथा चास्मिपक्षे उपसंहारस्यैवासिद्धिरिति भावः । **इति भाव** इति, तथा च शब्दबलकृतनिर्ण-यस्योभयत्रापि तुल्यत्वेन सिद्धो ब्रह्मत्वेनाभेद इति नोपसंहारासिद्धिरित्यर्थः । पूर्वसूत्रांशाशङ्कितमन्यथा-सूत्रे प्रकारान्तरेण परिहरतीत्याशयेन सूत्रं पठित्वा व्याकुर्वन्ति **न वेत्यादि** । विकल्पेनेत्यस्यैव त्वस्मिन् विवरणं **पूर्वोक्तादित्यादि** । **नवेति**, तथा च अन्यथा त्वप्रकरणभेदान्न नेति सूत्रयोजना । विषय-वाक्यं तु तैत्तिरीयसंहिताषष्ठकाण्डद्वितीयाध्यायस्थम् । एवं च प्रकरणभेदेन तत्तदुपयोगिगुणकथनात्तत्र तावतैवार्थसिद्धेरेकरसत्वाप्राह्यत्वाद्यनपायाच्च नाब्रह्मत्वमित्यर्थः फलति । एवं सूत्रद्वयेनोपसंहारसूत्रोक्तो हेतुः समर्थितः । अतः परमस्मिन्नेतत्सूत्रव्याख्याने वक्ष्यमाणाशङ्कानिवृत्तिर्न भवतीत्यरुच्या प्रकारान्तरेण व्याचक्षते **अथवेत्यादि** । **पूर्वसूत्रेणेति**, उपसंहारसूत्रेण । **इत्यत्रेत्यादि**, इति हेतोः अत्रास्मिन् सूत्रे गुणोपसंहारस्य तथात्वमाहेत्यर्थः । **तदेतदुच्यत** इति, एकान्तिभक्तस्वभावतः प्राप्तोऽनुप-संहार एवानूद्यत इत्यर्थः । **एवं प्रकृतेपीति**, एकान्तिभक्तोपलभ्यमानगुणेभ्य इतरेषां सत्त्वेप्युपसंहारो नेत्यर्थः । अस्मिन् सूत्रेऽधिकारभेदादुपसंहारो व्यवस्थापितस्तां व्यवस्थामग्रिमसूत्रे हेत्वन्तरेण दूषयित्वा तस्मिन् हेतौ दोषप्रदर्शनेन तां पुनर्द्रढयतीत्याशयेनाग्रिमसूत्रं पठन्ति **संज्ञातश्चेत्यादि** । नन्वधिकार-स्यान्तरत्वेपि प्रमाणेष्वगणनान्न बलीयस्त्वमित्यत आहुः **संज्ञैकत्वस्येत्यादि** । **प्रमितभेदेष्विति**, छान्दोग्ये 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीते'त्युद्गीथावयवं प्रणवं प्रस्तुत्य रसतमादिगुणोपव्याख्यानपूर्वकं देवासुराः संयेतिरे'त्यादिना अथ ह य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिर इत्युद्गीथावय-वप्रणवविषयमुपासनमुच्यते, वाजसनेयके तु 'हन्तासुरान्यज्ञ उद्गीथेनात्ययामे'ति कृत्स्नमुद्गीथं प्रस्तुत्य 'अथ हेममासन्यं प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेती'त्यादिना कृत्स्नोद्गीथविषयमुच्यते, तेन प्रकरणभेदे विषय-भेदाभ्यामुपासनभेदः प्रमीयत इति तथेत्यर्थः । न च नैर्बल्यमधिकारस्य, प्रकरणान्तःपातित्वेन समाख्यापेक्षया प्रबलत्वात् । एवं पूर्वसूत्रद्वितीयवर्णकेनानेन सूत्रेण चेत्येवं सूत्रद्वयेन समाचारसूत्रे याधिकारस्योपसंहारनियामकतोक्ता सा प्रपञ्चिता । पूर्वसूत्राभ्यामपि तदुपयोग्येवोक्तमिति । **चतुःसूत्री** तस्यैव शेष इति बोधितम् ॥ २ ॥

अतः परमधिकरणान्तरेण पुनर्धर्मानेव विचारयतीत्याशयेन सूत्रं पठन्ति **व्याप्तेरित्यादि** । ननु विरुद्धगुणाशङ्कितमब्रह्मत्वं पूर्वं परिहृतमेवेति किमनेनाधिकरणेन विचार्यत इत्याकाङ्क्षायां तद्विषयादिकमाहुः **वाल्येति**, **तथा सतीति**, प्राकृतत्व इति । **तत्रोक्तमिति**, श्रुत्युक्तम् । **सर्वमिति**, उपास्यरूपेषु साधितब्रह्मत्वं तत्त्वेनोपासनादिश्रुतिविरोधपरिहारश्चेत्यर्थः । सिद्धान्तग्रन्थस्तु निगदव्याख्यातः । **क्रमेणेत्यादि** । सर्वरसश्रुत्याक्षेपलभ्येन क्रमेण 'तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं

स्वा'मिति श्रुतिलभ्येन वृतेष्वावरणात्मकयोगमायापसारणेन तथात्वात्सर्वमवस्थाप्रतीत्यादिकमुपपन्नमाक्षेपलभ्यत्वाच्छ्रौतमिति ब्रह्मणस्तादृशत्वान्न काप्यसामञ्जस्यमिति भावः ।

अन्ये तु । अन्यथात्वादिसूत्रत्रयात्मकमधिकरणान्तरं कल्पयन्ति । तत्रोद्गीथविद्यां विषयीकृत्यान्यथात्वसूत्रे मुख्यप्राणस्योपास्यत्वाङ्गीकारेणैक्यप्रतिज्ञासाधकहेतुना विद्यैक्यं पूर्वपक्षीकृत्य नवेत्यादिसूत्राभ्यामुद्गीथावयवप्रणवकृत्स्नोद्गीथयोर्वेद्ययोर्भिन्नत्वं संज्ञायाः साधारणत्वं च प्रदर्श्य, विद्याभेदं सिद्धान्तयन्ति । ततो व्याप्तिसूत्रेप्यधिकरणान्तरम् । 'तत्रोमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीते'ति सामानाधिकरण्ये प्रतीयमानेऽध्यासापवादैकत्वविशेषपक्षाः सम्भवन्ति । तत्राध्यासपक्षे लक्षणाप्रसङ्गादपवादपक्षे फलाभावप्रसङ्गात्पर्यायताविरहेणैकत्वस्याप्यभावात्परिशिष्टो विशेषणपक्षः सिद्ध्यति । व्यावर्तकं हि विशेषणं यथा नीलं यदुत्पलं तदानयेति, तथोद्गीथो य ॐकारस्तमुपासीतेति सर्ववेदव्यापिन ॐकारस्य ग्रहणप्रसङ्गे उद्गातृविषयस्य समर्पणमिति । तत्र भेदस्योच्चारणगतत्वेनोत्पलानामिवौङ्कारस्य नानात्वाभावात्प्रत्यनुवाकमुपक्रमसमाप्त्यादिष्विव सामभक्तावुद्गीथावयवत्वेनापि सर्ववेदव्यापिनस्तस्यैव[illegible]त्वादुद्गीथपदेन कस्य व्यावृत्तिरिति निर्वचनाशक्त्या सामञ्जस्यासम्भवात्सूत्रविरोधः स्फुटति । एतदपेक्षया ये सूत्रचतुष्टयात्मकमधिकरणं वदन्तोऽनेनापि विद्यानानात्वं साधयन्ति, त एव युक्तं वदन्ति ।

प्रकृतमनुसरामः । एवमवस्थास्वरूपनिरूपणेनासामञ्जस्यं परिहृत्य तासां तथा स्वरूपाङ्गीकारे प्राप्तदोषस्य परिहारायोत्तरं पठन्तीत्याशयेनाहुः **नन्वित्यादि** । **तत्तद्भक्तविशिष्टा इति**, तत्तद्भावक्रीडोपयोगिभक्तविशिष्टाः । **श्रूयत इति** । कृष्णोपनिषदि देवप्रार्थितदानोत्तरं 'यो नन्दः परमानन्दो यशोदा मुक्तिगेहिनी'त्यादिना श्रीनन्दादिवृन्दापर्यन्तानां स्वरूपश्रावणात् 'सोऽवतीर्णो महीतले', 'वने वृन्दावने क्रीडन् गोपगोपीसुरैः सहे'ति तैः सह क्रीडाश्रावणाच्च तथेत्यर्थः । तथा सति यो दोषस्तमाहुः **तथा चेत्यादि** । **नित्यत्वेनेति**, ब्रह्मधर्मत्वाविशेषान्नित्यत्वेन । **एवं सतीति**, पूर्वलीलाभक्तयोर्नित्यत्वेन तल्लीलावैशिष्ट्यस्यापि नित्यत्वे सति । **भिन्नत्वं स्यादिति**, एकस्यैकदाऽनेकलीलासम्बन्धस्याशक्यवचनत्वात्तथात्वं स्यात् । **अनुभवेत्यादि**, अनुभवो लीलास्थानाम्, तदावेदकमानमुक्तश्रुतिः । **भिन्नत्वं तदुभयविरुद्धम्**, तथा च लीलानित्यत्वे भक्तभेदप्रसङ्गो भक्ताभेदे च लीलानित्यत्वभङ्ग इत्युभयतःपाशारज्जुरित्यर्थः । एतत्परिहाराय सूत्रं पठित्वा व्याचक्षते **लीलेत्यादि** । **ब्रह्मणा सहाभेदादिति**, 'तस्मान्न भिन्ना एतास्ता आभिर्भिन्नो न वै प्रभु'रिति कृष्णोपनिषन्मन्त्रे अभेदश्रावणात्तथेत्यर्थः । नन्वस्तु ब्रह्माभेदो भक्तस्वरूपस्य, परं लीलायाः कथं नित्यत्वसिद्धिरित्याकाङ्क्षायां तदर्थमभेदप्रकारं व्याकुर्वन्ति **अत्रेत्यादि** । तत्तादात्म्यं रसस्येति, अनेन प्रपञ्चस्य यद्ब्रह्मतादात्म्यं तस्मादिदं विलक्षणमिति बोधितम् । तथा च सच्चिदानन्दात्मकमपि ब्रह्म यदा भक्तहृदयेष्वाविर्भवति, तदा स्वस्य रसत्वं रसशास्त्रोक्तप्रनाड्या प्रकटयतीति श्रुत्युक्तलीलाप्रकारान्यथानुपपत्त्याऽवसीयते, सोप्याविर्भावप्रकारस्तेन प्रकारेण मायापसारणहेतुक इति ते स्वज्ञानानुसारेण तत्तत्कालिकत्वं लीलानां मन्यन्त इति न लीलास्वरूपनित्यत्वभङ्गः । इयं कल्पना श्रुतार्थापत्तिसिद्धेति सर्वाभेदो निःप्रत्यूहः लीलानित्यभङ्गात्मकविघ्नरहित इत्यर्थः । करुणादीनां त्वनुक्रियमाणानामेव रसत्वमिति न काप्यनुपपत्तिः । अत्र किंचिदाशङ्क्य परिहरन्ति **नन्वित्यादि** । **सामञ्जस्यादित्यन्तम्** । **प्रादुर्भाव इति**, विचार्यमाण इति शेषः । प्रकटार्थमन्यत् ।

अभेदे प्राप्तस्य दोषस्य परिहारायाग्रिमं सूत्रमित्याशयेनाहुः **नन्वित्यादि** । **नियमादिति**, अयं नियम आकाशपरिमाणे आत्मचेतनायां च स्फुटः ॥ ३ ॥

एवं त्रिसूत्र्या भक्तिप्रकरणीया ब्रह्मधर्मा विचारिताः । अतः परमुपासनामार्गे भक्तिमार्गे च तदुपसंहारानुपसंहारौ चिन्तयतीत्याशयेन सूत्रं पठन्ति ।

प्रियेत्यादि । प्रमेयपरस्य प्रमाणमनुसृत्य भक्तिमार्गे प्रवृत्तस्य प्रियशिरस्त्वादयो भावनीया न वेति संशयं हृदिकृत्य तन्निवृत्तये पूर्वपक्षं परिहरतीत्याशयेनाहुः **नन्वित्यादि** । **अत्रापीति**, भक्तिमार्गे । **चित्तशुद्धीत्यादि** । अत्र सूत्रार्थ एवं व्याकृतो बोध्यः । **भेदे**, चित्तशुद्धितारतम्ये सति, हि यस्माद्धेतोः उपचयापचयौ प्रमोदमोदरूपावानन्दोपचयापचयौ स्वबुद्ध्या भासेते इति शेषः । न तु तारतम्याभावे, अतः प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिस्तदनुपसंहार इति । यद्वा, यतो भेदे ब्रह्मणः सकाशाद्भेदे तौ लीलास्थानां तु ब्रह्माभेदस्य पूर्वमुक्तत्वाच्चित्ते तारतम्याभावेन नोपचयापचयभानं सम्भवतीति तदनुसारिणः स्वरूपपरस्य न तदुपसंहार इत्यर्थः । अस्मिन् वर्णके उपासनामार्गीयनिर्णयो नोक्त इति, वक्ष्यमाणा शङ्का चैवं नापैतीति मनसिकृत्य पक्षान्तरमाहुः **अथवेत्यादि** । **अयुक्तत्वादिति**, लिङ्गस्य नियामकत्वेनायुक्तत्वात् । **तद्रूपस्येति** । पक्षिरूपस्य । **पुरुषरूप इति**, अथर्वणोपनिषदुक्तपुरुषरूपः । **तथात्व इति**, आनन्दमयत्वे । **देशाभेदेनेति**, दक्षिणोत्तरपार्श्वस्थत्वेन । **पक्षेपीति**, अपिः समुच्चयार्थः । **तत्रेति** । ब्रह्मणि । **न त्वद्युक्तरूपत्वमिति**, नोपचयापचयरूपत्वम् । **निरूपितमिति**, 'पुरश्चक्र' इति श्रुतिविचारे निरूपितम् । तथा च तत्रालौकिकशरीरे भक्तानां देहादिस्थित्यर्थमन्नमयादिरूपस्तत्र तत्र प्रविशतीत्युक्तम्, तेन जीवे पक्षिरूपेण प्रविशतोऽवयवा भिन्ना एव, ते जीवस्य यथाधिकारं प्रियादिरूपेण भासन्ते, न तु तेषां तथात्वं नित्यत्वादतो दोषाभावादुपासनामार्गेऽत उपसंहार्याः, भक्तिमार्गे तद्भानाभावात्तन्मार्गीयैर्नोपसंहार्या इति पूर्वोक्ताधिकारनियता वर्णकद्वयसिद्धा व्यवस्था । यत्तु, कोशधर्मानेतान्ब्रह्मधर्मत्वेन परिकल्प्य न्यायमात्रमाचार्येण दर्शितमिति वदन्ति, तदप्येतेन परास्तं ज्ञेयम् । आनन्दमयाधिकरणे तत्प्रपञ्चनाच्च । पौनरुक्त्यपरिहारायाहुः **यद्यपीत्यादि** । **इयमिति**, अब्रह्मधर्मत्वविषयिणी ।

अत्र वर्णकद्वयेन या व्यवस्थोक्ता, सैवाग्रे सूत्रत्रयेण दृढीक्रियत इत्याशयेन पूर्वत्र हेतुं विवरीतुं सूत्रमवतारयन्ति **नन्वित्यादि** । सूत्रयोजना तु पूर्वसूत्रस्थाप्राप्तिशब्दात् नञमपसार्य धातुं कृत्यप्रत्ययान्तं कृत्वा प्राप्यपदेन कार्या । तस्यैवार्थ उपसंहार्या इति । नन्वयमर्थ उपसंहारसूत्र एव सिद्ध इति पुनः किमित्युच्यत इत्याकाङ्क्षायां कञ्चिद्विशेषमाहुः **तत्रेत्यादि** । तथा चाविरोधबोधनाय पुनः प्रपञ्च इत्यपुनरुक्तिरित्यर्थः । अनेन सूत्रेण ब्रह्मत्वेनोपासने लिङ्गं न नियामकमिति निगमितम् ।

उत्तरत्र हेतुं विवरीतुमग्रिमसूत्रमवतारयन्ति **अथेत्यादि** । सूत्रयोजना तु इतरपदाप्राप्यपदानुषङ्गेन बोध्या । ननु प्रयोजनाभावेप्यधिकस्याधिकं फलमिति तदुपसंहारे को दोष इत्यत आहुः **अन्येषामनुपसंहार इत्यादि** । **अविवक्षितत्वादिति** । तथा चाविवक्षितसङ्ग्रह एव दोष इत्यर्थः । **तत्रेति**, अविवक्षितत्वे । तथा 'चानन्द आत्मे'त्यात्मशब्दो मध्यं वदन्नथानन्दपदसामानाधिकरण्यात्प्रियादीनां स्वरूपमेव संगृह्णाति, न त्वाकारमपीति पक्षादयो न विवक्षिता इत्यर्थः । नन्वाकारपूरणार्थः पठित आत्मशब्द आकारे तात्पर्यरहित इत्यत्र किं मानम्, तथात्वे वा तन्निरूपणस्य किं प्रयोजनमत आहुः **अग्र इत्यादि** । तथा चोक्तानन्दमयविवरणे तस्य रसात्मकत्वश्रावणेन च तथावगम्यत इत्यर्थः । तेन सिद्धमन्यत्फलद्वयमाहुः **एतेनेत्यादि** ज्ञेयमित्येतेन । **केचित्तु** द्विसूत्रमाध्यानाधिकर(णं)भिन्नं परिकल्प्य, 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था' इत्यादि 'सा काष्ठा सा परा गति'रित्यन्ते विषयवाक्येऽर्थादीनां ततस्ततः परत्वप्रतिपादने प्रयोजनाभावात् सा काष्ठेत्यादिना पुरुषविषयका-

दरप्रदर्शनाच्च तस्यैव परत्वं प्रतिपाद्यत इति सिद्धान्तयित्वा, आध्यानशब्द आध्यानपूर्वकसम्यग्दर्शनार्थत्वेन विवृतः । तन्न । आध्यानपदे लक्षणापेक्षया विषयवाक्यान्तरोपन्यासस्यैव ज्यायस्त्वात् । अस्मिन्सूत्रे साध्यानिर्देशेन प्रियशिरस्त्वाधिकरणशेषत्वस्य स्फुटत्वात् । विषयवाक्येप्यर्थादौ परत्वप्रतिपादनस्य तद्बलिष्ठताबोधनार्थत्वेन सप्रयोजनकत्वात् । अन्यथा तत्त्यागनिग्रहाद्यनास्थाया 'मिन्द्रियैर्विषयाकृष्टै'रिति स्मृत्युक्तप्रणाड्या तैः प्रबलानर्थप्रसङ्गात् । ज्ञाते तु तत्तन्नियामकतया तत्तत्परत्वे तत्त्यागनिग्रहादिभिः पुरुषनिष्ठपरत्वप्रतिपत्तिसौकर्यमिति तदर्थमिदं नानावाक्यघटितं महावाक्यं तत्तत्परत्वप्रतिपादनपूर्वकपुरुषपरत्वप्रतिपादनपरं तद्विरोधाच्चेति दिक् ॥ ४ ॥

एवं चतुःसूत्रेणानेनाधिकरणेनोपसंहारो व्यवस्थापितः । अतः परं तत्प्रसङ्गेनानन्दमयाधिकरणशेषमेव चिन्तयतीत्याशयेन सूत्रं पठित्वाधिकरणं रचयन्ति **आत्मेत्यादि** । **तथा सतीति**, एष इत्यनेन पूर्वस्यान्नमयस्यात्मा परामृश्यते, अभिमानी च लोके जीवो दृश्यत इति जीवत्वे सतीत्यर्थः । ननु तस्मिन्प्रकरणे शारीर आत्मेतिवदन्तर आत्मेत्यप्यात्मग्रहणमस्तीति कथमस्यैव ग्रहणं विनिगम्यत इत्यतः पक्षान्तरमाहुः **अथवेत्यादि** । य इति, प्राणमयादिः । तथा च तयापि अन्तरात्मत्वमानन्दमय एव समाप्यते, तेन निर्व्याज आत्मा स एवेति 'शारीर आत्मे'त्यत्रापि स एव परामृश्यत इति मास्तु विनिगमना, तथापि नोक्तार्थव्याहतिरित्यर्थः । अग्रिमसूत्रार्थस्तु स्फुट एव ॥ ५ ॥

एतस्यैव दार्ढ्यायाग्रिमं पठतीत्याशयेन सूत्रं पठित्वाधिकरणमारचयन्ति **कार्येति** । **पूर्वोक्त** इति, अन्नजन्यः । **पूर्वस्येत्यादि** । अयमर्थः । अन्नमयश्लोके अन्नस्य ब्रह्मत्वेनोपासनाय यदि ब्रह्मधर्माः स्तुत्यर्थमुच्येरंस्तदा 'अन्नाद्वा' इत्यादिना पूर्वमुक्त्वा ततः 'सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति येऽन्नं ब्रह्मोपासत' इति सफलमुपासनमात्रं वदेन्न तु पुनरपि 'अन्न ५ हि भूतानां ज्येष्ठ'मित्यादिना भूतजनकत्ववर्द्धकाभ्यां धर्माभ्यां भूतव्याप्तिबाधकमतति सततं व्याप्नोतीत्यन्नमिति निर्वचनं सूचयेन्ना'प्यद्यते च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यत' इति च निरुच्यात्, प्रयोजनाभावात्, उपासनायाः पूर्वस्तुत्यैव सिद्धेः । एवं सत्यपि यदेवं निर्वक्ति, तेन कार्यरूपादन्नादेतं व्यवच्छिनत्ति, प्रपाठकान्तरेपि तस्मिन्ब्रह्मत्वविज्ञानं ब्रह्मात्मकतपोरूपसाधनेन वक्ति, न तु यथाकथञ्चित्, तेनान्नस्य पूर्वविलक्षणत्वमवश्यं वक्तव्यम्, 'विश्वभृद्वैनामैषा तनुर्भगवतो विष्णोर्यदिदमन्न'मिति 'स वा एष पुरुषः पञ्चधा पञ्चात्मा येन सर्वमिदं प्रोतं पृथिवी चान्तरिक्षं चे'ति श्रुत्यन्तरे भगवत्तनुत्वव्यापकत्वादिश्रावणाच्च, एवं सिद्धे वैलक्षण्ये 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमय' इत्यत्र तदेतच्छब्दाभ्यां वक्ष्यमाणपरामर्श एव युक्तो न प्रकृतस्य निरुक्तलिङ्गाभ्यासादिविरोधात् । तदेतदुक्तम् । **न वा तद्पीत्यादि** । **एवमेवेति** । तपोरूपसाधनस्येत्यर्थः । तेन सिद्धमाहुः **अत एवेत्यादि** । कार्यपुरुषवैलक्षण्येनाध्यात्मिकत्वादेवेत्यर्थः । एवं पूर्वाधिकरणेनानेन वर्णकेन चानन्दमयविधायामात्मपदं परब्रह्मपरमित्यापाततो मायावादिनो निरासायान्नमयादिपुरुषास्तद्विभूतय इति तेषां विभूतिरूपेणोपासनाय च तद्विद्याशेषो विचारितः । अस्मिन् पक्ष एकसूत्रमेवेदमधिकरणम् । अतःपरमुपासनबोधके श्रुत्यन्तरेप्यात्मशब्दः परब्रह्मपर एवेति बोधयितुं प्रकारान्तरेणैतद्व्याकुर्वन्ति **अथवेत्यादि** । **वाजसनेयिशाखायामिति**, तस्यां बृहदारण्यके पुरुषविधब्राह्मणे । **अन्यत्रेति**, मैत्रेयीब्राह्मणे । **अपूर्वमिति**, पुत्राद्यभिमानिदशायां वेद्यात्प्रतीचो भिन्नम् । तदेव विवृण्वन्ति **पूर्वं स्वित्यादिना** । ननु प्राणनादिकथनात्प्रत्यगात्मातिरिक्त आत्मा कथं निश्चेय इत्यत आहुः **लोके हीत्यादि** । **अत एवेति**, जीवभिन्नत्वादेव । लिङ्गान्तरमाहुः **अत एवेति** । जीवभिन्नत्वेनेश्वरत्वादेव । **एतेनेति**, प्राणनादिकार्याख्यानेनेश्वरो हि तथा स्यादिति तत्तद्रूपताख्यानेन चेत्यर्थः । अधिकरणप्रयोजनमाहुः **तेनेत्यादि** । **उपसंहर्तव्या** इति, अवतीर्णे स्वरूपेऽनुसन्धेया इत्यर्थः । अग्रिमसूत्रस्यैतच्छेषत्वं बोध-

यितुमवतारयन्ति **नन्वित्यादि** । तथा च तरुकुसुमयोरिव स्वगतद्वैतमापततीति तत्परिहारायोत्तरं पठतीत्यर्थः । ननु भिन्नप्रकारकप्रतीतौ विद्यमानायां कथमभेदसिद्धिरित्यत आहुः **अत्रेत्यादि** । **स** इति, औपनिषदः पुरुषः । **स चेति**, व्यवहारश्च । न च तस्य व्यवहारस्याप्रामाणिकत्वं शक्यशङ्कम् । वरणकृतास्वतनुविवरणैकसाध्यत्वात् । पूर्वपादे 'प्रकाशवच्चावैयर्थ्या'दित्यादिसूत्रद्वये तदुपपादनात् । तदेतत् हृदिकृत्याहुः **एवं सतीत्यादि** । अत्र लौकिकयुक्तेः कौण्ठ्यमेव श्रुत्याशयगोचर इत्याशयेनाहुः **एवंविध** इत्यादि । सिद्धमाहुः **एतेनेति**, ईश्वरस्य तथात्वश्रावणेनेत्यर्थः । इमामेव श्रुतिं हृदि (कृत्य) प्रकारान्तरेण सूत्रं योजयन्ति **एवं सत्याविरित्यादि** । अस्यां श्रुतावुक्तस्येश्वरत्वस्य साहजिकत्वेन तादृगाकारस्य सार्वदिकत्वे सति तथेत्यर्थः । अत्र च 'विश्वतश्चक्षु'रित्यादिश्रुतयोऽनुसन्धेयाः । **पूर्वं** चोप्यर्थे उक्त इत्यस्मिन्पक्षेऽर्थान्तरमाहुः **चकार** [illegible]**ादि** । **साक्षादाविर्भूत** इति । सत्वाधिष्ठानमनपेक्ष्यस्वरूपेणाविर्भूत इत्यर्थः ॥ ६ ॥

एवमवतारोपासनादौ गुणोपसंहारं विचार्याविशे तं विचारयतीत्याशयेनाग्रिमाधिकरणमवतारयन्ति **अथेत्यादि** । श्वेताश्वतरोपनिषदि 'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ, तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मन' इति गुरुभक्तेर्देवभक्तिवदतिदिष्टत्वात्, 'योन्तर्बहिस्तनुभृतामशुभं विधुन्वन्नाचार्यचैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ती'ति स्मृतावाचार्यचैत्यस्य वपुष्ट्वकथनेन तत्र भगवदावेशस्योक्तत्वात् लोकोद्दिधीर्षया तत्राविशति, तथा गोपालतापनीये मथुरासमीपस्थवनस्थिता द्वादशमूर्तीरुक्त्वा 'ता हि ये यजन्ति ते मृत्युं तरन्ति मुक्तिं लभन्त' इत्यादिफलमुक्त्वाऽग्रे 'मथुरामण्डले यस्तु जम्बूद्वीपे स्थितोपि वा, योर्चयेत्प्रतिमां मां च स मे प्रियतरो भुवि, तस्यामधिष्ठितः कृष्णरूपः पूज्यस्त्वया सदे'त्यादिभिः प्रतिमां लक्षीकृत्य स्वपूजनं सर्वेषामुक्तम्, प्रतिमायामधिष्ठानकथनेन स्वावेशश्चोक्तः । तदेतदुक्तं 'कार्यचिकीर्षया जीवे स्वयमाविशतीति जीव इत्युपलक्षणम्' । **विकल्पेनेति**, मार्गभेदव्यवस्थितविकल्पेनेत्यर्थः । प्रतिमासङ्ग्रहार्थमाहुः **तत्त्वेन व्यपदेशादिति** । **अत्रैवं ज्ञेयमिति**, उपासनामार्गे व्यवस्थितस्य पक्षस्य बीजं वक्ष्यमाणप्रकाराभ्यां बोध्यमित्यर्थः । प्रकारद्वयेप्यभिसन्धिमात्रं नोपसंहारप्रयोजकं किन्त्वावेश इत्याहुः **तत्रेत्यादि** । न च गुरौ भक्तिरेवोक्ता न तूपासनेति तद्व्यवस्था न सङ्गतेति शङ्क्यम् । तैत्तिरीये 'वेदमनूच्याचार्योन्तेवासिनमनुशास्ती'त्युपक्रम्य 'यान्यस्माक५ सुचरितानि, तानि त्वयोपास्यानी'ति गुरुसुचरितोपासनस्योक्तत्वात्, न चोपासनपदं कर्तव्यार्थकम् । 'यान्यनवद्यानि कर्माणि, तानि सेवितव्यानी'ति पूर्वमुक्तत्वात्तेनैव सिद्धेः । 'एवं गुरूपासनयाशितेने'त्येकादशस्कन्धे स्मरणाच्चेति दिक् । निषेधपक्षो भक्तिमार्गीय इति बोधयितुं द्वितीयसूत्रमवतारयन्ति **यस्त्वित्यादि** । **भक्तिमार्गीय** इति, प्रेमोत्कर्षात्तथेत्यर्थः । नन्वेवं तस्य विस्मृतभगवत्कत्वे उपसंहारप्राप्तेरेवाभावान्निषेधार्थस्य नञोऽसङ्गतिरित्यत आहुः **भगवद्वतारेत्यादि** । तथा च प्रियशिरस्त्वसूत्रे या अप्राप्तिरुक्ता, तामत्रान्यधर्मविषयिणीमनुवदतीति नासङ्गतिर्नञ इत्यर्थः । अयमेवाशय इत्यत्र गमकं वदन्त उत्तरसूत्रमवतारयन्ति **अपि चेत्यादि** ॥

तृतीयसूत्रमवतारयन्ति **नन्वित्यादि** । **तत्सम्भारकस्येति**, वीर्यसम्भारकत्वस्य । **उपसंहारं करिष्यतीति**, 'तं यथा यथोपासत' इति श्रुतौ स्वाभिसंहितरूपेणैवावनस्योक्तत्वात्स्वैहिकपारलौकिकार्थमुपसंहारं करिष्यतीत्यर्थः । **तत्रैवोक्तमिति**, भजनरसास्वादने एतदपेक्षया विशेषादिति पूर्वसूत्र एवोक्तमित्यर्थः । अयमेव सूत्रकाराशय इत्यत्र गमकमाहुः **विषयेत्यादि** । तथा च विनाप्युपसंहारं तल्लौकिकालौकिकसम्पादनादलौकिकानुभावप्रदर्शनाच्च नोपसंहारशङ्कात्रेति पूर्ववदत्रापि भक्तस्वभावस्यै-

त्वानुवादः । श्रुतेरनारभ्याधीतत्वेन भक्तहृद्याविष्टभगवद्धर्मकत्वाभावात्पूर्वोक्तो व्यासाशयो न निश्चेतुं शक्यत इति विषयवाक्यं तात्पर्यकथनपूर्वकं तमुद्घाटयन्ति **अन्यश्चे**त्यादि । तथा च तुरीयपादेनाविर्भूतब्रह्मविषयकत्वे श्रुतेर्निश्चिते यद्वयोरेवानुपसंहारकथनं तेन तथेत्यर्थः ॥ ७ ॥

एवमनारभ्याधीतानां धर्माणां भक्तिमार्गेऽनुपसंहारमुक्त्वा उत्तमाधिकारिभिरशेषगुणपूर्णं परब्रह्मैवोपास्यं न तु विभूतिरूपमिति बोधयितुमुपासनामार्गेपि विशेषेनुपसंहारं वदतीत्याशयेन सूत्रं पठित्वाधिकरणं रचयन्ति **पुरुषे**त्यादि । **अत्र ही**ति, पुरुषविद्यायाम् । अनेकत्वोपलक्षणतात्पर्यमाहुः **तेने**त्यादि । **तत्रे**ति, अन्नमयाद्युपासनाप्रकरणे । **स** इति, अन्नमयादिः । वैलक्षण्यान्तरमाहुः **किञ्चे**त्यादि । **तथात्वेने**ति, मूलभूतब्रह्मत्वेन । एतदधिकरणसिद्धमर्थमाहुः **तेने**त्यादि । एतेनेदं बोधितं व्यासचरणानां परब्रह्मपरत्वभवन एव तात्पर्यादस्माभिरेवमधिकरणानि व्याख्यायन्ते । उत्तमाधिकारिणां तावतैवार्थसिद्धेः । इतरैस्तु साधारणाधिकारिणामर्थे उच्यन्ते । न हि शत्रुजयः षोडशवर्षशतजीवनं श्रीकीर्त्यादिकमुत्तमस्याभिलषितं भवति । तेन नात्र (चोद्य)चोद्यावसर इति ॥ ८ ॥

अग्रिमाधिकरणमवतारयन्ति **अथे**त्यादि । कुतो न वाच्यमित्यत आहुः **न ही**त्यादि । **उपासनार्थ**मितरेषां पाप्मवेधः समुच्यत उतासमुच्यते, यद्याद्यः पक्षस्तदा न संशयापायः । यदि द्वितीयस्तदोक्तदोषापत्तिरित्यर्थः । नन्वर्थवादाधिकरणे विधेयस्तावकत्वेनार्थवादानां प्रामाण्यं पूर्वतन्त्रे व्यवस्थापितम्, 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्यु'रिति, एवं च यथाकथञ्चन स्तुत्याप्युपासनरुचिसिद्धेर्नाप्रामाण्यमिति चेत्तत्राहुः **एकत्रे**त्यादि । स्तुत्यंशे असन्तमर्थं वदतीति निश्चिनुयात्तदा विचारकस्य विध्यंशेपि तथात्वसन्देहोद्भवे तत्र प्रवृत्तिव्याघातेन विधेः प्रवर्तकत्वसिद्धान्तो व्याहन्येत, वैयर्थ्यं च वेदस्य स्यात्, न च मध्वादिविद्यासु कल्पनोपदेशस्य व्यासपादैरङ्गीकारादत्रापि तथास्त्विति वाच्यम् । भूतार्थकप्रयोगविरोधापत्तेः । मध्वादिविद्यास्वपि 'तस्य द्यौरेव तिरश्चीनवंशोन्तरिक्षमपूर्वम्' इत्याद्युद्देश्यं रूपविशिष्टस्यैव रूपान्तरविधानदर्शनेन तावन्मात्रस्यैव काल्पनिकत्वात् । अन्यथा तत्रापि 'ता एता ऋच एतमृग्वेदमभ्यतप'न्नित्यादिबाधापत्तेः । न चार्थवादेषु सर्वत्र यथाश्रुतार्थग्रहण 'आदित्यो यूपः *यजमानः प्रस्तरः । गो अश्वा एव पशवोऽन्ये त्वपशव' इत्यादिगौणीव्युच्छेद इति वाच्यम् ।* तत्र प्रत्यक्षविरोधेन गौणीस्वीकारात्तदनुच्छेदात् । असति प्रमाणान्तरविरोधे तद्दृष्टान्तेनान्यत्र तथा वक्तुमशक्यत्वात्, तथासति 'प्रतितिष्ठन्ति ह वै य एता रात्रीरुपयन्ती'त्यादावार्थवादिकफलस्याप्यनङ्गीकारापत्तेः । तस्माद्यत्र प्रमाणान्तरविरोधस्तत्रैव कल्पनोपदेशसिद्धिः, नान्यत्रेति निश्चयः । तदेतद्धृदिकृत्वाहुः **साक्षा**दित्यादि । पूर्वतन्त्रविचारेणैवं परम्पराक्रियार्थत्वमुक्त्वा उत्तरकाण्डविचारेण साक्षात्क्रियार्थत्वमेवेत्याहुः **वस्तुत** इत्यादि । **य एवं वेदेति** । **वाक्यै**रिति, 'एतद्वै छन्दसां वीर्यमाश्रावयास्तु श्रौषड्यज ये यजामहे वषट्कारो य एवं वेद स वीर्यैरेव छन्दोभिरर्चति, इन्द्रस्य वा एषा यज्ञिया तनूर्यद्यज्ञस्तामेव तद्यजन्ति य एवं वेदोपैनं यज्ञो नमती'त्या(दि)जातीयैर्ज्ञानफलबोधकवाक्यैरित्यर्थः । **तमेवे**ति हेतुमेव । **तर्हि**सन्यस्य कथं ब्रह्माभेद इत्यत आहुः **आत्मन्यस्ति**त्यादि । अथशब्दस्यार्थान्तरग्रहणेप्ययमर्थः सिध्यतीत्याशयेन पक्षान्तरमाहुः **अथवे**त्यादि । **उत्क्रमाने**रिति, उपास्यत्वादिलिङ्गैः ॥ ९ ॥

अग्रिमाधिकरणमवतारयन्ति **एव**मित्यादि । **तत्रे**ति, भगवत्सम्बन्धे । **पठ्यत** इति, मुण्डके पठ्यते । एतत्पूर्वार्द्धं तु 'यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनि'मिति । **इति योजने**ति, अनेन परममुत्कृष्टं साम्यं समत्वमद्वैतलक्षणं उपैति अवगच्छतीति योजना निरस्ता । अद्वैतस्य वैषम्याभावरूपत्वेन लक्षणाग्रासात्, साम्यस्य द्वयधर्मत्वेन तदभावरूपतायां श्रुतिविरोधप्रसङ्गाच्च

तदपेक्षया पदावृत्त्यार्थान्तरग्रहणस्यैवौचित्यात् । **हानावि**ति । सूत्रे तुशब्देन श्रुत्यन्तरे समाभ्यधिकनिषेधात्तत्र साम्यपदं लक्षणयाऽद्वैतपरमितिपक्षो निरस्यते, तथा चेह साम्यशब्दो नाद्वैतपरः, किन्तु हानौ ओहाक् त्यागे । ब्रह्मणा सृष्टीच्छया स्वरूपात्यागे विभागस्य पूर्वस्थितित्यागात्मकत्वादविभागे इति यावत्, तस्यां सत्यां ये धर्मास्तिरोहितास्ते परमोपायने आविर्भूतास्तत्प्रयुक्तसाम्यपरः । तत्र हेतुः **उपायने**त्यादि । दृष्टान्तः **कुशे**त्यादि । 'कुशाछन्दःस्तुत्युपगानवत्' प्रस्तोतृस्थापितकुशाछन्दःस्तुत्युपगानसाधनभकारवदिति योजना । हानिशब्देनोच्यत इति, त्यागात्मकत्वात्क्षयात्मकत्वाद्वोच्यत इत्यर्थः । **तदेवे**ति, ब्रह्मसम्बन्ध एव । **अत्राभेदबोधना**दिति । जीवे ब्रह्माभेदबोधनात् । तदुक्तपदसूचितमर्थान्तरमाहुः **अपि चे**त्यादि । **ब्रह्मधर्मव**दिति, अत्र तत्सूचनवदित्यर्थः । उपसंहारप्रकरणे धर्मसाम्यविचारस्यासङ्गतत्वान्नायमधिकरणार्थ इत्याशङ्कायामाहुः **यथे**त्यादि । तथा चोपसंहारसादृश्यात्प्रासङ्गिकमेतन्निरूपणम्, फलविचारे उपयोक्ष्यमाणत्वाच्च प्रसङ्ग इत्ययमेवाधिकरणार्थ इत्यर्थः । यत्तु उपायनशब्दस्य हानशब्दशेषत्वं कैश्चिद्व्याख्यातम् । तच्चिन्त्यम् । आथर्वणिकश्रुतोपायनशब्दस्य फलबोधकत्वेन हानशेषत्वाभावेन, तस्य विषयवाक्यत्वाभावप्रसञ्जकत्वात् । 'तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूये'त्येतावन्मात्रस्यैव विषयवाक्यत्वेप्याथर्वणताण्डिकौषीतकिश्रुतिषु कम्पनार्थकविधूननशब्देन हान्यर्थालाभात्तस्य हानशेषतायाः क्लिष्टत्वात् । यदप्यस्योपायनवादस्य स्तुत्यर्थत्वादन्यदीयपुण्यपापयोः कथमन्यत्र प्राप्तिरित्यत्र नाभिनिवेशः कार्य इत्युक्तम् । तदपि न रोचिष्णु । 'राज्ञि चामात्यजा दोषाः पत्नीदोषाश्च भर्तरी'त्यादिस्मृतावभिमानमात्रेण दोषसंक्रमकथनात्, भारतादौ यमस्य माण्डव्यशापप्रसङ्गे बालकृतपापस्य जनकत्वोपाधिना पितृसंक्रान्तिस्मरणाद्विश्वामित्रपुण्येन त्रिशङ्कोः स्वर्गप्राप्तिस्मरणाच्चात्रापि तथा सम्भवेन स्तुतिमात्रत्वाङ्गीकारस्याप्रयोजकत्वात् । 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे, ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथे'त्यादिश्रुतिस्मृतिभिर्ज्ञानस्य कर्मनाशकत्ववद्विद्याविशेषस्यान्यत्र कर्मसंक्रामकत्वेपि बाधकाभावात् । ननु सुकृतदुष्कृतयोः कर्तृसामानाधिकरण्यस्यैव सर्वत्र दर्शनात्साक्षादन्यस्मिन् सम्भवो न शक्यवचन इति चेत् । न । 'राज्ञि चामात्ये'त्याद्युक्तस्मृतिविरोधापरिहारात् । *न च तत्र न साक्षात्सं[illegible]ऽपि तु फलस्य तत्र सम्बन्धात्तत्र तदुपचर्यत* इति वाच्यम् । हेतुव्यधिकरणस्य फलस्यैवाशक्यवचनत्वात् । वाक्यबलात्तु सुकृतदुःकृताङ्गीकारस्यापि शक्यकल्पनत्वात् । न च तत्रादृव्यत्वं बाधकमिति वाच्यम् । गन्धवदुपपत्तेः । अवयवगमनस्य युक्तिविरुद्धत्वात् । सूत्रकृताप्यनङ्गीकाराच्च । तस्मात्पूर्वोक्त एव प्रकारः साधीयानिति दिक् ॥ १० ॥

प्रसङ्गाद्भक्तिपूर्वदशां विचारयतीत्याशयेन सूत्रं पठन्ति **सम्पराय** इत्यादि । साम्पराय इति पाठे स्वार्थेण् बोध्यः । ननु सम्परायशब्दः परलोकवाचकत्वेन प्रसिद्धस्तत्कथं भक्तिपूर्वदशाविचारोत्रेतीत्याशङ्कायां सूत्रे तर्त्तव्याभावपदात्तथेति हृदिकृत्य तर्त्तव्यलिङ्गं विषयवाक्यमुपन्यस्यन्ति **वाजे**त्यादि । इदं वाक्यं शारीरब्राह्मणस्थम्, तत्र पूर्वं 'मनसैवानुद्रष्टव्य'मित्यनेन तद्दर्शनसाधनमुक्त्वा 'विरजः परं आकाशा'दित्यादिना विरजत्ववशित्वेशानत्वादीन् धर्मान् बोधयित्वा ततोऽनिरुक्तत्वाय 'नेति नेती'त्यनेनैतावन्मात्रत्वं निषिध्य, 'अगृह्यो नहि गृह्यते अशीर्यो नहि शीर्यतेऽसङ्गोऽसितो न सज्जते न व्यथते' इत्यनेन लौकिकप्रमाणाग्राह्यत्वमनाशित्वमसङ्गत्वं षिञ् बन्धने अबद्धत्वेन निर्दुःखत्वं चोक्त्वा तेन जडजीवविलक्षणं ब्रह्मस्वरूपं बोधयित्वा ब्रह्मण एतादृशत्वात्तद्विदपि साध्वसाधुकर्मरहित इति बोधयितुं पठ्यते 'अतः पापमकरवमतः कल्याणमकरवमित्युभे ह्येष एते तरत्यमृतः साध्वसाधुनी'ति, अत इदमभिसन्धाय पापमकरवं कृतवानस्मि अत इदमभिसन्धाय कल्याणं पुण्यं कृतवानस्मि इति

एवमभिसन्धिपूर्वकं कृते एते उभे साध्वसाधुनी हि निश्चयेन एष उक्तरीतिकब्रह्मवित् तरति अतिक्रामति अभिभवति अमृतः जीवन्नेव, नैनं कृताकृते तपतः एनं ब्रह्मविदं निन्दितकरणं च कल्याणाकरणं च न पश्चात्तापं जनयतः । नास्य केनचन कर्मणा लोको मीयते अस्य प्राप्तव्यो ब्रह्मलोकः केनापि नापवाति, प्राप्तव्यं प्राप्नोत्येवेत्यर्थः । तदेतदृचाभ्युक्तम् । ब्राह्मणोक्तोर्थो वक्ष्यमाणया ऋचाप्युक्त इत्यर्थः । ऋचमाह, 'एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न कर्मणा वर्द्धते नो कनीयान्, तस्यैव स्यात् पदवित्तं विदित्वा न कर्मणा लिप्यते पापकेने'ति । **एष** इति ब्राह्मणोक्तः । तं पूर्वोक्तरूपमात्मानं विदित्वा तस्यैवात्मनः पदवित् स्यात्, पदं चरणं स्थानं च, 'तद्धाम परमं ममे'ति वाक्यादक्षरवित्स्यात्, ततः पापेन लिप्तो न भवतीत्येवमक्षरब्रह्मविदो माहात्म्यमुत्कर्षमुक्त्वा, पठ्यते तत्साधनमुच्यते तस्मादित्यादिना, यस्मादेवं ज्ञातुर्माहात्म्यं तस्मादेवं शास्त्रतो ज्ञेयस्वरूपवित् शान्तो दान्तः निगृहीतान्तर्बहिःकरण उपरतो निवृत्तसर्वेहस्तितिक्षुर्दुःखसहिष्णुः श्रद्धाचित्त आस्तिक्यबुद्धिमानात्मन्येवात्मानं पश्येत्स्वात्मनि शारीरे पूर्वोक्तमात्मानमक्षरं पश्येत् । अर्हे कृत्यतृचश्चेति लिङ् । दर्शनार्ह इत्यर्थः । एवं दर्शनार्हतामुक्त्वा स्वस्य द्रष्टृत्वनिश्चयार्थं द्रष्टृलिङ्गानि वदति, सर्वमेनं पश्यतीत्यादिना, स्वाज्ञानार्थं लिङ्गान्युक्त्वा परज्ञानार्थमाह, विपापो विजरो विजिघत्सोऽपिपासो ब्राह्मणो भवति य एवं वेदेति । यदुक्तप्रकारकब्रह्मद्रष्टा स विपापादिलिङ्गैर्निश्चेय इत्यर्थः । एतस्य वाक्यस्य निष्कृष्टमर्थमाहुः **अत्रे**त्यादि । तत्तत्त्वलिङ्गां श्रुतिमुक्त्वा तदभावलिङ्गामाहुः **अथर्वणे**त्यादि । आदिपदेन तदुपबृंहणपुराणसङ्ग्रहः । अतः परं यदंशे संशयस्तं बोधयितुं पूर्वविचारितमंशं पूर्वमाहुः **अत**दित्यादि । अधिकारिभेदेन साधनभेदो वेद्यधर्मभेदश्चेत्येतत्पुरा 'न वा प्रकरणभेदा'दिति सूत्र एवोक्तमिति तदंशे सन्देहाभावात्सात्र पुनर्नोच्यत इत्यर्थः । सन्दिग्धांशं विवरीतुमाहुः **एतावा**नित्यादि । एवं सति मुक्तिकारणत्वसाम्याद्भक्तिज्ञानयोस्तौल्ये सति । व्याकुर्वन्ति **सम्पराय** इत्यादि । सम्परायशब्दस्य प्रसिद्धार्थग्रहणे भक्तिमार्गस्य बोधकस्याध्याहारापत्तिरिति तमर्थं विहाय यौगिकार्थं गृहीतुं पक्षान्तरमाहुः **अथवे**त्यादि । अत्र द्वेधा व्याख्यानेन पुरुषोत्तमज्ञानप्राप्त्योः साधनं भक्तिमार्ग एवेति बोधितम् । **तस्मा**दिति, ज्ञानमार्गात् । **एवं कथन**मिति, यौगिकपदेन कथनम् । भक्तेरेव पुरुषोत्तमज्ञानसाधनत्वं न ज्ञानस्येत्यत्र गीतावाक्यं प्रमाणत्वेनाहुः **ब्रह्मभूतस्ये**त्यादि । **त**थेति, भक्तेर्ज्ञानमार्गादुत्कृष्टत्वम् । तत्र तत्तत्त्वाभावे प्रमाणमाहुः **एवं सती**त्यादि । ननु सूत्र इदं कुतो लभ्यते इत्याकाङ्क्षायामाहुः **उक्ते**त्यादि । तेन धवितव्यलिङ्गाः कौषीतक्यादिश्रुतीरुपन्यस्य यत्सूत्रं व्याख्यायते तद्भिन्नमिति बोधितम् । उत्तरसूत्रमवतारयन्ति **ननु भक्ती**त्यादि । व्याख्यानं तु स्फुटार्थम् । तेन पापतरणं न सन्निपततीति सिद्धम् ॥ ११ ॥

एवमनेनाधिकरणेन ज्ञानापेक्षया भक्तेरुत्कर्षः साधितः । अतः परं 'तमेव विदित्वे'ति श्रुतौ साधनान्तरनिषेधश्रावणाद्भक्तेर्ज्ञानकारणत्वेन मोक्षकारणत्वं न तु साक्षादिति शङ्कामपाकर्तुमधिकरणान्तरमारभत इत्याशयेन सूत्रं पठन्ति **गते**रित्यादि । संशयं विवरीतुं विषयवाक्यान्याहुः **नन्वि**त्यादिना । **इत्युच्यत** इति, तथा च ज्ञानभक्त्योः समुच्चयो विकल्पो वेत्येकः संशयः । संशयान्तरमाहुः **किञ्चे**त्यादिना । **उभयत्रे**ति, उक्तश्रुतौ स्मृतौ च । तथा च नात्र स्मृतिविरोधकृतः संशय इत्यर्थः । तत्र तमेव संशयाकारं स्थापयितुं तद्बीजकहेतुकथनमुखेन संशयानपायमाहुः **विषये**त्यादि । तथा चैकतरज्ञानवतो मोक्षाभावप्रसक्त्या तद्बोधकश्रुत्यादिबाधप्रसक्तेरित्यर्थः । **समुच्चय** इति, ज्ञानभक्तिसमुच्चयः । विरोधाभावदूषणमुखेन संशयान्तरमाहुः **पूर्व**मित्यादि । पुनः संशयान्तरमाहुः **अपरं** चेत्यादि । **तत्साधनस्ये**ति ज्ञानसाधनत्वेत्यर्थः । पूर्वपक्षमाहुः **तथा** चेत्यादि । ननु ज्ञानस्य पुष्टिमर्यादाभेदेनैव फलवत्त्वमिति कथं बोध्यमित्यतस्तदाशयमाहुः **अत्रे**त्यादि । **सृष्टिपूर्वकाल** इत्यादि, कार्यमात्रं प्रति भगवदिच्छायाः कारणत्वेनेच्छायाश्च नित्यत्वेन तदैव तथेत्यर्थः । **तत्रे**त्यादि । विचारशरीरप्रविष्टोन्नयनकारणाकाङ्क्षाया उक्तरीत्या ज्ञानभक्तिवरणज्ञानाभावरमणादिबुद्धीनां शास्त्रे कथनेन मुक्तिसाधनानुगमे शास्त्रद्वारा मुमुक्षोः प्रवृत्तये हेतुरनुगमहेतुरवश्यं वाच्य इत्यर्थः । उभयोर्मर्यादापुष्ट्योः स्वरूपमुक्त्वा व्यवस्थामाहुः **तथा** चेत्यादि । **सर्वं सुस्थ**मिति । उदितानुदितहोमिवदधिकारिभेदाद्व्यवस्थितमित्यर्थः । एतेनैव पूर्वं ज्ञानमार्गीयज्ञानवतः पश्चाद्भक्तिमार्गीयज्ञानवतो लयस्थानानिश्चयोपि परिहृतो बोध्यः । क्रमेणाङ्गीकृतस्याक्षरे लयोत्तरं तत उद्धृत्य पुरुषोत्तमलयस्य शक्यवचनत्वात् । 'ते तु ब्रह्महृदं नीता मग्नाः कृष्णेन चोद्धृता' इत्यत्राक्षरे लीनानां तत उद्धारस्य कथनात् । एतेनैव स्मृत्योरपि विरोधः परिहृत इति बोधयन्ति **अत** एवेति । मार्गभेदेन व्यवस्थासौकर्यादेवेत्यर्थः । **तथेत्यर्थ** इति, मुक्तिसाधने मुमुक्षोः प्रवृत्तिप्रतिरोध इत्यर्थः । अत्रेदं बोध्यम् । ब्रह्मबोधकेषु वेदान्तवाक्येषु सृष्टिकर्तृत्वप्रशासितृत्वादिकमात्माभेदश्च प्रतिपाद्यते, ज्ञानस्य मोक्षसाधनत्वं वरणेनात्मविवरणं च । तत्र प्रकरणभेदादेवं ज्ञायते, केवलेन माहात्म्यसहितात्माभेदज्ञानेनाक्षरप्राप्तिर्वरणसहितेन स्वात्मस्वरूपदर्शनस्य विचारितत्वात्सुदृढस्नेहरूपायां भक्तौ पुरुषोत्तमप्राप्तिरिति, न च वरणमश्रुतमपि तत्रोपसंहार्यमिति वाच्यम् । विद्याधर्मत्वाभावात् । 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्य' इत्यादिना वरणश्रुतौ साधनालभ्यत्वश्रावणस्य श्रवणादिविधिविरुद्धत्वेनोपसंहारस्याशक्यत्वाच्च । एवं साधनभेदेन ज्ञानविषयफलयोर्भेदसिद्धौ पूर्वोक्तोन्निनीषा श्रुतिसिद्धविचारशरीरे श्रौतसाधनतदभावतद्विरुद्धकामादीनामपि प्रवेशेन वरणेपि प्रकारभेदसिद्धौ तस्य पुराणोक्तोपबृंहणैर्विशेषावगतिं हृदिकृत्य सूत्रकृता इदमधिकरणं प्रणीतमिति पुराणस्थविरोधपरिहारचिन्तनमत्र कृतम्, न तु मुख्यतया तेषां विषयवाक्यत्वमिति वैदिकंमन्यबहिर्मुखबोधनाय वर्त्म, वस्तुतस्तु 'सर्ववेदेतिहासानां सारं सारं समुद्धृत'मिति वाक्याद्वेदत्वमेव, 'इतिहासपुराणं पञ्चमो वेद' इति श्रुतेश्च, तेन तद्वाक्यत्वेनापि विषयवाक्यत्वमिति । प्रकृतमनुसरामः । एतस्याधिकरणस्य पूर्वाधिकरणोत्थशङ्कानिरासरूपं प्रयोजनान्तरमाहुः **एतेने**त्यादि । **नन्वि**ति, पूर्वाधिकरणे सर्वपापक्षये भक्तिरुदेतीत्युक्तं तत्रेदमाशङ्क्यत इत्यर्थः । **न साधीया**निति, तथा च पापं विना भगवति कापट्यासम्भवात्तथेत्यर्थः । एतेन सम्परायाधिकरणसिद्धान्त आक्षिप्तो ज्ञेयः । तमप्यत्र मार्गभेदेन समादधते **तथा ही**त्यादि । **धर्तुं शक्य**मित्यन्तम्, तथा च पूर्वाधिकरणसिद्धः सिद्धान्तो मर्यादामार्गविषयः । सत्यपि पापे भक्त्युदयस्तु पुष्टिमार्गे तेन न चोद्यावकाशः । नापि श्रवणादिदर्शनात्तेषां पापनाशनाय क्रियमाणत्वं शङ्क्यम् । तेषां फलमध्यपातित्वात् । नचैवं सति पश्चात्पापसत्तायां तदर्थं यत्नान्तरकृतिवैयग्र्यादिकं शङ्क्यम्, भगवतैव तन्नाशादिसम्भवेन सर्वसौस्थ्यादित्यर्थः । भगवतैव तत्पापनाशे प्रमाणमाहुः **तदुक्त**मित्यादिना । एतद्व्याख्याने, **तद्दुःख**दमित्यत्र तदिति भिन्नं पदम् । ननु तर्ह्याधुनिकविकर्मणः का गतिरित्यपेक्षायामाहुः **उक्ते**त्यादि । मत्तो भूतं न तु मया कृतमितिवद्धेति, अकामतः कृतमबुद्धिपूर्वकं च कृतम् । तथा च सांसर्गिकं वा अकामादबुद्धिपूर्वं कृतं वेत्यर्थः । तृतीयमकृतमप्यज्ञानात्मकमन्यदाहुः **त्यक्ते**त्यादि । एतादृशस्थले तस्य पापमेव न, किन्तु भगवदिच्छैव तादृशी सन्मार्गस्थापनार्थेत्याशयेनाहुः **यत्ते**त्यादि । किन्तु बहुना, भक्तहृदयस्थः स्वभक्तभक्तस्यापि दूरीकरोतीत्याशयः सर्वपदेनोच्यत इत्याहुः **कदाचि**दित्यादि । सिद्धमाहुः **अत्रे**त्यादि । अत्रेति, पुष्टिमार्गे । अत्रेदं सिद्धम् । मर्यादाभक्तिमार्गे तत्तत्त्वाभावात् ज्ञानमार्गेत उत्कर्षः । पुष्टिभक्तिमार्गे तु कचित्पापसत्त्वेपि भगवता तन्नाशा[illegible]विशेषादुत्कर्ष इति ॥ १२ ॥

अग्रिमाधिकरणमपि भक्ततारतम्यबोधनद्वारा वरणश्रुतिविचारस्य प्रपञ्च इत्याशयेन सूत्रं पठन्ति **उपपन्न** इत्यादि । अत्र पूर्वाधिकरणसिद्धपुष्टिभक्त्युत्कर्षासहिष्णुमर्यादाभक्तरूपपूर्वपक्षवादिमुखेन विषयवाक्यं संशयं च वदन्तः सूत्रं व्याकुर्वन्ति **नन्वित्यादि** । तत्र मुक्तेस्तदनपेक्षत्वस्य श्रौत(त्व)बोधनायाह **तदुक्तमिति** । कुत्रेत्याकाङ्क्षायामाह **अष्टादशार्णेत्यादि** । भक्तिरहस्यभजनमिति । भक्तिशब्दाच्छान्दसः सोर्लुक् । रहस्यभजनमित्यस्यैव विवरणं **तदिहेत्यादि** । अमुष्य वस्तुत एतदीयस्यात्मनो जीवस्येहामुत्रोपाधिनैराश्येनैव ऐहिकसुखमुक्तिपर्यन्तामुष्मिकसुखविषयकेप्साराहित्येनैव कल्पनं तदीयत्वसमर्थनं अन्तर्बहिःसेवया तद्दृढीकरणमित्यर्थः । अयं पाठः शाखान्तरीयः । उक्तवाक्यद्वयस्य तात्पर्यं विचार्यत्वेनाह **एतदत्र विचार्यत** इति । कथमित्याकाङ्क्षायामाह **मन्त्रेत्यादि** । **अत एवेति**, स्वरूपस्य फलत्वादेव । **इति संशय** इति, उक्तहेतुभ्यामुभयसाम्यमेव युक्तमिति पूर्वपक्षगर्भे संशय इत्यर्थः । ननु पुरुषोत्तमे सायुज्येपि सौत्रहेतोः सत्त्वात्कथं रहस्यभजनकर्तुराधिक्यसिद्धिरित्यत आहुः **यद्यपीत्यादि** । अयमेवार्थः सूत्रकाराशयगोचर इत्याहुः **अत एवेति** । उक्तस्यार्थस्याभिप्रेतत्वादेव । तथा च रहस्यभजनकर्ता उप समीपे पन्नो गत इति हेतोरुपपन्न इत्यर्थः । रहस्यभजनकृत उपपन्नताया विषयवाक्यादेव लाभादर्थस्य गोप्यत्वाच्च न वारद्वयं तत्प्रयोगः । चतुर्विधमुक्तव्यावृत्त्यर्थं तादृशस्य सिद्धं स्वरूपमाहुः **तेनेत्यादि** । एतदेवोहापोहेन द्रढयन्ति **न चेत्यादि** । इतोप्युत्कटभक्तसूचनाय पक्षान्तरमाहुः **अथवेत्यादि** । एवं परमा भक्तिकाष्ठा सूचिता । तेन फलभक्तौ मुक्तिर्न सन्निपतीति सिद्धम् ॥ १३ ॥

अतःपरं भक्तिसाध्यायां मुक्तौ सर्वा भक्तयः सन्निपतन्ति न वेति विचारयितुमधिकरणान्तरमारभत इत्याशयेन सूत्रं पठन्ति **अनियम** इत्यादि । विषयवाक्यपाठः शाखान्तरस्थः । **सर्वाङ्गे** मनोनिवेदनं धारयतिपदार्थः । रसति, कीर्त्तयति जपतीत्यर्थः । **भजति**, शरीरादिना सेवते । ध्यायते, एकदेशं लीलां वा चिन्तयति । **प्रेमति**, स्निह्यति युधिष्ठिरादिवत् । उपदिशति, भगवन्तं मन्त्रद्वारा बोधयति कथयति वा । **आचरति**, भगवद्धर्मानिति शेषः । प्रत्येकपक्षे लोकविरोधमाशङ्क्य परिहरन्ति **नन्वित्यादि** । **एवमेवाहेति**, प्रत्येकपक्षमेवाहेत्यर्थः । एवमनेन वर्णकेन प्रत्येकपक्षं व्याख्याय समुच्चये लोकन्यायेन फलशैघ्र्यं बोधयितुं वर्णकान्तरमाहुः **एतेनेत्यादि** । **श्लिष्ट** इति, अनियम इत्यनेन एकमेव कर्त्तव्यं न द्वयं त्रयमित्यस्याप्यनियमस्य सङ्ग्रहात्तथेत्यर्थः ॥ १४ ॥

पूर्वोक्तानां भगवद्धर्माणां फलव्यभिचारं परिहर्तुं प्रसङ्गादधिकरणान्तरमारभत इत्याशयेन सूत्रं पठन्ति **यावदिति** । मुक्तो भवति न वेति विचार्यत इति । मुक्तिं प्राप्नोति न वा, यदि प्राप्नोति, तदा भक्तित्वं न मुक्तिजनकतावच्छेदकं, यदि न प्राप्नोति तदा भगवद्धर्मत्वमपि न तथा, तथा चाद्ये पूर्वोक्तश्रुतिविरोधो द्वितीये भगवद्धर्माणां प्रतिबन्धकत्वप्रसङ्ग इत्यतो विचार्यत इत्यर्थः । अत्र भगवद्धर्माणां वरणहेतुकत्वात्तैरपि मुक्तिरित्येकः पूर्वपक्षवादी, विहितत्वाभावान्नेत्यपरस्तत्रोभयत्र मुक्तिसद्भावात्सन्देह एव पर्यवस्यतीत्याशयेनाहुः **तत्रेत्यादि** । सिद्धान्तमाहुः **यस्मिन्नित्यादि** । **तत्सम्पत्ताविति**, कार्यसम्पत्तौ । **तथैव विचारितत्वादिति**, अधिकारसमाप्त्यनन्तरमेव भक्तेः फलोन्मुखत्वस्य विचारितत्वात् । तथा च सामग्र्यभावेन विलम्ब इति न भगवद्धर्माणां मुक्तिप्रतिबन्धकत्वं न वा भक्तित्वस्य मुक्तिजनकतावच्छेदकत्वहानिरित्यर्थः । अधिकारिणां मुक्तिश्च न **ब्रह्मणा सहैव** नियता, किन्त्वधिकारसमाप्तौ नियतेति बोधयितुं **ब्रह्मणा सहेति** वाक्यविषयमाहुः **यथेत्यादि** । अनेनाधिकरणेन 'भक्ताधिकारिणां मुक्तिरन्यथा प्रकृतौ लयः । पुनः सृष्टौ तथैश्वर्यं कर्मिणां पुनरागति'रिति सर्वोपि विषयः सूचितो बोध्यः । अत्र भक्तपदं ज्ञानिनामप्युपलक्षकम् ॥ १५ ॥

मुक्तिस्वरूपविचारायाग्रिममधिकरणमित्याशयेन सूत्रं पठन्ति **अक्षरेत्यादि** । विषयसंशयौ पूर्वपक्षकुक्षावेव निक्षिप्याहुः **नन्वित्यादि** । **मुक्तौ च तदसम्भवादिति**, 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्ति'रिति श्रुत्या वैजात्यासम्भवात् । श्रुत्योर्विरोधे स्मृतेर्निर्णायकत्वमभिप्रेत्याहुः **भक्त्येत्यादि** । **भक्तौ ज्ञानस्यापि सम्भवादिति**, ज्ञानकारणत्वबोधकश्रुतेः सावधारणत्वाद्भक्तिकारणत्वबोधिकायां तदभावादुक्तार्थस्य गीतास्मृत्योपबृंहितत्वाच्चेत्यर्थः । तथा च 'गतेरर्थवत्त्व'मित्यधिकरणे मर्यादामार्गे ज्ञानस्य मुक्तिसाधनतायाः प्रतिपादनाद्भक्तेः परम्परया कारणतामादाय भक्तिकारणतावाक्यानि समर्थनीयानीति भावः । **आहेति**, विषयभेदव्यवस्थया मुक्तौ वैजात्यं वारयञ्ज्ञानस्य परम्परया कारणत्वमाहेत्यर्थः । तदुपपादयन्ति तुः **पूर्वपक्षनिरास** इत्यादिना, भक्तिः परम्परया कारणमिति शङ्कैव न कार्येत्यर्थः । तत्र हेतुं व्याकर्तुं श्रुतितात्पर्यं विशदयन्ति **वाजेत्यादि** । तथा च श्रुतावक्षरज्ञानस्य फलद्वयकथनादियं शङ्का न कार्येत्यर्थः । ननु तावता सा कथं निवर्तत इत्यत आहुः **भक्त्येत्यादि** । तथा च भक्तेरक्षरज्ञानाजनकत्वाद्यतो न परम्परितत्वमतस्तथेत्यर्थः । नन्वेवं सति कारणवैजात्यान्मुक्तौ वैजात्ये श्रुतिर्विरुध्येतेत्यत आहुः **किञ्चेत्यादि** । **तस्येति**, ब्रह्मभावस्य । **पूर्वकक्षाविश्रान्तमिति**, तेन 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवती'त्यादितत्फलवाक्यानामपि तत्रैव विश्रान्तिर्न तु पुरुषोत्तमप्राप्तिपर्यन्तत्वम्, तेनाक्षरप्राप्तेर्मुक्तित्वं यदुच्यते, तदक्षरस्य पुरुषोत्तमाविनाभावेन तत्सामीप्यादुच्यते, न तावता परमुक्तित्वम्, तेनावधारणमपि पुनरावृत्त्यभावेन मृत्य्वतिक्रमेण कैवल्येनाक्षरप्राप्तेः ब्रह्मभावात्मकत्वेन चोपपद्यमानं न विरुध्यते । ननु यद्यक्षरप्राप्तेर्न परमुक्तित्वं तज्ज्ञानं च पूर्वकक्षाविश्रान्तम्, तर्हि तैत्तिरीयश्रुतौ मुक्तिसाधनत्वेन कथं तदुच्यत इति चेत्तत्राहुः **एवं सतीत्यादि** । पुरुषोत्तमसम्बन्धिसम्बन्धे मुक्तिरिति सामान्यमिति । श्रवणादीनामिवाक्षरस्यापि पुरुषोत्तमसम्बन्धित्वात् तथेत्यर्थः । **यद्वा** । यथा भक्तस्य पुरुषोत्तमसम्बन्धित्वं तथा पुरुषोत्तमधाम्नोऽक्षरस्यापीति भक्तभक्तिवदक्षरधीरपि परम्परया मुक्तिसाधनं तेनैवं सामान्यमित्यर्थः । तद्भावं व्याकुर्वन्त एव हेतू योजयन्ति **मर्यादेत्यादि** । ननु भवत्वेवं पुरुषोत्तमप्राप्तेर्मुक्तित्वम्, परन्तु पूर्वोक्तश्रुत्योर्विरोधस्तु परिहार्य इत्याशयेन सूत्रोक्तं दृष्टान्तं व्याकर्तुमवतारयन्ति **नन्वित्यादि** । **हेतुम्**, भगवदिच्छारूपम् । तथा चौपसदे यथा यजमानस्नेहेन यज्ञयशःप्रापणेच्छया तानूनप्त्रप्रथमावमर्शनं तथा भगवत्कृपया स्वप्रापणेच्छया भक्तिसहितमक्षरवेदनमिति तया तथेत्यर्थः । सूत्रोक्तां सम्मतिं व्याख्यातुमवतारयन्ति **नन्वित्यादि** । एतानि वाक्यान्यष्टमाध्यायस्थानि । **वैलक्षण्यमिति**, साधनसौकर्यं स्वप्राप्तिरूपफलोत्कर्षं च । अत्राक्षरस्वरूपकथने तस्य परमगतित्वं स्वधामत्वं चोक्त्वा परस्य यद्भक्त्येकलभ्यत्वं वक्ष्यति तदक्षरादुत्तमत्वेन वाक्यान्तरे सिद्धे स्वस्मिन्नेव परत्वविश्रान्तेः स्वस्यैव वक्ष्यति । बाधकाभावे तच्छब्देन सन्निहितपरामर्शाच्च । तदेतदुक्तं **स्वस्य चक्तुमिति** । **एतेनेति**, 'क्षरः सर्वाणि भूतानी'ति वाक्यान्तरसिद्धं भूतग्रामं व्यक्तकोटौ निवेश्य ततः परत्वकथनेनेत्यर्थः । **यमित्यादि** । भूतग्रामपदेन जडान् गृहीत्वा अक्षरपदेन जीवग्रहण एतौ दोषौ प्रसज्येयातामित्यर्थः । स्फुटमन्यत् । उक्तस्यार्थस्य श्रौतत्वं बोधयितुं तैत्तिरीयश्रुत्यर्थं प्रकाशयन्तः सामान्यतद्भावाभ्यामित्यस्यार्थान्तरं सङ्गृह्णन्ति **किञ्चेत्यादिना** । अग्रिममन्त्रे लोकाक्षरस्य वक्ष्यमाणत्वादत्रत्यस्य तस्यार्थमाहुः **अत्रेत्यादि** । एतमुपष्टम्भन्ति **अत एवेत्यादि** । द्वितीयमन्त्रस्थाक्षरपदस्यार्थं लिङ्गबलेन लोकात्म(कत्व)माहुः **यदित्यादि** । यदर्थमिदं निरूपितं तदाहुः **एवं सतीत्यादि** । अत्र भट्टभास्करशङ्कररामानुजभाष्येषु पूर्वोक्तवाजसनेयकाथर्वणोक्ताक्षरवाक्यद्वयमेव विषयवाक्यत्वेनोदाहृत्य किमेषां विशेषप्रतिषेधबुद्धीनां सर्वत्र प्राप्तिरुत व्यवस्थेति संशये, यथायथं प्रकरणावरोधात्, श्रुति-

विभागात्, विधान्तररूपस्य विधान्तररूपत्वे प्रमाणाभावान्निषेधरूपाणां गुणानामानन्दादिवत्स्वरूपावगमोपायत्वाभावाच्चेति हेतुभिर्नान्यत्र प्राप्तिरिति पूर्वपक्षः । सिद्धान्तस्तु, यथायथम्, प्रपञ्चपर्युदासस्य, विशेषनिराकरणरूपस्य ब्रह्मबोधनप्रकारस्य, सामान्यात्, तस्य प्रतिपाद्यस्य ब्रह्मणः सर्वत्र भावादैक्यात्सर्वत्रावरोध इति भट्टभास्करशङ्करमते । ते'नानन्दादयः प्रधानस्ये'त्यत्र विधिमुखो विचारोत्र तु निषेधमुख इति तस्यैवायं प्रपञ्चः । तेनैतदधिकरणं नात्यन्तावश्यकम् । रामानुजभाष्ये तु, सर्वेषूपासनेषु ब्रह्मणः समानत्वात्, अस्थूलत्वादीनां तत्प्रतीतौ भावात् अन्तर्भावात् । अयमर्थः । केवलानन्दादेः प्रत्यगात्मनि विद्यमानत्वेन तेषामसाधारणाकारेण ब्रह्मोपस्थापकत्वाभावादसाधारणाकारनिश्चयार्थं हेयप्रत्यनीकताज्ञानस्यावश्यकत्वेन चिदचिदात्मकप्रपञ्चवैलक्षण्यबोधनमावश्यकम् । तत्रास्थूलत्वादिना अचिद्वैलक्षण्यं प्रशासनेन चिद्वैलक्षण्यं च वाजसनेयके उच्यते, एवमाथर्वणेपि अदृश्यत्वादिकथनान्निरङ्कुशकर्तृत्वसर्वज्ञत्वादिना ज्ञेयम् । तथा चास्थूलत्वादिविशेषितज्ञानानन्दाद्याकारस्य ब्रह्मणोनुसन्धेयत्वादस्थूलत्वादीनामानन्दादिवदस्ति ब्रह्मप्रतीतावन्तर्भाव इति तासामस्थूलत्वादिबुद्धीनां सर्वत्रावरोध इति सिद्धान्तः । तेनेदमधिकरणं तत्सहकारित्वादत्यन्तावश्यकमिति तदपेक्षयेदं मतं युक्तम् । ननु तर्हि पूर्वपक्षोक्तहेतूनां का गतिरित्याकाङ्क्षायां गुणानां प्रधानावर्तित्वे दृष्टान्तं तत्र प्रमाणं चाहौपसद्वत्तदुक्तमिति । यथा चतूरात्रे जामदग्न्याहीने पुरोडाशिनीसूपसत्सूपसद्गुणभूतः सामवेदपठितोप्यग्निर्वै होत्रं वेत्वित्यादिकः पुरोडाशप्रदानमन्त्रो विनियोगविधेर्याजुषत्वेन यजुर्वेदिनाध्वर्युणा याजुर्वेदिकेनोपांशुस्वरेण पठ्यते न तूद्गात्रा सामगेन सामस्वरेणोच्चैस्त्वेन तद्वत् । तदुक्तं पूर्वकाण्डे शेषलक्षणे । 'गुणमुख्यव्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेदसंयोग' इति । अर्थस्तु, गुणमुख्ययोर्व्यतिक्रमे विरोधे सति तदर्थत्वात् गुणस्य उत्पत्तिविधेस्तदर्थत्वात्प्रधानार्थत्वात् मुख्येन याजुर्वैदिकेन विनियोगविधिना वेदसंयोगो ग्राह्य इति । पूर्वोक्तभाष्यत्रयेपि समानम् । शाबरे भाष्ये त्वत्रान्यदुदाहृतम् । तथाहि । अस्त्याधानं यजुर्वेदविहितं 'य एवं विद्वानग्निमाधत्त' इति, तदङ्गत्वेन यजुर्वेद एव गानं च विहितं 'य एवं विद्वान्वारवन्तीयं गायति, यज्ञायज्ञीयं गायति । वामदेव्यं गायती'ति । एतानि सामानि च सामवेद उत्पन्नानि । अतः केन स्वरेण पठनीयानीति सन्देहे उत्पत्तिविधेर्विनियोगविध्यधीनतया यजुर्वेदस्वरो ग्राह्य इति । एवं चात्र विचारे क्रियमाणे पूर्वोक्तमतद्वयं न रुचिरम् । अक्षरस्य धीरित्यत्राक्षरस्येति षष्ठ्यां अक्षरस्य विशेषनिषेधस्य सम्बन्धितया निवेशेन गौरवात् प्रशासनादेरसङ्ग्रहाच्च पूर्वोक्तानावश्यकत्वदोषाच्च । तृतीयं तु त्रितयाभावादुत्तमम् ॥ १६ ॥

अक्षरानन्दपुरुषोत्तमानन्दयोस्तरतमभावस्य बोधनायाग्रिममधिकरणमित्याशयेन सूत्रं पठन्ति **इयदामननादिति** । अत्राक्षरपुरुषोत्तमानन्दयोस्तारतम्यमस्ति न वेति संशयः । **अविशेषान्नास्तीति** पूर्वपक्षश्च ज्ञेयः । **आनन्दमयत्वेनेत्यादि** । आनन्दमये उपसङ्क्रममुक्त्वाऽऽनन्दमयं लक्षीकृत्य 'यतो वाचो निवर्तन्त' इति श्लोकेन वाङ्मनसागोचरत्वकथनात्पूर्वाधिकरणे पुरुषोत्तमानन्दस्याधिक्यनिर्धारणमित्यर्थः । ननु 'यतो वाच' इति श्लोको मनोमये कदाचनेति पाठभेदेन पठ्यते, ब्रह्मोपनिषदि चैतदुत्तरार्ध'मानन्दमेतज्जीवस्य यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुत' इति पठ्यतेऽतो नैतेन पुरुषोत्तमानन्दाधिक्यसिद्धिरिति चेत् । न । मनोमयस्य यजुःशिरस्त्वादिना वेदात्मकत्वनिश्चायनाद्वेदस्य च शब्दब्रह्मात्मकस्य 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ती'तिश्रुत्या ब्रह्मबोधकत्वेन ब्रह्मणः वेदात्मकान्मनोमयाद्वाङ्मनसगोचरमानन्दं विद्वान् कदाचन न बिभेतीत्येवं पुरुषोत्तमानन्दज्ञानसाधनत्वेन मनोमयश्लोकार्थस्य बोद्धव्यत्वात् । ब्रह्मोपनिषद्यपि ज्ञेयत्वेन तस्य जीवसम्बन्धित्वबोधनस्याभिप्रेतत्वात्, 'यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुत' इति तुरीयपादेन तथा निश्चयात् । अतो न चोद्यावसर इति दिक् ॥ १७ ॥

सिद्धेषु ज्ञानसाधनेषु वृत्तिरात्मनो ब्रह्माभेदसाक्षात्कारात्मिका भवतीति 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवती'त्यत्र श्रुतम् । सा भक्तावपि सिद्धायां 'भक्त्या मामभिजानाती'त्यभिज्ञावाक्यावेदिते ज्ञाने निवेशं लभते नवेत्येतद्विचारायाधिकरणान्तरमारभत इत्याशयेन सूत्रं पठन्तो विचारयन्ति **अन्तरेत्यादि** । **भक्तिमार्गे** इति, फलभक्तिमार्गे । **सर्वान्तरत्वादित्यादि**, 'अन्योन्तर आत्मा आनन्दमयः पृथिव्यां तिष्ठ'न्नित्यारभ्य 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोन्तर' इत्यादौ परमात्मा सर्वान्तरत्वेन श्रावितः, स च यदन्तस्तिष्ठति तमन्तरयति वह्निरिवायोगोलकम् । तथा सति श्रौतेन येन केनापि साधनेन तस्मिन्नभिज्ञायमाने स्वात्मनस्तद्व्याप्तत्वेन भेदास्फुरणात् स्वात्मत्वेनास्य तज्ज्ञानमदण्डवारितमतस्तद्भवतीत्यर्थः । **तथात्वेपीत्यादि** । सर्वान्तरतयैतदात्मनस्तदविभक्तत्वेपि 'सर्वस्य वशी'त्यादिश्रुत्युक्तसर्वेश्वरत्वादिधर्माणामेवोत्कटभक्त्या स्फुरणादेतत्पुरस्कृतमेव ज्ञानं भवति, न तु स्वात्मत्वप्रकारकमित्यर्थः । नन्वभिज्ञाने सर्वांशज्ञानदर्शनात्तदंशाज्ञाने हेतुं न पश्याम इत्याकाङ्क्षायामाहुः **अत्र तथेत्यादि** । **विपरीते**, स्वात्मत्वेन ज्ञाने । एतदेव व्याकुर्वन्ति **पूर्वस्मिन्नित्यादि** । **स इति**, भजनानन्दः । **न सम्पाद्यत इति**, क्रीडार्थो मुख्यो भक्तिमार्गः क्रीडा च भेदादेव सिध्यतीति 'स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छ'दित्यादिश्रुतिभ्योऽवसीयतेऽभेदश्च तद्व्यवधायक इति तथेत्यर्थः । **अन्यथाभावादिति**, अभेदज्ञानस्य विलायकस्वभावत्वेन तद्वतो विलयादित्यर्थः । नन्वस्तु तस्यां तथात्वं तथापि न सम्पादयतीति कथमवगन्तव्यमित्यत आहुः **तत्सम्पादनस्येत्यादि** । **अलौकिक इति**, साक्षात्सम्बन्धस्य हेये लौकिकशरीरे असम्भवात्तथेत्यर्थः । **नथेति**, चिकीर्षितलीलाप्रतिबन्धकत्वमेवास्य हीनत्वं तस्मादिदं न सम्भवतीत्यर्थः । प्रतिबन्धकस्यासम्भवो ज्ञानमार्गे तुल्य इति तद्दृष्टान्तेन तं बोधयितुं दृष्टान्तं प्रकारान्तरेणाहुः **अथवेत्यादि** । आत्मत्वेन ज्ञानाभावस्यायुक्तत्वमाशङ्क्य परिहरतीत्याशयेन सूत्रं पठन्ति **अन्यथेत्यादि** । **नन्वित्यादि** । 'उपपन्न' इति सूत्रे दासीदाससुहृद्भेदेन त्रिविधा लीलामध्यपातिभक्ता उक्तास्तत्र 'नोद्धवोण्वपि मन्न्यून' इति वाक्यादत्यन्तरङ्गः आदिपदेन व्रजस्थास्तेपि 'रामेण सार्द्धं मथुरां प्रणीत' इत्यादिना विगाढभावा उक्ता इति तेष्वपि चेत्साक्षात्सन्देशद्वारा चोपदेशस्तदेतरेषु किं वाच्यम्, किञ्च, तेषु चेदुपदेशो निष्फलस्तदाऽपार्थकार्यकर्तृत्वाज्जीवतुल्यत्वापत्तिरिति तस्य तत्र फलमवश्यमभ्युपेयम्, तथा सति पूर्वोक्तमिति सूत्रांशेनाशङ्क्य परिहरतीत्यर्थः । परिहारं व्याकुर्वन्ति **नहीत्यारभ्येत्यर्थ इत्यन्तम्** । तथा चोक्तरीत्या फलान्तरसत्त्वेनावैफल्ये सति न जीवतुल्यत्वापत्तिर्नापि ज्ञानमार्गोत्कर्ष इत्यर्थः । ननूक्तरीत्या भजनानन्दप्रतिबन्धाभाव एव, न ब्रह्माभेदानुभव इत्यत्र किं गमकमित्याकाङ्क्षायामाहुः **अन्यथेत्यादि** । **ज्ञेयमिति**, कुरुक्षेत्रप्रसङ्गस्थोत्कण्ठावाक्यैर्ज्ञेयमित्यर्थः । अयमेव सूत्रकाराशय इति ज्ञापनायाहुः **अत्रेत्यादि** । **उपदेशान्तरपदमिति**, दृष्टान्तकोटिप्रविष्टं तत्पदम् । **तस्याभावादिति**, अभेदोपदेशस्य दार्ष्टान्तिकत्वेन दृष्टान्ते प्रवेशाभावादित्यर्थः । सिद्धमाहुः **एतेनेत्यादि** । मार्गभेदेन प्रकारभेदेन चैकस्यैवात्मोपदेशस्य दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावेनोक्तार्थसिद्धौ सम्भवत्यां किमित्युपदेशान्तरं ग्राह्यमित्याशयेन पक्षान्तरमाहुः **अथवेत्यादि** । **क्रियत इति**, मैत्रेयीब्राह्मणादौ क्रियते । **अत्रेति**, भक्तिमार्गे । **बोध्यत इति**, आत्मोपदेशेन बोध्यते । गतार्थत्वमाशङ्क्य परिहरन्ति **यद्यपीत्यादि** । **एतावतेति**, आत्मबोधनमात्रेण । **आयातीति**, फलत्वेन नायातीत्यर्थः । निदर्शनस्य पूर्वमेवोक्तत्वात्सिद्धमाहुः **अत्र इति** । तथाच यत्र किञ्चित्कार्यार्थं विप्रयोगतापसहनमावश्यकं तत्रैवं प्रभुः करोति, न तु सर्वत्र, अतः पूर्वोक्तं **सारमुपपन्नमित्यर्थः** । एवं करणस्य प्रासङ्गिकं फलमाहुः **नेनेत्यादि** ।

अत्रोद्धवादिषूपदेशस्य स्मार्तत्वं न शङ्कनीयम् । 'विधिश्च प्रतिषेधश्चे'त्यादिप्रश्नेन, 'मां विधत्तेभिधत्ते मा'मित्याद्युत्तरेण च श्रौतत्वस्य स्फुटीकरणेन श्रुतिभिरेवोपदेशनिश्चयात् । शूद्रादीनां श्रवणाधिकारायैव व्यासपादैः स्वश्लोकैरुक्तत्वात् । 'सर्ववेदेतिहासानां सारं सारं समुद्धृत'मिति वाक्यात् । एवं सन्देशेपि 'एतदन्तः समाम्नाय' इति वाक्यात् ज्ञेयम्, तेन न चोद्यावकाशः ॥ १८ ॥

ननु यद्यभेददर्शनस्य भक्तिफलत्वं न स्यात्तदा लीलास्थानां स्वस्मिन् ब्रह्माभेदो न स्फुरेत्, दृश्यते च स इति पूर्वाधिकरणसिद्धान्तोऽयुक्त इति शङ्कायामुत्तरमधिकरणमित्याशयेन सूत्रं पठन्ति **व्यतिहार** इत्यादि । एतरेथ इव तैत्तिरीये आवृत्त्यभावात्कथं व्यतिहारलाभ इत्यत आहुः **अत्रे**त्यादि । व्यतिहारेणाभेदबुद्धौ तात्पर्यं श्रुतेरिति वदतां तेन तदसिद्धिं बोधयन्तो दूषयन्ति **अपरं चे**त्यादि । शेषं तूत्तानार्थम् ॥ १९ ॥

फलमुखेन भक्त्युत्कर्षं साधयित्वा साधनमुखेन तं साधयितुमग्रिममधिकरणमित्याशयेन सूत्रं पठन्ति **सैव हीति** । शेषमतिरोहितार्थम् ॥ २० ॥

ननु भक्तेः कथमेवमसहायशूरत्वमित्याकाङ्क्षायां तत्र हेतुं बोधयितुं कैमुतिकेन स्वरूपत उत्कर्षं च बोधयितुमग्रिमाधिकरणं प्रणयतीत्याशयेन सूत्रं पठन्ति **कामादी**ति । तदेतद्विशदयन्ति **पूर्वसूत्र** इत्यादि । सूत्रं व्याकर्तुं तदुपयोगित्वेन भक्तिविभागं विभाजकोपाधिस्वरूपं च पूर्वमाहुः **भक्ति**रित्यादि । **अन्यत्र** इति, शास्त्रव्यतिरिक्तात्स्वभावादितः । **इतरत्रे**त्यस्यार्थः कामाद्युपाधिजस्नेहरूपायामिति । **इत्यर्थ** इति, इत्येषोर्थः शेषभूत इत्यर्थः । कथमेवमित्याकाङ्क्षायां तत्र प्रयोजकमाहुः **भगवती**त्यादि । **भवती**त्यन्तम् । सूत्रशेषं व्याकुर्वन्ति **तत्रे**त्यादि । तेषु तथा प्रयोगप्राचुर्यादिति । **यथा पञ्चायतनपूजे**ति । **एतेने**ति । कामादीनां गृहादीनां च मुक्तिसाधकत्वकथनेन । **इति ज्ञापनाये**ति, तेन विहिताविहितोभयरूपापि संगृहीतेति भावः । **इतरे तु** । 'अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोस्मिन्नन्तर आकाश' इत्युपक्रम्य 'एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्प' इति छान्दोग्ये आम्नायते । 'स वा एष महानज आत्मा योयं विज्ञानमयः प्राणेषु, य एषोन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते सर्वस्य वशी'त्यादि वाजसनेयके आम्नायते । तयोरैकविध्यं न वा परस्परगुणोपसंहारो न वेति सन्देहद्वये, कामादीति सूत्रेणैकविध्यमुपसंहारश्च सिद्धान्तीक्रियते । कामादीत्यत्र, कामपदं देवदत्तो दत्तः सत्यभामा भामेतिवन्नामैकदेशरूपम् । तेन सत्यकामाद्या वाजसनेयके वशित्वाद्याश्छान्दोग्य उपसंहार्याः । हृदयस्यायतनस्य वेद्यस्येश्वरस्य लोकासम्भेदप्रयोजनसेतुत्वरूपेश्वरधर्मस्यापि समानत्वाद्विद्यैक्यं परस्परोपसंहारश्चेत्याहुः । तच्चिन्त्यम् । सत्यकामादिपदानां नामत्वाभावेन दृष्टान्तवैषम्यात् । आयतनादीनां केषाञ्चिदेव समानत्वे विद्यैक्याङ्गीकारे 'चोदनाद्यविशेषा'दित्यस्य व्यभिचारित्वप्रसक्तेश्च ॥ २१ ॥

एवमधिकरणत्रयेण सात्त्विकानां वृतानां ज्ञानासक्तिनिवारणाय ज्ञानमार्गाद्भक्तिमार्गस्य फलतः साधनतः स्वरूपतः सम्बन्धतश्चोत्कर्षः प्रतिपादितः । अतः परं ये वृता राजसास्तेषां ज्ञाने रुच्यभावेपि कर्मणि रुचेर्विद्यमानत्वात्तन्निर्णयायाधिकरणान्तरमारभत इत्याशयेन सूत्रं पठन्ति **आदरादलोप** इति । संशयादिकमाहुः **नन्वि**त्यादि । **इतरत्रे**ति, भगवद्धर्मेषु । **ब्रह्मयज्ञप्रकरण** इति, आरण्यके स्वाध्यायब्राह्मणे । 'ॐमिति प्रतिपद्यते एतद्वै यजुस्त्रयीं विद्यां प्रत्येषा वागेतत्परममक्षरं तदेतदृचाभ्युक्त'मिति प्रणवाक्षरं प्रतिपद्यते पञ्चमो लकारः । ब्रह्मयज्ञेन यक्ष्यमाणः पूर्वमुच्चारयेत्, कुत इत्याकाङ्क्षायामाह । एतद्वै यजुस्त्रयीं विद्यां प्रति अयं यजूरूपः प्रणवमन्त्रस्त्रयीं विद्यां लक्षीकृत्य प्रति-

निधिरूपो यतोस्ति, तच्चाथर्वणे स्फुटम्, तस्य वै प्रणवस्य पूर्वामात्रा पृथिव्यकारः स ऋग्भिर्ऋग्वेदो द्वितीयान्तरिक्षं स उकारः स यजुर्भिर्यजुर्वेदस्तृतीया द्यौः स मकारः स सामभिः सामवेद इति सायनभाष्ये । वस्तुतस्तु गोपथब्राह्मणे इन्द्रप्रजापतिसंवादे प्रजापतिना वेदत्रये एकाक्षरोथर्ववेदे मात्राभिर्युक्त इति व्यवस्थापितम्, तैत्तिरीये बृहन्नारायणे 'ॐमित्येकाक्षरं ब्रह्मे'ति श्रावितं च । तेनात्रामात्र एव । न चैवं त्रयीप्रतिनिधित्वविरोधः । द्वादशे स्कन्धे, 'सर्वमन्त्रोपनिषद्वेदबीजं सनातन'मिति बीजत्वबोधनाद्यथा पुस्तकलिखनोत्तरं तन्मूलपुस्तके प्रतिपुस्तके व्यवहारस्तथा त्रयीमूलत्वात्प्रतित्वमेकादशे 'वेदः प्रणव एवाग्र' इति कृतयुगे तन्मात्रवेदबोधनाच्च तदा सर्वं कार्यं प्रणवेनैवेति तस्य त्रयीप्रतिनिधित्वं वा । **एषा वागि**ति, सर्ववाग्बीजत्वात्सर्ववाग्रूपम् । तथाच छन्दोगा आमनन्ति, 'तद्यथा शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि सन्तृणान्येवमोंकारेण सर्वा वाक् सन्तृणे'ति । 'अश्वत्थादिपत्रे दृश्यमानास्तन्तुसदृशा अवयवाः शङ्कवस्तैर्यथा कृत्स्नानि पर्णानि व्याप्तानि तद्वदोंकारेण सर्वा वाग्व्याप्ते'तिभाष्ये । एतत्परममक्षरम्, 'एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं पर'मिति काठकश्रुतेः । **तदेतदृचाभ्युक्तम्**, तदेतत्परब्रह्मरूपं प्रणवाक्षरं वक्ष्यमाणर्चा स्पष्टमुक्तमित्यर्थः । ऋचं व्याकुर्वन्ति **अत्रे**त्यादि । 'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योम'न्नित्यत्राक्षरे परस्थितेर्व्याख्यातत्वा'त्तद्धाम परमं ममे'ति वाक्याच्चाहुः **वर्तमान**मिति, प्रतिपाद्यत्वेन स्वरूपेण च वर्तमानम् । **लोकवेदप्रसिद्ध**मिति, यस्मिन् परब्रह्मणि देवा अग्न्यादयोवयवरूपा अध्युपरि निषेदुः स्थितवन्त इति श्रुतिपुराणयोर्दृश्यते, 'अतोस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तम' इति च गीतावाक्यं तेन तथेत्यर्थः । **ऋचेति**, ऋचपदं वेदमात्रोपलक्षकम् । **अन्वये निदर्शन**मिति, अन्वयव्यभिचारे निदर्शनं श्रुतिराहेत्यर्थः । शेषं प्रकटार्थम् । प्रणवार्थभूतभगवज्ज्ञानस्यावश्यकत्वं तदज्ञानेऽध्ययनादिनैष्फल्यं बोधयन्त्यानयर्चा भगवज्ज्ञानसाधनीभूतायां वरणसाध्यायां भक्तावादरो दर्शितः । एवं श्रुत्यन्तरे साधनभक्तावप्यादरः श्राव्यत इत्याशयेनाहुः **ऋगि**त्यादि । **अर्थस्तु**, हे स्तोतारो मदुत्कर्षवर्णनपराः । इयं वेदानामुक्तिः । पूर्व्यं सर्वकारणकारणरूपम्, तं लोकवेदप्रसिद्धं पुरुषोत्तमम्, यथाविदः भवन्तो यथावद्विदन्ति तत्स्वरूपमिति तथाभूताः ऋतस्य सूनृतवाणीरूपस्य वेदस्य गर्भं अन्तर्निहितम्, **जनुषा**, स्वस्य सम्पूर्णजन्मना, यावज्जीवमिति यावत्, पिपर्तन पूर्तियुक्तं सन्तुष्टं कुरुत सन्तोषयत, अत्र यथावित्त्वोक्त्या पूर्णज्ञानानां देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणजीवविनियोगं भगवत्तोषार्थं दर्शयति श्रुतिरित्यादरो भगवद्धर्मेषु श्रुतेः स्फुटति । भगवत्तोषाभावे किमपि न सिद्ध्यतीत्याशयेन पूर्वोक्तकरणशक्त्यभावेनुकल्पमाह । आसमन्तात् अस्य परमपुरुषस्य नाम जानन्तः अखण्डशब्दब्रह्मरूपत्वेन जानन्तः विवक्तन विशेषेण वदत, नामस्वरूपं वित्वा तदेव कीर्तयत, अनुकल्पेन कथं सन्तोष इत्यतो नामस्वरूपमाह **चिदि**ति, चित्स्वरूपं उपलक्षणमेतत्, सच्चिदानन्दात्मकम् । तथा च नाम्नो ज्ञानरूपत्वेन तद्द्वारा भगवतोपि ज्ञानं भविष्यति, तेन तोषोपि भविष्यतीत्यर्थः । नामस्वरूपस्याप्यज्ञाने तदुपायमाह गुरूपसत्तिरूपम् । हे विष्णो ते त्वत्सम्बन्धिनं महस्तेजोरूपम् । समभिव्याहारात्त्वत्तेजोरूपं सुमतिम्, निर्दोषपूर्णगुणत्वेन भगवन्तं जानन्तं सुबुद्धिं भक्तमिति यावत्तं भजामहे, तथा चान्यो भजतु मा वा वयं तु भजामहे इति श्रुतयः स्वकृतिं दर्शयन्ति । अनेन तदुपायेप्यादरो दर्शितस्तेन भगवद्धर्माणामत्यादृतत्वं बोध्यम् । **तेने**ति, कथनेन । **तथे**ति, प्रत्यवायः ।

अग्रिमसूत्रमवतारयन्ति **नन्वि**त्यादि । **श्रुते**रिति, प्रत्यवायश्रवणस्यैवं तात्पर्यकत्व इत्यर्थः । **तयोर्युगप**दित्यादि । दाशतयीश्रुतौ यथाविद इति स्तोतृविशेषणाद्विधेयस्य करणे ज्ञानस्याधिकारप्रयोजकत्वं लभ्यते तेन ज्ञानोत्तरं करणमायाति । कर्माणि तु 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा

विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा श्रद्धयाऽनाशकेने'ति श्रुतेर्विविदिषायामेवोपक्षीणानि ज्ञानसम्पादनेपि नालं भवितुमर्हन्तीति दूरतरापास्तं कर्मप्राधान्यम्। एवं सति ज्ञानोत्तरं यत्र कथञ्चिद्वर्णाश्रमा भगवद्धर्माश्च युगपत्प्राप्तास्तत्र प्रबलदुर्बलभावस्य प्रत्यवायादिबोधकवाक्यैर्वैपरीत्ये ज्ञाते तदपवादायादरः प्रकाश्यते ततश्च भगवद्धर्माणां बाधाभावः सिद्ध्यति ततश्च इतरेषामादराभावेपि प्रत्यवायश्रवणवैय्यर्थ्यपरिहाराय तेषां गौणकाले करणमर्द्धाधानवद्व्यवस्थाप्यतेऽतो न तेषां कर्माङ्गत्वमित्यर्थः ॥ २२ ॥

ननु यद्येवं तर्हि गौणमुख्यन्यायेन तेषां कर्मणामप्रयोजकत्वात्परमहंसेष्विव भक्तेष्वपि प्राप्तिरेव न सम्भवतीति व्यर्थोयं विचार इत्याकाङ्क्षायामग्रिमाधिकरणं पाक्षिकप्राप्तिं हृदिकृत्य तत्प्रयोजनबोधनाय प्रणयतीत्याशयेन सूत्रं पठन्ति **तन्निर्धारणे**त्यादि । **एतादृशस्ये**ति, वक्ष्यमाणश्रुत्या सर्वदानन्दानुभवकर्तुः, **श्रूयत** इति, तापनीयेऽतिथिपूजारूपो गृहस्थधर्मो गान्धर्वीप्रभृतीनाम्, पूर्वकाण्डे च 'प्रह्लादो ह वै कायाधव' इत्यादिना प्रह्लादस्य श्रूयते इत्यर्थः । चकारात्स्मृतिसङ्ग्रहः । **उभयविधाना**मिति । मर्यादायां पुष्टौ चाङ्गीकृतानां भक्तानां सिद्धमिति । तथा चैवं कर्मप्रसक्तेर्विधमानत्वान्न पूर्वाधिकरणोक्तविचारवैयर्थ्यमित्यर्थः । ननु निर्धारणानियमात्कर्म कर्तव्यमिति यदुक्तम्, तन्न युज्यते, 'योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सये'त्युपक्रम्य 'निर्विण्णानां ज्ञानयोगः कर्मयोगस्तु कामिनाम्, न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिद' इत्याधिकारिभेदेन व्यवस्थापनात्तावतैव फलसिद्धेः कथनाच्च भक्तियोगात्मकभगवद्धर्मकारणमात्र एव भगवदिच्छाया निर्धारयितुं शक्यत्वादितरकरणस्य वैयर्थ्यमित्याशङ्कायां नैवमिच्छा निर्धारयितुं शक्येत्याशयेन सूत्रशेषं व्याकर्तुमवतारयन्ति **तत्रे**त्यादि । **अत्रे**ति, पूर्वोक्तरीतिकाशङ्कायाम् । स्फुटमन्यत् ॥ ॥

पूर्वाधिकरणे आदरात् भगवद्धर्माबाधस्य व्यवस्थापनेनैवानादृतानां गौणकालिकता प्राप्ता, प्रत्यवायश्रवणाधिकारिभेदाभ्यां च तदबाधबाधाविति नास्याधिकरणस्यावश्यकतेति हृदिकृत्य पक्षान्तरमाहुः **अथवे**त्यादि । **आवश्यकत्वमुक्त**मिति, तथा सति ते विहितभक्त्यन्तःपातितया सिद्धा इत्यर्थः । किं तेनेत्यत आहुः **सर्वे**त्यादि । **असम्भवा**दिति, तद्भावस्वभावेनासम्भवात् । **किं फल**मिति, श्रौतस्य फलस्य विहितसाधनसाध्यत्वात्तेषामकरणे किं फलमित्यर्थः । **त**दिति, मुख्यं फलम् । **तस्मिन्नि**त्यादि **भवती**त्यन्तम् । तथा च तद्दृष्टिपदं भगवत्सङ्गमाभिलाषौत्कट्येन तदेकज्ञानवत्परमित्यर्थः । **एतेने**ति, तन्निर्धारणानियमपदेन । **शेषं स्फुटम्** । एवमेतैः प्रथमान्तपदैः फलपूर्वावस्था मुख्यमनिर्वाच्यफलमानुषङ्गिकफलं चेति त्रयमुक्तं भवति । इदं कया सङ्गत्योक्तमित्याकाङ्क्षायामाहुः **प्रासङ्गिक**मिति । सूत्रपदेनानधिकरणत्वमुक्तम् ॥ २३ ॥

एवं राजसानामन्यासक्तिवारणायाधिकरणद्वयप्रणीतं मुख्यभक्त्यभिलाषोपजननाय च तत्फलमत्र प्रदर्शितम् । अतःपरं मुख्यभक्तिः केन भवतीत्याकाङ्क्षायामधिकरणान्तरं वदतीत्याशयेन सूत्रं पठन्ति **प्रदानवदेव तदुक्त**मिति । **साधनत्वेने**त्यादि । सर्वात्मभावकरणकशरणप्राप्तिसाधनत्वेन रूपेण सर्वात्मभावस्य स्वकृतिसाध्यत्वं स्यादित्यर्थः । **तन्निवृत्ते**रिति, शब्दादिनिवृत्तेः । कथमस्य वाक्योक्तार्थस्य प्रदानतुल्यतेत्याकाङ्क्षायां तदुपपादयन्ति **प्रकृतेपी**त्यादि । **त**दिति, उक्तविधं शरणगमनम् । नन्वेवं स्वकृत्यसाध्यत्वे प्रदानत्वमेवास्य सिद्ध्यति, न तु तत्तुल्यत्वमित्याकाङ्क्षायामाहुः **भक्तस्ये**त्यादि । नन्वेमपि शरणागतेरेव स्वकृत्यसाध्यत्वं सिद्ध्यति, न तु सर्वात्मभावस्येत्यतो वाक्यस्य योजनान्तरमाहुः **अथवे**त्यादि । शरणपदं मामित्यस्य विशेषणं तथा सति सर्वात्मभावस्यैव प्रदानतुल्यत्वं

निराबाधत्वमित्यर्थः । अस्मिन् पक्षे विचारस्य स्मार्तत्वमेव पुरःस्फूर्तिमारोहतीत्यतः पक्षान्तरमाहुः **यद्वे**त्यादि । **तत्तथैवे**ति, परमात्मनो लभ्यत्वं वरणजन्यसर्वात्मभावसाध्यमेव, तेन सर्वात्मभावो वरणैकलभ्यो न त्वितरसाधनसाध्य इत्यर्थः । एतेन सर्वात्मभावसाधनकत्वप्राप्तिबोधकं पूर्ववाक्यं वरणलभ्यत्वबोधकश्रुत्यर्थनिर्णायकमिति न तस्य पक्षस्य स्मार्तविचारत्वमिति बोधितम् । ननु पूर्वोक्तवाक्ये अकुतोभयसाधनतया शरणागतेः सर्वात्मभावपूर्वकस्वप्राप्तेर्वोपदेशः । अकुतोभयं च मुक्तिरेवाक्षरप्राप्तिरूपा, 'अभयं वै जनक प्राप्तोसी'त्यादिश्रुत्या तथा निश्चयात् । एवं सति सर्वात्मभावस्य मुक्तिसाधनत्वमेव सिद्ध्यति, न पुरुषोत्तमप्राप्तिसाधनत्वम्, पुरुषोत्तमप्राप्तेः साधनकोटिप्रवेशेन तदपेक्षया मुक्तेरेवोत्कर्षश्च सिद्ध्यतीति पूर्वोक्तं सर्वं द्रविडमण्डकन्यायमनुसरतीत्याशङ्कायामकुतोभयपदतात्पर्यमाहुः **भगवदुक्ते**त्यादि । तथा च्यास्याः श्रुतेः 'रसो वै स' इत्यादिना रसरूपताप्रतिपादनोत्तरमानन्दमीमांसया ब्रह्मानन्दस्य गणितानन्दत्वसगर्पणोत्तरमुक्तत्वादस्या उक्त एवार्थो निश्चीयते, भगवद्वाक्ये'प्यथैतत्परमं गुह्यं शृण्वतो यदुनन्दन । सुगोप्यमपि वक्ष्यामि त्वं मे भृत्यः सुहृत्सखे'ति तादृशेतिगोप्यकथनं प्रतिज्ञाय 'केवलेन हि भावेन गोप्यो गावः खगा मृगाः । येन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसे'ति भावेन बहूनां प्राप्तिमुक्त्वा, को भाव इत्याकाङ्क्षायां 'रामेण सार्द्धं मथुरां प्रणीत' इत्यादिश्लोकचतुष्टयेन विगाढभावात्मकं तत्स्वरूपं स्वरूपज्ञानाभावेपि तेन भावेनैव परब्रह्मरूपस्य प्राप्तिमुक्त्वा, 'तस्मा'दित्यादिवाक्यद्वयेन सर्वात्मसाधनकस्वप्राप्त्यकुतोभयप्राप्ती उच्येते, तेनोक्तश्रुत्युक्तरसात्मकब्रह्मानुभवोत्तरकालीनतैवाकुतोभयस्य स्फुटतीति न पूर्वोक्तार्थो द्रविडमण्डकमित्यर्थः ॥ २४ ॥

एवमनेनाधिकरणेन सर्वात्मभावरूपाया मुख्यभक्तेर्वरणैकलभ्यत्वं निर्द्धारितम्, तत्र वरणश्रुतौ परमात्मनो वरणैकलभ्यत्वमुच्यते, न सर्वात्मभावस्येत्याकाङ्क्षायां तत्स्वरूपं वक्तुं तस्य वरणैकलभ्यत्वं च पुनर्दृढीकर्तुमधिकरणान्तरं प्रणयतीत्याशयेन सूत्रं पठन्ति **लिङ्गे**त्यादि ।

प्रतिबन्धकाभावस्येत्यादि । एतेन पूर्वाधिकरणसिद्धान्त आक्षिप्तः । वरदानमपि हि तपआदिसाधनैस्तोषे सति भवतीति सर्वत्र प्रसिद्धम्, तथा सति प्रतिबन्धकनिवृत्तेरागतैव कारणतेति वरणैकलभ्यत्वं न साधीय इति । सिद्धान्तं व्याख्यातुं लिङ्गभूयस्त्वबोधिकां श्रुतिं प्रदर्शयन्तस्तदर्थं प्रकटयन्ति **साम्नोपनिषत्स्वि**त्यादिना । प्रसिद्धस्थलनिर्देशो विप्रतिपत्तिनिरासाय, स च संवादः 'अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारद' इत्यारभ्यान्तं ज्ञेयः । तत्र अधीहीत्यन्तर्भावितण्यर्थः । **अध्यापय** । 'बुधयुधनशजनेङ्प्रुद्रुस्रुभ्योणे'रितीङो ण्यतात्परस्मैपदम् । तादर्थ्येपि तेन पदव्यत्ययः । अत्र सर्वात्मभावस्य वरणैकलभ्यत्वं बोधयितुमतिदुरापत्वमुपपादयन्त'स्तं होवाचे'ति सनत्कुमारवाक्यस्य तात्पर्यमाहुः **प्रथमत** इत्यादि । 'उपसीदेती'त्यस्य 'तं होवाचे'ति श्रौतेन पदेनान्वयः । 'यद्वेत्थ तेन मोपसीद ततस्ते ऊर्ध्वं वक्ष्यामीति होवाच', यत्त्वं जानासि तत्प्रकथनेन मदुपसन्नो भव स्वाधीतं यद ततोतिरिक्तं तुभ्यं कथयिष्यामीत्युक्तवान् । **विद्यान्त**मिति । 'वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्या'मिति, वेदानां वेदो व्याकरणम् । पित्र्यं श्राद्धकल्पः । राशिर्गणितम् । दैवमुत्पातज्ञानम् । निधिर्महाकालादिनिधिशास्त्रम् । वाकोवाक्यं तर्कशास्त्रम् । एकायनं नीतिशास्त्रम् । देवविद्या निरुक्तम् । ब्रह्मविद्या शिक्षाकल्पच्छन्दश्चितयः । भूतविद्या भूततन्त्रम् । क्षत्रविद्या धनुर्वेदः । नक्षत्रविद्या ज्योतिषम् । सर्पविद्या गारुडम् । देवजनविद्या गन्धर्वोक्तयुक्तिनृत्यगीतवाद्यशिल्पादिविज्ञानानि । एतद्भगवोऽध्येमि ।

एतत्पूर्वोक्तं हे भगवन् अध्येमि स्मरामि । सोहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि । शब्दार्थविदस्मि, परोक्षशाब्दानुभवमात्रं मेस्तीति स्वाधिकारमुक्तवान् । तर्हि किमवशिष्टमित्याकाङ्क्षायां 'नात्मवि'दित्यादि 'तारयत्वि'त्यन्तमाह । तथा चाप्तवाक्यप्रामाण्याच्छोकेन लिङ्गेन स्वस्यानात्मवित्त्वमनुमाय तज्ज्ञानेन शोकं तर्तुमुपसन्नोस्मीति नारदाशयः । तदा शोकतारणाय नारदेन विज्ञापितः सनत्कुमारः 'यद्वै किं चाध्यगीष्ठा नामैवैतन्नाम वा ऋग्वेद' इत्यादिना नारदोक्तानां सर्वेषां नामत्वबोधनपूर्वकं नाम्नो ब्रह्मत्वेनोपासनमुपदिश्य, 'यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथा कामचारो भवती'ति तत्फलं शोकतारणायोक्तवान्, तदा नारदः केवलनामत्वेनोपासने उक्तफलाभावं ब्रह्मत्वेनोपासने उक्तं फलं तदपि यावन्नाम्नो गतमित्यनेन नामगतिपरिच्छिन्नमिति विमृश्य तेन शोकातरणं निश्चित्य ततोधिकं जिज्ञासमानोऽ'स्ति भगवो नाम्नो भूय' इति पप्रच्छ, इदं भूयःपदं न बाहुल्यार्थकमपि तूत्कर्षार्थकमित्याशयेनाहुः भूय इत्यादि । आधिक्यमुत्कर्षः । तत्र 'नाम्नो वाव भूयोस्ती'त्युत्तरिते'तन्मे भगवान्ब्रवीत्वि'ति विज्ञापयामास । तदा सनत्कुमारो 'वाग्वा नाम्नो भूयसी'त्यादिना नामरूपविज्ञापकस्वरूपं तन्माहात्म्यमुक्त्वा वाचो ब्रह्मत्वेनोपासनं तत्फलं च पूर्ववदुवाच । एवमग्रेपि । तत्र मन इति मननव्यापारविशिष्टमन्तःकरणम्, मननव्यापारश्च विचारात्मकः । एवं सङ्कल्पोपि कर्तव्याकर्तव्ययोर्विषयविभागेन समर्थनरूपस्तादृशान्तःकरणस्यैव वृत्तिविशेषः । चित्तं चेतयितृत्वं प्राप्तकालानुसन्धानवत्त्वम्, अतीतानागतविषयप्रयोजननिरूपणसामर्थ्यं च । ध्यानं शास्त्रोक्तदेवतालम्बनो विजातीयानन्तरितः प्रत्ययसन्तान एकाग्रतापरपर्यायः । विज्ञानं शास्त्रार्थविषयकं विशिष्टज्ञानम् । बलमन्नभक्षणजनितं मनसो विज्ञेयविभावनसामर्थ्यम् । अन्नमापस्तेज आकाशः प्रसिद्धाः । स्मरः स्मरणमप्रयत्नश्चित्तव्यापारः । आशा अप्राप्तवस्त्वाकाङ्क्षा, तृष्णा कामाद्यपरपर्याया, प्राणः सूत्रं आसन्यः सर्वसङ्घातनियामकः । एतस्य दर्शनमननविज्ञानैः सत्येनातिवादित्वं फलमुक्तं 'स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नतिवादी भवती'ति, न तु पूर्वोक्तोपासनानामिवोपास्यगतिपरिच्छिन्नम् । अतिवादित्वं च पूर्वोक्तनामाद्यतितवादित्वं एतदतिरिक्तनिकर्षवादित्वमिति यावत् । तत्र 'नापह्नुवीते'त्यनेन सङ्कोचवारणादुत्कर्ष उक्तोतिवादित्वे पूर्वोक्तोपासनाफलानामिवोपास्यगतिपरिच्छिन्नत्वं नोक्तमिति प्राण एवास्मेति भ्रमो नारदस्य मा भूदित्येतदर्थमाह, 'एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदती'ति । एवमुक्ते नारदेन प्राणस्य तत्त्वं न प्राणः, किन्तु सत्यमित्यवगतम्, ततः 'सोहं भगवः सत्येनातिवदानी'ति स्वाभिप्राये निवेदितेप्यपृष्टस्यावक्तव्यत्वात्तत्प्रश्नकरणायाह 'सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्य'मिति । तदा 'सत्यं भगवो विजिज्ञास' इति प्रश्ने 'यदा वै विजानात्यथ सत्यं वदती'त्यादिना तत्कारणत्वेन विज्ञानं विज्ञानकारणत्वेन मतिमित्येवं श्रद्धानिष्ठाकृतिसुखान्तान्युक्तवान् । अत्र षट्सु प्रश्नोत्तरयोर्वैयधिकरण्यम्, सत्यादिविषयकायां जिज्ञासायां तत्कारणानां कथनात् । ततः सुखस्वरूपजिज्ञासायां 'यो वै भूमा तत्सुख'मित्यादिना भूमानं सुखत्वेनोक्तवान्, तेन ज्ञायतेऽत्रोक्तानां सत्यादीनां कारणभूतभूमाभिन्नत्वं तज्ज्ञानगम्यत्वं च, 'प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्, नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे'त्यादौ तथा सिद्धत्वात् सन्दंशपतितत्वान्मत्यादयोप्येवं ज्ञेयाः । ततो भूमस्वरूपजिज्ञासायां 'यत्र नान्यत्पश्यती'त्यादिना यस्मिन् रसरूपे ज्ञाते इतरविषयकदर्शनश्रवणविज्ञानाभावः स भूमेति भूमस्वरूपमुक्तवान्, सुखस्यान्तरेवाभिव्यक्तेर्भूमरूपस्यापि तस्य तत्रैवाभिव्यक्त्याऽऽनन्दत्वान्तर्वर्तित्वाभ्यां रसरूपत्वेन भूम्नः सर्वात्मभावरूपत्वं सिद्ध्यति, तदेतद्धृदिकृत्याहुः एतेनेत्यादि । एतादृशत्वं लौकिकेपि रसे भवतीति तद्वारणायाल्पे सुखं निराकृतं 'नाल्पे सुखमस्ती'ति, तत्राल्पे कथं न सुखमित्याकाङ्क्षायामल्पस्वरूपकथनपूर्वकं भूम्नोल्पस्य च यथायथममृतत्वं मर्त्यत्वं चाह 'यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्य'मिति । तथा च शोकपर्यवसानान्नाल्पे सुखमित्यर्थः ।

अत्र भूम्नोऽमृतत्वकथनात्कालापरिच्छिन्नत्वं बोधितम् । तथा सत्युत्पत्तियोगात्स्थितिस्तस्य जिज्ञास्येत्यतो नारदः पृच्छति 'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित' इति, तत्रोत्तरमाह 'स्वे महिम्नि यदि वा न महिम्नी'ति, अत्र पक्षद्वयकथनान्नारदस्य पुनः सन्देहो भविष्यतीत्याशङ्क्य निषेधवाक्यं व्याकरोति 'गो अश्वमिह महिमेत्याचक्षते हस्तिहिरण्यं दासभार्यं क्षेत्राण्यायतनानीति नाहमेवं ब्रवीमी'ति, गोअश्वादिरूपे महिम्नि न प्रतिष्ठित इत्येवमहं ब्रवीमीत्यर्थः । तर्हि स को वा महिमा यत्र प्रतिष्ठित इत्याकाङ्क्षायां 'अन्यो ह्यन्यस्मिन् प्रतिष्ठित इति ब्रवीमीति होवाचे'ति श्रुतिराह । गोअश्वादिभ्योऽन्यो यो महिमा स्वे भक्ते य उत्कर्षरूपो भावस्तस्मिन्प्रतिष्ठित इत्यर्थः । (तेनेदं सर्वात्मभावरूपं भूमाख्यं सुखमत्यन्तैकान्तभक्त एवेति निश्चीयते ।) ततः स कीदृक् महिमा येन तत्रैव प्रतिष्ठित इत्याकाङ्क्षायां तं विवृणोति 'स एवाधस्तात्स उपरिष्टात्स पश्चात्स पुरस्तात्स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदं सर्वमित्यथात अहङ्कारादेश' इत्यादि । तथा च यस्य सर्वत्र तद्भानं सर्वस्मिंश्च तदभेदभानं इति एवंप्रकारेण अथ एवंभानोत्तरं अतः अस्मात् भानादहङ्कारादेश एव भगवत्प्रतिरूढतया स्वस्मिन् भूमत्वप्रतिसन्धाने स्वस्यैव पूर्ववत्सर्वत्र भानं सर्वस्मिन् स्वाभेदभानं च तादृशो यः तस्मिन् प्रतिष्ठित इत्यर्थः । एतेन स्वे आत्मीये परमैकान्तिकभक्ते महिम्नि तन्निष्ठे भावे स्वविभूतिरूपे प्रतिष्ठितो नेतरत्रेति भावो बोधितः । तर्ह्यात्मादेश इत्यादिकं किमित्युच्यत इत्यत आहुः तत्र विरहभावेत्यादि । एतेषामिति, विरहभावकृततत्तत्स्फूर्तिरूपाणां ज्ञानानाम् । तथा च पूर्वोक्तभाववद्भक्तस्वरूपनिश्चायनार्थमेवेदमप्युच्यत इत्यर्थः । अत्राहङ्कारादेशात्मादेशयोः कथनाद्वामदेववत् ज्ञानिभावस्यैव विभूतिरूपत्वमिहाभिसंहितं न तु भक्तभावस्येति शङ्का भविष्यतीति ज्ञानिनः सकाशाद्विवेक्तुमाह 'स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्द' इति । उक्तप्रकारकदर्शनमननविज्ञानवानुक्तप्रकारकरत्यादिरूपसंयोगभाववान् भवति, न तु शुष्काद्वैती वाकर्मी कूटस्थवद्वा भवतीति भक्त एवायं बोद्धव्य इत्यर्थः । एवं तत्स्वरूपं निष्कृष्य पूर्वं शोकपारतारणार्थं चोदितत्वात्तत्तारणोपायत्वमेतस्यैव भावस्य नेतरस्येति बोधयन्नुक्तप्रकारकभक्तस्य फलमाह 'स स्वराड्भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवती'ति । सः भूमात्मरत्यादिमान् स्वस्मिन् भूम्न्यात्मन्येव राजमानो भवति, तस्य नामाद्याशापर्यन्तलोकेषु स्वातन्त्र्यं भवति, ततः सर्वप्राप्त्या शोकपारतीर्णो भवतीत्यर्थः । एवं शोकतारणोपायमुपदिश्य उपायान्तरं निराकर्तुमन्यथा ज्ञानवतो निन्दति 'अथ येऽन्यथातो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ती'त्यादि । अन्यस्मिन् भूमातिरिक्ते राजमाना भवन्तीत्यर्थः । नन्वत्र जीवन्मुक्त एव वक्तव्यः, 'सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवती'ति गतिस्थित्योर्बोधनात् । न तु भक्तः । तादृशस्य भक्तस्य पूर्वोक्तरीतिकविरहभावे दशमावस्थाया एव सम्भवेन गतेः सुतरां बाधितत्वादित्याकाङ्क्षायामाहुः ततः संयोगेत्याद्युक्तवानित्यन्तम् । ततः पूर्वोक्तसर्वात्मभावोत्तरं संयोगभावे असतीति पदच्छेदः । श्लोकार्थमाहुः तत इत्यादि । श्लोकार्थस्तु, पश्य उक्तदर्शनवान् मृत्युरोगौ दुःखभावं न कस्यापि पश्यति, उतेति पादपूरणे पक्षान्तरे वा । दुःखतां दुःखसत्तामेव न पश्यति तथा च मृत्युरोगयोः (का)वार्तेत्यर्थः । दर्शनविषयमाह सर्वमिति, सर्वं भूमात्मकमेव पश्यतीत्यर्थः । फलमाह 'सर्वशः सर्वमाप्नोती'ति । तथा सति न पुनः शोक इत्यर्थः । प्राप्तौ प्रकारमाह 'स एकधे'त्यादिना । सः भूमा पश्यार्थमेवं प्राणादिरूपो भवति, तेन सर्वं पश्यः प्राप्नोति, पश्यो वैवं भूत्वा भूम्नः सर्वं प्राप्नोतीत्यर्थः । स एकधेति श्लोकेन 'आत्मत आविर्भावतिरोभावा'विति श्रुत्युक्तयोस्तयोः प्रकार आविर्भावमुखेन विवृतः । एवं फलपर्यन्तं भावस्वरूपमुक्तम्, तेनापि भक्त एवात्रोच्यत इति दृढीकृतम् । अयमुपदेशो न यस्मै कस्मैचिद्विदुषे कर्तव्योऽपि तु उत्तमाधिकारिणे एवेति बोधनाय श्रुतिराह 'तस्मै मृदि-

तकषायाय तमसस्पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमार' इति । सनत्कुमारस्य कृपालुतामाहुः 'तं स्कन्द इत्याचक्षत' इति । स वरदानेन शिवस्य पुत्रोपि जातस्तेन तथेत्यर्थः । अतःपरं परं सूत्रं व्याकर्तुमाहुः स चेत्यादि । स इति भगवान् प्राणपोषकः । स इति, सर्वात्मभावः । तथेति, अत्यनुग्रहप्रकारेण । तं चेति, वरणं चेत्यर्थः । नन्वात्मादेशे 'आत्मैवेदं सर्व'मिति सर्वस्यात्मत्वभानं श्रावितं तथा सति स्वात्मन्यपि तदभेदो भास्यत्येव, भाते च तस्मिन् पूर्वोक्तरूपः सर्वात्मभावस्तेन प्रतिभन्त्स्यते, न हि स्वात्मत्वेन ज्ञाते ब्रह्मणि विरहभावे वक्तुं शक्यो विरोधादिति हृदिकृत्याहुः ज्ञानमार्गीयेत्यादि । उपपादितमिति, फलदित्सया पूर्वमेव सत्वात्तत्प्रतिबन्धकं भगवता न क्रियते एवेतीदमपि न क्रियत इत्येवं विविच्योक्तमित्यर्थः ।

पूर्वोक्तमर्थं दृढीकर्तुं सूत्रद्वयेन शङ्कत इत्याशयेन सूत्रं पठन्ति पूर्वेति । निरूपित इति, ऐतदात्म्येति महावाक्ये निरूपित इत्यर्थः । उत्तरमिति, सनत्कुमारोक्तं प्रत्युत्तरम् । बाह्यं तदिति, बाह्यपूजनम् । द्वितीयं पठन्ति अतिदेशाच्चेति । तत्पूर्वमिति, पदद्वयमिदम् । तत् जगत् पूर्वे पूर्वप्रपाठके इत्यर्थः । अनूद्येत्यादि । 'यद्वै किं चाध्यगीष्ठा' इत्यनेनानूद्य नामात्मकब्रह्मत्वं तत्रातिदिश्यते, यथा कौण्डपायिनां सत्रे 'मासमग्निहोत्रं जुहोती'त्यग्निहोत्रनाम्ना प्राकृताग्निहोत्रधर्मा अतिदिश्यन्ते तथात्र तेषु नामत्वविधानेन नामात्मकब्रह्मणि प्रतीतं ब्रह्मत्वमृगादावतिदिश्यत इत्यर्थः । इत इति, ब्रह्मधर्मातिदेशेनर्गादीनां ब्रह्माभेदबोधनादित्यर्थः ।

एवं सूत्रद्वयेनाशङ्क्याग्रिमेण परिहरतीत्याशयेन सूत्रमाहुः विद्यैवेत्यादि । ननु विद्याशब्दो ज्ञानसामान्ये प्रसिद्धः सर्वात्मभावरूपे विशेषे कथं नियन्तुं शक्यत इत्याकाङ्क्षायां तदुपपादयितुं वरणादिश्रुत्येकवाक्यतया प्रकृतश्रुतितात्पर्यमाहुः अत्रेत्यादि । तदुद्घाटयितुं वरणश्रुतिं व्याकुर्वन्ति नायमित्यादि । 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन, यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनुं स्वा'मिति तु मुण्डकस्था । अत एवेति, *पुरुषोत्तमस्य वृणुतात्मात्मत्वादेव । तस्यैष आत्मा सर्वात्मा स्वां तनुं वृणुत इत्यन्वयो बोध्यः ।* ननु माध्यन्दिनानामन्तर्यामिब्राह्मणे 'यस्यात्मा शरीर'मिति सामान्यत आत्ममात्रस्य शरीरत्वेन श्रावणात्कथं वृतस्यैतत्तनुरूपत्वमित्याकाङ्क्षायामाहुः तद्वरणेत्यादि । तथा च तत्र यद्यपि शरीरत्व-मात्मनः श्रावितं तथापि 'य आत्मानमन्तरो यमयती'ति नियन्तव्यत्वायैव साधारण्येन श्रावितं न तु स्वकीयत्वकथनपूर्वकम् । अतः शरीरत्वसाधारण्येपि यं स्वीयत्वेनालोचितवान् तमेव वृणुत इत्यर्थः । विवृणुत(इति)पाठेप्ययमेवार्थः । ननु विवृणुत इति पाठेऽयमर्थो न स्फुटति, विवरणपदस्य प्रकाशार्थ-त्वात् । तथा च यं वृणुते तस्य स्वां तनुं पश्यतीत्येवार्थो युक्त इति चेत्, सत्यम्, तथापि सर्वेषां जीवानां तुल्यत्वाद्वरणीये कश्चिद्विशेषो वाच्य एव । स यदि साधनकृतो विवक्षितस्तदा पूर्वार्धासङ्गतिः । यदि साधनाभावकृतस्तदा पामरपशुकीटमात्रे तदापत्तिः । अतोन्यथानुपपत्त्याऽऽलोचनकृत एव वाच्यः । सोपि ज्ञानिभक्तयोः साधारणश्चेद्भावभेदात्तनुपदवैयर्थ्यापत्तिश्च, स्वं विवृणुत इत्येतावतैव चारितार्थ्यात् । अतस्तनुपदानुरोधात्साकारस्यैव प्रकाशो वक्तव्यः । स तु प्रायो भक्तानामेव । यत्तु, 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य' इत्यस्य यः प्रार्थयते तेन प्रार्थने लभ्य आत्मकामनयैवात्मा ज्ञेय' इति व्याख्यातं कैश्चित् । तत्र व्याख्येयविरोधः स्फुट एव । किञ्च । गीतायां 'एवं सततयुक्ता य' इत्यर्जुनप्रश्ने भगवता 'मय्यावेश्य मनो ये मा'मिति तथैवोत्तरदानात्, 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मत'मिति भजनमुपक्रम्यैव तस्या-त्मत्वकथनात्, शुष्कज्ञान्यपेक्षया योगिन उत्कर्षमुक्त्वा ततोपि भक्तोत्कर्षस्यैव 'तपस्विभ्योधिक' इति

सन्दर्भे कथनात्, भक्तस्यैव प्रियत्वकथनाच्चोक्त एवार्थः । अतस्तस्मिन्नपि पक्षे तनुप्रकाशलिङ्गेन भक्तस्यैव वरणविषयत्वं निश्चीयते, तथा सति स्वीयत्वं तेष्वेव सिद्धमिति पूर्वोक्तप्रकारेपि न कश्चिद्दोष इति हृदि-कृत्योक्तार्थदार्ढ्याय श्रुत्यन्तरमाहुः अत एवेत्यादि । तथा च यदि लाभपदार्थः प्रकाशात्मक एव स्यात्तदास्याम्रुचि प्राप्तिपदार्थः कामभोगरूपो नोच्येत, अतो न पूर्वोक्तेर्थे विप्रतिपत्तव्यमित्यर्थः । एतच्छ्रुतौ विप्रतिपत्तिश्चेत्तदा पूर्वग्रन्थमवलोक्य निरसनीयेत्याशयेनाहुः एतदित्यादि । नन्वियं श्रुतिः काठके मुण्डके चास्ति । तत्र काठके 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्, अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वदे'ति प्रश्ने । 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ती'त्यादिना 'एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्मे'ति प्रकृत्य 'नायमा-त्मे'ति पठितम् । मुण्डकेपि 'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते यत्तदद्रेश्यमग्राह्य'मित्यक्षरमेवोपक्रान्तम्, एवं सति पुरुषोत्तमप्रसङ्गस्य कुत्राप्यदर्शनात्कथमत्रैवं व्याख्यायत इति चेत् । अनवधाय वदसि । काठके सर्ववेदवेद्यत्वं परस्यैवोच्यते, तच्च वाच्यवाचकाभेदविवक्षया प्रणवे वक्तुमक्षरपदेन प्रणवं परामृश्य तत्र ब्रह्मत्वमुपासनासाधनत्वाय विधीयते मन्त्रद्वयेन, ततो 'न जायते न म्रियते वे'ति मन्त्रद्वयेनो-पासकस्वरूपमुक्त्वा 'अणोरणीयान्महतो महीया'नित्यादिमन्त्रत्रयेण तस्य परस्यात्मनो विरुद्धधर्माश्रय-त्वादिकमुक्त्वा तस्य ज्ञानं कथमित्याकाङ्क्षायां 'नायमात्मे'ति पठ्यतेऽतो नात्र तद्गन्धः । मुण्डकेपि, प्रथमे 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्य'मित्यादिना सर्वकारणत्वेन प्रस्तुतं द्वितीयेपि 'सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गा' इति मन्त्रेण तस्मात्सजातीयविजातीयसृष्टिमुक्त्वा 'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः । अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रोऽक्षरात्परतः पर' इति मन्त्रे पूर्वोक्तादक्षरात्परतः परोतिरिक्त उक्तः । तृतीयेपि 'द्वा सुप-र्णे'त्यनेनान्तर्यामितया तमेव परामृश्य ततो 'जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीश'मित्यादिना तद्दर्शनफलमुक्त्वा, ततो 'ज्ञानप्रसादेने'त्यनेन निष्कलज्ञानात्तद्दर्शनमुक्त्वा ततो ज्ञानप्रसादेपि न स्वसामर्थ्येन पश्यति किन्तु तत्कृतसामर्थ्येनैवेत्याशयेन 'नायमात्मे'त्यादिकं पठ्यते, तेनोभयत्रापि पुरुषोत्तम एव प्रकृत इत्यनवद्यम् । एतदेव गीतायामुपबृंहितम् । द्वाविमौ पुरुषौ लोक इत्यारभ्य प्रथितः पुरुषोत्तम इत्यन्तेन । तस्मान्नात्र शङ्कालेशः । तदेतदभिसन्धायोक्तं एतच्चेत्यादि । आनन्दमयाधिकरणेऽक्षरादुत्तमस्य रसरूपस्यैव परशब्देन निश्चितत्वात्परमव्योमपदेन निश्चितत्वादन्नमयादीनां तद्विभूतित्वेन निश्चित-त्वाद्वरणेनैव तत्प्राप्तेश्चोक्तत्वात्तथेत्यर्थः । ननु तथापि तेषु तेषु भक्तेषु वरणमप्यनेकविधमिति कथं रसमार्गीयमेवात्र ग्रहीतुं शक्यत इत्याकाङ्क्षायामाहुः किञ्चेत्यादि । तथा चाग्रिमश्रुत्या तथावसीयत इत्यर्थः । श्रुतिस्तु मुण्डके, 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गा'दिति । ननु श्रुतौ बलशब्दो वर्तते न भक्तिशब्द इति कथं तन्निश्चय इत्याकाङ्क्षायां बलशब्दस्य भक्तिवाचक-त्वमुपपादयन्ति बलकार्यमित्यादिना । उच्यत इति, परोक्षवादेनोच्यते । ननु बलशब्दः शरीरसामर्थ्ये प्रसिद्धस्तत्परित्यज्य कथं भक्तिपर इत्यत आहुः अन्यथेत्यादि । तथा च पूर्ववाक्योक्तार्था-नुपपत्त्या बलसदृशमनोव्यापाररूपभक्तिलक्षकत्वेनाद्रियत इत्यर्थः । ननु पूर्ववाक्ये प्रवचनादीनामेव निषेधो नत्वितरेषामिति नानुपपत्तिरित्यत आहुः वरणेत्यादि । तथा च उत्तरार्धे एवकारेण वरणस्यैव हेतुतानिश्चायनात् प्रवचनादीनां जीवबलकृतयावत्साधनोपलक्षकत्वे अनुपपत्तेः सिद्धौ प्रमाणासहायस्य शारीरबलस्य सुतरां ग्रहीतुमशक्यत्वादस्मिंश्च वाक्ये बलाभावनिषेधमुखेन बलस्य हेतुताबोधनाल्लौ-किकप्रामाणिकबलाभ्यामतिरिक्तमेव बलमत्र बलपदेन ग्राह्यं तच्चोक्तरीत्या भक्तिरेवेत्यतः सैव गृह्यते, वस्तुतस्तु 'बलं मे पश्य मायायाः स्त्रीमय्या जयिनो दिशाम्, या करोति पदाक्रान्तान् भ्रूविजृम्भेण केवले' त्यादौ प्रभुवशीकारकसामर्थ्येपि बलपदप्रयोगदर्शनात्सामर्थ्ये एव शक्तं बलपदं प्रकरणा-दिना तद्विशेषे पर्यवस्यति, तेन न कोपि शङ्कालेश इति भावः । श्रुतौ बलपदेन भक्तिमुक्त्वाग्रेण च

'प्रमादा'दित्यादि यदुच्यते, तेन भक्तस्याप्यप्रमादः सलिङ्गं तपश्च सहकारित्वेनोच्यते, तत्राप्रमादो भगवदिच्छानुरूपाचरणादिः। सलिङ्गं तपः सर्वात्मभावसहितो विरहभावो ज्ञेयः । उत्तरार्धं व्याकुर्वन्ति **एतादृशस्येत्यादि** । **तद्धृदय** इति, श्रौतस्य षष्ठ्यन्ततत्पदस्य तात्पर्यकथनायेदम् । एवं श्रुतिद्वयार्थं निश्चित्य सौत्रस्य विद्यापदस्य सर्वात्मभावबोधकत्वमुपपादयितुं विषयवाक्यतात्पर्यं पूर्वसङ्गतिं च विशदीकुर्वन्ति **प्रकृत** इत्यादि । **अक्षराभेदबोधनेनेति**, अक्षराभेदबोधनेन । **तत्रेति**, सनत्कुमार-नारदयोर्भक्तयोः संवादे । **तद्धेत्वसिद्धिरिति**, पूर्वपक्षनिरूपितप्रकरणैक्यरूपस्य हेतोरसिद्धिरित्यर्थः । एवं प्रकरणे भिन्ने सत्यतिदेशोऽप्यकिञ्चित्कर एव, नह्यतिदेशमात्रेण तदवान्तरभेदत्वसिद्धिः क्वापि सिद्धा । निर्धारणं दर्शयन्ति **सुखं त्वित्यादि** । पूर्वत्र 'सदेव सौम्ये'ति सद्रूपं आत्मानं प्रकृत्य तदभेदज्ञानमुपदिष्टम् । इह तु निरवध्यानन्दरूपं जिज्ञास्यत्वेन निर्धारयतीति विषयभेदान्न पूर्वं ज्ञानं किन्तु मुख्या सर्वात्मभावरूपैव विद्योच्यत इत्यर्थः । ननु भूमात्र जिज्ञास्यत्वेनोच्यते, तावता सर्वात्मभावः कथं सिध्यतीत्याकाङ्क्षायां भूमलक्षणवाक्ये सिध्यतीत्याशयेनाहुः **भूमा** इत्यादि । ननु सर्वात्मभाववतां लीलोपयोगिपदार्थदर्शनं दृश्यते, भूमलक्षणे तु तदितरदर्शनं निषिध्यत इति भूमलक्षणे सर्वात्मभावो नोच्यत इत्याकाङ्क्षायामाहुः **तथा सतीत्यादि** । निरासप्रकारमाहुः **तैरित्यादि** । तथा च तद्दर्शनं प्रभुकृतं न भक्तकृतमतो भक्तेषु न सर्वात्मभावसम्भवाभाव इत्यर्थः ।

इममेवार्थमग्रिमसूत्रे स्फुटीकरोतीत्याशयेन सूत्रं पठित्वा व्याचक्षते **दर्शनाच्चेत्यादि** । पुनरा-शङ्क्य सूत्रान्तरमवतारयन्ति **नन्वित्यादि** । **समाम्नायेति** । पूर्वतन्त्रे असंजातविरोधत्वेनोक्तक्रम-प्राबल्यस्य स्थापितत्वात्तदनुरोधेनैवोपसंहारगताः शब्दा नेया इत्यर्थः । **आत्मपदानामिति**, 'अथात आत्मादेश' इत्यारभ्य पठितानां तेषाम् । **वाक्यभेद** इति, अर्थैकत्वाभावात्स इत्यर्थः । सूत्रं पठित्वा समादधते **श्रुत्यादीति** । श्रुतिं दर्शयन्ति **प्रकृत** इत्यादि । न केवलमुदासीनतया ज्ञायमानः शोकं तारयति, अपि तु लभ्यमानः, अन्यथा 'आत्मलाभान्न परं विद्यत' इति श्रुत्यन्तरात्तदलाभे परमफलाभावाच्छोको नापेयात् । लाभश्च न ज्ञानमात्रं किन्तु स्वाधीनतापुरस्कृतमाकाङ्क्षापूर्ती विलक्षणानन्दजनकं ज्ञानम् । स च लाभो वरणाधीन इति शोकतारणश्रुतिसार्थक्यसम्पा-दिका वरणश्रुतिरेव बलीयसी । आदिपदसूचितं हेत्वन्तरं दर्शयितुं **अपरं चेत्यादि** विभ-जन्ति **सहीत्यादि** । **सनत्कुमारोक्तरूपमिति**, सनत्कुमारोक्ते वाक्ये रूपे किं नामादिरूपं लक्षीकृत्येत्यर्थः । तथा चैतेन प्रश्नद्वयेनाप्युपक्रमगतमात्मपदं पुरुषोत्तमपरमेवेत्यर्थः । नन्वेवमात्मपदस्य पुरुषोत्तमपरत्वेपि सर्वात्मभावलिङ्गस्याभावात्तस्य कथं सिद्धिरित्यत आहुः **तदेत्यादि** । तथा च द्वितीये प्रश्नोत्तरे सर्वात्मभावलिङ्गदर्शनादेव सिद्धिरित्यर्थः । एतेनावश्यकोपपत्तिरप्येततात्पर्यनिर्णायकेत्युक्तम् । उक्तमर्थं दृढीकर्तुमाशङ्क्य सूत्रान्तरमवतारयन्ति **नन्वेतयेत्यादि** । **अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तर-पृथक्त्ववद्दृष्टश्च तदुक्तमिति**, अत्र न बाध इत्यनुषज्यते । तथा चानुबन्धादिभ्यो हेतुभ्यः सर्वात्मभावलिङ्गात्मकभावस्य निश्चायनात्तद्बाधोऽत्र न वक्तुं शक्य इत्यर्थः । इममर्थं व्याकर्तुं पूर्वं श्रुतिं व्याचक्षाणा आहुः **भूमेत्यादि** । तथा च यदि तथाभिप्रेया'त्स्व' इत्येकमेव पदं वदेत्, 'अन्यो ह्यन्यस्मिन्प्रतिष्ठित' इति च न व्याकुर्यादतस्तथेत्यर्थः । नन्वत्र 'स्वे महिम्नी'ति कथनोत्तरं 'यदि वा न महिम्नी'त्याशङ्क्य 'गो अश्वमिह महिमेत्याचक्षते हस्तिहिरण्यं दासभार्यं क्षेत्राण्यायतनानी'त्यनेन महिमस्वरूपं निरूप्य, 'नाहमेवं ब्रवीमी'त्यनेन तत्र भूमप्रतिष्ठां निषिध्य 'ब्रवीमीति हे'त्यनेन स्वस्मिन् प्रतिष्ठां निगमयित्वा पूर्वोक्तमहिमनि प्रतिष्ठानिषेधे हेतुरुच्यते 'अन्यो ह्यन्यस्मिन्प्रतिष्ठित' इति, एवं सति

'स्वे महिम्नी'त्यस्य स्वस्वरूपे व्यापक इत्यर्थः सेत्स्यतीत्यस्वरससुद्भाव्य पक्षान्तरमाहुः **स्वरूपात्मके महिम्नीति** चेति । अनेनापि प्रकारेण व्याख्याने तत्प्राप्तिरित्यर्थः । तथात्वं व्याकुर्वते **भगवदित्यादि** । सर्वभावस्य रसात्मकत्वाद्भगवदभेदः प्रागेव विवृत इति महिमरूपत्वं विवृण्वन्ति **तदितरेत्यादि** । तथा च भावस्याधिकरणसापेक्षत्वाद्यर्थादेव तत्प्राप्तिरिति सोपि पक्षो न दुष्ट इत्यर्थः । एवं सर्वात्मभाव एवात्रोच्यत इति व्याख्याय पूर्वोक्तशङ्कामपाकर्तुं सर्वात्मभावलिङ्गानि स्फुटीकुर्वन्तः सूत्रस्थं हेतुं व्याकुर्वन्ति **स हीत्यादि** । **त्रिविधा** इति द्वितीया निरूप्येत्यनेनान्वेति । **तमेवानुबध्नाति**, वृतभक्तं वृतभक्तनिष्ठं भावमेव वा गोचरयतीत्यर्थः । तत्र हेतुः । **तच्छब्देत्यादि** । 'स वा एष' इत्यनेन पुरुष उच्यते, 'एवं पश्य'न्नित्यादिना दर्शनमननादिकर्तृताबोधनेन भाववैशिष्ट्यं च स्फोर्यत इति पूर्वोक्तानुबन्धदर्शनात्तादृशभक्तनिष्ठसर्वात्मभावरूप एव महिमा तत्राभिप्रेत इत्यर्थः । **एवं सतीति** गिन्नं वाक्यम् । उक्तरूपे महिम्नि विद्यमान एव श्रुतिसङ्गतिरित्यर्थः । लिङ्गं व्याकर्तुमादिपदार्थमाहुः **आदिपदादित्यादि** । तत्स्वरूपं विवृण्वन्ति **पूर्वमित्यादिना** । **स्फुटमग्रे** । ननूक्तयुक्तिभिरत्र भवतु सर्वात्मभावस्तथाप्यत्र फलत्वेन सर्वग्रन्थिमोक्षस्यैवोक्तत्वात्तस्य च 'भिद्यते हृदयग्रन्थि'रिति श्रुत्यन्तर-स्वारस्येन परावरदर्शनफलरूपस्यैव ग्राह्यत्वात्तस्य च 'तमेवंविद्वानमृत इह भवती'त्यादिश्रुत्यन्तरे मुक्तिरूपत्वेनैवोक्तत्वादस्यापि मुक्तावेव यदि पर्यवसानं तदा फलतो न कश्चिद्विशेषः । अथ न, तदा प्रकृते फलोक्तिविरोध इत्यस्यापि फलबलेन पूर्वविकल्पत्वमेवेत्याशङ्कां हृदिकृत्वा सूत्रांशमवतारयन्ति **ननु सर्वेत्यादि** । **प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववदिति**, प्रज्ञानन्तरकृतं पृथक्त्वं प्रज्ञान्तरपृथक्त्वं तद्वत् न बाध इत्यन्वयः । एतमेवार्थं व्याकुर्वन्ति **मुमुक्षुभक्तेत्यादि** । शेषं प्रकटार्थम् । **दृष्टश्च तदुक्तमित्यत्रापि** न बाध इत्यन्वयो बोध्यः । एवं च दर्शनान्तरे हृदयग्रन्थिभेदनं नानाविधवृत्त्यनुत्पत्तिरूपम्, अत्र तु सर्वग्रन्थीनां प्रविमोक्षो नानाचित्त्युदयेपि तासामबन्धकत्वरूपमिति दर्शनभेदात्फलभेदस्तत्क्रतुन्याया-दप्युपपन्न इति भावः ।

लिङ्गविरोधपरिहारायाग्रिमं पठतीत्याशयेन सूत्रं पठन्ति **न सामान्यादिति** । विरोधं व्युत्पादयन्ति **नन्वित्यादि** । **प्रतिपाद्यत** इति । 'सालोक्यसार्ष्टी'ति वाक्ये उच्यते । **एवं सतीति**, श्रुतिस्मृत्योर्विरोधे सतीत्यर्थः । उक्तप्रमाणं सालोक्यम् । **अनेकश** इति, 'आदित्यो यूपः यजमानः प्रस्तरः स एष एव मृत्युर्य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुष' इत्यादावित्यर्थः । **प्रकरणादिति**, लभ्यत इति शेषः । **अत एवेति**, लोकान्तरस्य मृत्युतुल्यत्वादेवेत्यर्थः ।

परेणेति सूत्रे ॥ श्रुतिवाक्यपदेन, 'न पश्य' इति श्लोको बोध्यः । **अनुबन्ध** इति, अनु-पश्चाद्बध्यते सम्बध्यत इत्यनुबन्धः । उक्तार्थे अपुष्टार्थत्वं विभाव्यार्थान्तरमाहुः **अथवेत्यादि** ।

अग्रिमसूत्रभाष्यं तु प्रकटार्थम् । अन्ये त्वेतत्सूत्रमग्रिमाधिकरणे योजयन्ति । तदग्रे विचारणी-यम् ॥ २५ ॥

एवमनेनाधिकरणेनाविहितभक्तिरूपसर्वात्मभावस्वरूपं तस्य सर्वसाधनोत्कृष्टत्वं तत्फलं च निर्धारितम् । अतःपरम् ।

---

१. एतावदेवोपलब्धमिति ।

प्राप्तभगवत्स्वरूप

मूलचन्द्र तुलसीदास तेलीवाला, बी. ए., एलएल. बी.



जन्म—१९४३ आश्विन शुक्ल ७.] [भगवद्धामप्राप्तिः—१९८३ ज्येष्ठ कृष्ण १२.

The late Editor Mr. Mulchandra Tulsidas Teliwala, B.A., LL. B.

The above *introduction is left incomplete, because* the Editor suddenly passed away on 26th June 1927, at the early age of 39. A short sketch of his life, which was destined to be a life of sacrifice in the cause of पुष्टिमार्ग, will not be out of place. He was born on 23rd September 1887 (A‹o Sud 7, 1943) in the ancient and holy city of Bhrgucutchha or Broach situated on the right bank of the Narmada. It was here that king Bali performed his अश्वमेध, and gave Lord वामन three steps of earth. It is the abode from most ancient times of Bhārgava and other Brahmins well-versed in कर्मकाण्ड. Further up the river are situated the holy places of व्यासाश्रम and शुक्लतीर्थ the abodes of व्यास and शुक्लनारायण. He was born in a very rich and famous family of विशालाड वैश्य, The caste being a very small one, his grand-father Mr. Lalbhai was not married till he was about 55 years old. He went to the pilgrimage of श्रीनाथद्वार and कांकरोली and at कांकरोली, गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजी, (who flourished later than his namesake the writer of प्रकाश on अणुभाष्य) gave him a blessing that he would have two sons. He replied that he was unmarried and there was no chance of marriage at that age but the गुरु smiled and asked him to go home. The वरदान came to be ‹rue, he married and he had two sons. The family business of cotton also prospered and their firm had agents at Palej, Miyagaum and other places, and a branch at Bombay. A marriage of a member of the family was performed at Gulalwady in the 3rd Bhoiwada, Bombay, with great pomp and large vessels were given in gift by the family to Gulalwady, which even now may be traced. Their prosperity increased, and the cellars of their house were filled with Silver bars. But when God shows special favour to any one, he takes away the burden of wealth, and by the grace of God it happened so in this case. A year before the birth of Mulchandra there came a sudden crash, there was a heavy loss and all the money vanished. On account of worldly worries and troubles with which his parents were surrounded, Mulchandra inherited a very poor, lean, physical body. At any time of life his weight was not more than 72 lbs., but this slender body contained a spirit, which was dauntless, not ruffled by any obstacles, not deceived by any outward show or pomp, and could easily spurn wealth, of which his family had more than enough till his birth. His early years were spent in playfulness and he was accustomed to run on the city-walls and swim in the river. But he was always the top-boy in his class. His memory was so sharp that he could easily remember what he read once. He was the pet of his teachers. The light jovial nature of this pigmy monitor commanded willing obedience from the strongest, tallest and most mischievous boy in the class. After passing his Matriculation Examination in 1905 he joined the Wilson College for further studies. In the College hostel he picked up some knowledge of singing and music from his Deccani friends. He graduated B. A. with वेदान्त as his optionl subject in 1909, and he was a favourite student of Mr. Bhadkamkar, Professor of Sanskrit. In the absence of any other calling, he took up government

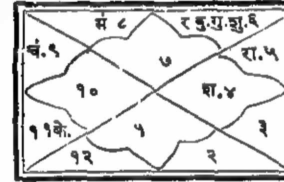
service, as a teacher in the Elphinstone High School, Bombay. Thence he was selected for the Training College with a scholarship of Rs. 50 per month, and this gave him an opportunity to read up the course for LL. B. For some time, he lived with Mr. Khimji Cooverji at Walkeshwar, as a tutor to his son.

The first वैष्णवपरिषद् met at Baroda in 1906, second at Patan in 1907, and the third at Nandurbar in 1909. After this, पुष्टिभक्तिसुधा the well-known monthly magazine was started, and though he was a student, his constant and powerful contributions coupled with his independent thinking and fearless expression created a stir in the वैष्णव world. Mr. Maganlal Gunpatram Shastri, the founder of the Parishad and the Magazine, found in him a young, able and resourceful co-worker. The fourth session of the परिषद् was held at Surat in 1910, and there also he attracted great attention.

He passed his final LL. B. in 1914, and in all probabilities it appeared that he would begin practice at Broach, as the same was his native place, but all were surprised when he took a High Court Sanad and came to settle in Bombay. The reason which led him to this decision without consulting any one, is as under:—

From infancy, he often got dreams in which he found himself flying in the air, and some dreams were suggestive of future events. While at Broach, one early morning before living the bed, he got a dream in which he saw श्रीनाथजी, the स्वरूप in the Broach temple, swinging in पलना and smiling at him. He got up with great joy, and after प्रातःनित्यकर्म he went for दर्शन. He was greatly delighted to have the same दर्शन there, not in dream, but in reality. There was पलना मनोरथ and the स्वरूप was adorned in the same वस्त्रालङ्कार as he had seen in the dream, and there was the same joyful, smiling look. While he was returning home, Mr. Jaikisandas, a life-long friend of Teliwala family, called him at his shop, congratulated him on his passing the 2nd LL. B. examination, advised him to practice in the Bambay High Court, and gave him Rs. 500/ (Rs. 300+Rs. 200) required for taking out a Sanad. Mulchandra saw God's hand in all this and without waiting to consult any one, he came to Bombay, took the Sanad, and began practice. He shared the chamber of the late Mr. Bhailal Kothari at Lamington Road. Here he came into contact with the late Mr. Kashidas Narayandas Dalal who was the sub-tenant of Mr. Bhailal and who was the Secretary of Pandit Gattulalaji's संस्था. He helped Mr. Kashidas in preparing the annual टिप्पणी, and from that time Mr. Kashidas took a liking to him. He allowed him full access to the Library manuscripts fully appreciating his great erudition and learning, and finally got him appointed a trustee of the संस्था along with the late Shet Tribhovandas Vurjivandas, J. P. The reader will thus see that but for वरदान to his grand-father, the जन्म of Mulchandra was impossible, that at the time of his birth, the worldly wealth was all taken away by way of अनुग्रह, the suggestion and facility to settle in Bombay was all due to the Almighty's helping hand, and finally the greatest convenience for his life-work, *viz.* the possession of an excellent manuscript Library of the सम्प्रदाय was provided for him by God; and but

for divine help, not one of these series of important events could have been brought about by his own efforts. The astrologer of his family predicted



from his कुण्डली that he would perform a great and memorable यज्ञ, and after more than half of his valuable publications were out, Mulchandra himself understood the meaning of this यज्ञ, and whenever there were difficulties in his work on account of illness or want of funds or want of manuscripts, he prayed to God, and the prayers were in many cases heard and difficulties solved.

Long before this, Mr. Maganlal Shastri had begun to utilise the वैष्णव परिषद् funds for getting manuscripts copied from पं. गट्टूलालजी's library in consultation with Mulchandra, but the fund was small, and the work was stopped after some time. In December 1914, Mr. Maganlal Shastri was transferred to the Deccan College, Poona, and he had to leave Bombay in January 1915. The daily Katha Mandli at the Khakhar Building came to a stop, and thereupon at the request of his friends, Mulchandra began reading अणुभाष्य and निबन्ध, every night. The Bombay University prescribed for सुन्दरगोकुलजी शाला वेदान्त prize for 1915 the following essay–'Discuss how far शंकराचार्य truly represents the view of the author of the ब्रह्मसूत्र's'. Mulchandra had gone through the प्रकाश of श्रीपुरुषोत्तमजी about four or five times, and with his powerful memory he had materials enough for the required discussion. He thought of writing the essay just a month before it was due, and with the wonderful concentration of mind that he possessed, he wrote it out and gave it on the last due date. The language, the outer garment he had no time to correct or adorn, but the thought is so deep, the discussion so balanced, the judgment so impartial, that it is difficult to find fault anywhere, while the comparative method and the wide knowledge that he had gathered from प्रकाश having been fully utilised here must have compelled admiration of his examiners. The prize was divided between him and Mr. Kurtkoti. The essay is published and is very widely read. Scholars like Dr. Bhandarkar, Dr. Thibeau, and many other Orientalists have long ago come to the conclusion that शंकर's interpretation of ब्रह्मसूत्र does not represent बादरायण's view, but they had not before them अणुभाष्य and प्रकाश, and so they thought that शंकर had, however, well succeeded in making a समन्वय of all important उपनिषद्'s. If this view were correct, शंकर would be wiser than बादरायण. We have no doubt that a wide knowledge of अणुभाष्य, प्रकाश and रश्मि would dispel this view. Copies of the Essay were sent to many scholars and many have praised it, and some have expressed their inability to pronounce any judgment as they had not studied the various भाष्य's by the comparative method.

In about 1915, at the request of Mr. Tribhovandas of Nadiad to translate सेवाफल, he began collecting साहित्य on it, and at first collected 12 Teekas, some in हस्ताक्षर of authors themselves. Such a collection was never to be found before in any one library or with any one गोस्वामी or ordinary वैष्णव, and he thought of publishing them. Mr. Tribhovandas had no funds for this

work, so Mulchandra approached श्रीजीवनलालजी of पोरबन्दर for the same. He immediately consented and sent Rs. 500 for the publication. The work was begun at once, and the first volume of his memorable series was published in December 1916. It established his reputation in the पुष्टिसम्प्रदाय. So many commentaries were never thought of before by any one, much less seen, and now they had them before their eyes all collected, beautifully printed, and with a lucid introduction in Sanskrit. Three more commentaries were subsequently traced and published along with जलभेद. This publication was followed in quick succession by others, and the details as to how, whence and how many manuscripts were collected, how funds were obtained etc., are given in the introduction to each work.

His first marriage took place at Ujjain in 1911-12, and he was blessed with a wife who was very pious, spending about two hours every morning in religious observances, highly devoted to her husband, and had a strong and healthy constitution. Mulchandra's mother also was called from Broach, and all lived in Bombay. His income being very limited, they had to live an extremely frugal life, devoid of all luxuries such as tea, vegetables and milk; but it was peaceful and contented. His first son was born in 1914, and a daughter was born in 1915. But even this little happiness did not last long. The daughter died, followed by his wife who died at Broach from fever incident on delivery in Diwali, *viz.*, about October 1917, and Mulchandra and his son were put to great difficulties for daily food. There were no means to keep a cook, or a servant to take care of the son. When the father went to court at 11 A. M. after locking the room, the son passed his time somehow with the neighbours, and if the father did not return at 6 P. M., the lonely son would sit in front *of the door with a stream of tears flowing from his eyes down the cheeks and* with constant sobs which no amount of pursuasion could check. When ultimately he did arrive, the boy would fly into his arms, and would not leave him even in bed and till next day's fateful hour 11 A. M. One source of his little income was some small commissions which came to him from the Chief Judge of the Bombay Small causes Court who appreciated his value, thereby showing his great regard for him, for his sterling character and great learning. For this work, pleaders asked him to fix time after 5-30 P. M., which this junior Mulchandra did, but after some bitter experiences of the above nature, he avoided engagements after 5-30 p. m. It was under such difficulties that the life-work of Mulchandra was done.

In 1919 (Vaishakh 1975) he went to श्रीनाथद्वार and कांकरोली at the time of यज्ञोपवीत ceremony of श्रीव्रजभूषणजी son of श्रीबालकृष्णलालजी. He had with him a company of friends including उत्सवलाल चन्दुलाल, and others. With their help, he saw the libraries of कोटा and gathered important information from manuscripts from all possible sources. He also saw the Nathadwara Library. The library of श्रीविट्ठलेशजी the second house in which श्रीहरिरायजी, and योगिगोपेश्वरजी flourished, could not be seen, though many efforts were made, and it still remains to be seen with a view to find out all the ग्रन्थs of श्रीहरिरायजी and श्रीयोगिगोपेश्वरजी. It was at

the time of this trip that the publication of श्रीटिप्पणीजी was undertaken, and the circumstances under which it was done, and the important discovery of the पाण्डु draft in the हस्ताक्षर of श्रीगुसांइजी which it led to, are fully described in the introduction of श्रीटिप्पणीजी. His second marriage took place at Surat in 1920, in दशामोढ caste. The dowry was fixed at about Rs. 750, but Mulchandra could ill afford this cash and he got a loan from a friend without asking for it. श्रीव्रजरत्नलालजी of Surat graced the marriage procession by his presence. His second wife has two sons and a daughter.

In 1917 his friend उत्सवलाल invited Mulchandra to Anand, and told him in the course of conversation that he had seen रश्मि at Surat. Mulchandra sent him to Surat to fetch it, which he did. It was a portion found in a very bad condition, and since then Mulchandra tried to collect रश्मि manuscripts from all sources, and one of his great desires was to be able to publish भाष्य, प्रकाश and रश्मि together. Through the help of श्रीगोकुलनाथजी of बड़ामंदिर, Bombay, he succeeded in arranging in May 1925 to get funds from the Gordhandas Soondardas Trust administrated by Seth Lalji Naranji and others, and curtailed all other activities, so that he may be able to devote his undivided attention to the publication of this great work. He was able to publish only three volumes consisting of first, second and third Padas of the third अध्याय before his death.

In 1927, Shree Tikayat Mahar-j.., Shree Gordhanlalji and Lālbāvā Shree Damodarlālji invited him to श्रीनाथद्वार and he went there accompanied by his friends Messrs. Jamnadas Kanji, Gordhandas Pragji and Hiralal Mulji. He was shown a few pages of the 3rd अध्याय and a complete manuscript of the 4th अध्याय of अणुभाष्य and he found them to his great delight in the हस्ताक्षर of श्रीगुसांइजी. In this manuscript the portion of the second interpretation of the first two सूत्रs of the fourth अध्याय is subsequently added by श्रीगुसांइजी. A minute inspection of the manuscript left no doubt in Mulchandra's mind that the author of the work was श्रीगुसांइजी himself.

He had a very wonderful genius for research. His creative faculty, powerful imagination, extremely retentive memory and a deep alround knowledge of the Sāmpradāyika Gāthās helped this aptitude for research to such an extent that he compelled old worn out manuscripts to speak out, to whom they belonged, from whom they were stolen, when they were written, in whose hand-writing they were and other special details about each of them, with a quickness and preciseness which would put to shame even the hero of a detective novel. We would give an instance and narrate the facts in his own words:—

"નવ પુસ્તકના આધારે શ્રીટિપ્પણીજીનું શોધન કરી અમે મુદ્રણકાર્યમાં ફલપ્રકરણના પ્રથમાધ્યાયના અન્તભાગપર્યન્ત આવ્યા. 'क्रिया सर्वापि सैवात्र' એ સુબોધિનીકારિકાનું વ્યાખ્યાન કંઇક વિલક્ષણ લાગ્યું. આથી શ્રીપુરુષોત્તમજીકૃત તત્પ્રકાશ જોયો. આ પ્રકાશ પણ શ્રીપુરુષોત્તમજીનો નિજશ્રીહસ્તાક્ષરે લખેલો અમારે ત્યાં વિરાજે છે. તે જોતાં નીચેની પંક્તિ વાચવામાં આવી:—'अत्र कारिकाव्याख्यानं टिप्पणीपुस्तकेषु दृश्यते, तत् पाण्डुलिखने नास्तीति श्रीगोकुलनाथानां तत् प्रतिभाति, लेखरीत्यापि तथेति च।' અહિં કારિકાવ્યાખ્યાનનું દર્શન

ટિપ્પણીપુસ્તકોમાં થાય છે, તે પાંડુલિખનમાં નથી, તેથી શ્રીગોકુલનાથજીનું તે હોય એમ લાગે છે, લેખરીતથી પણ તેમજ ભાસે છે. એ કારિકાવ્યાખ્યાન શ્રીગોકુલનાથજીનું છે એમ શ્રીપુરુષોત્તમજી કહે છે તે વાતને એજ કારિકાવ્યાખ્યાનનું સ્વતંત્ર પુસ્તક જે અમારી પાસે વિદ્યમાન છે તે પુષ્ટિ આપે છે. તે પુસ્તકમાં આ પ્રકારે લખેલું છેઃ—'**श्रीश्रीवल्लभो जयति । दशमना अध्याय २६ ने समाप्ते श्रीआचार्यजीनी कारिका ५ ॥ छे, ते मध्ये पहेली कारिका जे 'क्रिया सर्वापि सैवात्र परं कार्यो न विद्यते । तासां कामस्य संपूर्तिर्निष्कामेनेति ताश्चया ॥ १ ॥ श्रीजीकृत एहु लिखन**'. આના પછી મુદ્રિત શ્રીટિપ્પણીજીમાં વિદ્યમાન સંસ્કૃત વ્યાખ્યાન અક્ષરશઃ આદ્યન્ત લખેલું છે. શ્રીગોકુલેશના અન્તરંગ સેવકો એઓશ્રીને પુરુષોત્તમભાવથી શ્રીજીસંજ્ઞાથી વ્યવહારે છે. આથી શ્રીપુરુષોત્તમજીનું કથન કે આ વ્યાખ્યાન શ્રીગોકુલનાથજીનું છે તે સુદૃઢ થાય છે. આ તો અપ્રસ્તુત પ્રસંગ થયો, પરન્તુ આ શ્રીપુરુષોત્તમજીની પંક્તિથી અન્ય વાર્તા સ્ફુરી. આ લેખથી એમ જણાયું કે શ્રીપુરુષોત્તમજી પાસે આ પાંડુલિખન શ્રીટિપ્પણીજીનું હોવું જોઇએ, અને શ્રીપુરુષોત્તમજી સુરતમાં થયલા હોવાથી ઉક્ત પુસ્તક સુરતના શ્રીબાલકૃષ્ણજીના મંદિરમાં હોવું જોઇએ. આ અનુમાનોથી દોરાઇને અમે એક વિનતિપત્ર આ સંબંધમાં શ્રીવ્રજરત્નજીને લખ્યું. મહારાજશ્રીએ નિજમંદિરમાં વિદ્યમાન સંગ્રહમાં તપાસ કરી, પરન્તુ એ પાંડુલિખનનું પુસ્તક તેમાં મલ્યું નહિ. તેથી આપશ્રીએ અમને જણાવ્યું કે ઉક્ત શ્રીટિપ્પણીજીનું પુસ્તક અમારે ત્યાં સુરતના મંદિરમાં નથી. આ પ્રત્યુત્તરથી અમારા અન્તરાત્માને સંતોષ થયો નહિ, તેથી સ્વતઃ સુરત જઈ આનો નિશ્ચય કરવાનું સ્ફુર્યું. આથી દીવાળીની રજામાં ગત આશ્વિન શુક્લ ત્રયોદશીને દિવસે અમે સુરત ગયા. તે જ દિવસે મહારાજશ્રીવ્રજરત્નજીને વિનતિ કરી કે આપશ્રી અમને આપશ્રીને ત્યાં સેવામાં વિરાજતા હસ્તલિખિત પુસ્તકોનું દર્શન કરાવવા કૃપા કરો. મહારાજશ્રીએ કૃપા કરી અમારી વિનતિ લક્ષમાં લઈ બીજે જ દિવસે–આશ્વિન શુકલ પૂર્ણિમા–રાસોત્સવને દિવસે–પ્રાતઃકાલે ગ્વાલ અને રાજભોગના અનવસરમાં ઉક્ત પુસ્તકોનું દર્શન કરાવ્યું. હસ્તલિખિત પુસ્તકોનું દર્શન કરતાં અમને બહુજ આનન્દ તથા સંતોષ થયો. અમને માલૂમ પડ્યું કે શ્રીમદ્વિઠ્ઠલેશ્વર પ્રભુચરણના નિજ શ્રીહસ્તાક્ષરે લખેલા શ્રીટિપ્પણીજીના મૂલ પુસ્તકજી ત્યાં બિરાજે છે. અને આજ પુસ્તકનો ઉપન્યાસ શ્રીપુરુષોત્તમજી પાંડુલિખન તરીકે કરે છે."

Besides tracing the original of टिप्पणी, some of the other important results of this genius for research which has put the whole Sampradāya in great obligation to him might be summed up as under:—

2. भरुची वैष्णवs give the date of श्रीमद्वल्लभाचार्य's birth as 1529, and not 1535, and the place of birth as चोडाग्राम and not चंपारण्य. Mulchandra got an old manuscript of कल्लोल from these भरुचीs in which one old श्लोक (about 3rd or 4th) about नामकरण or ordinary matter was deleted and this श्लोक specially mentioning date and place was substituted, scratching out the old one. There was not the slightest necessity of scratching out the old श्लोक but the writer purposely did it with an ulterior motive. The manuscript was returned and since then it is not produced by वैष्णव उत्सवलाल भरुची though repeatedly demanded. From the time we saw the mss., we were convinced about the interpolation, thus leaving no doubt that the date given by भरुचीs 1529 is not correct, as also the place चोडाग्राम.

3. Very little was known to the सम्प्रदाय about श्रीकृष्णचन्द्रजी. It was he who pointed out the deep obligation under which श्रीपुरुषोत्तमजी was to his गुरु for adopting the comparative method of writing, to unearth and publish as an appendix to Vol. III of भाष्यप्रकाशरश्मि, कृष्णचन्द्रजी's टीका on गुणोपसंहारपाद, and to draw attention to the different इतिश्री's in the भावप्रकाशिकावृत्ति showing which portion was written by श्रीकृष्णचन्द्रजी himself and which was collected, set right or written by श्रीपुरुषोत्तमजी.

4. It was he who obtained the fourth अध्याय of श्रीपुरुषोत्तमजी's अधिकरणमाला from the Deccan College Bhandarkar Institute, and published it. योगी श्रीगोपेश्वरजी could not get it, and so he wrote out the fourth अध्याय himself, which also has been printed in the appendix, thus facilitating a comparison between the writings of two master-minds.

5. A copy of some portion of बृहद्भाष्य was found many years ago, and published in पुष्टिभक्तिसुधा. It was well-known then to every student that this contained words, phrases and sentences which were also found in प्रकाश and वृत्ति. The portion was published for what it was worth for the information of the public. The matter rested there for several years. Two or three years ago, Mulchandra got a rough draft* of the same portion of the बृहद्भाष्य, and he had no difficulty in tracing it to रामकृष्णभट्ट, the learned शास्त्री of काशीस्थ श्रीगिरिधरजी, and the टीकाकार of श्रुतिरहस्य. In the introduction to भाष्यप्रकाशरश्मि ३-१-१ published in samvat 1982, Mulchandra wrote on p. 12 as under:—"In conclusion we ought not to omit reference to one work which passes in the name of श्रीमद्भाष्य of S'rī Vallabhāchārya. Some passages of the जिज्ञासाधिकरण and the first Pāda of the third Adhyāya and 11 Sūtras of the second Pāda have been seen by us. The portion from the third Adhyāya has been published by us in the monthly Pushti Bhakti-Sudhā. From the style, this seems to be a clumsy attempt of a writer of recent times. All copies seen by us are new. The style is such as leaves little doubt in our minds as to the spurious nature of this production". Notwithstanding this, Mr. Jethalal Shah, who has recently published अनुवाद of १-२ अध्यायs writes, in his introduction on p. 9, "...સદ્ગત તેલીવાલા એવું માને છે કે શ્રીવલ્લભાચાર્યે બ્રહ્મસૂત્ર ઉપર બે ભાષ્ય રચ્યાં હતાં...તેના પુરાવા તરીકે પુષ્ટિભક્તિસુધાના વર્ષ ૬ માં પ્રકટ થયલા લખાણને રજુ કરે છે અને તે પ્રકટ થયલું લખાણ તે "શ્રીમદ્ભાષ્ય અગર બૃહદ્ભાષ્ય" છે." To attribute to Teliwala what he deliberately considered "spurious" is misrepresenting a departed scholar, misleading oneself and misleading the public. His conclusion which he puts in bold type on p. 16. "પાછળથી કૃષ્ણચન્દ્રજીએ બૃહદ્ભાષ્ય રચ્યું હશે" is also due to ignorance. To say that अणुभाष्य derives its name from the अणुत्व of जीव is absurd, because the जिज्ञासा is not जीवजिज्ञासा, but ब्रह्मजिज्ञासा, and the अणुभाष्य is not जीवसूत्राणुभाष्य, but ब्रह्मसूत्राणुभाष्य. The present requirements of the सम्प्रदाय are not arguments based on antiquated opinions, but investigation and research which would throw more light on the सम्प्रदाय.

6. It was he who identified a manuscript of सुबोधिनी now at Dabhoi, as originally belonging to श्रीदामोदरलालजी, son of श्रीगिरिधरजी, the eldest son of श्रीगुसांइजी. The additions made by श्रीगुसांइजी to सुबोधिनी are put into brackets in this manuscript. While reading सुबोधिनी, it was found difficult to establish any connection between some sentences, which difficulty is removed by श्रीगुसांइजी's additions being thus separated. The तामसफलप्रकरण is published from this manuscript, by Mulchandra.

7. The idea of collecting all the टीकाs on षोडशग्रन्थs and publishing them together was his; he successfully carried it out, and helped चीमनशास्त्री and हरिकृष्णशास्त्री with manuscripts to complete the series.

* The draft is with us at present.

8. He collected टीकाs of श्रीगुसांइजी on सिद्धान्तमुक्तावली and pointed out that श्रीगुसांइजी had revised the टीका at least four times.

9. It was he who first found out that श्रीव्रजराजजी of the 1st house wrote his टीकाs and sent them to his गुरु श्रीवल्लभजी of the 5th house who made many changes in them. The copies made from the original became known as श्रीव्रजराजजी's टीकाs and those that were altered became known as श्रीवल्लभजी's टीकाs.

10. He went to श्रीनाथद्वार, identified the fourth अध्याय of भाष्य as written out wholly by श्रीगुसांइजी, in which second interpretation of 1st two सूत्रs is subsequently added, thus conclusively showing that the whole was written by श्रीगुसांइजी.

11. He found out फलप्रकरणप्रकाश in the हस्ताक्षर of श्रीपुरुषोत्तमजी and published the same.

12. He collected two copies of भाष्यप्रकाश, first in श्रीपुरुषोत्तमजी's own hand and got and identified a subsequent copy of प्रकाश in which additions and alterations were made by श्रीपुरुषोत्तमजी. He adopted for publication the final copy of प्रकाश and hence we find differences in प्रकाश and रश्मि, as रश्मिकार श्रीगोपेश्वरजी had got only the first copy of प्रकाश with him.

13. He threw new light on श्रीगुसांइजी's life, which is published above with dates as traced by him.

14. He found out that the सुवर्णमेखला that श्रीवल्लभाचार्यजी presented was not to श्रीविठ्ठलनाथजी of पंढरपुर, but it was to श्रीविठ्ठलनाथजी of विजयनगर, where there was a temple of श्रीविठ्ठलनाथजी.

15. He obtained from श्रीव्रजरत्नलालजी of सुरत the will of श्रीपुरुषोत्तमजी and published the same.

16. He collected and published several स्वहस्तलेखs in पुष्टिभक्तिसुधा and वेणुनाद.

17. He laboured hard and succeeded in collecting रश्मि, the monumental work of श्रीयोगिगोपेश्वरजी and with the help of श्रीगोकुलनाथजी of बडा मन्दिर, Bombay, he arranged for publication of the same.

On account of his wide knowledge about the history of the सम्प्रदाय together with a clear preception of the facts of the case put before him he was consulted by गोस्वामिस in their cases, and his services were ulitised by S'rī Gokulnāthjī of Bombay and his son S'rī Krishṇajīvanjī in Madras and Dharangaon cases, in both of which they succeeded, and also by Shrī Gopeshwarji who also won his case at Madras.

Again, if there was an attack against the पुष्टिसम्प्रदाय and his presence was required at any place he never refused, but started immediately. He had thus to go to सिहोर (near Indore) Mehemdabad, Patan, Savali and other places.

The necessity of a Research Institute for the सम्प्रदाय was recognised through the efforts of Mulchandra by Shrī Tikayat Mahārājā of Nāthadwara, and Shrī Vallabhāchāryajī, son of S'rī Devakinandanjī offered him a decent block of four rooms in Chandrabag, and Mulchandra went to live there in Chaitra of 1983. But God willed it otherwise. He fell ill, went to Broach during the Summer vacation in High Court, and when he returned in June 1927, he had not thoroughly recovered. He was attacked with unbearable neuralgic pain in the head on 18th June 1927, and he passed away on 26th June 1927.

Though he died young, his abilities as a great Scholar were recognised by Oriental scholars as well as Sāmpradāyika scholars. Mr. Woodroffe, Mr. Keith, the late Mr. Tansukhram Mansukhram Tripathi, Anant Shastri of Shanti Niketan, Vidhushekhara Bhattacharya, Bal Shastri and Nandkishore Shastri all acknowledged his scholarship. Mr. Tansukhram was always delighted with his conversation, and gave him from his vast collection whatever manuscript or book was required by him. Mr. Keshav Harshad Dhruva was so much delighted to read his introduction of शृङ्गाररसमण्डन that he came to see him, and expressed a desire to read with him साम्प्रदायिक works, and दयारामनो अक्षरवेद was entrusted to him by Mr. Govardhanram's brother to make suitable changes for the second edition.

The guiding principle of his life was 'अतोऽन्यदार्तम्' a phrase in the अन्तर्यामिब्राह्मण of बृहदारण्यक उपनिषद्, meaning 'Everything else except God is painful.' He was born tired with the world, for which he had a deep-rooted disgust, and he had realised from very early age that real आनन्द was in आनन्दमय भगवान् only. There was therefore a touch of cynicism in his words, which were mildly sarcastic even when talking with men most highly placed in life, and a sort of non-attachment in all his worldly deeds. But his spirit was always young, buoyant and playful, and one enjoyed innocent, slightly mischievous joy in his company.

He had a very noble heart. Many Brahmins and friends came to him for recommendation-letters or support, and he did whatever he could for them. We were sometimes even puzzled to see how he could help one who had done him wrong or abused him. The whole of the Nirnaya Sagar Press, the Proprietor, Manager, Shastri, and Compositors, all loved him, and they feel a void in their daily life without his cheerful presence. The compositors would whisper in your ears how he had helped them, and allowed their pro-notes to be time-barred. We admired the nobility of his heart when we saw him working very hard for the success of a प्रस्ताव at the house of a very valued friend of his, whose conduct towards him was by God's will inexplicably strict, at another time hurrying to do him a good turn at considerable sacrifice, and a third time moving heaven and earth to carry out a special desire of his, forgetting considerable pecuniary loss that he had to suffer. It was due to this nobility that he freely acknowledged whatever help he received in his work by way of money, manuscripts or cooperation.

This leads us to note another important trait of his, which was complete आश्रय, *viz.*, willing dependence on the will and wisdom of the Lord, at all times, however critical and in all matters, however important. His mind was therefore always at ease, and he was never oppressed with burden or weight on his head for anything whatever. "भगवदिच्छा सर्वत्र मूलम्, न बुद्ध्यादिदोषाः शङ्कनीयाः ।" सु. ११. १. १८. This was ingrained in him, and hence under most trying circumstances, he was most light-hearted.

This आश्रय resulted in other important traits, *viz.*, अभय, स्वमान and निःस्वार्थ, fearlessness, self-respect and self-sacrifice. Though he had nothing, he seemed to posses everything, he could talk straight to a king on equal footing, and while engaged in सम्प्रदायसाहित्यसेवा, in his small room, he acted like a happy king, surrounded by co-working companions, all merry-making, sometimes sitting two on broken chairs, or comfortably couched on the broad handles of a broken easy-chair. The chairs were sometimes discarded and heaped out of the room near the door, for making room for men. His children cried and ran to him to escape the wrath of the mother, and insisted on sitting on his table, full of old manuscripts, or in his lap, while he was deciphering some knotty passage in an old manuscript. The mother of the children perhaps silently cursed the man for his neglect of the house and its inmates, and even expressed her disapprobation in sharp significant words. This was all well as it was, because it was God's will, which is always best, and the work of comparing and correcting manuscripts, sometimes five, sometimes ten at a time, went on till midnight with the help of a jewel-lamp in the middle. गोस्वामी श्रीव्रजरत्नलालजी of Surat, as well as most prominent personages and वैष्णवs from Kathiawad, Sind, Culcutta, Nainital, Madras saw him in this room. The difference between the small room and the great man, who was doing the abstruse work of deciphering and publishing old manuscripts was patent to all.

This आश्रय and धैर्य resulting from it kept him always collected, though *there may be the greatest cause for losing one's temper. If there was a* caste-dinner at his place, and there is none to work and no invitations are sent, he is calm; if there is a procession, and no tom-toms are available, he is calm; if people did not pay the money due to him, it was God's will; if members of the family are laid up with illness, if he is unjustly attacked in news-papers, he is not the least disturbed. He goes on quietly with his self-imposed work, with a concentration of mind and with a non-attachment to surroundings (असंग) simply marvellous. This concentration continued even in sleep, and then naturally he got dreams. His little room was filled with hallowed light (so he said and we fully believe him), and he saw, (at any rate he believed he saw) at one time श्रीपुरुषोत्तमजी and at other times other great persons or भक्तs. When he woke next morning after such a dream, there was a joyous smile on his face which was unmistakable, and the writer can never forget the innocent smile on his face on the morning of the last day of his life on this Earth, the 26th June, which clearly showed that he had some दर्शन in dream.

His sudden death was a great loss to the सम्प्रदाय, and the hearts of almost ali वैष्णवs were moved by this great loss. Two telegrams were received from गोस्वामी श्रीगोवर्धनलालजी तिलकायित, one to take care of his wife and children, and the other to hold a meeting in which he promised to send his representative. A similar telegram was received from लालबावा श्रीदामोदरलालजी to the same effect, and many others followed in quick succession. A meeting was immediately held in Bada Mandir, Bombay, and गोस्वामी श्रीगोकुलनाथजी announced Rs. 500 as his subscription to the fund for a memorial to be raised after him. Mr. Ranchhoddas Patwari also paid Rs. 251. Meetings were also held at Ahmedabad, Dabhoi, Sankheda, Mangrol and a dozen other places, and a grand meeting was held in Bombay on 24th July 1927 in Mulji Jetha Market Hall under the presidentship of the Hon'able Mr. Justice Krishnalal Mohanlal Jhaveri. Goswami S'rī Gokulnāthji moved the first resolution as under:—

"વેદાન્તના સુપ્રસિદ્ધ ગુજરાતી વિદ્વાન્ અને પુષ્ટિમાર્ગીય વૈષ્ણવ સંપ્રદાયના સાહિત્યપ્રકાશક સદ્ગત વૈષ્ણવ મૂલચન્દ્ર તુલસીદાસ તેલીવાલા બી. એ., એલએલ. બી., એમ. આર. એ. એસ. વકીલ, હાઇકોર્ટના, જેઠ વદ ૧૨ ને રવિવાર તા. ૨૬ મી જુન ૧૯૨૭ ની રાત્રિએ થયલા અકાલ અવસાન બદ્દલ મુંબઈના આચાર્યોની, વૈષ્ણવોની અને સદ્ગતના મિત્રોની તેમજ વખાણનારાઓની આ સભા પોતાનો અત્યંત ખેદ પ્રદર્શિત કરે છે, અને તેમના અવસાનથી સમસ્ત ગુજરાતને, અને વિશેષતઃ પુષ્ટિસમ્પ્રદાયને થયલી મોટી ખોટની દિલગીરી સાથે નોંધ લેછે, અને સદ્ગતના કુટુંબ ઉપર આવી પડેલી આ અણધારી આપત્તિમાં તેમના પ્રતિ પોતાની દિલસોજી દર્શાવે છે."

This resolution was seconded in suitable language by Goswāmi S'rī Ranchhodlālji, son of S'rī Jivanlālji of Porebunder, and supported by Mr. Hanumanprasad M. A., the representative specially sent to Bombay from S'rī Nathadwar by S'rī Govardhanlalji Tilakayit Maharaja and his son S'rī Damodarlalji. He read in the meeting the letter of condolence sent by His Holiness S'rī Govardhanlalji and gave Rs. 1001 for a suitable memorial to be raised after him as proposed by the following second resolution moved by Sheth Lalji Naranji and seconded by *Rao Saheb Harjiwan Valji*:—

સદ્ગત રા. મૂલચન્દ્ર તુલસીદાસ તેલીવાલાએ અતિશય પરિશ્રમ સહીને પ્રાચીન દુષ્પ્રાપ્ય સામ્પ્રદાયિક સંસ્કૃત સાહિત્યને સર્વાંગ સુંદર પ્રકારે પ્રસિદ્ધ કરીને આપણને જે ઋણમાં મુક્યાં છે, તે ઋણમાંથી કાંઇક અંશે મુક્ત થવાને તેમનું યોગ્ય સ્મારક ઉભું કરવાને તથા તેમના કુટુંબના શિક્ષણાદિ સર્વ પ્રકારક સંરક્ષણનો પ્રબંધ કરવાને તેમને આ બંને બાબતની સર્વ વ્યવસ્થા કુલ સત્તાસાથે કરવાને નીચેના સભ્યોની પોતાની સંખ્યામાં વધારો કરવાની સત્તાસાથે કમિટિ નીમવાનો આ સભા ઠરાવ કરે છે.

The third resolution was moved by Mr. Keshavji Ramji Lakshmidas and supported by Mr. Sundarlal Manilal Vakilna to send a copy of the first resolution to his family.

Decent sums were announced as subscribed for the memorial and a representative committee appointed to collect funds.

After his death his work has been continued by us, his co-workers, inspired by his noble example. Having worked with him for a number of years, we know the difficulties in the way, as well as the means to overcome them. Sheth Lalji Naranji asked us to go on with the work, and we continued it from the place where he had left it. He had given orders to print four forms of this Volume before his death, and we have begun from the fifth form. This volume would have been published long ago, but for the delay of the press. The present volume completes the third Adhyaya of Anu Bhashya, the Sādhanādhyāya, and the reader will immediately perceive the wide difference in the subjects for discussion taken up by श्रीवल्लभाचार्य, differing from all the previous Acharyas. The work of the fourth Adhyāya has been already taken in hand. Professor Maganlal Ganpatram Shastri M. A., helps us very cheerfully whenever approached and Shastri Kalyanji Kanji has offered his help in all matters, and we have gladly accepted the same. All the other Shastris and Pandits of the सम्प्रदाय have expressed their desire to help us in any way they can, and by the grace of God, we hope to proceed with the work without any serious trouble.

With feelings of joy, we offer this fruit of our labour of love at the Lotus Feet of Lord S'rī Krishna.

Dhirajlal Varajdas Sankalia.
Jamnadas Kanji Morparia.
Govardhandas Pragji.
Hiralal Moolji.
Purshottam Kanji Morparia.

